राजर्षि
श्री पुरुषोत्तमदास टंडन
अभिनन्दन ग्रन्थ

पुरुषोत्तमदास टंडन
१६. ५. १९५०

भारत के राष्ट्रपति महामहिम डा० राजेन्द्रप्रसाद के
कर-कमलों द्वारा कार्तिक-शुक्ला तृतीया,
रविवार, संवत २०१७ वि०—
ता० २३ अक्तूबर, १६६० ई०
के दिन प्रयाग मे
राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन
को
सादर समर्पित
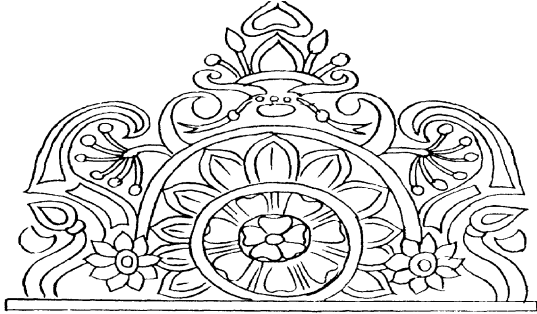
राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ
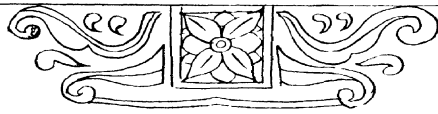
सम्पादक

जीवनी खण्ड
लालबहादुर शास्त्री
गोपालप्रसाद व्यास

सम्कृति खण्ड
रामधारीसिंह 'दिनकर'
जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

प्रादेशिक भाषा खण्ड
मो० सत्यनारायण
यशपाल जैन

साहित्य खण्ड
नगेन्द्र
विजयेन्द्र स्नातक

भाषा-विज्ञान खण्ड
बाबूराम सक्सेना
भोलानाथ तिवारी

हिन्दी-प्रसार खण्ड
मोहनलाल भट्ट
माधव

संयोजक सम्पादक
विजयेन्द्र स्नातक : गोपालप्रसाद व्यास

प्रकाशक
दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन

भूमिका

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अब से लगभग २।। वर्ष पूर्व यह निश्चय किया था कि श्रद्धेय पुरुषोत्तमदासजी टण्डन को उनकी बहुक्षेत्रीय तथा बहुमूल्य सेवाओ के लिए एक बृहद अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जाए। लेकिन इस निश्चय पर कार्य पिछले ६ महीनो से ही लगकर प्रारम्भ हुआ। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सम्मेलन ने अभिनन्दन-समिति और सम्पादक-मण्डल का गठन किया। सम्पादक-मण्डल और लेखक-समुदाय की यह स्वाभाविक इच्छा रही है कि इस ग्रन्थ को अधिक-से-अधिक सुन्दर और श्रेष्ठतम कृतियो से अलकृत किया जाए। थोडे-से समय मे यह प्रयत्न कहा तक सफल हो सका है इसे विज्ञ पाठक अब स्वय देख सकते है।

अभिनन्दन-ग्रन्थ ६ खडो मे विभाजित है और प्रत्येक खड के दो सम्पादक है। स्वभावत जो सम्पादक दिल्ली मे थे उन पर ही उसका मुख्य उत्तरदायित्व भी आया। इसके दो सयोजक सम्पादक है। श्री गोपालप्रसाद व्यास तथा डा० विजयेन्द्र स्नातक। वास्तव मे सबसे अधिक भार इन्ही पर पडा। इन्होंने सभी खण्डो के तैयार कराने तथा ग्रन्थ का सम्पूर्ण कार्य समुचित रूप से करने का भरसक प्रयास किया।

इस ग्रन्थ का मुख्य लक्ष्य हिन्दी भाषा, साहित्य, सस्कृति और प्रादेशिक भाषाओ की पिछली ५० वर्षो की प्रगति का परिचय और इन क्षेत्रो मे हुए अनुसधान का दिग्दर्शन कराना है जिनका टडनजी के जीवन से अटूट सम्बन्ध रहा है।

हमने प्रयास तो पूरा किया, परन्तु मालूम नही यह ग्रन्थ टडनजी के अनुरूप बन पाया है अथवा नही। टडनजी भाषा के पारगत है चाहे वह हिन्दी हो अथवा अग्रेजी। वह प्रत्येक शब्द और वाक्य को तौल-तौल कर सावधानीपूर्वक व्यवहार करने के अभ्यासी है। भाषा का अशुद्ध या ढीला प्रयोग उन्हे नही सुहाता। अतएव हम नही जानते कि यह ग्रन्थ उनकी कसौटी पर ठीक उतरेगा या नही। जो भी हो, हमारी ओर से यह ग्रन्थ टडनजी को आदर और श्रद्धाजलि के रूप मे सादर प्रस्तुत है। उनका जीवन भारत और भारतीयता के लिए समर्पित रहा है। त्याग और तप उनकी पूजी है और उसने उनको अथाह बल प्रदान किया है। भारतीय इतिहास मे उनका अमिट स्थान है तथा रहेगा।

टडनजी को इस प्रकार की योजनाओ के लिए सदा सकोच रहा है। इस बार भी उनकी वही प्रतिक्रिया रही और उन्होने श्री गोपालप्रसादजी व्यास को एक पत्र लिखा, जो सक्षेप मे इस प्रकार है——

"मैं आपके और आपके सहयोगियों के स्नेहभाव के लिए कृतज्ञ और ऋणी हू। परन्तु इस प्रकार की योजनाएं मुझे पहले भी बराबर खटकीं और मैंने उन्हें रोका। मेरा आपसे भी निवेदन है कि आप अपनी समिति में इस पत्र को रखकर अभी इस योजना को रुकवा दें। मुझे इससे मानसिक कष्ट होता है। इस समय मैं रोगग्रस्त हूं और कुछ भी काम करना मेरे लिए बहुत कठिन हो गया है।"

समिति ने सर्वसम्मति से उनसे आग्रह किया कि वह हमे निराश न करे। टडनजी ने अपनी स्वीकृति देकर जो प्रेम अपने मित्रो के प्रति प्रदर्शित किया उसके लिए हम उनके परम आभारी है।

हमे अत्यन्त प्रसन्नता है कि आदरणीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने २३ अक्तूबर १६६० को प्रयाग पधारकर यह ग्रन्थ टडनजी को देना स्वीकार किया है। यह उचित ही है क्योकि टडनजी और राजेन्द्रबाबू पुराने सहयोगी और मित्र है। उनका परस्पर स्नेह तथा एक-दूसरे के प्रति सदा आदर रहा है। हिन्दी-क्षेत्र मे भी राजेन्द्रबाबू और

टडनजी का साथ रहा है तथा राजेन्द्रबाबू हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी रह चुके है।

हमे हर्ष है कि अभिनन्दन-ग्रन्थ का कार्य सम्पन्न हुआ, परन्तु अभी दूसरा बडा काम इस योजना का शेष है। वह है दिल्ली मे 'पुरुषोत्तम हिन्दी-भवन' का निर्माण। 'पुरुषोत्तम हिन्दी-भवन' की सक्षेप मे योजना यह है कि राजधानी मे टडनजी के महत्त्व और राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुकूल एक भव्य भवन निर्मित किया जाय। इसमे एक विशाल पुस्तकालय, वाचनालय, गोष्ठी-कक्ष, रगमच, सभा-भवन और अतिथि-निवास के अतिरिक्त देश की १४ प्रादेशिक भाषाओं के लिए अलग-अलग कक्ष हो। यह भवन राजधानी की साहित्यिक और सास्कृतिक गतिविधियो का केन्द्र तो बने ही, साथ ही यह राष्ट्रभाषा के निर्माण और प्रकाशन आदि रचनात्मक कार्यो मे भी अपना योगदान करे।

भवन और उसकी प्रवृत्तियो का सचालन अखिल भारतीय स्तर पर बने हुए ट्रस्ट द्वारा होगा। इस कार्य की पूर्ति के निमित्त पाच लाख रुपए एकत्र करने का निश्चय किया गया है और इस ग्रन्थ से भी जो आय होगी, वह भी इसी कार्य मे लगेगी। धन एकत्र करने का कार्य प्रारम्भ हो गया है और यह सन्तोष की बात है कि इसका प्रारम्भ राष्ट्रपतिजी तथा प्रधानमन्त्रीजी ने किया है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश के मुख्य मन्त्रियो के भी हम अनुगृहीत है जिन्होने इसमे हाथ बटाया है।

इस ग्रन्थ की तैयारी मे मेरा नाम आ जाना तो मेरी अनधिकार चेष्टा ही रही है, परन्तु मैने केवल स्वीकार किया इसी भावना से कि इस हार्दिक श्रद्धाजलि मे मै भी किसी-न-किसी रूप मे सम्मिलित हो सकू। मै सभी लेखको तथा सम्पादको के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जो इस ग्रन्थ के रचयिता है। श्री गोपालप्रसाद जी व्यास का मै विशेष रूप से अनुगृहीत हू जिनका सहयोग मुझे सम्पादन के अतिरिक्त समिति के और कार्यो मे भी निरन्तर मिलता रहा है। समिति के सदस्यो और सम्मेलन के कार्यकर्ताओं का मै बडा आभारी हूँ जिनके सहयोग के बिना यह कार्य सम्पूर्ण होना सम्भव नही था।

नई दिल्ली,
१५ अक्तूबर, १९६०।

—लालबहादुर

अनुक्रमणिका

जीवनी-खण्ड

साहित्य :

भारतीय संस्कृति :

भाषा-विज्ञान :

प्रादेशिक भाषा :

हिन्दी-प्रसार :

सम्पादक—

लालबहादुर शास्त्री

गोपालप्रसाद व्यास

सम्पादकीय

इस खड की रचनाओ से इसका आभास मिलेगा कि टंडनजी की कितनी महान सेवाएं विभिन्न क्षेत्रों में हैं तथा वह किन खूबियों से भरे हुए हैं। टंडनजी अपने विचारों के पक्के और अपने मत को प्रकट करने में सदा निडर रहे हैं। उनमें किसी विषय पर गहराई से सोचने और अपने निश्चय किए हुए पक्ष पर अडने की अपूर्व क्षमता है। यदि उसके लिए उनको कष्ट भी उठाना पड़े और सकटों का सामना भी करना पड़े, तब भी वह पीछे हटने वाले नही। उनके जीवन में कई ऐसे अवसर आये जब उन्होंने अपने निर्णयों के लिए अनुपम त्याग किये।

उन्होंने नाभा राज्य का मंत्रित्व छोड़ा, वकालत छोड़ी, बैंक की मैनेजरी छोडी और फिर विधान-सभा के अध्यक्ष का पद छोड़ा। यह सभी उन्होंने अपने कुछ विचारो तथा निश्चयों के सम्मानार्थ ही किया। कम ही लोग ऐसे मिलेंगे जिनको इस प्रकार के एक नही अनेक झकोरो का सामना करना पड़े और फिर भी वे अपने पथ से विचलित न हुए हों। ऐसा लगता है जैसे त्याग और तप ही उनके जीवन का लक्ष्य रहा है। यही कारण है कि भारतीय जनता उन्हें इतने आदर की दृष्टि से देखती है।

सामाजिक कार्य करने वाले से सब सहमत हो, यह प्राय नही देखा जाता। उनको कभी स्वस्थ और कभी अस्वस्थ मतभेदों का सामना करना ही पड़ता है। टंडनजी भी उसके अपवाद नहीं। विचारों का अन्तर न हो तो विचारो की प्रगति ही रुकेगी और फिर समाज का ह्रास होगा। जहां तक इन्हें बलपूर्वक रोका गया है उसका परिणाम अहित-कर हुआ है। वास्तव में सोचने और विचारों को प्रकट करने की स्वतत्रता में विकास और उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है। प्रस्तुत खण्ड में पाठक देखेंगे कि अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने वाले अनेक महानुभाव ऐसे हैं जिनका समय-समय पर टंडनजी से मतैक्य नही रहा, लेकिन इन सबने अपनी निश्छल श्रद्धांजलि अर्पित की है क्योंकि टंडनजी के विचारों की भिन्नता व्यक्तिगत कारणों से नहीं, अपितु सिद्धान्तों पर आधारित थी। जहां व्यक्तिगत बातों का समावेश नही होता वहां विचारों की ईमानदारी स्वत स्वीकृत होती है और उससे कटुता नही बढ़ती। जैसा ऊपर भी कहा गया है, टंडनजी सिद्धान्त के लिए किसी से भी जूझ सकते हैं और उन्हें अपने जीवन से भी अधिक सिद्धान्त प्यारे हैं।

सचाई, पवित्रता, संयम, सदाचार इनकी कड़ी साधना टंडनजी ने हर क्षेत्र में की, पदो पर रहकर अथवा सार्वजनिक क्षेत्र में। जीवन-पर्यन्त उन्होंने इस बाने को

पहना और उसे सवारकर पहना।

प्रस्तुत खण्ड में हमने टंडनजी के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले अनेक सहयोगियों के श्रद्धा-सस्मरण सकलित किये हैं। राज-समाज-कर्मी, साहित्यकार और हिन्दी-प्रेमी कुछ ऐसे भी रह गए होगे जिनके पास टडनजी की अमूल्य स्मरण-निधियां सचित हो। टंडनजी का कार्यक्षेत्र भी बहुत व्यापक रहा है। उस पर भी जितना प्रकाश पड़ना चाहिए था इस ग्रन्थ में शायद उतना नही पड़ सका। इतने थोड़े समय में यह सम्भव भी नही था। फिर भी जैसा बन पाया है वह पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

टंडनजी को कबीर की बानी बहुत ही पसन्द है। उनके अनेक पदों को वह गुनगुनाते रहते हैं और बहुतो को उन्होने हृदयंगम भी कर रखा है। अच्छा होगा कि कबीर के एक पद से ही यह टिप्पणी समाप्त की जाय :

> **"यह चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी**
> **ओढ़ि के मैली कीन्हि चदरिया।**
> **दास कबीर जतन तें ओढ़ी**
> **ज्यों की त्यों धरि दीन्हि चदरिया।"**

यह पद टडनजी के जीवन पर कितना फबता है! उन्होंने अपने सम्पूर्ण जोवन से समाज और देश दोनो को ही अलकृत किया है।

"पुरुषोत्तमदास टंडन मेरे पुराने साथी हैं। हम वर्षों तक साथ-साथ काम करते रहे हैं। मेरे-जैसे ही वह ईश्वर के भक्त हैं।"

—**महात्मा गांधी**

राष्ट्रपति का सन्देश

राष्ट्रपति-भवन,
नई दिल्ली।
७ अगस्त, १९५९

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा श्री पुरुषोत्तमदासजी टडन के सम्मानार्थ अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट करने का आयोजन स्तुत्य है, और मैं इसका स्वागत करता हू। राष्ट्रीय क्षेत्र में, विशेषकर हिन्दी-प्रचार और प्रसार के क्षेत्र में, टडनजी की सेवाए बहुमूल्य हैं। लगभग गत ५० वर्षो से उन्होने विभिन्न परिस्थितियो में जिस नि स्वार्थ भाव से सार्वजनिक कार्य किया है, उससे सभी कार्यकर्त्ता प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं।

टडनजी का व्यक्तित्व इतना बड़ा है कि वह राजनीति और साहित्य की परिधि मे ही नही समा सकता, सामाजिक जीवन के जिस पहलू से भी उनका सम्बन्ध रहा है उसी को उन्होने समृद्ध किया है। सार्वजनिक जीवन मे पदार्पण करने के बाद टंडनजी जिन सिद्धान्तों का अनुसरण करते रहे हैं, उनमे से अधिकांश आज भी आदर्श-रूप में सर्वमान्य हैं। उनके नेतृत्व से सदा सत्य, सदाचरण और नैतिकता के पक्ष को समर्थन मिला है।

इस अवसर पर मैं श्री पुरुषोत्तमदासजी टडन के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

राष्ट्रकवि के प्रणाम !

श्रीराम

टंडनजी के प्रति

पूज्य तुम राजर्षि क्या, ब्रह्मर्षि बहु गुण-धाम,
व्यर्थ आज वसिष्ठ-विश्वामित्र के संग्राम।
विदित मेरे अर्थ पुरुषोत्तम तुम्हारा नाम,
सतत श्रद्धायुक्त तुमको शत-सहस्र प्रणाम।

मैथिलीशरण

विनोबाजी की शुभकामना

लोकनागरीलिपि

अज्ञातयात्रा
२ ३-६०

श्री गोपालपरसादजी,

पत्र मीला। राजर्षी टंडनजी की वीवीध सेवाओं को कौन नहीं जानता। पर उनहोने जीतनी सेवाएं की उनमें मेरी नीगाह मे, बडी सेवा यह है की जो नैतीक मूल्य उनहोने माने उन पर वे हर हालत मे डटे रहे। यह गुण इनदीनों कुछ दुरलभ होगया है। भगवान से मेरी यही परारथना है की इस बुनीयादी महत्व के गुण के दान मे वह कंजूसी न करे और हम सब सेवकों को वह गुण बखशे।

विनोबा का
जय जगत

स्वतंत्रता-संग्राम के निर्भय सेनानी

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन को एक अभिनदन-ग्रंथ भेट किया जा रहा है। वह स्वतंत्रता-सग्राम के निर्भय सेनानी और हमारी संस्कृति के मूलभूत मूल्यों में अदम्य विश्वास रखने वाले रहे हैं।

मैं आशा करता हू और प्रार्थना करता हूं कि वह दीर्घजीवी हों और अपने उदाहरण से हम सब को अनुप्रेरित करते रहे।

हमारे नेता

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त

टडनजी की ख्याति देश भर में व्याप्त है। उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मेरा उनकी अनेक सेवाओं और गुणों की व्याख्या करना कठिन है। उनका जीवन भारतीय सस्कृति और सभ्यता का प्रतीक है। वह अनेक प्रकार से राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और साहित्यिक कामों में हमारा नेतृत्व करते आए हैं। स्वतन्त्रता-सग्राम में उन्होंने हमारा नेतृत्व किया। तत्पश्चात उत्तरप्रदेश में लम्बे अर्से तक विधान-सभा के अध्यक्ष रहे। अखिल भारतीय नेशनल काग्रेस के सभापति रहे, सविधान परिषद और लोक-सभा के गण्यमान्य सदस्य रहे। राज्य सभा के भी वह सम्मानित सदस्य रह चुके हैं। मै टंडनजी के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हू, और भगवान से आराधना करता हू कि उन्हें शीघ्र ही रोग-मुक्त कर पुनः हमारा दिग्दर्शन कराने की शक्ति प्रदान करे।

बड़े भाई

श्री जवाहरलाल नेहरू

जो भी व्यक्ति टंडनजी के सम्पर्क मे आए, सबने उनसे कुछ न कुछ सीखा। यह महापुरुषो की निशानी है। जो उनसे मिले, लेकर गए। हमने भी उनसे लिया, जिससे दिल और दिमाग की दौलत बढी।

वह ऐसे व्यक्ति है जो अपने सिद्धातो पर अटल स्तम्भ की तरह डटे रहते है।

टंडनजी शायद सोचते होगे कि ५० वर्ष की तपस्या का क्या नतीजा निकला। कुछ लोग अपनी निगाह दूर तक रखते है, भले ही अपनी मजिल तक नही पहुच पाते। शायद टंडनजी के मन मे भी यह विचार आ रहा हो कि वह अपनी मजिल पर नही पहुचे। लेकिन इसकी दूसरी तस्वीर भी है कि जितनी बाते वह सोचते थे, उनमे से कितनी बाते पूरी हुई। उम्मीद पूरी होना या न होना एक बात है, लेकिन उम्मीद पूरी होने की ताकत रखना एक बडी बात है।

मै सोचता हू कि टंडनजी से मै पहले कब मिला ! यह तो याद नही है लेकिन बचपन की दो बाते मुझे याद है। मै विदेश गया था, समझा जाता है पढने-लिखने। तभी टंडनजी की शोहरत मुझ तक पहुची थी। एक तो वह क्रिकेट के खिलाडी थे। शायद बहुतो को न मालूम हो, टंडनजी के भी कई रग है। दो वर्ष पहले वह इलाहाबाद से दिल्ली आए क्रिकेट का टैस्ट मैच देखने। इलाहाबाद मे म्योर सेण्ट्रल कालेज मे टंडन जी हडताल के नेता थे। उस जमाने मे हडताल करना आसान नही था, जैसा अब हो गया है।

फिर कुछ वर्ष बाद मै जब भारत लौटा, आज से ४५ वर्ष पहले, तब से टंडनजी से ज्यादा मिलना-जुलना हुआ। हमारे उत्तर प्रदेश मे काग्रेस की बहसो मे वह बहुत भाग लेते थे। हमारे जिले (इलाहाबाद) व प्रात मे वह अगुआ थे। वह हम सबके बडे भाई थे। हम सब उनसे बडी मुहब्बत करते थे। डर भी था, मालूम नही कब डाट दे। जब वह कोई बात नापसद करते थे, दिल खोलकर कह देते थे। हमारे जमाने के ज्यादा लोग तो अब रहे नही। टंडनजी से हमारा जो रिश्ता बना, वह साथियो का सा था, मिलकर काम करते थे, जेल मे और बाहर भी। किसी बात मे हम दोनो की राय मे फर्क भी होता था। टंडनजी और हम मे जवानी थी, गरूर था, हम मे गर्व था कि हम बडी फौज के सिपाही है, किसी से डरते व घबराते नही थे। किसानो का जो काम उठाया गया उसमे टंडनजी सबसे आगे थे। किसान-सभाए उन्होने शुरू की। आज खुशी होती है कि हम लोगो का जीवन बेकार नही गुजरा। टंडनजी हम सबमे बडे बुजुर्ग है। उस जमाने की तस्वीर देखना है तो टंडनजी को देखिए जो अटल खम्भे की तरह आज भी अपने सिद्धात के पक्के है। हममे से कुछ लोग बह गए, लेकिन वह डटे रहे। उनके रहने के ढग और आदत मे कोई फर्क नही है, भले ही उम्र का फर्क हो गया हो। एक आदमी का खास बातो मे जमे रहना इस बात की याद दिलाता है कि उसके पीछे सिद्धात है।

बडे भाई को और क्या कहू, मै अपना प्रेम और आदर पेश करता हू। उन्होने ५० वर्ष मे मुझे जो प्रेम दिया है उसके लिए मै आभारी हू।

नई दिल्ली,
२१ अगस्त, १९५७

भारतीय संस्कृति के प्रतीक

श्री अनन्तशयनम अय्यंगार

गांधी-युग में भारतीय क्षितिज पर जो अनेक नेता प्रकट हुए, उनमें श्री पुरुषोत्तमदास टंडन अपनी निराली कांति से दीप्तिमान है। वह सदा अपने विचार स्वयं स्थिर करते हैं और जब उनके विचार नवीनतम फैशन से मेल नही खाते तो वह शाब्दिक हेर-फेर नही करते, स्पष्टवादिता से काम लेते हैं। इस कारण उन पर बहुधा अनुदारपथी होने का आक्षेप लगा है, किन्तु जिन लोगों को उनके निकट आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, और मैं उनमें से एक हू, वे जानते हैं कि टंडनजी की उदार, मानवता-प्रेमी आत्मा किन्ही असामाजिक अन्धविश्वासो को प्रश्रय या प्रोत्साहन देने के सर्वथा प्रतिकूल है। उनका व्यक्तित्व प्राचीन भारतीय सस्कृति की उस ओजस्विता का प्रतीक है जिसने हर नए ज्ञान को अपनी अजस्र ज्ञान-धारा में समो लेने और उनके परस्पर समन्वय का प्रयास किया है। मैं भारतीय संस्कृति के इस जीवित प्रतीक को अपनी आदरपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करता हू और प्रार्थना करता हू कि वर्षो तक भारतीय युवाजनों के विचारों और कर्मों को वह शुभ प्रेरणा प्रदान करते रहे।
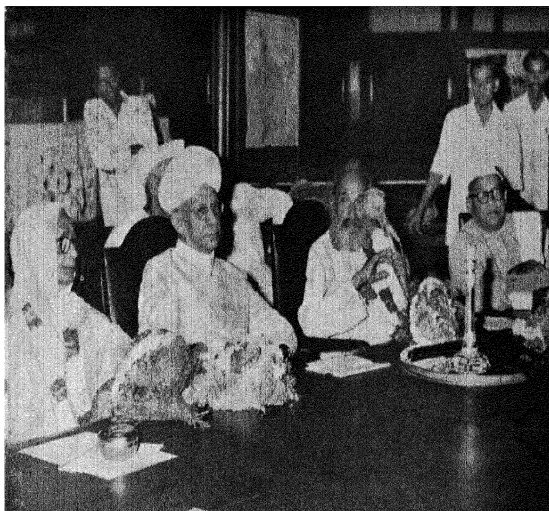
भारतीय संसद में ७५वीं वर्षगांठ के अवसर पर

श्री टंडनजी की ७५ वीं वर्षगांठ पर, संसद भवन नई दिल्ली में, संसदीय हिन्दी परिषद् द्वारा आयोजित समारोह में उपराष्ट्रपति श्री टंडनजी को क्रिकेट का बल्ला भेंट कर रहे हैं। (टंडनजी अपने समय में क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी रहे हैं)
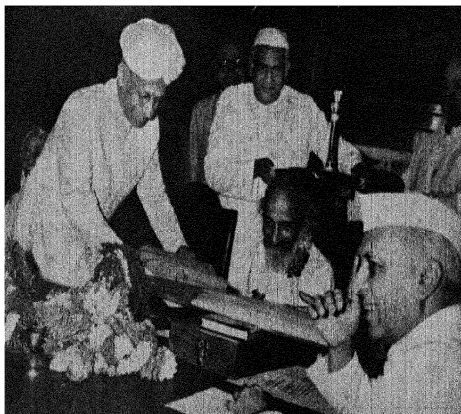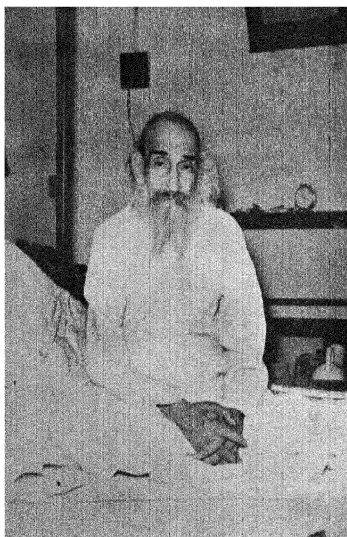
टंडनजी की वर्तमान रुग्णावस्था
का एक चित्र

भारतीय संसद में श्री टंडनजी ने महामना मालवीयजी का एक पूर्णाकार चित्र भेंट किया था। यह चित्र संसद में समारोहपूर्वक प्रतिष्ठित किया गया। प्रस्तुत चित्र उसी समारोह के अवसर का है।
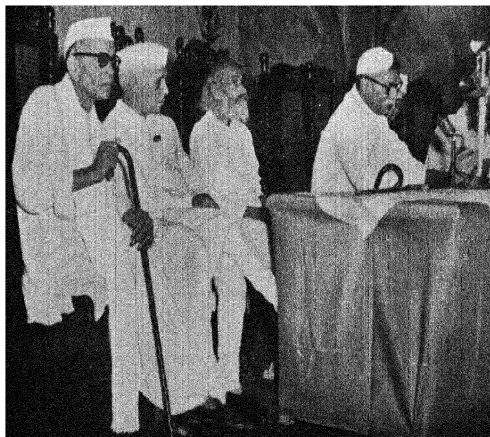
जय कामनाजयी !

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

जन-हित निज सर्वस्व दान कर तुम तो हुए अशेष;
क्या देकर प्रतिदान चुकाए ऋषे ! तुम्हारा देश ?
राजदड, केयूर, छत्र, चामर, किरीट, सम्मान,
तोड़ न पाये यती ! ध्येय से बधा तुम्हारा ध्यान।
ऐश्वर्यो के मोह-कुज में भी न धीरता डोली,
तुमने तो की ग्रहण देवता ! केवल अक्षत-रोली।
जय कामनाजयी, व्रतचारी, मधुकर चंपक-वन के,
जय-जय अभिनव भरत भव्य भारत के राजभवन के !
गत की तिमिराच्छन्न गुफा में शिखा सजाने वाले;
जय, जीवित, उज्ज्वल अतीत की ध्वजा उठाने वाले !
ऋषे ! मरेगा कभी न भारतवर्ष तुम्हारे मन का,
अब तो वह बन रहा ध्येय जग भर के अन्वेषण का।
टूट रही परतें, स्वरूप अपना धुलता जाता है,
मंद-मद मुद्रित सरोज का मुख खुलता जाता है।
मद-मद उठ रही हमारी ध्वजा धर्म की, बल की,
विभा नर्मदा-कावेरी की, शोभा गगा-जल की।
क्षमा, शान्ति, करुणा, ममता ये सब आकार धरेंगे;
शमन किसी दिन हालाहल का जग में हमी करेंगे।
संस्कृति से सम्पृक्त यहां विज्ञान मुक्त-दव होगा;
हुआ नही जो कही और, भारत में संभव होगा।

एक हाथ में कमल, एक में धर्म-दीप्त विज्ञान,
लेकर उठने वाला है, धरती पर हिन्दुस्तान।

हिन्दी के लिए सतत संघर्ष

श्री नरहरि विष्णु गाडगिल

श्रद्धेय टडनजी का और मेरा परिचय वैसे तो पाव शताब्दी से ज्यादा का है। १९२५ में कानपुर में राष्ट्रीय महासभा काग्रेस का वार्षिक अधिवेशन था। उस अवसर पर विषय-निर्वाचिनी समिति के सामने हिंदी भाषा के बारे में एक प्रस्ताव रखा गया था। उस समय टडनजी के भाषण की शैली और उसका मर्म, दोनों का प्रभाव मेरे ऊपर पडा।

उस समय तो 'हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी' यह नारा बहुत प्रभावी था। कुछ समय के बाद यह अभिन्नता समाप्त होगई। बाद मे 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' ऐसा विकल्प जनता के सामने आया, उस समय टडनजी का दृष्टिकोण हिन्दी के लिए था। १९५० मे जब सविधान सभा मे भाषा का प्रश्न उठाया गया तब तो ऐसा मालूम हुआ कि सविधान सभा ने कुरुक्षेत्र का रूप धारण किया है और कौरव-पाडवो की स्मृति अनेक-अनेक लोगो को होगई। पडित नेहरू बिल्कुल हिन्दुस्तानी के लिए कटिबद्ध थे। टडनजी के कहने पर मै उनमे मिला और कुछ बातो के बाद हमने उनको इस बात पर राजी किया कि सज्ञा हिंदी रहे किन्तु उसका स्वरूप सविधान मे दर्शित किया जाए। इसी दृष्टि मे वह धारा बनाई गई है जिसमे हिन्दी का स्वरूप कैसा रहेगा, उसकी उन्नति किस दृष्टि मे होगी, ये बाते स्पष्ट कर दी गई है। महत्त्व नाम-रूप का है और किसी भाषा को समृद्ध करना है तो अन्य भाषाओ को द्वेष का पात्र नही बनाना चाहिए; बल्कि अन्य भाषाओ के शब्द और वाक्-प्रचार को, जहा ठीक लगता है वहा, स्वीकार करना चाहिए। यही दृष्टि आज हम रखे तो हिन्दी राष्ट्रभाषा तो होगी ही, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भाषा की पदवी और महत्त्व भी उसे प्राप्त होगा। तीन तपों तक टडनजी हिन्दी की समृद्धि के लिए सघर्ष करते रहे है लेकिन उन्हे हिन्दी को राष्ट्र-भाषा की पदवी का प्राप्त होना अब जाकर नजर आया है। हिन्दी की श्रीवृद्धि अपनी पदवी और प्रतिष्ठा के अनुसार होती रहे, और पूज्य टडनजी शतायु होकर इसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का पद प्राप्त होते देख सके, यही मेरी कामना है।

अद्वितीय महापुरुष

श्री सदाशिव कान्होजी पाटिल

राजर्षि टडनजी की राष्ट्र, समाज, सस्कृति एव भाषा-विषयक सेवाए निश्चय ही राष्ट्रीय सम्मान के योग्य हैं।

दुनिया मे अनेक महापुरुष हुए है। किन्हीने बडी-बडी लडाइया लडी, किन्हीने बडे-बडे साम्राज्य स्थापित किए, परन्तु ऐसे महान व्यक्ति बिरले ही हुए है जिन्होने समाज, साहित्य, सस्कृति और किसानो की सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया हो। राजर्षि उन सत्पुरुषो मे गिने जाते है, जिन्होने लोक-सेवा-कार्य मे अपनी सुख-सुविधा और धनसंचय की तरफ ध्यान नही दिया। लम्बी-लम्बी बाते नही बनाई, आत्मसिद्धि के लिए यत्न नही किए।

उम्र के साथ उनका उत्साह बढता ही गया है। वह नि:सशय अभिनदन के पात्र है। मै उन्हे अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करता हूं।

प्रेरणा के स्रोत

श्री जगजीवनराम

हृदय के भाव उद्‌गार बनकर बाहर आया करते है। श्रद्धा, स्नेह, सम्मान आदि भाव व्यक्त करना ही अभिनन्दन करना है। अभिनन्दन के लिए सुसस्कृत भाषा एव विशाल शब्दाडम्बर अपेक्षित नही। किन्तु ग्रन्थ-रूप मे अभिनन्दन करने का विशेष लाभ यह भी होता है कि इसके द्वारा व्यक्ति की बहुमुखी सेवाओ, मन्तव्यो एव सिद्धान्तो को स्थायी रूप मिल जाता है। श्रद्धेय टडनजी जैसे महान व्यक्ति के सिद्धान्त, मन्तव्य एव जीवन-वृत्त का अभिलेख भावी सन्तति के लिए प्रेरणा-स्रोत बनकर मार्ग-दर्शन करेगा, इसमे दो मत नही।

श्रद्धेय टडनजी से मेरा निकट का सम्बन्ध रहा है। आपका आत्म-निरपेक्ष व राष्ट्र-समर्पित जीवन, सात्विक विचार एव लोकसेवी प्रवृत्ति निस्सदेह अनुकरणीय है। साहित्य, सस्कृति, समाज, देश-सेवा आदि कोई भी क्षेत्र आपसे अछूता नही रहा। हिन्दी एव भारतीय सस्कृति के आप महान पोषक है। आपके सान्निध्य मे आने वालो पर आपकी छाप पडे बिना नही रही। स्पष्टवादिता आपका विशेष गुण रहा है। आत्मविरक्त, किन्तु राष्ट्र-अनुरक्त रहकर आपने ऋषि-परम्परा का पालन किया है। इसी कारण आपको 'राजर्षि' का सम्बोधन प्राप्त है।

मै उन्हे अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

राष्ट्रभाषा के महान नेता

श्री घनश्यामसिंह गुप्त

राजर्षि टडनजी का त्यागमय जीवन किसी विज्ञ व्यक्ति से छिपा नही है।

देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए उन्होने जो तप व त्याग किया वह अनुकरणीय है।

हिन्दी के लिए तो इनका जीवन प्राय वक्फ ही रहा। जिस समय सविधान सभा मे केन्द्र की राज्य भाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ और वह जटिल रूप धारण करने लगा तब हम हिन्दीवालो का नेतृत्व उनके हाथ मे था। जिस लगन और दृढता से उन्होने कार्य किया वह इतिहास के पृष्ठो मे अकित रहेगा। सविधान मे हिन्दी को जो स्थान प्राप्त हुआ है उसका बहुत बडा श्रेय श्रद्धेय टडन जी को है। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के यत्न मे उन्होने भारत की दूसरी समृद्ध भाषाओ की निन्दा या अवहेलना कभी नही की। दूसरी भाषावालो के साथ सदा प्रेम और सत्कार से काम लेते रहे। जिसका यह परिणाम हुआ कि सविधान मे हिन्दी को प्रमुख स्थान देने के पक्ष मे सभी होगए और अग्रेजी के स्थान मे हिन्दी केन्द्र की राज्य-भाषा स्वीकृत की गई।

सविधान का हिन्दी-सस्करण बनाने के कठिन कार्य मे भी मुझे और मेरी समिति को उनसे समय-समय पर पथ-प्रदर्शन मिलता रहा।

अधिक लम्बा न लिखकर श्रद्धेय राजर्षि टंडनजी की सेवाओं के लिए श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता हू।

कर्मयोगी टंडनजी

श्री सम्पूर्णानन्द

टडनजी के सम्बन्ध मे कुछ लिखना सरल भी है और कठिन भी है। लगभग ४५ वर्ष हुए, जब मेरी उनसे पहली मुलाकात हुई थी। वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के लिए इन्दौर गए थे। मै वहा राजकुमार कालिज मे अध्यापक था और स्वागत समिति के उपाध्यक्षो मे से एक था। वही परिचय हुआ। उसके बाद राजनीति के क्षेत्र मे तो आज लगभग ४० वर्ष मे साथ है। इस बीच मे हम लोग जेल मे और अधिक सम्पर्क मे आए और फिर वह हमारी विधान सभा के अध्यक्ष थे। मै मत्री के रूप मे काम करता था। जहा मिलने-जुलने का इतने दिनो तक अवसर मिला हो वहा सहस्रो ऐसी बाते है जो लिखी जा सकती है। शिक्षाप्रद और रोचक, सभी तरह की ऐसी कथाए है जिनसे टडनजी के चरित्र पर प्रकाश पडता है, परन्तु किसी जीवित व्यक्ति के सम्बन्ध मे लिखने मे कठिनाई होती है। विशेषत जबकि वह राजनीतिक रगमच का अभिनेता रहा हो और उसके साथ के दूसरे पात्र भी देवानुकम्पा से अभी जीवित हो, कलम रोककर लिखना पडता है और कई बाते छोड देनी होती है।

हमारे राजनीतिक नेताओ मे जो लोग त्यागमूर्ति कहे जाने के अधिकारी है उनमे टडनजी का नाम निश्चय ही प्रथम श्रेणी मे लिखा जायगा। उनका त्याग जिस उत्कृष्ट कोटि का था और अपनी त्यागवृत्ति से उन्होने जिस प्रकार अपने कुटुम्बियो को सयम की दृढ शृखला से बाधा, वह चिरस्मरणीय कथा है। उसको सोचकर द्रोणाचार्य की याद आती है जिन्होने राजगुरु होते हुए भी अपने एकमात्र पुत्र को दूध पीने तक का अवसर नही दिया, क्योकि इसमे त्याग मे बट्टा लगता और राजा के सामने हाथ फैलाना पडता। यो अजातशत्रु तो स्यात् कोई नही होता; फिर भी मै समझता हू कि टडन जी का स्यात् ही कोई शत्रु होगा, परन्तु यदि कोई हो तो उसको भी टडनजी के त्यागमय जीवन के सामने नतमस्तक होना पडेगा।

उनके सम्बन्ध की दूसरी चीज जो सर्वमान्य है वह है हिन्दी के प्रति उनकी अनन्य और अटूट निष्ठा। किसी एक व्यक्ति ने हिन्दी के लिए इतना काम नही किया जितना कि टडनजी ने किया। उनकी कार्यशैली किसी-किसी को रुष्ट कर देती है। ऐसे लोग भी, जिनको उन्होने स्वय हिन्दी के कार्यक्षेत्र मे प्रवेश कराया, कभी-कभी उनके विरोधी बन जाते है। वह अपने मत को ऐसे स्पष्ट और निर्भीक रूप से रखते है कि हिन्दी के विरोधियो को आन्दोलन करने का अवकाश मिल जाता है, परन्तु जिस प्रकार टडनजी ने हिन्दी के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग किया वह तो हर दशा मे अनुपम और अद्वितीय है।

यह तो बहुत से लोग जानते है कि वह उदार धार्मिक विचारो के व्यक्ति है। राधास्वामी संप्रदाय मे उनका बहुत ऊचा स्थान रहा है, परन्तु इस बात को सम्भवत कम लोग जानते होगे कि वह अपने समय मे म्योर सैन्ट्रल कालिज के, जो अब प्रयाग विश्वविद्यालय बन गया है, क्रिकेट टीम के कप्तान थे और आज भी उनकी क्रिकेट मे वैसी ही अभिरुचि है। मैने जेल मे देखा है कि वह चाहे और किसी समाचार का पढे या न पढे, परन्तु देश-विदेश कही के भी क्रिकेट-मैच का समाचार जब तक आदि से अन्त तक न पढ ले तब तक उन्हे चैन नही आता था।

उनको एक और शौक है जिसका और भी कम लोगो को परिचय होगा। उनकी शतरंज में रुचि है। मै

तो मौहरों की गतिमात्र जानता हू और इस खेल की बारीकियो को समझ नही पाता, परन्तु यह देखता था कि जेल में टडनजी और स्वर्गीय रफी अहमद किदवई की शतरज की बाजी घटो चला करती थी। दोनो मे कौन अच्छा खिलाडी था, यह मै आज तक नहीं जान पाया।

उनकी एक कमजोरी है जिस पर उनके मित्र कभी-कभी कुढते भी हैं और हँसते भी है। सिद्धान्तरूप मे तो यह सभी मानते है कि काल अनन्त है; परन्तु टडनजी उन लोगो मे है जो व्यवहार मे भी इस सिद्धान्त को अवतरित किया करते है। ऐसेम्बली की अध्यक्षता के समय मे तो उनको किसी ने भी देर से पहुचते देखा नही, परन्तु इसके सिवाय और किसी काम को वह स्यात् ही ठीक समय पर कर पाते होगे। जेल मे हम लोग देखते थे कि वह ठीक समय मे न जलपान करते थे, न स्नान करते थे और न भोजन। मेरा ऐसा खयाल है कि इसमे उनके स्वास्थ्य पर निश्चय ही बुरा प्रभाव पडा है।

उनके जैसे सयमी और तपस्वी जीवन बिताने वाले व्यक्ति का स्वास्थ्य साधारणत बहुत अच्छा रहना चाहिए। मेरा ऐसा खयाल है कि भोजन के सम्बन्ध मे उन्होने अपने ऊपर जो प्रयोग किए है उन्होने भी उनके स्वास्थ्य को बिगाडा है। शक्कर छोड देना अच्छी चीज हो सकती है, किन्ही विशेष अवस्थाओ मे नमक छोड देना भी अच्छा हो सकता है, परन्तु जिस व्यक्ति को घटो दिमागी काम करना पडता हो, उसको इस बात का ध्यान रखना ही चाहिए कि शरीर को पुष्टिकर भोजन मिले। टडनजी वर्षो से जैसा भोजन करते रहे है उसमे मेरी समझ मे इस चीज का बहुत बडा अभाव रहा है। भोजन के प्रयोग को वह कभी-कभी इतनी दूर तक ले जाते है कि उसमे हानि भी हो सकती है। मुझे फतेहगढ जेल की एक बात स्मरण आती है। वह उनकी इस प्रकार की प्रयोगशीलता का उदाहरण है और कुछ हद तक हास्यास्पद भी है। चैत्र के महीने मे नीम मे जो फूल आते है उनको लोग सुखा लेते है और घी मे तलकर खाते है। यह अपने ढग का एक अच्छा स्वाद भी रखता है और कहते है कि उस ऋतु मे लाभदायक भी है। मुझे भी इसका शौक है। जेल मे भी मैने थोडे से फूल जमा कर रखे थे और कभी-कभी भोजनालय मे इसे बनवाया करता था। टडनजी को यह खयाल हुआ कि यदि नीम का फूल खाया जा सकता है तो नीम की निमौरी क्यो नही खाई जा सकती। उन्होने निमौरी को घी मे तलवाना आरभ किया। मैने तो उसे खाने से इन्कार कर दिया। हमारे भोजनालय मे काम करने के लिए जो कैदी दिए गए थे वे भी उसे नही खाते थे। टडनजी रोज खाते थे। हम लोग 'ए' क्लास मे थे। प्राय नित्य ही हमारे 'बी' क्लास के कुछ साथी हमारे यहा आ जाते। टडनजी उन्हे भी यह व्यजन दिया करते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनमे से किसी ने भी सामने नही खाया। सभी यह कहकर ले जाते थे कि हम बैरक मे जाकर स्नान करने के बाद भोजन के साथ खाएगे और कभी-कभी टडनजी से इसकी तारीफ भी कर दिया करते थे। मैने उनसे हँसी मे दो-चार बार कहा कि आप नाहक इन लोगो का परलोक बिगाड रहे है। ये लोग आपसे झूठ-मूठ कह जाते है क्योकि सामने 'नही' करने का साहस नही होता और अपनी बैरक मे जाकर फेंक देते है, परन्तु उनको मेरी बात पर विश्वास नही हुआ। एक बार उनको ज्वर आया। कानपुर के प० रघुवरदयाल भट्ट वैद्य भी जेल मे थे। उन्होने टडनजी से कहा कि महाराज, चरक ने यह लिखा है कि यदि निमौरी खाई जाय तो उसके साथ बहुत सा घी खाना चाहिए, नही तो ज्वर हो आता है। आपके ज्वर का यही कारण है। मै नही जानता कि चरक ने ऐसा लिखा है या नही, परन्तु भट्ट जी की उक्ति काम कर गई। चूकि टडनजी घी खाने के विरोधी है, इसलिए उन्होने निमौरी खाना भी छोड दिया। ज्वर तो दो-चार दिन मे अच्छा हो ही गया, परन्तु हमारे भोजनालय मे इस पकवान का बनना बन्द हो गया।

इस कहानी से टडनजी के जीवन के एक अन्य पहलू पर प्रकाश पडता है। वह कुशल राजनीतिज्ञ है, विद्वान् है, यावज्जीवन कर्मयोगी रहे है, पर इसके साथ कुछ बातो मे बहुत भोले स्वभाव के है। और जब तक कोई बहुत ही पुष्ट कारण न हो तब तक किसी पर अविश्वास नही करते। हा, यदि उनको ऐसा प्रतीत हो कि किसी मनुष्य का चरित्र ऊचा नही है और नैतिक दृष्टि से वह गिरा हुआ है तो फिर उसकी ओर से वह अपना चित्त बिल्कुल खीच लेते है।

भारतीय सस्कृति के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा है और सामाजिक तथा धार्मिक बातों में पूर्णतया निष्पक्ष और उदार होते हुए भी उनको विश्वासो, विचारों और कर्मसरणियों के उस समुच्चय पर, जिसको एक शब्द मे हिन्दुत्व कह सकते हैं, बहुत बडी आस्था है।

मै उन लोगो मे से हू जिनके ऊपर टंडनजी की सदा से बहुत बड़ी कृपा रही है। मेरे चित्त में उनके लिए बहुत बडा आदर है और यदि सार्वजनिक जीवन मे स्नेह के लिए कोई स्थान है तो स्नेह भी है। बराबर वर्षों तक साथ काम करने का अवसर रहा है और काग्रेस की सेवा मे हम एक-दूसरे के साथी, अग्रेजी भाषा मे कामरेड, रहे है; परन्तु मै उनको सदा बुजुर्ग मानता रहा हू। जहा उनमे और गुण है वहा वह बडे हँसमुख व्यक्ति है, इसलिए उनके साथ रहने वाले को कभी भी उस प्रकार का असमजस नही होता जो कि बडो के साथ रहने मे हो जाया करता है।

उनके स्वास्थ्य की इस समय जो अवस्था है उससे उनके सभी मित्रो को, और ऐसे लोगों की संख्या बहुत बडी है, बहुत चिन्ता है। भगवान उनको स्वस्थ रखे और बहुत दिनो तक लोगो को उनकी छाया मे काम करने का अवसर दे।

गांधीजी के समान रचनात्मक

श्री विचित्रनारायण शर्मा

श्री पुरुषोत्तमदास टडन उन थोडे से व्यक्तियों मे से है जिन्होने राष्ट्रीय जागृति के श्रीगणेश का कार्य आरम्भ किया तथा उसके लिए प्राय सर्वस्व अर्पण किया। यह उनके तथा हमारे सबके लिए सौभाग्य का विषय है कि इन महान नेताओ के जीवन-काल मे ही उनकी तपस्या का फल हमे मिला और राष्ट्र आज आजाद है।

हमारे विधान के बनाने मे उनका यथेष्ट भाग रहा। हिन्दी को जो स्थान मिला है उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हे है। राजर्षि केवल एक आन्दोलनकारी नेता ही नही रहे, गाधीजी की तरह उन्होने रचनात्मक प्रवृत्तियो मे भी सदा सुरुचिपूर्ण भाग लिया है।

ईश्वर उन्हे दीर्घायु करे ताकि चिरकाल तक उनका नेतृत्व कार्यकर्त्ताओ को सुलभ हो सके।

राजर्षि नहीं, महर्षि

श्री श्रीप्रकाश

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से मुझे प्रथम बार मिलने का सौभाग्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर-अधिवेशन मे सन् १९१६ मे प्राप्त हुआ था। उस समय वह नाभा राज्य के उच्च अधिकारी थे और सम्मेलन के कार्यों मे उनका बहुत बडा हाथ था। नाभा से वह थोडे ही दिन बाद वापस आगए और प्रयाग मे ही अपना व्यक्तिगत और सार्वजनिक काम करते रहे। १९१७-१८ मे प्रयाग मे 'लीडर' समाचार-पत्र के कार्यालय मे मै पत्रकारिता का काम सीखता था। उस समय टडनजी सपादक श्री सी० वाई० चितामणि से मिलने प्राय आया करते थे और तत्कालीन राजनीतिक विषयो पर उनसे विचार-विनियम करते थे। उस समय टडनजी को देखने और उनके भावो और विचारो को समझने का मुझे अच्छा अवसर मिला।

इसको आज ४३ वर्ष हो गये, पर उसके बाद से ही काग्रेस के कार्य मे उनका मेरा सबध आरम्भ हुआ और काग्रेस की प्रातीय कमेटी और उसकी कार्यकारिणी समिति मे मेरा उनका बहुत निकट सम्पर्क रहा। हम सभी उनकी धर्मपरायणता, स्वच्छ और सरल जीवन, भ्रातृ-प्रेम, स्पष्टवादिता, उच्च सिद्धातो पर अटल निष्ठा, देशभक्ति और लोक-सेवा से मुग्ध रहते थे। जब वह किसी बात का निश्चय कर लेते थे तो उनको कोई हिला नही सकता था। बहुत बार उनके मित्र और सहयोगी इससे घबराते भी थे क्योंकि ससार मे तो समझौता करते ही रहना पडता है, व्यावहारिकता की दृष्टि से हम सबको ही अपने सिद्धान्तो की न्यूनाधिक अवहेलना करनी ही होती है। पर टडनजी ऐसा करने को कभी भी तैयार नही हुए।

अपने देश मे प्राय ऐसा देखा जाता है कि जब कोई किसी मत या मार्ग को निश्चित कर लेता है और अपने स्थान से डिगने को नही ही तैयार होता, तो उसका अपने साथियो से सम्बन्ध टूट जाता है। वह अलग हो जाता है। परस्पर कुछ कटुता और मनोमालिन्य भी आ जाता है। टडनजी के 'हठ' की यह विशेषता रही है कि इसके कारण किन्ही साथियो से उनके स्नेह-सबधो मे कोई अतर नही पडता था। उनसे सहमत न होते और दूसरे मार्ग से चलते हुए भी लोग उनका सम्मान ही करते थे और उनसे प्रेम बनाए रहते थे। यह उनकी एक ऐसी विशेषता है जिसने मुझे बहुत मुग्ध और आकृष्ट किया। इस सबध मे टडनजी की जो भावनाए रही है उनके अनुसार यदि हम सब चल सके तो अपने सार्वजनिक क्षेत्र का दृश्य ही बदल जाय। सार्वजनिक प्रश्नो मे परस्पर मतभेद होने के कारण किसी भी प्रकार मे व्यक्तिगत मलिनता न आने पावे। यदि सुदर और सर्वथा अभीष्ट प्रकार को हम अपनावें तो आज हमारे सार्वजनिक जीवन मे जो कटुता और कर्कशता है, वह तत्काल दूर हो जाय।

जहा तक मै देख सका, टडनजी के व्यक्तिगत जीवन का यह आदर्श रहा है कि जैसा मनुष्य भीतर हो वैसा ही उसे बाहर भी होना चाहिए। जो उसका वास्तव मे विचार हो उसी को प्रकट करना चाहिए। जैसी उसकी आतरिक भावना हो वैसा ही उसका बाह्य आचरण भी होना चाहिए। गार्हस्थ जीवन मे उनका यह आदर्श रहा है कि उसमे नैतिक पवित्रता और सदाचार सदा बना रहे, चाहे भौतिक दृष्टि से कितना ही कष्ट कुटुम्बी जनो को क्यो न हो। उनके विचार मे किसी भी स्थिति मे कदापि किसी प्रकार का अनाचार या दुराचार नही ही होना चाहिए। इस सबध मे वह

अपने देश की पुरानी आर्य-सस्कृति के उपासक ही नही, स्वय उसके सच्चे प्रतीक रहे है, और उन्होने अपने जीवन मे स्वच्छता और सरलता को सदा प्रधान स्थान दिया है। वस्त्र, भोजन, मकान, गृहस्थी के प्रबध के सबध मे उन्होंने अपने विचारो को सुदर और समुचित रूप से कार्यान्वित किया है। सार्वजनिक क्षेत्र मे उनका आदर्श रहा है कि हिन्दी भाषा का देश मे प्रचार होना चाहिए और इसके द्वारा देश की एकता को सुदृढ़ करना चाहिए। इसके लिए उन्होने कितने ही दिनो से सतत परिश्रम किया। जहा तक मै जानता हू, महात्मा गाधी के इस कार्य को उठाने के पहले से ही टडनजी ने प्रयाग के अपने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान मे दक्षिणी प्रदेश मे हिन्दी का प्रचार आरभ किया था, और दक्षिण के विद्यार्थियो को हिन्दी पढने के लिए प्रयाग आने को भी वह सदा उत्साहित करते रहे। साथ ही उनका आदर्श यह रहा कि विदेशियो के शासन से देश को मुक्त करना ही चाहिए, और हमे भी स्वतत्र रहकर ससार की कार्यप्रणालियो और विचार-शैलियो मे समुचित योग देना चाहिए।

जहा तक मै जानता हू, आरभ के दिनो मे टडनजी अहिसावादी नही रहे, और उनका विचार यही था कि आवश्यकता हो तो देश के हित के लिए यदि कोई दूसरा मार्ग न रह जाय तो हिसा के मार्ग का भी अवलबन किया जा सकता है। सन् १९१९ के दु खद और लज्जाजनक जलियावाला बाग-काड के बाद मुझे स्मरण है कि टडनजी से बाते करते हुए मैने इन विचारो का समावेश उनके चित्त मे पाया, पर महात्मा गाधी के हाथो मे जब काग्रेस का सचालन आया तो उन्होने भी अहिसा-व्रत को धारण किया और उसका पूर्ण रूप से पालन किया। यदि वह देखते थे कि उनके किसी स्थान पर रहने से कार्य मे बाधा पड रही है, या किन्ही लोगो को उनकी विचारधारा या कार्यप्रणाली पसद नही है, तो वह स्वय उस स्थान को छोड देते थे, पर इसके कारण उनके मन मे कोई विकार नही आता था। मित्रो से वह सदा पहले की ही तरह प्रेम बनाए रहते थे। प्रशसा की बात है कि वह उस सस्था को भी नही छोडते थे जिसके कार्य के सबंध मे ऐसी स्थिति पैदा हुई हो। वह उसमे स्वय बने ही रहते थे। इस पर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना इस कारण आवश्यक है कि हमारा साधारण अभ्यास यही है कि जब हमारा अपने साथियो से मतभेद होता है और बहुमत हमारे विरुद्ध रहता है तो रुष्ट होकर अपनी सस्था से ही हम अलग हो जाते है। टडनजी का कार्य करने का यह प्रकार नही रहा। इससे हम सबको ही शिक्षा लेनी चाहिए।

मातृभाषा के प्रचार मे और मातृभूमि की सेवा मे टडनजी ने अपने तन, मन, धन सबको पूर्ण रूप से अर्पण कर दिया। उन्होने अपनी गृहस्थी के हितो की इसके कारण अवहेलना की। गृहस्थावस्था मे ऐसा करने के औचित्य मे लोगो को शका हो सकती है, पर इस बात मे शका किसी को भी नही ही हो सकती कि जो कुछ टंडनजी ने किया, वह सार्वजनिक हित के लिए ही किया। वह अपने सिद्धातो के लिए सदा अपना सब कुछ त्याग करने को तैयार रहे। टडनजी बडे गभीर प्रकृति के सत्पुरुष है। वह सभी विषयो पर गभीरता से मनन कर अपना विचार प्रकट करते है। अवश्य ही मेरे ऐसे लोगो के लिए, जिनकी प्रकृति भिन्न है और जो ससार मे कुछ हँसना-खेलना भी पसद करते है, कभी-कभी टडनजी को समझना कठिन होता रहा। इस कारण उनमे झुझलाते भी रहे। हमारी ऐसी अभिलाषा रहती थी कि टडनजी भी कभी-कभी तो कुछ अपनी गभीरता को त्याग कर साधारण जन की तरह हँसते-खेलते। ऐसी बात नही है कि उन्होने कभी हँसा-खेला न हो। क्रिकेट के तो वे किसी समय प्रसिद्ध खिलाडी रहे है। मित्र-मडली मे वे हँसते भी है, पर उनकी हँसी मे भी गभीरता रहती है। वह बीभत्सता और अश्लीलता को अपने से बहुत दूर रखते है। साधारण जनो के हास्य मे ये दुर्भाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे आ ही जाते है। यदि टडनजी साधारण हास्य से ही इस कारण परहेज करते रहे तो कोई आश्चर्य नही।

यह सर्वथा उचित ही है कि समाज ने अपने हार्दिक सम्मान के सूचनार्थ उन्हे समुचित अलकार से विभूषित करना चाहा और इस अभिलाषा की पूर्ति मे उन्हे राजर्षि की उपाधि दी। ऐसे मामलो मे कोई तर्क काम का नही होता, सर्वसाधारण के हृदय मे कोई वाक्य स्वत आ जाता है और उसे वह प्रचलित कर देता है। महात्मा, देशबधु, त्यागमूर्ति महामना, पजाब-केसरी आदि सम्मानसूचक शब्द इसी प्रकार से विविध विभूतियो के साथ सलग्न हो गए। कुछ तो यथार्थता इनमें होती ही है। तथापि मन मे प्रश्न अवश्य उठता है कि क्यों कोई व्यक्ति नामविशेष से अलकृत हुआ।

मुझे भी आश्चर्य हुआ कि टडनजी को 'राजर्षि' नाम से पुकारा गया, क्योकि वे सदा से ही साधु प्रकृति के रहे है। सासारिक वैभव और शासन-शक्ति, जो 'राजा' के नाम मे निहित है, उससे टडनजी का तो जहा तक मालूम है, लेशमात्र भी कभी संबध नही रहा। मै तो चाहता कि 'महर्षि' इन्हे कहा जाता तो अधिक उपयुक्त होता, क्योकि सब ही जाति, श्रेणी, समुदाय, सम्प्रदाय के ऋषियो और मनीषियो के लिए यह शब्द प्रयोग किया जा सकता है। तथापि, जब जनता ने और सहयोगियों ने इन्हे 'राजर्षि' कहा तो इसे उचित ही मानना होगा, और उसी रूप मे मै इनका अभिवादन करता हू और उनके प्रति पुराना साथी और छोटा भाई होने के नाते श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

आजादी के सच्चे उपासक

श्रीमती उमा नेहरू

श्री पुरुषोत्तमदास टडन हमारे देश के सच्चे आजादी के भक्त है। जिनमे राग-द्वेष का नाम नही है और सदा कर्त्तव्य-कर्म करते रहते है। कर्म के फलस्वरूप जो नफा-नुकसान या दु:ख-सुख मिलता है उसे देश की गोद मे ही अर्पण कर देते है।

टडनजी केवल राजनीतिक क्षेत्र मे ही नही, किन्तु साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रो के एक चमकते हुए रत्न है।

देश के लोगो के कष्टो का रात-दिन हृदय मे अनुभव करते है, और अपने देशवासी भाई-बहनो के उपकार के लिए उपाय ढूढते रहते है। दुनिया के लाख विरोध करने पर भी सत्य और प्रेम के सिद्धान्त से नही डिगते है। कठिनाइया, दमन-नीतिया या गिरफ्तारिया देश की आजादी के कारण उन्होने हँस-हँस कर सही है, इन विपत्तियो से वह डरे नही।

टडनजी के हृदय मे सदा देश की आजादी की कामना रही। वह कभी अपने निश्चित पथ मे विचलित नही हुए। निर्भीक वीर की तरह हर तरह की मुसीबत उठाई और अपने कार्य पर अटल रहे।

टडनजी को मै एक अरसे से जानती हू। उनको सदा यही कहते सुना कि हमारे सामने एक ही धर्म है और वह है आजादी का। यही राष्ट्र का प्राण है। टंडनजी जैसे लोग ससार मे सदा जीवित रहते है। टडनजी ने अपना कर्त्तव्य सम्पूर्ण रीति से पालन किया है।

टडनजी सदा के लिए हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रतीक के रूप मे अपनी मातृभूमि मे निवास करेगे।

एक समर्पित जीवन

आचार्य कृपलानी

श्री पुरुषोत्तमदास टडन से मेरा परिचय और साथ १९२० मे हुआ, जब सत्याग्रह-सग्राम के सिलसिले मे अपनी सम्पन्न और चमकती हुई वकालत को छोडकर वह राष्ट्रीय आन्दोलन मे शामिल होगए। बाद मे वह पजाब नेशनल बैंक के जनरल मैनेजर होगए और पजाब-केसरी लाला लाजपतरात के निकट सम्पर्क मे आए। लालाजी ने लोक-सेवक मण्डल (पीपुल्स सर्वेंट्स सोसाइटी) की स्थापना की थी जिसके सदस्यो ने त्यागमय जीवन और राष्ट्रीय सेवा का व्रत लिया हुआ था। यह सोसाइटी श्री गोखले द्वारा स्थापित सर्वेंट्स आफ इडिया सोसाइटी के नमूने पर बनाई गई थी, जिसका प्रधान कार्यालय पूना मे था। नई सोसाइटी के सदस्यो का काम राष्ट्रीय समस्याओ का अध्ययन करना और देश के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण मे सहायता करना था। लाला लाजपतराय भारतीय देश-भक्तो मे पहले थे जिन्होने राष्ट्रीय राजनीतिक स्वाधीनता की समस्या को अन्य बातो से अलग करके नही देखा। वह सर्वतोमुखी और सुमयोजित सुधार के हामी थे और अपने देश की नैतिक, भौतिक एव सास्कृतिक उन्नति व प्रगति चाहते थे। उनके निधन के बाद टडनजी ने पजाब नेशनल बैंक का अपना ऊचे वेतन वाला पद छोड दिया और सोसाइटी के अध्यक्ष बन गए।

कुछ समय पश्चात् टडनजी अपने गृह-प्रान्त सयुक्तप्रान्त (अब उत्तरप्रदेश) लौट आए और अपने नगर इलाहाबाद मे स्थायी निवास की व्यवस्था की। वह शायद हमारे आज के जीवित राष्ट्रीय नेताओ मे सबसे बुजुर्ग है। होश सभालने के बाद से उनका लगभग सारा जीवन देश और उसकी प्रगति के लिए अर्पित रहा है। वह मजबूत और दृढ विचारो के व्यक्ति हैं। वह उन्हे आस्था एव विश्वास के साथ व्यक्त करते है और उन पर डटे रहते है, व्यक्तिगत रूप से उन्हे चाहे कुछ भी नतीजा क्यो न भुगतना पडे। वह अपने विचारो को इस कारण दबाने को कभी तैयार नही हुए कि काग्रेस मे सर्वोच्च सत्ता पर स्थित लोगो से उनका मेल नही बैठता। उनमे अपने विचारो और विश्वासो पर जमे रहने का साहस है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से, आराम और ताकत की तलाश के कारण काग्रेस मे इस गुण का अभाव और विलोप होता जा रहा है। जिन लोगो ने बेझिझक और निडर होकर ब्रिटिश साम्राज्य की ताकत का मुकाबला किया था, आज इस डर से अपने दलीय नेताओ को नाखुश करने का साहस नही कर पाते कि कही उनकी कृपा-दृष्टि और सरपरस्ती से वचित न होजाय। श्री पुरुषोत्तमदास टडन स्वाधीनता-पश्चात के देशभक्तों के इस वर्ग के नही हैं। एक बार अहिसा और दूसरी बार हिन्दुस्तानी के राष्ट्रभाषा होने के मामले पर गाधीजी से उनका मतभेद हुआ। उन्होने अपने विचार साफ-साफ व्यक्त कर दिए। वह उन लोगो मे थे जो सत्ता-हस्तातरण के दिनो मे देश-विभाजन के सर्वथा विरुद्ध थे।

उन पर अक्सर सम्प्रदायवादी होने का आरोप लगाया गया है। किन्तु सारी साम्प्रदायिकता जो मैने उनमे पाई, वह यह कि वह राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी की हिमायत करते है और हिन्दू धर्म एव सस्कृति के बुनियादी मूल्यो मे उनकी आस्था है। बाद वाले कारण मे वह समझते हैं कि विश्व के सभी महान धर्म अलग-अलग राहो से एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। अपने धर्म पर दृढ रहते हुए, उनका किसी भी धर्म के प्रति विरोध का विद्वेष नही है। राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी की उनकी वकालत को भी अक्सर गलत समझा जाता है। मैने जब कभी उनसे पूछा है कि हिन्दुस्तानी

के उस रूप को वह क्या कहेगे जो में बोलता हू, तो उन्होने यही कहा है कि 'यह हिन्दी है ।' इसलिए यह केवल नामकरण का ही सवाल है । उनका कहना है कि 'हिन्दुस्तानी' गलत अभिव्यक्ति है । इस भाषा को सही तौर पर 'हिन्दी' कहना चाहिए, 'हिन्दुस्तानी' नही ।

उन पर यह भी आक्षेप किया जाता है कि वह प्रतिक्रियावादी नही, तो अनुदारपथी तो है ही । यह भी इस कारण से है कि वह भारतीय सस्कृति के प्रबल हामी है और चाहते है कि वह अपनी ही स्वाभाविक प्रतिभा के अनुसार और अनुरूप विकास और प्रगति करे, पश्चिम की बेजान नकल न बन जाए। वह यूरोपीय सस्कृति के उन सतही और चमक-दमक भरे गुणों से जरा भी प्रभावित नही कि जिनसे उनके कुछ उच्चतम समकालीनों के पाव अपनी भूमि से उखड गए। इस बात को छोड़ उनके विचार प्रगतिशील है। किन्तु उनका विचार है कि भारतीय प्रतिभा अपने शानदार वैभवशाली अतीत के अनुकूल ही विकास कर सकती है और श्रेष्ठतम कृतियो का मृजन कर सकती है । आधुनिक यूरोप ने भी इसी प्रकार, अपनी परम्पराओ और अपनी स्वाभाविक प्रतिभा पर दृढ रहकर ही प्रगति और विकास किया है ।

प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना के बाद वह बरसो तक अपने सूबे सयुक्तप्रान्त की विधान सभा मे अध्यक्ष-पद पर रहे । वहा यद्यपि उन्होने अध्यक्ष बन जाने के कारण काग्रेस दल को छोडा तो नही, किन्तु उन्होने इस उच्च पद की श्रेष्ठतम परम्पराओ और स्तर को अक्षुण्ण बनाए रखा । अध्यक्ष के रूप मे उनकी निष्पक्षता के बारे मे उगली वे लोग भी नही उठा सकते थे जो उनके विचारो मे सहमत नही होते थे । कहा जाता है कि एक बार जब उनके आदेश पर किसी ने कुछ आपत्ति की थी तो उन्होने कहा था कि यदि विधान-सभा का एक भी सदस्य उनकी निष्पक्षता पर सन्देह करता है तो वह अध्यक्ष-पद से इस्तीफा दे देगे । उनके अध्यक्ष रहते सरकार को सदा आसानी नही होती थी, किन्तु सरकार यह शिकायत नही कर सकती थी, क्योकि वह पूर्णतया निष्पक्ष थे । उनके कुछ बुद्धिमत्तापूर्ण आदेश स्वीकृत परम्पराओ में स्थान पा चुके है । वह इस कार्य के लिए सर्वथा सुयोग्य थे । बाद मे उन्होने उत्तरप्रदेश की विधान-सभा की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया और लोक-सभा के सदस्य बन गए ।

वह जो भी काम करते है उसमे पूर्णता लाने का प्रयत्न करते है । वह अपने कथन और लेखन मे अत्यधिक सावधानी बरतते है । इसलिए वह अपनी वार्ता मे या लेखन मे या मतव्य मे जल्दबाजी नही करते । शीघ्र निश्चय का गुण एक कार्य-निर्देशक मे होना आवश्यक है । फिर भी अपने परिश्रम और अध्यवसाय के कारण वह बहुत काम करा लेते है और एक सफल कार्य-निर्देशक साबित हुए है । उदाहरणार्थ, पजाब नेशनल बैंक के जनरल मैनेजर की हैसियत से और इलाहाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष के रूप मे उनकी निष्पक्षता और ईमानदारी के विरुद्ध कभी जरा सी खुसफुसाहट तक नही सुनी गई । सभवत यही कारण है कि वह समस्याओ के प्रति अपने धीमे और झिझकपूर्ण रुख के बावजूद सफल हुए है ।

वह अमीरो और गरीबो, छोटो और बडो मे कोई विभेद नही करते । वह अत्यन्त सुसस्कृत आचारो और सबके साथ सद्व्यवहार वाले व्यक्ति है । वह अत्यन्त आतिथ्यपूर्ण आतिथेय है और महती उदारता से सम्पन्न है । वह भरसक गरीबों और अभावग्रस्तो की सहायता करते है ।

यद्यपि पिछले कुछ वषो मे वह अस्वस्थ है फिर भी अपने देश के मामलो मे उनकी दिलचस्पी सदा की तरह ही पैनी है । जब भी उनके पुराने साथी उनमे मिल जाते है, तो वह चिकित्सको के मना करने पर भी घटो उनसे सार्वजनिक समस्याओ पर वार्ता करते ही रहते है ।

राजनीतिक क्षेत्र मे लेखक का उनसे अक्सर मतभेद रहा है, जैसा कि अपने अन्य जीवन-पर्यन्त के मित्रो और साथियो से भी रहा है, किन्तु उनके लिए भी और टडनजी के लिए भी उसके मन मे अतीव आदर और स्नेह है ।

अत अपने एक पुराने मित्र और सहयोगी के प्रति, जिसने इस दुखी देश की नैतिक, भौतिक और सास्कृतिक प्रगति के लिए सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ अथक श्रम किया है, मुझे अपनी अनुशसा की आदरपूर्ण स्नेहाजलि प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक हर्ष हो रहा है ।

देश और हिन्दी के लिए वरदान

श्री राहुल सांकृत्यायन

टडनजी का नाम मैंने पहले भी सुना था, पर उनके साक्षात्कार करने का अवसर मेरे स्वर्गीय मित्र स्वामी सत्यानन्द (पहले श्री बलदेव चौबे) के साथ १९३० के बाद किसी समय हुआ। वस्तुत स्वामी सत्यानन्द इस नाम के धारण से पहले भी सन्त थे। टडनजी और उनके स्वभाव मे बडी समानता थी। मै तार्किक, बुद्धिवादी नास्तिक आदमी हू, पर दोनो का स्नेह प्राप्त करने का मुझे सौभाग्य मिला। इसमे कारण यही हो सकता है कि मै अपनी सस्कृति और हिन्दी का भक्त हू। पहिली बार टडनजी के पुराने मकान मे उनके दर्शन हुए। वह शायद तब तक पजाब नेशनल बैंक के मचालक-पद से मुक्त हो चुके थे। उनका त्याग प्रसिद्ध था। उन्होने कभी प्रेय का रास्ता नही अपनाया, यह तो उनके विरोधी भी मानेगे। यह आश्चर्य की बात है कि टडनजी जैसे अजातशत्रु के भी कुछ विरोधी हो सकते है। स्वार्थ, तेरा बुरा हो। विरोधियो का भी पक्ष करने का फल उनके आदर्श के लिए बुरा हुआ। पर, हर आदर्शवादी से यह गलती हो सकती है।

टडनजी बहुत समय से स्वास्थ्य मे संदिग्ध रहते आए है। डाक्टर तो ५० तक पहुचते-पहुचते ही फतवा दे चुके थे, कि साठ पूरे नही कर सकेगे। पर, टडनजी भोजन आदि मे बहुत सयम से काम लेते हैं, बल्कि कह सकते है कभी अति भी कर देते है। उनका शरीर कृश ऐसा ही तब से रहा, जब से मैंने देखा है। आयु ने उनके मन को निर्बल करने मे सफलता नही पाई, पर शरीर को धीरे-धीरे अशक्त करने मे सफलता अवश्य पाई। यह देश और हिन्दी के लिए वर-दान था।

टडनजी प्राय· आधी शताब्दी से हिन्दी के व्रती और सेवक है। हिन्दी के लिए इतना करनेवाले बिरले ही लोग होगे। उनको नजदीक से न जाननेवाले उन्हे इस क्षेत्र मे कट्टर कहना चाहेगे। उन लोगो के लिए वह अवश्य कट्टर है, जो 'मुख मे राम बगल मे छुरी' रखते हुए हिन्दी की हिमायत करते है या जो हिन्दी के विरोध के लिए अग्रेजी का गुप्त या प्रकट समर्थन करते हैं। कितने ही समझते है, टडनजी उर्दू के विरोधी है। वह उर्दू के बडे जानकार है, उर्दू की कविताए उन्हे उसी तरह पसन्द आती है, जैसे हिन्दी की। वह स्वप्न मे भी नही पसन्द करेगे कि उर्दू नामशेष हो जाय। टडनजी उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानते है, भाषा-शैली। जिस साल मैं साहित्य सम्मेलन का सभापति था, उस साल उनके समर्थन से हमने निश्चय किया था कि उर्दू के महान कवियो मे से एक दर्जन की कृतियो को नागरी-अक्षरो मे छापा जाय। यह १९४८ का समय था। अभी सभी बाते साफ नही हुई थी कि इस ओर कदम रखने मे सफलता होती। अब तो दर्जनो उर्दू-कवियो की कृतिया नागरी-अक्षरो मे आचुकी है। वे बहुत सुन्दर रूप मे प्रकाशित हुई है और हिन्दी के पाठको ने उनका बहुत आदर और उपयोग किया है। इस विषय मे श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय का प्रयत्न अत्यन्त श्लाघ्य है। वह समय दूर नही, जबकि उर्दू की सारी मूल्यवान कृतिया नागरी मे आकर हिन्दी की श्रीवृद्धि करेगी। उर्दूवालो का लिपि का दुराग्रह इस कार्य मे भारी बाधक है। लिपि-परिवर्तन से भाषा का विनाश नही होता। यदि ऐसा होता तो तुर्की और मध्य एशिया की अरबी मे लिखी जाने वाली भाषाए लिप्यन्तर के कारण समाप्त होगई होती। हिन्दी-प्रान्तो मे पहले दर्जे से दसवे दर्जे तक की रीडरो मे उर्दू गद्य-पद्य के कुछ पाठ रखवाने का प्रयत्न करना, वस्तुत उर्दू के

हिमायतियों के करने का काम था, इससे मैट्रिक तक पढे सारे तरुण उर्दू से अभिज्ञ हो जाते। अन्त मे भारत मे उर्दू का सुन्दर भविष्य उसके नागरी लिपि मे होने पर ही है।

टडनजी हिन्दी के बारे मे यह अधी धारणा नही रखते कि हिन्दी मे आए विदेशी शब्दो का बहिष्कार करके उसकी जगह क्लिष्ट अप्रयुक्त सस्कृत-शब्दो को भरा जाय। भारत सरकार ने एक समिति द्वारा सविधान का एक अनुवाद कराया था, जिसमें यह प्रयास किया गया था कि सस्कृत के धातुओ, उपसर्गों और प्रत्ययो का उपयोग करके सारे शब्द बना लिए जाय। यह खयाल नही रखा गया कि सस्कृत की दो हजार के करीब धातुओ मे पाच सौ से अधिक का न हिन्दी मे, न सामान्य सस्कृत मे प्रयोग होता है। जब यह अनुवाद प्रकाशित हुआ, तो हिन्दी के पक्षपातियो को भी डर लगा, कि यह हिन्दी-विरोधियो के हाथ मे खेलना है। भाषा-वाला प्रश्न जल्दी ससद के सामने आने वाला था। उससे पहिले सविधान का सुगम अनुवाद कर डालना ही नही, उसका मुद्रित हो जाना भी आवश्यक है, यह टडनजी का निश्चय था। मै कुछ तरुण साथियो के साथ इस काम मे लगा था। हम तो दौडे कर ही रहे थे, टडनजी बराबर प्रगति को देखते और हमे उत्साहित करते थे। और ठीक समय पर वह इस अनुवाद को लेकर दिल्ली गए।

इसी वक्त टडनजी की एक और प्रकृति का पता लगा। सम्मेलन के सभापति होकर बम्बई जाते ही (१९४७) मुझे मधुमेह (डायबीटीज) होगया। नया तजुरबा था, चिन्ता होती ही है। टडनजी भी इसके लिए चिन्तित हुए। उन्होने किसी परिचित का हवाला देते हुए कहा कि मास के सेवन से उनके मधुमेह मे शकर जाना कम होगया। मुझे उन्होने मास खाने की प्रेरणा नही दी। उसकी जरूरत भी नही थी, क्योकि मै पहले से मासाहारी था। अपने परिचितो मे से छोटे-से-छोटे के प्रति आत्मीयता दिखलाना उनके स्वभाव मे है। मैने स्वास्थ्य की अनुकूलता के खयाल से मसूरी मे रहना पसद किया, पर जब भी प्रयाग मे उनसे मिलने जाता, वह कहते, यहा बैठ कर काम करिए।

टडनजी ने यह सोच लिया था कि हिन्दी को भारत की दूसरी भाषाओ को क्षति नही पहुचानी है, बल्कि अपने साथ उनको भी आगे बढाना है। सम्मेलन ने, अपने प्रस्ताव द्वारा इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया। उनके ऊपर यह आक्षेप हो ही नही सकता, कि वह भारत की दूसरी भाषाओ को क्षति पहुचाकर हिन्दी को वहा लादना चाहते है। हा, वह जनहित तथा राष्ट्र के सम्मान की दृष्टि से अग्रेजी को उस स्थान पर रखना नही पसद करते, जहा वह हमारी परतत्रता के समय थी। और अब भी उसे हटाने की बात करने पर, देवो-महादेवो का इन्द्रासन गरम होने लगता है।

टडनजी आज हिन्दी के प्रतीक है। उनकी सेवाओ को हिन्दी-भाषी, तथा भविष्य के सारे भारतीय, जो अवश्य हिन्दी के ज्ञाता होगे, कभी भूल नही सकते। एक जीवन मे जितना आदमी कर सकता है, उससे कही अधिक टडनजी ने हिन्दी के लिए काम किया। उनको कभी भुलाया नही जा सकेगा।

चिरस्मरणीय सेवाएं

श्रीमती सुचेता कृपलानी

राजर्षि टडनजी ने राष्ट्र की एकता तथा राष्ट्रभाषा की समृद्धि के लिए चिरस्मरणीय सेवाए की है। देश के लिए किए गए उनके महान् त्याग और सेवाओ से हम सबको सबक सीखना है और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुकरण करते हुए हमे देश की प्रगति के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करना है। मुझे आशा है इस अभिनदन-ग्रथ से देश के लोगो को उनके जीवन की समस्त गतिविधियो की जानकारी मिल सकेगी और देश के समक्ष उपस्थित महान लक्ष्यो की पूर्ति के लिए उनके द्वारा किए गए कार्यों से एक प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी।

सद्गुणों के समुद्र

श्री रामनरेश त्रिपाठी

इसमे सदेह नही कि अतुलनीय त्यागमूर्ति टडनजी का अब तक जितना और जैसा सम्मान किया जाना चाहिए था, वह नही हुआ। आज की पीढी पर लगा हुआ यह लाछन इतिहास मे अमिट ही बना रहेगा। आजकल टडनजी रुग्ण है जो व्यक्ति राष्ट्र-सेवा के मार्ग पर, भारत को अग्रेजी सरकार के पजे से मुक्त कराने के आन्दोलनो मे, काटो से भरी हुई सडको और पगदडियो पर निर्भर होकर सबसे आगे चलता था, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जीवनाधार और हिन्दी को अपने शरीर से भी अधिक प्यार करता रहा है, वह देश का रत्न और इलाहाबाद का गौरव आज शय्या पर है। यह हमारे दुर्भाग्य की बात है कि हमने उनको सम्मानित होने का बडा लबा अवकाश दिया है। देश उनको कितना चाहता है, उन पर कितनी श्रद्धा रखता है, इसकी छटा उनको उनके जीवन-काल ही मे दिखा देनी चाहिए थी। उनको भी तो सतोष होता कि देश उनकी सेवाओ का कितना आदर करता है।

टडनजी से मेरा पहला परिचय १९१५ मे इलाहाबाद के चौक के घटाघर के सामने हुआ। उस समय वे नाभा राज्य के दीवान थे और किसी छुट्टी मे घर आए थे। मेरा जन्म तो शहरो से बहुत दूर के गाव मे हुआ था, जहा शहरो मे होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनो की धमक भी नही पहुची थी। टडनजी ही मुझे उस ओर लेगये। उनके व्यक्तित्व मे ऐसा आकर्षण था कि आज मुझे दिखाई पड रहा है कि मानो उन्होने अपनी ओर मुझे खीच लिया था। वह मुझे बुलाते हुए आगे-आगे चलते दिखाई पड रहे है। मेरे जीवन मे वह समाए हुए-से है। मेरा जीवन उनके उपकारो मे भरा हुआ है। उनका जीवन तो सद्गुणो का एक समुद्र जैसा है। उसका मै किधर से वर्गीकरण करू और क्या लिखू ? यह मुझे सहज मे सुलझता नही दिखाई पडता।

पिछले पैतालिस वर्षों मे व्याप्त सारे सस्मरण तो क्रमबद्ध याद भी नही आ रहे है; अतएव जिनकी छाप मन पर स्थायी पडी है, उनका कुछ उल्लेख यहा कर रहा हू।

टडनजी जिसे मित्र समझते है या कहते है, उसके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करने मे वे कितना त्याग करते है, इसका एक उदाहरण, जो मेरे साथ अतिम ही कहा जाएगा, यह है—

१९५९ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कोई उत्सव था। मै उसमे गया था। यह जानकर कि टडनजी बीमार है, मै उन्हे देखने गया था। उस समय वह कुछ स्वस्थ हो रहे थे। उन्होने कहा, कल मेरे यहा मेरे साथ भोजन करो। साथ भोजन करने के प्रलोभन को मै इन्कार नही कर सका। दूसरे दिन सुप्रीम कोर्ट के बडे जज दिल्ली से इलाहाबाद आए थे। उनको सम्मेलन के रिसीवर बाबू जगदीशस्वरूप ने अपने यहा दोपहर को पार्टी दी थी, जिसमे इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज, सरकार के उच्च पदाधिकारी और नगर के प्राय सभी प्रतिष्ठित नागरिक निमत्रित थे। बाबू जगदीशस्वरूप टडनजी को निमत्रित करने उनके निवास-स्थान पर स्वय गए। टडनजी ने कहा, आज मैने अपने एक मित्र को भोजन पर बुलाया है, इसमे मै नही आ सकूगा। रिसीवर महोदय ने बहुत आग्रह किया और मेरा नाम मालूम होने पर वे मुझे भी निमत्रित करने को तैयार हुए। टडनजी मुझे दूसरे वक्त के लिए टाल सकते थे, और इलाहाबाद के सम्मान्य व्यक्तियो की वह पार्टी ही क्या जिसमे टडन जी न हो, पर उन्होने मेरे लिए उन सबका त्याग किया।

मै ठीक समय पर भोजन करने गया। बहुत दिनों बाद हम दोनों साथ-साथ भोजन करने बैठे। उस दिन उन्होंने पूरा भोजन दाल, भात, रोटी, तरकारी, दही, गुड आदि लिया। इनमे से कई चीजो को उन्होने वर्षों से छोड रक्खा था। अपने ऊपर उनका इतना अकृत्रिम प्रेम देखकर मै मुग्ध होगया। इससे अधिक और यथार्थ किसी मित्र का सम्मान और क्या होता! प्रेम का प्रमाण तो उसके लिए त्याग मे है।

टडनजी मुझे खीचकर आगे लिए चल रहे थे। उन्ही के साथ १९१७ मे मै होमरूम लीग का मेम्बर हुआ। उन्होने गाधीजी की अनुमति से, सम्मेलन के बम्बई वाले अधिवेशन मे १९१८ मे मुझे सम्मेलन का प्रचारमत्री बनवाया और दक्षिण भारत मे हिन्दी-प्रचार का काम मुझे सौपा। १९२१ मे हम दोनो असहयोग-आन्दोलन मे साथ-ही-साथ जेल गए और आगरा और लखनऊ की जेलो मे साथ-साथ एक वर्ष से अधिक रहे।

१९१७ मे मैने इलाहाबाद के जानसनगज मे पुस्तको की एक दूकान 'साहित्य-भवन' नाम से खोली। उसमे मेरी लिखी पुस्तको के सिवा हिन्दी के प्राय सब प्रकाशको की पुस्तके मिलती थी। हिन्दी मे इस सुविधा की दूकान वही पहली थी, इससे वह शीघ्र ही चल निकली और अच्छी आय होने लगी। उसी से 'पथिक' और 'कविता-कौमुदी' के पहले भाग का प्रकाशन हुआ था।

जानसनगज मे टडनजी सपरिवार एक बडे मकान की ऊपरी मजिल मे रहते थे। नीचे एक बडा हाल था, उसमे टडनजी के चाचा डाक्टर मूलचद की दवाओ की दूकान थी। उसकी बगल वाली एक कोठरी मे साहित्य-भवन था, जिसका किराया आठ रुपये महीना था।

उन दिनो नाभा के महाराज से किसी विषय मे मतभेद होने के कारण टडनजी उनकी दीवानी छोडकर चले आए थे और इलाहाबाद हाईकोर्ट मे वकालत करने लगे थे। सुना था कि महाराज अपनी भूल स्वीकार करके उन्हे मनाने आए थे, पर वह नही गए।

हाईकोर्ट मे टडनजी की वकालत अच्छी चल निकली थी। वह झूठे मुकदमे न लेते थे, न झूठी पैरवी करते थे। जज भी उनका सम्मान करते थे। वकालत मे अपनी उत्तरोत्तर बढती हुई आमदनी के दिनो मे जब गाधीजी का असहयोग-आन्दोलन चला, टडनजी ने अग्रेजी सरकार से असहयोग करने की आतरिक प्रेरणा से वकालत छोड दी। आमदनी का कोई दूसरा जरिया नही था। इससे घर मे कुछ सचित धन रहा होगा, जिससे वे अपने कई बच्चो वाले परिवार का भरण-पोषण स्वय कष्ट सह कर करते रहे।

डा० मूलचन्द के दवाखाने की देखभाल उनके एक सम्बन्धी करते थे, जिनको लोग मामा कहते थे, मै भी कहता था। एक दिन मामा ने कहा, आज तो पुरुषोत्तम ने नमक खाकर पानी पी लिया है। सुनकर मै बहुत दुखी हुआ था। तब मैने जानबूझकर अपने लिए बाजार से कुछ फल मगाए। टडनजी भी ऊपर से नीचे आगए थे। हम लोगो ने साथ बैठकर फल खाए। टडनजी के लिए कहकर फल मगाता तो वे कभी न मगाने देते, यह मै जानता था। यह तो एक दिन की बात खुल गई थी, नही तो वह प्राय प्रतिदिन के कष्ट सहकर ही दिन बिता देते थे।

कभी-कभी प्राय रविवार को, हम लोग—टडनजी, मामा और मै—घोडागाडी या तागे मे बैठकर झूसी पहुचकर कुकर का चूल्हा जलाकर उसे किसी मदिर मे रख देते और घूमने निकल जाते। अच्छा चक्कर लगा कर लौटते और साथ बैठकर भोजन करते। शाम तक शहर वापस आजाते थे। यह वन-भोजन बडा ही रोचक होता।

१९२१ या २२ मे जब हम लोग लखनऊ जेल मे थे, सेठ जमनालाल बजाज जेल मे हम लोगो से मिलने गए थे। सेठजी ने कोई धन-राशि अलग कर दी थी, जिसमे से वे उन काग्रेसी कैदियो को, जिनका परिवार कष्ट मे हो, दो सौ रुपये मासिक सहायता दिया करते थे। काग्रेस के कई प्रसिद्ध नेता यह सहायता ले रहे थे। सेठ जी ने मुझसे कहा कि मै टडनजी को पूछ लू, क्या उनके घरवालो को दो सौ रुपये मासिक भेज दिए जाया करे? मैने पूछा तो टडनजी ने कहा, नही, घर के लोग अपना दु ख स्वय भोग लेगे।

इन बातो को याद करता हू तो देश के लिए टडनजी के समान त्याग और किसी नेता का दिखाई नही पड़ता।

कानपुर के काग्रेस-ग्रधिवेशन की बात है। टडनजी गए थे, मै भी गया था। वह नेता थे, उनको एक कोठी मे ठहराया गया था। मै प्रांतीय काग्रेस कमेटी के एक सदस्य की हैसियत से एक झोंपड़ी मे ठहरा था। सामान झोपडी मे रखकर मै पडाल देखने ग्रौर झोपड़ियो मे ठहरे हुए ग्रन्य मित्रो से मिलने चला गया था। लौटा तो झोपडी मे सामान न पाकर मै चकित ग्रौर चिंतित हो गया। एक स्वयसेवक ने बताया कि मेरा सामान टडनजी उठवा ले गए है। उसने मुझे पता भी बता दिया ग्रौर एक दूसरा स्वयसेवक मुझे टडनजी की कोठी तक पहुचा भी ग्राया।

एक बडे कमरे मे एक तरफ नेवार का एक पलग पडा हुग्रा था, दूसरी तरफ एक खाट। शाम को घूम-घामकर मै लौटा तो देखा कि पलग पर मेरा बिछौना बिछा हुग्रा है, ग्रौर खाट पर टडनजी का। मैने कहा, "किसी ने भूल से बिछौना बदल दिया है।" टडन जी ने कहा, "किसी ने नहीं, मैने बिछवा दिया है। तुम लबे हो, पलग पर लेटो, मै खाट पर रहूगा।"

घटना छोटी है, पर इसके ग्रन्दर उनका कितना विशाल ग्रौर प्रेमप्लुत हृदय झलक रहा है।

१६१५ से मै देख रहा हू, टडनजी की रहन-सहन हमेशा सादी रही है। रोज मै सबेरे नौ-दस के बीच मे, वकील की पोशाक मे काला कोट ग्रौर काला पतलून पहने हुए टमटम हाकते हुए टडनजी को हाईकोर्ट की ग्रोर जाते देखता था। पजाबी ढग की पगडी हमेशा सफेद रग की वह बाधते रहे। काले रग के सिवा ग्रौर किसी रग का कपडा पहने हुए मैने उनको वकालत के दिनो मे नही देखा। सम्मेलन की बैठको मे वह कुरता ग्रौर धोती पहनकर ग्राते थे। चमडे से उनको घृणा थी, इससे बूट भी कपडे का पहनते थे। उनका शरीर इकहरा, दुबला-पतला, सुदर ग्रौर तगडा था। मोटा तो मैने उनको कभी देखा नही। गाधीजी के ग्रान्दोलन के दिनो मे वे खद्दर की धोती ग्रौर कुरता पहनने लगे थे। विदेशी कपडे का तो शायद उन्होने यूनीवर्सिटी मे पढते समय से ही बहिष्कार कर रक्खा था।

उनकी दाढी का भी एक इतिहास है। पहले वह दाढी मुडाते थे ग्रौर सवार कर रौबदार मूछे रखते थे। एक बार उनके गले मे ठुड्डी के नीचे कुछ मस्से निकल ग्राए। उन्होने उनका कोई उपचार किया होगा, मालूम नही, पर यह याद है कि दाढी रखने का कारण वही मस्से थे। दाढी से उनका चेहरा ग्रौर भी भव्य लगने लगा।

टडनजी का जीवन उनकी सत्यनिष्ठा मे चमक रहा है। दिखावे मे उनको सदा से घृणा थी। एक बार वह उत्तरप्रदेश की विधान-सभा के स्पीकर थे, मै उनके पास ठहरा हुग्रा था। खाना तो मै उनके साथ ही खाता था। उन दिनो १५-१५ दिनो का गल्ला एक साथ मिलता था। उनके यहा कोई-न-कोई मेहमान टिका ही रहता था, इससे गेहू जल्द चुक जाता था। मै उनके ग्राफिस मे एक कोने मे बैठकर ग्रखबार पढ रहा था। टडनजी ऊपर से नीचे ग्राए, तब रसोइए ने ग्राकर कहा, "गेहू का ग्राटा तो नही है।" टडनजी तुरत मेरी ग्रोर मुडकर बोले, "तुम तो जौ की ग्राटे की रोटी पसद करोगे ?" मैने कहा, "जौ की रोटी मुझे मिलती ही कहा है ! मै तो तरस ही रहा हू।" उन्होने रसोइए से कहा, "तुम हम दोनो के लिए जौ की रोटिया बनालो।"

दूसरे दिन विधान-सभा के पहले घटे की ग्रावाज सुनकर टडनजी बिना भोजन किए ही चले गए। मै ग्रकेला भोजन करने बैठा, तब रसोइए ने पिछले किसी दिन की एक रोचक बात सुनाई। उसने कहा, 'पटना से तार ग्राया कि बिहार के चार नेता हवाई जहाज से लखनऊ ग्रा रहे है, वे टडनजी से मिलकर दिल्ली जाएगे। उस दिन न गेहू का ही ग्राटा ही था, न दाल ही थी। टडनजी का हुक्म था कि सरकारी गल्ले की दूकान से १५ दिन के लिए जो गल्ला मिले, उसे ही खर्च करो; ब्लैक से कुछ मत खरीदो। टडनजी को ग्राटा-दाल के ग्रभाव की बात मालूम हुई, तो उन्होने कहा, जाग्रो, बाग के कोने मे जो ग्रालू बोया है, उसे खोद लाग्रो ग्रौर उबालकर ग्रौर छीलकर एक थाल मे सजा दो; चार खाली प्लेटे, चार चम्मच ग्रौर चाकू मेज पर रख दो ग्रौर एक प्लेट मे पिसा हुग्रा नमक ग्रौर पिसी हुई काली मिर्च रख दो। मेज की दूसरी ग्रोर मेरे लिए भी दो खाली प्लेट, चम्मच ग्रौर चाकू रख दो।'

रसोइए ने ऐसा ही किया। एक थाल मे उबला हुग्रा ग्रालू छीलकर पिरामिड की तरह सजाकर रख दिया। चार कुर्सियो के सामने चार खाली प्लेटे ग्रौर एक प्लेट मे काली मिर्च ग्रौर पिसा नमक रख दिया। चाकू ग्रौर चम्मच भी रख दिए। मेज की दूसरी ग्रोर भी एक प्लेट, चाकू ग्रौर चम्मच रख दिया।

मेहमान ग्राए। हाथ-मुह धो लेने के बाद उनको टडनजी खाने के कमरे मे ले गए। उनको एक-एक प्लेट के पासवाली कुर्सी पर बैठाकर और अपने प्लेट के पास खडे होकर उन्होने कहा, आज मेरे घर मे यही खाना है। चारो मेहमान आलू खाकर और जरूरी बाते करके चले गए।

सुनकर मैं अवाक रह गया! सचाई की हद हो गई! और इस जमाने मे, जब कि दूसरों को अपनी तडक-भडक दिखा कर लोग दोस्तों से कर्ज लेकर अपने बडप्पन की दीवार मे सफेदी कराते है, और वह भी कोई मामूली व्यक्ति नही, बल्कि उत्तर प्रदेश सरकार का स्पीकर, जिसे कई हजार रुपये मासिक वेतन मिलते थे। कोई विशुद्ध चरित्र-वाला ही ऐसी हिम्मत कर सकता है। बिहार से आए हुए मेहमान टडनजी की इस सचाई को अपने प्रान्त मे ले गए ही होगे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन टडनजी का प्राण है, वह उनका सबसे बडा स्थूल स्मारक है। उसे उन्होने खप-रैल से निकालकर एक लाख रुपये मूल्य के महल मे बैठा दिया है।

सम्मेलन की बैठको मे विचारो की उलझनो मे टडनजी का सदस्यो से प्रेम-पूर्ण व्यवहार सदा सफल होता रहा। मैने १९१८ से १९२१ तक प्रचार-मत्री का काम किया। मद्रास प्रान्त मे हिन्दी-प्रचार के काम मे मै सदा टडनजी से परामर्श पाता रहा। १९२१ मे मै जेल चला गया, तब यह पद किसी अन्य सज्जन ने सभाला। मेरे काम मे महात्मा गांधी सतुष्ट थे। अतएव दिल्ली-सम्मेलन मे, जो १९२६ मे हुआ था, मद्रास के श्री हरिहरशर्मा गाधीजी का यह सदेश लेकर आए कि मै फिर प्रचार-मत्री का पद स्वीकार कर लू। मैने स्वीकार कर लिया। पर उन दिनो सम्मे-लन मे कायस्थ-ब्राह्मण का सघर्ष जोरो मे चल रहा था। दोनो दलो के दो नेता मान लिए गए थे। यद्यपि वे दोनो सडक पर चलते थे तब हाथ मे हाथ डाले, घुटे हुए मित्रो की तरह हंसते-बोलते चलते थे, पर बैठक मे बैठते ही दोनो अपनी-अपनी डफली उठा लेते थे। टडनजी निरपेक्ष रहते थे। दोनो नेताओ की नोकझोक चलने लगती थी तो टडनजी और मै उनके तर्कों का रस लेने लगते थे। मै उनका मजाक उडाया करता था कि यदि कोई कायस्थ अपने सत्कर्मों से वैकुण्ठ चला जाए तो मेरे ये मित्र कहेगे कि ब्राह्मण को ढकेलने गया है। बहरहाल विचारो मे विभिन्नता होने पर भी हम सभी सदस्य आपस मे बडा प्रेम-भाव रखते थे। केवल हिन्दी का हित सामने रहता था, व्यक्तिगत मानापमान की बात तो मन मे उठती ही न थी। निश्चय ही यह टडनजी के प्रेम का प्रभाव था, जिसके वश मे हम सभी थे। टडनजी हमारे बीच मे सीमेट थे।

मै प्रचार-मत्री बनकर दिल्ली मे इलाहाबाद आया, अब हम पाच या छ मत्री ब्राह्मण थे। ब्राह्मण-कायस्थ के सघर्ष मे मै पडना नही चाहता था, इससे सम्मेलन की दो-तीन बैठको मे आकर ही मेरा जी ऊबने लगा और मैने इस्तीफा दे दिया। मेरा इस्तीफा कुछ दिनों तक टाला जाता रहा, पर मेरा आग्रह देखकर वह स्वीकार कर लिया गया। टडनजी को इससे दु ख पहुचा, उन्होने सडक पर आकर कहा भी कि मुझे विश्वास नही था कि तुम इस्तीफे के लिए इतनी जिद करोगे।

टडनजी का जीवन तो एक तपस्वी का जीवन रहा है। राजर्षि की अपेक्षा सन्त की उपाधि उनको ज्यादा फबती है। टडनजी मे इतने सद्गुण है कि वे राजर्षि शब्द मे समा नही सकते। विचारो मे वह बिल्कुल स्वतत्र और निर्भीक रहे है। महामना मालवीय जी का सम्मान वह गुरुतुल्य करते थे, पर राष्ट्रीय आन्दोलनो मे वह तिलक और गाधी जी के साथ रहे है। हिन्दी-हिन्दुस्तानी को लेकर गाधीजी से भी उनका मतभेद होगया था। वे जब उत्तर प्रदेश के स्पीकर थे, हिन्दू और मुसलमान दोनो उन पर पूरा विश्वास रखते थे। उनकी निष्पक्ष नीति का सम्मान सभी पार्टी-वाले करते थे।

शरीर दुर्बल होने पर भी साहस तो उनमे नौजवानो मे भी अधिक दिखाई पडता था। मुझे याद आता है, इलाहाबाद मे एक दिन काग्रेस का जुलूस निकल रहा था। टडनजी जुलूस मे आगे-आगे थे। एक सडक के नुक्कड पर, जो पुलिस-चौकी के पास ही था, पुलिस घेरा डाले खडी थी। उस सडक से वह जुलूस को जाने देना नही चाहती थी। टंडनजी ने सामने के कांस्टेबल को धक्का देकर हटा दिया और जुलूस के लिए रास्ता खोल दिया था। सरकार को उन

पर मुकदमा चलाने का साहस नही हुआ ।

जब पडित जवाहरलाल ने किसान-आन्दोलन चलाया, तब गावों मे जगह-जगह सभाए होने लगी थी। टडनजी उन सभाओ मे बराबर जाते रहे और आन्दोलन का सचालन करते रहे।

उनके आहार की विचित्र कहानी है। बहुत दिनो तक उन्होने घी और चीनी छोड रखे थे। आग से पकाई हुई चीजे भी छोड रखी थी। बहुत वर्षों तक वह गेहू, चना, मूग आदि अन्न भिगोकर, उन्हे अकुरित करके चबाया करते थे। लखनऊ जेल मे भी उनका यह क्रम चलता था। किशमिश भी उनका एक आहार है।

टडनजी सगीत और साहित्य दोनो के अच्छे रसिक और जानकार भी है। प्रभावशाली वक्ता और लेखक भी है।

अपने मित्रो के नैतिक चरित्र की देखरेख वे सजगता से करते रहे है। इसके दो उदाहरण, जो मुझसे सबध रखते है, यहा देता हू

पहले-पहल साहित्य-भवन जिस कोठरी मे था, उसकी बगल मे एक चौडी गली थी, जो अभ्युदय प्रेस को गई थी। उस गली मे एक अहीरनी रहती थी, वह रोज शाम के वक्त बहुत बन-ठनकर गली के नुक्कड पर आ खडी होती थी। कुछ पढी-लिखी भी थी। बाद को मुझे मालूम हुआ कि उसका चरित्र अच्छा नही था। एक दिन वह साहित्य-भवन के चबूतरे के पास खडी होकर कोई पुस्तक लेकर पढ रही थी। मै चबूतरे के दूसरे कोने पर बैठा हुआ कुछ लिख रहा था। टडनजी ऊपर से नीचे आए थे। उसे देखकर मुझे कहने लगे, 'क्यो, आज कविता मूर्तिमान हो रही है क्या!'

सुनकर मैने अहीरनी को देखा और सचमुच बहुत लज्जित हुआ। उससे भागने के लिए मैने कोठरी ही बदल ली और उस बडे मकान के दूसरे छोर की कोठरी मे साहित्य-भवन को ले गया।

इलाहाबाद के एक रईस के लडके, जो कविता भी करते थे, प्राय मेरे पास आया करते थे। आते वक्त चौक मे शरीफे भी लाया करते थे। ज्यादा नही पर दो जरूर ही होते थे। एक वह अपने लिए रख लेते थे, और दूसरा मुझे दे देते थे। मै शरीफे को तोडकर खाने लगता था। तब तक वह साहित्य-भवन की कोठरी मे जाकर अलमारियो मे रक्खी किताबे उलट-पुलट कर देखा करते थे। वह लम्बा ओवरकोट पहनकर आते थे, जिसमे बडी-बडी जेबे थी।

शरीफा खाना और प्रूफ देखना मै बराबर समझता हू। एक-एक बीज निकालकर मै देर तक खाता रहता। एक दिन मिटो पार्क देखने के लिए मै उसी रईस के लडके के साथ इक्के पर चौक से होकर जा रहा था। टडनजी चौक मे देशी कारबार कपनी के बाहर खडे हुए किसी से बाते कर रहे थे। उन्होने हमे देख लिया। शाम को जब मै साहित्य-भवन मे लौटा तो उन्होने कहा, 'देखो, उस लडके का साथ मत करो।' कारण न मैने पूछा, न उन्होने बताया। अगले दिन वह लडका आया, तब मैने उसको कह दिया कि मेरे पास मत आया करो। उसने आना बद कर दिया। इसके तीन-चार दिन बाद ही मैने सुना कि वह लडका कोई जाली चैक काटने के अपराध मे पकडा गया और जेल मे है। मेरी कुछ प्राचीन और अप्राप्य पुस्तके भी, जो आलमारियो मे थी, गायब थी।

इस तरह के छोटे-मोटे उपकार तो टडनजी के मेरे जीवन पर बहुत-से है।

हिन्दी के लिए टडनजी का प्रेम तो चरम सीमा का है। मै इलाहाबाद आता तो उनको देखने भी जाता। एक बार मै गया, उस समय डाक्टरो ने उनको बोलने से मना कर रखा था। वह लिखकर बातो का सक्षिप्त उत्तर दिया करते थे। ससद मे हिन्दी के सबध का कोई प्रस्ताव आनेवाला था। उस पर बोलने के लिए टडनजी दिल्ली जाने का आग्रह कर रहे थे। मित्र भी उनको रोकते थे, घर के लोग भी रोकते थे, पर उनको हिन्दी के कल्याण के लिए अपनी बाते रखने की जिद-सी होगई थी। मैने भी कहा कि स्वस्थ होने पर फिर भी मौका आएगा, बीमारी की हालत मे दिल्ली तक यात्रा करना और फिर प्रस्ताव की बहस मे पडना आपके स्वास्थ्य को और भी खराब कर देगा। इस पर टडनजी ने एक लिफाफे का एक टुकडा फाडकर उस पर यह लिख कर मुझे दिया—

"मै तो वहा इसी दिन के लिए बैठा हू।"

हिन्दी के लिए अपने जीवन की परवाह न करने से बढकर हिन्दी-प्रेम का अन्य प्रमाण और क्या होगा ?

जिन्हें प्रायः गलत समझा गया

श्री वियोगी हरि

सुना और देखा गया है, कि दुनिया के बहुत-से बडो को अक्सर किसी-न-किसी रूप मे गलत समझा जाता है, और ऐसा समझनेवाले भी अपनी भूल को बाद मे स्वीकार करते है। मगर सदा चेतानेवाला काल ऐसो का साथ नही देता, जो कि उनको जान या अनजान मे गलत समझ बैठते है। टडनजी को भी कई बार गलत समझा गया। पर समय आगे-आगे सरककर उनके बडप्पन को बढाता ही गया। राष्ट्रभाषा हिन्दी के क्षेत्र मे, और इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र मे भी, उनको समझने मे कई बार भूल से काम लिया गया। यह बात नही कि टडनजी के साथ विरोधी मत रखनेवालो ने ही उनको गलत समझा हो, बल्कि उनके कई मित्रो ने और उन पर श्रद्धा रखनेवालो ने भी उनके आशय को यथार्थ रूप मे नही समझा, और कभी-कभी तो उनके आशय का बिल्कुल उलटा अर्थ लगाया। किन्तु काल ने गलत-फहमियो का कुहरा हटाकर उनको और भी बडा बना दिया।

हिन्दी के प्रति टडनजी की अनन्य निष्ठा का प्राय यह अर्थ लगाया गया कि वह सम्प्रदायवादी है और उर्दू के विरोधी है। उनकी इस ज्वलत घोषणा पर विश्वास नही किया गया, या उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया कि, "यदि मै यह देखू कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन राष्ट्र के ऐक्य-साधन मे बाधक बन रहा है, तो मै उसमे अपने हाथो मे आग लगा दूगा।" उलटे, उनको हिन्दी का 'फैनेटिक' तक कहा गया, जबकि उर्दू और फारसी के साहित्य के प्रति द्वेष की गध तक उनके हृदय के किसी कोने मे नही पाई गई। फारसी-साहित्य के वह एक ऊचे प्रेमी है। इस सचाई को हसन निजामी साहब ने भी माना है। बहुत वर्षो पहले गोरखपुर मे आयोजित राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिया गया टडनजी का भाषण हिंदी-उर्दू की एक मिली-जुली जबान का एक बडा सुन्दर और सजीव उदाहरण माना गया है। देखकर हैरत तब होती है, जबकि कुछ ऐसे भी लोगो ने उर्दू के विरोध का आरोप उन पर किया, जिनका उर्दू-फारसी के साहित्य से नजदीक का तो क्या, दूर का भी कोई परिचय नही था।

अग्रेजी के कतिपय अधभक्तो ने भी इसी प्रकार टडनजी को गलत समझा है। टडनजी ने सदा से यह माना है कि जनता को अग्रेजी के प्रभुत्व ने दो टुकडो मे बुरी तरह बाट दिया है, और एक प्रतिशत वाला कटा हुआ टुकडा शेष जनता पर निर्लज्जतापूर्वक हावी हो रहा है। यह देखकर उनको वेदना हुई, और वह तिलमिला उठे। अग्रेजी राज्य की गुलामी से भी बढकर अग्रेजी भाषा और अग्रेजियत की गुलामी उनको काटे की तरह चुभी। उसे हटा देने के लिए आज रोगशय्या पर पडे-पडे भी वेदना और तीव्रता का प्रतिक्षण अनुभव वह कर रहे है। सविधान-परिषद मे जब नागरी-अको के स्थान पर रोमन अक रखने का प्रस्ताव आया, तब उनको गहरी चोट लगी थी। उनके कई हिन्दी-प्रेमी साथियो ने जब इस प्रश्न पर साथ नही दिया और असत्य के साथ समझौता करने के लिए वे तैयार होगए, धमकियो से डरकर; तब टडनजी की गहरी वेदना देखते ही बनती थी। राजनीतिक छिछले और खोखले लाभ को वह सत्य की कीमत पर खरीदना नही चाहते थे। इस सत्य का उनके जीवन मे हमेशा ही निरावरण दर्शन हुआ है।

जिस किसी भी बात को टडनजी ने देश के हित मे उचित और नैतिक समझा और माना, उसके साथ कभी उन्होने बड़े-से-बड़े आदमी के साथ किसी भी कीमत पर समझौता नही किया। उनको, इसीलिए, सनकी और दुराग्रही

समझा गया। पर वह ऐसी-ऐसी आलोचनाओ से डरकर एक कदम भी पीछे नही हटे, चट्टान की तरह सत्य पर सदा अडिग खडे रहे।

देश के विभाजन को उन्होने एक बहुत बडी राजनीतिक गलती और बुराई माना। देश की अखंडता को कायम रखने मे जो भी परिणाम आए उनका सामना करने के पक्ष मे टडनजी ने अपना स्पष्ट मत दिया था। काग्रेस द्वारा भारत-विभाजन का प्रस्ताव पारित होने से चार-पाच दिन पहले, दिल्ली की भगी बस्ती मे जब गाधीजी से वह मिलने गए तब उस दिन गाधीजी का मौन-दिवस था। विभाजन के विरुद्ध टडनजी की दृढता को देखकर गाधीजी ने अपनी दो उगलियो के मूक सकेत से अपने अतर का उल्लास प्रकट किया, कि अब तो विभाजन के विरुद्ध मत रखनेवाले हम दो है, मै अकेला ही नही हू! पर जो होनहार थी वह होकर रही। भारत के अग-विच्छेद का प्रस्ताव पास होने पर टडनजी के रोम-रोम मे आग लग गई। इसमे उन्होने काग्रेस की उच्च सत्ता का दब्बूपन देखा। तुष्टीकरण की पुरुषार्थ-हीन नीति का उन्होने प्रबल विरोध किया, और माना कि साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष तुष्टीकरण की नीति से ही पनपा और बढा है।

यहा पर भी टडनजी को गलत समझा गया, ऐसे शख्स को गलत समझा गया, जो सारे जीवन मुसलमानो का हृदय से हितैषी और मित्र रहा हो, और अपने रक्त की अन्तिम बूद देकर भी साम्प्रदायिकता की आग से उनको बचाने के लिए जो सदा उद्यत रहा हो। हा, ऐसे व्यक्ति को गलत समझा गया, जिसको उत्तरप्रदेश की असेबली की अध्यक्षता छोडने पर विदाई देते समय विरोधी पक्ष के नेताओ ने कहा था कि, "हम लोग, आज एक ऐसे शख्स को बिदा दे रहे है, जिसके हाथ मे हमारे सारे ही हक महफूज थे और हमे इस बात का डर नही था कि उस हाथ से कभी गलत-इन्साफी होगी।"

टडनजी की अध्यक्षता अपवादस्वरूप थी। स्पीकर किसी भी राजनीतिक पक्ष के साथ अपना सम्बन्ध नही रखता है, क्योकि अपनी निष्पक्षता का प्रमाण वह तभी दे सकता है। किन्तु टडनजी ने इसके विपरीत किया। काग्रेस-पक्ष से उन्होने सबध-विच्छेद नही किया, अत यह विवाद का विषय बन गया। पर टडनजी अपने मत मे पीछे नही हटे। स्वभावत असेबली के विरोधी पक्षो को यह शक था और अदेशा भी कि टडनजी की रूलिग काग्रेस पार्टी की तरफ झुक सकती है, और उन पर खास मौको पर दबाव भी डाला जा सकता है। १९३७ और १९३८ मे यू० पी० की विधान-सभा मे स्थगन-प्रस्ताव के द्वारा ऐसी आशका और अविश्वास खुल्लमखुल्ला विरोधी पक्ष की ओर मे प्रकट किया गया। टडनजी ने अपने मत पर दृढ रहकर बहुत ही स्पष्ट किन्तु विनयपूर्ण जो उदात्त विचार इन दोनो प्रसगो पर उत्तर प्रदेश की विधान-सभा मे व्यक्त किए थे, वे आज भी सभा-भवन मे गूजते होगे। उन्होने कहा था·

"मै यह सोच भी नही सकता कि काग्रेस-दल एक क्षण के लिए भी यह सपना देखेगा कि मेरे अध्यक्षीय कर्तव्यो से सबध रखनेवाले विषयो मे वह मेरे ऊपर प्रभाव डाले, और यह कार्यसमिति कभी चाहे कि वह मेरे अध्यक्षीय कार्य मे आदेश दे, तो उस दिन मेरी अध्यक्षता समाप्त हो जाएगी। मेरा अनुभव है कि अपने जीवन मे अबतक अपने और अपने अन्त करण के बीच कभी तीसरे पक्ष को मैने दखल नही देने दिया, और भविष्य मे भी ऐसी सभावना न होगी कि मै ऐसा करने दू। जो भी मेरे कार्यो पर प्रभाव डालना चाहता है, उसे पहले मेरी सम्मति को प्रभावित और मेरे मत को परिवर्तित करना पडेगा। मेरे लिए मेरा अन्त.करण ही ईश्वर का शब्द है और वही मुख्य अधिकारी है, जिसके सामने मै नमता हू। दूसरा अधिकारी, जिसके सामने मै झुकता हू, स्वय यह सारा भवन है; उन दलो मे से कोई दल-विशेष नही, जिनसे कि यह बना है।"

टडनजी ने जिस चीज को सही और उचित समझा, उसको न तो विरोधी पक्ष के डर से और न काग्रेस-दल के प्रभाव से कभी बन्द किया। वह अपनी सच्ची और सही राय पर हमेशा कायम रहे। कभी किसी पद पर सिर्फ बहु-मत की ताकत पर रहना नही चाहा, विरोधी पक्षवालो की आखे खुल गई। टडनजी को गलत समझने की अपनी गलती उन्होने भीगी आखो और रुधे हुए गले से उसी दिन शाम को स्पीकर हाउस मे जाकर कबूल की। टडनजी की दिल की सचाई ने और सभी के तई निःस्वार्थ प्रेम ने उनके दिलो को हिला दिया, और पलट दिया।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने टडनजी को उडीसा का गवर्नर बनाना चाहा था। उन्होने उस पर सोचा, पर हृदय तैयार नही हुआ, वह बलवा कर बैठा। विनय के साथ जवाहरलालजी को उन्होने लिखा, कि उनके मन मे यह सघर्ष रहा है कि उन कामों से कुछ हटकर, जिनमे वह लगे है, क्या राज्यपाल के पद पर उनकी उपयोगिता होगी ! और उन्होंने उस पद को स्वीकार नही किया। एक प्रश्नवाचक चिह्न के रूप मे, भले ही उसे गलत समझा जाए, अपने जीवन की चट्टान पर खडा रहना उन्होने ज्यादा पसद किया। अपने प्रश्नो के उत्तर पाने की आशा उन्होने कभी नही छोडी। सही प्रश्न के सही उत्तर हमेशा मिलते ही है, आज नही तो कल तो मिलेगे ही।

शुद्ध अन्त.करण को साक्षी मानने और शुद्ध बुद्धि के नेतृत्व मे कदम-कदम आगे बढने की विरासत टडनजी ने सतो की निर्मल वाणी से पाई, और उसे ही अनमोल सपदा समझा। इस निर्भय मार्ग पर उन्होने कभी डगमगाते पैर नही रखे। त्याग को गले लगाया, सचाई और नेकी को प्यार किया। घर फूककर मौज का तमाशा देखा। हद मे रहकर बेहद की ओर बढे। तेजस्विता की पूजा शील की सामग्री से की। चरित्र के द्वार पर राजनीति से झाडू दिलवाई।

कभी-कभी टडनजी के बारे मे कहा गया कि खराब को अच्छा समझने की गलती उन्होने भी तो की है, पर दूसरों को धोखा देने के बजाए खुद ही धोखा खाना उन्होने मुबारक समझा। अदर-अदर विरोध करनेवालो को भी उन्होने सदा विश्वास की दृष्टि से देखा, और उनको अपने परिवार का प्रिय सदस्य माना। तब आश्चर्य नही, और दु ख तो बिल्कुल नही, जो टडनजी अपना कोई राजनीतिक गुट नही बना सके। स्वभाव से और मत-परपरा से वह अपना परिवार बना सकते थे, और वही बनाया। ऐसे सदस्यो का बनाया, जिन्होने उनके प्रति निर्व्याज श्रद्धा प्रकट की, और ऐसे सदस्यो का भी, जिन्होने उनको गलत समझा, और बाद को गलत समझने की भूल स्वीकार की, या आगे करेगे।

राधास्वामी सम्प्रदाय के बुजुर्ग

श्री गुरुचरनदास मेहता

पूज्य पुरुषोत्तमदासजी टडन से मेरा सम्पर्क करीब दस-बारह वर्ष से रहा है। राधास्वामी मत मे टडनजी का व मेरा दोनो का ही सम्बन्ध होने के कारण मैं अरसे से उनके नाम से परिचित था, परन्तु व्यक्तिगत परिचय करीब दस-बारह वर्ष से ही हुआ है। इस समय मे मुझे कई बार टडनजी से मिलने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ तो मैं उनकी स्वाभाविक सरलता, सहिष्णुता व सामान्य सवेदनशीलता से विशेष प्रभावित हुआ। इसके अतिरिक्त धार्मिक निष्ठा, कर्तव्यपरायणता, सत्यप्रियता इत्यादि उनके अनेकानेक गुणो का उल्लेख करना प्राय असम्भव ही है।

टडनजी राधास्वामी-सम्प्रदाय के उन बुजुर्गों मे से है जिनके लिए स्त्री-पुरुष, पढे-अनपढे, छोटे-बडे सभी के हृदय में विशेष आदर व सम्मान है और सभी को उनमे और सभी से उनको प्रेम है।

पारखी, निस्पृही और सेवाव्रती

श्री गोविन्ददास

सन् १९१६ मे जबलपुर मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, उसमे टडनजी पधारे। इसी समय मैने सर्वप्रथम उनके दर्शन किए। वर्ण सावला, शरीर न ठिगना न ही ऊचा, मध्यम श्रेणी का, एक साधारण स्वस्थ शरीर। मुख पर दाढी थी, सिर के बाल कितने लम्बे थे यह इसलिए नही कहा जा सकता क्योकि उस समय वह साफा बांधे थे। इस सीधे-सादे अचचल व्यक्तित्व पर एक चचल काति अवश्य थी जो दर्शक को उसके अवलोकन मे एकबारगी ही अपनी ओर आकृष्ट कर ले। देश-काल के अनुरूप मानव-समाज मे सदा ही कुछ ऐसे विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति होते आए है, जो अपने दैवी गुणो के कारण जनप्रिय, समाज-सुधारक और जन-नेता बने है। इनकी सख्या कुछ अधिक नही होती। फिर राष्ट्रीय नेतृत्व की क्षमता वाले व्यक्ति तो इने-गिने ही होते है। इन समाज-सुधारको और जन-नेताओ की दो श्रेणिया होती है। एक तो वे, जो अपने कृतित्व के आधार पर लोकप्रियता अर्जित करते है और दूसरे वे, जो किसी अव्यक्त व्यक्तित्व की आभा मे ही अपनी धाक जन-साधारण पर जमा बैठते है। भारत की परम्परा मे इन व्यक्तित्व-प्रधान व्यक्तियो का ही प्राधान्य रहा है। इस व्यक्तित्व की व्याख्या मे रूप, रग और हृष्ट-पुष्ट सुगठित शरीर की विशेषता न होकर उस चारित्रिक आलोक की प्रधानता रहती है, जिसकी आभा मे हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि, महात्मा और सन्त ज्ञानी आलोकित रहे है। ये भारतीय मुनि-ज्ञानी, सत और सुधारक मनसा और वाचा सर्वप्रथम अपना चारित्रिक शृगार कर फिर कार्यक्षेत्र मे उतरते थे। ऐसे लोग जब मन और वाणी से सयत हो सरल हृदय और निस्पृह भाव से सेवारत होते है तो जनसाधारण सहज भाव मे उनका अनुयायी हो जाता है। उपदेशक के विषय मे एक मत है—जब कोई केवल जिह्वा के आमोद के लिए बात करता है तो दूसरा भी उसे उसी रूप मे ग्रहण करता है, तथा जब कोई केवल कठ से ही कोई बात कहता है तो सुनने वाले के कठ तक ही वह बात जा पाती है, उसमे जोर नही होता। किन्तु, जब वक्ता पूरी सचाई से हृदय मे कोई बात कहता है, वह चाहे व्यक्तिगत बातचीत मे, चाहे उपदेश मे हो, श्रोता के भी सीधी हृदय मे जाकर पैठ जाती है। उसमे सचाई का जोर होता है और हृदय का सबध। इसलिए उसकी पैठ भी गहरी होती है। कहने का मतलब यह कि हृदय के सम्बन्ध के लिए हृदय से ही बात होनी चाहिए। और इस हृदय की बात के लिए आदमी को अपने आपको एक कठिन कसौटी पर कसकर त्याग, आत्म-सयम और निस्पृहता के कठिन पथ पर चलकर एक सरल और सर्वथा निश्छल मानस वाला बनना पडता है, तभी वह इस हृदय की सत्ता का अधिकारी होता है। आधुनिक काल मे महात्मा गाधी हृदय-सत्ता के प्रवर्तन के प्रथम अधिकारी माने जाएगे। जिनके कृतित्व की अपेक्षा व्यक्तित्व ने सर्व-प्रथम जनसाधारण को सर्वाधिक प्रभावित किया।

ऐसा ही हृदय की सत्ता से परिपूर्ण राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन का व्यक्तित्व था जिसने प्रथम अवलोकन मे ही मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया।

सन् १९२० मे जब गाधीजी ने देश के नेतृत्व की बागडोर हाथ मे ली और असहयोग-आन्दोलन का आरम्भ किया, उस समय मै काग्रेस मे आया। तब से तो मेरा और टडनजी का घनिष्ठ सम्बन्ध होगया। इस सबध की नीव देश को आजाद कर देश मे देश की भाषा हिन्दी की प्रतिष्ठा थी।

देश की आजादी के बाद जब स्वतन्त्र भारत का सविधान बनाने के लिए सविधान-सभा का सगठन हुआ, तब से लेकर अब तक मेरा उनका नित्य का ही सबंध इसलिए होगया, कि वह भी सविधान सभा के सदस्य चुने गए और तब से लेकर कुछ महीने पहले जब स्वास्थ्य के कारण उन्होने राज्य-सभा से त्यागपत्र दिया, तब तक उनका और मेरा संविधान सभा और ससद मे साथ रहा। सविधान सभा तथा ससद दोनो मे ही उनके सामने केवल जो एक विषय रहा, वह हिन्दी का। और इस उक्ति को उन्होने चरितार्थ किया कि—**'एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।'**

संविधान सभा मे जब हिन्दी राजभाषा स्वीकृत हुई तब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष की हैसियत से मैंने उनकी छत्रछाया मे सविधान सभा मे जो कार्य किया और हिन्दी के राजभाषा स्वीकृत होने के बाद हिन्दी को चलाने मे, वह मैं जीवन भर विस्मृत न कर पाऊगा। कैसी तडप और निष्ठा है उनके मन मे हिन्दी-प्रेम की। सविधान सभा मे अन्तर्राष्ट्रीय कहे जाने वाले रोमन लिपि के अको को जब स्वीकार किया गया, उस समय टडनजी की एकान्त निष्ठा और अपने मत की एकाग्रता का जो परिचय मिला, वह इतिहास मे बेजोड है। उस समय बिना इस बात की परवा किए कि कौन उनका साथ देगा कौन नही, उन्होने इन अको के विरोध मे अपना मत दिया। परिमाणत सविधान सभा के सारे सदस्यो मे इन अको के विरोध मे दो ही मत रहे, उनका और मेरा। सागर के सदृश गभीर भाव से विचारकर निर्णय करने और उस पर शैल के सदृश अडिग रहने वाला ऐसा व्यक्ति आधुनिक काल मे तो देखने को नही मिलता।

टडनजी काग्रेस-अध्यक्ष हुए तब मै उनकी वर्किंग कमेटी का सदस्य था। किसी जिम्मेदारी को लेने के बाद उसे किस तरह निभाया जाय, यह मैने उनमे उस समय निकट से देखा। फिर अपने विचारो के अनुरूप अपनी जिम्मेदारी निभाने मे अपने मत की स्थिरता और त्याग की तत्परता का जैसा अपूर्व सम्मिश्रण मैंने उनमे पाया, वैसा कभी किसी मे देखा-सुना नही गया। जवाहरलालजी का यह प्रस्ताव, कि वह अपनी वर्किंग कमेटी का पुनर्गठन करे, उन्हे अन्त तक स्वीकृत नही हुआ और उन्होने काग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया। राजनीतिक व्यक्तियो से वह घिरे थे, राजनीतिक अधिकार भी थे, चाहते तो इन व्यक्तियो और अधिकारो का उपयोग कर सकते थे, किन्तु वह तो कृष्ण की राजनीति के कायल नही थे। स्वभाव से सदा ही जीवन मे उन्होने राम के सत्य का अनुसरण किया था और उस अनुसरण को सवारा था राम के ही शील से। यही वजह हुई कि काग्रेस-अध्यक्षता से तो उन्होने त्यागपत्र दे दिया, किन्तु काग्रेस से नही। गोस्वामी तुलसीदास जी की यह उक्ति उस समय मुझे उनमे चरितार्थ होती जान पडी—

नव गयन्द रघुवंश मणि, राज अलान समान। छूटि जान बनगवन सुन, उर अनद अधिकान॥

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद पद-प्राप्ति की जो दौड लगी, इस दौड मे किसने भाग नही लिया! सामर्थ्य-हीन होते हुए भी कितने नही झटपटाए दौडकर कुर्सी पर बैठने के लिए, तथा कितने बैठे, लुढके और गिरे इन पद-प्रतियोगिताओ मे, बताना आवश्यक नही। किन्तु, अपवाद रूप मे टडनजी ने निस्पृह भाव से न केवल इस दौड मे भाग नही लिया, वरन् जब उन्हे उडीसा का राज्यपाल बनने के लिए कहा गया तो उन्होने एक नया आदर्श उपस्थित किया, उक्त पद को अस्वीकृत कर। हाल ही मे अस्वस्थतावश सक्रिय भाग न ले सकने के कारण राज्य सभा से भी उन्होने त्यागपत्र दिया है। यह निर्णय भी इसी त्यागवृत्ति का परिणाम है। इस तरह टडनजी के त्याग की कहानी बडी लम्बी है, बेजोड है। न जाने उसमे कितनी ज्ञात-अज्ञात बाते भरी पडी है।

कर्मठता का एक प्रसंग

टडनजी की कर्मठता का एक प्रसग मुझे इस समय याद आ रहा है। सविधान की भाषा-विषयक धाराओं मे ही पाच वर्ष मे हिन्दी की प्रगति देखने तथा उसे और आगे बढाने के लिए राष्ट्रपति को एक आयोग नियुक्त करने के लिए कहा गया है। इस आयोग के प्रतिवेदन पर विचार करने के लिए एक ससदीय भाषा-समिति के निर्माण का विधान है। इस समिति मे टडनजी के साथ मैं भी एक सदस्य था। उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा नही था। परन्तु अस्वास्थ्य के बावजूद हिन्दी के प्रति अनन्य निष्ठा उन्हे उस समय की बैठको मे खीच लाती थी। अस्वस्थता मे भी वह उसकी हर बैठक में उपस्थित रहे और अत मे उस कमेटी की रिपोर्ट मे उन्होने एक नोट लिखा जिस पर उनके और मेरे हस्ता-

क्षर है। वह नोट हिन्दी के इतिहास मे एक ऐतिहासिक महत्त्व की चीज है।

टडनजी की बाह्य आकृति, वेशभूषा और व्यक्तित्व की जो छाप मेरे ऊपर सन् १६१६ के उनके प्रथम दर्शन मे पडी, वह दिनो-दिन एक निष्ठा और श्रद्धा के रूप मे स्पष्ट होती गई। इसका कारण भी था। उनका जीवन प्रारभ से ही आडम्बर-शून्य रहा है। बडी सादी वेशभूषा, किसी भी छोटे से छोटे गाव का रहने वाला अथवा शहर के फुटपाथ पर बैठने वाला मामूली कोटि का दर्जी जैसा कुरता सी सकता है वैसा अत्यन्त साधारण कोटि का खादी का कुरता और वैसी ही खादी की जो धोती वह पहनते थे, आज भी पहनते है। जाडे मे इस कुरते पर साधारण से साधारण ऊनी कपडे की कुरते के सदृश ही सिली हुई अचकन और पैरो मे कैनवास या अहिसक अर्थात् मरे हुए अवध्य पशु-चर्म के जूते। जब इस प्रकार के कैनवास या पशुचर्म के जूते नही मिलते थे, उस समय वर्षों तक टडनजी लकडी के चप्पल पहना करते थे और हाईकोर्ट मे प्रैक्टिस करते समय भी इन्ही चप्पलो को पहनकर जाया करते थे। यह राजर्षि टडनजी की बाह्य आकृति है, जो अत्यन्त सीधी-सादी और दिनो-दिन तेजी से अधिकाधिक सरलता की ओर बढती गई। इसी प्रकार उनका अन्तरग हिमालय के सदृश अचचल, अडिग और गगा के सदृश निर्मल है। भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात राष्ट्र की सास्कृतिक सुरक्षा और उसकी सामर्थ्यवृद्धि के लिए जिस मूल तत्त्व की आवश्यकता थी उसी को उन्होने पकडा। वह था भारतीय भाषा को राज-भाषा का पद प्राप्त कराना। किसी भी स्वतत्र राष्ट्र के लिए न केवल उसकी सास्कृतिक सामर्थ्य बढाने, वरन उसकी सीमागत एव सार्वभौम प्रभुसत्ता की सुरक्षा के लिए उस देश के निवासियो की जनवाणी को उचित स्थान दिलाना अनिवार्य हो जाता है और निर्विवाद रूप से यह उचित स्थान उस देश के जनसाधारण की भाषा को राजभाषा का पद दिलाना ही हो सकता है। टडनजी का स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद का यह सर्वोपरि प्रयत्न था जिस पर उन्होने सगौरव सफलता पाई।

राजर्षि टडनजी के साथ इतने वर्षों इतने निकट रहने पर भी मेरा उनका व्यक्तिगत सबध नही रहा और इसलिए अपने दीर्घ अवलोकन के बाद जब टडनजी पर अपनी टीका करने बैठता हू तो अनेक बाते, अनेक दृश्य बरबस याद आ-आ जाते है। इन सभी बातो और कथाओ मे कोई व्यक्तिगत बात न दिखकर उनमे मुझे एक महान् राष्ट्रीयता, सदाशयता, सर्वहित-चिन्तना और असीम त्याग की ही भरमार दिखती है। जैसा मैने उन्हे आरम्भ मे देखा था, इतने दीर्घकाल-पर्यन्त नजदीक रहने और साथ काम करने पर भी आज भी वह मुझे अपने उसी आदि रूप मे दिखाई देते है। सक्षेप मे, सागर-मन्थन मे प्राप्त रत्नो और हलाहल के बीच चुनाव की जिस स्थिति मे शिवजी ने जगत-कल्याण के निमित्त हलाहल-पान किया था, वैसा एक बार नही, देशहित की खातिर न जाने कितनी बार टडनजी ने कण्ठ के नीचे उतारा है। और, अपने इसी स्वभाव के कारण न उन्हे कभी कोई क्षोभ हुआ न कभी क्रोध, न उन्हे दैत्यो से द्रोह हुआ न देवो से प्रेम। रत्नो की तौल और मोहिनी के मोल से वह सदा विरक्त रहे। उन्होने अमृत की उपेक्षा कर विष को गले लगाया। आज कौन है ऐसा पारखी, कौन है ऐसा निस्पृह और कौन है ऐसा सेवाव्रती ? अपने इसी समभाव से आज भी वह सर्वहितकारी है, सर्व-शुभचिन्तक है, सर्वप्रिय है। देश के स्वातत्र्य-आन्दोलन के समय कितने जननेता बने, उसकी प्राप्ति के बाद कितने अपने यथास्थान कायम रहे, आज बडे-बडे पदो पर रहते हुए भी जन-मन की दृष्टि मे कौन कहा है, इसका निर्णय आसानी मे हो जाता है। किन्तु टडनजी ! टडनजी का व्यक्तित्व एक उज्ज्वल कान्तिवाला ऐसा रत्न है, जिसकी आभा और चमक दिनोदिन बढती जा रही है। उनके व्यक्तित्व की रेखा समय के साथ धूमिल नही हुई, वरन अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है। टडनजी के जन्मदिन पर दिल्ली के एक आयोजन मे प० जवाहरलालजी ने उनके व्यक्तित्व के विषय मे बोलते हुए जो शब्द कहे थे, वे टडनजी के व्यक्तित्व का एक सक्षिप्त और सारगर्भित परिचय बन गए है। पडितजी ने कहा था—"उनका व्यक्तित्व ऐसा है कि हमे भय लगता है उनसे बात करने मे, जाने कब बिगड पडे, जाने किस बात पर डाट दे।"

इस तरह टडनजी का समूचा व्यक्तित्व देश के चरित्र-निर्माण का व्यक्तित्व है, जो आज के नवयुवको और भावी पीढी का आदर्श हो गया है। दूसरो के लिए वह आदर और श्रद्धा की वस्तु हो सकता है, मेरे लिए तो टडनजी का व्यक्तित्व पूजा की वस्तु है।

राजर्षि का जीवन-दर्शन

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

राष्ट्रभाषा हिन्दी का कोई भावी इतिहास-लेखक जब इस शताब्दी के पचहत्तर वर्षों पर विहगम दृष्टि डालेगा तो उसे तीन व्यक्तियो का उल्लेख खास तौर पर करना पडेगा महर्षि दयानन्द, महात्मा गाधी और राजर्षि टडन। जिस लगन के साथ टडनजी अपनी मातृभाषा तथा देश की राष्ट्रभाषा के लिए पिछले ५३-५४ वर्ष से निरन्तर उद्योग करते रहे है, वह भारत के इतिहास मे एक अद्वितीय घटना है। पूज्य बाबूजी को समझने मे बहुत से लोगो ने भूल की है। उनके बारे मे अनेक गलतफहमिया भी हुई है, पर इसमे उनका कोई अपराध नही। बकौल एमर्सन "टू बी ग्रेट इज़ टू बी मिसअडरस्टुड" यानी महान् होने के मायने ही है गलत समझा जाना।

श्रद्धेय टडन जी के समस्त जीवन को विधिवत समझने के लिए कई बाते ध्यान मे रख लेना जरूरी है—

वह मूलत धार्मिक पुरुष है और राजनीतिज्ञो के बजाय सन्तो की परम्परा मे उन्हे रखना चाहिए।

नैतिकता ही उनके जीवन-सम्बन्धी विविध कार्यो का आधार है।

उनकी राष्ट्रीयता और भारतीयता के मूल मे एक ही भावना काम कर रही है, वह यह कि भारत किस प्रकार विश्व की सस्कृति मे अपना योगदान दे सकता है, यानी अपनी आत्मा की रक्षा करते करते हुए लोक-कल्याण कर सकता है।

हिन्दी-सेवा उनके लिए कोरमकोर भाषा-सम्बन्धी प्रश्न नही है, वह मूलत राष्ट्रीय प्रश्न है।

वह ग्रामीण सस्कृति के पक्षपाती है और शहरी सभ्यता के प्रति अत्यन्त सशक।

उनके 'शासनपथ-निदर्शन' को पढते हुए हमे बारबार यह खयाल आया कि क्या हमारे यहा आधे दर्जन भी राजनीतिज्ञ उस उच्च नैतिक धरातल से बोल सकते है, जिस धरातल से बोलना श्रद्धेय टडनजी के लिए सर्वथा स्वाभाविक होगया है, या यो कहिए कि उनकी प्रकृति का एक अग ही बन गया है।

'जनता को आत्म-दर्शन'

उनके २१ अप्रैल, १९५४ के भाषण का प्रारम्भिक अश पढिए

"हमारी गवर्नमेंट जनता को सुख पहुचाने के लिए बहुत-सी दिशाओ मे यत्न करती है, परन्तु फिर भी यह सच है कि चारो ओर एक प्रकार का असन्तोष है, हृदयो मे पीडा है। जो आशाए हमारी स्वतत्र गवर्नमेंट से की जाती थी, वे पूरी नही हो रही है। मुझको इस असन्तोष मे मुख्य कारण यह जान पडता है कि जनता तो बहुत वर्षो से दबी हुई थी, उसने अपने स्वरूप का दर्शन नही किया था। बहुत वर्षों तक दबाव मे अपनी आत्मा को झासा दिया था। उसको आशा थी कि स्वतत्रता के आते ही हमे उस आत्मा का दर्शन होगा। हमारे देश की आत्मा पर जो खोल चढे हुए थे, वे हटेगे और हमे अपना स्वरूप दिखाई पड़ेगा। आज हम जो भी यत्न कर रहे है, उसमे इसका हमे ध्यान रखना चाहिए कि हम जनता को उसकी आत्मा का स्वरूप दिखा सके।"

निस्सन्देह यह स्वर शुद्ध राजनीतिक जन्तुओ के स्वर से सर्वथा भिन्न है।

इस पुस्तक को अभी हमने एक बार ही उलट-पलट कर देखा है, इसलिए उसकी विधिवत आलोचना करने का दम्भ हम नही करेगे। पर इतने अल्प समय मे ही हमे एक बात देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि ग्रामो के पुनर्निर्माण की उन्हे कितनी अधिक चिन्ता है।

"ग्राम-निर्माण और वाटिकागृह" के विषय में उन्होने बार-बार ससद में कहा था और इस विषय को वह अपने आमुख मे भी नही भूले। उनके शब्द पढिए—

"देश मे उत्थान के निमित्त प्रथम पचवर्षीय योजना समाप्त हो चुकी है, दूसरी चल रही है और तीसरी तैयार हो रही है। ग्रामो की स्थिति मे विशेष उन्नति हुई हो, यह नही कहा जा सकता। मेरा सुझाव यह है कि ग्रामों के रहन-सहन मे मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। मैने यह विचार रखा है कि गाव के प्रत्येक घर के लिए लगभग आध एकड भूमि मे निवास-घर के चारो ओर वाटिका लगाई जाय। इस प्रकार स्वस्थ ग्राम बनेगा और छूत के रोगो से तथा आग लगने के भय से उसकी रक्षा होगी। मैने यह भी सुझाव दिया है कि इस भूमि के भीतर ही कुटुम्ब का मूत्र-मल दाबा जाय। एक या डेढ फुट भूमि के नीचे रहकर वह भूमि को उर्वर करेगा। ग्राम मे यदि प्रत्येक घर के साथ इस प्रकार की वाटिका रहे तो स्वास्थ्य और सौन्दर्य तो होगा ही, काम करने की सुविधाओ मे भी वृद्धि होगी। आध एकड भूमि छोटे-बडे सबके पास साधारणत चाहिए। खेती की भूमि इससे अलग रहेगी। यह भी सम्भव है कि किसान अपनी खेती की भूमि के भीतर ही अपना निवास बनाए। यह अच्छी योजना होगी, परन्तु देश केरल को छोडकर प्रायः चलन यही है कि खेती अलग रहती है और निवास-गृह अलग रहता है। इस स्थिति मे निवास-गृह के लिए, चाहे वह खेतिहर का हो चाहे मजदूर का, चाहे व्यापारी का, उससे लगी हुई लगभग आध एकड भूमि मुझे ग्राम-व्यवस्था की दृष्टि से समाज के लिए अत्यन्त लाभकारी जान पडती है। समाजवादी सगठन मे इस प्रकार की ग्राम-योजना मुझे नितान्त आवश्यक लगती है। यह प्रशासको के काम करने का विषय है। मुझे दु ख इस बात का है कि प्रशासन में मौलिक आधारों की नीव पर समाज-रचना का कार्य नही हो रहा है। उस ओर प्रशासकगण ध्यान दे, यह मेरी कामना है।"

एक बार फिर उन्होने इस विषय की ओर ससद का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था—

"मेरा खुद यह ध्यान रहा है कि हमारी योजना के मुख्य कामो मे हमे गावो की तरफ ज्यादा ध्यान देना चाहिए। ये जो बडी-बडी योजनाए है, वे अन्त मे जाकर शायद कुछ लाभ करेगी, परन्तु चाहिए यह था कि हम आरम्भ मे ही जनता के उत्साह को बढाते, गावो के अन्दर जाकर उनके लिए रास्ता निकालते, उनके लिए उद्योग सोचते। कितनी बेकारी चारो तरफ फैली है। लोगो की यह बेकारी बढती जाती है। लोग गावो को छोड-छोड कर शहरो मे आ रहे है। इसको रोकने की आवश्यकता है। पहली योजना यह होनी चाहिए थी। गावो को ऐसा बनाकर आप बडी-बडी करोडो रुपयो की स्कीमे बाद मे सोचते। पहले देश के भीतर कुछ आदर्श गाव बसा देते। हर राज्य के अन्दर, और हो सके तो हर जिले के अन्दर दो-दो चार-चार ऐसे गाव बसा दे, सुन्दर गाव। आज के गाव गन्दे है। घर ऐसे हो कि उनके साथ बगीचा हो। मैने एक विचार पहले दिया था, फिर इसको रखता हू। हर घर वाटिका-गृह हो, देखिए तो कि इससे कितनी सुन्दरता फैल सकती है। ऐसे घर न बनने दे, जिनमे आधा एकड भूमि न हो। आधे एकड भूमि के साथ हर घर बनाइए, देखिए कितना सौन्दर्य फैलता है और देखिए कि किस तरह से लोग इसकी तरफ खिचते है। हमारे घर गन्दे है। गावो मे जाकर ठहरिए तो थोडी देर मे भागने की आवश्यकता मालूम होती है। गावो को सुन्दर बनाइए। स्वास्थ्य की समस्या को हल कीजिए। आज दवा लिए हुए लोग पुकारते फिरते है कि टीका लगवा लो। व्यर्थ की बात है। उससे कोई स्वास्थ्य सुधरने वाला है! यह तो चौपट करने वाला है। यह रास्ता नही है। गावो को स्वच्छ बनवाइए, यही स्वास्थ्य-रक्षा का मार्ग है।"

श्रद्धेय टडनजी का यह मत है कि हम लोग शहरी सस्कृति का निर्माण कर रहे है। उन्होने एक बार फिर कहा था

"मुख्य बात तो मेरे मन मे आपके शासन के सम्बन्ध मे है। वह यह है कि अब भी आपका ध्यान सर्वोदय, अर्थात् सबका लाभ, हो, सब समुदाय उन्नति करे, इस पर बहुत कम गया है और सरकार का ध्यान अंग्रेजी शासन-काल

की तरह अब भी शहरो की तरफ है और गावो की तरफ बहुत कम है। आपकी सिंचाई-योजनाए है, उनमे शहरी उन्नति का क्रम अधिक है। देहातो का लाभ अपेक्षाकृत बहुत ही थोडा है। मैंने पिछले वर्ष ध्यान दिलाया था इस बात पर, कि आवश्यकता यह है कि देहातो मे नए सिरे से ग्राम-निर्माण किया जाय।"

यद्यपि भ्रष्टाचार, खाद्य पदार्थों मे मिलावट, हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद देना, हिन्दी-ग्रन्थ-निर्माण, वास्तविक अर्थ मे चिकित्सा-समस्या, विस्थापितो का प्रश्न इत्यादि बीसियो विषयो पर श्रद्धेय टडनजी ने अपने विचार प्रकट किए है, तथापि कही भी उनका स्वर नैतिकता के उच्च धरातल से नीचे नही उतरा। उनके भाषणो का 'नैतिक स्वर' ही उनकी सबसे बडी विशेषता है।

इस पुस्तक को मामूली तौर पर शिष्टाचार की दो-चार बाते कहकर नही टरकाया जा सकता। इस पर तो एक लेखमाला ही लिखी जानी चाहिए।

वस्तुत यह ग्रन्थ आज से दो वर्ष पहले ही निकल जाना चाहिए था, फिर भी इसमे वर्णित विषय ऐसे है कि वे तब तक बासी नही हो सकते, जब तक वे प्रश्न विधिवत हल न हो जाए, जिनका उनमे जिक्र किया गया है।

मुख्य प्रश्न यह है कि हम राजनीति को अवसरवादिता के पजे से छुडाकर उच्च-अत्युच्च नैतिक धरातल पर ले जा सकेगे या नही? श्रद्धेय बाबूजी का समस्त जीवन इसी प्रश्न के हल करने मे लगा रहा है। वह दृष्टिकोण सत का है, मामूली पोलिटिशियन का नही।
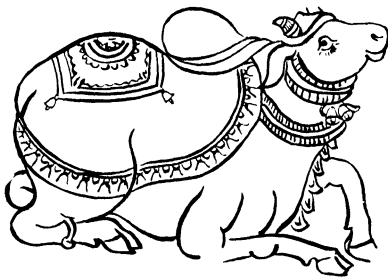
तप्त कांचन के समान

काका कालेलकर

दुबले-पतले, छोटे-से शरीरवाले लोग भी कभी-कभी केवल अपनी आख के तेज से और मजबूत आवाज से जन-समाज पर अद्भुत प्रभाव डालते है। अगर इन दो गुणो के साथ हृदय की आर्यता और जीवन की तपस्या मिल जाय तो फिर पूछना ही क्या, सोना और सुगन्ध ! श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तमदास टडन मे ये सब बाते है। जब वह जोश मे भरकर बोलते है तब उनके छोटे-से शरीर मे विचारो का वेग समाता नही है। उनके गले की नसे फूल जाती है, और ऐसा मालूम होता है कि उनका दुबला-पतला शरीर जो नही कर सकता, उसे उनकी अदम्य सकल्प-शक्ति अवश्य कर लेगी। यो तो वह बिल्कुल सरल है, स्वभाव के बडे मुलायम। बालक की तरह आशुतोष, और सेवा-परायण के जैसे निरभिमानी। किन्तु अपने विचार मे और कार्य-पद्धति मे उनका-सा जिद्दी शायद ही कोई दूसरा हो। बहुत-से लोग अपनी महत्त्वाकांक्षा के सामने अपने सिद्धान्तो को ढीला कर देते है। टडनजी अपने जीवन-सिद्धान्तो मे 'शाक्त' भी है और 'भक्त' भी है। उनके स्वभाव का रहस्य और उनकी तपस्या का मर्म किसी एक बात मे है।

नौजवान टडनजी ने मालवीयजी के सामने सकल्प किया था कि देश मे हिन्दी की प्रतिष्ठा बढाने की वह दिलोजान से कोशिश करेगे। उन दोनो ने मिलकर राजेन्द्रबाबू जैसे देश के अनेक हिन्दी-भक्तो को इकट्ठा कर लिया और हिन्दी साहित्य सम्मेलन को स्थापना की। शुरू मे ही सम्मेलन का उद्देश्य हिन्दी को देश के व्यवहार मे प्रधानता देना था। देश के बडे-बडे राष्ट्र-सेवक और साहित्य-सेवक इस सस्था के सभापति रह चुके है। लेकिन सम्मेलन के कर्णधार तो उसके जन्म-दिन से लेकर आज तक टडनजी ही रहे है।

प्राय साहित्यकार और पडित स्वभावत इकल्ले होते है। ईर्ष्या और तुनकमिजाजी को तो मानो उन्होने 'स्वधर्मे निधन श्रेय' बना लिया है। ऐसे लोगो को साथ लेकर एक बहुत बडी सस्था चलाना, और साहित्य-सेवियों और स्वराज्य-सेवियो को एक सूत्र मे बाध देना, यह कोई मामूली करामात नही है। रेलगाडी के डिब्बे जब एक-दूसरे से टकराते है तब उस आघात को सहन करने के लिए बीच मे एक बहुत मजबूत और असाधारण सहनशील कमानी रक्खी जाती है जिसे अग्रेजी मे 'बफर' कहते है। डिब्बों की हिफाजत के लिए सारा आघात इस बफर को ही सहन करना पडता है। सम्मेलन को सभालते-सभालते न जाने कितनी बार टडनजी को बफर की भूमिका धारण करनी पडी होगी। उनके जैसे स्वाभिमानी और निस्पृह खरे सेवक के लिए यह कुछ कम तपस्या नही है।

अगर टडनजी कभी हिन्दी-उर्दू के झगडो मे फस जाते तो सम्मेलन का जहाज बे-पतवार का होकर तूफान मे उलट जाता और कभी का छिन्न-भिन्न हो जाता। किन्तु उनकी हिन्दी-भक्ति उनको मुसलिमो का द्वेष या उर्दू का भय नही सिखाती। वह खूब तपे-तपाए शुद्ध सोने की तरह काग्रेसनिष्ठ है, सच्चे राष्ट्रीय है और पूर्ण स्वराज्य-भक्त है। उनकी सम्मेलन-सेवा स्वराज्य-सेवा का ही एक महत्त्व का अग है। उनकी साहित्यिक अभिरुचि उनकी उक्त सस्कारिता और जीवन-समृद्धि से ही फलित हुई है। श्री पुरुषोत्तमदास टडन जैसा सेवक जिस भाषा को मिला है, उस भाषा का भाग्योदय निश्चित ही है।

आदर्श-चरित्र और उदारमना

श्री सुन्दरलाल

श्रद्धेय बाबू पुरुषोत्तमदास टडन को मै ठीक ५६ वर्ष से अच्छी तरह जानता हू । उस समय हम दोनो एल० एल० बी० मे पढते थे । वह एम० ए० करके आए थे और मै बी० ए० करके । वह द्वितीय वर्ष मे थे, मै प्रथम वर्ष मे, लेकिन पढाई साथ-साथ होती थी । वह मुझसे शायद चार वर्ष बडे भी है । इस बीच उनका मेरा सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ रहा है । मैने उन्हे सदा अपना बडा भाई माना है और आज भी मानता हू । मेरे हृदय मे उनके लिए अगाध प्रेम है, आदर है।

किसी खास विषय पर विचारो का मिलना या न मिलना बिल्कुल अलग बात है । विचारो का मतभेद तो किसी-किसी बात मे मेरा पूज्य महात्मा गाधी से भी रहा है । पर टडनजी मे हृदय की शुद्धता, उनकी सचाई, उनकी सच्चरित्रता, उनकी सरलता, उनका त्याग और उनका अपने जीवन-सिद्धान्तो पर पहाड की तरह अटल रहकर जमे रहना, ऐसे गुण है जो आज, बडी लज्जा के साथ कहना पडता है, देश के बडे-से-बडे कर्णधारो मे मुश्किल से ही दिखाई देते है । टडनजी के इन गुणो के लिए मेरा मस्तक सदा झुकता रहा है और आज भी झुकता है । काग्रेस के अन्दर और स्वराज्य सरकार के अन्दर टडनजी की स्थिति को मै पास से देखता रहा हू, और मुझे इस बात के कहने मे जरा भी सकोच नही कि टडनजी जितना ऊँचे गए उतना केवल अपने चरित्र के बल पर, और जहा रुक गए वहा या तो अपनी इच्छा से रुके और या इसलिए, क्योकि आगे बढने के लिए योग्यता के अतिरिक्त उन गुणो की भी आवश्यकता थी जो नैतिक दृष्टि से ऊचे नही समझे जा सकते । मुझे एक उर्दू-कवि का यह शेर इस समय याद आ रहा है—

हम सौदे को आए थे, लीए दिरम पुराने।
यां (यहां) शहर में मुद्दत से नया सिक्का रवां है ॥

सार्वजनिक जीवन मे टडनजी को प्रोत्साहन अधिकतर दो महान व्यक्तियो से मिला है प्रथम स्वर्गीय पडित मदनमोहन मालवीय और दूसरे स्व० लाला लाजपतराय । मेरा भी इन दोनो महापुरुषो से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । इस पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखते हुए हमे टडनजी के विचारो और आदर्शों की स्वतन्त्रता, उदारता और उन्नति-शीलता को मानना ही पडता है ।

मुझे मालूम है कि टडनजी के अनेक मुस्लिम मित्र है जो टडनजी के सच्चे भक्त है और जिन पर टडनजी के बडे-बडे अहसान है । टडनजी उर्दू और फारसी के खासे अच्छे ज्ञाता है । मुझे मालूम है कि लडकपन मे पढी हुई शेख-सादी की "मा मुकीमा" टडनजी को बहुत पसन्द है और उसके कुछ शेर उन्हे अबतक याद है । उर्दू-शायरी की वह कदर करते है उनका हिन्दी-प्रेम इसमे बाधा नही डालता । अपनी ससद की वक्तृताओ मे उन्होने एक जगह साफ कहा है कि अहिन्दी प्रान्तो के लोगो की इच्छा के विरुद्ध उन पर हिन्दी हरगिज नही लादी जानी चाहिए ।

ससद के अन्दर जिस तरह टडनजी ने अनेक बार और बार-बार सचाई, सादगी और ईमानदारी पर जोर दिया और वजीरो और सरकारी अफसरो के दोषो को इस बारे मे खुलकर प्रकट किया, वह उन्ही का हिस्सा था । मेरी राय है कि उनकी छपी हुई वक्तृताए ससद के हर मेम्बर को और हर सरकारी आदमी को ध्यान मे पढनी चाहिए।

मेरी भगवान से प्रार्थना है कि टडनजी को फिर से स्वास्थ्य प्रदान करे और उन्हे चिरायु और प्रसन्न रक्खे ।

भीष्म पितामह के प्रतिरूप

श्री श्रीमन्नारायण

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के कार्य के सिलसिले मे सन् १९३६ से राजर्षि टडनजी से मेरा काफी सम्पर्क रहा। वर्धा-समिति का मै पाच वर्ष तक प्रधान मन्त्री था और इस कार्य मे आदरणीय टडनजी की बहुत गहरी दिलचस्पी थी। वह अक्सर हमारी बैठको के लिए वर्धा भी पधारते थे और विभिन्न समस्याओ को हल करने मे बहुत सहयोग देते थे। यद्यपि हिन्दी भाषा से उनका बहुत प्रेम रहा है, फिर भी देश की अन्य प्रान्तीय भाषाओ के विकास के लिए वह पूरा उत्साह रखते थे। जब राष्ट्रपिता गाधीजी ने १९४२ मे हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना की और हिन्दी साहित्य सम्मेलन् से अपना सम्बन्ध खत्म किया तो राजर्षि टडनजी को बहुत धक्का लगा। गाधीजी चाहते थे कि मै हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का प्रधान मन्त्री बनू। किन्तु टडनजी की बहुत इच्छा थी कि मै राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का प्रधान मन्त्री बना रहू। गांधीजी से उन्होने इस सम्बन्ध मे बहुत आग्रह भी किया। लेकिन आखिर मै हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का प्रधान मन्त्री ही बना। पूज्य टडनजी को यह अच्छा तो न लगा, किन्तु वह गाधीजी की इच्छा के विरुद्ध नही जाना चाहते थे। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्य मे भी उन्होने दिलचस्पी ली और उनका सदा यही प्रयत्न रहा कि दोनो सस्थाओ मे किसी प्रकार का सघर्ष न हो।

राष्ट्रभाषा आन्दोलन के अलावा मेरा सम्बन्ध राजर्षि टडनजी से काग्रेस-प्रवृत्तियो के सिलसिले मे भी रहा। उनकी त्याग-भावना, सादगी और लगन अद्वितीय है। उनको देखकर भीष्म पितामह का स्मरण हो जाता है। उनके व्यवहार मे लेशमात्र भी असत्य की छाया नही पडती। इसका वह हमेशा बारीकी से चितन करते रहते है। उनका जीवन इतना सादा है कि वह अपने ऊपर कम-से-कम खर्च करते है और सार्वजनिक सस्थाओ के व्यय मे एक-एक पैसे की बचत का ध्यान रखते है। अपने पत्र-व्यवहार मे वह बहुत ही सजग रहते है और एक-एक शब्द को तोलकर लिखते है।

कई वर्षों से उनका स्वास्थ्य अच्छा नही रहा है और उनका शरीर अब बहुत कमजोर होगया है। फिर भी वह लगभग चौबीस घटे यही विचार करते रहते है कि देश का ठीक दिशा मे किस तरह तेजी से उत्थान हो। राष्ट्रभाषा हिन्दी, गोसेवा, मद्य-निषेध, ग्रामोद्धार व कृषि-उन्नति मे उनकी विशेष रुचि रही है। यद्यपि इन विषयो के सम्बन्ध मे काग्रेस व भारत सरकार से उनका कई पहलुओ पर गहरा मतभेद रहा है, फिर भी उन्होने कभी कोई ऐसा कार्य नही किया जिससे देश की एकता को खतरा पैदा हो और प्रतिक्रियावादी तत्त्वो को बढावा मिले।

हम ईश्वर से यह प्रार्थना करते है कि वह राजर्षि टडनजी को दीर्घायु करे और वह बहुत वर्षों तक हमे अपने जीवन के तेज से प्रोत्साहित करते रहे।

अनूठे सिद्धान्तवादी

श्रीमती रामेश्वरी नेहरू

मै श्रद्धेय टंडनजी को बहुत अरसे से जानती हू। उन्हे जितना ही निकट से देखा है उतना ही मेरे मन मे उनके प्रति आदर उमडा है। वह सिद्धान्तवादी है तथा सिद्धान्तो पर चलने की पूरी शक्ति रखते है।

उनका जीवन नि:स्वार्थ सेवा की सच्ची कहानी है। मै शुरू से सुना करती थी कि टंडनजी का बडा परिवार, धनाभाव के कारण बहुत बार केवल चने का आहार करके ही सन्तोष मानता है, और टंडनजी उनकी अवहेलना करके निरन्तर अपने भिन्न-भिन्न सेवाओ के कामो मे सलग्न रहते है। सच तो यह है कि टंडनजी की ऐसी स्थिति देखकर, मेरे मन मे ये भाव उठते थे कि जो पिता अपनी सन्तान को जन्म देकर, उसके पालन-पोषण की उचित सामग्री नही जुटा सकता, वह अपने एक भारी उत्तरदायित्व को पूरा नही करता। परन्तु टंडनजी के दृष्टिकोण और विचार-धारा को अब मै समझने लगी हू। उन्होने अपने कुटुम्ब की अवहेलना की हो, परन्तु इस त्याग को करके उन्होंने देश को जो बहुमूल्य निधि प्रदान की, उससे देशवासी ऊचे उठे और उनका चरित्र स्वच्छ बना। गुरुदेव अपनी तेजस्वी वाणी मे कह भी गए है कि "व्यक्ति का त्याग कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब का त्याग नगर के लिए, नगर का देश और देश का विश्व के लिए त्याग यथोचित है।" टंडनजी कष्टो का सामना करते हुए अपनी राह से कभी नही डिगे।

टंडनजी ने अपने मन को बहुत-कुछ वश मे कर लिया है। यह एक आम विश्वास है कि सब रस छूटने पर भी मानव के लिए जिह्वा के स्वाद को छोडना कठिन होता है। परन्तु टंडनजी ने जिह्वा-स्वाद को भी नियन्त्रण मे रक्खा और भोजन-रस-शिरोमणि नमक तथा अन्न दोनो का बीस वर्षो तक त्याग किया और केवल कन्द-मूल व शाक-पात के आहार पर रहे।

स्वतन्त्रता के सग्राम मे उन्होने जो वीरतापूर्ण आहुति दी, वह सर्वविदित है। उसकी गाथा इतिहास मे स्वर्ण-अक्षरो मे लिखी जाएगी, जिससे आनेवाली सन्तानो को प्रेरणा मिलेगी। परन्तु टंडनजी ने केवल राजनीतिक कार्य ही नही किया, साहित्य व राष्ट्र-भाषा को उन्नत बनाने मे भी अपनी सेवाए देकर अमूल्य योगदान दिया। साहित्य, सस्कृति, भाषा-विज्ञान, राष्ट्रभाषा आदि मे हमारे देश मे गत पचास वर्षों मे जो काम हुआ है, वह मानो टंडनजी की जीवन-गाथा हो। टंडनजी का जीवन इन क्षेत्रो मे इतना मिला-जुला रहा है कि उनका इतिहास और उनके जीवन का इतिहास अलग नही किया जा सकता।

अन्त मे मै एक कवि के निम्नलिखित शब्दो मे उनका स्मरण करके उन्हे अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि भेट करती हू—

जुल्म जो अपनों के सह कर भी है कुरबाने-वतन,
मोहकम इस ईसार ही से जिन के है शाने-वतन,
होते है बरबाद कायम रखने को शाने-वतन,
खाक में मिल कर भी है जो मेहरतावाने-वतन,
है अभी तक ऐसे भी कुछ खाकसाराने-वतन।

राजर्षि टंडन की जय हो !

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

त्याग और मनस्विता, आदर्श चिन्तन और कर्ममय जीवन, औदार्य और सत्य पर दृढ रहने का आग्रह, प्रेम-पेशल हृदय और निर्भय कर्तव्य-निष्ठा, सबके प्रति आदर-भाव और यथा-प्रयोजन कसकर विरोध करने की क्षमता, अपरिग्रही स्वभाव और निरन्तर दाननिष्ठा, विनम्रता और सैद्धान्तिक अकड, एक साथ नही रह पाते। जहा रहते है वहा पूर्ण मनुष्यत्व विराजता है। टंडनजी के व्यक्तित्व मे इनका अद्भुत मिलन हुआ है। इन दुर्लभ गुणो ने उन्हे एक ओर जहा असामान्य व्यक्तित्व-सम्पन्न मनुष्य बनाया है वही गलतफहमी के लिए द्वार भी खोल दिया है।

टंडनजी का जीवन सन्त का जीवन है। वह सन्त-साहित्य के बडे प्रेमी भी है। जिस किसी ने उन्हे निकट से देखा है वही चकित हुआ है। प्रलोभनो ने उन्हे विचलित नही किया, प्रभुता दासी होकर आई। समृद्धि के भीतर वह उसी प्रकार रहे है जैसे जल मे पद्म-पत्र। वह अपने विश्वास मे सदा अडिग रहे। प्रलोभन, मित्रता, लिहाज, कुछ भी उन्हे नही डिगा सके। सेवा और त्याग उनका मार्ग नही है, सहज जीवन है।

हिन्दी-आन्दोलन के वे प्राण रहे है। इसके लिए उन्होने सब-कुछ सहा है, सब-कुछ झेला है। इधर एक विचित्र शब्द का आविष्कार किया गया है—हिन्दी-साम्राज्यवाद ! शब्दो की महिमा बडी विचित्र है। जो लोग इस भारी-भरकम शब्द का प्रयोग करते है वे क्या कहना चाहते है, यह बात कदाचित उन्हे भी मालूम नही। टंडनजी को कभी इस वाद का प्रवर्तक भी कहा गया है !

परन्तु क्या लोग नही जानते है कि टंडनजी जैसा सन्त साम्राज्यवाद के हर रूप का स्वभावत विरोधी होता है ? दूसरे के अधिकार का अपहरण करना साम्राज्यवाद का मूल मंत्र है। टंडनजी इस प्रकार के अपहरणवाद के घोर विरोधी है। उनके हिन्दी-प्रेम का अर्थ है भारतीयकरण। भारतवर्ष की दूसरी भाषाओ के स्वाधिकार का अपहरण भी अपहरण ही है। टंडनजी सभी भारतीय भाषाओ को अपने-अपने स्थान पर फलती-फूलती देखना चाहते है। ऐतिहासिक कारणो से इस देश मे विदेशी भाषा ने यहा की वास्तविक भाषा का अधिकार छीना है। टंडनजी इसे बर्दाश्त नही कर सकते। नाना नाम-रूप लेकर यह अपहरण-कार्य सामने आता है। टंडनजी ने उसके कुत्सित रूप को देखा है। वह इस बात को स्वीकार नही कर सकते। मानसिक दासता के शिकार नव-शिक्षित लोग जब अपनी दुर्बलताओ को तर्क-सम्मत भाषा मे सजाकर रखते है तो टंडनजी इस असत्याचरण से खिन्न होते है। इसका विरोध करते है। उनके तर्क अनुत्तरणीय होते है। लोग खीझ जाते है।

कभी-कभी मनुष्य अपनी कमजोरियो को तर्कसम्मत तत्त्वज्ञान का रूप दे देता है। भारतवर्ष की जनता का काम विदेशी भाषा से नही चल सकता, यह सीधी-सी बात है। इस देश मे यहा की भाषा को ही पूरा अधिकार मिलना चाहिए, यह कोई ऐसी बात नही है जो समझ मे न आए। परन्तु इस बात को अस्वीकार करने के लिए न जाने कितना-कुछ लिखा जाता है और कहा जाता है। कारण क्या है ? एक प्रमुख कारण तो यह है कि आज का शिक्षित भारतीय अपनी भाषा जानता ही नही है। सबको मालूम है कि विदेशी शासको ने इस देश मे अपने मतलब से विदेशी भाषा की शिक्षा की व्यवस्था की थी। देशी भाषाओ की बराबर उपेक्षा की गई। नवशिक्षित भारतीय अपनी परम्परा से विच्छिन्न

होगए। नए वैज्ञानिक ज्ञान और प्राविधिक अग्रगति से हमारी भाषाए बराबर वचित होती रही। स्वतत्र और शक्तिशाली देशो की भाषाए आगे बढ गई। अब तर्क यह दिया जाता है कि देशी भाषाओ मे तो अमुक-अमुक विचारो को प्रकट करने योग्य शब्द ही नही है, इसलिए विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान की शिक्षा का वाहन देशी भाषाए हो ही नही सकती ! अपनी कमजोरी तर्क का रूप धारण करती है। उसका विरोध करे तो सकीर्ण हो, जाहिल हो, अज्ञ हो। किसी प्रकार यह सिद्ध हो जाय कि यह बात ठीक नही है तो फिर साम्राज्यवादी हो, अनुदार हो। हर दुर्बलता की रक्षा के लिए तर्क और युक्तिया है, हिसाब और आकडे है, देश और विदेश है ! इस विचित्र मानसिक दासता और औदार्यगधी साहसहीनता का यदि विरोध किया जाय तो बडे मे बडे आदमी को दकियानूस कह दिया जाता है। टडनजी जैसा स्पष्ट विचारक, आजन्म देशसेवक, त्याग और सौहार्द का अप्रतिम उन्नायक भी दकियानूस है, सकीर्ण है, समय की गति को न पहचाननेवाला पुरातनवादी है ! इस प्रकार की बातो को क्या कहा जाय !

अग्रेजी समृद्ध भाषा है, ठीक है। उसके विशाल साहित्य मे परिचय बना रहना चाहिए, कौन अस्वीकार करता है ? उसके भीतर जो नवीन प्राणो का स्पन्दन है वह हमारे साहित्य को नवीन चेतना देगा, बिल्कुल सही है, उसके भण्डार मे ज्ञान और विज्ञान की विपुल सम्पत्ति है वह काम्य है, अवश्य काम्य है, पर इसमे यह कहा निकलता है कि देशी भाषाओ को छोड दिया जाय ? अग्रेजी हमने सीखी है, और भी अच्छी तरह सीखनी चाहिए, पर देश की कोटि-कोटि जनता का काम तो उसमे नही चल सकता ! कदाचित थोडे-मे लोग अग्रेजी के बने रहने मे लाभ मे रहेगे, पर उनके लिए सारे देश को अशिक्षित तो नही छोड दिया जा सकता। ठीक है कि हमारी भाषाए पिछले डेढ-दो सौ वर्षों से उपेक्षित रहने के कारण पिछड गई है। जितना उन्हे कमजोर समझा जाता है उतनी कमजोर भी वे नही है। पर जिन लोगो ने कभी उनकी शक्ति को समझने का प्रयत्न ही नही किया, वे लोग ही उनके बारे मे फैसले देते रहते है। हमारी भाषाओ मे अपार शक्ति है। वे अवसर मिलने पर हर प्रकार के विचारो को सहज भाव मे प्रकाश कर सकती है। हमारे पास सस्कृत के धातु-प्रत्ययो का अपार भण्डार है। हमारी बोलियो मे अत्यन्त सुकुमार भावो को प्रकट करने की अद्भुत क्षमता है। जो लोग यह जानते ही नही, या जानकर भी अनजान बनते है, उन्हे कैसे समझाया जाय ? एक ही रास्ता है। तर्क छोडकर काम किया जाय। रचनात्मक कार्य ही सही और सच्चा रास्ता है। टडनजी इस रचनात्मक कार्य का महत्त्व समझते है। उन्होने एक ओर तर्काभासो का जमकर विरोध किया है, दूसरी ओर रचनात्मक कार्य पर भरपूर जोर दिया है।

टडनजी कभी-कभी व्याकुल हो जाते है। हिन्दी के हिमायतियो से वह बहुत आशा रखते है। परन्तु दुर्भाग्यवश, ये लोग आपस मे ही लडकर एक-दूसरे की शक्ति क्षीण करते रहते है। जो शक्ति निर्माण-कार्य मे लगनी चाहिए, वह आपसी कलह और उखाड-पछाड मे बरबाद हो रही है। हमारी बडी-बडी शक्तिशाली सस्थाए आज इस आपसी कलह से निष्प्राण होगई है। जिस समय शक्ति केन्द्रित करने की सबमे बडी आवश्यकता थी, उसी समय हमने शक्ति बिखरा दी। टडनजी इस प्रवृत्ति से बहुत कठिनाई मे पड गए है। हिन्दी-आन्दोलन को जो लोग ठीक-ठीक नही समझते, वे नए-नए अपशब्द तैयार करके हिन्दी-सेवको को और भी क्षीण कर रहे है। न जाने इतिहास-विधाता का इगित क्या है ! पर भारतवर्ष को अगर सचमुच सम्मान के साथ जीना है तो अपनी भाषाओ की वह उपेक्षा नही कर सकता, अपनी सस्कृति के उदात्त और मानवीय तत्त्वो को भुलाकर वह कभी सच्चे अर्थों मे जीवित नही रह सकता। यह स्पष्ट रूप मे समझ लेना चाहिए कि हिन्दी-आन्दोलन का अर्थ है भारतीयकरण का प्रयत्न, 'स्व-राज्य' !

अग्रेजी मे जिसे 'इन्डिपिन्डेस' कहा जाता है उसे सभी भारतीय भाषाए 'स्वाधीनता' या 'स्वतन्त्रता' कहती है, 'अनधीनता' या 'अतत्रता' नही। भारतवर्ष 'स्व' की अधीनता चाहता है। वह 'अनधीनता' मे विश्वास नही करता। अपने ऊपर अपना अधिकार ! हमारी सस्कृति 'वशी', 'आत्मसयमी' और 'स्वाधीन' होने की बात कहती है। हमारे देश के मनीषियो ने अपने ऊपर अपने ही अकुश को महत्त्व दिया है। अपनी भाषा और अपने पूर्वजो के अनुभव से विच्छिन्न होकर वह 'स्व' का 'स्व' के ऊपर नियत्रण नही प्राप्त किया जा सकता। गाधीजी ने इसलिए 'स्व-भाषा' का आन्दोलन चलाया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसीलिए कहा था—'निज-भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।' टडनजी

भी इसी कारण स्वभाषा और स्वसंस्कृति के पक्षपाती है। यह देश का दुर्भाग्य है कि इस बात को गलत समझा जाता है, गलत समझाया जाता है, गलत समझा जाता रहे, इस बात का प्रयत्न किया जाता है। टंडनजी ने पूरी ताकत लगाकर इस सत्य को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। इस समय चाहे जो भी हो, अन्त मे चलकर उन्ही की विजय होगी। अधिक दिनो तक इस बात की उपेक्षा नही की जा सकेगी। टंडनजी के सारे जीवन के प्रयत्नो का अर्थ है—स्वाधीन भारत की जय !

हिन्दी के प्राण पुरुषोत्तमदासजी टंडन

डा० उदयनारायण तिवारी

आदरणीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडनजी का नाम मैंने सन् १९३१ के असहयोग-आन्दोलन के दिनो मे सुना था। किन्तु उनका प्रत्यक्ष दर्शन करने का अवसर तो मुझे सन् १९३३ की जुलाई मे, प्रयाग मे मिला। मै उसी वर्ष स्कूल लीविंग परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर कायस्थ पाठशाला कालेज मे, इन्टर मे अपना नाम लिखाने आया था। बाबूजी उस समय 'साहित्य भवन' मे बैठते थे। आजकल जहा किग्स कम्पनी की दवा की दुकान है सम्भवत उसी मे अथवा उसके आसपास साहित्य भवन लिमिटेड की दुकान भी थी। उस समय हिन्दी मे आज की भाति न तो साहित्यिक पुस्तको का प्रकाशन ही होता था और न ऐसी पुस्तको के बिक्री का ही कोई प्रबन्ध था। बाद मे मुझे ज्ञात हुआ कि बाबूजी ने इस उद्देश्य से साहित्य भवन लिमिटेड की स्थापना की थी ताकि हिन्दी-साहित्य की पुस्तके एक स्थान पर लोगो को आसानी से मिल जाय। जो हो, सन् १९२३ मे इस दुकान पर कुछ पुरानी पुस्तके भी बिक रही थी। मैने इसी दुकान मे 'ट्रायल एण्ड डेथ आफ सोक्रेटीज' की एक प्रति खरीदी। उस समय यह पुस्तक इन्टर कक्षा के पाठ्य-क्रम मे थी। घर ले जाकर मैने देखा कि पुस्तक मे एक पृष्ठ गायब है, उस पर साहित्य भवन लिमिटेड की मुहर थी। मै उसे लौटाने के लिए दूसरे दिन दूकान पर पहुचा। मैने देखा कि एक शुभ्र ललाट और दाढीवाले व्यक्ति दूकान के भीतर कुर्सी पर बैठे हुए अपनी डाक खोल रहे है। अनेक व्यक्तिगत पत्र, हिन्दी के कतिपय मासिक, साप्ताहिक तथा दैनिक समाचार-पत्र आदि उनके सामने रक्खे हुए थे। शरीर मे एक खद्दर की बनियान और घुटनो तक एक खद्दर का जाघिया पहने हुए उस व्यक्ति के रोम-रोम से तेजस्विता प्रगट हो रही थी। मैने पुस्तको की अथवा अन्य दूकान के किसी मालिक का ऐसा रूप नही देखा था। जिस व्यक्ति से मै पहले दिन पुस्तक ले गया था, उसे लौटाते हुए मैने कहा, देखिए, इस पुस्तक मे एक पृष्ठ गायब है। आप मुझे दूसरी पुस्तक दीजिए अथवा पैसे लौटाइए। वह व्यक्ति पुस्तक को उलट-पलट कर मुझसे कुछ बाते ही कर रहा था कि मैने कुर्सी पर बैठे व्यक्ति को सम्बोधित करके कहा, "बाबूजी देखिए यह मुझे न तो दूसरी पुस्तक दे रहे है और न पैसे लौटा रहे है। कदाचित पुरानी पुस्तक की कोई दूसरी प्रति नही थी। कुर्सी पर बैठे हुए दिव्य व्यक्ति ने अपनी डाक देखना बन्द कर पुस्तक बेचने वाले को बडे जोर से डाटा और उन्होने तुरन्त मुझे पैसे दे दिए। दूकान के मालिक और पुस्तक-विक्रेता दोनो के व्यवहार मेरे लिए असाधारण थे। मै चकित था कि आखिर वयोवृद्ध पुरुष कौन है। बाहर निकलकर मैने अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए जो दूकान के मालिक का नाम पूछा तो ज्ञात हुआ कि वह आदरणीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन है और पुस्तक-विक्रेता उनके सबसे बडे पुत्र श्री स्वामीप्रसादजी टंडन है। टंडनजी प्रयाग नगर महापालिका के चेयरमैन रह चुके है, कांग्रेस के वे चोटी के चुने हुए नेताओ मे से एक है। अपने वकालत के दिनो मे अनेक क्रातिकारियो के मुकदमो की उन्होने बिना फीस लिए पैरवी की है। वह प्रयाग के निर्भीक पुरुषो मे सर्वोत्कृष्ट एव अग्रगण्य है। इन सब कथाओ को मै पहले ही सुन चुका था। ऐसे महापुरुष तथा उसके ज्येष्ठ पुत्र को दूकान पर पुस्तके और खद्दर बेचते हुए देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

असहयोग-आन्दोलन की पहली बाढ समाप्त हो चुकी थी और देश का राजनीतिक वातावरण भीतर से क्षुब्ध होते हुए भी ऊपर से शान्त था। गाधीजी जेल मे थे। उनके सहयोगी, जिनमे कई चोटी के वकील भी थे, जेल से

छूटने के बाद चैम्बर प्रैक्टिस करने लगे थे। आखिर जीवन-निर्वाह के लिए पैसो की जरूरत तो सभी को होती है। बाबूजी भी हाईकोर्ट के वकील थे और उनकी प्रैक्टिस भी अच्छी थी, किन्तु एक बार वकालत छोड देने के बाद पुनः उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना कदाचित उन्होने उचित नही समझा। रचनात्मक कार्य मे उस समय खद्दर का उत्पादन एव उसका वितरण एक मुख्य कार्य था। हिन्दी के प्राण आदरणीय टडनजी ने हिन्दी-पुस्तको के वितरण का भी सम्बन्ध कदाचित रचनात्मक कार्य से ही जोड लिया हो तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। इस प्रकार जेल से छूटने के बाद बाबूजी अपना कुछ समय इस दूकान पर व्यतीत करने लगे। मै जब कभी जानस्टनगज जाता तो दूर से ही उनका दर्शन करके मन ही मन प्रणाम कर लेता था। आखिर इस व्यापार से बाबूजी को प्रतिदिन कितनी आय होती होगी, वह अपने परिवार का उन दिनो भरण-पोषण कैसे करते होगे, यह बात तो तब ज्ञात हो जब बाबूजी अपना आत्मचरित लिखें। मुझे तो उनके तत्कालीन व्यापार मे कबीर, दादू, रैदास आदि की भाति गार्हस्थ के लिए किंचित उपार्जन करते हुए साधना-रत जीवन की झाकी ही मिलती थी।

सन् १९३४ मे प्रयाग मे अर्द्धकुम्भ मेला का समारोह हुआ। मेले मे सेवा समिति का कैम्प भी पडा था। उस समय मैने आदरणीय टडनजी की दूसरी दिव्य झाकी देखी। आप सिर पर खद्दर का साफा, खद्दर का कुर्ता और खादी की धोती पहने हुए इस कैम्प मे विराजमान थे और उनके बगल मे बैठे थे उस युग के तारुण्य के प्रतिनिधि, आज के भारत के प्रधान मत्री प० जवाहरलाल नेहरू। उस वर्ष गगा-यमुना की धारा कुछ ऐसी विचित्र थी कि त्रिवेणी पर स्नान करने मे लोगो को कठिनाई थी। उस समय प्रयाग के कलक्टर श्री नाप्स महोदय थे। महामना प० मदन-मोहन मालवीय कलक्टर महोदय से बाते करके ऐसा प्रबन्ध करना चाहते थे ताकि सुदूर प्रदेशो मे आए हुए अनेक श्रद्धालु यात्री त्रिवेणी पर स्नान कर ले। कलक्टर इसके लिए तैयार न थे और त्रिवेणी के तट पर उन्होने यात्रियो को रोकने के लिए सशस्त्र घुडसवारो को खडा कर दिया। बडी विकट परिस्थिति थी। एक ओर मालवीयजी तथा उनके अनुगामी श्रीटडनजी तथा जवाहरलाल जी सत्याग्रह के लिए तैयार थे तो दूसरी ओर सरकार भी अपने आत्म-सम्मान पर उतर आई थी। मालवीयजी पुलिस के अधिकारियो को विनयपूर्वक समझा रहे थे। इसी बीच टडनजी एव जवाहरलालजी के तारुण्य ने जोर मारा। ये दोनो व्यक्ति घुडसवारो को ढकेलते हुए त्रिवेणी मे जा कूदे और स्नान करने लगे। उनके पीछे और भी अनेक नौजवान दौड पडे और इस प्रकार सूर्यास्त के समय सरकार को वहा से घुडसवारो को हटा कर त्रिवेणी पर जनता को स्नान करने का अवसर देना पडा। सरकार की प्रतिष्ठा पर इस घटना मे असाधारण आच आई।

सन् १९२३ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा मे उत्तीर्ण हुआ था। उसी वर्ष आज के प्रयाग नगरपालिका के डिप्टी मेयर श्री बैजनाथजी कपूर इस परीक्षा मे सम्मिलित हुए थे। उन दिनो सम्मेलन की परीक्षाओ मे बहुत कम लोग सम्मिलित होते थे और विशारद के उपाधि-पत्र का वितरण सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर सभापति के कर-कमलो द्वारा सम्पन्न होता था। उस वर्ष का अधिवेशन सन् १९२४ मार्च मे (सम्भवत: अन्तिम सप्ताह) दिल्ली मे हुआ था इसके सभापति थे प० अयोध्यासिहजी उपाध्याय 'हरिऔध'। वह आजमगढ से प्रयाग आगए थे और यहा से टडनजी के साथ ही दिल्ली जा रहे थे। मैने भी इस सम्मेलन मे सम्मिलित होने का निश्चय किया। सम्मेलन के सभी यात्री तृतीय श्रेणी के दिल्ली जाने वाली गाडी के एक डिब्बे मे बैठे थे। उनमे थे हरिऔधजी, टडनजी, प० रामनरेश त्रिपाठी, अध्यापक रामरत्नजी, प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल तथा प० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'। इनमे से मै किसी से भी परिचित न था, किन्तु मै भी इसी डिब्बे के एक कोने मे जा बैठा। मैने देखा कि गाडी के छूटते ही बाबूजी (टडनजी) ने एक नक्शा निकाला और अन्य साहित्यिक बन्धुओ को दिखलाना प्रारम्भ किया। यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वर्तमान सग्रहालय का नक्शा था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन तब बहुत साधारण स्थिति मे था और आज जहा उसका कार्यालय है वही पर खपरैल के दो साधारण मकान थे जो सम्मेलन के प्रबन्ध, परीक्षा तथा साहित्य-विभाग के भवन थे।

सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन मे सम्मिलित होने का यह मेरा पहला अवसर था। इसके प्रतिनिधि दिल्ली स्टेशन से थोडी दूर पर स्थित क्लाथ मार्केट मे ठहराए गए थे और अधिवेशन का पंडाल चांदनी चौक से आगे ऐसे स्थान मे था जहा से लाल किला दिखलाई पडता था। इसी अधिवेशन मे सर्वप्रथम मुझे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों एवं

उन्नायकों, जिनमें पं० पद्मसिंह शर्मा, प० नाथूराम शकर शर्मा, प० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, प० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, प० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, प० श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि-आदि के नाम उल्लेखनीय है, दर्शन करने का सुअवसर मिला। इन साहित्यिको एव पडितो मे कितना स्नेह और सौहार्द था इसे देखकर मै चकित था। बाबूजी का हिन्दी साहित्य सम्मेलन से उसके जन्म से ही सम्बन्ध था। सम्मेलन की प्रथम नियमावली आपने ही बनाई थी। सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनो मे जो भी प्रस्ताव आदि होते थे उन्हे भी ठीक रूप देने का भार बाबूजी के ऊपर ही था। इसी प्रकार सम्मेलन की उन्नति के लिए धनसग्रह का सम्पूर्ण दायित्व भी बाबूजी के ऊपर ही था। सम्मेलन की आन्तरिक व्यवस्था का सम्पूर्ण रूप से सचालन करते हुए भी बाबूजी की अपने साहित्यिक बन्धुओ से इतनी घनिष्ठता और आत्मीयता थी कि सम्मेलन के सचालन मे सबका मतैक्य था। सम्मेलन के सम्वर्द्धन मे एक ओर बाबूजी ने इन साहित्यिको मे सहायता ली तो दूसरी ओर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने के लिए आपने राष्ट्रपिता गाधीजी एव परमादरणीय राजेन्द्रबाबू जैसे राष्ट्रकर्मियो से भी सहयोग लिया। राष्ट्र-कर्मियो, हिन्दी-सेवियो तथा हिन्दी-प्रेमियो के बीच सामजस्य एव समन्वय स्थापित करने का जो अभूतपूर्व कार्य बाबूजी ने किया है उसका मूल्याकन हिन्दी के किसी भी इतिहास-लेखक एव आलोचक ने नही किया। यहा एक बात और उल्लेखनीय है। गाधीजी के आगमन से भारत की राजनीति मे जो उथल-पुथल हुई उसके परिणामस्वरूप देश की स्वतत्रता के लिए लडने वालो का एक बहुत बडा समुदाय उत्पन्न होगया। हिन्दी के अनेक लेखक एव विद्वान— प० माखनलाल चतुर्वेदी, प० लक्ष्मीधर वाजपेयी, प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, श्री मैथिलीशरण गुप्त, प० कृष्णकान्त मालवीय, प० रामनरेश त्रिपाठी, प० बनारसीदास चतुर्वेदी, प० राहुल साकृत्यायन, श्री वेकटेशनारायण तिवारी, जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' आदि गाधीजी के आह्वान पर जेल गए, किन्तु हिन्दी के अनेक विद्वान और लेखक राज-नीति के तूफानी दिनो मे भी साहित्यिक साधना मे रत रहे। वास्तव मे १९२१ मे १९४२ तक के दिन इन साहित्यिको विद्वानो के लिए कम दुखदायी न थे। एक ओर जनता को दुखी और सतप्त देखकर ये विद्वान राजनीतिक अखाडे मे उतरना चाहते थे तो दूसरी ओर अपनी साधना को खण्डित करके वे हिन्दी की उन्नति मे अवरोध उत्पन्न करना नही चाहते थे। ऐसी विकट परिस्थिति मे भी राजनीति मे दूर रहकर राष्ट्रभाषा की उन्नति मे इन साहित्यिको ने जो अभूतपूर्व कार्य किया उसका मूल्याकन आज सरल नही है। यदि वे भी साहित्य के क्षेत्र को छोडकर राजनीति के अखाडे मे उतर पडते तो काव्य, उपन्यास, आलोचना, तथा अन्य क्षेत्रो मे हिन्दी को जो स्थान मिला है वह कदाचित न मिला होता, और विचारो को प्रकट करने की जो शक्ति हिन्दी मे आई वह न आई होती। इस दृष्टि से राजनीति से पृथक रहकर भी तथा अपने मन को सतुलित रखकर साहित्य-सेवियो ने हिन्दी को सशक्त बनाया। यदि हिन्दी क्षेत्र मे अथवा सम्पूर्ण भारत मे इस तथ्य को पूर्ण रूप से अनुभव करने वाला कोई व्यक्ति हुआ तो वह एकमात्र श्रद्धेय बाबू पुरुषोत्तमदास जी टडन ही हुए। उन्होने सदैव साहित्यिको का राजनीतिज्ञो से बढकर सम्मान किया। राजनीति तथा देशसेवा मे अपने एक-एक क्षण को व्यतीत करते हुए तथा अपने जीवन को तिल-तिल गलाते हुए उन्होने बहुत पहले ही इस बात को पूर्ण रूप से समझ लिया था कि राष्ट्र को वाणी देनेवाले साहित्यिको का राजनीतिज्ञो से कम महत्त्व नही। इसके लिए बाबूजी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे 'मगलाप्रसाद पारितोषिक' की स्थापना की, जो प्रत्येक वर्ष किसी न किसी उत्कृष्ट हिन्दी साहित्य-सेवी को उसकी उत्कृष्ट कृति पर दिया जाता रहा। सच तो यह है कि साहित्यिको और राजनीतिज्ञो के बीच मे जो गहरी खाई थी उसके लिए बाबूजी ने सदैव सेतु की तरह कार्य किया और इस प्रकार राजनीति मे अग्रगण्य होते हुए भी उन्होने साहित्यसेवियो की राष्ट्र-सेवा को सर्वोच्च स्थान दिया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दिल्ली-अधिवेशन मे बडौदा के महाराज भी आए थे। देशी राज्यो के अधि-पतियो मे बडौदा के महाराज एक प्रकार से अग्रगामी थे। उन्होने अपने राज्य मे प्रजा को ऐसे अधिकार दिए थे जो अन्य राज्यो की प्रजा को प्राप्त न थे। इसके अतिरिक्त अपने राज्य के कर्मचारियो के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य कर दिया था। सम्मेलन के अधिवेशन मे बाबूजी तथा अन्य साहित्यिको ने महाराज का स्वागत-सत्कार किया। इसी अधिवेशन मे महामहोपाध्याय प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा को उनकी कृति 'प्राचीन लिपिमाला' पर मगला-

प्रसाद पारितोषिक दिया गया। सम्मेलन के सभापति पं० अयोध्यासिह उपाध्याय का भाषण भी बहुत सुन्दर था और कवि-सम्मेलन भी अत्यधिक सफलता से सम्पन्न हुआ था। इसमे पं० नाथूराम शकर शर्मा, गयाप्रसाद सनेही, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी तथा पं० पद्मसिह शर्मा एव प० श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि उपस्थित थे।

सम्मेलन का अधिवेशन नियमानुकूल तीसरे दिन समाप्त होगया। बाबूजी कतिपय साहित्यिको के साथ धन-सग्रह के लिए दिल्ली मे रुक गए और मै प्रयाग लौट आया।

सन् १९२४ के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दिल्ली-अधिवेशन के पश्चात मै टडनजी का प्रयाग मे दर्शन न कर सका। कदाचित लाला लाजपतरायजी के आमन्त्रण पर वह लाहौर चले गए थे। उस समय मेरा हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अत्यल्प ही सम्बन्ध था। तब सम्मेलन इतना आकर्षक भी न बन पाया था। उसका न तो कोई वाचनालय था और न पुस्तकालय। श्रद्धेय टडनजी को हिन्दी के लेखक तथा प्रकाशक जो पुस्तके भेजते थे उन्हे वह कदाचित सम्मेलन मे भेज देते थे। इसी प्रकार की कुछ पुस्तके सम्मेलन के खपरैलवाले भवन मे एक आलमारी मे बन्द थी। आपके अर्थ-विभाग के अध्यक्ष प० जयनारायण पाण्डेय उस समय भी सम्मेलन मे काम करते थे। उन्ही के पास इस आलमारी की कुजी थी। मै उन दिनो बहादुरगज मे रहता और कभी-कभी सम्मेलन-भवन मे जाकर प० जयनारायण पाण्डेय से पुस्तके लेकर पढता था। बाबूजी उस समय सम्मेलन मे आते थे अथवा नही, यह मुझे ज्ञात नही। यदि वह मुझसे वहा मिलते भी तो उनमे बातचीत करने का मुझे साहस न होता। वे उस समय ही प्रयाग के सर्वश्रेष्ठ जन-नायक, हिन्दी भाषा और साहित्य के अद्वितीय प्रेरणादायक व्यक्तित्व के रूप मे प्रख्यात हो चुके थे और कहा मै इन्टरका एक अकिचन विद्यार्थी था।

सन् १९२५ के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन मे मै सम्मिलित न हो सका। सन् १९२६ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वृन्दावन-अधिवेशन मे सम्मिलित हुआ, किन्तु इस वर्ष इस सम्मेलन मे बाबूजी भाग न ले सके थे। इस समय मै बहादुरगज छोडकर दारागज मे रहने लगा था। दारागज मे इस समय अनेक साहित्यिक आवर्म थे जिनमे प० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, प० लक्ष्मीधर वाजपेयी, प०गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', प० दयाशकर दुबे, प० सिद्धनाथ दीक्षित, प० विद्याभास्कर शुक्ल, ठाकुर श्रीनार्थासह, प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री शम्भुदयाल सक्सेना, प० गणेश पाण्डेय आदि के नाम उल्लेखनीय है। उसी समय इन साहित्यिको के सहयोग मे हिन्दी-अधिवेशन मे साहित्य-गोष्ठी की स्थापना हुई थी जिसके वार्षिक समय-समय पर प० नाथूराम 'शकर' शर्मा, श्री प्रेमचन्द तथा प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के सभापतित्व मे होते रहते थे। गोष्ठी के कतिपय सदस्य उस समय सम्मेलन के मन्त्रि-मण्डल से नाराज थे। उसमे सुधार करने के लिए उन्होने सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के लिए प० लक्ष्मीधर वाजपेयी के नाम का प्रस्ताव किया। सम्मेलन का अधिवेशन मुजफ्फरपुर मे होने वाला था। सम्मेलन के विधान के अनुसार उस समय सभापति के चुनाव का अधिकार स्वागत समिति के सदस्यो के हाथ मे था। प० लक्ष्मीधर वाजपेयी सभापति तो न हो सके, किन्तु उस समय सम्मेलन के अधिकारियो के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न होगया। बाबूजी कदाचित उस समय लाहौर मे थे। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उस समय उनका सम्मेलन से सम्बन्ध न था, किन्तु वह इस बात को जानते थे कि उनके विरुद्ध प्रचार करने मे अतिशयोक्तिपूर्ण ढग से कार्य किया गया है, जिससे हिन्दी की सर्वोच्च सस्था सम्मेलन की प्रतिष्ठा को भी क्षति पहुची है। मुजफ्फरपुर-अधिवेशन के सभापति प० पद्मसिह शर्मा थे। सम्मेलन का यह अधिवेशन सन् १९२१ मे बडी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ था। जब स्थायी समिति के लिए सदस्यो तथा मन्त्रिमण्डल के चुनाव का प्रश्न आया तो सम्मेलन का वातावरण बडा विक्षुब्ध हो उठा। सम्मेलन मे इसके पूर्व ऐसा रगडा-झगडा कदाचित कभी नही हुआ था। उस समय मै किसी दल-विशेष से सम्बन्धित न होते हुए भी प० लक्ष्मीधर वाजपेयी के साथ था।

मैने उस समय भी वाजपेयी से प्रार्थना की थी कि किसी भी सस्था के सदस्यों की आपसी लडाई से व्यक्तियो की उतनी हानि नही होती जितनी सस्था की होती है, किन्तु वाजपेयीजी उस समय युद्ध-पथ पर बहुत आगे बढ चुके थे और मेरे जैसे विश्वविद्यालय के छात्र का उन्हे समझाना कठिन काम था। मैने उस समय बाबूजी

की ओर देखा तो उन्हें चिन्तित और गम्भीर मुद्रा में पाया। बात यह थी कि हिन्दी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन चलाने के लिए बाबूजी को प्रयाग के सभी साहित्यिको का सहयोग आवश्यक था। दोनो दलो के लोग बाबूजी के सहयोगी तथा नि.स्वार्थ भाव से हिन्दी के कार्यकर्ता थे। अतएव बाबूजी किसी दल-विशेष का पक्षपात कर ही कैसे सकते थे ? एक बात और थी, तत्कालीन मन्त्रिमडल के विरोधी दल के लोग तो वहा बहुसख्या मे मौजूद थे, किन्तु मन्त्रि-मण्डल के लोगो मे से कोई भी वहा नही गया था। उनकी अनुपस्थिति मे उन्हे भला-बुरा कहा जाय, यह बाबूजी को पसन्द न था। उनका यह कहना था कि उस मन्त्रि-मण्डल के लोग सम्मेलन की उन्नति के लिए रुपए न ला सके, किन्तु इसमे उन्हे दोषी नही ठहराया जा सकता। उन्होने जिस ईमानदारी एव निष्ठा के साथ कार्य किया था, उसकी हमे सराहना करनी चाहिए। हमे ठीक स्मरण नही कि बाबूजी ने स्वय अथवा किन्ही अन्य सज्जन ने उस मन्त्रिमडल के कार्य की सराहना में प्रस्ताव रक्खा था। उस समय के वातावरण को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता था कि वह प्रस्ताव स्वीकृत न होगा, किन्तु जहा तक मुझे स्मरण है बाबूजी के भाषण के बाद उस प्रस्ताव को सम्मेलन ने स्वीकार कर लिया। सम्मेलन का पूरा मन्त्रि-मण्डल बदल गया। यद्यपि बाबूजी को यह अच्छा न लगा, किन्तु लोकतन्त्र की रक्षा के लिए उन्हे सम्मेलन मे उपस्थित प्रतिनिधियो के मत का सम्मान करना ही पडा। मै इसी अधिवेशन मे सर्वप्रथम स्थायी समिति का सदस्य चुना गया।

जब स्थायी समिति की प्रथम बैठक प्रयाग मे हुई तो जहा तक मुझे स्मरण है, बाबूजी उसमे मौजूद थे। स्थायी समिति के प्रथम अधिवेशन मे ही एक वर्ष के लिए विविध समितियो का सगठन होता था। वास्तव मे इन समितियो को ही वर्ष भर सम्मेलन का कार्य चलाना होता था। इसलिए इसमे सावधानी से लोगो को चुनना पडता था। तब सम्मेलन के पास न इतनी सम्पत्ति थी और न यह भवन था। जो कार्यकर्ता ठहरते थे या दारागज मे सम्मेलन मे जाते थे उन्हे अपने पास से ही इक्के के लिए पैसा खर्च करना पडता था, अतएव सभी व्यक्ति अधिकार लेने के लिए तैयार भी नही होते थे। चुनाव के पहले बाबूजी ने एक-एक व्यक्ति को प्रेम से उसके कार्य को समझाया। कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो समितियो मे चुन तो लिए गए, किन्तु वे उस समय न तो मौजूद थे और न उनकी स्वीकृति ही उस पद के लिए प्राप्त थी। बाबूजी का यह नियम था कि वे ऐसे व्यक्तियो के घर जाकर उन्हे उत्साहित करके उनसे स्वीकृति प्राप्त करते थे। इस प्रकार मुजफ्फरपुर-अधिवेशन के अवसर पर प्रयाग के साहित्यिको मे जो पारस्परिक तनाव हो गया था वह धीमे-धीमे शान्त होने लगा। मुजफ्फरपुर-अधिवेशन के पूर्व जब टडनजी लाहौर मे थे, उस समय एक दु खद घटना होगई थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा राष्ट्रपिता गाधीजी के सहयोग से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना हुई थी। टडनजी का उसकी स्थापना मे विशेष हाथ था। कई वर्षों तक दक्षिण के अनेक कार्यकर्ताओ ने प्रयाग आकर हिन्दी सीखी और यहा से जाकर उन्होने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के तत्त्वावधान मे हिन्दी का प्रचार किया। कई वर्षों तक, किन्तु धीरे-धीरे दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के ये कार्यकर्ता सम्मेलन से पृथक होने का प्रयत्न करने लगे। सम्मेलन के तत्कालीन अधिकारियो को यह बात उचित नही जची। उन्होने वहा के कार्यकर्ताओ को कडे पत्र लिखे, जिसका परिणाम यह हुआ कि मामला और भी बिगड गया। वे लोग गाधीजी के यहा पहुचे और उनके द्वारा दक्षिण भारत हिदी प्रचार सभा को सम्मेलन से पृथक करने की उन्होने माग की। बडी विचित्र परिस्थिति उत्पन्न होगई। अन्त मे महामना प० मदनमोहन मालवीय इस मामले मे पडे और टडनजी भी लाहौर से आए। जहा तक मै समझ पाया हू, टडनजी दक्षिण भारत हिदी प्रचार सभा को पृथक करने के पक्ष मे न थे। वह सहयोग और प्रेम से ही हिन्दी के काम को आगे बढाना चाहते थे, किन्तु मामला इतना बिगड चुका था कि टडनजी के न चाहते हुए भी दक्षिण भारत हिदी प्रचार सभा को सम्मेलन के अधीन रखना कठिन था। जो हो, मालवीयजी के बीच-बिचाव से दक्षिण भारत हिदी प्रचार सभा सम्मेलन से स्वतन्त्र हो गई।

दूसरी घटना हिन्दी विद्यापीठ की थी। जमुना के उस पार महेवा गाव मे लगभग ७० एकड भूमि श्रद्धेय बाबूजी ने हिन्दी विद्यापीठ के लिए ली थी। उसकी रजिस्ट्री उन्होने सम्मेलन के नाम से ही कराई थी और विद्यापीठ सम्मेलन का ही एक अग था। बाबूजी की योजना थी कि इसमे स्वावलम्बी ढग से अध्ययन का केन्द्र स्थापित किया जाय।

किन्तु उनके लाहौर चले जाने से विद्यापीठ सम्मेलन के लिए भार-स्वरूप हो गया । उसके सचालन में व्यय अधिक था और लाभ कम, किन्तु सम्मेलन उसे छोड भी कैसे सकता था। परिणाम यह हुआ कि विद्यापीठ के कारण सम्मेलन आर्थिक झमेले मे फसता गया और वह कर्जदार हो गया। बाबूजी मुजफ्फरपुर-सम्मेलन के अधिवेशन के बाद जब प्रयाग आए तो उन्हे स्थिति को समझने मे देर न लगी। सम्मेलन की सभी बातों को वह जानते थे और विद्यापीठ के लिए उन्होने ही भूमि प्राप्त की थी। उन्होने यह निश्चय कर लिया कि विद्यापीठ को सम्मेलन से पृथक कर उसके लिए एक 'न्यास समिति' (ट्रस्ट) का सगठन किया जाय। यह कार्य उन्होने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १९२९-३० के गोरखपुर के अधिवेशन मे सम्पन्न किया। इस अधिवेशन के सभापति श्री गणेशशकर विद्यार्थी थे। साहित्याचार्य प० चन्द्रशेखर शास्त्री, प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, प० लक्ष्मीधर वाजपेयी तथा अन्य मित्रो के साथ मुझे भी गोरखपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन मे सम्मिलित होने का अवसर मिला था। जैसे सम्मेलन के मुजफ्फरपुर-अधिवेशन पर मैने बाबूजी को निरन्तर कार्य करते हुए देखा था, उसी प्रकार से मैने उन्हे गोरखपुर-अधिवेशन के समय भी कार्य करते हुए पाया। छोटे से छोटे प्रस्ताव से लेकर सम्मेलन के चुनाव तक के सभी कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न करने मे उन्हे कितनी शक्ति लगानी पडती थी, इसका मैने सर्व-प्रथम गोरखपुर-सम्मेलन मे ही अनुभव किया। मुझे स्मरण है कि विद्यापीठ को सम्मेलन से पृथक करने के लिए जब बाबूजी प्रस्ताव लाए तो कुछ लोगो को यह अच्छा न लगा। गोरखपुर के प० गौरीशकर मिश्र ने उनके प्रस्ताव का तीव्र विरोध किया। बाबूजी पहले बोल चुके थे, जब श्री गणेशशकर विद्यार्थी ने बाबूजी से पुन बोलने के लिए कहा तो उन्होने इन्कार कर दिया। बाबूजी ने कहा, "मुझे जो कुछ कहना था प्रस्ताव मे कह चुका हू। अब विरोध मे हुए भाषण के प्रत्युत्तर मे दूसरा भाषण देना पसन्द न करूगा। यदि अधिकाश लोग विद्यापीठ को सम्मेलन के साथ ही रखना चाहते है तो मुझे उनका निर्णय शिरोधार्य है। मैने तो सम्मेलन के नाम ही विद्यापीठ की रजिस्ट्री कराई थी और उस समय इस 'न्यास समिति' की बात मेरे मन मे न थी। बाबूजी के इस व्यवहार का प्रतिनिधियो पर मन्त्रवत प्रभाव पडा। मै भी प्रतिनिधि था और प० गौरीशकर मिश्र की भाषण-शैली तथा तर्कों का मेरे ऊपर भी ऐसा प्रभाव पडा था कि मै भी उनकी बातो को ही उचित समझ रहा था। तब तक मै टडनजी के निकट-सम्पर्क मे भी नही आया था, किन्तु मुझे स्मरण है कि टडनजी के सीधे-सादे शब्दो का मेरे ऊपर ऐसा प्रभाव पडा कि मै तुरन्त प० गौरीशकर मिश्र के तर्कों को भूल गया। मेरे ही जैसे अन्य लोगो पर भी निश्चित रूप से ऐसा ही प्रभाव पडा होगा। जो हो, जब प्रस्ताव पर मत लिया गया तो बहुत थोडे आदमियो के अतिरिक्त अधिकाश लोगो ने उसके समर्थन मे ही हाथ उठाया और इस प्रकार विद्यापीठ सम्मेलन से पृथक हो गया। मुझे यह ज्ञात नही है कि बाबूजी सन् १९३० तक लाहौर से प्रयाग आगए थे अथवा नही, किन्तु इतना स्मरण अवश्य है कि वे सम्मेलन की स्थायी समिति की प्राय प्रत्येक बैठक मे सम्मिलित होने लगे थे। मै उस समय सम्मेलन की स्थायी समिति का सदस्य था और उसके कार्यों मे दिलचस्पी लेने लगा था। मैने इस बात का अनुभव किया कि स्थायी समिति की बैठक मे बाबूजी की उपस्थिति से बहुत गम्भीरता आ जाती है। मैने एक और बात का अनुभव किया, वह यह थी कि बाबूजी किसी बात अथवा प्रस्ताव का निर्णय बहुमत से न चाहकर सर्व-सम्मति से चाहते थे। वे किसी समय कुछ दिनो के लिए आदरणीय लाला लाजपतराय के अनुरोध मे पजाब नेशनल बैंक के सर्वोच्च अधिकारी बन गए थे। वे प्राय उसका उदाहरण देते हुए कहा करते थे "कि किसी को बैंक से रुपये उधार देते समय यदि समिति के एक सदस्य ने भी विरोध कर दिया तो उसे प्राय बैंक से रुपया नही दिया जाता था। उसके लिए सब की सहमति आवश्यक थी। इसी प्रकार मै सम्मेलन के प्रत्येक प्रस्ताव पर सबकी सहमति चाहता हू।" बाबूजी के इस आग्रह का परिणाम यह होता था कि कभी-कभी हिन्दी साहित्य सम्मेलन की समितियो की बैठके बहुत देर तक चलती थी और लोग उनसे ऊब जाते थे, किन्तु बाबूजी आदि से अन्त तक बिना ऊबे हुए एक रुचि से काम करते जाते थे।

श्रद्धा-स्तव

श्री उदयशंकर भट्ट

राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास टडन के कई रूप है। एक राजनीतिज्ञ का, दूसरा हिन्दी के प्रबल समर्थक एव नेता का और तीसरा रूप उनके प्रखर व्यक्तित्व का। राजनीतिज्ञ के रूप मे वह देश की स्वतन्त्रता के प्रमुख सेनानी, अग्रगता रहे है। वह उन लोगो मे है जिन्होने रोम-रोम मे तप पूत मन्त्रो से स्वतन्त्रता का जप किया है, उसके देश मे आवाहन का मार्ग प्रशस्त किया है, अपने सर्वांग जीवन की साधना मे उसका शृगार किया है। आबाल-वृद्ध-वनिता-समूह को सजीवनी बूटी पिलाकर उसे कटक-सवलित मार्ग मे चलने के लिए वज्रात्मा बनाया है। इस रूप मे टडनजी किसी भी राजनीतिक नेता से पीछे नही रहे है। महामना मालवीयजी से जिन्होने बलिदान का पाठ पढा और लोकमान्य तिलक एव गाधी के निर्देश को एकमात्र लक्ष्य मानकर अपने को विसृष्ट कर दिया। इस रूप मे वे अपने कर्म-पराक्रम मे अद्वितीय अविजित रहे। कष्ट जिनके लिए सुख, और बलिदान जिनके लिए आत्मशान्ति रहे है।

दूसरा रूप टडनजी का है हिन्दी के प्रबल समर्थक का, सचालक का, और एकमात्र साधना-सिद्धि का। टडनजी और हिन्दी दो शब्द नही है। हिन्दी का अर्थ है टडनजी और टडनजी का अर्थ है हिन्दी। हिन्दी के लिए टडनजी ने जो कुछ किया है वह किसी से छिपा नही है। वह सूर्यप्रकाश की तरह सर्वविदित है। उनके पास बैठने, बातचीत करने से ज्ञात होता है जैसे टडनजी हिन्दी के अतिरिक्त और कुछ नही है। वैसे ऐसे कई नाम गिनाए जा सकते है जिन्होने हिन्दी के हित के लिए बहुत-कुछ किया है। उनका ही प्रसाद है कि आज हिन्दी अपने स्थान पर विराजमान हो सकी है, साहित्य बन सकी है और अपने को भाषा के रूप मे श्रेष्ठतम प्रमाणित कर सकी है, किन्तु इस तपस्वी ने हिन्दी के वट-वृक्ष को कन्याकुमारी से काश्मीर तक, अटक से कटक तक रोपकर जिस लगन, तत्परता, योग्यता और सेवा से उसे पल्लवित किया है वह राम-रावण-युद्ध के समान आज भी अनुपम है, अद्वितीय है, अनुपमेय है। जिन्होने टडनजी की व्यग्रता को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बैठको-अधिवेशनो मे देखा है वे जान सकते है कि वह कृश बालक को पालने मे तत्पर मा की तरह किस तरह अन्तर्लीन रहे है। समाधि की दशा उनकी मैने देखी है। मार्ग के कष्ट, यात्रा की दूरी, अन्य कार्यों की व्यग्रता, व्यस्तता, शारीरिक श्रम कोई भी उन्हे अपने गन्तव्य पथ, लक्ष्य-चिह्न से पीछे नही हटा सका है। अधिवेशन हो रहा है तो वह पहले आकर सब देखभाल करेगे। सब कार्यकर्त्ताओ की कुशल-क्षेम पूछेगे। कार्यकारिणी की बैठक मे आप उन्हे सबसे पहले बैठा पाएगे। नियम-विधान बनाने मे रात-रात भर सोचकर सब सामग्री तैयार करेगे। वर्तमान मे कहा क्या हो रहा है इसका लेखा-जोखा जानने मे वह सबसे आगे होगे। भविष्य मे कहा क्या करना है, यह भी उन्हे मालूम है, उनके कार्यक्रम मे है। भरी सभाओ मे, राजनीति के क्षेत्रो मे, धार्मिक सस्थाओ मे, सामाजिक सम्मेलनो मे हिन्दी के पक्ष मे प्रखर भाषण देते हुए उन्हे लोगो ने देखा है। अग्रेजी-फारसी के विद्वान होते हुए भी व्याख्यानो मे, बोलचाल मे शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करने के लिए उन्होने हजारो-लाखों लोगो को प्रेरित किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओ, आवश्यक और नवीन ग्रन्थो का प्रणयन, पुरस्कार, सम्मान सब उनकी दूरदर्शिता के मानस पुत्र है। हिन्दी का प्रचार और प्रसार उनके एक तरह से श्वासोच्छ्वास है। उन्होने अपने रक्त से हिन्दी के बिरवे को सीचा है, चिन्तन से पल्लवित किया है और कार्य से पुष्पित। ऐसे है टडनजी!

मुझे लोक सेवक मडल, लाहौर मे शायद उनके दर्शनों का प्रथम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय मैं नेशनल कालेज, लाहौर मे हिन्दी पढाता था। टडनजी परिस्थितिवश, जैसा कि उस समय स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने एक समय बताया था, पजाब नेशनल बैंक के सेक्रेटरी होकर गए थे। खद्दर की अचकन, टोपी, चुस्त पजामा और और अचर्म जूता यही उनका उस समय परिधान था। किन्तु शरीर के नाते पतली-दुबली देह, पारदर्शी आंखे, सिर के विरल बाल, चौडा ललाट, मौलिक चिन्तन की रेखाओ से युक्त। तीक्ष्ण मर्मस्पर्शी आवाज! यही रूप उस समय मैं देख पाया था बाहरी तौर पर। इसके बाद जो प्रकाश मैंने पाया वह आज तक नही भूल सका हू। वह था उनका सत्य के प्रति आग्रह, सादा जीवन, चरित्र की दृढता, निर्भीकता, असत्य पाने पर बडे से बडे को भी फटकार देने की अद्भुत शक्ति। जैसे एक ज्योति के सामने पतगे आकर इकट्ठे हो गए हो, ऐसे लगते थे और सब उस समय। प्रखर वक्ता लाला लाजपतराय को भी एक बार उनके तर्क के सामने सोचते पाया।

बहुत दिनों बाद

शायद उन दिनो वह लालाजी की मृत्यु के बाद लोक सेवक मडल के प्रधान थे। एक दिन सवेरे किसी काम मे मडल मे गया तो किसी ने बताया टडनजी सवेरे की गाडी से आए है। सोचा, दर्शन कर लू। खडा होगया कमरे के आगे। इसी समय कधे पर धुले कपडो की पोटली रखे वह आए। मैंने प्रणाम किया। पूछा, यह क्या? बोले, "कपडे मैले होगए थे, धोकर लाया हू। सुखाने लगे तो मैंने सब कपडे लेकर अरगनी पर सुखा दिए, किन्तु मैं स्तब्ध था। इतना बडा व्यक्ति अपने हाथ से कपडे धो रहा है! मस्तिष्क मे चौधियाहट हुई जैसे कपार फोड कर एक ज्ञानाश का उदय हुआ। तब से नियम बनाया कि अपने कपडे अपने-आप धोऊगा। आज तक वही क्रम बना है। किन्तु टडनजी क्या इतने ही है? उनकी अपनो के प्रति स्नेह की झाकी भी मुझे मिली है। मैं टडनजी के साथ पूना से वर्धा आ रहा था। वे दूसरे दरजे मे और मैं एक साथी के साथ तीसरे दरजे मे। बम्बई से खा-पीकर चले थे, अचानक शाम के झुटपुटे मे खिडकी से झाककर देखा तो टडनजी हमे पुकारते दौड लगा रहे है। घबराकर उतरा, पूछा, क्या बात है? तो कधे पर हाथ रख कर बोले, "तुम दोनो को ढूढ रहा था, चलो थोडा खा लो। भूख लगी होगी।" उनका प्रबल आग्रह देखकर स्नेह की भूख जागृत होगई। ले जाकर कुछ फल अपने हाथ से साफ करके दिए। हम दोनो ने खाए। फिर तीन दिन तक साथ रहा। गाधीजी के दर्शन उनके साथ ही किए। हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रस्ताव पर उन्हे गाधीजी से बातचीत करनी थी। काका कालेलकर हिन्दुस्तानी का प्रस्ताव सम्मेलन मे रखना चाहते थे। पूना मे उन्हे बहुमत के सामने हिन्दी के पक्ष मे झुकना पडा था। वह एक दिन पहले आकर गाधीजी को समझा गए थे। टडनजी मिले तो गाधीजी ने टडनजी का अभि-मत जानना चाहा। साथ ही वह हिन्दुस्तानी को भी सम्मेलन मे स्वीकार कराना चाहते थे। उस समय की टडनजी की निर्भीकता, स्पष्टवादिता, तर्क एव सत्य के प्रति आग्रहपूर्ण वास्तविकता ने गाधीजी को भी कुछ समय के लिए सोचने को बाध्य कर दिया। गाधीजी ने टडनजी को दूसरे दिन बुलाया। काफी बातचीत हुई। किन्तु टडनजी हिमालय की तरह अडिग थे। टडनजी का वह रूप मैं भुला नही हू। शायद भूल भी नही सकूगा। लगता था जैसे उन्होने गाधीजी के सामने अकाट्य तर्कों का पहाड खडा कर दिया है। महात्माजी ने मुसकराते हुए टडनजी को विदा दी। टडनजी ने पैर छूकर उन्हे प्रणाम किया और विजयी की भाति बाहर चले आए। आज तक हिन्दी के मामले में वह उसी पक्ष पर है। जबकि सारा देश, कुछ को छोडकर, आज उनके साथ है। यही सत्य है जिसने टडनजी को राजर्षि बनाया है। ऋषि द्रष्टा होता है न!

गहराई से उनके व्यक्तित्व की खोज करने पर लगता है वह सही मानो मे राजनीतिज्ञ नही हैं; क्योकि उनका पाया हुआ सत्य परिवर्तनशील नही है। राजनीति मे ऐसे सत्य का कोई महत्त्व नही माना जा सकता जो समय के अनुसार बदलता न रहे। यही कारण है काग्रेस का इन्द्रासन उन्हे सन्तोष न दे सका। और वह तामसी प्रजा को अपनी ओर न मोड सके। स्वार्थ के जीवन्त पुरजो में वह सत्य का, सास्कृतिक विश्वासो का तेल डालकर उसी तरह न चला सके जैसा कि उनके साथी चाह रहे थे। किन्तु यह इस युग के भीष्म का दोष नही है कि वह द्रौपदी का चीर-हरण

न रोक सका। आघात-प्रतिघातों से समन्वित वातावरण मे वास्तविक स्वतन्त्रता की मूर्ति की स्थापना न कर सका। गाधीजी का राम-राज्य कहा है, किधर मिलेगा, यह जानना कठिन है, किन्तु इतना निश्चित है कि वह अभी काफी दूर है। कभी आएगा भी इस देश मे, यह कह सकना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है।

टडनजी ने राजनीतिक, सामाजिक, भाषा-सम्बन्धी सभी दिशाओं मे जो प्रकाशस्तम्भ गाड़े है, वे निश्चय ही चिरकाल तक युग के पोतो का मार्ग-प्रदर्शन करते रहेगे, ऐसा मै विश्वासपूर्वक कह सकता हू यदि काफी लम्बी बीमारी की तरह इस देश को मानव-दासता से कुछ भी मुक्ति मिली तो!

उनका सीचा हुआ पौधा आज वृक्ष बनकर लहलहा रहा है और मानस स्वप्न साकार होकर देश-देशान्तरो मे जागृत हो गया है। यह कितनी बडी सफलता है जीवन की। निश्चय ही बाबूजी को इसमे सन्तोष होगा। शरीर-शैथिल्य के कारण शायद वह और आगे काम न कर सके किन्तु उनका आशीर्वाद युग-युगान्तर तक हमे प्रेरणा देता रहेगा, ऐसा मै विश्वास करता हू। प्रणम्य है, अभिनन्दनीय है बाबूजी!

जयन्ति ते सुकृतिनः सिद्धोद्देश्या मनीषिणः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन : एक संस्मरण

डा० हरिवंशराय बच्चन

भारत के पुनर्जागरण की बेला मे अनेकानेक आन्दोलन उठे, परन्तु उनमे दो प्रमुख थे—एक राष्ट्र को स्वतन्त्र करने का आन्दोलन, और दूसरा राष्ट्र को एक भाषा से सुसगठित करने का आन्दोलन। वस्तुत कालक्रम मे यह दूसरा आन्दोलन पहले उठा, जैसा कि स्वाभाविक भी था, और मै कहना चाहूगा कि यह पहले से अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण भी था। स्वतन्त्रता का आन्दोलन समाप्त हो गया, पर राष्ट्रभाषा का आन्दोलन आज भी चल रहा है और उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि यह समस्त देश एक भाषा के सुवर्ण-सूत्र मे आबद्ध नही हो जाता। इस देश की विविधता सदियो से इतिहास के घटनाचक्रो मे पडी हुई एकसूत्रता और अखडता के लिए चीत्कार कर रही है। बाहरी रज्जुपाशो और शृखलाओ से जकड कर यह एकता नही लाई जा सकती, उसे तो किसी आतरिक सूत्र से ही लाना होगा—और वह सूत्र एक भाषा का है—हिन्द के लिए हिन्दी का है। जब तक यह देश अपनी सागिक और स्वाभाविक एकता नही प्राप्त कर लेता तब तक इसकी स्वतन्त्रता अधूरी है, इसकी स्वतन्त्र सत्ता अस्पष्ट। इसलिए आज वर्षों से श्रद्धेय टडनजी परम आस्था और दृढता के स्वरो मे यह उद्घोषणा करते आ रहे है कि "राष्ट्रीयता ही हिन्दी और हिन्दी ही राष्ट्रीयता है।" इस ऋचा के उदार और उदात्त अर्थ को न समझना अपनी बुद्धि की परिक्षीणता, हृदय की सकीर्णता और दृष्टि की सकुचितता का ही सबूत देना है। आज जब उनके इस सब दिशाओ मे प्रतिध्वनित स्वर के विरुद्ध कुछ लोगो ने कानो मे उगली दे ली है और कुछ ने प्रतिगामी स्वरो मे बोलना आरम्भ कर दिया है तब हमारा उन्हे स्मरण करना, उनका सम्मान करना, उनका अभिनन्दन करना, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना, हमारा एक बार फिर उनके सदेश की महत्ता को स्वीकार करना और उसके अनुरूप कुछ प्रभावकारी करने के लिए दृढप्रतिज्ञ और कटिबद्ध होना है। केवल इसी रूप मे यह अभिनन्दन-ग्रथ किसी अश मे उनके सतोष का विषय बन सकता है, अन्यथा वह निन्दा-स्तुति, मान-अपमान के बहुत ऊपर उठ चुके है।

मेरे विद्यार्थी-जीवन मे ही वह नगर के एक प्रतिष्ठित वकील के रूप मे विख्यात हो चुके थे और हमारे सास्कृतिक जीवन मे हिन्दी को पुन स्थापित करने का कार्य उन्होने आरम्भ कर दिया था। हिन्दी-प्रेमियो को हिन्दी-पुस्तके सहज-सुलभ हो, इसके लिए अपने एक धनी मित्र को प्रेरित कर उन्होने 'साहित्य-भवन' की स्थापना कराई थी जो शाहगज मे चौक मे, उनकी बैठक के सामने, वर्षों तक हिन्दी-पुस्तको की एकमात्र दुकान थी। आक्सफर्ड की सर्व-प्रसिद्ध पुस्तको की दूकान पर यह लिख कर टगा है कि आप कोई भी पुस्तक कितनी भी देर तक दूकान मे बैठकर पढ सकते है। साहित्य-भवन मे यह लिखकर टगा तो नही था, पर परम्परा यही थी। पुस्तक खरीदने के लिए पैसों के अभाव मे मैंने न जाने कितनी किताबे वहा बैठ कर पढी थी और मेरी तरह के बहुत लोग वहा आया करते थे। टडनजी को शायद पहली बार वही देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लोगो को किताबे देखते-पढते देख उनकी आखों मे जो प्रसन्नता झलक उठती थी उसकी आभा से आज तक मेरी स्मृति का कोई कोना कभी-कभी जगमगा उठता है।

टडनजी को पहली बार सुनने की स्मृति भी विद्यार्थी-जीवन की है। स्कूल के किसी जलसे में उन्हे बुलाया गया था। उन्हे और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को एक ही मच से सुनने की कुछ धुधली-सी याद मुझे अब भी बनी हुई

हैं। दोनों ही हिन्दी की महत्ता पर बोले थ । एक गृहस्थ, दूसरा सन्यासी, पर हिन्दी के विषय पर दोनों एकमत। तब मे कई बार उन्हें सुनने का अवसर मिला, पर प्रसग कोई हो—हिन्दी के प्रचार, हिन्दी की महत्ता की चर्चा उनके व्याख्यान मे कही-न-कहीं से घूम-फिरकर आ ही जाती थी।

हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य का पठन-पाठन विधिवत हो सके, उसके लिए उन्होने प्रयाग मे 'हिन्दी-विद्यापीठ' की स्थापना की थी। हमे यह न भूलना चाहिए कि यह वह समय था जब हिन्दी को विश्वविद्यालयो मे प्रवेश करने की बात तो दूर, उसे झरोखो से झाकने की भी आज्ञा न थी। वह इटरमीडिएट मे भी नही पढाई जाती थी, उसका साहित्य केवल हाईस्कूल तक पढाने योग्य समझा जाता था।

ठीक सन तो मुझे याद नही, पर विद्यापीठ का उद्घाटनोत्सव मीरगज के विद्यामदिर हाई स्कूल के अहाते में सम्पन्न हुआ था। अब यह स्कूल सडक मे आ चुका है। उद्घाटन करने के लिए काशी से बाबू भगवानदास को बुलाया गया था। आज यह सोचकर मै बडे गौरव का अनुभव करता हू कि मै उस उत्सव मे मौजूद था। हम अपनी सस्कृति मे कितने अपरिचित होगए थे कि 'पीठ' जैसे ऐतिहासिक शब्द का अर्थ केवल वह 'पीठ' समझते थे जिसके बीच मे रीढ होती है। उस दिन टडनजी ने और भगवानदासजी ने क्या-क्या कहा, इसकी तो मुझे याद नही, पर उस 'पीठ' शब्द की उनको विशद व्याख्या करनी पडी थी और इस प्रसग मे कभी समुपस्थित जनता हँसी भी थी। टडनजी ने हिन्दी पर जैसे भाव-विभोर होकर व्याख्यान दिया था, वैसे भाव-विभोर मैने केवल कुछ सन्तो को भगवान का गुणगान करते समय देखा है। जहा तक मुझे मालूम है, टडनजी ने कभी कविता तो नही की, परन्तु उस दिन उनका भाषण काव्य-चित्र ही था। कभी-कभी मै सोचता हू कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए टडनजी ने सक्रिय रूप से जितना किया उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो, पर उनमे प्रतिभा थी कि हमें कुछ सृजनात्मक और स्थायी सम्पत्ति भी दे जाते। पर टडनजी के सघर्षमय जीवन ने शायद वह शाति और सुविधा कभी नही दी जो सृजन के लिए आवश्यक होती है। ऐसी प्रतिभाओ को देखकर इस कथन की सत्यता का बोध होता है कि 'जीवन साहित्य मे बडा है।' टडनजी ने कविता न लिखी हो, पर उनका जीवन स्वय एक काव्य रहा है, टडनजी ने निबन्ध न लिखा हो, पर उनका जीवन स्वय निबन्ध-सग्रह रहा है।

उनके हिन्दी-प्रेम का उत्कट उदाहरण मुझे उनकी कन्या दुलारी के विवाह के समय देखने को मिला। हमारे सस्कारो मे सस्कृत अब भी प्रतिष्ठित है। हमारे समाज मे फारसी आई, उर्दू आई, अग्रेजी आई, पर जीवन के एक क्षेत्र मे हमारे पुरोहितगण सस्कृत की सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रहे। टडनजी के मन मे हिन्दी का जो स्वप्न है वह सर्वव्यापक है, वह भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को हिन्दी की परिधि मे बाहर नही समझ सकते—चाहे वह शिक्षा का हो, चाहे न्याय का, चाहे राजनीति का, चाहे धर्म का और चाहे कर्मकाण्ड का। उन्होंने यह निर्णय दिया कि विवाह मे जो भी मत्रादि पढे जाते है उनका हिन्दी मे अनुवाद कर दिया जाए और सस्कार के समय वे हिन्दी मे ही पढे जाए। हफ्तो पडितो को अपने घर पर बिठाकर उन्होने सब सस्कृत-मन्त्रो का हिन्दी मे अनुवाद कराया, स्वय भी सहायता देते रहे और विवाह-मडप मे केवल हिन्दी ही सुनी गई। उनका विश्वास है कि जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र मे लेकर बडे-से-बडे क्षेत्र मे, जहा वाणी की आवश्यकता पडती है, हिन्दी अपना दायित्व निभाने मे समर्थ है, या समर्थ बनाई जा सकती है। टडनजी अमूर्त सिद्धान्त बनाने और उसकी घोषणा करने मे विश्वास नही रखते। जो कुछ करने योग्य है, जिसे किया जाना चाहिए, वे उसे करके दिखलाते है। वह सम्यक् रूप मे न हो सके, उसका उपहास किया जाए, उसका विरोध किया जाए, इसकी उनको परवाह नही है। पृथ्वी पर चलना है, दौडना है तो बच्चा इसकी प्रतीक्षा नही करेगा कि जब तक उसके पाव मजबूत न हो जाए तब तक वह कदम नही उठाएगा। वह अपने अस्थिर, निर्बल, डगमगाते चरणो से भी चलेगा, गिरेगा, फिर उठेगा, आगे बढेगा। जो लोग इस प्रतीक्षा मे है कि जब हिन्दी समर्थ हो जाएगी तब उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे चलाएगे वे हिन्दी को पगु बनाए रखने का षड्यन्त्र रच रहे है।

महात्मा गाधी के १६२०-२१ के असहयोग-आन्दोलन मे जब वे अपनी जमी-जमाई वकालत छोडकर कूद पडे तो किसी को आश्चर्य नही हुआ। आश्चर्य उनके ऐसा न करने पर होता। उनका परिवार बडा और गृहस्थी कच्ची थी और बाबूजी के त्याग के कारण घर के छोटे-बड़े सबको जो कष्ट उठाना पडा उसने न जाने कितने परिवारो को सहन-

शीलता का पाठ पढाया, सहारा दिया, ऊपर उठाया । मेरा ऐसा ध्यान है कि बहुत बडे लोगों द्वारा किए गए त्याग-बलिदान लोगो को सहज अनुकरणीय नही होते । नेहरू-परिवार का त्याग बहुत बडा था, उसमे प्रेरणा थी, परन्तु उसकी सम्पन्नता उसके उदाहरण को अनुकरणीय बनाने मे बहुत बडी बाधा उपस्थित करती थी । टडनजी का त्याग एक मध्य वर्ग के व्यक्ति का त्याग था, उसने, प्रयाग के मध्यवर्गीय परिवारो के लिए त्याग और बलिदान को सहजसाध्य किया। स्वतन्त्रता के सघर्ष के समय मे देश के लिए खतरा उठानेवाले, त्याग करनेवाले, काम करनेवाले नागरिको के लिए टडनजी सबसे निकट और परिचित प्रतीक थे, सब उन्हे पास से देखते थे, पास मे जानते थे । उनके घर फाटक नही था, उनके दफ्तर मे द्वारपाल नही था ।

१९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन मे एम० ए० प्रीवियस करने के बाद मैंने भी यूनिवर्सिटी छोड दी थी । डेढ-दो वर्ष बाद जब आन्दोलन की गर्मी शान्ति हुई तो जीवन की कठोर वास्तविकता ने घूरना आरम्भ किया । 'पायनियर' अग्रेजो के अधिकार मे देशी साहबो के हाथ मे आया तो उन्होने मेरे पिता की पेशन बन्द कर दी । सौभाग्य से मेरे छोटे भाई को बी० ए० करने के बाद ही बैंक की नौकरी मिल गई । मैंने नारे, जुलूस, सभा, पिकेटिग, झडे, बिगुल, चर्खे, वालटियरो, क्रान्तिकारियो की दुनिया मे पलटकर अपने घर को देखा तो काप उठा । दस आदमियो का परिवार, दो उनमे से बीमारियो के शिकार, छोटी बहन ब्याहने को, एक भारी कर्ज चुकाने को, और एक आदमी के कन्धे पर सारा भार ! ट्यूशनें एक-दो मैं करता था, पर मैंने निश्चय किया कि कोई नियमित नौकरी करके मैं छोटे भाई का हाथ बटाऊगा । काम मैं ऐसा चाहता था जिसमे देश के लिए कुछ करने का अवसर भी रहे और इतना वेतन भी मिले कि घर का काम-काज चलता रहे । उन दिनो बाबूजी ला० लाजपतराय द्वारा स्थापित 'सर्वेट्स आफ पीपुल सोसाइटी' (लोक सेवक मण्डल) के चेयरमैन थे । उसमे कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि योग्य लोगो को पचास रुपया मासिक आदर-धन (आनरेरियम) दिया जाता था और उनसे आजीवन देश-सेवा का व्रत लिया जाता था। टडनजी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टडन (इस समय विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष) बी० ए० मे मेरे सहपाठी थे । उनसे परामर्श करके मैंने सोसाइटी की सदस्यता के लिए एक प्रार्थना-पत्र दे दिया । बाबूजी ने मुझे बुलाया, उन्होने मेरी आखो मे आखे डाली, और न जाने क्या उन्होने उनमे देखा कि मुझे सोसाइटी मे लेने से इन्कार कर दिया। मुझे बी० ए० मे प्रथम श्रेणी मिली थी, मैंने अपनी पढाई छोडी थी, सरकारी छात्रवृत्ति छोडी थी, और उन दिनो के मानो मे देश के लिए कुछ काम भी किया था, अपने पुत्र के द्वारा उन्हे मेरी पारिवारिक स्थिति का पता था, पर उन्होने निर्ममतापूर्वक मुझसे कहा, "मुझे लगता है तुम्हारा क्षेत्र यह नही, तुम्हे अपनी पढाई पूरी करके शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र मे अपना विकास करना चाहिए।" मुझे बडी निराशा हुई, टडनजी के लिए स्वार्थवश मेरे मन मे कुछ कुभावनाए भी उठी, पर आज मैं जानता हू उस समय मुझसे अधिक उन्होने मुझे पहचाना था, और यह मानता हू कि उन्होने सोसाइटी मे न लेकर मेरे साथ उपकार ही किया था ।

इसके थोडे ही समय बाद मै 'मधुशाला' की रुबाइयो मे फूट पडा । ऐसे कई अवसर मुझे मिले जब उनके सम्मुख या उनके सभापतित्व मे मुझे कविता सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उन्होने हर बार मेरी आखो मे अपनी आखे डाली, और जैसे मुझे उस पहली भेट की याद दिलाई—मैंने तुममे जो देखा था वह गलत नही था, तुम राजनीति के जगल के लिए नही थे, काव्य के उपवन के लिए थे ।

मेरी तरह टडनजी ने न जाने कितने नवयुवको को जीवन की ठीक दिशा दी होगी, जो यदि आज मेरे समान लेखनी-मुखर हो सकते तो अपनी-अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते । महान आत्माओ का दान दोनो दिशाओ मे होता है, वे देश-समाज को एक व्यापक दान तो दे ही जाते है, व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को भी कुछ अमूल्य, अलभ्य, अविस्मरणीय दे जाते है । सूर्य समुद्र को जाज्वल्यमान करता है, ओस बिन्दु को भी चमका देता है । इन सीमित वरदानो की चर्चा इतिहास के पृष्ठो मे नही होती, पर समष्टि के जीवन मे इनकी महत्ता कम नही होती । टडनजी हमारे देश की महान आत्माओ मे है । उन्होने अपने जीवन, कर्म, विचार से व्यापक रूप से देश को, और सीमित रूप से अनेकानेक व्यक्तियो को प्रभावित किया है । उनकी साधना उनके जीवन-काल मे ही पल्लवित-पुष्पित हुई है ।

महान आदर्शवादी और आदर्श व्यवहारवादी

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तदासजी टंडन के यशस्वी नाम और बहुमुखी सार्वजनिक प्रवृत्तियों में कौन भारत-वासी परिचित न होगा! राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा के लिए आपका यश राष्ट्र के कोने-कोने में व्याप गया है। मैंने सबसे पहले राजर्षि जी के दर्शन कांग्रेस महासमिति की बैठकों में किए। बाद में अनेक बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों में भी आपको कुछ समीप से देखा। अनेक बार आपके व्यक्तिगत सम्पर्क में आने का भी लाभ मिला। मैं जितना आपके समीप सम्पर्क में आया, उतनी ही आपके प्रति श्रद्धा व निष्ठा बढ़ती चली गई।

ऐसा नहीं है कि राजर्षि जी से मेरा कभी मतभेद न हुआ हो। हिन्दी साहित्य सम्मेलन में जब महात्मा गांधीजी के साथ आपका मतभेद हुआ था, तब आपकी स्थिति में मेरे लिए सहमत होना कठिन होगया था। परन्तु कुछ ही समय बाद मैंने अनुभव किया कि हिन्दी की हित-रक्षा के लिए आपकी स्थिति बिल्कुल ठीक थी। फिर मैं यह भी नहीं समझ सका था कि हिन्दी के प्रति कांग्रेस और राजर्षिजी के दृष्टिकोण में किसका ठीक था। इस सम्बन्ध में एक समारोह में मैंने कुछ प्रश्न भी पूछे थे और आपके दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न किया था। जब आप स्व० डाक्टर पट्टाभि के विरोध में कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए खड़े हुए थे, तब मैंने दैनिक 'विश्वमित्र' में आपके विरुद्ध डा० पट्टाभि का जोरदार समर्थन किया था। परन्तु मैंने देखा कि मेरे प्रति आपकी कृपा में कभी कोई अन्तर नहीं आया। आपका पितृतुल्य वात्सल्य व आत्मीयता सदा वैसे ही बने रहे। यही मुझे आपका सबसे बड़ा बड़प्पन प्रतीत हुआ। मतभेद व विरोध को भुला देना सामान्य बात नहीं है। मुझे आपके तेजस्वी रूप के दो बार दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक बार कांग्रेस महासमिति की बैठक में आपका स्व० मोतीलाल जी नेहरू के साथ कुछ मतभेद हो गया। अल्प मत में रहते हुए भी आपने पराजय स्वीकार नहीं की और आप अपनी स्थिति से विचलित नहीं हुए। दुबारा आपके तेजस्वी रूप के दर्शन तब हुए, जब आपने संविधान परिषद में हिन्दी के लिए संघर्ष मोल लिया था। जैसे कभी श्रीकृष्ण ने द्रौपदी का चीर बढ़ाकर उसकी लाज बचाई थी, वैसे ही इस संघर्ष में हिन्दी की लाज बचाने वाले आप ही थे। साथियों ने आपका साथ छोड़ दिया था और आपका समर्थन करने वालों की संख्या सम्भवतः एक दर्जन से अधिक नहीं रही थी, फिर भी आपने अकेले वीर अभिमन्यु की तरह उस संघर्ष को जारी रखा। संविधान में हिन्दी को जो गौरव मिल सका, वह एकाकी आपके सुदृढ़ व सफल नेतृत्व का परिणाम है।

अपने व्यक्तिगत जीवन में आप ऐसे आदर्शवादी हैं कि कठोर तपस्या का साधनामय जीवन बिताते हैं। आपको गांधीजी के समान तपस्वी साधक और आदर्शवादी कहा जा सकता है। सार्वजनिक जीवन में आपको आदर्श व्यवहारवादी कहना चाहिए। हिन्दी में अंग्रेजी की संख्याओं के लिखे जाने और अंग्रेजी का स्थान राजभाषा के रूप में हिन्दी को देने के लिए पन्द्रह वर्ष की अवधि के लिए सहमत हो जाना आपके आदर्श व्यवहारवाद के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन दिनों में भी संसद में आपकी आदर्शवादी वाणी का तेजस्वी स्वर सुनने में आता रहा है, जिसमें गांधीजी की आत्मा बोलती प्रतीत होती थी।

अपनी आंखों की दृष्टि खोने के बाद अपने जिन महान नेताओं की ममता, सहृदयता और सहानुभूति मुझे

प्राप्त हुई, उनमे श्रद्धेय राजर्षिजी का उल्लेख मै बडे गर्व से कर सकता हूं। क्योकि ग्रापकी ग्रपने प्रति ममता, सहृदयता ग्रौर सहानुभूति को मै ग्रपने लिए ग्रत्यन्त सन्तोषप्रद वरदान मानता हू।

ग्राप दीर्घायु हों, पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करे ग्रौर ग्रापका वरद हस्त हमारे सिर पर सदा बना रहे। हिन्दी को ग्राप राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा के उच्च ग्रासन पर सर्वांश मे प्रतिष्ठित होने के ग्रपने महान चिर स्वप्न को पूरी तरह साकार होता देख सके। ग्रापके चरणो में मेरे श्रद्धा-सम्पन्न ग्रनेक ग्रभिनन्दन स्वीकार हों।

पूज्य बाबूजी

श्री कालिदास कपूर

सवत् १९३९ के पुरुषोत्तम मास मे जन्म होने पर राजर्षि टडनजी का 'पुरुषोत्तमदास' नामकरण हुआ, तो देश के सौभाग्य से वह अपने पिताजी के दिए हुए नाम को सार्थक करने मे भी सफल हुए है—इसमे कोई सन्देह नही। ईसवी सन के हिसाब से उनकी जन्मतिथि ११ अगस्त, १८८२ है। यो मुझ से ठीक १० वर्ष बडे है। मै टडनजी को बाल्यकाल से जानता हू। तब से वह अपने सहयोगियो और भक्तो के 'बाबूजी' उसी प्रकार है जिस प्रकार गाधीजी उनके 'बापू' रहे।

भारतीय सस्कृति से पाश्चात्य सस्कृति की टक्कर लगने पर भारतीय राष्ट्रीयता दो रूपो मे जाग्रत हुई। एक मे भारतीय सस्कृति का प्राधान्य है, दूसरे मे पाश्चात्य सस्कृति का। बाबूजी उस रूप के प्रतीक है जिसके अन्तर्गत लोकमान्य तिलक, पजाबकेसरी लाजपतराय, महात्मा गाधी, देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद और सन्त विनोबा जैसे सर्वमान्य भारतीय नेता आते है। जवाहरलालजी दूसरे रूप के प्रतीक है जिसके अन्तर्गत गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, चित्तरजनदास और सुभाषचन्द्र वसु जैसे उतने ही मान्य नेताओ की गणना है। स्वातन्त्र्य-सघर्ष के इतिहास मे इन दोनो के मध्य मतभेद अथवा विरोध की झलक हमे मिलती है। परन्तु गभीर और निष्पक्ष विचार के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि भारतीय राष्ट्रीयता के ये दोनो रूप एक-दूसरे के पूरक है। भारतीय राष्ट्रीयता का विकास प्रगति के इन दोनो पहियो पर हो रहा है।

बाबूजी को जब मैने पहली बार देखा, कदाचित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के किसी अधिवेशन मे, तब वह दाढी नही रखाए हुए थे। परन्तु पतलून पहने, कर्जन फैशन, मैने उन्हे कभी नही देखा। बाबूजी कई पुत्र-पुत्रियो के पिता है। मै सभी पुत्रो से परिचित हू। 'बाढे पुत्र पिता के कर्मा'। मेरी कुछ ऐसी धारणा है कि जिन भारतीय नेताओ ने स्वातन्त्र्य-सघर्ष मे गाधीजी का साथ दिया, उनमे अधिकाश अपनी सन्ततियो की देखभाल नही कर सके, जिस कारण जनता का मान प्राप्त करके भी वे गृह-सुख से वचित रहे। टडनजी का गार्हस्थ जीवन इस धारणा का अपवाद है। वह भी अपने पुत्र-पुत्रियो की यथेष्ट देखभाल नही कर सके। एम०ए०, एल०एल० बी० होकर उन्होने वकालत का पेशा अपनाया। इतने मेधावी थे कि उनकी गणना बहुत शीघ्र इलाहाबाद के बडे वकीलो मे होने लगी। परन्तु सार्वजनिक सेवा के आकर्षण ने लक्ष्मी-लालसा पर बाजी मार ली। गोखलेजी ने सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी के लिए शिक्षित युवको की भरती प्रारम्भ की, तो लाजपतरायजी ने सर्वेट्स आफ दी पीपुल सोसाइटी के लिए भरती की और बाबूजी उनके प्रथम अनुगामी हुए। यो यौवनकाल मे ही उन्होने त्याग का मार्ग पकडा। गृहस्थ थे ही। बच्चो के पालन-पोषण का भार उठाते हुए भी वह अपने व्रत से विचलित नहीं हुए। पुत्रियो के विवाह का सफल निर्वाह उन्हे करना ही था, जिस कारण लाजपतरायजी उन्हे कुछ समय तक नाभा-नरेश और पजाब नेशनल बेक की वैतनिक सेवा के लिए विवश कर सके। दायित्व-भार से मुक्त होते ही बाबूजी ने फिर जन-जनार्दन की अवैतनिक सेवा का मार्ग अपनाया। इस मार्ग मे उन्हे अत्यधिक कठिनाइयो का सामना करना पडा, परन्तु वह तो स्थितप्रज्ञ रहे ही, उनके पुण्य सन्तति मे भी फलीभूत हुए है, यह मेरे जैसे साधारण गृही के लिए बड़े गौरव की बात है। बाबूजी के छः पुत्र है। सब अपने-अपने क्षेत्र के सफल नाग-

रिक, सब पिता जैसे सच्चरित्र, सब सुखी गृहस्थ।

इस समय बाबूजी रोगग्रस्त है। कांग्रेस के अध्यक्ष होने पर जवाहरलालजी नेहरू से उनका मतभेद हुआ, तो काग्रेस की एकता की रक्षा के लिए उन्होने जवाहरलालजी को अपने आसन पर आसीन किया। तब से बाबूजी राजनीति की ओर से विरक्त है। लोक-सभा के लिए उनका निर्विरोध चुनाव हुआ तो लोक-सभा की सदस्यता के लिए राजी हुए। इधर स्वास्थ्य के बिगडने पर बाबूजी ने लोक-सभा की सदस्यता मे इन्कार किया, तो राज्य-सभा की सदस्यता के लिए राजी कर लिए गए। कुछ समय तक राज्य-सभा के सदस्य रहने पर जब बाबूजी को शैया की शरण लेनी पडी तो हाल ही मे राज्य-सभा की सदस्यता भी आपने छोड दी है।

बाबूजी कुनबापरस्त कभी रही रहे। सिफारिश करना तो इन्होने जाना ही नही। इनके पुत्रों तथा निकटस्थ सम्बन्धियो को इनमे इस बात की शिकायत है कि उन्हे बाबूजी से सिफारिश का सहारा कभी नही मिला। परिवार के सीमित सदस्यो की जो शिकायत है, वही उनके सार्वजनिक जीवन का दुर्लभ गुण है।

इधर कुछ समय से उत्तरप्रदेश की काग्रेस मे फूट है। एक बार इस फूट का प्रदर्शन प्रादेशिक विधान सभा मे भी हुआ। तब मुझे बाबूजी के सार्वजनिक जीवन मे सम्बन्ध मे एक घटना याद आई।

हमारा सविधान ब्रिटिश पार्लियामेट की परम्परा पर आधारित है। भारतीय नेताओ के स्वातन्त्र्य-सघर्ष मे समझौता करने के लिए अग्रेजो ने अपनी पार्लियामेटरी परम्परा का अभिनय भारत में किया। राष्ट्रपिता गाधी कभी इस अभिनय के भक्त नही हो सके, कभी इसमे सम्मिलित भी नही हुए। परन्तु उन्होने अपने अनुयायियो को इस अभिनय मे सम्मिलित होने की छूट अवश्य दे दी।

ब्रिटिश पार्लियामेट ब्रिटिश जनता के प्रतिनिधियो की सभा है। इस सभा के सभापति को स्पीकर कहते है। सभा मे बहुमत-प्राप्त दल का नेता ही शक्ति का प्रतीक होता है, परन्तु सर्वोच्च मान स्पीकर को ही प्राप्त है। वह जनतंत्र तथा विचार-स्वातन्त्र्य का रक्षक और नियत्रक माना जाता है। सभा मे उसे वही पद प्राप्त है जो न्यायालय मे न्यायाधीश को। गर्म विवाद के मध्य ठडी और सर्वमान्य व्यवस्था देना उसका प्रधान गुण माना जाता है। इस कसौटी पर भारतीय स्पीकरो मे सर्वसम्मति से प्रमुख पद स्वर्गीय विट्ठलभाई पटेल (स्वर्गीय सरदार पटेल के बडे भाई) और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन को प्राप्त है। विट्ठलभाईजी ने केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा का सर्वोच्च आसन सुशोभित किया और टडनजी ने उसी शान मे भारत के केन्द्रीय प्रान्त की सभा का सचालन किया। समय-समय पर दी गई दोनो की व्यवस्थाएं भारतीय जनतन्त्रात्मक शासन के इतिहास मे मान्य स्थान प्राप्त करेगी, इसमे सन्देह नही।

बाबूजी ने अपने दृढ निश्चय से ब्रिटिश स्पीकरी की एक परम्परा सफलतापूर्वक भग की। ब्रिटेन में किसी व्यक्ति के स्पीकर चुने जाने पर वह किसी दल का सक्रिय सदस्य नही रहता, वह दलगत राजनीति मे भाग लेना बन्द कर देता है। बाबूजी ने यह निश्चय किया कि वह इस विदेशी परम्परा का अनुकरण नही करेगे। वह काग्रेस के सक्रिय सदस्य रहे। परन्तु क्या मजाल, अध्यक्ष के आसन पर बैठकर कभी भी किसी दल का पक्ष लिया हो। एक बार इन्होने सुना कि उनके इस ढग मे विरोधी दल मे कुछ असतोष है। यह बात उस समय की है जब संयुक्त प्रान्त को पहली बार प्रातीय स्वराज्य मिला हुआ था और काग्रेस का बहुमत बहुत प्रबल था। बाबूजी ने असन्तोष की गध पाते ही यह सूचना दी कि विरोधी दलो के तीन नेता ही, सभा के मध्य नही, दफ्तर मे पहुचकर ही उनके प्रति अपना अविश्वास प्रकट करे, तो वह इस्तीफा दे देगे। उनकी इस सूचना से खलबली मच गई। विरोधियो मे प्रमुख पद छतारी के नवाब साहब को मुस्लिम लीग के नेता के हैसियत से प्राप्त था। उन्होने अपने सहयोगियो से कहा कि बाबूजी गनीमत है। उनके इस्तीफा देने पर काग्रेस दल का ही कोई सदस्य अध्यक्ष-पद पर आसीन होगा और कोई इतना निष्पक्ष, इतना सहृदय न होगा, जितने बाबूजी है। यो बाबूजी का इस्तीफा उनकी जेब ही मे पडा रहा।

काल-चक्र की प्रगति मे एक शुभ घडी आई जब अग्रेज गाधीजी का 'भारत छोडो' आह्वान स्वीकार करने के लिए राजी ही नही, उतावले भी हो गए। परन्तु हिन्दू-मुस्लिम फूट का विषवृक्ष यथेष्ट पुष्पित-पल्लवित हो चुका था। भारत को दो भागो मे बाटकर ही स्वतन्त्र करने का मार्ग अग्रेज राजनीतिज्ञो को दिखा। गाधीजी देश के विभाजन

के पक्ष मे न थे। बाबूजी का मौलाना आजाद साहब से मतभेद रहा करता था, परन्तु, जैसा कि अब उनकी आत्मकथा से प्रत्यक्ष होता है, देश की एकता के पक्ष मे दोनो एक-दिल थे। तत्कालीन वातावरण मे देश की एकता की रक्षा करना कठिन अवश्य था, इस उद्योग मे गृह-युद्ध का भी भय था, परन्तु ये तीनो नेता इसके लिए भी तैयार थे। मौलाना साहब सच्चे मुस्लिम थे, उसी प्रकार जैसे गाधीजी सच्चे हिन्दू थे। परन्तु दूषित वातावरण मे मुस्लिम और हिन्दू जनता को दोनो ही अपने-अपने बैरी दिखे। मौलाना साहब का यह कथन है कि देश के बटने पर उसकी मुस्लिम जनता तीन भागो मे बट गई—पश्चिमी पाकिस्तान, भारत और पूर्वी पाकिस्तान—जिस कारण विभाजन से प्रमुख हानि भारतीय मुस्लिमो की ही हुई है। उनके इस कटु सत्य का ज्ञान भारतीय और बगाली मुस्लिमो को तो थोडा-बहुत हो गया है, भारत का स्वर्णिम भविष्य उस घडी की प्रतीक्षा मे है जब पश्चिमी पाकिस्तान के मुस्लिम भी तीनो भागो के सप्रेम एकीकरण के पक्ष मे होगे।

पता नही कि देश के स्वतन्त्र होने पर १५ अगस्त १९४७ के उत्सव मे मौलाना साहब सम्मिलित हुए कि नही, परन्तु गाधीजी और बाबूजी उत्सव मे सम्मिलित नही हुए। बाबूजी की आत्मा तो उस दिन पजाब के उन निरीह नर-नारियो के आर्तनाद मे तडप रही थी जो लाखो की सख्या मे मारे जा रहे थे या जान लेकर भारतीय भाग की ओर भागे आ रहे थे।

बाबूजी हिन्दी के पुराने भक्त है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के सस्थापक बाबू श्यामसुन्दरदास और प० रामनारायणजी मिश्र जैसे हिन्दी के बनारसी भक्त थे। सन १९१० मे देश के हिन्दी-भक्तो का प्रथम सम्मेलन प्रयाग मे बाबूजी के उद्योग से हुआ। यो बाबूजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सस्थापक है। बाबूजी सार्वजनिक सेवा से लगे और गाधीजी के नेतृत्व मे स्वातन्त्र्य-सघर्ष के उग्र होने पर उनकी गणना काग्रेस के नेताओ मे होने लगी। सघर्ष के प्रारम्भिक काल मे गाधीजी हिन्दी के भक्त रहे। सन् १९१६ के फरवरी मास मे काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर मुझे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन मे गाधीजी के प्रथम दर्शन हुए, जब उन्होने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के योग्य माना। कई वर्ष पश्चात गाधीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सर्वोच्च आसन ग्रहण करने के लिए निमन्त्रित हुए और उनके उद्योग से सुदूर दक्षिण मे दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा स्थापित हुई जो तब से द्रविड भारत मे हिन्दी-प्रचार की बहुमूल्य सेवा कर रही है। कुछ समय पश्चात राजनीतिक प्रगति के अनुकूल गाधीजी ने हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी का पक्ष लेना प्रारम्भ किया। परन्तु बाबूजी हिन्दी के पक्ष मे अटल रहे।

वह समय भी आया जब हमे अपने स्वतन्त्र भारत का सविधान बनाने का मौका मिला। ऐसे समय बाबूजी के नेतृत्व मे सर्वसम्मति से हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हुआ।

यह बात सन १९४९-५० की है। हिन्दी के देश की राष्ट्रभाषा घोषित होने पर मै बहुत आनन्दित हुआ और हिन्दी साहित्य के सर्वांगीण निर्माण तथा हिन्दी भाषा के व्यापक प्रचार को मैने अपना बचा हुआ जीवन देना कर्तव्य समझा। उन्ही दिनो बाबूजी काग्रेस के प्रधान निर्वाचित हुए, तो मैने अपने मन की बात उनसे कहकर उनका आशीर्वाद लिया और प्रार्थनापत्र देकर अक्तूबर १९५१ मे कालीचरण कालेज की वैतनिक सेवा से मुक्त हुआ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ही मेरे निश्चय की पूर्ति का साधन हो सकता था। सो इधर मै उसकी सेवा के लिए स्वतन्त्र हुआ, तो उधर वह न्यायालय का बन्दी हुआ। यह हिन्दी और मेरे जैसे अकिंचन के लिए दुर्भाग्य की बात है तो बाबूजी के लिए मर्मस्पर्शी वेदना का प्रसग है, क्योकि सम्मेलन उन्ही की तपस्या का प्रतीक है। जब सम्मेलन से सक्रिय राष्ट्रीय सेवा लेने का समय आया तभी वह मुकदमेबाजी का शिकार हुआ। बाबूजी स्थितप्रज्ञ है। पारिवारिक मोह से मुक्त है। परन्तु अपने सार्वजनिक जीवन की इस प्रिय सतति के मोह से मुक्त नही हो सके है। रोग-ग्रस्त होने पर भी सम्मेलन के उद्धार की चिन्ता मे मग्न रहते है। चगे होकर सम्मेलन को सक्रिय राष्ट्रीय सेवा मे सलग्न वह देख ले, यही हम सब हिन्दी-सेवियो और बाबूजी के भक्तो की हार्दिक प्रार्थना है।

बाबूजी ने लिखा कम है, परन्तु उनका वचनामृत हमे प्रचुर मात्रा मे प्राप्त है। भारतीय स्वतन्त्रता के उषाकाल से सविधान परिषद और लोकसभा मे उनके भाषणो का सकलन "शासनपथ-निदर्शन" (आत्माराम एण्ड सस,

दिल्ली) के शीर्षक से मेरे सामने है। आजकल चीनी-अतिक्रमण देश की विकटतम समस्या है। बाबूजी ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति के पडित होने का दावा कभी नही किया है, परन्तु तिब्बत तक नवीन चीन को अधिकार बढ़ाने की स्वीकृति भारतीय शासन ने दे दी, तो जो चेतावनी बाबूजी ने लोकसभा मे दी, उसका मूल्य अब हमे दिखने लगा है। बाबूजी देश के प्रमुख सेवक ही नही है, भावी द्रष्टा भी है—यह रहस्य तो धीरे-धीरे भारतीय जनता और उसके शासनासीन नेताओ के सामने आना है। उनके 'शासनपथ-निदर्शन' को दीप-शिखा होकर शासनासीनों का पथ-दर्शन करना चाहिए।
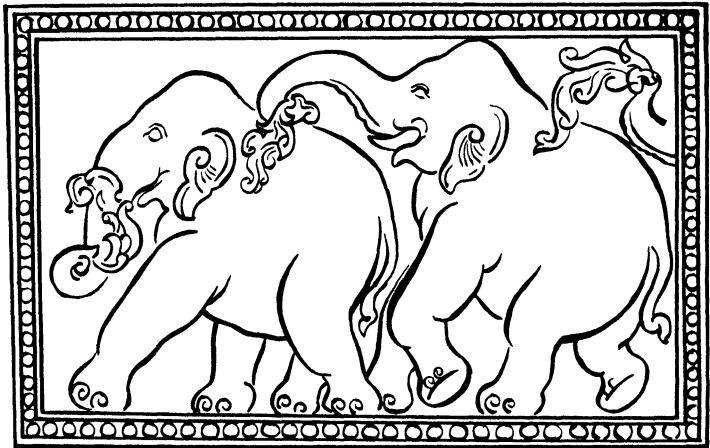
संत-शिरोमणि टंडनजी

डा० दीनदयाल गुप्त

मानव-समाज के परोपकारी सन्तजनो के आदर्श गुणो का जो व्याख्यान अपने अमर प्रबन्ध-काव्य 'रामचरित मानस' मे महात्मा तुलसीदास ने किया है उनमे से अनेक गुणो का समावेश, हम टडनजी के चरित्र मे पाते है। सतो के विषय मे महात्मा तुलसीदास ने कहा है—

षट विकार जित अनघ अकामा, अचल अकिंचन शुचि सुखधामा।
अमित बोध, अनीह, मितभोगी, सत्यसन्ध कवि कोविद योगी।
सावधान मानद मदहीना, धीर भक्ति पथ परम प्रवीना।
गुणागार संसार दुख, रहित विगत संदेह।
तजि मम चरण सरोज प्रिय, जिनके देह न गेह।।
निज गुण श्रवण सुनत सकुचाहीं, पर गुण सुनत अधिक हर्षाहीं।
सम शीतल नहिं त्यागहिं नीती, सरल स्वभाव सबहिं सन प्रीती।
जप तप व्रत दम संयम नेमा, गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा क्षमा मइत्री दाया, मुदिता मम पद प्रीति अमाया।
विरति विवेक विनय विज्ञाना, बोध यथारथ बेद पुराना।
दम्भ मान मद करहिं न काऊ, भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।
गावहिं सुनहिं सदा मन लीला, हेतु रहित पर हित रत शीला।

अरण्यकाण्ड

तथा

विषय अलम्पट शील गुणाकर, पर दुख-दुख सुख-सुख देखे पर।
सम अभूत रिपु बिमद विरागी, लोभामर्ष हर्ष भय त्यागी।
कोमल चित दीनन्ह पर दाया, मन बच क्रम मम भक्ति अमाया।
सबहि मानप्रद आपु अमानी, भरत प्रान सम मम ते प्रानी।
विगत काम मम नाम परायन, शांति बिरति बिनती मुदितायन।
शीतलता सरलता मइत्री, द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री।
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं, परुष बचन कबहूं नहिं बोलहिं।

उत्तरकाण्ड

श्रद्धेय टडनजी के पुनीत जीवन की झाकी मे सन्तो के उक्त गुण हमे चरितार्थ मिलते है। उनकी जीवन-घटनाओं में एक-एक गुण के उदाहरण मिल सकते है। उन्होने देश और समाज के कल्याण के लिए स्वार्थ-बुद्धि को त्याग कर तथा कर्तव्यनिष्ठ होकर कार्य किए है। उनकी दिनचर्या सदैव से संयम-नियम के पालन, मिताहार और मितभोग

के सद्गुणो से युक्त रही है। सत्य का पूरा आग्रह धारण कर वह सत्यसन्ध महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन मे सम्मिलित हुए थे और जीवन भर वह सत्य और अहिंसा के अनुगामी रहे है और आज भी है। वह दूसरे के कष्ट को अपना कष्ट और दूसरे के सुख को अपना सुख समझते है। अपनी निर्धारित दृढ-प्रतिज्ञ नीति से वे कभी विचलित नही होते, चाहे उन्हे कितने ही कष्ट झेलने पडे और कितने ही उनके विरोधी हों।

जब ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध महात्मा गाधी ने सन् १९२१ मे असहयोग आन्दोलन छेडा, तभी टडनजी अपने और अपने परिवार के सुखो को त्यागकर तथा देश-प्रेम और भारतीय जनता की सुख-भावना से प्रेरित होकर उस आन्दोलन मे कूद पड़े। उस समय भारत के अनेक विद्वान, धर्मशास्त्र के उद्‌भट पडित, और धनी-मानी व्यक्ति अपनी सुख-समृद्धि की आहुति देकर उस पुनीत यज्ञ मे सम्मिलित होगए थे। उन्हे साम्राज्यशाही की ओर से अनेक यातनाए दी गई, कारावास के कठिन दण्ड दिए गए, उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई, परन्तु उन्होने भारत की आजादी पाने के आग्रह को नही छोडा। टडनजी ने भी ये सभी यातनाए भुगती और बडी प्रसन्नता से उनका सामना किया। ज्यो-ज्यो साम्राज्यशाही की शोषण और दमननीति उग्र होती गई, त्यो-ही-त्यो स्वतन्त्रता-प्राप्ति का आन्दोलन भी भीषण होता गया। अनेक लाल इसमे न्योछावर होगए। महात्मा गाधी के साथ मे टडनजी जैसे वीर पुरुष निर्भीकता से डटे रहे और उन्होने देश को आजाद करके छोडा। टडनजी का समस्त जीवन कर्मवीरता और निर्भीकता का उदाहरण है।

टडनजी का स्वभाव बहुत शीतल, सरल, दम्भ-रहित और विनयी है। 'सादा जीवन और उच्च विचार' उनके जीवन का प्रेरक सिद्धान्त है। साथ मे झूठ, मक्कारी और बेईमानी के सामने वह उग्र भी है। वैसे सत्य और सन्मार्ग के सन्मुख वह सदैव विनयशील है। टंडनजी उच्चत्तम शिक्षा-प्राप्त विद्वान है और देश के चरित्रवान नेताओ मे है। वह उन 'गालबजावा' पडितो मे नही हैं, और न वह उन दम्भी वेशधारी तथाकथित नेताओ मे है जो अपने स्वार्थ और शक्ति-लाभ के लिए देश की एकता और सुख-समृद्धि को खतरे मे डालकर किसी भी असद कूटनीति का अवलम्बन ले सकते है, और जो समय-समय पर अपनी कथनी और करनी की नीति को बदलते रहते है। सत्य नीति को छोडकर अपने घर मे ही राजनीतिक चालबाजी बरतने की स्वार्थपूर्ण नीति आज अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक नेताओ के कृत्यो मे देखने को मिल सकती है। टडनजी की नीति कभी नही रही।

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय कौ सूल।।
निज भाषा उन्नति बिना, कबहुं न उन्नति होय।
लाख अनेक उपाय यों, भलें करो किन कोय।।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उक्त स्वर मे स्वर मिलाकर टडनजी ने भी इस सिद्धान्त को देशोन्नति का मूलमत्र घोषित किया और राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा को उन्ही ने देशहित के सब कार्यों मे प्राथमिकता दी। उन्होने इस सेवा-भावना से प्रेरित होकर हिन्दी के प्रसार और समृद्धि के लिए प्रयाग मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन को जन्म दिया। और वह ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन कराने के आन्दोलन के सूत्रधार बने और आज भी वह हिन्दी के हितो की रक्षा मे प्राणप्रण से लगे हुए है। भारतीय जनता और भारतीय सघ-शासन ने एक राष्ट्रभाषा की जिस नीति और सिद्धान्त की घोषणा की है उसको वह पूर्ण रूप मे शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित देखना चाहते है। अपनी वाणी से, लेखनी से तथा अपने कृत्यों से उनका यही सकल्प है कि जिस प्रकार किसी समय सस्कृत-भाषा ने समस्त भारत को, भारत को ही नही, समस्त दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशो को एक सूत्र मे बाधा था और सब को पारस्परिक सुख-दु.ख के प्रकट करने की एक सास्कृतिक वाणी दी थी, उसी प्रकार हिन्दी-भाषा भी समस्त भारत को भेदभाव की भावना से मुक्त कर एकता के एक दृढ सूत्र मे बाध दे।

मेरा सम्पर्क टडनजी से सन् १९२६ मे हुआ था, जब मै प्रयाग विश्वविद्यालय मे बी० ए० का विद्यार्थी था और वहा की हिन्दी-परिषद का मत्री था। हिन्दी के सम्बन्ध से ही मेरा परिचय टडनजी को मिला। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के छात्रों मे उनके सुपुत्र और मेरे मित्र श्री गुरुप्रसाद टडन भी थे जो आजकल ग्वालि-

यर मे हिन्दी के मुख्य प्रोफेसर है। सन् १९२८ ई० मे जब टडनजी लाहौर मे पजाब नेशनल बैंक के मत्री थे, मै लाहौर गया और लगभग १५ दिन अपने मित्र श्री गुरुप्रसाद टडन के साथ रहा। उस समय मै पूज्य टडनजी के और भी निकट आगया। मेरी पत्नी पर भी टडनजी का वात्सल्य स्नेह है। मेरे श्वसुर और वह बहुत पुराने मित्र है। प्रयाग मे उन्ही के घर से मेरी पत्नी असहयोग-आन्दोलन मे गिरफ्तार हुई थी और फिर दो वर्ष वह जेल मे रही।

लखनऊ विश्वविद्यालय मे अहिन्दी-भाषियो द्वारा हिन्दी का इतना विरोध नही हुआ है जितना हमारे उत्तरप्रदेश-वासी हिन्दी बोलने वाले महानुभावो द्वारा हुआ है और अब भी है। लखनऊ विश्वविद्यालय मे मेरी नियुक्ति सन् १९३० मे हुई थी और सन् १९३४ मे मै स्थायी रूप मे वहा नियुक्त होगया। उसके बाद मे मै बराबर यह प्रयत्न करता रहा कि वहा हिन्दी विषय मे एम० ए० की कक्षाए खुल जाय और हिन्दी का विभाग सस्कृत से अलग होकर एक स्वतन्त्र विभाग बन जाय। सन् १९३७ मे टडनजी तथा आचार्य नरेन्द्रदेवजी का सम्बन्ध लखनऊ विश्वविद्यालय मे होगया और टडनजी के प्रभाव मे एम० ए० कक्षाए खुल गई।

विश्वविद्यालय मे हिन्दी पढाने वाला मै केवल एक ही अध्यापक था। बडी कठिनाई से एक हिन्दी अध्यापक और मिला। उसकी नियुक्ति होने वाली थी। कई प्रार्थना-पत्र आए थे। प्रो० अय्यर (इस समय लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चासलर) उस समय सस्कृत-हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे परन्तु हिन्दी का कार्यभार उन्होने मेरे ऊपर ही छोड रखा था, यह उनकी उदारता थी। इस नियुक्ति के लिए मेरे मित्र श्री गुरुप्रसाद टडन ने भी प्रार्थना-पत्र भेजा था। श्री गुरुप्रसाद टडन सदैव प्रथम कोटि के एक सुयोग्य और बुद्धिशाली विद्यार्थी रहे थे, मै चाहता था कि उनकी नियुक्ति मेरे साथ हो जाय। प्रो० अय्यर तक तो मेरी पहुच थी परन्तु इस मामले में टडनजी तथा आचार्य नरेन्द्रदेव तक पहुच नही थी। यद्यपि दोनो विभूतिया मुझे भली प्रकार जानती थी। उस समय तक मुझे ज्ञात नही था कि किस-किस सज्जन के प्रार्थना-पत्र आए थे। प्रोफेसर अय्यर से कहने के पहले मै टडनजी के पास गया। वह उस समय प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष थे। टडनजी से मैने कहा कि यदि वह दो शब्द गुरुप्रसादजी के पक्ष मे आचार्य नरेन्द्रदेव और श्री चन्द्रभानु गुप्त से कह दे तो निश्चय ही कार्य-सिद्धि हो जाय। जस्टिस श्रीवास्तव का, जो विश्वविद्यालय की प्रबन्ध-समिति के एक प्रभावशाली व्यक्ति थे, मै कृपापात्र था। श्री गुरुप्रसाद टडन की नियुक्ति को उनकी योग्यता और व्यक्तित्व के कारण वह अवश्य स्वीकार कर लेते। उस समय टडनजी ने मुझसे झिडककर कहा कि तुम मुझसे ऐसा कार्य करने को कहते हो जिसे मै कभी नही कर सकता और उन्होने विश्वविद्यालय मे श्री गुरुप्रसाद टडन की नियुक्ति के विषय मे कही चर्चा तक नही की। आचार्य नरेन्द्रदेव विशेषज्ञ बनाए गए थे। उन्होने टडनजी के पुत्र को नही लिया। डा० बडथ्वाल को नियुक्त किया। टडनजी चाहते तो उस समय दोनो की नियुक्ति हो सकती थी। गुरुप्रसादजी का कुछ रिसर्च-कार्य भी था। उनकी वक्तृत्व-कला, प्रभावशाली व्यक्तित्व और विद्यार्थी-जीवन की योग्य श्रेणिया ये गुण डा० बडथ्वाल से किसी अश मे बडे ही थे। रिसर्च-डिग्री केवल डा० बडथ्वाल के पास ही थी। इस प्रकार श्री गुरुप्रसाद टडन की नियुक्ति भी उपयुक्त ही होती। इधर आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा डा० बडथ्वाल की नियुक्ति भी न्यायोचित ही की गई थी। उस समय टडनजी ने स्वार्थ-हित को ठुकरा दिया। बाद मे भी नियुक्तिया हुई, परन्तु टडनजी ने आचार्यजी से जिक्र तक नही किया। उनके जीवन के अनेक ऐसे दृष्टान्त है, जहा उन्होने अपने स्वार्थ-सुखो की अवहेलना कर उन्हे पर-हित के लिए उत्सर्ग किया है और सत्य और न्याय की ओर झुके है।

ज्योति-स्तम्भ टंडनजी

डा० युद्धवीरसिंह

परम पूज्य टडनजी उन नेताओं मे से हैं जिनके जितना निकट जाइये उतना ही उनके प्रति आदर, श्रद्धा व प्रेम बढेगा। अधिकतर नेता बाहर से कुछ और होते है और भीतर से कुछ और; मगर पूज्य टडनजी का बाहर और भीतर सब एक है। जितने वह सख्त है उतने ही नरम भी है। वे असत्य, पाखड और दम्भ से जितनी घृणा करते है उतना ही इन व्यसनो मे पडे व्यक्ति मे प्रेम भी करते है। हमारा दुर्भाग्य है कि राजनीतिक क्षेत्र मे हमने उनको न तो उनके योग्य स्थान दिया और न हम उनका पूरा लाभ उठा सके। यदि वह पूरे दो वर्ष भी काग्रेस के प्रधान रह जाते तो निश्चय ही काग्रेस-सगठन को बहुत सी अपवित्रताओ से पाक कर जाते।

यो तो उनको मै वर्षों से जानता था और एक जिद्दी और सख्त नेता समझकर उनसे डरता भी था; मगर मेरा अधिक सम्पर्क पडा उन दिनो जब वे काग्रेस के प्रधान थे और मै दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी का प्रधान। मेरे कार्य मे असतुष्ट बहुत मे लोग मेरी अनेक शिकायतें काग्रेस-प्रधान से किया करते थे। टडनजी के पहले स्व० श्री पट्टाभि सीतारामैय्या काग्रेस-अध्यक्ष थे। मेरी प्राय उनके सामने पेशी होती और वह कुछ मुझे कह देते और कुछ शिकायत करने वालो को, और बात खतम हो जाती। कोई निर्णय न होता। जब टडनजी काग्रेस-अध्यक्ष की गद्दी पर आये तो ज्यो ही मेरी पहली शिकायत उनके पास पहुची तो मेरी तलबी हुई। मगर मै देखकर हैरान रह गया कि उन्होने सारे मामले की छानबीन की। मेरी बात सुनी। दूसरे पक्ष की भी सुनी और मुझे व दूसरे पक्ष दोनो को निर्णयात्मक आदेश दिया। मुझे जो कुछ करना था बता दिया और दूसरे पक्ष को भी कह दिया कि बस इतना ही होगा, इससे अधिक नही हो सकता। प्रशासन मे स्थिरता आ गई और मै बहुत प्रसन्न हुआ। किसी मामले को आप टालते नही थे, उसकी छानबीन कर ठीक-ठीक निर्णय कर देते थे। प्रशासन की कुशलता इस मे ही है कि निर्णय शीघ्र और स्पष्ट हो। मेरा काम प्राय पडता ही गया और हर बार मै यही धारणा लेकर आता कि पूज्य टडनजी एक सुयोग्य प्रशासक है। एक दिन किसी विषय मे मै अपनी कठिनाइया वर्णन करने लगा तो जो कुछ मै कहना चाहता था वह तुरन्त समझ गए और बोले, "तुम यही कठिनाइया वर्णन करना चाहते हो न?" मैने साश्चर्य कहा—"जी हा!" और मै प्रश्नसूचक भाव से उनकी तरफ देखने लगा। मेरा मतलब था कि मेरी कठिनाइया वह कैसे समझ गए? मेरा भाव वह ताड गए और बोले, "मै स्वय इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड का चेयरमैन रहा हू। मै जानता हू, एक चेयरमैन को किन-किन कठिनाइयो का सामना करना पडता है।" इस दुबले-पतले राजर्षि के चरणो मे मेरा मस्तक झुक गया। थोडे से दिनो मे ही स्वार्थी, दम्भी व अवसरवादी लोग टडनजी मे भयभीत हो गए थे और नि स्वार्थी, देशप्रेमी सच्चे काग्रेसी उभरने लगे थे, मगर शायद भगवान को यह मजूर न था और यह सारा कार्य टडनजी के अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र देने के साथ ही समाप्त हो गया और अवसरवादियो के घर घी के चिराग जल गए।

इस तरह सम्पर्क मे आने के बाद टडनजी का स्नेह मुझ पर बढ गया। मै यदा-कदा दर्शन करता रहा और प्रेरणा प्राप्त करता रहा। एक दिन अपने वार्ड में झडे की सलामी के लिए टडनजी को मैने आमन्त्रित किया। पधारे और दस मिनट मे जो भाषण दिया वह चाबुक-सा लगा। देश मे दरिद्रता दूर करने के लिए बोलते हुए उनके हृदय से

खादी और चख के लिए उद्गार निकले। कहने लगे कि देश के लिए यदि तुम खादी भी नही पहन सकते तो और क्या करोगे ? बिना आवेश के दृढतापूर्वक बोले—"लीडर बन गए है, दो-दो फाउन्टेन जेब मे लगा रखे है। अपने परिग्रह का प्रदर्शन कर रहे है पर देश के दरिद्रो का खयाल ही नही है।" परिग्रह के सम्बन्ध मे यह फटकार मुझे बहुत चुभी। मेरी जेब मे भी उस समय दो फाउन्टेनपैन थे। एक दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी के प्रधान का और एक अपना निजी। ये वाक्य पूज्य टडनजी ने कोई मुझे लक्ष्य करके नही कहे थे, पर थे ठीक। दो फाउन्टेनपैनो का प्रदर्शन, कम-से-कम, मुझे तो नही करना चाहिए था। और उस दिन मुझे अपरिग्रह का अच्छा सबक मिला।

कुछ दिनो बाद मै बीमार हो गया। बीमारी लम्बी चली। क्या देखता हू कि राजर्षि अचानक मेरी रोग-शय्या के पास बैठे है और एक पिता की तरह मुझसे रोग की पूछताछ कर रहे है। मुझे कुछ चिकित्सा-सबधी आदेश दिए। हिम्मत बढाई और आशीर्वाद दिया, और उसी दिन उन्होने मेरे ऊपर दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भार सौपा। रोगी होते हुए भी मुझे इन्कार करने की हिम्मत ही कैसे हो सकती थी। मैने देखा कि पहाड की तरह महान इस कठोर महापुरुष का हृदय कितना कोमल है। मुझ जैसे तुच्छ दासानुदास की खबर लेने भी मेरे घर आ पहुचे यह राजर्षि ! मै कृत-कृत्य हो गया। मेरा घर पवित्र हो गया।

टडनजी सचमुच ऋषि है। वह एक ज्योति-स्तम्भ है, जो सदा-सर्वदा उनका मार्गदर्शन करेगे जो मार्ग-दर्शन चाहते है। मगर जो लोग देखना ही नही चाहते, चारो ओर प्रसारित होने वाले इस प्रकाश-पुज से लाभ उठाना ही नही चाहते वे उस चट्टान से टकराकर नष्ट हो जाएगे जिस पर यह 'ज्योतिषा ज्योति' प्रकाश-स्तम्भ खडा है।
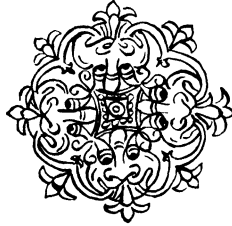
निष्ठा और तितिक्षा के कुछ संस्मरण

श्री मौलिचन्द्र शर्मा

हिन्दी-सेवियो मे राजर्षि टडन 'बाबूजी' कहलाते है। इस नाम मे कितना स्नेह, कितनी ममता, कितनी आत्मीयता और आदर भरा है ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भरतपुर-अधिवेशन मे मैंने बाबू जी को पहले-पहल देखा था। तब मै नवयुवक था। बाबूजी भी युवा थे। मै अपने पूज्य पिताजी के साथ गया था। हिन्दी-जगत के अनेक पुराने धुरन्धर मञ्च पर विराज रहे थे। तब भी बाबूजी ही सम्मेलन के समस्त कार्यों के सचालक और नीति-निर्णायक थे। मुझे उस सम्मेलन की बाते स्मरण नही, परन्तु मन पर प्रभाव यही पडा था कि उन्हे उसी प्रकार हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का विश्वास था जिस प्रकार मेरे पिता को हिन्दू धर्म की अनन्त सत्ता और सनातनत्व में। उस पीढी के उन सदृश निष्ठावान् नेताओ ने ही देश को उठा लिया। तब उनके विचार स्वप्न मे दीखते थे—सुन्दर, मोहक, हवाई और अनिश्चित। अब देख रहे है कि वे स्वप्न ही थे। परन्तु अब भी उन्हे नवजीवन मे मूर्तिमान होते और बहुत दशक लगेगे।

फिर बाबूजी के दर्शन जयपुर-सम्मेलन मे १९४४ मे हुए। स्वर्गीय गोस्वामी गणेशदत्तजी सभापति थे। मै टेहरी-गढवाल राज्य के मन्त्रित्व से त्यागपत्र देकर सुस्ता रहा था। सम्मेलन का निमत्रण पाकर जयपुर पहुचा। तब भी सदा की भाति हिन्दी के लिए सरकार से सघर्ष करना होता था। मुझसे बाबूजी ने पूछा कि भविष्य मे क्या करना है, तो मैने अपना विचार यही बतलाया कि अब वापस नौकरी पर नही जाना, बन पडेगा तो सार्वजनिक सेवा ही करूगा। उन्होने हिन्दी की सेवा का राष्ट्रीय महत्त्व बतलाते हुए मुझे प्रेरणा की। मैने नतमस्तक होकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। मै सम्मेलन का प्रधान मत्री चुन लिया गया।

कई वर्ष प्रधान मत्री और फिर उपसभापति रहा। इस लम्ब काल मे मुझे बाबूजी के अत्यन्त निकट रहकर उन्हे देखने का अवसर मिला। मै रहता दिल्ली था और सम्मेलन के कार्य के लिए बराबर प्रयाग जाना होता था। वहा सम्मेलन मे 'सत्यनारायण-कुटीर' मे बैठता। बाबूजी को मेरे भोजन, स्वास्थ्य और आराम की इतनी चिन्ता रहती कि प्राय मुझे लज्जित होना पडता था। एक दिन जब मै कुटीर मे पहुचा तो बाबूजी को चपरासी के साथ कमरे मे दरी बिछाते पाया। बोले, मेरी पहुच की सूचना देर मे मिली, अत तैयारी के लिए समय नही बच रहा था। वह मानो किसी कमी के लिए स्पष्टीकरण कर रहे थे। मै सोचता रहा कि सभापति, मत्री आदि कोई भी हो, पर सम्मेलन तो स्वय बाबूजी है। वह मूर्तिमान सस्था है, व्यक्तिमात्र नही।

मेरे भोजन की व्यवस्था वह स्वय करते थे, किसी पर छोडते न थे। कभी अपने घर बुलाकर साथ खिलाते। माताजी स्वय खाना परोसती। स्नेह-भरा वह भोजन कितना रसभीना होता। टडनजी आग्रह कर-करके खिलाते। मै यह एकबारगी भूल जाता था कि उस भोजन मे नमक, मिर्च, मसाला, चीनी, तेल, दूध दही, घी आदि सब वर्जित था। ऐसी तितिक्षा मैने और कही नही देखी।

बाबूजी सोचते स्पष्ट है और बोलते भी स्पष्ट और निश्चयात्मक ढग से है, परन्तु लिखते उन्हे देर लगती है। लिखकर कई बार उसका शोधन करते उन्हे देखा है। कही किसी शब्द का भाव कठोर न हो, उसमे सत्य से हटी

हुई कोई बात न हो, भाषा में मिठास की कमी न रह जाय और व्याकरण तथा मुहावरे मे भी चुस्त हो—यही सब सोच वह लेखों को बार-बार बदलते रहते हैं ।

उनकी बैठक का दृश्य भी रोचक होता है। नये और पुराने कागज-पत्र फर्श पर चारों ओर बिखरे रहते है, बीच मे बाबूजी बैठे होते है। आप जाइए तो कागज समेट कर स्थान बनाते हुए वह आपको पास बिठाने का शिष्ट आग्रह करेंगे। जैसे उनके केश कभी तेल-कघी कर सवारे नही गए, वैसे ही वे सब कागज-पत्र सदा बिखरे रहना पसन्द करते है। अब भी, जब वह शैयाशायी है, यह दृश्य बना ही रहता है। इसके बिना उसका मन शायद डूब जाय।

हिन्दी के लिए उनकी दृढ निष्ठा दो बडे बार उग्र और तेजस्वी रूप मे मैने देखी। एक तो जब गाधीजी दो लिपियो वाली मिली-जुली हिन्दुस्तानी चलाने का आग्रह ले बैठे थे। तब स्वराज्य के बडे लाभ को सामने रखकर अल्प-सख्यको की तुष्टि के लिए जो अनेक समझौते किये गए, उनमे यह भी एक था, जिसे अधिकतर काग्रेसजन मान गए थे। मन से नही भी मानते थे तो अनुशासन मे चलने को तैयार थे। केवल एक टडनजी का तेजस्वी व्यक्तित्व था जिसने राष्ट्रीयता की प्रतीक हिन्दी के विरूप किए जाने के इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार नही किया। इस विषय को लेकर गाधीजी ने सम्मेलन छोडने की बात बाबूजी को लिखी तो वह बहुत दुखी हुए। फिर भी सिद्धान्त-रक्षा के लिए मन कडा करके उन्होने सम्मेलन को दृढतापूर्वक उनका त्यागपत्र स्वीकार करने को कहा और सर्वसम्मति से वह सखेद स्वीकार कर लिया गया। टडनजी की इसी दृढता ने हिन्दी के उस शुद्ध रूप की रक्षा की, जिस रूप मे आज वह भारत की राज्य भाषा होने जा रही है। उन के तप पूत व्यक्तित्व के ही कारण गाधीजी के अलग हो जाने पर भी सम्मेलन के सामर्थ्य मे कोई कमी नही आई। वह सदा की भाति हिन्दी जनता की प्रतिनिधि सस्था बना रहा।

राजनीतिक क्षेत्र मे बाबूजी का स्थान बहुत ऊंचा है। वह उन थोडे से लोगो मे है जो सिद्धान्त के विषयो पर किसी से दबकर अपना मत स्पष्ट प्रकट कहने मे नही चूकते। महात्मा गाधी की दु खद हत्या के बाद राष्ट्रीय स्वय-सेवक सघ पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। दसो सहस्र स्वय-सेवक उसका विरोध करते जेल गए। मेरा अनुभव था कि सघ उन दिनो पाकिस्तान मे विस्थापित होकर आए भाई-बहनो की सेवा के राष्ट्रीय कार्य मे तत्पर था और उसका बड़ा उपयोग था। जिसने हत्या की थी, उसका अभियोग चालू था और उसके साथ सघ के सम्बन्ध का कोई प्रमाण नही था। इस कारण प्रतिबन्ध और धर-पकड को मै अनुचित मानता था। इस विषय मे आवाज उठाने के लिए कुछ मित्रो की सहायता से 'जन-अधिकार समिति' नाम से एक सस्था स्थापित की और उत्तर भारत के अनेक नगरो मे उसके तत्त्वावधान मे इस विषय मे लोगो ने जोरदार आवाज उठाई। बाबूजी काग्रेस के धुरन्धर और भावी प्रधान थे। मैने उनसे इसी विषय पर बोलने को कहा। वे बोले और डटकर बोले। दिल्ली के प्रसिद्ध गाधी मैदान मे २०-२५ हजार जनता ने मत्र-मुग्ध की भाति उन्हे प्राय दो घण्टे तक सुना। उस सभा के सभापति थे केन्द्रीय शासन के मत्री श्री न० वि० गाडगिल। वह भी वैसे ही सिद्धान्ती पुरुष है।

ईमानदारी किसे कहते है यह कोई बाबूजी से सीखे। 'निष्ठा' शब्द का अर्थ उनके पास रहकर, उनके जीवन के अध्ययन से ही समझ मे आता है। धर्म उनके लिए पुस्तको मे पढने और दुनिया को उपदेश देने मात्र की वस्तु नही—पर-उपदेश-कुशल और होते है—बाबूजी का जीवन धर्म का प्रत्यक्ष नमूना है। वह उन बिरले लोगो मे है जिनका प्रत्येक कर्म धर्म-प्रेरित ही होता है, अन्यथा होना सम्भव ही नही। वह गृहस्थ है, ससार का त्याग उन्होने नही किया, राजनीति का भी त्याग नही किया, सार्वजनिक कार्यों के निर्वाह मे नीति भी बरतते है, परन्तु इस सब क्रिया-कलाप मे वह निष्काम और धर्म-प्रेरित रहते है। वह कर्मयोगी है और 'योग कर्मसु कौशलम्' के उदाहरण है। उन्होने जीने की कला सीखी है, इसीलिए जीवन की इस सन्ध्या मे वह प्रसन्न, आप्त-काम और सुस्थचित्त है।

जितना सोचता हू, यही लगता है कि जो क्षण उनके सान्निध्य मे बीते, वे धन्य हो गए।

पुण्यतीर्थ टंडनजी

श्री वसन्तराव ग्रोक

युग-पुरुष राजर्षि टण्डनजी के सार्थक नाम पुरुषोत्तमदास तथा उनकी महानताग्रों मे ग्राज कौन नही परिचित है? भारत मे वह इस देश के लिए वरदान-स्वरूप पैदा हुए। इसलिए भारत को उन्हे ग्रपना कहने में गर्व होता है। उनका व्यक्तित्व एक पुण्य-तीर्थ के समान है, जिसका दर्शन-लाभ कर कोई भी कृतार्थ हो जाता है। धन्य है वे लोग, जो उनके सम्पर्क मे थोडी-सी देर के लिए भी ग्राए है। ऐसे महापुरुषो का सान्निध्य प्राप्त करना वास्तव मे एक बडे सौभाग्य की बात होती है।

भाग्यवश यह सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुग्रा है। सन् १९४७ ई० की बात है। बाबूजी उस समय दिल्ली ग्राये हुए थे। तब देश-विभाजन का प्रश्न चल रहा था। वह लोक सेवक सघ के कार्यालय मे ठहरे हुए थे। मै उनके दर्शन करने गया। प्रथम दर्शन मे ही उनके व्यक्तित्व की जो छाप मेरे ऊपर पडी, वह ग्रवर्णनीय है। मै उनमे कई विषयो पर चर्चा करना चाहता था, किन्तु उस समय ग्रन्य प्रकार की बाते करना समय के ग्रनुकूल न होता। इसलिए मैने देश-विभाजन का ही प्रसग लेकर उनमे उनकी ग्रसली राय जानने के लिए प्रश्न किया। बाबूजी ग्रत्यन्त क्षुब्ध होकर कहने लगे कि विभाजन का प्रश्न कभी उठता ही नही, यदि देश मे पृथक निर्वाचन-प्रणाली (एलेक्टोरेट) की प्रथा न चलाई जाती। यह सबमे बडी गलती हुई है। इस निर्वाचन-प्रणाली की मान्यता मे ही विभाजन के बीज बो दिये गए। जब बाबूजी ये बाते कह रहे थे, उस समय उनके शब्दो मे उनके हृदय की पीडा स्पष्ट निकलती हुई प्रतीत हो रही थी। वह तो हिन्दू-मुसलमान को भारतीयता की दृष्टि से एक मानते है। उनका कहना था कि भारत हम सबका एक देश है। हम सबकी सस्कृति एव सामाजिक परम्पराए समान है। उन पर हमारा समान रूप से ग्रधिकार है। हम किसी भी धर्म के हो, हमारी सस्कृति एक है—भारतीय सस्कृति। मुसलमानो के लिए उन्होने कहा कि वे यदि रोजा पढते है तो बेशक पढे, लेकिन पश्चिम मे, यानी मक्का की ग्रोर, मुह न करके पूर्व को ग्रयोध्या की ग्रोर मुह करके पढना चाहिए। इसी प्रकार रोजा तोडते समय वे लोग मक्का मे ग्राई हुई खजूर न खाकर भारतीय गाय का दूध पिए। किन्तु देश का विभाजन हो ही गया ग्रौर देश के इस महान प्रेमी का हृदय भी विदीर्ण हो गया।

विभाजन के बाद एक समय उन्होने कहा था, "देश का विभाजन होगया है। यह हमारे माथे पर कलक का टीका लगा है। ग्रत ग्रब मेरे सिर पर कोई दो हथौडे भी मारे तो भी मुझे कुछ महसूस न होगा।" उनका मत है कि नेताग्रो ने द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त को मान लिया। इन्हे ग्रपनी कमजोरी का ज्ञान नही है। ये राजनीति को राष्ट्रीयता का ग्राधार मानते है। राष्ट्रीयता का ग्राधार तो सस्कृति होती है। एक देश मे एक सस्कृति होनी चाहिए, जिसके सूत्र मे वहा के प्रत्येक देशवासी को बधा रहना चाहिए।

उनकी धारणा है, भारतीय सस्कृति की ग्रभिव्यक्ति हिन्दी के माध्यम मे हो सकती है। हिन्दी को इसीलिए इन्होने इतना मान दिया ग्रौर इसके लिए ग्रपना सम्पूर्ण जीवन होम दिया। मै कोई साहित्यिक व्यक्ति नही हू। मेरे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे ग्राने का कोई विशेष कारण नही था। इसका एकमात्र कारण बाबूजी मे इसके महत्त्व ग्रौर रहस्य को जानना था। हिन्दी भाषा के लिए मुझे उन्होने ही ग्रनुप्राणित किया था। उनका ग्रादेश पाकर मै हिन्दी का काम करने

के लिए इस क्षेत्र मे आया। सन् १९४९ मे राष्ट्र-गीत तथा राष्ट्रभाषा-आन्दोलन के समय वह विधान-निर्मात्री सभा की बैठक मे दिल्ली आए थे। उस समय मैने अपने साथियो के सहयोग मे उक्त विषयो पर जनमत-सग्रह करवाया था। और देश भर से करोडो आदमियो के हस्ताक्षर राष्ट्र-गीत 'वन्दे मातरम्' और राष्ट्रभाषा हिन्दी के पक्ष मे कराकर ससद मे प्रस्तुत किए थे।

एक बार की बात है, मै उनमे लोक सेवक सघ के कार्यालय मे मिलने गया था। वहा कुछ और लोग बैठे थे। उन्होने सेवक को बुलाकर बाजार से गुड लाने को कहा। राशन का समय था। कट्रौल-भाव मे गुड पाच आना सेर था, किन्तु इस भाव पर मिलना मुश्किल था। इसलिए सेवक ब्लैक से सात आना सेर के हिसाब से ले आया। खाते समय बाबूजी ने सेवक से गुड का भाव पूछा। उसने सात आने सेर बताया। बाबूजी तुरन्त ही खाते-खाते रुक गए और मुह-लगाया गुड का टुकडा किनारे रख दिया। कहने लगे, "ब्लैक से लाया माल खाना पाप है।" उन्होने नौकर को डाटा। उस समय उनकी मुद्रा देखने लायक थी। हम सब लोग यह देखकर बहुत विस्मित हुए। उनकी उस दृढता के लिए हम लोगो के मन मे उनके प्रति अपार मान उमड आया।

मुझे बाबूजी का पितृतुल्य वात्सल्य पाने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। सन् १९५५ की बात है, १५ अगस्त से पहले गोआ जाने के लिए सत्याग्रही मेरे साथ जा रहे थे। मै बाबूजी से आशीर्वाद लेने के लिए उनके पास गया। मेरे गोआ जाने के समाचार से वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। कहने लगे, "जाओ और जरूर जाओ। इन काग्रेसियो की जब यह मान्यता है कि जो जेल गया हो, जिसने लाठिया खाई हो, वह ही देश-भक्त है तो तुम्हे भी जाना चाहिए। और तुम्हे भी यह सिद्ध करना चाहिए कि तुम लोग भी यह सब कर सकते हो।" इसके बाद उन्होने मुझे आशीर्वाद दिया, परन्तु देखते-ही-देखते उनका गला भर आया। उस समय उनसे कुछ बोला नही गया, किन्तु पिता का स्नेह, जो उनकी आखो मे भरा था, और जिसके कारण कठ अवरुद्ध हो गया था, वह किसी से छिपा नही रहा था। थोडी देर के बाद आश्वस्त होकर मुझे समझाया, "मुझे हिन्दी के लिए तुम से बहुत काम लेना है। किन्तु कोई बात नही, तुम जाओ! मेरा हृदय तुम्हे आशीर्वाद देता है और मेरी अन्तरात्मा मुझसे कहती है कि तुम सकुशल लौटोगे और हिन्दी के लिए काफी काम करोगे।" हुआ भी वैसा ही, मैने लाठिया-गोलिया खाई, अन्य दु सह यातनाए भी झेली, किन्तु बाबूजी के आशीर्वाद से मै सकुशल वापस लौटा और उसके बाद से हिन्दी-प्रसार के क्षेत्र मे ही काम कर रहा हू।

गोआ जाने वालो की विदाई मे टाउन-हाल मे एक सार्वजनिक सभा हुई थी। उसमे भाषण देते हुए बाबूजी ने कहा था, "वसतराव जी अपने साथियो को लेकर गोआ जा रहे है। मुझे विश्वास है कि वहा ये लोग सत्याग्रह करेगे। लाठियो और गोलियो की मार सहेगे, कष्ट पाएगे, किन्तु वहा भारतीय झडा लहराकर भारत कुशल-पूर्वक लौटेगे, क्योकि भारत को इनके जैसे उत्साही युवको की आवश्यकता है। मेरा आशीर्वाद इनके साथ है।"

बाबूजी को एक बार परिहास-वृत्ति मे आनन्द-मग्न होते भी मैने देखा है। सरदार पटेल की मृत्यु के समय बाबूजी बम्बई मे ही थे। नागपुर से गुरु गोलवलकर, श्री रविशकर शुक्ल और मै उनके साथ एक ही वायुयान से दाह-सस्कार आदि मे सम्मिलित होने गए। दाह-सस्कार के दूसरे दिन मुशीजी के यहा हम तीनो आदमी भोजन के लिए आमन्त्रित थे। बाबूजी वहा पहले से पहुचे हुए थे। बडे तपाक से शुक्लजी ने बाबूजी से कहा कि "बाबूजी देखिए, गोलवलकर जी को भी साथ लाया हू।" इस पर बाबूजी शुक्लजी से कुछ न कहकर मुशीजी से कहने लगे, "शुक्लजी भी कभी-कभी बुद्धिमानी कर जाते है; लेकिन हा, कभी-कभी ही।" इस पर सभी लोग हँस पडे।

स्व० मौलाना आजाद जीवन के अन्तिम दिनो मे जब मरण-शैय्या पर थे, तब मै अपने एक मित्र के साथ बाबूजी के पास गया था। मेरे मित्र महोदय ने बाबूजी से कहा, "बाबूजी, सुना है, मौलाना आजाद शराब बहुत पीते है। चार बजे शराब पीने के बाद वह किसी से मिलते नही थे। और मुझे लगता है, उनकी इस असाध्य बीमारी का कारण शराब ही है।" मैने बाबूजी की ओर देखा, उनकी मुद्रा से लगा कि उनको मौलाना आजाद के विरुद्ध यह बात बिल कुल अच्छी नही लगी। वह बोले, "मेरे साथ के कमरे मे ही एक बार आजाद साहब चार-पाच दिन तक रह चुके है। मुझे तो कभी उनमे कुछ ऐसी बात नही मिली, जिसमे मै कहू कि वह पीते है।" उनका उत्तर निश्चय ही उनके असाधारण

सौजन्य का परिचायक है। मौलाना आजाद यदा-कदा बाबूजी की कड़ी आलोचना करते रहते थे। परन्तु इसके बावजूद बाबूजी का शील कभी विचलित नही हुआ।

स्व० मौलाना आजाद ने एक बार यह प्रस्ताव रखा कि अंग्रेजी को हिन्दी के साथ मान्यता दी जाय। उस समय इसके विरोध मे एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गई थी। उसमे जब प्रसगवश यह जिक्र आया कि ऐसे प्रचार के सक्रिय विरोध के लिए अभी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पास धन का अभाव है, अतः सूक्ष्म विरोध के लिए धन-सग्रह किया जाय। तो बाबूजी ने उसी समय कहा, "हिन्दी-यज्ञ के लिए सबसे पहले मुझसे चन्दा लिया जाय।" यह कहकर उन्होने फौरन एक चैक दिया। किन्तु मजे की बात यह कि जितने रुपये उन्होने देने को कहे थे, उससे एक रुपया कुछ आने और बढाकर चैक मे राशि लिखी। बढा हुआ धन उन्होने चैक भुनाने के लिए हिसाब करके दिया था। ऐसे बीसियो उदाहरण उनकी सिद्धान्त-निष्ठा को सहज ही व्यक्त करते है।

हिन्दी और हिन्दुस्तान के लिए बाबूजी का जीवन सचमुच एक पुण्य तीर्थ के समान है। मै उनके पावन चरणो मे अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि प्रस्तुत करता हू।

शील और संकोच के साक्षात विकल्प

श्री महावीरप्रसाद शुक्ल

परम श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हमारे देश के वर्तमान युग की उन इनी-गिनी विभूतियो मे है जिन पर इस देश के निवासियो को सदैव गर्व रहेगा। इन पंक्तियों का लेखक अपना परम सौभाग्य मानता है कि अपने जीवन के लगभग चौदह-पंद्रह वर्षो की आयु मे ही उसे उनके चरणो की छाया बैठने का पुनीत अवसर प्राप्त हुआ है और अपने देश और समाज की सेवा मे कुछ भी करने की जो शक्ति और अवसर उसे मिला है वह उनकी प्रेरणा, आशीर्वाद और उत्साह-दान का ही फल रहा है। श्रद्धेय टंडनजी का जीवन एक आदर्श तपस्वी का जीवन रहा है। त्याग, सत्यनिष्ठा और सर्वभूत-दया उनके जीवन के विशेष गुण रहे है। राष्ट्रपिता पूज्य बापू के आदर्शो पर पग-पग चलनेवाला ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति मुझे अपनी दृष्टि मे नही दीख पडा। वकालत छोडने के पश्चात असहयोग-आन्दोलन मे भाग लेने मे जो आर्थिक कठिनाइया उनके सामने आई, और उनका जिस अदम्य उत्साह और संकल्प के साथ उन्होने मुकाबला किया, उसको देखकर मुझे सदैव भर्तृहरि का यह वाक्य **'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्'** स्मरण आता रहा है।

देश की स्वाधीनता के संग्राम मे उनकी वाणी, उनका त्याग और उनका आदर्श हमारे इस देश के लाखो-लाखो नर-नारियो को सदैव उत्साह और प्रेरणा देता रहा है। हिन्दी भाषा को, आज राष्ट्रभाषा होने का जो महान गौरव प्राप्त हुआ और हिन्दी-साहित्य की जो अभिवृद्धि इस नवीन युग मे हुई है उसका महान् श्रेय राजर्षि टंडन को ही है। राजर्षि का अपने सहयोगियो और अनुयायियो के प्रति जो सौहार्द और स्नेह रहता है वह अपना सानी नही रखता। शील और संकोच के वह साक्षात विकल्प ही से है। अन्धविश्वास और अन्धनिष्ठा के टंडनजी सदैव विरोधी रहे है और वह प्राय यह कहा करते है, "लीक लीक गाडी चलै, लीकै चलै कपूत। बिना लीक तीनो चले, सायर सिंह सपूत।"

वह इस बात पर सदैव जोर देते है कि मनुष्य को कभी अपने अन्त करण और विवेक की प्रेरणा के विरुद्ध कोई कार्य नही करना चाहिए, चाहे ऐसे कार्य धर्मशास्त्रो मे भी सुसम्मत हो और किसी महान व्यक्ति द्वारा ही प्रतिपादित क्यो न हो। मतभेदो के होने पर अपने इसी गुण के कारण श्रद्धेय टंडनजी कभी-कभी सार्वजनिक क्षेत्र मे अकेले हो गए है परन्तु कभी उन्होने अपने अन्त करण और विवेक द्वारा प्रेरित मार्ग का परित्याग नही किया। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि हिन्दी भाषा का क्या स्वरूप हो, इस सम्बन्ध मे राष्ट्रपिता गाधीजी से भी उनका मतभेद हो गया था, परन्तु वह अपने मत से नही डिगे। देश के विभाजन के समय वह विभाजन के विरुद्ध थे और यद्यपि राष्ट्रपिता पूज्य बापू भी विभाजन के पक्ष मे नही थे, किन्तु उन्होने अपने प्रमुख अनुयायियो की बात को मानकर उसके लिए अपनी अनुमति दे दी, तथापि श्रद्धेय टंडनजी अपने मत से नही डिगे।

यह सर्वविदित है कि श्रद्धेय टंडनजी आजीवन फलाहारी रहे है। वह अन्न का उपयोग कभी-कभी ही करते रहे है। गाय, भैस एव बकरी किसी भी पशु का दूध नही लेते है। उनका मत है कि प्रत्येक प्राणी को केवल अपनी मा का दूध ही पीने का अधिकार है। प्रकृति मा के स्तन मे जो दूध का परिश्राव करती है वह केवल उसकी सन्तान के लिए ही करती है। अतएव मनुष्य को किसी अन्य पशु-प्राणी के दूध-पान का कोई नैतिक अधिकार नही है। यदि वह ऐसा करता है तो वह दूसरे के आहार का अपहरण करता है, विशेषकर मूक पशु के नवजात शिशु का, जो न केवल अन्याय है, अपितु

अधर्म है एव क्रूरता की पराकाष्ठा है।

एक बार टंडनजी बीमार थे। डाक्टरो ने दूध लेने के लिए आग्रह किया और कहा कि कुछ थोड़े अंश मे वसा मनुष्य के आहार मे आवश्यक है। टंडनजी ने उत्तर दिया, "हाथी तो दूध नही पीता, केवल वृक्ष-वनस्पति से इतनी अधिक वसा ग्रहण करता है तो मनुष्य के लिए भी फल आदि से पर्याप्त वसा क्यो नही मिल सकती ?" और यह कहकर उन्होने चिकित्सको के आग्रह को स्वीकार नही किया।

अखिल भारतीय काग्रेस की अध्यक्षता का त्याग भी उनके जीवन के संचित आदर्शों का ही परिणाम रहा है। आज श्रद्धेय टडनजी रुग्ण-शय्या पर है। हम सभी देशवासी इस बात की कामना और भगवान से प्रार्थना करते है कि वह शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ करे और शतजीवी होकर हमारे इस देश और समाज का अपने आदर्श और अलौकिक उदाहरण मे उन्नयन करें।
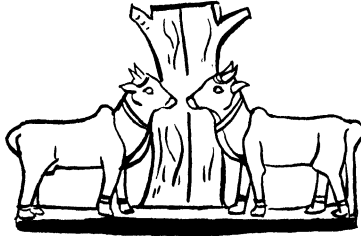
बाबूजी जब 'राजर्षि' बने

श्री बदरीनारायण मिश्र

सन् १६४६ ई० मे कारागार मे मुक्त होने पर भी देश को स्वतन्त्र बनाने की इच्छा पूर्ववत बलवती रही। उस दिन दैनिक 'आज' मे पढा कि तत्कालीन वायसराय ने अनेक भारतीयो को रायसाहब, खानसाहब एव रायबहादुर आदि अनेक उपाधियों से विभूषित किया है। जिन सज्जनो को ये उपाधिया प्राप्त हुई थी वे खुशी के मारे फूले नही समा रहे थे। इसके उपलक्ष मे अनेक प्रकार के उत्सवो एव समारोहो के आयोजन भी उन्होने किए। उपाधि प्राप्त करने वाले लोग अग्रेज शासको को अनेक प्रकार की डालिया भेंटकर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित कर रहे थे। यह सब देख और सुनकर मन को बडा क्लेश हुआ। भारतीयो की मानसिक दासता के प्रति मन मे बडा ही रोष उत्पन्न हुआ और साथ ही उनको इससे मुक्त करने की उत्कट अभिलाषा भी जाग्रत हुई। मैने इस समस्या का समाधान, स्वदेश के लोगों का ध्यान प्राचीन उपाधियों की ओर आकृष्ट करने मे देखा। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर मैने श्री सरवार सस्कृत महाविद्यालय के अध्यापको एव आचार्य महोदय से प्राचीन उपाधियो के शास्त्रीय विधान के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया। किन्तु सतोषजनक उत्तर के अभाव मे मानसिक अशान्ति बनी रही। परिणामस्वरूप इस समस्या के समुचित समाधान के हेतु पूज्यपाद योगिराज श्री देवरहवा बाबा के चरणो मे उपस्थित हुआ। उन्होने अपनी सहज उदारता एव कृपालुता से इस समस्या का समाधान तत्त्वसहित किया। उन्होने शास्त्रो के अनेक उद्धरण सुनाकर यह प्रमाणित किया कि 'राजर्षि' 'ब्रह्मर्षि' आदि की उपाधिया कभी भी, किसी युग मे, दी जा सकती है, किन्तु पात्र की योग्यता निर्विवाद रूप से प्रमाणित होनी चाहिए। इसके बाद उन्होने इस कार्य मे आने वाली अनावश्यक परेशानियो एव उलझनो की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करते हुए इससे बचने के लिए भी कहा।

वैयक्तिक सम्पर्क तथा समाचार-पत्रो मे प्रकाशित टडनजी के लेखो एव वक्तव्यो को पढकर मेरे मन मे यह धारणा बन चुकी थी कि बाबू पुरुषोत्तमदास टडन इस उपाधि के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति है। श्रद्धेय टडनजी के 'जन्मना एव कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' के सिद्धान्त से मै पहले से ही परिचित था। यद्यपि वर्तमान युग मे ऐसे बहुत से विद्वान, लेखक, विचारक एव राजनीतिज्ञ हुए है जो वर्ण-व्यवस्था का आधार केवल कर्मणा ही मानते है। इनमे डा० भगवानदास, डा० सम्पूर्णानन्द, श्री शिवपूजन सहाय, श्री क्षितीशमोहन सेन आदि विद्वानो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा० भगवानदास ने अपने जीवन के अतिम क्षण तक इस सिद्धान्त की पुष्टि की। परन्तु राजर्षि टडन उपर्युक्त विचारको की अपेक्षा अधिक उदारवादी है। उनका कथन है कि जन्मना और कर्मणा दोनो प्रकार के ब्राह्मणो की व्यवस्था होनी चाहिए। उनकी दृष्टि मे ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति तो ब्राह्मण है ही, ब्राह्मणोचित कर्म करने वालो को भी ब्राह्मण-समाज मे समाविष्ट कर लेना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि मे राजर्षि का यह कथन युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अथवा समाज उन्नति की ओर अग्रसर होना चाहता है। अत यदि निम्न वर्ण के कर्मशील एव उत्तम चरित्र वाले व्यक्तियो को उच्च वर्ण मे प्रविष्ट होने का प्रलोभन न मिल सका तो निश्चित रूप से उन लोगो को अपने कर्मों के प्रति कोई अनुराग नही रह जाएगा। परिणामस्वरूप ब्राह्मण एव ब्राह्मणेतर व्यक्तियो का चारित्रिक विकास ही अवरुद्ध हो जाएगा। अतः 'जन्मना' के साथ ही साथ 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' का सिद्धान्त भी व्यवहार-रूप

में मान्य होना चाहिए।

राजर्षि टडनजी स्वभाव से ही प्राचीन भारतीय संस्कृति के उपासक एव पोषक रहे हैं। संस्कृति की रक्षा मे ही वह राष्ट्र की रक्षा समझते रहे हैं। वस्तुतः वह हिन्दी और हिन्द के प्राण हैं। उनके उपर्युक्त गुणों के कारण ही मैंने बाबूजी को 'राजर्षि' की उपाधि धारण करने के लिए सर्वथा उपयुक्त समझा। किन्तु प्रश्न था उन्हें राजी करने का। उनके समक्ष इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित करने में मुझे स्वय डर और संकोच का अनुभव हो रहा था। क्योंकि प्रथम परिचय मे ही मैंने यह जान लिया कि श्रद्धेय टडनजी "तर्कों वै ऋषिः उक्तः" के सिद्धान्त के पोषक हैं, और मैं इस विषय पर तार्किक दृष्टि से उनसे समुचित विवाद करने मे असमर्थ था। इस प्रकार एक ओर तो प्राचीन उपाधियों को समाज मे प्रतिष्ठित कराने की उत्कट अभिलाषा हृदय मे बलवती थी, दूसरी ओर इस प्रकार के प्रस्ताव को श्रद्धेय बाबूजी के समक्ष उपस्थित करने मे डर और सकोच का अनुभव हो रहा था। अन्ततोगत्वा उत्कट अभिलाषा ने डर एवं सकोच पर विजय प्राप्त की, और मैंने राजर्षि की उपाधि स्वीकार करने के लिए श्रद्धेय टडनजी के समक्ष प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। प्रस्ताव-मात्र से ही वह चौंक उठे। उन्हें देख ऐसा लगा कि यह स्वप्न सभवत. अधूरा ही रह जायगा, किन्तु स्वभाव से सैनिक होने के नाते सहज ही पराजय स्वीकार करना मेरी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल था। अतः विषय के अनुकूल समय के आने की प्रतीक्षा मे इस समय इसे स्थगित करना ही उचित समझा। १५ अप्रैल १९४८ ई० को वह अवसर प्राप्त हो सका।

१५ अप्रैल, १९४८ की पुण्य तिथि को सायकाल चार बजे सरयू-तट पर यह मागलिक कार्य सकुशल सम्पन्न हुआ। वैदिक मत्रों के उच्चारण से समस्त वायुमडल मुखरित हो उठा। परम पावनी सरयू के तट पर एकत्र सहस्रों नर-नारियों ने इस मागलिक कार्य-क्रम में भाग लेकर अपने को कृत-कृत्य समझा। माता सरयू ने भी मन्त्रोच्चारण के स्वर मे अपना कल-कल निनाद मिलाकर वातावरण को और गम्भीर बनाया। इसके अनन्तर योगिराज देवरहवा बाबा ने अनेक साधुओ, सतों, ब्राह्मणो, पडितो एव विद्वानो के समक्ष बाबू पुरुषोत्तमदास टडन को 'राजर्षि' की उपाधि से विभूषित किया। दूसरे ही दिन उत्तर भारत के समस्त समाचार-पत्रो ने विशेष उत्साह के साथ इस सवाद को प्रसारित किया।। यह एक विस्मयकारी घटना थी। कुछ लोगो ने इस कार्य की प्रशसा की तो कतिपय ने अपनी व्यक्तिगत स्पर्धा एव ईर्ष्या के कारण इसकी निन्दा भी की। किसी ने राजर्षि की उपाधि देने वाले की योग्यता पर सदेह प्रकट किया, तो किसी ने पात्र की अयोग्यता प्रमाणित करने मे ही अपने पाडित्य की सार्थकता निहित देखी। उत्तर प्रदेश के वर्तमान मुख्य मत्री डा० सम्पूर्णानन्दजी ने तो यहा तक लिख दिया कि उपाधि देने वाले सत और उपाधि प्राप्त करने वाले बाबू पुरुषोत्तमदासजी टडन दोनो ही शास्त्रो के अनुशासनो से अपरिचित है। किन्तु ज्योतिर्मठ के श्री शकराचार्यजी महाराज ने शास्त्रो के अनेक उद्धरण देते हुए इस कार्य को सर्वथा उचित बतलाया। अक्तूबर सन् १९४८ मे काशी मे सम्पन्न होने वाले अखिल भारतीय सास्कृतिक सम्मेलन के अवसर पर काशी की पडित-सभा ने उपाधि-वितरण समारोह और राजर्षि की उपाधि को शास्त्र-सम्मत बतलाकर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। तब से 'राजर्षि' शब्द श्रद्धेय टडनजी के नाम का अविच्छिन्न अग बन गया।

मेरा अपना विश्वास है कि यदि बाबूजी जैसे आचरणवान सुयोग्य व्यक्तियों को इस प्रकार की उपाधि समय-समय पर प्रदान की जाय तो निश्चय ही प्राचीन भारतीय सस्कृति के आदर्शों की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट होगा और इससे शास्त्रों की विलुप्त महिमा समाज के समक्ष आएगी। इसके अतिरिक्त अन्य लोग भी अपना चारित्रिक विकास कर सकेगे। आज के विकट अर्थ-प्रधान समय मे समाज और देश के गण्य-मान्य नेताओ और विद्वानो को राजर्षि टडनजी के व्यक्तिगत जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए। अतीत मे बाबूजी ने जिस प्रकार उत्तर प्रदेशीय विधान सभा का अध्यक्ष-पद, उत्तर प्रदेश के लिए प्रस्तावित मुख्यमत्री-पद, काग्रेस का अध्यक्ष-पद, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी समिति की सदस्यता एव उड़ीसा के राज्यपाल-पद को तथा वर्तमान काल मे राज्य-सभा की सदस्यता को स्वत. छोडकर त्याग तथा उच्च चरित्र का जो आदर्श उपस्थित किया है, उसे समाज मे बहु-प्रचारित करना चाहिए, और समाज को उसका अनुकरण करना चाहिए।

टंडनजी के भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी विचार

श्री लीलाधर शर्मा पांडेय

भारतीय सस्कृति और उसके उद्धार के लिए ही मानो जन्म लेने वाले, ऊचे-ऊचे पदो और आय के बडे-बडे साधनो को ठोकर मारकर, अथ च राष्ट्रीय सग्राम मे सदा अग्रणी रहकर स्वतन्त्र और आदर्श भारत मे सास्कृनिक साम्राज्य का स्वप्न देखने वाले, अपने सिद्धान्त के धनी, त्याग और तपस्या के आदर्श एव भारतीय सस्कृति के अनन्य प्रतीक राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टडन का जीवन 'यदा यदा हि धर्मस्य' गीता के इस आदर्श वाक्य के अनुसार समय की माग के अनुरूप भारतीय सस्कृति को ही समर्पित है, यह कहा जाय तो तनिक भी अत्युक्ति नही होगी। इसीलिए भारतीय सस्कृति-सम्मेलन के भिवानी-अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए पजाब के राज्यपाल श्री नरहरि विष्णु गाडगिल ने कहा था, 'आज भारतीय सस्कृति और हिन्दी ये दो शब्द टडनजी के नाम के पर्यायवाची शब्द बन गए है।'

संस्कृति-सम्बन्धी अटल सिद्धान्त

जो व्यक्ति टडनजी के निकट सम्पर्क मे रहने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके है, वे भली भाति जानते है कि टडनजी ने जीवन मे जिस किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को हाथ मे लिया, उसके प्रारम्भ या मूल मे उनकी सस्कृति-उद्धारक भावना या प्रेरणा ही काम करती रही। भले ही, परिस्थितिवश वह अथक प्रयत्न करने पर भी स्वतन्त्र भारत मे भारतीय सस्कृति की विजय-वैजयन्ती फहराने मे पूर्ण सफल या कृतकार्य न हो सके। इसका कारण यही है कि वह अपने सिद्धान्तो मे सदा ही हिमालय के समान दृढ और सागर के समान गम्भीर बने रहे। यद्यपि इसके लिए उन्हे बहुत कीमत चुकानी पडी, महान् त्याग करना पडा। पर देश का कोई भी आकर्षण या पद उन्हे अपने सिद्धान्त से तिल भर भी विचलित न कर सका।

महापुरुषों के उद्गार

मुझे स्मरण है कि जब २१ अगस्त, ५७ को नई दिल्ली के ससद-भवन मे राजर्षि की ७५वी वर्षगाठ का आयोजन किया गया था तो प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने टडनजी के साथ अपने ४५ वर्षों के निरन्तर सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए कहा था—"जब वे सारी तस्वीरे मेरे सामने आती है तो उनमे टडनजी की तस्वीर बहुत बडी होकर आती है। आप इत्तिफाक करे या न करे, वह एक अटल खम्भे की तरह है।" नेहरूजी ने टंडनजी की सास्कृतिक विचारधारा की ओर लक्ष्य करते हुए आगे कहा था, "वह जमे रहे उन खयालो मे, उन आदतो मे, जो उन्होने शुरू की थी। मै उनसे शिकायत करता हू कि बदलती हुई दुनिया में आप क्यो नही बदले? दुनिया बदलती रहती है, यह भी सिद्धान्त की बात है। लेकिन इस बात में कितनी अहमियत है—एक व्यक्ति का पक्के तौर पर खास बातो पर जमे रहना। दुनिया कितनी लड़खडाई, पर उनकी ओर निगाह दौड़ाई तो देखा उनके पैर मजबूती से जमे ही रहे।"

इसी अवसर पर तत्कालीन काग्रेस-अध्यक्ष श्री ढेबरभाई ने कहा—"देश को आदर्श की जहां तक जरूरत रहेगी, वहां तक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन उसके सामने है।"

लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् अय्यंगार ने कहा, "टडन जी भारतीय सस्कृति के प्रतीक है और

हमारे प्राचीन महर्षियों की परम्परा के हैं।"

इसी प्रसग मे उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने कहा, "टडनजी भारतीय सस्कृति की विशाल-हृदयता की उस परम्परा के प्रति निष्ठावान है, जिसने उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक देश को एकता के सूत्र मे बाधा है।"

यहा यद्यपि प्रसगवश टडनजी के सस्कृति-सम्बन्धी सिद्धान्तो पर उक्त महापुरुषो द्वारा व्यक्त किये गए विचार सूक्ष्म रूप मे लिखे गए है, पर इनकी आवश्यकता इसलिए नही है कि टडनजी के सिद्धान्त और आदर्श इस सम्बन्ध मे अद्वितीय एव विख्यात होकर स्वय प्रकाशमान है, जो किसी भी प्रमाणपत्र या सम्मति की अपेक्षा नही रखते।

भारतीय शासन का आदर्श

यहा यह लिखना भी अप्रामगिक न होगा कि टडनजी के प्रशासनिक मतभेद के कारण भी उनके सास्कृतिक सिद्धान्त ही थे। शासन के सम्बन्ध मे वह प्राय. निम्नलिखित आदर्श वाक्यो का उल्लेख किया करते है, जिसमे एक प्रसिद्ध वाक्य, चाणक्य या कौटिल्य का, इस प्रकार है—

'राज्यस्य मूलमिन्द्रियनिग्रहः'

टडनजी इसे भारतीय प्रशासन का 'मोटो' मानकर अपने भारत को इस रूप मे देखना चाहते है, जिस रूप मे दशरथनन्दन श्री रामचन्द्र ने अपने राज्य को देखते हुए कहा था—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्नि र्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात, मेरे राज्य मे न कोई चोर है, न सूम या कृपण है, न मद्यप है, न कोई अनाहिताग्नि है, न कोई मूर्ख है और न कोई व्यभिचारी ही है। जब मेरे राज्य मे कोई व्यभिचारी ही नही है तो व्यभिचारणी ही कहा से होगी?

यह है टडनजी के भारतीय सस्कृति-साम्राज्य का आदर्श, और यही है स्वतन्त्र भारत के वर्तमान प्रशासन से उसके मतभेद का मूल कारण। जिसके कारण प्रशासन मे सास्कृतिक जागरण-सम्बन्धी उनकी आवाज 'नक्कारखाने की तूती' बनकर रह गई। इसी भावना को व्यक्त करते हुए टडनजी ने भारतीय सस्कृति-सम्मेलन के पचम अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए ऋषीकेश मे इस सम्मेलन की आवश्यकता और उसके सगठन पर प्रकाश डालते हुए कहा था .

"विदेशियों के शासनकाल से व्याप्त देश की सास्कृतिक विवशता को दूर करने के लिए हमने देश की स्वतंत्रता का भारी सघर्ष छेडा, जिसमे हम सफल हुए। किन्तु सफलता के बाद मुझे अपने सहयोगियों के मन का अजीब रूप दिखाई पडा। वे भारतीय सस्कृति और उसके आदर्शों के प्रतिकूल चल रहे है। मुझे लगा कि उनके ऊपर अग्रेज और पाश्चात्य सस्कृति का जादू अभी बाकी है। यह देखकर ही सास्कृतिक कार्यों को हाथ मे लेने वाली भारतीय सस्कृति सम्मेलन जैसी सस्था की अतीव आवश्यकता मैंने अनुभव की। तब से यह सम्मेलन कार्य कर रहा है। इसके द्वारा हमने जनता तथा कार्यक्षम जनो का ध्यान इस प्रश्न की ओर खीचा है और उनमे सस्कृति के लिए काम करने की एक हलचल पैदा की है।"

स्वातन्त्र्य-संग्राम का लक्ष्य

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-सग्राम मे प्रविष्ट होने के साथ ही टडनजी ने इस धारणा को दृढ कर लिया था कि अन्त कालीन मुगल और फिरगी-शासन के कारण भारतीय सस्कृति का वास्तविक रूप तिरोहित या लुप्त हो चुका है। अत उनकी दृष्टि से भारतीय स्वातन्त्र्य-सग्राम का लक्ष्य केवल आर्थिक या प्रशासनिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना मात्र नही था। प्रत्युत मुख्य रूप मे उनका लक्ष्य सास्कृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था, जिससे देश मे पुन सास्कृतिक जागरण उत्पन्न कर, स्वतन्त्र भारत के प्रशासन का लक्ष्य एव सविधान, देश की आत्मा तथा उसकी सस्कृति के अनुरूप बनाना था। टडनजी के राजनीतिक गुरु महामना पडित मदनमोहन मालवीय का भी यही लक्ष्य था।

कांग्रेस के बाद की संस्था

देश की स्वतन्त्रता के बाद, टडनजी तथा गाधीजी दोनो की यह मान्यता थी कि देश को अब काग्रेस की

ग्रावश्यकता नही रही। क्योंकि उसका काम देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद समाप्त हो चुका था। वह चाहते थे कि ग्रब काग्रेस के स्थान पर देश का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई ग्रन्य ही सगठन हो, जो देश के शासन का सास्कृतिक प्रतिनिधित्व करे।

नई वेदना

इसी बीच देश मे एक नई क्रान्ति उठ खडी हुई। उनके बराबर विरोध करने पर भी देश का विभाजन हो गया। फलस्वरूप देश की पूर्वी ग्रौर पश्चिमी दिग्बालाग्रो के ग्रांचल भीषण रक्तपात से रजित हो चुके थे। भीषण नर-सहार, गोद के सहस्रो शिशुग्रो ग्रौर निरीह बच्चो का नृशस वध, दुर्दान्त काल के समान ग्राततायियो द्वारा सहस्रो ग्रबलाग्रो का सामूहिक ग्रपहरण, ग्रपहृत महिलाग्रों का सामूहिक नग्न प्रदर्शन एव खुलेग्राम लोमहर्षक बलात्कार की करुण चीत्कारे यह सब भला किस चिर-प्रसुप्त की निद्रा भग न करता ? फिर टडनजी के लिए तो यह काड ग्रसह्य वेदना ग्रौर शोक का कारण बन गया था। इस परिस्थिति मे कट्टर रूढिवादी ग्रौर धार्मिक व्यवस्था देने वाले चिर-प्रसुप्त काशी के विद्वान भी सहसा विचलित होकर जाग उठे।

काशी का विद्वन्मंडल ग्रौर श्री टंडनजी

इस हृदय-विदारक परिस्थिति को देखते हुए काशी-विद्वन्मडल के प्रधान मन्त्री एव काशी के सुधारवादी पडितो के प्रमुख श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने काशी के समस्त विद्वानो के पास जा-जाकर शुद्धि-व्यवस्था पर उनके हस्ताक्षर लिये ग्रौर 'काशी विद्वन्मडल की नौ घोषणाए' नाम की शुद्धि-व्यवस्था पुस्तिका प्रकाशित की। वह काशी के पडित-समाज मे एक बहुत बडी ऐतिहासिक क्रान्ति थी जिसमे विधर्मियो द्वारा ग्रपहृत एव ग्रपमानित की गई हिन्दू जाति की शुद्धि की सरल व्यवस्था दी गई थी। देश के समस्त प्रमुख पत्रो ग्रौर विचारको ने बडी-बडी टिप्पणियो के साथ इन घोषणाग्रो का स्वागत किया था। लाखो की सख्या मे ये घोषणाए प्रकाशित की गई थी। यह घोषणा टडनजी को नैनीताल मे उनकी उक्त वेदना की ग्रवस्था मे महौषधि के रूप मे प्राप्त हुई ग्रौर वह तुरन्त ही काशी जाकर विद्वन्-मडल के प्रधान मन्त्री श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत से मिले। सारस्वतजी से विचार-विमर्श के बाद ग्रापने तुरन्त ही यह निर्णय लिया कि शीघ्र ही एक सास्कृतिक सस्था का सगठन किया जाय, जो देश की केवल सास्कृतिक समस्याग्रो को सुलभाने के लिए ठोस कार्य करे तथा जो भारतीय सस्कृति के ग्राधार पर शासन ग्रौर समाज का निर्माण करे। जिससे कुछ वर्षों बाद इस ग्रवशिष्ट देश के विभाजन की समस्या उसके सम्मुख पुन: खडी न हो सके। क्योकि देश का विभाजन श्री मुहम्मद ग्रली जिन्ना के प्रस्तावानुसार सास्कृतिक ग्राधार को, ग्रर्थात दो सस्कृतियो के सिद्धान्त को, मानकर किया गया था। जो देश के लिए उसकी ग्रपार धन-जन की हानि एव शिर-पाद-विच्छेद का कारण सिद्ध हो चुका था।

इसी ग्रवसर पर ग्रापको काशी-विद्वन्मडल की ग्रोर से 'भारतरत्न' की उपाधि से सम्मानित किया गया था।

संस्कृति सम्मेलन का संगठन

टडनजी ने एवविध प्रस्तावित सस्था के लिए श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत, श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, श्री गोपाल-शास्त्री दर्शनकेसरी एव डा० मगलदेव शास्त्री को साथ लेकर एक समिति का गठन किया। ग्रापको इस सास्कृतिक सस्था का नाम चुनने मे तनिक भी विलम्ब न हुग्रा, क्योकि देश मे सस्कृत के लिए काम करने वाले सगठन का नाम सस्कृत साहित्य सम्मेलन ग्रौर हिन्दी के लिए काम करने वाले सगठन का नाम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का रूप सामने था। इसी प्रकार देश मे सस्कृति के काम करने वाले इस सगठन का नाम ग्रापने 'भारतीय सस्कृति सम्मेलन' रख दिया। इस प्रकार टडनजी भारतीय सस्कृति सम्मेलन का सगठन ग्रौर उसका नामकरण करके प्रयाग मे ग्रर्द्धकुम्भी के ग्रवसर पर फरवरी ४८ को इस सस्था का प्रथम ग्रधिवेशन किया। कुछ समय तक उसका प्रधान कार्यालय काशी मे रखने के पश्चात सारस्वतजी के परामर्श एव श्री युगलकिशोर बिरला के सहयोग से देहली मे रख दिया गया। तब से उसके नौ ग्रधि-वेशन हो चुके है। डा० भगवानदास, जगदगुरु शकराचार्य, राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, श्री सी० डी० देश-मुख, श्री नरहरि विष्णु गाडगिल एव श्री राधाकुमुद मुखर्जी ग्रादि महापुरुष इसकी ग्रध्यक्षता कर चुके है। सम्मेलन

के मुखपत्र के रूप मे प्रधान कार्यालय से 'भारतीय संस्कृति' नामक त्रैमासिक पत्रिका निरन्तर छः वर्षों तक इन पक्तियों के लेखक के सम्पादन मे प्रकाशित होती रही है। इसके कार्यालय का सचालन सम्मेलन के प्रधान मन्त्री एवं 'भारतीय सस्कृति' के प्रधान सम्पादक श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत अब तक करते रहे है। गत नवम्बर में उनके निधन के पश्चात टडनजी के आदेशानुसार सम्मेलन का कार्यालय प्रयाग भेज दिया गया है। अब तक के इस सम्मेलन और 'भारतीय सस्कृति' पत्रिका द्वारा देश के पठित समाज मे भारतीय सस्कृति का स्वरूप स्थिर करने के सम्बन्ध मे गम्भीर विचार-विमर्श किया गया और सामान्य जनता में 'भारतीय सस्कृति' शब्द का जो व्यापक प्रयोग और प्रचलन हो रहा है, उसका श्रेय टडनजी तथा उनके सम्मेलन को ही है।

भारतीय संस्कृति की परिभाषा

टंडनजी द्वारा समय-समय पर की गई भारतीय सस्कृति की परिभाषा के अनुसार उसका रूप ऋग्वेदकालीन भारत की बहती हुई गगा की पवित्र एव वेगवती धारा के समान है। जिसमे समय-समय पर और स्थान-स्थान से समागत आग्ल-मुगल आदि कल्चर या तमद्दुनो का समिश्रण हुआ है। आपके मत से भारत के बौद्ध-जैन आदि समी मत-मतान्तर उसी भारतीय सस्कृति की शाखा-प्रशाखाए है। इनसे हमारी सस्कृति पल्लवित एव विकसित हुई है।

टडनजी के सस्कृति-सम्बन्धी विचारो के अनुसार भारत का निवासी कोई भी व्यक्ति भारत और उसकी सस्कृति के प्रति वफादार होकर ही भारत मे रह सकता है। आपकी यह दृढ मान्यता है कि अन्य सस्कृतियो के आधार पर पुन देश को खडित करने की माग करने वाले देशद्रोही है। उन्हे सीधे उसी देश मे भेज देना चाहिए, जहा की सस्कृति की माग के आधार पर वे भारत मे ही रहकर उसके टुकडे करना चाहते है। मुस्लिम सस्कृति को आधार मानकर एक बार देश के टुकड़े करके भारत ने भयानक भूल की है अब वह उसे पुन दुहराने की भीषण भूल कभी नही करेगा।

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' इस कालिदासीय सूक्ति का उल्लेख टडनजी प्राय· करते रहते है। जो हर किसी प्राचीन परम्परा के गतानुगतिक ग्राहक या समर्थक नही है, वे हर वस्तु या विचार को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसते है और उस पर खरा उतरने पर ही वे उसे महत्त्व देते है। अन्यथा दुर्गा-सप्तशती के केवल 'पाठमात्र' से या कुम्भ-स्नान के केवल 'भेडिया धसान' मात्र मे उनकी दृष्टि मे कोई लाभ तो होता। इसी प्रकार गौवध का विरोध वह उसमे तैतीस करोड देवताओ का निवास मानकर नही करते है, प्रत्युत अपनी बुद्धिवाद की कसौटी पर उसकी राष्ट्रीय उपयोगिता का मूल्याकन करके ही करते है।

अन्त मे राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्दो मे श्रद्धेय बाबूजी के प्रति मै अपनी श्रद्धाजलि निम्नलिखित पक्तियो मे समर्पित करता हू—

पूज्य तुम राजर्षि क्या ब्रह्मर्षि बहुगुण धाम,
व्यर्थ आज वशिष्ठ-विश्वामित्र के संग्राम।
बहुत मेरे अर्थ 'पुरुषोत्तम' तुम्हारा नाम,
सतत श्रद्धायुक्त तुमको शत-सहस्र प्रणाम।

कुछ संस्मरण

श्री इन्द्रनारायण द्विवेदी बुद्धिपुरी

महामना मालवीय द्वारा सचालित 'साप्ताहिक अभ्युदय' के जन्मकाल सन् १६०७ मे ही राजर्षि टडनजी उसमे योगदान देने लगे थे। मेरे लेख भी उस पत्र मे निकलते थे। इस प्रकार अभ्युदय द्वारा मैने टडनजी को तथा टडनजी ने मुझे जाना।

सन् १६१० ई० में वाराणसी मे होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन मे, जिसमे राजर्षि टडन प्रधानमन्त्री चुने गए थे, मै भी प्रयाग मे टडनजी एव कुछ और विशिष्ट लोगो के साथ प्रतिनिधि बनकर गया था। इस प्रकार परिचय ने सनिकटता तथा सम्पर्क का रूप धारण किया।

सन् १६११ ई० मे होने वाले सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन (प्रयाग) मे जब मै स्थायी समिति का सदस्य चुना गया तब मेरा और राजर्षि टडनजी का सम्पर्क घनिष्ठता मे परिणत हुआ। फलस्वरूप तत्कालीन 'हिन्दी पत्र सम्पादक समिति' के मन्त्री राजर्षि टडन ने सम्पादक-समिति की धन-राशि, जो इलाहाबाद बैंक मे जमा थी, तथा समस्त कागज-पत्र मुझे सौपकर सम्पादक-समिति का मन्त्री नियुक्त करा दिया।

सन् १६१२ ई० मे सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन कलकत्ता मे हुआ, उसमे राजर्षि टडन, जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल एव चार-पाच और मित्रो के साथ मै प्रयाग से कलकत्ता गया और वहा पर सभी लोग एक स्थान पर रहे। राजर्षि टडन की प्रेरणा से सन बारह के बारहवे मास दिसम्बर की बारहवी तारीख को शुक्लजी-प्रभृति हम बारह आदमियों ने अपने-अपने विषय के हिन्दी मे ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की। मैने भी 'भारतीय ज्योतिष' नामक ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की थी।

उस समय पुरानी रूढियो के कारण मै किसी भोजनालय तथा बाजार की दूकानो पर भोजनादि नही करता था। अस्तु, लगातार चार दिनो तक मैने फलो के अतिरिक्त कुछ भोजन नही किया और सम्मेलन के कार्य मे व्यस्त रहा। चौथे दिन जब टडनजी को मेरी भोजन-समस्या का ज्ञान हुआ, तब तुरन्त ही उन्होने डा० आर० एल० बर्मन से कहकर उनके निवास-स्थान पर मेरे भोजन बनाने की व्यवस्था करा दी। मैने भोजन बनाया और टडनजी भी अपनी मित्रमडली के साथ सविनोद भोजन मे सम्मिलित हुए।

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मैने 'भारतीय ज्योतिष' नाम की पुस्तक, जिसमे डेढ सौ आचार्यों और प्रमुख विद्वानो के परिचय, 'चरित्र, नई खोजो के विवरण तथा पन्द्रह सौ ज्योतिष-ग्रथो की सूची, जिसमे अनेक ग्रथो के विवरण भी थे, तैयार की। पुस्तक को देखकर टडनजी बडे प्रसन्न हुए तथा सम्मेलन की स्थायी समिति से उसके छपाने के लिए अनुरोध किया। अभ्युदय प्रेस मे कम्पोज करने के लिए कुछ अश दिये गए। तीन फार्म कम्पोज हुए, किन्तु प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के कारण कागज बहुत महगा हो गया। पुस्तक का आकार कुछ बडा था, अर्थात्, पुस्तक छपने पर डबल क्राउन सोलह पेजी आकार के लगभग आठ सौ पृष्ठो मे पूर्ण होती तथा अधिक सख्या मे पुस्तक की बिक्री भी न हो सकती। अस्तु, सम्मेलन के पास पर्याप्त धन न होने के कारण तत्कालीन परीक्षा-मन्त्री प्रो० ब्रजराज ने पुस्तक छपाने का कार्य रोक देने का आग्रह किया। फलस्वरूप पुस्तक नही छापी गई और कम्पोज किया हुआ मैटर डिस्ट्रीब्यूट करा दिया गया।

हस्तलिखित पुस्तक सम्मेलन-कार्यालय में रक्खी गई और 'ज्योतिष-रत्न' की परीक्षा मे वह पाठ्य पुस्तक के रूप में भी रक्खी गई, जो न जाने कब और कैसे सम्मेलन-कार्यालय से गायब हो गई। बहुत खोज करने पर भी उसका कोई पता नही चला।

पडित टीकाराम त्रिपाठी सन् १६१२ मे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अध्यापक थे। लोकमान्य तिलक का चित्र रखने के अपराध मे जब वह अध्यापक-पद से हटा दिए गए तब वह मेरे पास आए। मै उनको लेकर राजर्षि टडनजी के पास गया। उनका वृत्तान्त सुनकर राजर्षि टडनजी ने उनको 'भारती भवन' पुस्तकालय के लाइब्रेरियन के पद पर नियुक्त करा दिया और उसके पश्चात भी उन पर टडनजी की कृपा-दृष्टि सदा बनी रही।

सन १६१६ मे जब अग्रेजी शासन के पुलिस अधिकारी बनारस के राजद्रोह-केस मे मुझे गिरफ्तार करके ले गए और कई दिनो के बाद महामना मालवीयजी की कृपा से केस के अध्यक्ष मि० मेरिस ने मुझको मुक्त किया। तब से प्रयाग की पुलिस मुझ पर बडी कडी दृष्टि रखने लगी। प्रयाग मे मै मुट्ठीगज के एक रायसाहब के मकान मे रहता था और उनको प्रयाग की पुलिस ने मुझे स्थान खाली कर देने के लिए कहने के लिए बाध्य किया। यह खबर टडनजी को मिली। टडनजी ने मुझे सम्मेलन के तिमजिले भवन के सबसे ऊपरी भाग मे रहने की सुविधा प्रदान की। उस समय सम्मेलन-कार्यालय भारतीय भवन के पास एक किराए के मकान मे था। ऐसी परिस्थिति मे टडनजी का और मेरा सम्पर्क प्रतिदिन बढता ही गया।

इसी बीच सम्मेलन की परीक्षाओ का कार्य बढा और उसकी मध्यमा की पाठ्य पुस्तकों मे सूर्य-सिद्धान्त भी रक्खा गया। टडनजी की प्रेरणा से मैने सूर्य-सिद्धान्त का सरल हिन्दी-अनुवाद, बृहद भूमिका और दो परिशिष्टों के साथ तैयार किया। टडनजी ने श्री सुदर्शनाचार्य के प्रेस मे उसके छपाने का प्रबन्ध किया और उसके सम्पादन, प्रूफ-सशोधन आदि का भार भी मुझे सौपा। श्री नरेन्द्रनारायणसिह के अलग होने पर सम्मेलन-पत्रिका के सम्पादन का सौभाग्य भी टडनजी ने मुझे दिया। सम्मेलन की प्राय सभी उपसमितियो का सदस्य और ज्योतिष की 'मध्यमा' तथा 'उत्तमा' परीक्षा का परीक्षक होने के नाते सम्मेलन के प्रधान मन्त्री टडनजी से मेरा सम्पर्क, सम्मिलन और घनिष्ठता बहुत बढ गई थी।

जबलपुर के छठे अधिवेशन के समय प्रोफेसर ब्रजराज ने उस सम्पादकीय टिप्पणी के सम्बन्ध मे मेरे विरुद्ध एक आपत्ति का प्रस्ताव विषय-निर्वाचनी समिति के समक्ष रक्खा, तो टडनजी ने बडी बुद्धिमत्ता से बाबू श्यामसुन्दर दास (सम्मेलन के सभापति) के प्रभाव द्वारा उस प्रस्ताव को वापस कराया और स्थायी समिति के सदस्यो के बीच अकुरित विरोधाभास को मैत्रीपूर्ण ढग से शान्त किया।

सन् १६१६ ई० मे प्रयाग जिला काग्रेस का अधिवेशन बहादुरगज के मैदान मे हुआ। टडनजी उसके सभापति थे तथा मत्रियो मे मै भी एक मन्त्री था। खिलाफत के सम्बन्ध मे असहयोग करने के कलकत्ता-काग्रेस के प्रस्ताव को जब श्री वसन्तलाल शर्मा ने उपस्थित किया और मैने इस सम्बन्ध मे उनसे कुछ प्रश्न किए तो शर्माजी बडे उत्तेजित हुए। उस समय टडनजी ने मुझे अपनी बातो को लौटा लेने की सम्मति देकर विरोध को शान्त किया।

स्वराज सम्बन्धी विषय मे जनमत जानने की इच्छा से जब भारतमत्री भारत आए तो देश के सभी वर्गों के लोगो ने अपनी-अपनी मागे उनके सम्मुख प्रस्तुत की। किन्तु देश के प्राण किसानो के सम्बन्ध मे किसी सस्था अथवा नेता ने कुछ भी चर्चा नही की। इससे मुझे बहुत क्षोभ हुआ। उस समय मै ज्वर से पीडित अपने निवास-स्थान बुद्धिपुरी (ग्रामीण क्षेत्र) मे था। वही से मैने महामना मालवीयजी को पत्र लिखा कि 'समाचारपत्रो के पढने से ज्ञात होता है कि देश की किसी भी सस्था अथवा नेता को भारत-मन्त्री के समक्ष किसानो के अधिकारो एव मागो को रखने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। मै ज्वर मे पीडित हू, नही तो आपकी सेवा मे उपस्थित होकर इस सम्बन्ध मे बहुत सी बाते करता।' पत्र पाकर महामना ने लिखा, "यहा समय अस्वस्थ बनकर बैठने का नही, काम करने का है। स्वस्थ होकर शीघ्र चले आओ।" पत्रोत्तर पढकर हृदय कुछ ऐसा उत्साहित हुआ कि यद्यपि मै अभी पूर्ण स्वस्थ न हुआ था, तथापि महामना मालवीयजी की सेवा मे उपस्थित होकर किसानो के दावे के रूप में २६ बाते लिखित रूप से उनके

सम्मुख प्रस्तुत कीं। देखकर मालवीयजी बड़े प्रसन्न हुए और इसका अंग्रेजी अनुवाद कराने को कहा। तथा आदेश दिया कि हिन्दी और अंग्रेजी दोनों तरह की प्रतियां छपाकर, उन पर किसानों के अधिक-से-अधिक हस्ताक्षर कराके भारत-मन्त्री की सेवा में भेजो। मैंने टंडनजी को भी किसानों का वह माग-पत्र दिखलाया और महामना की सम्मति बतलाई। बडी प्रसन्नता के साथ टडनजी ने उसका अंग्रेजी अनुवाद कर दिया।

उस दावे को मैंने अंग्रेजी और हिन्दी मे छपाकर ग्यारह हजार से अधिक किसानों के हस्ताक्षर करा लिए।

माघ की अमावस्या को प्रयाग के त्रिवेणी-तट पर सनातन धर्म महासभा के पण्डाल मे महामना मालवीय जी की कृपा और टडनजी की सम्मति से संयुक्तप्रान्तीय किसान सभा का अधिवेशन किया गया, जिसमे मालवीयजी के पंचामृत-उपदेश तथा टडनजी का भाषण हुआ और किसानों का दावा प्रस्ताव के रूप मे पास करके भारत-मन्त्री की सेवा मे भेजा गया। जब मालवीयजी की आज्ञा से सयुक्त प्रान्तीय किसान सभा को स्थायी रूप दिया गया और उसके सभापति-पद के लिए कोई महापुरुष तैयार नही हुआ, तब तीसरे दिन के अधिवेशन मे मैंने अपने विश्वास के अनुसार टडनजी को सभापति बनाने का प्रस्ताव किया। वह सर्व-सम्मति से पास हो गया। यह समाचार जब मैंने टडनजी को सुनाया तब उन्होने यह नही कहा कि हम से बिना पूछे हमारा नाम आपने क्यो रक्खा, बल्कि सदा की भाति मेरी बातो को सुन, हँसकर रह गए।

सन् १६१६ मे नए शासन-सुधार पर मैंने किसान पुस्तक-माला की प्रथम पुस्तक 'कौसिल और किसान' लिखी, जिसके लिखने मे टडनजी ने मुझे विशेष सहायता दी। सन् १६२० के निर्वाचन मे उस पुस्तक का अच्छा प्रभाव पड़ा।

किसान सभा के उपसभापति पण्डित गौरीशकर मिश्र के प्रस्ताव पर जब किसान सभा की स्थायी समिति की बैठक २४ अक्तूबर, १६१६ को बुलाई गई, तब उस बैठक मे टडनजी, सभापति बाबू मगमलाल अग्रवाल और प० गौरीशकर मिश्र आदि १८ पदाधिकारी और सदस्य उपस्थित थे। प० गौरीशकर मिश्र के असहयोगी प्रस्ताव उपस्थित करने पर दोनो पक्षो के लोगो के भाषण हुए। सभा मे फूट पैदा हो जाने का भय उपस्थित हुआ, तब टडनजी ने अपने प्रभाव से दोनों पक्षो को इस बात पर राजी किया कि किसान सभा इस विषय मे तटस्थ रहेगी। उसके सदस्य, सहयोगी और असहयोगी, दोनो मतो के मानने वाले होगे।

सन् १६-२० की बात है। हमारे मित्र स्व० बाबू श्री प० गौरीशकर मिश्र (दैनिक 'भविष्य' के सम्पादक) किसी कारणवश हमसे नाराज थे। उन्होने महात्मा गाधी के सम्बन्ध मे मेरे विरुद्ध एक आपत्तिजनक टिप्पणी 'भविष्य' मे प्रकाशित की, जिससे जनता मे मेरे प्रति क्रोध और क्षोभ उत्पन्न हुआ। बाते बिल्कुल असत्य थी। मैंने उस टिप्पणी को लेकर मिश्रजी के विरुद्ध केस चलाने के लिए तत्कालीन एडवोकेट बाबू रामनामाप्रसाद के द्वारा नालिश तैयार कराई और दूसरे दिन उसके दायर करने का विचार था, किन्तु उसी दिन मेरे पास तत्कालीन जिलाधीश के० एन० नाक्स ने अपना अर्दली भेजा। अर्दली ने कहा कि साहब साथ ही बुला रहे है। मै गया। जिलाधीश ने मुझसे 'भविष्य' मे प्रकाशित टिप्पणी के विषय मे प्रश्न किया कि क्या यह सत्य है? मैंने उत्तर दिया कि बिल्कुल गलत है। तब जिलाधीश ने कहा कि आप सम्पादक पर मुकदमा चलाइए, उसको सजा मिलेगी। मेरे हृदय मे धक्का लगा। मैंने अपने पूर्व विचार को त्यागकर उत्तर दिया कि इस विषय मे मै अपने वकीलो से परामर्श करूगा। जैसा कहेगे, वैसा करूगा। जिलाधीश ने कहा कि आप कप्तान साहब से भी मिलिए। वह भी आपसे मिलना चाहते है। मे वहा से कप्तान साहब के पास गया। वह भी अंग्रेज थे। उन्होने भी वही बात कही कि आप मुकदमा चलाइए। सम्पादक को सजा हो जाएगी, क्योकि इस टिप्पणी से जनता आपके विरुद्ध उत्तेजित हो रही है। आपके लिए खतरे की बात है। कप्तान साहब की बाते सुनकर मैंने मिश्रजी के विरुद्ध मुकदमा चलाने का इरादा बिल्कुल त्याग दिया। मेरे हृदय मे यह भाव उत्पन्न हुआ कि ये अंग्रेज-अधिकारी हमको आपस मे लड़ाकर लाभ उठाना चाहते है। मै वहा से लौटकर राजर्षि टडनजी के निवास-स्थान जानसेनगज वाले मकान पर पहुचा और उन्हे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। और यह भी कहा कि मैंने मुकदमा चलाने की जो तैयारी की थी, वह मेरी भूल थी। मै अंग्रेजी सरकार की अदालत मे नही, आपके समक्ष मिश्रजी पर मुकदमा पेश करता

हूं। आप जांच करे, यदि मिश्रजी की टिप्पणी सत्य हो तो मुझको उचित दण्ड दे, अथवा, टिप्पणी असत्य हो तो मिश्रजा को दण्ड दे। मेरी बाते को सुनकर टडनजी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके 'अभ्युदय' के सम्पादक प० कृष्णकान्त मालवीय को, जो पडोस ही मे थे, तुरन्त बुलाया और उनसे परामर्श करके मुझसे कहा कि आप जाइए, कल इसका निर्णय हम लोग करेगे। दूसरे दिन 'भविष्य' मे उस टिप्पणी के विरुद्ध टिप्पणी प्रकाशित हुई और जन-साधारण का क्रोध और क्षोभ शान्त हुआ। टडनजी की आज्ञा से मिश्रजी ने दूसरी टिप्पणी प्रकाशित की। ऐसी कृपा मुझ पर टंडनजी की सदा ही रही है।

सन् १६१७ के श्रावण मास मे टडनजी के साथ मै तथा कुछ और सज्जन 'शिवकोटि' गए और वहां पर मित्रो की सम्मति से बाटी-भोज का प्रबन्ध किया। ग्राम के पेड के नीचे मैने बाटी-दाल आदि तैयार की और सब लोगों ने विनोदपूर्वक भोजन किया। धूप अधिक थी और बरसाती गगा-जल पीने को था, जिससे मेरा स्वास्थ्य कुछ बिगड गया। उसी रात को लगभग १२-१ बजे मुझे विषूचिका हो गई। मेरे साथ कोई दूसरा न था। आगन्तुक के रूप मे मेरे ग्राम के ठाकुरदीन तिवारी गए हुए थे। उनको मैने टडनजी के पास भेजा। समाचार पाते ही टंडनजी अपने पितृव्य डा० मूलचन्द टडन को लेकर लगभग एक बजे रात को पहुचे। मेरी व्याकुलता बढ रही थी। डाक्टरी उपचार होने से लगभग दो बजे मुझे निद्रा आ गई। टडनजी ने अपने पितृव्य डाक्टर साहब को भेज दिया और स्वत. मेरे पास बैठे रहे। कुछ देर बाद ठाकुरदीन तिवारी को मेरी परिचर्या सौपकर और यह आदेश देकर कि यदि फिर कोई शिकायत मालूम हो तो हमको तुरन्त खबर देना, टडनजी अपने निवास पर गए।

सन् १६१६ की नागपुर-काग्रेस मे सयुक्त प्रान्तीय किसानो के विषय मे कुछ भ्रम उत्पन्न कर दिया गया। जिससे उन सबको दिल्ली और अमृतसर की तरह नि शुल्क प्रतिनिधि-टिकट नही मिले, किन्तु टंडनजी की प्रेरणा पर बाद में पचास किसानो को नि:शुल्क टिकट मिले।

टडनजी के साथ किसान सभाओ मे मै प्राय: सम्मिलित होता रहा। बाजार सौता, तहसील मेजा की किसान सभा मे टडनजी ने जब अन्न की महगाई से जन-साधारण की कठिनाई की बात कही, तब मैने यह कहा कि जब तक सभी वस्तुओ का मूल्य घटाया न जा सके तब तक अन्न के मूल्य घटाने से किसानो को बडी कठिनाई होगी। मेरी बातो को सुनकर टडनजी ने हँसकर कहा कि सभी वस्तुओ की महगाई मिटनी ही चाहिए।

राजर्षि एक बार बुद्धिपुरी की काग्रेस सभा मे पधारे थे और उनके भाषण से किसान जनता मुग्ध हो गई थी। मैने राजर्षि से ठहरने का आग्रह किया। तब उन्होने कहा कि इस समय नही, किसी दूसरे समय आवेंगे, तब आपके स्थान पर चलेंगे।

एक बार दारा नगर की किसान सभा मे टडनजी के साथ जाने का अवसर मिला तब तो ग्राम कडा के प्रसिद्ध महात्मा मलूकदास को कुटी देखने को मिली, जो टूटी-फूटी परिस्थिति मे थी। टडनजी ने उसके जीर्णोद्धार के लिए वहा के लोगो मे अनुरोध किया था।

अग्रेजी शासन-काल मे सबसे प्रथम सन् ३६-३७ मे जब काग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बना तब टडनजी ऐसेम्बली के निर्विरोध अध्यक्ष चुने गए और पतजी प्रधान मन्त्री। सन् १६३६ मे जब कब्जा आराजी कानून बनने वाला था और उसका मसविदा गजट मे अगरेजी मे छपा, मैने टडनजी को लिखा कि हिन्दी मे भी यह मसविदा छपना चाहिए। तभी हम लोग इस पर अपनी सम्मति प्रदान कर सकते है। राजर्षि ने हिन्दी मे छपी अपनी कापी मेरे पास भेज दी और लिखा कि केवल सदस्यो के लिए ही हिन्दी मे मसविदा छपा है। मसविदे के ऊपर मैने बहुत-कुछ लिखा। टडनजी ने मुझे लिखा कि अधिकाश लोगो की सम्मति किसानो को अपनी आराजी को रेहन करने का अधिकार देने की तो है, बै करने का अधिकार देने की नही, इत्यादि।

जब जमीदारी-उन्मूलन और भूमि-व्यवस्था कानून का मसविदा ऐसेम्बली मे पेश हुआ, तब मैने 'किसानो की घोषणा' शीर्षक से एक पत्र छपवा कर ऐसेम्बली के सदस्यो तथा अधिकारियो के पास भेजा। उस समय भी टडनजी से मेरा उक्त कानून के सम्बन्ध मे पत्रव्यवहार होता रहा।

भरवारी के जिला राजनीतिक परिषद के अधिवेशन मे जब किसानो की अधिकतम भूमि पर विचार करने का प्रश्न विषय-निर्वाचनी समिति मे उपस्थिति होने वाला था, उस समय टडनजी ने विशेष प्रतिनिधि के रूप मे विषय-निर्वाचनी समिति में मुझको सम्मिलित कराया।

सन् १६०७ से लेकर अब तक के ५३ वर्षों मे केवल उस समय, जब टडनजी नाभा स्टेट मे किसी उच्च पद पर काम करने को चले गए थे, अथवा जब अग्रेजी सरकार के मेहमान बन कर रहे तथा मै प्रयाग मे नही रहा, तब मेरा उनका सम्पर्क स्थगित रहा, अन्यथा कोई महीना, कोई सप्ताह ऐसा नही रहा, जिसमे मेरा और टडनजी का सम्पर्क न रहा हो।

मेरी वृद्धावस्था और नेत्र-विकार के कारण आर्थिक परिस्थिति को देखकर टडनजी ने समय-समय पर स्वयं मेरी आर्थिक सहायता की और करते रहे है, तथा राज्य की ओर से मुझे राजनीतिक पीडित पेंशन भी दिलवाई। सारांश यह कि राजर्षि की सहायता मुझे सदा सब प्रकार की मिलती रही और आज भी उनकी दया और सहायता मुझे प्राप्त है।

‘वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि’

श्री देवराज मिश्र

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन के जीवन-परिचय का क्रम-बद्ध विवरण सही-सही प्रस्तुत करना बहुत ही कठिन है। श्रद्धेय टडनजी स्वय कभी अपने सम्बन्ध मे लिख सके तो राष्ट्रीय साहित्य की एक अमूल्य निधि हमे प्राप्त हो सकती है, किन्तु ऐसा सभव नही प्रतीत होता। एक तो उनका स्वास्थ्य इस समय ऐसा नही है दूसरे इस कार्य के लिए अवकाश निकाल सकना उनके लिए कठिन है। इसलिए यत्र-तत्र बिखरे सस्मरणो से ही हमे सतोष करना पडता है। पाच वर्षों तक उनके निकट रहकर उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे जो कुछ मै समझ सका हू वह थोडे से शब्दो के सहारे प्रतिबिम्बित नही किया जा सकता। यह तो एक लघु प्रयास मात्र ही है।

टडनजी का कार्य-क्षेत्र चतुर्मुखी और व्यापक रहा है। वे सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक और साहित्यिक सभी क्षेत्रो मे समान रूप से दिलचस्पी लेते है। उनका जीवन एक ऐसे ऋषि का जीवन है जिसकी उपलब्धिया सभी क्षेत्रो मे समान रूप से है और जिसकी सेवाओं का मूल्यांकन प्रत्येक क्षेत्र मे अपना अलग महत्त्व रखता है। राजनीति में काग्रेस के अध्यक्ष-पद पर आसीन होकर उन्होने सस्था का मान बढाया है। काग्रेस के इतिहास मे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और श्रद्धेय टडनजी दो ही ऐसे अध्यक्ष हुए है जिन्हे प्रारम्भ से ही मूर्धन्य नेताओ का कोप-भाजन बनना पडा। किन्तु दोनो मे अन्तर भी है। टडनजी ने अध्यक्ष-पद का परित्याग देश-हित मे उसी प्रकार किया जिस प्रकार मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र ने अयोध्या का युवराज-पद ठुकराया था और विशेषता यह है कि इस त्याग से इन्हे कोई ग्लानि नही हुई। वह उसी प्रकार प्रसन्न रहे जिस प्रकार अध्यक्ष रहते हुए थे। भगवान रामचन्द्रजी के लिए कहे गए ये शब्द टडनजी के ऊपर अक्षरश लागू होते है

प्रसन्नतां या न गताभिषेकस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुल-मंगल-प्रदा॥

श्रद्धेय टडनजी जब काग्रेस-अध्यक्ष निर्वाचित हुए तब नासिक-अधिवेशन मे अध्यक्ष-पद से दिये गए भाषण मे उन्होने एक कथानक का उल्लेख किया। उन्होने कहा——

“एक गडरिया था। वह भेडे चराया करता था। उसके पास एक बासुरी और एक कम्बल था। एक दिन एक राजा उस जगल से निकला जहा वह भेडे चरा रहा था और मस्ती मे बासुरी बजा रहा था। गडरिए ने राजा की ओर कोई ध्यान न दिया। उस गडरिए की एकनिष्ठा मे राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसे लेकर वह अपनी राजधानी वापस आ गया। राजा ने उसे मत्री बना दिया। राज-कर्मचारियो मे इस नये मत्री के विरुद्ध षड्यन्त्र होने लगा। राजा के पास भी शिकायत पहुची कि नये मत्री ने एक कमरे मे ताला लगा रखा है जिसकी चाभी उन्ही के पास है और वह प्रत्येक रात को उस कमरे को खोलकर उसमे सचित धन को सतोष के लिए देख लेते है। राजा ने नये मत्री से कहा कि तुम्हारे प्रति लोगो को शिकायत है। जिस कमरे मे तुम्हारा ताला पडा है उसे मै देखना चाहता हू कि उसमे क्या है? उसने जवाब दिया कि मै आपको वह कमरा दिखला दूगा, किन्तु उसकी एक शर्त है, वह यह कि फिर मै इस पद पर और इस राज्य मे नही रहूगा। उसने सबके सामने उस कमरे का ताला खोलकर राजा को दिखाया। उसमें वही उसका

पुराना निजी कम्बल और बासुरी सुरक्षित रखी थी। उसने दोनों वस्तुओं को उठाया और मस्ती मे बासुरी बजाता हुआ मन्त्रि-पद छोड़कर चला गया। राजा ने बहुत अनुनय-विनय और क्षमा-याचना की किन्तु उसके ऊपर इन सबका कोई प्रभाव नही पडा। वह अपनी पूर्व स्थिति मे ही मस्त और प्रसन्न था।" काग्रेस अध्यक्ष-पद मे त्यागपत्र देने के बाद कई लोगो ने जब टडनजी से कहा कि आपने तो अपने भाषण मे इस कथानक का उल्लेख अपने लिए ही किया था, तब वह केवल मुस्करा दिए। मुझे मालूम है कि उस समय टडनजी पर उनके मित्रो का कितना दबाव पडा कि आप काग्रेस छोड दे, किन्तु उन्होने यही कहा कि मै समझता हू कि काग्रेस छोडकर देश का भला नही किया जा सकता और हम जानते है कि टडनजी अपने इस उद्गार को व्यावहारिक रूप मे अभी भी चरितार्थ कर रहे है।

पर-दुःख-कातरता

टडनजी स्वभाव से बडे कोमल, दयालु और मृदु-भाषी है। वह किसी भी दुखी को देखकर द्रवीभूत हुए बिना नही रह सकते। सन् १९४७ की बात है, देश का विभाजन हो चुका था। लाखो शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आ गए थे। उनके निवास और भोजन की भयकर समस्या थी। टडनजी कही जा रहे थे। सडक पर दो-तीन पजाबी बच्चे लोगो से भीख माग रहे थे। झट मोटर रोककर टडनजी ने बच्चो से बातचीत की और उन्हे घर पर ले गये। वहा से चलते समय उनकी आखो से आसू बह रहे थे। उन्होने कहा, 'पजाबी कभी भीख नही मागता, किन्तु इस मुसीबत मे बेचारो को पेट भरने के लिए यह भी करना पड रहा है।' विभाजन मे उत्पन्न कठिनाइयों और आपत्तियो का प्रभाव टडनजी पर बहुत पडा और वह इससे बहुत दुखी हुए। हम जानते है कि दूरदर्शी टडनजी ने इन्ही कठिनाइयो का हवाला देकर विभाजन का कितना कडा विरोध किया था।

रामलीला के लिए बच्चों का दान

एक बार इलाहाबाद मे रामलीला के सम्बन्ध मे हिन्दू-मुस्लिम तनाव हुआ। मुसलमानो की इस धमकी से कि रामलीला का जुलूस नही निकलने पाएगा और यदि निकलेगा तो खून की नदिया बह जाएगी, हिन्दुओ के मन मे डर पैदा हुआ और राम-लक्ष्मण बनने के लिए लोग अपने बच्चे देने मे डरने लगे। कोई तैयार नही हो रहा था। रामलीला कमेटी के मैनेजर ने इस कठिनाई की चर्चा जब टडनजी से की तो वह उबल पडे। उन्होने कहा, "इस प्रकार की गुडागर्दी की धमकी से रामलीला नही रोकी जा सकती। आप जाइए और जुलूस का प्रबन्ध कीजिए, अपने सातो बच्चे मै आपके हवाले करता हू। इस कार्य के लिए यदि उनका खून हो जाता है तो भी कोई चिन्ता की बात नही, लेकिन जुलूस निकलेगा, उसे कोई रोक नही सकेगा।" टडनजी की इस घोषणा का ऐसा प्रभाव हुआ कि जुलूस शान्तिपूर्वक पूरे शहर का भ्रमण कर निर्विघ्न वापस लौट आया। ऐसे दृढ-प्रतिज्ञ है टडनजी!

दूध का परित्याग

सन् १९३७ की बात है। टडनजी अस्वस्थ थे। डाक्टरो के मतानुसार उन्हे गाय का ताजा दूध पीना चाहिए था। उस समय वह उत्तर प्रदेश व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष थे। ग्वाला सवेरे गाय लेकर स्पीकर-भवन आता था और दूध दुहता था। सयोग से एक दिन जब ग्वाला दूध दुहने के लिए आया ही था कि टडनजी बाहर आगए। बछडा गाय के स्तन से लगा दिया गया और जब थन मे दूध आगया तो बछडे को गाय के आगे खडा करके पकड लिया गया और ग्वाला दूध दुहने लगा। इस बीच बछडा दूध पीने के प्रयास मे गाय के अगले पैरो के बीच मुह मारने लगा। टडनजी यह दृश्य एकटक देख रहे थे। उनकी आखो से अश्रुधारा बह रही थी। उन्होने तत्काल ग्वाले को दूध दुहने मे मना कर दिया, और कहा, "आज से मै दूध नही लूगा। जब हम अपनी मा का दूध दूसरे को नही देते तब दूसरे की मा का दूध अपने लिए लेना शुद्ध अनाचार और इस मूक एव निरीह पशु के साथ घोर अत्याचार है। हमे क्या अधिकार है कि हम इन मूक पशुओ पर अत्याचार करे? इसलिए कि ये बोल नही सकते? मुझे दूध नही चाहिए।"

पशु-वध से प्राप्त चर्म का परित्याग

इसी सदर्भ मे एक बात और स्मरण हो आई है। टडनजी मृत जानवर के चमडे का अथवा कपडे का जूता

पहनते हैं। इसके पीछे भी उनके संत-हृदय की पर-पीडा ही कारण है। सन् १६०७ मे कर्वी (जिला बांदा) के कुछ लोग महामना पडित मदनमोहन मालवीय के पास इस आशय का मसौदा बनवाने के लिए आए कि कर्वी मे खुलने वाला कसाईघर रोक दिया जाय। मालवीयजी ने मसौदा बनाने का कार्य टडनजी को दिया और उन लोगो से कहा कि इस सबध मे टडनजी से बात करे। जब वे लोग टडनजी के पास मसौदा बनवाने के लिए आए तो टडनजी ने पूछा, "क्या कर्वी मे मासाहारियो की इतनी सख्या है कि यह कसाईघर वहा चल सके ?" इस पर उन लोगो ने उत्तर दिया, "कसाईघर वहा मास के लिए नही खोला जा रहा है मास जो बिकेगा वह बिकेगा, अन्यथा फेक दिया जायेगा, यह कसाईघर तो गाय के चमडे के लिए खोला जा रहा है। आजकल बुन्देलखण्ड मे सूखा पडा हुआ है। लोगो के पास जानवरो को खिलाने के लिए चारा नही है अत: एक गाय की कीमत एक-दो रुपया मात्र है। इसी गाय का चमडा आठ-नौ रुपये मे बिक जाता है अतः यह कसाईघर खोला जा रहा है।" कसाईघर का खुलना तो रुक गया, किन्तु उसी दिन से टडनजी ने निश्चय किया कि चमडे का जूता नही पहनेगे और वह निश्चय आज तक अटल है।

टडनजी का व्यक्तित्व सयम, सादगी और तपस्या का मूर्तिमान प्रतीक है। एक मध्यम श्रेणी के परिवार मे जन्म लेकर अपनी तपस्या, साधना और सयम से इतने ऊचे स्तर तक पहुच जाना, विरले व्यक्तियो का ही काम है। टडनजी हमारे देश के ऐसे सत है जो शताब्दियो मे आते है और निर्लिप्त भाव से जनता की सेवा करते रहते हैं। उन्हे किसी फल की आकाक्षा नही रहती, अपितु वे समाज की प्रतारणा सहकर भी उसे कुछ न कुछ देते ही रहते है। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों मे टडनजी का व्यक्तित्व एक मूक सत का व्यक्तित्व है।

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह पर कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥
तुलसी संत सुअम्ब तरु, फूलि फलहिं पर हेत।
इतते वे पाहन हनें, उतते वे फल देत॥

टडनजी अपने सिद्धान्तो की बलि चढाकर किसी के सामने झुकने को तैयार नही हो सकते। जिस बात को वह सही समझते है उस पर वह किसी भी मूल्य पर समझौता नही कर सकते, चाहे उससे उनकी कितनी ही बडी हानि क्यो न हो। अपने प्रतिकूल सिद्धान्तो से समझौता उनका निष्कपट हृदय स्वीकार नही कर सकता। इस कार्य पर उनका हृदय विद्रोह करने लगता है और वह ऐसा अनुभव करते है कि अपनी अतरात्मा के प्रति विश्वासघात का गुरुतर अपराध करने जा रहे है। यही कारण है कि ऐसे सकटकाल मे अपने को एकान्तसेवी बना लेते है और अपने सिद्धान्त पर नगराज हिमालय की तरह अटल रहते है। उनके निश्चय से उन्हे कोई डिगा नही सकता। इस प्रसग मे दो-एक उदाहरण देना अप्रासगिक न होगा।

राष्ट्रपिता बापूजी और श्रद्धेय टडनजी मे राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर जो मतभेद रहा वह तो बहुश्रुत है। सभी जानते है कि टडनजी, 'हिन्दी राष्ट्रभाषा हो और नागरी राष्ट्रलिपि हो', इसके समर्थक है। अपने इस निश्चय से वह कभी विचलित नही हुए, यद्यपि इस प्रश्न को लेकर उन पर मिथ्या आरोप भी लगाये गए। इसी प्रकार बापूजी की अहिंसा और टंडनजी की अहिसा मे भी अन्तर था। बापूजी अपनी अहिसा की व्याख्या यो करते थे कि किसी भी दशा मे हिसा उपादेय या ग्राह्य नही होनी चाहिए; जबकि टडनजी की व्याख्या यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियो मे मनुष्य बाध्यत. यदि हिसा कर भी दे तो वह ग्राह्य व समीचीन है।

सामयिक चेतावनी

सबको विदित है कि सन् १६४६ मे जब अन्तरिम सरकार ने केन्द्र में कार्यभार ग्रहण किया तब बंगाल मे लीगी गुण्डाशाही अपने नग्न रूप मे ताडव नृत्य कर रही थी। सन् १६४७ के मई मास मे टडनजी ने इस गुण्डाशाही के विरुद्ध जनता को सतर्क किया और उन्होने यह रहस्योद्घाटन किया कि देश मे बाहर से गुप्त रूप मे मुसलमानो के पास हथियार आ रहे है और उनके यहा अस्त्र-शस्त्र-सग्रह हो रहा है। बाद मे चलकर यह सत्य साकार हुआ जबकि सरकार

के सशस्त्र सिपाहियो के सामने दिल्ली आदि स्थानो पर डटकर मोर्चा लिया गया। किन्तु उस समय एक तहलका मच गया जब टंडनजी ने यह सत्य बात जनता के सामने रखी। टंडनजी ने यह भी कहा कि यदि इस प्रकार की गुण्डागर्दी हो तो जनता स्वत उसका प्रतीकार करने के लिए तैयार रहे और सरकार को सुझाव दिया कि वह गुडो से परित्राण पाने के लिए लोगों को हथियार दे।

किसी सज्जन ने टंडनजी के इस भाषण की कतरन पूज्य बापूजी को भेजी। बापूजी ने इस कतरन के साथ एक पत्र टंडनजी को भेजा और उसमे लिखा कि, "यदि इसमे कही गई बात सही है तो हम आपस मे कहां मिलते है? हमारी अहिसा की मान्यताए भिन्न है अत हम एक ही साथ एक सगठन मे कैसे काम कर सकते है?" आगे उन्होने लिखा कि किसी दिन आप मिल ले तो इस विषय मे बात हो। टंडनजी ने इस पत्र का उत्तर देते हुए बापूजी को लिखा कि, "यह सही है कि मैने इस कतरन मे लिखी गई बात कही है। मै अहिसा मे विश्वास करता हू, किन्तु मै यह जानना चाहूगा कि यदि एक आततायी किसी बालक का वध कर रहा हो और मै वहा उपस्थित हू तो एक अहिसक के नाते उस समय मेरा क्या कर्तव्य होगा? उस बालक का वध होने दू अथवा उसे रोकू? रोकने मे यदि कोई उपाय कारगर न साबित हो तो फिर उस स्थिति मे मेरा क्या कर्तव्य हो जाता है? मेरी अल्प बुद्धि मे तो यही आता है कि मै उस आततायी का हनन करू और उसे उस निरीह बालक की हत्या करने से रोकू। इसलिए मैने अपने भाषण मे 'शठ प्रति शाठ्य समाचरेत्' की बात कही है। ऐसे आततायियो को रोकने मे यदि मेरी अहिसा असफल होती है तो मुझे हिसा का भी सहारा लेकर उसका प्रतीकार करना चाहिए। इस कार्य मे कही अहिसा की अवमानना नही है।"

स्वाधीन भारत की पुनर्रचना के सबध मे टंडनजी की अपनी एक कल्पना है। वह देश को उस स्थिति मे देखना चाहते है जो सही माने मे 'रामराज्य' हो। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने 'रामराज्य' का जो चित्र अपनी कल्पना द्वारा खीचा है आज टंडनजी उसी चित्र को साकार देखना चाहते है। महर्षि वाल्मीकि ने 'रामराज्य' का वर्णन करते हुए कहा है

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो: न मद्यपः।
नानाहुताऽग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

"रामराज्य में न कोई चोर है न कायर है और न शराब पीनेवाला है। ऐसा कोई घर नही जहा अग्नि न जलती हो अर्थात् भोजन न बनता हो, कोई पर-स्त्री-गामी भी नही है अत व्यभिचारिणियो के होने का प्रश्न ही नही उठता।"

टंडनजी की कल्पना के अनुसार भावी भारत का यही चित्र है। वह समझते है कि पूज्य गाधीजी के स्वप्नो का यही भारत है।

आइए, टंडनजी की इस कल्पना को साकार करने का हम सकल्प लेकर हम उन्हे अपनी विनम्र श्रद्धाजलिया अर्पित करे।

टंडनजी और गांधीजी

(संकलन)

टंडनजी गांधीजी के अनन्य सहयोगी रहे। सेवा, श्रम, त्याग और रचनात्मक कार्यक्रमों में उन्हें गांधी जी की प्रतिमूर्ति ही कहा जा सकता है। जैसे श्री अब्दुल गफ्फार खां को 'सीमांत गांधी', खां अब्दुस्समद खां को 'बलोच गांधी' कहा जाता था, उसी प्रकार, एक समय था, जब जनता टंडनजी को 'उत्तरप्रदेश का गांधी' कहा करती थी। सन् १६३० में जब टंडनजी ने पंजाब नेशनल बैंक के सैक्रेटरी का भारी वेतन वाला पद छोड़कर गांधीजी के कहने से 'लोक-सेवक मण्डल' का कार्य संभाला, तो अपने 'यंग इंडिया' में गांधीजी ने एक सम्पादकीय टिप्पणी लिखी। जिसमें टंडनजी के त्याग और स्वदेश-प्रेम की भूरि-भूरि सराहना की थी।

टंडनजी ही गांधीजी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन में लाए। टंडनजी ने गांधीजी के अहिंसा के सिद्धान्तों को अपने दैनिक जीवन और लोक-व्यवहार में जितना उतारा, उतना, उस रूप में, शायद और किसी से कम ही संभव हुआ होगा। लेकिन टंडनजी कभी अन्धविश्वासी या विवेकहीन श्रद्धा के समर्थक नहीं रहे। उन्होंने हर बात को अपने विवेक के कांटे पर तोला है। और यदि उसमें कहीं भी पासंग नजर आया है, तो कितना ही बड़ा लाभ क्यों न मिले, उसे तृणवत समझकर त्याग दिया है। यहां हम अहिंसा-हिंसा और हिन्दी-हिन्दुस्तानी पर गांधीजी तथा टंडनजी के ऐतिहासिक विचारों को उद्धृत कर रहे हैं। पाठक देखेंगे कि न दोनों नेताओं में मतभेद है, लेकिन न टंडनजी में अविनय है, और न गांधीजी में स्नेह की कमी। इन प्रसंगों से, गांधीजी और टंडनजी दोनों की विचार-दृढ़ता और विवेकनिष्ठा का पता चलता है।

—सम्पादक

अहिंसा और हिंसा

एक भाई ने मेरे पास इस आशय का एक बहुत सख्त पत्र भेजा है कि "क्या तुम अब भी पागल ही रहोगे ? अब तो थोडे दिनो मे इस दुनिया से चले जाओगे, तब भी कुछ सीखोगे नही ? यदि पुरुषोत्तमदास टडन ने यह कहा कि 'सबको तलवार लेनी चाहिए, सिपाही बनना चाहिए और अपना बचाव करना चाहिए' तो तुमको इस बात से चोट क्यो लगती है ? तुम तो गीता के पढने वाले हो ? तुम्हे तो इन द्वन्द्वो से परे हो जाना चाहिए और बात-बात मे चोट लगा लेने या खुश होने की झझट छोड देनी चाहिए। तुम उस कहानी वाले भोले साधुबाबा-जैसी बात करते हो जो पानी मे बहते हुए बिच्छू के डक लगाने पर भी उसे हाथ से पकडकर बचाने की कोशिश करता था। अगर तुम से अहिसा का गीत गाये बिना रहा नही जाता तो कम से कम जो दूसरे रास्ते से जाते है उन्हे तो जाने दो। उनके बीच मे रोडा क्यों बनते हो ?"

अगर मै स्थितप्रज्ञ रह सका तो अपनी एक सौ पच्चीस वर्ष की उम्र में से एक भी वर्ष कम जिन्दा नही रहूगा। अगर हम सब स्थितप्रज्ञ बनें तो हममे से एक भी आदमी को १२५ वर्ष से जरा भी कम जीने का कोई कारण नही है। वैसे भगवान चाहे तो भले ही मुझे आज ही उठा ले, पर अभी तुरन्त मै चलने वाला नही हू। मुझे अभी रहना

है और काम करना है। पुरुषोत्तमदास टडन मेरे पुराने साथी है। हम वर्षों तक साथ-साथ काम करते आए है। मेरे जैसे ही ईश्वर के वह भक्त हैं। जब मैंने यह सुना कि वह ऐसी बात कर रहे है तब मुझे दु ख हुआ। मैंने कहा कि आज तीस बरस से भी अधिक समय से जो हमने सीखा है और जिसकी हमने लगन से साधना की है, वह क्या इस तरह गँवा दिया जाएगा ? बचाव के लिए तलवार पकडने की बात की जाती है, पर आजतक मुझे दुनिया मे एक आदमी ऐसा नही मिला है, जिसने बचाव से आगे बढ़कर प्रहार न किया हो। बचाव के पेट मे ही वह पडा है। अब रही मेरे दिल पर चोट लगने की बात; अगर मैं पूरा स्थितप्रज्ञ बन गया होता तो मुझे चोट न लगती। अब भी चोट न लगे, ऐसी कोशिश मैं कर रहा हू। कल जहा था, वहा से आज कुछ-न-कुछ आगे ही बढता हू। अगर ऐसा नही तो रोज-रोज गीता मे से स्थितप्रज्ञ के ये श्लोक बोलने में मै दंभी ठहरता हू; पर ऐसा नही हो सकता कि इन श्लोको के बोलने भर से ही कोई एक ही दिन मे स्थितप्रज्ञ बन जाय।

आज सबेरे जब मेरा मौन था तो श्री पुरुषोत्तमदास टडन आए। मैंने आपको बताया था कि टड़नजी ने कहा था कि हरेक स्त्री-पुरुष को शस्त्रधारी बनना चाहिए और स्वरक्षा करनी चाहिए, तो यह सुनकर मुझे कैसा बुरा लगा था। एक पत्र-लेखक ने मुझसे पूछा था कि गीता पढते रहने पर भी इस तरह आपको बुरा कैसे लग सकता है ? उप पत्र से यह भी पता चलता था कि टडनजी 'शठ प्रति शाठ्य' का सिद्धान्त मानते है। तब टडनजी से मैंने पूछा कि आप क्या मानते है ? इसका खुलासा देते हुए टडनजी ने बताया कि मै 'शठ प्रति शाठ्य' के सिद्धान्त को नही मानता हू, लेकिन स्वरक्षा के लिए शस्त्रधारी बनना जरूरी है, ऐसा मै मानता हू। गीता ने भी यही सिखाया है।

तब मैंने टडनजी से कहा कि इतना तो आप उस भाई को लिख दीजिए कि आप 'शठ प्रति शाठ्य' के मानने वाले नही है ताकि वह भ्रम मे न रहे। और स्वरक्षा के लिए हिसा करने की बात गीता मे कही है, यह मै नही मानता। मैने तो गीता का अलग ही अर्थ निकाला है। मेरी समझ मे गीता ऐसा नही सिखाती है। गीता मे या दूसरे किसी सस्कृत-ग्रथ मे अगर ऐसी बात लिखी है तो मै उसे धर्मशास्त्र मानने को तैयार नही हू। महज सस्कृत मे कुछ लिख देने से कोई वाक्य शास्त्र-वाक्य नही बन जाता।

टडनजी ने मुझसे कहा, "तुमने तो उन बदरो को मारने के लिए भी लिखा था, जो बेहद पीडा पहुचाते है और खेती उजाड़ देते है।" लेकिन मै तो किसी भी प्राणी का और यहा तक कि चीटी तक को भी मारना पसन्द नही करता। फिर भी खेती-बाडी का सवाल अलग है और मनुष्य का अलग है।

तब टडनजी ने कहा कि 'शठ प्रति शाठ्य' यानी एक दात के बदले मे दो दात निकालने की बात हम न करे और एक दात के बदले मे एक दात तथा एक थप्पड के बदले मे एक थप्पड की बात भी न करेगे, परन्तु हाथ मे शस्त्र नही लेगे, अपनी शक्ति नही दिखाएगे तो स्वरक्षा किस तरह होगी ?

इस बारे मे मेरा यह जवाब है कि स्वरक्षा जरूर की जाय, पर मेरी स्वरक्षा कैसे होगी ? कोई मेरे पास आता है और कहता है कि बोल, राम-नाम लेता है या नही ? नही लेगा तो यह तलवार देख ! तब मै कहूगा, यद्यपि मै हरदम राम-नाम लेता हू, लेकिन तलवार के बल पर हरगिज न लूगा। चाहे मारा ही क्यो न जाऊ ! और इस तरह स्वरक्षा के लिए मरूगा। वैसे कलमा पढने से मेरा कोई धर्म जाने वाला नही है। क्या हो गया, अगर मै ठेठ अरबी मे बोलू कि अल्लाह एक है और उसका रसूल एक ही मुहम्मद पैगम्बर है। ऐसा बोलने मे कोई पाप नही और इतने भर से वे मुझे मुसलमान मानने को तैयार है तो मै अपने लिए फख्र की बात समझूगा। लेकिन, जब तलवार के जोर मे कोई कलमा पढवाने आवेगा तब कभी भी कलमा नही पढ़ूगा। अपनी जान देकर मै स्वरक्षा करूगा। इस बहादुरी को सिद्ध करने के लिए मै जिन्दा रहना चाहता हू। इसके अलावा और तरीके से मै जीना नही चाहता।

('प्रार्थना प्रवचन' से)

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

महाबलेश्वर
२८-५-४!

भाई टंडनजी,

मेरे पास उर्दू खत आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती। सब पूछते है, मै कैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन ं रह सकता हू और हिन्दुस्तानी सभा मे भी ? वे कहते है, सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है जिसं नागरी लिपि को ही राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, जब मेरी दृष्टि में नागरी और उर्दू लिपि को स्थान दिया जाता है जो भाषा न फारसीमयी है न सस्कृतमयी है। जब मै सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहं देता हू तब मुझे सम्मेलन मे से हट जाना चाहिए। ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है। इस हालत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फर्ज नही होता है ? ऐसा करने से लोगो को दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मै कहां हू।

कृपया शीघ्र उत्तर दे। मौन के कारण मैने ही लिखा है, लेकिन मेरे अक्षर पढने मे सबको मुसीबत होर्त है इसलिए इसे लिखवाकर भेजता हू।

आप अच्छे होगे।

आपक
मो० क० गांधं

१० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद,
८-६-४५

पूज्य बापूजी, प्रणाम।

आपका २५ मई का पत्र मुझे मिला। हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कामों मे कोई मौलिक विरोध मेरे विचार मे नही है। आपको स्वय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सदस्य रहते हुए लगभग २७ वर्ष हो गये। इसी बीच आपने हिन्दी-प्रचार का काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। वह सब काम गलत था, ऐसा तो आप नही मानते होगे। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी-प्रचार वाछनीय है यह तो आपका सिद्धान्त है ही। आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू-शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिए। यह पहले काम मे भिन्न एक नया काम है जिसका पिछले काम मे कोई विरोध नही है।

सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है जो विशिष्ट जनों मे प्रचलित है।

स्वय वह हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू-शैली का नही। आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते है। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नही करता। किन्तु राष्ट्रीय कामो मे अग्रेजी को हटाने मे वह उसकी सहायता का स्वागत करता है। भेद केवल इतना है कि आप दोनो चलाना चाहते है। सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सदस्यो को हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सदस्य होने मे रोक नही है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से निर्वाचित हिन्दुस्तानी एकेडमी हिन्दी और उर्दू दोनो शैलिया और लिपिया चलाती है। इस दृष्टि से मेरा निवेदन है कि मुझे इस बात का कोई अवसर नही लगता कि आप सम्मेलन छोडे।

एक बात इस सम्बन्ध मे और भी है। यदि आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अब तक सदस्य न होते तो सम्भवत आपके लिए यह ठीक होता कि आप हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम करते हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आने की आवश्यकता न देखते। परन्तु जब आप इतने समय मे सम्मेलन मे हैं तब उसका छोडना उसी दशा मे उचित हो सकता है जब निश्चित रीति से उसका काम आपके नए काम के प्रतिकूल हो। यदि आपने अपने पहले काम को रखते हुए उसमे एक शाखा बढाई है तो विरोध की कोई बात नही है।

मुझे जो बात उचित लगी, ऊपर निवेदन किया। किन्तु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नही है और आपकी आत्मा यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊ तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते हुए भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूगा।

हाल मे हिन्दी और उर्दू के विषय मे एक वक्तव्य मैने दिया था, उसकी एक प्रतिलिपि सेवा मे भेजता हू। निवेदन है कि इसे पढ लीजिएगा।

विनीत,

पुरुषोत्तमदास टडन

पुन:——इस समय न केवल आप किन्तु हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मत्री श्री श्रीमन्नारायणजी तथा कई अन्य सदस्य सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के सदस्य है। एक स्पष्ट लाभ इससे यह है कि राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कामों मे विरोध न हो सकेगा। कुछ मतभेद होते हुए भी साथ काम करना हमारे नियत्रण का अश होना उचित है।

पु० दा० टडन

पचगनी,

१३-६-४५

भाई पुरुषोत्तमदास टडनजी,

आपका पत्र कल मिला। आप जो लिखते है उसे मै बराबर समझता हूं तो नतीजा यह होना चाहिए कि आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करे और मुझे मदद दे। ऐसा होता नही है। और गुजरात मे लोगो के मन मे दुविधा पैदा हो गई है। और मुझसे पूछ रहे है कि क्या करना है? मेरे ही भतीजे का लडका और ऐसे दूसरे, हिन्दी का काम कर रहे है और हिन्दुस्तानी का भी। इससे मुसीबत पैदा होती है। पेरीन बहन को आप जानते है। वह दोनो काम करना चाहती है। लेकिन अब मौका आ गया है कि एक या दूसरे को छोडे। आप कहते है वह सही है तो ऐसा मौका आना ही नही चाहिए। मेरी दृष्टि से एक ही आदमी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मन्त्री या प्रमुख बन सकता है। बहुत काम होने के कारण न हो सके तो वह दूसरी बात है। और यह मै कहता हू वही अर्थ आपके पत्र का है, और होना चाहिए। तब तो कोई मतभेद का कारण नही रहता और मुझको बडा आनन्द होगा। आपका जो वक्तव्य आपने भेजा है मै पढ गया हू। मेरी दृष्टि से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बिल्कुल आप ही का काम कर रही है, इसलिए यह आपके धन्यवाद की पात्र है, और कम-से-कम उसमे आपको सदस्य होना चाहिए। मैने तो आपसे विनय भी किया कि आप उसके सदस्य बने, लेकिन आपने इनकार किया है, ऐसा कह कर कि जब तक डाक्टर अब्दुलहक न बने, तब तक आप भी बाहर रहेगे। अब मेरी दरख्वास्त यह है कि अगर मै ठीक लिखता हू और दोनो एक ही विचार के है तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। अगर इसकी आवश्यकता नही है तो मेरा कुछ आग्रह नही है। कम-से-कम हम दोनो मे तो इस बारे मे मतभेद नही है इतना स्पष्ट होना चाहिए। हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे से निकलना मेरे लिए कोई मजाक की बात नही है। लेकिन जैसे मै कांग्रेस मे से निकला तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए, उसी तरह अगर मै सम्मेलन मे से निकला तो भी सम्मेलन की अर्थात् हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूगा।

जिसको आप मेरे नए विचार कहते है वे सचमुच तो नए नही है, लेकिन जब मै सम्मेलन का प्रथम सभापति हुआ तब जो कहा था और दोबारा सभापति हुआ तब अधिक स्पष्ट किया, उसी विचार-प्रवाह का मै अभी स्पष्ट रूप से अमल कर रहा हू ऐसा कहा जाय। आपका उत्तर आने पर मै आखिर का निर्णय कर लूंगा।

आपका

मो० क० गांधी

१०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
११–७–४५

पूज्य बापूजी, प्रणाम।

आपका पचगनी से लिखा हुआ १३ जून का पत्र मिला था। उसके तुरन्त बाद ही राजनीतिक परिवर्तनों और आपके पचगनी से हटने की बात सामने आई। मेरे मन में यह आया था कि राजनीतिक कामो की भीड से थोडी सुविधा जब आपके पास देखू तब मै लिखू। आज ही सवेरे मेरे मन में आया कि इस समय आपको कुछ सुविधा होगी। उसके बाद श्री प्यारेलालजी का ६ तारीख का पत्र आज ही मिला जिसमे उन्होने सूचना दी है कि आप मेरे उत्तर की राह देख रहे है।

आपने अपने २८ मई के पत्र मे मुझसे पूछा था कि—मैं कैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे रह सकता हू और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा मे भी। इस प्रश्न का उत्तर मैंने अपने ८ जून के पत्र मे आपको दिया। मेरी बुद्धि मे जो काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन कर रहा है उसमे आपके अगले काम का कोई विरोध नही होता। इस १३ जून के पत्र मे आपने एक दूसरे विषय की चर्चा की है। आपने लिखा है कि "आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नए दृष्टिकोण का स्वागत करे और मुझे मदद दे।" मैंने मौखिक रीति से आपको स्पष्ट करने का यत्न किया था, और जिस वक्तव्य की नकल मैंने आपको भेजी थी, उसमे भी मैंने स्पष्ट किया है कि मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवासी हिन्दी और उर्दू दोनो सीखे, सहमत नही हो पाता। मेरी बुद्धि स्वीकार नही करती कि आपका यह नया कार्यक्रम व्यावहारिक है। मुझे तो दिखाई देता है कि बगाली, गुजराती, मराठी, उडिया आदि बोलने वाले इस कार्यक्रम को स्वीकार नही करेंगे।

हिन्दी और उर्दू का समन्वय हो, इस सिद्धान्त मे पूरी तरह से मैं आपके साथ हू। किन्तु यह समन्वय, जैसा मैंने आपसे बम्बई मे निवेदन किया था और जैसा मैंने वक्तव्य मे भी लिखा है, तब ही सभव है जब हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी सस्थाए इस प्रश्न मे श्रद्धा दिखाए। मैंने इस प्रश्न को, प्रयाग मे प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सामने थोडे दिन हुए, रखा था। मेरे अनुरोध से वहा यह निश्चय हुआ है कि इस प्रकार के समन्वय का हिन्दी वाले स्वागत करेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उर्दू की सस्थाए भी इस समन्वय के सिद्धान्त को स्वीकार करे। उर्दू-लेखक न चाहे तथा आप और हम समन्वय कर ले, यह असम्भव है। इस काम के करने का क्रम यही हो सकता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी विद्यापीठ, अजुमने तरक्कीए उर्दू, जामिया मिलिया तथा इस प्रकार की दो-एक अन्य सस्थाओ के प्रतिनिधियो से निजी बातचीत की जाय, और यदि उनके सचालको का रुझान समन्वय की ओर हो तो उनके प्रतिनिधियो की एक बैठक की जाय और इस प्रश्न के पहलुओ पर विचार हो। भाषा और लिपि दोनो ही के समन्वय का प्रश्न है; क्योकि अनुभव से दिखाई पड रहा है कि साधारण कामो मे तो हम एक भाषा चलाकर दो लिपि मे उसे लिख ले, किन्तु गहरे और साहित्यिक कामो मे एक भाषा और दो लिपि का सिद्धान्त चलेगा नही। भाषा का स्थायी समन्वय तभी होगा जब हम देश के लिए एक साधारण लिपि का विकास कर सकें। काम बहुत बडा अवश्य है, किन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से स्पष्ट ही बहुत महत्त्व का है।

मेरे सामने यह प्रश्न १९२० से रहा है, किन्तु यह देखकर कि उसके उठाने के लिए जो राजनीतिक वायुमडल होना चाहिए वह नही है, मै उसमे नही पडा और केवल राष्ट्रभाषा के हिन्दी-रूप की ओर मैंने ध्यान दिया, यह समझकर कि इसके द्वारा प्रान्तीय भाषाओ को हम एक राष्ट्रभाषा की ओर लगा सकेंगे। मै स्वीकार करता हू कि पूर्ण काम तभी कहा जा सकता है कि जब हम उर्दूवालो को भी अपने साथ ले सकें। किन्तु उस काम को व्यावहारिक न देखकर देश की अन्य भाषा-भाषी जनता को हिन्दी के पक्ष मे करना एक बहुत बडा काम राष्ट्रीयता के उत्थान मे कर लेना है। अस्तु, इसी दृष्टि से मैंने काम किया है। उर्दू के विरोध का तो मेरे सामने प्रश्न हो ही नही सकता। मै तो उर्दूवालो को भी उसी भाषा की ओर खीचना चाहूगा जिसे मैं राष्ट्रभाषा कहू। और उस खीचने की प्रतिक्रिया मे स्वभावत: उर्दू वालो का मत लेकर भाषा के स्वरूप-परिवर्तन मे भी बहुत दूर तक कुछ निश्चित सिद्धान्तो के आधार पर जाने को तैयार हू। किन्तु जब तक वह काम नही होता, तब तक इसी से सन्तोष करता हू कि हिन्दी द्वारा राष्ट्र के बहुत बडे

अशों में एकता स्थापित हो।

आपने जिस प्रकार से काम उठाया है वह ऊपर मेरे निवेदन किये हुए क्रम से बिलकुल अलग है। मैं उसका विरोध नही करता, किन्तु उसे अपना काम नही बना सकता।

आपने गुजरात के लोगो के मन मे दुविधा पैदा होने की बात लिखी है। यदि ऐसा है तो आप कृपया विचार करे कि इसका कारण क्या है। मुझे तो यह दिखाई देता है कि गुजरात के लोगो (तथा अन्य प्रान्तो के लोगो) के हृदयो मे दोनों लिपियो के सीखने का सिद्धान्त घुस नही रहा है किन्तु आपका व्यक्तित्व इस प्रकार का है कि जब आप कोई बात कहते है तो स्वभावत इच्छा होती है कि उसकी पूर्ति की जाय। मेरी भी तो ऐसी ही इच्छा होती है, किन्तु बुद्धि आपके बताए मार्ग का निरीक्षण करती है और उसे स्वीकार नही करती।

आपने पेरीन बहन के बारे मे लिखा है। यह सच है कि वह दोनो काम करना चाहती है। उसमे तो कोई बाधा नही है। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्यकर्त्ताओ मे विरोध न हो और वे एक-दूसरे के कामो को उदारता से देखें, इसमे यह बात सहायक होगी कि हिंदुस्तानी प्रचार सभा और राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति का काम अलग-अलग सस्थाओ द्वारा हो, एक ही सस्था द्वारा न चले। एक के सदस्य दूसरे के सदस्य हो, किन्तु एक ही पदाधिकारी दोनो सस्थाओ के होने से व्यावहारिक कठिनाइया और बुद्धि-भेद होगा। इसलिए पदाधिकारी अलग-अलग हो। आपको याद दिलाता हू कि इस सिद्धात पर आपसे सन ४२ मे बाते हुई थी। जब हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बनने लगी, उसी समय मैंने निवेदन किया था कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का मन्त्री और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का मन्त्री एक होना उचित नही। आपने इसे स्वीकार भी किया था और जब आपने श्रीमन्नारायण जी के लिए हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का मन्त्री बनना आवश्यक बताया तब ही आपकी अनुमति से यह निश्चय हुआ था कि कोई दूसरा व्यक्ति राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के मन्त्री पद के लिए भेजा जाय और उसके कुछ दिन बाद आनन्द कौसल्यायनजी भेजे गए थे। यही सिद्धान्त पेरीन बहन के सम्बन्ध मे लागू है जिस प्रकार श्रीमन्नारायणजी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मन्त्री हुए और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के स्तम्भ रहे है, उसी प्रकार पेरीन बहन दोनो सस्थाओ मे से एक की मत्रिणी हों और दूसरे मे भी खुलकर काम करे। इसमे तो कोई कठिनता की बात नही है। यही सिद्धान्त सब प्रान्तो के सम्बन्ध मे लगेगा। सभवत श्रीमन्नारायणजी उन सब स्थानो मे, जहा राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति का काम हो रहा है, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की शाखाए खोलने का प्रयत्न करेंगे। उन्होने राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के कुछ पदाधिकारियो से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम करने के लिए पत्र-व्यवहार भी किया है। आपस मे विरोध न हो इसके लिए यह मार्ग उचित है कि दोनो सस्थाओ की शाखाएं अलग-अलग हो। और उनके मुख्य पदाधिकारी अलग हो। साथ ही मेल और समझौता रखने के लिए दोनो की सदस्यता सबके लिए खुली है। यह तो मेरी बुद्धि-ऐसा क्रम है जिसका स्वागत होना चाहिए।

आपने मेरे वक्तव्य को पढने की कृपा की और उससे आपने यह परिणाम निकाला कि हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बिलकुल मेरा ही काम करेगी और मुझे उसका सदस्य होना चाहिए। आपने यह भी लिखा कि आपने मुझसे सदस्य होने के लिए कहा था किन्तु मैंने यह कहकर इन्कार किया जब तक अब्दुलहक साहब उसके सदस्य न बनेंगे मैं भी बाहर रहूगा। यह सच है कि मैं हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का सदस्य नही बना हू। इस सम्बन्ध मे सन ४२ मे काका कालेलकर जी ने मुझसे कहा था और हाल मे डा० ताराचन्द ने। आपने बम्बई मे पचगनी जाने से पहले एक लिफाफे मे दो पत्र मुझे भेजे थे। उनमे से एक मे आपने इस विषय मे लिखा था। किन्तु मुझे बिलकुल स्मरण नही है कि कभी आपने मौखिक रीति से मुझसे हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का सदस्य बनने के लिए कहा हो और मैंने अब्दुलहक साहब का हवाला देकर इन्कार किया हो। मुझे लगता है कि आपने एक सुनी हुई बात को अपने सामने हुई बात मे स्मृति-भ्रम से परिणत कर दिया है। सन ४२ मे काकाजी ने जब चर्चा की उस समय मैंने उनसे मौलवी अब्दुलहक तथा उर्दूवालो को लाने की बात अवश्य कही थी। तात्पर्य वही था जो आज भी है; अर्थात यह कि, जब तक हिन्दी और उर्दू-लेखक हिन्दी-उर्दू के समन्वय में शरीक नही होते तब तक यह यत्न सफल नही हो सकता। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा यदि इस काम मे कुछ

भी सफलता प्राप्त करेगी तो वह अवश्य मेरे धन्यवाद की पात्र होगी। आज तो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में शामिल होने में मेरी कठिनता इसलिए बढ गई है कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाने के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियो और लिपियो को अलग-अलग प्रत्येक देशवासी को सिखाने की बात करती है।

यह तो मैने आपके पत्र की बातो का उत्तर दिया। मेरा निवेदन है कि इन बातों से यह परिणाम नही निकलता कि आप अथवा हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के अन्य सदस्य सम्मेलन से अलग हो। सम्मेलन हृदय से आप सबों को अपने भीतर रखना चाहता है। आपके रहने से वह अपना गौरव समझता है। आप आज जो काम करना चाहते है वह सम्मेलन का अपना काम नही है। किन्तु सम्मेलन जितना करता है वह आपका काम है। आप उससे अलग जो करना चाहते है उसे सम्मेलन मे रहते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं।

विनीत

पुरुषोत्तमदास टडन

सेवाग्राम,

२५-७-४५

भाई टंडनजी,

आपका ता० ११-७-४५ का पत्र मिला। मैने दो बार पढा। बाद मे भाई किशोरलाल को दिया। वह स्वतन्त्र विचारक है आप जानते होगे। उन्होने लिखा है सो भी भेजता हू। मै तो इतना ही कहूंगा। जहां तक हो सका मै आपके प्रेम के आधीन रहा हू। अब समय आया है कि वही प्रेम मुझे आपसे वियोग करायेगा। मै अपनी बात नही समझा सका हू। यही पत्र आप सम्मेलन की स्थायी समिति के पास रखे। मेरा खयाल है कि सम्मेलन ने मेरी हिन्दी की व्याख्या अपनाई नही है। अब तो मेरे विचार इसी दशा मे आगे बढ रहे है। राष्ट्र-भाषा की मेरी व्याख्या मे हिन्दी और उर्दू लिपि और दोनो शैली का ज्ञान आता है। ऐसा होने से ही दोनो का समन्वय होने का है तो हो जायगा। मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलन को चुभेगी। इसलिए मेरा इस्तीफा कबूल किया जाय। हिन्दुस्तानी-प्रचार का कठिन काम करते हुए मै हिन्दी की सेवा करूगा और उर्दू की भी।

आपका

मो० क० गाधी

१०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद

२-८-४५

पूज्य बापूजी,

आपका २५ जुलाई का पत्र मिला। मै आपकी आज्ञा के अनुसार खेद के साथ आपका पत्र स्थायी समिति के सामने रख दूगा। मुझे तो जो निवेदन करना था अपने पिछले दो पत्रो मे कर चुका।

आपके पत्र के साथ भाई किशोरलालजी मशरूवाला का पत्र मिला है। उनको मै अलग उत्तर लिख रहा हू। वह इसके साथ है। कृपया उन्हे दे दीजिएगा।

विनीत

पुरुषोत्तमदास टडन

श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला ने २५ जुलाई, सन १९४५ ई० को 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' के प्रश्न पर एक पत्र श्रद्धेय टडनजी को लिखा था। वह पत्र इस प्रकार था——

सेवाग्राम, वर्धा
२५-७-४५

श्रद्धेय श्री टंडनजी, प्रणाम।

पूज्य बापूजी की आज्ञा से मैंने आपका ता० ११ का पत्र बहुत ध्यान से पढ़ा और सोचा और मेरे दिल मे जो विचार उठे, उन्हे लिख दिए। उन्होने फरमाया कि मैं उन विचारो को आपके नाम पत्र के रूप मे लिख दू। इसलिए इसे भेज रहा हू। आप जानते ही होगे कि मै तो दोनो सस्थाओ मे से एक मे भी नही हू, सिर्फ स्वतन्त्र रूप से इस विषय मे दिलचस्पी रखता हू। आपके पत्र से मेरे दिल मे यह शका उठती है कि हिन्दुस्तानी के प्रचार मे आप सहयोग दे नही सकते। इसका कारण सिर्फ आपको गाधीजी का कार्यक्रम व्यवहार्य मालूम नही होता, इतना ही है, या आप उसमे कुछ दोष भी देखते है ? और दोष देखते है तो वह कौन-सा ?

'अव्यवहार्यता' से अगर यह मतलब हो कि लोगो को दोनो शैलिया या लिपिया सीखने के लिए राजी करना मुश्किल चीज है, तो मैं उसे मान लूगा। पर आप जानते ही है कि मुश्किलो से डरना तो गाधीजी का स्वभाव कभी नही रहा। भरसक कोशिश करते रहना, समझाना, प्रेरणा देना और आखिर मे जनता के दिल मे अपनी बात स्थिर करके ही रहना यह उनकी रीति है।

सवाल यह है कि यदि आप हिन्दी-उर्दू दोनो का समन्वय करना चाहते हैं, तो क्या आप यह नही मानते कि जो दोनो शैलिया और लिपिया जानते होगे वैसे ही लेखक और दोनो का प्रचार करने वाली सस्थाए ही समन्वय का काम कर सकेगी ?

आपने उर्दू-सस्थाओ के सहयोग का जिक्र किया है। मैं आशा करता हू कि आप इसमे मुस्लिम लेखक और मुस्लिमो से बनाई हुई सस्थाओ का ही समावेश नही करेंगे, क्योकि उर्दू-शैली और लिपि यह कुछ मुस्लिमो का ही इलाका तो कभी नही रहा। यह हुआ है सही कि इन चालीस-पचास साल मे उर्दू का फैलाव पहले की अपेक्षा सकुचित हुआ है और क्योकि उर्दू-शैली और लिपि के कम होने से मुस्लिमो को ज्यादा नुकसान प्रतीत होता है उन्हे यह परिस्थिति चुभी है। और उनमे इस विषय मे एक तरह की आत्म-रक्षा की भावना काम कर रही है। इसलिए यदि मान भी लिया जाय कि मुस्लिम लेखक या उनकी सस्थाए समन्वय के काम मे मदद न देगी, तो भी उर्दू जाननेवाले हिन्दू-लेखक और समन्वय चाहने वाली राष्ट्रीय वृत्ति के सब जातियो के लोगो की सस्थाए इसे शुरू कर सकती है। वैसा समन्वित शैली मे लिखा हुआ साहित्य दोनो लिपियो मे लोगो के आगे रख दिया जाय तो धीरे-धीरे लोगो की जबान मे समन्वित भाषा घर कर लेगी।

मै स्वीकार करता हू कि एक ही लिपि रहती तो यह काम बहुत सरल हो जा सकता, पर यह काल अभी कुछ दूर मालूम होता है। यहा पर भी यह याद रखा जाय कि इसमे वास्तव मे स्पर्धा नागरी-उर्दू की नही, नागरी-रोमन की है। परन्तु साम्प्रदायिक भावो के कारण तथा उर्दू लिपि का इन चालीस-पचास सालो मे धीरे-धीरे पैर पीछे हट जाने के कारण नागरी के प्रति विरोध पैदा हुआ है। इसमे आखिर मे नागरी को यश मिलेगा, या नागरी को भी हटकर रोमन या किसी और अन्तर्राष्ट्रीय लिपि को अपनाना होगा, यह तो भविष्य ही कह सकता है। मेरी अपनी राय तो रोमन के प्रतिकूल नही है, पर यह दूसरी बात है। वर्तमान मे तो मेरी राय समन्वय चाहने वालो के लिए नीचे लिखा कार्यक्रम ही हो सकता है—

१—हिन्दी-शैली के उत्तम साहित्य का उर्दू-लिपि मे और उर्दू का नागरी मे प्रचार करना, (हमारे लिए उर्दू-लिपि का सुधार भी जरूरी हो सकता है। जरूरत के अनुसार टिप्पणियो के साथ)।

२—दोनो लिपियो मे समन्वित शैली मे लिखे हुए साहित्य का प्रचार करना।

दोनो शैलिया और लिपिया सीखने के लिए जनता को सलाह देना और समझाना। किसी एक ज्ञान मे सतोष रखना ठीक नही, इसीलिए दोनो का प्रचार करना।

हमारे इस प्रयत्न के करते हुए भी मुमकिन है कि कई लोग सिर्फ एक ही शैली और लिपि से सन्तोष मानेगे।

इसे तो हम सहन कर लें। लेकिन यदि आप लोग स्वय जो इस काम के नेता हैं, और समन्वय में मानते हैं, एक ही शैली या लिपि का प्रचार करने से सन्तोष पकडे तब तो आप अपने ही हाथ से अपने ध्येय पर प्रहार करने वाले हो जाते हैं।

इस पर से मै तो आप से उलटे ही निर्णय पर पहुंचता हूं। वह यह कि न सिर्फ गाधीजी को, वरन आपको भी एक ही शैली और लिपि का प्रचार करने वाली संस्था में रहना उचित नही। न यह कि गाधीजी तो दोनों संस्थाओं मे रह सकते हैं, परन्तु आप दोनों का प्रचार करने वाली सस्था मे नही रह सकते।

पूज्य बापूजी की इच्छा से यह अनधिकार मानी जाय, ऐसी चेष्टा की है। उसे आपको उदार दृष्टि से देखने की विनती करता हू।

आपका विनीत

किशोरलाल घ० मशरूवाला

१०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद

२–८–४५

प्रिय भाई किशोरलालजी, नमस्कार

आपका २५ जुलाई का पत्र पूज्य बापूजी के पत्र के साथ मिला। आपने मेरे ११ जुलाई के पत्र को पढकर जो शका उठाई है उसके समाधान करने का यत्न करता हू।

अव्यवहार्यता से मेरा साधारण मतलब वही है जो आपने लिखा है, अर्थात् लोग राजी न होगे। साथ ही उनके राजी न होने मे मुझे उचित कारण भी दिखाई पडता है। पूज्य बापूजी ने यह प्रश्न राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के काम के कारण उठाया है और उसके काम का सम्बन्ध उन लोगो से है जिनकी मातृभाषा हिन्दी (या उर्दू) नही है। वे लोग साधारणत अपनी भाषा और लिपि सीखते है। राष्ट्रीयता के नाते हम उनसे नागरी लिपि द्वारा हिन्दी भाषा सीखने को कहते रहे है। नागरी उनकी लिपि के समीप है और सस्कृत सीखने के लिए उनमे से बहुत से नागरी जानते है। इस कारण नागरी द्वारा हिन्दी तक पहुचना उनके लिए सरल है। उर्दू फारसी लिपि मे लिखी जाती है। एक ध्वनि के कई अक्षर होने के कारण उस लिपि को सीखने मे विशेष कठिनाई होती है। इसका ठीक अनुभव आप तब कर सकते हैं जब शुद्ध उर्दू सीखने का अभ्यास करे। अहिन्दी भाषा-भाषी उस लिपि को सही-सही सीख पावे। यह अपवाद होगा, साधारण नियम नही। राष्ट्रीयता के नाम पर भी यह सभावना मुझे नही लगती कि यह सिद्धान्त हिन्दी-प्रान्तो मे चल सके। इसके चलाने मे मुझे हानि यह दिखाई पडती है कि जो शक्ति इस काम मे लगेगी उसका फल आपेक्षिक दृष्टि से बहुत थोडा होगा और यह भी सभव है कि कुछ लोगो को इन दो लिपियो के प्रश्न से एक प्रकार की उदासीनता पैदा हो जाय।

जहा हिन्दी या उर्दू बोली जाती है वहा का प्रश्न अलग है। वहा के लिए मैंने स्वय सन १९३१ मे हिन्दी-उर्दू दोनो सिखलाने की बात उस रिपोर्ट मे कही थी जो कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दगे पर लिखी गई थी। उस रिपोर्ट के कुछ अश उद्धृत करता हू

(क) हिन्दुस्तानी बोलने वाले क्षेत्रो मे समस्त छात्रो के नागरी और पारसीक (परशियन) लिपि मे लिखी हुई हिन्दी और उर्दू दोनो ही अनिवार्य रूप से सिखाई जानी चाहिए।

(ख) हिन्दुस्तानी बोले जाने वाले प्रान्तो के समस्त काग्रेस-जनो को हिन्दी तथा उर्दू दोनो जानने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए तथा अन्य प्रान्तो के समस्त काग्रेसजनो को, जिनकी मातृभाषा हिन्दुस्तानी नही है, हिन्दुस्तानी या तो नागरी के माध्यम से या पारसीक (परशियन) लिपि के माध्यम द्वारा सीखना चाहिए।

(ग)...... ....

....

(घ) हिन्दी तथा उर्दू के लेखकों, वक्ताओ तथा समाचार-पत्रो के सम्पादकों को चाहिए कि साधारण

वाक्यों के अधिकतर प्रयोग द्वारा और यथासम्भव कठिन अरबी, पारसीक तथा सस्कृत-शब्दो का बहिष्कार करके सामान्य हिन्दुस्तानी भाषा के विकास मे सहायता करे।

(ङ) हमारी सम्मति मे पारसीक लिपि किंचित सरल और अपेक्षाकृत अधिक उच्चारण-सुलभ कर दी जानी चाहिए। हमे हर्ष है कि उर्दू के विद्वानो का ध्यान इस विषय की ओर पहले ही आकर्षित किया जा चुका है।

आप इसमे देखेगे कि जहा हिन्दुस्तानी अर्थात हिन्दी अथवा उर्दू नही बोली जाती वहा के लिए हम लोगो ने सन ३१ में यह सुझाव किया था कि नागरी अथवा फारसी लिपि द्वारा उनको हिन्दुस्तानी सिखलाई जावे। इस रिपोर्ट पर मेरे अतिरिक्त डाक्टर भगवानदास, श्री सुन्दरलाल, श्री मजरअली सोख्ता, श्री अब्दुल लतीफ बिजनौरी और श्री जफरुल मुल्क के हस्ताक्षर है।

हिन्दी-उर्दू का समन्वय मैं चाहता हू यह बार-बार लिख चुका हूँ। आप जान पडता है उसमे यह नतीजा निकालते हैं कि समन्वय वही लोग करेगे जो दोनो लिपिया और दोनो शैलिया जानते है फिर भी मै उनका विरोध क्यो करू? इस दलील की विचारशैली मे तनिक सा सोचिएगा तो भ्रम दिखाई पडेगा। मै पूछ सकता हू कि यदि दोनो शैलिया और लिपिया सीखना है तो फिर समन्वय की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? जो दोनो जानता है वह दोनो का ही आवश्यकता पडने पर प्रयोग कर सकता है। समन्वय का तब प्रश्न ही नही उठता। किन्तु वास्तव मे समन्वय की आवश्यकता उनके लिए है जो दोनो नही जानते है और जिनको इतना समय या बुद्धि नही है कि आसानी से दोनो सीख ले। भाषा और लिपि के समन्वय की बात इसीलिए है कि हमारी एक राष्ट्रीय कठिनता दूर हो और आपसी व्यवहार मे सरलता आवे।

यह सच है कि जो लोग समन्वय करेगे, उनको एक शैली का जानना तो आवश्यक होगा और दूसरी शैली के जानने से सहायता मिलेगी। यदि दोनो अच्छी तरह से जाने तो बहुत अच्छा। किन्तु जो समन्वय का रास्ता चलाने वाले है वे तो थोडे से लोग है। जनता अपनी बुद्धि से समन्वय नही करेगी। वह तो समन्वय की हुई शैली को ग्रहण करेगी।

मैने जो अपने पत्र मे कुछ उर्दू और हिन्दी-सस्थाओ के सहयोग की चर्चा की थी, उस पर आपने यह लिखा कि यदि मान भी लिया जाय कि मुस्लिम लेखक या उनकी सस्थाए समन्वय के काम मे मदद न देगी तो भी उर्दू जानने वाले हिन्दू लेखक और समन्वय चाहने वाली राष्ट्रीय वृत्ति के सब जातियो के लोगो की सस्थाओ का नाम लिया था। जान पडता है कि आपने इन सस्थाओ को मुसलमानी सस्थाए समझा है, किन्तु ऐसी उर्दू-सस्थाए कहा है जिनके निर्णयो को उर्दू वाले स्वीकार कर लेगे। मैने तो उन सस्थाओ का नाम इस भावना से लिया था कि उनके निर्णयो को उर्दूवाले स्वीकार कर सकते है।

एक मौलिक बात को न भूलिए। आखिर समन्वय का प्रश्न ही नही उठता है और मैने इस प्रश्न को हिन्दी वालो के सामने सन २० और २३ मे क्यो रखा? सुस्पष्ट ही इसमे हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की धारणा है। मुसलमान समन्वय को स्वीकार नही करता तो समन्वय करने का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि मुसलमानो को छोडकर दूसरो के लिए जो हिन्दी शैली चल रही है उसमे उन्हे कोई आपत्ति नही, और यदि उस शैली मे वह परिवर्तन करना चाहेगे तो कर लेगे। इसलिए मुसलिम लेखको को छोडकर समन्वय की बात अनावश्यक हो जाती है जैसे हिन्दुस्तानी बोलने वाले भागो मे हर एक शिक्षार्थी को हिन्दी-उर्दू दोनो जानने की सलाह, जो हमने ऊपर उद्धृत अश मे दी है वह हम, वैज्ञानिक दृष्टि से कभी न देते यदि हिन्दू-मुसलमान ऐक्य का प्रश्न हमारे सामने न होता। यदि अपनी ओर से हम अपने किसी क्रम मे इस दृष्टि से परिवर्तन करने को तैयार है कि वह हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की जड बनावे तो हमारी यह तत्परता व्यर्थ हो जाती है यदि वास्तव मे उसे हिन्दू या मुस्लिम स्वीकार नही करता।

आपने समन्वय चाहनेवालो के लिए जो निश्चित काम रखा है वह आशिक रूप मे अच्छा है। मुझे उसका कुछ विरोध तो हो ही नही सकता, आज भी वह काम कुछ अशो मे हो रहा है। परन्तु उतने काम से वह समन्वय जिस से हिन्दू-मस्लिम ऐक्य स्थापित हो, बहुत दूर है। जिसमे मै समय देता हू और जिसमे स्वय बापूजी अब तक समय देते

आए हैं उसे छोडकर मै इस प्रयोग मे लगू, जिसकी सफलता मुझे दिखाई नही पडती, वह मुझे उचित नही लगता।

आपने यह लिखा कि एक ही शैली या लिपि का प्रचार करने से सन्तोष पकडे तब तो आप अपने ही हाथ से अपने ध्येय पर प्रहार करने वाले हो जाते है। इस अपनी दलील को कुछ सूक्ष्म दृष्टि से देखिए। ध्येय या सत्य आपेक्षिक होता है, अवस्था के अनुकूल। समन्वय मेरा ध्येय इसलिए है कि वह हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य मे सहायक हो। अपने में वह समन्वय कोई ध्येय नही है। यदि वह समन्वय हिन्दू-मुसलिम ऐक्य मे सहायक नही होता अथवा यदि आज की दशा मे वह समन्वय हो ही नही सकता तो जो काम उर्दू वालो को छोडकर दूसरों मे हिन्दी द्वारा हो सकता है उसकी अवहेलना करना ठीक नही। हमारा इस समय का वह काम हिन्दी-उर्दू के समन्वय के ध्येय मे आगे सहायक हो सकता है। हम सब आपेक्षिक अवस्थाओ मे ही काम करते है। यह कहना उचित न होगा कि जो एक अवस्था मे हमारा ध्येय है वही हर अवस्था मे ध्येय रहता है। हिन्दी-उर्दू के समन्वय का ध्येय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के ध्येय का अश है। इसी प्रकार स्वय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य हमारी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा अन्य सामाजिक ध्येयो के अन्तर्गत और राष्ट्रीयता और सामाजिक स्वतन्त्रता भी हमारे नैतिक ध्येयो से सीमित है। बडे ध्येयो की अवहेलना कर छोटे ध्येयों की पूर्ति नही हो सकती।

वास्तव मे समन्वय के सिद्धान्त के भीतर यह निहित है कि दो पक्षो का समन्वय होने वाला है और दोनों मे उसकी आवश्यकता की भावना है। सम्भव है ऐसा समय आ जाय जब इस प्रश्न की ओर दोनो झुके। जब तक यह नही होता तब तक मित्र-भाव से अपने दूसरे कर्तव्य निभाते हुए हमे उसका आसरा देखना होगा और उन लोगो की सेवा करनी होगी जो प्रकृति से हमारे अधिक निकट रख दिए गए है। इसके आगे के ध्येय का विरोध नही।

सप्रेम

पुरुषोत्तमदास टडन

सेवाग्राम,

६-८-१९४५

श्रद्धेय श्री टडनजी, सादर वन्दे।

आपका ता० २ का पत्र मुझे परसो मिला। आपने बहुत मेहनत उठाकर मुझे अपनी दृष्टि समझा दी। इसलिए मै आपका एहसानमन्द हू।

उत्तर-प्रत्युत्तर करके आपके समय पर, बोझ डालना मेरा अविनय होगा। इसलिए बिना बहस किए आपके पत्र के जिस अश पर जो मालूम होता है, उतना ही लिखकर रुक जाऊ।

१—गैर हिन्दुस्तानी बोलने वाले प्रान्तों में फारसी लिपि सीखने की मुश्किल के बारे में आपकी जो धारणा है, वह मुझे कुछ गलत मालूम होती है। मेरे अनुभव और विचार में फारसी लिपि नागरी के मुकाबले में, अपूर्ण होते हुए भी—और फारसी ही क्या? एक या दूसरी लिपि की पसन्दगी—सिर्फ आदत का सवाल हो जाता है—फारसी लिपि मे गुजराती लिखने वाले लोग भी पिछली सदी मे थे और कुछ ऐसे आज भी है जो गुजराती लिपि मे लिख नहीं सकते, पढ सकते है, परन्तु नागरी ही लिख सकते है। और बहुत से ऐसे जो नागरीनही लिख सकते, पढ सकते हैं, परन्तु गुजराती ही लिख सकते है।

कानपुर-रिपोर्ट में आपके दिए हुए सुझाव मुझे अच्छे मालूम होते हैं। उनसे आपकी कम-से-कम यह अपेक्षा मालूम होती है कि राष्ट्र-भाषा के प्रचारको को दोनो लिपि सिखाने का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। सीखने वाला चाहे जो सीखे, लेकिन प्रचारक का दोनो की तरफ समान भाव होना चाहिए और जिस किसी लिपि द्वारा सीखने वाला सीखे, उसे एक रूप (common) हिन्दुस्तानी ही सिखाई जाय।

(कुछ ही दिन हुए आसाम की जेल से हाल ही में छूटे हुए एक मित्र की चिट्ठी आई थी। वहां के मुसलमानी मदरसो में फारसी लिपि द्वारा हिन्दुस्तानी सिखाने के लिए पुस्तके चाहिए थी। उन्होने स्थानिक राष्ट्र-भाषा प्रचारक से

मांगी। उन्हें उत्तर मिला कि राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति सिर्फ नागरी लिपि का ही प्रचार करती है। उक्त मित्र राष्ट्र-भाषा-प्रचार और हिन्दुस्तानी भाषा-प्रचार की अलग सस्थाओ के अस्तित्व से अपरिचित थे। वह सिर्फ गाधीजी के मत को जानते थे। और राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति गाधी-मान्य सस्था होने की वजह से उन्हे उक्त प्रचारक के जवाब से ताज्जुब हुआ और यहा से मामला समझना चाहा। अगर राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति की नीति आपकी रिपोर्ट के अनुरूप होती तो यह गैरसमझ पैदा न होती।)

३––अभी तक तो समन्वित भाषा बनी नही है, और एक लिपि के साथ एक शैली और दूसरी के साथ दूसरी चलती है, तथा दिन-दिन दोनो धाराए एक-दूसरे से दूर बहती चली जा रही है। कुछ समय के बाद दो शैलिया नही, दो पूरी-पूरी भाषाए बन जावेगी। इसलिए जब तक दोनो को अच्छी तरह जानने वाले लेखक अच्छी तादाद में नही होते, समन्वय बन न सकेगा। इसलिए दोनो के सीखने के ऊपर जोर देना जरूरी मालूम होता है।

'उर्दूवाले' मान्य करे वैसी समन्वय मे मानने वाली कोई उर्दू-सस्था आज न हो तो वह काम राष्ट्रभाषा (हिन्दुस्तानी) के उद्देश्य के मानने वालो को करना होगा और उन्हे अपने काम से और योग्यता मे 'उर्दूवालो' मे भी प्रतिष्ठा पाना होगा।

'मुसलमान समन्वय को स्वीकार नही करता तो समन्वय करने का प्रश्न ही नही उठता'––यह विचार मुझे 'पटा' नही। मेरे विचार से पेशावर, पजाब, सिध आदि के हिन्दू और सिक्ख भी हिन्दी-शैली समझ नही सकते। यह दूसरी बात है कि आइन्दा धर्माभिमान से या मुस्लिम-विरोधी वृत्ति से वे प्रयत्नपूर्वक हिन्दी को अपनाने की कोशिश करे।

मेरी नम्र निगाह मे यह मालूम हो रहा है कि हम अपने ही कामो मे प्रान्तीय व्यवहारो के लिए तीन भाषा और तीन लिपियो हिन्दी (नागरी), उर्दू (फारसी), अग्रेजी (रोमन) को अनिवार्य बनाने की परिस्थिति मे घसीटे जा रहे हैं। लाचार होकर यह करे, इससे तो बेहतर यह होगा कि विचारपूर्वक हम इस सचाई का स्वागत करे।

राष्ट्रभाषा के काम मे मुझे तो लिपि की अडचन ही अधिक महत्त्व की मालूम होती है। अगर हम एक लिपि पर नही आ सकते तो हर एक सुशिक्षित के लिए कम-मे-कम चार लिपिया और भाषाए सीखना लाजमी हो जायगा। समन्वय असिद्ध ही रहेगा। अग्रेजी का स्थान भी स्थिर रह जावेगा। इसे टालने के लिए मै स्वय रोमन के प्रति झुका हू। लेकिन मै जानता हू कि आज तो यह मत बिलकुल अस्वीकार्य माना जायगा।

दूसरा प्रगतिशील और ऐक्यवर्धक मार्ग तो वही दीखता है जिस पर गाधीजी जोर दे रहे हैं। अपना वक्त लेने के लिए क्षमा करेगे।

आपका विनीत,
किशोरलाल घ० मशरूवाला

टंडनजी और कांग्रेस

श्री लालबहादुर शास्त्री

श्री पुरुषोत्तमदास टडन उन थोडे से गिने हुए उच्च कोटि के नेताग्रो मे है जिन्होने गाधीजी की काग्रेस के पूर्व ही राजनीतिक कार्यों मे ग्रपनी ग्रभिरुचि प्रकट की थी । सन १८६६ मे ही वह उस समय की काग्रेस के सदस्य बने ग्रौर सन १६०६ मे वह काग्रेस के प्रतिनिधि निर्वाचित हुए थे । राष्ट्रीयता की भक्ति ने उन्हे हिन्दी की ग्रोर ग्राकर्षित किया । सन १६१० मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम ग्रधिवेशन मे टडनजी को सम्मेलन के प्रधान मन्त्रित्व का भार सौंपा गया ग्रौर सन् १६२३ मे वह ग्रखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ग्रधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए। सन १६१४ से १६१८ तक महाराज नाभा के यहा वह कानूनमन्त्री ग्रौर बाद मे विदेशमत्री के पद पर काम कर रहे थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की किसी बैठक मे भाग लेने के लिए वह प्रयाग ग्राना चाहते थे । उसमे महाराजा साहब की तरफ से कुछ बाधा पडी ग्रौर टडनजी ने हिन्दी के काम को प्रश्रय देते हुए ग्रपने उस ऊचे पद को छोड देना ही उचित समझा । उसमे न केवल उन्होने साहस से काम लिया, एक महान त्याग का परिचय भी दिया । महाराजा साहब ने उन्हे पत्र भी भेजे कि वह पुन ग्राकर ग्रपने पद का कार्य सम्हाले, परन्तु ग्रापने जाना स्वीकार नही किया । सन १६२५ मे काग्रेस की विषय-निर्धारिणी समिति मे टडनजी ने यह प्रस्ताव रखा कि राष्ट्रीय महासभा काग्रेस का काम हिन्दुस्तानी भाषा मे हो। इस प्रस्ताव का विरोध कुछ बड़े-बडे नेताग्रो ने भी किया । किन्तु प्रस्ताव स्वीकृत हो गया ।

सन १६१६ मे टडनजी म्यूनिसिपल बोर्ड, इलाहाबाद के प्रमुख चुने गए । यह उनकी लोकप्रियता का प्रमाण था । टडनजी ग्रपनी प्रतिष्ठा ग्रौर ग्रादर के कारण सबको मान्य हुए। म्यूनिसिपल बोर्ड के काम मे उन्होने लोगो की जो सेवा की, उसका नगरवासियो पर ग्रसीम प्रभाव पडा । प्राय. वह पैदल घूमते दिखाई पडते । ग्रपने व्यक्तित्व का बोर्ड के प्रबन्ध पर उन्होने एक स्थायी प्रभाव डाला ।

सन १६२० के पूर्व ही टडनजी इस प्रकार राष्ट्रीयता मे ग्रोत-प्रोत रहते हुए राष्ट्रीय कार्यों की ग्रोर दत्त-चित्त थे । जब गाधीजी ने १६२० मे ग्रसहयोग-ग्रान्दोलन का ग्राह्वान किया तब टडनजी फिर कैसे पीछे रहते ? नाभा से लौटने पर वह इलाहाबाद हाईकोर्ट मे वकालत कर रहे थे । उनकी वकालत का क्रम ग्रच्छा चल रहा था ग्रौर उन पर एक बडे कुटुम्ब का बडा बोझा भी था । फिर भी वह तनिक भी नही हिचके ग्रौर ग्रपनी वकालत को छोड़कर ग्रसहयोग-ग्रान्दोलन मे कूद पडे । वैसे तो बहुत से वकीलो ने सारे देश मे गाधीजी की पुकार पर वकालत छोडी, लेकिन उनमें थोड़े ही ऐसे रहे जिन्होने उसको सर्वथा तिलाजलि दे दी । टडनजी ने जो सकल्प किया उसे उन्होने पूर्णतया निभाया ।

टडनजी दिसम्बर १६२१ मे पहली बार बन्दी बनाये गए ग्रौर उन्हे डेढ साल कारावास का दड मिला । ग्रसहयोग-ग्रान्दोलन गाधीजी ने चौरीचौरा-काड के कारण रोका था । बहुत से नेतागण उनसे सहमत ग्रथवा संतुष्ट नही थे । परन्तु टडनजी ने कोई विरोध नही किया । जब वह जेल से बाहर निकले, उनको बडी कठिनाइयों का सामना करना पडा । उनकी ग्रार्थिक कठिनाइया ग्रपनी सीमा पर पहुच रही थी । परन्तु वह वकालत प्रारम्भ करने के लिए उद्यत नही थे । ग्रन्त मे लाला लाजपतराय ने उनको विवश किया कि वह पजाब नेशनल बैंक लाहौर के सयुक्त मत्री हो जाय । टडनजी ने स्वीकार कर लिया । कुछ दिनो के बाद वह बैंक के मत्री नियुक्त हुए । मई सन १६२५ से लेकर

अगस्त सन १९२९ तक वह पंजाब नेशनल बैंक मे काम करते रहे। बैंक मे रहते हुए वह साहित्य सम्मेलन के काम में निरन्तर भाग लेते रहे। परन्तु राजनीतिक कार्यों मे सक्रिय भाग उन्होने नही लिया।

उत्तरप्रदेश के गांधी

सन १९२१-२२ मे ही राजनीतिक क्षेत्र मे टडनजी का नाम चमक उठा। उनकी सचाई, स्पष्टवादिता, त्याग और लगन ने लोगो को उनकी तरफ आकर्षित किया। उत्तरप्रदेश मे उनका एक विशिष्ट स्थान बन गया और लोग उनको 'उत्तरप्रदेश का गाधी' कहने लगे थे। सन १९२३ मे गोरखपुर मे प्रान्तीय काग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के टडनजी अध्यक्ष चुने गये।

सन १९१३ मे अखिल भारतीय काग्रेस महासमिति का अधिवेशन बम्बई मे हुआ। उस समय काग्रेस मे 'कौंसिल-प्रवेश' के प्रश्न पर दो दल थे। दोनो दलो को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कौसिल-प्रवेश के प्रश्न पर काम करने का अवसर मिले, इस विषय का टडनजी ने एक प्रस्ताव पेश किया और वह स्वीकृत हुआ। टडनजी उस समय भारतीय काग्रेस कार्यसमिति के सदस्य भी चुने गये।

नवम्बर १९२८ मे लाला लाजपतराय का देहान्त हुआ और यह प्रश्न उठा कि लालाजी के बाद लोक-सेवक मडल (सर्वेन्ट्स आफ दी पीपुल सोसायटी) का सभापति कौन बने ? लोक सेवक मडल ने गाधीजी के हाथ मे यह बात छोडी कि वही इसका निश्चय करे। गाधीजी की सहानुभूति मडल की ओर पूरी थी और लालाजी के बाद उन्होने मडल के लिए पर्याप्त धन भी एकत्र किया। परन्तु गाधीजी धन से कही अधिक महत्त्व व्यक्ति को देते थे। यदि व्यक्ति उपयुक्त मिल जाय तो धन की कमी नही रहती। गाधीजी का ध्यान टडनजी की ओर गया। टडनजी बैंक मे लगभग तेरह सौ रुपये पुरस्कार पा रहे थे और उनके ऊपर एक बड़े कुटुम्ब का भार था। परन्तु गाधीजी त्याग करने मे न स्वय घबराते और न दूसरे से त्याग कराने मे डरते। उन्होने टडनजी मे कहा कि आपको मडल का सभापति होना चाहिए। टडनजी ने भी उसे फौरन ही स्वीकार किया। उन्हे अपनी नौकरी छोडने मे तनिक भी हिचक नही हुई। उनके बडप्पन मे इससे दो चाद और लग गए।

गाधीजी जब १९२९ मे प्रयाग आए तो उन्होने अपने सार्वजनिक भाषण मे कहा कि प्रयाग को इस बात का गर्व होना चाहिए कि उसने काग्रेस के लिए पडित जवाहरलालजी और लोक सेवक मडल के लिए श्री पुरुषोत्तमदास टडन को प्रमुख दिया। उसी समय गाधीजी ने टडनजी की प्रशसा करते हुए 'यग इडिया' मे लिखा था कि "ऐसे ही त्याग और साहसपूर्ण कार्यों से राष्ट्र का निर्माण होता है।"

जनवरी सन १९२९ मे टडनजी लोक सेवक मडल के अध्यक्ष बने। जिस त्याग और गरीबी के बाने को उन्होने उस समय पहना, उसे आज भी कायम रखा है और इस समय भी वह लोक सेवक मडल के अध्यक्ष है।

सन १९३० मे टडनजी प्रयाग वापस आए और काग्रेस के कार्य मे पूरी तरह लग गए। यह वह समय था जब फिर एक बार देश सरकार से मोर्चा लेने की तैयारी कर रहा था। गाधीजी को ही उसकी बागडोर अपने हाथ मे लेनी थी। स्वभावत अहिसा के उपयुक्त वायुमडल के बिना वह किसी प्रकार का आन्दोलन चलाना पसन्द नही कर सकते थे। लाहौर की काग्रेस के कुछ ही दिन पूर्व वायसराय की स्पेशल ट्रेन के नीचे बम का गोला फटा। वाइसराय को तो किसी तरह की क्षति नही पहुची, परन्तु इस दुर्घटना पर गाधीजी ने कडा रुख लिया। लाहौर की काग्रेस मे उन्होने पहला प्रस्ताव यह रखा कि रेल-दुर्घटना से वाइसराय के बच जाने पर काग्रेस को उन्हे बधाई देनी चाहिए। इस प्रस्ताव का विषय-निर्धारणी समिति तथा अधिवेशन मे भी तीव्र विरोध हुआ। काग्रेस के खुले अधिवेशन मे उस प्रस्ताव का समर्थन टडनजी ने किया। टडनजी ने अपने भाषण मे कहा कि यद्यपि मै अहिसा को सिद्धान्त रूप से नही मानता, फिर भी मै इस प्रस्ताव से पूर्णत: सहमत हू। मुझे आश्चर्य है कि जो लोग यह कह रहे है कि वे अहिसा को पूरी तरह मानते है, कैसे इस प्रस्ताव का विरोध करते है! जहा तक मुझे स्मरण है टडनजी के इस वाक्य पर कि 'वह आवश्यकतानुसार युद्ध के पक्षपाती है' तथा गीता के उद्धरण 'तस्माद्युध्यस्व भारत' पर गाधीजी ने उनकी तरफ उस समय कुछ आश्चर्य-

चकित होकर देखा।

काग्रेस का अधिवेशन समाप्त हुआ और दो ही महीने बाद नमक-सत्याग्रह की तैयारी प्रारम्भ हो गई। गाधीजी जब नमक-सत्याग्रह की यात्रा पर चलने वाले थे, उसके कुछ दिन पूर्व टडनजी साबरमती पहुच गए और आश्रम मे ही ठहरे। जिस दिन यात्रा प्रारम्भ हुई वह बहुत दूर तक गाधीजी के साथ पैदल गए और साबरमती से लौटने के पहले 'आनन्द' जाकर, जहा गाधीजी पैदल यात्रा करते हुए कई दिनो के बाद पहुंचे थे, मिले। अपने प्रदेश मे लौटने पर टडनजी ने सत्याग्रह-कार्य मे पूरी तरह भाग लेना प्रारम्भ किया। इलाहाबाद शहर तथा जिले मे जिस तरह उन्होने विदेशी कपड़े तथा शराब की दुकानो की पिकेटिग का सगठन किया, वह सराहनीय था। उनका क्रम इस प्रकार था कि वह एक साथ ही सभी दुकानो को नही लेते थे, बल्कि क्रमश. थोडी दुकानो पर काग्रेस स्वयसेवको का एक मजबूत मोर्चा लगाने का प्रबन्ध करते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत-सी दुकानो ने इसके पूर्व ही कि उनके यहा पिकेटिग प्रारम्भ हो, विदेशी कपडा बेचना बन्द कर दिया।

थोडे ही समय बाद उन्हे पूरे प्रदेश के सत्याग्रह-आन्दोलन का सचालन अपने हाथ मे लेना पडा और उनके नेतृत्व मे प्रदेश का काम सफलतापूर्वक आगे बढता ही गया। इसी काल मे प्रदेश के अनेक जिलो मे लगानबन्दी का भी आन्दोलन चलाया गया। यह कार्यक्रम बिल्कुल नया था। बहुत से काग्रेस नेता इससे सहमत भी न थे, क्योंकि वे उस परिस्थिति मे जमीदारो से सघर्ष के पक्षपाती नही थे। आन्दोलन बहुत ही सफल रहा। परन्तु इस आन्दोलन के चलने के कुछ ही समय बाद गाधी-इरविन समझौता हुआ और यह आन्दोलन भी बन्द हो गया।

सन १९३०-३१ का समय किसानो की दृष्टि से बहुत कठिन रहा। अनाज का भाव गिरता जाता था और किसानो पर एक बडा सकट आया। काग्रेस की ओर से सतत प्रयास किया गया कि गवर्नमेण्ट पर्याप्त छूट दे अथवा कमी करे। उत्तर प्रदेश सरकार की तरफ से उसका कोई सन्तोषप्रद उपाय नही निकाला गया। किसानो का असन्तोष क्रमश आन्दोलन का स्वरूप लेने लगा। उत्तरप्रदेश की सरकार ने अपने उच्च अधिकारियों की एक समिति काग्रेस के नेताओ से बातचीत करने के लिए बनाई। इस बातचीत मे पडित जवाहरलाल, श्री पुरुषोत्तमदासजी टडन, श्री तसद्दुक अहमद खां शेरवानी, श्री वेंकटेशनारायण तिवारी आदि सम्मिलित हुए। इस विचार-विनिमय का भी कोई परिणाम नही निकला। फिर गाधीजी स्वय आए और नैनीताल मे उन्होने उस समय के गवर्नर से बातचीत की। स्थिति मे कुछ सुधार हुआ, परन्तु बात पूरी तरह नही बनी। टडनजी क्रमश. इस निश्चय पर आने लगे कि किसानो की सहायता के लिए काग्रेस को लडने के लिए तैयार होना पडेगा। इलाहाबाद जिला काग्रेस कमेटी को उन्होने विशेष रूप से ऐसी लडाई के लिए तैयार किया।

उस समय भारतीय कांग्रेस तथा उत्तर प्रदेश काग्रेस मे भी इस बात पर कुछ सन्देह था कि यदि किसानों की मदद के लिए कोई लडाई प्रदेश मे छेडी गई तो वह वही तक सीमित नहीं रहेगी, सारे देश मे फैल जाएगी। परन्तु टडनजी इस सम्बन्ध में बहुत दृढ रहे। दूसरी ओर सरकार स्वभावतः सशक थी कि किसी ऐसे आन्दोलन का, जिसमे लगानबन्दी आदि की सम्भावना हो, वह कितना व्यापक हो जाएगा और उससे सरकार को कितना बडा आघात पहुचेगा। अतएव ऐसे आन्दोलन को बिल्कुल ही दबा देने का प्रबन्ध गवर्नमेण्ट की ओर से तेजी से शुरू हो गया। किसानो की इन कठिन परिस्थिति में, कांग्रेस का क्या कर्तव्य है, यह बतलाने के लिए इलाहाबाद में एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गई जिसमे टडनजी बोलने वाले थे। उस सभा पर जिला-अधिकारियो ने १४४ धारा के अनुसार रोक लगाई। टडनजी ने निश्चय किया कि वह सभा में अवश्य ही जाएगे। वह वहा गए और गिरफ्तार कर लिये गए। उसी समय उन्हें नैनी जेल पहुंचा दिया गया। इसके कुछ ही दिन बाद पडित जवाहरलाल तथा शेरवानी साहब वर्किंग कमेटी की बैठक के लिए इलाहाबाद से वर्धा के लिए रवाना हुए। गाधीजी उसी समय गोलमेज कान्फ्रेंस से स्वदेश लौटे थे। परन्तु पडित जवाहरलाल और शेरवानी साहब कुछ ही मील आगे गए होगे कि बम्बई मेल को रोककर, और एक छोटे स्टेशन पर उतारकर उन्हे नैनी जेल पहुचा दिया गया। वास्तव मे १९३२ के आन्दोलन का गवर्नमेण्ट ने यहीं से सूत्रपात कर दिया।

एक लम्बी जेल-यात्रा के बाद टडनजी बाहर आए। जब वह लौटे, तब आन्दोलन काफी शिथिल हो चुका था। गांधीजी ने मैकडानल्ड-अवार्ड के सम्बन्ध में कारावास मे जो उपवास किया और उसके फलस्वरूप उन्हे जो आजादी हरिजन-कार्य करने की मिली, वह एक तरह से उस समय का काग्रेस का कार्यक्रम बन गया। टडनजी को हरिजन-कार्य में पहिले से ही प्रेम था और उस समय भी उन्होने उसमें भाग लिया।

टडनजी किसानो के प्रति जबरदस्त प्रेम रखते है। सन् १९३० और १९३२ दोनो ही आन्दोलनो मे उन्होने लगानबन्दी का नेतृत्व किया। सन १९३० और १९३१ मे मदी के कारण किसानो के सामने जो समस्या आ गई थी उसके निराकरण मे टडनजी ने प्रमुख भाग लिया तथा प्रदेश काग्रेस कमेटी द्वारा तत्सम्बन्धी कार्यों का मचालन किया। सन १९३० मे उन्होंने 'केन्द्रीय किसान मघ' की स्थापना की और उसके द्वारा जमीदारी-प्रथा के मिटाने के आन्दोलन को आगे बढाया। टडनजी उसके सभापति रहे।

जमीदारी-प्रथा का अन्त किस प्रकार हो, उस सम्बन्ध मे टडनजी ने एक नया सुझाव दिया। उन्होने ही पहले-पहल काग्रेस के सामने यह बात रखी कि जमीदारी का अन्त मुआवजा देकर ही किया जाय। उन्हे न तो यह न्यायोचित प्रतीत होता था और न नैतिकता के अनुकूल कि जमीदारो की सम्पत्ति बिना उसका कुछ मूल्य दिए, चाहे वह कम ही क्यो न हो, ले ली जाय। उस समय काग्रेस समाजवादी पार्टी के नेताओ ने इसका बहुत विरोध किया। आचार्य नरेन्द्रदेवजी, श्री जयप्रकाशनारायणजी तथा पार्टी के दूसरे प्रमुख नेताओ ने (यह पार्टी उस समय काग्रेस के अन्दर थी) इसके विरुद्ध अपना कडा मत प्रगट किया। इस विषय पर काफी विचार-मन्थन देश मे हुआ। अन्त मे काग्रेस ने इस सिद्धान्त को केवल भूमि-व्यवस्था मे ही नही, दूसरे आर्थिक क्षेत्रो के लिए भी स्वीकार किया जिसका समावेश आज हमारे गणतत्र के सविधान मे भी है। किसी भी सम्पत्ति को शक्ति के बल पर नही लेना है। जितना मुआवजा देना सभव हो वह देकर ही लेना चाहिए। कुछ ही वर्ष पहले लोक-सभा ने यह निश्चय किया है कि मुआवजा कितना होगा, इस पर यदि कोई मतभेद हो तो उसका अन्तिम निर्णय ससद द्वारा होगा और ऐसे मामले अदालत मे नही जाएगे। टडनजी की इस सूझ की कौन सराहना नही करेगा।

सन १९३६–३७ मे नयी प्रान्तीय धारा सभाओ के चुनाव हुए जिसमे काग्रेस ने पूरी शक्ति के साथ भाग लिया। उत्तर प्रदेश मे इन चुनावो मे अभूतपूर्व सफलता मिली। इन चुनावों की सफलता मे टडनजी का प्रमुख हाथ था। उन्होने सारे प्रदेश का दौरा किया। वह स्वय प्रयाग नगर से विधान सभा के लिए खडे हुए और निर्विरोध विजयी हुए। यह उनके अनुरूप ही था। कुछ समय बाद जब मन्त्रि-मडल बना, वह धारासभा के सर्वसम्मति से अध्यक्ष (स्पीकर) चुने गए।

धारा-सभा के अध्यक्ष

अध्यक्ष के रूप मे टडनजी का कार्य अपनी एक बडी विशेषता रखता था। उनका असेम्बली के विरोधी दल पर बडा प्रभाव पडा था। उनके निश्चय सारे सदन को पूरी तरह मान्य होते, यद्यपि वह अध्यक्ष रहते हुए काग्रेस के सदस्य बने रहे। जहां तक मुझे स्मरण है दूसरी धारा-सभा के अध्यक्ष ने काग्रेस की साधारण सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया था। टडनजी को यह स्वीकार नही हुआ। परन्तु उन्होने अपना कार्य इस सुन्दरता से निबाहा कि उनकी निष्पक्षता पर, काग्रेस-सदस्य रहते हुए भी, विरोधी दल को कभी कोई सन्देह प्रकट करने का अवसर नही हुआ। उन्होने उस समय की धारा-सभा मे असेम्बली की कार्रवाई हिन्दी मे करने का जो निर्णय अध्यक्ष के रूप मे दिया, उसका महत्त्व सारे देश ने अनुभव किया। वह एक बहुत बडा निर्णय था। अध्यक्ष की हैसियत से सारे देश मे टडनजी की प्रतिष्ठा बहुत बढी और उन्होने उस पद की शोभा बहुत बढाई।

सन १९३९ के मध्य मे दूसरा महासमर प्रारम्भ हुआ और काग्रेस ने निश्चय किया कि सभी जगह मन्त्रि-मंडल त्यागपत्र देकर गवर्नमेण्ट से बाहर निकल आए। ऐसा ही हुआ। जब तक असेम्बली भग नही हुई टडनजी अध्यक्ष-पद पर काम करते रहे। उसके पश्चात अपने पद से उन्होने त्यागपत्र दे दिया।

सन १९४० से १९४२ तक का समय कांग्रेस के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। महासमर जारी था और कांग्रेस के सामने यह जटिल प्रश्न था कि वह उस समय की कठिन और नाजुक स्थिति का किस रूप मे सामना करे। उस समय १९४०–४१ मे गाधीजी ने अपना प्रथम आन्दोलन व्यक्तिग्रह सत्याग्रह के रूप मे चलाया। यह लडाई एक प्रकार से नागरिक स्वत्वो की रक्षा की लडाई थी। टडनजी सन १९४० मे नजरबन्द कर लिये गए और लगभग एक वर्ष जेल मे रहे। व्यक्तिगत सत्याग्रह ने देश को आगे के लिए सचेत और सावधान कर दिया और बाद का 'भारत छोडो' विशाल आन्दोलन उसी की एक कडी थी। ९ अगस्त को १९४२ का दावानल प्रारम्भ हुआ। उस दिन जैसे ही गाधीजी आदि बम्बई मे पकडे गए, देश के और प्रमुख नेता भी गिरफ्तार हुए। टडनजी इलाहाबाद मे ८ अगस्त को बदी बनाकर नैनी जेल पहुचा दिये गए और फिर वह १९४४ मे जेल से मुक्त हुए। यह उनकी आखिरी जेल-यात्रा थी। वह कुल सात बार जेल गए।

सन १९४६ मे आम चुनाव हुए जिसमे टडनजी प्रयाग नगर से उत्तर प्रदेश विधान सभा के लिए सदस्य चुने गए। वह विधान सभा के सर्वसम्मति से पुन अध्यक्ष भी चुने गए। पहले और इस बार भी उनका अध्यक्ष-पद के लिए चुनाव सर्वसम्मति से ही हुआ। विधान सभा के अध्यक्ष के रूप मे उनका स्थान सदा ही विशिष्ट रहा। उनकी व्यवस्थाओ को सदा ही बहुत महत्त्व दिया जाता था और उनकी देश मे बहुत चर्चा रहती। सारी सभा पर उनका अभूतपूर्व प्रभाव था। और विरोधी दल भी उनसे पूर्णत सतुष्ट रहता। सरकारी पक्ष को उनमे शिकायत हो जाय, परन्तु विरोधी दल को इसका अवसर शायद ही कभी मिला हो।

विभाजन के प्रबल विरोधी

सन १९४७ का वर्ष ऐसा आया जिसमे देश के विभाजन की बात चली। टडनजी विभाजन के जबरदस्त विरोधी रहे और अध्यक्ष होते हुए भी उन्होने कई स्पष्ट वक्तव्य साम्प्रदायिकता और मुस्लिम लीग के विरुद्ध दिए। उस पर मुस्लिम लीग दल ने, जो असेम्बली मे था, बडा रोष प्रकट किया कि वह अध्यक्ष रहते हुए सघर्षात्मक बातो मे पडते है विशेषकर राजनीतिक, यह उचित नही। लीग के इस वक्तव्य से टडनजी को चिन्ता हुई। उन्होने एक बार विधान सभा मे कहा था कि बहुमत की कौन कहे, यदि विरोधी दल भी नही, बल्कि विरोधी दल का एक छोटा हिस्सा मुझ मे अविश्वास करेगा तो मै अपनी जगह से हट जाऊगा। उनके मन मे यह बात आने लगी कि वह अध्यक्ष के पद से त्याग-पत्र दे दे और उन्होने उसका निर्णय भी कर लिया। जब वह अध्यक्ष के पद से हटे उनको स्वभावत· बडी बधाइया मिली। शायद यह पहला ही अवसर था जब किसी अध्यक्ष ने अपने कार्य-काल मे बिना किसी अविश्वास-प्रस्ताव के इस प्रकार अपना पद छोड दिया हो। अविश्वास का प्रस्ताव किसी तरह स्वीकार नही हो सकता था, क्योकि असेम्बली का बहुत बडा बहुमत उनके पक्ष मे था। फिर भी जो शब्द उन्होने कुछ वर्ष पहले कहे थे उनमे हटना उन्हे पसन्द नही था।

टडनजी ने अध्यक्ष-पद छोडने के बाद विभाजन का पूरा विरोध किया। वह गाधीजी से जाकर मिले, क्योकि वह जानते थे कि गाधीजी भी बटवारे के जबरदस्त विरोधी थे। यह विषय अन्त मे जब भारतीय कांग्रेस कमेटी में पेश हुआ तब स्थिति बहुत बदल चुकी थी। देश के सभी नेताओं ने विभाजन को स्वीकार कर लिया था। ऐसी स्थिति मे गाधीजी ने भारतीय कांग्रेस कमेटी मे इस प्रस्ताव का समर्थन किया। उन्होने इस पर विशेष जोर दिया कि कांग्रेस के सभी नेताओ ने इस पक्ष को मान लिया है और यदि वह इसका विरोध करते हैं तो देश मे एक बडा सघर्ष मच जायगा। उन्होने यह भी कहा कि मुझमे तो अब वह शारीरिक शक्ति नही रही कि मै इस बोझ को उठा सकू। ऐसी स्थिति मे उन्हें कोई दूसरा उपाय नही दीख पडता था। यद्यपि इस बटवारे के औचित्य को वह किसी तरह स्वीकार करने को तत्पर नही थे। टडनजी को इससे बडी निराशा हुई। फिर भी उन्होंने अपने भाषण मे उसका तीव्र विरोध किया और उनका ही शायद एक हाथ था जो विभाजन के प्रस्ताव के विरुद्ध उठा। इसी के परिणामस्वरूप टडनजी १५ अगस्त, १९४७ के उत्सव में, जो सारे देश मे मनाया गया, बिल्कुल ही सम्मिलित नही हुए।

जब देश मे संविधान परिषद बनी तो टंडनजी उसके सदस्य चुने गए। हिन्दी राष्ट्रभाषा बने, इस प्रश्न को उन्होंने परिषद मे बडी दृढता से उठाया। इस विषय पर बहुत वाद-विवाद हुआ और परस्पर मित्रो और सहयोगियो मे बडा मतभेद भी उत्पन्न हुआ। फिर भी टडनजी अपने विचारो पर अडे रहे। हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा मानी जाय, यह सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ। परन्तु इस विषय पर कि आकडे देवनागरी अको मे हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, काफी सघर्ष हो गया। टडनजी देवनागरी के पक्षपाती थे। परन्तु उनका प्रस्ताव स्वीकार नही हुआ। टडनजी ने, अन्तर्राष्ट्रीय आकडो के प्रयोग के पक्ष मे जो प्रस्ताव था, उसके विरुद्ध अपना मत दिया। उन्होने यह अनुभव किया कि एक प्रकार से उनमे अनुशासन टूटा। इस पर उन्होने अपना त्यागपत्र प्रधानमत्री पडित जवाहरलाल के पास भेज दिया। जवाहरलाल जी ने उनके इस निश्चय की सराहना करते हुए उनका त्यागपत्र उन्हे लौटा दिया।

कांग्रेस के अध्यक्ष

टडनजी उत्तर प्रदेश काग्रेस कमेटी के दो बार अध्यक्ष रहे सन १९२३ मे और फिर १९४८ मे। सन १९५० मे वह भारतीय काग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। इस चुनाव मे काग्रेस मे परस्पर कटुतापूर्ण सघर्ष रहा। इसकी प्रतिक्रिया उनके सभापतित्व-काल मे अच्छी नही रही। लगभग एक वर्ष तक आपस मे मतभेद बढता रहा। अन्त मे उसने एक कठिन रूप ले लिया। पडित जवाहरलालजी की कुछ बातो से विशेष असहमति थी। एक तरह से वैसी ही घटना घटी जैसी कि श्री सुभाषचन्द्र बोस के साथ। उन्हे भी अपना समय पूरा करने के पहले ही हटना पडा था। इसी प्रकार टडनजी को भी अपना पद छोडना पडा। पडित जवाहरलाल उनके स्थान पर अध्यक्ष चुने गए। भारतीय काग्रेस कमेटी की बैठक मे किसी प्रकार का विवाद होने का अवसर ही टडनजी ने नही दिया। उनके भाषण मे बडी गम्भीरता और महानता थी। किसी तरह के कटु शब्दो का प्रयोग किए बिना उन्होने कहा कि जवाहरलाल जी इस समय देश की 'आवाज' हैं और जब उनको सन्तोष नही है तब मै यहा एक क्षण भी रहना नही चाहता। टडनजी ने यह सुन्दर मर्यादा रखी कि वह जवाहरलालजी की कार्यसमिति के सदस्य बने रहे।

संसद में

सन १९५२ मे टडनजी लोक-सभा के सदस्य बने। इलाहाबाद के नगर-क्षेत्र से वह चुने गए। उनके अनेक महत्त्वपूर्ण भाषण लोक-सभा मे हुए और उन्हे सदन ने सदा बडे ध्यान से सुना। हिन्दी को उनके आने से विशेष प्रेरणा मिली। लोकसभा-सचिवालय मे हिन्दी के क्रमश अधिक प्रयोग के लिए अध्यक्ष ने एक कमेटी बनाई जिसका अध्यक्ष उन्होने टडनजी को बनाया। इसके अतिरिक्त सरकार ने सविधान की धाराओ के अनुसार जो समिति हिन्दी की प्रगति पर विचार करने के लिए बनाई उसके भी टडनजी सदस्य रहे। इस समिति मे टडनजी ने हिन्दी-माध्यम के पक्ष मे, जहा तक दूसरे प्रदेशों के सदस्यो के साथ जा सकते थे, जाने का पूरा प्रयास किया। परन्तु कुछ मौलिक बातो मे उनका मतभेद था और उन्हे अपना विमति-टिप्पण (नोट आफ डिसेन्ट) देना पडा। दूसरे प्रदेशो के कुछ सदस्यो ने भी इस नोट पर अपने हस्ताक्षर किए।

१९५६ मे टडनजी उत्तर प्रदेश से 'राज्य सभा' के लिए चुनकर आए। थोडे समय बाद ही उनका स्वास्थ्य एक लम्बी बीमारी के कारण काफी खराब हुआ। फिर स्वास्थ्य कुछ सुधरा, परन्तु उनको अपनी पुरानी शक्ति प्राप्त नही हुई। वह धीरे-धीरे निर्बल होने लगे और उनका श्वास का रोग उन्हे अधिक कष्ट देने लगा। उनका दिल्ली मे रहना कठिन हो गया। वह प्रयाग चले गए और कुछ समय पश्चात उन्होने उचित समझा कि वह राज्य सभा मे भी त्याग पत्र दे दे, और वह राज्य-सभा से पृथक हो गए। राज्य-सभा की सदस्यता एक प्रकार से उनके राजनैतिक जीवन की अन्तिम कडी थी। वह टूटी और एक समर्पित जीवन ने, जिसका अपना कुछ न था, थककर जैसे सास ली।

टडनजी देश के उन थोड़े लोगो में है जिनका जीवन एक नही, अनेक रूपों मे असाधारण रहा है। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने लगभग पचास वर्ष लगाए, परन्तु कभी उन्होने अपना कदम पीछे नही हटाया। कहा जाता है कि

आयु बढने पर राजनीतिक क्षेत्र मे काम करने वालों की उग्रता कुछ कम हो जाती है परन्तु टडनजी के विचार सदा ही प्रगतिशील बने रहे। राजनीतिक आधियों मे भी टडनजी कभी डगमगाए नही। अपने विचारों को वह निडर होकर प्रगट करते। उनमे बडा साहस है और अटूट दृढता। राष्ट्र के महान प्रश्नो पर वह स्वतन्त्र रूप से सोचते। और जब कभी ऐसी परिस्थिति आई, उन्होने अपनी आवाज उठाई, चाहे वह अकेली ही आवाज क्यो न हो। ऐसे व्यक्ति कम ही होते है परन्तु ऐसे महानुभावो की देश को सदा आवश्यकता होती है। सभी मे कुछ-न-कुछ कमिया तो होती ही हैं। जहां टडनजी के सम्बन्ध मे मैने ऊपर की बात कही, वहा यह भी कह सकते है कि वह दूसरो के साथ मिलकर काम करने में बहुत सफल नही थे। वैसे तो सभी क्षेत्रो मे, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र मे विशेषकर, कुछ-न-कुछ सामजस्य आवश्यक होता है। क्योकि सब के विचार एक-से नही होते और काम का ढग भी प्राय भिन्न होता है। हो सकता है कि इसके कारण टडनजी के मार्ग मे कठिनाइया और बाधाए पडी।

सन १९३१-३२ तक टडनजी को गाधीजी के कामो मे असीम आस्था थी और यदि वह उनसे किसी बात मे सहमत नही होते तब भी उसे सुन्दरता से निभाते। सन १९३४-३५ से इस ओर कुछ परिवर्तन हुआ और उनके मन मे विरोध बढता ही गया। टडनजी गाधीजी के कडे समालोचक बन गए थे। विचारो का मतभेद एक बात है और वह हो भी सकता है, होना भी चाहिए। परन्तु कटुता न आए, इसे तो बचाना ही चाहिए। पडित जवाहरलालजी से उनका सम्बन्ध निरन्तर ही अच्छा रहा। सन १९४७ के पश्चात उनसे भी मतभिन्नता हुई और सन १९५१ मे उसने असाधारण रूप ले लिया। मुझे याद है कि सन १९४५ से पहले कुछ लोगो ने जवाहरलालजी और उनके बीच परस्पर विरोध उत्पन्न करने का प्रयास किया। परन्तु टडनजी तनिक भी नही हिले। गाधीजी के सम्बन्ध मे भी मुझे मालूम है कि कुछ लोगो ने उन्हे भ्रम मे डाला और मै यह नही कह सकता कि वह उसमे सफल नही हुए। गाधीजी से हिन्दी पर भी अनैक्य इसका अवश्य ही एक कारण बना।

टडनजी ने देश को बहुत-कुछ दिया। परन्तु उनकी विशेष देन किसानों को है और हिन्दी को। राजनीतिक क्षेत्र मे विचारो तथा कार्य मे कभी कोई नरमी उनमे दिखाई पडी नही। भूमि-व्यवस्था और समाज-निर्माण पर उनके विचार क्रान्तिकारी रहे और उनका समर्थन सदा निर्बलो को प्राप्त हुआ। वह लकीर के फकीर बनना कभी पसन्द नहीं करते। निर्णय करने मे देर भी लगे, परन्तु उनके प्रस्तावो मे उनका कुछ अपनापन-सा रहता ही है। यद्यपि उन्होने लिखा कम, फिर भी जो वह लिखते, भाषा और भाव दोनो ही से परिमार्जित होता। साधारण पत्र हो अथवा किसी गहन विषय पर लेख, उसमे सुन्दर सयम और सतुलन रहता। उत्तर प्रदेश काग्रेस कमेटी के सभी प्रस्तावो के मसविदो पर उनकी सहमति आवश्यक थी, चाहे वे अग्रेजी मे हो अथवा हिन्दी मे। भाषा को सुधार देना और उसमे शब्दो को ठीक बैठा देना इसमे उनकी योग्यता सर्वमान्य थी।

टडनजी आदर्शवादी है और उन्होने अपना एक-एक क्षण देश की सेवा मे लगाया है। आज वह क्रियाशील नही है इससे देश को क्षति पहुची है। देश और हिन्दी के प्रति उनका अटूट प्रेम बना हुआ है। उनकी उपस्थिति ही बलदायी और प्रेरक है।

लोक सेवक मंडल और टंडनजी

श्री अलगूराय शास्त्री

सन १६२८ का १७ नवम्बर सम्पूर्ण भारत के लिए अनर्थकारी होकर आया। उस दिन प्रभात उद्गीथ-साम की वेला मे पंजाबकेसरी सदा के लिए मौन होगया। जब सूर्योदय के साथ उसका स्वागत करते पशु-पक्षी, कीट-पतग, सभी मुखर हो उच्च स्वर से स्तवन कर रहे थे, सिह की-सी दहाड करने वाली लाजपतराय की गिरा ने सहसा ऐसा मौन ग्रहण कर लिया जो अब इस पृथ्वी पर कभी खुलने वाला न था।

उस मौन ने समस्त भूतल पर एक करुण क्रन्दन फैला दिया था। मानव-टोलिया, नर-नारियो के दल के दल आर्तनाद करते, सर पीटते, चिल्लाते-चिघारते घर-घर से निकल सडकों और गलियो मे विलपते फिरने लगे थे। लालाजी के वियोग की सबको गहरी चोट थी। लेकिन लाहौर के कोर्ट स्ट्रीट मे सस्थित लोक सेवक मडल के परिवार की दशा और भी दयनीय थी।

१६२१ मे तिलक स्कूल आफ पॉलिटिक्स को लालाजी ने जन्म दिया था। अमरीका मे अपने निष्कासन-काल मे रहते समय लालाजी ने लोक-सेवा एव समाज-सेवा के लिए शिक्षा देने वाली जिन सस्थाओ को निकट से देखा था, जिनमे वह स्वय शिक्षण का कार्य भी कर चुके थे, उसी प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक शिक्षा देने वाली कोई शिक्षा-सस्था अपने देश मे लालाजी स्थापित करना चाहते थे।

यहा भारत मे रहते, विश्व-युद्ध छिडने मे पूर्व १६१४ की लडाई से पहले लालाजी के सामने गोखले की भारत सेवक समिति राजनीति एव समाज की सेवा का एक बहुत उपयोगी यत्र था। महाराष्ट्र मे शिक्षा का कार्य करने-वाली दक्षिण भारत शिक्षा समिति भी आजीवन सदस्यो की एक सस्था नवयुवको मे देश-भक्ति की भावना भरते हुए उन्हे शिक्षा, समाज-सेवा और राजनीति के क्षेत्र मे सम्पूर्ण जीवन लगाकर सेवा करने की प्रेरणा दे रही थी। यह भी लालाजी ने देख रखा था।

अमरीका से भारत आने पर १६२० मे कलकत्ता-काग्रेस के विशेष अधिवेशन की अध्यक्षता कर लेने के पश्चात जहा जलियावाला बाग की हत्या के लिए उन्होने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक भावपूर्ण, रोषपूर्ण आरोप-पत्र अपने अध्यक्षीय भाषण मे प्रस्तुत किया था, लालाजी ने तिलक स्कूल आफ पॉलिटिक्स की स्थापना की। इसमे सर्वप्रथम तीन सदस्य सम्मिलित हुए—सर्वश्री अचिन्त्यराम, पुरुषोत्तमलाल सोंधी तथा फिरोजचन्दजी। ये लोग लाहौर के कौमी कालेज के छात्र थे। यह कालेज १६२० मे अग्रेजी शिक्षा-सस्थानो के बहिष्कार पर पजाब मे स्थापित हुआ था, जैसे अन्य स्थानो मे काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ आदि।

कौमी कालेज (विद्यालय) को रूपान्तरित करके लालाजी ने लोक सेवक मडल को एक सोसाइटी का रूप दे दिया और उसे अपनी निजी सम्पत्ति का बडा भाग दान दिया, जिसमे उनका अपना स्वकीय आवास-स्थान 'पुरानी कोठी' सम्मिलित थी, जो आज भी कोर्ट स्ट्रीट मे सस्थित है, जहा से १६०८ मे लालाजी माडले के लिए निष्कासित हुए थे।

१६२८ मे लोक सेवक मडल एक सप्तवर्षीय शिशु-मात्र था। लालाजी साइमन कमीशन के बहिष्कार के

अवसर पर पुलिस की लाठियों से आहत हो गए थ । ग्लानि और अपमानजनक खेद की गहरी चोट उनके मन पर शारीरिक एव छाती की चोट से भी अधिक गहरी पडी थी । उसी के फलस्वरूप लालाजी १७ नवम्बर के प्रातः १६२८ में स्वर्ग गए । उसी रात उन्होने 'पीपुल' समाचार-पत्र मे 'डोमिनियन स्टेट्स वर्सेस कम्प्लीट इंडिपेडेस' शीर्षक अधूरा लेख लिखा था । अत. उसी को पूरा करने उठे थे, जबकि अनेक डाक्टर मित्रो के देखते-देखते वह हमारे बीच से उठ गए। समस्त देश और विशेष रूप से हमारा मडल अनाथ हो गया ।

मडल को कौन सभालेगा ? यही प्रश्न सबके सामने था । मडल के पुराने तथा नए सदस्य घटो और सप्ताहों तक इसकी चिन्ता मे डूबे रहते, विचार-विमर्श होता रहता । कोई कहता, हममे से जो सबसे बडा है, उसी को अध्यक्ष बनाया जाय । लालाजी की आत्मा हमे प्रेरणा देगी । जिन पर बडे होने से यह भार आता, वह इसे अपने लिए बहुत भारी बोझा समझते थे । फलत हम सब कभी गाधीजी की ओर देखते और कभी बाबू राजेन्द्रप्रसाद की ओर ।

इधर लालाजी अपने जीवन-काल मे ही मडल के लिए एक उपयुक्त उत्तराधिकारी की खोज मे व्यस्त थे । इटावा की हिन्दू महासभा के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करके लालाजी लौट रहे थे । मै उनके साथ था । लालाजी ने चिन्तायुक्त स्वर मे कहा : "तुम सब बड़े अच्छे हो, पर हो तो बच्चे ही । तुम मे अभी कोई ऐसा नही दीखता जो मडल का कार्य-भार सम्हाल ले । मेरी दृष्टि टडनजी पर जाती है, परन्तु उन्हे पजाब नेशनल बैंक से बारह सौ रुपये मिलते है । यह त्याग कर उन्हे आना पडेगा । कोई बात नही, मै विशेष पुरस्कार का भी प्रबन्ध कर सकता हू, परन्तु अभी उनसे कहते कुछ सकोच होता है । टडनजी बडे योग्य और साधु प्रकृति के पुरुष है, बडे भी है, वह आ जाते तो मै निश्चिन्त हो जाता ।" इत्यादि । कौन जानता था कि विधि बोल रही है ।

लालाजी के निधन पर अन्त मे हम सब तथा स्वय गाधीजी एव घनश्यामदासजी बिडला आदि का ध्यान टडनजी की ओर गया । उनसे ही त्याग की आशा की गई । उन्होने आने और सेवा-भावना का परिचय देने मे क्षण भर का विलम्ब न किया । वह मडल के सहयोगी सदस्य (असोशियेट) लालाजी के जीवन-काल मे ही हो गए थे । आजीवन सदस्यता का प्रश्न था । वह कही अन्यत्र धनोपार्जन करते आजीवन सदस्य नही हो सकते थे । परन्तु जिस टडन ने बात की बात मे इलाहाबाद हाईकोर्ट की वकालत छोडी थी, जिस टडन ने नाभा राज्य की सर्वोच्च सेवा को तृणवत् त्याग दिया था, वह टडन अब कर्तव्यपालन की माग पर लालाजी की इच्छापूर्ति के लिए उनके जीवन के सबसे बडे यज्ञ का अह्वा बनना कब ठुकराते अथवा उसे स्वीकार करने मे कब विलम्ब करते ? वह आ गए । मडल के आजीवन सदस्य बन गए । सन १६२६ से आज १६६० के समय तक पूरे ३१ वर्ष से वह मडल के सम्मानित अध्यक्ष है । इस दीर्घ अवधि मे इस महापुरुष ने मडल की जो सेवा की है, वह एक चिरस्थायी निधि है । इससे दिवगत महान लोक-सेवी लालाजी की आत्मा को शान्ति मिली है ।

१६२६ के आरम्भ मे ही टडनजी ने अध्यक्षता सम्हाली । पहला ही कार्य हुआ 'लाला लाजपतराय स्मारक निधि' के लिए पाच लाख रुपयो का सग्रह करना । महात्मा गाधी ने खादी के लिए उत्तर प्रदेश का दौरा किया । धन-सग्रह के लिए वह जिला-जिला घूमे । उनकी सम्मति से यह निश्चय हुआ, कि यदि कोई दानदाता चाहे तो नामाकित करके लालाजी स्मारक निधि के लिए महात्माजी को उत्तरप्रदेशीय यात्रा मे दान दे सकता है । टडनजी के प्रभाव का यह पहला लाभ मडल को प्राप्त हुआ । खेद है, वह निधि तो अब तक पूरी नही हुई, किन्तु उसका श्रीगणेश उसी समय मडल मे आते ही टडनजी ने कर दिया था ।

मंडल कांग्रेस का अविच्छिन्न अंग

१६३० मे नमक सत्याग्रह प्रारभ हुआ । काग्रेस ने गाधीजी के नेतृत्व मे जो यह आन्दोलन चलाया, उसमे टडनजी का प्रमुख नेतृत्व था । उनकी प्रेरणा से पूरा मडल ही इस आन्दोलन मे सम्मिलित हो गया । सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपने-अपने केन्द्रों से उक्त सत्याग्रह मे सम्मिलित होकर जेल चले गए । सर्वश्री हरिहरनाथ शास्त्री, लालबहादुर शास्त्री, पजाब के सदस्यो मे अचिन्त्यरामजी, मेरठ से मै भी, उडीसा से राधानाथ रथ, लिगराज आदि । सर्व-

श्री राजाराम शास्त्री कानपुर, मोहनलाल गौतम, अमरनाथ, विद्याशकर प्रभृति सभी आजीवन सदस्य कृष्ण-मन्दिर पहुंच गये। श्री टडन की देनस्वरूप मडल काग्रेस का अविच्छिन्न अग बन गया। जो काग्रेस की कार्य-नीति या कार्यक्रम से बाहर गया, वह मडल से ही बाहर गया। जब जेल-युग समाप्त होकर १९३७ मे काग्रेस ने विधान सभाओ के निर्वाचन मे भाग लेने का निश्चय किया तब टडनजी की उसी प्रेरणा और प्रभाव के फलस्वरूप प्राय सभी प्रमुख सदस्य विधान सभाओ मे आए। मत्रिमडल मे आज भी उडीसा मे राधानाथजी और केन्द्र मे लालबहादुरजी वर्तमान है। लोक-सभा, राज्य-सभा, सविधान परिषद् एव विधान-मडलो मे मडल के सदस्य अब तक सम्मिलित किए जाते रहे हैं। काग्रेस-दल ने टडनजी की काग्रेस-निष्ठा से प्रभावित होकर ही सदस्यो मे से कुछ प्रमुखों को इसके लिए वरा है। आज लोकसभा मे सर्वश्री लालबहादुर शास्त्री, बलवन्तराय मेहता, अचिन्त्यराम तथा काशीनाथ पाडेय मडल के सदस्य है। राज्य-सभा मे श्री विश्वनाथदास उडीसा से है।

उत्तर प्रदेश विधान परिषद् मे मै हू, उडीसा विधान-सभा मे श्री राधानाथ रथ है, जो मत्री भी है।

न टडनजी ने मडल को काग्रेस के साथ इस प्रकार एकात्मता दी होती, न हम सब जेल जाते, न इस प्रकार विधान-मडलीय कार्यों के लिए काग्रेस की ओर से अपने लिए खुला द्वार पाते।

कैसी विचित्रता है! जिन टडनजी ने काग्रेस के साथ मडल को इस प्रकार बाधा, उन्ही को स्वय जवाहर-लाल के सक्रिय पग उठाने पर काग्रेस-अध्यक्षता से पृथक होना पडा। अघटन घटना-परीक्षण, विधि-विडम्बना ऐसी ही होती है।

टडनजी ने १९३० का राजनीतिक आन्दोलन प्रारम्भ हो जाने से लाजपत-निधि एकत्रित करने मे अस-मर्थता पाई। १९३४ मे ही एक प्रकार क्षण भर के लिए आन्दोलन शिथिल हुआ तब सदस्यो के पुरस्कार आदि के लिए धन के पर्याप्त कमी थी। स्वेच्छा से, टडनजी की त्याग-भावना को देखते हुए सदस्यो ने अपने सीमित पुरस्कार को ३३ प्रतिशत कम कर दिया। वह कमी फिर कभी आज तक पूरी नही हो सकी।

सदस्यो की सख्या मे वृद्धि हुई। कुछ पुराने गए, परन्तु बहुत से नए आए। अब टडनजी का यह परिवार आजीवन सदस्यो, सहकारी सदस्यो, सहयोगियो, सहायको सहित पचास का हो गया है। आज हमारी मडलीय शाखाए अपने भवनो सहित पजाब मे अबोहर मे है। (१) शिमले मे (२) उत्तर प्रदेश मे मेरठ, इलाहाबाद और कानपुर मे है। (३) उडीसा मे हमारी बृहत शाखा सत्यवादी प्रेस, समाज-समाचार पत्र, टाइप फाउन्ड्री सहित एक लहराती सस्था है। (४) देहली मे हमारा केन्द्रीय कार्यालय लाजपत-भवन के नाम से एक उज्ज्वल सस्था के रूप मे खडा हो गया है।

यह समस्त विस्तार टंडनजी की छत्रछाया मे हुआ है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन और टंडनजी

श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

"हिन्दी साहित्य सम्मेलन से मेरा सम्बन्ध उसके प्रारम्भ काल से है। उसके द्वारा हिन्दी के काम में मेरे जीवन की बहुत मुख्य घड़ियां बीती हैं। सम्मेलन मेरे प्राण में समा-सा गया है।"

—राजर्षि टडन, २१-६-१९५१

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टडन का कैसा पुराना और अभेद्य सम्बन्ध रहा है—इस तथ्य को प्रकट करने के लिए ही ऊपर ये पक्तिया उद्धृत की गई हैं। वस्तुतः यह कहने मे कोई अत्युक्ति नही होगी कि अब तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो कुछ भी स्वरूप और आकार-प्रकार बन सका है, उन सबके निर्माण मे टडनजी का ही सर्वोपरि हाथ रहा है। उसके काशी मे सम्पन्न होने वाले सर्वप्रथम अधिवेशन से लेकर अन्तिम कोटा-अधिवेशन (सन् १९५१) तक सब मे वह न केवल आदि से अन्त तक उपस्थित ही रहे, वरन उसके सर्वतोमुखी विकास और प्रसार मे भी उन्ही की कल्पनाओ का साकार रूप है। टडनजी के बिना हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कोई कल्पना नही की जा सकती। जैसे काग्रेस के साथ महात्मा गाधी का, हिन्दू विश्वविद्यालय के साथ महामना मालवीय का, शान्ति-निकेतन के साथ महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का नाम शब्दार्थ की भाति अविच्छिन्न है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ टडनजी का नाम भी अभेद्य, अछेद्य और अविभाज्य है। प्रयाग मे बने हुए उसके विशाल भव्य भवनो की एक-एक ईंट से लेकर उसकी बहुमुखी प्रवृत्तियो और प्रगतियो की मजिल के एक-एक पग मे उनकी क्रियात्मक प्रेरणा और सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रसाद बिखरा हुआ है। भगवान विश्वनाथ की नगरी मे, जान या अनजान मे, हिन्दी के कुछ हितैषियो एव प्रेमियो ने एक सम्मेलन बुलाया था, ऐसे सम्मेलन आज भी आए दिन बुलाए जाते है, किन्तु किसी विरले सम्मेलन को ही ऐसा स्वरूप प्राप्त होता है जो आज हिन्दी साहित्य सम्मेलन का है। एक वट-बीज ने अक्षयवट की पुण्य-भूमि प्रयाग मे आकर किस प्रकार इतना विशाल वृक्षत्व प्राप्त किया, इसकी कहानी किसी उपन्यास से कम रोचक नही है। इसके तपस्वी नायक ने अपनी तपोमयी साधना एव सतत निष्ठा के द्वारा किस प्रकार उसका पालन, पोषण, सवर्धन और अलकरण किया, इसे वही लोग भली भाति समझ सकते है, जो कभी टडनजी के सम्पर्क मे एक-दो घडी के लिए भी आए है।

टडनजी का सम्बन्ध सम्मेलन के साथ, जैसा कि उन्होने स्वय स्वीकार किया है, उसके जन्म के समय से ही रहा है। यह तो प्राय अधिकाश पाठक जानते होगे कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जन्म मुक्ति की खानि और अघहानि की नगरी काशी मे विक्रमी सवत १९६७ तथा ईस्वी सन १९१० को हुआ था। उसका प्रथम अधिवेशन १० अक्तूबर, १९१० को महामना मालवीयजी की अध्यक्षता मे बडे समारोह के साथ आरम्भ होकर तीन दिनो तक होता रहा। वह एक सामयिक भूख थी। हमारे देश मे ब्रिटिश शासन-काल का वह स्वर्णिम युग था। समूचे देश मे जागृति के पूर्व की सुषुप्ति विद्यमान थी। कही-कही स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीयता की लोरिया अवश्य सुनाई पडती थी, किन्तु जन-भावनाओ को कोई उचित दिशा-निर्देश नही मिल रहा था। राजनीतिक चेतना भी दिङ्मूढ-प्राय थी, और साहित्य-प्रेम अथवा भाषा-प्रेम के प्रतीक के रूप मे कही-कही छोटी-मोटी सस्थाए भी यद्यपि बन गई थी, तथापि

उनके द्वारा कोई ठोस कार्य नही हो रहे थे, जिनमे इस विशाल देश की चेतना को प्रेरित किया जा सके। उत्साह और लगन की कोई कमी नही थी, कमी थी इन भावनाओ को मूर्त रूप देकर अग्रसर होने वालो की। बगला, गुजराती, मराठी तथा उर्दू के साहित्य-सेवियो के सम्मेलन होने लगे थे और वे बहुत अशो मे अपनी-अपनी भाषा के साहित्यकारो और प्रेमियो की महत्त्वाकाक्षाओ और समस्याओ का समाधान करने मे सफलता भी प्राप्त करने लगे थे, किन्तु हिन्दी के साहित्यकारो का ऐसा अपना कोई सगठन नही बना था, जिसमे देश भर के हिन्दी के साहित्यकार, लेखक और प्रेमी जन एकत्र होकर सामूहिक रूप से कुछ विचार-विमर्श अथवा निश्चय कर सकते।

काशी मे नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हो चुकी थी और वह अपने सीमित साधनो द्वारा बहुत-कुछ कार्य भी कर रही थी, किन्तु अभी तक उसके कार्यों की मर्यादा इतनी विस्तृत नही थी कि उसमे समूचे देश की हिन्दी-सम्बन्धी आकाक्षाओ और प्रवृत्तियो के विकास की रूपरेखा निश्चित की जा सके। निदान, अन्य भाषा-भाषियो के साहित्य-सम्मेलनो की देखा-देखी हिन्दी के साहित्यकारो का भी एक विशाल सम्मेलन बुलाने की माग हिन्दी-जगत मे की जाने लगी। उस समय हिन्दी के समाचार-पत्र बहुत कम निकल रहे थे, किन्तु जो दो-एक थे उनकी लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि यदि कही एक पुरानी प्रति भी उपलब्ध होती थी, तो उसकी एक-एक पक्ति का ध्यानपूर्वक पारायण किया जाता था। उनमे जो बाते लिखी जाती थी या जो मागे प्रस्तुत की जाती थी, वे बहुत शीघ्र ही देश भर मे व्यापकता प्राप्त कर लेती थी। हिन्दी के साहित्यकारो का सम्मेलन बुलाने के सम्बन्ध मे भी हिन्दी समाचार-पत्रो के द्वारा ही माग पेश की गई और बहुत शीघ्र ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि उस माग की उपेक्षा करना कठिन हो गया। यद्यपि यह सत्य है कि आरम्भ के कई वर्षों तक यह कामना कोई स्वरूप नही ग्रहण कर सकी, क्योकि हिन्दी-भाषियो के बीच ऐसा कोई सगठन नही था, जो इस बडे काम को सम्पन्न करने का दायित्व अपने ऊपर ले सकता, तथापि धीरे-धीरे माग के साथ-साथ जब सुझाव और निर्देश भी आने लगे तब इस विशाल सम्मेलन के बुलाने का साहस अपने आप जाग्रत हो उठा। जैसे सेनापति के बिना विशाल वाहिनी किकर्त्तव्य-विमूढ रहती है वैसे ही किसी अग्रणी सस्था या व्यक्ति के बिना हिन्दी के साहित्यकारो का सम्मेलन करने की कामना भी कुछ समय तक हिन्दी-जगत के हृदयो मे जल की छोटी-छोटी लहरो के समान उठती और समाप्त होती रहती थी। धीरे-धीरे उन लहरो ने अपना बल-वेग सभाला और अन्त मे वे इतनी सुदूर-व्यापिनी और प्रभावोत्पादिनी तरगमाला बन गई कि उनका वेग रोकना नितान्त कठिन हो गया और काशी की नागरी प्रचारिणी सभा को एक ऐसा बृहत सम्मेलन बुलाने का निश्चय करना पड़ा।

सभा के १ मई, १६१० के अधिवेशन मे सर्वसम्मिति से यह निश्चय किया गया कि शीघ्र ही हिन्दी के साहित्यकारो और प्रेमियो का एक महान सम्मेलन आयोजित किया जाएगा। इस सुसवाद के प्रकाशित होते ही हिन्दी-जगत मे प्रसन्नता की लहर व्याप्त होगई और सहानुभूति तथा सहयोगदान की वर्षा-सी होने लगी। शीघ्र ही काशी के गण्य-मान्य नागरिको की एक स्वागतकारिणी समिति बनी और समिति ने यह शुभ समाचार प्रकाशित करते हुए एक विज्ञप्ति द्वारा हिन्दी-प्रेमियो की सम्मतिया आमत्रित की कि सम्मेलन कब किया जाय, सभापति किसे बनाया जाय और कौन-कौन विषय विचारार्थ रखे जाय। सूचना प्रकाशित होने भर की देर थी, चारो ओर से सुझावो और सम्मतियो की बाढ-सी आगई। निदान अधिकाश सम्मतियो मे से यह निश्चय हुआ कि भारत की सास्कृतिक चेतना के एकमात्र आराध्य माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीय इस सम्मेलन के सभापति बनाए जाय। विचारार्थ प्रस्तुत किए जाने वाले विषयो की तो भरमार होगई। अन्तत वह महान अधिवेशन बडे ही उत्साह, उल्लास और समारोह के साथ आश्विन के नवरात्र की सप्तमी, सोमवार, १० अक्तूबर, १६१० से काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के पश्चिम वाले मैदान मे विशाल शामियाने के नीचे सम्पन्न हुआ और तीन दिनो बाद उसी जोश-खरोश, भीड-भाड और उमग के वातावरण मे विसर्जित हुआ।

हिन्दी के साहित्यकारो और प्रेमियो का यह पहला ही अधिवेशन था, किन्तु उसमे देश के विभिन्न अचलो में रहने वाले पाच सौ से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया था और प्रतिदिन की उपस्थिति भी सहस्रो मे हुई थी। इसमे

कुल पन्द्रह प्रस्ताव पारित हुए थे, जिनमें से तीन औपचारिक तथा बारह सोद्देश्य थे। पहले प्रस्ताव द्वारा सम्राट सप्तम एडवर्ड की मृत्यु पर शोक, द्वितीय प्रस्ताव द्वारा सम्राट जार्ज पचम के राज्याभिषेक पर हर्ष-प्रकाश तथा तृतीय प्रस्ताव द्वारा हिन्दी के चार भक्तो के निधन पर शोक प्रकट किया गया था। बाद के आठ प्रस्तावो मे हिन्दी एव नागरी के बहुमुखी प्रचार-प्रसार और उन्नति के प्रयत्नों की प्रेरणा तथा समीक्षा थी। शेष अन्य चार प्रस्तावों का सम्बन्ध इस सम्मेलन के भविष्य से सम्बन्धित था।

सम्मेलन के सभापति महामना मालवीयजी की जन्मभूमि एव आरम्भिक कर्मभूमि प्रयाग ही थी। वहां के सार्वजनिक कार्यों द्वारा ही उनके मनमोहक व्यक्तित्व एव उनकी अम्लान रचनात्मक प्रतिभा का उदय हुआ था। उनकी प्रसिद्धि का परिवेश यद्यपि अब सर्वव्यापी बन रहा था, तथापि अब भी वह प्रयाग मे ही रहते थे और टडनजी उनके अनन्य अनुगामी और अविचल श्रद्धावान भक्त थे। काशी मे आयोजित इस प्रकार के हिन्दी के साहित्यकारो के प्रथम सम्मेलन मे वह वैसे भी भाग लेते, किन्तु जब स्वय उनके राजनीतिक गुरु तथा पथ-प्रदर्शक मालवीयजी ही उसके सभापति बनाए गए थे तो प्रयाग से अपने दल-बल के साथ इस अधिवेशन मे भाग लेना उनका पुनीत कर्तव्य होगया। टडनजी उन दिनो प्रयाग हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध एडवोकेट थे तथा 'अभ्युदय' के सम्पादक थे। वह मालवीयजी के साथ प्रयाग के राजनीतिक जीवन मे अपनी निश्छल और तेजस्विनी प्रतिभा का प्रसार कर चुके थे। उस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष की थी। नीरोग और स्फूर्ति से भरे उनकी सुन्दर शरीर और दृढतापूर्ण निश्चयो मे अदम्य शक्ति भरी थी। निदान, काशी के इस साहित्य सम्मेलन मे तीनो औपचारिक प्रस्तावो के प्रस्तुत हो जाने के अनंन्तर जो चौथा रचनात्मक प्रस्ताव उपस्थित किया गया, उसे स्वय टडनजी ने ही प्रस्तुत किया। उक्त प्रस्ताव इस प्रकार था—

"यह सम्मेलन इस बात पर शोक प्रकट करता है कि जिस आज्ञा को इन प्रान्तो की गवर्नमेट ने हिन्दी जानने वाली प्रजा के हित के लिए, अदालतो मे नागरी अक्षरो के व्यवहार के विषय मे १८ अप्रैल, १६०० की आज्ञानुसार जारी किया था, उससे हिन्दी जानने वाली प्रजा को कही-कही अमलो और हाकिमो के नागरी से पूरा परिचय न होने के कारण और कही वकीलो और मुख्तारो के स्वार्थ अथवा उदासीनता के कारण उचित लाभ नही पहुच रहा है। यह सम्मेलन इन प्रान्तो की गवर्नमेटो से प्रार्थना करता है कि वे समय-समय पर इस बात की जाच करा लिया करे कि गवर्नमेट की ऊपर कही हुई आज्ञा का पालन ठीक-ठीक होता है या नही। जो अमले अदालतो मे नियत किए जाते है, उनको काम करने योग्य दोनो लिपियो का परिचय है या नही। यह सम्मेलन गवर्नमेट मे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता है कि वह यह आज्ञा कर दे कि जो लोग तजवीज और इजहार आदि की नकले नागरी मे लेने की प्रार्थना करे उनको वे सब नागरी मे मिल जाया करे।

"यह सम्मेलन गवर्नमेट का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि जिस प्रकार युक्तप्रान्त का गवर्नमेट गजट अग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू मे भी प्रकाशित होना है, उसी प्रकार उसके नागरी अक्षरो मे भी प्रकाशित होने की वह आज्ञा कर दे।

"यह सम्मेलन गवर्नमेट का ध्यान इस ओर भी दिलाता है कि चुगी तथा दूसरे टैक्सो की रसीदें तथा अन्य कागजात जो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटियो से जारी होते है वे सब अधिकाश प्रजा के सुभीते के लिए नागरी अक्षरों मे लिखे जाने चाहिए और आशा करता है कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपैलिटिया इस बात पर शीघ्र ध्यान देगी।

"नागरी-प्रचार के लिए सम्मेलन उचित समझता है कि युक्तप्रान्त के प्रत्येक जिले मे इस कार्य के सम्पादन के लिए हिन्दी-प्रेमियो की एक-एक सभा स्थापित हो और सम्मेलन की कमेटी उनके स्थापित होने में सहायता करे और उनके कार्य की जाच के लिए तथा उनके सम्बन्ध मे अन्य कार्य करने के लिए एक इन्सपेक्टर नियुक्त करे।

"यह सम्मेलन उन देशी राज्यो से, जिनके दफ्तरों मे अब तक हिन्दी का प्रचार नही हुआ, अत्यन्त विनीत भाव से प्रार्थना करता है कि वे अपनी प्रजा के सुभीते तथा उन्नति के लिए राज्य के दफ्तरों में हिन्दी का व्यवहार करने की आज्ञा जारी कर दे।

श्री सत्यनारायण कुटीर
सम्मेलन का अतिथि भवन

हिन्दी संग्रहाल
इसका उद्घाटन विश्व-वन्द्य म
५ अप्रैल १९३६ को वि
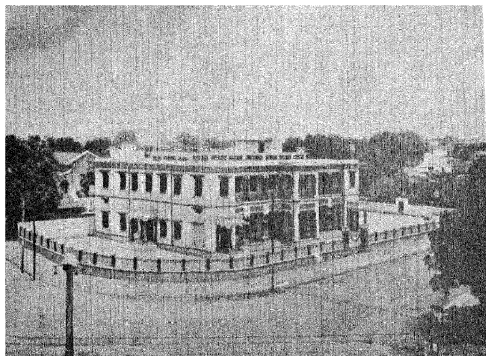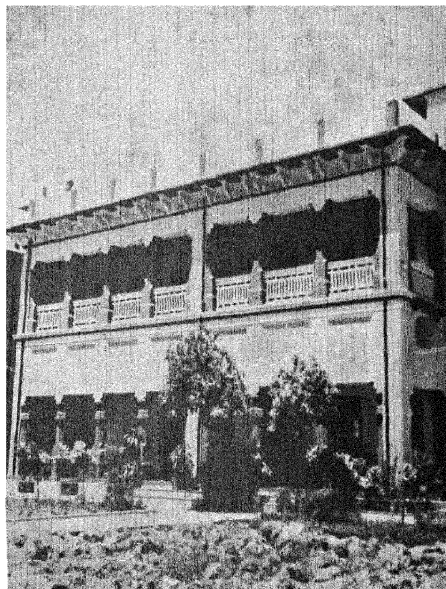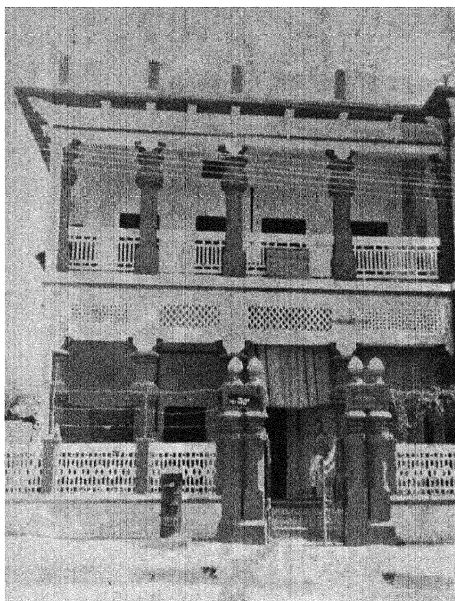
संकेतलिपि एवं टंकण विद्यालय

सम्मेलन कार्यालय

"इस सम्मेलन की सम्मति है कि अदालतों में नागरी-प्रचार के कार्य तथा हिन्दी-साहित्य की उन्नति के लिए एक कोश इकट्ठा किया जाय जो केवल उसी कार्य मे लगाया जाय।"

सम्मेलन के उस सर्वप्रथम अधिवेशन में यह सर्वप्रथम प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए टडनजी ने जो वक्तृता दी वह यदि विस्तार के साथ यहा उद्धृत कर दी जाय तो पाठको को यह अनुमान सहज ही हो सकता है कि हिन्दी के महान भविष्य और सभावनाओ के सम्बन्ध मे टडनजी के मस्तिष्क मे उस समय भी कितनी ऊची कल्पनाए थी और उसकी वर्तमान दुरवस्था से वह कितने दुःखी थे। उनके भाषण का एक अश इस प्रकार था--

"ऐसी भाषा हिन्दी ही है, जो समूचे देश मे सहज ही फैलाई जा सकती है। हिन्दी भाषा के जानने वालों की संख्या अन्य भारतीय भाषाओ के जानने वालो से कही अधिक है। हिन्दी-भाषा अन्य गुणों से भी सर्वांगपूर्ण है, उसका साहित्य भी अच्छा है और उसके साहित्य की दिन-दिन उन्नति होने की सम्भावना भी है। जिस भाषा मे ऐसे लेख नही लिखे जा सकते है, जो कि पढने वालो के भावो पर अपना प्रभाव डाल सकं, जो उनके भावो को बदल सके या जो उनके भावों की धारा को दूसरी ओर बहा सकं, उस भाषा के साहित्य की उन्नति होने की सम्भावना नही होती। हिन्दी भाषा में वे सभी गुण विद्यमान है, जिससे कि हिन्दी मे उक्त प्रकार के लेख लिखे जा सकते है। हिन्दी भाषा को भारत-वर्ष के हर प्रान्त के लोग समझते है। अब वे उपाय करने चाहिए जिनसे कि हिन्दी भाषा की सब प्रकार उन्नति हो। **जिस भाषा को राजा का सहारा नहीं है, वह शीघ्र उन्नति नहीं कर सकती है। लोग उसका उतना आदर नहीं करते जितना कि राजभाषा का। उर्दू भाषा की उन्नति इसका प्रमाण है। हम सबको उद्योग करना चाहिए कि जिसमें हमारी हिन्दी को भी 'राजद्वार' में स्थान मिले। ऐसा उपाय कीजिए जिसमें कि हिन्दी भाषा का प्रचार हर एक प्रांत के गांव-गांव में हो।**

टडन जी के उपर्युक्त भाषण के इस अश मे ही भविष्णु हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उद्देश्य बीज रूप मे छिपे हुए थे। आगे चलकर सम्मेलन को गतिमान और विशाल बनाने की उन्होने जो योजनाए रची, जो उपाय किए, उन सब मे उनके इस भाषण के शब्दो की चरितार्थता पदे-पदे मिलती है। इसी प्रथम प्रस्ताव के अन्तिम अश के रूप मे, अर्थात हिन्दी की उन्नति एवं प्रचार के लिए एक कोश की स्थापना के लिए 'हिन्दी पैसा फण्ड' की स्थापना हुई, जिससे आगे चलकर हिन्दी की उन्नति के प्रयत्नो को विशेष बल मिला। यहा यह स्मरणीय है कि टडनजी ने जो प्रस्ताव उपस्थित किया था, उसमे केवल एक कोश की स्थापना का विचार रखा गया था, किन्तु प्रस्ताव के इस अश का समर्थन सिहभूमि जिले के पोडाहाट स्टेट की राजधानी चक्रधरपुर के प्रतिनिधि बाबू रामचीजसिह ने किया था। वह चक्रधरपुर मे २१ नवम्बर, १९०९ मे स्थापित हिन्दी पैसा फण्ड समिति की ओर से इस अधिवेशन के प्रतिनिधि बनकर आए थे। उन्होने बडे मर्मस्पर्शी और तर्कपूर्ण ढग से हिन्दी की इस महती आवश्यकता की ओर उपस्थित प्रतिनिधियो का ध्यान आकृष्ट करते हुए जो भाषण दिया, उसका भी उपस्थित प्रतिनिधियो और जनता पर सुन्दर प्रभाव पडा। हिन्दी के परम उन्नायक मिश्र-बन्धुओ में मे एक रावराजा पडित श्यामविहारी मिश्र ने भी टडनजी के इस प्रस्ताव का तथा हिन्दी पैसा फण्ड की स्थापना का जोरदार समर्थन किया और सबके अन्त मे, अपनी ललित प्राजल भाषा और तर्कशैली से सम्मेलन के सभापति महामना मालवीय जी ने जो अपील की, उसका तो उपस्थित जनता एव प्रतिनिधियो पर अमोघ प्रभाव पडा और तत्काल ही भरी सभा मे चारो ओर से पैसो की वर्षा होने लगी। देखते-ही-देखते पैसा-फण्ड मे १३,१२८ पैसे नकद तथा २,११,४१८ पैसो के वचन प्राप्त हुए, जिनका योग २,२५,५४६ पैसे (अर्थात ३,५२४ रु० ८ आ०) चन्दा हुआ। यही नही, इस सम्मेलन की प्रसविनी काशी नागरी प्रचारिणी सभा पर उस समय तक छ. हजार रुपयों का ऋण था। उस समय ऋण की यह धनराशि किसी नवजात सस्था के भविष्य को बिगाडने के लिए पर्याप्त थी, सभा के संचालकों के लिए यह भारी ऋण दिन-रात की चिन्ता का विषय बना हुआ था। सयोगवश सभा मे जब कि चारों ओर से पैसो की वर्षा हो रही थी, पडित श्यामविहारी मिश्र ने उपस्थित प्रतिनिधियो तथा दर्शको को यह सुखद संवाद सुनाया कि एक उदार महानुभाव ने, जो अपना नाम प्रकट नही करना चाहते, यह प्रतिज्ञा की है कि वह शीघ्र ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा का छः हजार रुपये का ऋण चुकता कर देगे।

इस प्रकार काशी का यह प्रथम अधिवेशन न केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महान भविष्य के लिए ही प्रेरणाप्रद और सहायक रहा, वरन नागरी प्रचारिणी सभा के वर्तमान के लिए भी वह वरदायक सिद्ध हुआ। इस प्रथम प्रस्ताव की सर्व-सम्मति से स्वीकृति एवं इसके परिणामस्वरूप लगभग दस हजार रुपयो की सक्रिय आर्थिक निधि के सचयन से उपस्थित प्रतिनिधियो एव दर्शको का उत्साह कई गुना बढ गया। सर्वत्र उत्साह की लहर सी दौड़ने लगी। सब को यह दृढ विश्वास हो गया कि हिन्दी के साहित्कारो एव हितैषियो का यह प्रथम सम्मेलन अब भविष्य मे निर्बाध रूप से चलता रहेगा और इसके द्वारा हिन्दी की सभी प्रकार की कठिनाइयो एव समस्याओ का ही अवसान न होगा, वरन हिन्दी के सर्वतोमुखी विस्तार एव प्रचार-प्रसार मे भी यह अपूर्व योगदान करेगा।

जैसा कि कहा जा चुका है, काशी के प्रथम सम्मेलन मे स्वीकृत चार प्रस्तावो द्वारा सम्मेलन के भविष्य की रूपरेखा भी निर्धारित की गई थी। एक प्रस्ताव द्वारा देशभर के गण्य-मान्य ४१ व्यक्तियों की एक समिति बनाई गई जो सम्मेलन की नियमावली एव भविष्य की गतिविधि का निर्धारण कर वर्ष भर तक सम्मेलन के स्वीकृत मन्तव्यों आदि पर कार्य करे। यह भी निश्चय हुआ कि जब तक कोई नियमावली बनकर अधिवेशन मे स्वीकृत न हो जाय तब तक इसी प्रकार की समिति प्रति वर्ष बनती रहे। सम्मेलन की उस सर्वप्रथम समिति मे मालवीयजी के अतिरिक्त जो अन्य चालीस महानुभाव थे, उनमे से कुछ के नाम यो हैं। सर्व श्री लाला मुशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), साहित्याचार्य पण्डित रामावतार शर्मा, बाबू शारदाचरण मिश्र, सर गुरुदास बनर्जी, बाबू हरिकृष्ण जौहर, प० अमृतलाल चक्रवर्ती, प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प० श्यामविहारी मिश्र, राजा नरपतिसिह चक्रधरपुर, महामहोपाध्याय प० आदित्यराम भट्टाचार्य, डाक्टर गगानाथ झा, प० बालकृष्ण भट्ट, महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी, प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, प० रामनारायण मिश्र आदि। टडनजी आगामी वर्ष के लिए सम्मेलन के मन्त्री चुने गए और एक प्रस्ताव द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि आगामी वर्ष इस प्रकार का दूसरा सम्मेलन करने के लिए प्रयाग की नागरी प्रवर्धिनी सभा का निमत्रण स्वीकार किया जाय। यही नही, जिस समय काशी मे प्रथम सम्मेलन समाप्त हो रहा था उसी समय इस प्रथम सम्मेलन के सभापति महामना मालवीयजी ने प्रयाग से अपने साथ आए हुए प्रतिनिधियो से यह अनुरोध किया कि यदि सम्मेलन को दृढ करना है और स्थायी रूप देना है तो दूसरा अधिवेशन प्रयाग मे हो। प्रयाग के प्रतिनिधियो ने भी सम्मेलन की नीव दृढ करने के अभिप्राय से ही उसे प्रयाग मे निमत्रित किया था और यह कहा जा सकता है कि सम्मेलन के इसी द्वितीय अधिवेशन ने ही सम्मेलन को स्थायी रूप दे दिया। प्रथम सम्मेलन के सम्बन्ध मे उत्साह का होना तो उसकी नवीनता के कारण स्वाभाविक ही था, परन्तु द्वितीय सम्मेलन मे पहले से भी अधिक लोग एकत्र हुए और काशी से भी बढकर प्रयागवासियो मे सम्मेलन के प्रति उत्साह और आकर्षण देखा गया। प्रथम सम्मेलन को प्राय. सभी लोग काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का ही एक बृहद अधिवेशन समझते थे और सभा से अलग उसकी कोई स्थिति भी नही थी; किन्तु सम्मेलन के मत्री टडनजी ने प्रयाग मे आते ही अपने अनन्य सहयोगियो के साथ उसकी गतिविधि को जिस प्रकार से अग्रसर किया, उससे कुछ ही महीनो के भीतर सभा मे अलग सम्मेलन की एक स्थिति बन गई। उन्होने उसका स्थायी कार्यालय ही नही स्थापित किया, वरन उसकी बहुमुखी प्रवृत्तियो और सम्भावनाओ को भी मूर्त रूप दिया। इस प्रकार भगवान विश्वनाथ की पवित्र पुरी मे जन्म लेकर और महामना मालवीयजी के वरद हाथों से अमृतरसमय घूटी का पान कर और मनस्वी टडनजी की तपस्या और लगन से एक वर्ष के भीतर ही अक्षयवट की पुण्य-भूमि प्रयाग मे सम्मेलन को स्थायी रूप प्राप्त हो गया। द्वितीय वर्ष मे सम्मेलन का सभापतित्व पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र ने किया। टडनजी के साहित्यिक गुरु स्वर्गीय बालकृष्णजी भट्ट स्वागताध्यक्ष थे। प्रयाग के इस अधिवेशन से सम्मेलन को बडी शक्ति मिली और लोगों मे यह धारणा बद्धमूल होगई कि सम्मेलन का भविष्य महान है और एक-न-एक दिन वह इस विशाल देश की महती सस्था बनेगा।

सम्मेलन के इस द्वितीय अधिवेशन मे सम्मेलन की एक स्वतन्त्र नियमावली बनी जो केवल एक वर्ष के लिए स्वीकृत हुई और साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि सम्मेलन का मुख्य स्थान एक वर्ष के लिए पुनः प्रयाग ही में रहे। इस वर्ष भी सम्मेलन के मन्त्री-पद पर टडनजी को ही सर्वसम्मति से चुना गया। क्योंकि उनकी जैसी हिन्दी-निष्ठा और

तपस्या तथा सम्मेलन को सब प्रकार से अनन्त और गतिशील बनाने की लगन किसी अन्य व्यक्ति मे नही थी। अपने एक वर्ष के सीमित कार्यकाल में ही टंडनजी ने यह सिद्ध कर दिया था कि सम्मेलन को कितना आगे बढाया जा सकता है। सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन हमारे देश के वाणिज्य-व्यवसाय के प्रमुख केन्द्र कलकत्ता मे बडे समारोह के साथ हुआ और इसके सभापति हुए, हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और साहित्यकार उपाध्याय प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'। इस अधिवेशन से सम्मेलन को अपूर्व शक्ति मिली और अनेक हिन्दीतर भाषा-भाषी महानुभावो का भी सम्मेलन के प्रति ध्यान आकृष्ट हुआ। इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे पडित छोटेलालजी मिश्र और स्वागत-मत्री थे हमारे आज के राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद, जो उन दिनो कलकत्ता हाईकोर्ट मे प्रैक्टिस कर रहे थे। इस तृतीय अधिवेशन मे बगाल के चोटी के साहित्यकारो, वैज्ञानिको, वकीलो और पत्रकारो के अतिरिक्त वहा के प्रमुख नागरिको का भी सहयोग प्राप्त हुआ और उपस्थित प्रतिनिधियो मे मद्रास, उडीसा, बम्बई, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध आदि प्रदेशो के सैकडो व्यक्ति थे। इस वर्ष के अधिवेशन मे स्वीकृत एक विशेष प्रस्ताव मे सम्मेलन के मन्त्री टडनजी को उनकी अनवरत सेवा और परिश्रम के लिए धन्यवाद का ज्ञापन किया गया और उन्हे अधिकार दिया गया कि वह सम्मेलन कीस्थायी समिति की रजिस्ट्री करा ले।

सम्मेलन का चौथा अधिवेशन बिहार के भागलपुर नगर मे हुआ और इसके सभापति हुए आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता महात्मा मुशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द)। इसी अधिवेशन मे सम्मेलन की परीक्षा-सम्बन्धी नियमावली स्वीकार की गई और नागरी-वर्णमाला पर विचार करने के लिए एक उपसमिति का सगठन किया गया। इस अधिवेशन के साथ यह भी निश्चय होगया कि सम्मेलन का मुख्य कार्यालय स्थायी रूप मे अब प्रयाग मे ही रहेगा। पाचवा अधि-वेशन हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि पडित श्रीधर पाठक की अध्यक्षता मे लखनऊ मे बडी धूम-धाम के साथ हुआ। इस अधिवेशन मे इतने अधिक प्रतिनिधियो ने भाग लिया जितने अब तक कभी नही आए थे। इस अधिवेशन मे सम्मेलन की परीक्षाओ मे उत्तीर्ण स्नातको को उपाधि-पत्र प्रदान किये गए। लखनऊ-अधिवेशन तक सम्मेलन के कार्यालय की अपनी स्थिति सुदृढ हो चुकी थी, किन्तु अब भी वह टडनजी के निजी मकान का ही एक अग बना हुआ था, उनके वकालतखाने के कमरे मे ही एक ओर सम्मेलन का भी आफिस रहता था। सम्मेलन का छठा अधिवेशन लाहौर मे होने वाला था, किन्तु किसी कारणवश नही हो सका, इसलिए टडनजी ने उसे प्रयाग मे ही सोत्साह सम्पन्न किया। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० श्यामसुन्दरदास जी इस अधिवेशन के सभापति थे। सातवा सम्मेलन जबलपुर मे महामहोपाध्याय पडित रामावतार शर्मा की अध्यक्षता मे हुआ। सम्मेलन का आठवा अधिवेशन इन्दौर मे बडा महत्त्वपूर्ण रहा। उसके सभापति कर्मवीर महात्मा गाधी हुए, जो उन दिनो निराश भारत की कोटि-कोटि जनता के एकमात्र आशास्तम्भ थे। गाधीजी के महान व्यक्तित्व एव कृतित्व के सस्पर्श से सम्मेलन को नवजीवन प्राप्त हुआ। उसे अच्छी आर्थिक सहायता तो मिली ही, अहिन्दी-भाषियो के हृदय मे भी सम्मेलन और हिन्दी को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। महात्माजी की प्रेरणा से मद्रास मे हिन्दी-प्रचार का कार्य आरम्भ करने के लिए एक मन्तव्य स्वीकृत हुआ, जिसके परिणामस्वरूप समूचे दक्षिण भारत मे हिन्दी का व्यापक प्रचार एव प्रसार करने वाली सस्था 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' का जन्म हुआ। आरम्भ के कई वर्षों तक यह सस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अविभाज्य अग रही और इसकी सभी प्रवृत्तियो एव कार्रवाइयो का नियमन तथा सचालन उसके मुख्य केन्द्र प्रयाग से ही होता रहा, किन्तु आगे चलकर कुछ व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण तथा महात्मा गाधी की इच्छा के अनुसार इसे एक स्वतन्त्र सस्था के रूप मे कार्य करने के लिए सम्मेलन से पृथक कर दिया गया।

सम्मेलन का नवा अधिवेशन बम्बई मे पुन· महामना मालवीयजी की अध्यक्षता मे हुआ। इस अधिवेशन मे बडौदा के महाराजा द्वारा प्रदत्त ५०००) रु० की आर्थिक सहायता से सम्मेलन के साहित्यिक प्रकाशनो का श्रीगणेश हुआ। महात्मा गाधी तथा महामना मालवीय जैसे पुण्यश्लोक महानुभावो के सभापतित्व तथा टडनजी जैसे साधक तपस्वी तथा अनवरत हितचिन्तन-रत मन्त्री के सतत सान्निध्य से इन थोडे ही वर्षों मे सम्मेलन को जो अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त हुआ, वह अन्य भाषाओं के साहित्यिक संगठनो के लिए केवल स्पर्धा का विषय बन गया। अपितु इससे यह

भी सिद्ध होने लगा कि हिन्दी की शक्ति अजेय है और वह एक-न-एक दिन इस विशाल देश की राष्ट्रभाषा होने की पूर्ण क्षमता रखती है।

सम्मेलन का दसवा अधिवेशन स्वर्गीय पडित विष्णुदत्त शुक्ल के सभापतित्व मे पटना में हुआ और फिर कलकत्ते मे ग्यारहवा अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति डाक्टर भगवानदास हुए। कलकत्ते के इस अधिवेशन मे हिन्दी के सर्वप्रथम एव सर्वोत्कृष्ट 'मगलाप्रसाद पारितोषिक' की स्थापना हुई। टडनजी की प्रेरणा से कलकत्ता के सुप्रसिद्ध धनी और हिन्दी-हितैषी बाबू गोकुलचन्द्रजी ने अपने स्वर्गीय भाई श्री मगलाप्रसादजी की स्मृति मे ४० हजार रुपये सम्मेलन को इस लिए प्रदान किए कि इस धनराशि के ब्याज से प्रतिवर्ष १२००) रु० का एक पुरस्कार मगलाप्रसाद पारितोषिक के नाम से किसी मौलिक हिन्दी-ग्रथ के रचयिता को प्रदान किया जाय। बारहवा अधिवेशन सर्वप्रथम पजाब की राजधानी लाहौर मे हुआ, जिसके सभापति पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी थे। इस अधिवेशन के पूर्व तक टडनजी सम्मेलन के मत्री-पद पर इसलिए बराबर बने रहे कि उनके सशक्त एव कर्मठ व्यक्तित्व के सिवा सम्मेलन को सभालने की शक्ति किसी अन्य मे नही थी। प्रत्येक अधिवेशन के अवसर पर उपस्थित प्रतिनिधियो और सभापति आदि पदाधिकारियों के अनुरोध से वह विवश हो जाते थे। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि सम्मेलन की एक अपनी सुदृढ स्थिति बन गई। उसकी परीक्षाओ का देश भर मे प्रचलन होगया, इसके प्रकाशनो से भी अच्छी आय होने लगी और सुदूर दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक सम्मेलन से सम्बद्ध हिन्दी-सस्थाओ द्वारा उसकी व्यापकता और सघटन-शक्ति से हिन्दी की लोकप्रियता, प्रचार और प्रसार मे अपूर्व वृद्धि हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी-जगत की एक सुदृढ सस्था के रूप मे विख्यात हो गया। और उसके वार्षिक अधिवेशनो द्वारा हिन्दी की समस्याओ और कठिनाइयो पर विचार करने के लिए एक देशव्यापी मच मिल गया।

अपने प्रधानमत्रित्व के इन दस वर्षों मे सम्मेलन को आगे बढाने मे टडनजी ने वही काम किया, जो एक स्नेहमयी माता अपने इकलौते पुत्र के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए अपना निजी सुख-दु ख भूलकर किया करती है। उस समय सम्मेलन के पास धन-सम्पत्ति तो दूर, कार्यालय के लिए एक छोटी-सी कोठरी भी नही थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आरम्भ के कई वर्षों तक टडनजी का निजी कमरा ही सम्मेलन का कार्यालय था और उनके निजी मुशी ही उसका थोडा-बहुत काम कर देते थे, शेष काम या तो टडनजी स्वय करते थे अथवा अपने पास से वेतनादि देकर रखे गए कार्यकर्ताओ द्वारा कराते थे। परीक्षाओ के शुल्क और पुस्तको के प्रकाशनो द्वारा जब सम्मेलन को थोडी बहुत आय होने लगी तब भी सम्मेलन के एक-एक पैसे का व्यय टडनजी एक कृपण व्यवसायी की भाति करते थे। वह युग ही ऐसा था। बहुत थोडे वेतन मे तन-मन लगाकर काम करने वाले अनेक योग्य व्यक्ति टडनजी को मिले, जिन्होने आरम्भ के दिनो मे सम्मेलन के कार्य को आगे बढाया। उस समय सम्मेलन के कार्यकर्ताओ का न तो काम का कोई घटा नियत था और न वेतन का कोई निश्चित क्रम था। आज तो सम्मेलन के कार्यकर्ताओ का मासिक वेतन लगभग बीस हजार रुपए से अधिक है, किन्तु उन दिनो तो इतने रुपयो मे सम्मेलन का सभी कार्य वर्षों तक चलाया जाता था। उसके एक-एक पैसे का व्यय किस प्रकार सुविचारित ढग से किया जाता था, इसका परिचय उन दिनो टडनजी के साथ सम्मेलन का कार्य करने वाले पुराने कार्यकर्ताओ द्वारा ज्ञात होता है। किसी कर्मचारी की आठ आना वार्षिक वेतन-वृद्धि करते समय भी कार्यसमिति मे टडनजी की उपस्थिति आवश्यक होती थी। जिन बैठको मे वह कार्यवश अनुपस्थित रहते थे, उनमे कोई भी ऐसा विचारणीय विषय नही रखा जाता था, जिसमे अर्थ-सम्बन्धी कोई समस्या हो। तात्पर्य यह है कि अपने प्रधानमत्रित्व के कार्यकाल मे टडनजी ने सम्मेलन के सभी कार्यों को इस सुव्यवस्थित ढग से आगे बढाया कि उनके बाद कार्य करनेवालो की कठिनाइया बहुत सुगम हो गईं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जिन दस अधिवेशनों की सक्षेप मे ऊपर चर्चा की गई है, वे ऐसे थे, जिनसे आरम्भ मे सम्मेलन को सब प्रकार की शक्ति मिली, उसकी कार्य-दिशाओं का मार्ग प्रशस्त हुआ, उसके स्वरूप का निखार हुआ और यह विश्वास होने लगा कि अब इस सस्था का कार्य कभी रुकने वाला नही है। प्रयाग मे उसका निजी भवन बन गया, उसकी परीक्षाओ मे सहस्रो परीक्षार्थी प्रविष्ट होने लगे, उसके प्रकाशन का कार्य आरम्भ हो गया, उसकी परीक्षाओ के पाठ्यक्रमो के अध्यापन के लिए 'हिन्दी विद्यापीठ' की स्थापना हो गई।

उसके पास अपनी कुछ पूंजी हो गई, उसकी नियमावली बन गई और उस नियमावली के अनुसार इस विशाल देश के प्रत्येक अचल के हिन्दी-प्रेमियो का उसके वार्षिक अधिवेशनो मे जमाव होने लगा। अब वह काशी मे सम्पन्न होने वाले हिन्दी के साहित्यकारो का एक आकस्मिक अधिवेशन मात्र नही रह गया, उसकी प्रतिष्ठा और कार्यक्षमता पर हिन्दी-जगत की आस्था हो चुकी थी। निर्माण के इन महत्त्वपूर्ण दस वर्षो मे टडनजी ने जिस अदम्य मनोयोग, निष्ठा और पवित्रता से सम्मेलन के कार्यों का सचालन किया, उससे उसके आगे के कार्यों मे सुकरता आ गई। सभी कार्यों की पद्धतिया निर्दिष्ट हो चुकी थी। प्रधानमत्री के रूप मे टनडजी ने सम्मेलन को अब इस योग्य बना दिया था कि आगे के पदाधिकारियों का कार्य सुगम हो चला था। फलत इन दस वर्षों के बाद उन्होने सम्मेलन का प्रधान मत्री पद छोडकर यह देखना चाहा कि दूसरे लोगो द्वारा सम्मेलन का कार्य किस प्रकार चलता है। यद्यपि इस प्रयोग मे भी उन्हे सदैव सतर्क रहना पडता था और प्राय सब कार्य वह देखते-सुनते चलते थे; तथापि वह ऐसे सहयोगियो और कार्यकर्ताओ की अच्छी सख्या तैयार करना चाहते थे, जो उनके आदर्शों और कल्पनाओ के अनुसार सम्मेलन की प्रवृत्तियो को आगे बढाए। सौभाग्यवश उस समय उन्हे अच्छे सहयोगी भी मिले, जिन्होने उनकी निर्दिष्ट पद्धतियो पर सम्मेलन के कार्यों को अग्रसर किया और उसे वर्तमान स्थिति तक पहुचाया।

अब तक सम्मेलन के कुल अडतीस अधिवेशन हो चुके है। हिन्दी-जगत के दुर्भाग्य मे गत दस वर्षों से सम्मेलन की वैधानिक स्थिति पर गतिरोध हो गया है और उसके अधिवेशनो की परम्परा बन्द हो गई है, किन्तु जब तक सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन होते थे तो उनके कारण टडनजी पर कार्यों का इतना बोझ आ जाता था कि देखने वाले भी दग रहते थे। सम्मेलन के अधिवेशन मे कौन-कौन से व्यक्ति भाग लें, इसकी सूची मे लेकर उसमे प्रस्तुत होने वाले प्रस्तावो को लिखने का कार्य भी वह स्वय करते थे। क्या मजाल है कि किसी भी प्रस्ताव की भाषा कही मे शिथिल, अनर्गल अथवा अत्युक्तिपूर्ण हो। बहुत कम लोगो को यह ज्ञात होगा कि सम्मेलन के इसी एक अधिवेशन के सिलसिले मे टडनजी ने नाभा स्टेट का मत्री-पद त्याग दिया था, जो उन दिनो बडे महत्त्व का था। बात यो थी कि सम्मेलन के अधिवेशन मे टडनजी भाग लेना चाहते थे और इसके लिए उन्होने राजा साहब को यथासमय सूचना भी भेज दी थी, किन्तु निर्दिष्ट समय तक जब उन्हे अवकाश पर जाने की स्वीकृति या सूचना नही प्राप्त हुई तो उन्होने अपने त्यागपत्र के साथ नाभा छोडकर अधिवेशन मे भाग लिया। बाद मे जब नाभा के राजा साहब को इसकी सूचना मिली तो उन्होने टडनजी मे अपना त्यागपत्र वापस लेने का बहुतेरा अनुरोध किया, किन्तु 'रामो द्विर्नैव भाषते' के अनुयायी को अपने निश्चय से डिगाने की शक्ति किसी पद, प्रलोभन या व्यक्ति मे नही थी।

इसी प्रकार सम्मेलन के भागलपुर-अधिवेशन के अवसर पर टडनजी ने सम्मेलन के कार्यों के कारण अपने एल० एल० एम० की परीक्षा मे न बैठने का जो निश्चय किया वह भी उल्लेखनीय है। टडनजी उन दिनो हाईकोर्ट मे प्रैक्टिस कर रहे थे और साथ ही एल० एल० एम० की परीक्षा देने का भी उन्होने पूरा निश्चय कर लिया था, किन्तु भागलपुर के वार्षिक अधिवेशन पर जब उन्हे पुन प्रधानमन्त्री बनाने के लिए चारो ओर से दबाव पडा तो उन्होने अपनी इस परीक्षा की चर्चा करते हुए अपनी ओर से विवशता प्रकट की। चारो ओर टडनजी जैसे सुयोग्य प्रधानमत्री की तलाश होने लगी, किन्तु जब किसी को एक भी नाम न सुझाई पडा तो स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदास ने बडे मार्मिक शब्दो मे टडनजी से उक्त पद स्वीकार करने का पुन आग्रह किया। टडनजी बाबू श्यामसुन्दरदास का बडा आदर करते थे, और उनकी हिन्दी-सेवाओ का उनके हृदय पर बडा प्रभाव था। वह उनका आग्रह टाल नही सके और अपनी सारी तैयारियो के बाद भी एल० एल० एम० की परीक्षा उन्होने दी। वह चाहते तो सम्मेलन का कार्य करते हुए भी उक्त परीक्षा दे सकते थे किन्तु टडनजी ने कभी किसी काम को ऊपरी मन से या दिखावे के लिए करना नही सीखा। या तो किसी काम को वह करेगे ही नही, और यदि करेगे तो सम्पूर्ण शक्ति के साथ करेगे।

टडनजी के प्रधानमत्री पद से पृथक हो जाने के अनन्तर सम्मेलन के प्रधानमत्रियो की परम्परा मे अनेक सुयोग्य व्यक्तियों के नाम आते है, जिनमे से अनेक ने कई वर्षों तक सम्मेलन के कार्यों को प्रगति देने और सम्मेलन की प्रतिष्ठा को ऊचा उठाने वाले कार्य भी किए है। किन्तु यह कहना उचित जान पडता है कि अभी कुछ ही वर्षों पूर्व तक

सम्मेलन का सम्पूर्ण मत्रिमडल टडनजी के सकेतो पर ही चलता रहा है। सम्मेलन का छोटे से छोटा कार्य भी उनके परामर्श के बिना नही किया जाता था। और प्रधानमन्त्री तो जैसे सम्मेलन के प्रतिदिन के कार्यों में उनके पथ-प्रदर्शन और परामर्श के बिना कुछ कर ही नही सकता था। यद्यपि बीच मे कुछ ऐसे भी प्रसग आए है जब टडनजी ने एक-दो प्रधान-मत्रियो के कार्यालय मे अपना नियन्त्रण ढीला करके उन्हे पूर्णतया स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की सुविधा दे दी थी, किन्तु यह अनुभव अच्छा नही रहा; सम्मेलन की स्थिति को इससे जबर्दस्त धक्के लगे और उन्ही लोगो ने, जिन्होने टडनजी के नियत्रण को अपनी और सम्मेलन की स्वतन्त्रता मे बाधक समझा था, पुन टडनजी से अपना नियन्त्रण पूर्ववत बनाए रखने की प्रार्थना की।

सम्मेलन के बहुमुखी विकास की कल्पना टंडनजी के अपने मस्तिष्क की उपज थी। यह सत्य है कि उन्होने सम्मेलन के कार्यों को आगे बढाने मे अपने अनेक सुयोग्य सहयोगियों और मित्रो से सहयोग भी लिया; किन्तु यह भी सत्य है कि अपनी उन कल्पनाओ को मूर्त रूप देने की क्षमता अकेले टडनजी मे ही थी। हिन्दी उन दिनों कितनी उपेक्षित थी, इसका पता इसी बात से लग सकता है कि स्वय हिन्दी की जन्मभूमि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि मे ही उसका कोई स्थान नही था। यहा भी अस्सी प्रतिशत जनता उर्दू पढती थी। डाकखानो, पुलिस स्टेशनो, रेलवे, सरकारी कार्यालयो आदि मे सर्वत्र अग्रेजी के साथ उर्दू विराजमान थी। स्कूलो-कालेजो मे भी हिन्दी का कोई स्थान नही था। न तो उसमे उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें थी और न हिन्दी का कोई पाठ्य विषय ही कही रखा गया था। उस युग मे सम्मेलन की विविध परीक्षाओं का सचालन एव उनकी पाठ्य विधि को प्रयोगात्मक रूप से आगे बढाने के लिए हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना कर टडनजी ने एक नई दिशा का उदघाटन किया। बताते है, प्रयाग मे हिन्दी विद्यापीठ का जब उन्होने आरम्भ किया तो सर्वप्रथम अपने पुत्रो को ही उसका नियमित विद्यार्थी बनाया। धीरे-धीरे उनकी इन दोनो कल्पनाओ से हिन्दी का कितना कल्याण हुआ, इसे आज बताने की आवश्यकता नही है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओ के अनुकरण पर बाद मे अनेक सरकारी तथा गैरसरकारी हिन्दी-परीक्षाओ की पद्धति आगे बढी। स्कूलो, कालेजो अथवा विश्वविद्यालयो मे हिन्दी को पाठ्य विषय बनाने मे भी सम्मेलन की परीक्षाओ का ही मुख्य हाथ रहा। और उनके द्वारा स्थापित विद्यापीठ के अनुकरण पर तो न केवल हिन्दीभाषी राज्यो मे ही, वरन अहिन्दी-भाषी राज्यो मे भी ऐसी सस्थाओ की बहुलता हो गई। परतन्त्रता के दिनो मे जनता के मनोबल को उठाने और राष्ट्रीय भावनाओ के विकास मे इन सस्थाओ ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

सम्मेलन की स्थापना के आज ५० वर्ष पूरे हो रहे है। इन ५० वर्षों मे टडनजी ने अपने जीवन का कितना समय सम्मेलन के कार्यों के लिए लगाया—इसका अनुमान वही लोग कर सकते है जो उनकी दिनचर्या के साथ एक-दो दिन का भी सम्पर्क रखते है। आज अत्यन्त रुग्णावस्था मे भी वह सम्मेलन की प्रत्येक गतिविधि का पूर्ण परिचय प्राप्त किए बिना नही रहते। किन्तु जब वह पूर्णत स्वस्थ थे, कार्यरत थे, तो सम्मेलन के कार्यों के लिए उनके दिन और रात बराबर थे। इन पक्तियां के लेखक का अनुभव है कि कभी-कभी ऐसे भी अवसर आए है जब दिन-रात के चौबीस घण्टो मे पन्द्रह-सोलह घटो तक बैठकर टडनजी ने सम्मेलन का कार्य किया है। बीच मे कुछ दिनो के लिए, जब वह नाभा और पजाब नेशनल बैंक के कार्य से लाहौर चले गए थे, शेष वर्षो मे सम्मेलन के कार्यों मे ही उनके जीवन का अधिकाश बीता है। कोई भी सभापति या प्रधानमत्री रहा, सम्मेलन की प्रमुख चिन्ताए उन्ही के कन्धो पर रही। सम्मेलन की कठि-नाइया उन्होने हल की और उसे ऊचा उठाने का उद्योग उन्होने ही आरम्भ किया

सम्मेलन के १३वे अधिवेशन मे, अपने मित्रो तथा हिन्दी-जगत के दुराग्रह से पराजित टडनजी को सम्मेलन का सभापति-पद ग्रहण करना पडा था। यह अधिवेशन कानपुर मे हुआ था और इसके स्वागताध्यक्ष थे आचार्य श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी। अपने सभापतित्व मे सम्पन्न होनेवाले सम्मेलन के इस अधिवेशन मे टडनजी ने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था, वह कई दृष्टियो से अब तक के सभापतियो के अभिभाषणो से भिन्न था। इसी अधिवेशन मे सम्मेलन के अन्तर्गत उस हिन्दी-सग्रहालय की स्थापना का निश्चय किया गया, जो आज हिन्दी-जगत मे अपने ढग की अनुपम वस्तु है। सग्रहालय की स्थापना विश्ववन्द्य महात्मा गाधी जी के कर-कमलो द्वारा सन १९३६ ई० मे हुई। हिन्दी-

संग्रहालय का निजी भवन प्रयाग मे प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय वास्तुकला का एक सुन्दर नमूना है। उसके विशाल कक्ष मे प्रवेशद्वार के सम्मुख हसवाहिनी सस्मितवदना सरस्वती की तेजस्विनी स्फटिक-प्रतिमा है और चतुर्दिक हिन्दी में प्रकाशित पुस्तको का विशाल भण्डार है। हिन्दी-सग्रहालय मे अनेक कक्ष है। 'वसुकक्ष' मे प्रयाग के सुप्रसिद्ध चिकित्सक एव इतिहासवेत्ता स्व० मेजर वामनदास वसु के मूल्यवान पुस्तकालय मे प्रदत्त लगभग ५००० दुर्लभ पुस्तको का ऐसा सग्रह है, जो टडनजी की प्रेरणा एव सत्प्रयत्न मे सम्मेलन को प्राप्त हुआ है। एक दूसरे कक्ष मे, हिन्दी एव सस्कृत की हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों का विशाल सग्रह है। इस कक्ष मे उत्तर प्रदेश के सुलतानपुर जिले के अमेठी राज्य के वर्तमान कुवर रणजयसिह द्वारा अपने अग्रज स्व० रणवीरसिह की स्मृति मे दी गई पाण्डुलिपियो के साथ देश के भिन्न-भिन्न अचलो मे सम्मेलन द्वारा सगृहीत पाण्डुलिपिया भी सुरक्षित है, जिनकी सख्या ५००० से अधिक है।

हिन्दी-सग्रहालय का 'राजर्षिकक्ष' स्वय टडनजी को देश के कोने-कोने मे प्राप्त मूल्यवान सामग्रियो मे भरा है। एक प्रकार मे इमे उनके अतीत जीवन के सामाजिक, साहित्यिक एव सास्कृतिक सन्दर्भों का जीवित स्मारक भी कह सकते है। इसमे उनके बाल्यकाल से लेकर अब तक के दुर्लभ चित्रो का सुन्दर सग्रह है। उन्हे प्रदत्त सैकडो अभिनन्दन-पत्रो मे से कुछ को छाटकर सजाया भी गया है। साथ ही चन्दन, हाथीदात, सुवर्ण, रजत, लौह एव विभिन्न धातुओ मे वनी भेट-सामग्रिया भी यहा सुरक्षित है। उनको 'राजर्षि' उपाधि दिए जाने के अवसर के पुण्य वस्त्र भी यही रखे गए है। और कुछ अति-अद्भुत एव विचित्र वस्तुए भी इस कक्ष मे रखी गई है। जैसे किसी आयुर्वेदिक सम्मेलन मे भारत मे उत्पन्न एव निर्मित होनेवाले सहस्रो रस-रसायनो एव जडी-बूटियो की छोटी-छोटी पुटिकाओ द्वारा सुसज्जित विशाल माला, चमर एव कवच है, तथा हैदराबाद सम्मेलन के अवसर पर प्रदत्त सिह-स्तम्भ है। इसी कक्ष मे हिन्दी के अनेक दिवगत साहित्यकारो एव महान नेताओ की प्रिय वस्तुओ को भी सगृहीत किया गया है। हिन्दी-सग्रहालय मे, उसकी स्थापना के बाद से प्रकाशित होने वाली प्रत्येक स्तर की हिन्दी-पुस्तक को रखने का दावा किया जाता है, यद्यपि उसके पूर्व प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें भी वहा है। साथ ही हिन्दी की सभी पत्र-पत्रिकाओ का भी यहा सुन्दर सग्रह है। टडनजी की इच्छा है कि हिन्दी के सम्बन्ध मे अपने ढग का यह अपूर्व सग्रहालय हो। आज इस अवस्था मे भी उसकी वृद्धि एव उन्नति की चिन्ता उन्हे रहती है। बताते है, जब सग्रहालय के भवन का निर्माण हो रहा था तो अपने व्यस्त दैनिक कार्यों के अतिरिक्त प्रतिदिन के उसके निर्माण-कार्य का निरीक्षण भी उनका कर्तव्य था। उसके निर्माण के एक-एक पैसे का हिसाब वह स्वय देखते थे और यह मजाल नही था कि किसी भी कार्य मे एक पैसा भी अधिक व्यय किया जाय।

सग्रहालय-भवन के अतिरिक्त सम्मेलन-कार्यालय के वर्तमान विशाल भवन, मुद्रणालय, अतिथि-भवन, डाक-घर, शीघ्रलिपि एव टकण विद्यालय-भवन तथा कर्मचारियो के आवास-स्थान इन सबका निर्माण भी टडनजी के निर्देशन मे ही हुआ है। और ये सभी भवन आधुनिक प्रयाग के दर्शनीय स्थलो मे है। टडनजी के अनन्य विश्वासपात्र एव सन्मित्र तथा प्रयाग के सुप्रसिद्ध इजीनियर श्री नन्दकिशोरजी अग्रवाल ने इन सबका निर्माण, बिना किसी पारिश्रमिक एव पुरस्कार के, अनेक कठिनाइया उठाकर कराया है। टडनजी के साथ जिन लोगो का सम्पर्क है, वे भली भाति जानते है कि उनके साथ प्रतिक्षण प्रतिकार्य मे जितनी सावधानी, सतर्कता, पवित्रता, ईमानदारी एव परिश्रमशीलता की जरूरत है, उसमे सर्वसाधारण का निभना कठिन हो जाता है। अर्थशुचिता के सम्बन्ध मे उनकी तुला इतनी सूक्ष्म एव उनका स्तर इतना महान है कि आज के युग मे उनके स्थापित आदर्शों पर चलना असिधारा-व्रत के पालन से कम कठिन नही है। फलत सम्मेलन के इन सभी भवनो के निर्माण मे इजीनियर साहब को जिन कठिनाइयो के साथ टडनजी के अर्थ-सम्बन्धी आदर्शों की रक्षा करनी पडी है, उसे बहुत कम लोग जानते है।

सम्मेलन के आरम्भिक अतिथि-भवन के निर्माण मे पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी का भी हाथ था। ब्रजकोकिल स्व० सत्यनारायण जी कविरत्न की स्मृति मे निर्मित इस अतिथि-भवन का यद्यपि आज बहुत विस्तार हो चुका है, तथापि आरम्भ मे इसके लिए चतुर्वेदीजी ही प्रेरक थे। इस अतिथि-भवन मे हमारे राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू से लेकर हिन्दी का ऐसा कोई भी साहित्यकार या लेखक न होगा, जो प्रयाग-यात्रा मे यहा न टिका हो। प्रयाग आनेवाले साहित्यिकों एवं लेखको का यह प्रिय आवास-स्थल है। यहा पर अतिथियों के निवास, भोजन आदि की सुन्दर व्यवस्था

है। अपनी स्वस्थावस्था मे टडनजी इस अतिथि-भवन की भी बराबर देखरेख रखते थे, और कुछ वर्षों पूर्व तक, जब वह सम्मेलन-भवन के सामने वाले किराए के मकान में रहते थे तो प्रतिदिन थोडा-सा समय निकालकर सम्मेलन-कार्यालय, सग्रहालय और अतिथि-भवन का एक चक्कर लगाए बिना नही रह सकते थे । वहा पर टिके हुए अतिथियो एव उनकी सुख-सुविधाओं की चर्चा वह आज भी कभी-कभी पूछ लेते है ।

इस प्रकार सम्मेलन के चतुर्मुखी विकास एवं प्रसार मे उसके जन्म से लेकर आज तक टडनजी का कितना बडा हाथ है, इसे अब अधिक प्रकट करने की आवश्यकता नही है। सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उसकी समस्त छोटी-बडी समस्याओ एव वस्तुओ की सम्पूर्ण जानकारी जितनी उन्हे है, उतनी किसी भी व्यक्ति को नही है। कोई व्यक्ति भले ही अनेक वर्षों तक सम्मेलन का प्रधान मत्री रहा हो, किन्तु उसके पास भी सम्मेलन के लिए न उतनी सहानुभूति थी और न उतना समय। ऐसे भी सन्दर्भ स्मरण है, जब सम्मेलन के कर्मचारियो और अधिकारियो को अर्धरात्रि मे उनके घर से बुला-बुलाकर टडनजी ने आवश्यक कार्यों के निर्देश दिए है, और कभी कोई त्रुटि या च्युति होने पर फटकारे भी सुनाई है। सम्मेलन जैसे उनके हृदय की धडकन मे बस गया हो। वह चाहे प्रयाग मे रहते रहे हो या बाहर प्रवास मे, प्रतिदिन सम्मेलन के लिए कुछ-न-कुछ करते रहने का उनका अखण्ड व्रत कभी भग नही हुआ। आज अत्यन्त रुग्णावस्था मे भी वह प्रतिदिन उसकी गतिविधि की जिज्ञासा एव उसकी समस्याओ के समाधान मे अपने सत्परामर्श देने मे आलस्य का अनुभव नही करते। हिन्दी और सम्मेलन का कल्याण ही उनके जीवन का मधुर कार्य रहा है। अन्त मे हम एक-दो मार्मिक सस्मरण देकर इस प्रसग को समाप्त करते है।

गतवर्ष राज्य सभा मे जब ससदीय हिन्दी समिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाने वाला था तो राजर्षि टडनजी का स्वास्थ्य अत्यन्त चिन्ताजनक अवस्था मे था। प्रयाग के कुशल चिकित्सको ने उनसे लोगो का मिलना-जुलना बन्द करा दिया था, क्योकि प्रतिदिन नियमित रूप से होनेवाले ज्वर के साथ-साथ उन्हे श्वास और हृदय का भी कष्ट था। समूचा परिवार और मित्रवर्ग उनके दिन-प्रतिदिन के स्वास्थ्य की चिन्ता मे निमग्न था, किन्तु स्वय टडनजी को अकेली हिन्दी की चिन्ता परेशान किए हुए थी। उन्होने माननीय पण्डित गोविन्दवल्लभजी पन्त को तार दिलवाकर पूछा कि उक्त विषय पर किस तिथि को विचार होने की सम्भावना है। पन्तजी की ओर से उत्तर आ गया और ज्ञात हुआ कि अगले महीने की किसी समीपवर्ती तिथि को ही उक्त विषय पर विचार होगा। टडनजी मे उस समय चारपाई पर से स्वय उठकर चलने-फिरने की शक्ति नही थी। डाक्टरो ने उन्हे बोलने-चालने से भी मना कर रखा था कि अकस्मात उन्होने अपने परिवार तथा डाक्टरो को यह सूचित करके चिन्ता मे डाल दिया कि राज्य सभा मे उक्त विषय प्रस्तुत होने के समय वह दिल्ली मे उपस्थित रहकर अपना वक्तव्य अवश्य देना चाहते है। शरीर की दशा ऐसी कदापि नही थी। एक-एक दिन बडी कठिनाई से बीत रहा था कि एक दिन सन्ध्या के समय पण्डित रामनरेशजी त्रिपाठी के साथ मैं भी उनके दर्शनार्थ उनके कक्ष मे पहुच गया। टडनजी के सुपुत्र डा० आनन्दकुमार तथा एक अन्य डाक्टर, जिनकी चिकित्सा उन दिनो चल रही थी, वहा बडी गम्भीर मुद्रा मे उपस्थित थे। थोडी ही देर मे यह गम्भीर विषय हम लोगो के समक्ष भी उपस्थित हुआ। श्री त्रिपाठीजी टडनजी के पुराने मित्र है, अत उनके साथ बातचीत के प्रसग मे वातावरण जब कुछ हल्का हुआ तो त्रिपाठीजी ने बडी सुन्दरता के साथ टडनजी से इस शोचनीय अवस्था मे दिल्ली न जाने का प्रेमपूर्ण आग्रह किया। बडी देर तक वह चुपचाप मुस्कराते हुए हम सबकी बाते सुनते रहे और फिर सहसा उनका मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा और आखे साश्रु हो गई, जब एक पेंसिल उठाकर उन्होने एक कागज के टुकडे पर कापते हुए हाथो से यह लिखकर त्रिपाठीजी को पढने के लिए दिया कि—

"मै तो इसी दिन के लिए वहां बैठा रहा हूं तब फिर कैसे रुक सकता हूं, आप ऐसा न कहें।"

फिर तो सभी लोग गम्भीर हो गए और थोडी देर तक चुप बने रहे। किन्तु वह सयोग नही बना। उनका शरीर धीरे-धीरे ऐसा नही रह गया कि वह चारपाई छोडकर कही जा सके, यद्यपि उनके चित्त पर दिल्ली की राज्य सभा ही चढी रही। उन दिनो समाचारपत्रो मे निकलने वाले हिन्दी-सम्बन्धी प्रश्न पर राज्य-सभा एव लोक-सभा की पूरी कार्यवाही वह पढते रहते थे और अपनी शारीरिक विवशता पर दुःखी हुआ करते थे।

आज की हिन्दी एव सम्मेलन की समस्याए भी टडनजी के गिरते हुए स्वास्थ्य का कारण बनी हुई है। क्योकि इन दोनो विषयो की चर्चा से ही उनकी दैनिक चर्या आरम्भ होती है और दिन भर मे अनेक बार उसकी पुनरावृत्ति हुआ करती है, अत यह कहना उचित होगा कि सम्मेलन के साथ टडनजी का अभिन्न सम्बन्ध है। अपने शरीर मे बढकर उन्हे उसका मोह है, क्योकि अभी इसी मई मास के अन्तिम सप्ताह मे उन्होने जो कुछ किया है, उसमे इसी बात का प्रमाण पुष्ट होता है।

प्रयाग की गरमी-सरदी कुख्यात है। गरमियो मे वहा ११८ अश फारेनहाइट तक यदि तापमान बढ जाता है तो सरदियो मे ३९ और ३७ अश तक आ जाता है। इस वर्ष के मई मास मे प्रयाग का तापमान बढ जाने के कारण टडनजी का स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था कि डाक्टरो ने उन्हे दोनो वक्त आक्सीजन देने का सुझाव दिया। समाचारपत्रो द्वारा इस सवाद के प्रकाशित होने से हिन्दी-जगत की चिन्ता बढ गई और स्वय टडनजी मे भी निराशा का थोडा उदय हुआ। फलत ता० २८ मई को जब मै उनके समीप दर्शनार्थ गया तो उन्होने सम्मेलन ट्रस्ट निधि की चर्चा करते हुए तुरन्त उसकी बैठक बुलाने के लिए और उसके प्रारूप के निर्माण के लिए गहरी चिन्ता प्रकट की। मैने देखा, उनकी तेजस्विनी आखो मे इस ट्रस्ट के निर्माण की चिन्ता घनीभूत है, क्योकि उन्होने सकेत किया कि इसके उपसयोजक श्री वियोगी हरि को तुरन्त दिल्ली से आने का तार दिया जाय और इस कार्य में अधिक विलम्ब न किया जाय। उनका सकेत अपने स्वास्थ्य की क्षीणता की ओर था। मै बडी देर तक उनके समीप बना रहा। श्वास की कठिनता मे उनका एक-एक वाक्य बडे कष्ट से निकल रहा था, और फिर भी उसका सुनना-समझना सरल नही था। मैने पाया कि उनकी प्रत्येक श्वास मे सम्मेलन और हिन्दी के भविष्य की चिन्ता आरूढ है। वहा से लौटकर मैने हरिजी को तार दिया। वह दूसरे ही दिन सवेरे प्रयाग आ गए और हम लोगो ने उसी दिन ट्रस्ट निर्माण समिति की बैठक बुलाने की पूरी योजना तैयार कर उन्हे कुछ आश्वस्त किया। और अन्त मे जब ४ जून को कलकत्ता मे उक्त बैठक सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गई, ट्रस्ट का पूर्ण स्वरूप निर्मित हो गया और मैने कलकत्ता से वापस आकर समिति की सम्पूर्ण कार्रवाई का उन्हे सक्षेप बतलाया तो निश्चिन्तता की श्वास लेते हुए उन्होने प्रसन्नता प्रकट की। परमात्मा की कृपा से उनका स्वास्थ्य अब उस स्थिति मे नही है। वह धीरे-धीरे श्वास-कष्ट से छुटकारा पा चुके है, यद्यपि दुर्बलता अब भी है।

पाठक इन्ही दो साम्प्रतिक सन्दर्भो से हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी के साथ टडनजी के सम्बन्धो का कुछ अनुमान लगा सकते है।
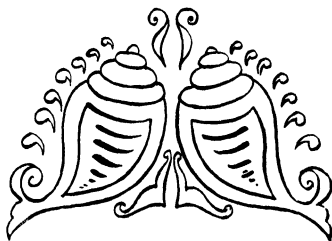
हिन्दी विधिक शब्दावली और टंडनजी

श्री राजेन्द्र द्विवेदी

दुनिया के ससदीय इतिहास मे शायद यह पहला ही सयोग था जब विधायकों से कानून का विधान करने के स्थान पर पर्यायो का विधान करने के लिए कहा गया था। लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम अय्यगार ने राज्यसभा के सभापति डा० राधाकृष्णन की सहमति से ससदीय विधिक और प्रशासकीय शब्दो के लिए हिन्दी-पर्याय निश्चित करने के उद्देश्य मे ससद-सदस्यो की एक सयुक्त समिति ५ मई, १९५६ को नियुक्त की। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन को इस तदर्थ समिति का सभापति बनाया गया। इस समिति मे शुरू मे ३३ सदस्य थे, २२ लोकसभा के और ११ राज्यसभा के। आगे चलकर पाच नए सदस्य और बढाए गए और दो सदस्यो ने अपने कारणों से त्यागपत्र दे दिया। समिति मे प्राय सभी भारतीय भाषाओ का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य थे और उसने देश की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ के जानने वाले सदस्यो के ज्ञान का भी लाभ उठाया। समिति के सदस्य प्राय. सभी बौद्धिक क्षेत्रो का भी प्रतिनिधित्व करते थे। वकील, प्रोफेसर और साहित्यकार सभी प्रकार के सदस्य इस समिति मे थे।

समिति के सदस्य थे श्री पुरुषोत्तमदास टडन (सभापति), श्री अ० भ० थामस, श्री नेतूर प० दामोदरन्, श्री मे० वे० रामस्वामी, श्री राघवाचारी, श्री म० शी० गुरुपादस्वामी, श्री केशव अय्यंगार, श्री शकर शान्ताराम मोरे, श्री कमलकुमार बसु, श्री ना० प्र० सिन्हा, श्री चि० चा० शाह, श्री वेकटेशनारायण तिवारी, श्री मन्नूलाल द्विवेदी, श्री नन्दलाल जोशी, श्री नेसवी, श्री भक्तदर्शन, श्री अमरनाथ विद्यालकार, श्री वेकटरामन, श्री नवल प्रभाकर, पडित अलगूराय शास्त्री, पडित नन्दलाल शर्मा, पडित बालकृष्ण शर्मा (नवीन), डा० पाडुरग वामन काणे, श्री मो० सत्यनारायण, डा० राधाकुमुद मुकर्जी, श्री हि० चं० दासप्पा, श्रीमती वायलेट आल्वा, श्री पु० श० राजगोपाल नायडू, श्री अकबरअली खा, श्री य० र० देवगिरकर, श्री रामधारीसिह दिनकर, डा० श्रीमती सीता परमानन्द, काकासाहेब कालेलकर, श्री हीरेन्द्रनाथ मुकर्जी, डा० रघुवीर, पडित कृष्णचन्द्र शर्मा, श्री कृष्णाचार्य जोशी और श्री सूरजप्रसाद मिश्र।

समिति का दुष्कर कार्य

लोकसभा के स्वर्गीय अध्यक्ष श्री गणेश वासुदेव मावलकर के निर्देश से प्राय: पच्चीस हजार अग्रेजी विधिक शब्द हिन्दी-पर्याय निश्चित करने के लिए इकट्ठे किये गए थे। इनमे से अक्षर 'ए' से 'सी' तक की शब्दावली (लगभग पाच हजार शब्दो) को पहले ही एक विशेषज्ञ समिति द्वारा अतिम रूप दिया जा चुका था। इस विशेषज्ञ समिति के सदस्य थे : श्री घनश्यामसिह गुप्त (सभापति), काकासाहेब कालेलकर और डा० बाबूराम सक्सेना। डा० रघुवीर ने इस काम मे सहायता की थी।

परन्तु अभी अक्षर 'डी' से 'जैड' तक की शब्दावली सकलित होकर वैसी ही पडी थी। इस शब्दावली मे बीस-इक्कीस हजार शब्द थे। अभी तक किसी भी समिति द्वारा इस शब्दावली के हिन्दी-पर्याय निश्चित नही किये गए थे। इसी शब्दावली के हिन्दी-पर्यायों को अंतिम रूप देने का काम श्री पुरुषोत्तमदास टडन समिति को सौंपा गया।

यह संसदीय समिति

दुनिया की किसी भी तदर्थ ससदीय समिति ने शायद ही इतने अध्यवसाय और लगन से अपने काम को निभाया हो। मेरे कहने का तात्पर्य यह कभी नही है कि दूसरी ससदीय समितियो के काम मे इतनी तत्परता नही दिखाई जाती। परन्तु यह काम ही बिलकुल दूसरे ढंग का था। जिन्हे ससदीय समितियो के कार्यकलाप को निकट से देखने का अनुभव है, वे जानते है कि ससदीय समितिया भी ससद का ही एक लघु रूप होती है। वहा पर भी सदस्यो के अपने राजनीतिक पूर्वाग्रह और बन्धन होते है। वहा समर्थन किया जाता है तो वह सत्तारूढ दल के सदस्यो द्वारा सरकारी नीतियो का दल के अनुशासन के अन्तर्गत किया गया समर्थन होता है, और यदि विरोध किया जाता है तो वह विपक्षी दल के सदस्यो द्वारा या तो केवल विरोध के लिए किया गया विरोध होता है या अपनी नीति-विशेष के समर्थन में किया गया विरोध। इस दृष्टि से इस ससदीय समिति का कार्यकलाप बिलकुल अलग ढग का था। इस समिति में राजनीतिक भेदभाव बिलकुल नही थे। प्रो० हीरेन्द्रनाथ मुकर्जी जैसे धुरन्धर साम्यवादी सदस्य या पडित नन्दलाल शर्मा जैसे उग्र दक्षिणपथी सदस्य या काग्रेसी सदस्य सभी शब्दो के यथोचित पर्याय-निर्धारण मे कन्धे से कन्धा भिडाकर सहयोग देते थे। समिति के सदस्यो के बीच यदि कुछ मतभेद होते भी थे, तो वे राजनीतिक नही बल्कि विशुद्ध रूप मे अध्ययन पर आधारित होते थे।

ससदीय समितियो की भीतरी कार्यवाही का ब्यौरा देना कभी-कभी ससदीय विशेषाधिकार का भग तक माना जा सकता है। इसलिए इस लेख मे समिति की कार्यप्रणाली की विस्तृत चर्चा सभव नही है और वैसी आशा रखने-वाले पाठको को निराशा ही होगी। स्वभावत मैने अपनी चर्चा को प्राय सामान्य या निजी चर्चा तक ही सीमित रखा है। फिर भी श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन के अभिनन्दन के प्रयोजन से प्रस्तुत किए जाने वाले ग्रथ मे यदि बाबूजी के पिछले जीवन के इस महान कार्य पर प्रकाश न डाला गया, तो यह अभिनन्दन-ग्रथ एक अधूरा ही ग्रथ रह जाएगा। इस लेख का एकमात्र उद्देश्य यही है और जाने-अनजाने विहित विशेषाधिकार-भग की सभाव्य त्रुटियो के लिए, यदि कुछ हो तो, मै शुरू मे ही ससद—लोकसभा के अध्यक्ष और राज्यसभा के सभापति—से स्पष्ट क्षमा चाहता हू।

समिति की अन्य विशेषताएं

इस समिति के काम के बारे मे एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ससदीय समितियो के इतिहास मे किसी भी तदर्थ समिति ने अपने को दिये गए काम को पूरा करने मे कही भी इतना समय नही लगाया। यह अतिशयोक्ति लगती है, परन्तु वस्तुत यह एक बिलकुल सच बात है। इस समिति के काम की इस महान विशेषता को देखते हुए ही हम लोगो ने समिति की नित्य की बैठको के काम के घटो का पूरा-पूरा लेखा-जोखा रखा था और श्रद्धेय बाबूजी और समिति की अनुमति से यह हिसाब समिति के प्रतिवेदन के एक परिशिष्ट के रूप मे दिया गया है। समिति की पहली बैठक १० मई, १९५६ को हुई थी और उसका कार्यकाल (दो बार बढाये जाने के बाद) ३१ मार्च, १९५७ तक का था। इस बीच समिति की एकसौ तेरह बैठके बुलाई गई और इन बैठको मे समिति ने ३६४३ घटे काम किया। विश्व भर की ससदीय समितियो के इतिहास में यह एक बडी ही महत्त्वपूर्ण घटना है और ससदीय समितियो के इतिहास मे इसका उल्लेख स्वर्णाक्षरो मे किया जाएगा। इस सबका श्रेय एकमात्र बाबूजी को ही दिया जाएगा।

यद्यपि समिति को अपने काम को बाट देने के लिए उपसमितिया नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था, तथापि काम के स्वरूप को देखते हुए उपसमितिया नियुक्त करना वाछनीय न था। अन्यथा विभिन्न उपसमितियो द्वारा निश्चित किये गए पर्यायो मे परस्पर समन्वय और एकरूपता लाने के लिए नई-नई समस्याए खडी हो जाती। फलत पूरी समिति ने इकट्ठे बैठकर ही सारे काम को निपटाया। यह अलग बात है कि बाद मे गणपूर्ति एक-तिहाई के स्थान पर केवल पाच सदस्य ही निश्चित करानी पडी।

टंडनजी की प्रेरणा

समिति ने इतनी निष्ठा और अध्यवसाय से यह काम किया, इस सब के पीछे टडनजी की वैयक्तिक प्रेरणा

ही थी। सभी जानते है कि अब तक वह ससद (लोक-सभा या राज्य-सभा) के सदस्य रहे, वह ससद-सदस्यों के बीच किस समादर के पात्र रहे। उनकी व्यक्तिगत लगन ही पूरी समिति के काम का प्रेरक तत्त्व थी। समिति की बैठके शुरू मे तो सामान्य ससदीय नियमो और परम्पराओ के अधीन केवल सन्ध्याकाल मे ही होती थी, पर कुछ ही दिनो मे यह स्पष्ट हो गया कि यदि समिति निश्चित समय मे अपना काम पूरा करना चाहती है, तो उसे ज्यादा समय तक बैठना पडेगा। अध्यक्ष महोदय से विशेष अनुरोध किया गया कि समिति की बैठके सवेरे भी होने दी जाए। वह तुरन्त सहमत हो गए। तदनुसार समिति की बैठके प्राय: सवेरे ग्यारह बजे से शाम के पाच बजे या उससे भी बाद तक चलती रही।

इस बीच बाबूजी लगातार छ घटे तक एक ही आसन पर बैठे रहते थे। लघुशका जैसी सामान्य दैनिक जरूरते भी उन्हे विचलित या तग न करती थी। एक भी दिन वह एक भी मिनट के लिए बीच मे उठकर समिति-कक्ष के बाहर नही गये। एक विस्मयपूर्ण, आश्चर्यजनक, उदात्त और आदर्श दृश्य था। जैसे वैदिक युग का एक ऋषि वेद की ऋचाओ की रचना मे तल्लीन हो, पूरे सयम और मनोयोग के साथ। एक वयोवृद्धि व्यक्ति को लगातार छ:-छ: घटे तक एक ही आसन पर बैठा देख समिति के सदस्य और समिति से सम्बद्ध हम शासकीय कर्मचारी सभी स्तब्ध रह जाते थे। परन्तु वह अपने आप मे एक प्रेरणा थी। उनका वह आदर्श—एक सजीव दृष्टान्त—हम युवको के लिए अपना सर्वस्व होम देने का एक आह्वान था। इसमे आश्चर्य नही कि हम लोगो ने भी इस काम को सामान्य और नियत सरकारी काम न समझ इसे राष्ट्रभाषा के और अपने लघुजीवन के इतिहास का एक अध्याय समझा और यथाशक्य निष्ठा और लगन मे उस काम को निभाया। आगे चलकर मेरा नैत्यिक कार्यकाल–ससद भवन और २, टेलीग्राफ लैन (टडनजी का निवास-स्थान) मे—सबेरे आठ बजे से साय साढे आठ तक एक निश्चित कार्यकाल बन गया। इसके अलावा भी रोज ही मुझे काम की तैयारी के लिए दो-तीन घटे घर पर अध्ययन के लिए निकालने पडते थे। यह सब लिखने का अभिप्राय अपने आपको अनुचित और अनर्जित श्रेय देना नही, बल्कि यह दिखाना है कि बाबूजी की प्रेरणा युवको मे कितनी कार्य-शक्ति फूक सकती है।

बाबूजी से सम्पर्क

समिति मे बाबूजी के साथ काम करने से पहले मैं कभी उनके सम्पर्क मे न आया था। उनसे सबधित दो-तीन झाकिया ही मेरे मानस-पटल पर अकित थी (१) गाधी ग्राउड, दिल्ली की चौदह-पन्द्रह वर्ष पहले की एक सन्ध्या, एक सार्वजनिक साहित्य सभा, बाबूजी का अनवरत भाषण चल रहा है—"सिहो के लेहडे नही—" अचानक वाग्धारा रुकी, बोले—"एक सज्जन ने इधर कुछ दूरी पर सिगरेट सुलगा ली है, यह सभा का शिष्टाचार नही है। वह इसे बन्द कर दे, या सभा के बाहर चले जाए। (फिर कुछ तेज स्वर मे) मैं तो यह लखनऊ की विधान-सभा के कक्ष मे भी बर-दाश्त नही करता जहा मैं अध्यक्ष हू।" और फिर वाग्धारा का सूत्र वही से पकड लिया, जहा से टूटा था, जैसे कुछ हुआ ही नही। (२) इम्पीरियल होटल, नई दिल्ली का भव्य लाउज, अ० भा० राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद की विषय-समिति की बैठक, हिन्दी-भाषियो के लिए भी एक अन्य भाषा अनिवार्य हो, इस विषय पर भाषण करते हुए बाबूजी की सामजस्यपूर्ण वक्तृता। (३) अ० भा० राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद का अतिम दिन, चायपान का आयोजन, भोज-मडप मे दिल्ली के साहित्यकार मिठाइयो की ओर झपट रहे है, बाबूजी ने एक स्थानीय सज्जन को झिडक दिया कि अतिथियो को तो आ जाने दो। फिर चाय (निर्दुग्ध) पीने से पहले उनके हाथ धोने की समस्या, जिसका समाधान मेरे सुझाव पर चाय के ही गर्म जल से किया गया।

समिति के काम में बाबूजी के साथ

जब समिति का काम शुरू हुआ तो मै लोकसभा-सचिवालय के एक दूसरे उपभाग मे कुछ महत्त्वपूर्ण हिन्दी-पत्रो—कार्यसूची, प्रश्नसूची, बुलेटिन और ससदीय पत्रिका (छमाही)—के सपादन के काम मे लगा हुआ था। समिति की कुछ बैठको के बाद ही यह स्पष्ट हो गया कि समिति के साथ सबद्ध कर्मचारियो मे कम-से-कम एक व्यक्ति ऐसा होना चाहिए, जिसे सस्कृत की जानकारी हो। टडनजी ने जब बार-बार आग्रह किया, तो मुझे समिति के साथ सम्बद्ध

किया गया। मेरे वहा पहुचने पर बाबूजी ने मुझे अपने बिलकुल पास दाईं ओर बिठाया। बाद मे समिति की मेज पर यही मेरा निश्चित स्थान हो गया। मेरा काम शुरू मे शब्द-निर्माण के व्याकरण-सम्मत पहलू पर बाबूजी को परामर्श देना था। बाद मे जब काम मे तेजी आई, तो उनके आदेशानुसार मैं अगले पृष्ठो पर कुछ शब्दो को चिह्नित कर देता था, जिनके पर्याय के बारे मे मेरे विचार से समिति को विशेष चर्चा करनी चाहिए। परन्तु इसके लिए मुझे पहले मे सदर्भ-ग्रन्थों को पलटना पडता था और अपनी पूरी तैयारी करनी पडती थी।

बाबूजी के साथ मेरी नित्यचर्या कुछ इस प्रकार की हो गई : सबेरे आठ बजे, २, टेलीग्राफ लैन (बाबूजी का निवास) पहुचकर पिछले दिन के कार्यवाही के साराश पर उनका अनुमोदन लेना, फिर प्राय उनके साथ ही ससद-भवन पहुचना और ग्यारह मे पाच साढे पाच तक समिति मे बाबूजी के साथ बैठना, साढे पाच से सात तक दिन भर की कार्यवाही का साराश और निश्चित शब्दो की सूची तैयार करना तथा सन्ध्या को फिर अपेक्षित हुआ तो आठ-साढे आठ तक बाबूजी के निवास पर कार्यवाही-साराशो का अनुमोदन कराना या अगली बैठक मे विचारार्थ शब्दावली की उनमे अग्रिम चर्चा करना। इसके अलावा अन्य अनेक नैत्यिक कार्य भी थे।

बाबूजी का विश्वास

बाबूजी का पूरा विश्वास प्राप्त करने मे स्वभावतः मुझे कुछ समय लगा। जो लोग बाबूजी के स्वभाव मे परिचित है, वे जानते है कि उनका पूरा विश्वास प्राप्त कर लेना आसान काम नही है। समिति मे जो पर्याय निर्णीत होते थे, बाबूजी उन सभी को अपनी पुस्तक मे स्वय लिखते थे। जो बात उनकी अपनी पुस्तक मे न लिखी हो, वह समिति का निश्चय नही माना जा सकता। इसलिए वह कार्यवाही—साराश के साथ सलग्न एक-एक शब्द और एक-एक पर्याय अपनी पुस्तक से मिलाते थे और तभी कार्यवाही-साराश पर अपना अनुमोदन देते थे। शुरू मे कई बार मुझे यह प्रक्रिया काफी विलम्बकारी लगी, पर बाद मे शायद बाबूजी द्वारा की गई अपनी योग्यता या निष्ठा की किसी परीक्षा मे मैं उत्तीर्ण हो गया और मुझे उनका विश्वास प्राप्त हो गया। हिन्दी की शब्दावली या खास तौर पर नए हिन्दी-शब्दकोशों मे जो लोग परिचित है वे जानते है कि यदि एक गलती एक कोश मे आ गई, तो वह परवर्ती सभी कोश-ग्रन्थो मे स्थान पा जाती है। मुझे ठीक याद नही, शायद ऐसी ही कोई बात थी। किसी शब्द के विशुद्ध अक्षर-विन्यास का प्रश्न था। बाबूजी ने जब कोश-ग्रथ देखा और मेरी बात को ठीक पाया, तो उन्हे मुझ पर भरोसा हो गया और फिर मुझे विशेष कठिनाई नही हुई।

सदस्यों की विद्वत्ता

सौभाग्य से समिति के प्राय सभी सदस्य बडे विद्वान थे। पाच-छ तो पी-एच० डी० थे, कई बैरिस्टर, अनुभवी प्रोफेसर या वकील थे। समिति के प्रतिवेदन के एक परिशिष्ट मे इन सदस्यो की शैक्षिक योग्यताए भी दे दी गई है। उनके विविध भारतीय भाषाओ के ज्ञान ने भी समिति का काम काफी आसान कर दिया था।

शब्दों का विशुद्ध रूप

मैं बाबूजी को शब्दो के जगत मे विशुद्धतावादी घोषित नही कर सकता। 'कट-मोशन' के लिए प्रचलित 'कटौती-प्रस्ताव' के अनुरूप 'रिबेट' के लिए उन्होने 'घटौती' जैसा शब्द गढा, जो हिन्दी की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार अन्य प्रचलित शब्दो को स्थान दिया गया या वैसे शब्द गढे गए। परन्तु सस्कृत-शब्दो के विशुद्ध और व्याकरण-सम्मत रूप को ही स्वीकार करना वह उचित समझते थे, भले ही उसका अक्षर-विन्यास दूसरे रूप मे प्रचलित हो। नए शब्दो के बनाने मे भी उनका आग्रह व्याकरण के नियमो की अवहेलना करने के विरुद्ध रहता था। 'नोमीनेटेड' के लिए 'नामित' को स्वीकार करने मे वह इसी कारण सहमत नही हुए और 'नामनिर्देशित' जैसा लम्बा पर्याय रखा गया। एक बार 'गृहीत' के सही अक्षर-विन्यास का प्रश्न उठा। एक सदस्य ने जो सस्कृत के अगाध विद्वान भी थे, शायद कुछ भूल से 'र' वाले 'ग्रहीत' को शुद्ध बताया। मेरा मतभेद था, पर उस समय मैं चुप ही रहा। कुछ देर बाद मैंने सबधित

पाणिनीय सूत्र 'ग्रहिज्या' चुपचाप जाकर उनको दिखाया। उन्होंने साभार अपनी गलती मान ली और परिहास मे बाबूजी से बोले, इस गलती के लिए मै अपने 'कर्णौ गृहीत' करता हू।

कानूनी विशुद्धता

इसी प्रकार कानूनी निर्वचन की विशुद्धता का भी बाबूजी पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। समिति मे बहुत सी बहसे शब्दों के कानूनी पक्ष को और उनके मान्य निर्वचनो को हिन्दी-पर्याय मे उतारने के लिए ही हुई। बाबूजी का अपना कानूनी ज्ञान अगाध था। फिर समिति मे अनेक बैरिस्टर और वकील थे। न्यायिक शब्दावली पर परामर्श देने के लिए विधि-मत्रालय के हिन्दी-विशेषाधिकारी प्रो० बालकृष्ण भी विशेष आमन्त्रण पर बडे चाव से बैठको मे भाग लेने आते थे। स्वभावत शब्दो की कानूनी दाव-पेच सम्बन्धी बहसो मे उनका एक विशेष हाथ रहा। बाबूजी का उन पर भी अगाध विश्वास था। अय्यर, ह्वार्टन और वैब्सटर के सदर्भ-ग्रन्थो से प्रत्येक विधिक शब्द की व्याख्या देखना और तदनुसार उपयुक्त हिन्दी-पर्याय का निर्धारण करना कोई खेल नही था। इस लेख के कलेवर मे इन सभी बहसो की झाकी प्रस्तुत कर सकना सभव नही है। बाबूजी बडे मनोयोग से सभी तर्कों को सुनते थे। अत्यन्त निकट बैठने के कारण कभी-कभी मै देखता कि उनके धैर्य की दारुण परीक्षा हो रही है, परन्तु वह प्रत्येक सदस्य की पूरी बात सुनते थे। यह अलग बात है कि जिस बात पर उनका अपना विचार पूरी तरह दृढ हो, उस बारे मे उनके दो ही वाक्य सभी सदस्यो को तुरत अपनी ओर कर लेते थे। या दूसरे शब्दो मे ऐसे मामलो मे जहा वह अपनी एक युक्ति से विपक्षी का पूरा किला धराशायी कर देते थे, वहा विपक्षी के तर्कों की शृखला भी उन्हे अपना निश्चित विचार बदलने मे समर्थ न हो पाती थी। परन्तु सब मिलाकर समिति मे उनका दृष्टिकोण बडा ही आनम्य और लचकीला रहा।

बहसों का स्वरूप

सामान्यत. बाबूजी किसी दूसरे वैकल्पिक हिन्दी-पर्याय को स्वीकार कर लेने मे कोई आपत्ति न करते थे। उनकी ओर से समिति को यह निश्चित आदेश था कि एक विशेष शब्द के जो पर्याय निश्चित किये गए है, वे सभी उस शब्द के साथ बने सभी शब्दो मे आगे भी यथावत कोष्ठको मे उद्धृत कर दिए जाने चाहिए। इसी कारण समिति की शब्दावली मे काफी लचक है और एक शब्द के कई-कई पर्याय कोष्ठको मे बार-बार दिये गए है। इसी प्रकार किसी दूसरी भाषा का प्रचलित पर्याय बडी सरलता मे एक वैकल्पित पर्याय के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता था। 'रजिस्टर' के लिए 'पजी' के साथ-साथ मराठी 'नोदपुस्तक' का स्वीकार कर लिया जाना एक सामान्य उदाहरण है। इसी प्रकार बगला, गुजराती, पजाबी, असमिया आदि अन्य भारतीय भाषाओ से भी अनेक शब्दो को ग्रहण किया गया था।

फिर भी कुछ शब्दो को लेकर वास्तव मे बडी लम्बी, विचारोत्तेजक और मनोरजक बहसे हुई। पाठको को यह पढकर आश्चर्य नही होना चाहिए कि 'वैक्सीन' का पर्याय 'रक्षालस' निश्चित करने मे समिति मे लगभग एक घटे की बहस हुई। 'नुइसेस' के पर्याय 'घिनौनी वस्तु, अवखेदक और व्याधा' निर्धारित करने मे तो एक घटे से भी ऊपर समय लगा। 'डिफेस' का पर्याय 'रक्षा' या 'प्रतिरक्षा' निश्चित करने मे तो दो-तीन बैठको मे लम्बी चर्चा हुई।

किन्तु सबसे मनोरजक और उत्कट बहस 'इडिया' का पर्याय 'भारत' निश्चित करने मे हुई। यह याद रखने की बात है कि समिति के किसी भी निश्चय के लिए नियमित मतदान नही लिया गया और निर्णय समझा-बुझा-कर और चर्चा करके एक सर्वसम्मत समझौते के रूप मे ही किये गए। केवल उक्त पर्याय के लिए नियमित मतदान भी लेना पडा। समिति मे मतदान लेने का यह एकमात्र अवसर था। यह तो नही कहा जा सकता कि यह बहस राजनीतिक थी, किन्तु दोनो पक्षो के अपने-अपने तर्क थे, जिन्होने बहस को बडा ही जानदार बना दिया।

समिति का प्रतिवेदन

समिति का तीन पृष्ठो का प्रतिवेदन भी कुछ रोचक और आकर्षक बहसो के साथ पूरा किया गया। बाबूजी की प्रारूप रचना-सम्बन्धी कुशलता का यह एक स्पष्ट परिचायक है। प्रारूपरचना और भाषा की बात चलने पर बाबूजी ने परिहास की मुद्रा मे कहा कि एक बार काग्रेस के किसी प्रस्ताव के सिलसिले मे प्रधान मत्री श्री जवाहर-

लाल नेहरू के प्रारूप को उन्होने सुधारा था और प्रधानमंत्री ने इसका आभार माना था।

एक सदस्य की यह राय थी कि प्रतिवेदन में यह उल्लेख नही होना चाहिए कि शब्दावली के चुनाव मे सस्कृत की सहायता ली गई है। बाबूजी और कई अन्य सदस्य इसमे कैसे सहमत हो सकते थे ? फलत प्रतिवेदन मे एक अलग पैराग्राफ मे कहा गया है, "सस्कृत के बहुत से शब्द देश की अधिकाश भाषाओ मे एक समान प्रचलित है, अत समिति ने नए शब्द बनाने मे मुख्यत सस्कृत मे सहायता ली है, जो सविधान के अनुच्छेद ३५१ के निर्देश के अनुसार ही है।"

शब्दावली का स्वरूप

इस शब्दावली के स्वरूप के बारे मे प्राय यह कहा गया है कि यह डा० रघुवीर की शब्दावली मे ज्यादा प्रभावित है। यह ठीक है कि डा० रघुवीर समिति के एक प्रभावशाली और कर्मठ सदस्य थे, परन्तु एक तो स्वय डा० रघुवीर ने अपरिवर्त्य दृष्टिकोण नही अपनाया और दूसरे बाबूजी और दूसरे सदस्य भी इस बारे मे काफी जागरूक थे। उदाहरण के लिए 'क्वार्टर मास्टर जनरल' शब्द का पर्याय डा० रघुवीर ने 'महा-भक्त-यात्रिक' दिया है। यह शब्द मेरे द्वारा बहस के लिए चिह्नित शब्दों मे से था। जब इसका क्रम आया तो बाबूजी ने डा० रघुवीर से पूछा कि आपने यह क्या पर्याय रखा है ? डा० रघुवीर स्वभावत कुछ सोच मे पड गए। तब उनके पर्याय की पृष्ठभूमि बाबूजी के निकट स्पष्ट की गई कि डाक्टर साहब ने 'राशनिग' के लिए 'भक्त' रखा है और यह सैन्य पदाधिकारी सैनिको के राशन, शिविर और यात्रा के नियत्रण के लिए जिम्मेवार होता है। किन्तु सभी सदस्यो ने माना कि 'भक्त' शब्द हिन्दी मे भगवान के भक्त के लिए बहुत रूढ है और यात्रिक भी बगला मे तीर्थयात्रियो के लिए चलता है, जिस नाम की एक फिल्म भी बन चुकी है। अन्त मे समिति ने 'महा-शिविर-सनायक' निश्चित किया। डा० रघुवीर ने इसका कोई प्रतिरोध नही किया। अन्य अवसरो पर भी डा० रघुवीर ने समिति के निर्णय को प्राय शिरोधार्य किया।

बाबूजी के दृढ़ विचार

इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि बाबूजी ने समिति की रिपोर्ट पर हिन्दी मे हस्ताक्षर किए और शक-सवत मे दिनाक अकित किया। उनके आग्रह मे समिति के प्रतिवेदन का, जो शब्दावली की भूमिका के रूप मे था, हिन्दी-अनुवाद भी साथ-साथ ही प्रकाशित किया गया। समिति के सामान्य कार्यकलाप मे भी उनके दृढ विचारो की छाप देखने को मिलती थी।

कर्मचारियों पर अनुग्रह

समिति के साथ सबद्ध कर्मचारियो के प्रति बाबूजी का व्यवहार बडा ही सहानुभूतिपूर्ण और उदार रहा। वह चाहते थे कि समिति की रिपोर्ट मे ही यह उल्लेख किया जाए कि लोकसभा-सचिवालय के कर्मचारियो ने समिति के काम को पूरी तत्परता से निभाया है। समिति के अन्य सदस्यो की भी यही राय थी। लेकिन ससदीय परम्परा और नियमो के अधीन कर्मचारियो के काम का उल्लेख रिपोर्ट मे नही किया जाता। इस पर बाबूजी ने समिति का वर्ग-फोटोग्राफ खीचते समय अध्यक्ष से हम लोगो के सामने ही हमारे काम की प्रशसा की। जब मुझे सघीय लोक सेवा आयोग ने 'सस्कृति' के सपादक के रूप मे चुना और मै वैज्ञानिक अनुसधान और सास्कृतिक कार्य मत्रालय मे आया, तो मेरी इस तरक्की पर बाबूजी ने कहा, "यह सुनकर मुझे बडा सुख मिला।"

बाबूजी का स्वास्थ्य

इस समिति के भारी काम और बाबूजी के घोर परिश्रम ने उनके स्वास्थ्य पर भी उग्र प्रभाव डाला। समिति का काम अभी मझधार मे ही था कि वह भीषण रूप मे बीमार पड गए और उन्हे विलिग्डन अस्पताल मे भरती होना पडा। अस्पताल मे वह शायद दो-तीन महीने रहे। उन्हे लगा कि समिति के काम के सिलसिले मे उनका इस प्रकार रुग्ण हो जाना समिति के काम को पीछे न डाल दे। बाद मे उन्हे समझाया गया कि स्वास्थ्य सर्वोपरि है और उनकी अनुपस्थिति मे भी डा० राधाकुमुद मुकर्जी के सभापतित्व मे समिति का काम चालू रखा गया। बाद मे

समिति के प्रतिवेदन को अंतिम रूप देते समय (मार्च, ५७ के अंत मे) वह स्वस्थ होकर वापस आ गए और इस यज्ञ की पूर्णाहुति का कार्य स्वय उन्होने ही सपन्न किया।

परन्तु मेरा विचार है कि इस काम मे किये गए उग्र और अथक परिश्रम ने ही बाबूजी के शरीर की रही-सही क्षमता को भी क्षीण कर दिया। शायद बहुत कम लोग जानते है कि यह उनके कर्मठ जीवन का कितना महान और जीवट का काम था। हम नही चाहते, कोई नही चाहता, कि यह काम उनके जीवन का अंतिम महान काम माना जाए। यद्यपि अब वह वस्तुत सन्यास ले चुके है, तथापि हम चाहते है कि वह शतायु हो और उनके दिशा-निर्देश मे इससे भी ज्यादा महत्त्व के काम निष्पादित किए जाए।

कांग्रेस-अध्यक्ष टंडनजी

श्री हर्षदेव मालवीय

राजर्षि टडनजी सन १९५० मे आचार्य कृपलानी के मुकाबले मे नासिक-काग्रेस के अध्यक्ष मनोनीत हुए। उसके पूर्व सन १९४८ की जयपुर-काग्रेस के अध्यक्ष-चुनाव मे स्व० डा० पट्टाभि सीतारामैया के मुकाबले वह सफल नही हुए थे। इन दोनो अवसरो पर जो लोग टडनजी के निकट थे उनसे पता लगा कि वह बिलकुल स्थितप्रज्ञ रहे। असफलता पर न उनको विषाद था, और सफलता पर न कोई उल्लास रहा। नासिक-काग्रेस के अध्यक्ष-चुनाव के मुकाबले का अध्यक्षीय चुनाव केवल सन १९३८ मे, त्रिपुरी-काग्रेस के पूर्व नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और स्व० डा० पट्टाभि के बीच ही देखा गया था। स्वभावत इस अवसर पर भी लोगो मे बडी अटकलबाजिया, बडी उत्कठा, काफी गरमाहट थी। पर राजर्षि इस पूरे समय मे शातमूर्ति ही देखे गए।

राजर्षि टडनजी के काग्रेस-अध्यक्ष निर्वाचित होने पर भारत के राजनीतिक गगन पर, और काग्रेस-सगठन के अन्दर भी जो उतार-चढाव आए, उनमे हम यहा नही जाते। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जैसा जो कुछ उस समय उच्च क्षेत्रो से कहा गया वह मनोनीत अध्यक्ष के मार्ग को अमुगम बनाने वाला ही था। पर बिना लेशमात्र विचलित हुए टडनजी अपने नए दायित्व को ओढ़ने के लिए चल पडे। लखनऊ से कुछ मील दूर एक ग्राम मे वह अपना अध्यक्षीय भाषण लिखने चले गए। यह एक प्रकार से अज्ञातवास ही था; कारण, वैसे राजर्षि से मिलने आने वालो का इतना ताता लगा रहता था कि और किसी कार्य के लिए समय निकालना असम्भव ही था।

टडनजी ने अपना भाषण हिन्दी मे ही लिखा। मूल रूप से एक भारतीय भाषा मे लिखा जाने वाला सम्भवत यह प्रथम ही काग्रेस-अध्यक्षीय भाषण था। वह लगभग डेढ सप्ताह या इससे कुछ अधिक इस अज्ञातवास मे रहे। पर इसी बीच उस ग्राम के निवास-स्थान पर एक अच्छा-खासा पुस्तकालय जम गया। जो कुछ कहना वह खरा, नपा-तुला, सुसमीक्षित कहना। अपनी इसी परम्परा के अनुसार राजर्षि ने अपने भाषण मे आने वाले सब सदर्भो को खरी कसौटी पर परख लिया।

हिन्दी मे भाषण अकित करते हुए पूज्य टडनजी को सदैव इसका ध्यान रहा कि उनके सगठन के अनेकानेक महानुभाव हिन्दी न समझेगे और अध्यक्षीय भाषण का उनके लिए भी उपलब्ध रहना नितान्त आवश्यक है। कुछ लोगो को हिन्दी-भाषण का अग्रेजी-रूपान्तर करने का कार्य सौपा गया। काम मे कुछ देर-सवेर हो गई, और जिस दिन राजर्षि नासिक जाने के लिए गाडी पर बैठे, उसी दिन भाषण का अग्रेजी-रूपान्तर उनके हाथ मे आया।

प्रस्ताव था कि काग्रेस-अध्यक्ष की स्पेशल ट्रेन लखनऊ से नासिक जाए, पर टडनजी ने इसके लिए मना कर दिया। तीसरे दर्जे की एक बोगी उनके लिए लगाई गई। दो राते ट्रेन मे गुजरी और तीसरे दिन सुबह टडनजी की बोगी नासिक पहुची। रास्ते भर स्टेशनो पर उनका गहरा स्वागत हुआ। रात को ट्रेन पर सोना कठिन था। दूसरी रात, लगभग एक बजे रात के बाद, लोगो ने राजर्षि को सोने पर मजबूर किया, वरना वह यही कहते थे कि इतनी रात यदि लोग आते है तो क्या मै जाग भी नही सकता। और इसी यात्रा के बीच, वह समय निकालकर भाषण का अग्रेजी-रूपान्तर भी शुद्ध करते जाते थे। अनुवादक महोदय उनके साथ थे और अग्रेजी के वह अच्छे ज्ञाता है। पर अग्रेजी भाषा पर राजर्षि

टंडनजी की पकड़ और प्रौढ़ता देख वह आश्चर्यचकित थ ।

नासिक की जनता ने राजर्षि टडन का बडा दिव्य स्वागत किया । राजर्षि के नेत्र छलछला आए । वास्तव मे काग्रेस-अध्यक्ष मनोनीत होने के बाद कई बार राजर्षि के नेत्र छलछलाए । सम्भवत स्नेहमूर्ति बाबूजी ने इस समय देखा कि जिस भारतभूमि की सेवा मे उन्होने अपना जीवन होम दिया, और जिस पुण्यभूमि की सर्वोच्च मानवीय परम्पराओ का उन्हे उत्कृष्ट उपासक माना जाता है, उसी भूमि के लोगो ने उनसे कितना स्नेह किया, उनको कितना आदर प्रदान किया । हमे स्मरण है, लखनऊ के निकट उस अज्ञातवास के काल मे, मध्यप्रदेश अथवा महाराष्ट्र की किसी बहन ने बाबूजी को रोली, अक्षत और माला भेजी थी, साथ मे पत्र भी था । पत्र रात को लगभग ग्यारह बजे ही खोलने का मौका मिला । कमरे मे मिट्टी के तेल का लैम्प जल रहा था । राजर्षि उस समय बड़े द्रवित हुए । नेत्रो मे बरबस छलकते आसुओ को उन्होने रोकने का कठिन प्रयास किया, पर असफल रहे । स्नेहशील बाबूजी का स्नेह से इस प्रकार द्रवित रूप मै कभी नही भूल सकता ।

जब बाबूजी काग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए, तब वह दिल्ली मे श्री वियोगी हरि के साथ 'हरिजन आश्रम' मे रहते थे । वहा मे वह प्रतिदिन काग्रेस-कार्यालय, ७ जतर-मतर रोड, नई दिल्ली आते थे । वस्तुत· इस समय तक, कम से कम दिल्ली के अखिल भारतीय काग्रेस कार्यालय मे काग्रेस-अध्यक्षो के बैठने की परम्परा न थी । पर टडनजी सुबह से शाम, और बहुधा काफी रात तक, कार्यालय मे बैठने लगे । काग्रेस-अध्यक्ष के कार्यालय मे बैठने से काग्रेस-कार्यालय की चहल-पहल मे और काम-काज मे स्वभावत: परिवर्तन हुआ ।

कार्याधिक्य के कारण अक्सर बाबूजी को दोपहर का भोजन करने के लिए जाने का अवसर ही न मिलता । ऐसे मौको पर वह स्वय खाने की कोई परवाह न करते, मानो उनको भोजन का स्मरण ही न हो । तब साथ मे काम करने वाले लोग उनको कुछ न कुछ ग्रहण करने को कहते । यदि कुछ फल या गन्ने का रस या ऐसी ही कोई चीज भोजन मे लेना निश्चित होता तो बाबूजी स्वय उसका पैसा देते । अपनी किसी भी व्यक्तिगत आवश्यकता पर कार्यालय का पैसा व्यय न होने देने के लिए उनकी सख्त हिदायत थी । और ऐसे मौको पर कार्यालय की मोटर पर जाकर पेट्रोल व्यय करने की इजाजत भी न थी ।

इस समय अखिल भारतीय काग्रेस कार्यालय से 'ए० आई० सी० सी० इकानामिक रिव्यू' नामक एक पाक्षिक पत्र को प्रकाशित होते लगभग दो वर्ष हो चुके थे । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का यह चौथा वर्ष था, और इस समय तक हिन्दी मे आर्थिक पत्रकारिता लगभग शून्य थी । पूज्य टडनजी का ध्यान इस ओर गया और उनकी प्रेरणा व आज्ञा से अखिल भारतीय काग्रेस कार्यालय की तरफ से हिन्दी मे पाक्षिक 'आर्थिक समीक्षा' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ । 'आर्थिक समीक्षा' पर अकित 'कर्त्तव्यम् सुसमीक्षितम्' टडनजी के निर्देश पर दिया गया । इस पत्रिका द्वारा हिन्दी में आर्थिक पत्रिकारिता का श्रीगणेश हुआ और व्यापक रूप से इसका स्वागत किया गया । इस प्रकार हिन्दी भाषा को आर्थिक पत्रिकारिता की देन भी राजर्षि टडनजी से मिली है।

राजर्षि टडनजी के काग्रेस-अध्यक्षीय काल की राजनीतिक बातो मे जाना हमारा उद्देश्य नही है । उनके अध्यक्ष-पद सभालने के कुछ ही दिनो बाद, जब टडनजी कोटा मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन मे उपस्थित थे, सरदार वल्लभभाई पटेल का स्वर्गवास हो गया । राजर्षि यह समाचार सुन बहुत दुखी हुए । वह तुरन्त सरदार पटेल के अन्त्येष्टि-सस्कार मे सम्मिलित होने के लिए चले आए । चलने के पहले उन्होने कहा, "हमारे आगे की कठिनाइयां बढ़ गईं ।"

हुआ भी ऐसा ही । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सगठन और शासन के बीच जो समस्याए खडी होकर आज इतनी बडी हो गई, वे दिन इसके प्रथम चरण के थे । उत्तरोत्तर प्रश्न खडे हो रहे थे कि शासकीय एव दलीय नेताओ मे किसका पद ऊचा हो, अथवा यो कहिए कि किसकी बात ऊपर रहे । एक बार इस समस्या के अस्तित्व मे आने के पश्चात यह उत्तरोत्तर पेचीदा होती गई । यह स्वाभाविक भी था । एक उदाहरण लीजिए । राजर्षि टडनजी के अध्यक्ष-काल मे काग्रेस महासमिति की एक बैठक ने बहुमत से प्रस्ताव स्वीकृत किया कि देश के स्वास्थ्य के लिए घोर अहितकर 'वन-

स्पति घी' पर रोक लगा दी जाए। सामान्य रूप से कांग्रेस-दल का यह निर्णय शासकीय नेताओं को पहुंचाया गया पर शासकीय नेताओं ने इसके उत्तर मे कहा कि यदि वनस्पति को रुकना है तो शासकीय नेतृत्व का भार किसी और को उठाना होगा, कारण, वे ऐसा कदापि नही कर सकते।

अध्यक्ष-काल मे राजर्षि के सम्मुख नित्य ही विषम सागठनिक समस्याए उपस्थित होती ही रही। पर उनका सतुलन और धैर्य कभी न टूटा। उनके सम्पर्क मे आने वाले सभी ने, क्या प्रादेशिक नेता, क्या कार्यालय के कर्मचारी, बाबूजी को सदा दया और स्नेह की मूर्ति ही पाया। हरएक के दुख-सुख मे दिलचस्पी रखनेवाले बाबूजी सदैव अपना स्नेह सब पर बिखेरते रहे।

सन १९५१-५२ का स्वतन्त्र भारत का प्रथम आम चुनाव आ रहा था। राजनीतिक स्थिति निरन्तर कठिन होती जा रही थी। लगा कि अब शासन व सगठन मे होकर ही रहेगी। सब चिन्तित थे कि यदि ऐसी मुठभेड हुई तो क्या होगा! ऐसे अवसर पर नई दिल्ली के कान्स्टीटयूशन क्लब मे कांग्रेस महासमिति की ऐतिहासिक बैठक हुई। क्या होगा, किसी को पता न था। कांग्रेस-अध्यक्ष राजर्षि टडनजी क्या रुख लेगे, यह कोई न जानता था। टडनजी सर्वथा शान्त मुद्रा मे अध्यक्ष-पद पर आ बैठे। प्रारम्भिक कार्रवाई के बाद उन्होने अपना वह वक्तव्य दिया जो उनकी महानता का स्थिर प्रतीक है। उन्होंने कहा कि देश को जवाहरलाल की जरूरत है। और राजर्षि ने उनके लिए रास्ता साफ कर दिया।

बाबूजी की जीवन-चर्या : एक पारिवारिक संस्मरण

श्रीमती रानी टंडन, एम० ए०

समाज मे समय-समय पर ऐसे व्यक्ति होते रहते है जो अपने गुणो तथा अपनी प्रतिभा के कारण लोगों के लिए पूज्य बन जाते है । हमारी सस्कृति मे त्याग, उच्च चरित्र और निस्वार्थ समाज-सेवा को बहुत ऊचा स्थान दिया गया है । ऐसे व्यक्ति बहुत कम देखने मे आते है जो अपने स्वार्थ को बिलकुल छोडकर दूसरो का उपकार करने में ही लगे रहे । इस गुण के साथ-साथ किसी मनुष्य मे नैतिकता की ऊची भावना हो और व्यक्तिगत चरित्र बहुत ऊचा हो, यह भी बहुत कम देखने मे आता है । इसी कारण किसी भी समाज में जब भी कोई ऐसा व्यक्ति होता है तो वह समाज के लिए एक आदर्श हो जाता है । ऐसे व्यक्तियो के रहन-सहन तथा जीवन-सम्बन्धी प्रत्येक बात से हमे कुछ-न-कुछ शिक्षा मिलती है ।

राजर्षि टडनजी का सारा जीवन समाज और देश की सेवा मे ही बीता । अपने तथा अपने कुटुम्ब के हित और सुख की कभी चिन्ता नही की । यदि यह कहा जाय कि वे सब सासारिक सुख, जिनकी ओर ससार का प्रत्येक प्राणी दौडता है, बाबूजी को कभी-भी अपनी ओर आकर्षित नही कर सके, तो इसमे कोई अत्युक्ति नही । इन सुखों की ओर से निर्लिप्त रहना साधारण मनुष्य के लिए सभव नही है । बाबूजी का समाज मे ऊचा स्थान अपने इन्ही महान गुणो और उच्च चरित्र के कारण है । जो लोग राजनीतिक अथवा अन्य क्षेत्रो मे उनके मत से सहमत नही है वे भी उनके व्यक्तित्व के कारण सदा उनको पूज्य मानते रहे है ।

पूज्य बाबूजी का जीवन जनता-जनार्दन के लिए जितना परिचित है उसे देखते हुए उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना जानी-बूझी बातो को दोहराना-सा लगता है । फिर भी उनकी दिनचर्या और स्वभाव की कुछ बाते, जो मैंने देखी है या अनुभव की है, बहुतो को रुचिकर लगेंगी ।

बाबूजी का जीवन सादगी, सरलता और त्याग का एक सजीव उदाहरण है । रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार, सभी मे वही सरलता । इस सरलता के साथ-साथ अपनी आस्थाओ और मान्यताओ के प्रति कट्टरता (हठधर्मी), इच्छा-शक्ति की दृढता और आत्म-बल, उनमे बडी मात्रा मे है । सत्य और अहिसा के वह अनन्य भक्त हैं ।

बाबूजी की दिनचर्या की चर्चा एक कठिन समस्या है । जिस व्यक्ति की कोई नियमित दिनचर्या हो, घडी की सुई के साथ जिसके जीवन का क्रम बंधा हो, उसकी दिनचर्या की चर्चा करना कितना सुगम है, यह आप स्वय अनुमान कर सकते है । किन्तु जिसका कोई निश्चित कार्यक्रम न हो, अपना कोई समय न हो, जिसे अपनी सुविधा का कोई ध्यान हो, उसकी दिनचर्या कैसी ? जब अवकाश मिला, अपना कोई काम कर लिया । बाबूजी ऐसे ही लोगो मे हैं और ऐसी ही उनकी दिनचर्या है । उनका अपने किसी काम का कोई समय नियत नही । यदि लोग बैठे रहे और नहाने-खाने के लिए दिन के २–३ बज जाएं तो उन्हे चिन्ता नही और यदि प्रातः १०–११ बजे ही कही जाना पडे तो १० बजे ही खाना खाने को तैयार । आदत की दासता जैसे उन्होने सीखी ही नही ।

बाबूजी प्रात काल जल्दी उठने वालो में से हैं । प्रात काल उठने पर वह चर्खा कातेंगे, कुछ पत्रादि लिखेंगे अथवा कुछ अध्ययन करेंगे, यह कुछ निश्चित नही रहता । मैंने उन्हें भिन्न समय में भिन्न कार्यक्रम अपनाते देखा है ।

कुछ देर के बाद शौच आदि से निवृत्त होकर वह अपने वस्त्र आदि अवश्य बदलते है और इस पुरानी परिपाटी मे उन्होंने अभी तक थोड़ा भी अन्तर नही किया है। जिस समय भी वह शौच जाते है अपने वस्त्र अवश्य बदलते है। उनकी यह विचारधारा पुरानी परिपाटी का पालन या छूतछात मे विश्वास-मात्र नही है, वरन वह इसे स्वच्छता का एक आवश्यक अग समझते है। उनके विचार मे शौच के बाद मिट्टी से हाथ माजना आवश्यक है, यात्रा मे भी उनकी मिट्टी की पुड़िया उनके सामान का एक आवश्यक अग होती है। शरीर पर साबुन का प्रयोग वह कभी करते ही नही। कभी-कभी मुल-तानी मिट्टी का प्रयोग कर लेते हैं। इधर कुछ वर्षों से जब से उनका स्वास्थ्य कुछ खराब हुआ, वह स्नान के पहले प्राय मालिश कराते थे, किन्तु नियमपूर्वक नही। स्नान के बाद अपनी सध्या (या ध्यान, उनकी इस पूजा का जो भी रूप हो) करने के उपरान्त ही वह कोई चीज खाते-पीते है। यदि नहाने मे उन्हे दोपहर हो जाय तो भी उन्हे इसकी चिन्ता नही होती, किन्तु बिना नहाए खाते-पीते नही है। बाबूजी भारतीय सस्कृति के अनन्य भक्त और पुजारी है। भारतीय रहन-सहन के उक्त ढग, जो भारतीय सस्कृति के आवश्यक अग है, बाबूजी के जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है।

दिन मे विश्राम करना या लेटना उनकी आदत मे नही है, भोजन किया और काम मे लग गए। सध्या को जलपान भी नियमपूर्वक नही करते। रात मे भी भोजन का कोई निश्चित समय नही रहता, किन्तु साधारणत अधिक विलम्ब से भोजन करना उन्हे पसन्द नही। रात मे साधारणत ११ बजे तक सो जाते है। इस सम्बन्ध मे मैने एक बात बाबूजी मे विशेष देखी। वह यह कि बिस्तर पर लेटने के दो-चार मिनट मे ही वह गहरी नीद मे सो जाते है। इतनी जल्दी लोगों को नीद आते मैने बहुत कम देखा है। नीद न आने का कष्ट उन्हे कभी नही रहा। सम्भवत इसका सम्बन्ध उनके सात्त्विक जीवन से है।

बाबूजी के भोजन के सम्बन्ध मे इतना तो सभी जानते है कि वह दूध नही पीते तथा चीनी और नमक नही खाते। चीनी को तो वह 'सफेद जहर' कहते है, तथा नमक को मनुष्य के शरीर के लिए अनावश्यक और हानिकर बतलाते है। दूध के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि वह गाय-भैस के बच्चे का स्वाभाविक भोजन है और हम उसे लेकर उन बच्चो का अधिकार उनसे छीनते है। भोजन के सम्बन्ध मे उनके अपने कुछ निश्चित मत है और उसके सम्बन्ध मे वह किसी दूसरे के विचारो को सुनने अथवा मानने के लिए तैयार नही होते।

बाबूजी के माता-पिता राधास्वामी मत के अनुयायी थे। अत यह परिवार निरामिषभोजी तो था ही, साथ ही बिना मसाले का सादा भोजन करने का अभ्यस्त था। इस प्रकार बाबूजी सादे भोजन के तो आरम्भ मे ही आदी थे, किन्तु बाद मे जैसे-जैसे इनके विचार भोजन के सम्बन्ध मे बदलते गये, उनका भोजन भी बदलता गया। दूध मे उन्हे कभी विशेष रुचि नही रही। बाद मे उन्होने दूध पीना बिलकुल बन्द कर दिया और बीमारी की अवस्था मे भी दूध बडी कठिनाई से कभी-कभी ही पीते है।

सत्याग्रह-आन्दोलन मे जब प्रथम बार बाबूजी सन १९२३ मे जेल गये तब वहा उन्होने भोजन के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रयोग किये। मनुष्य का भोजन अधिक प्राकृतिक रूप मे होना स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा है, ऐसा उनका विश्वास हो गया और तभी से कच्चा अनाज, फल और तरकारिया खाने का उन्होने प्रयोग आरम्भ किया। उस समय से उन्होने गेहू, चना, चावल, मूगफली आदि पानी मे भिगोकर कच्ची खाना आरम्भ किया। आग पर भोजन पकाना अस्वाभाविक है और इससे भोजन के बहुत से पौष्टिक तत्त्व नष्ट हो जाते है, ऐसी उनकी धारणा होगई थी। अत कुछ दिन उन्होने एक अनोखा ही प्रयोग किया। रोटी बेल कर कच्ची ही धूप मे रख दी जाती थी, धूप से पकने के लिए, और बाबूजी इन रोटियों को खाते थे।

कुछ तो दात न रहने के और कुछ अवस्था के कारण उन्होने साधारण रोटी-दाल का खाना बाद मे फिर आरम्भ किया। बिना नमक की दाल, बिना नमक की सब्जी और रोटी तथा चावल, यह उनका साधारण भोजन रहता है। चावल उन्हे अधिक पसन्द है। घी बाबूजी साधारणतया बिलकुल नही खाते। यो त्यौहार-उत्सव आदि पर पूरी-कचौड़ी भी खा लेते है। उस समय पूरी की अपेक्षा कचौड़ी अधिक पसन्द करते है। उर्दू की पीठी या साग भरकर बनाई

गई रोटी भी उन्हे बहुत पसन्द है। दही भी वह साधारणत नही खाते किन्तु 'दहीबडा' बडी रुचि से खाते है।

गेहू की अपेक्षा जौ, चने, ज्वार, मक्का, बाजरा आदि मोटे अनाज उन्हे विशेष प्रिय हैं। सभवत· इसके मूल मे देश की गरीबी की भावना है। उन्हे प्राय कहते सुना है कि देश की जनता की एक बडी सख्या इन्ही अनाजो के सहारे जीवन-यापन करती है तो हम लोग इन्हे क्यो नही खा सकते। चावल भी वह हाथ का कुटा ही पसन्द करते है। यह भी कुटीर-उद्योगो को प्रोत्साहन देने के कारण है। हाथ का कुटा चावल न मिलने पर वह मोटा चावल, बासमती आदि की अपेक्षा, अधिक पसन्द करते है। फल भी वह मौसमी और सस्ते पसन्द करते है, सेब-अनार आदि महगे फलो का उन्हे शौक नही। पका हुआ भोजन वह अब खाने लगे है किन्तु फलो का उनके भोजन मे एक बडा भाग अब भी रहता है। और बीच-बीच मे वह केवल फलो का ही भोजन प्रायः करते है।

'एक समय मे एक ही चीज या कम-से-कम भिन्न चीजे खाना स्वास्थ्य के लिए अच्छा है', ऐसा भी उनका विश्वास है। इसी कारण वह प्राय एक बार मे एक ही चीज खाते रहे है, जैसे गर्मी के दिनो मे एक समय वह खरबूजे से ही पेट भरते थे। इसी प्रकार जिस दिन बाजरा खाते थे तो दोनो समय बाजरा ही। कभी बाजरे की रोटी तो कभी बाजरे का दलिया या भात।

जब किसी दूसरे को भोजन कराना हो तो उस समय बाबूजी भोजन के मीनू मे विशेष रुचि लेते है। दही-वडा, पापड, चटनी, आचार आदि कई प्रकार की चीजे वह उस समय बनवाना पसन्द करते है। मिठाई और नमकीन का प्रबन्ध करना भी नही भूलते। यदि भोजन के समय कोई आ जाय तो बिना किसी बात का ध्यान किये वह उन्हे भोजन कराने को तैयार हो जाते है। चौके मे क्या बना है और कितना है, इसकी उन्हे चिन्ता नही होती। जो चौके मे हो उसे किसी प्रकार युक्ति लगाकर बाबूजी के अतिथियो को भोजन कराना ही होता है। कोई ऐसी परिस्थिति मे भी अपनी कुछ कठिनाई कह सके, इतना साहस किम मे है? वह दूसरो की, विशेषकर घरवालों की, कठिनाइया सुनने या समझने के आदी नही है। बाबूजी के साथ भोजन करने वालो को प्राय बिना नमक की चीजे खाने का भी अवसर आ जाता है और मैने देखा है कि उनके सकोच मे लोग चुपचाप खा भी लेते है।

देश की गरीबी से प्रभावित और जनता की कठिनाइयो की अनुभूति से द्रवित होने के कारण बाबूजी ने अपनी निजी आवश्यकताओ मे जितनी कमी कर रखी है, उतना करना किसी व्यक्ति के लिए आज के युग मे बडा कठिन है। तीन जोडी से अधिक वस्त्र उनके पास नही रहते। घर मे, जाडे के मौसम को छोडकर, उन्हे घुटनो तक के जाघिये और बनियान मे ही आप पायेगे। जाडे या गर्मी के उनके किसी वस्त्र मे दो-एक पैबन्द न लगे हो तो समझ ले कि अभी नया ही बना है। अन्यथा एक-एक वस्त्र मे कई-कई बार जोड और पैबन्द लगाकर वह उसे तब तक पहनते है जब तक उसमे नया जोड और पैबन्द लगाने की थोडी भी गुजाइश रहती है। इसमे कजूसी की भावना बिलकुल नही। गरीब देश मे प्रत्येक वस्तु का पूर्णत· उपयोग हो, यही उनकी भावना रहती है। पहनने के ही नही, ओढने-बिछाने के वस्त्र भी इसी प्रकार जोड और पैबन्द लगाकर बहुत दिनो तक चलाये जाते है।

आज के उन अर्थशास्त्रियो से भी बाबूजी सहमत नही है जो यह कहते है कि जीवन-स्तर को ऊचा उठाने के लिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ को बढाना चाहिए। बाबूजी तो अपनी आवश्यकताओं को कम-से-कम रखने के पक्षपाती है। उनका विश्वास है कि यही दृष्टिकोण व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए भी लाभप्रद है। अपने व्यक्तिगत जीवन मे उन्होने इसका पूर्णरूप से पालन किया है।

समय का बन्धन बाबूजी ने कभी नही माना। वह प्रत्येक काम अपनी सुविधा और अपनी गति से करना पसन्द करते है। छोटे-से-छोटे काम मे वह काफी समय लगाते है और अपना निर्णय शीघ्र नही करते। सभवत छोटी-से-छोटी बात की भी गहराई की सीमा तक पहुचने का प्रयत्न इसका कारण है। दूसरा व्यक्ति यदि जल्दी मे भी हो तो भी बाबूजी को इसका कोई ध्यान नही रहता। सभवत वह जल्दी करना पसन्द नही करते। और कोई उनसे 'जल्दी है' कह दे तो रुष्ट भी हो जाते है। बाहरी लोग भी जब छोटी-सी बात मे भी अधिक विलम्ब देखते है तो ऊबते है और यदि उन्हे किसी अन्य काम की शीघ्रता हो तो घबराते भी है; किन्तु बाबूजी के डर और संकोच से कुछ बोलते नही। घर पर

काम करने की कौन कहे, बाबूजी ट्रेन पर जाते समय भी समय का बन्धन कितना मानते है इसका भी बहुतों को अनुभव है। ट्रेन उन्हे मिल ही जाती है बस इतना ही काफी है।

बाबूजी लिखने-पढने का अपना काम तथा अन्य प्रकार के काम भी दूसरो को सुपुर्द करके निश्चिन्त नही रहते। कोई अतिथि ठहरा हो तो उसके खान-पान, स्नान आदि मे छोटे-से-छोटे प्रबन्ध को वह स्वय देखेगे। इसी प्रकार साधारण-से-साधारण कुशल-समाचार का पत्र भी यदि उन्हे किसी को भेजना हो तो भी उसे बिना स्वय देखे उन्हे शान्ति नही मिलती। प्रत्येक शब्द और विराम को इतने ध्यानपूर्वक देखते है जैसे उसमे ही साहित्य की पूर्णता भरना आवश्यक है। कितना ही शुद्ध और ठीक मे कोई लिखे, बाबूजी को कभी पसन्द ही नही आता। एक विराम की गलती पर या एक ऐसा शब्द प्रयोग होने पर जो उन्हे पसन्द नही, उन्हे स्वय चाकू या ब्लेड से उसे मिटाकर पुन ठीक करते हुए जिसने देखा है, वही इस बात को समझ सकता है।

सरल स्वभाव होते हुए भी उनमे क्रोध काफी है। कभी-कभी तो बहुत छोटी-छोटी बातो पर ही वह नाराज हो जाते है, विशेषकर घरवालो पर। यो बाहर वालो पर भी अपना क्रोध प्रदर्शित करने मे वह कोई सकोच नही करते। इतना क्रोध होते हुए भी उनका हृदय बहुत कोमल है। किसी को किसी प्रकार का भी कष्ट हो, बाबूजी उसकी सहायता की तुरन्त चिन्ता करते है। इसीलिए लोग उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते है, पर उनमे डरते है। बाबूजी से डरते हुए भी लोग उन्हे अपना हित चाहने वाला समझते है और इसी कारण उनके पास आते है।

बाबूजी के इस स्वभाव के कारण ही उनके घर के लोग, उनकी पत्नी, उनके पुत्र आदि भी उनमे अधिक बाते करने का साहस नही कर पाते। बाबूजी की किसी बात से सहमत न होने पर भी घर के लोगो का साहस उनमे उस सम्बन्ध मे बाते करने का नही होता और उनकी इच्छा का ध्यान रखकर ही घर के लोगो को सब काम करना पडता है। किसी बात से बाबूजी कब रुष्ट हो जाए, इस भय से घर के लोग भी उनसे बेधडक होकर तथा दिल खोलकर कभी बाते नही कर पाते।

बाबूजी मे अहिसा की भावना भी बहुत ऊची है। इतना ही नही कि वह निरामिषभोजी है अथवा किसीको कष्ट देना या किसी का जीवन लेना नही चाहते। किन्तु जूते बनाने के लिए चमडा प्राप्त करने के हेतु पशुओ को मारा जाता है इस कारण उन्होने काफी छोटी अवस्था मे ही चमडे के जूतो का बहिष्कार कर दिया और बराबर कपडे का जूता पहना करते थे। बाद मे जब गाधी आश्रम के तत्त्वावधान मे स्वत मरे हुए पशुओ के चमडे से जूते-चप्पल बनाने का कार्य आरम्भ हुआ, तब उन्होने वहा के बने चमडे के जूते पहने।

इसी प्रकार उत्तम रेशम के लिए रेशम के कीडे जीवित ही उबाल कर मारे जाते है, यह जानने के बाद मे उन्होने रेशमी कपडा कभी खरीदा ही नही, विवाह आदि के अवसरो के लिए भी नही। जिन कोयो को काटकर रेशम का कीडा बाहर निकल जाता है, उनके तार से जो रेशम (मटका) बनता है, वह कभी-कभी खरीद लेते है।

इस प्रकार बाबूजी के, प्रत्येक बात के सम्बन्ध मे अपने निजी विचार और सिद्धान्त है और वह अपने व्यक्तिगत जीवन मे उनका अक्षरश पालन करते है। बाबूजी के विचारो का लोगो पर प्रभाव विशेष रूप से इसीलिए अधिक पडता है कि बाबूजी जिन बातो को कहते है उनका स्वय भी पालन करते है।

राजर्षि टंडनजी के जीवन की एक झांकी

श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

राजर्षि टडनजी का जन्म तीर्थराज प्रयाग के उसी प्रख्यात मुहल्ले अहियापुर मे हुआ है, जहा उनके राजनीतिक गुरु महामना मदनमोहन मालवीय का हुआ था और जिसके पड़ोस मे ही हमारे राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू पैदा हुए थे। प्रयाग शताब्दियो से हमारे इस विशाल देश की धार्मिक एव सास्कृतिक चेतना का प्रेरक केन्द्र रहा है और आधुनिक युग मे राजनीतिक चेतना का भी वह मुख्य स्थल रहा है। प्रयाग नगर मे इस मुहल्ले की अपनी स्थिति है। समूचे प्रयाग नगर मे वह न केवल सबसे ऊचाई पर अवस्थित है प्रत्युत अपनी परम प्राचीनता, समृद्धि, आभिजात्य, प्रतिष्ठा एव शिक्षा, सस्कृति तथा सामाजिक चेतना मे भी इसकी अद्वितीयता अन्य मुहल्लो की अपेक्षा आज तक अक्षुण्ण है। प्रयाग के नगरसेठ, नगरपिता, निर्माता एव अपनी प्रतिभा से प्रयाग के मुख को उज्ज्वल करनेवाले अनेक सपूतो को जन्म देकर इस मुहल्ले ने अपनी विशेषता की रक्षा सदैव की है। इस मुहल्ले के निवासियो मे अधिकाश खत्रियो की आबादी है, जो सभवतः मुसलमानो के आक्रमण-काल मे किसी समय पजाब से आकर यहा बस गए थे। कई अर्थो मे इस मुहल्ले की स्थिति काशी से अभिन्न है। यहा की अनेक असूर्यम्पश्या सकरी गलियो मे भी साडो और सीढियो का बाहुल्य है और समीप मे ही अगाध जलवाहिनी यमुना की धारा के कारण यहा के निवासियो मे भी अन्य मुहल्ले के निवासियो की अपेक्षा काशीनिवासियो जैसी मस्ती, धार्मिकता और सस्कारो का गहरा प्रभाव है।

अहियापुर के एक खत्री-परिवार मे टडनजी के पिता बाबू सालिगराम टडन का भी अपना निवास-स्थान था। यह प्रयाग के एकाउण्टेण्ट जनरल आफिस मे कार्य करते थे और एक साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। आप धार्मिक भावना के व्यक्ति थे और सुप्रसिद्ध स्वामीबाग आगरा के राधास्वामी सम्प्रदाय के निष्ठावान सत्सगी थे। सत्सग की परम्परा मे आप श्री प्रेमसरनजी के नाम से विख्यात थे। टडनजी के पितृव्य बाबू मूलचन्द एलोपैथ डाक्टर थे और उनकी अच्छी प्रैक्टिस थी। टडनजी के जन्म से पूर्व बाबू सालिगरामजी के दो पुत्र-पुत्रियो का असामयिक निधन हो चुका था, और घर मे वर्षों से उदासी छाई हुई थी। इसी समय सवत १९३९ विक्रमी के श्रावण मास की शुक्ल द्वितीया तिथि मगलवार को इनके घर मे एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। उस दिन की अग्रेजी तिथि १ अगस्त, सन १८८२ ई० थी। श्रावण का यह महीना उस वर्ष पुरुषोत्तम मास या मल-मास का था, फलत बालक का नाम भी पुरुषोत्तमदास रखा गया। बडे लाड-प्यार और उल्लास के वातावरण मे बालक का बचपन बीता। इनके एक छोटे भाई श्री राधेनाथ टडन और एक छोटी बहिन भी पैदा हुई, किन्तु बहिन का विवाहोपरान्त शरीरान्त हो गया और छोटे भाई श्री राधेलाल टडन अब भी जीवित है।

शैशवकाल से ही पुरुषोत्तमदास टडन के साहस, मेधाशक्ति तथा दृढता का परिचय देनेवाली अनेक घटनाए बताई जाती है। इनके आज के जीवन मे जो निर्भीकता, सत्यपरायणता, सुजनता, त्याग और तप की भावना तथा मौलिक चिन्तन की विशेषता दिखाई पडती है, उसका पूर्वाभास इनके बाल-जीवन की अनेक घटनाओ मे ही पाया जाता था। बताते है, जब यह तीन वर्ष के थे और अपने समवयस्क बालकों के साथ मुहल्ले मे खेल रहे थे तो इनके साथी किसी बालक ने इन्हे बताया कि आज उसके चाचा चित्रकूट गए है। फिर क्या था, इन दोनो अबोध

आठ वर्ष की आयु में

इलाहाबाद हाईकोर्ट के एडवोकेट
सन १४-१५

राजर्षि के पिता श्री सालिगराम टंडन
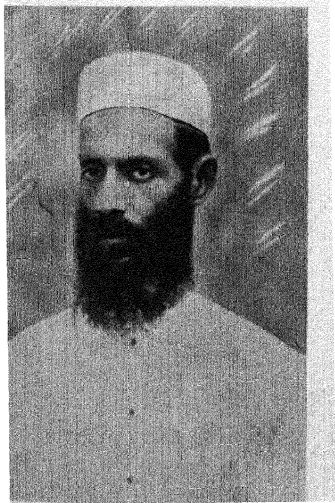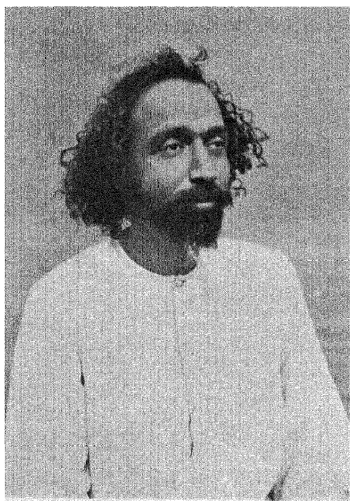
१. प्रथमवार जेल से आने के बाद

२. इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन

३. असहयोग आंदोलन में
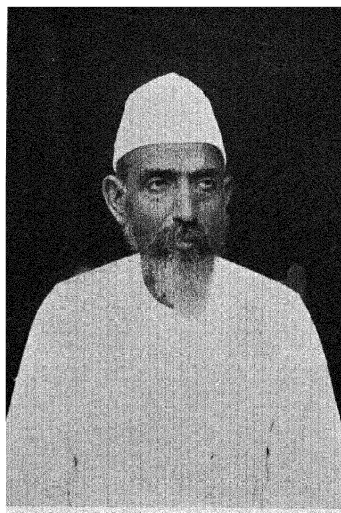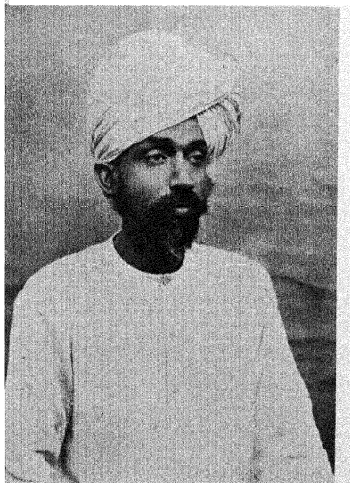
सन् '३६

उत्तरप्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष

कांग्रेस अध्यक्ष
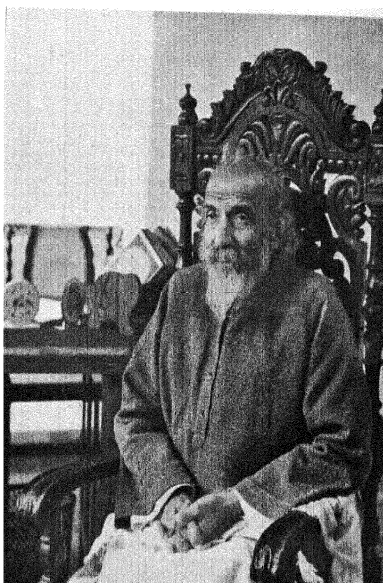
राजर्षिजी की धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रमुखीदेवी टंडन

बालकों ने भी चित्रकूट-भ्रमण का निश्चय कर लिया। तत्काल अपने अभिभावकों को सूचित किए बिना ही ये लोग मुहल्ले की तंग गलियों से बाहर निकलकर राजमार्ग पर आगए और त्रिवेणी जानेवाला मार्ग पकडकर अपने मुहल्ले से दो-ढाई मील दूर प्रयाग के किले के मैदान मे पहुच गए। सायकाल का समय समीप था, किन्तु ये अबोध बालक अविचल भाव से बराबर आगे ही बढते जा रहे थे, उन्हे घर वापस लौटने की या अधेरी रात की चिन्ता नही थी और न यही ज्ञात था कि चित्रकूट अभी कितनी दूर है। जब ये दोनो बालक किले के अत्यन्त समीप पहुच गए, जहा उन दिनो फौज की छावनी के कारण अग्रेजो का आधिपत्य था, तब एक सिपाही ने इन्हे आगे बढने से रोककर खडे होने का आदेश दिया और पूछा कि वे इधर कहा जा रहे है? नेता टडनजी थे। इन्होने बिना किसी भय और सकोच के बताया कि यात्रा चित्रकूट तक की है। सिपाही स्तम्भित रह गया और उसने आगे बढकर कुछ स्त्रियो और पुरुषो को रोका, जो त्रिवेणी की तरफ से प्रयाग नगर की ओर वापस जा रहे थे। उसका अनुमान था कि ये बच्चे उन्ही लोगो के साथ है। अत कुछ डाटते हुए स्वर मे उसने कहा—"इतने छोटे-छोटे बच्चो को इस तरह पीछे नही छोड दिया जाता। भीड-भाड मे कही बहक जाय तो रात के वक्त मिलना कठिन होगा।" किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन स्त्री-पुरुषो ने इन दोनो बच्चो को अपने से नितान्त अपरिचित बताया।

इधर दोनो बालको के अभिभावक बेहद परेशान। बहुत खोजा-ढूढा गया, कही कोई पता नही। थानो और कोतवाली मे सूचना दे दी गई। और उधर किला का वह सिपाही भी इनका घर ढूढने मे बेहद परेशान। पड़ोस के मुहल्ले मे टडनजी द्वारा बताए हुए मछलीवाले निशान से युक्त कोई मकान मिलता ही नही था। बात यह थी कि टडन जी का मकान उन दिनो नया-नया बना था और उसके प्रवेश-द्वार पर शुभ शकुनसूचक मछली की आकृति बना दी गई थी। इस मछली वाले मकान के सिवा अपने पिता-माता या मुहल्ले टोले का कोई पता इन दोनो तीन वर्ष के बच्चो को ज्ञात नही था। फिर तो ११ बजे रात को कोतवाली की सूचना के अनुसार थानेवालो को जब इन दोनो बच्चो का निश्चित पता लगा तो ये लोग अपने शोकाकुल परिवार मे वापस लाये गए और घर आकर इन्होने अपनी चित्रकूट-यात्रा का सविधि वर्णन सुनाया।

बाल्यकाल मे टडनजी का विद्यारम्भ उनके घर पर ही एक मौलवी साहब ने कराया, जिन्हे कोई सन्तान नही थी और जो मुहल्लेवालो के लडको-बच्चो को पढाकर अपनी जीविका अर्जित करते थे। मौलवी साहब साधु स्वभाव के पुरुष थे और उनके प्रति टडनजी की अटूट निष्ठा थी। प्राचीन काल के आश्रमो मे अपने गुरुजनो के प्रति आश्रमवासी छात्रो के आचरण की जो चर्चा टडनजी ने अपने गुरुजनो से सुनी थी, उसकी चरितार्थता वह अपने आदिम गुरु इन्ही मौलवी साहब के साथ करते थे। आज इस परिणत वय मे भी वह इन मौलवी साहब का प्रसग बडे गद्गद कण्ठ से करते हैं और उनके प्रति आदर और श्रद्धा प्रकट करते है। घर पर आरम्भिक शिक्षा की समाप्ति कर लेने के अनन्तर टडनजी को प्रयाग नगर में बालको की शिक्षा के लिए सुख्यात प० शिवराखन की पाठशाला अथवा सी० ए० वी० मिडिल स्कूल मे भेजा गया। यही से आपने सन १८९४ ईस्वी मे मिडिल की परीक्षा उत्तम श्रेणी मे उत्तीर्ण की।

टडनजी का विद्यार्थी जीवन उज्ज्वल था। वह न केवल अपनी कक्षा के सर्वश्रेष्ठ छात्रो मे ही थे वरन स्कूल के प्रतिभाशाली, वाग्मी और खेलकूद मे प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले छात्रो मे भी थे। स्कूल के सास्कृतिक कार्यक्रमो एव व्यायाम-प्रदर्शनो मे भी आपका प्रमुख भाग होता था और कक्षा के भीतर भी अध्यापको की सहज कृपादृष्टि इन्हे प्राप्त थी। साहित्य आपका प्रिय विषय था, वह चाहे अग्रेजी का हो, चाहे अरबी, फारसी, हिन्दी अथवा सस्कृत का। गुरुजनो द्वारा अधीत साहित्यिक सन्दर्भों को आप अपनी प्रतिभा से और भी परिष्कृत कर देते थे।

मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर आपका नाम प्रयाग के गवर्नमेट हाई स्कूल मे लिखाया गया, जहा मे सन १८९७ ईस्वी मे आपने प्रथम श्रेणी मे हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इस स्कूल मे उन दिनो अग्रेज हैडमास्टर होते थे, जो पढाई-लिखाई के साथ-साथ अपने स्कूल के बच्चो मे पाश्चात्य ढग की वेशभूषा, रहन-सहन और सस्कृति का प्रभाव भी देखना पसन्द करते थे। टडनजी की पश्चिमी वेषभूषा और रहन-सहन मे बाल्यकाल से ही कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह यद्यपि स्कूल के होनहार विद्यार्थियो मे से थे और इनके हैडमास्टर मिस्टर हाउज्डेन इनकी प्रतिभा से पूर्ण

परिचित भी थे, किन्तु इनकी ढीली-ढाली वेशभूषा और भारतीय सस्कारो के प्रति अटूट निष्ठा के कारण इनके प्रति उनकी अच्छी भावना नही थी।

जब कभी इनकी कक्षा का निरीक्षण होता तो सर्वप्रथम उनका ध्यान इनकी ओर आकृष्ट होता और अधिकारियो के सामने इनकी पढाई-लिखाई का उदाहरण भी प्रस्तुत किया जाता। यही नही, एक बार टडनजी द्वारा बताए गए किसी अग्रेजी-कविता के सुन्दर अर्थ को सुनकर हैडमास्टर इतना प्रभावित हुआ कि भरी कक्षा मे उसी कविता पर किसी की (नोटबुक) मे दिए गये अर्थ का उसने मजाक उडाया और टडनजी की प्रशसा की। किन्तु एकाध बार इनके ऊपर उसने इसलिए भी अर्थदण्ड लगाया कि इनके कपडे चुस्त नही थे और यह किसी गलत रास्ते से स्कूल मे जाते हुए पकडे गए थे। किन्तु टडनजी के हृदय मे इन घटनाओ की कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नही हुई। अपनी वेशभूषा और बाहरी साज-सज्जा की अपेक्षा इन्होने अपने चरित्र और विद्या की उपासना को आरम्भ से ही अधिक महत्त्व दिया और इन्ही दिनो अपनी पढाई-लिखाई के साथ मिथ्याभाषण, परनिन्दा, परद्रोह अथवा अन्य नवयुवक-सुलभ बुराइयो से बचकर अच्छे लोगो और अच्छी पुस्तको की सगति करते रहे। अपने मित्रो और सहपाठियो के बीच उसी समय इनके आदर्श चरित्र की चर्चा होने लगी थी और इनके अध्यापक भी इनके प्रति सहज आदर और कृपाभाव रखते थे।

हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण होने के अनन्तर टडनजी का नाम प्रयाग की सुप्रसिद्ध शिक्षण-सस्था कायस्थ पाठशाला इटर कालेज मे लिखाया गया। उन दिनो उसके प्रिसिपल थे श्री रामानन्द चटर्जी। रामानन्द बाबू का नाम उनके द्वारा सस्थापित 'प्रवासी' और 'विशाल भारत' के द्वारा हमारे देश मे सुप्रसिद्ध रहा है। किन्तु इटर कालेज मे नाम लिखाने के लिए जब गवर्नमेण्ट हाई स्कूल से इनका ट्रासफर सर्टीफिकेट लिया गया तो उसके चरित्रवाले खाने मे अग्रेज प्रिसिपल ने 'इनडिफरैण्ट' शब्द लिखकर भारतीय प्रतिभा के प्रति अपने जन्मजात विद्वेष का परिचय दिया था। उन दिनो स्कूल-कालेजो मे आज की तरह भेडियाधसान नही थी। बहुत थोडे छात्र होते थे। अत प्रत्येक छात्र के सम्बन्ध मे प्रिसिपल को पूरी जानकारी होती थी। फलत रामानन्द बाबू के सामने जब इनका ट्रासफर सर्टीफिकेट रखा गया तो अग्रेज हैडमास्टर द्वारा लिखे गए 'इनडिफरैण्ट' शब्द पर उन्होने इन्हे अपने पास बुलाया और पूछा कि—"प्रिसिपल ने ऐसा क्यो लिख दिया है ? टडनजी ने सक्षेप मे अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि इसका विवरण तो आप हैडमास्टर से ही पूछ सकते है। रामानन्द बाबू इनकी स्पष्टवादिता से प्रसन्न हुए और परिश्रम के साथ आगे पढने और बढने की शिक्षा देकर विदा कर दिया। सन १८९९ ई० मे टडनजी ने इटर की परीक्षा उत्तीर्ण की और आगे की पढाई के लिए उत्तर भारत की सुख्यात शिक्षण-सस्था म्योर सेण्ट्रल कालेज में नाम लिखाया। हमारे देश मे उस समय इस कालेज के प्राध्यापको का अपने-अपने विषय के विशेषज्ञो के रूप मे बडा यश था, और यहा पढने वाले विद्यार्थियो से हमारे देश और समाज को बडी-बडी आशाए थी। आज हमारे देश मे चोटी के नेताओ, प्रशासको, वैज्ञानिको, कलाविदो और दार्शनिको मे इसी कालेज के अधिकाश छात्र मिलेगे। उन दिनो कालेज के प्राध्यापक बहुधा अग्रेज हुआ करते थे, तब प्रिसिपल के बारे मे किसी भारतीय की कल्पना ही कैसे की जा सकती थी।

कालेज की पढाई मे भी टडनजी का अच्छा नाम रहा। यह कक्षा के सुयोग्य छात्रो मे से थे। छात्रो की सभी प्रवृत्तियो मे खूब खुलकर भाग लेते थे। अपने समय मे कालेज की क्रिकेट टीम के यही कप्तान थे और क्रीडा कमेटी के मत्री भी। सयोगवश इन्ही दिनो एक ऐसी घटना हुई, जिसने इनके भावी जीवन पर अमिट छाप छोडी और जिससे इनकी चारित्रिक विशेषता पर भी अच्छा प्रकाश पडता है। यह घटना है सन १९०१ ईस्वी की। इस वर्ष प्रयाग के म्योरसेण्ट्रल कालेज के प्रागण मे प्रान्तीय व्यायाम प्रतियोगिता (टूर्नामेण्ट) होने वाली थी और इसी कालेज के एक अग्रेज प्रोफेसर मिस्टर हिल इसके मुख्य प्रबन्धक नियुक्त किये गए थे। मैच जब आरम्भ हुआ तो मि० हिल ने प्रबन्धचारुता की दृष्टि से कालेज की क्रीडा-समिति से परामर्श लिए बिना ही अपनी सहायता के लिए एक पुलिस दल भी बुला लिया था। सयोग से मैच के अवसर पर एक पुलिस के सिपाही ने एक भारतीय छात्र का घोर अपमान कर दिया। टडनजी से यह दृश्य देखा नही गया और उन्होने सबके सामने पुलिस के सिपाही की अच्छी खबर ली और पुलिस दल की नियुक्ति कराकर छात्रो का अपमान कराने वाले अपने प्रिय अध्यापक मि० हिल के भी छक्के छुडा दिए। रात्रिभर

में ऐसा सगठन किया गया कि दूसरे दिन सवेरा होते ही कालेज के तीन सौ छात्रो ने पूर्णतया हडताल कर दी और उन्होंने टंडनजी के नेतृत्व मे अपनी यह माग रखी कि जब तक मि० हिल को कालेज मे निकाल नही दिया जाता तब तक हम लोग इस खेलकूद मे कदापि भाग नही लेगे।

एक अग्रेज प्रोफेसर के विरुद्ध भारतीय छात्रो द्वारा प्रस्तुत यह माग सुनकर शासको के हौसले पस्त हो गए। उन्हे कदाचित पहली बार यह बोध हुआ कि भारतीय नवयुवको मे भी कितनी मनस्विता होती है। कालेज के अग्रेज प्रिंसिपल ने छात्रो और उनके नेता को मौखिक आश्वासन दिया कि क्रीडा के मैदान मे मै स्वय उपस्थित होऊगा और अब से मि० हिल खेल मे नही भाग लेंगे, हडताल बद हो जानी चाहिए। किन्तु हडतालियो का नेता सामान्य पुरुष नही था, पुरुषोत्तम था, उसके मुह मे निकली हुई माग की पूर्ति हुए बिना हडताल समाप्त नही हो सकती थी। प्रिंसिपल के सारे प्रयत्न निष्फल हुए, कूटनीति विफल हुई। हडताली छात्र अपने निश्चय पर और प्रिंसिपल तथा अग्रेज शासक अपने निश्चयो पर अडिग रहे। परिणाम उन दिनो जो स्वाभाविक था, वही हुआ, हडतालियों के नेता टडनजी को एक वर्ष के लिए अनुशासनहीनता के आरोप मे रिस्टीकेट कर दिया गया। बहुत सभव था कि यदि टडनजी मि० हिल या प्रिंसिपल से क्षमा माग लेते या खेद-प्रकाश कर देते तो इनके जीवन का वह एक वर्ष व्यर्थ न होता, किन्तु यह कोरी व्यावहारिकता टडनजी के जीवन मे कभी नही रही। उनका अदम्य तेज कभी प्रघर्षित नही किया जा सकता और अपने अगीकृत निश्चयो पर अडिग रहने की उनकी प्रवृत्ति सदैव से रही है।

छात्र-जीवन के ऐसे ही व्याघातो के कारण टडनजी ने १९०४ ई० मे बी० ए० की तथा १९०६ ई० मे वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। और इसी वर्ष के जुलाई मास मे प्रयाग की छोटी अदालत मे वकालत की प्रैक्टिस भी आरम्भ कर दी। सन १९०७ मे ही आपने एम० ए० की परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली, और दो-तीन वर्ष के भीतर ही अपने साधु स्वभाव, सजग प्रतिभा, परिश्रमशीलता, स्वाध्यायप्रियता तथा सच्चरित्रता से अपने पेशे मे आशानुकूल सफलता भी प्राप्त की। इन्ही दिनो इनकी सगति अपने पडोसी महामना मालवीयजी तथा हिन्दी के सुविख्यात साहित्यकार पडित बालकृष्ण जी भट्ट के साथ हुई। इन दिनो महान पुरुषो के उच्च चरित्र एव सस्कारो का टडनजी के नवयुवक हृदय पर गभीर प्रभाव पडा। मालवीयजी का तो इन पर आजीवन अपार स्नेह रहा। १९०७ मे मालवीयजी द्वारा सस्थापित सुप्रसिद्ध हिन्दी-साप्ताहिक 'अभ्युदय' का सम्पादन भी आपने आरम्भ किया। अभ्युदय के द्वारा इनकी वाणी और विचारो मे परिष्कार हुआ, और थोडे ही दिनो मे यह प्रयाग नगर मे ही नही, प्रदेश भर मे सुप्रसिद्ध हो गए।

प्रयाग की छोटी अदालतो मे दो वर्ष की प्रैक्टिस के बाद टडनजी ने प्रयाग के हाईकोर्ट मे वकालत करना शुरू किया। उन दिनो महामना मालवीयजी तथा सर तेजबहादुर सप्रू आपके सीनियर थे। मालवीयजी महाराज के मस्तिष्क मे उन दिनो 'हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना का विचार प्रमुख था, वकालत की ओर वह कम ध्यान दे पा रहे थे। अत आपके कई मुकदमो को टडनजी को ही देखना पडता था। किन्तु टडनजी की सत्यपरायणता और सच्चरित्रता इस वकालत के पेशे मे भी अक्षुण्ण रही। कभी जानबूझकर कोई झूठा मुकदमा आपने नही लिया, और न तो किसी झूठी बात का समर्थन ही किया। जो मुकदमे आपके यहा आते थे, उसकी छोटी से छोटी बातो की जानकारी जब तक प्राप्त नही कर लेते थे, तब तक विश्राम नही लेते थे। और इसी प्रकार प्रस्तुत विषय पर कानून की जितनी भी धाराए, उपधाराए या नजीरे होती थी, उन सबका विधिवत अध्ययन करते थे। इसका परिणाम प्राय सदैव अनुकूल होता था। ऐसे बहुत कम अवसर आते थे, जिसमे आपके मुवक्किलो को पराजय मिलती थी। कभी-कभी ऐसे भी सन्दर्भ आते थे, जब गरीब मुवक्किलो से बिना फीस लिये ही आप उनकी पैरवी किया करते थे। हाईकोर्ट मे तीन-चार वर्ष की प्रैक्टिस के बाद ही आपकी प्रयाग के प्रमुख वकीलो मे गणना होने लगी। प्रैक्टिस के साथ ही साथ आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन और 'अभ्युदय' का सम्पादन-कार्य भी करते थे और प्रयाग नगर की सामाजिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक प्रवृत्तियो मे भी मुख्य रूप से भाग लेते थे।

सन १९१४ ई० मे महामना मालवीयजी के कहने पर आपने नाभा राज्य मे कानून-मन्त्री पद पर कार्य करने के लिए हाईकोर्ट की वकालत छोड दी। और इस पद पर आपने कडी योग्यता और दक्षता से कार्य सम्पादन कर

थोडे ही दिनो में राजा और प्रजा-वर्ग दोनों मे अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की। बाद मे आप वहीं पर विदेश-मन्त्री पद का कार्य देखते रहे, किन्तु हिन्दी साहित्य सम्मेलन के एक अधिवेशन मे भाग लेने के लिए जब वहा के राजा ने आपको अवकाश देने मे आनाकानी की तो आपने चुपचाप अपने पद से त्यागपत्र भेजकर नाभा को छोड दिया। बाद में राजा ने आपको वापस बुलाने का बहुतेरा प्रयत्न किया किन्तु आप वापस नही गए। यह घटना सन १९३६ की है। नाभा से वापस लौटकर आपने हाईकोर्ट मे पुन प्रैक्टिस आरम्भ की और साथ ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा प्रयाग नगर-पालिका के कार्यों मे अधिक समय लगाने लगे।

उन दिनो प्रयाग नगरपालिका मे हिन्दुओ की अस्सी प्रतिशत आबादी होने पर भी सदस्यों में मुसलमानों की बहुलता थी। क्योंकि युक्तप्रान्त की असेम्बली ने नवाब महमूदाबाद द्वारा प्रस्तुत किसी बिल के आधार पर मुसलमानो को अधिक सुविधा प्रदान करने का ऐक्ट स्वीकार किया था। प्रयाग हमारे देश के करोडों हिन्दुओं के तीर्थों का राजा माना जाता है और इसके सगम पर स्नानार्थ प्रतिवर्ष लाखो की भीड होती है। हिन्दुओ के धर्म-ग्रथों मे इसकी बडी महिमा है और गगा तथा यमुना जैसी पुराण-प्रसिद्ध नदियो की उपस्थिति के कारण उसके प्रति हिन्दुओं के हृदय मे पूज्य भावना है। किन्तु यहा की नगरपालिका की दशा कुछ विचित्र थी। नगर मे हिन्दुओं की पूर्ण उपेक्षा थी और उनके अधिकारो का उपभोग विदेशी अग्रेज तथा अल्पसख्यक मुसलमान कर रहे थे।

उन दिनो प्रयाग नगर मे अग्रेजो का बोलबाला था। अल्फ्रेड पार्क मे अग्रेजो के बच्चो के मनोरंजनार्थ एक बैंड क्लब स्थापित किया गया था, जिसके लिए प्रतिवर्ष सहस्रो रुपये व्यय होते थे। इसी प्रकार प्रयाग के फौजी क्षेत्र मे नगर पालिका के सहस्रो रुपये जल-कर के रूप मे बकाया था, किन्तु किसी भी चेयरमैन मे यह साहस नही था कि उसकी माग करे। सन १९१९ ई० मे जब टडनजी प्रयाग नगरपालिका के चेयरमैन चुने गए तो उसकी आतरिक स्थिति बहुत अच्छी नही थी। आपने बडी तत्परता और लगन से उसका कार्य-सचालन किया और कई ऐसे प्रसग भी उपस्थित हुए जब आपने अग्रेज शासको से जमकर मोर्चा लिया और अपने कार्यों द्वारा उनको यह बता दिया कि भारतवर्ष मे बहुत अधिक दिनो तक उनकी सत्ता और महत्ता नही बनी रह सकती। आपका अधिकाश समय उन दिनो नगरपालिका और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यों मे ही बीत जाता था और अपनी प्रैक्टिस के लिए बहुत कम समय दे पाते थे। जिसका परिणाम यह होता था कि परिवार पर उचित व्यय के लिए भी कभी-कभी कठिनाइया उपस्थित हो जाती थी।

प्रयाग नगरपालिका मे टडनजी की चेयरमैनी के समय के कई किस्से बडे रोचक है, जिनकी अब तक बडी शान से चर्चा की जाती है। पहले प्रयाग के फौजी क्षेत्र मे कई वर्षों के बकाया जल-कर की चर्चा की जा चुकी है। टडनजी जब चेयरमैन हुए और उक्त फाइल आपके सामने रखी गई तो आपको यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि अब तक इस बकाया रकम की वसूली के लिए सख्ती क्यो नही की गई। आपने पहली बार फौजी प्रशासक को लिखित सूचना भिजवाई कि नगरपालिका का जो रुपया इतने वर्षों से आपके विभाग पर बकाया चला आ रहा है, उसे अमुक तिथि तक अवश्य भिजवा दे। किन्तु उन दिनो फौज, और वह भी अग्रेजी फौज के प्रशासक को एक भारतीय नागरिक के पत्र का उत्तर देने की क्यो चिन्ता होती। जब कई दिनो तक पत्र का उत्तर नही मिला तो आपने एक नोटिस भेजकर उन्हे सतर्क किया कि यदि सात दिनो के भीतर सब रुपया नही जमा कर दिया जाता तो जल-कल का सम्बन्ध काट दिया जायगा। किन्तु इस चेतावनी पर भी किसी फौजी अधिकारी ने कोई ध्यान नही दिया। परिणाम यह हुआ कि निर्दिष्ट दिन को उस क्षेत्र मे जाने वाले जलकलो का सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया गया और पानी के बिना अग्रेजी फौज की छावनी मे हाहाकार मच गया। फौजी अधिकारी दौडे-दौडे आपके पास पहुचे और आरम्भ में उन्होंने इस असुविधा को पैदा करने के लिए कुछ रौब के साथ बात करने का उपक्रम भी किया, किन्तु टडनजी ने उन्हे उसी स्वर मे उत्तर दिया कि जब तक अधिकाश बकाया रुपया तत्काल और शेष बकाया रुपया सात दिनों के भीतर जमा नही कर दिया जाता तब तक जलकल का कनैक्शन ठीक नही किया जायगा। अग्रेजों को झुकना पडा और उन्होने चुपचाप बकाया रुपया निर्दिष्ट अवधि के भीतर ही जमा कर दिया।

इसी प्रकार का एक अन्य सन्दर्भ भी है। प्रयाग मे उन दिनो युक्तप्रान्त के गवर्नर का निवास-स्थान था। यद्यपि कुछ दिनों पूर्व से लखनऊ राजधानी बन गई थी, तथापि सामान्यत यह प्रथा चली आ रही थी कि जब कभी गवर्नर महोदय लखनऊ से प्रयाग के लिए आते थे तो उनके स्नान के लिए गवर्नमेण्ट हाउस प्रयाग का स्नान-सरोवर पीने वाले जल से भरा जाता था। आपकी चेयरमैनी के समय जब ऐसा अवसर उपस्थित हुआ तो सयोगत उन दिनो प्रयाग की जलवितरण-व्यवस्था के सक्षम न होने के कारण नगर मे पानी की कमी का अनुभव किया जा रहा था। सरोवर कोई छोटा-मोटा नही था, उसमे हजारो व्यक्तियो के पीने भर के पानी का अपव्यय होता था। फलत आपने उक्त सरोवर के भरने की मनाही कर दी। प्रयाग आने पर जब यह सवाद गवर्नर के सेक्रेटरी को बताया गया तो वह क्रोध से जल उठा। उसने तुरन्त चेयरमैन के नाम उक्त सरोवर को जल से लबालब भर देने का तीव्र आदेश दिया। जब उक्त आदेश आपके सामने रखा गया तो आपने बडी विनम्रता के साथ गवर्नर के सेक्रेटरी को प्रयाग मे जल की कमी बताते हुए सरोवर को भरने मे असमर्थता प्रकट की। जब आपका यह पत्र सेक्रेटरी के पास पहुचा तो वह और भी उत्तेजित हो उठा और उसी स्थिति मे तत्काल आपके पास पहुचा। फिर तो जो होना था, वही हुआ। आरम्भ मे टडनजी ने बडी विनम्रता मे उसे समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया, किन्तु उन दिनो का अग्रेज और वह भी प्रदेश के के गवर्नर का सेक्रेटरी, एक भारतीय नागरिक की विनम्रता और सौजन्यपूर्ण वार्ता से कैसे सन्तुष्ट हो सकता था। अत मे टडनजी को भी उसके सामने दृढतापूर्ण वाक्य क्रोध की मुद्रा मे दुहराना पडा कि हम आपके तालाब मे एक बूद जल भी नही देगे, आपको जो कुछ करना हो, जाकर कीजिए। गवर्नर का सेक्रेटरी खिसियाकर वापस लौट आया, और कुछ भी नही कर सका।

टडनजी की चेयरमैनी के समय प्रयाग नगर मे अनेक सुधार के कार्य हुए। अनेक चौडी-सीधी सडकें बनी, पार्क बने, विद्यालयो और चिकित्सालयो की दशा मे सुधार किया गया तथा स्वच्छता और नगरपालिका की आर्थिक स्थिति मे भी सुधार हुआ।

सन १६२५ मे पजाबकेसरी लाला लाजपतराय के अनुरोध पर आपने उनके द्वारा सस्थापित पजाब नेशनल बैंक मे सर्वोच्च पद स्वीकार किया और लालाजी की मृत्यु तक उस पद पर बने रहकर इस बैंक की स्थिति को इतनी सुदृढ और सुनिश्चित बनाया कि वह देश के गिने-चुने बैंको मे हो गया। सभवत हमारे देश का यह पहला बैंक था, जिसकी व्यवस्था मे सारी सत्ता हमारे देशवासियो के हाथो मे थी। सन १६२८ ई० के अन्त मे जब लालाजी का देहान्त हो गया, तो उनकी अन्तिम इच्छा और विश्ववन्द्य महात्मा गाधी के अनुरोध पर आपने लालाजी द्वारा सस्थापित लोक सेवक मण्डल का अध्यक्ष-पद ग्रहण किया। पजाब नेशनल बैंक मे सर्वोच्च पद पर होने के कारण उस समय आपको आर्थिक चिन्ता नही रह गई थी और समूचा परिवार बडे सुख और शान्ति के साथ आपके साथ लाहौर मे था, किन्तु लोक सेवक मडल के अध्यक्ष बन जाने पर उसके नियमो के अनुसार शीघ्र ही ऐसी स्थिति आगई कि बच्चो की पढाई-लिखाई और सुन्दर ढग से रहन-सहन के लिए कपडे-लत्ते की व्यवस्था भी उतने पैसो से सभव नही थी। स्वय लालाजी की इच्छा थी, कि लोक सेवक मण्डल के अध्यक्ष बन जाने पर आपको कुछ अधिक धन दिए जाने की व्यवस्था की जाय, किन्तु आपने इसका तीव्र विरोध कर मण्डल के नियमो के अनुसार उतना ही धन लेना स्वीकार किया, जितना उसके अन्य सदस्यो को मिलता था। टडनजी के इस निश्चय का परिणाम यह हुआ कि आपके समूचे परिवार के सामने भयकर आर्थिक सकट आकर उपस्थित हो गया। पढाई-लिखाई छूट-सी गई, खाने-पीने और पहनने-ओढने के कपडो के लिए भी कठिनाई उपस्थित हो गई, किन्तु अपने अनेक मित्रो के आग्रहो को ठुकराकर टडनजी ने किसी से कुछ भी सहायता नही ली। उनके बच्चो को खद्दर और पुस्तको की दूकान पर काम करना पडा, कालेजो की पढाई छोडकर स्वाध्याय करना पडा, और धोती-कुर्तों की जगह जाघियो और बनियानो पर रहना पडा। उनके इस आदर्श त्याग पर महात्मा गाधी ने अपने 'हरिजन' मे अगस्त या सितम्बर के १६२६ के किसी अक मे जब एक अग्रलेख लिखा, तो उसे पढकर टडनजी के कायस्थ पाठशाला इण्टर कालेज की पढाई के समय के प्रिंसिपल श्री रामानन्द चटर्जी महोदय ने उन्हे एक लम्बा पत्र लिखते हुए अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की। उनके पत्र की एक पक्ति का आशय इस प्रकार का था "मुझे आज

हार्दिक प्रसन्नता है कि जो काम अपने जीवन मे मै नही कर सका, उसे मेरे एक शिष्य ने पूरा करके दिखाया।" महात्मा गाधी ने टडनजी की प्रशसा मे जो लेख लिखा था, उसकी एक पक्ति का आशय इस प्रकार का था : "टडनजी ने जो महान त्याग किया है, आशा है, हमारा देश उसकी पात्रता रखेगा।"

कहा जा सकता है कि टडनजी का गृहस्थ जीवन ऐसा है, जो लाखो करोडो व्यक्तियो मे से किसी-किसी भाग्यशाली को प्राप्त होता है। आपका विवाह उस समय की परम्परा के अनुसार बाल्यकाल मे ही, अर्थात जिस समय आपकी अवस्था केवल पन्द्रह वर्ष की थी, हो गया था। उस समय आप हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण हुए थे। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रमुखी देवी के पिता श्री नरोत्तमदास खन्ना मुरादाबाद नगर के निवासी थे। उन दिनो कन्याओ की उच्च शिक्षा की प्रथा नही थी, आपकी पत्नी सामान्य लिखी-पढी किन्तु एक आदर्श महिला-रत्न है। टडनजी जैसे अलौकिक त्यागी एव अपने शरीर तथा परिवार की ओर से पूर्णत निरपेक्ष रहने वाले पति के साथ आपने जो-जो कठि-नाइया उठाई है, उनकी जानकारी ऐसे बहुतेरे लोगो को है, जो टडनजी के जीवन-क्रम से थोडे भी परिचित है। बताते है, असहयोग-आन्दोलन के दिनो मे महीनो नही वर्षों तक ऐसी भी स्थिति रही है जब टडनजी के बच्चो के खाने-पीने और पहनने-ओढने की सुव्यवस्था नही रही है। कभी कुछ खाने को मिलता था और कभी कुछ, किन्तु आपने कभी साहस नही छोडा और न पति या उनके मित्रो को ही कोई उपालम्भ दिया। जब जैसा आ पडा वैसा करती रही। जब टडनजी जेल से बाहर होते थे तब तो कोई-न-कोई प्रबन्ध कही से होता ही था, किन्तु उनके जेल मे रहने पर जब कठिनाइया बहुत बढ जाती थी, तब भी आपने उफ नही किया और गृहस्थी के बोझिल सकट को अकेले ही खीच कर पार किया।

टडनजी को सात सुपुत्र तथा दो कन्याए हुई थी, और ईश्वर की इच्छा है कि उनकी ये नौ सन्ताने पूर्णत स्वस्थ और सुयोग्य ही नही है, वरन कई दर्जन पौत्र-पौत्रिया और दौहित्र-दौहित्रिया भी आज तक पूर्णत स्वस्थ, नीरोग, सुदर्शन और जीवन के विविध क्षेत्रो मे अग्रणी पदो पर है। सातो पुत्रो मे मे दो विश्वविद्यालयो मे प्रोफेसर है, दो एम० बी० बी० एस० डाक्टर है, और अपने व्यवसाय मे सुप्रतिष्ठित है, एक टाटा मे रिसर्च असिस्टेण्ट है, एक सयाजी-राव मिल, ग्वालियर मे अच्छे पद पर है और एक किसी बैक मे अच्छे पद पर थे और अब पद-निवृत्त होकर स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय करते है। आपकी सभी पुत्रवधुए खत्री-समाज के सुप्रतिष्ठित व्यक्तियो की कन्याए है और उच्च शिक्षा-प्राप्त है। आपके कई पौत्रो ने विश्वविद्यालयो की परीक्षाओ मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त किए है। जब कभी शादी-ब्याह के प्रसगो पर आपका पूरा परिवार एकत्र हो जाता है, तो उस समय की छटा और सुख अवर्णनीय रहता है। सभी पुत्र अपने-अपने स्थानो और समाज मे न केवल यशस्वी और सुप्रतिष्ठित पदो पर है, वरन नौकरी-चाकरी मे टडनजी की किसी सहायता, सहयोग और सिफारिश के बिना ही अपनी योग्यता, प्रतिभा और अध्यवसाय के कारण वर्तमान स्थिति मे पहुचे है।

टडनजी के स्वभाव की कुछ विशेषताए ऐसी है, जिनके कारण उनके साथी-सगियो, मित्रो और आश्रितो तथा विशेषकर परिवार के लोगो को सदैव हानि ही उठानी पडी है। यह बहुविदित बात है कि आप न तो कभी किसी की सिफारिश करते है और न कभी किसी आर्थिक प्रश्न पर तनिक-सा प्रमाद सहन करते है। चरित्र की पवित्रता मे अर्थ-शुचि को आप विशेष महत्त्व देते है। आपके ऐसे अनेक सस्मरण है, जिनमे सामान्य दृष्टि से अत्यन्त तुच्छ और उपेक्षा-योग्य आर्थिक प्रश्नो पर आप उलझ गए है, और परिवार के लोगों तथा मित्रो और सगी-साथियो को परेशानी मे डाल दिया है। आपके परिवार के लोग आपकी इन विशेषताओ से सदैव सतर्क और आतकित रहते है। जिसका परि-णाम यह हुआ है कि सभी सन्तानो पर आपके चरित्र की गहरी छाप है। यही कारण है कि परिवार के लोग भी आपसे सदैव उसी तरह डरते रहते है, जैसे उनके सगी-साथी और मित्रवर्ग। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि परिवार वालो पर आपका इतना अधिक आतक रहता है कि कभी किसी आर्थिक प्रश्न पर कोई चर्चा उठाई ही नही जाती। टडनजी को यह कदापि सह्य नही है कि उनके नाम या समाज और राष्ट्र मे उनकी उच्च स्थिति की सुविधा उठाकर कभी कोई उनका प्रियजन आर्थिक लाभ का सौदा करे या प्रकारान्तर से भी कोई चर्चा करके स्वय लाभ उठा सके। अपनी ही

तरह उन्होंने निर्ममता के साथ अपने आश्रितो और प्रियजनो को भी दबाया है। हमारे देश के नेतृवर्ग मे ऐसे बहुत कम महानुभाव हैं, जिन्होने गाधीजी या टडनजी के समान इस 'असिधाराव्रत' का पालन कर अपने को सुवर्ण के समान खरा सिद्ध किया हो। उनके इस खरेपन का ही यह परिणाम है कि किसी केन्द्रीय मत्रीपद, राज्य के मुख्यमत्री-पद अथवा राज्यपाल-पद पर न होते हुए भी, हमारे राष्ट्र मे टडनजी की प्रतिष्ठा आज भी अद्वितीय है। और बडे-बडे सिहासनो पर विराजमान महानुभाव भी उनके समीप आकर या उनका प्रसग आने पर नतमस्तक हो जाते है। अग्नि के समान उनके चरित्र की यह विशुद्धता हमारे राष्ट्र की एक अक्षय निधि है और टडनजी ने अपने जीवन भर की कठिन तपस्या और प्रेरक साधना से उसकी सदैव रक्षा की है।

टडनजी का सार्वजनिक जीवन उनके विद्यार्थी-काल से ही आरम्भ हो गया था। जब आप बी० ए० के छात्र थे तभी सन १८९९ की काग्रेस के अधिवेशन मे एक स्वयसेवक के रूप मे भाग लिया था। सन १९०६ मे आप डेलीगेट नियुक्त हुए थे और वकालत के दिनो मे मुख्यत काग्रेस अथवा सार्वजनिक सेवा का कार्य ही आपका मुख्य कार्य था। वकालत तो परिवार के लोगो के किसी तरह भरण-पोषण मात्र की सहायक थी। सन १९२१ ई० मे गाधीजी द्वारा सचालित असहयोग-आन्दोलन मे भाग लेकर आपने उस वकालत को भी सदैव के लिए त्याग दिया था। यद्यपि उक्त आन्दोलन की समाप्ति के बाद आप भी अपने अन्य सहयोगियो की तरह फिर से वकालत कर सकते थे, किन्तु किसी त्यागी हुई वस तु को फिर से अपनाने का प्रश्न टडनजी के जीवन मे कभी नही आया।

सन १९२३ ई० मे गोरखपुर के प्रान्तीय काग्रेस के वार्षिक अधिवेशन मे टडनजी अध्यक्ष चुने गए थे और उसी समय अखिल भारतीय काग्रेस की कार्य समिति के भी आप सदस्य थे। सन १९३० ई० मे आपने केन्द्रीय किसान सघ की स्थापना की। उस समय हमारे देश मे कृषको अथवा काश्तकारो पर जमीदारो की ओर से बडी ज्यादतिया होती थी। अग्रेजी शासन के सुदृढ स्तम्भ के रूप मे जमीदारो का सर्वत्र आतक रहता था। आपने उसी समय जमीदारी-उन्मूलन का नारा लगाया और किसानो के उत्थान तथा विकास के लिए उसे सबसे आवश्यक चीज बतलाया। उस समय काग्रेस मे समाजवादी पार्टी का भी जन्म नही हुआ था। सन १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन मे आपने खुलकर भाग लिया। सन १९३२ ई० मे सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया गया। सन १९३४ ई० मे पटना मे अखिल भारतीय काग्रेस की बैठक मे आपने महात्मा गाधी के केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा मे भाग लेने वाले प्रस्ताव का विरोध किया। आपके साथ आचार्य कृपलानी भी उक्त प्रस्ताव के विरोधी थे, किन्तु प्रस्ताव पास हुआ और केन्द्रीय पार्लमेण्टरी बोर्ड के सगठन का कार्य आरम्भ हुआ। आपके राजनीतिक गुरु महामना मालवीयजी इस बोर्ड मे थे और उनकी हार्दिक इच्छा थी कि आप भी बोर्ड मे रहे, किन्तु आपने अपने स्थान पर पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त का नाम प्रस्तुत किया। इसी बीच डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद काग्रेस के राष्ट्रपति चुने गए और उन्होने आपको काग्रेस कार्यसमिति का सदस्य चुना। सन १९३७ ई० मे काग्रेस ने जब प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओ के चुनाव मे भाग लेने का निश्चय किया तो पण्डित जवाहरलाल नेहरू के विशेष आग्रह पर आपने इलाहाबाद नगर से उक्त चुनाव लडने का निश्चय किया। आपकी अद्वितीय लोक-प्रियता का प्रमाण यह मिला कि प्रयाग नगर से आप निर्विरोध प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। उक्त चुनाव के बाद अपने मित्रो के आग्रह से विवश होकर प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा का अध्यक्ष-पद (स्पीकर पद) आपने इस शर्त के साथ स्वीकार किया कि राजनीति मे यथापूर्व भाग लेते रहेगे। सभवत· यह ऐसी शर्त थी, जिसे किसी अन्य व्यक्ति के लिए न ही स्वीकार किया जा सकता था, क्योकि स्पीकर के लिए किसी पार्टी-विशेष की राजनीति मे भाग लेना वर्जित था। किन्तु टडनजी ने अपनी पद-मर्यादा अद्भुत ढग से निभाई। उस समय प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा मे काग्रेस पार्टी की प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी पार्टी मुस्लिम लीग के भी सदस्य होते थे, किन्तु टडनजी के कार्य-काल मे कभी ऐसा अवसर उपस्थित नही हुआ जब उक्त पार्टी के लोगो को भी इनके विरुद्ध कुछ कहने का सयोग मिला हो। आपने अपने स्वभाव के अनुकूल बडे ऊचे आदर्शो पर अपने पद की मर्यादा-रक्षा की।

द्वितीय महायुद्ध मे ब्रिटिश शासन द्वारा भारत को बलात सम्मिलित किए जाने के विरोध मे सन १९३९ मे जब उक्त प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाए, अपने-अपने मत्रिमण्डलो के साथ भग होगई, तो आपने भी अपने पद से त्याग-

पत्र दे दिया। सन १६४० मे आपको पुनः जेलयात्रा करनी पडी और लगभग एक वर्ष तक नजरबद रहने के बाद आपको छोडा गया। इसके एक वर्ष बाद अगस्त सन १६४१ का तूफान मचा, जिसमे आप पुन: गिरफ्तार किये गए। जेल मे जब आपका स्वास्थ्य बहुत गिरने लगा तो डाक्टरो की सलाह पर शासन ने आपको छोडने का निश्चय किया। सरकार के इस निश्चय का पता जब आपको बताया गया तो आपने इसका तीव्र विरोध किया। किन्तु सरकार को विवश होकर १६४४ ई० मे अन्य नेताओ के कुछ पूर्व ही आपको कारामुक्त करना पडा। किन्तु बाहर आकर अपने गिरते स्वास्थ्य की चिन्ता छोडकर आपने देशभर मे काग्रेस की बिखरी और छिन्न-भिन्न शक्ति के पुनर्गठन का कार्य आरम्भ किया। काग्रेस तो बन नही सकती थी, अत काग्रेस प्रतिनिधि असेम्बली के नाम से एक नई सस्था की स्थापना कर आपने उसके द्वारा काग्रेस के कार्यों को बहुत आगे बढाया। आपके कार्यों से, सन ४२ के दमन से आतकित और निराश जनता मे आशा की लहर दौड गई और लोगो मे खुलकर पुन काग्रेस का काम करने का साहस आया। सन १६४५ ई० मे जब काग्रेस पर से नियत्रण हटा लिया गया तो आपकी इस सस्था का भी काग्रेस मे विलय हो गया।

सन १६४२ के आन्दोलन मे अनेक नवयुवको को रेल को पटरी उखाडने, स्टेशन जलाने या अन्य सरकारी इमारतो की तोडफोड मे फासी और आजीवन कारावास की सजाए हुई थी। बाहर आकर टडनजी ने उनके मुकदमो के लिए सब प्रकार की सहायता की और अनेक को फांसी के तख्तो से नीचे उतार लिया। उन राजनीतिक पीडितो के परिवारो के पुनर्वास मे भी आपने अपने पास से बडी सहायता की। सन १६४६ मे आप पुन प्रयाग नगर से व्यवस्थापिका सभा के सदस्य चुने गए और मित्रो के आग्रहवश स्पीकर का पद पुन ग्रहण किया। इसी समय ब्रिटिश घोषणा के अनुसार भारतीय सविधान परिषद का भी चुनाव हुआ और उसके भी आप सदस्य चुने गए।

सन १६४७ ई० मे मुसलिम लीग के दुराग्रह तथा ब्रिटिश कूटनीतिज्ञो के कारण हमारे नेताओ और विश्ववन्द्य महात्मा गाधीजी को भी जब देश के विभाजन का दु खद प्रस्ताव स्वीकार करने को विवश होना पडा तो आपने उसका खुले शब्दो मे तीव्र विरोध किया, किन्तु विधि की विडम्बना को कौन रोक सकता है। देश का विभाजन होकर ही रहा और उसके परिणामस्वरूप जो भीषण रक्तपात और दुष्काण्ड हुए, उनका आपके हृदय और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पडा। काग्रेस कमेटी की बैठक मे देश-विभाजन के उक्त प्रस्ताव के ऊपर आपने जो वक्तृता दी थी उसके कुछ अशो का उद्धरण यहा असमीचीन न होगा

"इस बैठक की कार्यवाही वन्देमातरम् के गायन से आरम्भ हुई है। वन्देमातरम् का गाना सुनकर मेरे हृदय मे पीडा की एक लकीर खिच गई। सोचने लगा कि 'सुजलाम्, सुफलाम्, वरदाम्' आदि विशेषणो से जिस माता की वन्दना हम यहा कर रहे है, क्या इस प्रस्ताव को पास करने के बाद भी हम सचमुच फिर से उस माता से वर मागने के अधिकारी होगे ?

"आज हम अपनी उसी माता को काटने और उसकी अर्थी को उठाने के लिए जैसे यहा बैठे है। क्या ऐसी आवश्यकता आ पडी है कि जिससे हम स्वय अपने देश के टुकडे करने जा रहे है ?" आदि-आदि।

आज भी टडनजी देश के विभाजन-सम्बन्धी उक्त प्रस्ताव को इस देश के इतिहास में सबसे बडी और दु खदायी भूल मानते है।

सन १६५० मे आप अखिल भारतीय काग्रेस के अध्यक्ष चुने गए और इस चुनाव मे आपको जिन अजेय शक्तियो के विरुद्ध विजय मिली, उनकी चर्चा करना अप्रिय और अनावश्यक है। काग्रेस-अध्यक्ष होने के पूर्व ही आपने स्पीकर-पद त्याग दिया था। काग्रेस-अध्यक्ष होने के बाद आपने देशव्यापी दौरा किया और काग्रेस की शक्ति को सगठित करने का बडा प्रयास किया। प्रयाग नगर के निवासी अपने जीवनभर उस दृश्य को नही भूल सकते, जिसे उन्होने टडनजी के काग्रेस-अध्यक्ष होने के बाद प्रयाग नगर मे उनके प्रथम आगमन पर आयोजित उल्लासमय प्रदर्शनो मे देखा था। प्रयाग के वृद्ध नागरिको का कथन है कि वैसा दृश्य, वैसी भीड-भाड, उतने तोरणो और मागलिक द्वारो की रचना और वैसी प्रसन्नता का वातावरण प्रयाग नगर के बीच कभी नही देखा गया। सारा नगर कुम्भ के महान मेले

की तरह झूम उठा था।

किन्तु थोड़े ही दिनों बाद जिन कारणो से टडनजी को उक्त पद त्याग कर अलग हो जाना पडा, वह प्रसग कम खेदजनक नही है। कुछ कारणों से उसकी चर्चा करना यहा अनावश्यक है। टडनजी के जीवनक्रम मे उस घटना का सर्वाधिक महत्त्व है। यह कहा जा सकता है कि उसके बाद से ही उन्होने राजनीतिक महत्त्व के पदो पर लात मार दी। उनके पास राज्यपाल बनने के प्रस्ताव आए, उत्तर प्रदेश के मुख्य मत्री पद पर चुनाव लडने के लिए मित्रों ने आग्रह किया, किन्तु उन्होने सक्रिय राजनीति से जैसे अपना हाथ ही खीच लिया हो। यद्यपि आज भी वह काग्रेस मे है, और काग्रेस दल की ओर से ही अभी कुछ दिनो पूर्व तक वह राज्यसभा के और उसके पूर्व लोकसभा के सदस्य भी रहे है, तथापि काग्रेस के किन्ही अन्य कार्यों मे उन्होने सक्रिय भाग लेना छोड दिया है।

इधर दुर्भाग्यवश कुछ वर्षों से उनके स्वास्थ्य की दशा गिर गई है। इधर कई महीनो मे वह शय्यारूढ हो गए है, किन्तु उनका मस्तिष्क अब भी पूर्ववत चैतन्य और प्रबुद्ध है। उनके हृदय मे राष्ट्र और समाज के हितो की अब भी चिन्ता है। जब वह लोकसभा मे थे तो हिन्दू उत्तराधिकार बिल, खाद्य समस्या, भाषावार राज्यो की रचना, तिब्बत पर चीन का अधिकार, ग्रामो का पुनर्गठन, हिन्दी आयोग आदि विषयो पर बडे जोरदार भाषण दिए थे, जिनकी सारे देश में चर्चा होती थी। आज भी जब कभी वह किसी विषय पर सोचते है या कुछ कहते है तो यह मानना पडता है कि उनके चिन्तन मे देश के बहुसख्यक वर्ग का हित निहित है।

टडनजी भारतीय सस्कृति के अनन्य उपासक है। उनकी वेशभूषा, सादगी और तेजस्विता का प्रभाव दर्शको पर सद्य· पडे बिना नही रहता। उनके दुबले-पतले, किन्तु ओज और तप से भरे फुर्तीले शरीर मे प्राचीन ऋषियों की वाणी और अमन्द तेजस्विता का विचित्र सयोग है। उनका सरल, सौम्य, ओजस्वी मुखमण्डल, उनकी सत्यनिष्ठा, तपस्या और साधना से सदैव सुप्रसन्न रहता है। उनकी आखो मे दार्शनिको-जैसी गहराई और सच्चे वैष्णवो-जैसी करुणा उमडती है। उनकी ऋषियो-सी ऋजुता, मुनियो-सी साधना और तपस्या, सम्राटो-सी मनस्विता, महान वीरो-सी दृढ़ता और निर्भीकता तथा प्रत्येक विषय पर अपने मौलिक ढग से सोचने की विशेषता की सब पर छाप पडती है। वह मार्मिक प्रसगो पर सहज ही अश्रुविगलित हो उठते है। भावपूर्ण कविता की कोई पक्ति हो, त्याग और बलिदान का कोई सदर्भ हो, राष्ट्र की सभावित क्षति की कोई चर्चा हो, वह नवनीत के समान द्रवित हो उठते है। किन्तु दूसरी ओर प्रत्येक प्रसग को बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कसते हुए आगे का मार्ग-निर्धारण करना उनका स्वभाव है। वह शास्त्रो अथवा शास्त्रीय वचनो मे आस्था तो रखते ही है किन्तु 'समयभेदेन धर्मभेद:' उनका सिद्धान्त है। वह अतीत की पवित्र और प्रेरक वस्तुओ के पुजारी है, किन्तु वर्तमान और विज्ञान की यथार्थताओ और भविष्य की कल्पनाओ के साथ उसके समन्वय के पक्षपाती है। उनकी राजनीतिक विचारधारा धार्मिक अथवा सास्कृतिक पृष्ठभूमि को छोडकर अलग नही जा सकती। फलत. काग्रेस मे रहते हुए भी वह गोवध-निषेध के कट्टर पक्षपाती रहे है और राजनीतिक जीवन मे भी व्यक्तिगत आचरणो मे पवित्रता और ऊंचे आदर्शों को त्याग कर चलना राष्ट्र के लिए घातक समझते है। अपने सिद्धान्तो और मान्यताओ के पालन मे उन्होने कभी भी किसी स्वार्थ या प्रलोभन के वश कोई शिथिलता नही बरती। यह सत्य है कि अपने स्वभाव की इन विशेषताओ के कारण उन्होने कठिनाइया भी उठाई है, लौकिक दृष्टि से हानि भी उठाई है, किन्तु भारतीय जीवन मे तपस्या और साधना के पथिको के लिए यही मार्ग निर्दिष्ट किया गया है और टडनजी ने इसी मार्ग को अपनाया है।

टडनजी का शरीर उनकी साधना और प्रयोगो का परीक्षण-स्थल रहा है। अपने विचारो और मान्यताओ के लिए कभी-कभी उन्होने गम्भीर शारीरिक सकट भी उठाए है। वह प्रकृत्या प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति पर आस्था रखते है और उनके गत जीवन का अधिकाश समय इसी पद्धति के अनुसार बीता भी है। जब कभी वह अस्वस्थ हुए है, अपना वश चलते हुए उन्होने कोई औषधि नही ली है। एलोपैथी चिकित्सा-पद्धति मे इजेक्शनो के वह जिस तरह विरोधी है, उसी प्रकार आयुर्वेद के रसों और भस्मों के भी विरोधी है। यह सुप्रसिद्ध है कि कई बार इजेक्शनो के प्रतिबन्ध के कारण उन्होंने कई सुप्रसिद्ध मेलों की यात्रा स्थगित कर दी है और कई बार प्राण-सकट उपस्थित होने पर भी कोई

श्रौषधि नही ली है। महीनो यदि फलो श्रौर तरकारियों पर रहकर बिताए हैं तो महीनों धूप में सिकी हुई रोटी श्रौर शाक-सब्जियों पर। फल भी वह वही लेते हैं, जो सर्वसामान्य को सुलभ हों। दूध-दही श्रौर मक्खन का प्रयोग उन्हें सदा वर्जित रहा है श्रौर चमडे का जूता छोडे हुए तो युग बीत गए। यह प्रसिद्ध है कि प्रयाग नगरपालिका की चेयरमैनी श्रथवा हाईकोर्ट की वकालत की प्रैक्टिस के समय उन्होने सूत श्रथवा केतली की पट्टी के बने हुए जूतों से श्रपना काम चलाया है। उस समय मुर्दा जानवरों के चमडे श्रथवा रबर के जूतों का प्रचलन नही हुश्रा था। श्रपने कपड़े-लत्तों के बारे मे भी उनका रवैया सदा ऐसा ही रहा है। विशुद्ध खादी की धोतियां, कुरते, श्रचकनें, बनियाने, जाघिया श्रौर तौलिया वह प्रयोग मे लाते है। शरीर के परम श्रसमर्थ होने, श्रर्थात श्रभी कुछ महीनों पूर्व, तक श्रपने सारे कपडे वह श्रपने हाथो साफ करते रहे है। उनके कपडो का इतिहास भी कम रोचक नही है। उनकी ऊनी श्रचकनो में से एक-श्राध उस समय की भी है, जब वह हाईकोर्ट मे प्रैक्टिस करते थे। साधारण धोतियां भी वह प्राय दस वर्ष चलाते है। घर मे वह जाघियो का इस्तेमाल करते हैं श्रौर ये जाघिये, उनकी पुरानी धोतियो से बनाए जाते है।

किन्तु श्रपने ऊपर श्रपव्यय न होने देने का यह सिद्धान्त श्रपने मित्रों श्रथवा श्रतिथियों के लिए नहीं है। उस समय उनके खिलाने-पिलाने का शौक देखते ही बनता है। जब उनके घर कोई श्रतिथि श्रा जाता है तो ऐसा लगता है मानो वह प्रत्येक सुस्वादु भोजन के पारगत है। मित्रों श्रथवा जरूरतमद लोगों की श्रार्थिक सहायता वह सदैव श्रावश्य-कता श्रथवा याचना से श्रधिक मात्रा मे करते हैं। श्रपने लिए एक-एक धेले का हिसाब रखने वाली उनकी कृपणता उस समय न जाने कहा छिप जाती है। सार्वजनिक जीवन में टंडनजी ने जितने श्रधिक निर्धन छात्रों, निराश्रित विधवाश्रो, श्रल्पवित्त कन्याश्रों के पिता तथा दैवी विपत्ति में ग्रस्त मित्रों की श्रार्थिक सहायता की है, उतनी कोई दानवीर सेठ-साहूकार ही कर सकता था। श्रपने कितने मित्रों को वह श्राज भी चुपचाप सहायता भेजते रहते हैं। श्रौर उस समय उनकी नाराजगी का पता लगता है जब कभी उनकी ऐसी सहायताश्रों की चर्चा होती है। ऐसी सहायता वह गुप्त भाव से करते रहते है श्रौर उसे सदैव गुप्त ही रखना चाहते है।

टडनजी की यदि कोई जीवन-साधना है तो वह राष्ट्र श्रौर हिन्दी की सेवा है। राष्ट्र श्रौर हिन्दी के लिए ही उनके जीवन का श्रधिकाश समय बीता है। श्रपने शरीर श्रौर परिवार की चिन्ता छोडकर उन्होंने इन दोनों की सेवा की है श्रौर इन्ही दोनो के लिए श्राज भी चिन्तित रहते है। राष्ट्र की सेवा के लिए श्रपने श्रनेक सक्षम साथियो पर उनका विश्वास है; किन्तु जिस ढग से वह राष्ट्र का निर्माण देखना चाहते हैं, वैसा बहुत कम हो रहा है, जिसकी उन्हें चिन्ता रहती है। श्रौर हिन्दी की चिन्ता तो उनके शरीर के साथ ही जायेगी। दुर्भाग्यवश उनकी प्राणप्रिय सस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन पर श्राज वैधानिक विपत्ति के बादल छाये हुए है। उनका स्वप्न था कि श्राज स्वातत्र्योत्तर भारतवर्ष मे सम्मेलन द्वारा हिन्दी-उत्थान के बडे-बडे कार्य होते, किन्तु यह स्वप्न पूरा नही हो पा रहा है। इसी प्रकार हिन्दी के मार्ग में श्रनुदिन श्राने वाली बाधाएं भी उनके लिए कम चिन्ताकारक नहीं हैं। किन्तु फिर भी वह महान श्राशा-वादी है। श्राज भी श्रपनी शक्ति श्रौर साधनों का उपयोग वह इन्ही कामो मे करते रहते हैं। श्रपनी श्रौषधि या उपचार की श्रपेक्षा श्रधिक ध्यान वह इन्ही बातो पर देते है।

श्रब उनके स्वभाव की एक विशेषता की श्रौर चर्चा करके मै श्रपना लेख समाप्त करता हूं। टडनजी को श्रपने जीवन-क्रम मे जिस एक बात से चिढ है, वह है श्रात्मप्रशंसा या श्रात्मोपाख्यान। श्रपने सम्बन्ध में प्रशसा की बाते न वह सुनना चाहते हैं श्रौर न प्रसंग श्राने पर सुनाना ही चाहते हैं। श्रभिनन्दनादि से भी वह बराबर कतराते रहे हैं। कुछ ही वर्ष बीते, श्रभी एक बार प्रयाग के एव देश के प्रमुख साहित्यकारों ने उनके श्रभिनन्दन का एक विशाल श्रायोजन रचा था। काम कुछ श्रागे भी बढ गया था किन्तु उन्होंने न केवल उसमे भाग न लेने का ही निश्चय किया, वरन उन मित्रों तथा शुभैषियों को बलात रोका भी। दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा श्रायोजित इस समारोह की सूचना सर्वप्रथम मुझे जब मिली श्रौर मैने कुछ श्रावश्यक सूचनाश्रो श्रौर सामग्रियों के लिए उन से याचना की तो इन्होंने मुझे यह कहकर श्रनुत्साहित किया कि "उन्हे (श्रायोजकों) लिख दो कि ऐसे किसी भी समारोह में मै भाग नहीं लूगा। उन्हें श्रपनी कार्यशक्ति किसी रचनात्मक कार्य में लगानी चाहिए। मै श्रपना श्रभिनन्दन नहीं कराना चाहता श्रौर न

मुझे इन अभिनन्दन-ग्रंथादि के प्रति कोई आसक्ति ही है। ये सब व्यर्थ के काम हैं", आदि-आदि। मैं एक-आध बार तो निराश होकर वापस चला आया, किन्तु जब कभी मैंने उनसे इसकी चर्चा की तब बराबर मुझे वही वाक्य सुनने को मिले। आज के इस प्रचारात्मक युग मे टडनजी के समान आत्मनिरपेक्ष किन्तु आत्मबलिदानी कितने सुपुत्रो को हमारी राष्ट्रभूमि ने जन्म दिया है, जो

प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा गौरवं घोररौरवम्।
मानं चैव सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भव ।।

को अपने व्यक्तिगत जीवन में चरितार्थ करते दिखाई पडते हैं।

परमात्मा से प्रार्थना है कि राष्ट्र और राष्ट्रभारती के अभ्युत्थान और कल्याण के लिए उनके इस यशस्वी पुत्र को चिरारोग्य प्राप्त हो।

यशस्वी जीवन की महत्त्वपूर्ण तिथियां

(संकलन)

जन्म––अधिक श्रावण मास, कृष्ण पक्ष, द्वितीया, मगलवार, सौर १८ कर्क, सम्वत १९३९ विक्रमी, तदनु-१ अगस्त, सन १८८२ ई०।

विवाह––आयु के १५वे वर्ष में, हाई स्कूल परीक्षा के उपरान्त ज्येष्ठ मास में।

१८९९ के काग्रेस लखनऊ-अधिवेशन मे स्वयसेवक।

प्रथम सन्तान · सन १९०० में।

सन १९०५ मे काशी-काग्रेस के अध्यक्ष श्री गोखलेजी के अगरक्षक।

सन १९०६ मे कलकत्ता की काग्रेस मे प्रतिनिधि।

वकालत . १९०६ से छोटी अदालत मे, १९०८ से इलाहाबाद हाईकोर्ट मे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधानमत्री . १० अक्तूबर १९१० को सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी मे हुआ। उसी में आप सम्मेलन के प्रधान मत्री चुने गए।

सन १९१४ मे नाभा रियासत के कानूनी सचिव तथा विदेशमन्त्री हुए। वहा १९१६ तक रहे।

सन १९१८ मे इलाहाबाद मे हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की।

इलाहाबाद म्यूनिसपल बोर्ड के चेयरमैन · १९१९ में।

७ दिसम्बर, १९२१ में काग्रेस स्वयसेवको के प्रबन्धक होने के अपराध में गिरफ्तार हुए और डेढ वर्ष की सजा हुई।

सन १९२३ मे प्रान्तीय काग्रेस के गोरखपुर-अधिवेशन के अध्यक्ष।

१९२३ मे कानपुर मे हुए सम्मेलन के १३वे अधिवेशन के सभापति।

पजाब नेशनल बैंक से सम्बन्ध पजाबकेसरी लाला लाजपतराय के कहने पर मई, १९२५ मे लाहौर-स्थित प्रधान कार्यालय मे सयुक्त सेक्रेटरी। कुछ समय बाद सेक्रेटरी तथा जनरल मैनेजर, अगस्त १९२९ तक।

लोक सेवक मडल के अध्यक्ष . जनवरी १९२९ मे।

१९३० मे केन्द्रीय 'किसान सघ' की स्थापना की।

१९३० मे बस्ती जेल मे, ३ मास की सजा तथा जुर्माना।

१९३१ मे गोडा जेल मे रहे।

१९३२ मे गोरखपुर जेल मे रहे।

१९३७ मे युक्तप्रान्तीय विधान सभा के अध्यक्ष।

अप्रैल, १९४० मे गिरफ्तार व नजरबन्द, नैनी व फतहगढ जेल मे।

साल भर बाद रिहाई और ९ अगस्त, १९४२ को पुन. गिरफ्तार।

लगभग २६ महीने बाद सन १९४४ में अस्वस्थता के कारण रिहा।

१९४६ में प्रान्तीय विधान सभा के सदस्य चुने गए और बाद मे अध्यक्ष ।

१९४७ मे हिन्द रक्षक दल की स्थापना की।

जुलाई, १९४८ मे प्रान्तीय काग्रेस कमेटी के अध्यक्ष ।

१९५० मे अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी के अध्यक्ष ।

१९५१ मे उसी कांग्रेस-अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दिया ।

१९४६ मे प्रान्तीय विधान सभा के सदस्य चुने गए और बाद मे अध्यक्ष ।

जुलाई, १९४८ मे प्रान्तीय काग्रेस के अध्यक्ष ।

१९५० मे अ० भा० कांग्रेस के अध्यक्ष ।

कुछ विशेष घटनाएं

१९०५ मे बगभंग-आन्दोलन के समय विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार के सिलसिले मे चीनी खाना छोड दिया और खडसारी का प्रयोग करने लगे । कुछ वर्ष बाद खडसारी का उपयोग भी छोड दिया और केवल गुड तथा लाल शकर का उपयोग करने लगे ।

१९०७ मे चमडे का जूता पहनना छोड दिया ।

सन १९२१-२२ मे लखनऊ जेल मे नमक खाने का परित्याग ।

१९०७-८ मे इलाहाबाद के 'अभ्युदय' का अवैतनिक सम्पादन ।

१९१८ मे इलाहाबाद मे हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना और उसके प्रथम आचार्य ।

अभिनन्दन !

श्री सोहनलाल द्विवेदी

आज युगों के बाद, राष्ट्र में जनता की हुकार उठी,
जय भारत की, जय गांधी की अंबर तक झंकार उठी।
मेरा कौन, कौन तेरा है, चोटी पर ललकार उठी,
कोटि करों ने तुझे वर लिया, हर्ष-ध्वनि की ज्वार उठी।
जय यह तेरी नहीं, विजय है यह जनमत की, बहुमत की,
जय यह तेरी नही, विजय है यह स्वतंत्र नव भारत की।
बन उत्तर प्रदेश का गर्जन तू जग को ललकार चुका,
बन भाषा का भाग्य-विधाता कर मां का शृंगार चुका।
गगा यमुना अमृत दुग्ध दे तुझको बहुत दुलार चुकी,
गोदावरी गोद लेने को तुझको आज गुहार उठी।
आगे बढ, सबसे आगे, प्रत्यंचा में टकार हुई,
जननी की प्रतिमा सँवारने तेरी दूर पुकार हुई।
ऐ मेरे राजर्षि ! अधिक इससे क्या होगा अभिनंदन !
नही भक्त ही, पर विभक्त भी करते हैं तेरा वंदन !
तू सुमेरु-सा रहा अचल ही बही पवन झंझा आंधी,
तेरा मस्तक नहीं झुका तेरे प्रण पर, मेरा गांधी !!
पा तेरा अनुराग त्याग शाश्वत हिलोर ले तरुणाई !
भर उमंग, फहरा तिरंग-ध्वज बढ़े राष्ट्र ले अंगणाई !

सम्पादक—
नगेन्द्र
विजयेन्द्र स्नातक

सम्पादकीय

राजर्षि अभिनन्दन ग्रंथ के साहित्य खंड में हिन्दी भाषा और साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखकों के लेख संकलित हैं। इन लेखों के चयन में हमने विद्वान् लेखकों की अभिरुचि को ही प्रमाण माना है। हिन्दी साहित्य के एक सहस्र वर्ष के दीर्घकालीन इतिहास में साहित्यिक प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, काव्यरूपों और अभिव्यंजना-शैलियों का इतना वैविध्य है कि उन सबका, परिमित पृष्ठों में एकत्र समाहार करना सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त हमारा उद्देश्य भी अभिनन्दन-ग्रथ में हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक लेखा-जोखा प्रस्तुत करना नही रहा है, अतः लेख सग्रह करने में ऐसी किसी योजना को सामने नहीं रखा है। फिर भी इस खंड के निबन्धों की विषय-सूची इतनी व्यापक और विशद है कि उसकी परिधि में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की विविध प्रवृत्तियों का पर्यालोचन सहज रूप में आ गया है।

हमारे अनुरोध पर जिन विद्वान् लेखकों ने अपने लेख भेजकर इस पवित्र अनुष्ठान में सहयोग दिया है, हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता और आभार प्रकट करते हैं।

हिन्दी के आदिकाल का शैव साहित्य

डा० माताप्रसाद गुप्त

'प्राकृत पैंगल' पुरानी हिन्दी के उन आकर ग्रंथों मे से है जिन पर हमारा ध्यान अभी तक यथेष्ट रूप मे नही गया है। कुछ पूर्व तक इसके दो सस्करण प्रकाशित थे . एक १८९५ ई० मे छपा निर्णयसागर प्रेस बम्बई का था, और दूसरा १९०२ ई० में छपा श्री चन्द्रमोहन घोष द्वारा सम्पादित बगाल की एशियाटिक सोसाइटी का था। दोनो सस्करण इस समय अप्राप्य हो गए थे और यह प्रसन्नता की बात है कि इसका एक सस्करण, कुछ ही मास हुए, डा०भोलाशकर व्यास द्वारा सम्पादित होकर वाराणसी की प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी (प्राकृत ग्रन्थ-परिषद) द्वारा प्रकाशित हुआ है।

'प्राकृत पैंगल' मे प्राकृत मे प्रयुक्त छन्दो के लक्षण देते हुए १६० के लगभग उदाहरण दिये गए है। कुछ अपवादो को छोडकर इस प्राकृत का रूप पुरानी हिन्दी से बहुत मिलता-जुलता है, जैसा बाद मे उद्धृत छन्दो से स्वत: ज्ञात होगा। इन छन्दो मे से जिनका रचना-काल प्राय. निश्चित माना जा सकता है, सबसे प्राचीन कदाचित वे है जो राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' से लिये गए हैं,[1] जिसका रचना-काल १००० ई० के लगभग होना चाहिए।[2] इसी प्रकार सबसे बाद के छन्दो मे वे आते है जो हम्मीर के सम्बन्ध के है, जिनका प्राणान्त अलाउद्दीन के साथ हुए युद्ध मे १३०१ ई० में हुआ था।। इस प्रकार 'प्राकृत पैंगल' मे उदाहरणो के रूप में दिये गए छन्द प्राय १००० से १३०० ई० के बीच रचे गए प्रतीत होते है।

हिन्दी साहित्य के इन तीन-सौ वर्षों का इतिहास अब भी अधकार में है। इसलिए 'प्राकृत पैंगल' हिन्दी साहित्य के इस आदिकाल को जानने-समझने के लिए एक अत्यत मूल्यवान साधन है। इसी दृष्टि से यहां 'प्राकृत पैंगल' के उन छंदों पर विचार किया जा रहा है जिनमे शिव अथवा पार्वती से सम्बन्धित के कथन आते है। ऐसे शब्द बत्तीस हैं और उदाहरण के लिए दिये हुए समस्त छन्दो के २० प्रतिशत हैं। फलत. शिव-पार्वती-विषयक इन शब्दो पर विस्तार के साथ विचार करने की आवश्यकता है। इन छन्दों को देखने पर लगता है कि हिन्दी के आदिकाल मे जिस प्रकार जैन काव्य लिखे गए, बौद्ध काव्य-रचना हुई, नाथ-पथ का साहित्य लिखा गया, उसी प्रकार कुछ-न-कुछ शैव साहित्य भी रचा गया। अतर यह पडा कि जैन, बौद्ध और नाथ-साहित्य भाडारो, विहारो और सम्प्रदायो मे सुरक्षित रह सके, पर यह शैव साहित्य धीरे-धीरे लुप्त हो गया।

ये छन्द कई प्रकार के हैं · कुछ छन्द तो शिव-पार्वतीचरित से सम्बन्ध रखते है, कुछ शिव-पार्वती-वन्दना के हैं, कुछ उनसे की गई विनय या याचना के है और कुछ इस प्रकार के हैं जिनमे यह कहा गया है कि शिव-पार्वती

---

१. प्राकृत पैंगल २. १०७, २. १५१, २. १८७, २. १८९, २. २०१।

२. कलचुरि-नरेश युवराजदेव (द्वितीय) के समय का बिल्हारी (जिला जबलपुर) का एक शिलालेख नागपुर-संग्रहालय में है जिसका एक अंश किसी सिरुक की रचना है। इस अंश में उसने राजशेखर का उल्लेख किया है। इस लेख में तिथि नही दी हुई है, न युवराजदेव की निश्चित तिथियां ज्ञात है। किन्तु कीलहार्न का, जिन्होंने उक्त शिलालेख का सम्पादन किया है, मत है कि यह लेख १० वीं शताब्दी ई० के अन्त अथवा ११वी शताब्दी ई० के प्रारम्भ का होना चाहिए। (इपिग्राफिया इंडिका, भाग १, पृष्ठ २५१-२७०)

पाठक-श्रोता का कल्याण करे। नीचे इन चारो प्रकार के छन्दो को 'प्राकृत पैंगल' के श्री घोष द्वारा सम्पादित उपर्युक्त संस्करण से उद्धृत किया जा रहा है और सुविधा के लिए उनका हिन्दी में आशय भी साथ-साथ दिया जा रहा है।

चरितात्मक छन्द

(१) १.३ : **माई रूए हेम्रो हिण्णो जिण्णो म वुड्ढम्रो देम्रो।**
सभुं कामंती गोरी सा गहिलत्तण कुणइ ॥

"गौरी का वरण करने के लिए बारात को लेकर आये हुए वर महादेव को देखकर गौरी की सखियां कहती है, हे सखी, देव (महादेव) रूप मे हेय, हीन, जीर्ण तथा वृद्ध है; ऐसे शभु (के वरण) की कामना करती हुई वह गौरी पागलपन कर रही है।"

(२) २.१२० : **बालो कुमारो स छ मुंडधारी।**
उप्पाउ हीणा हउ एक्क णारी।
ग्रहंणिसं (ग्रहण्णिसं) खाहि बिसं भिखारी।
गई भविस्सी किल का हमारी।

पार्वती अपने पारिवारिक जीवन पर दृष्टिपात करते हुए चिन्ता कर रही है "कुमार (कार्तिकेय) बालक है, और वह भी छ सिरो का है, मै उपायहीना अकेली नारी हू, (मेरा भर्त्ता) दिन-रात विष खाता है और भिक्षुक है, अत. मेरी क्या गति होने वाली है ?"

(३) २.२०९ : **पहु विज्जिम्र बज्जम्र सिज्जिम्र टोप्पर**
कंकण बाहु किरीट सिरे।
पइ कण्णहि कुंडल णं रइ मंडल
ठाविम्र हार फुरंत उरे।
पइ अंगुलि मुद्धरि हीरहि सुदरि
कंचण रज्जु सुमज्झ तणू।
तसु तूणउ सुंदर किज्जिम्र मंदर
ठावहु बाणहु सेस धणू।

त्रिपुर-दाहोद्यत शिव का वर्णन किया जा रहा है : प्रभु (महादेव) ने वज्र से निर्मित टोप (शिरस्त्राण) धारण किया, बाहुओ मे कंकण तथा सिर पर किरीट पहना। प्रत्येक कान में उन्होने (ऐसा) कुण्डल (पहिना) जो मानो रविमण्डल हो और उस पर स्फुरित होता हुआ हार स्थापित किया। प्रत्येक उगली मे उन्होने हीरे की सुन्दर मुद्रिका (पहिनी) और शरीर के मध्य मे (कटि मे) उन्होंने काचन की रस्सी (बाधी), उन्होने मन्दर को सुन्दर तूण (तरकस) बनाया और शेष के धनुष पर (शेष को धनुष बनाकर) (उस पर) बाण स्थापित किया।

डा० भोलाशकर व्यास ने लिखा है कि यह किसी युद्धोद्यत राजा की सज्जा का वर्णन है।[1] अर्थ देते हुए उन्होने छन्द के चतुर्थ चरण का अर्थ कदाचित भूल से नही दिया है, किन्तु चतुर्थ चरण की सगति किसी युद्धोद्यत राजा के सम्बन्ध मे किसी प्रकार बैठती नही दिखाई पड़ती है।

(४) १.२०९ : **जइ मित्त धणेस। ससुर गिरीस।**
तहबिहु पिंधण दीस।
गइ अमिग्रह कंवा णिग्रलहि चंदा
तहबिहु भोग्रण बीस।

१ प्राकृत पैंगलम् (डा० भोलाशकर व्यास द्वारा सम्पादित), पृ० ३०३।

जइ कणअ सुरंगा गोरी अधंगा
तहविहु डाकिणि संग।
जो जसुहि दिआवा देव सहावा
कबहु ण हो तसु भंग॥

शिव के मौजी स्वभाव की आलोचना करते हुए कोई कह रहा है, "यद्यपि उनके मित्र धनेश (कुबेर) है, श्वसुर गिरीश (हिमालय) है, तथापि उनका परिधान दिशाए है (वे नग्न ही रहते है), यद्यपि अमृत-कन्द चन्द्र उनके निकट (रहता) है, तथापि उनका भोजन विष है, यद्यपि कनक के सुन्दर वर्ण वाली गौरी उनकी अर्धांगिनी है, तथापि डाकिनिया उनके सग रहती है। बात यह है कि दैव ने जिसको जो स्वभाव दे दिया, वह कभी भग नही होता है (जाता नही है)।

ये चारो छन्द शिव-चरित-सम्बन्धी किसी प्रबन्ध-काव्य मे ही हो सकते है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। ये चारों चार प्रसगो के है, इसलिए यह असम्भव नही है कि किसी एक ही प्रबन्ध-काव्य मे ये चारो लिये गए हो, किन्तु यह भी सम्भव है कि ये छन्द एक से अधिक प्रबन्ध-काव्यो से लिये गए हो।

वंदनात्मक छन्द

(५) १.८२ : **जा अद्धंगे पव्वई सीसे गंगा जासु।**
जो लोआणं वल्लहो बंदे पाअं तासु॥

जिसके अर्धांग मे पार्वती है, जिसके सिर पर गगा है, जो लोको के वल्लभ (प्रिय) है, उन (शिव) के पैरो की मै वन्दना करता हू।

(६) १.१९५ : **सिर किज्जिअ गंगं गोरि अधंगं**
हणिअ अणंगं पुरदहणं।
किअ फणिवइ हारं तिहुअण सारं
बंदिअ छारं रिउ महणं।
सुरसेविअ चरणं मुणिगण सरणं
भवभअ हरणं सूलधरं।
साणंदिअ वअण सुन्दर णअण
गिरिवर सअणं णमह हरं॥

जिन्होंने सिर पर गगा को और अर्धांग मे गौरी को (धारण) किया है, जिन्होंने अनग (काम) का हनन और त्रिपुर का दहन किया है, जिन्होने फणपति को हार बनाया है, जो त्रिभुवन के सार है, जिन्होने राख की वन्दना की है (उसे मस्तक पर धारण किया है) और जो रिपु-मथन है, जो सुरो द्वारा सेवित चरणो वाले हैं, और मुनिगण के शरण-स्थान, भव-भय का हरण करनेवाले तथा शूलधर है, जो आनन्दयुक्त वदन वाले, सुन्दर नयन वाले तथा गिरिवर (कैलाश) पर शयन करने वाले है, उन हर को नमस्कार करता हू।

(७) २.२०१ . यह छन्द राजशेखर की 'कर्पूरमजरी' से है, और प्राकृत के ऐसे रूप मे है जो पुरानी हिन्दी से काफी भिन्न है, इसलिए इसे यहा नही दिया जा रहा है।

इनमे से अधिकतर छन्द, हो सकता है, किन्हीं रचनाओं के प्रारम्भ मे दी गई शिव-वन्दना से लिये गए हो।

विनयात्मक छन्द

(८) २.६ : **हर हर। मम मल॥**

हे हर, मेरे मल (पापो) का अपहरण करो!

(९) २.१४ : **संकरो। संकरो पाउणो। पाउणो॥**

कल्याण करने वाले, शंकर हमारी रक्षा करे, हमारी रक्षा करे।

(१०) २.१६ : **भवाणी हसंती। दुरित्तं हरंती॥**

हसती हुई भवानी मेरे दुरित का अपहरण करे (?) !

(११) २.४२ : **जुभंगी उद्दामे। कालिका संगामे।**
णच्चंती हम्मारो। दुरित्ता संहारो॥

संग्राम मे उद्दाम युद्ध करती हुई कालिका, नृत्य करती हुई हमारे दुरित का संहार करो।

(१२) २.३४ : **उद्दंडा चंडी दुरित्ता खंडी।**
तेलोक्का सोक्खं। देऊ मे मोक्खं॥

ऐ उद्दंडा चंडिके, मेरे दुरितो का खंडन कर मुझे त्रैलोक्य-सौख्य और मोक्ष दो।

(१३) २.४८ : **गव्वरिअ कंता। अभिणउ संता।**
जइ परसण्णा। दिअ महि धण्णा॥

हे अभिनय (ताण्डव) से श्रांत गौरी-कान्त, यदि तुम प्रसन्न हो तो मुझे धन दो।

(१४) २.६६ : **णिसुंभ सुंभ खंडिणी। गिरीस गेह मंडिणी।**
पअंड मुंड खंडिआ। पसण्ण होउ चंडिआ॥

निशुंभ और शुंभ का खंडन करने वाली, गिरीश (कैलाशपति) के गृह का मंडन करने वाली, प्रचंड मुंड (नामक दैत्य ?) का खंडन करने वाली हे चंडिके, प्रसन्न हो !

(१५) २.७७ : **मुंड माला गला कंठिआ, णाअराआ भुआ संठिआ।**
बग्घ छाला किआ वासणा, चंडिआ पाउ सिंहासणा॥

मुंडमाला जिसके गले की कंठी है, नागराज जिसकी भुजा मे संस्थित है, जिसने व्याघ्र-चर्म को वसन बनाया है, वे सिंहासना (सिंह-वाहिनी) चंडिका मेरी रक्षा करे।

(१६) २.१३८ : **कमल वअण तिणअण हर, गिरिवर सअण तिसुलधर।**
ससहर तिलअ पलअकर, वितरउ मह अभिमत वर॥

हे कमल-वदन त्रिनयन हर, गिरिवर-शयन और त्रिशूल-धर, शशधर (शशांक) को तिलक के रूप मे धारण करने वाले प्रलयंकर, मुझे अभिमत वर वितरित करो !

(१७) २.१५५ : **तुअ देव दुरित्त गणा हरणा चरणा।**
जइ पावउ चंदकलाभरणा सरणा।
परिपूजउ तेज्जिअ लोभ मणा भवणा।
सुख दे मह सोक विणास मणा समणा॥

हे चन्द्रकला के आभरण वाले देव, यदि मै दुरित-गण का हरण करने वाले तुम्हारे चरणों की शरण पाऊ तो मन से भव के लोभ को त्यागकर मै तुम्हारा परिपूजन करू; हे लोगो के शोक-विनाश मे दत्तचित्त, शान्ति देने वाले, मुझे सुख दो।

इन विनयात्मक या याचनात्मक छंदो की स्थिति उतनी स्पष्ट नही है; हो सकता है कि ये किसी विनयात्मक मुक्तक-संग्रह से लिये गए हो, और यह भी हो सकता है कि इनकी रचना 'प्राकृत पैंगल' के रचयिता ने स्वयं उदाहरण-पूर्ति के लिए की हो, अथवा अंशत. एक बात हो और अंशत. दूसरी।

आशीर्वादात्मक छंद

(१८) १.९८ : **जसु सीसइ गंगा गोरी अधंगा**
गिव पहिरिअ फणिहारा।

कंठट्ठिय बीसा पिंधण बीसा
संतारिश्र संसारा।
किरणावलि कंदा बंदिश्र चंदा
णश्रणहि श्रणल फुरंता।
सो संपश्र दिज्जउ बहु सुह किज्जउ
तुम्ह भवाणी कंता॥

जिसके सिर पर गगा है, अर्धांग मे गौरी है, और जिसने गले मे सर्पों का हार पहन रक्खा है, जिसके कठ मे विष स्थित है, जिसका परिधान दिशाए है, और जिसने ससार को तारा है, जिसने किरणावलि के कद (समूह) चन्द्र को (मस्तक पर रखकर) वदन किया है, जिसके नेत्रो मे अनल स्फुरित होता है, वह भवानीपति (शिव) तुम्हे सपत्ति दें और बहुत सुख (प्रदान) करे।

(१९) १.१०१ : **रणदक्ख दक्ख हणु जिण्णु कुसुमधणु**
अंधश्र गंध बिणासकरु।
सो रक्खउ संकर असुर भग्रंकर
गिरिणाश्ररि श्रद्धंग धरु॥

जिन्होने रणदक्ष दक्ष का हनन किया, कुसुम-धनु (काम) को जीता, जो अधक और गध (नाम के राक्षसों) का विनाश करने वाले है, जो असुरो के लिए भयकर, गिरि-नागरी (पार्वती) को अर्धांग मे धारण करने वाले है, वे शकर तुम्हारी रक्षा करे।

(२०) १.१११ **जसु कर फणिबइ बलश्र तरुणिबर तणुमह बिलसइ।**
णश्रण श्रणल गल गरल बिमल ससहर सिर णिबसइ।
सुरसरि सिरमह रहइ सश्रल जण दुरित दमणकर।
हसि ससिहर हरउ दुरित बितरह श्रतुल श्रभश्र बर॥

जिसके कर मे फणपति वलय (सदृश) है, जिसके शरीर में श्रेष्ठ तरुणी (पार्वती) सुशोभित है, जिसके नेत्रो मे अनल, गले मे गरल और सिर मे विमल शशधर (शशाक) निवास करते है, जिसके सिर मे सुरसरिता रहती है, और जो समस्त जनो के दुरित का दमन करने वाले है, वे शशिधर (शिव) हँसकर दुरित का अपहरण करे और अतुलित अभय वर का वितरण करे।

(२१) १.११९ : **जाश्रा जा श्रद्धंग सीस गंगा लोलंती।**
सब्बासा पूरंति सब्ब दुक्खा तोलंती।
णाश्रा राश्रा हार दीस बासा भासंता।
बेश्राला जा संग णट्ठ दुट्ठा णासंता॥
णाचंता कंता उच्छबे ताले भूमी कंपले।
जा दिट्ठे मोक्खा पाबिज्ज सो तुम्हाणं सुक्ख दे॥

जिनके अर्धांग मे जाया (स्त्री) है, और जिनके सिर पर गगा चपल हो रही है, जो समस्त आशाओ को पूरा करते और समस्त दु.खों को तोडते है, जिनका हार नागराज है, दिशाएं जिनके वस्त्रो मे सुशोभित है, वेताल जिनके साथ मे रहते है और जो दुष्टो को नष्ट करते है, जो उत्सव मे सुन्दर ढग से नाचते है, जिनके ताल पर भूमि काप उठती है, जिनको देखने से मोक्ष प्राप्त होता है, वे (शिव) तुम्हे सुख दें।

(२२) १.१७६ : **जसु चंद सीस, पिंधणह दीस।**
सो संभु एउ, तुह सुम्भ देउ॥

जिसके सिर पर चन्द्रमा है, जिसका परिधान दिशाए है, वे शंभु तुम्हे शुभ (कल्याण) दे।

(२३) २.२ : **गोरी। रक्खो॥**

गौरी तुम्हारी रक्षा करे !

(२४) २.८ : **सई उमा। रक्खो तुमा॥**

सती उमा तुम्हारी रक्षा करे !

(२५) २.१० : **संभु देउ। सुब्भ देउ॥**

शभुदेव तुम्हे शुभ (कल्याण) प्रदान करे !

(२६) २.१२ : **तुम्हाणं, अम्हाणं, चंडेसो, रक्खे सो॥**

वह चडेश (शिव) तुम्हारी और हमारी रक्षा करे !

(२७) २.२० : **सो देउ सुक्खाइ। संघारि दुक्खाइ॥**

वे (शिव ?) दु खो का सहार कर (तुम्हे) सुख दे !

(२८) २.२४ : **सो हर तोहर। संकट संहर॥**

वे हर तुम्हारे संकट का सहार करे !

(२९) २.२० : **देउ देउ, सुभम देउ।**
जासु सीस। चंद दीस॥

देव-देव (महादेव), जिनके सिर पर चन्द्रमा दीखता है, (तुम्हे) शुभ प्रदान करें !

(३०) २.१०५ : **पिंग जटावलि ठाविअ गंगा।**
धारिअ णाअरि जेण अधंगा।
चंदकला जसु सीसहि णोक्खा।
सो तुह संकर दिज्जउ मोक्खा॥

जिनकी पीली जटावली मे गगा स्थापित है, जिन्होने अर्धांग मे नागरी (पार्वती) को धारण कर रक्खा है, जिसके सिर पर अनोखी चन्द्रकला है, वह शकर तुम्हे मोक्ष दे !

(३१) २.१२३ : **जासू कंठा बीसा दीसा सीसा गंगा।**
णाआराआ किज्जे हारा गोरी अंगा।
गंते (गत्ते) चम्मा मारू कामा लिज्जे कित्ती।
सोई देऊ (देओ) सुक्खं देओ तुम्हा भत्ती॥

जिनके कंठ मे विष है, और सिर पर गगा दीखती है, जिन्होने नागराज को हार बनाया और गौरी को अग मे कर लिया है, जिनके गात्र पर चर्म है, और जिन्होने काम को मार कर कीर्ति प्राप्त की है, वे ही देव (शिव) तुम्हे सुख दे और भक्ति दे !

(३२) १.१०४ : **जो बंदिअ सिर गंग हणिअ अणंग**
अद्धंगहि परिकर धरणु।
सो जोई जण मित्त हरउ दुरित्त
संका हर संकर चरणु॥

जिन्होंने सिर मे गगा (को धारण कर उन) की वदना की है और अनंग का हनन किया है, जो अर्धांग मे कलत्र को धारण करते है, वह जो (अपने) जनो के मित्र है, वे शका हरण करने वाले शकर के चरण (तुम्हारे) दुरितो का हरण करे !

इन आशीर्वादात्मक छन्दो की भी स्थिति बहुत स्पष्ट नही है। दो बाते सभव है . इस प्रकार के आशीर्वादात्मक छन्द प्राय· काव्यो के अन्त मे आते है, और हो सकता है ये छन्द उसी प्रकार के हों, अथवा यह भी सम्भव है कि इन छन्दो की रचना 'प्राकृत पेंगल' के रचयिता ने उदाहरण-पूर्ति के लिए स्वय करली हो; और यह भी सम्भव है कि

कुछ छन्द एक प्रकार से आए हों और शेष छन्द दूसरे प्रकार से आए हो। पहली स्थिति में तो यह भी मानना पडेगा कि इस प्रकार के छन्द अनेक रचनाओ मे आए होगे, क्योकि इस प्रकार के आशीर्वादात्मक छद, जो कि बहुत-कुछ एक ही आशय के है, एक ही एक ऐसी प्रत्येक रचना के अन्त मे रहे होगे।

उपर्युक्त चारों प्रकार के छन्दो मे जो बात सामान्य रूप मे परिलक्षित होती है वह यह है कि शिव-पार्वती के सम्बन्ध मे इनके रचयिताओ के मन मे भक्ति है, और प्राय. ये सभी छन्द उसी भक्ति से प्रेरित होकर रचे गए है। इसलिए यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उत्तरी भारत मे हिन्दी के आदिकाल मे शिवभक्ति का प्रचार अवश्य था और उस भक्ति से प्रेरित होकर काव्य-रचना भी होती थी।
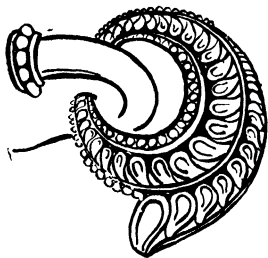
ध्यान-सम्प्रदाय

डा० भरतसिंह उपाध्याय

छठी शताब्दी ईसवी में एक आदमी हिन्दुस्तान चीन में गया। वह अपने साथ न कोई शास्त्र ले गया और न सूत्र। न उसने कोई ग्रन्थ लिखा और न कभी किसी को कोई धर्मोपदेश ही किया। पहले लोगों ने उसे विक्षिप्त समझा और उसकी उपेक्षा की। उसने भी कभी किसी से समझने योग्य भाषा में बातें नहीं की। नौ वर्ष तक वह एक मठ में ध्यान करता रहा और एक दिन बिना किसी से कुछ कहे-सुने चल दिया। लोगों ने देखा कि साधु पर्वतों के मार्ग में नंगे पैर चला जा रहा है और एक जूता हाथ में लिये है। पता नहीं वह भारत लौटकर आया या चीन में ही मर गया, परन्तु इतना मालूम है कि यही वह आदमी है जो चीन और जापान के धार्मिक इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ गया है और उसने अध्यात्म-साधना की एक ऐसी गतिशील शक्ति पैदा की है जिसका प्रभाव न केवल सम्पूर्ण पूर्वेशिया की संस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन और जीवन-विधि पर व्यापक रूप से अंकित है, बल्कि जो विचारशील साधनों के जगत में आज दूर-दूर तक प्रसारगामी हो रहा है।

आचार्य बोधिधर्म एक विलक्षण योगी थे। वे एक भारतीय बौद्ध भिक्षु थे जिन्होंने सन ५२० या ५२६ ई० में चीन में प्रवेश किया। दक्षिण-भारत के कांचीपुरम के क्षत्रिय (एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्राह्मण) राजा सुगन्ध के वे तृतीय पुत्र थे। उनके गुरु का नाम प्रज्ञातर था जिनके आदेश पर वे चीन गए। बोधिधर्म ने अपनी यात्रा समुद्र द्वारा की और उसमें कुल तीन वर्ष लगे। वे चीन के दक्षिणी समुद्र-तट पर केण्टन बन्दरगाह में उतरे। बोधिधर्म बौद्ध भिक्षु थे, परन्तु उनकी आकृति में सौम्यता न थी और न व्यवहार में शिष्टता। सभ्य-जगत के मानदण्डों से वे ऊपर थे और उन्हें किसी की चिन्ता न थी। उनके रूप में कुछ विकरालता थी। बढ़ी हुई काली दाढ़ी, तनी हुई भृकुटियां और अन्तर्वेधिनी बड़ी-बड़ी आंखें! देखने में बड़े कठोर आदमी मालूम पड़ते थे। लोगों के पूछने पर उन्होंने अपनी आयु १५० वर्ष बताई। भारत से एक वृद्ध भिक्षु आया है, यह सुनकर उत्तरी चीन के तात्कालिक राजा वू-ति ने उनके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म चीन में द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग में ही व्यवस्थित रूप से प्रवेश पा चुका था और वू-ति एक श्रद्धावान बौद्ध उपासक था। उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अनेक कार्य किये थे। अनेक विहार बनवाये थे और संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवाद कराए थे। वह अपने पुण्य कार्यों के लिए भिक्षु का अनुमोदन और आशीर्वाद चाहता था। नानकिंग में बोधिधर्म की सम्राट वू-ति से भेंट हुई और दोनों में इस प्रकार संलाप चला :

वू-ति—भन्ते! मैंने अनेक विहार बनवाए हैं, संस्कृत धर्म-ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवाई हैं और अनेक लोगों को भिक्षु बनने की अनुमति दी है। क्या मेरे इन कामों में कोई पुण्य है?

बोधिधर्म—बिलकुल कोई नहीं।

वू-ति—तब फिर वास्तविक पुण्य क्या है?

बोधिधर्म—विशुद्ध प्रज्ञा, जो सूक्ष्म, पूर्ण, शून्य और शान्त है। परन्तु इस पुण्य की प्राप्ति इस संसार में सम्भव नहीं है।

वू-ति—पवित्र धर्म के सिद्धान्तों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कौन-सा है?

बोधिधर्म—जहा सब शून्यता है, वहां पवित्र कुछ भी नही कहा जा सकता ।

वू-ति—तब फिर मेरे सामने बात कौन कर रहा है ?

बोधिधर्म—मै नही जानता ।

उपर्युक्त सवाद के आधार पर हम बोधिधर्म को रूक्ष स्वभाव का मनुष्य मान सकते है । कुछ-कुछ अशिष्ट भी । सम्राट के प्रति कुछ आदर दिखाना तो दूर, उन्होने उसके पुण्य कार्यों का भी अनुमोदन नही किया । जिन कार्यों को बौद्ध शास्त्रो मे पुण्यकारी कृत्य बताया गया है उनको वैसा न बताकर उन्होने सम्राट के मन मे बुद्धि-भेद पैदा किया, उसे विभ्रमित किया । धार्मिक राजा की भावनाओ का उन्होने कुछ भी आदर नही किया । बौद्ध धर्म के प्रचार मे भी कुछ दिलचस्पी नही ली । परन्तु वस्तुत बात ऐसी नही है । बोधिधर्म के उत्तर ऊपर मे रूक्ष और अशिष्ट दिखाई देने पर भी सम्राट के प्रति करुणा से ओत-प्रोत है और बौद्धधर्म के उच्चतर सत्य की ओर उसे ले जाने वाले है । उन्होने अपने विलक्षण कठोर ढग मे उसे यही बताया कि विहार बनवाना और अन्य पुण्य कार्य करना अधिक महत्त्वपूर्ण नही है क्योकि वे अनित्य है, छाया के समान असत्य है । इस प्रकार अहभाव मे सम्राट को बचाकर शून्यता के उच्च सत्य का उन्होने उसे उपदेश दिया । उन्होने उससे उस अद्वय सत्य की ओर इशारा किया जो पुण्य और पाप, पवित्र और अपवित्र के द्वन्द्वात्मक विचारो से अतीत है । बोधिधर्म के व्यवहार मे एक असाधारण गौरव का भाव है जिसे कोई इच्छाओ वाला मनुष्य या जिसे अपनी सत्य-प्राप्ति पर गहरा विश्वास न हो, सम्राट के सामने प्रकट नही कर सकता था ।

चीनी सम्राट के साथ उपर्युक्त सवाद के बाद बोधिधर्म ने समझ लिया कि उसे उनसे अधिक लाभ होनेवाला नही है और न वह उन्हे समझ ही सकेगा । इसलिए उसके दरबार को छोडकर वे चीन के वेई नामक राज्य मे चले गए, जहा उनका अधिकतर समय इस राज्य की राजधानी लो-याङ् के 'शाश्वत शान्ति' (श्वा-लिन्) नामक बौद्ध विहार मे बीता । इस विहार का निर्माण पाचवी शताब्दी ईसवी के प्रथम भाग मे किया गया था । बोधिधर्म इस विहार के प्रथम दर्शन करते ही मन्त्र-मुग्ध जैसे हो गए थे । 'नमो' कहते हुए वे हाथ जोडे चार दिन तक इस विहार के सामने खडे रहे । उनका कहना था कि उन्होने कई देशो मे भ्रमण किया है, परन्तु इस प्रकार का भव्य और प्रभावपूर्ण विहार उन्होने कही नही देखा, बुद्ध के देश (भारत) मे भी नही । यही नौ वर्ष तक बोधिधर्म ने ध्यान किया । उनके ध्यान करने की एक बाह्य विशेषता यह थी कि वे दीवार के सामने मुह करके ध्यान करते थे । इसीलिए चीन मे वे 'दीवार की ओर ताकने वाले ब्राह्मण' के रूप मे प्रसिद्ध हो गए । लो-याङ् के जिस मठ मे बोधिधर्म ने ध्यान किया वह आज भी कुछ भग्न अवस्था मे विद्यमान है और ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षुओ का एक छोटा-सा सघ वहा आज भी निवास करता है ।

आचार्य बोधिधर्म ने चीन मे बौद्धधर्म के ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की । यह काम उन्होने स्थूल व्यवस्थाबद्ध सघ के रूप मे नही, बल्कि चेतना के आन्तरिक धरातल पर किया । उन्होने लम्बे काल तक मौन रहकर चीनी मत का अध्यनन किया, बड़ी कठोर और निर्मम परीक्षा लेकर कुछ अधिकारी व्यक्तियो को चुना, अपने मन से उनके मनो को, बिना कुछ बोले हुए, शिक्षित किया, सत्य का सन्देश उनकी चेतना मे प्रेषित किया और जब यह काम हो गया तो स्वय अन्तर्हित हो गए । भारतीय ज्ञान अपने देशकालज व्यक्तित्व को खोकर चीनी मानस मे समा गया । वह चीनी शरीर की धमकियो का रक्त बनकर प्रवाहित होने लगा, उसकी अपनी आध्यात्मिक सस्कृति का अग बन गया । यही काम बाद मे जापान मे हुआ । आचार्य बोधिधर्म के जीवन का कार्य यही है ।

बौद्ध साधना-पद्धति मे ध्यान का केन्द्रीय स्थान है । शील (सदाचार) के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (परम ज्ञान) की प्राप्ति । इतना ही बौद्ध-धर्म है । इस प्रकार शील और प्रज्ञा के बीच मे ध्यान की स्थिति है । जिसने जीवन मे सदाचार का विकास नही किया है उसका चित्त कभी समाधि को प्राप्त नही कर सकता और जिसे चित्त की समाधि प्राप्त नही है वह प्रज्ञा की अधिगति से भी दूर है । बिना ध्यान के प्रज्ञा नही है और बिना प्रज्ञा के ध्यान नही है । साधना की यह भूमिका बौद्धधर्म के सभी रूपो को मान्य है । अत सभी ने शास्ता के द्वारा सिखाई हुई ध्यान-पद्धति का अभ्यास अपनी-अपनी धातु और प्रकृति के अनुसार किया है । 'भिक्षुओ ! ध्यान करो । प्रमाद मत करो ।' भगवान की इस उद्‌बोधन-वाणी को सब युगों के बौद्ध साधको ने सुना है । शमथ और विदर्शना की

साधना सब बुद्ध-पुत्रो की सामान्य विचरण-भूमि है।

जबकि ध्यान की महिमा बौद्ध धर्म के सभी रूपो मे सुरक्षित है, 'ध्यान' नाम से एक विशिष्ट बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना और विकास चीन और जापान की धर्म-साधना की एक विशेषता है, जिसका वहा बीजारोपण करने वाले, जैसा हम अभी कह चुके हैं, आचार्य बोधिधर्म थे। भारतीय बौद्ध धर्म के लिखित इतिहास मे हमे उसके किसी ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख नही मिलता। न तो अशोक के काल तक उत्पन्न अष्टादश निकायों मे उसका कही उल्लेख है और न उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायो मे उसके अस्तित्व के कही चिह्न है; यद्यपि योगाचार (जिसका अर्थ ही योग का आचार या अभ्यास है) मत उसी की तरह योग (ध्यान) की साधना पर अवलम्बित था। यद्यपि पृथक ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण हमे नही मिलते, परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध के काल से ही भारत में अवश्य चली आ रही थी, ऐसा हम चीनी परम्परा के आधार पर कह सकते है। आचार्य बोधिधर्म ने चीन मे बताया कि ध्यान के गूढ रहस्यो का उपदेश भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य महाकश्यप को दिया था जिन्होने उसे आनन्द को बताया। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के आदि आचार्य महाकाश्यप थे और दूसरे आचार्य आनन्द। उसके बाद इस परम्परा मे २६ आचार्य और हुए जिनमे अन्तिम बोधिधर्म थे। इस प्रकार बोधिधर्म भारतीय ध्यान-सम्प्रदाय केअ ट्ठाईसवें और अन्तिम आचार्य थे। चीनी (और जापानी) ध्यान-सम्प्रदाय के वे प्रथम धर्म-नायक हुए। उनके बाद चीन मे पाच और धर्म-नायक उनके शिष्यानुक्रम मे हुए। उसके बाद ध्यान-सम्प्रदाय अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुआ और स्वय बोधिधर्म द्वारा दिये गए आदेश के अनुसार धर्म-नायको की प्रथा समाप्त कर दी गई।

बोधिधर्म के शिष्य और उनके प्रथम उत्तराधिकारी का नाम शैन्-क्वाग् था, जिसे अपना शिष्य बनाने के बाद बोधिधर्म ने हुइ-के नाम दिया। शैन्-क्वाग् कनफूसी धर्म को मानने वाला एक महापण्डित था। योगी के रूप मे बोधिधर्म की ख्याति सुनकर वह उनसे मिलने के लिए उस विहार मे गया जहा बोधिधर्म ध्यान करते थे। सात दिन तक वह दरवाजे पर खडा रहा, परन्तु बोधिधर्म ने उसे मिलने की अनुमति नही दी। जाडे का मौसम था और बरफ पड रही थी। परन्तु शैन्-क्वाग् भी सकल्पवान पुरुष था। कहा जाता है कि उसने अपनी बाईं बांह काटकर बोधिधर्म के पास यह दिखाने के लिए भिजवा दी कि वह उनका शिष्यत्व पाने के लिए अपने शरीर का भी बलिदान कर सकता है। शैन्-क्वाग् को भीतर जाने की अनुमति मिली। गुरु ने उसका समाधान किया, शब्दो से नही, मन के द्वारा मन से। शैन्-क्वाग् ने बिलखते हुए पूछा—"भन्ते! मुझे मन की शान्ति नही है। मेरे मन को आप कृपा कर शान्त करे।" बोधिधर्म ने कठोरतापूर्वक उत्तर दिया, "अपने मन को निकाल कर यहा मुझे दे। मै उसे शान्त करूगा।" शैन्-क्वाग् ने और भी रोते हुए कहा, "मै अपने मन को कैसे निकाल कर आपको दे सकता हू?" इस पर कुछ नरम स्वर मे और उस पर अनुकम्पा दिखाते हुए बोधिधर्म ने उससे कहा, "तो मै तेरे मन को शान्त कर चुका हू।" तत्काल शैन्-क्वाग् को शान्ति अनुभव हुई। उसके सारे सन्देह दूर हो गये। बौद्धिक सघर्ष सदा के लिए मिट गये। बोधिधर्म ने उसे अपना शिष्य बनाया और जैसा पहले कहा जा चुका है, उसे 'हुइ-के' नाम दिया। हुइ-के ध्यान-सम्प्रदाय के चीन मे द्वितीय धर्म-नायक हुए। बोधिधर्म के पास जो कुछ था, वह सब उन्होने हुइ-के को दे दिया। अब सब काम चीनियो को चीनियो के लिए करना था। चीनी परम्परा मे सुरक्षित लेखो के अनुसार बोधिधर्म ने अपने शिष्य हुइ-के से कहा था, "मै भारत से इस पूर्वी देश मे आया हू और मैने देखा है कि इस चीन देश मे मनुष्य महायान बौद्धधर्म की ओर अधिक प्रवण है। मैने दूर तक समुद्री यात्रा की है और मै रेगिस्तानो मे भटका हू, केवल इस उद्देश्य के लिए, कि मुझे कही अधिकारी व्यक्ति मिले, जिन्हे मै अपना अनुभव प्रेषित कर सकू। जब तक मुझे इसके उपयुक्त अवसर न मिले, मै मौन रहा, जैसे कि मै बोलने मे असमर्थ गूगा होऊ। अब मुझे तुम मिल गये हो। मै तुम्हे यह दे रहा हू और मेरी इच्छा अन्तत पूरी हो चुकी है।"

चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के छठे और अन्तिम धर्म-नायक हुइ-नेंग (६३८-७१३ ई०) नामक अनुभवी महात्मा थे। उन्होने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी स्वरूप प्रदान किया। उन्होने अपने पीछे एक ग्रन्थ भी छोडा है जो उनके प्रवचनो का संग्रह है जिसे उनके मुख से सुनकर उनके एक शिष्य ने लिखा था। इस ग्रन्थ का पूरा नाम है "छठे धर्म-नायक द्वारा भाषित धर्म-रत्न-सूत्र। सक्षेप मे इसे "छठे धर्मनायक का सूत्र" भी कहते है। चूकि इस ग्रन्थ

मे निहित उपदेश भिक्षुओं के उपसम्पदा-सस्कार के लिए निर्मित एक मच पर बैठकर दिए गये थे, इसलिए इसका एक नाम 'धर्मनिधि-मचसूत्र' या सक्षेप मे 'मच-सूत्र' भी है। 'सूत्र' शब्द का प्रयोग साधारणत बुद्ध या बोधिसत्त्वो के द्वारा दिए गये उपदेश के लिए होता है। अत हुइ-नैग् द्वारा भाषित इस प्रवचन को 'सूत्र' नाम देकर चीनी परम्परा मे उसको असाधारण सम्मान दिया गया है। चीनी बौद्ध महात्माओ मे यह सम्मान केवल हुइ-नैग् को ही मिल सका है। 'मच-सूत्र' या 'छठे धर्मनायक का सूत्र' विश्व के साधनात्मक साहित्य की एक अमर रचना है। इस 'सूत्र' के प्रथम भाग मे हुइ-नैग् ने यह बताया है कि ध्यान-बौद्धधर्म मे उन्हे श्रद्धा किस प्रकार उत्पन्न हुई। उन्होने हमे बताया है कि वे एक अपढ लकडहारे थे। बाल्यावस्था मे ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी और वे लकडी बेचकर अपना और अपनी वृद्धा माता का गुजारा करते थे। एक दिन जब वे किसी घर मे लकडी बेचकर लौट रहे थे तो बाहर सडक पर उन्होने किसी को वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता सूत्र मे कुछ अश पढते सुना। अचानक उनकी अन्तर्दृष्टि जाग पडी। उन्होने मालूम किया कि जो आदमी सूत्र से कुछ अश पढ रहा था वह किसी सघाराम से आया था जहा 'ध्यान' बौद्ध धर्म के पाचवे धर्म-नायक हुग्-जेन् पाच सौ भिक्षुओ के साथ रहते थे। हुइ-नैग् वहा गया और हुग्-जेन् का शिष्य हो गया। नवागत शिष्य को चावल कूटने का काम दिया गया। आठ महीने तक उसने यह काम किया। हुग्-जेन् ने एक दिन अपने शिष्यो को सूचित किया कि वे अपना उत्तराधिकारी भिक्षु निश्चित करना चाहते है और जो भिक्षु ध्यान-बौद्धधर्म के मर्म को प्रकट करने वाली सर्वोत्तम गाथा लिखेगा उसे वे अपना उत्तराधिकारी चुन लेगे। हुग्-जेन् का एक अत्यन्त पण्डित शिष्य शेन्-सियु नामक भिक्षु था। उसने एक गाथा लिखी—

"शरीर बोधिवृक्ष के समान है,
और मन स्वच्छ दर्पण के समान;
हर क्षण हम उन्हें सावधानी से साफ करते हं,
ताकि उन पर धूल न जम जाय।"

गुरु ने इस गाथा का अनुमोदन किया, परन्तु सर्वोत्तम गाथा उन्होने हुइ-नैग् द्वारा रचित मानी, जो इस प्रकार थी—

"नहीं है बोधि-वृक्ष के समान शरीर,
और न कहीं चमक रहा है स्वच्छ दर्पण,
तत्त्वतः सब कुछ शून्य है,
धूल जमेगी कहां ?"

हुग्-जेन् ने हुइ-नैग् को अपना चीवर और भिक्षापात्र दिया और अपना उत्तराधिकारी बनाया। जैसा हम पहले कह चुके है, हुइ-नैग् चीन मे ध्यान-बौद्धधर्म के छठे और अतिम धर्म-नायक थे। उन्होने अपना उत्तराधिकारी कोई धर्म-नायक नही बनाया और आगे के लिए भी आदेश दिया कि कोई धर्म-नायक न बनाया जाय। अपने शिष्यो से उन्होने कहा, "तुम सब सशयो से रहित हो। इसलिए तुम सब इस सम्प्रदाय के उच्च उद्देश्यो को कार्यान्वित करने मे समर्थ हो।" बोधिधर्म के शब्दो को हुइ-नैग् ने अपने शिष्यों को सुनाते हुए कहा, "चीन मे मेरे आने का उद्देश्य उन सब लोगों को मुक्ति का सन्देश प्रेषित करना था, जो मोह मे पडे हुए थे। पाच पखुडियो मे यह फूल पूरा होगा। उसके बाद स्वाभाविक रूप मे फल परिपक्व होगा।" बोधिधर्म की भविष्यवाणी सर्वाश मे ठीक निकली। बौद्ध ध्यानी सन्तो के ज्ञान का चरम विकास जिन शताब्दियो—(सातवी से लेकर चौदहवी) के बीच हुआ, वही चीनी सस्कृति का स्वर्ण-युग भी मानी जाती है।

ध्यान के जिस सन्देश को बोधिधर्म ने शैन्-क्वाग् को दिया और जो तब से अब तक बराबर चीन, जापान और कोरिया मे विकसित होता आ रहा है, क्या है? यह सन्देश है स्वानुभव से बोधि को अपने जीवन के अन्दर उतारने का योग। लगभग सातवीं शताब्दी ईसवी के एक अज्ञात ध्यानी सन्त ने उसे इन शब्दों मे व्यक्त किया है :

"शास्त्रों से बाहर एक विशेष संप्रेषण,
शब्दों और वर्णों पर कोई निर्भरता नहीं;
मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा संकेत,
अपने ही स्वभाव के अन्दर देखना और बुद्धत्व प्राप्त कर लेना।"

परन्तु बोधिधर्म ने इसकी ओर केवल इगित किया, उगली से उसकी ओर इशारा भर किया, उसके मार्ग का विकास चीन और जापान के साधको ने स्वय अपने लिए किया है। 'ध्यान' शब्द का चीनी रूपान्तर 'छान्' है और जापानी 'जेन्'। अत क्रमश' 'छान्-मुग' और 'जेन्-शु' के नाम से बौद्ध धर्म का यह समुदाय चीन और जापान मे प्रसिद्ध है। जापान मे बौद्ध धर्म का प्रवेश वैसे छठी शताब्दी मे ही हो गया था, परन्तु ध्यान-निकाय की विधिवत स्थापना वहा बारहवी शताब्दी मे हुई, जब से वह वहा के निवासियो की नस-नस में समा चुका है। चीनी मस्तिष्क भारतीय मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है, अत. वहा दैनिक जीवन की क्रियाओ को करते हुए अन्तर्दृष्टि के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। परम्परागत मान्यताओ के बन्धन से मानव-मन को मुक्त करने का ध्यानवादी आचार्य भरसक प्रयत्न करते हैं। धार्मिक ग्रंथो मे उनकी अधिक आस्था नही है, क्योकि वे स्वानुभव चाहते है, जो शास्त्र और सूत्र नही दे सकते। फिर भी ध्यान बौद्धधर्म के अनुयायी लङ्कावतार-सूत्र को अपना आधारभूत धार्मिक ग्रथ मानते है, वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता सूत्र का भी पारायण करते है और प्रज्ञापारमिताहृदय-सूत्र का पाठ तो ध्यान-सम्प्रदाय के प्रत्येक मठ में प्रतिदिन प्रात किया जाता है। चीनी मन की स्वाभाविक हास्य-भावना की अभिव्यक्ति भी ध्यान-सम्प्रदाय की अनेक बातो मे हुई है और इस सम्प्रदाय के आचार्यों और साधको के जो चित्र खीचे गए है वे प्राय' व्यंग्य-चित्र जैसे है। हास्य की भावना को जितना अधिक महत्त्व ध्यान-सम्प्रदाय की साधना मे मिला है उतना शायद ही अन्य किसी धर्म-साधना मे मिला हो। ध्यानी सन्त बडे मौजी स्वभाव के होते हैं। वस्तुगत जगत की वे अधिक परवाह नही करते। जीवन की हर वस्तु उनके लिए गम्भीर है और साथ ही एक बडा मजाक भी। वे गरीबी में आनन्द लेते है और अपने प्रति पूज्य बुद्धि न आने देने के लिए वे अपने को व्यग्य और हास्य के पात्र के रूप मे चित्रित करते है। ध्यानी गुरुओं की शिक्षा-पद्धति मे शिष्यो को चाटे लगाने की एक प्रथा-सी है। इसमे वे अतर्दृष्टि को जगाने का प्रयत्न करते है। इसी उद्देश्य के लिए वे दण्ड से भी प्रहार करते है, शिष्यो को धक्का भी देते है और गालिया भी देते है। सहज अनुभूति पर ध्यान-सम्प्रदाय में जोर है, अत उसके साधक सिद्धान्तवाद मे अधिक विश्वास नही करते। सत्य को वे विचार के द्वारा गम्य नही मानते है। अत. शब्दो को वे सत्य की अभिव्यक्ति का अत्यन्त निर्बल साधन मानते है। भाषा की इसी कठिनाई के कारण वे परम सत्य की अभिव्यक्ति के लिए प्राय: उलटबासियो या उल्टी भाषा का प्रयोग करते है। पाचवीं-छठी शताब्दी ईसवी के सन्त फुदायशी की एक प्रसिद्ध गाथा है

मै खाली हाथ चला जा रहा हूं, देखो
मेरे हाथ में एक फावड़ा है।
मै पैदल चला जा रहा हूं, फिर भी
एक बैल की पीठ पर मै सवार हूं।
जब मै पुल से पार हो रहा हूं,
तो देखो, पानी बहता नहीं,
पर पुल बहा जा रहा है।

इस प्रकार की उलटबासिया चीन और जापान के ध्यान-बौद्धधर्म के साहित्य मे भरी पडी है। "धूल का बादल समुद्र से उठ रहा है", "जब दोनो हाथो से ताली बजाते हैं तो शब्द होता है, एक हाथ की ताली का शब्द सुनो", "यदि तुमने एक हाथ का शब्द सुना है तो क्या उसे मुझे सुना सकते हो?" लगता है कि 'एक हाथ का शब्द' जिसे ध्यानी साधक सुनना चाहता है, अद्वैत के अनुभव का आनन्द ही है, जिसके बारे मे ध्यान-योगी अधिकतर कहते सुने जाते है। हममे से बहुतो को यह भी लोभ हो सकता है कि एक हाथ की ताली के शब्द को हम अनहद नाद समझे, परन्तु

इससे हमें बचना चाहिए। हिन्दी-साहित्य में उद्घाटित हठ-योग की, छह चक्रो और कुण्डलिनी-योग वाली, साधना से ध्यान-बौद्ध धर्म का कोई सम्बन्ध नही है। इसके लिए हमें बौद्ध धर्म के एक अन्य रहस्यवादी समुदाय मन्त्र-यान की ओर जाना पडेगा, जिसका भी चीन और जापान मे प्रचार है। जहा तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, उलटी भाषा का प्रयोग केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि साधारण मानवीय तर्क मनुष्य की गम्भीरतम आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सकता और उसके लिए विरोधात्मक भाषा आवश्यक हो जाती है। मनुष्य को उसके पालित मिथ्या विश्वासो से चौकाने के लिए, विचार के लिए उसे असाधारण प्रेरणा देने के लिए, इस प्रकार के विरोधात्मक कथनो का प्रयोग ध्यानी सन्तो ने किया है। परम सत्य को तो वे अनिवर्चनीय मानते है। 'अस्ति' और 'नास्ति' की कोटियो मे उसे नही बाधा जा सकता। वह उनसे अतीत है। एक ध्यानी सन्त का कहना है, "जब मैं कहता हू 'यह नही है' तो हमारा अर्थ निषेध नही है। इसी प्रकार जब मैं कहता हू कि 'यह है' तो इसका अर्थ 'हा' कहना नही है। पूर्व की ओर मुडो और वही पश्चिमी देश को देखो। दक्षिण की ओर मुह करो और वही तुम्हे उत्तरी ध्रुव दिखाया जा रहा है।" ध्यान-बौद्ध धर्म के एक गुरु ने अपने शिष्यो को एक घडा दिखाकर कहा कि 'इसे घडा कह कर मत पुकारो, परन्तु मुझे बताओ कि यह क्या है?" एक शिष्य ने कहा, "यह लकडी का टुकडा नही कहा जा सकता।" यह उत्तर गुरु को नही जचा। दूसरे शिष्य ने हल्के से धक्का देकर घडे को नीचे गिरा दिया और चुपचाप चलता बना। यही उत्तर ध्यान-बौद्ध धर्म की भावना के अनुसार ठीक था। वस्तु की अनुभूति उसकी दार्शनिक व्याख्या से बडी वस्तु है। एक अन्य गुरु ने अपने शिष्यो को एक लकडी दिखाई और कहा, "यदि तुम इसे लकडी कहो तो तुम 'अस्ति' कहते हो, यदि तुम इसे लकडी न कहो तो 'नास्ति' कहते हो। मत 'अस्ति' कहो, मत 'नास्ति' कहो। अब बताओ यह क्या है? बोलो, बोलो!" शिष्यो मे निस्तब्धता थी। वस्तुएं नि स्वभाव और अव्यपदेश्य है। बौद्धिक विश्लेषण पर जोर न देकर हमे अपरोक्षानुभूति प्राप्त करनी चाहिए। नवी शताब्दी के सिग्-पिग् नामक एक विद्यार्थी ने अपने गुरु सुइ-वी से पूछा, "बौद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त क्या है?" गुरु ने कहा, "ठहर! जब आसपास कोई नही होगा तब मै तुझे अकेले मे बताऊगा।" कुछ देर बाद शिष्य ने गुरु को फिर याद दिलाई, "भन्ते! अब यहा कोई नही है। मुझे बताइये।" अपने आसन से उठकर गुरु शिष्य को बासो के वन मे ले गया और कुछ न बोला। जब शिष्य ने उत्तर के लिए आग्रह किया तो गुरु ने उसके कान मे कहा, "देख, ये बास कितने लम्बे है। और देख, वहा वे कितने छोटे है!" इस प्रकार पहेलियों मे उपदेश देने की, ध्यान-बौद्ध धर्म के गुरुओ की, एक प्रथा-सी रही है। इसी सकेतात्मक शैली का एक और उदाहरण लीजिए। एक शिष्य अपने गुरु से विदाई लेने गया। गुरु ने पूछा, "कहा जाना चाहते हो?" शिष्य ने उत्तर दिया, "मै बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए आपके पास आकर भिक्षु बना हू, परन्तु आपने मुझे कभी अपने उपदेश से लाभान्वित नही किया। अब मै आपको छोडकर किसी और जगह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए जाना चाहता हू।" गुरु ने उत्तर दिया, "यदि बौद्ध धर्म को सिखाने की बात है तो मै कुछ अल्प तुम्हे सिखा सकता हू।" जब शिष्य ने उसे बताने के लिए कहा तो गुरु ने अपने चोगे मे से एक बाल निकाला और उसे फूक मार कर उडा दिया। शिष्य को तत्काल अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गई। एक जापानी ध्यान-योगी से जब उसके शिष्य ने पूछा कि "बुद्ध क्या है?" तो इसका पहेली मे उत्तर देते हुए गुरु ने कहा था, "दुलहिन गधे पर बैठी हुई है और उसकी सास लगाम पकडे है।" छठी शताब्दी ईसवी की बात है कि चीनी सम्राट वू ने ध्यान-सम्प्रदाय के गुरु फ-ति शिह् से किसी बौद्ध सूत्र पर प्रवचन करने की प्रार्थना की। गुरु महाराज गम्भीरतापूर्वक आसन पर विराजमान हो गए, परन्तु एक शब्द भी उच्चारण नही किया। सम्राट् ने कहा, "भन्ते! मैंने आपसे प्रवचन करने की प्रार्थना की थी, आप बोलना आरम्भ क्यो नही करते?" इसपर पास ही खडे एक ध्यानी शिष्य ने सम्राट् से कहा, "गुरु महाराज उपदेश समाप्त कर चुके है।" इसके सम्बन्ध मे एक ध्यानी आचार्य ने टिप्पणी करते हुए कहा है, "कितना वक्तृतापूर्ण था वह प्रवचन!"

ध्यान-सम्प्रदाय मे शरीर और मन की एक लम्बी साधना का विधान है, जिसे उपयुक्त गुरु के पास सीखना होता है। शरीर और मन का समाधान प्राप्त करने के लिए वर्षों लग सकते है और फिर भी वह दृष्टि प्राप्त न हो जिसे ध्यान-सम्प्रदाय देना चाहता है। फिर भी ध्यान-बौद्ध धर्म की मान्यता है कि ज्ञान जब होता है तो एक पल भर मे हो

सकता है। कबीर साहब ने कहा था, "ढूढा होइ तो मिलिहै बन्दे पल भर की तलास मे।" ध्यान-योगियों का अनुभव है कि ढूढता-ढूढता थका हुआ मन कभी-कभी उसे 'पल भर की तलास मे' पा जाता है। आत्मानुभूति द्वारा सत्य मे इस आकस्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने को जापानी भाषा में 'सटोरी' कह कर पुकारा जाता है।

ध्यान-सम्प्रदाय यद्यपि महायान के तथता या शून्यता के तत्त्वज्ञान पर आधारित है, परन्तु वह निश्चयत· अद्वैत की ओर भी प्रगमन करता है, जो प्रज्ञापारमिताओ के दर्शन मे आरम्भ से ही अन्तर्हित था। जब एक शिष्य ने गुरु से पूछा, "बुद्ध क्या है ?" तो गुरु ने कहा, "यदि मै तुम्हे बताऊ तो क्या तुम विश्वास करोगे ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "यदि आप मुझे सत्य बताएगे तो मै कैसे नही विश्वास करूगा !" गुरु ने उसे अलग ले जाकर कहा, **"तुम वह हो।"** "तत्त्वमसि" का पूर्ण शाब्दिक अनुवाद, जो अनुभूति की समानता से औपनिषदिक ऋषि के समान चीनी साधक को स्वत· प्राप्त हो गया है। केवल शब्दो के द्वारा सत्य के समझने के प्रयत्न का ध्यान-सम्प्रदाय के साधक विरोध करते है। वे मन को अन्तर्मुखी करने पर जोर देते है और उसीसे सत्य का दर्शन सम्भव मानते है। सत्य-प्राप्ति के बाद उसकी मौखिक घोषणा वे आवश्यक नही मानते। फू नामक एक जापानी बौद्ध भिक्षु निर्वाण-सूत्र पर प्रवचन करता हुआ धर्म-काय की व्याख्या कर रहा था। उसका शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण और निर्दोष था, परन्तु उसे स्वय अनुभव नही था। उसके प्रवचन को सुनकर यग्-चाऊ नामक एक ध्यानी सन्त को हँसी आ गई। विद्वान भिक्षु को सन्देह हुआ कि उसने कोई गलत व्याख्या की है, इसलिए उसे समझने के लिए वह हँसने वाले ध्यानी सन्त के पास गया। ध्यानी सन्त ने कहा, "तुम्हारी व्याख्या मे कोई दोष नही था। मै यह देखकर हँसा कि जिस वस्तु का तुम विवेचन कर रहे हो, उसका अपरोक्ष, सीधा ज्ञान तुम्हे नही है।" "तो क्या तुम मुझे बता सकते हो कि वह वस्तु क्या है ?" "क्या तुम मुझ पर विश्वास करोगे ?" "क्यो नही ?" "अच्छा तुम शास्त्र के प्रवचन और अध्ययन को कुछ समय के लिए छोडो। दस दिन के लिए अपने कमरे मे बन्द हो जाओ। गर्दन सीधी कर शान्त होकर बैठो और अपने विचारो को एकाग्र करो। अच्छे-बुरे के द्वन्द्वात्मक तर्क को छोडकर अपने आन्तरिक ससार को देखो।" भिक्षु इस आदेश के अनुसार रात-भर ध्यान मे बैठा रहा। प्रात चार बजे के करीब उसे बासुरी का सा शब्द सुनाई दिया और उसके चित्त ने समाधि-सुख का प्रथम स्पर्श किया। प्रात काल उठकर उसने गुरु का दरवाजा खटखटाया। गुरु ने उसे फटकारते हुए कहा, "मै तो चाहता था कि तू सत्य मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर उसका रक्षक और प्रेषक बनेगा। तू शराब पीकर सडक पर क्यो खर्राटे ले रहा है ?" अनुभव ही ध्यान-बौद्ध का आदि है और वही उसका अवसान। और उसे जीवन मे ही खोजना है, जीवन से भागकर नही। चु ग्-सिन् नामक चीनी शिष्य ने अपने गुरु ताओ-वू की बड़ी सेवा की। एक दिन शिष्य ने गुरु के पास आकर कहा, **"जिस दिन से मैं यहां आया हूं आपने मुझे कर्म के सार के बारे में कभी नहीं बताया।"** गुरु ने उत्तर दिया, **"जब से तुम यहां आये हो, मैं कभी तुम्हें धर्म का सार बताये बिना नहीं रहा हूं।" "आपने मुझे कब धर्म का सार बताया है ?"** शिष्य ने पूछा। गुरु ने उत्तर दिया, **"जब तुम चाय के प्याले को लेकर मेरे पास आये हो, मैं कभी उसे बिना ग्रहण किए नहीं रहा हूँ। जब तुमने हाथ जोड़कर आदरपूर्वक मुझे प्रणाम किया है, तो मैं कभी अपना सिर झुकाए बिना नहीं रहा हूं। बताओ, मैंने कब तुम्हें धर्म का उपदेश नहीं दिया है ?"** शिष्य काफी देर तक चुपचाप खडा रहा। फिर गुरु ने कहा, **"यदि तुम देखना चाहते हो तो तुम्हें सीधे और एक क्षण में ही देख लेना होगा। यदि तुम सत्य के साक्षात्कार के मानसिक विश्लेषण पर आग्रह करोगे जो तुम लक्ष्य से दूर जा पड़ोगे।"** चुग्-सिन् ने प्रकाश की एक झलक मे अपने गुरु के मन्तव्य को समझ लिया।

ध्यान-सम्प्रदाय चीन और जापान मे आज भी एक जीवित साधना-पद्धति है। उसके मठ और सघाराम है, जहा भव्य और कलापूर्ण ध्यान-मन्दिर बने हुए है। प्रत्येक ध्यान-मन्दिर के बीच मे शाक्यमुनि बुद्ध की मूर्ति होती है जिसके चारो ओर बैठकर श्रद्धालु नर-नारी, भिक्षु और गृहस्थ, ध्यान (जापानी ज-ज़ेन और चीनी चनन) करते है। चीन और जापान की सस्कृतियो पर ध्यान-बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव है। भारतीय अद्वैतवाद और भक्ति-आन्दोलन, विशेषत रहस्यवादी सन्त-मत से, ध्यान-सम्प्रदाय की अनेक समानताए है। द्वैतभाव का निरसन करते-करते ध्यानी सन्त थकते नही। नाथपन्थ और निर्गुणपन्थ की वाणियो के, विशेषत. मन के साधना-सम्बन्धी, कई ऐसे प्रसग है जिनकी व्याख्या हम ध्यानी सन्तो की वाणियो से अच्छी प्रकार कर सकते है और कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और सात्त्विक निष्कर्ष

निकाल सकते है। ध्यानवादी गुरु-शिष्यों के प्रश्नोत्तरमय सवाद (मोण्डो) सन्त-वाणी के समान हृदय को सीधे स्पर्श करने वाले है। वस्तुत. ध्यान-सम्प्रदाय भारतीय धर्म-साधना का पूर्वेशिया के अनुरूप मनोवैज्ञानिक परिणाम ही है। उसके अध्ययन से हम यह भली प्रकार समझ सकते है कि मूलत हमारे देश मे उत्पन्न साधना किस प्रकार चीनी और जापान मत के द्वारा ग्रहण की गई और अपनी सुविधानुसार उसमे क्या-क्या परिवर्तन कर उसने उसे आत्मसात कर लिया। चीन और जापान के पास जो सर्वोत्तम है, उसके निर्माण मे ध्यान-सम्प्रदाय ने योग दिया है। अनेक विचार और कल्पनाएं उसने वहा के साहित्यकारो, विचारको और कलाकारो को दी है। वह वहा के पण्डितो और भिक्षुओ का ही धर्म नही है, किसानो, मजदूरो और सिपाहियो का भी धर्म है। अनेक सस्कार, जैसे चाय-सस्कार आदि, उसके प्रभाव के कारण चीनी और जापानी जीवन के अग बन गए है। आधुनिक जीवन के भारो मे व्यस्त, आर्थिक सघर्षों और राजनीतिक क्षुद्रताओं मे त्रस्त मनुष्य ध्यान-सम्प्रदाय के प्राणवान साहित्य से नई शक्ति और स्वस्थता प्राप्त कर सकता है। विशेषत हमारे देश मे, एशिया की सास्कृतिक एकता के साथ-साथ, सन्त-मत जैसे सरल, विलक्षण और अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य का अध्ययन और मनन हमारी आध्यात्मिक अनुभव-समृद्धि और गवाही के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

शांकर वेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव

डा० शान्तिस्वरूप त्रिपाठी

वेदान्त शब्द से वैदिक साधना व दर्शन का अन्तिम चरण विवक्षित है। मुख्यतः औपनिषद् दर्शन ही वेदान्त दर्शन है। उक्त दर्शन वैराग्यपरक है, एव ज्ञान-साधना इसका लक्ष्य है। आचार्य शकर उक्त दर्शन के प्रतिष्ठापकों मे प्रधान है। अस्तु, हम यहा निर्गुण काव्य के प्रसगों का उल्लेख करते हुए आचार्य शकर के अभिमत-सिद्धान्त का पर्यवेक्षण प्रस्तुत करेगे। वैदिक दर्शन के आश्रय मुख्यत तीन तत्त्व है—ब्रह्म, जीव एवं प्रकृति। यह त्रैत पदार्थ ही विभिन्न आचार्यों द्वारा अनेक प्रकार से गृहीत व प्रकट किया गया है। आचार्य शकर उक्त पदार्थत्रय मे केवल ब्रह्म-सत्ता ही प्रधान मानते है, अत यह सिद्धान्त ब्रह्मवाद व अद्वैतवाद नाम से अभिहित किया जाता है।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म शब्द 'वृह्' धातु से व्युत्पन्न है। उक्त धातु के अनुसार ब्रह्म शब्द से व्यापकत्व, देशकालादि-अवधि-रहित चेतन, नित्य, शुद्ध सत्ता आदि अर्थों की उपलब्धि होती है।[1] ब्रह्म-सत्ता स्वय-सिद्ध है। जिस प्रकार स्थाणु मे स्थाणुत्व का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है एव उसमे मनुष्यत्वादि का ज्ञान भ्रान्त एव कल्पित है, उसी प्रकार त्रैत पदार्थ-सत्ता मे ब्रह्मज्ञान ही पूर्ण तत्त्वज्ञान है, अन्य नही।[2] ब्रह्म अतीन्द्रिय मनोवचसातीत विशुद्ध सत्य है, एवं नित्यप्राप्त है, क्योकि अप्राप्य की प्राप्ति असम्भव है।[3] 'किन्तु सामान्य भौतिक विषयों के समान ब्रह्म की उपलब्धि इसलिए नही होती कि इन्द्रिया बहिर्मुखी है तथा विषयाधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म अथवा आत्मा का प्रत्यक्ष नही करतीं।'[4] ब्रह्म-सत्ता अनादि है एव वह समस्त निष्पत्तियो का कारण व आधार है।[5] ब्रह्म कारण स्वरूप के दो पक्ष—निमित्त एव उपादान कारण है। कुम्भकार के समान ब्रह्म सृष्टि का निमित्त एव मिट्टी-सुवर्णादि के समान पदार्थ के साधनभूत तत्त्वो के समान द्विधारहित ब्रह्म उपादान कारण है।[6] एक ही ब्रह्म दो कारण-रूपो मे व्यक्त है तथा अनेक विषम सत्ताओं मे विभक्त होकर भी उनमे वैषम्य का अभाव है। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है किन्तु जिस प्रकार मृत्तिका-कारण उसका कार्य घट भिन्न एव विषम नही है, अथवा सुवर्ण से कुण्डलादि आभूषण भिन्न नहीं होते, वैसे ही ब्रह्म कारण एव विविध नाम-रूपो को धारण करके भी उनके गुणदोषों से स्पष्ट नही होता। उसी प्रकार सृजन-सम्बन्धी अनेक वैषम्यों को धारण करके भी उनके गुणदोषो से स्पष्ट नही होता। उसी प्रकार सृजन-सम्बन्धी अनेक वैषम्यो को धारण करके भी उसमे प्रपचजन्य विषयो का सस्कार नही पडता।[7] नित्य सत्ता होने के कारण ब्रह्म 'सत्', सर्वदा गतिशील होने से 'चेतन'

१. ब्रह्मशब्दस्यहि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेधातोरर्थानुगमात। ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१

२. नहि स्थाणवेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। ब्र० सू० भा० १।१।२

३. अप्रसिद्ध नैवशक्यं जिज्ञासुतुमिति। ब्र० सू० भा० १।१।१

४. स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि न ब्रह्मविषयाणि। ब्र० सू० भा० १।१।२

५. असम्भवस्तु अनुपपत्तेः। ब्र० सू० २।३।६

६. घटरुचकादीना मृत्सुवर्णादिवत् प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिव निमित्तवे। ब्र० सू० भा० १।४।२३

७. मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः कुम्भोऽसि सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः कुतो मृषा कल्पित नामरूप॥
—विवेकचूडामणि २३०।

एवं सुख-रूप होने से आनन्द-स्वरूप है। ब्रह्म निर्गुण-निराकार एवं सगुण-साकार दोनों प्रकार से गृहीत होता है। किन्तु ये भेद व्यावहारिक है। ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण एव निराकार ही है परन्तु बुद्धिजन्य उपाधिभेद से वह सगुण एव साकार प्रतीत होता है।[1] इसी प्रकार उपाधिजन्य भेदों से युक्त होकर ब्रह्म सविशेष प्रतीत होता है, यद्यपि ब्रह्म निर्विशेष एवं निर्गुण है।[2] ब्रह्म अपनी वैष्णवी माया को वश में करके अवतार लेता हुआ-सा प्रतीत होता है।[3] यह सगुण ब्रह्म ही उपासना एवं कर्मादि का लक्ष्य है।

निर्गुण ब्रह्म कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित है। मायावी के समान ब्रह्म मायारूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व का कारण होकर भी माया से भिन्न है।[4] ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता मन और वाणी द्वारा ग्रहण व व्यक्त नही की जा सकती। श्रुतियों मे 'नेति-नेति' पद द्वारा उसमे नामरूपों का प्रतिषेध प्रस्तुत किया गया है।[5] आचार्य शकर के अनुसार उक्त प्रतिषेध का पर्यवसान ब्रह्म मे है—अभाव मे नही। अस्तु, ब्रह्म अभावरूप नही है।[6]

उपर्युक्त प्रसंग में ब्रह्म को समस्त नामरूपों का कारण व अधिष्ठान कहा गया है। उपनिषदो मे 'एक', 'सद्' या 'आत्मा' से सृष्टि की रचना कथित है।[7] इन श्रुतियो का लक्ष्य अनेकरूप सृष्ट पदार्थों का मूल मे एकत्व प्रतिपादित करना है। उक्त एकरूप ब्रह्मसत्ता मे अनेकरूपता का आभास और व्यवहार की उपलब्धि होना ही माया अथवा अविद्या है। कारण मे कार्य की सत्ता है। कार्य कारण से भिन्न नही है। इसी प्रकार माया, प्रकृति अथवा अविद्या भी उपलब्ध ब्रह्म की सत्ता मे ही निरूपित है, उससे स्वतन्त्र नहीं।[8] अत: पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव आकाश इन पचभूतो की सत्ता ब्रह्म-सत्ता में प्रतिष्ठित है, उससे भिन्न नही। ईश्वर मायिक है एवं प्रकृति ईश्वर-कार्य है।[9]

बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार इन्द्र माया द्वारा अनेकरूप होता है।[10] इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता द्वारा ही अनेकरूप स्रष्ट पदार्थ अनुप्राणित हैं। माया से ही सत्त्व, रज और तम इन गुणों की स्थिति है। इन गुणों के सम-विषम व्यवहारो के द्वारा ससार-व्यवहार का प्रत्यावर्तन होता रहता है एव जीव के बध-मोक्ष का क्रम चलता है। अविद्या-कार्य समस्त व्यवहारों के कारण आत्मस्वरूप का परिज्ञान नही होता। अखण्ड सत्य विविध अल्प सत्यो में विकीर्ण हो जाता है। ये अल्प सत्य, बुद्धि, मन, अहकार आदि के माध्यम से वस्तु की वास्तविकता के परिच्छिन्नक हैं। शकर ने इस परिच्छिन्न सत्य को ही उपाधि अथवा अविद्या कहा है। ब्रह्म की सत्ता मे अन्य पदार्थों की प्रतीति या उपलब्धि मायाजन्य भ्रम के कारण है। यह भ्रम जीव के हेतु स्वाभाविक है। आकाश मे नीलिमा की प्रतीति भ्रान्ति ही तो है। इसी प्रकार असद्रूपों की सद्रूप मे उपलब्धि ही माया का स्वरूप है। शकर ने इस स्थिति को ही 'अध्यास' नाम से अभिहित किया है।[11]

सृष्टि में शकर ने सत्य और अनृत का मिथुनीकरण होना कहा है। अस्तु, अविद्या की स्थिति में पदार्थ की जिस स्वरूप सत्ता की उपलब्धि व्यवहारी जीव को होती है वह सत्यासत्य का मिथुनीकृत रूप ही है, ब्रह्म का विशुद्ध रूप नही; क्योकि ब्रह्म स्वत: तो त्रिगुणात्मक प्रकृति का कारण व अधिष्ठान है, एव वह कभी प्रकृतिजन्य विकारों से

---

१. प्रकाशवच्चा वैय्यर्थ्यम्। ब्र० सू० २।२।१५
२. अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात्। ब्रह्मसूत्र ३।२।१४
३. वैष्णवी स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य ''देहवान इव'''जात इव लक्ष्यते। गीताभाष्य, उपोद्घात।
४. देखिए गीता-भाष्य—१३-१२ और ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।२८; १.२।६
५. यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीय उपनिषद् ३।२।६
आदेशो नेति नेति—बृहदारण्यक उपनिषद् २।३।६
६. ब्रह्मसूत्र-भाष्य—३।२।२२
७. सदेव सोम्येमग्र आसीत्। छान्दोग्य उपनिषद् ६-२-१। ऐतरेय उपनिषद् १।१।१
८. कारणात्मनैव कारणे सत्वमवरकालीनस्य कार्यस्य। ब्र० सू० भा० २।१।१६
९. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतर उपनिषद्
१०. बृहदारण्यक उपनिषद् २।५।१६
११. ब्रह्मसूत्र-भाष्य, चतुस्सूत्री भूमिका।

स्पृष्ट नही होता। अविद्या सदसद्रूपों एव उभयात्मक रूपो से रहित है, अत· अविद्या अनिवर्चनीय कही गई है।

ब्रह्म समस्त माया-कार्यों का अद्वितीय कारण है। प्रकृति की शक्ति ब्रह्म के ही आश्रित है। इसी प्रकार अनेक जीवरूप इकाइयों मे एक अद्वितीय ब्रह्म व्याप्त है। जीव का शरीर पचभूतात्मक अभिव्यक्ति है तथा शरीर अद्वितीय चेतन-स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप है। आचार्य शकर के अनुसार जीव 'अह' प्रत्यय का विषय और स्वय प्रकाश है।[1] जीव के समस्त व्यापार 'अह' पद मे आश्रित होकर लोक-व्यवहार के स्वरूप का निर्माण करते है। जीव वस्तुतः ब्रह्म का ही स्वरूप है। परमार्थत आत्मा अथवा जीव जन्म नही लेता, एव प्रकृतिजन्य विकारों द्वारा दूषित व स्पृष्ट नही होता। जीव भी नित्य, मुक्त, शुद्ध-बुद्ध एव मुक्त-स्वभाव ही है।[2] अविद्यात्मक प्रपंच मे जीव की बुद्धि अध्यस्त होकर ही निर्दोष ब्रह्मस्वरूप जीव व्यापार करता है, एव मायाजन्य सुख-दु खों को भोगता है। जीव वस्तुतः अकर्ता ही है। यदि जीव मे कर्तृत्व स्वाभाविक होता तो वह भी कर्म से मुक्त न हो पाता। अस्तु, जीव नित्य-मुक्त एव अकर्त्ता है। किन्तु इन्द्रियादि एव शरीर-सम्बन्ध से आत्मा मे कर्तृत्व का आरोप होता है।[3] जिस प्रकार शिल्पी हाथ मे उपकरण लेकर एवं श्रम करके दु खी होता है, परन्तु उपकरणो को त्यागकर शान्त और सुखी होता है, उसी प्रकार चेतनस्वरूप जीव कर्मादि विषयो को भोगकर दुखी या सुखी होता है। किन्तु व्यावहारिक द्वन्द्वो से पृथक रहकर वह अपने नित्यमुक्त शान्त स्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है।[4] तो भी जीव मे और ब्रह्म मे लौकिक भेद है।[5] ब्रह्म की अपेक्षा जीव की महिमा अल्प है।[6] जीव भोग के अधिष्ठान शरीर को त्यागकर अन्यत्र नही जाता।[7] जीव का ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्धन होता है।[8] जीव ईश्वर का अश है किन्तु यह विभागभेद भी व्यावहारिक है।[9] जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व उपाधिजन्य है। जिस प्रकार सर्प चाहे कुण्डलाकार हो या दण्डाकार, किन्तु उसके सर्पत्व मे कोई अन्तर नही आता, उसी प्रकार जीव व्यवहार-दशा मे भी अलौकिक सत्य की सत्ता मे भिन्न नही होता।[10] व्यावहारिक उपाधि-भेदो से मुक्त होकर जीव नित्य-मुक्त है। 'तत्त्वमसि' एव 'अह ब्रह्मास्मि' आदि के ज्ञान द्वारा जीव ब्रह्म के साथ अभेद-लाभ करके ब्रह्म ही हो जाता है।

ब्रह्म के अभेदानुभूति के कई प्रकार के साधन है, जिनमे कर्म, उपासना और ज्ञान प्रमुख है। आचार्य शकर के अनुसार समस्त क्रियमाण व्यापार कर्म है, कर्म मे देहादि चेष्टाओ की अपेक्षा है।[11] कर्म-साधना मे यज्ञादि साधनों की गणना है। इसके हेतु वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था है। आचार्य शकर कर्मसाधन की उपयोगिता दो प्रकार से स्वीकार करते है— (१) लोक-सग्रह के लिए, (२) चित्तशुद्धि के लिए। उक्त उपयोगिता के अतिरिक्त कर्म अल्पव्यापी है। कर्म का फल अनित्य है।[12] कर्म का फल स्वर्ग है। स्वर्ग के भोगों को प्राप्त करके प्राणी पुन मृत्युलोक मे गिर जाता है—

क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति। गीता ९।२१

इस हेतु कर्म की साधना मोक्ष-प्राप्ति मे असमर्थ है। उपासना भी वैदिक साधना का अग है एव इसमे

१. अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात। ब्र० सू० भा०, चतुस्सूत्री भूमिका।
२. न जायते नो म्रियते न वर्धते न क्षीयते नो विकरोति नित्य·।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्न लीयते कुम्भ इवाम्बर स्वय।।—विवेकचूडामणि, १३६
३. कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति—ब्र० सू० भा० २।३।४०
४. यथा च तक्षोभयथा। ब्र० सू० २।३।४०
५. परमेश्वरस्यैवोधितम् सर्वविकारकारणत्वात्। ब्र० सू० भा० १।२।२३
६. ब्र० सू० भा० १।२।२३
७. ब्र० सू० भा० १।२।३
८. ब्र० सू० भा० ३।२।५
९. ब्र० सू० भा० २।३।४३
१०. ब्र० सू० भा० ३।२।२६
११. कर्म क्रियते इति व्यापारमात्रम्। गीता-भाष्य ४।१८
कर्म नाम देहादिचेष्टा। गीता-भाष्य ४।१६
१२. नहि नित्यं किञ्चिदारभ्यते। तैत्तिरीय उपनिषद्, सम्बन्ध-भाष्य

शरीरादि चेष्टाओं की अपेक्षा है। इसमे उपास्य और उपासक-भेद वर्तमान है। अत उपासना-साधन भी ब्रह्म-प्राप्ति मे अपर्याप्त है।[1] इन दोषों के कारण आचार्य शकर ज्ञान-साधन को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

शकर के अनुसार आचार्य एव शास्त्र द्वारा आत्मा-अनात्मा एव विद्या-अविद्या का बोध ज्ञान कहलाता है।

ज्ञानं शास्त्रतः आचार्यतः च आत्मादीनाम् अवबोधः। गी० भा० ३।४१

इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर अन्य पुरुषार्थ-साधन अवशिष्ट नही रहता।

यद् ज्ञानं ज्ञात्वा न इह भूयः पुनः पुनः पुरुषार्थसाधनम् अवशिष्यते। गी० भा० ७।२

ज्ञान ही मोक्ष-स्वरूप एव नित्य है। उक्त ज्ञान के द्वारा जड-चेतन, जीव-ब्रह्म का अभेद एव सम्पूर्ण ब्रह्मात्म-भाव प्रकाशित होता है। 'तत्त्वमसि', 'अह ब्रह्मास्मि' आदि श्रुति-वाक्य अद्वैत ज्ञान मे प्रमाण है।[2] पारमार्थिक ज्ञान मन-वाणी-इन्द्रियादि का विषय नही है। जिस प्रकार अन्धकार मे रस्सी मे सर्प का भ्रम होने पर मनुष्य भयभीत हो जाता है, किन्तु रज्जु-ज्ञान होने पर स्वस्थ होता है, उसी प्रकार मनुष्य जगत एव जीव मे ब्रह्म-स्वरूप की अनुभूति करके कृत-कृत्य हो जाता है।[3]

ज्ञान-प्राप्ति के हेतु साधक मे ब्रह्म-जिज्ञासा होना अनिवार्य है।[4] जिज्ञासा के पूर्व शकर ने साधन-चतुष्टय (१) नित्यानित्य-विवेक, (२) वैराग्य, (३) षट्साधन-सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा,श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षुत्व का महत्त्व स्वीकार किया है।[5] इन साधनो का विवेचन हम सन्तकाव्य का अध्ययन करते समय करेंगे।

ज्ञान की इस साधना मे आचार्य[6], श्रुति[7], युक्ति[8] और अनुभव[9] का महत्त्व है। इस प्रकार अद्वैतदर्शन की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

अब हम पिछले पृष्ठो पर दिये दर्शन की रूपरेखाओ को सन्त-काव्य मे घटित करने का प्रयत्न करेंगे। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि शाकर सिद्धान्त विशुद्ध दार्शनिक तत्त्व है और विचार मे युक्ति और पाडित्य का उसमे अद्भुत समन्वय है। वैदिक परम्पराओ मे शकर की अद्वैत साधना भिन्न नही है। परन्तु सन्तो के काव्य मे साधनात्मक पद्धति व्यवहृत हुई है। यद्यपि मूल सिद्धान्त अद्वैत-साधना के अनुकूल ही है,किन्तु विचार-साधना का रूप ग्रहण करके सन्त कवि के व्यक्तित्व को भी स्पष्टरूपेण लक्षित कराता है। सन्तो की युक्ति और पाडित्य सन्तो के ही ढग के है। अन्यत्र इस प्रकार का विचार, सिद्धान्त-साधना और अनुभूति का समन्वय काव्य-जगत मे सभवत कुछ ही कवियो मे मिलेगा।

जिस प्रकार शकर ने ब्रह्म को जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है, उसी प्रकार सन्त कवियो ने भी परमात्मा को जगत का कारण मानते हुए ब्रह्म और जगत मे एकरूपता प्रतिष्ठित की है। कुभकार या स्वर्णकार, मिट्टी अथवा स्वर्ण से पात्र तथा कुण्डलादि का निर्माण करता है, किन्तु पात्र-कुण्डलादि की अभिव्यक्ति तत्सम्बन्धी पदार्थों के कर्त्ताओ एव उपादानो से भिन्न नही होती। ऐसे ही परमेश्वर भी जगद्रूप मे व्यक्त हो गया है। इस सम्बन्ध

---

१. ब्र० सू० भा० १।१–१२

२. ब्र० सू० भा० ४।१–२

३. विचारचन्द्रोदय कला १४

४. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १।१।१

५. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२३; ब्रह्मसूत्र ३.४।२७

६. छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य, ८।७।२

७. ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।३; कठोपनिषद्-भाष्य १।३।१४

८. माण्डूक्यकारिका-भाष्य, अद्वैत, प्रकरण-सम्बन्ध-भाष्य।

९. ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।४; ३।३।३२

में सन्त कवि कबीरदास[1], सन्त दादूदयाल[2] और सन्त जगजीवन[3] उल्लेखनीय हैं।

जगत्कारण ब्रह्म का दूसरा स्वरूप उसकी माया अथवा प्रकृति के माध्यम से उपलब्ध होता है। परमेश्वर अपनी माया के द्वारा सृष्टि की रचना करता है। त्रिगुणात्मक माया के द्वारा संसार का प्रसार हुआ है। ब्रह्म यद्यपि निर्गुण एव मायादि दोषों से रहित है, तो भी एक मायावी के समान परमात्मा जगत-सृष्टि का कारण है। उक्त सिद्धान्त को अपने विचारों में आत्मसात करने वाले सन्तों मे सन्त कबीर[4], सन्त रैदास[5], सन्त दादूदयाल[6], सन्त सुन्दरदास[7], सन्त चरनदास[8], और सन्त पलटूसाहब[9] प्रमुख हैं।

शंकर के अनुरूप सन्तों ने भी निर्गुण ब्रह्म को ही साधना का लक्ष्य माना है। इसी प्रकार दोनो ने ही सगुण ब्रह्म एवं अवतार-सम्बन्धी भावना का उच्छेदन नही किया। शंकर ने ब्रह्म को अपनी वैष्णवी माया को वश मे करके लोक-कल्याण के लिए अवतार लेना कहा है। उसी प्रकार सन्तों ने भी ईश्वर को लोकरंजक और लोकरक्षक दोनों स्वरूपो मे भगवान का देह-धारण करना स्वीकार किया है। यद्यपि दोनों ने ही प्रधानता निर्गुण-निराकार ब्रह्म को ही है। सन्तों ने यदा-कदा अवतारवाद की निन्दा भी की है किन्तु इसके प्रतिकूल उन्होंने भक्त होने के सम्बन्ध से ईश्वर का प्रेममय या लोककल्याणमय विग्रह माना है।

---

१. आपन करता भये कुलाला। बहुबिधि सृष्टि रची दरहाला।
—कबीर-ग्रन्थावलो, रमैनी, पृ० २४०

२. सिरजनहार थैं सब होइ।
आप है कुलाल करता बूंद थैं सब लोइ।
—दादूदयाल की बानी चंद्रिकाप्रसाद सम्पादित—पृष्ठ १४१

३. साधौ एक बासन गढ़ै कुम्हार।
तेहि कुम्हार का अन्त न पावौ कैसे सिरजनहार।
—जगजीवनसाहब की बानी, (वेलवेडियर प्रेस) भाग २, श० ८, पृ० ४२

४. सत रज तम थैं कीन्हो माया। आपण मंझे आप छिपाया।
निज नटवै नटसारी साजो। सो खेलै सो दोसै बाजी।
—सप्तपदी रमैनी—कबीर-ग्रन्थावली।

५. अहे एक पै भ्रम से दूजो कनक अलंकृत जैसे। —रैदास की बानी, पृष्ठ ४२
बाजोगर सो राचि रहा बाजी का मरम न जाना।
बाजी झूठ सांच झूठ बाजीगर जाना मन पतियाना। —रैदास की बानी, पृ० २५

६. बाजी चिहर रचाइ करि रहा अपर वन होइ। —माया का अंग, पृ० ८२, दादूदयाल की बानी
राजस करि उतपति करै, सातक करि प्रतिपाल।
तामस करि परलै करै, निर्गुण कौतिकहार॥ —दादूदयाल की बानी ८, साधीभूत कौ अंग।

७. बाजी कौन रची मेरे प्यारे!
आप गोपि है रहे गोसाईं जग सबहीं तें न्यारे। —सुन्दर-ग्रन्थावली भाग २, पृ० ६०६
पंच तत्त्वरु तीन गुन कौ कहत हैं ससार। तऊ दूजो नाहिं एकै बीज को बिस्तार॥ —वही, पृ० ४१

८. तेरे बहुत रूप बानो, तीनो गुन तोहो ते निकसे तोही माहि समानी। —भक्तिसागर, पृ० ४२५
ब्रह्म अरूप धरे बहुरूप कहो कोउ कैसे स्वरूप कहै। —भक्तिसागर, पृ० ४३३

९. नटवा होइकै बाजो लाया आपुहि देखनहारा है। —पलटूसाहब की बानी, भाग ३

उक्त विचारो की अभिव्यक्ति मे सन्त कबीर[1], दादू[2], गरीबदास[3], चरनदास[4], जगजीवन[5] आदि भक्त सत विशिष्ट हैं। ज्ञान-साधन के क्षेत्र में संतों ने निर्गुण, निराकार, अनिवर्चनीय एव अनन्त-अलक्ष्य ब्रह्म को ही लक्ष्य किया है। ब्रह्म वस्तुतः सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों मे वर्तमान है, किन्तु सगुण ब्रह्म की उपयोगिता, भक्ति आदि साधनात्मक क्षेत्र मे अधिक है। चिन्तन एवं अनुभूति की पराकाष्ठा में तो निर्गुण ब्रह्म ही प्रधान है। निर्गुण ब्रह्म अवतार एव प्रकृति के विकारों से अछूता रहता है। उसका स्वरूप इतना विराट है कि मनुष्य की वाणी, मन एव बुद्धि की तो बात ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा योगी साधकगण भी उसको नही जान सकते। निर्गुण ब्रह्म-साधना की उत्कृष्टता सभी निर्गुण सन्त कवियो ने स्वीकार की है। यहा सन्त कबीर[6], रैदास[7], दादू[8], सुन्दरदास[9], मलूकदास[10], बुल्ला साहब[11], चरनदास[12], सहजोबाई[13], दयाबाई[14], भीखा साहब[15], जग-जीवन[16] व पलटूसाहब[17] की कृतियो मे उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

---

१. खभा में प्रगट्यौ गिलारि। हरनाकुस मार्यौ नख बिदारि। —कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१४

२. धेन चरावन बेन बजावन दरस दिखावन कामिनी।
विरह उपावन तपति बुझावन अगि लगावन भामिनी।। —दादूदयाल की बानी, पृ० ५३५

३. सेत छत्र सिर मुकुट बिराजै बना मुकैसी चीरा।
सख चक्र गदा पद्म बिराजै दामन दमकै हीरा। —गरीबदास की बानी, पृ० १७७

४. नद घर कौतुक करत नवीने।
भक्तबछल करतार गोसाईं धरि आये औतारा। —भक्तिसागर, पृ० ३४५

५. गर्व गुमान कियौ जब रावन मारि कियौ घमसान।
जगजीवनदास नाम भजु अतर चरन कमल धरि ध्यान। —जगजीवनसाहब की शब्दावली, भाग २

६. सो कछु बिचारो पडित सोई।
जाके रूप न रेख बरन नहि कोई।। —कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १००
ना दसरथ घरि औतरि आवा। ना लका का राव सतावा। —वही, रमैनी, पृ० २४३
अलख निरजन लखै न कोई निरभै निराकार है सोई। —वही, रमैनी, पृ० २३०

७. निरंजन निराकार निरलेपी निर्वीकार निसासी। —रैदास-बानी, पद ११

८. निरमल तत निरमल तत निरमल ऐसा।
निर्गुन निज विधि जैसा है तैसा। —दादूदयाल की बानी, पद ६५

९. निराकार है नित्यस्वरूप। —सुन्दर-ग्रन्थावली, भाग १

१०. कहत मलूका निर्गुन के गुन कोई बडभागी गावै। —मलूकदास की बानी, उपदेश शब्द ४

११. निर्गुन नाम निरंतर पेखी, जहां गुरू नहि चेला।
बिद्या भेद बेद नहिं जाना, जाना एक अकेला।। —बुल्लासाहब का शब्दसागर, शब्द ५

१२. साधो अचरज निर्गुन राम का।
मात पिता कुल गोत न वाके भेष न दुखिया वाम का। —भक्तिसागर, शब्दवर्णन, पृ० ४२३

१३. रूप नाम गुन सू रहित पंच तत्त मू दूर। —दयाबाई की बानी

१४. निराकार निर्गुन निरवासी।
आदि निरंजन अज अबिनासी। —सहजोबाई की बानी, पृ० १४

१५. निरंकार निरुपाधि निरामय भीखा रंग न रूप निसानी। —भीखासाहब की बानी, शब्द ३

१६. चमक झलमल रूप निरमल निर्गुन निर्बान।
सुद्ध बुद्धि नाहिं आवै भावै को ज्ञान। —जगजीवनसाहब की बानी, भाग २, श० ९

१७. निराकार न उहां अकारा।
सत्य शब्द नाहीं विस्तारा। —पलटूसाहब की बानी, भाग ३, शब्द ७९

अब हम शंकर-दर्शन के समानान्तर सन्त-काव्य में जीव के स्वरूप का विचार करेंगे। जीव के सम्बन्ध में सन्तो का मत है कि ब्रह्म-स्वरूप जीवात्मा शरीर के वृद्धि-क्षय आदि धर्मों से रहित है। आत्मा एवं ब्रह्म मे पूर्णतः अभेद है। निर्गुण ब्रह्म के समान ही आत्मा परमार्थ मे क्रियारहित है और प्रकृति के सत्त्वादि गुणों से शून्य है। आत्मा ही समस्त पदार्थों का अधिष्ठान है। परमार्थ मे आत्मा नित्य-मुक्त है एव उसके बधन और मोक्ष नही होते। कर्मजन्य सस्कारों के कारण जीव जन्मता और मरता है। व्यावहारिक उपाधियों में खडित होकर जीव अपने स्वरूप की विराटरूपता को भूल गया है। अविद्या-जन्य उपाधि से मुक्त होकर जीव ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार हम देखते है कि सत शकर के समान ही जीव मे पारमार्थिक अभेद एव ब्रह्म-सत्य का साक्षात्कार करते है। दोनों ने ही जीव की व्यावहारिकता के क्षेत्र मे अविद्या को आरोपित किया है। दोनो ही जीव के बधन को पारमार्थिक न मानकर अविद्या अथवा आत्मकृत मानते है। दोनो ही ज्ञान द्वारा जीव के मायारूप का बोध होना मानते है। दोनो ही विषयो, जागतिक व्यवहारों, एव कर्म को जीव के बधन का कारण मानते है। दोनों ही आत्मा को नित्य एव मुक्त मानते है। दोनो ही आत्मा को निर्विकार किन्तु विकारो का अधिष्ठान मानते है। निर्विकार आत्मा मे अविद्यात्मक विकारों की स्थिति के सम्बन्ध मे दोनो ने ही विवर्त-भावना का आश्रय लिया है। दोनों ने ही स्वीकार किया है कि जीव को कर्म-भोग के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। दोनो ने ही अविद्याजनित भ्रम को रस्सी में सर्पवत मान कर ज्ञान द्वारा भ्रम-नाश होना स्वीकार किया है। उक्त प्रसंगों को प्रमाणित करने के लिए सत कबीर[१], सन्त रैदास[२] उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त इस विषय मे सन्त दादू[३], सुन्दरदास[४], गरीबदास[५], बुल्लासाहब[६], चरनदास[७], भीखासाहब[८], पलटूसाहब[९], सहजोबाई[१०] और

---

१. त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमारो नाम रागराई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि इहि कबीर कुछ पाई हो। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०४
कहै कबीर मोहि सकल हम मांही, हमथैं और दूसरा नाही। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०४
तीनि लोक में हमारा पसारा आवागमन सब खेल हमारा। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २००

२. जब लग नदी समुद्र न समावै तब लग बढ़ै हंकारा।
जब मन मिल्यौ रामसागर में तब यह मिटी पुकारा। —रैदास-बानी, शब्द ३
रजु भुजग रजनी परगासा अस कछु भरम जनावा। —रैदास-बानी, शब्द ३

३. दादू बध्या जीव है, छूटा ब्रह्म समान।
दादू दोनों देखिये, दूजा नाही आन॥ —दादूदयाल की बानी, पृ० २१६
निसि अंधियारी कछू न सूझै, ससै सरप दिखावा।
ऐसो अध जगत नहि जानै, जीव जेवड़ी खावा॥ —दादूदयाल की बानी, पृ० ४८८

४. व्यापक अखड एक रस परिपूरन है, सुन्दर सकल ब्रह्म रचि रह्यो ताहे तें।
सदोष है देह को सजोग पाइ इन्द्रिन के वास पर्‌यौ आपु ही कौ भूलि गयौ सुख चाहे तें॥ —सुन्दर-ग्रंथावली, पृ० ५८०, भाग २

५. कहै दास गरीब उपाध लागी सब भूत भये जग नासा है।
दुख दुंद उपाध में जीव बधे समरथ को नही उपासा है। —गरीबदास की बानी, पृ० १०८

६. एकै ब्रह्म सकल मह अहई, काम क्रोध से भरमत रहई। —बुल्ला, शब्द-सागर, पृ० १३

७. देह नहीं तू ब्रह्म है, अविनासी निर्वान।
इच्छा दुइ कर दूरि आप तू ब्रह्म ह्वै जावै। —भक्तिसागर, पृ० २९८

८. मन भयौ ब्रह्म जीव नहि दोसर, अविगत अकथ कहनियां। —भीखासाहब की बानी, पृ० १२
भीखा एक दुइत का भयऊ, सर्प समाय रज्जु मइं गयऊ। —भीखासाहब की बानी, पृ० ३६

९. जोई जीव सोई ब्रह्म एक है ⋯
जीव से जाय ब्रह्म तब होता जिव बिनु ब्रह्म न होई।
जिव में ब्रह्म ब्रह्म में जिव है, ज्ञान समाधि में सूझै। —पलटूसाहब की बानी, भाग, ३ पृष्ठ ५३,

१०. जीवरूप के रोग भगे यों ब्रह्म रूप ह्वै जावै। —सहजोबाई की बानी

दयाबाई[1] की बानियो से उद्धरण प्रस्तुत किये जाते है।

सन्तो और शकर के अनुसार जीव को ब्रह्मत्व से पृथक करने वाला तत्त्व माया, अविद्या अथवा अज्ञान है। माया-अविद्या के सम्बन्ध मे शंकर और सन्त कई प्रकार से सहमत है। दोनो ही मानते है कि माया से उत्पन्न पदार्थ अनित्य है। माया जीव के आत्मबोध के मार्ग मे दूषण है। अहकार, अभिमान, कामना, भोग-लिप्सा आदि मायाजनित विकार है। माया भ्रामक और मिथ्या है। जीव का लक्ष्य माया का भोग नही है किन्तु माया जीव को अपने विवश रखती है। माया का नाश आत्म-स्वरूप के ज्ञान के अनन्तर होता है। माया त्रैगुण्य की जननी एव जीव की बधस्वरूपा है। परमेश्वर ही मायापति है। उक्त सिद्धान्तो के अतिरिक्त सन्तो द्वारा गृहीत माया-सिद्धान्त मे कुछ विशिष्टता है। सन्तों ने माया का त्याग और ज्ञान-वृत्ति को ब्रह्मोन्मुख करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध मे सन्तो ने नित्यानित्य-विवेक एव वैराग्य-साधन को प्रधानता दी है। सन्तों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि माया प्रकृतिजन्य विकार है एव मन, बुद्धि आदि की वृत्तिया तथा इन्द्रिया सभी माया के रूप है। जीव के भौतिक मनोरथ स्त्री, द्रव्य, शरीरासक्ति, ऊंचे-ऊंचे महल, सामाजिक सम्पन्नता आदि सभी मायाजनित अनित्य पदार्थ है। यह माया अनिवर्चनीया है। इस सत्य को शकर और सन्तो दोनो ने स्वीकार किया है। दोनो ने ही माया को ब्रह्म का विवर्त्त रूप माना है। दोनो ने कर्म को शरीर एव अविद्या से उत्पन्न माना है। इस प्रकार माया के सम्बन्ध मे भी शकर और सन्त एकमत है। सन्त-बानियो से प्रकट है कि माया, अविद्या, अज्ञान आदि शब्दो को इन सन्तों ने पर्यायरूप मे अकित किया है। उक्त प्रसग मे सन्त कबीर[2] सन्त रैदास[3], दादू[4], सन्त मलूकदास[5], चरनदास[6], सुन्दरदास[7], सन्त पलटू[8] के दार्शनिक विचार उद्धृत किए जाते है।

अब हम सन्त-काव्य के साधनात्मक तत्त्वो पर विचार करेगे। कर्म की साधना को सन्त श्रेष्ठ साधन नही मानते। शकर और सन्त दोनों ही ज्ञान-साधन को ही चरम साधन स्वीकार करते है। कर्म-साधन जीव को चिरस्थायी मुक्ति पद देने मे असमर्थ है। पुण्य कर्मों का फल स्वर्ग कहा गया है किन्तु पुण्य के क्षीण होने पर जीव पुन: ससार मे जन्म लेता और मरता है। वैदिक दर्शन का लक्ष्य है जीव को चिरन्तन शान्ति प्रदान करना। अत शकर और सन्त दोनो ही कर्म-साधन को पूर्ण कल्याणकारी नहीं मानते। कर्मसाधन की निकृष्टता का उल्लेख प्राय सभी निर्गुण कवियो के काव्य

---

१. जीव ब्रह्म अन्तर नहि कोय।
एकै रूप सर्व घट-घट होय।।
जग विवर्त सूं न्यारा जान।
परम अद्वैत रूप निर्वान।। —दयाबाई की बानी, पृ० १४

२. धन धधा व्यवहार सब, माया मिथ्यावाद। —कबीर-ग्रथावली, पृ० २१०
माया मोहि मोहि हित कीन्हा, तार्थें ज्ञान ध्यान हरिलीन्हा। —वही, पृ० १७१
पांच तत्त तीन गुण जुगति करि सानिया उपजि बिनसै जेती सर्वमाया। —कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १५६

३. झूठी माया जग डहकाया तौ तिन ताप दहै रे। —रैदास-बानी, पृ० २२

४. माया बैठी राम ह्वै कहै मैं हीं मोहनराइ।
ब्रह्मा बिस्न महेस लौं, जोनी आवै जाइ। —दादूदयाल की बानी, माया का अंग
माया काली नागिनी, जिन डसिया सब ससार हो। —दादूदयाल की बानी, शब्द

५. हमसे जनि लागै तू माया।
थोरे रे फिरि बहुत होयगी सुनि पैहं रघुराया। —मलूकदास की बानी, पृ० १०

६. उपजै सो माया सभी बिनसि नेक में जाय।
छल माया सो कहत हं सपनो सकल विहाय।। —भक्तिसागर, पृ० २१६

७. उपजै बिनसै सो सब बाजी बेद पुराननि में कही।
नाना बिधि के खेल दिखावै बाजीगर साची तुही।।
रज भुजग मृगतृष्णा जैसो यह माया बिस्तरि रही।। —सुन्दर-ग्रन्थावली, पृ० ८३४

८. माया ठगिनी जग बौराई।
देवतन के घर भई अप्सरा जोगी के घर चेली। —पलटूसाहब की बानी, भाग ३

मे उपलब्ध है। मुख्यतः सन्त कबीर[1], रैदास[2], दादूदयाल[3], सुन्दरदास[4], मलूकदास[5], गरीबदास[6], भीखा[7], चरनदास[8] और पलटूसाहब[9] यहा उल्लेखनीय है। कर्म अविद्याजनित है एव प्रकृति के गुणों से इसकी उत्पत्ति होती है। अस्तु, शकर और सन्त दोनों ही ज्ञान-साधन को श्रेष्ठ मानते हैं।

ज्ञान के द्वारा जीव एवं ब्रह्म की एकता तथा अभेद का अनुभव होता है। जगत और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन ज्ञान द्वारा सभव है। यह ज्ञान प्रपंचभूत मायिक तत्वो से भिन्न ब्रह्मस्वरूप और नित्य सत्य है। ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म, किन्तु जीव का कल्याण करने में पूर्ण समर्थ साधन है। इस ज्ञान से ही जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है। सन्त कबीर[10], रैदास[11], दादूदयाल[12], सुन्दरदास[13], मलूकदास[14], गरीबदास[15], बुल्लासाहब[16], चरनदास[17], दयाबाई[18], भीखासाहब[19], जगजीवन साहब[20] एवं पलटूसाहब[21] ज्ञान-धारा के मुख्य कवि हैं।

अब हम सन्त-काव्य मे शंकर-सम्मत साधन-चतुष्टय पर विचार करेगे। सन्त-काव्य में नित्यानित्य-विवेक का विचार करते हुए हम देखते हैं कि सन्तो के विचार इस सम्बन्ध में पूर्णत स्पष्ट है। विवेकचूडामणि के अनुसार ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है। इस विषय का निश्चय ही नित्यानित्य-विवेक है।[22] इस सम्बन्ध मे सन्तों की पदा-

---

१. यहु तन तौ सब बन भया, करम भये कुहाड़ि।
आप आप को काटिहैं, कहै कबीर बिचारि ॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २५

२. भरम करि करि करम कीये, भरम की यह बानि ॥ —रैदास-बानी, पृ० ५

३. जप तप करनी करि गये सर्ग पहूंचे जाइ।
दादू मन की वासना, नरकि परे फिरि आइ ॥ —दादूदयाल की बानी, पृ० १५५

४. तीनों गुन के कर्मनि करिके नाना योनि भुलायौ। —सुन्दर-ग्रंथावली

५ जे करनी का करै भरोसा ते जम के घर जाहीं। —मलूकदास की बानी, पृ० १६

६. इसमें दूसर कर्म है, बंधी अविद्या गांठ।
पांच पचीसों ले गई, अपनी अपनी बाट। —गरीबदास की बानी, पृ० १२९

७. जग परिपच करम अरुझै नर, सबै कहत मोरी मोरी। —भीखासाहब की बानी, पृ० ४४

८. पूर्जा कर्म जु माया पासा फिरि उतपति की वाको आसा। —भक्तिसागर, पृ० ३०, धर्मजहाज-वर्णन।

९. कर्म बंध हरि दूरिहैं बूड़ी मझधारा। —पलटूसाहब की बानी, भाग ३

१०. अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान। —कबीर-ग्रथावली, पृ० ८९

११. ग्यान बिचारि चरन चित लावै हरि की सरनि रहै रे। —रैदास-बानी, पृ० २२

१२. राम कहै जिस ज्ञान सों अमृत रस पीवै। —दादूदयाल की बानी, पृ० १२३

१३. ब्रह्म ज्ञान बिचारि करि होई ब्रह्म सरूप रे। —सुन्दर-ग्रंथावली, पृ० ८३९

१४. हांक ले आया ज्ञान तब बांधा तात लगाय। —मलूकदास की बानी, पृ० ३५

१५. अजब मरहम मिला ज्ञान अगहै खुला परख परतीत मृ दुन्द भागा। —गरीबदास की बानी, पृ० ११०

१६. जन बुल्ला ब्रह्मज्ञान बोलतु है सकल वेद कौ मूल। —बुल्लासाहब, शब्दसागर, पृ० १२

१७. अब हम ज्ञान गुरू से पाया।
दुबिधा खोय एकता दरसी निश्चल है घर आया। —भक्तिसागर

१८. महामोह की नींद में सोवत सब ससार।
दया जगत गुरू दया सूं ज्ञान मान उजियार। —दयाबाई की बानी, पृ० १३

१९. कली बैठि गुरु ज्ञान मूल। —भीखासाहब की बानी, पृ० ४१

२०. साधौ, अब मैं ज्ञान विचारा।
निर्गुन निराकार निरबानी तिनका सकल पसारा। —जगजीबनसाहब की बानी

२१. जागे से परलोक बनतु है सोये बड़ो दुख होय।
ज्ञान खरग लिये पलटू जागै होनी होय सो होय ॥ —पलटूसाहब की बानी, भाग ३, पृ० ३८

२२. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः। —विवेकचूड़ामणि

वली में रहता-बहता, निहचल-चंचल, खरा-खोटा, बेहद-हद, पूरा-अधूरा, निरजन-अंजन, साच-झूठ आदि शब्दों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। सभी सन्तों ने नित्यानित्य-विवेक को अपने ज्ञान-साधन का आधार बनाया है।

वैराग्यसाधन सतकाव्य का प्राण कहा जा सकता है। विवेकचूडामणि के अनुसार 'दर्शन और श्रवण के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक तक सम्पूर्ण अनित्य पदार्थो मे घृणा हो जाना वैराग्य है।'[1] इस सम्बन्ध मे सन्तकाव्य मे माया-सम्बन्धी विचारों का अध्ययन अधिक उपयोगी है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान का तृतीय साधन है, षट्साधन-सम्पत्ति। इसमे शम—मानसिक व अन्त करण की शान्ति, दम—इन्द्रिय-निग्रह, उपरति, विषयोपभोग की इच्छा से रहित होना; तितिक्षा—साधनमार्ग की कठिनाइयो को धैर्यपूर्वक सहन करना, श्रद्धा—गुरु और शास्त्र-वाक्यो मे पूर्ण विश्वास रखना, समाधान—सम्पूर्ण वृत्तियो को शान्त करके परमात्मा मे स्थित होना आदि साधनात्मक व्यवहारो की प्रधानता है। चतुर्थ साधन मुमुक्षुत्व अथवा साधक मे मोक्षेच्छा होना है। इस विषय मे यह स्मरणीय है कि सन्तो ने इन साधनो का उल्लेख अथवा इन्हे परिभाषाबद्ध रूप मे कही नही प्रकाशित किया, तो भी इसका पालन करना उनकी साधना का मुख्य अंग रहा है। इस विषय मे सन्त-काव्य इन तत्त्वो से आप्लावित है। सन्त-साहित्य के अध्येता के लिए इन तत्त्वो को खोजने मे परिश्रम भी नही करना पडेगा। अत. इस विषय को इस सक्षिप्त व्याख्या के साथ ही समाप्त करना उचित है।

उपर्युक्त साधनक्रम शाकर वेदान्त के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त ज्ञान के अन्य साधन सद्‌गुरु या आचार्य, युक्ति व तर्क-प्रतिष्ठा, अनुभव-श्रुति-सम्मत सिद्धान्तो का भी सन्त-काव्य मे अभाव नही है। इनमे सद्‌गुरु और अनुभव की विस्तृत मान्यताए तो सन्त-काव्य मे उसी प्रकार से अनन्त रूप से व्यापक है जिस प्रकार हरि-कथा।

---

१. तद्वैराग्य जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादि ब्रह्म पर्यन्त ह्यनित्ये भोगवस्तुभिः॥ —विवेकचूडामणि

निर्गुण-भक्ति के प्रचारक : संत नामदेव

डा० विनयमोहन शर्मा

नामदेव महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सत हो गए है। इनके समय मे नाथ और महानुभाव-पथो का महाराष्ट्र मे प्रचार था। नाथ-पथ 'अलख-निरजन' की योग-परक साधना का समर्थक तथा बाह्याडम्बरो का विरोधी था और महानुभाव-पथ वैदिक कर्मकाड तथा बहुदेवोपासना का विरोधी होते हुए भी मूर्ति-पूजा को सर्वथा निषिद्ध नही मानता था। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र मे पढरपुर के बिठोबा की उपासना भी प्रचलित थी। सामान्य जनता प्रतिवर्ष आषाढी और कार्तिकी एकादशी को उनके दर्शनो के लिए पढरपुर की वारी (यात्रा) किया करती थी और यह प्रथा आज भी प्रचलित है। इस प्रकार की वारी (यात्रा) करने वाले 'वारकरी' कहलाते है। विट्ठलोपासना का यह पथ 'वारकरी सम्प्रदाय' कहलाता है। नामदेव इसी सम्प्रदाय के प्रमुख सत माने जाते है।

नामदेव का काल-निर्णय : वारकरी सत नामदेव के समय के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। मतभेद का कारण यह है कि महाराष्ट्र मे नामदेव नामक पाच सत हो गए है और उन सबने थोडी-बहुत अभग और पद-रचना की है। आवटे की 'सकलन सतगाथा' मे नामदेव के नाम पर २५०० अभग मिलते है। लगभग ६०० अभगो मे केवल नामदेव या 'नामा' की छाप है और शेष मे विष्णुदास नामा की।

कुछ विद्वानो के मत मे दोनो 'नामा' एक ही है। विष्णु (विठोबा) के दास होने से नामदेव ने ही सम्भवत अपने को विष्णुदास 'नामा' कहना प्रारम्भ कर दिया हो। इस सम्बन्ध मे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध इतिहासकार वि० का० राजवाडे का कथन है कि 'नामा' शिपी (दर्जी) का काल शके ११९२ से १२७२ तक है। विष्णुदास नामा का समय शके १५१७ है। यह एकनाथ का समकालीन था। प्रोफेसर रानडे ने भी राजवाडे के मत का समर्थन किया है। श्री राजवाडे ने विष्णुदास नामा की 'बावन-अक्षरी' प्रकाशित की है जिसमे 'नामदेवराय' की वन्दना की गई है। इससे भी सिद्ध होता है कि ये दोनो व्यक्ति भिन्न है और भिन्न-भिन्न समय मे हुए है। चादोरकर ने महानुभावी 'नेमदेव' को भी वारकरी नामदेव के साथ जोड दिया है। परन्तु डा० तुलपुले का कथन है कि यह भिन्न व्यक्ति है और कोली जाति का है। इसका वारकरी नामदेव से कोई सम्बन्ध नही है। नामदेव के समसामयिक एक विष्णुदास नामा कवि का और पता चला है पर यह महानुभाव सम्प्रदाय का है। इसने महाभारत पर ओवीबद्ध ग्रन्थ लिखा है इसका वारकरी नामदेव से कोई सम्बन्ध नही है।

नामदेव-विषयक एक और विवाद है। 'गुरुग्रन्थसाहब' मे नामदेव के ६१ पद सगृहीत है। महाराष्ट्र के कुछ विवेचको की धारणा है कि गुरुग्रन्थसाहब का नामदेव पजाबी है, महाराष्ट्रीय नही। हो सकता है, वह महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव का कोई शिष्य रहा हो और उसने अपने गुरु के नाम पर हिन्दी मे पद-रचना की हो। परन्तु मेरे मत से महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव ही के हिन्दी-पद गुरुग्रन्थसाहब मे सकलित है। क्योकि मैने नामदेव के मराठी अभगों और गुरुग्रन्थसाहब के पदो मे जीवन-घटनाओ तथा भावो, यहा तक कि रूपको और उपमाओ तक की समानता पाई है। अत. मराठी अभगकार नामदेव और हिन्दी-पदकार नामदेव एक ही सिद्ध होते हैं।

महाराष्ट्रीय विद्वान वारकरी नामदेव को ज्ञानेश्वर का समसामयिक मानते हैं और ज्ञानेश्वर का समय

उनके ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' से प्रमाणित हो जाता है। ज्ञानेश्वरी में उसका रचना-काल १२१२ शके दिया हुआ है। डा० मोहनसिंह दीवाना नामदेव के काल को खींचकर चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी तक ले जाते है। परन्तु उन्होने अपने मत-समर्थन का कोई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नही किया। नामदेव की एक प्रसिद्ध रचना 'तीर्थावली' है जिसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है। उसमे ज्ञानदेव और नामदेव की सह-यात्राओ का वर्णन है। अत ज्ञानदेव और नामदेव का समकालीन होना भीतरी साक्ष्य से भी सिद्ध है। नामदेव ज्ञानेश्वर की समाधि के लगभग ५५ वर्ष बाद तक और जीवित रहे। इस प्रकार नामदेव का काल शके ११९२ से शके १२७२ तक माना जाता है।

जीवन-चरित्र . नामदेव का जन्म शके ११९२ मे प्रथम सम्वत्सर कार्तिक शुक्ला एकादशी को नरसी ब्राह्मणी नामक ग्राम मे दामा शेट शिपी (दर्जी) के यहा हुआ था। इनका मन पैतृक व्यवसाय मे कभी नही लगा। ये प्रारम्भ मे लूटमार-हत्या आदि समाज-विरोधी कार्य किया करते थे। एक दिन जब यह अपने उपास्य आवढ्या के नागनाथ के दर्शन के लिए गए तब इन्होने मन्दिर के पास एक स्त्री को अपने रोते हुए बच्चे को बहुत बुरी तरह मे मारते हुए देखा। इन्होने जब उससे इसका कारण पूछा तब उसने बडी वेदना के साथ कहा, 'इसके बाप को तो नामदेव डाकू ने मार डाला, अब मै कहा से इसके पेट मे अन्न डालू ?" नामदेव के मन पर इस घटना का गहरा प्रभाव पडा। यह तभी से विरक्त हो पढरपुर मे जाकर 'विठोबा' के भक्त हो गए। वही इनकी ज्ञानेश्वर-परिवार मे भेंट हुई और उसी की प्रेरणा से इन्होने नाथपथी विसोबा खेचर मे दीक्षा ली। जो नामदेव पढरपुर के विट्ठल की प्रतिमा मे ही भगवान को देखते थे, वे खेचर के सम्पर्क मे आने के बाद उसे सर्वत्र अनुभव करने लगे। उनकी प्रेमासक्ति मे ज्ञान का समावेश हो गया। डा० मोहनसिंह दीवाना नामदेव को रामानन्द का शिष्य बतलाते है। परन्तु महाराष्ट्र मे इनकी बहुमान्य गुरु-परम्परा इस प्रकार है --
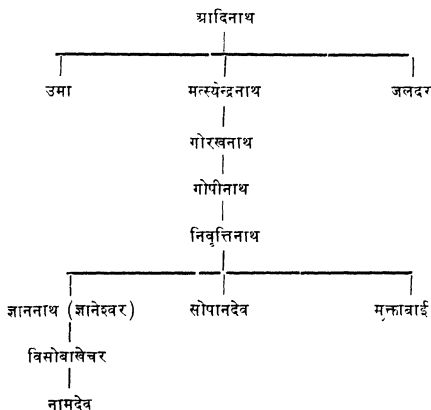
ज्ञानेश्वर और नामदेव ने उत्तर भारत की साथ-साथ यात्रा की थी। ज्ञानेश्वर मारवा मे कोलादजी नामक स्थान तक ही नामदेव के साथ गए। वहा से लौटकर उन्होने आलदी मे शके १२१८ मे समाधि ले ली। ज्ञानेश्वर के वियोग से नामदेव का मन महाराष्ट्र से उचट गया और वह पंजाब की ओर चले गए। गुरुदासपुर जिले के घोमान नामक स्थान पर आज भी 'नामदेवजी का मन्दिर' विद्यमान है। वहा सीमित क्षेत्र मे इनका पथ भी चल रहा है। सतो के जीवन के साथ कतिपय चमत्कारी घटनाए जुडी रहती है। नामदेव के चरित्र में भी सुल्तान की आज्ञा से इनका मृत

गाय को जिलाना, पूर्वाभिमुख ग्रावढ्या नागनाथ मन्दिर के सामने कीर्तन[1] करने पर पुजारी के ग्रापत्ति उठाने के उपरांत इनके पश्चिम की ग्रोर जाते ही उसके द्वार का पश्चिमाभिमुख हो जाना, विट्ठल की मूर्ति का इनके हाथ से दुग्धपान करना ग्रादि घटनाएं समाविष्ट है। महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक विट्ठल की व्यापकता का कीर्तन करने वाले नामदेव ने ८० वर्ष की ग्रायु मे पढरपुर के विट्ठल मन्दिर के महाद्वार पर शके १२७२ मे समाधि ले ली। कुछ विद्वान उनका समाधि-स्थान घोमान मानते है परन्तु बहुमत पढरपुर के ही पक्ष मे है।

नामदेव का मत : बिसोबाखेचर से दीक्षा लेने के पूर्व तक यह सगुणोपासक थे। पढरपुर के विट्ठल (विठोबा) की उपासना किया करते थे। दीक्षा के उपरात इनकी विट्ठलभक्ति सर्वव्यापक हो गई। महाराष्ट्रीय मत-परम्परा के ग्रनुसार इनकी निर्गुण-भक्ति थी, जिसमे सगुण-निर्गुण का कोई भेदभाव नही था। इन्होने मराठी मे कई सौ ग्रभग ग्रौर हिन्दी मे सौ के लगभग पद रचे है। इनके पदो मे हठयोग की कुडलिनी-योगसाधना ग्रौर प्रेमासक्ति की (ग्रपने राम से मिलने की) 'तालाबेल्ली' (विह्वलभावना) दोनो है। निर्गुणी कबीर के समान नामदेव मे भी व्रत, तीर्थ ग्रादि बाह्याडम्बर के प्रति उपेक्षा, तथा भगवन्नाम एव 'सतगुरु' के प्रति ग्रादरभाव विद्यमान है। कबीर के पदों मे यत्र-तत्र नामदेव की भावछाया दृष्टिगोचर होती है। कबीर के पूर्व नामदेव ने उत्तर भारत मे निर्गुण-भक्ति का प्रचार किया, जो निर्विवाद है।

नामदेव के पदो मे भक्त की भगवान के प्रति मिलन-उत्कठा की मधुर ग्रभिव्यक्ति है। इसे वह 'तालाबेली' शब्द से परिचित कराते है, जिसका ग्रर्थ व्याकुलता तो है, पर ऐसी व्याकुलता है जिसमे तीव्रता है, ग्रातुरता है। वह कहते है—

"मोहि लागति तालाबेली।
बछरे बिनु गाइ ग्रकेली॥
पानीग्रा बिनु मीनु तलफै।
ऐसे रामनामा बिनु बापुरो नामा॥"

यह तालाबेली उस प्रकार की है, जिस प्रकार की गाय को बछडे के बिना होती है, मछली को पानी के बिना होती है।

नामदेव प्रेम की तीव्रता का भान लोकानुभूत उदाहरण देकर कराते हैं—

"जैसे बिखेहेत पर नारी,
ऐसे नामे प्रीति मुरारी।"

जिस प्रकार विषयी पर-नारी से प्रेम कर तड़पता है उसी प्रकार की तालाबेली मेरी तुम्हारे प्रति है। 'परकीया' मे प्रीति की विह्वलता ग्रधिक मुखरित होती है। तभी वल्लभ-सम्प्रदायियो ने 'राधा' ग्रौर 'गोपियो' की सृष्टि कर परकीया प्रेमासक्ति की छटपटाहट व्यक्त की है। एक पद मे 'राम' के प्रति प्रीति की सघनता का इसी प्रकार का उदाहरण दिया है—

"कामी पुरख कामनी पिग्रारी। ऐसी नामे प्रीति मुरारी।"

पृष्ठ १३०

'नामा' ग्रपने राम की बावली वधू बनकर उसे रिझाने के लिए सिगार करते है—

"मै बउरी मेरा राम भरतार,
रचि-रचि ताकउ करऊं सिगार।"

कबीर ने भी कई पदो मे नामदेव की भाति कान्ताभाव से ग्रपने 'राम' की कामना की है ग्रौर विरह मे बिना जल की मछली के समान तड़पने की व्यथा व्यक्त की है। उनकी एक पक्ति तो बिलकुल नामदेव की ही जान पडती है—

१. महाराष्ट्र में कीर्तन-प्रथा के प्रवर्तक नामदेव माने जाते हैं।

"मैं बउरी मेरे राम भरतार,
तां कारण रचि करौं स्यंगार।"
"हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।"
ज्यूं कामी को काम पियारा,
ज्यूं प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी
हरि सूं कहै सुनाय रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं,
बिन देखे जीव जाइ रे॥[1]

राम' मे मिलने की जो तालाबेली नामदेव मे है, वही कबीर मे है, और वही दादू में भी-

राम बिछोही बिरहनी, फिरि मिलन न पावै।
दादू तलफै मीन ज्यूं तुझ दया न आवै॥

दादू तो तालाबेली की कामना भी करते है क्योकि उसी से दरसन के रस मे मिठास आती है।

तालाबेली प्यास बिन क्यों रस पीया जाय।
बिरहा दरसन दरद सों हमकों देहु खुदाइ॥
कहा करौं कैसे मिलै रे तलपै मेरा जीव।
दादू आतुर बिरहिनी कारण अपने पीव॥

सत रज्जब की कसक भी उसी कोटि की है—

बिरहिण व्याकुल केसवा, निसिदिन दुखी बिहाय।
जैसे चंद कुमोदिनी बिन देखे कुम्हलाइ॥
खिन खिन दुखिया दगधिये बिरह बिथा बन पीर।
घरी पलक में बिनसिये ज्यूं मछरी बिन नीर॥"[2]

नामदेव को अपने प्रिय मे मिलते समय लोकनिंदा का भय नही है। वह तो 'निसानुबजाई (डके की चोट पर) मिलना चाहते है। यह भाव मध्यकालीन वृन्दावन की गोपियो के समान जान पडता है जिसमे "कोउ कहा कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहो" की गूज है।

"भले निंदऊ भले निंदऊ भले निंदऊ लोगू,
तनु मनु राम पिआरे जोगू।
बादु बिबादु काहू सिउ न कीजै,
रसना रामु रसाइनु पीजै।
अब जिउ जानि ऐसी बनि आई,
मिलउ गुपाल नीसानु बजाई।
असतुति निंदा करै नरु कोई
नामें श्रीरंगु भेतल सोई।"

कबीर में भी इसी भाव की प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

१. सन्त-सुधासार, पृ० ४५८
२. सन्त-सुधासार, पृ० ५१६

"भलें नींवो भलें नींवो नींवो लोग,
तन मन राम पिआरे जोग।

नामदेव के पूर्व नाथ-सम्प्रदाय के प्रेरक सिद्धों ने बहुदेवोपासना, व्रत, तीर्थ आदि बाह्याडम्बरो की व्यर्थता प्रचारित की है।[1] महाराष्ट्रीय सन्तो का सम्पर्क नाथों से रहने के कारण उन्होने भी बाह्याडम्बरो के प्रति उदासीनता व्यक्त की है।

नामदेव के पदो मे सिद्धो और नाथो का स्वर सुन पडता है—

राम संगि नामदेव जनकऊ प्रति सिया आई।
एकादसी वृतु रहै काहै कऊ तीरथ जाई।
भनति नामदेव सुकित सुमित भए।

उत्तर भारत मे जव नामदेव ने भ्रमण किया तो उन्हे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही जातियो मे, धार्मिक और सामाजिक कट्टरता दिखाई दी। अतएव उन्होने उन दोनो को बोध-बाणो से छेदने की चेष्टा की—

"पांडे तुमरी गाइनी लोधेका खेत खाती थी।
लैकरि ठेका टगरी तोरी लांगत लांगत जाती थी।।
पांडे तुमरा महादेऊ धऊले बलद चढ़िआ भावत देखिआ था।
मोदी के घर खाणा पाका वाका लड़का मारिआ था।।
पांडे तुमरा रामचंदु सो भी आवतु देखिआ था।
रावन सेती सरबर होइ घर की जोइ गवाई थी।।
हिंदू पूजं देहुरा मुसलमाणु मसीत।
नामें सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत।।"

पोथी-पढन्ते पाडे के प्रति जिस प्रकार नामदेव की खीझ है उसी प्रकार कबीर की भी है:

तू राम न जपहि अभागी!
वेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं, अन्त पड़े मुख छारा।।

नामदेव की साहित्यिक और सांस्कृतिक सेवा

नामदेव का व्यक्तित्व सचमुच महान था, उन्होने उत्तर भारत मे प्रवेश कर जनता को बहुदेवोपासना, कृत्रिम आचार-विचार, जातिभेद आदि के प्रति सजग किया। क्योकि भारत में जो विदेशी सस्कृति का प्रवेश हो गया था, वह उसके इन्ही 'दोषो' से लाभान्वित हो अपना विस्तार कर सकती थी। अत: उन्होने अपने उपदेशो से कबीर और अन्य परवर्ती सन्तो का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

नामदेव ने जहा उत्तर भारत मे युगानुरूप विचारो से क्रान्ति की चिनगारी प्रज्ज्वलित की, वहा हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से खडीबोली के पद्य को विभिन्न राग-रागिनियो की पद-शैली भी प्रदान की। सक्षेप में नामदेव हिन्दी के अपने समय के (१) निर्गुण-भक्ति के प्रथम प्रचारक, और (२) हिन्दी गीत-शैली के प्रथम उन्नायक कहे जा सकते है। नामदेव की लोकप्रियता का प्रमाण इसी से मिल जाता है कि परवर्ती सन्त कवियो ने श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण किया है।

---

१. किन्तः तित्थ तपोवण जाइ, मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाइ।
—संत-सुधासार, पृ० ६

सिद्ध तिल्लोपाद कहते है—
(तीर्थ सेवन और तपोवनवास तथा जलस्नान से कहीं मोक्ष-लाभ होता है?)
देव म पूजहु तित्थ ण जावा, देव पूजाहि ण मोक्ख पावा। स० सु० पृ० १०
(न देव-पूजा करो न तीर्थ जाओ, देवपूजा से मोक्ष प्राप्त नही करोगे।)

मध्ययुगीन मानस

डा० रामरतन भटनागर

मध्य युग मे भारतीय मन परिवार, समाज, नीति, परम्परा और प्रथित धर्म के सारे बन्धनो को तोडकर उनका अतिक्रमण करने तथा अकेला खडे रहने की चेष्टा करता है। भारतीय समाज के तीन प्रमुख बन्धन रहे है वर्ण (जाति), परिवार और ग्राम-पचायत। नवागन्तुको को इन बधनो को स्वीकार करना पडता था और तभी वह भारतीय लोक मे दीक्षित हो सकते थे। इन तीनो मे अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य की भावना का प्राधान्य था। इन्ही के द्वारा नैतिक और सामाजिक जीवन की तुष्टि सम्भव थी। वस्तुत. भारतीय एकता का मूलाधार ही यह कर्त्तव्य की धारणा है जो कर्मवाद, और फलत नियतिवाद, से जुडी हुई है। धर्म और दर्शन के प्रति भारतीय भावना उदार, सहिष्णु और सारसग्रही रही है। भारतीय समाज व्यवस्थित समाज था और एक बार सामाजिक व्यवस्था मे अपना स्थान निश्चित कर लेने पर धर्म और चिन्ता के क्षेत्र मे व्यक्ति को खुला छोडा जा सकता था। हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और जैन एक ही सूत्र मे बधे हुए थे। एक प्रकार से भारतीय मेधा व्यवस्थावादी, स्थिरतावादी तथा कर्त्तव्यवादी थी। इसका सबसे प्रौढ स्वरूप ब्राह्मण-धर्म मे देखा जा सकता है जिसमे वेद, शास्त्र, ब्राह्मण, पौरोहित्य तथा वर्ण-व्यवस्था (स्मृति) का कडा अनुशासन था।

परन्तु आरम्भ से ही इस ब्राह्मणधर्मी व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी चल रहे थे जो बौद्ध, जैन, आजीवक आदि सम्प्रदायो के रूप मे पल्लवित हुए। स्वय ब्राह्मणधर्म के भीतर 'पाञ्चरात्र' जैसे विरोधी सम्प्रदाय थे। उपनिषदो का आत्मवाद (ब्रह्मवाद) भी यज्ञवाद का विरोधी बनकर सामने आता है और समस्त भूतो मे व्याप्त एक ही चिन्मय शक्ति के आधार पर मानवैक्य की नई कल्पना जाग्रत करता है। विचार की भूमि पर वह चाहे क्रातिकारी नही हो, परन्तु साधना तथा व्यवहार की भूमि पर इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि वह वर्ण-व्यवस्था, पुरोहित तथा प्रथित धर्म का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार व्यवस्थित भारतीय समाज के भीतर से उसके बधनो को शिथिल करने का प्रयत्न हुआ और मध्ययुग मे इस चेष्टा ने बडा व्यापक रूप धारण कर लिया।

मध्य युग की यह क्राति तन्त्र, योग तथा भक्ति की भूमि पर पल्लवित हुई और इसने सम्पूर्ण व्यवस्था के अस्वीकार को ही अपना धर्म मान लिया। वैष्णव, शैव, बौद्ध तथा जैन सभी सम्प्रदायो ने इस क्राति को अशत· या सम्पूर्णत. स्वीकार किया। सभी ब्राह्मणो के याज्ञिक धर्म (स्मार्त्त धर्म) के विरोधी थे और पुरोहित, धर्म-व्यवस्था तथा शास्त्र से मुख मोडकर चरम सत्ता से अपना निजी, स्वतन्त्र तथा भावनात्मक सम्बन्ध जोडना चाहते थे। उन्होने सभी प्रकार के सकीर्ण विभेदो का विरोध किया और मनुष्य-मात्र को देवोपम मानकर आभ्यतर जीवन की नये सिरे से प्रतिष्ठा की।

स्त्रियो और शूद्रो को भी धर्म-साधना मे महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इसमे सन्देह नही कि यह क्राति पिछली किसी भी धार्मिक क्राति से कम नही थी और इसने युग का ध्यान देवता से हटाकर मनुष्य पर केन्द्रित कर दिया। वह भी खण्डित मनुष्य नही, अखण्डित, समग्र मानव। फलत: प्रवृत्ति मे ही निवृत्ति की खोज हुई और मुक्ति तथा भुक्ति का अंतर नष्ट हुआ। यह विद्रोह सार्वभौम था और उसने देशकालिक व्यवधान को नष्ट कर एकमात्र 'चित्त' की उन्मुक्ति

को महत्त्व दिया था।

प्राचीन भारत मे ब्राह्मण और क्षत्रिय-वर्ग हा शिष्ट (एलीट) रहे है। उनमे स्पष्ट रूप से द्वन्द्व दिखलाई पडता है जो ब्रह्म-क्षत्र-सघर्ष के रूप मे प्रसिद्ध है। ब्राह्मणो के याग-धर्म (क्रियाकाण्ड) के विरुद्ध क्षत्रिय-वर्ग ने 'ब्रह्म-वाद' (आत्मवाद) को जन्म दिया, जैसे अश्वपति कैकेय, पाचालराज, प्रवाहण जैवलि, तथा जनकविदेह से सम्बन्धित उपनिषदो के वृत्तातो से जान पडता है। जैन तथा बौद्ध धर्मान्दोलन भी इसी सघर्ष की सूचना देते है, क्योकि इन आदोलनो के प्रवर्त्तक राजन्यवर्ग के महापुरुष महावीर और बुद्ध थे। भागवतधर्म के पूर्व-पुरुष कृष्ण के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है। इस प्रकार मध्य युग से बहुत पहले वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण, पुरोहित, क्रियाकाण्ड और शास्त्र के प्रति विरोध विकसित हो चुका था और वेदात (ब्रह्मवाद), महायान-भक्ति तथा अद्वैत के रूप मे उसका दार्शनिक स्वरूप भी स्पष्ट हो गया था। मध्ययुग मे इन्ही विरोधो के भीतर से अद्वैतवाद (शकर), भक्ति (रामानुज-रामानन्द), तन्त्र (वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान तथा वैष्णव-शैव तान्त्रिक सम्प्रदाय), योग (हठयोग, कुण्डलिनी-योग आदि) और सूफी-साधनाए पल्लवित हुई। कालातर मे इन स्वतन्त्र साधनाओ ने ब्राह्मणधर्म और उसके सगठन के बाहर अनेक सम्प्रदायो को जन्म दिया। इन सम्प्रदायो के कारण विदेशी जातियो को, जो वर्ण-व्यवस्था और पुरोहितवाद की कायल नही थी, भारतीय लोक-व्यवस्था मे सम्मिलित होना सम्भव हो गया। फलस्वरूप, सैकडो की सख्या मे सम्प्रदायो का जन्म हुआ। यह कहा जा सकता है कि इस्लाम-पूर्व का भारतवर्ष सम्प्रदायो मे ही सगठित था। उस समय समाज की कल्पना हिन्दू-अहिन्दू-समाज के रूप मे नही थी। इस्लाम के प्रवेश के साथ यह समाज हिन्दू नाम से एक विशाल समाज के रूप मे सगठित हो गया और 'भक्ति' के चोले मे अनेक वेद-ब्राह्मण-शास्त्र-विरोधी सम्प्रदाय भी उसमे प्रवेश पा गए। कुछ सम्प्रदाय 'न हिन्दू, न मुसलमान' बनकर दोनो धर्मों की सीमा-रेखाओ मे ही आबद्ध रहे, जैसे गोरखनाथ का नाथ-पथ, जिसमे पूर्ववर्त्ती १२ शैवयोगी सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त थे। परन्तु कालान्तर मे इन्हे भी हिन्दुओ अथवा मुसलमानो मे से किसी एक को चुन लेना पडा। इसका फल यह हुआ कि ऊपर से स्थिर हिन्दू-समाज के भीतर ही उसका विरोध भी आत्मसात हुआ। इस विरोध ने उसे उदार, सहिष्णु तथा क्रातदर्शी बनाया। फलस्वरूप, १२वी शताब्दी के बाद का हिन्दू-समाज उसके पहले के वर्ण-व्यवस्था-प्रधान 'आर्य'-समाज से भिन्न है। ये विरोधी समाज मुख्यत ब्राह्मणेतर वर्गों मे दीक्षित होते है। इस व्यवस्था के फलस्वरूप इस युग का हिन्दू-समाज दो समानान्तर स्तरो मे बट जाता है (१) पहला स्तर उच्चवर्णीय हिन्दुओ (प्रमुखत ब्राह्मणवर्ग) का है जिनमे स्मार्त्तधर्मावलम्बी, सनातनी, वेद-ब्राह्मण-शास्त्रप्रिय दृष्टिकोण की प्रधानता थी। इस वर्ग ने इस्लाम के प्रतिरोध मे सकोची बहिष्कार-भावना को जन्म दिया और नवीन स्मृतियो द्वारा हिन्दू वर्ण-व्यवस्था तथा कर्मकाण्ड को नई दीप्ति दी। (२) दूसरा स्तर वैश्यो तथा शूद्रो का है। इसी स्तर मे वैष्णव, शैव, जैन आदि धर्म प्रिय हुए। युग का विद्रोह इसी श्रेणी के साहित्य मे मिलता है। इन दोनो वर्गों की क्रिया-प्रतिक्रिया से पहले वर्ग मे उदार ब्राह्मणवर्ग का विकास हुआ जो 'भक्ति' को मान्य मानकर चला। रामानद से तुलसीदास तक इसी उदाराश्रयी, वैष्णवधर्मी ब्राह्मणवर्ग की मान्यता पल्लवित होती है। आरम्भ मे इस भक्त-समुदाय को अपने वर्ग के भीतर ही विरोध का सामना करना पडा। परन्तु धीरे-धीरे याज्ञिक और स्मृतिधर्माश्रयी ब्राह्मणो ने इनसे समझौता कर लिया। यह पण्डितवर्ग ज्ञान को प्रधान मानता था, भक्ति को गौण। उसने कर्मकाण्ड को भी अपनी विचारधारा से एकदम बहिष्कृत नही किया था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण और शास्त्र (स्मृतिग्रथ) इस शिष्ट-वर्ग (एलीट) के उपजीव्य थे। ज्योतिष-शास्त्र, आयुर्वेद और दर्शनशास्त्र मे भी इसकी अबाध गति थी। फलत इस्लामपूर्व-युग मे यही राजशक्ति का केन्द्र था। इस्लाम के प्रवेश के बाद स्थिति बदली और यह वर्ग राजाश्रय से च्युत होकर तीर्थों, सास्कृतिक केन्द्रो तथा ग्रामो मे केन्द्रित हो गया। तीर्थों और सास्कृतिक केन्द्रो मे उसने अपनी पाण्डित्य-परम्परा जीवित रखी। इस्लामी अत्याचार से त्रस्त होकर ग्रामो मे शरण प्राप्त करने वाला यह ब्राह्मणवर्ग पुराणपाठी बन गया। फल यह हुआ कि स्वय ब्राह्मणवर्ग के भीतर उदार और अनुदार दो वर्ग हो गए, परन्तु अततोगत्वा इससे समाज मे उदारता एव सहिष्णुता की ही सृष्टि हुई। हिन्दू-समाज से बाहर मुसलमान-समाज मे भी सूफी सतों के कारण दो वर्ग दिखलाई पडे, जिनमे एक उदार था और दूसरा कट्टरपथी। हिन्दुओ और मुसलमानो के ये उदार तथा सहिष्णु वर्ग

कई भूमियों पर मिलते थे और इन्ही के द्वारा असहिष्णुता और कट्टरता के उस युग मे सौहार्द तथा सामजस्य की स्थापना हुई। इन सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य मे मिलता है। हिन्दुओ का वह साहित्य, जो उच्चवर्गीय पाण्डित्य-चेतना का प्रतीक था, स्मृति-ग्रथो, दर्शन-ग्रथो तथा भाष्यो-टीकाओ के रूप मे सस्कृत मे रचा गया। १५वी शताब्दी मे काशी और मिथिला सस्कृत-पाण्डित्य के दो बडे केन्द्र थे और १६वी शताब्दी के आरम्भ तक दोनो महत्त्वपूर्ण बने रहे। १६वी–१७वी शताब्दियो मे वेदान्त, न्याय, साख्य, वैशेषिक आदि दार्शनिक मतो के सम्बन्ध मे अनेकानेक ग्रथो का निर्माण इन केन्द्रो मे हुआ। हिन्दू-धर्म-दर्शन और आचार-विचार को इन्ही केन्द्रो मे व्यवस्था प्राप्त हुई। इस वर्ग के साहित्य ने हिन्दी के भक्ति और शृगार-साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। हिन्दी का रीति-साहित्य इन्हीं शास्त्रवर्गी पण्डितो-आचार्यों का साहित्य है, परन्तु भक्ति-साहित्य के क्षेत्र मे इस वर्ग का सक्रिय योग है। सम्भवत: आरम्भ मे ग्रामों मे शरण प्राप्त करने वाले पुराणवादी ब्राह्मणो ने पुराणो की लोकप्रियता देखकर ब्रज-भाषा तथा अवधी मे पौराणिक साहित्य का अनुवाद आरम्भ किया। पन्द्रहवी शताब्दी मे विष्णुदास और मेघनाथ-प्रभृति 'ग्वालियरी' कवियो मे यह परम्परा मिलती है। सच तो यह है कि भक्तियुग के भीतर पौराणिक धारा भी चलती रही है जिसे पुराणवाचको, पण्डितो तथा राजकवियो का सहयोग प्राप्त है। बाद मे यह धारा भक्तिधारा के साथ समन्वय प्राप्त कर लोकप्रियता पाने मे समर्थ होती है। तुलसी मे हिन्दी पुराण-परम्परा के साथ भक्तिधारा का ऐसा सामजस्य बैठा है कि उनकी रचना 'रामचरितमानस' विशिष्ट कोटि की रचना बन गई है। वास्तव मे प्राचीन हिन्दी-साहित्य की यह पौराणिक काव्यधारा जैन अपभ्रश-काव्य की पौराणिक धारा (१०००–१५०० ई०) की उत्तराधिकारिणी है और इसने अपने काव्यरूप, छन्द, प्रतिमान तथा नैतिक दृष्टिकोण वही से प्राप्त किए है। यह अवश्य है कि इस धारा मे जैन-पौराणिक (अपभ्रश) काव्य जैसा उत्कर्ष नही है। इसका कारण यह है कि जैन-काव्य के प्रणेता जैन मुनि थे जिनके पास शास्त्र-चिन्ता की स्वतन्त्र परम्परा थी और उन्होने सस्कृत-प्राकृत तथा अपभ्रश की रचनाओ मे सस्कृत पुराण और काव्य की उद्धरिणी करनी चाही थी। हिन्दी पौराणिको के पास ऐसा कोई लक्ष्य नही था। मध्यदेश के सस्कृत और हिन्दी पुराणो (या अनुवादो) के बीच मे कई शताब्दियो का कालातर है। जैन, सस्कृत और अपभ्रश पुराण-काव्य एक ही परम्परा की लगभग समकालीन कृतिया है। यह अवश्य है कि दोनो का सम्बन्ध विशिष्ट पुनरुत्थानो मे है, परन्तु विशेष कारणो से हिन्दी-प्रदेश मे पौराणिक काव्य कन्नड, तेलगु और तामिल पौराणिक साहित्य की भाति महाकाव्यात्मक उत्कर्ष को प्राप्त नही हो सका। पौराणिक भाषा-साहित्य का सबसे सुन्दर स्वरूप तेलगु-साहित्य मे मिलता है और वहा पुराणो पर आधृत कथाओ को विषय बनाकर अनेक श्रेष्ठ महाकाव्यो की रचना इस युग मे हुई है। हिन्दी-प्रदेश मे १२०० ई० के लगभग पाण्डित्य-परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई। राजाश्रय एव अभिजात कुलो के नाश तथा स्थानातरण से साहित्य के क्षेत्र मे अव्यवस्था फैल गई। फल यह हुआ कि हिन्दी के पौराणिको को नये सिरे से शुरू करना पडा और विशाल ग्रथ-भाडारो के अभाव मे, जो इस्लामी ध्वस के शिकार हो चुके थे, साहित्यिक मेधा उत्कर्षमयी नही बन सकी। वह अनुवाद-मात्र पर सीमित रह गई।

इस पण्डितवर्गी पुराण-साहित्य के नीचे उतर कर उच्चवर्णी भक्तो का साहित्य है जो पाण्डित्यधर्मी न होकर भावधर्मी है। यह साहित्य भक्ति को ज्ञान पर प्रधानता देता है। इसकी उदार भावना राधा-कृष्ण के नये प्रतीको का सहारा लेकर सच्चे अर्थों मे लोक-साहित्य का निर्माण करती है। पुराण-परम्परा और भावप्रवण प्रतीकात्मक भक्ति-साहित्य का सुन्दर समन्वय सूरदास के 'सूरसागर' मे देखा जा सकता है। अन्य अनेक कृष्णभक्त कवियो मे भक्ति की रहस्यात्मक भावभूमि ही प्रमुख है जो कर्म-फल, जन्मान्तरवाद, वेद-शास्त्र, वर्ण-व्यवस्था, पौरोहित्य तथा ब्राह्मणवाद के विरुद्ध सशक्त मोर्चा है। इन सगुण भक्तो ने अपने भाव-क्षेत्र को सब प्रकार के मानसिक और सामाजिक बन्धनो से मुक्त कर लिया है, परन्तु व्यवहार की लौकिक भूमि पर वे वर्णाश्रम-व्यवस्था और शास्त्र को मानते रहे है। इसीलिए सूरदास और तुलसीदास वेद-पुराण की दुहाई देते हुए नही थकते। इस मानसिक सकोच के कारण ही उनकी रचना उच्च वर्णों की मान्यता प्राप्त कर सकी।

परन्तु भक्ति का आन्दोलन जिस समाज पर आधारित है, वह उच्चवर्णी समाज नही है। नवदीक्षित

विदेशी जातियो, बौद्ध सम्प्रदायो तथा हीन वर्णों ने हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था के विरोध में ही भक्ति-धर्म को स्वीकार किया था। तन्त्रवाद, योग और भक्ति मे कर्मवाद और जन्मान्तरवाद का बाध था। 'जीवन्मृतक' की धारणा साधक को इसी जन्म मे निर्वाण या मोक्ष की उपलब्धि का आश्वासन देती थी। तीनो मे चित्त-भूमि ही प्रधान है, अतः समस्त साधनाए चित्त के बध-मोचन के लिए है। तन्त्रवाद ने अपने उत्तर विकास मे सहजयान (सहजयोग) का रूप धारण कर लिया था। निर्गुण भक्तो ने इसी सहजयोग को भक्ति का पर्यायवाची बना दिया है। भक्ति के इस विशाल आन्दोलन को हम निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति के द्वैध रूप मे (सम्भवत विरोधी रूप में) देखने के आदी हो गए हैं, परन्तु तत्त्वत ये दोनो आन्दोलन विरोधी न होकर पूरक है। दोनों में भक्ति को ही प्राथमिकता मिली है। हमने भ्रमवश निर्गुण भक्तों को 'ज्ञानाश्रयी' कहा और उन्हे प्रेममार्गी सूफियो के प्रतिपक्ष मे रखा। वास्तव में निर्गुण और सगुण दोनो कोटियो के भक्त ज्ञान (शास्त्रज्ञान) के विरोधी है। कबीर ने जहा ज्ञान की आधी के बाद प्रेम-जल बरसने की बात कही है, वहा ज्ञान से अद्वैत ज्ञान का तात्पर्य है, शास्त्र-ज्ञान का नही; क्योंकि 'शास्त्रज्ञान' को तो कबीर 'कागदलेखी' कहकर उपेक्षणीय मानते है। निर्गुण भक्तों ने नाम को प्रधानता दी और सभी प्रचलित नामों को निर्गुण अर्थ मे प्रयुक्त किया, परन्तु उनका निर्गुण तत्त्व ब्रह्म, 'सहज' या राम ही है जो एक ही साथ अन्तर्यामिन और सर्वव्यापी है। भेद यह है कि वह अद्वैतज्ञान या साक्षात्कार का विषय है, यह प्रतीति या भावबोध का विषय है। परिपूर्ण आत्मसमर्पण, अपरिसीम प्रेम और निस्सीम आत्मशुद्धि के द्वारा ही यह प्रतीति सम्भव है। यह प्रतीति जाति-वर्ण-शास्त्र-निरपेक्ष है। यह किसी भी प्रकार का माध्यम नही चाहती, अतः इसमे न प्रतीक (मूर्त्ति) की आवश्यकता है, न ब्राह्मण-पुरोहित ही चाहिए। इस प्रकार ये साधनाए आत्मस्थ देवता से सीधा सम्बन्ध जोडती है। तन्त्र मे गुरु का बडा महत्त्व है और उसीने आचार्य तथा पुरोहित का स्थान ले लिया है। गुरु की यह मान्यता योग को भी प्राप्त हुई जिसमे गुह्य साधना को महत्त्व प्राप्त है। भक्ति-साधना मे भी गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है परन्तु गुरु निर्देशक-मात्र है। भक्त की साधना वैयक्तिक, अन्तरगी तथा अनुभूतिमूलक है। इस प्रकार निर्गुण भक्ति मे हमे उस युग का केन्द्रीय विश्वास मिलता है जो मन की सर्वोन्मुक्ति को महत्ता देता है और उसे सर्वोपरि, चिन्मय तथा चिदानन्दी मानकर मनुष्य के ऐहिक जीवन और उसकी साधना को अन्तिम सत्य बना देता है। निर्गुण मतवाद मे इष्टदेव के निर्गुणत्व पर जितना बल है, उसमे कम उसके माधुर्य पर नही। भगवान की अनुकम्पा ही भक्त का सबसे बडा आश्रय है। अत निर्गुण भक्ति की साधना मूल मे अबाध प्रेम-साधना ही है। 'नाम-साधना' इसका बाह्य रूप है। निर्गुणियो ने 'अनहद नाद' अथवा 'अजपा' का भी उल्लेख किया है परन्तु इससे उस नाम-साधना के सूक्ष्म, अन्तरगी, ओतप्रोती तथा अनन्य रूप पर ही प्रकाश पडता है।

सगुण भक्तो को निर्गुण भक्तो की ऐतिहासिक भूमिका प्राप्त थी। वास्तव मे महाराष्ट्र मे सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति की प्रारम्भिक भूमिका है और नामदेव ने उत्तर भारत की ध्वसमयी पृष्ठभूमि पर ही सगुण कृष्णभक्ति को छोडकर निर्गुण भक्ति अपनाई थी, जैसा उनके मराठी अभगो तथा हिन्दी-पदो के तुलनात्मक अध्ययन मे स्पष्ट है। दोनो भक्ति-प्रकारो मे अधिकारी-भेद भी माना जा सकता है। सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति की 'नाम' की भूमिका को तो न छोड सकी और तुलसी ने तो 'नाम' को सगुण राम से भी बडा मानकर भक्ति के रहस्यात्मक तत्त्व को विशेष महत्त्वपूर्ण बना दिया, परन्तु इष्टदेव की 'रूप-लीला' को उसमे विशेष महत्ता मिली है। पौराणिक भक्ति इष्टदेव के लीलागान और उसके विग्रह की 'सेवा' (उपासना) तक ही सीमिति थी, यद्यपि पुराणो मे 'नवधा' और 'दशधा' भक्ति का विवरण भी था तथा नारद-शाडिल्य भक्ति-सूत्रो मे इस भक्ति-भाव को रहस्यात्मक दीप्ति मिल गई थी। परन्तु मध्ययुगीन भक्ति का तन्मयासक्तिप्रधान, विह्वलतामय तरल भाव एकदम नई चीज था। इसीलिए मध्ययुगीन सगुण भक्ति-साहित्य इष्टदेव की रूप-चर्चा तथा लीला-गान पर समाप्त नही हो जाता, वह इस रूप और लीला को आत्मसाधना का विषय बनाता है। भक्त के लिए इष्टदेव का पौराणिक तथा कथात्मक रूप महत्त्वपूर्ण नही है। महत्त्वपूर्ण है इष्टदेव के प्रति उसका व्यक्तिगत निवेदन, अत. निजी प्राण-सम्बन्ध। पौराणिक प्रसग भक्ति-भाव को दृढ करने के कारण ही सार्थक हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम सगुण भक्तो के इस सूक्ष्म, तरल और अतरगी भाव को देखें, उनके स्थूल विवरणो तथा 'लीला'-विस्तार पर न जाए। कृष्णकाव्य की प्रतीकात्मकता तो स्पष्ट ही है और सूरदास ने नन्द-यशोदा,

गोपियों तथा सखाओं के माध्यम से अपने हृदय की मिलन-वियोग की बात कही है। वल्लभाचार्य ने 'अणुभाष्य' मे कृष्ण-कथा की यह प्रतीकबद्धता विस्तारपूर्वक चर्चित की है। परन्तु राम-कथा को उस रूप मे प्रतीकात्मक न मानकर भी शाश्वत, सूक्ष्म तथा लोकोत्तर माना गया है, जैसा कागभुशुण्डि-गरुड-सवाद तथा 'हरि अनत हरि-कथा अनता' कथन से स्पष्ट है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण भक्त की भावभूमि निर्गुण भक्त से कम सूक्ष्म, तरल तथा उत्कर्षमयी नही है। इष्टदेव के रूप मे और उसकी लीला के सहारे मध्ययुग का पूजा-भाव जडोन्मुख इन्द्रियो को चिन्मयोन्मुख करने मे सफल हुआ है और उसने लोक के बीच से ही लाकोत्तर को पकडने का उपक्रम किया है। निर्गुण सतो की साधना विराग की भूमि पर पल्लवित हुई है, सगुण भक्तो ने राग के परिष्कार को ध्येय बनाया है जो अधिक सूक्ष्म और कठिन भाव-साधना है। इस सत्य को मान ले तो हम सगुण भक्तो को छोटा नही करे। निर्गुणियो का ससार के प्रति विराग निर्गुण सत्ता के प्रति तीव्र राग की भूमिका मात्र है, उसकी स्वतन्त्र स्थिति नही है। इसीलिए उन्होने अपने भक्तियोग को 'सहजयोग' कहा है और हठयोग को लाछित ठहराया है। निर्गुणी सत मन की वैराग्य-वृत्ति को ही प्रमुख मानते हैं—इसीलिए कबीर जैसे साधक गृहस्थ-जीवन बिताते है। उन्होने मानवीय सम्बन्धो के भीतर ईश्वरीय प्रकाश देखना चाहा है, इसीलिए उन्होने सामाजिक विषमता और धार्मिक विद्वेष के विरुद्ध आवाज उठाई है। यह स्पष्ट है कि निर्गुण सतो की विराग-साधना उनकी अध्यात्म-साधना का ही अग है। वह अद्वैत साधना बनकर ही मानवीय और नैतिक बन सकी है। उसमे लोक-मगल की साधना भी कम बलवती नही है। सगुण भक्तो की रूपलीला-साधना रागात्मक है। वह समस्त प्रपच को इष्टदेव की लीला का प्रसार मानती है और नाम-रूपात्मक जगत को उसी का स्वरूप मानकर चमत्कृत होती है। विश्व को चिद्रूप और समस्त कार्य-व्यापार को लीला-मात्र मानने का फल यह होता है कि भोक्ता भक्त का चित्त नाम-रूप के बधनो को तोड कर अनाम-अरूप (सर्वनाम-सर्वरूप) विराट् चैतन्य मे तल्लीन हो जाता है जो सृष्टि की सारी शोभा, माधुरी तथा समस्त रसो का भाण्डार है। इन अनाम-अरूप को ही सगुण-भक्त राम-कृष्ण के रूप मे प्रतीक-बद्ध करता है। उच्चतम भावभूमि पर पहुच कर राम-कृष्ण के पौराणिक उपसर्ग पीछे छूट जाते हैं और अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य एव अनन्त आनन्द से साक्षात्कार होता है। इस भूमिका से नीचे उतर कर भक्त कवि समस्त जगत मे सौन्दर्य, माधुर्य एव आनन्द का प्रसार देखता है। इस प्रकार उसका राग चिन्मय और ब्रह्ममय हो जाता है, जैसा ईशावास्योपनिषद् मे कहा है ईशावास्यमिद सर्वम् यत्किच जगत्या जगत्। निश्चय ही यह भावभूमि निर्गुण सन्तो की भावभूमि से भिन्न है, परन्तु वह कठिन होने पर भी अधिक उत्कृष्ट है, क्योकि उसमे जड से पलायन नही है, जड को चिन्मय कर लिया गया है। तन्त्र-साधना मे जड-चेतन को युगनद्ध कर भुक्ति-मुक्ति की समाहित साधना की योजना थी। सूफी साधना जड को चेतन का इगित मान कर लौकिक मे अलौकिक को भासमान करने का उपक्रम करती थी। निर्गुण साधना ने जड को चैतन्य की विवृति मानकर उसकी ओर से आख हटा ली। परन्तु सगुण भक्ति-साधना जड मे ही चेतन की लीला देखकर द्रवित होती थी। इस प्रकार सगुण भक्ति-साधना प्रवृत्ति मे ही निवृत्ति मानकर चलती है और उसमें जडोन्मुख लोक-जीवन मे चैतन्यीकरण की प्रबल भावना सन्निहित है। उसका दृष्टिकोण सूफी दृष्टिकोण से इस अर्थ मे भिन्न है कि जहा सूफी जड को चेतन का प्रतीक मानते है, वहा सगुण भक्त जड को चेतन का प्रतिरूप अर्थात् चेतन ही मानता है। निर्गुण काव्य मे जड की अस्वीकृति है जो सगुण काव्य को मान्य नही है। एक प्रकार से भक्तो का दृष्टिकोण तान्त्रिको (सिद्धो) के दृष्टिकोण से भी अधिक उत्कृष्ट एव परिष्कृत है, क्योकि जहा तन्त्र, जड और चेतन को विरोधी परन्तु सन्तुलित शक्तियां (युगनद्ध) मानते हैं, वहां सगुण भक्त जड को चेतन ही मान कर जडत्व का नाश कर देता है।

मध्ययुग का भक्ति-भाव जीव तथा ब्रह्म के विभिन्न सम्बन्धो पर आधृत है। आद्य शकराचार्य ने जीव को ब्रह्म की विवृत्ति मानकर जीव की स्वतंत्र सत्ता को अमान्य ठहरा दिया। अर्थात् जीव चैतन्य है, जड मानना भ्रम है, क्योकि जडता-मात्र ही भ्रम है। भ्रम का निवारण ज्ञान से हो सकता है, परन्तु यह ज्ञान शास्त्रज्ञान न होकर अद्वैतज्ञान, है, अर्थात् अद्वैतात्मक अन्तर्दृष्टि, जो योग तथा ज्ञान-साधना का विषय है। इस भूमिका पर भक्त भगवान से भिन्न नही रह जाता। फलत. भक्ति की कोई आवश्यकता नही रहती, क्योंकि भक्ति तो भक्त और भगवान के बीच का सम्बन्ध मात्र

है। भक्ति हृदय की पिपासा है। इसलिए भक्त-हृदय के समाधान के लिए जीव तथा ब्रह्म को दो स्वतन्त्र इकाइयां मान कर उसके परिमाण-भेद (विशिष्टाद्वैत) प्रकार-भेद, (द्वैत) तथा अनिवर्चनीयता-भेद (द्वैताद्वैत) के आधार पर क्रमश रामानुज, मध्व और निबार्क ने तीन विशिष्ट भक्ति-दर्शनो को जन्म दिया। अन्त मे वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद मे जीव को ब्रह्म मानकर शाकराद्वैत की प्रपत्ति को सत्, चित्, आनन्द गुणो के तिरोभाव-आविर्भाव के द्वारा व्याख्यापित किया। इस प्रकार अद्वैतवाद के भीतर ही भक्ति की जगह निकल आई। चेतन जीव इष्टदेव की रूप-लीला मे डूब कर आनन्द की उपलब्धि करने पर परिपूर्ण ब्रह्म बन जाता है। इस प्रकार आनन्दोपलब्धि ही भक्ति-धर्म बन गई। वज्र-यानियो ने शक्ति-शक्तिमान की युगनद्धता (कमल-कुलिश-साधना) के द्वारा और सहजयानियो ने सहज साधना के द्वारा जिस सहजानन्द का लाभ किया था, उसे सगुण भक्त राधा-कृष्ण की निकुजलीला या रास मे भावित करने लगे। फल-स्वरूप माधुर्य भक्ति को तात्रिक सहज साधना (महासुहवाद) का उत्तराधिकार प्राप्त हो गया। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग मे मध्यदेशीय मन जड का अतिक्रमण करने की भीषण प्रतिज्ञा लेकर ऊपर उठता है और समस्त भौतिक-अभौतिक बन्धनो को तोड कर अपने भीतर ही अक्षय आनन्द की सृष्टि करने मे समर्थ होता है। इस अक्षय आनन्द को ही उसने श्री-विष्णु, सीता-राम और राधा-कृष्ण के लोकोत्तर प्रतीको मे मूर्तिमान किया है। उसने अपने बाहर जड-जगत मे भी इसी आनन्द का प्रसार देखा है और जड के भीतर भी चैतन्य का अनुभव किया है। चैतन्य ही नही, उसने वहा आनन्द भी पाया है। जड मे ही नही, सब कही चैतन्य और आनन्द ही की व्याप्ति है। इसी चैतन्य और आनन्द को मध्ययुग के भावक भक्त ने राधा-कृष्ण के महारास (माधुर्य) और भगवान राम के सौदर्य, शील तथा शौर्य मे परिकल्पित किया है। सौदर्य, शील, शौर्य और माधुर्य की साधना ही मध्ययुगीन भारतीय मन की महान साधना है। इस साधना की कथा प्रचलित इतिहास के पृष्ठो मे नही मिलती, परन्तु साहित्य, कला, सगीत और शिष्ट जीवन-व्यवहार मे उसका रूप खूब निखरा है। सोहलवी शताब्दी के अन्त तक मध्ययुगीन मनुष्य के इस एकान्वित मन का निर्माण हो चुका था और बाद की दो शताब्दियो मे यही महार्घ मन विभिन्न भूमियो पर अपनी अप्रतिम छाप छोडने मे समर्थ हुआ। रीतिकाल का भावक जड को चेतन का वरदान मानकर अकुठित भाव से उसे स्वीकार करता है और उसे अपनी रस-साधना का केन्द्र बनाता है। यह रस-साधना उसके चित्त को निर्मल करती है और उसके सौदर्य-बोध को परिष्कृत कर उसमे शील और सौन्दर्य के अजस्र स्रोतो को उन्मुक्त करती है। रीतिकाल के कवि की सौन्दर्य-साधना उसके हृदय की इसी माधुर्यवृत्ति से प्रकाशवान है। इसमे उसकी सौन्दर्य-चेतना का सस्कार हुआ है और उसके आनन्द से प्रकृति का प्रत्येक कण राग-रजित बन गया है। इष्टदेव के रूपलीला-माधुर्य मे डूब कर उस युग का विलासी सहज भाव मे सासारिक सुखो का उपभोग करता है परन्तु उसके उपभोग मे तृष्णा की लालसा नही है, तृप्ति का सन्तोष है। यही तृप्ति उसे जीवन-व्यापार मे शील तथा सौन्दर्य के सम्पादन के लिए अपूर्व क्षमता प्रदान करती है। उसके देवार्पण मे कुछ भी कमी नही है, अत उसके लिए कुछ भी अग्राह्य नही है। भीतर के सौन्दर्य और माधुर्य से छक कर वह विराट् विश्व मे शील और शौर्य के सग्रह के लिए निकल पडता है। इस प्रकार जड को चिन्मय बनाकर और जग को 'सियाराम-मय' जान कर मध्ययुग का मानस अपने ही अखण्ड विश्वास और अप्रतिम माधुर्य का आस्वादन करता है। यही उत्कृष्ट वैष्णव दर्शन है। यही परिपूर्ण और अखण्डित जीवनदृष्टि मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ काव्य 'रामचरितमानस' की देन है, परन्तु इस 'मानस' को देखने के लिए 'मानस-चख' (चिन्मय दृष्टि) चाहिए। जड आखो से हम उसे नही देख सकेगे। इसी चिन्मय दृष्टि को ग्रहण कर रीति-कवि अकुठित भाव से जड देह का सौन्दर्य वर्णित कर जाता है और आह्निक विलास-चर्या भाव-लोक की माधुर्य-सृष्टि बन जाती है। यह दृष्टि वहा से आरम्भ होती है जहा नीति की लक्ष्मण-रेखा समाप्त होती है। अत मध्ययुग के काव्य को नीति-अनीति के छिछले मापदण्ड पर न मापकर हम यह देखे कि उसमे आनन्द के कौन-से आयाम किन स्तरो पर आलोक बिखेर रहे है। इस मन भूमिका पर हम भक्ति-युग तथा रीति-युग के काव्यो को परस्पर विरोधी न मानकर उनके ऐतिहासिक विकास-क्रम को सार्थकता देगे; क्योकि दोनो मे ही मध्ययुग के अखण्डित मन का अक्षुण्ण तथा निर्बाध प्रवाह है और दोनो को उसने अपनी मुद्रा से मुद्रित किया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पूर्वतन युगो पर अपने भौतिकवादी-विज्ञानवादी-नैतिकतावादी युग की प्रपत्तियों का आरोप नही करे और बीते

हुए जीवन को खुल कर बोलने की स्वतन्त्रता दे।

देखना यह है कि मध्ययुगीन साहित्य मे इस मध्यदेशीय मन की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है और उसकी वास्तविक स्थिति क्या है। साहित्य का इतिहास और साहित्यिक परम्परा सास्कृतिक परम्पराओ और प्रयोगो के प्रसारण का माध्यम है और बाद मे स्वय सास्कृतिक परम्परा उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकती। वास्तव मे साहित्य और संस्कृति पारस्परिक प्रभाव से ही विकसित होते है। मध्ययुग मे इस दो-तरफा आदान-प्रदान का क्या स्वरूप था, यह विचारणीय विषय है।

विद्वानो का विचार है कि आरम्भ मे ही भारतीय साहित्य मे दो परम्पराए चल रही है। पहली परम्परा सस्कृत साहित्य की है जिसके निर्माण मे एक विशिष्ट वर्ग (एलीट) ने भाग लिया है और जिसने विभिन्न साहित्य-रूपो तथा शैलियो मे एकता स्थापित की है। यह साहित्य अखिल भारतीय साहित्य है और जनपदीय सूत्रो मे ऊपर उठकर समस्त राष्ट्र को एक ही स्पन्दन के सूत्र मे जोडता है। यह नही कहा जा सकता कि इस साहित्य के निर्माण मे प्रादेशिक अथवा जनपदीय उपकरणो (लोकवार्त्ता, लोकगीत तथा लोक-छन्द) का क्या हाथ था, परन्तु पहली शताब्दी के बाद जब सस्कृत का साहित्य रचा जाने लगा तो उसने अपने विशिष्ट सदर्भो, प्रतीको, देवकथाओ (मिथ), आदर्शो, काव्यरूपो तथा छन्दो का निर्माण कर लिया था। सस्कृत देववाणी बन गई और उसका साहित्य सुसस्कृत भारतीय मन का प्रतिनिधित्व करने लगा। इस राष्ट्रीय साहित्य की मुद्रा अग्रेजी साहित्य के प्रवेश तक अर्थात् अठारहवी शताब्दी के अन्त तक बराबर मान्य रही है। लगभग दो सहस्र वर्षो के इस लम्बे काल मे सस्कृत साहित्य ने भारतीय जीवन-चिन्तन तथा सस्कृति को स्थैर्य दिया है और उन्हे बदलते जीवन-मूल्यो मे निरतर निश्चित मान (नार्म) की ओर लौटाया है। यह कम महत्त्व का कार्य नही है क्योकि यह साहित्य की भारतीय परम्परा का बल है। भारतीय शिष्ट समाज ने सब कही समान सामाजिक परम्पराओ की स्थापना की थी जो अराजकता के युगो मे भी नष्ट नही हो सकी। उथल-पुथल के केन्द्रो से अलग इन दूरवर्त्ती समाजो ने साहित्यिक प्रयोगो को जाचा-परखा और उन्हे परम्परा मे जोडा। वास्तव मे न तो ये प्रयोग एकदम क्रातिकारी थे, न इतने अधिक थे कि परम्परा को कोई बडी चुनौती देते। दूसरी साहित्य-परम्परा का सम्बन्ध शिष्ट-वर्ग से न होकर जनपदीय समाज से था जो गीतो, वार्ताओ, कथाओ और लोक-छन्दो आदि के रूप मे लोकमानस की अभिव्यक्ति करता था। यह प्रथित मान के प्रति विद्रोह था और इसका अपना प्रादेशिक और विभाषीय रग था। यह दूसरी परम्परा कभी-कभी पहली परम्परा मे अन्तर्भुक्त हो गई है और फलस्वरूप शिष्ट-साहित्य जन-साहित्य भी बन गया है और शताब्दियो तक यह योगायोग अखण्ड बना रहा है। मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य मे इस उभय-पक्षीय आदान-प्रदान और योगायोग की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है।

क्यो ऐसा हुआ, इसका कारण जानने के लिए हमे भारतीय राज-व्यवस्था का अध्ययन करना होगा जो विकेन्द्रीकरण पर आधारित थी और जिसने जनपद-शासन को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी थी। प्रत्येक जनपद अपनी भाषा लोकवार्त्ता, सगीत-परम्परा तथा आचार-विचार को लेकर चलने मे स्वतन्त्र था, क्योकि आर्थिक दृष्टि से वह परिपूर्ण इकाई था और उस पर नागरिक शिष्ट जीवन का प्रभाव कम पडता था। फलत विद्रोह के बदले स्वीकार तथा समन्वय की भावना प्रबल हुई। वर्ण-व्यवस्था, सम्मिलित कुटुम्ब, श्रेणी-योजना समाज के सुसगठित और व्यवस्थित रखने के साधन थे और कर्मवाद ने सहिष्णुता तथा उदारता के लिए पर्याप्त अवकाश निकाल लिया था। अत धर्ममतो, सम्प्रदायो तथा साधना-मार्गो मे सहनशीलता का प्रसार हुआ था। सारा समाज एक सतुलित, मर्यादित इकाई के रूप मे गतिमान था और वर्ण-व्यवस्था के भीतर से किसी प्रकार के विरोध के फूटने की आशका भी नही थी। इस प्रकार जनपदीय सस्कृति अपने सीमित क्षेत्र मे परिपूर्ण सस्कृति थी और वह अखिल भारतीय सस्कृति के भीतर, परन्तु उससे स्वतन्त्र रहकर, निरन्तर विकासमान थी।

यह नही कि इस जनपदीय सस्कृति मे (जो प्राकृतिक साहित्य के माध्यम से प्रकाशवान थी) और राष्ट्रीय संस्कृति मे (जो सस्कृत साहित्य मे प्रतिबिम्बित थी) किसी प्रकार का आदान-प्रदान ही नही हुआ हो। वास्तव मे सस्कृत और प्राकृतो (जनपदीय भाषाओ) मे आदान-प्रदान निरतर चलता रहा है। महाकाव्य-युग के सस्कृत-साहित्य मे

प्राकृत के विषय तथा काव्य-रूप बराबर समाहित होते रहे है। सस्कृत नाटकों के अधम पात्र और नारी-पात्र प्राकृत मे मे वार्त्तालाप करते थे और भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रीति' के माध्यम से प्रादेशिक काव्य-शैलियों (वैदर्भी, गौड़ी, लाटी, नागरी आदि) को प्रधानता मिली है। प्राकृत-साहित्य भी सस्कृत-साहित्य को आदर्श मानता रहा है और उसने स्वय को उसी के ढाचे मे ढालने का प्रयत्न किया है। सच तो यह है कि सस्कृत-परम्परा का आधिपत्य रहा है और यह बात केवल साहित्य के क्षेत्र मे ही लागू नहीं होती, दर्शनशास्त्र (चिन्तन) और सगीत के क्षेत्र मे भी उसी प्रकार सत्य है। ब्राह्मण-धर्म सस्कृत-साहित्य के माध्यम से ही शिष्ट सस्कृति, (जिसे योरोपीय विद्वानों ने 'सांस्कृतिक संस्कृति' कहा है) का समग्रगत प्रभाव बढा और समस्त जनपदो पर छा गया। सोलहवी शती मे तुलसी और केशव जैसे पण्डित कवि भाषा-काव्य को लाछित मानते है, इससे यह स्पष्ट है कि शिष्ट भाषा (सस्कृत) और संस्कृति (ब्राह्मण सस्कृति) की कितनी बडी धाक थी।

मध्ययुग के आरम्भ मे विशेष कारणो से केन्द्रीय शिष्ट सस्कृति का प्रभाव दुर्बल पड गया और अनेक जन-पदीय सस्कृतिया स्वतन्त्र इकाइयों के रूप मे विकसित होने लगीं। पुष्पदंत और राजशेखर ने अपने ग्रथो मे अनेक जन-पदों का उल्लेख किया है जो वास्तव मे स्वतन्त्र भाषा-क्षेत्र थे। इन जनपदो मे नई विदेशी जातियां-प्रजातिया आकर बस गई थी और उन्होंने अपने सगीत, लोकवार्त्ता, नृत्य तथा छन्द का आविष्कार किया था। ७५० ई० के बाद ही हमे सिद्ध-काव्य मे स्थानीय राग-रागिनियो का निर्देश मिलता है और जैन कवियो की रचना मे रास, चाचर, फागु, बेलि आदि ऐसे छदो एव काव्यरूपो की प्रधानता है जो मूल रूप से विभिन्न प्रजातियो के नृत्य-छन्द थे। १०वी शताब्दी मे क्षेमेन्द्र और १२वी शताब्दी मे जयदेव को अपने सस्कृत काव्य मे इस नई सगीत-परम्परा का उपयोग करना पडा। गीतिकाव्य (पद-साहित्य) की नई परम्परा स्पष्टत नये समाज-तत्त्व की ओर इगित करती है जो सस्कृत-साहित्य की बधी हुई छन्द-परम्परा के स्थान पर तरल, मुक्त तथा अनुभूतिप्रवण नये छन्दो को प्रश्रय देता है। सम्पूर्ण मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में जन-कठ का योग मिलता है और दूहा (दोहा) चौपाई, पद, घनाक्षरी (कवित्त), सवैया आदि छन्दो के रूप मे प्राकृत जीवन का उन्मेष ही उद्घोषित होता है। ये नये छन्द भावक चित्त के नये मोड की सूचना देते है। धीरे-धीरे सस्कृतज्ञ ब्राह्मण वर्ग इन छन्दों को अपना बना लेता है और सस्कृत के महाकाव्यो के अनुरूप नई रचनाएं प्रस्तुत करता है जो प्रौढता, मर्यादा और सतुलन मे पूर्वतन सस्कृत साहित्य का अनुसरण करती है। तुलसी के साहित्य में सस्कृत-साहित्य और ब्राह्मण-सस्कृति की विजय ही प्रतिध्वनित है। सच तो यह है कि पूर्व मध्ययुग मे भारतीय मन प्रादेशिक परम्पराओ मे खण्ड-खण्ड हो गया था और उसकी अभिव्यक्ति अनेक जनपदीय भाषाओं मे अनेक स्थानीय सस्कारो के भीतर से हुई। धीरे-धीरे भक्ति के व्यापक आन्दोलन ने इन खण्ड इकाइयों को एक सूत्र मे गूथकर सार्वभौमिक चेतना का रूप धारण किया। मध्ययुग के आरम्भ मे हिन्दी-क्षेत्र के आन्दोलन वर्गीय आन्दोलन थे। बौद्ध (सिद्ध), नाथ (योगी), जैन, चारण, सूफी आदि अपने-अपने क्षेत्रो के लिए काव्य-रचना कर रहे थे। यह वर्गीय चेतना प्रादेशिक सस्कृतियो के उत्कर्ष की सूचना थी, परन्तु इसमे राष्ट्र के लिए कोई योजना नही थी। वैष्णव भक्ति के आन्दोलन ने प्रादेशिकता को जीवित रखा, परन्तु उसके द्वारा राम-कृष्ण के व्यापक प्रतीको का उपयोग होने के कारण भक्ति-चेतना को राष्ट्रीय चेतना बनने का अवकाश मिला। मध्ययुगीन भारतीय मन की अखण्ड तथा समग्र चेतना वैष्णव साहित्य मे ही अभिव्यक्ति पा सकी है। राम-भक्ति अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र को लेकर चली। अवध ही उसका केन्द्र रहा, या अधिक-से-अधिक अवध से जनकपुर तक उसकी व्याप्ति थी। इस क्षेत्र से बाहर राम-भक्ति को लोकप्रियता नही मिल सकी। अत. वह अपने वर्गीय रूप का अतिक्रमण नही कर सकी। यह अवश्य है कि तुलसीदास जैसे समर्थ कवि की रचनाओं मे उसने राष्ट्रीय उत्कर्ष प्राप्त कर लिया। परन्तु कृष्ण-काव्य प्रादेशिक भाषाओ को अधिक रससिक्त कर सका और उसी के द्वारा ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य की प्रतीक भाषा बन गई। हिन्दी-क्षेत्र के बाहर 'ब्रजबुलि' आदि नामो से उसका उपयोग इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।

वैष्णव भक्ति के आन्दोलन ने स्थानीय चेतनाओ तथा वर्ग-संस्कारों को ही समन्वित नही किया, उसने इस्लाम के सघात को भी आत्मसात किया और उसी के द्वारा धर्म के क्षेत्र में एक नये समन्वय की सिद्धि हुई। भक्ति

ग्रौर रहस्यवादी साधनाग्रो का ग्राविर्भाव मध्ययुग की एक बडी भावक्षेत्रीय ग्रावश्यकता की पूर्ति है, क्योंकि यही साधनाएं दोनों विरोधी धर्मों ग्रौर सम्प्रदायो के बीच मे सेतुबध का कार्य कर सकती थी। दोनो धर्म पुरोहितवाद से त्रस्त थे, ग्रत: इस नये ग्रध्यात्म ने इसके विरोध मे व्यक्तिगत साधना को प्रमुख माना। इसके ग्रतिरिक्त कर्मवाद, ज्ञानमार्ग तथा ब्राह्मणोक्त कर्मकाण्ड के विरोध मे इसने प्रेम (भक्ति) को प्रधानता दी। बन्द समाज मे रहस्य-धर्म ही जड़ बंधनों का विद्रोही स्वर बन जाता है ग्रौर उसी के द्वारा ग्रतिसवेदित प्राणी समाज के चिरप्रथित ढांचे का ग्रतिक्रमण करते है। हिन्दू ग्रौर मुसलमान दोनो समाजो के मर्मियों (सतों, भक्तो ग्रौर सूफियों) ने इसी हृदय-धर्म को जाग्रत किया ग्रौर इसी को नये प्रतिमानो, प्रतीको तथा रूपको मे ग्रपने हृदय की सारी मधुरिमा के साथ प्रस्तुत किया। उन्होने यौन-प्रतीको ग्रौर मादन-भाव के भीतर से ग्रात्मा के नि सकोची परिणय की बात कही। ये यौन प्रतीक ही मध्य युग के ग्रात्मसमर्पी मन की वाणी है। इन्हे मादन रस से सिक्त करना ग्रौर इनमे मन को मधुमती भूमिका पर उठाने की शक्ति भरना कम श्रम-साध्य नही था। इसके लिए भाषा, छद ग्रौर सगीत की ग्रप्रतिम योग्यता ग्रनिवार्य थी। मध्ययुग के साहित्य में इस साधना की कहानी ग्रन्तर्हित है। भाषा की माधुर्य-शक्ति तथा साकेतिक ग्रभिव्यजना को भीतर की ग्रोर मोडना कम साहस का काम नही था। सैकडो पदो मे ग्रबाध ग्रौर उच्छ्वसित गति से सूरदास राधा-कृष्ण के हास-विलास, परिणय, निकुज-विहार, रास ग्रौर विपरीत रति को जिस ग्रकुठित ग्रौर खुले कण्ठ से कह गये है, वह भाव ग्रौर वैसा साहस विश्व के ग्राध्यात्मिक साहित्य मे दुर्लभ है। इस साहस ने ही उनके काव्य को साक्षात्कार का काव्य बना दिया है। इस साक्षात्कार की चरम ग्रभिव्यक्ति कूट पदो मे मिलती है जहां युगल दम्पती की केलि को ग्रात्मोपलब्धि की भूमिका के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

साहित्य-क्षेत्र मे भक्तिवाद का एक प्रभाव यह भी पडा कि उसने जनपदीय भाषाग्रो ग्रौर जनपदीय संस्कारो मे नवजागरण का बोध भर दिया। इस युग के विभाषीय साहित्य मे स्थानिक सास्कृतिक प्रवृत्तियो ग्रौर विशेषताग्रो का ग्रनिवार्य रूप से प्रकाशन हुग्रा है। एक ही राम-कथा विभिन्न भाषा-क्षेत्रो मे भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। यद्यपि सस्कृत की स्रोत-शैली की परम्परा से भी हिन्दी का विनय-काव्य प्रभावित है, परन्तु उसकी कोटि पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य से नितान्त भिन्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्ययुग का मानस ग्रपने ग्रनुरूप नये छदो, प्रतीको, भाव-भूमियों तथा ग्रभिव्यंजना-शैलियो का ग्राविष्कार करने मे समर्थ हुग्रा है ग्रौर साहित्यिक रूपो की विभिन्नताग्रो के भीतर भी ग्रर्थ, बोध ग्रौर लक्ष्य की एकता बराबर बनी रही है। सस्कृत का साहित्य छोटे-से शिष्ट वर्ग मे सिमटकर रह गया परन्तु भाषा-कवियो का साहित्य प्रादेशिक लोक-मानस को रसविभोर करता रहा। इसीलिए कबीर ने ठीक ही सस्कृत को कूप-जल ग्रौर भाषा को 'बहता नीर' कहा है।

परन्तु यह स्थिति ग्रन्त तक नही बनी रह सकी। जिस प्रकार परम्परित धर्मों ने रहस्यवादी साधनाग्रो ग्रौर सम्प्रदायो को ग्रपने भीतर समेटकर उन्हे पगु बना दिया, उसी प्रकार नये काव्य रूप प्राचीन काव्य-रूपो का ग्रनुसरण करने के कारण नि शक्त हो गए। नबे ग्रान्दोलनो ने वर्ण-व्यवस्था की कठोरता दूर कर उसे उदार बनाया था, परन्तु यह उदारता ही इन ग्रान्दोलनो के लिए घातक सिद्ध हुई; क्योंकि वे स्वय परम्परा ग्रौर व्यवस्था के ग्रग बन गए। इसी प्रकार भक्ति-साहित्य सस्कृतनिष्ठ होकर शिष्ट-साहित्य का प्रतिरूप बनने लगा। धीरे-धीरे उसकी प्रगतिशीलता ग्रौर लोकपरता नष्ट हो गई। धर्म के क्षेत्र मे स्मृतियो पर ग्राधृत नये ग्रान्दोलनो का जन्म हुग्रा जिन्होने वर्ण-व्यवस्था को ग्रौर भी कठोर बनाने का उपक्रम किया। वास्तव मे ये ग्रान्दोलन ग्रारम्भ से ही चल रहे थे परन्तु भक्तिवाद के तेज ने उन्हे कुठित कर दिया था। भक्ति-भावना के दुर्बल हो जाने पर वे सतह पर ग्रा गए। टीकाग्रो-भाष्यो-उपभाष्यो का युग ग्रारम्भ हुग्रा ग्रौर साहित्य लक्षण-ग्रन्थो के भार से बोझिल हो उठा। सर्जना का स्थान ग्रात्मप्रवचना ने लिया जो निरुद्देशीय कल्पना, ग्रमर्यादित भावना तथा ग्रायाससिद्ध कलाकारिता को ही काव्य समझने लगी। एक प्रकार की जड़ता ग्रौर स्तब्धता का समावेश हुग्रा; यद्यपि ग्रब भी कोई-कोई कवि पिछले कवियो की उदात्त भावभूमि स्पर्श कर जाता था। रीति-काव्य के ग्रनेक कवियो ने भक्ति-युग के समीकरण को राधा-कृष्ण के शृगारिक प्रतीको के सहारे ग्रागे बढ़ाने का प्रयत्न किया, परन्तु वे 'कविताई के दावेदार' होकर रह गये ग्रौर लीला-गान उनके लिए परम्परा-पालन मात्र

रह गया। यह अवश्य है कि अनेक रीति-कवियों में युग-धर्म के रूप में यह समीकरण अनायास ही मुखरित हो उठा है और पूर्वतन युग के अध्यात्म ने रीति-युग की शृगारी कविता को भी अतीन्द्रिय, लोकोत्तर तथा आध्यात्मिक भावभूमि दे दी है; परन्तु यह प्रगट है कि समाधि खण्डित हो चुकी है और समग्रता का आकांक्षी भारतीय मन अरूप के हिम-शिखर से नीचे उतरकर रूप के शीशमहल मे खो गया है। रीतिकाव्य मे उसका यही विभ्रम प्रतिबिम्बित है। उसमे रूप में अरूप को देखने की आकाक्षा बलवती है और भक्ति-युग के प्रतीक इस दिशा में उसके सहायक हैं, परन्तु सब कही वह अपनी इस आकाक्षा को मूर्तिमान नही कर सका है। रीति-युग का काव्य दरबारी अभिरुचि से पीडित है और उसे लोक-रुचि का प्रतिनिधि नही कहा जा सकता। यह स्पष्ट है कि उसमे शिष्ट वर्गों का पाण्डित्य और उसकी कलाधर्मी चेतना ही अधिक रूपायित है, क्रातदर्शी मर्मियो तथा अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न भावको को तोष देने की सामर्थ्य उसमें नही है। परन्तु इसी रीति-काव्य मे घनानद, मतिराम, पद्माकर और ठाकुर जैसे कवि भी है जो रूप के भीतर अरूप की खिडकियां खोल देते है और जिनमे मध्ययुग का सौन्दर्यान्वेषी मन माधुर्य के नये-नये रस-स्रोतों की ओर उन्मुख होता है। उसने और आगे बढकर शील और शौर्य के वर्जित प्रदेशो को भी छूना चाहा है। छत्रसाल के काव्य मे यह ध्वनित है कि कही-कही उसका प्रयत्न सफल भी हुआ है। इस सफलता के प्रमाण इतिहास के पृष्ठो पर खोजे जा सकते है अथवा वे उस युग की वास्तुकला, सगीत-कला तथा चित्र-कला मे आभासित है। इसमे सन्देह नही कि महार्घ मूल्यो मे मडित मध्ययुग का मानस साहित्य मे अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का प्रकाशन नही कर सका है, परन्तु उसका अखण्ड भावबोध, उल्लास, चैतन्य तथा आनन्द उसमे सहस्र-धारा बनकर बहा है।

मध्ययुग के वैचारिक एव साधनात्मक व्यक्तित्व को समझने के लिए हमें शकराचार्य (७८८-८२० ई०) और वल्लभाचार्य (१४७८-१५३०) के दो छोरो को पकडना होगा; क्योकि इन शताब्दियो का तत्त्व-ज्ञान इन्ही दो व्यक्तित्वो को केन्द्र बनाकर घूमा है। शकराचार्य ने अद्वैतवाद के द्वारा सूक्ष्म जगत की एकता की कल्पना की और स्थूल जगत को भी सूक्ष्म जगत की विवृत्ति मानकर चलने का आग्रह किया। इसीलिए उन्हे 'विवर्त्त' (माया) का सिद्धान्त गढना पडा। द्विधात्मकता आभास-मात्र है, एकता ही चरम सत्य है। परन्तु इससे व्यवहार की भूमि पर कठिनाई पडती है। अत उन्होने पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य के रूप मे सत्य के दो पहलुओ की कल्पना की। इससे उन्हे अधिकार-भेद तथा भक्तिवाद को अपने अद्वैतवादी तन्त्र मे स्थान देने की छूट मिल गई। परन्तु प्रश्न यह है कि इस द्विधा से कर्म कुठित हो जाता है और भावना की सारी भूमि व्यावहारिक, अत यात्रिक, बन जाती है। शकर जैसे महान व्यक्तित्व को इन दो विरोधी भूमियो पर चलना सरल रहा होगा, क्योकि मन भी ब्रह्म की भाति विरोधी-धर्माश्रयी है; परन्तु सबके लिए यह उतना सरल नही था। फल यह हुआ कि सन्यासियो के अखाडे बन गए और व्यवहार ही प्रधान हो गया। परमार्थ पीछे पड गया। माध्यमिक आचार्यो ने बुद्ध की ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता तथा उसके स्वरूप के विषय मे त्रिकाय-कल्पना द्वारा समाधान प्रस्तुत करना चाहा था और बाद मे विशुद्ध भावात्मक बुद्ध को भावाभाव से परे निर्वाण मे स्थापित कर 'शून्यवाद' की कल्पना हुई। निर्वाण के 'बोधिचित्त' की व्याख्या के लिए 'महासुह' का रूपक ग्रहण हुआ। फलत बुद्ध (शून्य निरजन) ब्रह्म के निकट आ गये और शून्यवाद ब्रह्मवाद बन गया।

शकराचार्य के इस समीकरण ने धार्मिक क्षेत्र की उस प्रक्रिया को बल दिया जो बौद्ध धर्म के ब्राह्मण धर्म मे लयमान होने से उत्पन्न हो रही थी। यह स्पष्ट है कि शकराचार्य का यह समाधान बौद्ध धर्म तथा उसके परिवर्त्ती विकास से उत्पन्न समस्याओ का निरूपण है और उसमे व्यावहारिक सत्य के रूप मे अनेक सम्प्रदायों, विचारधाराओं, साधनाओ तथा प्रतीको के ग्रहण की क्षमता है। परन्तु एक बार क्रान्तिकारी सिद्ध होने पर भी कोई सिद्धान्त सदा के लिए क्रान्तिकारी नही हो जाता। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी नई आवश्यकताओ के अनुरूप नई व्याख्या हो।

रामानुज, मध्व और निम्बार्क ने 'भक्ति' को स्थान देने के लिए अद्वैतवाद की नई और स्वतन्त्र व्याख्याएं प्रस्तुत की और अद्वैतवादी दर्शन के ब्रह्म-जीव समीकरण को विशिष्टाद्वैतवाद (रामानुज), द्वैतवाद (मध्व) तथा द्वैता-द्वैत (निम्बार्क) के रूप मे तीन नई भूमिया दी। तीनो मे माया की अवस्थिति अस्वीकार्य है। अध्यास के रूप में उसे अमान्य समझा गया है यद्यपि ब्रह्म की प्रवृति या शक्ति के रूप मे वह मान्य रही है। इस योजना मे वह कल्याणकारी

बन गई है। उसके माध्यम से ही ब्रह्म तक पहुचा जा सकता है। परिणाम-भेद, प्रकार-भेद तथा अनिर्वचनीयतावाद के रूप में ये तीन वैष्णव दर्शन उत्तरोत्तर भक्ति को अधिकाधिक बहुमान देते है, परन्तु प्रकृति (जड) के सम्बन्ध मे उनके समाधान ऐसे नही है कि पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोणो मे एकरूपता स्थापित हो। रामानुज प्रकृति को अन्तर्यामिन की देह मानते है और इस प्रकार जड को चैतन्य से ओतप्रोत करना चाहते है, परन्तु इस दर्शन मे जड की चैतन्य से अलग स्वतन्त्र स्थिति है। फलस्वरूप, रामानुजी भक्त 'सियाराम मय सब जग जानी' कहकर जड पर चिन्मयता का आरोप कर सकता है, परन्तु उसे एकदम तिरोभूत नही कर सकता। अद्वैतवाद का 'अध्यास' बना ही रहता है।

इस तात्त्विक विभ्रम का निराकरण वल्लभाचार्य के द्वारा हुआ। उन्होने 'अद्वैतवाद' को शुद्ध किया और फलतः उनका दर्शन 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाया। उन्होने सत् (स्थिति), चित् (चैतन्य) और आनन्द के रूप मे तीन मूल गुणों की कल्पना की जो सृष्टि मे ओतप्रोत है। ये तत्त्व सामासिक है, ब्रह्म-रूप है। ब्रह्म, जीव और प्रकृति (जड) तीनो मे समान रूप से इनकी अवस्थिति है, अन्तर केवल यह है कि इनका तिरोभाव-आविर्भाव हो सकता है। ब्रह्म मे तीनो है, जीव मे स्थिति और चैतन्य है। इस प्रकार जीव के लिए 'आनन्द' तत्त्व का उपार्जन परमावश्यक हो जाता है। वह ब्रह्मरूपा है, आनन्द का आविर्भाव उसकी साधना है। कृष्ण इसी आनन्द के प्रतीक है। यह वैष्णव आनन्दवाद है। भक्त की साधना आनन्द की साधना है। परन्तु आनन्द बाहर नही है, भीतर है। भीतर आनन्द के स्रोत उन्मुख होने पर चैतन्य जड के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस भीतर के आनन्द को मुक्त करने के लिए ही आचार्य ने 'लीलावाद' की प्रतिष्ठा की है और 'लीलावत्तु कैवल्यम्' (लीला ही कैवल्य है) कहकर इस प्रपच को चिन्मय की लीला बतलाया है।

व्यवहार-भूमि पर इस नये तत्त्वदर्शन का फल यह हुआ कि सारा परिवेश आनन्दमय हो गया और युग की सीमाओ से ऊपर उठ कर मध्ययुगीन मानस चिदानन्द-सन्दोह भगवान कृष्ण के रूप-लीला-रस मे विभोर हो उठा। प्रकृति ही नही, मानवीय सम्बन्ध भी चिन्मय बन गए। जहा सूफियो ने प्रकृति और मानवीय सम्बन्धो को लोकोत्तर की ओर इगित माना था, वहा शुद्धाद्वैती और भी आगे बढ कर जड मे चैतन्य ही देखने लगे, क्योकि जड तो है ही नही। उन्होने जड मे चैतन्य ही नही, आनन्द की भी परिकल्पना की। इस प्रकार समस्त मानवीय सम्बन्ध आनन्दमय बन गए। कृष्ण की बाल-लीला और किशोर-लीला मे वात्सल्य, सख्य तथा शृगार के तत्त्व थे। अत आचार्य ने 'षोडश ग्रथ' मे भक्त की भाव-साधना मे इन तीनो की व्यवस्था की। शृगार-साधना के लिए उन्होने मिलन तथा वियोग दोनों को उपादेय माना। परन्तु विरह भी भक्त के लिए 'आनन्दमय' है, दु खमय नही, ऐसी उनकी मान्यता है। निश्चय ही यह दृष्टिकोण सूफियो तथा सन्तो के दृष्टिकोण से भिन्न है। सूफी और सन्त 'प्रेम की पीर' को 'पीर' (पीड़ा) मानते है और उसे अपने साधक व्यक्तित्व के परिमार्जन का साधन समझते है, परन्तु शुद्धाद्वैती के लिए तो आनन्द ही उपजीव्य है। उद्धव के ब्रज पहुचने पर गोपियो मे जो विरह-भाव उमडा था, उसे आचार्य ने 'महोत्सव' कहा है और वैसा महोत्सव उनके मन मे कब घटित होगा, ऐसी प्रार्थना की है। अतः उनके मत मे आनन्द ही स्पृहणीय है, विरह नही। इसीलिए सूरदास की साधना विरह की साधना न होकर आनन्द की साधना है। इसी भूमिका पर जायसी से उनका अन्तर स्पष्ट हो सकेगा।

जीवन की परिपूर्ण उपलब्धि ही शुद्धाद्वैत दर्शन है क्योकि जीवन 'सच्चिदानन्द' है। उसमे अस्वीकार्य कुछ भी नही है। अत विराग के स्थान पर राग का उपयोग आवश्यक माना गया है और राग को जडोन्मुखता से हटा कर उसे चिन्मयोन्मुख बनाने की आनन्दमयी चेतना को ही साधना माना गया है। 'वार्त्ता' के नन्ददास के वृत्तान्त से इस धारणा की पुष्टि होती है और वल्लभकुल के आचार्य की परिवारनिष्ठा इसका उदाहरण है। भक्त आत्मसमर्पित (निवेदित) है, अत 'निवेदन' के बाद उसके लिए कुछ भी वर्जनीय नही रह जाता। आवश्यकता यह है कि यह निवेदन आतरिक, द्विधाहीन तथा सम्पूर्ण हो, जैसा भागवत के चीरहरण-प्रसग मे उदाहार्य है। आचार्य की भाति सूर ने भी इस आत्म-निवेदन की परिपूर्णता रास-प्रसंग मे देखी है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट था कि शकराचार्य का समाधान मूलत दार्शनिक था और उसमे बौद्ध चिन्ताधाराओ तथा सम्प्रदायों को ब्राह्मणधर्म मे आत्मसात होने की सुविधा प्राप्त हुई। शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर तथा वैष्णव साधनाओ को वैष्णव धर्म मे अन्तर्भुक्त करके आद्य शकराचार्य ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा खडा

किया और आर्ष-चेतना को एकदम बन्धन-मुक्त कर दिया। माध्यमिक तथा योगाचार बौद्ध मतवादों का श्रेष्ठतम उनके बुद्धिवाद (ब्रह्मवाद) मे गृहीत हुआ और मध्ययुग के अनेक धर्म-सम्प्रदाय अद्वैतवाद की समानधर्मी भूमि पर एक सूत्र मे गुफित हुए। १०वी शताब्दी के अन्त तक यह प्रक्रिया बहुत दूर तक आगे बढ़ चुकी थी और ११वी-१२वी शताब्दियों मे स्मार्त धर्म मध्य देश का सार्वभौम धर्म बन गया। परन्तु १२वी शताब्दी के अन्त मे इस्लामी आक्रमण तथा आधिपत्य ने एकबार फिर विघटन की चुनौती उपस्थित की और भारतीय मनीषा को उसका उत्तर देना पडा। ११वी शताब्दी में रामानुज (१०१७–११३७ ई०) दक्षिण भारत की आलवार भक्ति का सम्बन्ध अद्वैतवाद से जोड कर भारतीय धर्म-चिन्ता को भावप्रधान बता चुके थे और पाचरात्र जैसे महत्त्वपूर्ण भारतीय प्राचीन भक्ति-सम्प्रदाय वैष्णवधर्म मे अन्तर्भुक्त हो गए थे। यह भी कहा जा सकता है कि इन सम्प्रदायों की प्रबलता ने ही अद्वैतवादी चिन्तन को नया भक्तिपरक मोड दिया जो विशिष्टाद्वैत के रूप मे सामने आया। इसके बाद उत्तरोत्तर व्यापक और सूक्ष्म भूमियो पर भक्ति का प्रवेश चिन्तन और साधना के क्षेत्र मे होता गया और दक्षिण से हमे दो नये समीकरण द्वैतवाद (मध्व) तथा द्वैताद्वैत (निम्बार्क) के रूप मे प्राप्त हुए। १४वी शताब्दी मे विष्णुस्वामी ने भी इसी प्रकार का दार्शनिक समीकरण उपस्थित किया और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत-दर्शन से उनका सम्बन्ध जोडा जा सकता है; परन्तु अनुश्रुति से अधिक पुष्ट प्रमाण इस सम्बन्ध मे हमे उपलब्ध रही है।

उत्तर भारत की हिन्दू-मुसलमान-समस्या का समाधान इन दार्शनिक समाधानो से सम्भव नही था। इस्लामी दर्शन आत्मसमर्पी है। उसमे जीवन-चिन्ता की अपेक्षा जीवनचर्या का अधिक महत्त्व है। विशुद्ध इस्लामी दर्शन की भूमि पर इस समस्या का निराकरण असम्भव था। परन्तु स्वय इस्लामी दर्शन के भीतर सूफी दर्शन के रूप मे एक विरोध पल्लवित हो रहा था। इस विरोध ने ही कालान्तर मे इस्लाम को उदाराशयी, भावुक तथा लोकधर्मी बनाया। सूफी विचारणा मे बौद्ध योग तथा वेदान्त का समीकरण बहुत पहले ही हो चुका था और इसीलिए यह विचारधारा मध्ययुगीन भारत की भूमिका ग्रहण कर सकी। दक्षिण के भक्तिवाद के रूप मे एक नई साधना-धारा और विचारणा उत्तर भारत मे प्रविष्ट हुई थी। इस भक्तिवाद से सूफीवाद मे अधिक भेद नही था। अन्तर केवल इतना था कि वैष्णव भक्ति उतनी दूर तक भावना के सूत्रों को खोल नही सकी थी। वह अब भी वैधी भक्ति से बधी थी। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नवधा और दशधा भक्ति की चर्चा परम्परा की ओर इगित करती है। अत आवश्यकता थी कि शास्त्रोन्मोदन के इस बन्धन को खोला जाय और भक्ति को एकान्तिक, सर्वभुक् और तरल बनाया जाय। निम्बार्क के द्वैताद्वैत-भाव और राधा-कृष्ण की प्रतीकात्मकता मे ऐसे सस्कार थे जिनको आधार बनाकर यह परिवर्तन किया जा सकता था। आरम्भ में नामदेव (१२७०–१३५०) और रामानन्द (१२९९–१४१८) ने इस्लामी सूफी भावना और वैष्णव भक्तिवाद के बीच मे सेतुबन्धन का कार्य किया और भक्ति को व्यक्तिगत, सूक्ष्म तथा अन्तरगी बनाया। रामानन्द मे सामाजिक चेतना भी पर्याप्त थी और उन्होने मध्मयुग के उपचेतन का ही प्रतिकारात्मक सगठन नही किया, चेतन मन के उपयोग से भी भक्तिवाद को पुष्ट किया। हनुमद्भक्ति और रामोपासना के द्वारा उन्होने हिन्दू-मात्र मे पौरुष जाग्रत किया और पराभूत हिन्दू-मन को जीवन्त आस्था दी। युग-पुरुष के रूप मे उन्होने राम के प्रतीक को स्वीकार किया और उसकी निर्गुण-सगुण व्याख्याओ द्वारा चेतन-अवचेतन दोनो स्तरों का स्पर्श किया। फलत. राम (नाम) के माध्यम से मध्ययुग की विभक्त चेतना एक सूत्र मे गुफित हुई और अद्वैतवाद भक्तिपरक बना। रामानन्दी सम्प्रदाय के प्रथित ग्रथ अद्वैतवादी है, परन्तु रामानन्द के शिष्यो मे विशिष्टाद्वैत की झलक भी स्पष्ट है और तुलसीदास (१५३२–१६२३) मे तो दोनो मतवाद इतने सग्रथित है कि उन्हे अलग करना असम्भव बात है।

यह स्मरण रखना होगा कि मध्ययुग का आर्ष मन नये परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। पुराणो के कलियुग-वर्णन मे भी यह प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वायुपुराण (२री शती पूर्व) से ही यह प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है क्योंकि इसी समय के लगभग पश्चिमी आक्रमणो से वर्णव्यवस्था और कर्मकाण्डी चर्या सकट मे पडने लगी थी। कालान्तर मे 'आपद्धर्म' तथा 'कलियुग' एव 'वर्णसकर' की कल्पना से आर्ष मन ने सान्त्वना प्राप्त की। १५वी शताब्दी तक पुराणों-उपपुराणो की रचना हुई है और सभी पुराणों मे कलियुग-वर्णन का समावेश

हुआ। साथ ही उस आत्मप्रवंचना का दूसरा रूप 'रामराज्य' के रूप मे कल्पित हुआ। १६वी शताब्दी मे रामचरितमानस, मनुचरित्र तथा सत्रहवी शताब्दी मे समर्थ रामदास की रचनाए इस आदर्श को अनेक रूपो मे पल्लवित करती है। इसी आर्ष मन ने नवीन स्मृतियो तथा निबन्ध ग्रथो का निर्माण किया और हेमाद्रि जैसे महापण्डित को जन्म दिया जिसने लगभग दो सहस्र व्रतो-आचारो को स्मृति-चर्या मे गूथने का उपक्रम किया। यह उच्च वर्ग (ब्राह्मण) की आत्मरक्षा का प्रयत्न था जो मध्ययुग मे बराबर चलता रहा। व्रतो-आचारो, व्यक्तिगत शुद्धता के आदर्शो तथा वर्ण-व्यवस्था एव अस्पृश्यता के कूर्म-कवच के द्वारा इस प्रयत्न को लौह-दुर्ग का रूप देने की चेष्टा हुई, परन्तु समय-समय पर इस रक्षा-पंक्ति मे दरारे पडती रही और सामाजिक लोकप्रियता के आग्रह से आचार्यों और पडितो ने भक्तिवाद को ब्राह्मण-धर्म मे स्थान देना पडा। परन्तु भक्तिवाद अकेला ही नही आया, उसके साथ अनेक द्वन्द्वो का प्रवेश हुआ। १६वी शताब्दी के अन्त तक ब्राह्मणवाद और भक्तिवाद का विरोध बहुत-कुछ समाप्त हो चुका था, क्योकि भक्तिवाद ने ब्राह्मण-धर्म के भीतर प्रवेश पा लिया था। यह भक्तिवाद पौराणिक भक्ति के रूप मे सगठित हुआ और इसने मर्यादा के नाम पर वर्णव्यवस्था और पौरोहित्य से समझौता कर लिया था। तुलसी का 'मानस' (१५७५) इसी समझौते का प्रतीक है।

परन्तु उच्च वर्गो मे भी ऐसे द्रष्टा थे जिनके लिए यह समझौता अतिम समझौता नही हो सकता था। वे जाति के नवीन स्पन्दन मे परिचित थे और भक्तिवाद को उच्चतम सास्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना चाहते थे। वल्लभाचार्य ऐसे ही द्रष्टा थे। उन्होने अपने ग्रथ 'कृष्णास्तुति' मे इस्लामी आतक द्वारा उत्पन्न अराजकता का मार्मिक चित्रण किया है और इसके लिए कृष्णार्पण का मोर्चा बाधा है। परन्तु यह कृष्णार्पण क्या है? इस कृष्णार्पण का दार्शनिक पहलू शुद्धाद्वैत है और धार्मिक एव साधनात्मक पहलू पुष्टि-मार्ग और सेवा-मार्ग। शुद्धाद्वैत दर्शन ने जड-चेतन अथवा जीव-ब्रह्म के समस्त विरोधो का परिहार किया और आनन्द की भूमिका देकर युग की सस्कारी भावना को सौदर्य, माधुर्य तथा शक्ति की ओर प्रेरित किया। चैतन्य को जाग्रत करने के लिए आनन्द ही सबसे बडा साधन हो सकता है। अत विरोधी धर्माश्रयी ब्रह्म (आनन्द) के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भक्तिवाद की शर्त बन गया। उन्होने मन मे किसी प्रकार का निरोध स्वीकार नही किया। फल यह हुआ कि वैष्णव भक्ति के लिए ऐहिक जीवन, भौतिक परिवेश तथा मानवीय सम्बन्ध माधुर्य और आनन्द से ओतप्रोत हो गए। इस आनन्दवाद के प्रतीक के रूप मे कृष्ण-लीला की प्रतिष्ठा हुई और वात्सल्य, सख्य तथा शृगार की अनेकानेक भूमिया युग के काव्य मे उद्घटित हुई। पिछले युगो के तन्त्रवाद को भी राधा-कृष्ण की नई भूमिका मिली और इस प्रकार अनेक तात्रिक परम्पराए और युगनद्धी मान्यताए कृष्ण-भक्ति मे समाहित हुई। इस प्रकार वैष्णव भक्तिवाद पूर्वतन युग के तत्रवाद का सच्चा उत्तराधिकारी बना। सिद्ध तथा सूफी साधनाओं के मौन प्रतीक कूट काव्य के रूप मे कृष्ण-भक्ति-काव्य मे भी आ गए, परन्तु अधिकाश कृष्ण-काव्य अकुठित, नैसर्गिक तथा सर्वमुखी जीवन-स्वीकृति बन गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रामानन्द का मध्ययुग के मन को खोलने का प्रयत्न वल्लभाचार्य की नई अद्वैतवादी व्याख्या मे ही सम्पूर्णत सफल हो सका। बीच के सोपान महत्त्व-पूर्ण है, परन्तु उनकी परिणति शुद्धाद्वैत मे ही हुई है। हिन्दी साहित्य को यह श्रेय प्राप्त है कि इस दार्शनिक मान्यता की अभिव्यक्ति सूरदास जैसे सशक्त, भावुक तथा साक्षात्कारी कवि के द्वारा हुई। उनका 'सागर' निश्चय ही मध्ययुग की आत्मनिष्ठा, सौदर्याकाक्षा, माधुर्य-साधना तथा भावमुक्ति का सागर है। उसमे युग का समस्त अवचेतन हिल्लेलित है। उसमे मध्ययुगीन मन अपने भीतर के सभी बन्धनो को तोडकर अपने ही सौदर्य, माधुर्य तथा तारल्य का आस्वादन करता है। वह 'मानस' (तुलसी) से भिन्न है जो युग के चेतन मन की सक्रिय, जागरूक और प्रतिबद्ध (सकल्पी) चेतना का प्रकाशन है। दोनो युग-मन के दो स्तरो की अभिव्यक्तिया है। फलत उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूप तथा प्रकाशन मे अन्तर है। मध्ययुग की सौदर्य-साधना वास्तुकला, चित्रकला, सगीत तथा काव्य के माध्यम मे मूर्तिमान हुई है और इन सभी को कृष्ण-रग से रँग दिया गया है। १६वी शताब्दी से १९वी शताब्दी के मध्य तक हम नागरी राधा और नटनागर श्याम के सौन्दर्य तथा माधुर्य के प्रतीको मे मध्यदेशीय कला-साधना की अभिव्यक्ति पाते है। ऐसा बहुमुखी, बहुमानी तथा व्यापक आन्दोलन कदाचित किसी भी देश मे नही मिलेगा। राजपूत चित्रकला, ध्रुपद-धम्मार-खयाल की गायकी और पदों तथा कवित्त-सवैयों मे जिस अपार रूप-माधुरी के दर्शन हमे होते है, वह अन्यत्र अलभ्य है। यह बहुमुखी साधना

वर्जनीय को सग्रहणीय बना देती है और इसमे कही भी सकोच, कुठा तथा पराजय के दर्शन नही होते। मध्ययुग के मन ने भाव-जगत को अपनाया था और उसके लिए भाव-सत्य ही एकमात्र सत्य था। इसे वस्तु-सत्य से पलायन कहा गया है, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि इस भाव-सत्य ने कालान्तर मे हमे वस्तु-सत्य के प्रति भी अधिक जागरूक एव खड्ग-हस्त नही बनाया।

साहित्य और कल्पना के क्षेत्रो मे सब-कुछ स्थूल अर्थों मे प्रयोजनीय नही होता। अतः मध्ययुगीन साहित्य से हम सामान्य ढग की वस्तुमुखी रचनाओ की आशा नही कर सकते। यह नही कि ऐसी कृतियो का नितान्त अभाव है और चारण-काव्य तथा रीति-काव्य मे प्रशस्तियो की मात्रा भी कम नही है। दोनो का दृष्टिकोण इहलौकिक ही है। सिद्ध-काव्य तथा नाथ-काव्य के सम्बन्ध मे प्रचारात्मकता की आवाज उठाई गई है और वैष्णव काव्य मे भी बहुत-कुछ ऐसा है जो मात्र पौराणिक या साम्प्रदायिक है। यह स्पष्ट है कि सम्प्रदाय-बद्ध रचनाओ मे कवि व्याख्याता अधिक होता है या वह गतानुगत का वाहक बन जाता है। मध्ययुग के अनेक प्रचण्ड साधक बाद मे सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक माने जाने लगे (यद्यपि इसमे सन्देह है कि उन्होने स्वय इन सम्प्रदायो का प्रवर्तन किया होगा) और उनकी तेजस्वी ज्वलन्त वाणी अपनी मौलिकता खोकर परम्परा बन बैठी। इस प्रकार के साहित्य को हम प्रयोजनीय ही मान सकते है। परन्तु मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ को पाने के लिए हमे सर्वश्रेष्ठ कृतियो को (और सम्भवतः उन कृतियो के भी सर्वश्रेष्ठ को) चुनना होगा। इस सर्वश्रेष्ठ ने ही युग-मन का प्रतिनिधित्व किया है, क्योकि शेष समस्त सामान्यता के धरातल पर जीवित रहकर एक दिन काल का ग्रास बन गया। मध्ययुग के एक छोर पर सरहपा, गोरखनाथ, रामानन्द और कबीर है और दूसरे छोर पर सूर, तुलसी, मीरा और हितहरिवश है। इन दोनो छोरों के बीच मे साधना और उपलब्धि के अनेक स्तर है। यह स्पष्ट है कि मध्ययुग का मन किसी बधी हुई लीक पर नही चला है। उसने नये-नये समाधानो को प्रस्तुत किया है और सौन्दर्य तथा माधुर्य के नये-नये स्रोत उन्मुक्त किए है। उसमे जहा निम्न वर्गों का विद्रोह पल्लवित है वहा उच्च वर्गों का औदात्य और आत्मदान भी मुखरित है। वैष्णव भक्ति के धरातल पर वर्गीय भेद-भाव समाप्त हो जाता है और 'हरि को भजै सो हरि कौ होई' रामानन्दी मन्त्र के अनुसार केवल मानवता शेष रह जाती है। इस साहित्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह अद्वैत की ऊचाई तक उठ कर और फिर नीचे उतर कर समाज को छूता है और उसे भी उसी ऊचाई पर ले जाने का उपक्रम करता है। समस्या चाहे सामाजिक हो, परन्तु समाधान आध्यात्मिक है, क्योकि अध्यात्म ही मनुष्य के भीतर के चैतन्य का स्पर्श कर सकता है। यह नही कहा जा सकता कि मध्ययुगीन साहित्य ने उस युग के मनुष्य की समस्त समस्याओ का समाधान कर दिया था; परन्तु यह निश्चय है कि वह मूलभूत और अन्तरगी समाधानों का कायल था और इस दिशा मे उसकी सफलता अप्रत्याशित ही कही जा सकती है; क्योकि उसकी कलाकृतियो, जीवन-व्यवहार तथा साहित्यिक चेतना में अपूर्व सन्तुलन है। मध्ययुगीन साहित्य को युग-मानस की अन्य अभिव्यक्तियो के समक्ष रख कर ही हम उसके प्रति न्याय कर सकेंगे और शब्द तथा अर्थ के बीच के महान रिक्त को भरने मे सफल होगे।

संत-काव्य में प्रतिविम्बवाद

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

ईश्वर एव जीव के स्वरूप की कल्पना, चिन्तन एव मनन अद्वैत वेदात के मर्मज्ञो का प्रमुख विषय रहा है। इस विषय (ईश्वर एव जीव के स्वरूप की कल्पना) को लेकर अनेक वादो का जन्म एव प्रचलन हुआ, जिनमे आभास-वाद, प्रतिविम्बवाद, अवच्छेदवाद तथा जीवैक्यवाद का विशेष उल्लेख है। इसमे से प्रतिविम्बवाद का विशेष महत्त्व है। भारतीय (आस्तिक) दर्शन मे प्रतिविम्बवाद की विशेष चर्चा है। अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत तो यह चिरकाल तक वैमत्य या मतभेद का विषय रहा है। इस दार्शनिक विचारधारा पर, शायद ही कोई ऐसा अद्वैत वेदाती हो जिसने अपने विचारो को पाण्डित्यपूर्ण एव प्रवल तर्कों के आधार पर चिन्तन का प्रमुख विषय न बनाया हो। प्रतिविम्ब का कोष की दृष्टि से अर्थ होता है छाया अथवा विम्ब की प्रतिछाया। विद्वानो का अभिमत है कि विम्ब और प्रतिविम्ब अन्योन्याश्रित है अत उनमे घनिष्ठ सम्बन्ध है। विम्ब के अभाव मे प्रतिविम्ब की और प्रतिविम्ब के अभाव मे विम्ब की कल्पना नही की जा सकती है। प्रतिविम्ब उसी प्रकार नि सार और क्षणिक है यथा मानव का व्यक्तित्व अथवा जीवन स्वत क्षणभगुर है। प्रतिविम्ब ही विम्ब का द्योतक और स्पष्ट करने का एक साधन है। सामान्यतया अज्ञान मे प्रति-विम्बित चैतन्य को ईश्वर कहा जाता है और इसी प्रकार बुद्धि-प्रतिविम्बित चैतन्य को जीव कहा गया है। वस्तुत अज्ञान की उपाधि से परे या विहीन विम्ब चैतन्य शुद्ध है। स्वतन्त्रता तथा व्यापकतादि गुणो से सयुक्त एव विशिष्ट होने के कारण ईश्वर विम्ब-स्थानापन्न है। परतन्त्रता के ही कारण अविधा मे चिदाभास जीव है। ईश्वर विम्बरूप है और जीव प्रतिविम्ब-रूप है। सक्षेप मे यही प्रतिविम्बवाद है। इस दार्शनिक सिद्धांत के प्रति अनेक अद्वैत वेदान्तियो को आस्था है और अनेकानेक अनास्था की भावना से ग्रस्त है। द्वितीय कोटि के विद्वानो का कथन है कि स्वरूपवान पदार्थ स्वरूप से युक्त आधार मे ही प्रतिविम्ब दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ, राकेश का प्रतिविम्ब जल मे ही दृष्टि-गोचर होता है। यदि वही राकेश स्वरूपविहीन होता तो स्वरूप से युक्त आधार मे उसका प्रतिविम्ब कभी न दृष्टिगत होता। वास्तव मे ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकार और अनादि-अनन्त है। अत उसका प्रतिविम्ब सम्भव नही है। इसीलिए रूपहीन अन्त करण मे प्रतिविम्ब-उत्पादन की शक्ति ही विद्यमान है।

'पदार्थसग्रह' का मत है कि विम्ब से पृथक न रहने वाला और उसके सदृश ही तत्त्व प्रतिविम्ब है[1]। इसकी सत्ता विम्ब के ही आधीन होने से यह क्रियावान प्रसिद्ध है।[2] वास्तव मे स्वय प्रतिविम्ब मे क्रिया नही है।[3] विम्ब तथा प्रतिविम्ब मे कही ज्ञान, आनन्द आदि गुणो के कारण तथा कही चैतन्य, हाथ, पैर, नासिका आदि होने से सादृश्य भी है। इसीलिए ब्रह्म का प्रतिविम्ब दैत्यो मे भी है।[4] प्रतिविम्ब के भेद भी है, यह नित्य भी है और अनित्य भी।[5] ब्रह्म

१. पदार्थसंग्रह, पृ० ६५ (ख)
२. मध्वसिद्धांतसार, पृ० ६५ (ख)
३. गीताभाष्य
४. मध्वसिद्धांतसार, पृ० ६५ (ख)
५. वही, पृ० ६६ (क)

के अतिरिक्त सभी चेतन ब्रह्म के प्रतिविम्ब है और ये प्रतिविम्ब नित्य हैं। ब्रह्मरूप विम्ब तथा चेतन समूह का अथवा उनकी सन्निधि का क्षय नहीं होता है। दर्पण मे प्रतिभासित मुख का प्रतिविम्ब, विम्बस्वरूप मुख के नाश से अथवा दर्पण-रूप उपाधि के नाश से अथवा उनकी सन्निधि के नाश से, क्षय हो जाता है। अतः इनकी परिगणना अनित्य प्रतिविम्ब के अन्तर्गत है। छाया, इन्द्रधन्वा, प्रतिसूर्य, प्रतिध्वनि, स्फटिक का लौहित्य भी प्रतिविम्ब ही है।[६]

प्रतिविम्बवाद का परीक्षण एव विवेचन करते हुए 'सिद्धान्त-विन्दु' मे आचार्य मधुसदन सरस्वती ने लिखा है कि—"**अज्ञानोपहितं विम्बचैतन्यमीश्वरः। अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिविम्बितं चैतन्यं जीव इति विवरणकाराः। अज्ञानप्रतिविम्बितं चैतन्यमीश्वरः। बुद्धिप्रतिविम्बितं चैतन्यं जीवः। अज्ञानानुपहित त विम्बचैतन्य शुद्धमिति सक्षेपशारीरकाराः। अन्ययोश्च पक्षयोर्बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम् प्रतिविम्बस्य च पारिमार्थिकत्वाज्जहदजहल्लक्षणैव तत्त्वमादिपदेषु। इदमेव च प्रतिविम्बवादमाचक्षते।**"

अर्थात्, अज्ञान से उपहित विम्बचैतन्य ईश्वर है। अत करण और अत करण के सस्कार अवच्छिन्न अज्ञान मे प्रतिविम्बित चैतन्य जीव है। अज्ञान मे प्रतिविम्बित चैतन्य ईश्वर है और बुद्धि मे प्रतिविम्बित चैतन्य जीव है। अज्ञानोपाधि-रहित विम्ब चैतन्य शुद्ध है। यह सक्षेपशारीरकारों का मत है। इन दोनो पक्षों मे बुद्धि (अंत करण) के भेद से जीव नाना है। प्रतिविम्ब के पारमार्थिक होने से 'तत–त्वम्' आदि पदो मे जहदजहती लक्षणा ही है। इसी को प्रतिविम्बवाद कहते है

परिव्राजकाचार्य सदाशिवेन्द्र सरस्वती-लिखित 'सिद्धातकल्पवल्ली' मे प्रतिविम्बवाद की विवेचना निम्नलिखित शब्दो मे करते हुए 'सत्यत्वमिथ्या' का उल्लेख हुआ हो—

नन्वित्थ प्रतिविम्बभ्रमस्थले सन्निकर्षवैकल्यात्।
मुकुरे मुखान्तरम् स्याद् ग्रीवास्थितनिजमुखातिरेकेण॥
इह न मुखस्याऽध्यासो मुकुराहतदृष्टिसन्निकृष्टत्वात्।
किन्त्वस्य मुकुरगत्वं भ्रम इति निगदन्ति विवरणानुगतः॥
विम्बमुखात् पार्श्वस्थैर्भेदेन निरीक्ष्यमाणमादर्शे।
प्रतिविम्बितं मुख तन्मिथ्येत्यद्वं तविधाकृतम्॥
ननु कथमयमध्यासस्तद्धेत्वज्ञानसंक्षयादिति चेत्।
विक्षेपशक्तिमात्रवदज्ञानं तत्र हेतुरित्याहुः॥

अर्थात्, प्रतिविम्बभ्रमस्थल मे सन्निकर्ष का वैकल्य होने से अर्थात् ललाटादिप्रदेशावच्छेद से मुख का सन्निकर्ष न होने से आदर्श मे विम्ब से अतिरिक्त प्रतिविम्ब, अर्थात् ग्रीवास्थित निजमुख से अतिरिक्त मुख मानना होगा, इस नियम को मानने से ब्रह्म प्रतिविम्ब जीव के भी ब्रह्म से भिन्न होने पर जीव मे मिथ्यात्व की आपत्ति आ जायगी। इसमे जीव को मुक्ति-प्राप्ति की उपत्ति न होगी। उक्त आपत्ति तभी आ सकती है, जब दर्पण मे मुख का अध्यास होता, पर ऐसा तो नही, अर्थात् यहा दर्पण मे मुख का अध्यास नही है, किन्तु दर्पण मे प्रतिहत होकर परावृत हुई दृष्टि से सन्निकृष्ट होने के कारण मुख का भान होता है। केवल इस मुख का मुकुरत्व–दर्पणस्थत्व–भासना भ्रम है, क्योंकि 'यह मेरा मुख दर्पण मे भासित है, यहा मुख नही है ऐसा दर्पणस्थत्व और बाध– इन दोनो के अनुभूत होने मे केवल दर्पणस्थत्व ही अध्यस्त है', ऐसा विवरणानुयायी का कथन है। पार्श्वस्थ पुरुषो द्वारा विम्बभूत ग्रीवास्थ मुख से भिन्न रूप मे तथा उसके सदृश रूप से परीक्ष्यमाण दर्पण मे प्रतिविम्बित मुख, स्वहस्तगत रजत से भिन्न शुक्तिरजत के समान, उससे भिन्न एव स्वरूप से मिथ्या ही है, दर्पण मे मेरा मुख है, ऐसा कथन तो अपने छाया मुख मे स्वमुख के कथन के समान गौण है, यह जीव की विविधता मानने वालो का मत है। इस मत मे प्रतिविम्ब जीव का तो मिथ्यात्व है, किन्तु अवच्छिन्न जीव सत्य है अत मुक्ति की अनुपपत्ति नही होती है। दर्पण का प्रत्यक्ष होने से उपादानभूत अज्ञान का नाश हो जाने पर यह प्रतिविम्बाध्यास कैसे होगा? यद्यपि दर्पण के प्रत्यक्ष से अधिष्ठान के अज्ञान के आवरणांश का नाश होने

६—पदार्थसंग्रह, पृ० ९८ (क)

पर भी विम्ब-सन्निधान आदि प्रतिबन्धको के कारण उसके विक्षेपाश का नाश नही होता, अत विक्षेप-शक्ति से युक्त अज्ञान के प्रति विम्बोपादन होने से ही। अध्यास उपपन्न है। विक्षेपशक्ति से सम्बन्धित अवस्थाज्ञान प्रतिविम्ब का उपादान सम्भावित नही है। कारण कि जहा पूर्व दर्पण का प्रत्यक्ष सम्पन्न हुआ और तदनन्तर विम्ब की सन्निधि वहा प्रतिबंधक के न होने से विक्षेपाश का नाश हो जाने पर प्रतिविम्ब का विकास नही होगा, किन्तु विक्षेप-शक्ति वाला मूलाज्ञान ही प्रतिविम्ब का उपादान होता है। विम्ब के असनिधान से सहकृत मुकुर का प्रत्यक्ष मूलाज्ञान का निवर्तक नही होगा, परन्तु स्वविरुद्ध मूलाज्ञान का विक्षेपरूप कार्य उसका निवर्त्तक होगा, इसीलिए ब्रह्मज्ञान मूलाज्ञान-निवर्तक है। प्रतिविम्ब में विम्बसनिधान और स्वच्छत्वादि दोषजन्यत्व होने से प्रातिभासिकता ही है, अर्थात्, अविधातिरिक्त दोष से अजन्यत्व ही व्यावहारिकता का प्रयोजक है।

अप्पयदीक्षित के 'सिद्धान्तलेशसग्रह' मे प्रतिविम्बवाद की सत्यता का निराकरण निम्नलिखित शब्दो मे उल्लिखित हुआ है .

नन्वेवं स्वमुखं स्वस्यासन्निकृष्टमितीतरत् ।
दर्पणेऽध्यस्ततापन्नं प्रतिविम्बं मृषेति चेत् ॥
दर्पणादिपरावृत्तं निजैर्नयनरश्मिभिः ।
सन्निकृष्टं मुखं तत्रोपाध्यन्तः स्थितिविभ्रमः ॥
न दर्पणे मुखाध्यासः संस्कारादेरसभवात् ।
ममेदमिति मानाच्चेत्याहुर्विवरणानुगाः ॥
अद्वैतविद्याचार्यास्तु पार्श्वस्थैर्भेददर्शनात् ।
ग्रीवास्थादन्यदध्यस्तं प्रतिविम्बमुखं विदुः ॥
सामान्यतोऽपि संस्कारो विशेषारोपकारणम् ।
स्वप्ने तथैव वाच्यत्वादिह विम्बानुसारिता ॥
नच्छाया नापि वस्त्वन्यत्प्रतिविम्बसंभवात् ।
नन्वध्यासोऽप्ययुक्तोस्योपादानज्ञानसंक्षयाद् ॥
अत्र. केचिद्विधाऽऽऽवरणांशे विनश्यति ।
विक्षेपांशे तु विम्बादिप्रतिबद्धास्य कारणम् ॥
मूलाविधाऽथवाहेतुर्विक्षेपांशेन संस्थिता ।
बिम्बादिदोषजन्यं त्वान्मिथ्येत्यन्ये प्रचक्षते ।
विम्बापसरणाध्यक्षविक्षेपांशस्य बाधनम् ।
विरोधादथवा ब्रह्मज्ञानेनैवास्य बाधनम् ॥

तात्पर्य यह है कि रजताभास की उत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर दर्पण मे अध्यस्त अपना मुख भी असन्निकृष्ट होने से अन्य अनिवर्चनीय उत्पन्न होगा, अत. वह मिथ्या होगा; यदि इस प्रकार शका से युक्त नही है, कारण कि दर्पण आदि से परावृत्त अपनी नयन-रश्मिया ही सन्निकृष्ट मुख का ग्रहण करती है तथा उसके केवल उपाध्यन्त स्थत्व आदि का अध्यास होता है। दर्पण मे मुख का अध्यास उत्पन्न नही होता है, कारण कि सस्कार नही है और मेरा यह मुख है इस प्रकार अभेदानुभव भी होता है, ऐसी विवरणानुसारी विद्वानो की सम्मति है। अद्वैत विद्या के विद्वानो का अभिमत है कि समीपस्थ मानव मुख्य मुख से प्रतिविम्बभूत मुख का भेद देखते है अत. ग्रीवास्थ मुख से अध्यस्थ प्रतिविम्बभूत मुख भिन्न है। सामान्यतया सस्कार विशेषारोपण के कारण विद्यमान होते है, क्योकि स्वप्न मे अदृष्टानुरोध से पुरुषाकृति-विशेष का अध्यास माना गया है। अत. यह निश्चित है कि प्रकृत मे प्रतिविम्बानुसारिता से मुखाकृति का अध्यास होगा। सक्षेप मे प्रतिविम्ब विम्ब की न छाया है और न अन्य वस्तु है, निश्चय ही प्रतिविम्ब मिथ्या है, यह कथन भी अनुपयुक्त है। शुक्ति-रजत के समान उसके उपादान-कारण अज्ञान का नाश हो जाता है। अन्य कतिपय

विद्वानों का अभिमत है कि यहां पर अज्ञान का आवरण अंश से विनष्ट हो जाता है और विक्षेप-अंश से अज्ञान रहता है। वही विम्बसम्बद्ध प्रतिविम्ब मुख का कारण होता है। अथवा मूल विक्षेप-अंश से स्थित मूला विधा प्रतिविम्बाध्यास की हेतु है। विम्ब आदि के दोष से जन्य होने के कारण प्रतिविम्ब मिथ्या है, यह कतिपय विद्वानों का मत है। विम्ब की सन्निधि की निवृत्ति से युक्त अधिष्ठान-साक्षात्कार से विक्षेप-अश का बोध प्राप्त होता है इसलिए कि दोनो का परस्पर विरोध है अथवा केवल ब्रह्मज्ञान से ही विक्षेप-अश का नाश होता है।

'वाचस्पत्यम्' मे प्रतिविम्बवाद का विवेचन करते हुए उलेल्ख किया गया है कि **"जीवस्य ईश्वरप्रतिविम्बता-स्थापनार्थं वादे। द्विधा हि वेदान्तिमते जीवेश्वरयोर्विभागकल्पना प्रतिविम्बभावेन च। तत्राद्यः पक्षः विवरणानुसारिभिर्मन्यवे द्वितीयः पक्षोऽन्यैर्मन्यते तदेतत् सिद्धान्तलेशे प्रदर्शितं यथा"।**[1]

'ब्रह्म-सूत्रो' मे उल्लेख हुआ है कि जीव ब्रह्म है। उपाधि के कारण यथा एक ही सूर्य अनेक जलाशयों में विभिन्न रूपो मे प्रतिविम्वित और प्रतिभासित होता है, तथैव 'एक ब्रह्म' अनेकानेक उपाधियो मे भासित होता है।[2] ब्रह्मबिंदु उपनिषद् मे उल्लेख मिलता है कि भूतात्मा प्रत्येक प्राणी मे उसी प्रकार विद्यमान है यथा जल मे प्रतिविम्बित चन्द्रमा बहुरूपो मे दृष्टिगत होता है।[3] यह सर्वमान्य तथ्य है कि चन्द्रमा का प्रतिविम्ब चन्द्रमा नही है। ऐसी कल्पना कर लेना मिथ्यात्व का आश्रय लेना होगा। उपाधि माया का पर्याय है। माया की स्थिति पारमार्थिक दृष्टि से शून्य वा नि सार है। माया की मिथ्यारूपता का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए आचार्य शकर ने उद्धरण दिया है कि "हे नारद, मैंने यह माया रची है। तुम मुझे सर्वभूत गुणो से युक्त रखते हो, परन्तु मेरा रूप समझना औचित्य नही है।"[4] वस्तुत. मायिक उपाधि ब्रह्म का आभास-मात्र है।[5] आचार्य शकर ने आभास को अविद्याजनित माना है अत· आभास पर निर्भर संसार भी अविद्याजनित है।[6] जल के आन्दोलित होने से चन्द्रमा भी आन्दोलित होता है पर वास्तविक चन्द्र तो नही आन्दोलित होता है।[7]

'विवेकचूडामणि' मे उल्लेख हुआ है कि यथा जल के हिलने से सूर्य नही हिलता है उसी प्रकार उपाधि के विकृत होने के प्रभाव मे आत्मा नही विकृत होती है। जलरूप उपाधि के चचल होने पर मूढ-बुद्धि मानव औपाधिक प्रतिविम्ब चचलता का आरोप ब्रह्म मे करते हैं। आत्मा निष्क्रिय है पर चित्त की चचलता का आरोप 'मै करता हू, भोक्ता हू', इस भाति व्यवहृत होता है। घट के धर्मों से आकाश का कोई सम्बन्ध नही है, उसी प्रकार शरीर चाहे जल मे, लोटे मे या स्थल मे, आत्मा मे मलीनता नही आती है।[8] दार्शनिक की इसी परम्परा मे वर्तमान दार्शनिक भी प्रतिविम्व सत्यता

---

१. वाचस्पत्यम्, भाग षष्ठ, पृ० ४४५२

२. अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्। ब्रह्मसूत्र।३।२।१८

३. एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थिता।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ब्र० वि० उ० १२

४. माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मा पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मा ज्ञातुमर्हसि॥ ब्र० सू० ३।२।१७

५. आभासस्य चाविधाकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्या-
कृतत्वापपत्तिरिति। ब्र० सू० भा० २।३।५०।

६. वृद्धि ह्रासभाक्तमन्तर्भावादुभयसामजस्यादेवम्। ब्र० सू० ३।२।२०

७. जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्ब जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते, इत्येव जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थत· सूर्यस्य तथात्वमस्ति एव परमार्थतो विकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजति इवोपाधि धर्मान् वृद्धिह्रासादीन्।
ब्रह्म-सूत्र-भाष्य ५।२।२

८. चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्यमौपाधिकं मूढधियो नयन्ति।
स्वविम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं कर्तास्मि भोक्तास्मि हतोऽस्मि हेति॥ विवेकचूडामणि ५०९
तथा :— जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मक।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा॥ विवेकचूडामणि ५१०

या स्थिति पर सन्देह प्रकट करते हुए उसे हीन और असत्य मानते है।[1]

प्रतिविम्बवाद के पीछे सन्निहित व्यापक दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम संतों की प्रतिविम्बवाद-विषयक विचारधारा का अध्ययन करेंगे। सतो की अनेक स्फुट रचनाओ मे प्रतिविम्ब-भावना का स्वरूप उपलब्ध होता है। इस विचारधारा के प्रतिपादन के लिए सतो ने जल और प्रतिविम्ब का ही दृष्टान्त ग्रहण किया है।

नाथ-पथ के प्रसिद्ध कवि गोरखनाथ के मत मे, यथा जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की स्थिति वस्तुत वास्तविक नही होती है, उसी प्रकार आत्मा निर्गुण एव निर्विकार है। जगत-सृष्टि या व्यावहारिक जीव की सृष्टि का आरोप उसमें सम्भव नही है। सृष्टि आत्मा मे अध्यस्त नही है, किन्तु उपाधि के कारण व्यवहार मे आत्मा मे जगत को आत्मा के प्रतिविम्ब रूप मे देखा जाता है।[2]

कवीर के अनुसार यथा दर्पण देखने से मुख का प्रतिविम्ब दृष्टिगत होता है और दर्पण का प्रतिविम्ब आकृति के आश्रित है। दर्पण के नष्ट हो जाने पर विम्ब-मात्र रह जाता है और प्रतिविम्ब नष्ट हो जाता है। तथैव माया मे प्रतिविम्बित होकर आत्मा दो रूपों मे दृष्टिगत होती है और ज्ञान-प्रकाश के प्रभाव मे द्वैत-रूप विनष्ट होकर अद्वैत मे प्रतिभासित होती है। आत्म-ज्ञान के द्वारा ही माया मे प्रसूत द्वैत की भावना मिट जाती है। कबीर के ही शब्दो मे—

> कासूं कहूं कहन को नाहीं दूसर और जनां।
> ज्यूं दरपन प्रतिबिम्ब देखिये आप दवा सूं सोई।
> संसौ मिथ्यौ एक को एकं महाप्रलय जब होई॥[3]

कबीर के मत से प्रतिविम्ब की सत्ता अविश्वसनीय है। यथा बीज के अन्तराल मे वृक्ष और वृक्ष मे छाया दृष्टिगत होती है, उसी प्रकार परमात्मा मे जीव और जीव मे माया का प्रत्यक्ष होता है। सत्य यह है कि जीव मे ब्रह्म प्रतिष्ठित है और ब्रह्म मे माया की स्थिति है। माया मिथ्या सृष्टि की रचना करती है। औपाधिक विकारो मे सश्लिष्ट होकर जगत एव जीव के भेद रूपों मे दिखाई देती है —

१. To secure the identity of the enjoying soul, the latter is looked upon not as the limited intellegence, but as the reflected intellegence which is inseperably connected with the reflector i e. mind .. ..As the appearence of sun and moon in water is a mere reflection and nothing real, or as the appearence of red colour in a white crystal is a mere reflection of the red flower and nothing real, since on removing the water, sun and moon only remains, and on removing the red flower the whiteness of the crystal remains unchanged even so the elements and the individual souls are reflection of the one reality in avidya and nothing real, on the abolition of avidya, the reflection cease to exist and only the real reamins. The Absolute is original (Bimba) and the world is the reflection (Pratibimba). Again, the universe in vareity ways, and Shanker supports this view on account of its suggestive value, seeing that it brings out that the original really remains untarnished by the imperities of the reflection. As the differences of the reflections are traced to the mirror, the Absolute, which is without a second, appears as different individuals through its reflections different inner organs. When the water in which the reflection is cast is disturbed, the reflection itself appears as disturbad

Indian Philosphy—Dr Radhakrishnan, Vol. II, P. 607.

२. बदन्त गोरखनाथ आतमां विचारंत ज्यूं जलदी से चन्दा। गोरखबानी, पृ० २६

३. कबीर-ग्रन्थावली

साधो सतगुरु ग्रलख लखाया, ग्राप ग्राप दर्शाया।
बीज मध्ये ज्यों बृच्छा दरसे, बृक्षा मध्ये छाया।
परमातम में ग्रातम दरसे ग्रातम मध्ये काया।
ग्रातम में परमातम दरसे परमातम में झांई।
झांई में परछाईं दरसे लखे कबीरा सांई॥[1]

सत कवि रैदास के मतानुसार ब्रह्म जगत-कारण है। यहा पर यह बात उल्लेख कर देना ग्रसंगत न होगा कि दर्पण, गध, ग्राकाश ग्रौर वायु के समान दर्पण माया के विकारो से सलिप्त नही है। जलाशय मे प्रतिभासित प्रतिविम्ब के सदृश जगत के ग्रनेक रूप है। सत रैदास के ही शब्दो मे

सब कछु करत न कहो कछु कैसे।
गुन बिधि रहत बहुत ससि जैसे॥
दरपन गगन ग्रनिल ग्रलेप ग्रस।
गंध जलधि प्रतिबिम्ब देखि तस॥[2]

सत दादू के मत मे जिस प्रकार जल मे ग्राकाश व्याप्त है तथा ग्राकाश मे जल व्याप्त है, परन्तु जल की ग्रार्द्रता एव उष्णता से ग्राकाश प्रभावित नही होता। ठीक उसी प्रकार जीव मे माया का प्रभाव विद्यमान है। जीव वास्तव मे ब्रह्म ही है। ग्रविद्यात्मक विकार ब्रह्म के लक्षण नही है। दर्पण मे ग्रपना प्रतिविम्ब दृष्टिगत होता है या जल मे ग्रपनी छाया भासित होती है, इसी प्रकार ग्रात्मस्वरूप ब्रह्म उपाधि के कारण जीवत्व ग्रौर ससार रूप मे प्रतिविम्बित होता है

दादू जल में गगन गगन में जल है।
पुनि वं गगन निराले।
ब्रह्म जीव इहि बिधि रहै ऐसा भेद विचारं।
ज्यू दरपन मुष देखिये पानी में प्रतिबिम्ब।
ऐसे ग्रातम राम है दादू सब ही संग॥[3]

सत दादू के शिष्य सुन्दरदास के मतानुसार ग्रात्मा सत्त्व, रज एव तम गुणो की चचल प्रवृत्तियों मे विद्यमान है। जैसे वायु मे ग्रान्दोलित जल की ऊर्मियो मे प्रतिविम्व ग्रस्थिर दृष्टिगत होता है उसी प्रकार स्थिर ग्रात्मा त्रिगुणात्मक उपाधि के कारण गुण-विकारो से प्रभावित प्रतीत होता है। परन्तु तथ्य यह है कि ग्रात्मा ग्रसग ग्रौर निर्लेप है ग्रत वह प्रभावित नही होती। क्रिया-व्यापार तथा विकारादि मे ग्रात्मा कभी प्रभावित नही होती है

तीनि गुननि की वृत्ति माँहि है थिर चंचल ग्रंग।
ज्यों प्रतिबिम्बहि देखिये हालत जल के संग॥

तथा

करै करावं रामजी सुन्दर सब घट माँहि।
ज्यों दरपन प्रतिबिम्ब है लिये दिये कछु नाँहि॥[4]

संत धरनीदास की दृष्टि में यह माया-रूपी वृक्ष ग्रनादि है। माया के ग्रनेक प्रकार के फलो मे एक ब्रह्म बीज रूप मे विद्यमान है। कमल जल मे रहता हुग्रा भी उससे ऊपर रहता है। इसी तरह निर्विकारी ब्रह्म शरीरो-

---

१. कबीर-शब्दावली
२. रैदास की बानी, पृ० ३६, शब्द ७४
३. दादूदयाल की बानी, पृ० २४८
४. सुन्दर-ग्रन्थावली भाग १, पृ० १७३

पाधियों में निवास करते हुए भी उपाधियो के प्रभाव से परे है। यथा, एक सागर मे अनेक तरगे हैं उसी प्रकार ब्रह्म मायोपाधि से ही अनेक-रूप प्रतीत होता है·

एकै बीज वृक्ष होय आया। खोजत काहु अन्त नहिं पाया ।।
देखौ निरखि परखि सब कोई। सब फल मांहि बीज एक होई ।।
पुरइन ज्यों जल मध्य सकाशा। एकै ब्रह्म सकल घट वासा ।।
मनिगन मांहि मध्य ज्यों डोरा। सागर एक अनेक हिलोरा ।।[1]

सतो की इसी दार्शनिक परम्परा मे आविर्भूत सत बुल्लासाहब का मत है कि निर्गुण अद्वैत ब्रह्म अविद्यात्मक प्रपच से परे है। वह निराकार एव निर्विकार है। ब्रह्म मे जीवत्व उसी प्रकार औपाधिक है यथा जल की लहरो मे आन्दोलित नक्षत्र। आन्दोलित लहरो में एकमात्र नक्षत्र अनेक-रूप मे दृष्टिगत होता है। ब्रह्म अद्वैत है। उपाधि-भेद मे अनेक जीव-रूपो मे अथवा सृष्टि-रूपो मे भासित होता है

माई इक सांई जग न्यारा है।
सो मुझमें नाही माही ज्यों जल मध्ये तारा है।
वाके रूप रेख काया नांहि बिना सीस बिस्तारा है ।।[2]
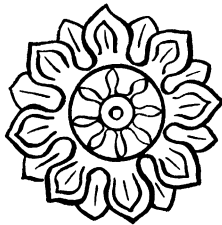
१. धरनीदास की बानी, पृ० ५२

२. बुल्लासाहब का 'शब्दसागर', पृ० ३१

भागवत धर्म और भक्ति-आन्दोलन

डा० हरवंशलाल शर्मा

विक्रम की १६वी शताब्दी विश्व के इतिहास मे एक विशिष्ट महत्त्व रखती है। प्राय सम्पूर्ण ससार की भाषाओ के साहित्य मे इस शताब्दी मे एक विशेष क्राति हुई। धार्मिक भावना को लेकर वह साहित्य-सर्जना उस समन्वयात्मक रूप को प्रस्तुत करती हुई दृष्टिगोचर होती है जिसके पीछे शताब्दियो और सहस्राब्दियो तक की परम्पराए निहित है। मानवता के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का यह अद्भुत उपाय था। अन्त और बाह्य साधनाओ का जैसा सुन्दर सामजस्य इस शताब्दी के साहित्य मे दीख पडा, वैसा पहले कभी प्रस्तुत नही हो सका और न ही आज तक सम्भव हो सका है। भारतीय साहित्य का यह अद्भुत युग था। साहित्य, धर्म और नीति की त्रिवेणी का पावन तीर्थराज इसी शताब्दी मे सम्भव हो सका। विभिन्न युगो के अभेद स्तरो के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई, अनेक दिशाओ से उल्टी-सीधी बह कर आनेवाली विविध विचारधाराओ को आत्मसात करती हुई, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की सिद्धान्त-सार-सुधा मे प्राणियो के अत करण को तृप्त करती हुई भारतीय साधना की इस त्रिवेणी ने साहित्य-सागर को इतना लबालब भर दिया कि आज भी उसकी जल-तरगो मे मज्जन और अवगाहन करने से चिरशान्ति प्राप्त होती है।

भारतीय साहित्य मे इतनी उदारता, इतनी मानवता, इतना स्थायित्व और इतनी सर्वागीणता का एकमात्र कारण केवल वैष्णवता है। भारतवर्ष को धर्मप्राण देश कहा गया है। यहा धर्म के नाम पर अनेक पाखण्डो का प्रचार भी हुआ। वास्तव मे धर्म का एकमात्र प्रतिमान मानवीय वृत्तियो का परिष्कार और समाज का उन्नयन है।

वैष्णव धर्म को अनेक नामो से अभिहित किया गया है। उनमे भागवत नाम परम प्रसिद्ध और आख्येय है। वैदिक काल से लेकर आज तक का धर्म का इतिहास एक प्रकार से भागवत धर्म का इतिहास है। यह नामकरण कब हुआ यह विचारणीय विषय नही है, पर इस भागवत धर्म के तत्त्व वेदो मे भी मिलते है, इसमे सन्देह का स्थान नही। महाभारत धार्मिक क्रान्ति की आधारशिला है जिस पर समाधिस्थ होकर मनुष्य भागवतधर्म की विभिन्न परम्पराओ का साक्षात्कार कर सकता है। वैष्णव धर्म और भारतीय संस्कृति का यह पहला विश्व-कोष है। शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान मे इस भागवत धर्म का बडा सुन्दर विवेचन हुआ है। वैदिक काल से लेकर महाभारत-काल तक की धार्मिक क्रान्तियो का सुन्दर समन्वित रूप नारायणीयोपाख्यान मे प्रस्तुत किया गया है। भागवतधर्म वैदिक तत्त्वज्ञान को सर्व-जन-सुलभ करने का सुन्दर उपाय प्रस्तुत करता है। वैदिक और अवैदिक, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर, आर्य और निषाद-सस्कृतियो का सुन्दर सुखद सगम भागवत धर्म है। श्रीमद्भगवद्गीता मे इस धर्म का सार सगृहीत है। भागवत धर्म की विजय-वैजयन्ती शताब्दियो तक भारत-भू पर फहराती रही। बौद्ध धर्म के आगमन से फिर विषमताए उत्पन्न हुई, जो शताब्दियो तक समानान्तर चलती रही। धर्म मे फिर एक बडी क्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव हुआ। बौद्ध धर्म निवृत्तिपरक था और भागवत धर्म प्रवृत्तिपरक। इस निवृत्ति और प्रवृत्ति के अन्तर को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयास हुए। बौद्ध धर्म की महायान शाखा उन्ही प्रयत्नो मे एक भागीरथ प्रयत्न कहा जा सकता है। इन प्रयत्नो के फलस्वरूप प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय मे जनसाधारण के कल्याण के कुछ समान मार्ग निकाले गये जो केवल नामभेद से शताब्दियो तक चलते रहे। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध सभी सम्प्रदायो ने इन प्रयत्नो मे योगदान दिया। हमारा पुराण-

साहित्य इसी युग की कृति है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि वैष्णव, शैव, ब्राह्म, सौर आदि सब पुराणो मे एक ही भावना मिलती है, केवल नाम का भेद है। इतना ही नही, जैन और बौद्ध पुराण भी उसी भावना मे अनुप्राणित है। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने रघुवश मे लिखा है--

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतंत्योघाः जाह्नवीया इवार्णवे ॥

ईसा के आविर्भाव के लगभग धर्म-क्षेत्र मे एक और बडी क्रान्ति हुई। यह क्रान्ति सम्भवत उस समय हुई जब शको और हूणों के आक्रमण उत्तरी भारत पर होने लगे थे। इस क्रान्ति का इतिहास अभी तक अन्धकार मे है। परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि भागवत के मूल स्तम्भ यादव या सात्वत लोग शूरसेन प्रदेश छोडकर भारत के दक्षिण और पश्चिम में चले गए थे। उनके साथ-साथ बहुत से जैन और बौद्ध धर्मानुयायी भी दक्षिण मे पहुचे और दक्षिण देश को उन्होने अपने धर्म-प्रचार का क्षेत्र बनाया। इतिहासकारो मे इस विषय पर बडा विवाद है कि सात्वत लोग उत्तरी भारत को छोडकर दक्षिण मे कब आये। ऐतरेय ब्राह्मण मे 'ऐन्द्र महाभिषेक' के प्रसग मे सात्वतो का निवास दक्षिण भारत बतलाया गया है।[1]

श्री के० एस० आयगर ने 'परम सहिता' की भूमिका मे और 'सात्वत' नामक लेख मे इस तथ्य पर प्रकाश डाला है और बताया है कि जब मागध जरासध ने सात्वतो पर आक्रमण किया तो वे शूरसेन प्रदेश छोडकर भारत के पश्चिमी समुद्र-तट और दक्षिण मे जाकर बस गए। डा० कृष्णस्वामी आयंगर ने यही निर्देश किया है कि द्रविण देश के अनेक राजाओं ने जो अपनी वश-परम्परा सात्वतवशीय कृष्णचन्द्र से बताई है उसका मूल कारण यही है। यदि ऐतरेय ब्राह्मण का रचना-काल हम दशम शताब्दी ईसा-पूर्व माने तो हमे यह भी मानना पडेगा कि दशम शताब्दी ईसा-पूर्व से भी बहुत पहले सात्वत लोग दक्षिण मे जा चुके थे। सात्वतो के सम्पर्क से सम्भवत भागवत धर्म 'पाचरात्र' मत भी कहलाया। हमारा अभिप्राय यहां भागवत धर्म का इतिहास प्रस्तुत करना नही है, हम केवल यह बतलाना चाहते है कि यह भागवत धर्म सम्पूर्ण भारतवर्ष मे फैल गया था और कई शाखाओ मे विभक्त हो गया था। शको और हूणो ने भी इस धर्म को स्वीकार किया जिसके प्रमाण आज भी उपलब्ध होते है। बेसनगर का शिलालेख और घोसुन्दी का शिलालेख इस तथ्य के प्रमाण है। भागवत धर्म के उपास्य महाभारत-काल से ही वासुदेव रहे है जो स्वय विष्णु और नारायण-रूप है। विष्णु के वासुदेव रूप में भी भागवत के विग्रह की कल्पना पूर्ण हुई जान पडती है। षाड्गुण्यविशिष्ट विग्रह को ही भगवद्विग्रह वासुदेव कहा गया है:

ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि बिना हेयैः गुणादिभिः ॥

पाचरात्र का सबसे पहले प्रतिपादन महाभारत के शान्तिपर्व मे हुआ। फिर इसकी व्याख्या अनेक पचरात्र-ग्रथो मे अनेक प्रकार से की गई है। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करते हुए शकराचार्य ने भी पाचरात्र मत का उल्लेख किया है।[2] उन्होने इस मत का कुछ अश त्याज्य और कुछ उपादेय माना है। परन्तु आगे के वैष्णवाचार्यो ने पाचरात्र मत की एक परम्परा सिद्ध की है और उसका सम्बन्ध वेद से जोडा है। कुछ भी हो, वैष्णव भक्ति के सम्बन्ध मे पाचरात्र-साहित्य बडा महत्त्वपूर्ण है। इस मत की अनेक सहिताए आदि उपलब्ध होती है। कपिजल-साहित्य मे २१५ सहिताओ का उल्लेख है। बहुत-सी सहिताओ की रचना उत्तर मे हुई और बहुत-सी की दक्षिण मे। इन सहिताओ का तिथि-निर्णय बडा दुस्तर कार्य है। मुख्य रूप से इन सहिताओ मे ज्ञान, योग, क्रिया और चर्यादि विषयो का विवेचन हुआ है। ब्रह्म, माया और जीव का बडे विस्तार से विवेचन हुआ है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनो ही भाव स्वीकार किये गए है। सगुण रूप मे भगवान षाड्गुण्य विग्रह वाले है। इन षड्गुणो मे सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है और शेष शक्ति आदि ५ गुण ज्ञान मे सम्बद्ध है।

१. ऐतरेय ब्राह्मण ८।३।१४
२. शारीरिक भाष्य २।२।४२, ४५ सूत्र

भगवान की शक्ति लक्ष्मी है जो दो रूप धारण करती है— क्रिया-शक्ति और भूति-शक्ति। इन ६ गुणो में से दो-दो गुणों की प्रधानता होने पर ३ व्यूहो की सृष्टि होती है। अर्थात, ज्ञान और बल की प्रधानता से सकर्षण, ऐश्वर्य और वीर्य की प्रधानता से प्रद्युम्न तथा शक्ति और तेज की प्रधानता से अनिरुद्ध। वासुदेव को मिलाकर इन्हे चतुर्व्यूह कहा जाता है। पाचरात्र मत मे अवतार-भावना का वैशिष्ट्य है। विभव को अवतार कहा गया है जो सख्या मे ३६ माने गये है। जीव भी भगवन्मय ही है। जिसके माध्यम से भगवान इस विश्व मे लीला करते है। सृष्टि, स्थिति, विनाश, निग्रह तथा अनुग्रह भगवान का सुदर्शनचक्र है। निग्रहशक्ति के कारण जीव के वास्तविक आधार ऐश्वर्य तथा ज्ञान का तिरोभाव हो जाता है। यह निग्रहशक्ति की अविद्या, महामोह, महातमिस्र, हृदय-ग्रथि आदि कहे जाते है। इन्ही से बधकर जीव मलयुक्त और सबन्ध हो जाता है। जीव के कष्टो से आर्द्र होकर भगवान की कृपा का आविर्भाव होता है जो अनुग्रह शक्ति कहलाती है, जिससे जीव का कल्याण होता है और जिसके अवलम्बन से उसे परमधाम की प्राप्ति होती है। इस अनुग्रह की प्राप्ति को ही पाचरात्र मत मे साधना-मार्ग कहा है। उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय शरणागति और प्रपत्ति है, जिसका पारि-भाषिक नाम 'न्यास' है और यह एक मानसिक भावना है। साधना की पूर्ति पर जीव को ब्रह्मभावापत्ति होती है, जिसको प्राप्त कर वह परमधाम मे भगवान के साथ विचरण करता है। पांचरात्र मत मे साधना-पद्धति के भेद से अनेक आगमो और संहिताओं का निर्माण हुआ, परन्तु मूल भावना एक ही रही। पाचरात्र मत मे वैखानस आगमो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पाचरात्र मत वैष्णव सम्प्रदाय का ही एक रूप है। दक्षिण मे इस सम्प्रदाय का जब इतना शास्त्रीय विवेचन हो रहा था और इतनी सहिताओ का निर्माण हो रहा था, तब बौद्ध, जैन, शैव और शक्ति सम्प्रदाय भी अपने-अपने सिद्धान्तो के प्रचार और निर्माण मे सलग्न थे। शैवो की आचार्य-परम्परा वैष्णवो की आचार्य-परम्परा के समान पुष्ट नही थी, इसलिए उसका प्रचार जन-आन्दोलन के रूप मे था। वास्तव मे शैव सन्तो से ही भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप मिला। इन शैव सन्तो की सख्या ६४ मानी गई है। जिनमे माणिकवाचक, सम्बन्धवागीश और सुन्दर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सन्तो के गीत आज भी सुरक्षित हैं। इन सग्रह-ग्रथो मे देवरम् और तिलकवाचकम् नामक सग्रह महत्त्वपूर्ण है। इन शैव सन्तो के समकक्ष वैष्णव सन्त भी अपने हृदय की पुकार लेकर जनता-जनार्दन के सम्मुख उपस्थित हुए। भक्ति का शास्त्रीय विवेचन इनका उद्देश्य नही था, इनकी दृष्टि मे भगवान के दरबार मे जाति-पाति का कोई भेद-भाव नही था। सम्भवत शास्त्रीय भक्ति-निरूपण की प्रतिक्रिया मे इन अलवार भक्तों ने अपनी आवाज जनता मे उठाई और अपने हृदय के सच्चे उद्‌गारो से मानव-मात्र को प्रभावित किया। इनके उद्‌गार आज भी 'नालायिरप्रबंधम्' मे सुरक्षित है। इनके गीत वेद-ग्रथो के समकक्ष माने जाते है।

'प्रबन्धम्' को तामिलवेद कहा जाता है। इन सन्त भक्तो की भक्ति के अजस्र प्रवाह मे सारा दक्षिण प्रान्त सराबोर हो गया और परम्परागत सस्कृत आचार्यों को यह फिक्र पडी कि कही इनके सम्प्रदाय इस प्रवाह के शिकार न बन जाएं। इसलिए इन्होने 'तामिलवेद' का भली-भाति अध्ययन कर अपने शास्त्रो से सगति बैठाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि ये आचार्य 'उभय-वेदान्ती' कहलाते है। यही से भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात समझना चाहिए। इससे पूर्व भक्ति का प्रचार आन्दोलन के रूप मे नही था। इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में एक और भी महत्त्वपूर्ण घटना थी। ६वी शताब्दी मे स्वामी शकराचार्य ने जाति-पाति की सकीर्ण परिधि को हटाने और सामाजिक विषमता दूर करने और बौद्धमत के विकृत रूप के निष्कासन का भागीरथ प्रयत्न किया था। बौद्ध और जैन मत के मूल सिद्धान्तों की सगति अद्‌भुत तर्क-शैली के द्वारा उन्होने वैदिक धर्म मे सिद्ध की और अपनी दिव्य प्रतिभा के प्रभाव से चतुर्दिक प्रचलित बौद्ध एव जैन मत का खण्डन कर अपने मत की स्थापना की। यह परम्परागत दोषो को दूर कर समाज को एक नवीन आलोक दिखाने का सराहनीय कार्य था। दूसरी क्रान्ति के कारण जो प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का एकीकरण हुआ था, वह कालान्तर मे समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। इसलिए उन्होने श्रुति, स्मृति, वेद-विहित वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करके निवृत्ति मार्ग के वैदिक सन्यास धर्म को कलिकाल मे पुनर्जन्म दिया। अपने सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए उन्होने परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म को सगुण स्वीकार नही किया था। माया-मिथ्यात्व के कारण उपासना गौण हो गई। शकर के

विचारो का प्रवाह देश के सभी प्रान्तो और भाषाओं में बडे वेग से प्रवाहित हुआ। समस्त वैष्णव सम्प्रदाय पर शकर का आतक जम गया। इसलिए परवर्ती वैष्णवाचार्यों के लिए एक समस्या बन गई कि समाज-धर्म की पुन स्थापना किस प्रकार की जाय, परन्तु मानव की स्वाभाविक रागात्मिका भक्ति-भावना के ऊपर धर्म का वह बौद्धिक विश्लेषण विजय प्राप्त न कर सका और समय पाकर उस भावना का स्रोत तर्क के प्रस्तरो को फोडकर निर्झरिणी के रूप मे फूट निकला।

शकर के मायावाद का प्रचार सम्पूर्ण भारत मे हो चुका था, पर साथ-ही-साथ भक्ति के बीज के लिए भी उपयुक्त भूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। नवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक का भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास भक्ति-आन्दोलन का इतिहास है। शास्त्रीय दृष्टि से इसे आचार्य-युग कह सकते है। इस युग के आचार्य वैष्णव कहलाये। समस्त वैष्णव सम्प्रदायो मे परम आचार्य श्रीकृष्ण माने गए है। श्रीकृष्ण भगवान ने अपने चार शिष्यो को वैष्णव तत्त्व का उपदेश दिया था जिसका उल्लेख पद्मपुराण मे इस प्रकार है--

श्री ब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्य त्कले पुरुषोत्तमात्।

'प्रमेय-रत्नावली' मे इन चारो सम्प्रदायो के प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यंचतुर्मुखः।
श्री विष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥

इस प्रकार रामानुजाचार्य श्री-सम्प्रदाय के, मध्वाचार्य ब्रह्म-सम्प्रदाय के, विष्णुस्वामी रुद्र-सम्प्रदाय के और श्री निम्बार्काचार्य सनक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते है। श्री रामानुजाचार्य पहले वैष्णव आचार्य है जिन्होने मायावाद के विरोध मे भक्ति के सिद्धान्त की शास्त्रीय प्रतिष्ठा की। इनके प्रयत्नो से वैष्णव धर्म का सम्पूर्ण भारतवर्ष में---विशेषतया दक्षिण प्रदेश मे---खूब प्रसार हुआ। इनके सम्प्रदाय का नाम विशिष्टाद्वैत हुआ।

दक्षिण भारत का दूसरा उल्लेखनीय सम्प्रदाय 'मध्व' सम्प्रदाय है जिसके प्रवर्तक मध्वाचार्य थे। इस सम्प्रदाय के द्वारा भक्ति-भावना को विशेष बल मिला। वस्तुत व्यवहार-पक्ष मे यह भक्तिवादी सम्प्रदाय है और अध्यात्म-पक्ष मे भेदवादी या द्वैतवादी। रामानुजाचार्य ने मायावाद का खडन करते हुए भी अपना सम्बन्ध अद्वैतवाद से नही तोडा था। अद्वैत वेदान्त का खण्डन माध्वमत के आचार्यों ने भी खुले रूप मे किया।

सनक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क (११६२ ई०) माने जाते है। निम्बार्क वैष्णवो का प्रचार-स्थल वृन्दावन रहा। गोवर्द्धन के पास निम्बग्राम आज भी उनका तीर्थ-स्थान है। इस सम्प्रदाय को कुछ विद्वान सभी वैष्णव सम्प्रदायो मे प्राचीनतम मानते है। वास्तव मे अन्य वैष्णव सम्प्रदायो मे तो शकर के मायावाद का खण्डन किया गया है किन्तु इस सम्प्रदाय मे मायावाद का खण्डन नही हुआ। इसका सिद्धान्त 'द्वैताद्वैत' कहलाता है। निम्बार्काचार्य के सिद्धान्त बडे सूक्ष्म और सरल है। केवल दस श्लोको मे उनके सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है। इन्होने भी प्रपत्ति के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। ये सबसे पहले आचार्य थे जिन्होने उत्तर भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया।

रुद्र-सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी का इतिहास अभी तक अन्धकार मे है। कहा जाता है कि भगवान के साक्षात दर्शन करने की उत्कट इच्छा से स्वामीजी ने घोर तपस्या की और उसके सफल न होने तक अन्न-जल छोड दिया। सातवे दिन भगवान श्यामसुन्दर ने वेणु-वादन करते हुए शृगारयुत किशोर-मूर्ति मे आपको दर्शन दिए और बालकृष्ण रूप मे उन्हे उपदेश दिया। तभी से यह बालकृष्ण की उपासना करने लगे। विष्णुस्वामी का समय कोई-कोई विद्वान तो ईसा मे छठी शताब्दी-पूर्व मानते है। इस सम्प्रदाय के आचार्य विल्वमगल ने महाप्रभु वल्लभाचार्य को स्वप्न मे विष्णु-स्वामी की शरण में आने का उपदेश दिया था। विष्णुस्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप है और वे अपनी आह्लादिनी सवित के द्वारा आश्लिष्ट है। माया उनके अधीन रहती है।

आचार्य वल्लभ का दार्शनिक सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता के बिलकुल अनुकूल है। जिस प्रकार भगवद्गीता में ब्रह्म के तीन स्वरूप है · आदिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक, उसी प्रकार इनके मत मे भी जगत, क्षर ब्रह्म

पुरुषोत्तम ब्रह्म के तीन परिणाम है । अक्षर ब्रह्म में आनन्दांश का कुछ तिरोधान रहता है । और परब्रह्म में आनन्द-पूर्ण रहता है । अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति विशुद्ध ज्ञान के द्वारा होती है जब कि परब्रह्म की प्राप्ति का साधन एकमात्र भक्ति है ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । गीता ८।२१

पुष्टि-मार्ग, प्रवाह-मार्ग और मर्यादा-मार्ग तीनो मार्गों की सुन्दर विवेचना करते हुए आचार्यजी ने सभी भक्ति-पद्धतियो का सुन्दर विवेचन किया । मर्यादा मार्ग को वह वैदिक-मार्ग बताते है जो अक्षर ब्रह्म की वाणी मे उत्पन्न हुआ है । परन्तु पुष्टि-मार्ग साक्षात पुरुषोत्तम के शरीर मे ही नि सृत हुआ है । इसलिए मर्यादा-भक्ति मे फल की इच्छा रहती है । इस मार्ग का भक्त सायुज्य भक्ति को अपना ध्येय मानता है, परन्तु पुष्टिमार्गी केवल भक्ति चाहता है । वास्तव मे पुष्टि-मार्ग जैसा सुलभ और सरल मार्ग अभी तक दूसरा नही था । वर्ण, जाति, देश, सम्प्रदाय आदि भेदो से परे जीव-मात्र के लिए कलिकाल मे आनन्द-प्राप्ति का यही एकमात्र साधन है ।

पुष्टिमार्गीय भक्ति का आचार्यजी ने बडे विस्तार मे शास्त्रीय विवेचन किया है । इस मार्ग मे भक्त को किसी साधन की अपेक्षा नही रहती ।

'निस्साधनभजनीये, भावतनौ मे मतिर्भूयात् ।'

—नवनीताष्टक

भक्तो पर कृपा करने के लिए ही भगवान अपनी लीला करते है । लीला उनकी विलास की इच्छा-मात्र है ।

'लीला नाम विलासेच्छा............' —सुबोधिनी भाग ३ स्कन्ध ।

श्री, ब्रह्म, रुद्र एव सनक इन चार सम्प्रदायो का पुनरुत्थान दक्षिण मे हुआ । श्री-सम्प्रदाय की प्रचार-भूमि विशेष रूप से दक्षिण रही, पर उत्तर मे भी रूपान्तर मे इसका प्रचार हुआ । और भक्ति के प्रचार मे इस सम्प्रदाय ने अपना विशिष्ट योगदान दिया ।

ब्रह्म तथा सनक-सम्प्रदायो का भी उत्तर भारत मे अपना विशिष्ट स्थान है । परन्तु रुद्र-सम्प्रदाय का पुष्टि-सम्प्रदाय नाम से प्रचार और प्रसार उत्तरी भारत मे बहुत अधिक हुआ । इन सभी सम्प्रदायो ने भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाने का महत्त्वपूर्णकार्य किया है । इस आन्दोलन की व्यापकता और त्वरित गति से प्रभावित होकर ही सम्भवत पाश्चात्य विद्वानो ने इसे बिजली की चमक बताया है । सभी भारतीय भाषाओ के साहित्य को समृद्ध और प्राण-वान बनाने का श्रेय इस आन्दोलन को है । दसवी शताब्दी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक भारतीय साहित्य की मूल प्रेरणा इन्ही सम्प्रदायो से अनुप्राणित होती रही है । भक्ति-आन्दोलन के जन-आन्दोलन के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व हम यह बतलाना आवश्यक समझते है कि दक्षिण की भाषाओ के साहित्य को किस प्रकार इस वैष्णव धर्म ने समृद्ध किया है । कहने की आवश्यकता नही कि वैष्णव धर्म के प्रभाव से सभी भाषाओ का साहित्य सौन्दर्य और माधुर्य से ओतप्रोत हो गया । जीवन की दिशाए बदल गई और साहित्य मे वह सरसता, मधुरता, लालित्य, शिवत्व और सौन्दर्य आ गया जिनके कारण वैष्णव साहित्य सदा के लिए अमर हो गया । आश्चर्य है कि आज भी वही साहित्य सुन्दरतम है । सूर और तुलसी की तुलना का कोई दूसरा कवि अभी तक हिन्दी मे नही हो सका है । तमिल, तेलगु, कन्नड, मलयालम, बगला, आसामी, उडिया, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि का वैष्णव साहित्य आज भी इन भाषाओ के साहित्य का हृदय-स्थानीय है ।

तमिल-साहित्य मे यद्यपि शैव साहित्य की प्रधानता है परन्तु भावना वही वैष्णव धर्म की है । वैष्णव भक्त आलवारो की रचनाए कम महत्त्वपूर्ण नही । ये रचनाए आज भी तमिलवेद के नाम से पुकारी जाती है । सुप्र-सिद्ध आलवार भक्त विष्णुस्वामी का 'दिव्यप्रबन्धम्' आज भी तमिल-साहित्य की विशिष्ट निधि है । कहना न होगा कि तेलगु-साहित्य का भी वैष्णव भक्ति-साहित्य आज अनुपमेय है । महाकवि पोताना का भागवत पुराण तेलगु का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसी प्रकार और कितने ही ग्रन्थ तेलगु-साहित्य मे रत्नरूप से विराजमान है । कृष्णदेव राय का 'विष्णुचिन्तीय' काव्य और महाकवि वेदना और तिमन्ना के काव्य तेलगु-साहित्य के अलकार है । कन्नड़ भाषा मे भी

वैष्णव साहित्य की कमी नही है। रामानुजाचार्य के प्रभाव से कन्नड भाषा मे ऐसे साहित्य का निर्माण हुग्रा जिसके कारण वह युग कन्नड भाषा का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। कुमार व्यास, कुमार वाल्मीकि तथा चाटु विट्ठलनाथ के प्रसिद्ध ग्रन्थो के ग्रतिरिक्त उन वैष्णव सन्तो का, जो 'दास' नाम से साहित्य मे विख्यात है, साहित्य भी बहुत ही उच्च-कोटि का है। पुरन्दरदास, कनकदास, विट्ठलदास, वेंकटदास, विजयदास तथा कृष्णदास के पद ग्राज भी चिर नवीन है। लक्ष्मीश का 'जैमिनी भारत' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मलयालम भाषा मे भी वैष्णव काव्यो का प्राचुर्य है। इस दृष्टि से सम्भवत मलयाली-साहित्य सबसे ग्रधिक सम्पन्न है। त्रावणकोर के महाराजा का रामचरित एक महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसी प्रकार चेरुस्सेरी नम्बद्री का कृष्णगाथा काव्य ग्रौर तुजन कवि का भागवत बडे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पोन्तान कवि ग्रपने समय के गोस्वामी तुलसीदास कहे जा सकते है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भक्ति-ग्रान्दोलन बिजली की चमक की भाति सारे भारतवर्ष मे फैल गया। दक्षिण के वैष्णव ग्राचार्यों का प्रभाव उत्तर मे भी बहुत व्यापक रहा, पर इसका ग्रभिप्राय यह नही है कि उत्तर भारत, मध्य भारत ग्रथवा पूर्वी भारत मे भक्ति-ग्रान्दोलन का श्रीगणेश दक्षिण के वैष्णव ग्राचार्यों के द्वारा ही हुग्रा हो। उत्तर भारत मे पौराणिक धर्म का प्रचार पहले ही से था। शैव भक्ति का प्राधान्य था। कृष्णावतार तथा रामावतार की भी व्यापकता थी। दशावतार-चरित-सम्बन्धी तो कई ग्रन्थ उपलब्ध होते है। 'पृथ्वीराज रासो' का दसम वास्तव मे दशावतार-चरित ही है। राम ग्रौर कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य प्राय लोकपरक था। दक्षिण के ग्राचार्यो के सम्पर्क से उसमे नई शक्ति ग्रा गई ग्रौर वह ईश्वरोन्मुख हो गया। लीला-गान की परम्परा के उदाहरण उत्तर भारत के साहित्य मे मिलते है। यह लीला-गान की परम्परा भागवत-परम्परा से निश्चित रूप से भिन्न थी। ग्रपभ्रश-साहित्य मे हमे कृष्ण-लीला-सम्बन्धी ग्रनेक गेय पद प्राप्त होते है। सिद्धो ग्रौर नाथो ने जिस गेय परम्परा को ग्रपनाया वह ग्रवश्य वैष्णव धर्म मे रही होगी ग्रौर यह परम्परा सम्पूर्ण उत्तर भारत मे प्रचलित थी। जयदेव का गीत-गोविन्द भागवत वाली परम्परा से निश्चित रूप मे भिन्न परम्परा का है। विद्यापति ग्रौर चण्डीदास के पद जयदेव की परम्परा के है। नाथ-सिद्ध पश्चिमी भारत मे ग्रड्डा जमाए थे तो बौद्ध सिद्धो की प्रचार-भूमि पूर्वी भारत था। काश्मीर मे शैव मत का बोल-बाला था। सम्भवत बौद्ध सिद्धो के प्रभाव से बगाल मे सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय प्रचलित हुग्रा। बौद्धो का सहज भाव सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय से बहुत बातो मे मिलता-जुलता है। वज्रयानी सिद्धो ने महासुख की उपलब्धि के लिए ग्रनेक उपायो का वर्णन किया है। नाथ सिद्धो ग्रौर बौद्ध सिद्धो की शब्दावली भी बहुत कुछ मिलती-जुलती है। सहजयान वज्रयान का ही दूसरा नाम है। सहजावस्था की प्राप्ति मे ही ये सिद्धि की पूर्णता मानते है। सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय ने सहज शब्द की व्याख्या को बिलकुल बदल दिया था। ये रागानुगा प्रेमाभक्ति के ग्रनुयायी बने ग्रौर प्रेम को परमात्मा का सहज गुण या सहज रूप बतलाया। इसी प्रेम के द्वारा मनुष्य सहज भाव प्राप्त कर सकता है। रूप जब स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तभी मनुष्य सहज भाव को प्राप्त होता है। मनुष्य के ग्रन्तर्गत भागवत का ग्राध्यात्मिक तत्त्व ही स्वरूप है ग्रौर जो निम्नतर भौतिक तत्त्व है वह रूप है। रूप पर स्वरूप के ग्रारोप से पार्थिव प्रेम को ग्रपार्थिव रूप मे परिणत करना होता है, किन्तु बिना रूप की सहायता के स्वरूप की उपलब्धि नही हो सकती। इसीलिए ग्रपार्थिव प्रेम की ग्रनुभूति के लिए ये परकीया-प्रेम को महत्त्व देते है। सहज रूप मनुष्य को प्रेमा-भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है। तभी उसमे शुद्ध सत्त्व की प्रतिष्ठा होती है ग्रौर वह सम-भाव को प्राप्त होता है। सहजिया सम्प्रदाय की साधना का गूढ तत्त्व यह है कि पुरुष स्वय को स्त्री समझकर भगवान की उपासना करे। ऐसा करने से वह यौन सम्बन्ध का परित्याग कर सकता है। इस सम्प्रदाय मे भगवान ग्रानन्द, माधुर्य ग्रौर सौन्दर्य के उत्स है। राधा-कृष्ण प्रकृति ग्रौर पुरुष है। इनमे ग्राश्रयाश्रयी भाव है। सहजिया सम्प्रदाय एक तान्त्रिक मार्ग कहा जा सकता है परन्तु शुद्ध तान्त्रिक मत से साधना-पक्ष मे इसकी पर्याप्त भिन्नता है।

मध्वाचार्य के सम्प्रदाय का बगाल पर बडा प्रभाव पड़ा था जिसके फलस्वरूप बगाल मे गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परा चली। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय मे सख्य, दास्य तथा वात्सल्य भावो को भी उपासना मे उपादेय माना है। किन्तु सहजिया वैष्णव केवल माधुर्य भाव की उपासना को ही श्रेष्ठ समझते है। गौडीय वैष्णवो ने तो पर-

कीया-तत्त्व को सिद्धान्त रूप से ही स्वीकार किया था, पर सहजिया वैष्णवों ने इस तत्त्व को व्यावहारिक रूप भी दिया। वास्तव मे सहजिया वैष्णवो के सिद्धान्त बौद्ध सहजयान के सिद्धान्तों से बहुत मिलते-जुलते है। चण्डीदास की उपास्य वाशुलीदेवी वज्रयानियो की वज्रधात्वीश्वरी का ही दूसरा रूप है। सहजिया सम्प्रदाय के अतिरिक्त बगाल मे आउल, वाउल, साई, दरवेश आदि कई सम्प्रदायो का भी प्रचार था। बाउल तो सहजिया वैष्णवो से भी एक कदम और आगे थे। सहजिया लोगो का प्रेम राधा और कृष्ण दो व्यक्तियो की अपेक्षा रखता है जबकि बाउलो का प्रेम 'मनेर्मानुस' के प्रति होता है। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक अलौकिक प्रेम-पात्र है। उसे उसी के प्रति प्रेम करना चाहिए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है बगाल की गौडीय शाखा माध्व सम्प्रदाय की ही एक शाखा कही जा सकती है। पर इसका व्यावहारिक पक्ष माध्व सम्प्रदाय से भिन्न है। चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव को भक्ति क्षेत्र मे एक चमत्कार समझना चाहिए। इस भक्ति-आन्दोलन के युग मे उत्तर भारत के वैष्णवाचार्यों मे चैतन्य महाप्रभु का नाम अग्रगण्य है। यह एक विचित्र घटना है कि चैतन्य महाप्रभु की कर्म-भूमि बगाल ही रही, पर उनके सम्प्रदाय का ब्रज भूमि मे विशेष सम्बन्ध रहा। वास्तव मे चैतन्य मत का शास्त्रीय विवेचन ब्रज भूमि मे ही हुआ। माध्वमत के अनुयायियो मे माधवेन्द्र पुरी, गौडीय सम्प्रदाय और माध्व सम्प्रदाय के बीच सेतु का कार्य करनेवाले है। चैतन्य महाप्रभु इन्ही के पट्ट शिष्य ईश्वरपुरी के शिष्य थे, यद्यपि दीक्षा उन्होने केशव भारती मे ली थी। भक्ति के प्रचार और प्रसार मे चैतन्य महाप्रभु ने बडा योगदान दिया। उन्होने भारतवर्ष के सभी विख्यात तीर्थस्थानो की यात्रा की। दक्षिण के तीर्थों के दर्शन से इनकी प्रवृत्ति वृन्दावन के उद्धार की ओर झुकी। वैष्णव धर्म के प्रचार मे इन्हे नित्यानन्द जैसे सहयोगी मिले और दोनो ने मिलकर समस्त उत्तरी भारत को, विशेषकर बगाल को, भक्त-स्रोत मे आप्लावित कर दिया। ब्रज, विशेषकर वृन्दावन, के उद्धार का श्रेय बहुत कुछ चैतन्य महाप्रभु को है। यह विषय यद्यपि अभी तक विवादास्पद बना हुआ है फिर भी वृन्दावन के उद्धार मे चैतन्य महाप्रभु का जो योगदान है वह कम महत्त्व का नही है। माधवेन्द्र पुरी उनसे पहले वृन्दावन मे गोपाल की मूर्ति स्थापित कर चुके थे, चैतन्य महाप्रभु ने वृन्दावन के उद्धार के लिए अपने दो प्रधान शिष्यो को भेजा। ये दो भक्त थे लोकनाथ स्वामी और भूगर्भाचार्य। चैतन्य के सहयोगियों मे अद्वैताचार्य का नाम भी उल्लेखनीय है। चैतन्य मत को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय चैतन्य के शिष्य षट्-गोस्वामियो को है जिनके नाम रूप, सनातन, रघुनाथदास, रघुनाथभटट, गोपालभट्ट और जीवगोस्वामी है।

चैतन्य महाप्रभु का प्रभाव बगाल के अतिरिक्त उत्कल मे भी पडा। यो तो उत्कल भक्ति-भावना का पहले से ही केन्द्र रहा है। पर जगन्नाथजी के मन्दिर के निर्माण के पश्चात् तो यह प्रदेश वैष्णव भक्ति का महत्त्वपूर्ण पुण्य-स्थल बन गया। भगवान जगन्नाथ के आविर्भाव की कथा नारदपुराण, ब्रह्मपुराण, स्कन्दपुराण तथा कपिलसहिता आदि ग्रथो में मिलती है। दास ब्रह्म का उल्लेख शाखायन ब्राह्मण मे भी मिलता है। कुछ इतिहासकारो का कथन है कि इस प्रदेश मे शबरो का राज्य था। इसलिए यहा लकडी की मूर्ति बनाई गई। कुछ भी हो, जगन्नाथजी की पूजा इस प्रदेश मे प्राचीन काल से होती आई है। अनेक बार उत्कल के मन्दिरो पर विदेशियो के आक्रमण हुए है और उनके ध्वस चिह्न मात्र अवशिष्ट रह गए है। ह्वेनसाग ने अपनी यात्रा के प्रसग मे इस तथ्य की ओर सकेत किया है। इस प्रदेश के मन्दिरो और मूर्ति-कला के सम्बन्ध मे यह बात लक्ष्य करने की है कि यहा वैष्णव धर्म के माध्यम से कई सस्कृतियो का सगम हुआ है। चैतन्य महाप्रभु ने राजा प्रतापरुद्र (१५०३ ई०) के समय मे नीलाचल क्षेत्र को अपना प्रचार-क्षेत्र बनाया और तभी से इस क्षेत्र का महत्त्व बढ गया। पुरी के सम्बन्ध मे इतिहासकारो का यह भी मत है कि यहा की जगन्नाथ की मूर्ति पर बौद्ध प्रभाव है। इसमे कोई सन्देह नही कि उत्कल प्रान्त बौद्धो का अड्डा रहा है। कटक जिले के रत्नगिरि नामक स्थान मे आज भी बौद्ध महाविद्यालय पुष्पगिरि के भग्नावशेष मिलते है और स्थान-स्थान पर अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि आर्यतारा आदि बौद्ध देवता पाये जाते हैं। साची से प्राप्त धर्म-ग्रथों से इस मूर्ति की बडी समानता है। कुछ लोगों का कहना है कि जगन्नाथजी की रथ-यात्रा भी बौद्ध प्रभाव का फल है। उडिया की कुछ पुस्तको में जगन्नाथजी बुद्ध के ही रूप माने गए है। जगन्नाथजी को हम पूरा बौद्ध विग्रह तो मानते है पर इसमे हमे कोई सन्देह नही है कि यहा के विधि-विधान, वास्तुकला, मूर्तिकला आदि इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जगन्नाथ पुरी मे शबर, बौद्ध और ब्राह्मण

सस्कृतियों का सुन्दर समन्वय हुआ है। वैष्णव धर्म उत्कल प्रान्त मे बहुत प्राचीन काल मे प्रचलित था। इसके प्रमाण कुछ शिलालेखो मे मिलते है। हाथीगुफा का शिलालेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चैतन्य के प्रभाव मे उत्कल साहित्य मे पाच महान वैष्णव कवि हुए जो पचसखा कहे जाते है—बलरामदास, अनन्तदास, यशवन्तदास, जगन्नाथदास और अच्युतानन्ददास। इन सखाओ ने उडिया भाषा मे अनेक ग्रथ रचे और ये सखा चैतन्य महाप्रभु के लीला-परिकर माने जाते हैं। इन्होने प्रेमा-भक्ति का प्रचार इस प्रदेश मे किया। इनके उपदेश सन्तो की ही भाति थे और इनका दर्शन कबीर आदि सन्तो के दर्शन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इन्होने ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनो रूपो का निरूपण किया है किन्तु परम तत्त्व निराकार शून्य को माना है। इनके सिद्धान्तो मे वैष्णव, तान्त्रिक और बौद्ध तत्त्वो की त्रिवेणी दर्शनीय है। बगाल से आगे असम प्रदेश मे भी महाप्रभु चैतन्य के वैष्णव धर्म का प्रभाव पडा। असम प्रदेश प्राचीन काल मे ही शाक्तो का गढ रहा है। कामाख्या पीठ कामरूप मे ही है। वैष्णव धर्म की यह बडी भारी विजय थी कि शाक्त प्रभाव वाले देश मे आज भी इतनी बडी सख्या मे वैष्णव पाये जाते है। वैष्णव धर्म का प्रचार यहा शकरदेव और माधवदेव ने किया। शकरदेव महापुरुष कहलाते थे, इसलिए उनमे प्रचारित धर्म को आज भी महाधर्म या महापुरुष धर्म कहते है। सिद्धान्त रूप मे तो यह अद्वैतवादी थे और आचरण रूप मे पूर्ण भक्त। इनका 'भक्तिरत्नाकर' और 'भक्तिरत्नावली' ग्रथ बडे अद्भुत है। असमिया भाषा मे असख्य कीर्तन-पदो की रचना शकरदेव ने की। कुछ ग्रथ ब्रजबुलि मे लिखे गए। हिन्दी के भक्ति-साहित्य का अध्ययन भक्ति-भाव की दृष्टि से ब्रजबुलि-साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा ही है।

वैष्णव धर्म के ऐतिहासिक विवेचन मे महाराष्ट्र के वैष्णव पथो का उल्लेख भी आवश्यक है। महाराष्ट्र का बडा पुराना वैष्णव पथ महानुभाव या मानभाव या महात्मा पथ है। गुजरात मे इसे अच्युत पथ कहते है और पजाब मे जयकृष्ण पथ। इस पथ के अनुयायी अपनी सभी बातो को गोपनीय रखने मे विश्वास रखते है। लोकमान्य तिलक ने इस पथ को प्रकाश मे लाने का कुछ प्रयत्न किया। प्रसिद्ध इतिहासकार राजवाडे, प्रसिद्ध लेखक भावे और यशवन्त पाडे ने इस पथ के विषय मे सराहनीय कार्य किए है। प्रत्येक भाव को गुप्त रखने की भावना के कारण इस पथ के अनुयायियो को यहा कुछ अश्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। एक कहावत भी प्रसिद्ध है 'करणी कमावाची बोलणी मानुभावाची'। इस पथ के उपास्य देवता श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय है। कुछ ऐसे ऐतिहासिक कारण बने जिनसे ये हिन्दूधर्म-विरोधी समझे जाने लगे थे। परन्तु अब परिस्थिति कुछ बदल रही है। इस पथ का उदय तेहरवी शताब्दी मे हुआ और इसके आद्य आचार्य गोविन्द प्रभु माने जाते है, परन्तु पथ का प्रवर्तन श्री चक्रधर द्वारा हुआ और प्रचार उनके शिष्य श्री नागदेवाचार्य द्वारा। इस पथ मे स्त्री और पुरुष दोनो को ही सन्यास की दीक्षा दी जाती है। इस पथ के कतिपय लीलापरक ग्रथ मराठी भाषा मे मिलते है। कुछ मगलगीत भी है। हिन्दुओ की जाति-व्यवस्था के विरोध मे इस पथ का उदय हुआ था। इनकी सिद्धान्त-दृष्टि द्वैताद्वैत की ओर है और भक्तिभावना योग से समन्वित। श्रीमद्भगवद्गीता इनका मान्य ग्रथ है और इस पथ के आचार्यों ने श्रीमद्भगवद्गीता की कई टीकाए लिखी है। इस पथ का प्रचार पजाब और अफगानिस्तान तक हुआ और मराठी भाषा का प्रचार सुदूर प्रदेशो मे हुआ।

महाराष्ट्र का वास्तविक वैष्णव सम्प्रदाय 'वारकरी पथ' कहलाता है। इस पथ के उपास्य विट्ठलदेव जी है जो कृष्णचन्द्र के बाल रूप है। पण्ढरपुर इसका तीर्थ स्थान है जहा एक ईट पर खडे हुए विट्ठल जी की मूर्ति है और साथ ही रुक्मिणी जी भी विद्यमान है। विट्ठल शब्द की व्याख्या विद्वानो ने कई प्रकार से की है। सस्कृत के विद्वान इसका विग्रह इस प्रकार करते है—**विदा ज्ञानेन, ठान् शून्यान्, लाति गृहणाति इति विट्ठलः।** कोई-कोई विट्ठल को विटस्थल का अपभ्रश मानते है अर्थात् ईंट पर खडा होने वाला और किसी ने विष्णु का अपभ्रश विठोवा माना है। सन्त तुकारामजी के अनुसार वि = गरुड और ठोवा = वाहन, इस प्रकार विठोवा की व्युत्पत्ति की है। इस पथ को मालकरी पथ और भागवत पंथ भी कहते है। तुलसी की माला इस पथ का विशिष्ट चिह्न है। विठोवा का ही दूसरा नाम पाण्डुरग है। इस पथ के मान्य ग्रथ भागवत और भगवद्गीता है। महाराष्ट्र प्रान्त की भक्ति-भावना बडी पुरानी है पर पण्ढरपुर मे विट्ठलजी का आविर्भाव पुण्डरीक के समय मे हुआ। सन्त ज्ञानदेव ने इस सम्प्रदाय को व्यवस्थित रूप दिया और उन्होने गीता की ज्ञानेश्वरी टीका लिखी। पाण्डुरग की उपासना तो और भी पुरानी ठहरती है। शकराचार्य ने अपने पाण्डु-

रंगाष्टक मे पुण्डरीक के लिए पाण्डुरग के आविर्भाव का सकेत किया है। कुछ भी हो, इस मत का प्रचार ज्ञानदेवजी के समय मे अधिक हुआ। इस मत मे अद्वैतवाद के साथ कृष्ण-भक्ति का अच्छा सामजस्य हुआ है और साथ-ही-साथ योग-भावना का भी पूर्ण सम्मिश्रण इस मत मे दीख पडता है। ज्ञानदेव को आज भी लोग सिद्ध योगी मानते है। ज्ञानदेव के साथ-साथ नामदेव का नाम भी उल्लेखनीय है। नामदेव ने सगुण और निर्गुण भक्ति का सुन्दर सामजस्य किया है। नामदेव का कबीर की वाणियो से बहुत साम्य है। इनके कारण महाराष्ट्र प्रान्त मे भागवत सम्प्रदाय बहुत व्यापक हुआ और अनेक सन्त इसके प्रचार मे प्रवृत्त हुए। इन सन्तो मे सब जाति के लोग थे। विसोबा जोगी थे और गोरा कुम्हार, सावता माली, धोखा कुम्हार, सेना नाई, नरहरि सुनार जैसे सन्त इसी सम्प्रदाय की देन है। साथ-ही-साथ कई भक्तिने भी हो गई है। जिनमे जनाबाई, कान्हूयाना, सखूबाई के नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। इस पथ की सन्त-परम्परा मे एकनाथ (१५३३ ई०) बड़े प्रसिद्ध है। इनके विषय मे कितनी ही अलौकिक घटनाए आज भी महाराष्ट्र मे प्रचलित है। इनका नाथ-भागवत एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इनका रुक्मिणीस्वयवर और भावरामायण भी भक्ति के श्रेष्ठ ग्रन्थो मे गिने जा सकते है। सन्त तुकाराम भी इस सम्प्रदाय के महनीय व्यक्ति थे। ये अभग मराठी साहित्य के रत्न माने जाते है तथा भक्तो के शिरोमणि तुकाराम शिवाजी के समकालीन थे। इस मत मे अन्य भी बहुत से सन्त हुए है जिन्होने अपनी अमर वाणी से मराठी साहित्य को समृद्ध किया। वारकरी मत मे चार सम्प्रदाय माने जाते है—चैतन्य, स्वरूप, आनन्द और प्रकाश। इन चारो सम्प्रदायो मे कोई तात्त्विक भेद नही है। वारकरी पथ पूर्ण रूप से वैदिक है और वर्णाश्रम धर्म मे आस्था रखता है। सिद्धान्त रूप से अद्वैतवाद का पक्षपाती होता हुआ भी व्यवहार पक्ष मे यह सगुण-भक्ति का पोषक है। तुलसी की माला और एकादशी व्रत का माहात्म्य इस मत मे बहुत अधिक है। तुकाराम जी ने अपने मत का सार शिवाजी के पास इस प्रकार लिखकर भेजा था :

आम्ही तेणे सुखी म्हाड़ा विट्ठल विट्ठलमुखी।
कण्ठी मिरबा तुलसी व्रत करा एकादशी।

इस पंथ मे भक्ति और ज्ञान दोनो का सुन्दर समन्वय हुआ है। युगल उपासना मे राधा के स्थान पर रुक्मिणी को रक्खा गया है जिसमे यह मत लोकसग्रही हो गया। महाराष्ट्र मे वारकरी सम्प्रदाय के अतिरिक्त रामदासी सम्प्रदाय का भी प्रचार है जिसके प्रवर्तक शिवाजी के गुरु समर्थ रामदासजी थे। इस सम्प्रदाय मे समाज की ऐहिक और पारलौकिक दोनो प्रकार की उन्नति को महत्त्व दिया गया है। स्वामीजी के प्रसिद्ध ग्रन्थ दासबोध मे इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है। स्वामीजी के उपास्य राम थे और उन्होने राम-भक्ति मे ब्रह्मज्ञान और कर्मकाण्ड दोनो का सामजस्य किया।

महाराष्ट्र प्रान्त की भाति गुजरात मे भी स्वतन्त्र रूप से वैष्णव धर्म का विकास हुआ। ऐतिहासिक तथ्यो से यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि गुजरात मे भागवत धर्म का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। गुजरात के दो वैष्णव पीठ प्रसिद्ध हैं—द्वारका और डाकोरजी। द्वारका मे तो शकराचार्यजी ने आठवी शताब्दी मे ही अपना पीठ स्थापित किया था। तेरहवी शताब्दी से तो गुजरात मे वैष्णव धर्म का प्रचार बहुत ही अधिक बढ गया था। मध्ययुग मे राधाकृष्ण की भक्ति के प्रचार का श्रेय नरसी मेहता और मीराबाई को है। जब से पुष्टिमार्ग का प्रचार गुजरात मे हुआ तब से मानों गुजरात भक्ति का पीठ ही बन गया और समस्त गुजरात मे श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति फैल गई। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने पुष्टिमार्ग के प्रचार के लिए छ बार गुजरात की यात्रा की।

यहा प्रसगवश वृन्दावन के कुछ वैष्णव सम्प्रदायो की चर्चा आवश्यक है।

वैष्णवाचार्यों के प्रभाव से ब्रजभूमि मे परिनिष्ठित सम्प्रदायो के अतिरिक्त कुछ अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित हुए। यह पहले कहा जा चुका है कि वृन्दावन मे निम्बार्क सम्प्रदाय सबसे पुराना है। निम्बार्क सम्प्रदाय मे सबसे पहले राधाजी को इतना महत्त्व मिला था। उनके सम्पर्क से वृन्दावन मे कुछ भक्तो ने कुछ परिवर्तन के साथ राधा की भक्ति-भावना का प्रचार किया। कुछ विद्वानो का मत है कि ऐसे सम्प्रदायो का प्रचलन वृन्दावन मे चैतन्य के प्रभाव से हुआ। राधा के सम्बन्ध मे निम्बार्क और चैतन्य सम्प्रदायो मे मौलिक भेद यह है कि निम्बार्क सम्प्रदाय मे तो राधा के स्वकीयात्व

को ही महत्त्व दिया गया है जबकि गौडीय सम्प्रदाय मे इस भाव की पूर्ण स्पष्टता नही है। श्री जीवगोस्वामी ने परकीयात्व को केवल रस-विशेष के पोषण के लिए ग्रहण किया था पर उज्ज्वलनीलमणि के टीकाकार श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस भाव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है। हमे तो ऐसा लगता है कि वृन्दावन के इन छोटे-छोटे सम्प्रदायो पर निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य सभी सम्प्रदायों का प्रभाव है। वृन्दावन के सखी-सम्प्रदाय को तो निम्बार्क मत की ही एक शाखा मान सकते है। इस शाखा के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदासजी थे। इसमे गोपी-भाव का वैशिष्ट्य है। सखी-सम्प्रदाय मे सिद्धान्तपक्ष पर बल नही दिया गया है इसका केवल साधना-पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय की उपासना सखी भाव की है। स्वामी हरिदासजी राधाकृष्ण के युगल रूप के उपासक थे और उनकी ललित लीलाओ का दर्शन सखी-भाव मे किया करते थे। सगीतकला मे निपुण होने के कारण वह सगीत के द्वारा ही राधाकृष्ण की उपासना करते थे। हरिदासजी की पहली पदावली मे उनके सिद्धान्त और व्यवहार दोनो का विवेचन है। उनके पदो का एक सग्रह केलिमाला नाम से विख्यात है। इस सम्प्रदाय के भक्तो ने, जो टट्टी-सस्थान के भक्त कहलाते है, माधुर्य और प्रेम से भरे अनेक पदो की रचना की है। हरिदासजी से लेकर आज तक टट्टी-सस्थान के भक्तो की परम्परा चली आ रही है।

राधा को केन्द्र मानकर वृन्दावन का दूसरा सम्प्रदाय राधावल्लभीय सम्प्रदाय है। उसके प्रवर्त्तक श्री हित हरिवशजी थे जो मुरली के अवतार माने जाते है। हितहरिवशजी भी राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक थे और उन्होने कृष्ण की अपेक्षा श्री राधारानी को ही अपनी उपासना मे अधिक महत्त्व दिया है। इनकी उपासना मधुर भाव की उपासना कही जा सकती है। राधा की अनन्य उपासना, राधा की चाकरी ही उनकी भक्ति-भावना का मुख्य तत्त्व है। इस तत्त्व को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इन्होने भी अध्यात्म-पक्ष का विवरण कम दिया है। इनकी उपासना मे विरह-भावना का महत्त्व नही है। वह केवल सयोग-पक्ष को ही लेकर चलती है। स्वामीजी के राधानिधि और हितचौरासी ग्रथ प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त आशास्तव, चतु श्लोकी, श्री यमुनाष्टक तथा राधातन्त्र ग्रथ भी उन्ही के बताए जाते है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय के पोषको मे हितहरिवशजी के पश्चात् श्री हरिरायजी व्यास का नाम उल्लेखनीय है। यह वास्तव मे हितहरिवशजी के ही समकालीन थे और आगे चलकर राधावल्लभीय सम्प्रदाय के आचार्य कहलाए। व्यासजी के दो ग्रथ प्राप्त होते है जिनमे एक सस्कृत का ग्रथ 'नवरत्न' अप्रकाशित है और दूसरा ग्रथ 'व्यासवाणी' प्रकाशित हो चुका है। भक्ति-भावना की दृष्टि से इनके पद परमोच्च कोटि के है जो भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हृदय के उद्गार कहे जा सकते है। राधा-कृष्ण की लीला का वर्णन बडे विस्तार के साथ किया है। व्यासजी के अनन्तर राधावल्लभीय सम्प्रदाय के आचार्यों मे ध्रुवदासजी का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होने चालीस से अधिक ग्रथ लिखे। भक्तनामावली नामक ग्रथ बडा महत्वपूर्ण है। इस ग्रथ मे उन्होने बहुत से भक्तो का परिचय दिया है। इन्होने हितहरिवश के सिद्धान्तो का पूर्ण विवेचन किया है और अपने मत की साधना-प्रणाली को बडा गूढ एव रहस्यमय बनाया है। इस मत की उपासना का तत्त्व सब सम्प्रदायो से विलक्षण है। नित्य मिलन को ही इन्होने विशेष महत्त्व दिया है। इस मिलन मे भी विरह-सदृश उत्कण्ठा रहती है। स्वकीया, परकीया, विरह-मिलन तथा स्व-पर-भेद से रहित नित्य विहार रस ही इस सम्प्रदाय का इष्ट तत्त्व है। इस सम्प्रदाय को वास्तव मे रस-सम्प्रदाय कहा जा सकता है। राधा और कृष्ण एक ही तत्त्व के प्रतीक है। श्री राधाजी सर्वत्र प्रकृति रूप मे व्याप्त है। वही सखियो के रूप मे है और वही गोपियो के साथ मे। प्रत्येक जीव प्रेमरूपा गोपी है। अपने स्वरूप को ही भूलकर जीव नाना प्रकार के कष्ट भोगता है इसलिए उसे अपने स्वरूप का अनुसधान करना चाहिए। उनके कृष्ण निर्गुण-सगुण से परे है और ईश्वरो के भी ईश्वर हैं। आदि पुरुष और नारायण के भी कारण है, सब अवतारो के मूल है और स्वय रसरूप है। भगवत्तत्त्व केवल एक ही है। लीला और क्रियाओ के अनुसार उसके दो भेद हो गए है। इस तत्त्व का नाम ही श्री राधावल्लभलाल है जो वृन्दावन मे नित्य विहार करते है। उनके नित्य विहार के परिकर के चार अग है—श्री राधा, श्री कृष्ण, श्री वृन्दावन और सखिया, परन्तु मूल भूत तत्त्व एक ही है। श्री वृन्दावन दिव्य धाम है जहा यह नित्य विहार होता है। यह नित्य-विहार प्रेम-केलि मात्र है। युगल किशोर एक प्रेम के ही दो रूप है। प्रेम तत्त्व निर्वचनीय है और एक होकर भी अनेक रूपों मे विलास करता है।

उत्तर भारत के वैष्णव धर्म के आन्दोलन का विवेचन करते समय यह बात नही भूल जानी चाहिए कि

इस धर्म का बीजारोपण सर्वप्रथम काशी मे ही हुआ था और वैष्णव धर्म के उपास्य कृष्ण न होकर राम थ। कबीर के नाम से एक साखी प्रचलित है

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
परगट करी कबीर ने सात दीप नौ खण्ड ।।

यह साखी प्रामाणिक हो या न हो, पर इसमे सन्देह नही कि स्वामी रामानन्दजी का वैष्णव भक्ति के प्रचार मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उत्तरी भारत में विष्णु-भक्ति के प्रचार के दो स्थान थे . काशी और मथुरा। काशी रामभक्ति के प्रचार का केन्द्र थी और मथुरा कृष्ण-भक्ति के प्रचार का। स्वामी रामानन्दजी की जन्म-तिथि का प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। भण्डारकर और ग्रियर्सन ने उनका जन्म सन् १२९९ मे माना है और ये दोनो ही महानुभाव उन्हे रामानुजाचार्य से चतुर्थ आचार्य मानते है। डा० ताराचन्द ने रामानन्द को रामानुज की परम्परा मे बाईसवा आचार्य मान कर उनका जन्म चौदहवी शताब्दी के अन्त मे माना है। उनकी मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार मतभेद है। भण्डारकर उनका देहावसान सन १४११ मानते है। कुछ भी हो, स्वामी रामानन्दजी राम-भक्ति के सर्वप्रथम आचार्य माने जाते है और कहा जाता है कि वह दक्षिण से ही राम-भक्ति को उत्तर मे लाए थे। वास्तव मे राम-भक्ति के सन्दर्भ मे रामानन्द की अपेक्षा उनके गुरु राघवानन्दजी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रचार का कार्य चाहे रामानन्दजी ने किया हो, पर सिद्धान्त-निरूपण की आधारशिला का न्यास स्वामी राघवानन्दजी के करकमलों द्वारा ही हुआ था। वह दक्षिण तथा उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलनों के सयोजक व्यक्ति कहे जा सकते है। नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' मे राघवानन्दजी और रामानन्दजी दोनो का ही उल्लेख किया है। अनन्त स्वामी-रचित 'हरिभक्ति सिन्धुवेला' मे राघवानन्दजी का स्मरण इस प्रकार किया गया है .

वन्दे श्री राघवाचार्य रामानुजकुलोद्भवम्।
याम्यादुत्तरमागत्य राममन्त्र प्रचारकम् ।।

राघवानन्दजी की साधना योग और भक्ति के समन्वित रूप मे थी। उत्तर भारत मे उस समय नाथ-योगियों का जोर था और योग-समन्वित भक्ति ही सफल हो सकती थी। स्वामीजी ने अपनी भक्ति-साधना मे हठयोग तथा वैष्णव भक्ति का पूर्ण सामजस्य प्रस्तुत किया। आगे चलकर उनकी भक्ति-पद्धति को उनके शिष्य रामानन्दजी ने जन-आन्दोलन का रूप दिया। रामानन्दजी के शिष्य दो कोटि के थे— एक तो सुधारवादी और दूसरे प्राचीन भक्ति-परम्परा के भक्त।

स्वामीजी की दृष्टि बडी ही उदार और व्यापक थी। वह सबसे पहले आचार्य थे, जिन्होने भक्ति का द्वार अन्त्यजो तक के लिए समान भाव से मुक्त कर दिया था। इन्होने लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम को अपना इष्टदेव स्वीकार किया। क्योंकि लक्ष्मीनारायण क्षीर-सागर मे शयन करने के कारण साधारण मानव की पहुच से बहुत दूर पडते थे।

इस प्रकार सोलहवी शताब्दी तक यह भक्ति-आन्दोलन पूर्ण रूप से जन-आन्दोलन बन गया। इस प्रकार आन्दोलन के नेताओ ने सस्कृत के स्थान पर प्रान्तीय भाषाओ को अपने प्रचार का माध्यम बनाया जिसके फलस्वरूप प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य बड़ा समृद्ध और शक्तिशाली बन गया जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। राम और कृष्ण के पावन चरितों को लेकर अनेक ग्रंथो का प्रणयन हुआ। रामचरित को लेकर लिखने वाले भक्त कवियो ने अवधी भाषा को ही विशेष रूप से अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, जबकि कृष्ण-धारा के कवियों ने ब्रज-भाषा को अपना कर अपने मधुर काव्य की रचना की। ब्रज भाषा ने वैष्णव सम्प्रदायो को एकता के सूत्र मे बांधने का महनीय कार्य किया। यह भक्ति-आन्दोलन भारतीय भाषाओ, विशेषकर हिन्दी, की साहित्य-सर्जना मे बडे महत्त्व का है। हमने यहा राम-भक्ति आन्दोलन की बात केवल प्रसगवश ही कही है। हमारा अभिप्राय कृष्ण-भक्ति आन्दोलन की ही पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करना है। कृष्ण-भक्ति आन्दोलन का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्रीमद्भागवत का उल्लेख बडा आवश्यक है। कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायो को श्रीमद्भागवत से प्रेरणा मिली है और सारा कृष्ण-भक्ति साहित्य किसी-न-किसी

रूप में श्रीमद्‌भागवत से प्रभावित है। इसलिए श्रीमद्‌भागवत के सम्बन्ध मे कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

भागवत पुराण के सम्बन्ध मे भागवतकार लिखते है :

> **निगमकल्पतरोर्गलितं फलं**
> **शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं ।**
> **पिबत भागवतं रसमालयं**
> **मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।**

—भागवत १।१।२

चैतन्य और वल्लभ दोनो सम्प्रदायो मे भागवत की विशेष मान्यता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने तो अपने 'तत्त्व दीप निबन्ध' मे भागवत को चतुर्थ प्रस्थान माना है :

> **वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।**
> **समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।।**

—त० नि०, श्लोक ७

हमारी दृष्टि मे कृष्ण-भक्ति आन्दोलन को इतना व्यापक बनाने का श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्यजी को है। उन्होने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की उसका आधार भी भागवत को ही स्वीकार किया है। पुष्टि-भक्ति का नामकरण भी उन्होने भागवत के ही आधार पर किया। 'सिद्धान्तरहस्य' नामक ग्रथ की विवृति मे हरिरायजी ने लिखा है कि पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह-भेद से भक्ति तीन प्रकार की होती है। प्रवाह भक्ति का प्रतिपादन तो वेद और पुराणो मे हुआ है तथा मर्यादा एव पुष्टि भक्ति के प्रतिपादन के उद्देश्य से श्रीमद्‌भागवत का प्रादुर्भाव हुआ। पुष्टिमार्ग मे भक्ति को ही सर्वोपरि माना है। श्री वल्लभाचार्यजी ने 'तत्त्वदीप निबन्ध' के भागवतार्थ प्रकरण मे सब स्कन्धो और अध्यायो को प्रकरणो मे विभाजित किया है और उनके भाति-भांति के अर्थ लिये हैं। छठे स्कन्ध को उन्होने पुष्टि-स्कन्ध बताया है और पुष्टिभक्ति का सूत्र इसी स्कन्ध से ग्रहण किया है। इस स्कन्ध में पुष्टिमार्गीय भक्ति के तत्त्वो का निरूपण करने वाला उपाख्यान इन्द्र और वृत्रासुर का है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पन्द्रहवी शताब्दी के पश्चात्त यह भक्ति-आन्दोलन जन-आन्दोलन के रूप मे सारे भारतवर्ष मे फैल गया था। भारतवर्ष की प्राय. सभी भाषाओ मे साहित्य की अभिवृद्धि इस आन्दोलन के द्वारा हुई, परन्तु ब्रजभाषा मे तो इस आन्दोलन ने मानो चार चाद ही लगा दिए। कही ब्रजभाषा के नाम पर, तो कही ब्रजबुलि के नाम पर विशाल भक्ति-साहित्य की सर्जना हुई। खेद है कि आज हिन्दी के विद्वानो का उस ब्रज-भाषा साहित्य की ओर विशेष ध्यान नही गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे जहा एक ओर वैष्णव साधना के सभी तत्त्वो का समावेश था वहा दूसरी ओर इसके द्वारा ब्रज भाषा-साहित्य की भी विशेष उन्नति हुई। कहा जाता है कि वल्लभाचार्यजी ने स्वय भी ब्रजभाषा मे रचनाए की। उनकी 'चौरासी अपराध' नाम की एक ब्रज भाषा की रचना प्रकाशित भी हो चुकी है। उन्होने स्वय ब्रजभाषा मे चाहे कुछ न लिखा हो पर उनके शिष्यो ने ब्रजभाषा के सवारने और समृद्ध करने मे जो योगदान दिया है वह वास्तव मे अपूर्व है। इसमे तो कोई सन्देह नही कि आचार्यचरण अपने सम्प्रदाय का प्रचार ब्रजभाषा के माध्यम से किया करते थे और इसे वह 'पुरुषोत्तम भाषा' कहते थे। उनकी शिष्य-परम्परा मे ऐसे अनेक अज्ञात कवि है जिनकी रचनाएं आज भी अन्धकार के गर्त मे छिपी हुई है। हरिरायजी की लीला-भावना वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे ऐसे अनेक कवियो का उल्लेख किया गया है। पुष्टि-सम्प्रदाय और उसके माध्यम से ब्रज-भाषा के साहित्य के प्रचार और प्रसार का श्रेय वल्लभाचार्यजी के द्वितीय पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी को है। उन्होने इस सम्प्रदाय की ठीक प्रकार से व्यवस्था की और पुष्टिमार्गीय सेवा-भावना को विस्तार से क्रियात्मक रूप दिया है।

वैष्णव सम्प्रदायों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि इनमे भक्ति की भावना उत्तरोतर बढती गई, भक्ति के रागात्मक पक्ष को विशेष बल मिलता गया और शास्त्रीय पक्ष का ह्रास होता गया। प्रपत्ति अर्थात्

शरणागति और समर्पण की भावना को विशेष बल मिला। भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि मे केवल ये वैष्णव सम्प्रदाय ही नही थे इनके अतिरिक्त देश का सामान्य वातावरण तथा तज्जन्य अनेक धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तिया भी थी। इन साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के प्रचारको के अतिरिक्त देश में एक ऐसा भी वर्ग था जो मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि के आधार पर जाति-पाति के भेद-भाव से परे साम्प्रदायिकता के आवरण को दूर फेंक कर एक ईश्वर की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। ऐसे सन्त-महात्मा देश के प्रत्येक प्रान्त मे वर्तमान थे। हृदय की शुद्धि, आचरण की उच्चता और ईश्वरीय प्रेम की विह्वलता को ही प्रधानता देने वाले ये मस्तमौला सन्त जनता की ही भाषा मे ही अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते थे। हेय का त्याग और आदेय का दान इनकी सरल प्रकृति का प्रमाण है। इस सारे भक्ति-आन्दोलन का मूल तत्त्व प्रेम और प्रपत्ति है। इन मूल तत्त्वो के आधार पर ही श्रीमद्भागवतपुराण की रचना हुई, इसलिए हम इस पुनीत ग्रन्थ को भक्ति-शास्त्र का सर्वस्व कह सकते है। सब पुराणो मे इसका स्थान ऊचा है। भक्ति की अमृतमय सरिता को सारे देश मे प्रवाहित करने वाला यही एकमात्र ग्रन्थ है। मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य और धार्मिक प्रवृत्तियो को समझने के लिए भागवत का अनुशीलन परम आवश्यक है। इसलिए आगे के अध्यायो मे हम इस महापुराण के विभिन्न पक्षो का अनुशीलन प्रस्तुत करेंगे।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

—भागवत १।१।२

तुलसीदासजी का पंचनामा

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

यह पचनामा काशी के टोडर नाम के एक बडे जमीदार के पुत्र-पौत्रो के बीच जायदाद के बटवारे के लिए सवत १६६९ अर्थात सन १६१२ मे लिखा गया था। तुलसीदास जी ने आरम्भ मे अपने हाथ से इस पर कुछ पक्तिया लिख दी थी। पहिले श्लोक मे राम की महिमा है, दूसरे दोहे मे सत्य की महिमा है और तीसरे श्लोक मे धर्म की महिमा है। तुलसीदासजी का अपना नाम भी दोहे मे पडा हुआ है। तुलसीदासजी ने अपने हाथ से इतना अश लिखा था, इसमे परम्परा-प्राप्त अनुश्रुति प्रमाण है। महाकवि ने निजी अक्षर, विशेषकर उनके नामाक्षर, उनके आदर्श राम की महिमा और सत्य एव धर्म की महिमा मे कवि के वचन उन्ही के हस्ताक्षरो मे प्राप्त होने के कारण यह पचनामा हिन्दी-जगत मे अत्यन्त मूल्यवान ऐतिहासिक पत्र है। यह टोडर के वशजो के पास ग्यारह पीढी तक रहा। ११वी पीढी मे पृथ्वी-पालसिह नाम के सज्जन ने काशीराज महाराज ईश्वरीनारायणसिहजी को इसे दे दिया था और अब वर्तमान काशीराज श्री विभूतिनारायणसिहजी के पास सुरक्षित है। टोडर के वशज, जिनमे श्री लालबहादुरसिह अब जीवित है, अभी तक अस्सी पर रहते है और काशीराज के यहा से कुछ मासिक वृत्ति पाते है।

पचनामा देशी कागज पर काली स्याही मे लिखा हुआ है। वह कुछ मुड गया था, कागज मे सलवटे पड गई थी और उसकी मरम्मत की आवश्यकता थी। वर्तमान काशीराज महाराज श्री विभूतिनारायणसिहजी उसे १९४९ के अगस्त मास मे दिल्ली लाये और सेट्रल एशियन म्यूजियम मे मरम्मत के लिए उसे उन्होने मेरे सुपुर्द किया। पचनामे को सग्रहालय के रसायन-विभाग के कार्यकर्ता श्री तोतारामजी गरौला ने बहुत यत्नपूर्वक पुराने कागज पर से उठाकर नये हाथ के बने दोहरे जापानी कागज की वसली पर पुन बैठाया और चिपकाने से पूर्व उसकी सलवटे खोली और मैल साफ किया। अब सुरक्षा के साथ मरम्मत हो जाने और वसली लग जाने से उसकी आयु बढ गई है। मेरे अनुरोध से महा-राज साहब ने उसे नई दिल्ली के सरकारी भवन मे विद्यमान राष्ट्रीय सग्रहालय मे तीन दिन तक प्रदर्शित करने की अनुमति प्रदान की थी। जनता के लिए प्रदर्शित किये जाने के उपरान्त वह बहुमूल्य ऐतिहासिक पत्र पुन काशी ले जाया गया।

इसी अवसर पर उसके विधिपूर्वक कई चित्र लिये गए। पहले चित्र मे केवल गोस्वामीजी के स्वहस्त-लिखित अक्षर दिखाये गए है। दूसरे चित्र मे सम्पूर्ण पचनामे की नकल है। पचनामे के तीन भाग है। आरम्भ मे गोसाई तुलसीदासजी के हाथ से लिखा हुआ एक श्लोक, एक दोहा और फिर एक श्लोक है। उसके बाद अल्लाहो अकबर से आरम्भ करके फारसी भाषा और लिपि मे सरकारी मुहरों से प्रमाणित पच-फैसला दर्ज है। तीसरे भाग मे वही पच-फैसला हिन्दी भाषा और देवनागरी अक्षरो मे लिखा हुआ है। हिन्दी मे इस पचनामे को 'पत्र' कहा गया है। पत्र प्राचीन पारिभाषिक शब्द था जिसे अग्रेजी 'डाक्यूमेट' का पर्याय समझना चाहिए। मध्यकालीन लेख-पद्धतियों, न्याय-निबन्धो एव शिलालेखों मे इसी अर्थ मे 'पत्र' शब्द का व्यवहार हुआ है। मूल पचनामे की नकल इस प्रकार है—

श्री जानकीवल्लभो विजयते

द्विश्शरन्नाभि संधत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान्।

द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ॥ १ ॥
तुलसी जान्यो दशरथहिं धरमु न सत्य समान ।
रामु तजे जिहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ॥ १ ॥
धर्मो जयति नाधर्मस्सत्यं जयति नानृतम् ।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः ॥ १ ॥

अल्लाहो अकबर

(प० १) चू आनन्दराम बिन टोडर बिन देवराय व कन्हई बिन रामभद्र बिन टोडर मजकूर
(प० २) दर हुजूर आमद करार दादन्द कि दर मवाजिए मतरूक कित फसील आदर हिन्दवी मजकूर अस्त
(प० ३) बिल् मुनासफ. बतराज़िए जानि बैन करार दादेम व यकसद व पिंजाह बीघा जमीन ज्याद किस्मत मुनासिफः खुद
(प० ४) दर मौजे भदैन आनन्दराम मजकूर ब कन्हई बिन रामभद्र मजकूर तजवीज नमूद
(पं० ५) बरी मानी राजी गश्तः अतराफ सहीह शरई नमूदन्द बिनाबर आ
(प० ६) मुहर करद शुद सादुल्लाह बिन

किस्मत कन्हई

करिया — भदैनी सेह हिस्स.
करिया — शिवपुर दरो विस्त
करिया — नदेसर हिस्स टोडर तमाम

· ·· ···· ······················ (अस्पष्ट)

किस्मत आनन्दराम

क़रिया — भदैनी दो हिस्स.
क़रिया — लहर तारा दरो बिस्त
करिया — नैपुरा हिस्स टोडर तमाम
करिया — चित्तूपुरा खुर्द हिस्सः टोडर तमाम

श्री परमेश्वर

(प० १) शवत १६६६ शमए कुआर शुदि तेरशी बार शुभ दीने लिषित पत्र अनद
(पं० २) राम नथा कन्हई के अंश वीभाग पुर्वमु आगे भै आग्य दुनहु जने मागा
(प० ३) वे आग्य भै शे प्रमाण माना दुनहु जने बिदित तफशील अश टोडरमल
(प० ४) के मह जे श बिभाग पद्र होतरा ·····

अंश आनन्दराम

मौजे भदैनी मह अश पांच ते ही मह अश
दुइ आनन्दराम तथा लहरतारा शगरेड
तथा छीतूपुरा अंश टोडर मलुक तथा
नैपुरा अश टोडरमलक हील हुजती
नाश्ती लीखीत अनदराम जे ऊपर लिखा से सही
साछी राघवराम रामदत्त सुत
साछी रामसेनी उधव सुत

अंश कन्हई

मौजे भदैनी मह अंश पांच ते ही मह
तीनी अश कन्हई तथा मौजे शिपुरा तथा
नदेसेरी अंश टोडर मलक हील हुज्जत
नाश्ती लीखीत कन्हई जे ऊपर लिषा
से सही
साछी राम सीघ उधव सुत
साछी जादौ राए गहर राए सुत

साछी हैकर्ण जगतराव सुत
साछी जमुनी मान परमानंद सुत
साछी जानकीराम श्रीकात सुत
साछी कवल राम वासुदेव सुत
साछी चद्रभान केसौदास सुत
साछी पाडे हरीवलभ पुरुसोतम सुत
साछी भावरए केसौ उघरन सुत
साछी जदुराम नरहरी सुत
साछी आजीव्य लछी सुत
साछी सवल भीषम सुत
साछी रामचंद वासुदीव सुत
साछी पीतम्बरदास वधीपुरन सुत
साछी रामनाह गरीबनाह मधुछिरी
कर्म सुत

साछी जगदीस राऐ महादधी सुत
साछी चक्रपानी सोल्ला सुत
साछी मथुरा पीथा पुत्र
साछी कासीदास वसुदेव सुत दसखत मथुरा
साछी परगभान गोशाई दाश सुत
साछी रामदेव वीसभर सुत
साछी श्रीकात पाडे राजस्वर सुत
साछी वीठलदास हरीहर सुत
साछी हीरा दसरथ सुत
साछी लोहरा कीस्ना सुत
साछी भजराम सीतल सुत
साछी प्रानादत्त भगवन सुत
साछी पीथा वनजै सुत
साछी धनीराम मधुराए सुत

पचनामे पर ये हस्ताक्षर स्वय लोगो ने अपने हाथ से किए हैं। केवल एक व्यक्ति मथुरा ने 'साछी कासी-दास वासुदेव सुत' का नाम अपने हाथ से लिखा है और उसके प्रमाणस्वरूप 'दसखत मथुरा' ये शब्द जोड दिए है। नामो की जो अछरौटी उस समय प्रचलित थी, वह ज्यों-की-त्यों ऊपर उतारी गई थी। भाषा की दृष्टि से यह सामग्री रोचक है। राव को एक जगह राव, पर प्राय राऐ लिखा गया है। कृष्ण का अपभ्रशरूप कीस्ना, पृथ्वीराज का पीथा, वृद्धिपर्ण का वधीपूरन, विश्वम्भर का वीसभर ध्यान देने योग्य है। व और ब का भेद नही था। ख को मूर्धन्य ष लिखा जाता था। व के नीचे कही बिन्दु लगाया है, कही नही। ह्रस्व और दीर्घ मात्राओ का भी ठीक पालन नही हुआ है। प्राय ये सब विशेषताए हिन्दी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों मे भी पाई जाती है।

मीरा के काव्य में गीति-तत्त्व

श्री० गुरुप्रसाद टंडन

गीतिकाव्य अन्तरतम हृदय का काव्य है। उसका प्रधान गुण आत्माभिव्यजन है। उसमे भावों का सरल अकृत्रिम उद्वेग रहता है और कवि का व्यक्तित्व उसकी स्वच्छन्द कल्पना के प्रवाह मे अकित हो एक मूर्तिमान चित्र उपस्थित कर देता है। भाषा का मुक्त प्रवाह गीतिकाव्य मे सगीत की लय के साथ हर्ष-शोक, आशा-निराशा की रागात्मक अवस्थाओ का मर्मस्पर्शी स्वरूप प्रकट करता है। धुधले सकेतो में, एव मनोवेगो की ओर सीधी प्रेरणा मे गीत-कवि की कला निहित है। आन्तरिक भावनाओं का चित्रण ही गीतिकाव्य के लिए मुख्य वस्तु नही है, प्रत्युत उसके प्रवाह मे सौन्दर्य, सुन्दर वर्ण और तीव्र वेग का होना आवश्यक है। हिन्दी-गीतिकाव्य के लहलहाते उद्यान मे जीवनधारा की समस्त विभूतियो को तरगित करती हुई मीरा की विदग्ध वाणी सुनाई पड़ी थी।

निश्चिन्त आत्मा

मीरा की आत्मा निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व थी। एक स्वच्छन्द गगन-विहारी पक्षी की भाति वह गाती है और केवल गाती है। उसका कवि-हृदय नारी-हृदय की कोमल और सुकुमार भावनाओ के उपकरणों से निर्मित है। वह अपने दिल की रानी थी, 'लोक कहै बिगडो' की उसे परवाह न थी। न किसी आदर्शवाद की वह पुजारिन थी। राज्य के अनन्त वैभव और प्रलोभनो को ठुकराकर गिरिधरगोपाल की जिस मधुर मूर्ति के पीछे दीवानी हो मेवाड की मरुभूमि मे वह घूमती-फिरती थी, वह त्याग और अनन्यता हमे किसी अन्य भक्त कवि मे नही मिलती। कितने उन्मुक्त स्वर मे वह कहती है

नाचन लगी जब घूंघट कैसो !

अनन्यता

मीरा स्वय इष्टदेव प्रियतम के विरह का अनुभव करती थी। इसीलिए उसे यह आवश्यकता ही न पडी कि वह गोपियो की परिस्थिति मे रहकर अपना प्रेम प्रकट करती। वह स्त्री थी इसलिए स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण अपनी प्रीति के आगे गोपी-राधा की कल्पना वह कैसे कर सकती थी ? यही पर अन्य भक्त कवियो से मीरा का बडा भारी भेद है। वे लोग कृष्ण-राधा, नन्द-यशोदा इत्यादि की सृष्टि कर अपने पात्रो के मुख से बोलते हुए दिखलाई पडते है, पर मीरा तो एक 'गिरधर' को ही जानती है। उसकी मूक वेदना उसकी अपनी वेदना है। उसे किसी माध्यम की, किसी दूती की, आवश्यकता ही नही। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि मीरा का काव्य ही विशुद्ध गीतिकाव्य है।

प्राय· कृष्ण-भक्त कवि किसी-न-किसी सम्प्रदाय मे दीक्षित थे और उसके अनुसार उनकी उपासना का भिन्न-भिन्न स्वरूप था। कर्मकाण्ड की मात्रा उनमे अधिक है। मीरा किसी सम्प्रदाय-विशेष मे दीक्षित न थी, यद्यपि कई वैष्णव सम्प्रदाय वाले उसे अपने सम्प्रदाय मे सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। यह मान भी लिया जाय कि वह किसी गुरु की चेली थी तो भी उसकी कविता मे कोई भी साम्प्रदायिक छाप नही मिलती। उसका हृदय भेद-बुद्धि से परे हो प्रेम-पराभक्ति का अनन्य उपासक था। वह स्वय भक्ति की मूर्ति थी—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शाडिल्य)।

उसके उदार नारी-हृदय को कृष्ण के नित्य किशोर-रूप मे ही परम शान्ति मिल सकती थी। वही उसकी साध थी, वही उसका अरमान था।

कृष्ण की शक्ति, कृष्ण का माहात्म्य, कृष्ण का ऐश्वर्य, उनकी जीवनचर्या आदि घटनाओ का कोई विस्तार मीरा ने नही किया है। वह चरित्र-चित्रण की ओर कैसे जा सकती थी? कृष्ण के माधुर्य व प्रेम को ही वह हृदय मे लगाना चाहती थी, ऐश्वर्य या शक्ति को नही। अन्य भक्त कवियो के गीतकाव्यो मे जो वर्णनात्मक वातावरण मिलता है, वह मीरा मे नाममात्र को ही है।

काव्यशास्त्र से अप्रभावित

मीरा के गीत एक भावुक हृदय के स्वाभाविक स्पन्दन है। वासतिक समीर की लहर मे जैसे कोकिला अपना स्वर नही छिपा सकती, सावन की झडी मे जैसे पपीहे का आर्द्र स्वर नही छिप सकता—उसी तरह अपनी वेदना की दर्दीली झकार मीरा कैसे छिपा सकती है? वह गाती है क्योकि उसे गाना ही चाहिए। उसके गीत की कडिया सिनेमा के फिल्म की भाति कठ मे लहराती हुई निकलती है उनमे कला की दृष्टि से सजावट का स्पर्श भी नही होता। कविता की दृष्टि से ये गीत नही गाये गए, ये तो हृदय के तथा प्राणो के स्वाभाविक स्फुरण है। यही कारण है कि मीरा की कविता काव्य-शास्त्र के वातावरण, रस-अलकार इत्यादि से प्रभावित नही हुई। यह कमी हम कई भक्त कवियो मे बहुत अश मे पाते है। जो स्वाभाविकता और धार्मिक तल्लीनता मीरा मे है वह हिन्दी के किसी अन्य गीतकवि मे ढूढे नही मिलती।

आत्माभिव्यंजन

मीरा कुछ भी नही छिपाती। उसकी सबसे बडी विशेषता स्वच्छ आत्माभिव्यजन है। जीवन का सबसे बडा लक्ष्य मानवी प्रकृति का अध्ययन माना गया है। मीरा की रचनाओ पर हम इसी व्यक्तित्व की छाप देखते है। उसने गीतो मे अपने व्यक्त अस्तित्व का लोप कर दिया है। उसकी तन्मयता हमारी वासनाओ को कुचलती हुई चित्त को रसमग्न कर देती है और हम मानसी पूजा मे प्रवृत्त हो जाते है। गाते समय वह हमारे इतने निकट आ बैठती है कि उसकी प्रेम-मूर्ति भुलाये भी नही भूलती। रसोन्मत्त गायिका की इस सामीप्य भावना मे थोडी देर के लिए हम अपने को गिरिधर के निकट देखने लगते है और मीरा के स्वर मे गा उठते है·

स्याम तोरी आरत लागी हो !

मीरा की निश्छल आत्माभिव्यक्ति इन पक्तियो मे देखिए

राणा जी मे गिरधर के घर जाऊं !
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊं ॥
रैन पड़े तब ही उठ जाऊं भोर भये उठ आऊं।
रैन दिना वाके संग खेलूं ज्यों रीझे त्यों रिझाऊं ॥
जोइ पहिरावें सोई पहिरू जो दे सोई खाऊं।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन बिन पल न रहाऊं ॥
जहँ बैठावें उत ही बैठूं बेचे तो बिक जाऊं।
जन मीरा गिरधर के ऊपर बारबार बलि जाऊं ॥

मीरा का आवेग प्रियतम के रगमहल का भेद भी नही छिपाता। सारे बन्धनो को तोड वह प्रियतम के प्रेम के साथ घुल-मिलकर खेलती है। पति के प्रेम और सेवा पर तन-मन न्यौछावर करने वाली हिन्दू गृहिणी की उच्च भावना भी इस गीत से प्रकट है। विवशता और प्रेम-व्यापार की तल्लीनता की मार्मिक दशा यहा है।

वेदना

मीरा का प्रिय मनोवेग प्रेमोन्मुख विषाद है। अपने वेदनात्मक रूप मे ही वह हमारे सामने प्रकट हुई है।

उसका सौभाग्य-सिन्दूर नष्ट हो चुका था। राणा के अन्याय और आघात से उसकी आत्मा सतत पीडित रहती थी। आनन्दमय स्वरूप का वह ध्यान तो करती है :

बरसे बदरिया सावन की, सावन की मनभावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा भनक सुनी हरि-आवन की ।।

पर दाह और अनुताप की छाया उसके गीत मे छिप नहीं सकती। 'गिरधर' के पास भी उसे विरह ही मिला। एक ओर गिरधर का विरह था तो दूसरी ओर राणा की अवहेलना। ऐसी अवस्था मे एक उपेक्षित और परित्यक्त प्राणी की तरह वह एक कसक लिये फिरती थी। उसके गीतों में स्त्री-हृदय की दयनीय दशा का बडा ही कारुणिक चित्र है। आदिकवि ने जिस करुणा का स्रोत बहाया था वही मीरा के गीतो से झर रहा है। उसकी वेदना इतने मर्म-स्पर्शी रूप से प्रकट होती है कि हम केवल उस पर विश्वास ही नही करते, प्रत्युत शुद्ध सहानुभूति की भावना से प्रेरित हो उसकी पूजा करने लगते है। विशेषता यह है कि मीरा इस वेदनात्मक स्वरूप को ही प्यार करती है। उसी अन्तर-दाह मे उसे आनन्द का अनुभव होता है। आशा-निराशा का सकेत उसने किया है, किन्तु उसकी वेदना में निराशा नहीं है, आनन्दमयी आशा की ही झलक है। वह अपनी करुण गाथा का स्वय बखान नही करती। उसकी वेदना का तीव्र आवेग मूक रुदन मे है। प्रियतम से भी वह अपनी वेदना विरहिणी नायिकाओ की भाति खुलकर प्रकट नही कर सकती। न व्यंग्य है, न उपालम्भ, केवल इतना संकेत कर देती है :

हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मोरा दरद न जाणे कोय।
घाइल की गति घाइल जाणे, की जिण लाई होय ।।

उसकी वेदना मे हिन्दू सती के उच्च त्याग की भावना है। यह वही उच्च त्याग है जो 'सती-पूजा' के रूप मे प्रचलित होगया है। मीरा के विरह मे हमारे जीवन के साथ बडी समता है। ऐसा स्वाभाविक विरह-वर्णन काव्य-कला-निष्णात कवियो मे कहा मिलेगा ? निर्वेद, दैन्य, विषाद, स्मृति, आवेग, उन्माद आदि करुण रस के सहायक सचारी भावो की व्यजना मीरा ने स्वाभाविक रूप से की है।

मीरा का विरह इतना गम्भीर है कि प्रकृति भी उससे विह्वल होकर कृष्णमय बन गई। विरह-कातर मर्म-वेदना का उज्ज्वल स्वरूप देखिए--

मैं विरहिन बैठी जागूं जगत सब सोवै री आली !
बिरहिन बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
इक बिरहिन हम ऐसी देखी अँसुवन माल पिरोवै।।
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलके बिछुड़ न जावै।।

इस गीत मे विरह के कई सुन्दर तुलनात्मक चित्र है। संसार की आनन्दमयी दशा के साथ व्यथित हृदय का क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। रगमहल मे मोती पिरोती हुई वासकसज्जा के बीच आंसुओं की माला पिरोने वाली विरह-विधुरा मीरा हमारे मनोवेगों को कितना करुणासिक्त कर देती है। जगत से निराश हो प्रकृति के आगे उसने हाथ पसारा। ताराओं के अतर्पट मे परमेश्वर की दिव्य ज्योति का प्रकाश सतप्त हृदय को शान्ति प्रदान करता है और प्रभु की अनन्त शक्ति की व्यापक कल्पना नेत्रो से कृतज्ञता के अश्रु प्रवाहित कर देती है। यही हमारी सान्त्वना का रूप है। इस प्रसग मे अग्रेजी कवि कीट्स की कितनी मार्मिक उक्ति है--

When I behold upon the nights starred face,
Huge cloudy symbols of a high romance.

अन्त में प्रियतम के साथ सायुज्यता की प्रबल आकाक्षा गीत में अभिव्यक्त हुई है। पदयोजना विरह-प्राबल्य के साथ अत्यन्त सार्थक है।

प्रेम

गीतिकाव्य का बडा प्रसिद्ध विषय प्रेम है । मीरा का प्रेम उसके तीव्र विरह से प्रकट होता है । इस प्रेम मे मादिकता नही है, उन्माद है । कही-कहीं मीरा ने अपना प्रेमाच्छादित आनन्दमय स्वरूप भी प्रकट किया है

मैं अपने सैंया संग नाची ।
अब काहे की लाज सजनी प्रगट है सांची ॥

घर और नातेदारो से दूर गायिका प्रेमोन्माद के सुखी दिनो का स्वप्न देखती है । यदि मीरा स्त्री-हृदय के स्वाभाविक आनन्द को प्रकट न करती तो उसका गीतिकाव्य अधूरा ही रह जाता । उसकी वेदना की लहर मे जब हम बह जाते है तब सहसा घुघरू की ताल पर नाचती हुई मीरा की आनन्दमयी दशा को देखकर हृदय को वडा आश्वासन मिलता है । हमारे मुख पर एक हलकी आनन्दमय मुस्कान दौड जाती है । मीरा हमे अपने दु.ख मे दुखी ही नही करती, बल्कि प्रसन्न भी करती है ।

मीरा के प्रेम की यह विशेषता है कि वह प्रेम का बार-बार स्मरण दिलाकर उपालम्भ देती हुई प्रार्थना नही करती; वह तो अपनी दशा के सच्चे चित्रण से सकेत द्वारा प्रियतम का आह्वान करती है ।

यहा पर यह प्रकट करना असगत न होगा कि मीरा का हृदय सूर की भाति नवनीत-जैसा बालक का हृदय नही है जिसमे आनन्द किलकारिया ले रहा हो । ब्रज के उन्मुक्त वायु-मण्डल मे यमुना की लहर और गोपियो के दधि-माखन मे क्रीडा करने वाला सरल हृदय मीरा को नही मिला था । सूर और मीरा के हृदयवाद मे अन्तर है । सूर के पदों मे जो द्रुति और आनन्द छलकता है वह मीरा मे कहा से मिल सकता है ? अनेक दशाओ मे मानसिक परिस्थितियो का जो सुन्दर चित्रण सूर ने किया है मीरा को न वैसा अवकाश था, न हृदय । परन्तु प्रेम और विरह मे जिन स्वाभाविक दशाओ का चित्रण मीरा ने किया है उसमे सूर की अपेक्षा अधिक सहृदयता है । आत्मविस्मृतिपूर्ण प्रेम की तीव्रता की अभिव्यजना मे जायसी भी उसके निकट नही आ सकते । सूफी प्रभाव के कारण जायसी ने विश्व-व्याप्त अखण्ड सत्ता को प्रियतम के रूप मे ग्रहण किया, किन्तु मीरा ने साकार प्रियतम के रूप मे उसकी उपासना की । स्वभावत प्रेम-जन्य समवेदना स्त्री-हृदय मे अधिक होनी चाहिए । तुलसी की भक्ति-भावना मे बुद्धि-पक्ष के साथ हृदय-पक्ष का समन्वय है । भक्त का आत्म-निवेदन वहा विशेष है, प्रेम की साधना नही है । कभी-कभी निराश होकर मीरा कह उठती है ·

जो मैं ऐसा जानती रे प्रीति करे दुःख होय ।
नगर ढिंढोरा फेरती रे प्रीति न करियो कोय ॥

किन्तु यह अवस्था अधिक देर तक नही रहती, और आशा का ही छोर वह पकड लेती है

वह बिरियां कब होसी मोकूं हँस के कण्ठ लगावें ।

प्रकृति-निरीक्षण

मीरा ने प्रकृति का आनन्दमय स्वरूप नही उपस्थित किया । पक्षियो का कलरव, पुष्पो का विकास और वसन्त का मादक चित्र यहा नही है । कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन का ही उसे अधिक अवकाश नही, फिर भला प्रकृति का विमुग्धकारी रहस्य वह कैसे खोलती ? उसे प्रकृति से प्रसन्नता नही मिलती । वसन्त और सावन की आनन्दमयी बहार उसने दिखलाई है, पर उस बहार मे विरहिणी के ऊर्ध्व निःश्वासो की लहर है । प्रकृति की सारी लोकरजिनी सामग्रिया उसके हृदय का भाव-सामजस्य मे एक दूसरे ही रूप मे आती है । एक ओर वह अपने हृदय का वेदनात्मक स्वरूप देखती है, दूसरी ओर वसन्त का उन्मत्त कल्लोल । वह कहती है––

होली पिया बिन लागे खारी सुनोरी सखी मोरी प्यारी !

इस प्रकार मीरा प्रकृति की सृष्टि का उपयोग अपने विचारो के अनुकूल करती है । सावन के आनन्दोत्सव का एक स्वाभाविक चित्र है :

रे सांवलिया म्हांरे आज रंगीली रणगोर छे जी ॥ टेक ॥
काली पीली बदली में बिजुली चमके मेघघटा घनघोर छे जी।
दादुर मोर पपीहा बोलं कोयल कर रही सोर छेजी ॥
आप रंगीला सेज रंगीली और रंगीलो सारो साथ छे जी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरनां में म्हांरो गोद छे जी ॥

परन्तु इसके उपरान्त ही मीरा अपनी वेदनात्मक दशा की ओर सकेत करती है :

बादल देख झरी हो स्याम मै बादल देख झरी।
काली पीली घटा उमगी बरस्यो एक घरी ॥
जित जाऊं तित पानिहि पानी हुई सब भोम हरी।
जाका पिय परदेस बसत है भीजें बार खरी ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर कीज्यो प्रीत खरी ॥

सावन की इस करुण रागिनी मे दीनता और वेदना का चित्रण है। मानवी प्रकृति बाह्य प्रकृति से तादात्म्य धारण किये हुए है। गीत का प्रत्येक शब्द सार्थकता के साथ करुण रागिनी के स्वरों मे मिलकर झूलता है। 'रीऽऽ' की मुग्धकारी लहर वर्षा की झड़ी के साथ कैसी एकरूपता रखती है कि बिना गाये हुए भी हमारे सामने वर्षा का दृश्य उपस्थित हो जाता है। प्रकृति के ऐसे तुलनात्मक चित्रों से हृदय की जो मार्मिक व्यंजना होती है वही गीतकवि की विशेषता है। प्रकृति के ये चित्र जितनी स्वाभाविकता और सत्यता से मीरा ने प्रकट किये है, वह कम ही कवियो मे देखने को मिलेगा। सात्त्विक भाव की कई दशाओं का बड़ा अच्छा रूप मीरा के प्रकृति-चित्रण मे है।

सौन्दर्य

गीतकवि मूर्तिमान सौन्दर्य का उपासक माना जाता है। इस सौन्दर्य का अस्तित्व उसकी काल्पनिक सृष्टि मे और प्रकृति के बाह्य दृश्यो मे रहता है। मीरा मूर्तिमान सौन्दर्य की उपासिका नही है, क्योकि न तो वह काल्पनिक सृष्टि मे विचरण करना चाहती है और न उसे बाह्य सौन्दर्य का आकर्षण ही है। प्रकृति का आनन्द सौन्दर्य की दृष्टि से उसने चित्रित नही किया है, अपनी मानसिक दशा का उद्रेक दिखलाने के लिए किया है। कृष्ण का सौन्दर्य-वर्णन वर्णनात्मक है, पर कभी-कभी उसी सौन्दर्य मे मूर्तिमान श्रृंगार का दृश्य उपस्थित हो जाता है :

निपट बंकट छबि अटके मेरे नैना निपट बंकट छबि अटके ॥
देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूखन मटके।
वारिज भवां अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके ॥
टेढ़ी करि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लट अटके।
मीरा के प्रभु रूप लुभानी गिरधर नागर नटके ॥

'टवर्ग' उपनागरिका-वृत्ति मे भले ही न हो, किन्तु यहां तो उसकी सरस ध्वनि त्रिभंगी रूप के साथ सामंजस्य प्रकट कर रही है। ऐसा ज्ञात होता है कि मानो गीत भी त्रिभंगी गति पर नाच रहा है। सीधी-सादी सरल वस्तु नेत्रो को आकर्षित नही करती; क्योकि नेत्रो का गुण वक्रता है, बंकिम टेढी चीज पर ही वे जा अटकते है !

संकेत

मीरा की एक बहुत बडी विशेषता सकेतमय चित्रण में है। जिस प्रकार एक तार को झनझनाने से कई तारो से मिली हुई झंकार उत्पन्न होती है उसी प्रकार प्राय: मीरा के गीत का आरोह ही उसके हृदय को प्रकट करता हुआ आगे आनेवाली दशा का चित्र खीच देता है। यथा,

रे सांवलिया म्हांरे आज रंगीली गणगौर छे जी।

यह कडी वर्षा के साथ मिलकर आनेवाली मीरा की आनन्दमयी दशा की सूचना पहले ही दे देती है।

इसी प्रकार कई स्थलों पर हम देखते हैं कि मीरा के गीत की कड़ियां प्रसन्नता या वेदनात्मक मनोभावों का सकेत करती हुई आगे बढती हैं।

भावावेग

गीतकवि की विशेषता तीव्र भावावेग में भी है। इसके दो स्वरूप हैं : एक तो शैली की ओजस्विता मे है और दूसरा हृदय के तीव्र उद्रेक की मात्रा में। मीरा ने कई स्थलों पर तीव्र भावावेग प्रकट किए हैं। उसकी यह तीव्रता वेदनात्मक स्वरूप मे ही मिलती है--

मैं बिरहिनि बैठी जागूं जगत सब सोवै री आली !

भावावेग का दूसरा प्रकार भी मीरा मे है, पर अधिक मात्रा मे नही। सरल और शान्तिप्रिय स्त्री-हृदय ने दयनीय दशा से अपनी प्रिय वेदना प्रकट की, उसके मनोवेग सच्चे और सारगर्भित हैं। उनमे उन्माद कम है। भावावेग की तीव्रता का अश सूरदास मे बहुत अधिक है। यथा,

आजु हौं एक एक करि टरिहौं ।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं ।।

—सूर

फिर भी मीरा के आत्माभिमान और भावों की ओजस्विनी व्यजना का एक अच्छा स्वरूप यह है·

राणाजी मैं न रहूंगी तोरी हटकी ।
साध संग मोंहि प्यारा लागे लाज गई घूंघट की ।।
पीहर मेडता छोडा अपना सुरत निरत दोउ चटकी ।
सतगुर मुकट दिखाया घट का नाचूंगी दे दे चुटकी ।।
हार सिंगार सभी ल्यो अपना चूड़ी कर की पटकी ।
मेरा सुहाग अब मोकू दरसा और न जानै घट की ।।
महल किला राना मोंहि न चहिए सारी रेसम पटकी ।
हुई दिवानी मीरा डोलै केस लटा सब छुटकी ।।

कल्पना

मीरा की कल्पना अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है। उसमे चकित करने का गुण नही है। वह अपने प्रियतम को निकट ही देखती थी, इसलिए उसे सूर की भाति ऊची उड़ान भरने की आवश्यकता ही न पडी--

मेरे पिया मो मांहि बसत है कहूं न आती जाती ।

इसमे सन्देह नही, कभी-कभी उसकी कल्पना गूढ़ रहस्य की ओर सकेत करती है, किन्तु बहुत कम। प्राय. गीतकवि भावुकता और तन्मयता मे डूबकर बडी ऊची कल्पना करते हुए अपने मनोराज्य मे एक आनन्दमयी सृष्टि करते है। सूर की अद्भुत और व्यापक कल्पना हिन्दी काव्य-ससार मे एक ही चीज है। जो उदात्त और भव्य कल्पना सूर की है वह मीरा मे मिल ही नही सकती। निश्छल और भोले हृदय मे कल्पना की विमोहक सृष्टि नही बना करती। कल्पना के प्रवाह मे जीव अपना अस्तित्व भूल सत्य से परे हो जाता है। कल्पना कवि की उमगमयी दशा का प्रतिविम्ब है, स्वाभाविक रूप का नही। उसे विषम सौदर्य की उपाधि दी जा सकती है। वह आदरणीय है, लय कर लेने योग्य नही। इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि मीरा की कल्पना मे सत्य का अश विशेष है।

संगीत

गीतिकाव्य का अस्तित्व ही मगीत पर है। मीरा के गीतों मे यह गुण विशेष रूप से प्रकट हुआ है। उसके हृदय की दशा से मिलकर गीत की स्वरलहरी मे किलकारी या कम्पन उत्पन्न होता है। उसके मानसिक आवेगो का चित्रण हम उसी राग या रागिनी में देखते है जो उसकी तात्कालिक दशा प्रकट करने मे विशेष उपयुक्त है। सूर्य के

उतार के साथ 'केदारा' की करुण रागिनी बिखेरता हुआ जोगी का यह स्वर है :

जोगी मत जा मत जा मत जा, पांय पड़ूं मैं चेरी तेरी हौं।

यह स्वर ही गीत की व्यथा को प्रकट कर देता है।

एक तो नारी का कण्ठ, दूसरे ब्रजभाषा का लालित्य। ऐसी दशा मे मीरा के गीत स्वत· ही सगीत के स्वर-सधान से फूटते हुए प्रवाहित होते है। वास्तव में स्त्री स्वय एक गीत है। कदाचित ही ससार का कोई ऐसा नारी-हृदय हो जिसके रग-रग मे यह गुण व्याप्त न हो। ऋतु, काल, भावना और शब्द-ध्वनि इन चारो का ऐसा सामजस्य मीरा के गीत मे हुआ है कि एक बार उससे जो कम्पन उत्पन्न होता है उसकी धुन हम इच्छानुसार पुन याद कर मीरा के उद्गारो का प्रकृत चित्र देखने लगते है। उसके गीत सगीत के साथ-साथ भावों से ओत-प्रोत हैं और विशद अर्थ के बोधक हैं।

इन गीतो की यह विशेषता है कि शब्दो की गति ताल के अनुसार है, छन्द की मात्रा के अनुसार नही। कभी-कभी उसकी लय ऐसी उतरती-चढती है कि मीरा के नृत्य की झलक सामने आ जाती है·

रे सांवलिया म्हारे आज रँगीली गणगौर छे जी।

आज और **रंगीली** पर गिरने वाली ताल घुघरू की धुन की याद दिला देती है।

झूले के उतार-चढाव का दृश्य सावन की इस रागिनी के शब्दो की गति से स्वय प्रकट हो रहा है

बरसै बदरिया सावन की, सावन की मनभावन की।

मीरा के अनेक पद ऐसे है जो बिना गाये पढे ही नही जा सकते। उसके सगीत की एक यह भी विशेषता है कि वह हमारे दैनिक जीवन से मिला हुआ है और हमारी सुकोमल मनोवृत्तियो को जगाकर मीरा के साथ सहानुभूति उत्पन्न कर देता है। स्त्रियो की ढोलक का कितना स्वाभाविक स्वर इस कडी मे निकल रहा है

भाभी मीरा लाजे लाजे गढ़ चित्तौड़।
राणाजी लाजे गढ़ रा राजवी॥

रहस्यवाद

मीरा के गीतो मे कभी-कभी सन्तो के ज्ञानात्मक रूपकों का आभास मिलता है। प्रेम और विरह का स्वाभाविक निवेदन करने के पश्चात वह कुछ चेतावनी देती हुई प्रतीत होती है। दीनता और विवशता से प्रारम्भ होकर गीत जब उपदेश देने लगता है तो उसका प्रभाव कुछ नष्ट हो जाता है। परन्तु वह केवल परिस्थिति का प्रभाव था। इसमे मीरा की भक्ति-भावना मे ज्ञानियो के सिद्धान्त-निरूपण का प्रयास करना उचित नही। इस प्रकार के धार्मिक गीतो मे भी मीरा का भावुक हृदय गिरधर का ही प्रेम प्रकट करता है, उसमे ज्ञानियों के शून्य का ध्यान नही है।

कुछ थोडे से गीत शुद्ध योग और ज्ञान-सम्बन्धी भी है, पर उनमे ईश्वर या आत्मा के सम्बन्ध मे कोई रहस्य नही प्रकट किया गया है, केवल सन्तो की शैली का उन्हे अनुकरण-मात्र ही समझना चाहिए। ऐसे पदों मे तीर्थ, व्रत, तिलक आदि की निन्दा की गई है और ससार की अनित्यता के सम्बन्ध मे सन्तो की प्रचलित भावना भी उनमें है। मीरा की भक्ति से कुछ थोडा-सा विरोध यहा देख पडता है, किन्तु इस प्रकार के पदो के सम्बन्ध मे यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि ये मीरा के ही रचे हुए है। यदि मान भी ले कि उन्ही के रचे है तो यही समाधान हो सकता है कि प्रेम पराभक्ति की ऊची अवस्था पर पहुच जाने पर लौकिक धर्माचारो को वह तुच्छ समझती थी। अपनी अनन्यता के वश ही वह कहती है.

नहिं हम पूजा गोरज्याजी नहिं पूजा अनदेव।
परम सनेही गोविंदो छे कांई जानो म्हारो भेद॥

जोगिन भी वह बनना चाहती है तो कृष्ण के साथ ही हम उसे देखते हैं·

मुद्रा माला भेष लूंरे खप्पड़ लेऊं हाथ।
जोगिन होय जग ढूंढ सूं रे रावलिया के साथ॥

निस्सन्देह, कई स्थलों पर मीरा जगत के नाना रूपो में एक अव्यक्त सत्ता का आभास पाती है। ज्ञान-पक्ष में वही ब्रह्म हो जाता है और भक्ति-पक्ष मे प्रेम का कोई आलबन—कृष्ण या राधिका इत्यादि। प्रेमिका अपनी तन्मयता के कारण प्रिय की ही मूर्ति सर्वत्र देखती है। इसीलिए मीरा ने व्यंग या उपालम्भ से काम नही लिया है और पपीहे को भी 'पपइया प्यारे' कहकर सम्बोधित किया है। वास्तव मे मीरा का सकेत-मात्र रहस्यवाद की ओर है और उसमे भी कबीर आदि सन्तो की ही साधनात्मक भावना है। यथा

नैनन बनज बसाऊंरी जो मैं साहब पाऊं।
इन नैनन मेरा साहब बसता डरती पलक न लाऊं री।
भृकुटि महल में बना है झरोखा तहां से झांकी लगाऊं री।।

सूफियो की लौकिक से अलौकिक का सकेत करने वाली घाव-खजर की यह अश्लाघ्य भावना मीरा के मधुर गीतिकाव्य मे अवश्य कुछ खटकती है

सूली ऊपर सेज हमारी किस बिध सोणा होय!

भाषा

मीरा की रचनाएं दो रूपो मे प्रधानतया मिलती है—राजस्थानी और ब्रजभाषा-मिश्रित एव गुजराती और ब्रजभाषा-मिश्रित है। पजाबी, खडीबोली 'और पूर्वी का आभास भी उसमे कई स्थलो पर है। सन्त-साहित्य की भाषा और शब्दावली का प्रभाव मीरा की रचना मे दिखलाई पडता है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि मे यह भी सम्भव है कि सन्तो मे प्रचलित होने के कारण मीरा की रचना मे सन्तो ने विशेष परिवर्तन करके सन्तशैली की छाप लगा दी हो! कारण जो कुछ हो, मीरा की भाषा असली रूप मे हमारे सामने नही है। जो मिलावट उसकी भाषा मे है, बहुत सम्भव है कि वह कई अशो मे मीरा की न हो। दूसरा कारण यह भी है कि मीरा की रचना मे कृत्रिम सौन्दर्य मिल ही नही सकता था। कही-कही प्रवाह और माधुर्य मे आघात अवश्य लगता है किन्तु भावना की हृदयग्राहिता मे बल नही पडता। शब्दो मे 'ण' का प्रयोग विदग्धतापूर्ण है। शब्दचयन की ओर मीरा की उमग प्रेरित नही हुई थी। फिर भी उसकी भाषा सरल और प्रसादगुणयुक्त है। यथा

कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृगछोना।।

गीतिकाव्य की दृष्टि से मीरा पर जो कुछ प्रकाश डाला गया है उसमे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि हिन्दी के गीत-कवियो की श्रेणी मे मीरा का स्थान बहुत ऊचा है। हिन्दी के वर्तमान आलोचक प्राय अपने सस्कारो के अनुसार प्रचलित रूढियो पर मुग्ध हो किसी भी कवि को सर्वश्रेष्ठ कह बैठते है। काव्य के विभाग मे इस प्रकार की दृढ उक्ति प्राय हानिकारक होती है। आलोचना के लिए कवि का अध्ययन अपने-अपने विभाग मे करना चाहिए। मीरा से यह आशा नही की जा सकती कि वह जायसी या तुलसीदास की भाति प्रबन्धकाव्य की रचना करने बैठती, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह अपने क्षेत्र मे उक्त कवियो से घटकर है।

गीतिकाव्य के कई अगो मे सूरदास मीरा से बहुत आगे बढ गए है, परन्तु मर्मस्पर्शी आत्मनिवेदन, हृदय की स्वाभाविक दशाओ की व्यजना, सकेतमय चित्रण, प्रकृति के सामजस्य मे हृदय का तुलनात्मक स्वरूप, नारी-हृदय का प्राकृतिक चित्र और मधुर सगीत मीरा के हृदय को जितना निकट-सा ला देते है, उतना कुछ-कुछ मर्यादित बुद्धि वाले कलाप्रिय सूरदास का हृदय नही। कदाचित हिन्दी का कोई भी अन्य कवि मीरा के कोमल और वेदनापूर्ण विदग्ध हृदय तक नही पहुच पाया है। काव्य का बाह्य शृगार मीरा मे नही है, पर उसका अमूल्य व्यक्तित्व उसका हृदय है, जिसकी पवित्रता और स्वच्छता से वशीभूत हो उसे अपना समझ हम हठात उसके उपासक बन जाते है।

वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में राधा

डा० विजयेन्द्र स्नातक

माधुर्य भक्ति को स्वीकार करने वाले वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों मे राधा का स्थान अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते है और उनकी पत्नी के रूप में रुक्मिणी का नाम प्रसिद्ध है। रुक्मिणी के अतिरिक्त कृष्ण की अन्य पत्नियो के नाम भी पुराण-ग्रन्थों में पाये जाते हैं, फिर राधा का नाम कृष्ण के साथ इतने अधिक सम्मान और पूज्य बुद्धि के साथ क्यों ग्रहण किया जाता है यह विचारणीय है। राधा को कृष्ण की वामाग सम्यता कहा जाता है और साथ ही उनकी 'ह्लादिनी शक्ति' भी माना जाता है। एक ओर वह समस्त लीलाओं की सचालिका हैं तो दूसरी ओर कृष्ण-द्वारा आराध्या भी हैं। इस विलक्षण स्थिति पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकालना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कृष्ण के विष्णु-रूप की माधुर्य भाव से कल्पना करते समय उसे केवल ऐश्वर्यमडित ही न मानकर माधुर्यमडित भी माना गया और इस भाव की परिकल्पना ने राधाभाव को पूर्ण विकास पर पहुचाया। वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायो के अतिरिक्त शैव एव शाक्त मत मे शक्ति की कल्पना मिलती है जिसे कुछ विद्वानो ने राधातत्त्व का ही रूपान्तर माना है। किन्तु हम यहां केवल माधुर्य-भक्ति से सम्बद्ध चैतन्य, निम्बार्क और राधावल्लभीय सम्प्रदायो पर ही विचार प्रस्तुत करेंगे। अन्य सम्प्रदायो का विवरण अनावश्यक समझकर छोड़ दिया गया है। सहजिया सम्प्रदाय भी अपने को वैष्णव ही कहता है किन्तु उसमे माधुर्य का रूप मर्यादा-विहित नही है। वामाचार पद्धति के सम्मिश्रण से सहजिया वैष्णवों की भावना शाक्त मत के मेल मे अधिक है, वैष्णवों की निष्ठा-साधना तथा भागवत परम्परा का उसमें निर्वाह प्राय नही है।

चैतन्य-सम्प्रदाय में राधा

चैतन्य महाप्रभु के जीवन की प्रमुख घटनाओं मे उनका राधाकृष्ण-प्रेम कदाचित सबसे बडी घटना मानी जाएगी, क्योंकि इसी अद्भुत प्रेम ने उन्हे धार्मिक क्षेत्र मे समर्थ क्रान्तिदूत के रूप मे प्रस्तुत किया है। चैतन्य के उद्भवकाल मे बगाल, आसाम तथा बिहार मे शाक्त मत का प्राबल्य था। शक्तिपूजा के नाम पर जो भीषण एव बीभत्स कृत्य हो रहे थे, जनता को उनसे विमुख करने मे राधाकृष्ण-कीर्त्तन, भजन और पद-गायन की परिपाटी ने चमत्कारपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किये। चैतन्य के विषय मे प्रसिद्ध है कि वह स्वय चंडीदास और विद्यापति के पदों का उन्मत्त भाव से गान करते हुए उनमे लीन हो जाते थे। उनकी तल्लीनता का आवेश भक्ति के निर्झर का उत्स बनकर उन्हे ही नहीं, समस्त परिकर और परिवेश को भी उसी भक्तिरस में निमज्जित कर देता था। यह भी प्रसिद्ध है कि चैतन्य महाप्रभु को दक्षिण की यात्रा मे दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए थे जिनका नाम 'ब्रह्मसहिता' और 'कृष्णकर्णामृत' है। ये दोनों ग्रन्थ चैतन्य महाप्रभु को परम प्रिय थे और ये उन्हे राधाभक्ति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण समझते थे। इन दोनो ग्रन्थो मे राधा का नाम ही नही, वरन राधा का वर्णन भी मिलता है। चैतन्य को राधा-भक्ति की जो परम्परा अपने से पूर्ववर्ती सस्कृत तथा ब्रजवुलि-साहित्य मे मिली थी, उसे उन्होंने पूरी तरह स्वीकार किया और अपनी साधना मे उसे नवीन रूप देकर व्यापक एव सर्वजन-सुलभ बनाया।

चैतन्य-सम्प्रदाय के 'प्रेमविलास' तथा 'भक्तिरत्नाकर' ग्रथ मे यह भी लिखा मिलता है कि वृन्दावन में

राधा की कृष्ण के साथ उपासना सोलहवीं शताब्दी से पहले प्रचलित नही थी। जब नित्यानन्द प्रभु की द्वितीय पत्नी जाह्नवी वृन्दावन गई और उन्होने देखा कि वृन्दावन मे श्रीकृष्ण के साथ राधा की पूजा नही होती, तब उन्होने नयन-भास्कर नामक व्यक्ति से राधा की मूर्त्ति तैयार कराकर वृन्दावन भेजी और वह मूर्त्ति जीव गोस्वामी के निर्देश पर श्रीकृष्ण के साथ स्थापित की गई। इससे पूर्व विष्णु की या बालकृष्ण की ही पूजा होती थी और उसी की मूर्त्ति रहती थी। इस किम्वदन्ती मे कितना सत्य है, यह नही कहा जा सकता। किन्तु राधा की पूजा से पहले बालकृष्ण की पूजा का प्रचार था यह तो सभी स्वीकार करते हैं, और इसमे भी विशेष विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए कि राधाकृष्ण की युगल उपासना का रूप भक्ति-क्षेत्र मे आठवी शताब्दी मे विदित था। अत· 'प्रेमविलास' ग्रथ की उक्त चर्चा को सर्वथा प्रामाणिक या असदिग्ध रूप से स्वीकार नही किया जा सकता।

परकीया भाव

चैतन्य सम्प्रदाय मे राधा का वर्णन परकीया-कान्ताभाव से किया गया है। राधा का सागोपाग विवेचन करनेवाले श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थो मे जिस रूप मे राधा का वर्णन है वह परवर्ती माधुर्य भावपरक भक्ति-सम्प्रदायों में अनेक रूपो मे स्वीकृत और समादृत हुआ है। राधा को परकीया रूप मे वर्णन करने का मुख्य प्रयोजन प्रेमातिशय विधान कहा जाता है।[1] परकीया भाव के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के विवाद भक्ति-सम्प्रदायो मे पाये जाते हैं। परकीया भाव को प्रेम की चरम उत्कर्ष की स्थिति मानते हुए भी मर्यादावादी समाज मे यह पद्धति सर्वतोभावेन ग्राह्य नही होती।

परकीया भाव को स्पष्ट करने के लिए हम चैतन्य के पश्चात बगाल में जो सहजिया सम्प्रदाय विकसित हुआ, उसके परकीया-सम्बन्धी मन्तव्यों का सक्षेप मे उल्लेख करना आवश्यक समझते है। सहजिया सम्प्रदाय का परकीया भाव चैतन्य के परकीया भाव से सर्वतोभावेन साम्य नही रखता। उनकी परकीया की परिकल्पना साधना-परक होने से नवीन दिशा का संकेत देती है किन्तु परकीयात्व का मूल भाव उन्होने चैतन्य से ही ग्रहण किया प्रतीत होता है। इससे सिद्धान्त-प्रतिपादन मे भी उन्होने 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि ग्रथो का आश्रय लिया है। श्री मणीन्द्रमोहन वसु ने अपने 'पोस्ट सहजिया कल्ट' नामक ग्रथ मे परकीया भाव का रूप स्थिर करते हुए चैतन्य के शिष्य-वर्ग के ग्रथो का प्रचुर मात्रा मे उपयोग किया है जो इस बात का द्योतक है कि परकीया भाव का मूल स्रोत चैतन्य मत के सिद्धान्त-प्रतिपादन करने वाले ग्रथो मे ही है।

परकीया का शाब्दिक अर्थ है दूसरे की (स्त्री)। काव्यशास्त्र मे परकीया का अर्थ है

रागेनैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानुपेक्षिणा।
धर्मेणास्वीकृता यास्ता परकीया भवन्ति नाः॥

—उज्ज्वलनीलमणि (कृष्णवल्लभा)

वह स्त्री जो इस लोक या परलोक को छोडकर उस पुरुष के प्रेम मे लिप्त है जिसके साथ वह विधिपूर्वक विवाहित नही है, उसे परकीया कहते है। इसके विपरीत स्वकीया उसे कहते है जो विधिपूर्वक एक पुरुष के साथ विवाहित है और जो अपने पति की इच्छाओ को पूर्ण करने मे तत्पर रहती है।

करग्रहविधिं प्राप्ता पत्युपादेशतत्परा.।
पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीया कथिता इह॥

—उज्ज्वलनीलमणि

परकीया भाव को मानने वाले वेद और उपनिषद मे इसका सम्बन्ध जोडते है। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी

१. उज्ज्वलनीलमणि—रूप गोस्वामी, पृष्ठ ७५ से ९६ तक।
हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—रूप गोस्वामी, पृष्ठ ४२७, लहरी ५।

में बौद्धमत में भी परकीया भाव का अनुसंधान कर लिया गया है। वेद का प्रमाण देते हुए अथर्ववेद का यह मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है :

या पूर्वपतिं विद्यात्यं विन्दतेह परम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोषतः ॥
समानलोको भवति पुन भूयापरः ततिः ।
जो हजं पञ्चौदनं दक्षिणायोवित् ददाति ॥

—अथर्ववेद

अर्थात्, परकीया के सम्पर्क से मनुष्य परलोक में भी वैसा ही जीवन व्यतीत करता है। जो स्त्री अपने पूर्व पति के अतिरिक्त यदि दूसरा कोई पति स्वीकार कर लेती है तब इसके वियोग न होने के लिए उसे अनपंचोदन संस्कार करना चाहिए, यदि वह भी ऐसा ही करता है तो मृत्यु के बाद वे दोनों एक ही लोक में जाते हैं। परकीया-सम्बन्ध में स्वर्ग-प्राप्ति तक का विधान इस प्रकार खोज निकाला है।

चैतन्य सम्प्रदाय में प्रतीकात्मक परकीयाभाव की स्वीकृति है। सहजिया सम्प्रदाय में इन्द्रियों के संस्कारार्थ परकीयाभाव माना जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया भाव का ग्रहण काम-सम्बन्धों के आधार पर न होकर शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर किया गया है। राधा ईश्वर-प्रेम का आदर्श है। सामाजिक सम्बन्धों की अवहेलना करके राधा ईश्वर-प्रेम में लीन रहती है यही परकीयात्व का आदर्श है। परकीया प्रेम के प्रसंग में कैशोर का विधान किया गया है। 'चैतन्यचरितामृत' में कृष्णदास कविराज लिखते हैं कि गोपियों का सहज प्रेम ऐन्द्रिय सुख-भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। पूर्ण साधर्म्य के लिए परकीया भाव के प्रेम की कल्पना का तात्पर्य कामेन्द्रिय-तृप्ति नहीं है। चैतन्यमत में गृहीत परकीया भाव लौकिक परकीयात्व का भाव न होकर अलौकिक है। राधा के दिव्य परकीयात्व को स्पष्ट करने के लिए 'रागमयकण' तथा 'रससारग्रंथ' में लिखा है—'राधा सच्चिदानन्द के आनन्द की प्रतीक है जो कृष्ण में भी है। यद्यपि वे दोनों (राधाकृष्ण) एक हैं तथापि उन्होंने भिन्न होकर लीलाएं की हैं। कृष्णदास कविराज तो चैतन्य को कृष्ण का अवतार मानते हैं और उनके अनुसार राधा कृष्ण के अखंड आनन्द का अंश है इसीलिए उसे ईश्वर की ह्लादिनी शक्ति कहा जाता है। इस शक्ति को सांसारिक रूप में हृदयंगम करने के लिए राधा और कृष्ण विवाहित नहीं थे। ऐसी कल्पना कर ली गई है किन्तु यह सब यथार्थ में कुछ नहीं है। 'उज्ज्वलनीलमणि' के अनेक मार्मिक प्रसंगों के अनुशीलन से एक और तथ्य स्पष्ट होता है कि लौकिक रूप में परकीयाभाव का जैसा रूप समाज में गृहीत होता है उसे वैष्णव भाव में स्थान नहीं है। उनकी दृष्टि में यह परकीया भाव तो सर्वथा दूषित ही रहा है और रहेगा। अतः भक्त को इसे तात्त्विक अर्थ में समझना चाहिए। लौकिक काम-प्रेम की सीमा में परकीयात्व का बोध नहीं हो सकता।

श्री सुशीलकुमार दे ने अपने शोध-ग्रंथों में चैतन्य सम्प्रदाय में राधा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए जीव गोस्वामी के 'षट्संदर्भ' ग्रंथ का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। **श्रीकृष्णसन्दर्भ** की विषय-वस्तु को हृदयंगम कर लेने पर यह निर्धारण करना कठिन नहीं रहता कि चैतन्य के मत में राधा की प्रधानता नहीं है। भक्ति का आलम्बन श्रीकृष्ण है। उसी को रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथों में स्वीकार किया है और जीव गोस्वामी ने भी उसी मत का विस्तार किया है। शक्ति और शक्तिमान का भेद स्थापित करते हुए राधा को कृष्ण की नित्यशक्ति ही माना है तथा ह्लादिनी शक्ति का वह सर्वश्रेष्ठ रूप है। 'पूर्णात्मा' भागवत कृष्ण ही है।[1] राधा उनका अंश-मात्र है जो भक्ति द्वारा स्वयं पूर्णात्मा

1. "The Shaktimat in his infinite bliss sports with his own Shaktis; in other words the godhead realises himself in his own bliss. The Shaktis are accordingly represented in terms of human relationship considered in its emotional aspects, as his conserts or wives; and his devout yet sensuous attitude entirely humanises the deity and his conserts and presents them in a loveable human relation to their associates and Devotees Radha, who is his eternal consert and greatest Bhakta, is represented as the highest

मे लीन होने की साधना करती है। शक्ति और शक्तिमान को यद्यपि इतना अभिन्न स्वीकार किया गया है कि उनमे तात्त्विक दृष्टि से भेद होने पर भी प्रत्यक्ष मे कोई भेद नही रहता। श्री राधा का प्रेम मादनाटक महाभाव तक उन्मत्त है, परन्तु श्रीकृष्ण के स्वरूप मे मादनाटक महाभाव की अभिव्यक्ति नही है। जैसे श्रीकृष्ण अखण्ड रस-रूप है, श्री राधा भी उसी तरह अखण्ड रसवल्लभा है। श्रीकृष्ण जैसे स्वय भगवान है, वैसे श्री राधा भी स्वयं शक्तिरूपा मूलकान्ताशक्ति हैं। सोहलवी शताब्दी मे गौडीय सम्प्रदाय मे राधा को श्रीकृष्ण से ऊपर स्थान नही मिला था। शनैः-शनै ब्रजमडल की राधा-विषयक भावना का इस सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पडा। माधुर्य भाव का जो रूप शास्त्रीय था, वह कालान्तर मे स्थूल रूप मे व्यावहारिक होता गया और इस सम्प्रदाय मे राधा की प्रधानता भी बढती चली गई। आज स्थिति यह है कि व्रज के अन्य सम्प्रदायो की भाति इस सम्प्रदाय में भी राधा की प्रधानता हो गई है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा

वल्लभ-सम्प्रदाय मे राधा का वर्णन रासलीला-प्रसग मे गोपियो के अन्तर्गत हुआ है। रासलीला को आध्यात्मिक दृष्टि से अन्योक्तिपरक अर्थ द्वारा समझने के लिए कृष्ण को परमात्मा और गोपी (राधा) को आत्मा कहा जाता है, किन्तु रासलीला मे गोपिया रस की सृष्टि या आविर्भाव की स्थिति सम्पन्न कराने वाली शक्ति की प्रतीक भी हैं। राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी जाती है। डा० दीनदयालु गुप्त ने वल्लभ-सम्प्रदाय मे गोपी का स्वरूप स्थिर करते हुए लिखा है--'नित्य गौलोक मे होने वाले रसरूप कृष्ण के रास की गोपिकाए भगवान की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्यशक्ति है। राधा भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्ध-शक्ति है। एक से अनेक भगवान की इच्छा-शक्ति द्वारा अनेक अक्षर ब्रह्म रूप से सत् रूप जगत् और चिद् रूप जीव, देवता आदि की उत्पत्ति हुई और स्वय आनन्द-स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गोप-गोपी आदि गौलोक की आनन्दरूप शक्तियो की उत्पत्ति हुई। कृष्ण धर्मी है और गोपिकाए उनका धर्म है। दोनो अभिन्न है, सिद्ध शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चादनी का है। भगवान की रस-शक्तियो के बीच की रस की सिद्धशक्ति राधा स्वामिनी रूपा है। भगवान रस-शक्तियो के बीच पूर्ण रमशक्ति स्वरूपा राधा के वश मे रहते है।'[1] इस वक्तव्य मे राधा-कृष्ण की अश-स्वरूपा शक्ति के रूप मे उनका अभिन्न रूप मानी गई है। यह स्पष्ट है कि गोपियो मे स्वामिनी और प्रमुख होने पर भी राधा कृष्ण का अश ही है, अशी तो स्वय भगवान कृष्ण ही है।

अष्टछाप के कवियो ने गोपियो का तथा राधा का वर्णन ब्रह्मवैवर्त्त पुराण तथा भागवतपुराण के आधार पर किया है। गोपीभाव को जिन दो रूपो मे विभक्त करके वर्णन किया गया है उनमे ईश्वर की आनन्द-विधायिनी तथा सृष्टिकारिणी शक्ति रूपा गोपी प्रथम कोटि मे आती है, दूसरी गोपी वह है जो कान्ताभाव से ईश्वर की भक्ति करके अपने को धन्य करती है। इनके रसशक्ति तथा सिद्धभक्ता नाम भी दिये गए है।

सूरदास ने राधा का वर्णन आध्यात्मिक रूप मे भी किया है। राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष मानकर कही-कही अभेद-रूप मे अद्वैत की भी स्थापना की गई है।[1]

एक दूसरे पद मे जगत्-उत्पादिका शक्ति के नाम मे भी राधा का वर्णन है। अष्टछाप के कवियो ने राधा के वर्णन मे वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित शुद्ध दार्शनिक भाव ही तक अपने को सीमित न रखकर माधुर्य भक्ति के क्षेत्र मे राधा का जो रूप स्थिर हो रहा था, उसे भी समेटा है। स्वकीया-परकीया की दृष्टि मे अष्टछाप के कवियो ने राधा

form of his Hladini Shakti."

+ + + +

The Shaktis are non-different from the Bhagavat, inasmuch as they are parts or Ansha of the divine being, but the very fact that they are parts only makes the Superlativeness of divine attributes in applicable to them, and there is thus an inevitable difference in Bengal.

'Vaishanava Faith & Movement in Bangal, Page 214 —Dr. S. K. Dey.

१. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ५०५—६।

को स्वकीया के रूप में ही चित्रित किया है। सूरदास ने स्पष्ट रूप से राधा का कृष्ण के साथ विवाह वर्णन किया है।[2] नन्ददास ने **रासपंचाध्यायी** मे गोपियों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्हें सिद्ध कोटि की पुनीत आत्मा कहा है।[3]

वल्लभाचार्य ने कृष्ण की अतरग और बहिरग दो शक्तिया मानकर बहिरग में माया को स्थान दिया है और अतरग मे सन्धिनी, सवित और ह्लादिनी को रखा। ह्लादिनी ही राधा है। गोपियों को राधा के अग-रूप में स्वीकार किया है। गोपियो के विभिन्न नाम-रूप गिनाने का भी यही कारण है। सूरदास ने गोपियों के नाम भी गिनाये है।

यथा मधुरिमा नीरे स्पर्शनं भासते तथा।
गन्धः पृथिव्यामनघो राधिकेयं तथा हरौ॥

कह कर राधा की व्यापकता और कृष्ण से अभिन्नता की गई है। राधा के वशवर्ती श्रीकृष्ण का भी कही-कही वर्णन हुआ है।[4]

सूर ने राधा को परकीया नही माना है अत उसको परकीया-रूप मे वर्णन भी नही किया है। हा, परकीया भाव मे जैसी मन स्थिति होती है उसका वर्णन अवश्य किया है। 'लोक लाज कुल कानि' की मर्यादा के सामने आने से वह असमजस मे पडी हुई सोचती है कि अब क्या करू। इस वर्णन मे वह कृष्ण से इसी रूप मे मिलती है जैसे परकीया नायिका लुक-छिपकर अपने प्रियतम से भेंटती है। मिलने के लिए नाना प्रकार के बहाने खोज लेना, दोनो ओर से चलता है।

इसके बाद स्वकीया भाव का पूरा वर्णन है। यहा मानवती और गौरवशालिनी चित्रित की गई है। कृष्ण दक्षिण नायक है। राधा फिर भी अनन्य भाव से उन्ही का ध्यान करती है। इस प्रसग मे सूर ने दम्पती-विहार का वर्णन किया है। मान के साथ खडिता का भी वर्णन है। मोहन का नाम सुनते ही राधा का सारा मान क्षण भर मे विलीन हो जाता है। मान के लिए विविध कारण सूरदास ने प्रस्तुत किए है। एक कारण यह भी था कि कृष्ण अन्य नायिकाओ के पास रात मे मिलने जाते है। एक बार मानवती राधा जब किसी तरह मान-मोचन मे समर्थ न हुई तो कृष्ण ने दर्पण मे पीछे से खड़े होकर नेत्र से नेत्र मिलाए। बस, राधा का सारा मान क्षण भर मे विलीन हो गया। वसन्त और झूले के प्रसग मे राधा दम्पती-रूप मे वर्णित हुई है।

---

१. सूरसागर – दशम स्कन्ध, वेंकटेश्वर प्रेस, पृष्ठ ३४५।

२. जाको व्यास वर्णित रास।
है गंधर्व विवाहन्वित दै सुनो विविधि बिलास॥
कियो प्रथम कुमारि यह व्रत धरयो हृदय निवास।
नन्द सुत पतिदेव, देवी पुजै मन को आस॥

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृष्ठ ३४७

३. धन्य कहत भई ताहि नाहि कछु मन में कोपा।
निरमत सर जे सन्त तिन नि चूरामनि गोपी॥
इक नीके आराधे हरि ईश्वर वर जोई।
ताते अधर सुधारस निधरकपावत सोई॥

—नन्ददास, रासपचाध्यायी अ० २, पृष्ठ १०७
रामचन्द्रशुक्ल-सम्पादित

४. पुनि पुनि कहत है ब्रजनारि।
धन्य बहुभागिन राधा तेरे वश गिरधारि।
धन्य नन्द कुमार धन्य तुम धन्य तेरी प्रीति।
धन्य तुम दोऊ नवल जोरी कोककला निजीत॥
हम विमुख तुम करुण सौतिन प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित दुहिन एक सनेह।
एक छिन बिनु तुमहि देखे स्याम धर तन धीर।
मुरलि ये तुम नाम पुनि पुनि कहत है बलवीर।

—सूरसागर ना० प्र० स० २४६०।

राधा का अन्तिम चित्र 'भ्रमरगीत' के पदो मे वियोगिनी राधा का है। इस वर्णन मे राधा का प्रेम मुखर न होकर अन्तर्मुख, शान्त और गम्भीर है। यशोदा तथा गोपियां तो विलाप करती है किन्तु राधा गम्भीर सोच मे मग्न, नीचा सिर किये, नख से हरि का चित्र बनाती हुई दिखाई गई है। वह कृष्ण के पास अपना सन्देश न भेजकर ब्रज के गोप-गायो का सन्देश भेजती है। हरि के वापस न आने पर अपने प्रेम मे ही त्रुटि देखती है। 'माधव-माधव' रटती हुई तद्रूप हो जाती है। गोपियो ने उद्धव से कहा था कि 'अति मलीन वृषभानुकुमारी'। इस पद मे राधा की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का बडा ही सटीक वर्णन किया गया है। उद्धव ने मथुरा पहुच कर कृष्ण से राधा का जैसा रूप देखा था वैसा ही कहा।

राधा माधव मिलन का अन्तिम दृश्य, राधा-माधव मे अभेद स्थापित करने वाले गम्भीर अर्थ का द्योतक है। यही दार्शनिक भाव वल्लभाचार्य को अभीष्ट था।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा

निम्बार्क-सम्प्रदाय मे राधा को भक्ति की परमाराध्या देवी स्वीकृत किया जाता है। कुछ विद्वानो की ऐसी धारणा है कि राधाकृष्ण भक्ति की युगल उपासना का उदय इसी सम्प्रदाय मे सर्वप्रथम हुआ। निम्बार्क-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तो मे, जो दशश्लोकी तथा अन्य ग्रथो पर आश्रित है, राधा को श्रीकृष्ण के साथ स्थान प्राप्त है। दशश्लोकी के आठवे श्लोक मे स्पष्ट ही 'नान्या गति. कृष्णपदारविन्दात्' कहकर श्रीकृष्ण के ध्यान करने का आदेश होने पर भी 'अगे तु वामे वृषभानुजा' कहकर 'स्मरेम देवी सकलेष्टकामदाम्' मे राधा का स्मरण कहा गया है। इस राधा-भाव को परवर्त्ती भक्तों ने पूरी तरह ग्रहण किया और इसी को मुख्यता देकर ब्रज भाषा के वाणी-ग्रथो मे विस्तार मे उपस्थित किया।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की भावना मे राधा स्वकीया है। स्वकीयाभाव को प्रतिपादित करने के लिए पुराणो के विविध प्रसगो को भी स्वपक्ष मे उदाहृत किया जाता है। रायाणपत्नी राधा को यहा कोई स्थान प्राप्त नही। रायाण की कथा को यह कहकर असत्य ठहराया जाता है कि जिस छाया राधा का रायाण से परिणय हुआ था, वह केवल मूर्खों के अज्ञान को दूर करने के लिए भगवान की एक लीला थी। वस्तुत राधा-कृष्ण का नित्य दाम्पत्य सम्बन्ध है। यह दाम्पत्य अलौकिक एवं दिव्य होने से वर्णन का विषय नही आता।

नित्यमेव हि दाम्पत्यं श्रीराधाकृष्णयोर्यतः।
पाणिग्रहणसम्बन्धो वर्ण्यते न च वर्ण्यते ॥
रसत्वं रसिकत्व च श्रीयुग्मे सुप्रतिष्ठितम्।
दाम्पत्यं च तयोर्नित्यं तथात्वे कारणं यतः ॥[1]

शृगार रस को इस सम्प्रदाय मे भी वैष्णव भक्ति के माधुर्य पक्ष को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायो के समान प्रधान स्थान प्राप्त है। अत. शृगार के सयोग-पक्ष, केलि-क्रीडा आदि के सम्पादनार्थ कान्ताभाव मे दाम्पत्य भाव से ही राधा-वर्णन हुआ है। शृगार को मूलाधार मानते हुए राधा मे ही उसकी निष्पत्ति स्वीकार की जाती है।

द्विदलात्मको हि शृंगारालम्बनद्वयभेदतः।
तत्रैकं तु रमारूपं द्वितीयं विष्णुरूपकम् ॥
परमैव रमा राधा परमाह्लादविग्रहा।
विष्णुस्तु परमः कृष्णः परमानन्दविग्रहः ॥
अतो राधा च कृष्णश्च दम्पती वु सनातनौ।
रसस्य परमं रूपं यत्परं मधुरं सुखम् ॥
शृंगारस्याधिदेवत्वंमरास्तस्मित्प्रतिष्ठितम्।

१—श्रीयुग्मतत्त्वसमीक्षा—ले० भगीरथ झा मैथिल, पृष्ठ २५२, दशममयूख, रस-प्रकरण।

यद्वस्तुनः पराकाष्ठा यस्मिन्वबे प्रतिष्ठिता ।
तद्वस्तुनोऽधियो देवः स इत्येव व्यवस्थितिः ॥

श्रीभट्ट-लिखित 'युगलशतक' और हरिव्यास देवाचार्य-प्रणीत 'महावाणी' मे राधा का स्वरूप माधुर्य-भक्ति के सर्वथा अनुकूल और निर्गुण-भावना को लक्ष्य मे रखकर वर्णित हुआ है। वर्तमान युग मे नित्य विहार की दृष्टि से राधा को प्रमुख स्थान प्राप्त होना स्वाभाविक है। राधा का दार्शनिक दृष्टि से जहा कही वाणी-ग्रथो मे विवेचन प्रारम्भ हुआ है वहा राधा शक्ति के रूप मे ही आई है। युगल-शतक और महावाणी-ग्रथों के राधा-वर्णन को पढकर निम्बार्क-सम्प्रदाय की राधा-भावना बहुत ही उज्ज्वल और गरिमामयी प्रतीत होती है।

प्रियाशक्ति आह्लादिनी प्रिय आनन्दस्वरूप ।
तनु वृन्दावन जगमगे इच्छासखि अनुरूप ॥
कोटिन कोटि समूह सुख रुख लिए इच्छाशक्ति ।
प्राणेश हि प्रभुदावही प्रमदावली अनुरक्ति ॥

'युगलशतक' के दोहों मे राधा-कृष्ण का स्वरूप अधिक सुन्दर रूप मे प्रदिपादित हुआ है। वर्त्तमान समय में राधा को ही इस सम्प्रदाय मे भी प्रमुख स्थान मिला हुआ है। राधा के बिना कृष्णाराधन का विधान नही है। राधा ही परमाराध्या सर्वशक्ति के रूप मे स्वीकृत की जाती है।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधा

राधावल्लभ-सम्प्रदाय मे राधा को उस अनादि वस्तु का नित्य रूप स्वीकार किया गया है जो इस अखिल ब्रह्माड मे व्याप्त होकर अपनी नित्य क्रीडा से आनन्द की अभिव्यक्ति करती रहती है। वह अवाङ्-मनोगोचर होने पर भी अनभुवैकगम्य है। निर्गुण, निर्विशेष और निराकार रूप मे उसका कही वर्णन नही किया गया। और न उसे केवल योगियो की निर्विकल्प समाधि का विषय ही माना गया। भक्त रूप जीव जब अपने निज रूप (सहचरी) को प्राप्त करके उससे दर्शन मे प्रवृत्त होता है वह तभी माधव के साथ केलिक्रीडा-निरत अपनी आनन्ददायिनी दिव्य छटा की आभा बिखेरती हुई निकुज-रध्री मे देखी जा सकती है। वह दर्शन भौतिक न होने हर भी निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण और भवबन्धनो को उच्छिन्न करने वाला है। आस्तिक दर्शनो मे जिस प्रकार भगवान को सच्चिदानन्द-स्वरूप मानकर उसकी शक्ति का वर्णन किया जाता है तथा कतिपय वैष्णव सम्प्रदायो मे उसी सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की 'आह्लादिनी शक्ति' का राधा नाम से व्यवहार किया जाता है, वैसा 'शक्ति' और शक्तिमान का भेद इस सम्प्रदाय मे नही है। यहा तो राधा स्वय आनन्दस्वरूप है। श्रीकृष्ण-आनन्द का नाम ही राधा है। राधा नित्यभाव है। उनका विहार भी नित्य है, रास भी नित्य है। यह भाव किसी बाह्य लौकिक कर्म, ज्ञानादि से अवगत नही होता अत इसे ज्ञानकर्मादिसस्पर्शशून्य कहते है। केवल प्रेमभाव, हितभाव ही राधा के स्वरूप-ज्ञान का मार्ग है, वह स्वय राधा-भाव का ही नाम है। वह श्रीकृष्ण की उपासिका, आराधिका नही, वरन् श्रीकृष्ण की उपास्या, आराध्या है। वैसे दोनो क्रीडा के लिए प्रिया-प्रियतम रूप है, श्रीकृष्ण के एक राधा है और राधा के एक कृष्ण। यहा न कोई साधक है, न कोई साधना है और न कोई साध्य है। दोनो ही 'श्रीतत्त्व' के रूप है। दोनो एक है और एक होकर ही दो बने हुए है। परस्पर तत्सुखि-भाव से रसास्वादन के लिए नित्य प्रेमलीला करते है, विहार करते है और उसी मे लीन हैं। उनका साम्राज्य ही विचित्र है। कामना-वासना-विहीन नित्य विहार मे लीन रहने वाली राधा इस सम्प्रदाय में सर्वोपरि विराजमान है।[1]

१—राधासुधानिधि—

यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिका मूर्ध्ना निधातुं नहि,
प्रापुर्ब्रह्म शिवादयोप्यधिकृति गोप्येकभावाश्रयाः ।
सापि प्रेमसुधारसाम्बुधिनिधि राधापि साधारणा,
भूता कालगतिक्रमेण बलिना हे दैव तुभ्यं नमः ॥

श्लोक-सख्या ७२

श्री हित हरिवंशजी ने अपने ग्रंथो मे राधा का स्वरूप निर्धारण करते हुए उसे 'रसरूप' कहा है। 'आर्य पदावली' में 'रसो वै स' द्वारा जिस तत्त्व का बोध कराया जाता है और 'नेति-नेति' कहकर जिस दिव्य वस्तु का अनिवर्चनीयत्व स्थिर किया जाता है श्री हरिवंशजी के मत मे वही तत्त्व 'राधा' है। इसलिए अन्य वैष्णव-सम्प्रदायो मे अवतार रूप मे वर्णित स्वकीया-परकीया कान्ताभाव-पूर्ण राधा को यहा स्थान नही है।

'हितचौरासी' मे श्री हितहरवंशजी ने राधा का वर्णन विभिन्न स्थितियो के आधार पर किया है। ये चौरासी पद तथा स्फुट वाणी के भी अधिकाश पद राधा-वर्णन से ही सम्बन्ध रखते है। इन वर्णनो को मुख्य रूप मे तीन भागो मे विभक्त कर सकते है। प्रथम भाग मे उन पदो को स्थान मिलेगा जो राधा के नेत्र, वदन, उरज, वक्ष स्थल, अधर, नाभि, चरण आदि विभिन्न अगो की रूप-छवि प्रस्तुत करते है। दूसरे भाग मे वे पद है जिसमे राधा की मन -स्थिति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली मे वर्णन किया गया है, तीसरे भाग के पद नित्य विहार और रासलीला मे सम्बन्ध रखने वाले है।

'हितचौरासी' के जिन पदो मे राधा की रूप-छवि का वर्णन है वे भी राधा के स्वरूप को प्रतिपादित करने मे सहायक है। बाह्य रूप-चित्रण के माध्यम से लेखक ने उस दिव्य रूप का आभास दिया है जो स्थूल मे सूक्ष्म की ओर उन्मुख होने वाला है। राधा को सौन्दर्य की सीमा बताते हुए कवि ने उसे 'ब्रजनवतरुनि कदम्ब नागरी निरखि करति अध ग्रीवा' कहा है। आगे रूप को व्यापक बनाने के लिए देवलोक, भूलोक, रसातल कही भी उसके रूप की समता नही पाई है। बाह्य प्रसाधनों मे युक्त षोडश शृगार से मडित राधिका का वर्णन शृगारपरक भावना से करते हुए उसे, मदन को जीतने वाले को अपने भृकुटि-विलास से जीतने वाली, कहा गया है। रूपवर्णन मे नेत्रो का वर्णन सबसे अधिक पदो मे है। नेत्रो मे जिस ज्योति तथा सौन्दर्य की कल्पना की गई है वह सामान्य न होकर असाधारण तेज-दीप्ति, कान्ति मे परिपूर्ण है। रीतिकालीन कवियो ने नेत्रवर्णन को 'नखशिख' का प्रधान विषय बनाया था। हितहरिवंशजी का एक पद नेत्र-वर्णन के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसकी छाया बाद के अनेक कवियो मे दृष्टिगत होती है। नेत्र-वर्णन के लिए हितचौरासी के पद विशेष रूप मे पठनीय है।

रसमार्ग मे 'रूप' को आकर्षण का केन्द्र स्थिर किया है। रस-रूपी रस्सी के दो छोर है। पहला सिरा है राग, जो साधक के मन मे उत्पन्न होता है और उसी के पास रहता है। दूसरा छोर जो, उसे आकृष्ट करता रहता है, प्रियाजी का रूप है। इस रूप-छवि-दर्शन के लिए साधक का राग सतत वर्धमान रहता है। रस की रस्सी का यह दूसरा छोर इतना निर्मल और पवित्र होता है कि साधक कभी कालुष्य के पक मे नही फसता और उसे पकड पाने के लिए अपनी समस्त रागपूर्ण साधनाओ से अपने को योग्य बनाता है।

राधा की मन स्थिति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली मे चित्रण करने वाले पद 'चौरासी' मे यत्र-तत्र बिखरे पडे है। राधा की मनःस्थिति को लौकिक शैली मे प्रस्तुत करके राधा की कृपा, प्रियतम के प्रति अमृत-रस की वर्षा करने का भाव, प्रस्फुटित किया गया है। मोहनलाल के रस मे मतवाली राधा केलि-क्रीडा करने के बाद जिस आनन्द का अनुभव कर रही है वह उस आनन्दानुभूति का प्रतीक है जो श्रुतियो मे अनिवर्चनीय मानी जाती है।

राधा को परात्पर तत्त्व मानने और उसके सर्वशक्तिमती होने से उसके शक्ति-रूप मे उपास्य होने का सन्देह होना सम्भव है। किन्तु शक्ति की आराधना की परिपाटी और उसके स्वरूप को समझ लेने पर यह सन्देह दूर हो जायगा। शक्ति की आराधना के लिए तात्रिक कर्मकाड मे जिन लौकिक कृत्यो का विधान है वैसा कोई विधान राधा की उपासना के लिए नही है। शक्ति की आराधना करने वाले उसे 'जगज्जननी माता' के रूप मे समझते है। माता के चरणो मे श्रद्धावन्त होकर उसके वात्सल्य की कामना करते है। शक्ति अपने पुत्रो को प्रसन्न होकर वरदान देती है। मातेश्वरी शक्ति का ऐश्वर्यजनित रूप भक्तो के आगे आतकपूर्ण होकर आता है, उसके प्रति भयमिश्रित भावना के साथ भक्त उसकी कृपाकाक्षा से आगे बढता है। किन्तु राधा की कल्पना कही भी माता के रूप मे नही है। रस-सृष्टि के लिए मातृत्व-पूर्ण वात्सल्य की अपेक्षा न होकर प्रिया के कृपा-कटाक्ष की ही कामना की जाती है। राधा के जिस रूप का दर्शन नित्य विहार मे सहचरी (जीवात्मा) को काम्य होता है वह भय, उद्वेग, आतक आदि किसी लोमहर्षक भाव मे युक्त न

होकर प्रेम-स्नेह, आनन्द से परिपूर्ण होने के कारण हर्ष-पुलक से सहचरी को प्रफुल्लित करने वाला है। उसकी आराधना के लिए न तो कोई कृच्छ्र साधना की अपेक्षा है और न किसी प्रकार के बलिदान की आवश्यकता। शक्ति को प्राप्त करने के लिए जिन बीभत्स रूपों का तान्त्रिक ग्रथो मे प्रतिपादन है उनका लवलेश भी राधा-भाव के क्षेत्र मे गृहीत नही होता। फलत राधा और शक्ति को एक समझने की भूल नही करनी चाहिए। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य ने इसी कारण शक्ति और शक्तिमान के रूप मे राधा और कृष्ण का कही वर्णन नही किया। चैतन्य और वल्लभ मत मे राधा की उपासना ह्लादिनी शक्ति के रूप मे हुई है। उनके मत मे भी शक्ति का तात्पर्य शाक्त मत वाला भाव नही है किन्तु शक्ति और शक्तिमान को पृथक स्वीकार कर लेने से राधा की स्थिति श्रीकृष्ण की तुलना मे वैसी ऊची नहीं ठहरती, जैसी राधावल्लभीय मत में है।

आराध्या राधा

माधुर्यभाव की भक्ति-पद्धति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायो मे साध्य तत्त्व के सम्बन्ध मे पर्याप्त मत-भेद है। सामान्यत. 'राधाकृष्ण' भक्ति का उल्लेख प्राय· सभी कृष्णभक्तिपरक सम्प्रदायो मे उपलब्ध होता है; किन्तु उसके स्वरूप एव साध्य-साधन शैली मे इतनी व्यापक विभिन्नता है कि 'राधाकृष्ण' शब्द से विभिन्न कोटिक पार-मार्थिक आशय का ग्रहण होता है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधाकृष्ण-भक्ति को अन्य सम्प्रदायो की भाति किसी दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म, जीव, प्रकृति आदि के विवेचन द्वारा स्थापित नही किया गया। मस्तिष्क या बुद्धि की सूक्ष्म छानबीन न करके **इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंशजी ने हृदय-संवेद्य रस को अपनी भक्ति-पद्धति का आधार बनाया। इसीलिए इस सम्प्रदाय की पद्धति को रस-पद्धति या रस-दर्शन कहा जाता है। इस रस की चरम परिणति 'नित्यविहार' में ही सम्भव है। 'नित्यविहार' शब्द इस सम्प्रदाय का एक गूढ़ाभिप्राय-व्यंजक शब्द है जो 'रस', 'आनन्द' या 'हित' के चरमोत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। यह एक विलक्षण कोटि का रस है जो साहित्यशास्त्र तथा भक्तिशास्त्र में वर्णित विविध रसों से सर्वथा पृथक एवं नूतन है।**

विभिन्न कृष्णभक्तिपरक वैष्णव सम्प्रदायो मे श्रुति-प्रतिपादित 'रसो वै स·'—रस रूप परम ब्रह्म—को ही श्रीकृष्ण-तत्त्व स्वीकार किया गया है। श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, तन्त्रादिको मे इस श्रीकृष्ण-तत्त्व का 'परब्रह्म' के रूप मे वर्णन करते हुए इसे अलक्षित तत्त्व मानकर अचिन्त्य और अतर्क्य समझते हुए 'नेति-नेति' कहकर निगूढ बताया है। यह श्रीकृष्ण-तत्त्व इन सम्प्रदायो मे रूप, शृगार, माधुर्य, अनुराग और रस की परावधि है। इससे परे कुछ और नही।

किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय मे तथा स्वामी हरिदास के मत मे 'रसो वै स.' की परावधि श्रीकृष्ण तक ही स्वीकार नही की गई। राधा का साम्प्रदायिक स्वरूप प्रतिपादित करते हुए हम पहले लिख चुके हैं कि श्रीकृष्ण भी यहा दिव्य किशोरी राधा के चरणो मे विलुठित होकर अपने को कृतकृत्य मानते है। अत· अनिवर्चनीय इष्ट या साध्य तत्त्व की स्थिति श्रीकृष्ण में नही, अपितु राधा मे होगी। इस भाव की विवृति बडे स्पष्ट शब्दो मे श्री हितहरिवशजी ने अपने 'राधासुधानिधि' नामक ग्रथ मे की है। वे कहते है—'जिनका सुन्दर मोरपख निर्मित मुकुट श्रीराधा के चरण-कमलो मे लोटता रहता है तथा जो विचित्र केलि-महोत्सव से उल्लसित है, उन रस-घन मोहन-मूर्ति श्री हरि की मै वन्दना करता हू। वन्दनीय हरि राधा के कृपा-कटाक्ष की कामना करते हैं, राधा के आदेश-निर्देश पर चलना ही उनका धर्म है।'[1]

हरि-आराधनीया राधा ही हित हरिवशजी के मत मे इष्ट-आराध्या है। उसी के रूप-दर्शन की बलवती स्पृहा सहचरी-रूप जीवात्मा की सबसे प्रबल कामना है। श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा को आराध्या और सेव्या मान-कर 'राधासुधानिधि' में वे पुन कहते हैं कि जो मधुर एवं उज्ज्वल प्रेम की प्राणस्वरूपा, शृंगारलीला-कला की परावधि, श्रीकृष्ण की भी आराधनीया तथा अनिवर्चनीया एव शासनकर्त्री है। जो ईश्वर-रूप श्रीकृष्ण की शची तथा परम सुख-

---

१. रसघन मोहनमूर्त्ति विचित्रकेलिमहोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरणविलोडित रुचिरशिखण्डं हरि वन्दे॥

—राधासुधानिधि, श्लोक-संख्या २००

मय तनुधारिणी, परा और स्वतन्त्रा है वे वृन्दावननाथ श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा ही मेरी सेव्या हैं।

श्रीकृष्ण का स्थान राधा की तुलना मे इसलिए और भी कम महत्त्व का हो जाता है कि इस सम्प्रदाय मे उसे 'परतत्त्व' न मानकर राधा को 'परतत्त्व' रूप मे स्थापित किया गया है तथा श्रीकृष्ण राधा की चाटुकारी और स्तुति करके अपने को कृतार्थ समझते है। श्रीकृष्ण स्वय जिस राधा का नाम जपते है, सखीगण के मध्य मे जिसका गुणानुवाद करते है, प्रेमाश्रुपूर्ण वदन मे जिसका बार-बार उच्चारण करते है, वही राधामृत मेरा जीवन है—यह उक्ति श्री हित-हरिवश जी के आभ्यन्तर उद्गार को ध्वनित करती हुई राधा के जिस दिव्य स्वरूप का बोध कराती है, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि इस सम्प्रदाय मे इष्ट या साध्य-कोटि मे श्रीकृष्ण परतत्त्व नही वरन् 'राधा' ही परात्पर तत्त्व है। 'हितचौरासी' मे भी इसी प्रकार के भाव स्थान-स्थान पर श्री हित हरिवशजी ने व्यक्त किये हैं। राधा के कृपाकटाक्ष की कामना करते हुए वह कहते है—'नैकु प्रसन्न दृष्टि पूरन कर नहि मो तन चितयौ प्रमदा ते।'

राधा के उपर्युक्त वर्णन को पढकर यह शका होना स्वाभाविक है कि अन्य सम्प्रदायों तथा पुराणो मे वर्णित राधा का स्वरूप भी तो यही है, फिर राधावल्लभ सम्प्रदाय मे नवीनता क्या है ? इस शका के समाधान के लिए पहले तो हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते है कि राधा का जैसा महत्त्व, स्वरूप, स्थान, पद यहा स्थापित किया गया है वैसा अन्यत्र कही और नही हुआ। पुराणादि ग्रथो तथा अन्य साम्प्रदायिक वाणियो मे राधा को कृष्ण की आराधिका बताया गया है। यहा वह कृष्णाराध्या है। उसका रूप सामान्य मानव के लिए ही आलक्षित नही, वरन स्वय श्रीकृष्ण के लिए भी वह अलक्षित है। यह मन्तव्य किसी अन्य सम्प्रदाय मे स्थिर नही किया गया। इसीलिए श्री हितहरिवशजी ने अपनी मान्यता को दूसरो से पृथक रखते हुए तथा अन्य स्वीकृत सिद्धान्तो का खडन करते हुए अस्वीकार कर दिया है।

सक्षेप मे, श्री हितहरिवशजी तथा स्वामी हरिदासजी की आराध्या इष्टदेवी राधा परात्पर तत्त्व श्रीकृष्ण की भी आराध्या है तथा अन्य आचार्यों द्वारा वर्णित राधा से भिन्न एव स्वतत्र है। वह एक साधारण गोपी नही, वरन रस की अधिष्ठात्री एव प्रेममूर्ति है। वह वृषभानु के घर मे कृपा-परवश प्रकट तो होती हैं किन्तु चरण-रज ब्रह्मे-श्वरादि-दुर्लभ तथा सर्वार्थ-सार सिद्धि-दात्री है।[1] इनके अग-अग से उज्ज्वल प्रेमरस, लावण्य, महान कृपापूर्ण वात्सल्य सार का अम्बुधि प्रवाहित होता रहता है। यह माधुर्य साम्राज्य की एकमात्र भूमि और रस की एकमात्र सीमा है। यह राधा वेदो मे भी परम गुप्त परम निधि है।[2] इनके पदनख की छटा की एक किरण से घनीभूत प्रेमामृत समुद्र की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है। इनकी चरण-कृपा से मुक्ति तुच्छ हो जाती है और समस्त विभव प्राकृत-से हो जाते है। राधा के इस अलौकिक दिव्य स्वरूप का वर्णन श्री हित हरिवशजी ने हितचौरासी के निम्नलिखित पद मे बडी सरल शैली से किया है—

सुनि मेरो बचन छबीली राधा,
तै पायो रस सिन्धु अगाधा।
तू बृषभान गोप की बेटी,
मोहनलाल रसिक हँसि भेटी।
जाहि बिरंचि उमापति नाये,

---

१. यो ब्रह्म रुद्र शुक नारद भीष्म मुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरण चूर्णमनन्तशक्ति त राधिका चरणरेणुमनुस्मरामि॥
राधासुधानिधि, श्लोक-सख्या ३

२. प्रत्यगोच्छलदुज्ज्वलामृतरसप्रेमैकपूर्णाम्बुधि
लावण्यैकसुधानिधिः पुरुकृपा वात्सल्यसाराम्बुधिः।
तारुण्यप्रथमप्रवेशविलसन्माधुर्य्यसाम्राज्यम्
गुप्तः कोपि महानिधिर्विजयते राधा रसैकावधिः॥
राधासुधानिधि, श्लोक-सख्या १३५-१३६

तापै तू बनफूल बिनाये।
जो रस नेति-नेति स्र ुति गाये,
ताकौं तै अधर सुधा रस चाख्यौ।
तेरौ रूप कहत नहिं आवै,
(जैश्री) हित हरिवंश कुछुक जस गावै ।।

—हितचौरासी, पद-सख्या १८

श्री हित हरिवशजी की रचनाम्रो में इस राधा-रूप आराध्य तत्त्व का इतना अधिक वर्णन हुआ है कि हमने इस प्रसग मे अन्य महानुभावो की वाणियो को उद्धृत करना अनावश्यक समझा। यथार्थ मे 'आराध्य तत्त्व' की स्थापना प्रवर्तक द्वारा ही होती है। स्वामी हरिदासजी ने अपने सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व स्थिर करके ब्रजभूमि को पूर्णत्व तक पहुचाया है। निम्बार्काचार्य के बाद गो० विट्ठलनाथ, हित हरिवश और स्वामी हरिदास ही राधा के प्रबल पोषक हुए है।

कृष्णोपासकों का सखी-सम्प्रदाय

श्री परशुराम चतुर्वेदी

कृष्ण की उपासना बहुत प्राचीन काल से होती चली आई है और इसे रामोपासना से कही अधिक पुरानी बतलाया जाता है। कृष्ण को धर्मोपदेशको में भी गिना जाता है और यह भी कहा जाता है कि उन्होने एक विशिष्ट भक्ति-मार्ग का प्रवर्तन किया था। उनके नेतृत्व मे किसी सात्त्वत धर्म का स्थापित किया जाना तथा उनके ही आधार पर 'भागवत सम्प्रदाय' का प्रतिष्ठित होना भी मान्य रहता आया है। कृष्ण के व्यक्तित्व का एक परिचय हमे महाभारत मे मिलता है जहा उन्हे एक समाज-नेता एव राजनीतिज्ञ के रूप मे चित्रित किया गया है, किन्तु वहा पर भी और विशेष-कर उनके गीतोक्त धर्म का प्रचारक होने की दृष्टि से उन्हे एक विशिष्ट मत का सस्थापक मानने की प्रवृत्ति होती है। गीतोक्त धर्म की वह न केवल व्याख्या ही करते तथा उसका उपदेश देते है प्रत्युत उसके उपास्य भगवान तक स्वय बन जाते स्पष्ट प्रतीत होते है। वहा वह अर्जुन के सारथी बनकर हमारे सामने आते है, उसका उत्साह भग हो जाने पर उसे मित्रवत उपदेश देते है तथा ऐसा करते समय प्रसगवश इन्हे वहा अनेक ऐसी बाते भी कह देनी पडती है जिनमे वह इन्हे, अन्त मे अपना आराध्य-जैसा तक स्वीकार कर लेता है। वह इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो तथा सुझाये गए मार्ग को भली-भाति समझकर तदनुसार आचरण करता है और युद्ध मे प्रवृत्त होकर विजय भी प्राप्त कर लेता है। अर्जुन कृष्ण का एक अतरग सखा है जो इस प्रकार इनके एक दृढ भक्त के रूप मे भी परिणत हो जाता है। कृष्ण का एक अन्य सखा उद्धव भी है जिसकी चर्चा महाभारत एव श्रीमद्भागवत मे अनेक बार की गई दीख पडती है और जिसके मोह मे पड जाने पर यह उसे भक्ति का प्रेमात्मक रूप समझाकर सचेत कर देते है और वह भी इन्हे भगवान के रूप मे देखने लगता है। अर्जुन एव उद्धव ये दोनो ही कृष्ण के प्रति सखा-भाव रखने वाले उपासक है और इन दोनो का आदर्श, भक्ति-मार्ग की दृष्टि से सर्वथा अनुपम कहा जा सकता है। एक भक्त अपने उपास्यदेव को प्राय अपने से उच्च एव महान किसी स्वामी के रूप मे देखा करता है और वह उसका सेवक बन जाता है। अपने आराध्य को इसी प्रकार अपने पति के रूप मे स्वीकार कर उसके प्रति सतीत्व की भावना प्रतिष्ठित रखने की भी परिपाटी देखी जाती है। इसके सिवाय उसे कभी गुरुवत पूज्य मानकर, श्रद्धा के साथ प्रेमपात्र मानकर, प्रेमभाव से तथा दिव्य शिशु के रूप मे देखते हुए वात्सल्य भाव के साथ भक्ति प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति भी कभी-कभी काम करती पाई जाती है। परन्तु यह कदाचित कृष्णोपासना की ही एक प्रमुख विशेषता है जहा प्रत्यक्षत एक ही स्तर के जान पडने वाले दो सखाओ मे से भी एक दूसरे को परम आराध्य मान लिया करता है।

अर्जुन एव उद्धव कृष्ण के समसामयिक तथा उनके निकटवर्ती सखा कहे गए है। ये दोनो इस कोटि के साथी थे जो उनके साथ बराबरी का व्यवहार कर सकते थे तथा प्राय: मनोविनोद मे भी भाग ले सकते थे। एक का दूसरे की समय पर सहायता करना, उसके साथ किसी भावी कार्यक्रम पर विचार करना तथा कभी-कभी उसकी हँसी तक उडाना उनके लिए सदा सम्भव हो सकता था। कृष्ण ने अर्जुन को अपनी बहिन सुभद्रा का हरण कराने मे पूरी सहायता दी जिसके कारण उन्हे बलराम का कोपभाजन तक होना पड़ा। उन्होने उद्धव को ज्ञान का गर्व हो जाने पर, उसे ब्रज की गोपियो के यहा भेजकर उनके द्वारा हास्यास्पद बनवाया। इस प्रकार, ऐसी अनेक बातो के होते हुए भी,

अर्जुन एव उद्धव ने उन्हे न केवल अपने एक अतरग मित्र के रूप मे, किन्तु वस्तुतः अपने परमकल्याणकारी तथा उद्धारक भगवान के विचार से भी अपनाया और इनकी गणना उनके प्रसिद्ध भक्तो मे की गई। इन्होंने एक ऐसा आदर्श रखा जिसका प्रभाव, कृष्णोपासना के अधिक प्रचलित हो जाने पर पीछे भी बहुत पडा और इनका सख्यभाव भक्ति-मार्ग के लिए उसका एक महत्त्वपूर्ण अग सिद्ध हुआ तथा इसके अनेक भेद-प्रभेद तक किए जाने लगे। भक्ति के नवधा प्रकार की चर्चा करते समय सख्य को उसमे आठवा स्थान प्रदान किया गया और उसे बहुत से भक्तो ने अपनी वृत्ति के अनुकूल भी पाया। सख्यभाव सखाभाव से कही अधिक व्यापक क्षेत्र की ओर सकेत करता है और इसमे इसी कारण सखीभाव का भी समावेश किया जा सकता है। भक्तिभाव के जागृत होने की सम्भावना केवल किसी इष्टदेव के ही प्रति नही हो सकती, वह उसके स्त्रीरूप मे देवी होने पर भी, हो सकती है और इसी प्रकार, भक्त होने का श्रेय भी केवल किसी पुरुष को ही नही दिया जा सकता, एक स्त्री भी उसके लिए सर्वथा उपयुक्त हो सकती है।

सख्य शब्द की अभिप्रायगत व्यापकता एव विशेषता पर विचार करते समय हमारा ध्यान स्वभावत सखा शब्द के पर्याय समझे जाने वाले कतिपय अन्य शब्दो की ओर भी जाता है जो बंधु, सुहृद एव मित्र-जैसे हो सकते हैं। इन शब्दो के प्रयोग हम कभी-कभी बिना अधिक विचार किए ही कर देते है, किन्तु जब इनकी परीक्षा करने लगते है तो इनमे कुछ अतर भी आ जाते है। उदाहरण के लिए, इनमे से 'बधु' शब्द जहा विशिष्ट बन्धन अथवा लगाव की ओर सकेत करता है वहां 'मित्र' शब्द किसी ऐसे व्यक्ति के स्नेहभरे स्वभाव का भी पता देता है और इसी प्रकार 'सुहृद' शब्द जहा उसकी सहृदयता की सूचना देता है और उसे अभिमत का एकमत ठहराने का कारण उपस्थित करता है, वहां पर 'सखा' शब्द किन्ही दो व्यक्तियो के पूर्ण भावगत सादृश्य की ओर भी इगित करने लग जाता है। किसी एक प्राचीन श्लोक द्वारा कहा भी गया है

अव्यागसहनो बन्धुः सदैवानुगतः सुहृत्।
एकक्रियं भवेन्मित्रं, समप्राणः सखा मतः॥[1]

और इसमे भी हमे अपने उक्त मत का ही समर्थन मिलता है। इस श्लोक के अनुसार बन्धु वह है जो वियोग वा पृथक्त्व न सहन कर सकता हो; सुहृद उसको कहते है जो सदैव साथ दे, मित्र वह है जिसका कार्यकलाप भी एक-जैसा हो तथा सखा उसे कहेगे जो अपने प्राणवत एक समान मानता हुआ व्यवहार करे। अतएव, सखा एव सखी इन दोनो शब्दो के आशय को पूर्णत व्यक्त करने वाले 'सख्य' शब्द के अन्तर्गत हमे उक्त सभी शब्दो के भाव किसी रूप मे आ गए प्रतीत होते है और इस दृष्टि मे इसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। विशुद्ध सख्यभाव के जागृत हो जाने पर न केवल दो सखाओ मे किसी प्रकार का भेदभाव नही रह जाता, अपितु उनके बीच जिस 'सकोचहीन पारस्परिक विश्वास' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है वह स्वय भी किसी अनुपम एव अनिवर्चनीय दशा की ही द्योतक है। उसे हम यदि चाहे तो केवल 'दो शरीर, किन्तु एक प्राण' मात्र कहकर भी पूर्ण रूप से प्रकट नही कर सकते और न उसका कोई यथार्थ मूल्याकन ही कर सकते है।

सख्यभाव का 'भाव' शब्द भी यहा पर केवल सत्ता-मात्र का ही बोधक न होकर किसी दशा-विशेष को भी सूचित करता है। यह किसी कोरी मानसिक अनुभूति का भी परिचायक नही जिसकी चर्चा प्राय. मनोविज्ञान के क्षेत्र मे की जाती है। इसका कुछ पता हमे उस कथन द्वारा चलता है जहा इसे 'प्रेम की प्रथमावस्था' बतलाया गया है।[2] यह वस्तुत उक्त अनुभूति के साथ किसी ऐसी मौन स्वीकृति की ओर भी इगित करता है जो पूर्वस्थिति मे आमूल परिवर्तन ला देती है। भाव की दशा मे आए हुए व्यक्ति की वृत्तिया पूर्ववत न रहकर अपनी इष्टवस्तु की ओर उन्मुख हो जाती है और पूर्णतया अपनाती हुई उसे और-से-और कर देती है। इस प्रकार सख्यभाव की स्थिति मे आने वाले भक्त का पूरा परिचय भी हम केवल उसकी 'भक्ति' मात्र के ही आधार पर नहीं दे सकते। इसके लिए हमें उसकी उन

१. सरल बाङला अभिधान (प्रथम भाग, द्वितीय खंड), पृ० ६८३

२. 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।'

—'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' (अच्युत ग्रंथमाला, काशी), पृ० १०२

मनोवृत्तियो का यथावत स्वरूप भी समझ लेना पडता है जो उसके अपने इष्टदेव मे रमी रहती है। सख्यभाव की भक्ति में, भक्त एव भगवान दोनों के एक ही सामान्य स्तर पर आ जाने से, किसी प्रकार के भेद-भाव का कोई प्रश्न ही नही उठा करता। दोनो के पारस्परिक प्रणय की स्थिति ऐसी रहा करती है जिसमे एक ओर जहा अपने से बडे के प्रति श्रद्धाभाव प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त कर लेना असभव नही रहता, वहा अपने से छोटे के प्रति स्नेह-भाव का प्रकट करना भी कभी कठिन नही हो पाता। वास्तव मे यहा पर जिस प्रकार भक्त भगवान को भजा करता है उसी प्रकार स्वय भगवान भी भक्त के भजन मे लग जाता है। इस भक्त की दशा की समानता यदि कोई अन्य प्रकार की भक्ति कर सकती है तो वह नवी अर्थात 'आत्म-निवेदन' की ही भक्ति हो सकती है। आत्म-निवेदन की दशा मे भक्त अपना सभी कुछ भगवान के प्रति अर्पित करता हुआ दीख पडता है। जहा सख्य की स्थिति मे उसे ऐसी कोई वस्तु देने को ही नही रह जाती जो अपनी कही जा सके। स्वय दोनो ही एक-दूसरे के अपने बनकर रहा करते है। आचार्य रूप गोस्वामी ने इन दोनो को ही एक साथ 'दुष्कर' एव 'विरल' भी बतलाया है।[1]

कृष्णोपासना वाले भक्त अपने इष्टदेव को स्वय परमात्मा रूप समझते है और उन्हे सखा भी कहते है। यह सखा कहने की परिपाटी कुछ नई नही है और इसके कुछ उदाहरण हमे प्राचीन वैदिक साहित्य तक मे उपलब्ध होते है। ऋग्वेद मे एक स्थल पर परमात्मा को 'जीवात्मा का योग्य सखा' कहा गया है।[2] वही अन्यत्र उसे सम्बोधित करते हुए यह भी कहा गया है कि 'हे प्रभो, हे अग्ने, तुम ही हमारे प्रिय हो, मित्र हो और तुम्ही सखाओ के लिए स्तुति के योग्य सखा भी हो।[3] उससे वहा पर यह भी प्रार्थना की गई है कि उसकी कृपा द्वारा हम सखाभाव प्राप्त करने मे समर्थ हो सके। कहते है – 'हे प्रभो, श्रेष्ठ ऋचाओ द्वारा श्रेष्ठ गान गानेवाले हम भक्त दिव्य शक्ति की रक्षा करते हुए तेरे आनन्द से आनन्दित हो और सखाभाव भी प्राप्त करे।'[4] वैदिक ऋषियो को इस बात मे पूर्ण विश्वास है कि जो परमात्मा को सखा-रूप मे वरण कर लेता है वह पवित्र बन जाता है। उनका कहना है, 'जीवात्मा जब तुम्हारे सखाभाव को प्राप्त कर लेता है तो पवमान प्रभु उसके अत करण को पवित्र एव आनन्दित कर देते है'।'[5] इतना ही नही, उनकी यह भी धारणा है कि 'जो कोई उस शक्तिमान प्रभु को अपने प्रत्येक यज्ञकार्य द्वारा सखा बना लेता है वह फिर कभी कोई पाप नही कर सकता, वह पवित्र, त्यागी एव ज्ञान से प्रदीप्त हो उठता है।'[6] इसी प्रकार 'मुण्डकोपनिषद्' के एक स्थल पर जीवात्मा एव परमात्मा दोनो को, पक्षी-रूप मे वर्तमान, आपस मे सखाभाव रखने वाला भी कहा है। वहा पर कहते है 'एक साथ रहने वाले दो पक्षी जो परस्पर एक-दूसरे के प्रति सखाभाव रखते है दोनो एक ही वृक्ष का आश्रय लेते है, किन्तु उन दोनो मे मे एक अर्थात जीवात्मा तो उस वृक्ष के कर्म-फलो का स्वाद लिया करता है और दूसरा अर्थात पर-मात्मा उसे नही खाता, प्रत्युत केवल देखता-मात्र रहा करता है।[7] अतएव, भक्त एव भगवान के बीच स्थापित सख्यभाव का सम्बन्ध, प्राचीन परम्परागत होने के भी कारण, कुछ विशेष महत्त्व रख सकता है।

---

१. 'दुष्करत्वेन विरले द्वे सख्यात्मनिवेदने', हरिभक्तिरसामृतसिंधु ३९, पृ० ६९

२. 'इन्द्रस्य युज्य सखा', ऋग्वेद १-७-१२

३. त्व जामिर्जनानामग्ने मित्रोऽसि प्रिय.।
सखा सखिभ्य ईड्य.॥ ऋग्वेद ९-६१-४

४. पवमानस्य ते वय पवित्रमभ्युन्दतः।
सखित्वमा वृणीमहे॥ ऋग्वेद ९-६१-४

५. न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हव
यदिन्नु इन्द्र वृषण सचामुते सखाय कृणवाम है। ऋग्वेद ८-६१-११

६. य उदीर्चीन्द्र देवगोपा' सखाय स्ते शिवतमा असाम।
त्वा स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयु' प्रतर दधाना॥ ऋग्वेद, १-५३-११

७. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥१॥

—मुण्डकोपनिषद, तृतीय मुण्डक,
प्रथम खण्ड, पृ० १९५

परन्तु भक्तिमार्ग के उदय एव विकास का इतिहास देखने से पता चलता है कि भगवान का उपास्यदेव का रूप सदा एक-सा ही बना नही रहा, प्रत्युत उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण कल्पनाए भी की जाने लगीं। पहले वह चाहे विष्णु, शिव अथवा अन्य किसी भी प्रकार का रहा हो, वह केवल एक पुरुष-मात्र ही समझा जाता था। उसकी भावना के साथ किसी स्त्री-भाव का भी सयोग आवश्यक नहीं था। परन्तु, कुछ तो परम्परानुसार विकसित होती गई शिवशक्ति-विषयक धारणा के कारण, तथा उसी प्रकार, कतिपय वैदिक देवताओं के सम्बन्ध मे उत्तरोत्तर बदलती गई कल्पनाओ के कारण भी, क्रमश. उसे केवल एक के स्थान पर युगल का रूप देने की भी प्रवृत्ति हो चली। कहते हैं कि वैदिक युग के इन्द्रदेव अपनी प्रार्थना करने वाले को सदा अन्न एव जल दिया करते थे जिसे 'इरा' वा 'इला' कहा जाता था और इसी कारण, उन्हे इसका स्वामी समझा जाता था तथा इसे, ही पीछे धन माने जाने लगने पर, वह सपत्ति वा श्री के भी स्वामी कहे जाने लगे। 'विष्णुपुराण' के अनुसार इन्द्रदेव का अधिकार फिर इस श्री वा लक्ष्मी पर से, दुर्वासा के शाप से, छिन गया और जब समुद्र-मंथन के अनन्तर उसका पुनर्जन्म हुआ, तो उस काल तक सर्वश्रेष्ठ देव बने विष्णु ने उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया।[1] यह विष्णु ही उन दिनों वैष्णव धर्म के सर्वप्रमुख उपास्यदेव हो रहे थे, इस कारण, उनके कृष्णादि अवतारों की पूजा की परम्परा चल निकलने पर, फिर उन्ही के अनुकरण में इन देवताओ की भी पत्नियो के विषय में कल्पना की जाने लगी और इस धारणा को साख्य के इस दार्शनिक सिद्धान्त से भी बहुत समर्थन मिला कि सृष्टि के आदि मे पुरुष एव प्रकृति नामक दो तत्त्व विद्यमान थे और इन दोनों की सयुक्त क्रिया द्वारा ही, विश्व का उदय एव विकास हुआ करता है। वास्तविक कारण जो भी रहा हो, इसमे सन्देह नही कि, उपास्यदेव कृष्ण का रूप आगे चलकर राधाकृष्ण में परिणत हो गया, और इसी प्रकार की धारणा न केवल विष्णु के नारायण का लक्ष्मीनारायण होने तथा राम के सीताराम बन जाने मे दीख पड़ी, प्रत्युत यह भी समझा जाने लगा कि इनमे से किसी भी पुरुषदेव का पूर्णरूप उसके पत्नीपरक अश पर ही सभव हो सकता है।

यह कृष्ण के साथ सयुक्त समझी जाने वाली राधा कौन थी, इस विषय में अनेक प्रकार के अनुमान किये गए है। कुछ लोगो ने तो उसे कृष्ण की ही भाति ऐतिहासिक वा कम-से-कम पौराणिक रूप ही देने की चेष्टा की है। किन्तु दूसरो ने उसके विषय मे कल्पना की है कि वह कोई लोकपरम्परा-द्वारा स्वीकृत कर ली गई नारी थी जो लोकगाथाओ के माध्यम से, आभीर जाति के साथ कही बाहर से आई थी और उसे यहां सयोगवश कृष्ण के साथ बराबरी का स्थान मिल गया। राधा को सभी कृष्ण की स्वकीया पत्नी भी स्वीकार नही करते और उसे वे परकीया का ही पद प्रदान करते है। परन्तु इतना मान लेने में कभी कोई आपत्ति भी नही करता कि वह उनकी सर्वप्रमुख प्रेमपात्री थी। जितना प्रेम उसकी ओर से कृष्ण के प्रति प्रदर्शित कराया जाता है उससे कम कभी इनकी ओर से भी उसके प्रति नही दिखलाया जाता और दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध इस विलक्षण ढग से चित्रित किया जाता है मानो दोनो का एक-दूसरे से वियुक्त होना कभी सम्भव ही नही हो। इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध मे कभी-कभी यह भी कहा जाने लगा कि राधा वस्तुत· कृष्ण से भी श्रेष्ठ है। यही वह परमशक्ति है जिसके आधार पर कृष्ण सब-कुछ करने मे समर्थ है और जिसके विना उनके द्वारा कुछ भी नही किया जा सकता। तदनुसार कृष्ण को उपास्यदेव के रूप में स्वीकार करने वाले भक्तो के सामने जब, उनके प्रति अपने किसी-न-किसी उपासक-सम्बन्ध के स्थापित करने की समस्या आई तो वे स्वभावत· उस पर कुछ अधिक विचार भी करने लग गए। कृष्ण को अपना स्वामी मानकर उनकी प्रेयसी व अर्द्धांगिनी को स्वामिनी स्वीकार कर लेना तो कठिन नही था; किन्तु जहां उनके साथ किसी भक्त के दाम्पत्य भाव को स्वीकार करने का प्रश्न आता, वहा राधा उसकी सपत्नी कही जा सकती थी। और इसी प्रकार जहा सख्यभाव की स्थिति आ जाती, वहा पर भी कुछ-न-कुछ कठिनाई का ही सामना करना पडता था। इस दूसरी दशा मे ही सखाभाव से कही अधिक उपयुक्त सखीभाव समझा जाने लगा और उसे ही पीछे अनेक भक्तों ने अपनाया।

---

१. बी० के० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंक्येंट इण्डिया' (कलकत्ता, १९२२ ई०), पृ० १०४।

कृष्णावतार को सदा लीलावतार अथवा लीलापुरुषोत्तम भी कहने की परिपाटी है। जहा राम के अवतार को, उसी प्रकार, मर्यादावतार अथवा मर्यादापुरुषोत्तम भी कहा करते है और, इसी के अनुसार इन दोनो के चरित्रो का वर्णन भी किया जाता है। कृष्ण के लिए कहा गया है कि उनका जन्म मथुरा मे हुआ था। उन्होने गोकुल मे बाल-लीला की तथा वृन्दावन मे रासलीला जैसी विनोदपूर्ण लीलाओ को, किशोरावस्था मे कर चुकने के अनन्तर उन्होने अपना शेष जीवन द्वारका मे व्यतीत किया। उनके भक्तो के लिए यो तो उनकी सभी लीलाओ का गान अत्यन्त प्रिय है, किन्तु वे विशेषकर उनकी वृन्दावन वाली लीलाओ को ही अधिक महत्त्व देते है और उन अवसरो पर किये गए उनके विविध कृत्यो का स्मरण कर उनका गुणानुवाद किया करते है। गोकुल, एव विशेषकर वृन्दावन, की लीलाओ मे ही उन्हे राधा के भी प्रसग मिला करते है जिनसे उनका महत्त्व और भी बढ जाता है। वृन्दावन की विविध लीलाओ मे भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रासलीला है जिसमे कृष्ण के साथ अन्य गोपिया भी सम्मिलित होती है। कृष्ण वहा पर वंशी-वादन करते है जिसका मधुर स्वर श्रवण कर ये गोपिया अपने-अपने घरो से निकल पडती है। ये उनके निकट पहुचती है और इनके साथ वह रासलीला मे प्रवृत्त हो जाते है। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार वह ऐसा करते समय ही अचानक अन्तर्धान भी हो जाते है जिससे गोपिया विकल होकर उन्हे ढूढने लग जाती है और उन्हे इसी प्रसग मे पता चल जाता है कि हम मे से कोई एक विशिष्ट गोपी है जिसके प्रति उनका प्रेम अधिक है। इस गोपी को ही अन्यत्र राधा का भी नाम दिया गया कहा जाता है और यह उनकी चिरसगिनी का स्थान भी प्राप्त कर लेती है। द्वारका मे रहते समय कृष्ण की अनेक पत्नियो के नाम गिनाये जाते हैं और उनमे से विशेषकर आठ को उनकी पटरानी भी बतलाया जाता है। परन्तु उनमे से किसी को भी कभी राधा-जैसा श्रेय प्रदान नही किया जाता और न अर्द्धांगिनी ही स्वीकार किया जाता है।

जिन कृष्णोपासकों का ध्यान उनके अकेले व्यक्तित्व की ही ओर विशेष रूप से रहा करता है उनकी तो बात ही और है, जिन्होने राधा के स्थान पर उनकी चिरसगिनी को रुक्मिणी का रूप दिया है उन्हे भी प्राय राधातत्त्व की विशेषताओ का कभी भान नही हो पाता और न वे कभी इसके रहस्य को भली भाति समझने मे ही समर्थ हो पाते है। रुक्मिणी कृष्ण की परिणीता पत्नी है और यह उनका साथ उस समय देती दिखलाई जाती है जब उनका जीवन किसी गृहस्थ-जैसा रहा करता है। वह द्वारका के निवासी है और वहा पर एक विस्तृत परिवार तथा जाति-कुटुम्ब वालों के बीच रहा करते है। उनका वहा का प्रत्येक कार्य अधिकतर प्रपचात्मक जैसा लगता है और इसी दृष्टि से उसे वहा किया गया भी देखा जाता है। उनमे से किसी मे भी उस लीलातत्त्व का कही समावेश नही रहा करता जो गोकुल अथवा वृन्दावन मे किये गए कार्यों की विशेषता है। वहा पर हमे कभी इस बात का भी पता नही चल पाता कि किन-किन कार्यों मे और कहा-कहा तक उनमे रुक्मिणी का भी हाथ हो सकता है। वहा की रुक्मिणी अथवा सत्यभामा आदि को भी हम रानी वा पटरानी तक भी कह सकते है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर वे सभी अपने पति राजा कृष्ण से पृथक रहने वाली तथा उनसे भिन्न नारी रूप मे ही विद्यमान जान पडती है। उनमे राधा की सी वह शक्ति नही जिसके द्वारा वे उनकी चिरसगिनी तथा वास्तविक सहधर्मिणी भी सिद्ध की जा सके। राधा चाहे कृष्ण की विवाहिता पत्नी नही, फिर भी उसका उनके साथ जो सम्बन्ध है वह नितान्त विलक्षण है। इसके लिए किसी वैवाहिक विधि द्वारा प्रामाणिकता की मुहर देना अपेक्षित नही। वे दोनो स्वभावतः एक और अद्वय है और वे उन कृत्यो मे भी एक-दूसरे का साथ देते है जो सर्वथा निरुद्दिष्ट है, जो आनन्द के स्रोत है और जिन्हे इसी कारण 'लीला' की सज्ञा दी गई है। द्वारका मे रुक्मिणी की कई सपत्निया है और उनका एक-दूसरे के प्रति द्वेषभाव भी हो सकता है। उन्हे इस बात की सदा चिन्ता भी बनी रह सकती है कि किसको कृष्ण कितना कम वा अधिक प्यार करते होगे। परन्तु राधा यहा पर पूर्ण स्वतन्त्र और निश्चित है, क्योकि हजारो गोपियो के बीच भी केवल एक ही राधा है जो कृष्ण के लिए उतनी ही प्रिय है जितने कृष्ण उसके लिए है।

कृष्ण की रासलीला में जिन गोपियों ने उनका साथ दिया था, उनके दृढ अनुराग एव आत्मत्याग की बहुत अधिक प्रशंसा की जाती है। कहा जाता है कि वंशीवादन की ध्वनि कानो मे पडते ही उन्होने अपना सभी कुछ त्याग दिया और कृष्ण के सानिध्य में आ पहुंचीं। उस समय जो जहा थी वही से वह आतुर होकर दौड़ पड़ी और उसने इसका

भी विचार नही किया कि मेरे इस प्रकार चले जाने का परिणाम क्या होगा। उनके यहां अपने से बड़े लोग थे जिनसे उन्होंने कोई अनुमति नही मागी, छोटे थे जिनकी असुविधाओ की ओर कुछ भी ध्यान नही दिया और उनके धन-धान्यादि पूर्ण गृहस्थ थे जिनकी सुरक्षा की ओर उनकी दृष्टि न जा सकी। वे पगली-सी बनकर कृष्ण के प्रेम मे लीन हो गई और उन्हे उस समय केवल इतना ही सूझ सका कि जिस प्रकार हो उनके निकट चला जाना है। फिर वहा जाकर भी वे, उनसे मिलकर ही, अपने घर न लौट सकी, प्रत्युत उन्होंने रास-क्रीडाओ मे उनका साथ दिया तथा उनके अन्तर्हित हो जाने पर उन्हे ढूढती तक फिरी और फिर, आगे चलकर, जब-जब इस प्रकार के अवसर उपस्थित हुए तब-तब उन्होने वैसा ही व्यवहार किया। उन गोपियों मे से किसी को भी हम उनकी विवाहिता वा स्वकीया होने का पद नही प्रदान कर सकते और न उनमे से किसी पर भी हम कोरी कामुकता का ही आरोपण कर सकते है। वे विभिन्न गोपगृहो की स्त्रिया है जिनके साथ कृष्ण का कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही और वे उनके लिए परकीया-मात्र ही हो सकती है। परन्तु यह उनके प्रति पूर्ण रूप से अनुरक्त है और इनका प्रेमभाव उनके प्रति गम्भीर होने के साथ ही सर्वथा निश्चल एव निर्मल भी कहा जा सकता है। गोपियो के इस अनुपम अनुराग की उत्कृष्टता के ही कारण इसे कभी-कभी 'गोपीभाव' की एक पृथक संज्ञा देने की भी परम्परा चली आती है।

जिन कृष्णोपासको की भक्ति का रूप कांताभाव अथवा दाम्पत्य भाव का हुआ करता है वे गोपीभाव को विशेष महत्त्व देते है। ये गोपियो के साथ कृष्ण द्वारा की गई तथा पुराणादि मे वर्णित प्रत्येक लीला का मनोयोगपूर्वक चिन्तन करते है, उनकी मन-ही-मन अनेक प्रकार की व्याख्या करते हुए अपूर्व रस का आस्वादन करते है तथा, इस प्रकार की भावनाओ मे निरत रहना अपना कर्त्तव्य समझा करते है। कांताभाव के भक्तो के लिए गोपिया आदर्श रूप है, क्योकि उनमे वे उन सभी गुणो का समावेश पाते है जो इसके लिए अनुकरणीय हो सकते है। इस सम्बन्ध मे यहा पर यह भी उल्लेखनीय है कि राधा भी मूलत केवल एक गोपी-मात्र है। यह भी उसी प्रकार ब्रज की रहने वाली है जिस प्रकार अन्य गोपिया है तथा यह भी कृष्ण के साथ पहले उसी प्रकार लीलाओ मे भाग लेती है जिस प्रकार दूसरी किया करती है। राधा के अतिरिक्त गोपियो मे से, कतिपय अन्य के नाम भी लिये जाते है और उन्हे ललिता, चन्द्रा-वली, विशाखा आदि कहा जाता है। परन्तु ऐसी गोपियो के सम्बन्ध मे यह भी बतलाया जाता है कि वे राधा की निकटवर्त्तिनी सखिया थी और उन्हे इसकी सहचरी का भी पद दिया जाता है। गोपियो का वर्गीकरण, इस प्रकार, तीन दृष्टियो के अनुसार किया गया कहा जा सकता है जिनमे से एक केवल राधा-मात्र को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान कर उसे पृथक वर्ग मे रखना चाहती है, दूसरी उसकी सहयोगिनी सखियो को औरो मे अलग कर लेती है, तथा तीसरी के आधार पर अन्य सभी उस कोटि मे रख ली जाती है जिसे कोई विशेषता न देते हुए हम साधारण मात्र ही कहकर रह जाते है। परन्तु, उपर्युक्त गोपीभाव के अनुसार हमे इन सभी के ऊपर, केवल उनके कृष्ण के प्रति प्रदर्शित अनुराग की दृष्टि मे ही विचार करना पडता है। अतएव, यदि हम राधा की विशिष्ट स्थिति के कारण, उसे दूसरी गोपियो से कही विलक्षण वर्ग की मानने लग जाय तो उस दशा मे उसके प्रेमभाव को भी केवल किसी सामान्य स्तर का ही समझकर चुप नही रह सकते और उसे महाभाव अथवा इस प्रकार की कोई अन्य सज्ञा भी प्रदान कर सकते है। कांताभाव के कृष्णोपासको ने इसी कारण, अपने लिए प्राय महाभाव का ही उच्चादर्श रखने की अभिलाषा प्रकट की है।

इस महाभाव की व्याख्या करना तथा इसके स्वरूप को यथावत शब्दो मे प्रकट करना अत्यन्त कठिन है। इसका वर्णन कदाचित वही कर सकता है जिसे इसकी अनुभूति हो सकती है। और वह भी सम्भवत इसे पूर्ण रूप मे व्यक्त करने का कोई सुलभ साधन नही पा सकता। इसकी अनिवर्चनीयता का अनुमान केवल इस विचार मे भी किया जा सकता है कि यह उस प्रेमभाव का उत्कृष्टतम रूप है जिसकी हमे कभी ओर-छोर नही मिला करती और जिसके साधारण रूप की गहराई तक को ठीक प्रकार मे जाच पाने मे हम अपने का सदा असमर्थ पा लिया करते है। प्रेम का एक निकृष्टतम रूप हमे काम-भाव की उस मनोवृत्ति मे मिला करता है जो साधारण पशुओ तथा लघुजीवों मे भी काम करती दीख पडती है। उसे हम प्राय बायोलॉजीकल अथवा प्राणिवर्गीय मूल प्रवृत्तियो मे गिना करते है और उसे उनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तक ठहराते है। हम उसीके कारण, तथा उसके आधार पर ही, स्त्री-पुरुषो के बीच यौनपरक पार-

स्परिक आकर्षण का भी अनुमान किया करते है और कभी-कभी हम यहा तक भी स्वीकार कर लेने मे नही हिचकते कि अपने समाज के भीतर हमे जो कुछ भी आत्मीयता का सम्बन्ध दीखता है उसके मूल मे केवल वही प्रवृत्ति हो सकती है। उसका मूल बीज शारारिक है, विकास-पद्धति मानसिक है तथा उसका परिणाम हमे अपने सामाजिक व्यवहारो के बीच तक देखने को मिला करता है। परन्तु इस प्रकार की भावना साधारणत केवल यही तक जाकर काम करना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेती है और इससे आगे बढना अनावश्यक समझती है। इस दृष्टि से सोचने वाले प्राय उन बातो की ओर पूरा ध्यान नही दिया करते जिनका सम्बन्ध ईश्वरपरक प्रश्नो के साथ रहता है। वे यदि इस प्रसग को लेकर चलते भी है तो वहा पूरा मनोवैज्ञानिक चिन्तन एव प्रयोग काम मे नही लाया जाता, जिसका एक कारण यह भी हो सकता है जो लोग उक्त मत को निर्धारित करने वाले विशेषज्ञ समझे जाते है। वे धार्मिक वा आध्यात्मिक जीवन को भी साधारण सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अग मानकर कभी आगे नही बढते और न यही समझा करते है कि इसका सर्वथा त्याग कर देने पर उनका अध्ययन कभी पूर्ण कहलाने योग्य नही हो सकता।

वैज्ञानिक अनुसन्धान का वास्तविक उद्देश्य उन सारे प्रमुख प्रश्नो का उत्तर पाना है जो हमारे साधारण जीवन तक मे उठते रहा करते है। ये प्रश्न विविध है और अनन्त-से भी लगते है, जिस कारण, हमे यह कह देने का कदाचित कोई भी अधिकार नही कि उनके स्वरूप अमुक प्रकार के ही हो सकते है अथवा यही कि यदि अमक प्रकार के ही नही हुए तो उन्हे हम विशुद्ध वैज्ञानिक का नाम नही दे सकते। ऐसा करना सम्भवत विज्ञान की कोई मनमानी सीमा निर्धारित करके उसकी महत्ता को कम कर देने के तुल्य है जो कभी न्यायसगत नही कहा जा सकता। विज्ञान का क्षेत्र असीमित है। क्योकि विश्व की समस्याए भी अनन्त और असीमित है, और यदि यह वस्तुत विकासशील और प्रगतिमान कहला सकता है तो इसमे भी सन्देह नही कि उसके आगे कभी अनेक ऐसी बाते भी आ सकती है जो आज के वैज्ञानिको के लिए कभी स्वप्न मे भी सम्भव नही है। इसके सिवाय मानव-जीवन पर सर्वाग रूप मे विचार करते समय हमे यह भी समझने देर नही लग सकती कि उस दृष्टि से देखने पर वस्तुत दर्शन, विज्ञान, धर्म, अथवा किसी भी अन्य इस प्रकार के क्षेत्रो के बीच कोई सीमापरक व्यवधान खडा कर देना स्वय अवैज्ञानिक मार्ग का अपनाना कहला सकता है। सभी ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी विद्याए एक ही विश्व के रहस्यो के उद्घाटन की ओर यत्नशील है। इस कारण, उनमे से कोई भी किसी दूसरे से सर्वथा पृथक रहकर काम नही कर सकती और न, इसी प्रकार उनमे से किसी एक को दूसरे के क्षेत्र से अपरिचित बनकर सत्य का पता लगाने मे कभी सफलता ही मिल सकती है। देखने मे कामशास्त्र एव अध्यात्म-विद्या के बीच महान अन्तर जान पड सकता है, किन्तु यदि उनमे से दोनो को एक ही सर्वागपूर्ण जीवन के दो आवश्यक अगो पर अपने-अपने ढग से विचार करके उसे समझने के साधन मान लिया जाय तो वस्तुत कोई भी हानि नही हो सकती। आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देने वाले बहुत से लोगो ने तो अपनी ईश्वर वा ब्रह्मपरक अनुभूति का परिचय देते समय उसे, सयोगानन्द अथवा कम-से-कम तदनुकूल मनोवृत्ति की चर्चा करते समय, उसे किसी कामुक की कामासक्ति के क्षेत्र मे लाकर ही स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिए, 'बृहदारण्यकोपनिषद' के ऋषि ने प्राज्ञात्मा वा परमात्मा-विषयक अनुभूति का वर्णन करते समय, उसे प्रियतमा के आलिगन-जनित आनन्द का दृष्टान्त देकर समझाया है,[1] तथा गोस्वामी तुलसीदास ने भी राम के प्रति अपने प्रेम को किसी कामी के नारी-प्रेम के सदृश होना कहा है।[2]

अतएव यदि विषय-सुलभ कामभाव को हम प्रेमतत्त्व का भौतिक मूलबीज एव स्थूल रूप मानकर चले और उसके क्रमिक मानसिक विकास-जनित सूक्ष्मतर रूपो पर दृष्टि डालते हुए आगे बढ सके, तो इसमे आश्चर्य नही कि हमे उसके उस आध्यात्मिक रूप का भी कुछ-न-कुछ परिचय मिल जाय, जिसकी कल्पना 'महाभाव' की सज्ञा देकर की जाती है और जिसे उसकी परिस्थिति की भिन्नता के कारण हम कुछ और समझ लेते है। प्राथमिक वा प्रारम्भिक कामभाव तथा उस अन्तिम महाभाव के बीच अनेक स्तर हो सकते है और विभिन्न उपादानो तथा अवस्थाओ के अनुसार, वे क्रमश सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एव सूक्ष्मतम होते चले जा सकते है, किन्तु उनके मूलत. एक होने मे किसी प्रकार का सन्देह

१. तद्यथा प्रियया स्त्रिया परिष्वक्तो—अय पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो इ० । बृहदा० ४-३-२१

२. कामिहि नारि पियारि जिमि—तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम। —मानस (उ० का०)

करने की आवश्यकता नही दीख पडती और न उसके किसी धार्मिक-जैसे क्षेत्र मे जा पडने से उसकी वैज्ञानिक दृष्टि से उपेक्षा ही की जा सकती है। क्षुद्र प्राणियों तथा पशुओं में पाई जाने वाली कामुकता का भाव निम्नतम श्रेणी का समझा जा सकता है। वहा पर प्रेमतत्त्व के नाम से प्रकट होने वाली मनोवृत्ति का प्राय: सर्वथा अभाव रहा करता है। कम-से-कम यह कभी-कभी तथा स्वल्प मात्रा मे ही दीख पडता है। परन्तु मानव जाति के पुरुष एव स्त्री मे उपलब्ध होने वाले ऐसे मनोविकार के विषय मे भी हम ठीक इसी प्रकार नही कह सकते। यहा पर उसमें उतनी सहज वृत्ति का तत्त्व नही रह जाता। वह मानव-समाज के अन्तर्गत काम करने वाले लज्जा, सकोच, आभिजात्य जैसे विभिन्न भावों द्वारा मर्यादित और सौन्दर्यबोध, कर्त्तव्यज्ञान तथा अन्य अनेक उच्चतर भावों द्वारा परिष्कृत भी होकर, क्रमशः अपेक्षाकृत अधिक मानसिक रूप ग्रहण किये हुए रहता है, जिस कारण उसका स्तर बहुत-कुछ ऊचा हो जाता है। एक मनुष्य के लिए उसकी पत्नी केवल भोग्य वस्तु-मात्र नही रह जाती, प्रत्युत यह उसकी सगिनी तथा सहधर्मिणी तक बन जाती है और इसी प्रकार वह अपने समाज के भीतर जिस आत्मीयता का अनुभव करता है वह कभी-कभी नि:स्वार्थ भाव से भी उत्पन्न होती है। तदनुसार हमे यहां पर यह भी दीख पड़ता है कि जो मनुष्य जितने ही उच्चकोटि के समाज का सदस्य होता है उसकी भावना प्राय: उतने ही उच्च स्तर पर प्रश्रय पाती हुई जान पडती है और उसका स्वभाव उत्तरोत्तर उदार से उदारतर बनता चला जाता है। फलत उसकी आत्मीयता का भाव भी जो प्रत्यक्षत. प्रेमतत्त्व पर ही आश्रित रहता है अपना क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत करता चला जाता है और इस बात की पूरी सम्भावना भी हो जाती है कि वह एक दिन विश्वात्मक तक बन जाय। हम इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते है कि मूल रूप मे पाये जाने वाले काम-भाव का उत्तरोत्तर उदात्तीकरण होते जाना कोई आश्चर्य की बात नही है और इसी कारण उसके जिस अन्तिम रूप की हम कल्पना कर सकते हे वह उपर्युक्त 'महाभाव' का भी हो सकता है। धार्मिक वा आध्यात्मिक क्षेत्र की बात होने के कारण-मात्र से ही, हमें इसे कोरा कपोल-कल्पित मानकर टाल देना न तो उचित है और न वैज्ञानिक ही होगा।

जिस आध्यात्मिक दशा को 'महाभाव' कहा जाता है उससे मिलती-जुलती मन:स्थिति के ही किसी भाव को सख्यभाव के अनुसार उपासना करने वाले कृष्ण-भक्तो ने 'सखीभाव' की सज्ञा दी है और उसे अपनी दृष्टि से सर्वोपरि स्थान भी प्रदान किया है। यह सखीभाव क्या है ? यह साधारणत समझ लेने की परम्परा दीख पडती है कि भक्तो द्वारा अनुभूत कांताभाव वा दाम्पत्यभाव, गोपीभाव, महाभाव तथा सखीभाव सभी मूलत: एक ही है और उनमे किसी प्रकार का अन्तर ढूढने का प्रयास करना आवश्यक नही है। इनमे वास्तव मे कोई तात्त्विक अन्तर नही हो सकता, किन्तु यदि इनकी तुलना इन्हे पृथक-पृथक स्वीकार करने वाले भक्तो के ही अनुभवानुसार की जा सके तो न केवल उनके स्वरूपो का पता चले, अपितु इनमे अन्तर्हित रहस्य भी खुल सके और हम इनके धार्मिकता द्वारा आच्छादित तत्त्व की एक झाकी भी पा सके। कांताभाव अथवा दाम्पत्यभाव उस मनोवृत्ति को कह सकते है जिसे अपनाकर कोई भक्त अपने इष्टदेव को पतिवत मानने लग जाता है और तदनुसार अपने को उसकी पत्नी के रूप मे समझते हुए उसकी उपासना मे प्रवृत्त हुआ करता है। इस प्रकार, परमेश्वर को अपने पति के रूप मे स्वीकार कर लेने का यह तात्पर्य कदापि नही होता कि वह किसी भक्त के लिए, साधारण सामाजिक दृष्टि के अनुसार, किसी विवाहित पुरुष का रूप धारण कर लेवे तथा यह उसकी भार्या बनकर व्यवहार करने लगे। उसका वास्तविक अभिप्राय केवल इतना ही मात्र है कि यह उसे ऐसे दृढानुराग के साथ अपना मान ले जैसे कोई सती पत्नी अपने पतिदेव को मान लेती है। यहा पर प्रश्न केवल प्रेम-भाव की उस पर्याप्त मात्रा का ही है जो पति-पत्नी-भाव मे दीख पडती है, दोनो का बाह्य सम्बन्ध केवल गौण है। इसी प्रकार हम गोपीभाव के लिए भी कह सकते है कि इस प्रकार की मनोवृत्ति की कल्पना केवल पौराणिक दृष्टान्तो के ही आधार पर की गई है और समझ लिया गया है कि गोपीभाव वाले भक्तो की मनोवृत्ति का रूप उस आदर्श प्रेमभाव का जैसा हो सकता है जिसे 'श्रीमद्भागवत' आदि पुराणों मे वर्णित रासलीलादि मे भाग लेने वाली ब्रजागनाओ का था; और वह, इसी कारण, अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का होगा। यहा पर भी किसी भक्त के लिए गोपी-रूप में परिणत हो जाना वैसे ही आवश्यक नही जैसे कांताभाव के उपासक के लिए कहा जा सकता है। यहां पर भी उक्त गोपीभाव शब्द प्रेम-भाव की अधिक मात्रा को ही स्पष्ट करने मात्र के लिए व्यवहृत किया गया है।

हम इसी के अनुसार महाभाव शब्द की भी व्याख्या कर सकते है और कह सकते हैं कि यहा पर भी उक्त वर्णन-शैली ही काम करती है। यहां पर केवल इतनी ही अधिक कठिनाई पड सकती है कि इसके आदि मे लगा हुआ 'महा' शब्द उपयुक्त काता अथवा गोपी जैसे शब्दो का-सा किसी स्पष्ट वस्तु की ओर निर्देश नही करता, प्रत्युत प्रत्यक्षत भाव शब्द के अर्थ को केवल अधिक गम्भीर-मात्र बना देता है। परन्तु यदि महाभाव शब्द के प्रयोगो पर उसकी प्रासगिक दृष्टियो से विचार करे तो पता चलेगा कि यहां पर भी उसका अभिप्राय वैसा अस्पष्ट नही जैसा हम प्राय समझ लिया करते हैं और यहां वह केवल उस मनोवृत्ति का परिचायक है जो राधा की कृष्ण के प्रति अपने प्रेमभाव की अनुभूति करते समय रही होगी तथा जो इसी कारण, सर्वाधिक गूढ और महान भी कहला सकती है। राधा कोई साधारण प्रेमिका नही है और न उसका सम्बन्ध कृष्ण के साथ केवल उन्हे एक साधारण प्रेमपात्र मानकर ही निर्मित है। यदि कृष्णोपासको की धारणा के अनुसार विचार किया जाय तो वे दोनो ही तत्त्वत एक और अभिन्न है, जिस कारण दोनो के पारस्परिक प्रेमभाव की कल्पना करते समय हमे उसे उस रूप तक का मान लेना पड सकता है जो परमादर्शत सम्भव हो सकता है। फलत 'महाभाव' की मनोवृत्ति के साथ उपासना करने वाले कृष्णभक्त को उसके लिए सर्वप्रथम राधाभाव मे आ जाना भी आवश्यक हो सकता है जो स्वय अत्यन्त कठिन और दुरूह कहा जा सकता है और जो, इसी कारण, उक्त मन स्थिति को और भी ऊची बना देता है। प्रत्यक्ष है कि यहा पर भी कोई भक्त अपने को राधा की जैसी स्थिति मे डालकर ही 'महाभाव' का अनुभव कर सकता है। उसके जीवन मे राधा के जैसा व्यवहार करने की मनोवृत्ति आ सकती है; किन्तु यह इसके कारण, स्वय राधा ही नही बन जाया करता।

यह महाभाव भी, राधा के साथ विशेष रूप मे सम्बन्धित होने के कारण, काताभाव अथवा गोपीभाव का ही एक स्तर-विशेष हो सकता है और इसके लिए भी हमे अन्य प्रकार के किसी पुरुष एव स्त्री के ही पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध की कल्पना करनी पड सकती है। परन्तु सखीभाव के लिए ऐसी बातो का होना अनिवार्य नही और न इसे केवल काताभाव के ही भीतर सीमित रखा जा सकता है। सखीभाव के उपासक भक्त अपने को कृष्ण की काता वा प्रिया बनकर ही भक्तिभाव प्रदर्शित करना नही चाहते। ये अपने को राधा की उस अतरग सहचरी के रूप मे मानकर भी चलते है जिसके लिए उन दोनो ही प्रेमी-प्रेमिकाओ की कोई भी बात छिपी नही है। ये राधा की समप्राण चिरसगिनी है जिसका अभिप्राय सखा वा सखी शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। इनमे एव राधा मे इसी कारण, वस्तुत कोई भेद भी नही दिखलाया जा सकता। केवल राधा एव सखी शब्दो के पृथक-पृथक व्यवहार के ही आधार पर उन दोनो मे किसी अन्तर की कल्पना की जा सकती है जो स्वभावत अत्यन्त सूक्ष्म भी हो सकता है। कृष्ण एव राधा मे तत्त्वत. कोई भी अन्तर नही है, क्योकि राधा कृष्ण की शक्ति-रूप है और वे दोनो एक-दूसरे से कभी पृथक नही किए जा सकते, जिस प्रकार चन्द्र से चादनी नही की जा सकती और न जिस प्रकार हम किन्ही दो अभिन्न पदार्थों के ही विषय मे कह सकते है। परन्तु किसी भक्त एव भगवान के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे भी हम ठीक इसी प्रकार का वर्णन नही कर सकते और न राधा की सखी होने मात्र से ही, हम उसे इनसे सर्वथा अभिन्न मानकर कोई कल्पना कर सकते है। जिस प्रकार भक्त एव भगवान को केवल भक्तिभाव-प्रदर्शन की दृष्टि मे ही सही, किसी रूप मे पृथक मान लेने की आवश्यकता पडती है, उसी प्रकार हमे राधा एव उसकी सखी की भी, लगभग उसी प्रकार एक-दूसरे से पृथक कल्पना करना उपयुक्त होगा। अतएव, सखी-भाव का भक्त कृष्ण एव राधा के उपर्युक्त एक एव अभिन्न रूप की उपासना, उनके अत्यन्त निकटवर्ती आत्मीय का भाव, ग्रहण करके ही कर सकता है।

यहा पर एक प्रश्न इस रूप मे भी उठ सकता है कि यदि कोई भक्त उपर्युक्त काताभाव, गोपीभाव, महाभाव अथवा सखीभाव की दृष्टियो से अपने भगवान की उपासना करता है तो उसके द्वारा प्राप्त होने वाले उसके आनन्द का स्वरूप क्या हो सकता है? क्या वह इनमे से किसी के भी द्वारा स्वय आनन्दित हो उठता है और इस प्रकार उसका उद्देश्य मूलत स्वार्थपरक ही हुआ करता है? काताभाव, गोपीभाव तथा महाभाव के विषय मे तो हम पर प्राय निर्विवाद रूप से भी कह सकते है कि यदि उनकी मूल प्रवृत्ति किसी पति एव पत्नी-विषयक प्रेम के ही समान हो तो वह न्यूनाधिक स्वसुखपरक ही हो सकती है। यह एक दूसरी बात है कि कोई सती-साध्वी पत्नी अपने पति को सुखी देखकर

ही अपने को सुखी माने और उसको दुखी देखकर स्वय भी उसी प्रकार के दु:ख का अनुभव करने लग जाय जिस प्रकार के दु:ख मे उसका प्रियतम निमग्न हो। प्रमुखता केवल इसी भावना को दी जा सकती है कि ऐसा करने पर भी, उसे अपने निजी सुख या दु:ख का बोध हुआ करता है। परन्तु सखीभाव की उपासना करने वाले भक्तों के विषय मे भी हम सहसा ठीक उसी प्रकार का परिणाम नही निकाल सकते। सखीभाव के उपासक के लिए सर्वप्रथम विचार उसके राधा के प्रति अपने अतरग सम्बन्ध का हो सकता है जिसे वह वस्तुतः अपना माध्यम बनाकर ही चल सकता है तथा जिसके कारण उसकी अनुभूति किचित भिन्न रूप भी ग्रहण कर सकती है। यहा पर मौलिक प्रेमभाव की स्थिति का होना यथार्थत कृष्ण एव राधा के ही बीच अधिक सम्भव है जिस कारण भक्त का भाव भी ठीक वही नही हो सकता। वह अधिक-से-अधिक उस भाव पर आश्रित कहा जा सकता है जिस कारण स्वभावत. तत्परक भी बन जाता है। सखीभाव के भक्तो ने इसीलिए, इसका परिचय तत्सुखी अथवा कृष्ण एव राधा के पारस्परिक आनन्द पर आधारित सुख के रूप मे देना ठीक माना है। इसके विपरीत भाव को वे साधारणत: स्व-सुखी का विशेषण देकर उसे तत्सुखी से किंचित नीचे स्तर का बतलाया करते है।

कृष्ण एव राधा के पारस्परिक प्रेम-भाव की परिस्थिति वा वातावरण की कल्पना करते समय सखीभाव के उपासको ने किसी ऐसी स्थिति की ओर निर्देश किया है जो उन दोनो प्रेमियो के 'नित्यविहार' की दशा कही जा सकती है। इसके लिए उन्होने कृष्ण की उन ब्रजलीलाओ के समानातर मे जिनका वर्णन 'श्रीमद्भागवत' जैसे पुराणो मे किया गया मिलता है, 'नित्य वृन्दावन' की कल्पना की है जहा उन्होने दोनो दिव्य प्रेमी-प्रेमियो के शाश्वत रूप मे विराजते रहने के साथ-साथ उनकी अतरग सखी के रूप मे विद्यमान तथा उन्हे यथोचित सुविधाए प्रदान करने वाली परिचारिका की दशा मे स्वय अपने को भी दिखलाया है। 'नित्यविहार' की अवस्था के लिए उनके अनुसार इन चारो ही का होना अत्यन्त आवश्यक है। कृष्ण के पौराणिक लीला-विहारो मे हम केवल वृन्दावन, कृष्ण एव राधा अथवा गोपीगण की ही कल्पना कर सकते है। वहा पर यदि किसी चौथे अंग को स्थान दिया जा सकता है तो वह वहा की गोपियो मे मे ही कोई एक या उसमे अधिक उनकी दूती के रूप मे हो सकती है। इसके अतिरिक्त उस प्रकार की कल्पना किसी भौतिक वनस्थली तथा किसी पुरुष-वेशधारी कृष्ण एव स्त्री-रूपधारिणी राधा, तथा यदि हो सका तो, किसी वैसी ही गोपी सखी के सम्बन्ध मे भी अनुमान कर ले सकते है। परन्तु 'नित्यविहार' की दशा मे हमे ऐसे किसी भौतिक तत्त्व का अध्याहार करने की कोई वैसी आवश्यकता नही जान पडती। यहा पर कृष्ण केवल अवतार के रूप वाले वह कृष्ण नही, जिनकी चर्चा पुराणो मे की गई मिलती है और न राधा एवं वृन्दावन तक भी वे ही है। ये सभी यहा पर अभौतिक रूपधारी है जिनमे मे कृष्ण परमतत्त्व स्वरूप हैं, राधा उनके अभिन्न अग-स्वरूप है, वृन्दावन उस अखिल विश्व-रूप की ओर सकेत करता है जिसके परे अन्य किसी तत्त्व की कल्पना नही की जा सकती और स्वय सखी को भी हम इनमें से किसी से भिन्न नही ठहरा सकते और न इसके विषय मे सिवाय इसके कुछ और ही कह सकते है कि केवल सुविधा के लिए इसे 'जीवात्मा' नाम दे रखा है।

सखीभाव के इस रूप को अपनाकर सर्वप्रथम भक्तिपथ पर अग्रसर होने वाले स्वामी हरिदास कहे जाते है। स्वामी हरिदास के जीवन-वृत्त का कोई निश्चित पता नही चलता और उनके जन्म-सवत एवं जन्म-स्थान तक के विषय मे अभी मतभेद जान पडता है। नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' मे इनकी चर्चा करते हुए लिखा है :

आसुधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की।
युगल नामसों नेम जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत रहे केलि सखीसुख के अधिकारी॥
गान कला गंधर्व स्याम स्यामा को तोषे।
उत्तम भोग लगाय मोर मर्कट तिमि पोषें॥
नृपति द्वार ठाड़े रहें दरसन आसा जास की।
आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की॥

जिससे पता चलता है कि स्वामी हरिदास किसी आसुधीर नामक व्यक्ति की कीर्ति बढाने वाले थे और उनकी पदवी 'रसिक' की थी। वे कुजबिहारी कृष्ण का नाम युगल-रूप अर्थात राधाकृष्ण के रूप मे जपा करते थे और उसकी केलि का ध्यान सदा सखीभाव के साथ किया करते थे। वह सगीत की कला मे प्रवीण थे तथा उसके द्वारा राधा एव कृष्ण को प्रसन्न करने मे लगे रहते थे। वे उन्हे उत्तम भोग लगाकर मोर-बन्दर जैसे प्राणियो का भी पोषण करते थे तथा उनके दर्शनो के लिए राजा तक लालायित रहा करते थे। परन्तु इस छप्पय द्वारा हमे केवल उनका एक साधारण परिचय ही मिल पाता है। इसमे किसी ऐतिहासिक तथ्य की भी उपलब्धि नही हो पाती। इसके प्रथम शब्द 'आसुधीर' के विषय मे कई अन्य भक्तमाल के लेखक बतलाते है कि यह उनके पिता का नाम था तथा कुछ के अनुसार यह भी सकेत मिल जाता है कि वे गुर्जर देश के निवासी थे। इसी प्रकार यदि किसी-किसी ने इनकी माता का नाम गगा दिया है तो किसी ने चित्रा तथा यहा तक सकेत कर दिया है कि उनके दो भाई क्रमश जगन्नाथ एव गोविन्द नाम के भी थे।

स्वामी हरिदास की जाति का भी सारस्वत अथवा सनाढ्य ब्राह्मण होना कहा गया है। किन्तु इनमे सारस्वत का पक्ष प्रबल जान पडता है। उनका जन्म-स्थान कोई 'कोल' नामक ग्राम बतलाया गया है जो वर्तमान अलीगढ नगर से दो मील की दूरी पर है और जो अब हरिदासपुर भी कहलाता है। कुछ लोग इस प्रसग मे राजपुर का भी नाम लेते है। उनका कभी कोई विवाह भी हुआ था कि नही इसमे बहुत मतभेद है, अधिक सम्भावना यह है कि वह अविवाहित ही रहे होगे। प्रचलित परम्परानुसार उन्हे सम्प्रदाय की दृष्टि से निम्बार्क मत के साथ जोडा जाता है और उनके चित्रो मे प्राय तिलक भी मिलता है। परन्तु स्वामी हरिदासजी के भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त एव फुटकर बानियो के आधार पर भी इसकी पूरी पुष्टि नही हो पाती। फिर भी इतना निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा निम्बार्क-सम्प्रदाय के साथ इनका सम्बन्ध अधिक रहा है और उसके उपलब्ध साहित्य के प्रचुर अश द्वारा इस बात को स्वीकार भी किया गया है। स्वामी हरिदास के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होने प्रसिद्ध सगीतज्ञ तानसेन को सगीत की उच्च शिक्षा दी थी और उसी नाते सम्राट अकबर भी उनके दर्शनो के लिए वृन्दावन गया था तथा इस विषय को लेकर एकाध चित्रो की रचना भी की जा चुकी है। इन जैसी बातो के आधार पर उनका जीवन-काल सवत १५३७ से लेकर सवत १६३५ तक प्राय मान लिया जाता है जो कदाचित सत्य से अधिक दूर न कहला सके। स्वामी हरिदास द्वारा रचे गए कुछ हिन्दी-पद मिलते है जिनकी सख्या लगभग सवा सौ की है और जिनमे 'केलिमाल' नामक सग्रह के ११० पद भी सम्मिलित किए जाते है और शेष को फुटकर पदो के अन्तर्गत गिनने की परम्परा चली आती है। इन पदो की रचना पदरचना-शैली के अनुसार नियमित रूप से की गई नही प्रतीत होती, प्रत्युत ये अधिकतर गेय गीतो के ही जैसे जान पडते है। इनकी एक अन्य विशेषता यह भी है कि इनमे आया हुआ कथन कुछ-न-कुछ सवादपरक-सा भी लगता है।

इन उपलब्ध पदो द्वारा यह स्पष्ट होते देर नही लगती कि स्वामी हरिदास के इष्टदेव स्वामी वह कुजबिहारी कृष्ण है जो नित्य अपनी प्रियतमा श्यामा के साथ केलि वा विहार मे निरत रहा करते है। दोनो एक-दूसरे से कभी पृथक नही हो पाते। जिस निकुज मे इन दोनो का नित्यविहार चला करता है वह नित्य-वृन्दावन है, जहा पर उनके विनोद की प्रत्येक सामग्री सदा प्रस्तुत रहा करती है। वहा पर विभिन्न प्रकार के वाद्य यत्र बजते है, मधुर गान होता रहता है तथा नृत्य की भी कमी नही रहा करती। दोनो प्रेमियो की नित्य किशोरावस्था है, दोनो परस्पर आमोद-प्रमोद मे लीन है तथा दोनो के इस रागरग को ध्यान मे लाकर स्वामी हरिदास मगन बने रहते है। इनके ध्येय तत्त्व मे वस्तुत कोई भौतिक नृत्य-गीत नही और न उसमे कही वैसे निकुजादि का ही समावेश हो सकता है। उसमे नित्यविहार के अनिवार्य अग समझे जाने वाले उन चार प्रमुख तत्त्वो अर्थात श्यामा, कुजबिहारी, नित्यवृन्दावन एव सखी के सम्मिलित सहयोग द्वारा स्वभावत. आविर्भूत नित्यलीला का ही अश है जो मानसिक अनुभूति का विषय है। स्वामी हरिदास की दृष्टि मे वे सभी तत्त्व एक साथ उपास्य है, क्योकि इनमें से किसी को भी हम उस नित्य विहार की भावना से पृथक नही कर सकते। इन सभी के सयोग से ही उस अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि होती है जो लीलारस का आधार है और इन सभी के सहयोग द्वारा उस भाव की अनुभूति भी हो पाती है जिसे सख्यभाव अथवा सखीभाव के नाम से अभिहित किया जाता है।

उस भाव के अन्तर्गत ऐसे अनुपम प्रेमरस की अनुभूति है जो नित्य एव एकरस रहा करता है और जिसमे स्थूल विरह की कोई कल्पना भी नही है। स्वामी हरिदास के इस भक्ति-सिद्धान्त की कोई दार्शनिक व्याख्या देना आवश्यक नहीं। उन्हे केवल इतना ही चाहिए कि उस नित्यविहार के भागवत सौन्दर्य का निरन्तर अनुभव करते रहे तथा इसे अपने जीवन का प्रमुख आधार तक बना सके।

वीठलविपुल स्वामी हरिदास के प्रधान शिष्य थे जिन्हे उनका ममेरा भाई होना भी बतलाया जाता है। परन्तु वश-परम्परा के अनुसार इन्हे उनका भतीजा भी कहा गया मिलता है और प्रसिद्ध है कि यह उनके भाई गोविन्द के पुत्र थे। स्वामी हरिदास के प्रति यह अत्यन्त गम्भीर निष्ठाभाव रखते थे और कहा जाता है कि इन्होने उनका देहान्त हो जाने पर अपनी आखो पर पट्टी बाध ली थी। यह बहुत ही उच्चकोटि के रसिक कवि थे और इन्होने अपनी पक्तियों मे नित्यवृन्दावन का विशेष वर्णन किया है। इनके केवल चालीस पद ही प्राप्त है जिनके आधार पर हम इन्हे अपने सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवियो मे भी गिन सकते है। वीठलविपुल के शिष्य प्रसिद्ध बिहारिनिदास हुए जिन्हे न केवल एक सिद्ध कवि, प्रत्युत सम्प्रदाय के योग्य सिद्धान्त-व्याख्याताओ मे भी गिना जाता है। कहते है इन्होने सम्राट अकबर के यहा कुछ दिनो तक नौकरी भी की थी और अब्दुर्रहीम खानखाना के विश्वासपात्रो मे भी थे। परन्तु इन बातो की कोई ऐतिहासिक पुष्टि नही सुनी जाती। कहा जाता है कि सम्भवत यह भी स्वामी हरिदास की वश-परम्परा मे ही उत्पन्न हुए थे और एक अलमस्त जीव थे। इनकी प्राप्त रचनाओ से पता चलता है कि यह बडे निर्भीक थे और कबीर की भाति किसी की कटु आलोचना करने मे भी नही चूकते थे। इनके वे पद अधिक सरस हो पाए है जिन्हे इन्होने कृष्ण एव राधा के पारस्परिक आमोद-प्रमोद के सम्बन्ध मे लिखा है, किन्तु इनके सिद्धान्त-विषयक पद उतनी उच्चकोटि के नही है।

बिहारिनिदास के शिष्य सरसदास के प्रसिद्ध प्रशिष्य रसिकदास थे जिनके समय मे सम्प्रदाय की शाखाएं फूट निकली। इनकी मृत्यु सवत १७५८ के लगभग हुई थी जिसके पहले इन्होने अपने कदाचित सर्वप्रथम शिष्य ललित-किशोरीदास को अपना उत्तराधिकारी चुना, किन्तु उन्होने इनकी आज्ञा की अवहेलना कर दी और दूसरे शिष्य गोविन्द-दास ने भी यही किया। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि रसिकदास की अधिक प्रवृत्ति अपने सम्प्रदाय मे अन्य बातो के समाविष्ट करने की भी दीख पडी जिसे उसके अन्य अनेक अनुयायियो ने पसन्द नही किया और उक्त दोनो शिष्यो ने दो पृथक-पृथक गद्दिया स्थापित कर दी। तब से रसिकदास के स्थान पर पीताम्बरदास बैठे जिन्हे भी उन्ही के चलाए मार्ग मे विशेष जी लगा और इन्होने अपने कार्य-काल मे अनेक ऐसे व्यर्थ झगडो मे भी भाग लिया जिससे उस गद्दी की अप्रतिष्ठा हो चली। पीताम्बरदास के ही शिष्य किशोरदास हुए जिन्होने अपनी पुस्तक 'निजमत सिद्धान्त' द्वारा निम्बार्क-सम्प्रदाय के साथ घनिष्ठ नाता जोडने का बहुत प्रयास किया जिससे स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय पर बडा प्रभाव पडा। इसे पीछे आने वाले बहुत से लोगो ने निम्बार्क सम्प्रदाय की एक शाखा के रूप मे ही स्वीकार करना आरम्भ किया जो वास्तविकता से दूर जाना था। सम्प्रदाय के वास्तविक इतिहास के जानकारो का कहना है कि इसका सम्बन्ध, यदि किसी अन्य सम्प्रदाय के साथ समझा जा सकता था तो वह विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय से हो सकता था, निम्बार्क-सम्प्रदाय के साथ कभी नही हो सकता था।

रसिकदास के शिष्य ललितकिशोरीदास एक बहुत प्रसिद्ध कवि और आचार्य हुए। उन्हें अपने पद की मर्यादा का भी सदा अभिमान रहा और कहते हैं कि इसी कारण उन्होने बादशाह मुहम्मद शाह से मिलने से भी इन्कार कर दिया। इनके शिष्य ललितमोहिनीदास हुए जिन्होंने भी अपने गुरु की मान्यताओ को भरपूर निभाया। सखी-सम्प्रदाय की यही शाखा पीछे 'टट्टी सस्थान' कहलाकर प्रसिद्ध हुई और इसे इतना महत्त्व मिला कि इसी नाम से लोग उसे भी पुकारने लगे। ललितकिशोरीदास ने विपुल साहित्य की रचना की और उनका संवत १८२३ में देहान्त हुआ। सखी-सम्प्रदाय के इधर वाले आचार्यों मे सबसे योग्य भगवतरसिक जी कहे जाते है जिनकी रचनाएं साहित्यिक दृष्टि से भी कम अच्छी नही है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत उन दिनों इतने प्रपच बढ़ते जा रहे थे कि भगवतरसिक जी को अन्त मे, वृन्दावन छोडकर प्रयाग जाना पड गया। किन्तु इन्होने सदा अपने को इन बातों से निर्लिप्त रखा और अपने जीवन-काल के अन्त तक अपने मत पर दृढ रहे।

इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत कुछ महिलाए भी दीक्षित हुई थी जिनमे से प्रसिद्ध बनी-ठनीजी महाराजा नागरीदास की 'पासवान' या 'रखैल' थी। स्वय नागरीदास जी वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु बनीठनीजी ने रसिकदास मे दीक्षा ग्रहण कर ली। इनका देहान्त सवत १८२२ मे हुआ।

सखी-सम्प्रदाय, जिसके प्रवर्तन का श्रेय स्वामी हरिदासजी को प्रदान किया जाता है, पहले किसी सगठित रूप मे नही चला था और जैसा कि अभी देख आए है इसमे कुछ ही दिनो के अनन्तर तीन-तीन टुकडे तक हो गए। इसके सिवाय इसके अनुयायी आचार्यों मे से भी केवल कुछ ही ऐसे हुए जिन्होने पर्याप्त साहित्य की रचना की। फिर भी, इसमे सन्देह नही कि इस सम्प्रदाय मे अपनी कुछ विशेषताए रही जिनका दूसरे कई सम्प्रदायो पर भी स्पष्ट प्रभाव पडे बिना नही रह सका। इस सम्प्रदाय की भक्ति विशुद्ध प्रेम की अनुगामिनी थी जिसे स्वामी हरिदास ने नित्यविहार के अलौकिक क्षेत्र मे अनुभव किया तथा जिसकी व्याख्या करते समय उन्होने कुछ-न-कुछ नवीन सुझाव भी उपस्थित किए। इन सभी का एक सुन्दर निचोड भगवतरसिक के 'अनन्यनिश्चयात्म' ग्रन्थ मे पाया जाता है जो सर्वथा सग्रहणीय है। अनन्य-भाव का प्रेम इस सम्प्रदाय का सर्वस्व है जिसके सामने इसका सच्चा अनुयायी किसी अन्य बात की परवाह नही करता। इस प्रेम की दृष्टि मे उसे किसी प्रकार के भी विधिनिषेध की मान्यता नही है। फिर भी इस उपेक्षाभाव का यह अर्थ नही कि वह अपने समाज के हितो के प्रति कोई विरोध-भाव को प्रश्रय देता है। इसका भाव केवल इतना ही है कि उस अनन्य प्रेम-तत्त्व को यह अपने जीवन मे स्थान देकर उसके द्वारा उसमे पूर्ण परिवर्तन ला देना चाहता है जो स्वय स्तुत्य है। इन लोगो की दृष्टि मे सामाजिक वर्ग-भेदो का कोई महत्त्व नही है और न वैदिक वा तान्त्रिक कर्मकाण्ड का ही कोई मूल्य हो सकता है। इनके लिए पाडित्य-प्रदर्शन अथवा शास्त्रीयता से कुछ भी तात्पर्य नही और न तीर्थ-व्रत को ही ये किसी उच्च पद पर बिठाते है। इन्हे शालिग्राम की पूजा तक मे, अपने इष्टदेव के सौन्दर्य का अनुभव न हो पाने के कारण, वैसा विश्वास नही है। इनकी वेशभूषा बहुत साधारण कोटि की हुआ करती है और उसमे किसी दिखावे को स्थान नही दिया जाता। इनमे जो साधु रसिक हुआ करते है उन्हे केवल दो कौपीन तथा शरीर-रक्षा के लिए कोई गूदडी-मात्र चाहिए। इसी प्रकार पात्रो की जगह इन्हे केवल करवा-मात्र चाहिए जिससे जल पीने का काम चल जाता है। बिहारिनिदास ने अपनी साखियो मे कहा है, 'चौतार फट जाय, किन्तु मेरी गूदडी नित्य नई ही बनी रहती है और इसी के आधार पर मुझे परमार्थ भी मिल सकता है। इसी प्रकार 'करवा चाहे दूसरो को कडवा लगता हो, किन्तु मेरे लिए तो यह मीठा ही मीठा है।' ये लोग वृन्दावन के रज को अपने शरीर पर धारण करते है और कभी-कभी किसी टूटी लकडी की कूबरी भी लिये दीख पडते है। आचार्यों के प्रति इन्हे अपार निष्ठा रहा करती है और अपने परमाचार्य अर्थात स्वामी हरिदासजी को ये लोग ललिता का नित्य रूप भी स्वीकार करते है। इनकी दैनिक चर्या मे वृन्दावन मे रहते हुए यमुना-स्नान, नित्य-विहारी का दर्शन, प्रसाद-ग्रहण, वाणी-पाठ, नाम-जप आदि प्रमुख है। इन्हे भाव की सेवा ही सर्वाधिक प्रिय है जिसकी मनोवृत्ति का परिचय ललितकिशोरी के इस पद्य द्वारा प्रकट होता है·

हममें कुंज कुंज में हम है,
कुंज बिहारी सोई मम है।
ललित प्रिये के रस में सम है,
अब काहू की रही न गम है॥

सखी-सम्प्रदाय के अनुयायियो के लिए यह एक विधान-जैसा ही है कि वे प्राय· स्वामी हरिदास के वशजो से ही दीक्षा ग्रहण करते है और उसके अनन्तर वे रसिक की छाप लेकर अपनी साधनाओ मे लग जाते है। ऐसे साधको के लिए यह अधिक आवश्यक है कि वे अपनी मनोवृत्ति को भरसक अधिक-से-अधिक प्रेममयी बनाने की चेष्टा करे। इस सम्प्रदाय के अनुसार भी गोपियो वा सखियो मे दो प्रमुख भेद देखने मे आते है जिनमे एक 'सखी' और दूसरा 'मजरी' का है। सखी का परिचय देते समय कहा जाता है कि इस पद के उपयुक्त केवल वही समझी जा सकती है जो राधा की समजातीया सेवा द्वारा कृष्ण को सन्तुष्ट कर सके और इनके लिए ललिता-जैसी गोपियो का उदाहरण दिया जाता है। इसके विपरीत 'मजरी' उन्हे कहते हैं जिनका कर्तव्य श्यामा एव कुजबिहारी की समुचित सुविधाओ पर ध्यान देना रहा

करे। ये सखिया वस्तुत. राधा की दासिया मानी जा सकती हैं और ये सखियों की अपेक्षा कम अवस्था की भी हो सकती हैं। किन्तु राधा का अतरग होने के कारण इन्हे उन सखियो से भी अधिक अधिकार वाली समझा जाता है। इन सभी प्रकार की सखियो का उद्दश्य कृष्ण एव राधा के ही सुख के लिए विविध चेष्टाए करना रहता है। इन्हे स्वसुख की अभिलाषा नही रहा करती। इन्हे कृष्ण के साथ स्वय विहार करने की कोई उत्सुकता नही रहती, प्रत्युत ये उन दोनो के नित्यविहार को ध्यान मे रखना भर ही चाहती है।

वास्तव मे, इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत गोपीतत्त्व को उतना महत्त्व ही नही दिया गया है जितना अन्य सम्प्रदायो मे। उदाहरण के लिए, इस सम्प्रदाय से बहुत कुछ मिलता-जुलता हितहरिवशजी का राधावल्लभ सम्प्रदाय है जिसमे भी सखीभाव की न्यूनाधिक व्यवस्था दी गई दीख पडती है और वहा पर कई बाते ऐसी है जिनके कारण ये दोनों प्राय· एक-से जान पडते है। परन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय की सखी-सम्बन्धी भावना की जो सबसे उल्लेखनीय बात है वह वहा पर गोपीतत्त्व को भी बहुत-कुछ प्रश्रय दे डालता है जो हरिदासी सखी-सम्प्रदाय को कभी स्वीकार नही है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत सखी-सम्प्रदाय की भावना का वस्तुतः गोपीतत्त्व की ओर से क्रमिक विकास हुआ है, किन्तु वहा पर फिर भी इसे सर्वथा त्यागा नही जा सकता है और इसके पूर्ण विकसित रूप मे भी पहली भावना का प्रभाव अक्षुण्ण चला आता है। इसके अतिरिक्त जहा तक नित्यविहार के अन्य अगो का प्रश्न है राधावल्लभ सम्प्रदाय वृन्दावन को अधिकतर उसके भौतिक रूप मे ही देखता है। इसके कृष्ण भी उस रूप मे परमतत्त्व बनकर अधिष्ठित नही है जिस रूप मे हरिदासी सखी-सम्प्रदाय मे दीख पडते है। इसके अतिरिक्त, राधावल्लभ सम्प्रदाय की धारणा के अनुसार उनकी लीलाओ मे हमे वैविध्य की बानगी भी देखने को मिलती है, जहा हरिदासी सखी-सम्प्रदाय के अन्तर्गत केवल दोनो दिव्य प्रेमियो के नित्य सयोग की ही कल्पना है तथा उसमे कभी किसी प्रकार का विरहभाव नही आ सकता।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के सस्थापक हितहरिवशजी थे जो हरिदासजी के ही समसामयिक थे। उनका जन्म सवत १५५९ मे हुआ था तथा सवत १६०९ मे उन्होने निकुजगमन किया और अपने जीवन भर एक विशुद्ध प्रेमी जीव बने रहे। इनके सम्बन्ध मे लिखे गए नाभादास के एक छप्पय से यह पता चलता है कि इन्होने दिव्य युगल दम्पती कृष्ण एव राधा की कुज-केलि के अवसर पर नित्य 'खवासी' की और इस प्रकार पूर्ण आनन्द का अनुभव करते रहे। इन्होने प्रेमतत्त्व को अपनी भावना के अनुसार हित का नाम दिया है और सम्प्रदाय के अन्तर्गत इन्हे उसकी साकार मूर्ति तक मानने की परम्परा है। इनके कई छोटे-छोटे ग्रथ प्रसिद्ध है जिनमे से 'राधासुधानिधि' सस्कृत मे लिखा गया है। इस रचना के अन्तर्गत उन्होने राधा को विशेष महत्त्व प्रदान किया है और उनकी दृष्टि मे वे कृष्ण से भी बढकर जान पडती है। इनका 'यमुनाष्टक' ग्रथ भी सस्कृत मे ही है, किन्तु अन्य रचनाए हिन्दी भाषा मे लिखी गई है और अधिकतर पद-सग्रहो के रूप मे है। इन रचनाओं मे उनके हितचौरासी पदों को अधिक मूल्यवान समझा जाता है और उन्ही के अन्तर्गत उनके सखीभाव की भी विशेष प्रतिष्ठा की गई है। इनके इन पदो मे भाव-सौन्दर्य, पद-लालित्य एव गेयत्व का भी अश प्रचुर मात्रा मे दीख पडता है। इनके पढने पर ऐसा लगता है जैसे सारी वर्णित बातो का रचयिता इनको अपनी आखो द्वारा स्पष्ट रूप मे देख रहा है और वह नितान्त भावविभोर भी है। स्वामी हरिदास के सखीभाव द्वारा हित-हरिवशजी प्रभावित हो सकते है, किन्तु फिर भी उनकी अनेक अपनी विशेषताए भी है।

हितहरिवशजी के प्रसिद्ध शिष्य हरिराम व्यास थे जिन्हे केवल व्यासजी के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन्हे कुछ लोगो ने माध्व सम्प्रदाय मे भी दीक्षित माना है, किन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नही मिलता। यह वास्तव मे, हित हरिवशजी द्वारा ही दीक्षित रहे और यो इन पर स्वामी हरिदास का भी पूरा प्रभाव पडा था। यह मूलत ओरछा के निवासी थे और हितहरिवशजी के सम्पर्क मे आने पर पीछे वृन्दावन मे आकर भी रहने लग गए थे। आयु मे हित हरिवशजी से कुछ ही छोटे थे। स्वामी हरिदास एव हित हरिवशजी दोनो के ही प्रति निष्ठा रखने के विषय में उन्होने स्वय कहा है

हरिवंशी हरिदासी जहां, मोहि कृपा करि राखहु तहां, नित विहार आधार दै।[1]

१. भक्तकवि व्यासजी, पृ० ४२७

जिसमे यह भी पता चलता है कि नित्यविहार की भावना भी उनमे अत्यन्त दृढ रही होगी। उनकी रचनाए बहुत है और उन सभी को हम न केवल भावाभिव्यक्ति, अपितु रचना-कौशल की दृष्टि से भी अच्छी कोटि की ठहरा सकते है। इनकी वाणियो मे स्वभावत पदो की ही सख्या अधिक है और उनके अतिरिक्त इनकी बहुत-सी साखिया भी उपलब्ध है जिनमे इन्होने अधिकतर सिद्धान्तपरक बाते कही है तथा अपनी एक रचना 'रासपचाध्यायी' के छन्दो द्वारा इन्होने रासलीला का भी विशद वर्णन किया है। व्यासजी को कृष्ण एव राधा के अतिरिक्त किसी भी अन्य को इष्टदेव मानना अथवा उसके प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित करना पसन्द न था। इन्हे गणेशादि देवताओ के पूजन के प्रति भी उपेक्षा थी और यह ऐसी बातो को स्पष्ट कह देने से भी नही चूकते थे। इन्हे दिव्य प्रेमी-प्रेमिका के नित्य-विहार का मनोयोगपूर्वक ध्यान करना और उसका यथातथ्य वर्णन करना ही सबसे अधिक प्रिय था।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के एक अन्य अच्छे कवि सेवकजी भी है जिनका पूरा नाम दामोदरदास था। ये जबलपुर (मध्यप्रदेश) के निकटवर्ती गढा गाँव के ब्राह्मण-परिवार मे उत्पन्न हुए थे और पीछे वृन्दावन मे आ गए थे। इनकाजीवन-काल सम्भवत केवल ३३ वर्षों का ही रहा, किन्तु इतने ही समय मे इन्होने अपने सम्प्रदाय के भीतर बहुत बडी प्रसिद्धि पाली। इनकी रचनाओं को हितहरिवशजी के पदो के ही साथ पढा जाता है और इनके प्रति बहुत सम्मान भी प्रदर्शित किया जाता है। यह यद्यपि हितहरिवशजी से दीक्षित नही हो पाए थे, किन्तु उनके प्रति इनकी अपार निष्ठा थी और इस बात का परिचय हमे इनकी रचनाओ द्वारा भी मिल जाता है। श्याम एव श्यामा के युगल स्वरूप की आराधना वाले पद इनके भी मिलते हैं, किन्तु राधा के लिए इन्हे भी वैसी ही एकान्त निष्ठा है जैसी हितहरिवश जी की थी और उसी प्रकार यह उनका गुणगान भी करते है। इन सेवकजी के ही साथ एक अन्य ऐसे कवि चतुर्भुजदास का भी नाम लिया जाता है जिनके लिए प्रसिद्ध है कि वह साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का निरूपण भी बडी योग्यता के साथ किया करते थे तथा इस प्रसग मे प्राय प्राचीन प्रमाणो को भी देने मे कभी नही चूकते थे। इनके प्रभाव से प्रभावित होकर गोडवाना प्रदेश के नेही नागरीदास भी राधावल्लभी सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए थे और आगे चलकर अत्यन्त भावुक एव रसिक भक्तों की श्रेणी मे गिने गए। नेही नागरीदास की रचनाए भी प्रचुर सख्या मे उपलब्ध है।

परंन्तु इन भक्तो से भी अधिक काव्य-रचना करने वाले ध्रुवदास तथा चाचा हितवृन्दावनजी हुए। ध्रुवदास की रचनाओ की एक विशेषता है कि उनमे हरिदासी सखीभाव की निष्ठा कही अधिक मात्रा मे व्यक्त की गई दीख पडती है। वास्तव मे, हितहरिवशजी तथा उनके अनेक अन्य अनुयायी कवि भी ध्रुवदास के समय तक गोपीतत्त्व को विशेष रूप से अपनाते आ रहे थे और उन्होने उसके प्रति ऐसा भाव कदाचित कभी भी व्यक्त नही किया था जिससे सखीभाव का अधिक महत्त्व जान पडे। ध्रुवदास ने ही अपनी रचनाओ द्वारा उस प्रकार की भावना को विशेष प्रश्रय दिया और उसका स्पष्ट वर्णन भी किया। इनकी यह विचारधारा हरिदासजी और विशेषकर विहारिनदास द्वारा प्रकट किये गए सिद्धान्तो से बहुत मेल खाती है। ध्रुवदास ने अपने सम्प्रदाय मे स्वीकृत बातो का वर्णन भी किया है, किन्तु उन्हे पृथक स्थान दे डाला है। इनके विषय मे अधिक विवरण नही मिलता, किन्तु जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे पता चलता है कि इनकी साम्प्रदायिक भावना इनके पूर्वजो की देन थी। इनका देहान्त विक्रम की १७वी शताब्दी के अत मे कभी हुआ था और यह किसी कायस्थ परिवार मे उत्पन्न हुए थे। ध्रुवदास के बयालीस ग्रथ प्रसिद्ध है, किन्तु वे प्राय सभी बहुत छोटे-छोटे है और उनमे से अधिक मे लीलाओ का वर्णन मिलता है।

चाचा हितवृन्दावनजी ध्रुवदासजी के लगभग ५०–६० वर्ष पीछे उत्पन्न हुए और इन्होने उनसे भी अधिक रचनाए प्रस्तुत की। यह सम्भवत अपने जन्म से ही व्रजवासी थे और वहा के गोस्वामी के पिता के गुरुभाई होने के कारण चाचा कहलाकर प्रसिद्ध हो गए थे। इनकी रचनाओ की यह एक विशेषता है कि उन्होने उनका विषय केवल साम्प्रदायिक तत्त्वो तक ही सीमित नही रखा, प्रत्युत इन्होने सख्यभाव के अतिरिक्त शान्त, दास्य, वात्सल्य आदि पर भी कुछ-न-कुछ रचनाए कर डाली और इधर पता चला है कि इनका एक बडा-सा ग्रथ रामचन्द्र के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाला भी मिला है जो इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से उल्लेखनीय समझा जा सकता है। इनकी रचना प्रसिद्ध 'लाडसागर' के अन्तर्गत कृष्ण एव राधा के बाल्यकाल से लेकर क्रमश. आगे तक के जीवन का वर्णन कुछ विस्तार के

साथ किया गया है और इसके साथ ही उसमें पूरे ब्रज-जीवन का भी प्रतिबिंब दीख पडता है। लगभग इसी विषय को लेकर इन्होने एक अन्य बडे ग्रथ 'ब्रज प्रेमानन्द सागर' की भी रचना की है। इनकी रचनाओं मे कतिपय ऐसी भी मिलती हैं जिनमे छन्द-लीलाओ का वर्णन किया गया है और उनके द्वारा विनोदप्रियता के विविध प्रसंग छेडे गए हैं। वास्तव मे इनकी रचनाए हमारे सामने कतिपय सुन्दर प्रबन्ध-काव्यों के भी उदाहरण उपस्थित करती है जो वहा प्रायः कम मिला करते है।

हितहरिवशजी के राधावल्लभ सम्प्रदाय की ही भाति सखी-सम्प्रदाय का प्रभाव निम्बार्क-सम्प्रदाय की साधना पर भी पडा। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत उपास्य का रूप ब्रह्मवत ही समझा जाता रहा, किन्तु वह पीछे कृष्ण के रूप मे भी गृहीत हुआ। इसके सिवाय वहा राधातत्त्व का भी समावेश था, किन्तु फिर भी युगल की उपासना हरिदासी सखी-सम्प्रदाय की भाति नही थी। निम्बार्क-सम्प्रदाय के कृष्ण एव राधा साधारणतः ब्रज मे केलि करने वाले ही जैसे लगते है और वहा पर गोपियो के यूथ भी विद्यमान है। वहा पर प्रसगतः दास्यभाव भी आ जाता है जिस कारण, सख्यभाव का वह रूप जो हरिदासी सम्प्रदाय मे स्वीकृत है, कभी वैसा अमिश्रित नही रह पाता। इसके सिवाय निम्बार्कीय उपासना में कर्मकाण्ड का भी महत्त्व कम नही, किन्तु हरिदासी सखीभाव मे उसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की जाती है तथा विधि-निषेधमयी बातो का खडन तक दीख पडता है। निम्बार्क-सम्प्रदाय मे सखीभाव का प्रवेश विशेषत. उस समय से ही होने लगा जब से उसमे ब्रजभाषा में लिखने वाले कवियो का आविर्भाव हुआ और जब से इस उपासना-पद्धति का प्रचार भी अधिक बढने लग गया। इसे अपनाने वाले सर्वप्रथम कवि कदाचित श्री भट्ट जी थे जिन्हे नाभादास ने 'मधुर भाव सवलित ललित लीला' की छवि देखकर हर्षित होने वाला तथा रसिको के लिए 'मोद घन' बनकर भक्ति का प्रचार करने वाला बतलाया है। इनके जीवन-काल के विषय मे कुछ मतभेद होने के कारण कभी-कभी इन्हे माधुर्य रस का सर्वप्रथम कवि भी मान लेते है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'युगल सत' वा 'युगलशतक' के रचना-काल-सम्बन्धी दोहे मे आए हुए 'राग' शब्द के स्थान पर 'राम' पढ जाने के कारण भ्रमवश लोगो ने स० १६५२ को स० १५५२ समझ लिया, जिसमे उसमे १०० वर्षों का अन्तर आ गया। इस भ्रम का निवारण तब हुआ जब श्री भट्ट के गुरु कश्मीरी भट्ट के जीवन-काल तथा स्वय उनके भी विषय मे किये गए हरिराम व्यास एव ध्रुवदास के उल्लेखो पर पूरा विचार किया गया। श्री भट्टजी के वर्णनो मे जिस लीला का परिचय मिलता है वह ब्रज की लीला ही प्रतीत होती है तथा उनके कृष्ण एव राधा का व्यक्तित्व भी पृथक-पृथक दीखता है। इस प्रकार यद्यपि वहा पर श्री भट्टजी सखी के रूप मे उन लीलाओ का अनुभव करते दीख पडते हैं, वह गोपीभाव का जैसा ही लगता है तथा उसमे मधुरोपासना का भी यथेष्ट अश विद्यमान है जिसके कारण, वह सखी-सम्प्रदाय के अनुसार वर्णित उपासना से कुछ-न-कुछ भिन्न रूप धारण कर लेता है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के एक अन्य प्रसिद्ध कवि हरिव्यासजी है जिनका रचना-काल स० १६२५ से स० १६८० तक माना जाता है। यह गौड ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए और इनका जन्मस्थान मथुरा नगरी कही जाती है। इनके द्वारा अनेक सस्कृत-ग्रथ उपलब्ध है, किन्तु ब्रजभाषा मे लिखी गई केवल 'महावाणी' ही मिलती है जिसके आधार पर इन्हे कुशल कवि समझा जाता है। हरिव्यासजी की 'महावाणी' के विषय मे प्राय. सन्देह भी किया जाता है कि यह उनकी रचना है भी या नही। परन्तु बहुत से लोगो ने इस प्रकार के सन्देह का कोई पुष्टकारण नही पाया है और वे इसे उनकी ही रचनाओ का सग्रह मान लेते है। 'महावाणी' ग्रंथ के अन्तर्गत जिन सिद्धान्तो की झलक मिलती है उनके अनुसार उपास्यदेव के युगल रूप मे प्रिया एव प्रियतम के नित्यविहार निरत जोडी का समावेश है और उनकी लीला की सयोजिता सखी को नित्यप्रेमरूपा कहा गया है। यहा पर लीला या विहार का रूप अधिकतर वैसा ही मिलता है जैसा सखी-सम्प्रदाय का है, किन्तु उसमें मधुरभाव की प्रचुरता है। हरिव्यासजी के १२ शिष्यों मे परशुरामदेव विशेष प्रसिद्ध है जिन्हे जयपुर का निवासी होना कहा जाता है। इनके बहुत से ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमे से कुछ मे निर्गुणभक्ति के भी उदाहरण उपलब्ध होते है और कभी-कभी इनके विशुद्ध निम्बार्क सम्प्रदायी होने मे सन्देह किया जाता है। परशुरामदेव के ही एक प्रशिष्य वृन्दावनदास थे जिनके शिष्य प्रसिद्ध घनानन्द कवि हुए। घनानन्द का जन्म संवत १७३० माना जाता है और प्रसिद्ध है कि

उन्हें अहमदशाह अब्दाली के साथ आये हुए आक्रामकों ने मार डाला। घनानन्द एक अत्यन्त कुशल कवि थे और उन्होने बडी ही सरस कविता भी की है। किन्तु विवेच्य सखी-सम्प्रदाय की दृष्टि से उसका उतना महत्त्व नही है। घनानन्द ने अपनी रचनाओं के अतर्गत उन सभी बातो का भी समावेश कर दिया है जो उसके विशुद्ध रूप से भिन्न सिद्ध होती है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के अन्य कवियो मे रसिक गोविन्द का भी नाम लिया जा सकता है जिनकी रचना 'युगलरसमाधुरी' इस विषय की दृष्टि से उल्लेखनीय है, किन्तु जिसकी बातो मे हमे कोई विशेषता भी नही दीख पडती।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की ही भाति गौडीय सम्प्रदाय के कवियो पर भी सखी-सम्प्रदाय की उपासना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और उनमे मे कुछ ने उच्चकोटि की रचनाए भी प्रस्तुत की है, परन्तु इनके दृष्टिकोण मे कुछ अन्तर भी दीख पडता है। गौडीय सम्प्रदाय की भक्ति-प्रणाली मे कृष्ण एव राधा की उपासना के प्रचलित होने पर भी वहा राधा का अधिक महत्त्व है। इस कारण गोपीभाव को यहा पर 'महाभाव' के रूप मे भी लिया गया है तथा सखीभाव गोपीभाव तक ही सीमित रह जाता है। गोपी कभी-कभी कृष्ण की प्रेमिकाओ का रूप भी ग्रहण कर लेती है जिसमे सख्यभाव अमिश्रित नही रहने पाता। गौडीय सम्प्रदाय के ऐसे कवियो मे समय की दृष्टि से सर्वप्रथम नाम गदाधर भट्ट का आता है। इन्होने अपनी रचनाओ द्वारा अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं का ही अनुसरण किया है; किन्तु एक बात में उससे कुछ भिन्न मार्ग भी ग्रहण कर लेते जान पडते हैं, जहा पर यह राधा को परकीया न मानकर प्राय कृष्ण की स्वकीया बना देते है। फिर भी इनकी सखीभावपरक रचनाए भी महत्त्वपूर्ण है तथा इनकी रचनाशैली भी सुन्दर कही जा सकती है।

गौडीय सम्प्रदाय के एक अन्य ऐमे कवि सूरदास मदनमोहन को नाभादास ने सखीभाव की उपासना करने वाली सहचरी तक की पदवी प्रदान की है जिससे पता चलता है कि इनकी भक्ति का रूप क्या रहा होगा। सूरदास मदनमोहन की अनेक रचनाओ का प्रसिद्ध वल्लभ-सम्प्रदाय वाले महाकवि सूरदास के पदो मे घुल-मिल जाने के कारण उनकी प्रामाणिकता मे सन्देह भी किया जाता है। फिर इनके जो पद प्रामाणिक मान लिये गए है उनके देखने से इनके सखीभावोपासक होने मे कोई सन्देह नही रह जाता। जिन लोगो ने इनकी रचनाओ का अध्ययन हरिदासजी के पदों के साथ रखकर किया है उनका कथन है कि यह उनके बहुत समान भाव व्यक्त करते हैं तथा कभी-कभी तो ऐसा जान पडता है कि एक मे दूसरे की व्याख्या तक कर दी गई है। सूरदास मदनमोहन ने स्वभावत. राधा को विशेष महत्त्व दिया है और कृष्ण को उनके पीछे परछाई की भाति अनुसरण करता हुआ भी दिखलाया है। इस सम्प्रदाय के अन्य ऐसे कवियों में वल्लभरसिक एव भगवतमुदित के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वल्लभरसिकजी की एक यह विशेषता है कि वह सयोग पक्ष के बहुत सफल कवि है। उन्हे विरह का उल्लेख तक करना कदाचित पसन्द नही है। नाभादास ने भगवतमुदित को भी सखीभाव के ही उपासक के रूप मे स्मरण किया है। यह अनन्य भजनानन्दी थे और इनकी मनोवृत्ति का स्तर साधारणत विधिनिषेधों से कही ऊपर का समझा जा सकता था। यह गौडीय सम्प्रदाय के महन्त किसी हरि-दास के शिष्य थे और उनके प्रति अपना सर्वस्व तक अर्पण करने की इच्छा से एक बार उनसे मिलने को उत्सुक बन गए थे। किन्तु गुरु ने ही इस बात को ठीक न माना। भगवतमुदितजी ने एक 'भक्तमाल' की भी रचना की है जिसका नाम 'रसिक अनन्यमाल' है। इनका सखीभाव-वर्णन सरस और उत्कृष्ट है। इस सम्प्रदाय के अन्य कवियो मे भक्तभाल के टीकाकार प्रसिद्ध प्रियादास की भी चर्चा की जाती है। इन्होने भी सरस भाव का वर्णन किया है।

गौडीय सम्प्रदाय के कवियो ने जिस प्रकार सखीभाव को अपनाया था, उसी प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय वालो ने भी किया। वास्तव मे, इसके कवि काव्य-कौशल की दृष्टि से भी बहुत उच्चकोटि के कलाकार हुए और उन्होने इस भाव को वैसे स्वतन्त्र रूप मे भी प्रश्रय दिया। वल्लभ-सम्प्रदाय का उपासनाभाव अपने वात्सल्य-सम्बन्धी तत्त्व के लिए भी प्रसिद्ध था, किन्तु उसके गोपीभाव मे भी कोई कमी नही थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एव 'दो सौ बावन वैष्ण-वन की वार्ता' के भी देखने से पता चलता है कि ऐसे कवियों मे सखीभाव की मात्रा कहा तक थी तथा कहा तक सख्यरस का वर्णन करने मे उन्होने अपनी निपुणता प्रदर्शित की थी। वहां पर हमे यहां तक देखने को मिलता है कि भक्तो के प्रसंग में कभी-कभी उनके पशुओं तक को सखीपरक नाम दे दिया गया है। उदाहरण के लिए, कुभनदास की वार्ता के

प्रसग मे जहा 'भाव प्रकाश'-कार ने दिवस की लीला मे उन्हे ठाकुरजी का अतरग सखा 'अर्जुन' का नाम दिया है और रात्रि की लीला के लिए उन्हे 'विसाखा' कहा है, वहा पर वार्ता २ के प्रसंग मे यह भी आया है कि म्लेच्छो के आक्रमण होते समय उनसे बचाने के लिए कुभनदास आदि चार भक्तो ने जिसमे भैसे द्वारा श्री गोवर्धननाथजी को अपने स्थान मे हटाया वह श्री स्वामिनीजी के बाग की मालिन रह चुका था और लीला की चर्चा करते समय उसे 'वृन्दा' सखी का नाम तक दे दिया गया दीख पडता है।[1] वल्लभ-सम्प्रदाय की दृष्टि से वस्तुत गोपी वा सखी मे कोई तात्त्विक भेद नही जान पडता जिस कारण वह प्राय: कान्ताभाव के अनुसार काम करता हुआ भी पाया जाता है। गोपीभाव का रूप वहा पर ब्रज-लीलाओ के माध्यम से दीख पडता है जिस कारण, वह युगल के प्रति प्रसग आने पर ही, सख्यभाव बन पाता है। इस सम्बन्ध मे कुछ लोगो ने यह भी अनुमान किया है कि वल्लभ-सम्प्रदाय वाले कवि प्राय अपनी वृद्धावस्था मे आकर सखीभाव की ओर अधिक ध्यान देने लगते थे और उनका आकर्षण राधा के प्रति भी उसी प्रकार बढ जाया करता था।

वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों मे अष्टछाप के कवियों का विशिष्ट स्थान है जिनमे कुंभनदास अवस्था में सबमे बडे थे। इनके विषय मे कहा जाता है कि स्वामी वल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आने से पहले यह मधुरभाव की कविता किया करते थे। उसके अनन्तर ही इन्होने बाललीला आदि के पदो का गान किया। फिर भी इनका जीवन उतना अन्यत्र नही रम सका। इनके जो पद इस समय उपलब्ध हैं और प्रकाशित भी हो चुके है उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती जान पडती है। कुभनदास किसी जमुनावती नामक गाव के निवासी थे और एक निर्धन ब्राह्मण गृहस्थ थे। इनका जीवन-काल स० १५२५ से १६३९ तक माना गया है। इनके लिए यह भी प्रसिद्ध है कि यह अन्त समय तक सखीभाव के ही पद पूरी तल्लीनता के साथ रचते एव गाते चले गए। सूरदास के लिए कहा जाता है कि वल्लभाचार्य से मिलने के पहले वह स्वामी हरिदास के शिष्य रह चुके थे,[2] किन्तु इसका कोई आधार नही जान पडता। केवल इतना ही विदित होता है कि इनमे दैन्यभाव की मात्रा अधिक थी जिसका एक रूप उनके विनय वाले पदों मे लक्षित हुआ। इनमे आगे चलकर कातासक्ति की भावना भी जागृत हुई तथा सखी-सम्प्रदाय-सुलभ भावो की भी कदाचित तभी अनुभूति हो सकी।

सूरदास की अनेक रचनाओं मे हमे 'सूरसखी' अथवा 'सूर सुजान सखी' तक का नाम रचयिता के रूप मे मिलता है जिससे इस अनुमान को समर्थन मिलता है कि उसकी इस ओर विशेष प्रवृत्ति भी रही होगी। ऐसी छाप वाली रचनाओ मे अधिकतर युगल-दम्पती की सयोगपरक लीलाओ का ही वर्णन पाया जाता है तथा यहा पर उनकी विशेष तन्मयता भी दीखती है। इनकी सखिया भी दोनो प्रेमी एव प्रेमिका को केलि की सुविधा दिलाने पर उतनी ही उद्यत जान पड़ती है जितनी स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय वाले कवियो द्वारा चित्रित सखिया रहा करती है और इन दोनो मे प्राय. कम अन्तर दीख दडता है। परन्तु मान आदि के प्रसगो मे कार्य करते समय उनका रूप विशेषकर ब्रज की गोपियो-जैसा ही हो जाता है।

अष्टछाप के ही एक अन्य वैसे ही सफल कवि परमानन्ददास भी है। यह कन्नौज के निवासी किसी ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए थे और अपने लडकपन से ही एक निस्पृह जीवन की ओर प्रवृत्ति रखने वाले जीव थे। इन्हे बाललीला के पदो की रचना कदाचित अधिक पसन्द थी। यो तो रासलीलादि-सम्बन्धी पदो की रचना भी यह बडी भावुकता के साथ किया करते थे। इनकी सखीभाव-सम्बन्धी रचनाए अधिक सख्या मे नही मिलती और न जो प्राप्य है उनमे कोई विशेषता ही पाई जाती है। कृष्णदास नामक अष्टछाप के कवि तो ललिता सखी के अवतार ही माने जाते हैं। इन्होंने अधिकतर शृगारिक रचनाए की है। इनकी, गोविन्दस्वामी की, छीतस्वामी की तथा चतुर्भुज दास की उपलब्ध कविताओ मे भी हमे सख्यभावपरक विशेषताए पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही होती और इन सभी की रचनाओ का वर्ण्य विषय प्राय: एक ही प्रकार से साम्प्रदायिक है। परन्तु इसके विपरीत नन्ददास के सम्बन्ध मे यह कह सकते हैं कि उनकी रचनाएं सख्यभाव से भी भरी हुई पाई जाती है। इन्होने अपने 'रूपमजरी' नामक प्रेमाख्यान मे तो सखीपरक भाव

१. 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (अष्टछाप स्मारक समिति, मथुरा; द्वितीय सस्करण, स० २०१०), पृ० ८३७–४६।
२. डा० मुंशीराम शर्मा : 'सूर-सौरभ' (भा० १) पृ० ४४।

के एक पहलू का ही चित्रण किया है। फिर भी नन्ददास अपनी साम्प्रदायिक भावनाओ के जितने निकट है उतने हरिदासी सखी-सम्प्रदाय की ओर झुकते नही जान पडते। अष्टछाप के इधर वाले कवियो मे हरिरायजी तथा नागरीदासजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हरिरायजी ने फुटकर पदो की रचना करने के अतिरिक्त प्रसिद्ध 'वैष्णवन की वार्ताओ' पर अपनी टिप्पणी लगाई है जो सखीभाव की दृष्टि के अनुसार बहुत महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है तथा जिसकी उपयोगिता साम्प्रदायिक भावनाओ के अनुसार भी कम नही है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध नागरीदास, कृष्णगढ-नरेश सावन्तसिह थे, जिन्होने बहुत कुछ लिखा है। इनका भी झुकाव सखीभाव की ओर था। जिस कारण, इनकी वाणियो मे अनेक स्थल ऐसे भी मिल जाते है जिनमे हरिदासी सखीभाव की विचारधारा शुद्ध रूप मे दीख पडती है।

इन प्रसिद्ध सम्प्रदायो के अतिरिक्त ललित-सम्प्रदाय नामक एक अन्य सम्प्रदाय का भी पता चलता है जिस पर सखी-सम्प्रदाय का प्रभाव बहुत स्पष्ट है तथा जिसे इस दृष्टि के अनुसार पूरा महत्त्व भी दिया जा सकता है। इसके प्रवर्तक वशीअलि का सम्बन्ध विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के साथ होना बतलाया जाता है और कहा जाता है कि उसमे इन्हीने सख्यभाव का प्रचार भी किया। वशीअलि का जन्म वृन्दावन मे सवत १७६४ मे हुआ था और इनका नाम वशीधर पडा था। अपने अल्पकाल से ही इनमे राधा के प्रति प्रगाढ भक्ति जागृत हो गई थी जो इनके विवाहित होकर गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने पर भी कम नही हुई। ये फिर तीस वर्ष की अवस्था मे वृन्दावन मे विरक्त भाव के साथ रहने लगे और वही पर इनका सवत् १८८२ मे देहान्त भी हो गया। इन्होने दो-तीन ग्रथ सस्कृत मे रचे है और उनके अतिरिक्त अनेक पदो की रचना ब्रजभाषा मे भी की है। इन्होने अपनी कुछ रचनाओ मे स्वामी हरिदास तथा हितहरिवशजी का भी नाम बडी श्रद्धा के साथ लिया है और उनके सख्यभाव का अनुसरण भी किया है। वास्तव मे, वशीअलि के उपास्यदेव कृष्ण न होकर राधा ही है जिन्हे उन्होंने सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी भी कहा है। राधा सर्वोपरि है, किन्तु वह अपने भक्तो के लिए उनके प्रति आधीन भी कही जा सकती है और स्वय कृष्ण तक उनके अनन्य भक्त है। यहा पर यह भी उल्लेखनीय है कि राधा की ललितादिक सखिया उन्हे अपने पति के रूप मे स्वीकार करती है। वशीअलिजी के अनुसार जब तक हममे ललिता के प्रति भाव अथवा ललिता-रति का आविर्भाव नही हो जाता, तब तक राधा की प्राप्ति के हम अधिकारी नही हो सकते। वशीअलि जी किसी एक ऐसे महारास की भी कल्पना करते है जहा पर केवल राधिका ही सर्वेसर्वा है। उनके अनुसार,

सेव्य सदाश्री राधिका, सेवक नन्दकुमार।
दूजे सेवक सहचरी, सेवा विपुल विहार॥

इस सम्प्रदाय मे नित्यविहार का आयोजन, सहचरी की ही इच्छा के अनुसार चलता है और ललिता के ही अचल मे दोनो एक साथ विराजते है। एक प्रकार से वे दोनो ही ललिता के सहचर-स्वरूप है और वे तीनो एक प्राण है। राधा, लाल, ललिता एवं वृन्दावन मे कोई भी भेद नही है। वशीअलिजी की सखीभाव की उपासना इसी प्रकार की भावना लेकर अग्रसर होती है और अपनी रचनाओ मे उन्होने इसी का वर्णन भी किया है।

ललित-सम्प्रदाय के एक अन्य भक्तकवि किशोरीअलि थे जो वशीअलि के शिष्य थे। इनके लिए प्रसिद्ध है कि इनका पूर्व नाम जगन्नाथ भट्ट था। इनका जन्म मथुरा मे हुआ था तथा इनकी पत्नी का नाम किशोरी था। किशोरी को यह बहुत प्यार करते थे और उसका देहान्त हो जाने पर उसके विरह मे 'किशोरी-किशोरी' पुकारते-पुकारते बरसाना तक पहुच गए, जहा पर वर्त्तमान वशीअलि ने इन्हे अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित करके इनका नाम किशोरीअलि रख दिया और तब से यह वही रहने लग गए। किशोरीअलि की भी बहुत सी रचनाए कही जाती है जिनमे इन्होने अपने गुरु के सिद्धान्तो का ही पूरा अनुसरण किया है। इन दोनो कवियो के अतिरिक्त ललित सम्प्रदाय के अनुगामियो मे अलबेलीअलि, वल्लभअलि आदि अन्य अनेक भक्त कवि भी हुए है जिनकी रचनाए न्यूनाधिक सख्या मे उपलब्ध है, किन्तु उनमें कोई वैसी उल्लेखनीय बात नही दीख पड़ती। वास्तव मे अभी तक इस सम्प्रदाय का पूरा परिचय ही उपलब्ध नही है और न इसके साहित्य का कोई समुचित प्रकाशन ही हो पाया है। इसमे राधा की प्रधानता के आ

जाने से उसके कृष्ण के साथ उस सम्बन्ध का कोई महत्त्व नही रह जाता जो स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित सखी-सम्प्रदाय द्वारा कल्पित किया गया था तथा जिसके अनुसार ही नित्यविहार के एक अनुपम रूप की सृष्टि हो पाई थी।

स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्त्तित सखी-सम्प्रदाय की बातों को उनके विशुद्ध सख्यरस की भावनानुसार कदाचित किसी भी अन्य सम्प्रदाय ने नही अपनाया और न स्वय उनके भी सभी अनुयायियो ने उसके रहस्य को पूर्ण महत्त्व प्रदान किया। हितहरिवशजी के राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के साथ उसकी बहुत कुछ समानता जान पड़ी, किन्तु वहा पर भी हम इन दोनो के बीच कम-से-कम नित्य वृन्दावन की भावना तक मे महान अन्तर पाते है। इसी प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय, निम्बार्क-सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय तथा ललित सम्प्रदाय आदि ने सखीभावना को न्यूनाधिक महत्त्व देते हुए भी उसके साथ कही गोपीतत्त्व तो कही राधातत्त्व की विलक्षणता के कारण पूरा सामजस्य स्थापित नही किया और फलतः उसका मौलिक रूप अपने ढग का अकेला ही दीख पड़ा। सखी या सखियो के समूह की भावना का कुछ-न-कुछ परिचय हमे उन कतिपय सम्प्रदायो की साधना में भी मिलता है जो निर्गुणी वर्ग के माने जाते हैं। उदाहरण के लिए, प्राणनाथ के धामी सम्प्रदाय, चरणदास के चरणदासी सम्प्रदाय तथा शिवनारायण के शिवनारायणी सम्प्रदाय मे भी हमे इसके कोई-न-कोई रूप उपलब्ध होते है। परन्तु इनके सम्बन्ध मे यहां पर विचार करने की कोई आवश्यकता विशेषकर इसलिए प्रतीत नही होती कि इनके यहा वैसे नित्यविहार की घटनाओ की व्याख्या प्राय उन्हे रूपक मानकर करने की परम्परा है जिस कारण, यहा इनका अभिप्राय ही भिन्न हो जा सकता है। इसी प्रकार जहा तक मराठी के महानुभाव पथ अथवा वारकरी सम्प्रदाय के यहां उपलब्ध कृष्णोपासना का प्रश्न है हम वहां पर भी किसी ऐसी भावना का स्पष्ट उदाहरण नही पाते और न वहां पर इसकी कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती है। सखी-सम्प्रदाय की विशुद्ध भावना, उस पर से साम्प्रदायिकता का आवरण हटा देने पर भी, स्वयं अपना एक मूल्य रख सकती है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के समर्थ साहित्यकार : श्री हरिरायजी

श्री प्रभुदयाल मीतल

भारतवर्ष के जिन धर्माचार्यों ने अपने तप-त्याग, ज्ञान-बोध, भक्ति-भाव और उज्ज्वल चरित्र से यहा के जन-जीवन को प्रभावित करने के अतिरिक्त अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओ से इस देश के धार्मिक साहित्य को भी समृद्ध किया है, उनमे वल्लभ-सम्प्रदाय के गोस्वामी हरिरायजी का नाम उल्लेखनीय है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे तो उनका महत्त्व सर्वश्री वल्लभाचार्यजी, विठ्ठलनाथजी और गोकुलनाथजी के पश्चात सबसे अधिक माना जाता है। जहा तक केवल साहित्य-सृजन का सम्बन्ध है, हरिरायजी का स्थान वल्लभ-सम्प्रदायी आचार्यों मे ही नही, बल्कि भारतवर्ष के समस्त धर्माचार्यों की अग्रिम पक्ति मे रखा जा सकता है। रचना-परिमाण और ग्रथ-सख्या की दृष्टि से भारत के इने-गिने समर्थ साहित्यकार ही उनकी समता कर सकते है।

मध्यकालीन हिन्दी (ब्रजभाषा) साहित्य के दो समर्थ निर्माता महात्मा सूरदास और चाचा वृन्दावनदास भी अपने रचनाबाहुल्य के लिए विख्यात है, किन्तु गोस्वामी हरिरायजी से उनकी तुलना करना उचित न होगा। महात्मा सूरदास और चाचा वृन्दावनदास ने केवल ब्रजभाषा के काव्य साहित्य को ही समृद्ध किया है, जबकि श्री हरिरायजी ने ब्रजभाषा के साथ-ही-साथ सस्कृत भाषा को, तथा काव्य-साहित्य के साथ-ही-साथ पद्य-साहित्य को भी अपनी महत्त्वपूर्ण देन दी है। इसके अतिरिक्त उन्होने गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओ मे भी अनेक रचनाए की है। इन सब भाषाओ मे रचे हुए उनके गद्य-पद्यात्मक छोटे-बडे ग्रथो की सख्या २५० के लगभग है। इसीसे उनके अनुपम साहित्य-सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उल्लेख

आश्चर्य की बात है, हिन्दी के ऐसे महान साहित्यकार का समुचित महत्त्व हिन्दी साहित्य के इतिहास मे वर्णित नही है! आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास-कृत हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रथो मे उनका नामोल्लेख भी नही हुआ है। सर्वश्री मिश्रबन्धु, डा० रसाल, डा० रामकुमार वर्मा और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की विख्यात रचनाओं मे उनका नाम अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण सूचना के साथ लिखा गया है।

सर्वश्री मिश्रबन्धुओ ने गो० हरिरायजी के जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध मे एक शब्द भी न लिखकर उनकी कतिपय वार्ता-पुस्तको का नामोल्लेख-मात्र किया है, जो अशुद्ध और अपूर्ण है। उन्होने हरिरायजी का रचना-काल भी गलत लिखा है।[1]

डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' ने अपने इतिहास के 'भक्ति-काल मे गद्य-रचना' शीर्षक के अन्तर्गत गो० विट्ठलनाथ, नन्ददास और गोकुलनाथजी के गद्य-ग्रथो का उल्लेख करते हुए यह 'नोट' लिखा है :

"जान पड़ता है कि वार्ता लिखने की शैली-सी चल पड़ी थी, क्योकि इसी प्रकार की वार्ताएं श्री हितहरि जी ने भी लिखी हैं। उक्त ग्रंथ ब्रजभाषा गद्य मे है।"[2]

---

१. 'मिश्रबन्धुविनोद' (प्रथम सस्करण), पृ० ३५७

२. डा० रसाल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (प्रथम संस्करण), पृ० ३७४

यहा पर 'हितहरिजी' से डा० रसाल का अभिप्राय कदाचित हरिरायजी से ज्ञात होता है। श्री हरि-रायजी ने रसिक, रसिकराय, रसिकप्रीतम, हरिदास, हरिधन आदि कई उपनामो से भी रचनाए की है, किन्तु उनका 'हितहरि' नाम हमारे देखने मे नही आया है। 'हित' विशेषण विशेषतया राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हरिवंश जी के लिए और साधारणतया सभी राधावल्लभीय आचार्यों के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए रसालजी द्वारा उल्लि-खित 'श्री हितहरि जी' से भी किसी राधावल्लभीय आचार्य का भ्रम हो सकता है। गो० विट्ठलनाथ और नददास को ब्रजभाषा गद्य का लेखक मानना भ्रमात्मक है। इसके साथ ही यदि वार्ता-लेखन को ब्रजभाषा गद्य की कोई विशिष्ट शैली माना जाय, तो गो० हरिरायजी स्वयं उस शैली के निर्माता थे, न कि अनुयायी। अब यह भली भाति सिद्ध हो गया है कि ब्रजभाषा-गद्यलेखक के रूप मे जो श्रेय गो० गोकुलनाथ जी को दिया जाता है, उसके वास्तविक अधिकारी श्री हरिराय जी है।

डा० रामकुमार वर्मा और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की विख्यात रचनाओ में सूरदास जी की जीवनी के मूलाधार 'भावप्रकाश' के रचयिता रूप मे श्री हरिराय जी का नामोल्लेख मात्र हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त उन ग्रथो मे न तो हरिराय जी के जीवन-वृत्तान्त तथा उनके प्रचुर साहित्य के सम्बन्ध मे कुछ लिखा गया है और न हिन्दी-गद्य के विकास मे 'भावप्रकाश' तथा हरिरायजी-कृत बहुसख्यक वार्ता-ग्रथो का ही मूल्याकन किया गया है।

इससे प्रकट होता है कि हिन्दी साहित्य के सर्वमान्य इतिहासकारो को श्री हरिराय जी और उनकी महत्त्व-पूर्ण रचनाओ से भली भांति परिचय नही है। इस कमी की ओर इगित करते हुए हमने अब से प्राय १३ वर्ष पूर्व अपने ग्रथ 'अष्टछापपरिचय' के प्रथम सस्करण मे ही श्री हरिरायजी के जीवन-वृत्तान्त और उनके वार्ता-साहित्य पर प्रकाश डाला था। इस अवधि मे हिन्दी साहित्य के अनेक छोटे-बडे इतिहास और आलोचना-विषयक ग्रंथ प्रकाशित हो गए तथा कई शोध-प्रबध लिखे गए, किन्तु उनमे मे किसी मे भी श्री हरिरायजी के जीवन-वृत्तात और उनके साहित्य का समुचित परिचय देने का प्रयास नही हुआ है।

अभी कुछ समय पूर्व प्रयाग की 'भारतीय हिन्दी परिषद' ने 'हिन्दी साहित्य' का द्वितीय खड प्रकाशित किया है। इसकी प्रस्तावना मे लिखा गया है

"कृष्ण-भक्ति साहित्य मे कृष्णाख्यान और कृष्ण-काव्य की प्राचीन परम्पराओ का हिन्दी मे कदाचित पहली बार उद्घाटन हुआ है। इस अध्याय मे कृष्ण-भक्ति के स्वरूप की विवेचना करते हुए हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य की नवीन दृष्टि से सामूहिक रूप मे समीक्षा की गई है।"[2]

उक्त ग्रन्थ के 'कृष्ण भक्ति साहित्य' सम्बन्धी अध्याय को डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है। डा० वर्मा हिन्दी वैष्णव साहित्य के अध्येता है, किन्तु उन्होने **हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य की नवीन दृष्टि से सामूहिक रूप में समीक्षा** करते हुए भी गो० हरिराय जी की रचनाओ को कोई महत्त्व नही दिया है। पता नही, वह उनकी दृष्टि मे आई भी है या नही। उन्होने सूर-साहित्य के प्रकाश मे पुष्टि-सम्प्रदायी भक्ति और सेवा की झाकी प्राप्त न कर सकने पर लिखा है .

"सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य और पुष्टिमार्ग के 'जहाज' माने जाते हैं, परन्तु उनके 'सूरसागर' के आधार पर शुद्धाद्वैत दर्शन अथवा पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धान्त और सेवा-पद्धति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। उन्होंने पुष्टिमार्ग के इष्टदेव श्रीनाथजी का भी स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में वर्णन नहीं किया है।"[3]

सूरसागर का निश्चित रूप अभी स्पष्ट नही है, अत उसके सम्बन्ध मे कोई अन्तिम बात कहना ठीक न होगा। 'सूर-सारावली' से **'पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धान्त और सेवा-पद्धति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त'** किया जा सकता है;

१. डा० वर्मा-कृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (तृतीय संस्करण), पृ० ५२१; और डा० द्विवेदी-कृत 'हिन्दी साहित्य' (प्रथम सस्करण), पृ० १७३

२. हिन्दी साहित्य—प्रस्तावना, पृ० ५

३. हिन्दी साहित्य—द्वितीय खड, पृष्ठ ३५५

किन्तु डा० वर्मा इसे सूरदास की रचना ही नहीं मानते है, यह कठिनाई है। चाहे डा० वर्मा के मतानुसार यह अष्टछापी सूरदास की रचना न हो, किन्तु वह पुष्टि-सम्प्रदायी किसी सूरदास की रचना तो है ही, फिर वह उससे ही वल्लभ-सम्प्रदायी भक्ति और सेवा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने से क्यो वंचित रहे ? सूरदास को पुष्टि-मार्ग का 'जहाज' लिखने-वाले श्री हरिरायजी के वार्ता-साहित्य और कीर्तन के पदो मे पुष्टि-सम्प्रदायी भक्ति और सेवा का विस्तारपूर्वक विवेचन मिलता है। उनकी 'गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' मे श्रीनाथ जी का भी स्पष्ट वर्णन किया गया है। यदि डा० ब्रजेश्वर इस अध्याय के लिखने से पहिले श्री हरिरायजी के साहित्य से परिचय प्राप्त कर लेते, तो जहा वह पुष्टि-सम्प्रदायी भक्ति और सेवा-पद्धति पर प्रामाणिक रूप से प्रकाश डाल सकते थे, वहा हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियो को भी नई सामग्री से परिचित कर सकते थे। इसके अभाव मे उन्होंने श्री हरिराय जी के सम्बन्ध मे केवल ६½ पंक्तिया लिखकर ही सन्तोष कर लिया और इस अध्याय के 'परिशिष्ट' मे जो 'कृष्ण-भक्ति साहित्य की सूची' दी गई है, उसमे श्री हरिरायजी की दर्जनो रचनाओ मे से किसी का भी नामोल्लेख नही किया।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, वल्लभ-सम्प्रदाय मे श्री हरिरायजी का नाम सर्वश्री वल्लभाचार्यजी, विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी के बाद सबसे अधिक प्रसिद्ध है, किन्तु उनके जीवन-वृत्तान्त से सम्बन्धित कोई प्राचीन ग्रथ वहा भी उपलब्ध नही होता है। हरिरायजी-कृत वार्ताए, शिक्षा-पत्र और कीर्तन के पदो के अन्त साक्ष्य से तथा गोकुलनाथ जी के 'वचनामृत' और विट्ठलनाथ भट्ट-कृत 'सम्प्रदायकल्पद्रुम' के बहि साक्ष्य से उनके जीवन के कुछ सूत्र उपलब्ध होते है, जिनका परिचय वल्लभ सम्प्रदायी कतिपय अध्ययनशील व्यक्तियो को ही है। शायद इसी कारण हिन्दी साहित्य के विद्वान लेखको को हरिराय जी का परिचय नही है। वल्लभ-सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वान श्री द्वारका-दास परीख ने गुजराती भाषा मे श्री हरिरायजी की विस्तृत जीवनी लिखी है और हमने हिन्दी भाषा मे 'अष्टछाप-परिचय' द्वारा उनकी जीवनी और रचनाओ पर कुछ प्रकाश डाला है। यदि हिन्दी साहित्य के उक्त विद्वान इन रचनाओ को देख लेते, तो वे श्री हरिरायजी के सम्बन्ध मे इतने अज्ञान मे नही रहते। किन्तु वे तो विश्वविद्यालय के बाहर की रचनाओ को मान्यता देना कदाचित अपना अपमान समझते है।

संक्षिप्त परिचय

श्री हरिरायजी गोसाई विट्ठलनाथजी के प्रपौत्र और गो० कल्याणरायजी के पुत्र थे। उनका जन्म स० १६४७ श्री भाद्रपद कृ० ५ को ब्रज के गोकुल ग्राम मे हुआ था। श्री हरिराय जी के समय मे गोकुल वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था। गोसाईं विट्ठलनाथजी के सातो पुत्रो, उनके वशजो तथा सेव्य स्वरूपो के कारण वह वल्लभ-सम्प्रदायी भक्तजनो का प्रमुख तीर्थस्थल बना हुआ था। ऐसे पुण्य-स्थल के धार्मिक वातावरण मे श्री हरिरायजी का जन्म और उनकी जीवन-चर्या का आरम्भ हुआ था।

गो० गोकुलनाथ जी सुप्रसिद्ध गोसाईं विट्ठलनाथजी के चतुर्थ पुत्र थे। वे अपनी प्रकाड विद्वत्ता और अनुपम भक्ति-भावना के कारण अपने समय मे वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रमुख व्याख्याता के रूप मे विख्यात थे। उनके शिक्षण और सत्सग से श्री हरिरायजी भी वल्लभ-सम्प्रदायी सिद्धान्तो और साहित्य के प्रमुख विद्वान हो गए थे। वह आरम्भ से ही गो० गोकुलनाथ जी के सम्पर्क मे रहे थे, अत उनकी जीवनचर्या, भक्ति-भावना और रचनाओ का उन पर विशेष प्रभाव पडा था। वह गो० गोकुलनाथ जी की रचनाओ के विशेषज्ञ और उनके सम्पादक तथा प्रचारक थे।

श्री हरिरायजी का अधिकाश जीवन यद्यपि गोकुल, गोवर्धन आदि ब्रज के वल्लभ-सम्प्रदायी केन्द्रो मे निवास करते हुए बीता था, तथापि वह समयानुसार देशव्यापी यात्राए भी किया करते थे। उन यात्राओ मे उन्होने वल्लभ-सम्प्रदायी सिद्धान्त, भक्ति, उपासना और सेवा-विधि का व्यापक प्रचार करने के साथ-ही-साथ सर्वश्री वल्लभाचार्यजी और विट्ठलनाथजी के शिष्य-सेवको की जीवन-गाथाओ के अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया था। उनके अन्वेषण से उपलब्ध तथ्यों का परिचय उनकी रची हुई वार्ताओं मे मिलता है।

अपनी यात्राओं मे प्रवचन और प्रचार के निमित्त उन्होने जिन स्थानो मे दीर्घकालीन निवास किया

था, वहा उनकी 'बैठकें' बनी हुई हैं। ये बैठकें अधिकतर ब्रज, राजस्थान और गुजरात मे हैं। इनसे ज्ञात होता है कि हरिराय जी ने उक्त प्रदेशो की विशेष रूप से यात्राएं की थी। उन बैठको में सात मुख्य है, जो निम्न स्थानों में बनी हुई हैं :

१–गोकुल, २–सावली, ३–डाकोर, ४–जबुसर, ५–जैसलमेर, ६–नाथद्वारा, और ७–खिमनौर।

सवत १७२६ मे औरंगजेब ने ब्रज के विख्यात देवालयो को नष्ट-भ्रष्ट करने की आज्ञा दी थी। उसके फलस्वरूप मथुरा का भारत-प्रसिद्ध श्री केशवदेवजी का विशाल मन्दिर तोडा गया और वृन्दावन के कई बडे मदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गए। उस सकट-काल मे ब्रज के वल्लभवशीय गोस्वामी-गण गोकुल-गोवर्धन के स्थायी आवास का परित्याग कर अपने सेव्य स्वरूप और धार्मिक ग्रन्थो सहित विभिन्न हिन्दू राज्यो मे पलायन करने के लिए बाध्य हुए थे। वल्लभ-सम्प्रदाय का सर्वमान्य श्रीनाथ जी का देव-विग्रह भी गुप्त रीति से उसी काल मे गोवर्धन से मेवाड ले जाया गया, जो अभी तक वहा के श्रीनाथद्वारा नामक स्थान मे विराजमान है। संवत १७२६ की आश्विन शुक्ला १५, शुक्रवार की रात्रि को श्रीनाथजी का रथ गोवर्धन से चला था। उसके साथ कतिपय गोस्वामी-गण अत्यन्त आवश्यक साज-सामान सहित थे। वे लोग गुप्त रूप से विभिन्न हिन्दू राज्यो का चक्कर काटते हुए मेवाड के सिहाड़ नामक स्थान मे जा पहुचे। वहा पर मन्दिर बनवाकर सवत १७२८ की फाल्गुण कृष्णा ७, शनिवार को उसमे श्रीनाथ जी को पधराया गया। इस प्रकार श्रीनाथ जी को गोवर्धन से हटाकर और सिहाड के मदिर में विराजमान करने तक दो वर्ष चार महीना सात दिन का समय लगा था। उस काल मे निष्कासित गोस्वामी-गण को नाना प्रकार के सकट सहन करने पडे थे, किन्तु वे अपने आराध्यदेव श्रीनाथ जी को सुरक्षित स्थान मे ले जाने मे सफल हो गए। उस ऐतिहासिक यात्रा मे श्रीनाथ जी ने जिन स्थानो में अस्थायी निवास किया था, वहा उनकी 'चरणचौकिया' बनी हुई है। उस यात्रा का विस्तारपूर्वक वर्णन हरिरायजी-कृत 'श्री गोवर्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता' मे किया गया है। मेवाड का वह अप्रसिद्ध सिहाड ग्राम श्रीनाथजी के मदिर के कारण 'श्रीनाथद्वारा' नाम से अब समस्त भारत मे विख्यात है।

श्री हरिरायजी अपने जन्मकाल से स० १७२६ तक ब्रज मे रहे थे। इसके पश्चात वह भी औरगजेबी अत्याचार के कारण अपनी ८० वर्ष की वृद्धावस्था में ब्रज से मेवाड आने को विवश हुए थे और फिर वहा स्थायी रूप से अपने देहावसान काल तक रहे थे। उनका देहावसान १२५ वर्ष की पूर्णायु प्राप्त करने के अनन्तर सवत् १७७२ मे मेवाड के खिमनौर नामक स्थान मे हुआ था। वहा पर बावडी के उपर उनकी छतरी बनी हुई है।

श्री हरिरायजी के अनेक शिष्य, सेवक और भक्त थे। उनमे विट्ठलनाथ भट्ट, हरजीवनदास, प्रेमजी और शोभा माजी के नाम अधिक प्रसिद्ध है। विट्ठलनाथ भट्ट ने हरिरायजी के मुख से सुनकर वल्लभ-सम्प्रदायी आचार्यो और शिष्य-सेवको की जीवन-गाथाओ का विशद ज्ञान प्राप्त किया था। इसे उन्होने अपने सुप्रसिद्ध 'सम्प्रदायकल्पद्रुम' नामक ग्रथ मे व्यक्त किया है। इस ग्रथ की रचना ब्रजभाषा पद्य मे है और वह किशनगढ के राजा मानसिह के लिए रचा गया था। इसका उल्लेख विट्ठलनाथ भट्ट ने इस प्रकार किया है :

स्रवन सुन्यौ हरिराय मुख, करन लिख्यौ नृप मान।
उदित 'संप्रदाय कल्पद्रुम, मम कृत छन्द सुजान।।

'सम्प्रदायकल्पद्रुम' की रचना से पहले वल्लभ-सम्प्रदायी ग्रथो मे तिथि-सवत-सहित घटनाएं वर्णित नहीं हुई थी। इस ग्रथ मे सर्वप्रथम वल्लभ-सम्प्रदायी आचार्यों और उनके शिष्य-सेवकों का तिथि-सवत-सहित वृतान्त लिखा गया है, जो वल्लभ-सम्प्रदाय के आरम्भिक इतिहास जानने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमे उल्लिखित कतिपय तिथि-सवत अशुद्ध हैं, जो इसके रचयिता की असावधानी के द्योतक हैं। ऐसा जान पडता है, ग्रथकार ने अपने से पूर्व की तिथिया निर्धारित करने मे विशेष सावधानी से काम नही लिया है, किन्तु उसके समय के तिथि-सवत प्राय: प्रामाणिक है।

श्री हरिरायजी के चार पुत्र हुए थे। उनके नाम सर्वश्री गोविन्दजी, विट्ठलरायजी, घोटा जी और गौराजी थे। उन चारो का ही असमय में देहावसान हो गया था। इस प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय के द्वितीय गृह की मूल परम्परा

ो हरिरायजी के पश्चात समाप्त हो गई थी। श्री हरिरायजी के वंश को चलाने के लिए उनकी बहू जी ने प्रथम गृह तिलकायत दामोदर जी (बडे दाऊजी) के द्वितीय पुत्र गिरधारीजी (जन्म-सवत १७४५) को गोद ले लिया था। ही श्री हरिरायजी के पश्चात उनकी गद्दी के अधिकारी और द्वितीय गृह के प्रतिनिधि हुए थे। हरिरायजी के देहावान के समय गिरिधारीजी की आयु २७ वर्ष के लगभग थी। द्वितीय गृह के प्रतिनिधि-स्वरूप श्री हरिरायजी के वशजो ो गद्दिया नाथद्वारा, इन्दौर, बम्बई (लाल बाबा) और नडियाद मे है।

रचनाएं

श्री हरिरायजी का सर्वाधिक महत्त्व उनके प्रचुर साहित्य और बहुमल्यक ग्रथो के कारण है। उनके धर्मार्य-गण सस्कृत की विशेष योग्यता प्राप्त कर उक्त भाषा मे अध्ययन, मनन और ग्रथ-रचना करना अपना आवश्यक र्तव्य समझते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य भी सस्कृत के प्रकाण्ड पडित और सुप्रसिद्ध ग्रथकार थे। उनमे सर्वश्री ल्लभाचार्यजी और विट्ठलनाथजी के नाम अपनी अपूर्व और महत्त्वपूर्ण विद्वत्ता के कारण विख्यात है। श्री रिरायजी भी अपने उन गौरवशाली पूर्वजो की परम्परा मे सस्कृत के अद्वितीय विद्वान थे। उन्होने उक्त भाषा मे जितने थों की रचना की, उतनी वल्लभ-सम्प्रदाय ही नही, वरन किसी भी सम्प्रदाय के धर्माचार्य ने शायद ही की हो। श्री रकादास जी परीख ने गुजराती भाषा मे लिखे हुए श्री हरिरायजी के जीवन-चरित्र मे उनकी १६६ सस्कृत चनाओ की सूची इस प्रकार दी है--

१--मार्ग स्वरूप निर्णय, २--स्वमार्गीय कर्त्तव्यनिरूपण, ३--स्वमार्गीयसाधन रहस्य, ४--भक्ति मार्ग पुष्टिमार्गत्व निश्चय, ५--भक्ति द्वैविध्य निरूपण, ६--स्वमार्गीय भक्ति द्वैविध्य विवेक, ७--स्वमार्गीय मुक्ति द्वैविध्य निरूपण, ८--स्वमार्गीय सेवाफल रूपनिरूपण, ९--पुष्टिमार्गीय स्वरूप निरूपण, १०--स्वमार्गीय स्वरूप स्थापन प्रकार, ११--श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकार, १२--स्वमार्गीय शरण समर्पण सेवादि निरूपण १३--पुष्टि पथ मर्म निरूपण, १४--पुष्टिमार्गलक्षणानि, १५--ब्रह्म सम्बन्ध वाक्य कठिनाश विवेचनम्, १६--अष्टाक्षर मन्त्र पूर्व पक्ष निर्यास, १७--स्वमार्ग मर्यादा निरूपण, १८--स्वमार्ग रहस्य निरूपण, १९--मधुराष्टक तात्पर्य, २०--सर्वात्मभाव निरूपण, २१--निवेदन तात्पर्यार्थ, २२--स्वमार्ग मूल निरूपण, २३--मूल रूप सशय निराकरण, २४--श्री महाप्रभु प्राकट्य हेतु निर्णय, २५--श्री पुरुषोत्तम स्वरूपाविर्भाव निर्णय, २६--स्वमार्गीय भावना स्वरूप निरूपण, २७--स्वरूप तारतम्य निर्णय, २८--अतरग बहिरग प्रपच विवेक, २९--भाव साधक बाधक निरूपण, ३०--श्री कृष्ण शब्दार्थ निरूपण, ३१--श्रीमत्प्रभो सर्वान्तिरत्व निरूपण, ३२--श्रीमत्प्रभो प्रादुर्भाव प्रकार निरूपण, ३३--भगवत्प्रादुर्भाव सिद्धान्त, ३४--प्रभुप्रादुर्भाव विचार,३५--प्रभु प्रागट्य विचार, ३६--श्रीमत्प्रभोर्वयो निरूपण, ३७--अष्टाक्षर मन्त्रार्थ, ३८--गद्यार्थ, ३९-- पुष्टिमार्गीय ध्यान प्रकार विवेचन, ४०--जप समये स्वरूप ध्यान, ४१--स्वमार्ग शरणद्वय निरूपण, ४२--स्वमार्गीय सन्यास वैलक्षण्य निरूपणम्, ४३--जन्म वैफल्य निरूपणाष्टक, ४४--दु ख-सग-विज्ञान-प्रकार निरूपण, ४५--कामाख्य दोष विवरण, ४६--निष्काम लीला, ४७--बहिर्मुखत्व निरूपण, ४८--बहिर्मुखत्व निवृत्ति, ४९--भगत्प्रकृति वर्णन, ५०--कथा श्रवण बाधक निर्णय, ५१--सत्सग निर्णय, ५२--गवा स्वरूप वर्णनम्, ५३--कार्पण्योक्ति, ५४--मद त्याग हेतु, ५५--मार्ग शिक्षा, ५६--निजाचार्याष्टक, ५७--वल्लभ पचाक्षर स्तोत्र, ५८--वल्लभ भावाष्टक, ५९--प्रभाताष्टक, ६०--श्री गोकुलेश सेवाह्निक, ६१--गोकुल चन्द्राष्टक, ६२--श्री नवनीत प्रियाष्टक, ६३--भुजग प्रयाताष्टक, ६४--स्मरणाष्टक, ६५--स्व प्रभु विज्ञप्ति, ६६--द्वितीय स्वप्रभु विज्ञप्ति, ६७--श्री कृष्ण चरण विज्ञप्ति, ६८--विज्ञप्ति, ६९--दैन्याष्टक, ७०--षोडश स्तोत्र, ७१--श्री कृष्ण शरणाष्टक, ७२--द्वितीय श्री कृष्ण शरणाष्टक, ७३--पचाक्षर मन्त्र गर्भ स्तोत्र, ७४--भगवच्चरण चिह्न वर्णन, ७५--नैवेद्य सम्बन्धि स्तोत्र, ७६--मध्याह्न लीला, ७७--श्री गोकुल

प्रवेश लीला, ७८---प्रमाणिकाष्टकम्, ७६---श्री गिरिधराष्टक, ८०--प्रार्थनाष्टकम्, ८१---श्री गोपीजन वल्लभाष्टक, ८२---प्रात· युगल स्मरण, ८३---श्री नागरी नागर स्तोत्रम्, ८४---विपरीत शृगार फल-कम्, ८५---श्री राधाष्टकम्, ८६---मुख्य शक्ति स्तोत्र, ८७---स्वामिनी प्रार्थनाष्तक, ८८---श्री यमुना विज्ञप्ति, ८६---श्री वल्लभ शरणाष्टक, ६०---श्री वल्लभ चरण विज्ञप्ति, ६१---दैन्याष्टक ६२---हा हा दैन्याष्टक, ६३---श्री वल्लभ भावाष्टक, ६४---श्री वैश्वानराष्टक, ६५---श्रीमदाचार्य सकलावतार साम्य रूप निरूपणम्, ६६---श्री महाप्रभोरष्टोत्तरशतानामानि, ६७---श्रीमदाचार्य चिन्तनम्, ६८---प्रात. स्मरण, ६६---श्री विट्ठलेश अष्टोत्तरशतनामानि, १००---श्री गोकुलेश अष्टोत्तरशतनामानि, १०१---श्रीगुरुदेवाष्टक, १०२---प्रभु स्वरूप निरूपणाष्टक, १०३---स्वप्रभु विज्ञप्ति, १०४---रसात्मक भाव स्वरूप निरूपण, १०५---चतु·श्लोकी, १०६---भगवदीय परीक्षणम्, १०७---अन्य, १०८---तदीयानां शिक्षणम्, १०६---सिद्धान्त सक्षेप निरूपण, ११०---अन्य, १११---अन्य, ११२---स्वमार्ग सर्वस्वम्, ११३---गर्वापहाराष्टक, ११४---राजभोग भावना, ११५---बीटिका समर्पण भाव निरूपण, ११६---स्वतन्त्र लेख, ११७---फल विवेक, ११८---भगवत्शास्त्र निर्णय, ११६---वाक् चक्षुर्मुख्यत्व निरूपण, १२०---सर्वाभोग्य सुधाधिक्य निरूपण, १२१---चतुर्भुज स्वरूप विचार, १२२---भाव पोषकम्, १२३---गोपी वचन दिन-निर्वाहकम्, १२४---दास्याष्टकम्, १२५---श्री नृसिह वामन जन्मन्तुत्सवव्रत वैशिष्ट्यम्-१२६---श्री भागवत पुस्तक नित्य पूजन विधि, १२७---षट् षष्टि अपराध फलानि, तत्प्रायश्चित्तानि च, १२८---अष्टपदी, १२६---अन्य, १३०---पदानि, १३१---अन्य, १३२---पद्यम्, १३३---अन्य, १३४---गुणसागर, १३५---शिक्षापत्र, १३६---ब्रह्मवाद, १३७---सहस्त्रश्लोकी भावना, १३८---अष्ट पदियां, १३६---सस्कृत पद, १४०---सप्तश्लोकी अर्थ, १४१---वैष्णवाह्निक, १४२---सेवा पद्धति, १४३---भक्ति विवेक, १४४---वल्लभप्रादुर्भाव, १४५---दम्पत्योरेक गुरु शिष्यत्वे दोषाभाव विचार, १४६---भक्तिमार्गे पुष्टि मार्गत्व निश्चय, १४७---भक्तिविधिविवृति, १४८---मधुराष्टक तात्पर्य, १४६---विट्ठलनाथाष्टक, १५०---गोविन्दाष्टक, १५१---त्वदीयाष्टक, १५२---निरूपणाष्टक, १५३---शून्यवाद, १५४---हरिशरणाष्टक, १५५---सर्वोत्तम टीका, १५६---षष्टिपूजन, १५७---मार्गानुक्रम ध्यान, १५८---गोकुलेश विज्ञप्ति, १५६---गोकुलेशाष्टक, १६०---सेव्य-असेव्य स्वरूपभेद निरूपण, १६१---भगवत्स्तुति, १६२---त्वदीयत्व सिद्धि १६३---'ममोत्तम' श्लोक-व्याख्या, १६४---निज सिद्धान्त रहस्य, १६५---छप्पन भोग विधान, १६६---श्री कल्याणराय अष्टोत्तरशतनामानि।

उपर्युक्त ग्रथ-सूची मे 'अष्टक' 'स्तोत्र' आदि छोटी रचनाओ की सख्या निश्चय ही बहुत अधिक है; किन्तु उनकी मझोली और बडी रचनाए भी कम नही है। उनमे 'शिक्षापत्र' नामक रचना का वल्लभ-सम्प्रदाय मे अत्यधिक प्रचार है। इस सम्प्रदाय के अनेक श्रद्धालु भक्तजन इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं।

श्री हरिरायजी के समय मे सस्कृत के विद्वान 'भाषा' मे रचना करना अनावश्यक ही नही, बल्कि अपने लिए अपमानजनक भी समझते थे। गो० गोकुलनाथजी ने इसके विरुद्ध वार्ताओ की रचना कर ब्रजभाषा गद्य के प्रचार और प्रसार का मार्ग-प्रदर्शन किया था और श्री हरिरायजी ने उनका अनुकरण किया था।

गो० गोकुलनाथ जी वल्लभ-सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वान होने के साथ-ही-साथ सुप्रसिद्ध व्याख्याता और प्रभावशाली वक्ता भी थे। वह वल्लभ-सम्प्रदायी सिद्धातग्रथो की व्याख्या और सुबोधिनी की कथा के अनतर सर्वश्री वल्लभाचार्यजी और विट्ठलनाथजी के शिष्य-सेवकों की जीवनियों के मार्मिक प्रसंगो का कथन किया करते थे। वल्लभ-सम्प्रदायी भक्तजनों की पावन जीवनचर्या-विषयक गोकुलनाथ जी के वे प्रवचन इतने रोचक और शिक्षाप्रद होते थे कि श्रोतागण उन्हे बडी श्रद्धापूर्वक सुना करते थे। गोकुलनाथ जी के अन्तरग सेवक और लिपिक, जिनमें कल्याण भट्ट प्रमुख थे, उन मौखिक प्रवचनो को लिख लेते थे। इस प्रकार के लिपिबद्ध विवरण 'वचनामृत' के नाम से विख्यात हैं। गोकुलनाथ जी के वे वचनामृत उनके नाम से प्रसिद्ध वार्ताओं के मूल रूप है। इस प्रकार की मौखिक रचनाओं में

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' विशेष प्रसिद्ध है। उन वचनामृतो के लिखित रूप में प्रचार होने के बहुत दिनो बाद श्री हरिरायजी ने गोकुलनाथ जी के तत्त्वावधान और निरीक्षण मे उनका सकलन, सम्पादन और वर्गीकरण करते हुए यत्र-तत्र उनके नाम का भी समावेश किया था। इस प्रकार उन वार्ताग्रो के कर्त्ता रूप में गो० गोकुलनाथ जी का नाम प्रसिद्ध हुआ। गोकुलनाथ जी उन वार्ताग्रो के कर्त्ता और वक्ता अवश्य थे, किन्तु उनके लेखक श्री हरिरायजी ही थे।

गोकुलनाथजी-कृत वार्ताग्रो के सकलन, सम्पादन और वर्गीकरण के अतिरिक्त उनके प्रसगो की पूर्ति और गूढ़ भावो के स्पष्टीकरण के लिए हरिरायजी ने उनमे अपनी 'भाव' नामक टिप्पणिया भी लगाई थी। इस प्रकार की सटिप्पण वार्ताए 'भावप्रकाश' युक्त अथवा 'भावना' वाली वार्ताए कहलाती है, जिनकी रचना हरिरायजी के उत्तर जीवन मे हुई थी।

हरिरायजी के शिष्य विट्ठलनाथ भट्ट ने स० १७२९ मे जिस 'सम्प्रदायकल्पद्रुम' ग्रथ की रचना की थी, उसमे हरिरायजी के सक्षिप्त जीवनवृत्त के साथ उनकी अनेक रचनाग्रो का भी नामोल्लेख हुआ है, किन्तु उसमे 'भाव प्रकाश' का स्पष्ट उल्लेख नही है। इससे ज्ञात होता है कि उसकी रचना हरिरायजी के उत्तर जीवन मे स० १७२९ के पश्चात हुई थी।

'भावप्रकाश' अथवा 'भावना' वाली वार्ताग्रो से जहा साम्प्रदायिक भक्ति, उपासना और सेवा-विषयक गूढ रहस्यो के स्पष्टीकरण के लिए लोक-भाषा के उपयोग का महत्त्व बढा, वहा भाषा-ग्रथो पर टीका-टिप्पणी लिखने की पद्धति का भी प्रचार हुआ। सम्भवत उसी के अनुकरण पर नाभाजी-कृत 'भक्तमाल' पर स० १७८० मे प्रिया-दासजी ने भाषा-टीका लिखी थी। उसके बाद केशव, बिहारी आदि हिन्दी कवियो की रचनाग्रो पर भी अनेक गद्य-पद्यात्मक टीकाए लिखी गई थी।

हरिरायजी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य विविध वार्ताग्रो की रचना करना है, जिसने उन्हे वल्लभ-सम्प्र-दाय के साथ ही साथ हिन्दी साहित्य मे भी अमर कर दिया है। उनके द्वारा रचित विभिन्न प्रकार के ४२ छोटे-बडे वार्ता-ग्रथो की सूची इस प्रकार है

१—महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता, २—श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, ३—निजवार्ता, ४—निजवार्ता (दूसरी), ५—महाप्रभु जी और गुसाई जी के स्वरूपन कौ विचार, ६—श्रीनाथ जी के चरणचिह्न, ७—श्री गोकुलनाथ जी के बैठक चरित्र, ८—शरण मत्र व्याख्या, ९—तृतीय घर की उत्सव मालिका १०—६४ अप-राध वर्णन ११—रास कौ प्रसग, १२—समर्पण गद्यार्थ, १३—समर्पण गद्यार्थ (दूसरौ), १४—शिक्षा पत्र भाषा, १५—जप प्रकार, १६—भगवत स्वरूप निरूपण, १७—दस मर्म भाषा, १८—मार्ग स्वरूप सिद्धात, १९—पुष्टि दृढाव, २०—द्विदलात्मक स्वरूप विचार, २१—स्फुट वचनामृत, २२—चौरासी वैष्णवन की वार्ता (भावनावाली) २३—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (भावनावली), २४—महाप्रभुजी की प्राकट्य वार्ता (भावनावाली), २५—निज वार्ता (भावना वाली), २६—घरू वार्ता (भावना वाली), २७—सात स्वरूपन की भावना, २८—सात स्वरूपन की भावना (दूसरी), २९—चरण चिह्न की भावना, ३०—स्वामिनी चरण चिह्न भावना, ३१—सात बालकन के स्वरू-पन की भावना, ३२—नित्य लीला की भावना, ३३—द्वादश निकुज की भावना, ३४—वन-यात्रा की भावना, ३५—नवग्रहो की भावना, ३६—श्रीनाथद्वारे की भावना, ३७—सेवा भावना, ३८—उत्सव भावना, ३९—वमत होरी की भावना, ४०—छप्पन भोग की भावना, ४१—छाक बीडी की भावना, ४२—भावना-त्रय।

हरिराय जी ने सस्कृत के गद्य-पद्यात्मक ग्रथो तथा ब्रजभाषा काव्य की भी रचनाए की है। उनमे निम्न-लिखित उल्लेखनीय है ·

१—सनेहलीला, २—नित्यलीला, ३—गोवर्धनलीला, ४—दामोदरलीला, ५—दानलीला, ६—स्याम-सगाई, और ७—वनयात्रा।

हरिरायजी-कृत 'सनेहलीला' की अनेक हस्तलिखित प्रतिया रसिकराय-कृत 'उद्धव लीला', जनमोहन-कृत

'सनेहलीला', मुकुददास-कृत 'सनेहलीला' के नाम से मिलती है। रसिकराय तो हरिरायजी का उपनाम है, जो उनकी काव्य-रचनाओ मे प्रायः मिलता है; किन्तु जनमोहन और मुकुददास निश्चय ही हरिरायजी से भिन्न व्यक्ति थे। ऐसा ज्ञात होता है, उन लोगो ने हरिरायजी-कृत 'सनेहलीला' की प्रतिलिपिया की थी, जिनके अंत मे उन्होने अपने नाम भी लिख दिए थे। बाद मे भ्रमवश वह 'सनेहलीला' के रचयिता समझ लिये गए और उन्ही के नाम से उक्त ग्रथ की अन्य प्रतिलिपिया होने लगी थी।

श्री हरिरायजी ने ब्रजभाषा के अतिरिक्त गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं में भी काव्य-रचनाए की है। उनकी वे रचनाए कीर्तन, धमार, घोल, ख्याल और रेखता आदि विभिन्न शैलियो मे उपलब्ध होती हैं। उनके सस्कृत भाषा मे रचे हुए पद और गुजराती भाषा के घोल भी प्रसिद्ध है।

हरिरायजी-कृत विविध राग-रागिनियों मे रचे हुए कीर्तन के पद वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तनकारों में प्रचलित है। वे कीर्तन की कतिपय पोथियो मे भी सकलित मिलते है। इन पदो मे हरिरायजी रसिक, रसिकराय, रसिकदास, रसिकप्रीतम, हरिदास, और हरिघन छाप मिलती हैं। ये पद वल्लभ-सम्प्रदायी मन्दिरो मे विविध उत्सवो के अवसर पर गाये जाते है। अभी तक ये पद थोडी सख्या मे ही उपलब्ध थे, किन्तु हमारे अन्वेषण से अब ये काफी संख्या मे सगृहीत हो गए है। हमने इनमे से ६०० से भी अधिक पदो का सुसपादित सकलन प्रस्तुत किया है, जो वल्लभ-सम्प्रदाय और हिन्दी साहित्य मे प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। इन कीर्तन के पदो ने हरिराय जी का और भी महत्त्व बढ़ा दिया है। अब उनका स्थान अष्टछाप के विख्यात कीर्तनकारो की पक्ति मे निश्चित करने के लिए साहित्य-समीक्षकों को विचार करना पडेगा।
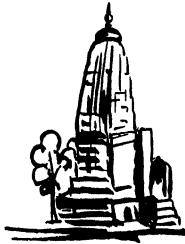
कुलपतिमिश्र-रचित तीन संवाद और उनके वंशज

श्री अगरचन्द नाहटा

छोटे-छोटे व साधारण कवियो की रचनाओं का पता लगाना तो कठिन है ही, पर अभी तक बडे-बडे और सिद्ध कवियो की भी समस्त रचनाओ का पता भी ठीक से नही लगाया जा सका है। उनकी रचनाओ का पता लगाने ; दो प्रधान साधन है—प्रथम तो इन कवियो के वशजो का पता लगाना कि जिनके पास वश-परम्परा से अपने गौरव ी वस्तु समझकर उन रचनाओ की सुरक्षा की जाती रहने से छोटी-बडी सभी रचनाए प्राप्त हो सकती हैं। फुटकर चनाए या कवि के अपने हाथ की लिखी हुई प्रतिया तो अधिकतर उनके वशजो के पास ही मिल सकती है। कभी-कभी सा भी होता है कि उन कवियो की वश-परम्परा तो आगे नही बढ़ पाती, अत कोई अन्य निकट-सम्बन्धी या ननिहाल ादि के व्यक्ति उनकी सम्पत्ति का अधिकार पा लेते है या उनमे से कोई साहित्य-प्रेमी हुए, तो वह कवि की रचनाओ ो अपने यहा ले जाकर सुरक्षित कर देते हैं। अत वैसे उत्तराधिकारी व्यक्तियो के घरो का भी पता लगाना चाहिए। सरा पता लगाने का साधन है कि जिन राजाओ आदि का आश्रित वह कवि रहा हो, उन राजघरानो के सग्रह की ोज की जाय। क्योकि कवियो ने अपने आश्रयदाताओ को अपनी रचनाए भेट की है वे वहा सुरक्षित मिल सकती है।

१८वी शताब्दी के कवि कुलपतिमिश्र की पाच रचनाओ का हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो मे उल्लेख मलता है— १. रसरहस्य, २. द्रोणपर्व, ३. युक्तितरगिणी, ४. सग्रामसार, ५. नखशिख। इनमे 'रसरहस्य' तो बहुत ो प्रसिद्ध है और 'सग्रामसार' की बहुत अच्छी प्रसिद्धि है। वास्तव मे हिन्दी के विद्वानो ने अन्य ग्रन्थो का उल्लेख ाय: खोज-रिपोर्टों के आधार से ही किया है, इसलिए 'द्रोणपर्व' और 'सग्रामसार' को दो ग्रन्थ मान लिये है। वास्तव ' महाभारत के 'द्रोणपर्व' के पद्यानुवाद का नाम ही 'सग्रामसार' है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी सभी ने इस भूल को दोहराया है। शुक्लजी ने अपने इतिहास मे 'रस-रहस्य' का रचनाकाल प्रथम पैरे मे सवत ७२७ लिखा है, पर दूसरे पैरे मे जहा पाचों ग्रन्थो के नाम दिए है, वहा सवत १७२४ कोष्ठक मे दे दिया है। डा० जारीप्रसादजी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' नामक ग्रथ के पृष्ठ ३०४ में इसी का अनुकरण कर १६६७ ई० लिख दिया है, र वास्तव मे इसका रचनाकाल सवत १७२७ ही ठीक है।[१] द्विवेदीजी के ग्रथ मे एक और भी महत्त्वपूर्ण गलती हुई या पी है कि पृष्ठ ३१५ मे कुलपतिमिश्र का कविता-काल १७७०-१७८३ छपा है, जो वास्तव मे ई० १६७०-१६८३ होना ाहिए था। आचार्य शुक्ल ने 'द्रोण-पर्व' का रचनाकाल सवत १७३७ बताया है और युक्तितरगिणी का १७४३। पर ोणपर्व' जिसका ऊपर नाम 'सग्राम-सार' है, का रचनाकाल सवत १७३३ है।[२] इस ग्रथ की एक प्रति हमारे सग्रह मे ी है। हमारे विद्वानो ने केवल 'रसरहस्य' को ही पढा है। इसलिए 'सग्रामसार' व 'युक्तितरगिणी' जैसे महत्त्वपूर्ण न्थो के सम्बन्ध में उन्होने कुछ भी नहीं लिखा।

---

१. संवत सतरासै बरस, बीते सत्ताईस।
कातिक बदि एकादशी वार बरन वानीस॥

२. सत्रहसै तैंतीस सम गुनयुत फागुन मास।
कृष्ण पक्ष तिथि सप्तमी, कियो ग्रन्थ परकास॥

डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपनी थीसिस 'राजस्थान का पिंगल-साहित्य' के पृष्ठ ११३ मे कवि का कविता-काल संवत १७२४ से १७४६ बतलाया है एव 'युक्तितरगिणी' मे ७०० दोहे है। यह ग्रन्थ शृगाररस की युक्तियों से लबालब भरा है, सूचित करते हुए यह भी लिखा है कि कवि के वशज जयपुर मे विद्यमान है, कुछ अलवर में भी पाए जाते है। उन वशवालो का कहना है कि इन्होने पचास ग्रन्थ बनाए थे, पर इस समय उनके सभी ग्रन्थ नही मिलते, केवल दस ग्रन्थो का ही पता चला है, जिनके नाम ये है .

१. रस-रहस्य, २. दुर्गा भक्ति चन्द्रिका,[1] ३. सग्रामसार, ४ युक्तितरगिणी, ५. नखशिख, ६. दुर्गासप्तशती का अनुवाद, ७ सुरूप-कुरूप सवाद, ८. आसाम की बाढ, ९. सेवा की बाढ और १०. विष-अमृत का झगडा। मेनारियाजी ने इन ग्रन्थो के नामादि 'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' ग्रन्थ से लिये लगते है।

गत वर्ष जयपुर जाने पर 'राजस्थान पुरातत्त्व-मदिर' के श्री गोपालनारायण जी वोहरा से विदित हुआ कि उन्हे कुलपतिमिश्र के रचित तीन सवाद प्राप्त हुए है, तो मैंने उनकी प्रतिलिपि करवाकर मंगवा ली। इससे 'सुरूप-कुरूप सवाद' और 'विष-अमृत का झगडा' या सवाद, जिनका उल्लेख मेनारियाजी ने किया है, उनके अतिरिक्त 'ऋतु सुभाव सवाद' जिसका अपर नाम 'षडऋतुसवाद' भी है, प्राप्त हुआ। इससे कवि की एक रचना की और नई जानकारी प्राप्त होती है। ये तीनो सवाद कवि-कल्पना से उद्भूत और उसकी सूझ-बूझ के परिचायक है, अत उन तीनो का परिचय यहा दिया जा रहा है।

१ 'षडऋतुसवाद' · इसका नाम कवि ने प्रथम पद्य मे 'ऋतुसुभाव-सवाद' दिया है। दूसरे पद्य मे षड-ऋतुओ के नाम देकर तीसरे पद्य मे छहो ऋतुओ का रामकुमार के पास आकर पारस्परिक वाद-विवाद करने का उल्लेख किया है। सबसे पहले वसतऋतु ने अपनी विशेषताओं का बखान किया कि शिशिर आदि पाचो मेरी बराबरी नही कर सकते, तो शिशर ऋतु ने हँसकर अपना बखान किया। इस तरह पद्याक आठ से सत्रह तक मे उनके सवाद का विवरण देकर, फिर हिम और ग्रीष्म ऋतु का सवाद पद्याक सत्ताईस तक मे कराके वर्षा और शरद ऋतु का सवाद पद्याक चौंतीस तक मे कराया गया है। तत्पश्चात वर्षा ऋतु ने उन पाचो मे कहा कि पच के पास चलकर निर्णय करना चाहिए, तब वे पाचो राजा रामकुवार (जयपुर के महाराजा रामसिह) के पास आकर विचार करने की विनती करती हैं और रामसिंह मधुर मुस्कान के साथ उनका झगडा इस पद्य द्वारा निपटा देते है

सब सुरूप सब ही सरस, सब प्रबीण सुख भोग।
सब ही सुखद संयोग में, सब ही दुखद वियोग ॥ ३९ ॥

अन्त मे कवि कुलपति ने अपना नाम-निर्देश करते हुए 'सब ऋतुओं का समान मान रखने वाले रामकुमार जीते रहो', इस आशीर्वाद के साथ रचना को समाप्त किया

कुलपति सुन हरखी सबै, जिय को गयौ गुमान।
जीवहु रामकुमारु जिन, सबको राख्यौ मान ॥

लेखन-प्रशस्ति मे 'इतिश्री मिश्रकुलपति विरचित 'षडऋतु सवाद' समाप्त' लिखा है। आद्य पद, जिसमें इस रचना का नाम 'ऋतु सुभाव-सवाद' नाम है, इस प्रकार है

सुमिरि सिद्धिदायक महा, गुन नायक को पाइ।
रितु सुभाव संवाद की, बातें कहौ बनाइ ॥

इसमें ३९ दोहे और एक कवित्त (पद्याक २) है।

२. 'सुरूप-कुरूप सवाद' . इसमे दो सवैये और २४ दोहे कुल २६ पद्यो मे सुरूप और कुरूप का संवाद उद्भासित किया गया है। पारस्परिक सवाद के अनन्तर दोनो अपना फैसला रामसिह जी से करवाते है और वह निम्नोक्त पद्य द्वारा दोनो को प्रसन्न कर देते है :

---

१. इतिहास राजस्थान के पृष्ठ १०९ में इसका नाम 'देवी भक्त चन्द्रिका' व इसकी रचना बिशनसिंह के समय में हुई लिखा है।

वय विहीन चित चाह बिन, रूपं लखी न जाइ।
रूप हीन हूं वय समं, भली लखं चित जाइ।।

इसके ग्रन्त मे कवि ने ग्रपनी नाम की छाप वाला पद्य नही लिखा है, पर लेखन-प्रशस्ति मे 'इतिश्री मिश्र कुलपतिविरचित सुरूप-कुरूपमवाद· समाप्त ' के द्वारा रचनाकार का नाम निश्चित हो जाता है। मंगलाचरण-पद्य मे कवि-नाम का निर्देश है ही।

प्रारम्भिक पद्य से कवि की कृष्ण-भक्ति का पता चलता है और उस पद्य मे कवि ने ग्रपना नाम भी दे दिया है :

'सीस मुकुट मुरली ग्रधर, धरें गु ज बनमाल।
सदा बसौ कुलपति हियं नटवर मोहनलाल ।। १ ।।

३. विष-पीयूष-सवाद इसमे कवि ने विष ग्रौर ग्रमृत का पारस्परिक विवाद कराया है। दोनो ने ग्रपनी-ग्रपनी विशेषताग्रों का वर्णन किया है ग्रौर ग्रन्त में षड ऋतु ग्रौर सुरूप-कुरूप की भाति वे भी ग्रपना झगडा निपटाने के लिए रामकुमार के पास पहुचते है। उन्होने निम्न पद्यो द्वारा उन दोनो को सतोष दिया ·

'मुख में विषु दुख में ग्रमृत, काहू को न सुहाइ।
विष-पियूष दोऊ भले, दुखी सुखी के काइ।।'

ग्रन्त मे उन दोनो ने प्रसन्न होकर रामकुमार को ग्राशीर्वाद देते हुए कहा :

रीझि दुहुंन मिलि यों कह्यौ, जीवहु कूरम राम।
ग्रमृत बसै तन में सदा, विषु बैरिन के काम ।। १३।।

इसमे १० कुडलिया छन्द ग्रौर ३ दोहे है। प्रारम्भ मे कवि ने ग्रपने नाम ग्रौर रचना के नाम का निर्देश इस प्रकार किया है ·

वानी मानी जो कविनु, ताहि सुमिरि सिरु नाइ।
वादु विष ग्रमृत को, कुलपति कहत गुनाइ।। १ ।।

इन तीनो रचनाग्रो मे रामकुमार का उल्लेख है, ग्रत· यह उस समय की रचना है, जब वह जयपुर राज्य के राजा नही बने थे, या राजकुमार का पद सुशोभित कर रहे थे। ग्रत. इनका रचनाकाल सवत १७२४ मे पूर्व का निश्चित होता है। कवि का उनसे सम्बन्ध राज्य-प्राप्ति से पूर्व भी ग्रच्छे रूप मे था, जो ग्रन्त तक व उनके गद्दीधर विशन-सिह से भी बना रहा।

'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' के पृ० १५८ मे महाराजाके साथ कवि का दक्षिण-युद्ध मे जाना लिखा है। शिवाजी ग्रौर महाराजा की घटनाग्रों का उल्लेख उन्होने 'शिवा की कार' नामक काव्य मे किया है ग्रौर लिखा है कि इससे कवि की १३वी रचना का भी पता चलता है।

जैसा कि कवि के वशजो का कहना है कि कवि की छोटी-बडी पचास रचनाए होनी चाहिए, ग्रत ग्रज्ञात व प्राप्त रचनाग्रो की खोज शीघ्र ही ग्रावश्यक है। कवि के वशजो का कर्तव्य तो है ही कि वे कवि की जीवनी व रच-नाग्रो के सम्बन्ध मे विस्तार से प्रकाश डाले। उनके प्राप्त ग्रन्थो का गम्भीरता मे ग्रध्ययन किया जाना चाहिए ग्रौर उनके प्रकाशन का प्रबन्ध भी।

'रसरहस्य' एव 'सग्रामसार' मे कवि ने ग्रपना परिचय देते हुए लिखा है ·

१. बसत ग्रागरे ग्रागरे, गुन तपसील बिलास।
विप्र मथुरिया मिश्र है, हरि चरनन कौ दास।।
ग्रभू मिश्र जिन वंश में, परशराम जिमि राम।
जिनके सुत कुलपति कियो, रसरहस्य सुखधाम।। १४२ ।।

जिते साज हैं कवित के, मम्मट कहे बखानि।
ते सब भाषा में कहे, रसरहस्य में आनि ॥ १४३ ॥

२. माथुर वंश प्रसिद्ध, मिश्र कुल अभय राज भय,
सब विद्या परवीन, बेद अध्ययन तपोमय।
तारापति तिह पुत्र, विप्र कुल जिमि तारापति,
तासु तनय मयालाल, ब्रह्म विद्या विचित्र गति ॥
हरि कृष्ण कृष्ण भज कृष्ण मय, तासु तनय भागो तमग।
भय परसुराम ताको तनय, सुर गुरु सम भज राम पग ॥
परसुराम पुत्र प्रगट कवि पंडित कुलपति।
अध्यापक व्याकरण न्याय पथ ब्रह्म कर्म तति ॥
रुचि भारत भगवत करत, आचरन सुव्रत मत।
सुखमय लखि साहित्य मुख्य किन्नउ बहु सम्मत ॥
नर नाग देव बहु देश की भाषा करि कविता कुशल।
संग्रामसार तित ग्रंथ किया, रामसिंह नृप हुकम बल ॥
कवि कुलपति के आगरे[1] गुन आगरे निवास।
जहँ दौलत दिल्लीस की विहरत चित्त हुलास ॥

इन पद्यो के आधार से कवि-वश का परिचय शुक्लजी और मेनारियाजी आदि ने दिया है। पर सग्रामसार मे कवि ने अपने मातामह कवि केसौराय का महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है ·

कविवर मातामहि सुमरि, केसो केसौराय।
कहौं कथा भारथ्थ की, भाषा छन्द बनाय ॥ २७ ॥

इस पद्य की ओर उनका ध्यान नही गया, यद्यपि कुलपति, बिहारी कवि का भानजा था, इसी प्रवाद को दुहराते रहे। इस पद्य की ओर श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का ध्यान आकर्षित हुआ था। इससे कवि बिहारी के पिता का नाम कवि केशवराय होना एव कुलपतिमिश्र का उनका भानजा होना भली-भाति सिद्ध है। बिहारी ने स्वय एव सतसई के टीकाकारो ने उन्हे केशवराय का पुत्र लिखा है

जन्म लियौ द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आय।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसव राय ॥

बिहारी के पुत्र एव सतसई के सर्वप्रथम टीकाकार कृष्णलाल ने स० १७१६ मे रचित टीका मे इस पद की व्याख्या करते हुए लिखा है :

'केसो जो मेरो पिता और केसोराय ज्यों श्री कृष्ण जू।'

अनवर-चन्द्रिका टीका मे भी लिखा है

'केसव केसव राइ बिहारी के बाप कौ नाम है'

रसचन्द्रिका, हरिप्रकाश और लालचन्द्रिका टीकाओ से यही सिद्ध है। पर डा० मोतीलाल मेनारिया ने, कई विद्वानो के मतानुसार केशवराय बिहारी के पिता का नाम नही, पर गुरु का नाम है, इसकी पुष्टि की है, जो सर्वथा गलत है। कवि मडन और कुलपति-विषयक जयपुर मे प्रसिद्ध एक दोहा 'रत्नाकर' जी ने लिखा है :

मंडन मंडन के जगत, अब खंडन करि दीन।
कुलपति मिश्र उजियार कहि, भए स्याम रँग लीन ॥

अब कुलपति के वशजो के सम्बन्ध में यथाज्ञात जानकारी नीचे दी जा रही है।

---

१. महाराजा राजा जयसिह इन्हें आगरे से जयपुर लाये और इन्हें जागीर व दरबार में कुर्सी प्रदान की जो इनके वंशजों के अधिकार में है।

करीब ५० वर्ष पूर्व श्री देवीप्रसाद जी मुसिफ ने राजस्थान के कवियो और उनकी रचनाओ के सम्बन्ध में अन्वेषण किया था। उन्होने अपनी 'कविरत्नमाला' मे कुलपतिमिश्र का परिचय देने के बाद उनके वशजो के सम्बन्ध में भी जानकारी दी है, जो यहा दी जा रही है .

चतुर्भुज कवि

'ये कुलपति-वशी कवि जयपुर के पिछले महाराजा रामसिहजी के आश्रित थे। इनका देहान्त स० १६४६ में हुआ। सन्तान न होने से इनके छोटे भाई रघुनाथ के छोटे बेटे प्यारेलाल इनके गोद आए है।' ('राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' नामक ग्रथ के अनुसार इनका देहान्त वैशाख १६६६ मे हुआ।)

मैने इनके बनाये दो ग्रंथ सवत १६५४ मे कवि श्यामलाल के पास देखे थे— एक का नाम 'ब्रजपरिक्रमा-सतसई' है और दूसरे का 'वश-विनोद', जिसमे जयपुर की वशावली है।

इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है .

'ब्रजपरिक्रमासतसई' से—

दोहा—कुलपति कुलपति मिश्र के, चरन कमल उर धार।
रच्यौ ग्रंथ निज बुद्धि बल, छन्दो बन्ध सँभार ॥१॥

'वशविनोद' से कविवश—

दोहा—कुलपति कविपति के तनय, गोबिंदराय सुजान।
तिनके सुत अति बुद्धि युत, सदा सुखहि मत मान ॥

छप्पय

रामनाथ तिहि पुत्र प्रगट भये द्वै मत सागर।
सिभूराम जु एक द्वितिय हीरानंद नागर ॥
कानीराम तिहि तनय विनययुत दीपचंद कहुँ।
गणपति तिनके भावो द्वितिय गणपति समान चहुँ ॥
भए सेढूराम तिनके तनय ता सुत हुए भुज चार धर।
लघु भ्राता नाम रघुनाथ जू हरि चरनन के दास वर ॥ १ ॥

दोहा—विजयसिंह रावल जहां, जयपुर गंगा पौर।
निकट रामजीदास के, कवि चतुरन की ठौर ॥
मेरी मत अनुसार यह, बरन्यौ बंस बिनोद।
कवि चतुरन सों बीनती, भूल्यौ लीजो सोद ॥
संवत १६३५।[1]

दोहा—पावत भूत अरु नेन शिव, नवनिधि रदन गणेश।
फागण सुदि की तीज है, बंस बिनोद सुवेश ॥

रघुनाथ कवि

चतुर्भुज जी के छोटे भाई थे। इन्होंने कोई ग्रथ नही बनाया। फुटकर कविता करते थे। सवत १६५० में इनका देहान्त हो गया। इनके बेटे श्यामलाल है, इन्ही के भाई प्यारेलाल चतुर्भुज जी के गोद गए है।

---

१. मेनारियाजी ने 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' के पृष्ठ २४४ में चतुर्भुज मिश्र के ग्रन्थों का निर्माण-काल सवत १६२६ लिखा है। पर, वह ग्रंथ किस का है या क्या आधार है, अज्ञात है।

श्याम कवि

इनका नाम श्यामलाल है। माथुर ब्राह्मण कुलपति जी के वश मे है। मैंने बन्दी के कवि अमरकृष्णजी से इनके पिता रघुनाथजी और ताऊ चतुर्भुजजी का पता पाकर इनको पत्र भेजा था, जिसका यह उत्तर उन्होने दोहों में दिया :

दोहा—चतुर वेद माथुर प्रगट, अल्लजु मिश्र कुलीन।
परसराम सुत भयेहु कवि, कुलपति मिश्र प्रवीन ॥ १ ॥
मिरजा जयसिंह आदि अरु, सेवे भूपति तीन।
दुइ बिसत द्वादस अधिक, ग्रंथ नवों रस कीन ॥ २ ॥
कुलपति कविता रचि भये, जनम मरण सौं हीन।
इहितें जन्म र मरण की, बरस लिखत घन कौन ॥ ३ ॥
कवि पदवी कविवर लही, अलीजु अब लग आत।
अधिक न्यून कछु ना भये, रचे ग्रंथ नृप गात ॥ ४ ॥
कहि कारण कवि वंश की, वंस माल की चाह ।
आपहु अपनो भेद कुल, कहिये कर उत्साह ॥ ५ ॥
प्रश्न एक बाकी रहा, सो उत्तर के बाद।
जयपुर में कवि स्याम भनि, सुनहु देवि परसाद ॥ ६ ॥
सुकवि चतुरभुज नाथ रघु, करत स्वर्ग में वास।
स्याम पियारे लाल हे, बाल सुकवि के दास ॥ ७ ॥

फिर मै सवत १९५४ के भादो मे इनके मकान पर गया तो बडी प्रसन्नता मे मिले और साथ चलकर कवि राधावल्लभ जी से मिलाया और कवि चतुर्भुजजी के बनाये हुए ग्रथ भी बताए और कुछ कविता अपनी भी दिखाई जो यहा लिखता हू

दोहा—अति सुनीत कर राजत्वे, दिये प्रजा सुख हर्ष।
भवनेश्वरि विकटोरिया, चिरजीवो बहुवर्ष ॥

सवैया—अरजी कवि लोग करें, चित दे कर सो सुन लीजिये जी।
पुन छन्द कवित्त कहा करके, कविता को सुधारस पीजिये जी ॥
कवि स्याम विचार कहे इहि में, सरदार सदा चित दीजिये जी।
यश के करता कवि हैं जग में, तिनतें अभिमान न कीजिये जी ॥

'राजस्थान के हिन्दी-साहित्यकार' मे श्याम कवि और प्यारेलालजी की कविता के अन्य नमूने भी प्रकाशित हुए है और 'प्यारेलाल जी के पुत्र भी विद्यमान है' ऐसा लिखा है। सवत १९७६ मे स्व० पुरोहित हरिनारायण जी ने श्यामसुन्दरदास जी के दिए पत्र मे लिखा था कि कुलपतिमिश्र जगन्नाथ पडितराज के शिष्य थे और उन्होने अपने गुरु की भाति ५२ ग्रथ रचे। वह सस्कृत के बडे विद्वान थे और उनके वशज जयपुर मे जागीर खाते है। सवत १९८२ मे विद्याभूषण प० रामनाथ जी को बांदीकुई से कुलपति के वशज प० बद्रीप्रसाद जी चतुर्वेदी ने पत्र लिखा था। कुलपति मिश्र गंगापोल मे रहते थे उनके वशज प्यारेलाल जी भी तब, सवत १९८२–८३ मे, यही रहते थे।

कुलपतिमिश्र की 'आसाम की बाढ', 'सेवा की बाढ' तथा 'शिवा की बार' और 'दुर्गा भक्त चन्द्रिका' एव 'दुर्गा सप्तशती' का अनुवाद और 'नखशिख' इन रचनाओ की प्रति कहां है, इसका निर्देश 'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' और 'राजस्थान का पिगल साहित्य' ग्रथो में नही किया गया है। सम्भव है 'दुर्गा भक्त चन्द्रिका' और 'दुर्गासप्तशती' का अनुवाद दोनों ग्रथ एक ही हो। इसी प्रकार 'सेवा की बाढ' और 'शिवा की बार' ये दोनों रचनाएं

भी एक ही हो। पर, जब तक उनकी हस्तलिखित प्रतिया देखने मे न आये, तब तक निश्चित नही कहा जा सकता
जयपुर राज्य का पोथीखाना, जिसमे वहा के राजवश के आश्रित कवियो की रचनाए अधिकाधिक मिल सकती है, अ
सील-मोहर ताले मे बन्द है। इसी प्रकार कुलपतिमिश्र के वशज भी अनुदार प्रतीत होते है। अत अब तक जित
जानकारी मेरे अवलोकन मे आई, उसे एकत्र कर हिन्दी के विद्वानो के समक्ष उपस्थित की जा रही है। आशा की जा
है कि अन्य विद्वान भी इसी प्रकार हिन्दी-कवियो और उनके अन्वेषण मे प्रयत्नशील होगे, जिसमे हिन्दी-साहित्य व
भावी वृहत इतिहास बहुत अच्छे रूप मे प्रकाशित हो सके।
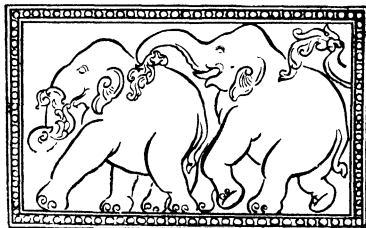
लोक-गीत : स्वरूप और आधार

आचार्य नलिनविलोचन शर्मा

लोक-गीत को एक ओर तो आदिम गीतो से और दूसरी ओर लोकप्रिय जन-गीतों से पृथक करके समझ लेने की मूलभूत आवश्यकता है। आदिम गीत और जन-गीत (औद्योगिक केन्द्रो मे श्रमिको के लिए बनाये गए) की तरह ही लोक-गीत भी शारीरिक श्रम करने वाले से ही सम्बन्ध रखता है, किन्तु लोक-गीत दोनो से ही तत्त्वतः भिन्न है।

मजदूरो के लिए साम्यवादी जन-लेखको द्वारा जो गीत बनाया जाता है, वह ऊपर से नीचे की ओर आने वाला (बौद्धिक) प्रयास है, वह कितना भी लोकप्रिय क्यो न साबित हो। लोक-गीत और वह जैसे भी रचित होता हो——हम वस्तुत इसी पर विचार करने जा रहे है——किन्तु अवश्य ही इस तरह नही होता। आदिम गीत मे लोक-गीत की स्पष्ट भिन्नता यह है कि पहला ऐसे समाज का द्योतक है, जिसके एकाधिक स्तर नही है, जबकि दूसरा ऐसे समाज मे सम्भव है, जिसके अनेक स्तर हो, आदिम गीत समूचे समूह का होता है, जिसके समानान्तर एक परिष्कृत समूह भी होता है और उसका अपना कला-गीत होता है। लोक-गीत मे आदिम गीत के जादू-टोने, टोटका-टोटरम के तत्त्व अवशिष्ट रहते है, किन्तु उपर्युक्त अन्तर भी रहता है।

जैसा कि लुई हैरप ने कहा है, लोक-गीत का स्वरूप यह है कि वह सामान्य जनता के लिए उसी के द्वारा रचित होता है, जबकि परिष्कृत गीत एक सीमित वर्ग के लिए एक प्रशिक्षित व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। लोक-गीत की यह भी विशेषता है कि उससे व्यावहारिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती है, जैसे काम के बोझ को हल्का करना, अत्याचार का विरोध, सामान्य जनता का मनोरजन, इत्यादि।

यूरोप मे उन्नीसवीं शताब्दी मे लोक-गीत का सावधान अध्ययन शुरू हुआ था। इस अध्ययन को रोमासवादी आदोलन से प्रेरणा मिली थी, जिसमे ह्रासोन्मुख सामन्तवाद की अत्यधिक रूपवादिता और श्रेण्यता के विरुद्ध प्रतिक्रया भी थी और साथ-ही-साथ तीव्र राष्ट्रवादिता भी। रोमासवादी के लिए लोक-तत्त्व वास्तविकता से अधिक रहस्यपूर्ण और आदर्शीकृत भाव था। यही कारण है कि रोमासवादी लोक-साहित्य-विशारदो ने लोक-गीत-विषयक सामूहिकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, अर्थात उनकी धारणा थी कि लोक-गीत एक अव्याख्येय और रहस्यपूर्ण रीति से स्वतः रचित हो जाता है। जर्मन रोमासवादी हर्डर का कहना था कि 'लोक-काव्य स्वय ही अपनी रचना कर लेता है', किन्तु हर्डर और उसके अनुयायियो का आशय क्या है, यह स्पष्ट नही होता।

किटरेज ने 'इगलिश एण्ड स्काटिश पाप्युलर बैलेड्स' नामक पुस्तक की भूमिका मे नागरिक सभ्यता से दूर निवास करने वाले एक जन-समुदाय के अध्ययन के आधार पर 'सामुदायिक रचना' की प्रक्रिया का एवविध वर्णन किया है——'समूह के भिन्न-भिन्न सदस्य, एक दूसरे के बाद, अपनी-अपनी पंक्तिया गाते है, जिन्हे वे तत्क्षण गढ लेते हैं। इन्ही पक्तियो के योग से गीत तैयार हो जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर गीत तो सामुदायिक रचना हुई, यद्यपि उसकी प्रत्येक पक्ति किसी एक व्यक्ति की रचना हो सकती है। ऐसे गीत पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नही हो सकता और इसका रचयिता एक व्यक्ति नही होता। लोक ही इसका रचयिता होता है। इसी लेखक ने यह भी बताया है कि नाचता-गाता हुआ यह समुदाय, एक इकाई के रूप मे, मानसिक और रागात्मक उत्तेजना का अनुभव करता है,

जो काव्य-सर्जना के लिए सर्वथा अनुकूल ही नहीं है, बल्कि जिससे निश्चयपूर्वक काव्य-सर्जना होती है "किन्तु, जैसा कि हैरप का कहना है, अधिकतर लोक-गीतों के लिए सत्य यह है कि गीत-सर्जना मे जनता सक्रिय श्रोता-समूह के रूप मे भाग लेती है जिसका प्रतिनिधित्व एक गायक करता है। लोक-गीत के ऐसे गायक का व्यक्तित्व शास्त्रीय सगीत के गायक की तरह पृथक और विशिष्ट नही होता, समुदाय का कोई दूसरा सदस्य उसका स्थान ग्रहण कर ले सकता है। परिष्कृत श्रोता-समूह मे गायन का महत्त्व होता है, लोक-समूह मे गीत ही केन्द्र होता है, गायन जैसा भी हो। लोक-गीत के गायक और उसके श्रोता-समूह का अन्तर स्वर और मस्तिष्क का अन्तर-मात्र है।"

लोक-गीत, लोक-कठ मे निवास करता है। लोक-गीत के लिए, कला-गीत की तरह, गीतकार के द्वारा रचित रूप मे बने रहना जरूरी नही होता। लोक-गीत लोक-सप्रेषित होता है और सप्रेषण के काल मे लोक-रुचि के अनुसार परिवर्तित भी होता है। यही कारण है कि प्रत्येक लोक-गीत के एकाधिक पाठ और धुने होती है। इनमे से कोई एक-दूसरे से अधिक प्रामाणिक नही माना जा सकता, क्योकि सभी की अपनी प्रामाणिकता होती है। 'म्यूजिक इन अमेरिका' नामक पुस्तक मे फिलिप्स बैरी ने ठीक ही कहा है कि 'लोक-गीत सजीव गीत होता है और उसमे विकास और परिवर्तन की समस्त स्थितिया और अभिव्यक्तिया पाई जाती है।"

सामुदायिक सर्जना के जिस सिद्धान्त का सक्षिप्त विवेचन ऊपर की पक्तियो मे किया गया है उसका खडन भी कुछ विद्वानो के द्वारा हुआ है। उदाहरणार्थ, अमेरिका की लूइजे पाउड नामक शोध-कर्त्री का कहना है कि अशिक्षित जनता उत्तम लोक-गीत की रचना नही कर सकती, उत्तम लोक-गीत परिष्कृत समुदाय मे ही आविर्भूत होते हैं। उनके अनुसार यह ठीक है कि अशिक्षित जनता सप्रेषण के समय गीत मे परिवर्तन करती है, और यह भी असत्य नही कि जनता स्वय भी लोक-गीत का निर्माण कर लेती है; किन्तु ध्यान इस बात पर देना आवश्यक है कि अपरिष्कृत रचना-प्रयास का परिणाम सदैव निकृष्ट होता है। श्रीमती पाउड के अनुसार, "मौखिक सरक्षण और सप्रेषण के फलस्वरूप ह्रास ही होता है, विकास नही।"

किन्तु अधिकतर विद्वान इस सिद्धान्त से असहमत है। उदाहरण के लिए, फिलिप्स बैरी का कहना है कि "वास्तविक लोक-सगीत उन गायको की विवेचनात्मक क्षमता और सुरुचि का परिचायक होता है, जो उसका सम्प्रेषण करते है।" इसके अतिरिक्त जी० एच० जेरोल्ड ने 'द बैलड आव ट्रैडिशन' नामक पुस्तक मे सप्रमाण सिद्ध किया है कि पाउड का ह्रास-सिद्धात, अपवादो को छोडकर निराधार है। जेरोल्ड ने ऐसी अनेक लोक-गाथाओ के विवरण दिये है, जिनके परवर्त्ती रूप, पूर्ववर्त्ती की तुलना मे निकृष्ट नही है। 'आर्ट इन नेग्रो फोकसाग' मे रसेल एक्स ने भी यह प्रमाणित किया है कि 'अमरीकी हब्शियो के लोक-गीत अग्रेजी के आधारभूत प्राचीनतर गाथा-रूपो मे कम उत्कृष्ट नही है।' अमरीकी हब्शियो के अनेक लोक-गीतो से यह भी प्रमाणित होता है कि अशिक्षितो की सर्जना सुसस्कृत कलाकार की कृति के स्तर तक पहुच सकती है।

इसका यह अर्थ नही कि लोक-गीत का प्रकारत ह्रास होता है ही नही। जब और जहा ह्रास होता है, तो, हैरप के अनुसार, इसका कारण यह नही है कि सामान्य जनो मे सर्जनात्मक क्षमता का अभाव रहता है, बल्कि ऐसा इसलिए होता है कि देश-विशेष मे सामाजिक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप जन-सस्कृति विकृत हो जाती है। 'ए रीसेट थ्यौरी आव बैलड-मेकिग' मे जेरोल्ड गाउल्ड का यह कहना बहुत दूर तक युक्तियुक्त है कि "कुछ गौरवपूर्ण शताब्दियों तक तो ग्रामीण स्त्री-पुरुष, ऐसा प्रतीत होता है, ऐसी परिस्थितियो के बीच रहे कि जिन परम्परागत धुनो मे वे गाथाएं गाते थे उन्हे अच्छे रूप मे सुरक्षित ही नही रखा, बल्कि उन्हे उत्कृष्टतर बनाने मे भी सफलता पाई।"

फिर भी यह आवश्यक है कि लोक-गीतों की कलात्मकता मे जो परिवर्तन होते है, उनके कारणो पर सावधानी से विचार किया जाय। अभी तक बहुत बडे पैमाने पर सग्रह-कार्य हुआ है और पाठ के स्रोतो के सम्बन्ध मे अनुसधान भी हुए है, तथा, विशेषकर भारत मे, उथला मूल्याकन भी हुआ है, किन्तु उत्कर्षापकर्ष के कारणो की ठीक तरह छानबीन नही हुई है। उदाहरण के लिए, सेसिल शार्प नामक विद्वान ने वर्षों के अक्लात परिश्रम से इगलैंड के लोक-गीतो का बृहत संकलन तो तैयार किया है, किन्तु उनके अध्ययन के आधार पर जब वह कहता है कि इगलैंड के लोक-

गीतो मे 'परिस्थितियो के कारण परिवर्तन नही हुए है, अपितु मनोवृत्ति मे तात्त्विक परिवर्तन के कारण हुए है', तो इस निष्कर्ष से सहमत होना कठिन सिद्ध होता है, क्योकि मनोवृत्ति का परिवर्तन बहुत दूर तक परिस्थितियो के परिवर्तन का ही परिणाम होता है। यह ऐसा तथ्य है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। इस सम्बन्ध में एक अन्य अग्रेज विद्वान ए० एल० ल्वायड ने, 'द सिगिग इग्लिशमैन' मे महत्त्वपूर्ण मतव्य प्रस्तुत किए है, यद्यपि लेखक के साम्यवादी दृष्टिकोण के कारण वे पूर्वाग्रह-रहित नही है।

लोक-जीवन तथा भौतिक परिस्थितियो के अत:सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए ल्वायड यह प्रदर्शित करता है कि कृषकों के कठिन जीवन की क्षति-पूर्ति १८वी शताब्दी के इग्लैंड के लोक-गीत मे देखी जा सकती है, जिसका विषय न केवल प्रेम ही है, बल्कि चौदहवी शताब्दी का कृषक-विद्रोह भी है और जिसमे पादरियो के उच्छृङ्खल यौनाचार का भी मखौल किया गया है। १८वी शताब्दी मे, औद्योगिक क्राति के पूर्व, इगलैंड का लोक-जीवन अपेक्षया स्थिर था, अत उस युग के लोक-गीत मे भावुकता का प्रवेश होता है, जिसे कृषक-जीवन-सम्बन्धी कवित्वपूर्ण श्रेण्य धारणा से भी प्रोत्साहन मिलता है। फिर इस युग के लोक-गीत मे कृषक-किशोर तथा धनी पिता की लडकी के प्रणय और कृषक-किशोर के निर्वासन आदि की सुपरिचित कथा भी पाई जाती है।

किन्तु इस शताब्दी के मध्य के बाद लोकगीत-धारा मे एक ऐसा परिवर्तन परिलक्षित होता है, जो औद्योगिक क्राति के प्राय साथ-साथ चलता है। कृषक शहरो की ओर दौडते है और बडे पैमाने पर बडी पूजी के साथ कृषि की व्यवस्था शुरू होती है। फलत ग्राम्य जीवन की अनिश्चयात्मकता और असुरक्षा की अभिव्यक्ति लोक-गीत मे होने लगती है, अवैध यौनाचार और मतानोत्पत्ति विषय बनते है, भोजनार्थ चोरी मे जगलो मे पशुओ का आखेट होता है और ऐसे आखेट-सम्बन्धी गीत बनते है, और पहले-पहल निर्घृण अपराधो पर भी लोक-गीत गाये जाने लगते है। फिर १९वी शताब्दी के अन्तिम दिनो मे औद्योगीकरण ने सामान्य जन को उसके धरातल से पूर्णत उत्पाटित करने मे सफलता पाई, और मनोरजन के नागरिक साधन सुलभ हुए, शिक्षा और समाचारपत्रो का प्रसार-प्रचार हुआ, और ग्रामोफोन, रेडियो और चित्रपट आये। परिणामत लोक-गीत का तीव्र गति से ह्रास हुआ।

कपडे की मिल जतसार को समाप्त कर दे, ट्रैक्टर धान के खेत मे गाये जाने वाले गीतों को, ट्रक बैलगाडी वालो के गीतो को तथा अग्निबोट और जहाज मछुओ के गीतो को, तो आश्चर्य भी क्या! इस तरह व्यवसायो से सम्बद्ध लोक-गीतो का परिस्थिति-जन्य ह्रास सहज ही देखा जा सकता है इसी प्रकार चित्रपट, ग्रामोफोन, रेडियो आदि के रूप में सुन्दर गावो मे भी, एकरूप व्यावसायिक मनोरजन-साधन सुलभ होते है, तो विशुद्ध रूप से मनोरजनार्थ गाये जाने वाले लोक गीत के भी बुरे दिन आये ही समझिए। रजिस्ट्रार के कार्यालय और मधु-यात्रा मे कोहबर के गीत तथा मैटर्निटी वार्ड और शहर के दो कमरो वाले फ्लैट मे सोहर थोडे ही गाये जा सकते है।

लोक-गीत सामान्य जनो के उपयोग का कला-माध्यम है, उन्ही के जीवन से इसकी विषय-वस्तु प्राप्त होती है, वे इसमे सक्रिय भाग लेते है, श्रोता-मात्र नही बने रहते, और इसके रचयिता भी उन्ही मे से निकलते है। लोक-गीत का शिल्प उसे सहज ग्राह्य और गेय बनाता है। कला-गीत की तुलना मे लोक-गीत के वस्तु-तत्त्व और शिल्प स्पष्टत· भिन्न होते है। लोक-गीत जिनके लिए और जिनके द्वारा रचित होता है, उन्हे कला-गीत की रचना और ग्राह्यता के लिए आवश्यक प्रशिक्षण की सुविधाए सुलभ नही रही है। इसलिए यह तो सत्य है ही कि लोक-गीत समाज के पिछडे और दमित वर्ग की कला है, यद्यपि इसका यह अर्थ नही कि लोक-गीत कला-गीत से निकृष्टतर है। इसी प्रकार कला-गीत की अपेक्षा लोक-गीत कम जटिल तो होता है, पर कम परिष्कृत होता हो, ऐसा नहीं है। कला-गीत की धुने, ताल और लय, मौखिक सप्रेषण आवश्यकता के कारण और अनुरूप सरल होते है। यह ठीक है कि लोक-गीत की सहज मर्म-स्पर्शिता और प्राणवत्ता आज के नागरिक के लिए आकर्षक सिद्ध होती है; किन्तु यह भी सच है कि लोक-गीत का आनन्द वे सामान्य जन ही सहज और आयास-रहित भाव से ले पाते है, जिनके जीवन की अभिव्यजना उसमे रहती है।

यह सब होते हुए भी स्मरण रखना आवश्यक है कि लोक-गीत शुद्ध रूप से केवल सामान्य जन की ही रचना नही होती। बहुधा लोक-गीत के छन्द और लय की योजना कला-गीत के तत्त्वो से प्रभावित पाई जाती है। इसी तरह

लोक-गीत मे अनेक श्रेण्य और पौराणिक अंतर्कथाए अनुस्यूत रहती है, यद्यपि नामों और घटनाओ आदि पर स्थानिक रग भी चढ़ा रहता है। इधर मुद्रण के प्रसार के फलस्वरूप लोक-गीत के मुद्रित सस्करण भी प्राप्त होने लगे है जिसके फलस्वरूप उसका प्रकृत रूप बहुधा क्षतिग्रस्त हो जाता है।

जिस प्रकार लोक-गीत मे अभिजात तत्त्व पाये जाते है, उसी प्रकार उसके श्रोता केवल सामान्य जन ही नही होते, अभिजात वर्ग के सदस्य भी होते है, जिनमे हम उन्हे परिगणित करना आवश्यक नहीं समझते, जो सग्रहकर्ता अनुसधायक है। आल्हा-ऊदल कजली, लावनी, होली आदि की लोकप्रियता लोक तक ही सीमित नही रही है, यह सुपरिचित तथ्य है। पर्वों-त्यौहारो तथा विभिन्न ऋतुओ मे सामाजिक स्तर-भेद लोक-गीत ही मिटाते रहे है, यद्यपि औद्योगीकरण और नागरिक जीवन के आधुनिकतम रूप इसे अधिकाधिक असम्भव बनाते जा रहे है।

इधर लोक-गीतो के स्रोतो के अनुसधायको का ध्यान एक अन्य तथ्य की ओर गया है, और वह यह है कि लोक-गीत औद्योगिक परिस्थितियो मे भी बना रह सकता है।

हाल-हाल तक लोक-वार्त्ताविशेषज्ञ की यह धारणा थी कि लोक-गीत केवल ग्रामीण वातावरण मे ही आविर्भूत होता है। किन्तु अमरीकी अनुसधायको ने इस धारणा को अमान्य सिद्ध कर दिया है। बडे-बडे बाधो और सडको के निर्माण के तथा जगल काटने और खानो मे मजदूरी आदि कार्यों ने अनेक लोक-गीतो और गाथाओ को जन्म दिया है और इस तरह औद्योगिक लोक-गीत का अस्तित्व भी प्रमाणित होता है। ऐसे औद्योगिक गीत भी लोक-सगीत ही है, क्योकि ये मौखिक रूप मे ही बनते और परिवर्तित होते रहते है, सामान्य जनो की आवश्यकताओ और रुचि की पूर्ति करते है और शैली मे ग्रामीण लोक-गीत के ही सदृश होते है।

नागरिक लोक-गीत का सबसे महत्त्वपूर्ण और कलात्मक अमरीकी उदाहरण 'हाट-जाज' (Hot Jazz) है, जिसके प्रवर्तन का श्रेय नगर-निवासी हब्शियो को दिया जाता है, हब्शी अमरीकी नगरो मे निवास करते हुए भी सास्कृतिक पार्थक्य की स्थिति मे रहने को बाध्य है और योरुपीय सस्कृति को पूर्णत आयत्त नही कर पाये है। इन्ही नगर-निवासियो का जीवत और तीव्र आवेगपूर्ण लोक-सगीत है 'हाट जाज'।

लोक-गीत, वह ग्रामीण हो या औद्योगिक, के नैरन्तर्य मे यह नही समझना चाहिए कि औद्योगीकरण परिस्थितियो के कारण लोक-गीत एक सजीव कला-माध्यम के रूप मे समाप्त नही हो रहा। वैयक्तिक, पेशेवर और व्यावसायिक कलाए निर्वैयक्तिक और गैर-पेशेवर लोक-गीत आदि लोक-कलाओ को अपदस्थ करती जा रही है। यदि लोक-कलाए औद्योगीकरण के बावजूद अवशिष्ट है, तो इसीलिए कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया अधूरी है। औद्योगीकरण का पूर्णतया विकास लोक-कलाओ के सर्जन के लिए अनुकूल परिस्थितिया रहने ही नही देगा। औद्योगिक लोक-गीत केवल इसी बात का प्रमाण है कि वह प्रागौद्योगिक जीवन-पद्धति का अवशेष है। 'हाट जाज' यही तो प्रमाणित करता है कि अमरीकी समाज का एक ऐसा दमित वर्ग भी है, जिसे परिष्कृत कला का आयत्त करने की सुविधाए सुलभ नही रही है। यह सास्कृतिक पार्थक्य दूर हुआ तो लोक-कला भी समाप्त हो जायगी।

लोक-गीत मे पिछले दो दशको के अन्दर जो अभिरुचि उत्पन्न हुई है उसमे भी यह सिद्ध नही होता कि औद्योगीकरण की परिस्थितिया लोक-गीत के लिए घातक नही है। लोक-गीतो के सग्रह, विशेषत विदेशो मे लोक-वार्ता-सम्बन्धी शोध, अमरीका की 'लाइब्रेरी आव काग्रेस' आदि जैसी सस्थाओ द्वारा हजारो लोक-गीतो की 'रेकार्डिंग' लोक-गीतो के गायको की लोकप्रियता आदि, उपर्युक्त अभिरुचि के असदिग्ध प्रमाण है। अत इस बात की सम्भावना अवश्य है कि भविष्य मे लोक-गीतो तथा अन्य लोक-कलाओ मे परिष्कृत कलाओ का समन्वय हो सकेगा और नवीन कला-रूपो का आविर्भाव होगा।

साहित्य और लोक-साहित्य

डा० रघुवंश

कभी अपनी शब्द-दरिद्रता के कारण हम एक शब्द का प्रयोग उसके निश्चित सन्दर्भ से अलग भिन्न सदर्भ मे करते है, पर ऐसे प्रयोगों में अनेक बार भ्रम की सम्भावना बनी रहती है। लोक के साथ साहित्य का प्रयोग बहुत-कुछ ऐसा ही है। वस्तुत जिस विशिष्ट अर्थ मे हम साहित्य शब्द का प्रयोग करते हैं और जिस सास्कृतिक भावभूमि के स्तर पर उसकी व्याख्या करते है, उस दृष्टि मे लोक से उसकी सगति बैठ नही सकती। भारतीय परम्परा मे स्वय लोक शब्द का भी ठीक वही अर्थ स्वीकृत नही रहा है, जो यहा अभिप्रेत है अर्थात अग्रेजी फोक के पर्याय रूप में। यहा प्राय. वेद अथवा शास्त्र के विपरीत लोक को माना गया है जो लौकिक रूप मे सेक्यूलर के अधिक निकट है। मध्ययुग मे अवश्य समस्त शास्त्रीय और नागरिक शिष्ट परम्पराओ के विरुद्ध जिसे मान्यता मिली है वह लोक ही है। पर इस प्रसग मे भी लोक अधिक व्यवस्थित और नियोजित लोकमानस की चेतना का द्योतक रहा है। फोक के पर्याय रूप मे लोक ऐसे समाज को कहा जायगा जो सस्कृति के सचरण के विविध चरणों से एक स्तर पर सम्पर्कित होकर भी उनके समानान्तर आदिम समाज की प्रवहमान धारा के रूप मे अवस्थित रहता है।[1] इसी दृष्टि से डा० सत्येन्द्र का कहना है—"लोक समाज आभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाडित्य की चेतना और अहकार से शून्य रहता है और एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है।"[2]

साहित्य की प्रारम्भिक से प्रारम्भिक व्याख्या मे मनुष्य की सारी बोधन और भावन चेष्टाओं की अभिव्यक्ति का समावेश हो जाता है और व्यापक रूप मे शब्द-अर्थ के सहभाव की स्थिति मे मनुष्य की सम्पूर्ण भावाभिव्यक्ति तथा उसका समस्त अर्जित ज्ञान साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है। इसी कारण भारतीय परम्परा मे साहित्य का प्राचीन प्रयोग शास्त्र के अर्थ मे हुआ है और आगे चलकर काव्य के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा है। 'लिट्रेचर' शब्द का प्रयोग साहित्य के समान कभी व्यापक और कभी सीमित अर्थ मे किया जाता है, पर इतना स्पष्ट है कि यह मनुष्य की सजग बोधन और भावन की चेष्टाओ से सम्बद्ध है। ऐसी स्थिति मे साहित्य सदा संस्कृति का अग माना जायगा, वह सस्कृति जो नागरिक रही है, जिसका सम्बन्ध शिष्ट तथा आभिजात्य समाज से रहा है। साहित्य अपने व्यापक और सीमित दोनो अर्थों मे शास्त्र, पाडित्य तथा परम्परा के नियमित रूप से सम्बद्ध रहा है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो साहित्य लोक की मौलिक प्रकृति से भिन्न ही नही, विपरीत पड़ता है।

जिस प्रकार लोक-साहित्य की व्याख्या की जाती है, उस पर विचार करने से भी यह अन्तर्विरोध की स्थिति प्रकट होती है। लोक-साहित्य की व्याख्या करते समय जिन बातो का विवेचन किया जाता है उनमे मौलिक बात है उसको लोकमानस की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करना। इसी दृष्टि से यह अभिव्यक्ति मौखिक है, देशकाल की सीमाओं से अप्रभावित रहती है और इसमे व्यक्तित्व का अभाव भी रहता है। लोकमानस जिस भाषा मे प्रवाहित है वही इसकी माध्यम होगी और उसकी स्वच्छन्दता ही इसकी प्रकृति होगी। परन्तु इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

१. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका; फोक
२. हिन्दी साहित्य कोष; लोक

यह अभिव्यक्ति लोक-जीवन की प्रक्रिया का अग है, फिर चाहे वह बोधन चेष्टाओं के रूप मे हो या भावन व्यापारो की हो। साहित्यिक अभिव्यक्ति सर्जनात्मक होती है, वह जीवन से उद्भूत, प्रेरित या सम्बद्ध होकर भी अपनी तटस्थता मे उसका अग नही हो सकती है।

आज लोक-साहित्य लिखित रूप मे उपलब्ध हो गया है, इस कारण हम उसको साहित्य के समान और उसी के स्तर पर अपने अध्ययन का विषय स्वीकार कर लेते है। पर उसकी मौलिक प्रवृत्ति मौखिक मानी गई है, यही नहीं, इस सम्पूर्ण साहित्य की स्थिति लोकसमाज के प्रवहमान जीवन के क्रम के साथ स्वीकृत है। जैसा कहा गया है वह लोक-प्रवाह का स्पदित अग है। ऐसी स्थिति मे लिखित-सकलित रूप में इस अभिव्यक्ति पर विचार करना सीमित ही माना जायगा। जिस प्रकार किसी नाटय-कृति की अभिव्यक्ति की पूर्णता को रगमच पर उसकी अवतारणा के बिना नही समझा जा सकता, उसी प्रकार लोक की इस अभिव्यक्ति को उसके जीवन-क्रम के प्रवाह मे ही सम्पूर्णता के साथ ग्रहण किया जा सकता है। उसके सकलित रूप के आधार पर हमारा कोई भी अध्ययन उसकी वास्तविक भावना तक नही पहुंच सकता। लोक-अभिव्यक्ति की अधिकाश भावना और प्राणवत्ता उस गतिशील परम्परा पर आधारित है जिसके माध्यम से वह लोकमानस पर सक्रिय होती आई है और उस वातावरण से स्फुरित है जो लोक-जीवन की नानाविध स्थिति-परिस्थितियो से अभिन्न है।

साहित्य जीवन का सर्जन है, कह सकते है उसमें जीवन को पुन जीने की प्रक्रिया होती है। लोक-अभिव्यक्ति के क्षणो मे भी समाज के बीच व्यक्ति अपनी सजगता मे प्रमुखत. जीवन का अनुभव करता है, जबकि साहित्यकार यथार्थ जीवन के सर्जन मे भी सामाजिक जीवन का अनुभव न करके सृष्टि के असम्पृक्त सुख का अनुभव करता है। साहित्य मे रचयिता या स्रष्टा की स्थिति निश्चित है और पाठक या रसज्ञ साधारणीकरण के स्तर पर रसबोध ग्रहण करता है अथवा सक्रिय सहभोग की स्थिति मे रचयिता की सर्जन-प्रक्रिया का अनुभव प्राप्त करता है। पर दोनो ही स्थितियो मे स्रष्टा और पाठक की दो भिन्न कोटिया मानी जाएगी। लेकिन लोक-अभिव्यक्ति मे ये दो कोटिया सम्भव नही है, यहा स्रष्टा-उपभोक्ता की एक ही स्थिति है, दोनों का समाहार एक ही व्यक्तित्व मे हो जाता है। यह उसकी विशिष्ट स्थिति है जो साहित्य मे उसे पृथक करती है। इस स्थिति मे लोक-अभिव्यक्ति साहित्य की सौन्दर्याभिव्यक्ति नही है, वह जीवन की प्रवाहित धारा की उल्लासमयी तरग है जो जीवन के सहज यथार्थ मे उसी समय अविच्छिन्न रूप से बधी भी है।[1]

साहित्य को सास्कृतिक उपलब्धि के रूप मे समझा गया है। सम्पूर्ण युग अपने सास्कृतिक सचरण मे व्यापक मूल्यों की उपलब्धि के लिए जो सघर्ष झेलता है, प्रयत्न करता है, चिन्तन-मनन करता है अथवा सवेदन प्राप्त करता है, एक ओर साहित्य इन सबका अनुभावन है और दूसरी ओर उन मूल्यो की सर्जनात्मक उपलब्धि भी है। पर सामाजिक और युगीन स्तर पर साहित्य के अनुभावन तथा उपलब्धि का सारा दायित्व व्यक्ति वहन करता है, तत्सम्बन्धी समस्त चेष्टा और प्रयत्न वह अपने व्यक्तित्व के माध्यम से करता है। इसके विपरीत लोक-अभिव्यक्ति (साहित्य) न किसी युग के रूप मे सम्बद्ध है और न किसी समाज के प्रयत्नो का परिणाम ही है। सारा लोक-समाज इसके माध्यम से उस लोक-परम्परा के प्रवाह के साथ अनुभव करता है जिसका वह युगीन रूप है, साथ ही अपने युग-समाज की सामूहिक भावना का इसके द्वारा अनुभावन भी करता है। इसमे अभिव्यक्त दु ख-सुख, राग-द्वेष, प्रेम-करुणा तथा उत्साह-निराशा आदि एक ओर अपने आदिम सस्कारो का क्रमिक अनुभव है, दूसरी ओर सामाजिक स्तर पर सहभोग है।

साहित्य और लोक-साहित्य के इस मौलिक अन्तर के कारण दोनो के मूल्यो का स्रोत भिन्न है और दोनो के प्रतिमानों का आधार भी अलग-अलग है। सर्जन होने के कारण साहित्य, काव्य और कला जीवन से सम्बद्ध होकर भी अपने मूल्यों के स्वतन्त्र प्रतिमान अन्वेषित करते है। जीवनगत मूल्यो पर आधारित होकर भी सौदर्य-सृष्टि के रूप मे ये प्रतिमान साहित्य के भाव (विषय-वस्तु) और शिल्प (शैली और रूप) दोनो का निर्धारण करते है। सौदर्य स्वय मानवीय

१. लेखक का—'लोक-अभिव्यक्ति की भावभूमि और सिद्धान्त' नामक लेख; द्रष्टव्य 'धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक' : हिन्दी अनुशीलन

भाव होकर भी संस्कार का विषय है। यूरोप तथा भारत के काव्यशास्त्रियों ने काव्य-सौंदर्य की विवेचना, चाहे भाव-पक्ष पर बल दिया हो या शिल्प-पक्ष पर, संस्कार और शास्त्र की दृष्टि से ही की है। पर लोक-साहित्य की सस्कार और उपलब्धि के रूप मे चर्चा करना संगत नही है। वह लोक-कल्पना का अग है, लोक-मनोरजन का स्वरूप है, लोक-जीवन के आवेगो और सवेगो के साथ अभिव्यक्त होता है। इस कारण उसके सम्बन्ध में लोक-जीवन के अपने सहज और मुक्त मूल्यो के अतिरिक्त किन्ही मूल्यो का कोई सन्दर्भ नही होता है, ये मूल्य भी उसमें अभिव्यक्त भर होते हैं उपलब्ध नहीं। मूल्यों की निश्चित उपलब्धि के अभाव मे तत्सम्बन्धी प्रतिमानो का निर्धारण भी नही किया जा सकता है।

लोक-साहित्य के जिन मूल्यो और प्रतिमानो की चर्चा की जाती है, वे वास्तव मे साहित्य और कला के अर्थ मे नही स्वीकार किए जा सकते। लोक-साहित्य मे जीवन का यथार्थ इस अर्थ मे स्वीकृत है कि वह जीवन की यथार्थ भूमि पर प्रतिष्ठित है, वह सामाजिक अभिव्यक्ति इस अर्थ मे माना जा सकता है कि लोक-समाज के व्यापक जीवन में अन्तर्भुक्त है और उसे हृदय-तत्त्व से युक्त रस-रूप मे इस कारण मान लिया जाता है कि लोक इसके माध्यम से अपने दुःख-सुख का सहभोगी होता है। जब कि साहित्य को उपयोगिता की दृष्टि से नही देखा जा सकता, वह निर्भर सौंदर्य तथा आनन्द के रूप मे स्वीकार किया गया है, लोक-साहित्य लोक-समाज के जीवन की प्रक्रिया में अत्यन्त उपयोगी तत्त्व है और वह जीवन के सीधे और प्रत्यक्ष अनुभव रूप मे सुन्दर और असुन्दर सुख और दु ख दोनों की समान अनुभूति है। अपने प्रतिमानों की इस अनिश्चित स्थिति अथवा अनावश्यक स्थिति के कारण लोक-अभिव्यक्ति अपने शिल्प और शैली के प्रति कभी सजग नही होती। उसका सारा शिल्प, शैली, छन्द, लय, ताल, विन्यास, उक्ति, कथन, प्रवाह और विधान जीवन के प्रवाह से निर्धारित होता है, जबकि साहित्य शिल्प और वस्तु के सामजस्यपूर्ण सन्तुलन मे अपनी अभिव्यक्ति का मार्गान्वेषण करता है। लोक-साहित्य में विषय होता है वस्तु नही, पर साहित्य विषय को वस्तु-रूप मे ही ग्रहण करने की शर्त मान कर चलता है।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत गीतो और गाथाओ को काव्य रूप मे माना जा सकता है। परन्तु लोक-गीत लोक-जीवन के किसी सस्कार से, अवसर से, त्यौहार-उत्सव से, क्रिया या व्यापार से सम्बद्ध रहते है। बिना इस वातावरण के भावभूमि और परिस्थिति के लोकगीतो के सकेतों, सन्दर्भों, रेखाओ, सवेगों और सवेदनाओं को उसके पूर्ण परिवेश और व्याप्ति में समझा नही जा सकता। इसी प्रकार लोकगाथाओ को लोकजीवन के विश्वासो, अधविश्वासो, आदर्शों, नैतिक आचरण की मर्यादाओ, सस्कारो, प्रचलनो, चरित्रो, कथाओ, जनश्रुतियो, दन्तकथाओ और समग्र वातावरण के बीच रखकर ही उनके भावावेगो के उत्थान-पतन को ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार लोक-कथाओं के कौतूहल, चमत्कार, कल्पना-लोक, शिक्षा, उपदेश, नीति, मनोरजन और हास्यव्यंग को उसके जीवन के सन्दर्भ मे अर्थात अलावों, बैठको, व्रतो, बूढे-बुढियो से घर के बच्चो के सम्बन्धो तथा गाव के कथाकारो की निजी शैली के मुक्त वातावरण में ही समझा और ग्रहण किया जा सकता है। गीतो मे लय की प्रधानता, गाथाओ मे गानेवालों का स्वर तथा उसके साथ चलने वाले वाद्यो के सामंजस्य का महत्त्व तथा कथाओ के मन्द और सुस्थिर गति से चलने वाले प्रवाह के साथ कहने वाले की शैली, अनिवार्य रोचकता आदि तत्त्व इस बात के साक्ष्य है कि लोक-साहित्य की मौलिक प्रवृत्ति साहित्य के समस्त सस्कारी वातावरण से नितान्त भिन्न है।

अनेक बार कहा जाता है कि काव्य की परम्परा मे रोमाटिक आन्दोलन लोक-जीवन और लोक-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते है। उसकी आत्माभिव्यक्ति, स्वच्छदता, मुक्ति, विद्रोह, जीवन को सीधे झेलने की वृत्ति, उसके अंतर्गत अभिव्यक्त होने वाला प्रेम, उल्लास, भावावेग, प्रकृति और जीवन से सीधे सम्बन्ध स्थापित करने की अकुलाहट आदि को किसी-न-किसी अर्थ मे और स्तर पर लोक-जीवन तथा साहित्य से सम्बद्ध किया जाता है। परन्तु लोक-साहित्य में इन प्रवृत्तियो की स्थिति लोक-मानस के प्रवाह की गति से निर्धारित होती है, और उसकी सारी स्वच्छन्दता, मुक्ति तथा विद्रोह लोक की जीवनसम्बन्धी आकाक्षा का ही प्रतिफलन है। यह आकांक्षा उसके सामाजिक जीवन की परम्परागत रूढियों के गतिरोध के बीच से अपने आदिम प्रवाह की अदम्य जीवनधारा को मुक्त रखने का प्रयत्न है। इसको व्यक्ति के समाज के प्रति किये गए विद्रोह के रूप मे नही माना जा सकता है; यह जीवन की दो स्थितियों में से एक का दूसरे के प्रति

विद्रोह है। लोक-जीवन का एक पक्ष रूढिबद्ध है, परम्परावादी है, गतानुगतिक है और धर्म, समाज तथा आचरण आदि के क्षेत्रों में विजड़ित है। पर उसका ही दूसरा पक्ष जीवन की मुक्ति तथा स्वच्छन्द कामना से इन सबके प्रति विद्रोही जान पड़ता है। पर लोक-साहित्य मे यह मुक्ति की कामना विद्रोह की सक्रिय शक्ति नही हो पाती और न उसमे साहित्य के समान सघर्ष, विध्वंस और निर्माण की विभिन्न शक्तिया ही सक्रिय हो पाती है। यह साहित्य जीवन की स्थिति का प्रतिफलन-मात्र है, इसमे एक साथ जीवन की रूढ़ियां और स्वच्छन्द जीवन की आकाक्षा व्यक्त होती है। विद्रोह, जो किसी युग की सांस्कृतिक चेष्टा और प्रयत्न की दिशा है, इसमे आभासित भर होता है, इसकी शक्ति का साधन साहित्य की सांस्कृतिक उपलब्धि मे ही देखा जाता है।
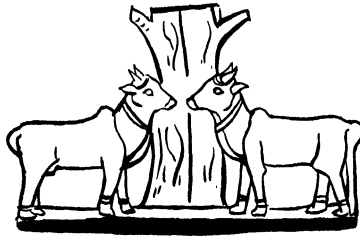
सत्य और सौन्दर्य

डा० मुंशीराम शर्मा

मेरे सामने शहतूत का वृक्ष खडा है। थोडे दिन पहले उसकी पुरानी पत्तिया झडने लगी थी। वे इतनी झडी कि वृक्ष नगा हो गया। फिर धीरे-धीरे उसमे हरी पत्तिया निकलने लगी। पत्तियो के साथ फल भी आये। इस समय हरा-हरा वृक्ष कैसा भला लगता है—सुन्दर और आकर्षक। सामने वृक्ष है, इसका बौद्धिक ज्ञान सत्य है। हरी पत्तियो के साथ वह आखों की ज्योति को आकर्षित करता है और मेरा मन उसमे रम जाता है—हृदय की यह अनुभूति सौन्दर्य है।

सत्य का उद्घाटन करने वाले कई शास्त्र है। वनस्पति विज्ञान (Botany), प्राणि-विज्ञान (Biology), रसायन (Chemistry), तथा भौतिकी (Physics), क्रमश: पादप, जन्तु, धातु, तथा इस दृश्यमान ब्रह्माण्ड के सत्य को अभिव्यक्ति देने वाले है। दृश्यमान जगत के परे भी कोई सत्ता है जिसका ज्ञान या आभास दर्शनशास्त्र (Metaphysics) देता है। हमारे शरीर में प्राणतत्त्व से भी ऊपर चिन्तन और मनन की एक शक्ति है जिसका उद्घाटन मनोविज्ञान करता है। मनोविज्ञान यदि प्राकृतिक विज्ञान बन रहा है तो भौतिकी दर्शन की ओर जा रही है और अन्तिम सत्य के उद्घाटन की ओर प्रवृत्त है।

सौन्दर्य की व्याख्या तो शास्त्र करता है, पर उसका अनुभव कराने वाली कलाए है। कलाए कुछ उपयोगी हैं, कुछ ललित। ललित कलाओ मे सर्वश्रेष्ठ काव्यकला है। काव्य को साहित्य भी कहते है। साहित्य सहित का भाव है जिसमें दो का हित-सहित एक होकर रहना वांछनीय है। काव्य में शब्द और अर्थ एक साथ रहते है : 'शब्द या शैली-चमत्कार या रचना-सौष्ठव अर्थ का कोट नही, खाल है।' अर्थ का सौन्दर्य शब्द या उसके अभिव्यक्ति-कौशल के साथ लगा रहता है। जैसे स्वस्थ मस्तिष्क स्वस्थ शरीर मे रहता है, वैसे ही सुन्दर भाव या विचार के लिए सुन्दर शब्दो की अपेक्षा है।

साहित्य मे सत्य सौन्दर्य के साथ रहता है। दर्शन और विज्ञान मे सत्य का नग्न रूप है जिसमे सुन्दरता नही होती। पेड की पत्तिया जब झड गई थी, तब वह नगा था और अच्छा नहीं लगता था। वाण के ज्येष्ठ पुत्र के शब्दों में 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' की भाति था। पर जब सौन्दर्य के परिप्रेच्य मे उसके कनिष्ठ पुत्र ने कहा—"नीरसतरुरिह विलसति पुरत:' तो उक्ति में सौन्दर्य आ गया और शुष्क सत्य भी सरस-सुन्दर रूप मे अभिव्यक्त हो सकता है, इसकी सम्भावना चरितार्थ हो उठी। साहित्य सत्य की ऐसी ही सुन्दर अभिव्यक्ति है।

साहित्यकार कवि के हाथों मे पडकर शुष्कता के अन्दर निहित सरसता फूट पड़ती है। कवि अन्य व्यक्तियो की भाति किसी वस्तु के बाह्य रूप से भी प्रभावित होता है, पर उसकी आंखें वही तक सीमित नही रहती। वे बाह्य-आवरण को भेद कर उसके अन्तस्तल मे भी प्रविष्ट होती है और वहां के समस्त रहस्यों की झाकी लेती हैं। शास्त्र किसी वस्तु की गौण या मात्रिक (qualitative or quantitative) वास्तविकता तक पहुचने का प्रयत्न करता है, पर साहित्य वस्तु की आत्मा को देखता और दिखाता है। यह आत्मा कवि के समक्ष सुन्दर सत्य के रूप में ही प्रकट होती है। अत. शुष्क सत्य में भी सौन्दर्य-तत्त्व छिपा पड़ा है—इसकी अनुभूति साहित्यकार को ही होती है। काव्यानन्द इसीलिए ब्रह्मानन्द का सहोदर है।

कोरी पद्य-रचना काव्य नहीं कहलाती। गणित तथा आयुर्वेद के पद्यबद्ध ग्रन्थ काव्य या साहित्य नहीं हैं।

वे शास्त्र हैं। 'इकत्तर, बहत्तर, तिहत्तर, चौहत्तर, पचहत्तर, छियत्तर, सतत्तर, अठत्तर।' पद्य की नपी-तुली मात्राओं पर निबद्ध दो चरण है। क्या आप इन्हे काव्य की सज्ञा देगे ? 'अश्लेषा, मघा, ज्येष्ठा, अश्विनी, रेवती उभौ। मूले मूला भवन्त्येते षड्मूला प्रकीर्तिता'—नक्षत्रों के नाम गिनाने वाला यह पद्य काव्य नही है। काव्य पद्यमय होता है। पर सभी पद्य काव्य-पद के अधिकारी नही हैं। केवल पद्यबद्ध सत्य विज्ञान या दर्शन है। साहित्य इस सत्य का सुन्दर रूप है। सत्य सौन्दर्य में डूबकर ही साहित्य मे स्थान पाता है।

इतिहास मे सम्भव है, पात्रो के नामों तथा तिथियो की गणना मे शुद्धता हो, सत्यता हो, पर उसमे अकित घटनाओ के रूप प्राय: अशुद्ध अथच असत्य भी होते हैं। किसी स्थान पर घटित घटना को देखने वाले व्यक्ति जितने मुह उतनी बाते कहेगे। मुर्गे की बाग में किसी को 'सुबान ! तेरी कुदरत', किसी को 'राम-सीता जसरत' और किसी को 'नोन-तेल-अदरक' सुनाई पड सकता है। ऐतिहासिक घटनाओं का मूल्य भी इससे अधिक नही है। पर काव्य मे पात्रो के नाम तथा तिथियों की गणना भले ही अशुद्ध हो, उसमे अकित घटनाए शाश्वत सत्य होती है, क्योकि वे कवि की अनुभूति पर आश्रित है। कवि की अनुभूति उसके सीमित व्यक्तित्व से निकलकर विश्व-मानस की अनुभूति के साथ एक हो जाती है। अनुभूति के इन क्षणों मे कवि का मन समस्त वैयक्तिक आसगो से शून्य, अपने विशुद्ध सत्त्व मे रमण करता है। उसकी अनुभूति इसीलिए व्यापक, सर्वहृदयानुवेद्य, होती है। सवेद्यता की यह समता ही कवि के काव्य को—पुरा-नव—बना देती है। व्यास, कालिदास, तुलसी, होमर, शेक्सपियर सबके काव्य आज भी वैसे ही अभिनव है जैसे वे पहले थे। उनमे अकित पात्र सम्भव है, इतिहास मे कही भी उल्लिखित न हो, सम्भव है उनका ऐतिहासिक अस्तित्व भी न हो, पर वे चिरकाल तक अमर रहेगे। ब्रह्मवैवर्त और सूरसागर की राधा का नाम श्रीमद्भागवत तक मे नही है, पर वह अब एक ऐसा जीवन्त चरित्र बन गया है जो किसी के मिटाये मिट नही सकेगा।

विज्ञान जिस वस्तु-स्थिति का प्रकाश करता है, दर्शन जिस अतिम सत्ता को अनावृत करता है, साहित्य उसकी अवज्ञा नही करता। वह अपने समस्त सामर्थ्य के साथ उसे अपनाता है। प्रत्येक सत्य का वह सम्मान करता है। वह सबका साथी है, पर जब सबको अपने अचल मे समेटने लगता है, तब उन्हे उनके प्रारम्भिक, आदिम, नग्न रूप मे नही रहने देता। वह उन्हे सवारता है, शिष्ट, सस्कृत, परिमार्जित, सुन्दर रूप देता है और अपना लालित्य उन पर चढाकर ऐसा अजित करता है कि वे व्यजित हो उठते है। जो अपने एकाकी रूप मे दूसरो के समक्ष आने मे शरमाते थे, वे साहित्य के कन्धे पर बैठकर सबकी नजरो मे चढ जाते है। कवि दुरूह-से-दुरूह विषय को भाव का बाना पहिनाकर सबके लिए सुगम एव समझने-योग्य बना देता है।

साहित्य मे सह का भाव विभिन्न तत्त्वो मे सामजस्य की स्थापना करता है, तो हित का भाव उसे सबके लिए उपयोगी भी बनाता है। उसमे अकर्मण्य को कर्मण्य बना देने की शक्ति है। कठोर को कोमल, कायर को शूर, कृपण को दानी, सकीर्ण को उदार, स्वार्थी को परोपकारी, बिलासी को सयमी, कुरूप को सुन्दर एव मृत को जीवित बना देना कवि के बाए हाथ का खेल है।

साहित्य जहा इस धरातल की, द्वन्द्वात्मक जीवन की, राग एव विराग के सघर्ष की व्याख्या करता है, वहा वह आनन्दवाद की प्रतिष्ठा भी करता है। उसमे यथार्थ का क्रन्दन है तो आदर्श का अभिनन्दन भी; तमसावृत धरित्री की कालिमा है, तो दीप्तिमान द्यौ का प्रकाश भी। वह मानव को दानवता मे हटाकर देवत्व की ओर प्रेरित करता है।

कवि की कल्पना-शक्ति दूरस्थ वस्तु का भी समीपता से अनुभव करा देती है, अपरिचित को परिचित, अदृष्ट को दृष्ट, असीम को ससीम, अनन्त को सान्त तथा अनियुक्त एव अव्याकृत को निरुक्त एवं व्याकृत बनाकर स्वय दूर हट जाती है और आपको उसके साथ खेलने के लिए छोड देती है। सौन्दर्य के उपासक कवि से साहित्य के सौन्दर्य-गत सत्य की शिक्षा यदि कुछ उपलब्ध होती है तो यही कि हम अपने आपको बाह्याभ्यन्तर रूप से सत्य के खिलाडी तथा सौन्दर्य के उपासक बना ले। साहित्य का शरीर सुन्दर है, परिधान सुन्दर है, उसके विचार-भाव तथा कल्पना सुन्दर हैं। उसमें सत्य समाविष्ट है। इस सत्य और सुन्दर के समीप पहुचकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही साहित्य के अध्येता का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए।

साहित्य-मूल्यांकन के नये मान

डा० कन्हैयालाल सहल

साहित्य और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध अक्षुण्ण एवं अविच्छिन्न है। जीवन की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ साहित्य मे भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। परिवेश और परिस्थतियों की भिन्नता साहित्य-मूल्यांकन के लिए नये मापदण्ड प्रस्तुत करती है। पल-पल परिवर्तित होता हुआ जीवन साहित्य के नये मानों की अनिवार्य शर्त है, उनकी आधारशिला है। जीवन किसी स्थितिशील निश्चेष्टता का पर्याय नही है। जीवन की सार्थकता उसकी गत्यात्मकता और विकसनशीलता में है। तभी तो आज मानव, विकास के असख्य शिखरों पर आरोहण करता हुआ प्रस्तर-युग से अतरिक्ष-अभियान की स्थिति तक पहुच गया है और कोई आश्चर्य नही, कभी वह दिन भी आ सकता है जब भूलोक और किसी अतरिक्ष-लोक में परस्पर सास्कृतिक आदान-प्रदान सभव हो जाय। विज्ञान की चतुर्दिक उन्नति के कारण आज देश की सीमा का अतिक्रमण कर विचार इतनी तेजी से यात्रा कर रहे हैं कि उनकी हवा से अपने आपको अछूता रखना शायद सम्भव ही नही रह गया है। कम-से-कम साहित्यकार और सहृदय भावुक के लिए तो जिनकी चेतना सामान्य औसत व्यक्ति की अपेक्षा जागरूक और प्रबुद्ध होती है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे समसामयिक तथा अद्यतन विचार-धारा से प्रभावित हुए बिना नही रह सकते। दूसरी बात यह है कि कोई भी प्रबुद्ध चेतना अपने लिए अभिव्यक्ति के नये-नये मार्गों का सन्धान कर लेती है, ऐसी भूमिकाओ पर विचार करने लगती है जिन पर पहले कभी किसी के चरण-चिह्न नही पडे थे। प्रतिभा के अवरोधक बन्धन जब असह्य हो उठते है, तब वह उन्हे तोड डालती है और उन्मुक्त पथ पर अग्रसर होकर खुली हवा मे सास लेने लगती है। प्रसाद, पत, निराला तथा आधुनिक प्रयोगवादी कवि इस तथ्य का साक्ष्य भर रहे हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य का मूल्याकन केवल परम्परागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर नही किया जा सकता। साहित्य-सर्जना नियमो का परिणाम नही है, वस्तुत. साहित्यकार का कृतित्व ही नियमो को जन्म देता है, उसका समर्थ साहित्यिक व्यक्तित्व ही मूल्याकन के नए मान भी निर्धारित कर जाता है। यह भी सम्भव है कि साहित्य के जो नये मानदण्ड किसी युग मे नये समझे जाते है, वे ही परवर्ती युग मे पुराने पड जाए; नूतन और नवीन कहकर जिनका कभी अभिनन्दन किया गया था, उन्हे ही भविष्य का समीक्षक प्रतिक्रियावादी ठहरा दे और उनकी भर्त्सना होने लगे। देश-विदेश के सास्कृतिक स्तर की भिन्नता के कारण यह भी देखा जाता है कि एक देश में जो साहित्यिक मूल्य पुराने पड जाते है, वे ही दूसरे देश में साहित्य की नई धारा के रूप में अपना लिये जाते है।

हमारे देश के पिछले दो दशको के साहित्य को नया साहित्य की आख्या प्राप्त हुई है और इसी के मूल्यांकन की समस्या आज ज्वलन्त प्रश्न-चिह्न बनकर विवाद का रूप धारण कर रही है। किन्तु जहां तक मैं समझता हूं, कोई भी वाद, चाहे वह कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यो न हो, साहित्य के मूल्याकन के लिए मापदंड नही बन सकता। जब किसी वाद को आधार मानकर साहित्य-सृष्टि होने लगती है तो साहित्यकार अपना व्यक्तित्व खो बैठता है। वादमूलक साहित्य प्रायः प्रचार और सैद्धान्तिक निरूपण करने लगता है और साहित्य-सृष्टि के स्थान में साहित्याभास को जन्म देता है। हिन्दी का बहुत-सा प्रगतिवादी साहित्य, जिसमे साहित्यिक मूल्यो की अपेक्षा वाद पर विशेष आग्रह है, इस स्थापना का

पुष्ट प्रमाण है। कोई समर्थ साहित्यकार भी जब साहित्य की अपेक्षा वाद को महत्त्व देने लगता है, तब उसकी सजना और उसके द्वारा किया हुआ आलोचन, दोनो ही बुद्धि-भेद और विचार-विभ्रम को जन्म देने लगते हैं। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में पन्त ने काव्य के मूल्याकन के सम्बन्ध में कुछ मान निर्धारित किए हैं किन्तु वादग्रस्त होने के कारण वे मान साहित्यिक न होकर मार्क्सवादी बन गये है। कवि ने स्वयं उन मानो के आधार पर अपने काव्य का मूल्याकन करना प्रारम्भ कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अपने ही काव्य का सम्यक मूल्याकन न कर सका।

नई कविता की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसके मूल मे कोई वाद अथवा दार्शनिक सिद्धान्त नही है। सम्भवतः इसीलिए प्रयोगवाद की अपेक्षा प्रयोगशील काव्य अथवा नई कविता, ये दो नाम अधिक प्रचलित हो रहे हैं। साहित्य में वादबद्धता की अपेक्षा वादमुक्तता को महत्त्व दिया जाना सर्वथा उचित है। इसका यह अर्थ न लगाया जाए कि साहित्यकार किसी वाद अथवा दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित नही होता; किन्तु कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वाद अथवा दार्शनिक विचार साहित्यकार के जीवन-दर्शन का अभिन्न अग होकर ही साहित्य मे स्थान पाने योग्य है, अन्यथा नही।

वाद-मुक्ति का उक्त सिद्धान्त नई कविता की भाति हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओ पर घटित नही हो रहा है। हिन्दी काव्य की तरह उपन्यास और कहानियो मे भी नये-नये प्रयोग आज हो रहे है। सबसे पहली बात जो नवीन उपन्यासो को लेकर कही जा सकती है, वह यह है कि उपन्यासो का कथा-कलेवर आज स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनता चला जा रहा है। फ्रायड, एडलर, जुग और वर्गसा आदि की विचारधारा का प्रभाव आधुनिक उपन्यास के रचना-शिल्प पर आवश्यकता से भी अधिक पडा है। जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि ने अपने उपन्यासो मे मनुष्य के अतर-जगत के चित्र खीचे है। साहित्य के मानदड ही नही, साहित्य के माध्यम भी युग-धर्म से प्रभावित हुए बिना नही रहते। नवीन मान व मूल्यो की अभिव्यक्ति के लिए नूतन शिल्प-विधान की आवश्यकता होती है। 'शेखर एक जीवनी' जैसे आधुनिक उपन्यास मे कही लघु कथा, कही यात्रा-विवरण, कही निबन्ध, कही गद्य-गीत, कही व्याख्यान-पद्धति, कही सिद्धान्त-कथन, सभी प्रकार की शैलियो का समावेश हुआ है। इस प्रकार के उपन्यास अपने मूल्यांकन के लिए स्वय प्रतिमान बन जाते है। श्री जोशी के 'सन्यासी' और 'पर्दे की रानी' आदि उपन्यासो मे मनोविश्लेषण के स्वर स्पष्ट सुनाई देते है। मार्क्सवादी उपन्यासो की भी इन दिनो खूब चर्चा चल रही है।

आज के जीवन मे जितने प्रश्न उठ रहे है उन सबका समाधान कोई एक उपन्यास नही कर सकता, चाहे वह कितना ही बृहदाकार क्यो न हो। इसलिए लघु उपन्यास, जो एक-दो प्रश्नो को लेकर चलते है, आधुनिक युग की माग को पूरा कर रहे है। किन्तु हिन्दी के उपन्यास-शिल्पियो को यह अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि जीवन मे सिद्धान्त उद्भूत हो, सिद्धान्तो से जीवन नही; चाहे वे सिद्धान्त फ्रायड से लिये गए हो, चाहे मार्क्स से। जीवन-प्रसूत सत्य-दर्शन ही उपन्यासकार का ध्येय होना चाहिए।

यही बात हिन्दी के कहानी-साहित्य के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। यद्यपि जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, पहाडी तथा नरोत्तमदास नागर ने अनेक मनोवैज्ञानिक कहानिया लिखी है तथापि स्टीवेन्सन की 'मारखेइम' जैसी मनोवैज्ञानिक कहानी सम्भवत. हिन्दी मे आज तक नही लिखी गई। साहित्य के अन्य अगो की तरह हिन्दी का कहानी-साहित्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है; किन्तु यह देखकर आज भी आश्चर्य होता है कि कहानी-कला-सम्बन्धी आधुनिक मापदंडों के प्रामाणिक विवेचन के लिए हमे पाश्चात्य साहित्य का ही मुखापेक्षी बनना पड रहा है। हिन्दी-साहित्य मे आख्यायिकाओ के अनेक विधि-विधान आज प्रचलित है, उन्ही के आधार पर कहानियो के मापदड की विवेचना होनी चाहिए। प्रामाणिक और प्रौढ लक्षण-ग्रन्थ ही लक्ष्य-ग्रन्थो की समृद्धि और वैभव के परिचायक हुआ करते है।

जहा तक नाटको के मूल्याकन का प्रश्न है, रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण की अपेक्षा आज चरित्र-चित्रण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। सामाजिक यथार्थ की भूमि पर जीवन और जगत की समस्याओं के प्रति जागरूकता तथा मानव-हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्रण नाटकीय कला-कौशल की कसौटी समझा जाने लगा है।

आज के बुद्धिवादी युग में निबन्ध-लेखक से भी बहुत-कुछ आशाएं की जाने लगी हैं। मन की शैथिल्यमयी तरंग से अभिभूत होकर किसी प्रकार की अनियमित एवं आकर्षक रचना कर डालना ही निबन्धकार के कर्तव्य की इतिश्री नहीं है, आज का पाठक यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के धरातल पर निबन्धकार से नवीन तथ्य और नूतन दृष्टिकोण की अपेक्षा करने लगा है। किन्तु सखेद कहना पड़ता है कि हिन्दी साहित्य की यह विधा अपेक्षया कम समृद्ध है।

जो भी हो, आधुनिक साहित्य की विविध विधाओं का मूल्याकन करते समय एक खतरे से सदा सतर्क रहने की आवश्यकता है। विविध वादों और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के इस युग में बहुत से समीक्षक जब किसी कलाकृति की समीक्षा करने लगते हैं तो वे आधुनिक वादों के आलोक में प्रशस्य अथवा हेय ठहराते हुए देखे जाते हैं। किसी कलाकृति के मूल्याकन का यह मापदण्ड सही कहा जा सकता है। यद्यपि यह सच है कि विश्व के बड़े-बड़े विचारक कलाकार के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते हैं, वातावरण और देशकाल से भी साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण होता है तथापि यह सच है कि साहित्यकार बने-बनाये विचारों और वादों के कठघरे में बन्द होकर साहित्य-सृष्टि नहीं करता। कुछ देशों में साहित्यकार को विवश होकर वाद-साहित्य की सृष्टि करनी पड़ती है किन्तु यह साहित्यकार का दुर्भाग्य है जहा वह अपनी अस्मिता तथा अपने प्रकृत स्वभाव को वाणी नहीं दे पाता। इससे स्पष्ट है कि साहित्य का मानदंड स्वत. साहित्य होना चाहिए, न कि बाहर से आरोपित राजनीतिक, सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक आदर्श।

साहित्य-मूल्याकन में परम्परा का क्या स्थान है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। डा० राधाकृष्णन ने एक बार कहा था कि आज यदि हम अपनी प्रत्येक गतिविधि में मनु द्वारा निर्दिष्ट जीवन-पद्धति को अपनावें तब तो यही अच्छा था कि मनु उत्पन्न ही न हुए होते। तात्पर्य यह है कि परम्परा के ग्रहण में भी विवेक का आश्रय अत्यन्त अपेक्षित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि परम्परा सर्वथा त्याज्य है। अतीत को अपने से सर्वथा विच्छिन्न करके हम वर्तमान में नहीं जीते। परम्परा का विवेकपूर्ण त्याग और ग्रहण ही हमें वर्तमान से गतिशील बनाता है जिसके परिणामस्वरूप उज्ज्वल भविष्य की सम्भवानाए प्रकट होने लगती है।

नवीन मान व मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए नूतन शिल्प-विधान की आवश्यकता होती है। अंग्रेजी साहित्य के पाठकों में यह छिपा नहीं है कि विक्टोरिया-युग में अभिव्यक्ति के जो प्रचलित उत्पादन थे, जार्जियन कवियों ने उनका सर्वथा परित्याग कर दिया था। हिन्दी साहित्य में भी प्रसाद जी का महाकाव्य 'कामायनी' रचना-तत्र की दृष्टि से इतनी नवीनता लिये हुए है कि उसके रखने के लिए परम्परागत शास्त्रीय नियम पुराने पड़ रहे हैं। गीत-मुक्तकों के युग में लिखा जाने के कारण वह एक ऐसा लिरिकल महाकाव्य बन गया है जो अपना प्रतिमान स्वय है। लिरिक और एपिक के पारस्परिक विरोध को भी वह एक चुनौती है, एक ललकार है। उसके क्षीण कथानक में हृदय और मस्तिष्क की विराट गूज सुनाई पड़ती है। कामायनी का विषय पुराना होते हुए भी उसकी वस्तु नव्यतम है। कवि की समर्थ सवेदना और उसकी कारयित्री प्रतिभा किस प्रकार परम्परा को भी नव्य आलोक में प्रस्तुत कर सकती है, 'कामायनी' इसका सुन्दर निदर्शन है।

हिन्दी काव्य की अभिनव प्रयोगवादी धारा में साहित्य के माध्यम और भी तेजी से बदल रहे हैं। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि काव्य के उपकरण जब घिसने लगते हैं तब समर्थ कलाकार उन पर मुलम्मा चढ़ाकर उनको चमका देते हैं अथवा उनके स्थान में नये माध्यमों को अपना लेते हैं। छन्द-शिल्पी और शब्द-बोधक के रूप में श्री गिरिजा-कुमार माथुर को अच्छी सफलता मिली है। कविता की शक्ति बढ़ाने के लिए उन्होंने नई लय-गति का निर्माण किया है। नरेश मेहता, भवानीप्रसाद मिश्र तथा अज्ञेय आदि के नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेख-योग्य है। किन्तु अनेक कवि ऐसे भी हैं जो नई कविता के नाम पर इस प्रकार की कविता करने लगे हैं जिसके दोनों ओर के सिरे कटे होते हैं, तीन पंक्तियां इस प्रकार लिख दी जाती है मानो वे १३ पंक्तियां हों। मुक्त छन्द तो निराला ने भी लिखे थे, किन्तु वे लय-गति-हीन छन्द नहीं थे। आज का कवि तो लय से भी पिण्ड छुड़ा रहा है। एक उदाहरण लीजिए.

"इस रात सागर के किनारे हम इसी विश्वास से चल रहे हैं कि वहां चांदनी में विहार करती जल-परियों

को देखेंगे, उस भुरभुरी बालू पर जहां लहरों की तरलता नाच चुकी होगी, हम बैठेंगे गुमसुम, चुपचाप, उसी सुकुमार दृश्य से घुले-मिले।"

इसे गद्य कहा जाय या गद्य-काव्य, छन्द-मुक्त कहा जाय या गद्य-छन्द, समीक्षको द्वारा विचारणीय विषय है। इस प्रकार की स्थिति को अवाछनीय करार देते हुए ईलियट तक ने कहा है, "सर्वाधिक मुक्त छन्द मे भी किसी सीधे-सादे छन्द का प्रेत पर्दे के पीछे रहता है।" वस्तुत काव्य मे भी एक वजन, एक सयम अथवा ध्वनि-लहरियो का व्यवस्थित संयोजन होना चाहिए। पर आज के बहुत से प्रयोगवादी कवि अपने लय-मुक्त गीतो से विदा ले रहे है, सुनसान बस्तियो मे कही आवारा स्वर घूम रहे हो तो उन्हे भी पकड-पकडकर आज एक तरफ इकट्ठा किया जा रहा है। धूल-भरे छन्दो के जाले बुहार कर आज काव्य-पथ को शीशे जैसा साफ किया जा रहा है।

कवि यद्यपि छन्दों से विदा ले रहा है, तथापि अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिए आडी-तिरछी पंक्तियो, मोटे-पतले टाइपो तथा उल्टे चिह्नो आदि का प्रयोग कर रहा है। नये-नये प्रयोगो का किया जाना तो एक शुभ लक्षण है किन्तु हर नये प्रयोग के मूल मे अनुकरण-वृत्ति वाछनीय नही, जूठी पत्तल चाट कर कोई कब तक जी सकेगा!

छन्दों के सम्बन्ध मे परम्परा-त्याग का यही अर्थ होना चाहिए कि नव्यतम यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए पुराने छन्द पुराने पड रहे है, इसलिए उनके स्थान मे नये-नये छन्दों की उद्भावनाए सर्वथा उचित कही जा सकती है, किन्तु लय तक को भी तिलाजलि देकर छन्दो को बिलकुल स्वच्छन्द नही बनाया जा सकता।

आज के इस वैज्ञानिक और बुद्धिवादी युग मे रस को नये साहित्य का मापदण्ड मानकर बौद्धिकता को साहित्यिक मान के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ प्रयोगवादी समीक्षक 'बुद्धि-रस' जैसे शब्द का भी प्रयोग करने लगे है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या बौद्धिकता को रागात्मक रूप दे दिया जाता है? बौद्धिकता मे रस लेने वालो की सख्या विरल होती है क्योकि उसमे हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का व्यायाम अपेक्षित होता है और भविष्य मे भी तब तक ऐसा ही होता रहेगा जब तक मानव जाति के मूल रूप मे ही कोई तात्त्विक परिवर्तन न हो जाय। आधुनिक काव्य मे बौद्धिकता को मानदण्ड के रूप मे प्रतिष्ठित करने का अर्थ यदि केवल सस्ती भावुकता का विरोध करना मात्र हो तब तो ऐसी बौद्धिकता का समर्थन किया जा सकता है, अन्यथा नही। फिर दूसरी बात यह है कि काव्य मे जिस रागात्मक तत्त्व को अनिवार्य ठहराया जाता है, उसका बौद्धिकता से कोई विच्छेद नही होता। बौद्धिकता से विच्छेद होने पर तो काव्य की रागात्मकता भी उन्माद अथवा प्रलाप का रूप धारण कर लेगी। साहित्य की सार्थकता राग और बुद्धि के साहित्य मे है, राहित्य मे नही।

श्री मदन वात्स्यायन ने नये शृगार रस, नई करुणा, नये वीर रस और नये शान्त रस की चर्चा की है तथा स्पष्टीकरण के लिए नये कविता-सम्बन्धी उदाहरण भी प्रस्तुत किए है। आज के कवि-समीक्षक यदि रस-सिद्धान्त का विस्तार कर उसे अभिनव रूप मे उपस्थित करे तो इसमे कही अनौचित्य नही दिखलाई पडता।

एक अन्य कवि-समीक्षक की धारणा है कि नई कविता की परीक्षा न तो चरित्र-चित्रण की पूर्व-प्रचलित पद्धति पर हो सकती है, न प्राचीन रसवाद के नियमो के आधार पर, यद्यपि मै मानता हू कि रस की सत्ता से इनकार करना काव्य की सत्ता से ही इनकार करने के समान है। रसवादी लक्षणो के अनुसार अधिकाश बौद्धिक कविताए अवर कोटि में आ जाएगी। परन्तु फिर भी वे हमे प्रभावित करती है और कभी-कभी बहुत प्रभावित करती है, यह उनके श्रेष्ठ काव्य होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। एक आधुनिक कवि की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बो के आधार पर ही की जा सकती है। उसकी विशिष्टता और उसकी आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बो मे ही व्यक्त होती है। मै बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया पर इसलिए जोर दे रहा हू कि आज काव्य के मूल्याकन का प्रतिमान लगभग वही मान लिया गया है।

ऊपर के विवेचन का तात्पर्य यह है कि रससत्ता के अभाव मे प्रभावकता साहित्य के लिए नूतन मापदण्ड प्रस्तुत करती है और इस प्रभावकता की मूल भित्ति है बिम्ब-योजना। किन्तु जिसे बिम्ब-योजना कहा जाता है, उसका सम्बन्ध भी तो अलंकारों से जोडा जा सकता है अथवा उसे कल्पना से अविभक्त माना जा सकता है।

साहित्यकार के वैयक्तिक और सामाजिक दायित्वों को लक्ष्य मे रख कर भी उसकी कृतियों का मूल्याकन किया जाता है किन्तु जहा तक नये साहित्य के समीक्षकों का प्रश्न है, वे यह मान कर चलते है कि जब तक साहित्यकार मे स्वधर्म के प्रति निष्ठा अथवा आत्मविश्वास सही होगा, तब तक कभी भी उसे आत्मोपलब्धि न हो सकेगी, जो साहित्यकार का वास्तविक ध्येय है। यह आत्मोपलब्धि किसी रोमाटिक जगत अथवा रहस्य लोक की वस्तु नही है, इसका सम्बन्ध साहित्यकार के सत्यान्वेषण तथा उसकी प्रबुद्ध चेतना से है जिसका प्रतिफल सर्जना के आत्म-तोष और आत्म-सम्पूर्ति मे सन्निहित है। इस प्रसग मे कालिदास पर रचित रविबाबू की कविता का निम्नलिखित काव्यानुवाद उल्लेखनीय है

"हे अमर कवि कालिदास, क्या तुम्हारे सुख-दुःख और आशा-निराशा हमी लोगो की तरह नही थे ? क्या तुम्हारे समय मे राजनीतिक षड्यन्त्रो और गुप्त आघातो-प्रतिघातो का चक्र हर समय नही चलता रहता था ? क्या तुम्हें कभी हम लोगो की तरह अपमान, अनादर, अविश्वास और अन्याय सहन नही करना पडा ? क्या तुमने यथार्थ जीवन के क्रूर कठोर अभावो से पीडित नही रहे ? और तुम्हे क्या उस निर्मम पीडा के कारण निद्राहीन राते नही बितानी पडी ?

"ऐसा सम्भव नही। तुम्हे भी जीवन की कठोर यथार्थता के कटु अनुभव हुए होगे, पर यह सब होने पर भी उन सबके ऊपर तुम्हारा सौन्दर्य-कमल आनन्द के सूर्य की ओर उन्मुख होकर निर्लिप्त, निर्मल रूप मे खिला है। उसमे कही दु.ख-दैन्य और दुर्दिन के अनुभवो का कोई चिह्न नही है। जीवन के मथन से उत्पन्न विष को तुमने स्वय पान किया है और उस मंथन मे फलस्वरूप जो अमृत उठा, उसे तुम समग्र ससार को दान कर गए हो।"

इस रचना को पढकर ऐसा लगता है कि जिस साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना भट्टनायक ने चिन्तन के बल पर की थी, उसी सत्य को रविबाबू ने अपने प्रातिभ ज्ञान द्वारा प्राप्त किया है।

जीवन की कठोर यथार्थताओ के चित्रण का अर्थ अपनी कुठाओ और विकृतियों को उडेल देना अथवा उनका वमन कर देना नही है। साहित्यकार के वैयक्तिक अस्तित्व की प्रबलता को अस्वीकार कर देना सम्भव नही है; किन्तु फिर भी निर्वैयक्तिक, निर्लिप्त और अनासक्त होकर जिस सत्य की वह प्रतिष्ठा कर जाता है, उसकी कभी उपेक्षा नही की जा सकती। किसी प्रकार के पूर्वग्रह से रहित होने पर ही साहित्य अपने नाम को सार्थक कर पाता है। यदि राजनीति, धर्मनीति और अर्थशास्त्र के अपने-अपने मापदड हैं और उन्ही के द्वारा उनका लेखा-जोखा किया जाता है, तो साहित्य भी अपने ही मापदडो से क्यो नही नापा जाय ? जीवन के सत्य और उसमे निहित सौदर्य का प्रत्यक्षीकरण ही साहित्यकार का अपना स्वभाव है, उसका स्वास्थ्य है जिसके अभाव मे उसका व्यक्तित्व रुग्ण रूप धारण कर लेगा। साहित्यकार के व्यक्तित्व को खंड-खड करके देखने का परिणाम यह हुआ कि साहित्य-मूल्याकन के मापदड, जो हमे मिले है, वे भ्रान्तिपूर्ण हो गए है। साहित्यकार मे व्यक्ति और समाज, अन्दर और बाहर, दोनों मिलकर एकाकार हो जाते है।

नये साहित्य के मूल्याकन के लिए आज जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवतावाद को मापदड के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, उसमे किसी प्रकार का अनौचित्य दिखलाई नही पडता। वैज्ञानिक जीवन-दर्शन साहित्य का भी जीवन-दर्शन हो सकता है, शर्त केवल यह है कि साहित्य हमारी सवेदनाओ को जागृत करे, उन्हे प्रभावित करे। जिस नये साहित्य मे इस प्रकार की शक्ति है, उसकी शक्तिमत्ता से कौन इन्कार कर सकता है ? और जिसमे केवल सिद्धान्त ही सिद्धान्त है, दर्द नही है, व्यग्य नही है, चोट नही है, वह कराल काल के महान उदर मे विलीन हो जाएगा।

यह निश्चित है कि वैज्ञानिक युग का साहित्यकार पुरानी काव्य-रूढियो और कवि-समय से ऊपर उठकर नूतन उपमाओ और नये-नये विम्बो की सृष्टि करेगा जिनके मूल मे केवल कवि प्रौढ़ोक्ति न होगी, यथार्थ जीवन का मर्म भी होगा और यह निश्चय ही स्वागत की वस्तु है।

नये साहित्य पर यह आरोप लगाया गया है कि उसका सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व शिल्प अथवा रूप-विधान है जिसके कारण उसमे वस्तुतत्त्व की उपेक्षा हो गई है। शिल्प-वैचित्र्य द्वारा पाठकों को चौका देने अथवा आतकित कर देने की प्रवृत्ति नये साहित्य मे है, इसे स्वीकार करना होगा; किन्तु वस्तु-तत्त्व उसमे सर्वथा उपेक्षित रह गया है, यह भी नहीं

माना जा सकता। प्रयोगशील साहित्य जीवन के प्रति नवीन बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर बल देता है। किसी अलौकिकता अथवा रहस्यात्मकता को वह साहित्य का माप-दण्ड स्वीकार करने के लिए तैयार नही है। 'न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतर हि किंचित्' के सूत्र मे उसकी निष्ठा और आस्था है। शिल्प-वैचित्र्य के प्रति चमत्कार और नवीन के प्रति उसका विशेष आकर्षण होने के कारण नया साहित्यकार दुरूह भी होने लगा है। लेकिन दुरूहता और सहजता को वह साहित्य का आन्तरिक मूल्य स्वीकार करने के लिए तैयार नही है। शिल्प-विधान की नवीनता केवल नई कविताओ मे ही नही, रेणु के आंचलिक उपन्यासो आदि मे भी देखी जा सकती है।

इससे इनकार नही किया जा सकता कि जीवन के प्रति नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए नूतन शिल्प-विधान अनावश्यक हो जाता है किन्तु वह इस अतिवाद पर नही पहुच जाना चाहिए कि शिल्प-वैचित्र्य की चकाचौंध मे वस्तु-तत्त्व का धुधला रूप भी दिखलाई न पड सके। किन्तु नये साहित्य की सीमाओ को स्वीकार करते हुए भी, उसके स्खलनो पर दृष्टि रखते हुए भी, हमे यह मानना होगा कि आज वह अपनी जड जमा रहा है। उपन्यास और नई कविता के क्षेत्र मे कुछ समर्थ रचनाए भी हमारे सामने आई है। साथ ही यह भी सच है कि बहुत-सा कूडा-कर्कट भी साहित्य के प्रागण मे बिखर गया है जिसे काल समय पाते ही बुहार ले जाएगा। साहित्य अपने मूलभूत गुणो मे जीवित रहता है, किसी की वकालत-मात्र मे नही।
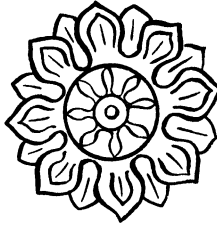
आधुनिक काव्य-चिन्तन

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

आधुनिक युग के काव्य-चितन की चर्चा आरम्भ करते ही हमारा ध्यान उस चिन्तन से सम्बन्धित कुछ अपर तथ्यो की ओर जाता है। सबमे पहले हम यह देखना चाहते हैं कि आधुनिक युग के काव्य-चिन्तन को विरासत क्या मिली थी, हिन्दी काव्य-चिन्तन की परम्परा क्या रही है ? साथ ही हम यह जानना चाहते है कि जिन कवियों और लेखकों ने काव्य-सम्बन्धी आधुनिक चिन्तन का आरम्भ किया, उनकी समकालीन पार्श्वभूमि क्या थी ? दूसरे क्षेत्रो के विचारक किस प्रकार के विचार प्रचारित कर रहे थे ? निश्चय ही इन स्वतन्त्र विचारो का प्रभाव साहित्यिक चिन्तन पर भी पडता ही है। फिर हम यह भी देखना चाहते है कि समाज की वास्तविक स्थिति क्या रही है, जिसमे यह चिन्तन उपस्थित किया गया। कोई भी चिन्तन सामाजिक वास्तविकता से अछूता नही रह सकता, बल्कि वास्तविकता की ही विभिन्न प्रतिक्रियाए साहित्य और जीवन-सम्बन्धी चिन्तन मे व्यक्त होती है। फिर हमे उस युग के साहित्य-चिन्तन की विविधता को भी देखना पडता है, जो लेखको और कवियो की अपनी विशेषता के अनुरूप आकार ग्रहण करती है, और अन्त मे यह भी देखते है कि उक्त काव्य-चिन्तन के अनुरूप वास्तविक काव्यनिर्माण किस प्रकार हुआ है। युगविशेष के काव्यनिर्माण और काव्य-चिन्तन मे गम्भीर सहजात सम्बन्ध होता है। सच तो यह है कि किसी युग के काव्य-चितन का सच्चा मर्म हम उन कृतियो मे ही देख पाते है जो उक्त चितन के जल से सिंचित होकर फली-फूली है।

इस प्रकार आधुनिक युग के काव्य-चितन से सम्बन्धित विभिन्न जिज्ञासाए हमारे साथ है। परन्तु इस निबन्ध की छोटी सीमा मे ये आनुषगिक जिज्ञासाए सक्षेप मे ही उपस्थित की जा सकेगी और वह भी जहा उनकी आत्यन्तिक आवश्यकता होगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव के समय हिन्दी काव्य-चिन्तन की परम्परा साहित्य-ग्रथों और पडितो की चर्चा तक सीमित थी। वह एक ऐसी सम्पत्ति थी, जिसे गृहपति ने जमीन खोदकर उसके तल मे डाल रखा था। उसकी चर्चा पडितमडली के बीच शेष थी, उसका सम्बन्ध रचनात्मक साहित्य से बहुत कम रह गया था। कदाचित इसी कारण जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नये चिन्तन का प्रारम्भ किया तब वे केवल नाटक के शास्त्रीय रूप में थोडे से परिवर्तन की आवश्यकता बताकर चुप हो रहे। यह परिवर्तन भी केवल नाटक की ऊपरी रूपरेखा मे बताया गया। इस स्वल्प सशोधन से कोई बडी निष्पत्ति नही मिल पाई। यह कहना अधिक सगत होगा कि चिन्तन के क्षेत्र की अपेक्षा वास्तविक निर्माण की दिशा मे भारतेन्दु का व्यक्तित्व अधिक क्रियाशील रहा, तभी तो उन्होने नाटको मे नई सजीव शैलियों का विन्यास किया और काव्य मे नाना लोक-छन्दो और लयो की प्रतिष्ठा की। उदाहरण के लिए, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'चन्द्रावली' नाटिका मे प्राचीन नाट्य-परम्परा का ऊपरी साचा तो ज्यो-का-त्यो बना हुआ है, पर उसकी भीतरी वस्तु, नाटककार की भाव-सत्ता बहुत कुछ बदली हुई है। प्रेम की जो अभिनव प्रतिष्ठा इस नाटिका मे की गई है, वह संस्कृत की परम्परागत पद्धति से बिल्कुल भिन्न है। उस पिछले खेवे की सस्कृत नाटिका केवल एक राजा की पत्नी और प्रेयसी के बीच वासनात्मक खीचतान से आरम्भ होकर एक विलास-भरी परिणति प्राप्त करती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के साहित्य-चिन्तन की अपेक्षा उनकी अपनी निर्मिति अधिक शक्तिशालिनी हैं। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उस समय तक सामाजिक और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में अनेक नये प्रवर्तन हो चुके थे। राममोहन राय

और रामकृष्ण परमहस तथा विवेकानन्द की नई युगवाणी अभिव्यक्त हो चुकी थी। फिर भा काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में प्रगति बहुत कुछ मन्द थी।

भारतीय साहित्य-चिन्तन की जो महत्त्वपूर्ण निधि शास्त्रीय ग्रथो मे निहित थी, उसका अधिक उपयोग भारतेन्दु जी के पश्चात आरम्भ हुआ, जिसे हम पुनरुत्थानवादी युग के नाम मे पुकारते है, और जिसके दो बडे प्रतिनिधियो के रूप में हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल का स्मरण करते हैं। वे वस्तुतः प्राचीन सम्पत्ति के परिदर्शक पडित थे, जिन्हे पुनरुत्थानवादी कहकर हम उनके महत्त्व को कम करते है। परन्तु जो निधिया भूगर्भ मे पड़ी थी, उन्हे सामाजिक भूमिका पर लाकर और नई टकसाल मे ढालकर समाज की सम्पत्ति बना देना केवल पुनरुत्थान नही कहला सकता। वस्तुतः इस महत्त्व को व्यक्त करने के लिए किसी अधिक अर्थगर्भ शब्द की आवश्यकता है।

इन दोनो विचारको ने कला और साहित्य के विवेचन को अपने देश की पारिभाषिक शब्दावली मे नया आकार दिया। जो साहित्य शास्त्र सामयिक जीवन-चेतना का स्पर्श न पाकर केवल पाडित्य का भारवाही बना हुआ था, उसे नये सामाजिक और साहित्यिक स्पन्दनों मे समन्वित कर जनसमाज के सम्मुख रख देना एक अपूर्व उपलब्धि थी। श्री पद्मसिंह शर्मा और मिश्र-बन्धुओ ने भी इस दिशा मे कार्य किया था, परन्तु शर्माजी की दृष्टि भारतीय साहित्य-चिन्तन के केवल कला-पक्ष की ओर थी। वे केवल रचना के उक्ति-कौशल और शब्द-चमत्कार से प्रभावित थे। यह भी अपने समय की नवीनता थी, पर उतनी गहरी नही। मिश्र-बन्धुओं की साहित्य-विवेचना मे भी अलकार-पक्ष ही मुख्य था, यद्यपि कवियो की जीवनी आदि के अनुसधान मे लगकर उन्होने एक नई दिशा की शोध भी की। इन दोनो पडितो की तुलना मे जब हम युग-प्रतिनिधि विवेचक द्विवेदीजी और शुक्लजी के साहित्य-चिन्तन को रखकर देखते है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनो महानुभावो ने, और विशेषत शुक्लजी ने, जो कार्य किया वह भारतीय साहित्य शास्त्र के सम्पूर्ण नव प्रवर्तन का ही कार्य था।

एक नये बुद्धिवादी और सुधारवादी युग की छाया आचार्य शुक्ल के विचारो मे अवश्य व्याप्त है। यदि शुक्लजी ने भारतीय शास्त्र की अस्सी प्रतिशत व्याख्या उसके मूल रूप मे की है, तो बीस प्रतिशत ऐसी भी है जिसे हम शुक्लजी का अपना विचार कह सकते है। एक विशेष प्रकार के काव्य के अनुरूप भारतीय काव्य-शास्त्र की व्याख्या करना शुक्लजी की विशेषता रही है। यह युगधर्म उनके विचारो मे प्रतिफलित हुआ है।

इस युग के काव्य-चिन्तन मे बौद्धिक पक्ष अधिक प्रबल हो गया है, और वह निर्माण की स्वतन्त्रता को बाधित भी करने लगा है। यह भी कह सकते है कि इस युग मे विचारणा और रचना के बीच उचित समन्वय स्थापित नही हो पाया। कदाचित यही कारण है कि हिन्दी-काव्य अपनी स्वाभाविक स्वच्छन्दता से खिचकर एक प्रकार की उपदेशात्मकता के प्रभाव मे जा फसा। कवियो की जीवन-धारा और उनकी स्वतन्त्र कल्पना किसी ऊपरी नियन्त्रण मे नियन्त्रित होने लगी। सम्भव है, एक तर्कप्रधान बौद्धिक युग की छाया कवियो पर स्वतन्त्र रूप से भी पडी हो, पर तत्कालीन साहित्य-चिन्तको के प्रभाव को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। यदि आचार्य शुक्ल की सारी व्यवस्थाए स्वीकार कर ली जाए, तो मानना पडेगा कि साहित्य और कला मे रहस्यानुभूति के लिए कोई स्थान नही, अथवा अत्यन्त सीमित स्थान है। काव्य कुछ नपे-तुले विचारो की कसौटी पर कसा जा सकता है, इस प्रकार का एक बौद्धिक अतिवाद शुक्लजी के समीक्षण मे सर्वत्र पाया जाता है। यह कहना सगत न होगा कि भारतीय साहित्य शास्त्र की सारी रूप-रचना शुक्लजी की व्याख्याओ से अनुसीमित है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि शुक्लजी के अनेक विचार युगानुरूप होते हुए भी साहित्यशास्त्र की व्यापकता का अवरोध लाते है।

शुक्लजी के इन बुद्धिवादी विचारों की प्रतिक्रिया मे छायावादी काव्य के स्रष्टा और उसके कतिपय समीक्षक क्षेत्र मे आये। छायावाद या स्वच्छन्दतावाद के उद्भावक कवियो ने एक दूसरी ही अतिवादी विचारणा अपनाई। श्री जयशकर प्रसाद ने यह बताना चाहा कि भारतीय काव्य की मुख्य और प्रगतिशील धारा रहस्योन्मुख ही है। उन्होने रस की आह्लादक अनुभूति के साथ रहस्यवादी अनुभूति का सयोग कराया, जिसमे यह निष्कर्ष निकाला जा सका कि जिस काव्य मे रहस्यानुभूति नही है उसमे रस नही है, काव्यानन्द नही है। स्पष्ट ही यह एक अतिवादी विचारणा थी। इसी

प्रकार श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में जिस वायवीय काव्यादर्श का संकेत किया, वह भी शुक्लजी के प्रशस्त दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया ही थी। परन्तु छायावाद के कतिपय अन्य समीक्षकों ने अधिक संतुलित दृष्टि अपनाई। वे एक ओर शुक्लजी के बुद्धिवादी और नैतिक काव्यादर्श से असहमत हुए तो दूसरी ओर छायावादी कवियों की उपरिलिखित अतिवादी व्याख्याएं भी उन्हें स्वीकार नहीं हुई। इन समीक्षकों द्वारा प्रवर्तित नये चिंतन का स्वरूप एक ओर काव्य के विषय-पक्ष को उचित महत्त्व देता है तो दूसरी ओर विषय-पक्ष को—कवि की वैयक्तिक भावचेतना को—भी मूल्य प्रदान करता है। वह यदि रहस्यानुभूति को काव्य का एकमात्र प्रेरक तत्त्व नहीं मानता, तो दूसरी ओर रहस्यानुभूति को काव्य से बहिष्कृत भी नहीं करता। साहित्यिक इतिहास के वस्तुमुखी अध्ययन द्वारा इन समीक्षकों ने एक नये संतुलित काव्यादर्श की भूमिका प्रस्तुत की।

आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्धों में पश्चिम के कतिपय नये पुराने साहित्यशास्त्रियों का उल्लेख भी किया था, परन्तु उनका लक्ष्य भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र को समन्वित भूमि पर रखना नहीं था। वह अपने मत की पुष्टि के लिए—भारतीय काव्य-शास्त्र की अपनी व्याख्याओं के समर्थन के लिए—पश्चिम के उदाहरण दिया करते थे। सर्वप्रथम डा० श्यामसुन्दरदास ने पूर्वी और पश्चिमी काव्य-सिद्धान्तों की समन्वित भूमिका प्रस्तुत की। उनका 'साहित्यालोचन' ग्रंथ इसी समन्वय का प्रतीक है। परन्तु डा० श्यामसुन्दरदास ने नये कार्य की भूमिका ही बांधी थी। आगे चलकर साहित्य-सम्बन्धी चिंतन में पूर्वी और पश्चिमी विचारों का अधिक बहुलता से संयोग होने लगा। वह समय भी आया जब विश्वविद्यालयों में पश्चिमी समीक्षा के सिद्धान्त भारतीय सिद्धान्त के साथ-साथ पढ़ाये जाने लगे। दोनों को नितान्त पृथक पद्धतियां न मानकर दोनों के समान सूत्रों का अध्ययन किया जाने लगा। हम कह सकते हैं कि छायावादी युग की समीक्षा में उस चिन्तन की झांकियां मिलती हैं जिसमें साहित्य की प्रकृति मानव-जीवन की प्रकृति के अनुरूप ही विशाल और बहुमुखी है। साहित्य और कलाएं देश और काल की प्रेरणाओं से अनुप्राणित होती हुई भी स्थायी मानव-मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है। यदि इस दृष्टि को साहित्य की मानवतावादी दृष्टि कहा जाय, तो छायावादी युग के समीक्षक इसी दृष्टि से पुरस्कर्ता थे।

एक अन्य उपलब्धि जिसका श्रेय छायावादी युग के समीक्षकों को दिया जा सकता है, महान काव्य-सम्बन्धी तत्त्वों और उपकरणों की खोज है। पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी काव्य ने जिस प्रकार मानव-चेतना की उच्चतम भूमियों का परिदर्शन कराया था, उसी प्रकार भारतीय और हिन्दी छायावादी काव्य में भी मानव-अनुभूतियों का सूक्ष्मतम संधान किया गया है। विशेषकर प्रसाद की 'कामायनी' तथा निराला और पंत के गीतों में काव्य के ऐसे उत्कृष्ट उपादान पाये गए हैं, जिनकी सम्यक व्याख्या युग-चेतना में एक गम्भीर और मूल्यवान अनुभूति बनकर स्थिर हो गई है।

जिस प्रकार काव्य के सभी नये उत्थान अपनी सीमा पर पहुंचकर नई शैलियों के लिए राह खोल देते हैं, उसी प्रकार छायावादी काव्य ने भी नई शैलियों और भावधाराओं के लिए भूमि उर्वर बना दी। एक ओर बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा और अज्ञेय छायावाद की व्यक्ति-प्रमुख भावचेतना के नये प्रतिनिधि हुए, तो दूसरी ओर प्रभात, दिनकर, नागार्जुन, शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि उसकी समष्टिगत भावसंवेदना के आगामी परिवाहक बने। एक तीसरी धारा गीतों की थी, जिसके निर्माण में अधिक मूल्यवान कार्य महादेवी वर्मा ने किया। इसी के नये उन्मेष जानकीवल्लभ शास्त्री, शम्भुनाथसिंह तथा अन्य गीतकारों में प्रत्यक्ष हुए जब कि साहित्य-सृष्टि इस नई दिशा में अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी, और अपनी स्वाभाविक परिणति भी प्राप्त करती, तब सहसा नये वादों का नारा लेकर बहुत-से नये चिन्तक क्षेत्र में आ गए। काव्य-रचना में आदेशों का प्रभाव पड़ने लगा और कविता फिर से एकांगी आग्रह की परिचारिका बन गई।

इस अवसर पर जिन नये वादों का प्रचलन हुआ वे सभी विदेशी वाद हैं, और प्रायः मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों से सम्बद्ध हैं। पूर्ववर्ती साहित्य में भारतीय भूमिका पर ही काव्य-चिन्तन की परम्परा आगे बढ़ रही थी, पर यहां आकर उसने एकदम विदेशी रंग ग्रहण किया। हिन्दी-समीक्षा में पूर्वी और पश्चिमी विचारों का सम्मेलन हो रहा था, और छायावाद-युग में यह सम्मेलन स्वाभाविक आदान-प्रदान की स्थिति तक पहुंच गया था, पर यहां आकर सारी

टकसाल ही बदल गई। इस बात की चिन्ता नही की गई कि अधिकाश हिन्दी पाठक इस नय तत्त्वज्ञान का कहा तक समझेगे, समझकर कितना स्वीकार करेगे, और स्वीकार कर किस सीमा तक अपना सकेंगे। यह हमारी राष्ट्रीय भावना के प्रति एक अनाकाक्षित आक्रमण भी था। यह हमारे लिए एक सास्कृतिक तौहीन ही थी। पर सबसे बडी विलक्षणता यह थी कि मार्क्स और फ्रायड के वास्तविक चिन्तन, उनके साहित्यिक आशयो और सदर्भों को, बहुत थोडे लोगो ने समझदारी के साथ प्रस्तुत किया। स्वय पश्चिम में मार्क्सवादी सिद्धान्त की समय-समय पर अनेक साहित्यिक व्याख्याए की गई हैं, जिनमे बहुत कुछ असमानता भी रही है, पर हिन्दी साहित्य मे ये नये विचार बहुत-कुछ स्थूल और असाहित्यिक रूप मे उपस्थित किये गए। मार्क्सवादियो ने साहित्य को वर्गसघर्ष की भूमिका पर ग्रहण करने की शिक्षा दी। वही दूसरी ओर यह भी कहा कि एक निश्चित क्रम से ही पूजीवादी युग का काव्य समाजवादी काव्य मे परिवर्तित होता है। एक ओर इस सिद्धान्त में नियतिवादिता का अश है क्योकि यह मानता है कि एक विशेष आर्थिक सगठन के युग मे एक विशेष प्रकार के काव्य की ही निर्मिति होगी; वहा दूसरी ओर यह काव्य को सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन का अस्त्र बनाकर उसे एक कट्टर प्रचार के कार्य मे भी लगाना चाहता है। इन दोनो अतिवादो मे पडकर यह विवेचना हिन्दी के क्षेत्र मे निरन्तर एक असगति की सृष्टि करती रही है।

काव्य-चिंतन के क्षेत्र मे हिन्दी मे मार्क्सवादियो ने अधिकतर पश्चिमी विचारो को ही दोहराया है, परन्तु इसके साथ ये समीक्षक धीरे-धीरे भारतीय परिस्थिति, परिवेश और परम्परा के प्रति अपनी स्वीकृति ही प्रगट करते गए है। आरम्भ की वादी प्रवृत्तिया बहुत-कुछ सयत होती गई, और पिछले कुछ समय से तो मार्क्सवादी समीक्षको ने शुक्लजी के लोकादर्शवाद के समर्थन मे ही अपने विचारो को केन्द्रित कर दिया है। कभी-कभी सन्देह यह होता है कि ये प्रगतिवादी विचारक शुक्लजी की विचारभूमि के कुछ आगे भी बढ सकेंगे या नही। एक ओर कठिनाई यह है कि इन समीक्षको मे विचारों का ऐक्य कम हो पाता है। स्थिति यह है कि कुछ प्रगतिवादी समीक्षक महादेवी वर्मा के काव्य मे और कुछ अन्य जैनेन्द्र के उपन्यासो मे प्रगति के उच्च तत्त्वो का साक्षात्कार करने लगे है। स्पष्ट है कि व्यावहारिक समीक्षा के पक्ष मे ये प्रगतिशील विचारक छायावादी समीक्षको की ऐतिहासिक चेतना मे भी पिछड गए है। इधर कुछ दिनो से यह प्रवृत्ति भी दिखाई देती है कि अनेक परस्पर-विरोधी मतो के समीक्षक, जिनमे कही भी समानता का सूत्र नही है, अपने को आचार्य शुक्ल का उत्तराधिकारी विज्ञापित करने लगे है। इस प्रकार के प्रयत्न केवल इन समीक्षको के विचार-दारिद्रय का ही प्रमाण देते है।

यद्यपि प्रगतिवादी विचारो की यह परिणति अपने-आप मे कम चिन्तनीय नही है। इनमे गत्यात्मकता का तत्त्व समाप्तप्राय है, पर इसका यह आशय नही कि हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे प्रगतिवादियो का प्रदेय कुछ है ही नही। इस बीच कुछ साहित्यिक क्षेत्रो मे यह आवाज भी उठाई गई है कि प्रगतिवाद समाप्त हो गया, यह प्रयोगवाद का युग है। परन्तु इस आवाज में प्रयोगवादियो के निहित स्वार्थ ही छिपे-छिपे बोल रहे है।

ऊपर छायावादी काव्य की व्यक्ति-चेतना के आगामी विकास के रूप मे बच्चन, अचल और अज्ञेय आदि के नाम लिये गए है। यह व्यक्ति-चेतना छायावाद की मानवीय आदर्शों मे प्रेरित व्यक्ति-चेतना से भिन्न रही है। इसमे ऐकान्तिकता बढती गई है, और अन्तत. यह एक विशुद्ध व्यक्ति-केन्द्रित भावधारा के रूप मे परिणत हुई है। आधुनिक मनोविज्ञान और विशेषकर मनोविश्लेषण के सम्पर्क से एक अन्तर्मुखी चिन्ताधारा भी इन व्यक्तिवादियो मे विकसित हुई, जो प्रयोगवाद के नाम से हिन्दी मे प्रचलित है।

प्रयोगवाद मे आया हुआ 'प्रयोग' शब्द काव्य-शिल्प का द्योतक है। पश्चिम मे मनोविज्ञान की नई निष्पत्तियो के परिणामस्वरूप काव्य के शिल्प-पक्ष मे अनेक प्रकार के प्रयोग हुए। परन्तु वह प्रयोग नवीन काव्य-वस्तु से भी सम्बन्धित रहे है। वस्तु को छोड़कर प्रयोग अपने मे सामान्यत कोई अर्थ नही रखता। आरम्भ मे प्रयोगवादी शिल्प के पीछे इतने दीवाने रहे है कि उन्होंने प्रयोग को साधन और साध्य दोनो मान लिया था। इस सम्बन्ध मे 'तारसप्तक' के प्रयोग देखने योग्य है। परन्तु अनेक दिशा-निर्देशो के पश्चात अब 'अज्ञेय'-प्रभृति प्रयोगवादी शिल्प को साधन-मात्र मानने लगे हैं। परन्तु साध्य के सम्बन्ध मे अब भी वे अनिश्चय मे ही हैं। अज्ञेय जी के इस वैचारिक परिवर्तन का लाभ

उठाकर बिहार प्रदेश के नकेनवादी धर्मग्रथ मे नकेन-सम्प्रदाय को असली प्रयोगवादी और अन्यो को केवल प्रयोगशील बताया गया है। परन्तु यह प्रयोगवादियो का अपना गृह-कलह है जिससे प्रस्तुत निबन्ध का कोई सम्बन्ध नही।

नये काव्य-चिन्तन मे काव्य की निर्वैयक्तिकता—व्यक्तित्व के अलगाव—की बात उसी जोश के साथ कही जाती है, जिस जोश के साथ कोई सम्प्रदायवादी ही कह सकता है, व्यक्तित्व का अलगाव या निर्वैयक्तिकता काव्य मे एक असम्भव आदर्श है। नये काव्य मे कतिपय ऐसे तथ्यों को स्थान देने के उद्देश्य से ही इस सिद्धान्त का सहारा लिया जाता है, जिन्हे अन्यथा रखना कठिन होता। छायावादी काव्य मे कवियों के व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप पडी है, और उस छाप के कारण इतना मार्मिक भावसवेदन उसमे सन्निहित है कि यह निर्वैयक्तिकता की पुकार एक अर्थ मे असामयिक भी कही जा सकती है। प्रयोगवादियो का यह अस्त्र जीवन को वस्तुमुखी दृष्टि से देखने का उद्देश्य उतना नहीं रखता, जितना अस्वीकृत सामाजिक सम्बन्धो और ऐसी अन्य व्यर्थताओं को खुले-आम चित्रित करने का लक्ष्य करता है। कुरूप को चित्रित करने का यथार्थवादी और मनोविश्लेषणात्मक प्रयत्न प्रयोगवादियों ने भी अपनाया है। कुरूप को चित्रित करने की प्रवृत्ति ही नही, कुरूप को सम्पूर्ण जीवन-दर्शन बना लेना भी प्रयोगवादियों की एक अन्य उपलब्धि है। इस जीवन-दर्शन के साथ सामाजिको (काव्य-पाठको) की स्वाभाविक वितृष्णा और अरुचि देखकर कतिपय प्रयोगवादियो ने रस और साधारणीकरण जैसे सर्वसम्मत साहित्यिक तथ्यो का भी विरोध आरम्भ किया है।

इस नये विरोध के प्रति आश्चर्य नही किया जा सकता, क्योकि इस प्रवृत्ति का बहुत ही स्पष्ट विवरण काडवेल और प्रगतिवादी चितको ने पहले से ही दे रखा है। अन्तर है तो यही कि प्रयोगवादी इसे अपने काव्य का नया वैभव या विकास मानते है, जबकि प्रगतिवादी काडवेल इसे पूजीवादी युग के काव्य की नितान्त ह्रासोन्मुख स्थिति का परिणाम बताते है। इस मतभेद मे तथ्य किस ओर है, इसका निर्णय करना अधिक कठिन नही है। फ्रायड और जुग के अवचेतनवादी सिद्धान्त भी जब काव्य की सार्वजनिक ग्राह्यता या आस्वादन-तत्त्व को स्वीकार करते है, तब हिन्दी के कुछ नये चिन्तक काव्य को निरा वैयक्तिक मान लेने में भी आपत्ति नही देखते।

यदि हम पश्चिम के मनोविज्ञान-प्रेरित काव्य से हिन्दी के नये काव्य की तुलना करे, तो विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से तुलना-योग्य बहुत थोडी सामग्री मिलती है। नई रचनाओं में यदि कही वास्तविक सौदर्य है, तो वह कवियो की स्वछन्द भावधारा का ही परिणाम है। कुछ नये कवि और समीक्षक हिन्दी की नई कविता को नये स्वच्छन्दतावाद या नये मानववाद का उन्मेष बताने लगे है। यदि उनके वक्तव्यो मे कुछ सार होता, तो निश्चय ही वह स्वागत की वस्तु होती। परन्तु जिस विचार-दर्शन मे कवि के मानववादी व्यक्तित्व और भावधारा के समर्थन के लिए स्थान ही नही है, जो कवि को समाज की सक्रिय भूमिकाओ मे अलग रहकर देखने का प्रयासी है, उसमे स्वच्छन्दतावाद या मानववाद के लिए अवकाश ही कहा हो सकता है। यदि नई कविता में इस प्रकार की कुछ प्रवृत्तियां पाई जाती हैं, तो उसका कारण नया चिन्तन नही, नई सामाजिक वास्तविकता है।

नये काव्य-चिन्तन की अन्य उपपत्ति यह है कि हिन्दी-कविता केवल 'राष्ट्रीय' बनकर नही रह सकती। उसे अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर ले जाने की आवश्यकता है। यहा 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग 'राष्ट्रवादी' अर्थ मे नही है, बल्कि राष्ट्रीय परिवेश से सम्बन्ध रखने वाली सभी रचनाए उसकी सीमा में आ जाती है। 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह भी नये चिन्तको द्वारा स्पष्ट नही किया गया है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय से आशय केवल फ्रांस, इगलेड या पश्चिमी यूरोप की कविता मे हो, तब तो यह अन्तर्राष्ट्रीयता की बडी सीमित धारणा होगी। आज ससार के इतिहास मे जो नई सांस्कृतिक हलचले उठ रही है, वे सब-की-सब यूरोप के इस पश्चिमी क्षेत्र से ही सम्बन्धित नही है। आज के जगत मे कम-से-कम दो प्रधान सास्कृतिक धाराए दिखाई देती हैं, एक पश्चिमी यूरोप और अमेरिका आदि की और दूसरी एशिया, अफ्रीका और अन्य पूर्वी देशो की। जहा तक नये काव्य के शैलीशिल्प का प्रश्न है, नये कौशल की चर्चा है, यूरोप हमें अब भी आकृष्ट करता है फैशन अब भी वही से आरम्भ होते हैं, परन्तु जहां तक विश्व-इतिहास को नई सप्राणता देने की बात है, हमे पूर्व की ही ओर दृष्टि डालनी पडेगी। आज विश्व-कविता के नाम पर हम पश्चिम का ही आदर्श नही अपना सकते। इंगलेड, अमेरिका आदि जिन देशों का उल्लेख किया गया है, वहां भी क्रमशः वैज्ञानिक

अतिवादो से हटकर काव्य अधिकाधिक मानव-सुलभ होता जा रहा है, और जिन देशो मे ऐसे नये परिवर्तन नही हुए है, वहा कविता लिखी भले ही जाती हो, सम्मान की दृष्टि से देखी नही जाती। यूरोप मे जिस अवचेतनवादी काव्य-सृष्टि और शिल्प का हम ऊपर उल्लेख कर आये है, वह अपने अनोखेपन मे आकर्षक भले ही हो, परन्तु विश्व-काव्य के विकास-क्रम मे उसकी स्थिति अब भी अस्पष्ट है। फ्रायड और एडलर आदि के विश्लेषणात्मक विचार स्वत एक विशेष सामाजिक परिस्थिति के परिणाम है। स्वतन्त्र रूप से उपन्यास, नाटक और काव्य के क्षेत्रों मे दास्तोएव्हस्की, मार्शल पुस्त अथवा फ्लावेअर जैसे लेखक ऐसी असाधारण स्थितियो और चरित्रो का चित्रण कर चुके थे। एक प्रकार मे नये मनोविज्ञान की भूमिका उन्होने ही बाधी थी। आगे चलकर मनोविश्लेषण के सिद्धान्तो का निर्माण हुआ, और नये साहित्यिक उन्हे लेकर नये प्रयोग करने लगे। हम यह नही भूल सकते कि यह पश्चिमी साहित्यिक प्रगति का एक पक्ष-मात्र है। आधुनिक यूरोपीय साहित्य मे मनोविश्लेषण से कुछ भी सम्बन्ध न रखने वाले महान लेखक और कवि भी हुए है। तालस्ताय, पुश्किन और वाल्ड व्हिटमैन जैसे मानवतावादी लेखक, जिनकी साहित्यिक कृतियो का प्रधान लक्ष्य मानव-समाज को स्वतन्त्र और अनुद्विग्न जीवन का परिचय कराना था, इसी युग के साहित्य-स्रष्टा है। विश्व-सस्कृति या अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम से हम इनमे से किस पक्ष और प्रवृत्ति का समर्थन करना चाहते है, यह भी हमे समझना होगा।

मार्क्सवादियो के सर्वहारा-सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक कविता का सृजन सर्वहारा वर्ग ही कर सकता है। जो इस सर्वहारावर्ग के बाहर है, बुद्धिजीवी है और वास्तविकता की अनुभूति रखते है, उन्हे भी प्रगतिशील काव्य-रचना का अधिकारी नही माना जाता। यह बात केवल आधुनिक परिस्थिति से सम्बन्धित नही है, जबकि समाजवाद एक जीवन-व्यवस्था के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका है, प्राचीन काव्य की भी ऐसी ही व्याख्याए की गई है जिनमे मानवता के आरम्भ से लेकर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के समय तक काव्य और कलाए परतन्त्र बताई गई है। मनुष्य के सम्पूर्ण सास्कृतिक इतिहास की यह धारणा विलक्षण रूप से कुठित, परतन्त्र और एकागी है। पश्चिमी औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ से लेकर आज तक का सम्पूर्ण काव्य मध्यवर्गीय, अवास्तविक और भ्रातिमूलक रहा है। यह मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन की एक मूलभूत निष्पत्ति है। मानव-सस्कृति का उन्नयन करने वाले काव्य और साहित्य-जैसे भावात्मक उपादानो को ऐसे कट्टर विवेचनो का आधार बनाना कहा तक उचित है, यह समझना कठिन नही। प्रगतिशील मध्यवर्गीय चेतना को काव्य के लिए बहिष्कार्य बताना काव्य के मानवतावादी मूल्यों से बहुत दूर जाना और खण्डित मानो का समर्थन करना है। इतिहास की किसी विशेष परिस्थिति मे इस प्रकार के सिद्धान्त भले ही कुछ उपयोग रखते हो, पर आज की विश्व-परिस्थिति मे ये अत्यन्त असामयिक और अवास्तविक ही कहे जा सकते है।

हमारे नये काव्य-चिन्तन की यह एक मोटी रूपरेखा है। इसकी उपलब्धियो और त्रुटियो को हम एक साथ देख सकते है। नये चिन्तन की एक मुख्य खामी यह है कि ये नये काव्यवाद भारतीय परम्परा मे बाहर के है, अतएव इन्हे हमारे नये विचारक पूरी गहराइयो मे जाकर नही अपना सके है। इन वादो का सम्बन्ध मूलत सामाजिक और वैयक्तिक जीवन से है। ये प्रत्यक्षत साहित्यिक नही है, इसलिए इन वादो की साहित्यिक व्याख्या का कार्य आसान नही रहा है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी वाद बौद्धिक स्तर पर ही समझा और ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु साहित्यिक की भूमि कोरी बौद्धिक भूमि नही होती। उसमे मानव-व्यक्तित्व के अनेक अन्य तत्त्व भी सम्मिलित रहते है, इसलिए किसी भी वाद या सिद्धान्त का साहित्यिक रूपान्तर प्राय हो ही नही पाता। फिर साहित्य और विशेषकर काव्य, एक समन्वयात्मक वस्तु है। वह जिन जीवन-वस्तुओ को आत्मसात करता है, उन्हे अपने साथ पूर्णतया समन्वित कर लेता है। काव्य की इस प्रकृति के कारण कोरे बौद्धिक और विचारात्मक तथ्यो का काव्य मे अन्तर्भाव कठिन हो जाता है। अनेक जटिल मानसिक पद्धतियो के समुच्चय से निर्मित होने वाला काव्य किसी वाद-विशेष का स्थूल प्रतिरूप तो हो ही नही सकता। इन्ही कारणो से हिन्दी-कविता के साथ नये वादो का उचित सग्रथन नही हो पाया। इसी कारण मार्क्सवाद के हिन्दी-व्याख्याता काडवेल-जैसी साहित्यिक दृष्टि का भी निर्माण नही कर सके है। प्रयोगवाद के क्षेत्र में विचारों की और भी अधिक अराजकता बनी हुई है।

ऊपर प्रदर्शित वादो के अतिरिक्त हिन्दी-काव्य मे अरविन्द-दर्शन के कतिपय वैचारिक सूत्र भी प्रयोग में लाये जा रहे है। अरविन्द-दर्शन भारतवर्ष मे चिरकाल से प्रचलित वेदान्त दर्शन का ही एक नया उन्मेष है परन्तु वेदांत की सामान्य भावधारा से अरविन्द-दर्शन की विशिष्ट भावधारा मे कई नवीनताए भी आ गई है। हिन्दी के छायावादी काव्य मे वेदान्त की प्रेरणा का जितना अश अपनाया जा सका था, उससे आगे बढकर हिन्दी के कतिपय कवि और कवयित्रिया श्री अरविन्द के तत्त्व-चिन्तन को एक नये सम्प्रदाय के रूप मे हिन्दी-काव्य का अंग बनाना चाहती है। एक नई चीज समझकर उसे हिन्दी के पाठक आकर्षण की वस्तु मानते है। पर प्रश्न यह है कि क्या स्वभावत. हिन्दी-काव्य इस नये दर्शन को समग्रता मे ग्रहण कर लेगा। हम देखते है कि हिन्दी कविता की वर्तमान धारा मे यह नया वाद कोई बड़ी गहराई नही ग्रहण कर पाया। इसका कारण कदाचित यह है कि अरविन्द-दर्शन को काव्यात्मक रूप देने के लिए जिन वस्तुमुखी सामाजिक स्थितियो की अपेक्षा है, वह भारतीय समाज मे उपलब्ध नही है। किसी दर्शन या तत्त्व-चिन्तन को काव्य मे समाहित करने के लिए जिस जीवन-व्यापी साधना की आवश्यकता है, वह भी विरल ही है।

ऊपर के वस्तु-मूलक विवेचन से हम जिस निष्कर्ष की ओर पहुच रहे हैं, वह यह है कि चिन्तन के क्षेत्र मे हमारे नये विचारक अब भी सुस्पष्ट तथ्यो की उद्भावना कम कर पाए है। सम्भव है ये नई और विविध चिन्ताए क्रमशः पुष्ट होकर हिन्दी को एक नवीन उन्मेष दे सके। यह कार्य समय-सापेक्ष है। हम यह भी कह सकते है कि इन परस्पर-विरोधी और असपृक्त वादो या खण्ड-दर्शनो को उनके वर्तमान रूप मे स्थिर रखना सम्भव न होगा। सम्भव है, इनके समन्वय से एक नवीन काव्य-चिन्तन का निर्माण और प्रतिष्ठा हो सके। यह नवीन समन्वय अन्तत. कौन-सा रूप ग्रहण करेगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है; परन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि ऊपर वर्णित विभिन्न वादो के स्वस्थ अश समाहित होकर हिन्दी काव्य-चिन्तन को एक नई दीप्ति दे सकेंगे। छायावादी काव्य मे जिस प्रकार अनेक प्रवृत्तियो का एक साथ समन्वय हुआ था, वैसे ही एक नवीन समन्वय की प्रतीक्षा नव्यतर काव्य मे भी की जा सकती है।

इस आशावादिता के साथ निबन्ध की समाप्ति करने मे हमे प्रसन्नता होती, पर हम उन सन्देहो और सशयों को भी पाठकों के सामने रख देना चाहते हैं, जो नई परिस्थिति को देखकर उठा करते है। आज के चिन्तन मे एकात्मकता की कमी सबसे अधिक खटकती है। परस्पर-विरोधी विचारधाराओ का इतना व्यापक प्रसार कदाचित किसी अन्य युग मे नही था। खड-दर्शनो की भूमि पर किसी राष्ट्रीय स्तर के काव्य का निर्माण सम्भव नही हो सकता। दूसरी बात यह है कि हमारे नये लेखक और विचारक आज की वस्तुमुखी राष्ट्रीय परिस्थिति से सीधी प्रेरणा उस मात्रा मे नही ले रहे, जितनी आवश्यक है। विचारो के क्षेत्र मे अनुत्तरदायित्व की भावना भी कम नही है। काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य और लक्षण के सम्बन्ध में अनेक बार बडी हलकी बाते कही जाती हैं। उदाहरण के लिए, कुछ समीक्षक आज के काव्य का लक्ष्य यह बताते है कि वह अपनी साधारणता मे जीवित रहना चाहता है। नई कविता एक नई सामान्यता (mediocraty) को अपना लक्ष्य बनाकर चल रही है, यह कहना नये काव्य के प्रति अनादर और अनास्था व्यक्त करना ही है। जब तक नये चिन्तन से किसी नये रचनात्मक लक्ष्य की प्रेरणा नही होती, तब तक नये निर्माण का भविष्य अस्पष्ट ही रहेगा।

यदि हम हिन्दी काव्य-चिन्तन की इस स्थिति से अन्य भारतीय भाषाओ के काव्य-विवेचन की सामान्य तुलना करे, तो देखेगे कि हिन्दी क्षेत्र मे विचारो का जितना वैषम्य और भविष्य के सम्बन्ध मे जैसी अनिश्चयात्मकता दिखाई देती है, वैसी दूसरी भाषाओ मे नही है, कम-से-कम उतनी मात्रा मे नही। हम अपनी न्यूनताओ और अभावों को युग-धर्म मान ले, यह एक बात है; किन्तु उन न्यूनताओ और अभावों को आदर्श मानकर उनकी पूजा करने लगे, यह बिल्कुल दूसरी बात है। दूसरे साहित्यों मे अभाव को अभाव मानने की स्पष्ट दृष्टि पाई जाती है। नये काव्य-निर्माण में अन्य भारतीय भाषाए भी एक अव्यवस्था की स्थिति का अनुभव करती हैं। परन्तु उस अव्यवस्था को स्थायी बनाने का उपक्रम वहा नही है। वे उसका अतिक्रमण करना चाहती है। शिल्प-पक्ष मे जो नवीनताए आ रही हैं, उनके साथ ही वस्तु-पक्ष की समृद्धि भी की जा रही है। वहा प्रगतिशील सामाजिक विचारधारा और शिल्प-सम्बन्धी नये प्रयोग एक साथ मिलकर काम कर रहे हैं। हिन्दी मे भी हम ऐसी ही स्थिति की अपेक्षा रखते है।

नये चिन्तन में जिस शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है, वह असतुलित पश्चिमी प्रभाव की सूचना देता है। अनेक बार ऐसे शब्द प्रयुक्त होते है जिनके समानार्थक शब्द भारतीय शास्त्र मे उपलब्ध है। इन नये विवेचनो को देखने पर यही प्रकट होता है कि नये विवेचक अपने देश की साहित्यिक विवेचना की परम्परा मे अच्छी तरह परिचित नही हैं। भारतीय चिन्तन मे अनेक प्रकार के काव्य-विधानो के लिए पूरा अवकाश रहा है। विशुद्ध भावात्मक काव्य मे लेकर आलकारिक और उक्तिप्रधान रचनाओ तक भारतीय काव्य-शास्त्र अपनी सैद्धान्तिक सस्थापना करता आया है। आज हिन्दी कविता और विशेषकर प्रयोगशील कविता जिस नये मार्ग पर चल रही है, वह भावबोध का मार्ग न होकर अलकार और उक्ति-वैचित्र्य का मार्ग है। नया विवेचन अपने मत के समर्थन मे इस सम्बन्ध के सस्कृत-साहित्य की सामग्री का कोई उपयोग नही कर रहा है, बल्कि बहुत से मनगढत तर्क दिए जा रहे है। अच्छा होता यदि यह उथला उपक्रम छोडकर पुराने काव्य-चितन की उपलब्धियो का लाभ उठाया जाता। आज अर्थ की लय-जैसी उद्भावना को पश्चिम से लेकर प्रचारित करने की अपेक्षा सस्कृत की तत्सम्बन्धी उपपत्तियो से लाभ उठाना चाहिए।

आधुनिक साहित्य में बहुत-से कवि स्वय समीक्षक बन गए है, यह स्थिति अधिक उपादेय नही है। कवि की दृष्टि से हम एक विशेष प्रकार के विवेचन को अपने अनुकूल पा सकते है, पर समीक्षक की दृष्टि मे वे विवेचन काव्य के लिए बाधक या अनुपयोगी भी हो सकते है। इसे हम एक उदाहरण लेकर देख सकते है। आज हिन्दी मे कुछ कवि-विवेचको ने यह आन्दोलन उठाया है कि नई कविता का विवेचन मूल्य की धारणा को लेकर न किया जाय। केवल कविता की वस्तुमुखी (Analytical) व्याख्या कर दी जाय, और उसके रचना-सौन्दर्य को प्रदर्शित कर दिया जाय। हिन्दी-समीक्षा वर्तमान समय मे विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक दोनो पद्धतियो को लेकर चल रही है। काव्य की मूल्य-सम्बन्धी धारणा से एकदम निर्लिप्त होकर समीक्षा की ही नही जा सकती, और यदि वह की जाय, तो केवल काव्य के कला-पक्ष से उसका सम्बन्ध होगा। आज आई० ए० रिचर्ड्स-जैसे समीक्षक भी व्यावहारिक पक्ष पर जोर देते हुए काव्य-मूल्यो की उपेक्षा नही करते। हिन्दी के कवि-समीक्षक इस नई चर्चा को उठाकर हिन्दी-समीक्षा का कोई हित नही कर रहे हैं, बल्कि कवियो की सुविधा के लिए एक नया प्रस्ताव-मात्र रख रहे है। इस प्रकार कवि और समीक्षक के आदर्श सदैव एक से नही होते, अनेक बार भिन्न और विरोधी भी हुआ करते है। नये काव्य-विवेचन मे इस दृष्टिभेद का पर्याप्त रूप से ध्यान नही है, जिसके कारण कुछ ऐसे उपक्रम किये गए है, जिनसे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हो सकती है।

कुल मिलाकर आधुनिक काव्य-चितन सजग और विकासमूलक कहा जा सकता है। अनेक असगतिया भी स्वाभाविक रूप से इसके साथ चल रही है। परस्पर-विरोधी विचारो और व्याख्याओ की भी कमी नही है परन्तु हिन्दी-जैसे एक विस्तृत साहित्य के लिए विचारो की इतनी अव्यवस्था और व्यतिक्रम आश्चर्यजनक नही है। एक अतिशय आशाप्रद बात यह है कि हिन्दी काव्य-चिन्तन अब भी काव्य को सर्वोपरि तत्त्व मानकर चल रहा है, किसी अपर वस्तु या पदार्थ को नही। हिन्दी के सजग लेखको और विचारको की काव्य-चेतना भी परम्परा से पुष्ट होने के कारण स्खलित होने का भय नही रखती। सारी विषमताओ के रहते हुए भी हिन्दी-समीक्षा का जो व्यावहारिक रूप क्रमश अभिव्यक्त हो रहा है, वह भी कम आशाजनक नही है। चिन्तन के क्षेत्र का प्रतिफलन, व्यावहारिक समीक्षा मे होता ही है। हम कह सकते हैं कि सैद्धान्तिक समीक्षा का सतुलित और सुलझा हुआ रूप ही व्यावहारिक आलोचनाओ मे दिखाई पडता है। यदि काव्य-चिन्तन के क्षेत्र मे कोई समन्वयात्मक आधार न होता, तो आज की व्यावहारिक आलोचनाए इतनी सतुलित और एकतान न हो पाती।

आ० रामचन्द्रशुक्ल तथा क्रोचे के काव्यसिद्धान्तों की तुलना

डा० रामलालसिंह सागा

स्वच्छन्दतावादी कवियो तथा समीक्षको द्वारा साहित्य मे अभिव्यजना-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई, जिसे आगे चलकर दार्शनिक क्षेत्र मे कान्ट ने तथा काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे क्रोचे ने शास्त्रीय रूप प्रदान किया। शुक्लजी ने अपने अभिभाषण मे क्रोचे के अभिव्यजनावाद का खण्डन किया है। अत क्रोचे के काव्य-सिद्धान्त से शुक्लजी के काव्य-सिद्धान्तो की तुलना आवश्यक है।

क्रोचे का अभिव्यजनावाद पूर्णतः मानस-पीठिका पर प्रतिष्ठित है। इसमे कला को इसके बाह्य आधारों से मुक्ति मिल गई है और कलाकार की अतरग भावना ही कला की एक मात्र नियामिका बन गई है।[1]

किन्तु शुक्लजी का रस-सिद्धान्त वस्तुवादी सिद्धान्त है। वह लोक-धर्म से अनुशासित है। क्रोचे की दृष्टि मे काव्य न तो अनुभूति है, न मूर्त्त-विधान, और न दोनो का सयोग, वरन वह अनुभूति का चिन्तन या गीतिमय प्रतिमान या विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान है। स्वय-प्रकाश ज्ञान को विशुद्ध कहने का अभिप्राय यह है कि कविता मे जिस मूर्त-विधान का उपन्यास किया जाता है, उसकी सत्यता या असत्यता का कोई प्रश्न नही रहता, न किसी प्रकार के ऐतिहासिक निर्देश का विचार किया जाता है। कविता यथार्थत· विशुद्ध स्वय-प्रकाश ज्ञान है, जिसमे जीवन की विशुद्ध गति का आदर्श रूप मे विवरण रहता है।[2] किंतु शुक्लजी हृदय की मुक्तावस्था उत्पन्न करने वा ली अनुभूति के चित्रण को या विभाव चित्रित करने वाले मूर्त-विधान को काव्य मानते है। उनकी दृष्टि में काव्यगत मूर्त-विधान या अनुभूति जीवन के अनुरूप होती है। क्रोचे जहा कविता को स्वयप्रकाशज्ञान-स्वरूप मानते है,[3] वहा शुक्लजी उसे भावानुभूति-स्वरूप या आस्वाद्य-स्वरूप कहते है।

क्रोचे कला-सम्बन्धी अनुभूति को अनुभूत्याभास-मात्र कहता है; क्योकि उसकी दृष्टि मे कलाजन्य तथा वास्तविक अनुभूति दो पृथक क्षेत्र की अनुभूतिया है तथा अभिव्यग्य और अभिव्यजना के गुणों मे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।[4] किन्तु शुक्लजी की दृष्टि मे कला की अनुभूति जीवन के अनुरूप ही होती है[5] तथा अभिव्यग्य एव अभिव्यजना मे

---

१. Philosophy of Bendetto Croce, Problem of art and History by H. Wilden Cart, p. 162, 163.

२. Poetry must be called neither feeling or image nor yet the sum of the two, but as contemplation of feeling, or lyrical intuition or pure intuition, pure of all historical and critical reference to the reality or unreality of the images of which it is woven and apprehending the pure throb of life into ideality—Croce.

३. Philosophy of B. Croce. p. 69-70.

४. Aesthetics, by B. Croce, p. 26.

५. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७-८

घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।[1] क्रोचे के मत मे वास्तविक जीवन मे अनुभूति होने वाली वस्तुओं की प्रतीति के भीतर कभी कला का आभास-भर आ जाया करता है,[2] किन्तु शुक्लजी के मत मे जीवनगत वस्तुओ से भी काव्यात्मक आनन्द मिल सकता है, इसीलिए वे प्रत्यक्ष रूप-विधान-जन्य अनुभूति मे रसात्मक बोध की शक्ति मानते है।[3]

शुक्लजी प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपो मे, जगत और जीवन के पदार्थों मे सौदर्य मानते है,[4] इसलिए वह ससार के पदार्थों तथा भावो का वर्णन काव्य का लक्ष्य मानते हुए काव्य-सृष्टि को ससार की सृष्टि से सर्वथा स्वतत्र नही मानते।[5] किन्तु क्रोचे कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति मे कही कोई सौदर्य नही मानता, इसलिए उसकी दृष्टि मे बाह्य प्रकृति के पदार्थों का वर्णन या अन्त.प्रकृति के भावो का चित्रण काव्य का लक्ष्य नही होता, ये उपादान-मात्र होते है,[6] उसकी दृष्टि मे काव्य मे कवि बाह्य प्रकृति एव अत:प्रकृति के पदार्थों को द्रव्य रूप मे लेकर उनका मनमाना योग करके प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र एक नई रचना खडी करता है।[7] इन अनेक पदार्थों का वर्णन या इन अनेक भावो की व्यजना काव्य का लक्ष्य नही होता।

क्रोचे स्वयप्रकाश ज्ञान को कला-निर्मिति का मुख्य कारण मानते है। उनकी दृष्टि मे स्वयप्रकाशज्ञान का अभिप्राय सहज प्रज्ञा है, जो आप से आप मूर्त-विधान करती है। यह मूर्त-विधान कवि के अतस्तल मे सम्बध रखता है, अतः वह अतरग कोटि का होता है, बाह्य कोटि का नही।[8] किन्तु शुक्लजी की दृष्टि मे कवि की सहजानुभूति वस्तु-सापेक्ष्य कोटि की होती है, वह जीवन और जगत के सम्पर्क मे आने पर उद्भूत होती है। उसके द्वारा निर्मित मूर्त-विधान बाह्य जगत के रूपो के आधार पर होता है।[9]

क्रोचे स्वच्छदतावादियो के समान कवि-मानस की सर्वशक्तिमत्ता मे विश्वास करता है,[10] इसलिए उसके अनुसार सभी रूप या साचे जिन्हे सत्य कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए धारण करता है, मन मे ही विद्यमान रहते है।[11] इसके विरुद्ध शुक्लजी की दृष्टि मे मन, रूप-गति का सघात है। यही बाहर हँसता, खेलता, रोता, गाता, खिलता, मुरझाता जगत भीतर भी है, जिसे मन कहते है। अर्थात, उनके मत मे मन के भीतर प्रतिष्ठित रूप प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओ के ज्यो-के-त्यो प्रतिबिम्ब होते है, अथवा उनके आधार पर गढे जाते है।[12]

सहज प्रज्ञा, कल्पना, रूप-अभिव्यजना और सौदर्य को क्रोचे परस्पर अभिन्न मानते है, और उन्हे एक-दूसरे के समतुल्य निर्धारित करते है।[13]

---

१. अभिभाषण, पृ० ३६-३७
२. Philosophy of B Corce p. 162, 163, 164.
३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३४२, ३४४
४. वही, पृ० २११
५. अभिभाषण, पृ० ६७
६. Philosophy of B. Croce, p. 163, 164.
७. Aesthetics, by B. Croce, p. 6, 9, 26.
८. Philosophy of Croce. p. 69, 70, 77, 78.
९. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७-८
१०. Every form which reality assumes or can assume for us has its ground within mind. There is not and there cannot be a reality that is not mind. This mind which is reality or this reality which is mind, is an activity the forms which we may distinguish but we cannot separate them. The Philosophy of B. Croce.
११. Ibid.
१२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२५, ३३०
१३. Aesthetics, by B. Croce. p. 13, 14, 15, 19, 20, 21.

शुक्लजी की दृष्टि मे सहज प्रज्ञा कवि की उद्भाविका शक्ति है।[१] कल्पना, भावना-शक्ति, अभिव्यंजना उक्ति-स्वरूपा है,[२] रूप, लोक-जगत के अनुरूप होते है,[3] और सौंदर्य, वस्तु-सापेक्ष्य होता है।[४]

क्रोचे कल्पना को आध्यात्मिक क्रिया मानता है,[५] शुक्लजी मानसिक। क्रोचे के अनुसार स्वयप्रकाश ज्ञान का साचे मे ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यजना है, जो भीतर होती है।[६] क्रोचे का कथन है कि मन छाप ग्रहण करता है, किन्तु ये छाप मन की क्रिया को केवल आरम्भ-विदु प्रदान करते है। उनसे आरम्भ करके मन क्रम-विकास द्वारा कल्पना की सहायता से उन्हे पूर्ण अभिव्यजना तक ले जाता है और इस अभिव्यजना से बने हुए पदार्थ अलौकिक कोटि के होते है।[७] क्रोचे के विरुद्ध शुक्लजी कल्पना को भावात्मक या अनुभूत्यात्मक मानते हैं।[८] उनकी दृष्टि मे काव्य-विधायिनी कल्पना के भीतर बोध-वृत्ति का समावेश हो जाता है, पर उसकी प्रधानता नही होती।[९] उनके मत से कल्पना मे उठे हुए रूपो की प्रतीति-मात्र को ज्ञान कहना उसे ऊचे दर्जे को पहुचाना है।[१०]

क्रोचे की दृष्टि मे अभिव्यजना भौतिक व्यापार नही, मानसिक व्यापार है। अतः बाहरी अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यजना बाध्य नही है, उसके मत से अभिव्यजना का बाह्य प्रयोग करते ही हम कला-लोक से हटकर व्यवहार-जगत मे आ जाते है।[११] वस्तुत क्रोचे की दृष्टि मे काव्यगत अथवा कलागत अभिव्यजना वही पूर्ण हो जाती है, जहा सर्जनात्मक मन उसकी अनुभूति कर लेता है।[१२]

इन्ट्यूशन ही एक्सप्रेशन है।[13] अर्थात अनुभूति ही अभिव्यजना है। शब्द और रेखाए आदि उसके स्थूल सकेत-मात्र है। अतएव क्रोचे की सम्मति मे काव्य का शब्द-बद्ध होना आवश्यक नही है। यह बाह्य व्यक्तीकरण का कार्य वास्तविक कवि-कर्म से स्वतत्र है, इसलिए क्रोचे मनुष्य को जन्मना कवि मानता है। मनुष्य कवि पैदा होता है, कोई बडा कवि होता है, कोई छोटा कवि, परन्तु है प्रत्येक मनुष्य कवि।[१४] शुक्लजी काव्य की व्याप्ति जीवन तक मानते हुए भी,[१५] उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति में काव्यानुभूति की सत्ता स्वीकार करते हुए भी,[१६] काव्य के अस्तित्व के लिए उसका शब्द-बद्ध होना आवश्यक समझते है।[१७] फिर भी क्रोचे के इस मत को शुक्लजी नही मानते कि जिस रूप मे अनुभूति कवि के हृदय मे होती है, उसी रूप मे उसकी व्यजना होती है। वर्ड्सवर्थ के समान उनका मत है कि बहुत-सी कविताए स्मृति-दशा मे भी

---

१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३६३
२. अभिभाषण, पृ० १३
३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२५
४. वही, पृ० १२४
५ Philosophy of B. Croce, p 164.
६ It springs forth from within and gives expression to what is internal not external. B. Croce.
७. Philosophy of B. Croce. p. 54-55.
८. अभिभाषण, पृ० ३२
९. अभिभाषण, पृ० ३८
१०. अभिभाषण, पृ० ३३
११. Philosophy of B. Croce. p. 76-78.
१२. Ibid. p. 72-73.
१३. Aesthetic, by Croce, p. 13.
१४ Philosophy of B. Croce. p. 70-71.
१५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २११
१६. वही, पृ० ३३४
१७. वही, पृ० १६३

होती है,[१] जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता मे आ गया है। शुक्लजी के अनुसार उसमे काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए। उनके मतानुसार जिस रूप मे अनुभूति कवि के हृदय मे होती है उसी रूप मे व्यजना कभी नही हो सकती, उसे प्रेषणीय बनाने के लिए, दूसरो के हृदय तक पहुचाने के लिए भाषा का सहारा लेना पडता है। शब्दो मे ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और-की-और हो जाती है।[२]

क्रोचे के मत मे अभिव्यंजना ही सौदर्य है। सौदर्य सफल अभिव्यजना है, अथवा केवल अभिव्यजना है, न अधिक और न कुछ कम; क्योकि यदि अभिव्यजना सफल नही होती तो अभिव्यजना ही नही होती।[3]

सौदर्य से उसका अभिप्राय केवल उक्ति के सौदर्य से है, किसी प्रकृत वस्तु के सौदर्य से नही। उसके मत मे सौदर्य कोई भौतिक तथ्य नही, वह प्रस्तुत द्रव्यो मे नही रहता। यह सम्पूर्ण रूप से मनुष्य के मानस-व्यापार से ही सबध रखता है और यह व्यापार मानसिक या आध्यात्मिक कोटि का होता है।[४] किन्तु शुक्लजी उक्ति को रमणीय मानते हुए भी[५] वर्ण्य के लिए सुन्दर-असुन्दर शब्दो का प्रयोग करते है, क्योकि उनकी दृष्टि मे सौदर्य वस्तु-सापेक्ष होता है।[६]

अभिव्यजनावादियो के अनुसार जिस रूप में अभिव्यजना होती है उसी मे काव्यत्व है।[७] शुक्लजी भी उक्ति मे ही काव्य की रमणीयता मानते है,[८] किन्तु अभिव्यजनावादियो से शुक्लजी का महान अतर यह है कि जहा वह वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का विचार, कला मे नही करते, वहा शुक्लजी वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ की काव्य मे सत्ता मानते हुए काव्य-विवेचन मे उनका भी विचार करते है।[९] क्रोचे के मत मे काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति की प्रतिनिधि नही है, वह वाच्यार्थ का सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ से नही मानता,[१०] किन्तु शुक्लजी के मत मे काव्य को धारण करने वाले सत्य प्राय लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ के भीतर रहते है, जिसकी देखरेख में वाच्यार्थ मनमानी क्रीडा करता है।[११]

क्रोचे के मत मे काव्य तथा कलाओ का व्यापार एक अखण्ड मानसिक व्यापार है। अत सब प्रकार के काव्य तथा कला-भेदो मे एक ही अखण्ड अभिव्यजना है। मानसिक व्यापार पर बल देने के कारण और सब प्रकार की कलाओ की सृष्टि मे एक ही प्रकार की मानसिक प्रक्रिया मानने के कारण वह काव्य अथवा कला के भेदों को बाहरी मानते हैं। उनकी दृष्टि मे कला या तो परिपूर्ण होगी या कला की सज्ञा के अयोग्य होगी।[१२] किन्तु शुक्लजी अपने विवेचन मे काव्य तथा कलाओ का वर्गीकरण करते है। कहने की आवश्यकता नही कि वैज्ञानिक समीक्षा की दृष्टि मे शुक्लजी का मत क्रोचे की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है।

नैतिकता के प्रश्न पर क्रोचे का मत है कि काव्य या कला का लोक की रीति, आचार-व्यवहार, औचित्य-अनौचित्य मे कोई सम्बन्ध नही। उनका वास्तविक सम्बन्ध नीतिशास्त्र आदि विषयो से है अत काव्य तथा कला को

---

१. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquillity, Prose writings of Wordsworth, ed by W. Knight, p.24.

२. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८०

३. Philosophy of B. Croce, 161, 162.

४. Philosophy of B. Croce. p. 164.

५. अभिभाषण, पृ० १३

६. चिन्तामणि, भाग पहला, पृ० २२४

७. Aesthetics, by B. Croce. p. 14

८. अभिभाषण, पृ० १३

९. वही, पृ० १५

१०. It is nothing else (Nothing more but nothing less) than to express. Aesthetics. p. 19.

११. अभिभाषण, पृ० १५

१२. Aesthetics, p. 33-34.

नैतिक मापदण्ड से नही मापना चाहिए।[1] मर्यादावादी शुक्लजी काव्य का लोक की रीति-नीति, आचार-व्यवहार आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते है, क्योकि उनकी दृष्टि मे इनके अभाव से रसाभास, भावाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो काव्य के प्रभाव को हलका कर देती है।[2]

क्रोचे की दृष्टि मे काव्य का प्रयोजन अभिव्यजना के अतिरिक्त शिक्षण, प्रसादन, कीर्ति, व्यवहार, धन आदि कुछ नही, कला अपना उद्देश्य आप ही है। आनन्द उसका सहचारी अवश्य है किन्तु लक्ष्य नही।[3] किन्तु शुक्लजी की दृष्टि मे काव्य का प्रयोजन शिक्षण, प्रसादन, व्यवहार, लोकमगल, सिद्धि आदि है।[4]

क्रोचे काव्य या कला मे जीवन के तत्त्वों को अलौकिक रूप मे देखने के कारण तथा उक्ति में ही काव्य-सौदर्य की सारी सत्ता मानने के कारण उसे निरपेक्ष सत्ता प्रदान करता है[5] किन्तु शुक्लजी उसे जीवन-सापेक्ष सत्ता प्रदान करते हुए जीवन के एक साधन-रूप मे अपनाते है।[6] इसलिए शुक्लजी काव्य से जीवन का सम्बन्ध प्रत्यक्ष-रूप से स्थापित करने मे समर्थ होते है किन्तु क्रोचे अप्रत्यक्ष-रूप से।

---
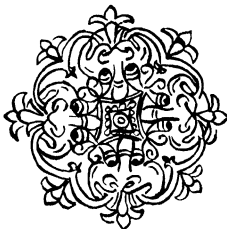
१ Art must not be confused with other forms directed to the production of certain effects. whether these consist in pleasure, eujoyment and utility, or in goodness and righteousness. —croce.

२. अभिभाषण, पृ० ३६-३७

३. Philosophy of crose, p. 153. 161.

४. रस-मीमांसा, पृ० २०, २२, २३, ५५, १०१, ३५७

५. Philosophy of B. croce. p. 70

६. अभिभाषण, पृ० ८०

उत्तर-छायावादी हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियां

डा० इन्द्रनाथ मदान

१. उद्देश्य—इस निबन्ध का उद्देश्य उत्तर-छायावादी हिन्दी-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा उसके वस्तुगत एव शैलीगत स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी उपलब्धियो, सीमाग्रो तथा सम्भावानाओं का मूल्याकन करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राय उन सभी कवियो की रचनाओ को दृष्टि मे रखा गया है जिन्होंने इस काव्य को सम्पन्न तथा विपन्न बनाने मे योग दिया है और लगभग उन सभी आलोचको की धारणाओ को उद्धृत किया गया है जिन्होने इसके स्वरूप को निश्चित करने तथा जटिल बनाने मे सहायता की है। उत्तर-छायावादी कविता की प्रवृत्तियो का नामकरण अनेक दृष्टियो से किया गया है। डा० नगेन्द्र ने इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसे पाच विभिन्न धाराओ मे विभक्त करना उपयुक्त समझा है – राष्ट्रीय सास्कृतिक कविता, गाधी-दर्शन मे प्रभावित कविता, वैयक्तिक कविता, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविता। श्री विश्वम्भर मानव इस काव्य को नई कविता की सज्ञा देकर इसे तीन स्वतत्र धाराओ में विभाजित करना उचित समझते है—प्रगतिवादी काव्य, प्रयोगवादी काव्य और गीति-काव्य। इस विभाजन से यह भ्रम भी उत्पन्न करना नही चाहते कि इस काल मे किसी अन्य काव्य-धारा अथवा काव्य-प्रवृत्ति की रचनाओं का नितात अभाव है। डा० प्रेमशकर ने काव्य की नवीन प्रवृत्तियो का विवेचन तथा मूल्याकन आधुनिक समाजशास्त्र के आधार पर करते हुए इसे दो प्रमुख धाराओ मे विभक्त किया है एक वह जो समाजिक यथार्थ की भूमिका पर प्रयोग करती है और जिसमे वस्तु-तत्त्व की प्रमुखता रहती है, दूसरी वह जो वैयक्तिक यथार्थ को आत्मसात किये हुए है और जिसकी आस्था शिल्प-तत्त्व के प्रति अधिक है। श्री शिवदानसिह चौहान ने नये काव्य का मूल्याकन मार्क्सवादी आलोचना के सिद्धान्तो के आधार पर करते हुए इसे दो प्रमुख प्रवृत्तियो मे विभाजित किया है . प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद। शिवदानसिंह तथा नामवरसिह आदि आलोचकों का विवेचन मार्क्सवादी समाजशास्त्र की धारणाओ मे प्रभावित है। इस प्रकार उत्तर-छायावादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियो मे प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा गीति-काव्य के नाम लिये गए है और इनके अतिरिक्त वैयक्तिक कविता, राष्ट्रीय-सास्कृतिक कविता, गाधीवादी कविता आदि काव्य-धाराओ की ओर भी सकेत किया गया है। उत्तर-छायावादी काव्य-प्रवृत्तियो का उल्लेख तथा प्रतिपादन इन धाराओ के अतिरिक्त भी हुआ है जिनमे प्रतीकवाद, प्रपद्यवाद, बिम्बवाद, नई कविता आदि के नाम आते है और नई कविता को विशेषतया एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप मे भी स्थापित किया जा रहा है। छायावादी काव्य जिस प्रकार एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप में मान्य है, उत्तर-छायावादी काव्य को उसी प्रकार विशिष्ट काव्य-धाराओ मे विभक्त करना कठिन है। इसके लिए सबसे बडी समस्या एक विशिष्ट आधार अथवा मानदण्ड की है। काव्य-विशेष की प्रवृत्तियो का निर्धारण वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से किया जाए या शिल्प-तत्त्व के आधार पर, प्रगति की दृष्टि से अपेक्षित है या प्रयोग के आधार पर समीचीन है? इनके अतिरिक्त एक तीसरा मानदण्ड भी है जो काव्य को प्रेरित करने वाली उस चेतना अथवा जीवन-दृष्टि को आधार मानता है जो वस्तु एव शिल्प, प्रगति एव प्रयोग, दोनो को रूपायित करने की क्षमता से सम्पन्न है और जिसकी कसौटी पर काव्य के अतिरिक्त साहित्य की अन्य विधाओ की प्रवृत्तियो का विभाजन तथा मूल्याकन हुआ है। आचार्य शुक्ल की सामाजिक समीक्षा-पद्धति, सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा, मनोवैज्ञानिक तथा प्रगतिवादी आलोचना

क्रमशः सामाजिक व्यक्तिवादी, अतिशय व्यक्तिवादी और समाजवादी विचारधाराओ से प्रभावित है। इन चार प्रवृत्तियों का समानान्तर विकास काव्य के क्षेत्र मे दृष्टिगत होता है। काव्य के विकास में द्विवेदी-युगीन रचनाओं में व्यक्त समाज-परक चेतना उपन्यास की सामाजिक प्रवृत्ति तथा शुक्ल की समीक्षा-पद्धति का ही रूप है, छायावादी काव्य मूलत: व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है जो व्यक्तिवादी उपन्यास तथा सौष्ठववादी समीक्षा मे लक्षित होता है। प्रयोग-वादी काव्य की मूल प्रेरणा मनोविश्लेषणवादी जीवन-दृष्टि है जो मनोविश्लेषणवादी उपन्यास तथा मनोवैज्ञानिक आलो-चना को भी प्रभावित किये हुए है। प्रगतिवादी काव्य की प्रेरक शक्ति समाजवादी चिन्तन मे सन्निहित है और इसका रूपान्तर उपन्यास तथा आलोचना मे उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य, उपन्यास तथा समीक्षा की मूल प्रवृत्तियों में यह साम्य सयोगवश नही, कारणवश है।

२ काव्य-प्रवृत्तिया—वस्तुत साहित्य के सर्जन की प्रेरणा आदिकाल से व्यक्त और समाज मे सन्तुलन एव सामजस्य की समस्या और इनमे परिवर्तनशील सम्बन्धो को व्यक्त करने की आकाक्षा से प्राप्त होती रही है। व्यष्टि-हित तथा समष्टि-मगल मे परस्पर विरोध अभिनव परिस्थितियों, नवीनतम समस्याओ तथा अधुनातन विचार-धाराओ का जनक होता है। इस विरोध के शमन तथा समस्याओ के समाधान के लिए साहित्यकार प्रयत्नशील रहे हैं। इसी कारण युग-विशेष मे साहित्य की विभिन्न विधाओ मे प्रवृत्तियो का साम्य उपलब्ध होता है। इन प्रवृत्तियों का मूल्याकन साहित्यकार की मूलभूत चेतना के आधार पर करना अपेक्षित एव समीचीन है। जिसका परिज्ञान उसके व्यष्टि एव समष्टि को न्यूनाधिक महत्त्व प्रदान करने मे प्राप्त होता है। जीवन को आकने के लिए मूलतः दो प्रवृत्तियों का आश्रय लिया गया है: एक का सम्बन्ध सामाजिक कल्याण की भावना से रहा है और दूसरी का वैयक्तिक हित तथा व्यक्ति-चिन्तन से रहा है। इन दो मूल प्रवृत्तियो की शाखाए तथा उपशाखाए विविध विचारधाराओ के रूप में परि-लक्षित होती रही है। अत इसके आधार पर ही उत्तर-छायावादी काव्य की प्रवृत्तियो का निर्धारण उपयुक्त प्रतीत होता है। इस काव्य का आरम्भ 'तारसप्तक' के प्रकाशन (१९४३) से सुविधाजनक एव मान्य है। इससे पहले नई काव्य-धारा की रचनाए पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से आलोक मे आने लगी थी। पिछले दशक मे नये काव्य-धारा-सम्बन्धी अनेक सग्रह भी प्रकाशित हो चुके है जिनमे दूसरा और तीसरा सप्तक, 'नई कविता' के चार अक, 'आधार' के अनेक अक, 'काव्य-धारा' तथा कवियो की निजी रचनाओ के स्वतन्त्र सकलन है जिनके आधार पर हिन्दीकाव्य की अधुनातन प्रवृत्तियो का विवेचन सम्भव हो सका है, परन्तु काल की समीपता के कारण इनका मूल्याकन अधिक जागरूकता तथा तटस्थता की अपेक्षा करता है। नये काव्य का स्वरूप तथा व्यक्तित्व अब निश्चित तथा स्थिर होने लगा है, इसके बीहड जगल मे पथ प्रशस्त होने लगे है। समस्त नये काव्य को प्रयोगवाद अथवा नई कविता की सज्ञा देना भी आलोचना-सगत नही है। उत्तर-छायावादी काव्य मे युग-चेतना के विभिन्न स्तरो की अभिव्यक्ति और जीवन के विविध स्वरो की प्रतिध्वनि है। यदि सगीत को एक रूपक मे बाध दिया जाए तो प्रगतिवाद का स्वरूप लोक-सगीत का है, प्रयोगवाद शास्त्र-विरोधी शास्त्रीय सगीत है और गीति-काव्य सुगम सगीत है। उत्तर-छायावादी काव्य की अन्य प्रवृत्तियो को सगीत की इन तीन शैलियों के सम्मिश्रण एव समन्वय मे जनित उपशैलियो की सज्ञाओ से अभिहित किया जा सकता है। इस काव्य-सगीत के विविध स्वरो तथा उनके मूल मे विभिन्न विचारधाराओ के प्रभाव लक्षित होते है जिनका विवेचन निबन्ध मे यथास्थान किया गया है। उत्तर-छायावादी काल मे इस काव्य को जटिल जीवन की नवीन परिस्थितियो का सामना करना पडा है जिसके फलस्वरूप इसे भाव-बोध के नये स्तरो, सौन्दर्य-बोध के नये तत्त्वो, यथार्थ के नये धरातलों की अभिव्यक्ति देनी पडी है। इस नवीन जीवन-दृष्टि ने पुरानी परम्पराओ, मान्यताओ, स्थापनाओ तथा धारणाओ को अस्त-व्यस्त कर दिया है। यह जीवन-दृष्टि बौद्धिकता मे प्रभावित और वैज्ञानिकता से अनुप्राणित है। श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी यह प्रतिपादित किया है कि नई कविता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन प्रतीको, बिम्बो और साधनो का प्रयोग किया है जो यथार्थ जीवन से उपजे है और जिनका सीधा सम्बन्ध उस वैयक्तिक भाव-स्तर से है जो क्षण के अस्तित्व के साथ आन्दोलित करता है।[1]

३ सक्रान्तिकाल—छायावादी काव्य जिस प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, इतिवृत्तात्मकता के

१. नई कविता के प्रतिमान, पृ० ३-४

प्रति भावुकता की प्रतिक्रिया, रूढि के प्रति प्रयोग का विरोध, सामन्ती मान्यताओं के प्रति व्यक्तिवाद का विद्रोह शुष्कता के स्थान पर सरसता के प्रति आग्रह, अभिधा के स्थान पर लक्षणा एव व्यजना की स्थापना है, उत्तर-छायावाद। काव्य उसी प्रकार आदर्श के प्रति यथार्थ का विद्रोह, भावुकता के प्रति बौद्धिकता की प्रतिक्रिया, सूक्ष्मता के स्थान पर मांसलता की स्थापना, उदात्तता के स्थान पर लघुता के प्रति मोह, शाश्वत के स्थान पर क्षण का महत्त्व, अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता एव मानवीयता के प्रति आग्रह है। छायावादी मान्यता के प्रति विद्रोह की भावना सक्रान्ति-काल में ही व्यक्त होने लगी थी। इस काल मे गाधीवाद, मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद की चिन्तन-धाराओ ने कवि-मानस को प्रभावित किया है। बुद्धिजीवी मध्यवर्गीय समाज की चेतना इन विचारधाराओ के सम्मिश्रण के धरातल पर उभरने लगी थी। हरिवशराय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अचल', नरेन्द्र शर्मा, दिनकर आदि कवियो ने फलत· नवीन चेतना के विभिन्न आयामो मे युक्त होकर भारतीय जीवन की रागिनी को अलापने का प्रयास किया है। अचल के काव्य पर तीन प्रचारको की जीवन-दृष्टियो का गहरा प्रभाव पडा है। दिनकर गाधीवाद तथा मार्क्सवाद से प्रभावित हैं, परन्तु इनके कवि-मानस पर फ्रायडवादी चेतना का भी प्रभाव है जो 'रसवन्ती' की रचनाओ मे लक्षित होता है। बच्चन ने अपने वैयक्तिक जीवन की रेखाओं को अपनी प्रतिभा से अनुरजित किया है। नरेन्द्र शर्मा के गीतिकाव्य मे भी गाधीवाद तथा मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। सक्रान्तिकाल के कवियों की रचनाए गीतिकाव्य की परम्परा मे रखी जा सकती है जिनके मूल मे व्यक्तिवादी विचारधारा अधिक साहस के साथ प्रत्यक्ष रूप मे व्यजित होने लगी है। डा० नगेन्द्र ने सक्रान्तिकालीन गीतिकाव्य को वैयक्तिक कविता की सज्ञा से अभिहित करना उपयुक्त समझा है। उनका मत है कि इस काल मे अनेक प्रकार के बौद्धिक तथा भौतिक प्रभावो के कारण व्यक्ति अपने प्रति अधिक जागरूक होने लगा, उसमे आत्मचेतना और आत्मविश्वास की मात्रा बढने लगी और प्राकृतिक तथा दार्शनिक प्रतीको के आवरण त्यागकर वह साहसपूर्वक अपने हर्ष-विषाद को प्रत्यक्ष रूप मे अभिव्यक्त करने लगा। इस तरह एक प्रकार की आत्मपरक कविता का जन्म हुआ जिसका प्रभाव हिन्दी के नवयुवक कवियो पर सक्रामक होकर पडा और आर्थिक तथा शृगारिक कुठाओ से पीडित तत्कालीन समाज अपने मन के प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों की ओर स्वभावत अत्यन्त वेग से आकृष्ट होने लगा। छायावादी काव्य पर नैतिक आदर्शों का आतक गहरा था और उसे सीधी अभिव्यक्ति भी ग्राह्य नही थी।[१] वास्तव मे आत्मपरक कविता का जन्म उत्तर-छायावादी सक्रान्तिकाल में नही, छायावादी काल मे ही समझना अधिक सगत जान पडता है। छायावाद के मूल मे जो व्यक्तिवाद था वह अधिक वेग एव विश्वास के साथ इस काल के गीति-काव्य मे व्यक्त होने लगा जिसे प्रगतिवादी आलोचक अस्वस्थ व्यक्तिवाद की सज्ञा देकर ह्रासशील कहना उचित समझते है। इन कवियो का अदम्य व्यक्तिवाद एक ओर आर्थिक कुठाओं से और दूसरी ओर काम-वर्जनाओं से मुक्ति पाने के लिए मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद से प्रेरणा प्राप्त करता है। गाधीवादी दृष्टिकोण की आदर्शवादी चेतना के प्रभाव से भी इन कवियों की रचनाए पूर्णतया मुक्त नही है। इनकी रचनाओ मे आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का स्वर अधिक प्रबल है। जिसके आधार पर आलोचक इनमे प्रगतिवादी काव्य के बीज खोजते है। वस्तुत बच्चन, अचल, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर के काव्य मे समस्याओ के यथार्थ समाधान की अपेक्षा अधिक होने लगी थी। इसी कारण इनकी कविताओ मे प्रगतिवाद का अस्पष्ट आभास अवश्य मिलता है, परन्तु उसका प्रकाश आखो मे अभी उतर नही पाया था। इन कवियो ने प्रगतिवाद के असन्तोष, विद्रोह, अनास्था आदि को एक सीमा तक तो ग्रहण कर लिया था, परन्तु उसके सामाजिक परिणामो का पूरा ज्ञान इन्हे नही हुआ था। इसलिए इनके काव्य में सामाजिक तथा नैतिक रूढियो के प्रति आक्रोश है, रोमानी स्वच्छन्दता के प्रति आग्रह है, प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति है, आध्यात्मिक विश्वासो के प्रति सदेह है। डा० नगेन्द्र ने इनके काव्य को वैयक्तिक कविता की सज्ञा दी है और व्यक्तिवाद को ही इसके मूल दर्शन के रूप मे प्रतिपादित किया है। इसका आधार मानव के भौतिक अस्तित्व की स्वीकृति है और इसका माध्यम गीतिकाव्य है जो प्राय· सगीत के स्वरताल मे महादेवी तथा निराला के गीतो की भाति बधा हुआ नही है। इनकी रचनाए छन्दोबद्ध भी है और मुक्त छन्द में भी ये उपलब्ध होती है। सरल तथा अमिश्र भाव की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम गीत है, मानसिक द्वन्द्व

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियां, पृ० ६३

की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम छन्दोबद्ध रचना है और विचार-प्रधान रचना के लिए मुक्तक छन्द का प्रयोग है। वैय-क्तिक कविता, जिसकी स्थिति संक्रान्तिकालीन है और जिसका महत्त्व छायावाद तथा प्रगतिवाद के बीच की कड़ी के रूप मे आका जाता है, कला-पक्ष की दृष्टि से छायावाद के वैभवसम्पन्न शिल्प की अपेक्षा अधिक सहज, सरल एवं स्पष्ट है।

४. नवीन परिस्थिति—उत्तर-छायावादी काव्य मे इस सक्रान्तिकाल के उपरान्त यथार्थ के नवीन धरातलो, चेनता के नवीन स्तरो तथा जीवन की नवीन भूमियो की खोज एव अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति ने अधिक बल पकड़ा जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी-काव्य विभिन्न धाराओ मे प्रवाहित होने लगा और जिसकी दो प्रमुख धाराए सामाजिक यथार्थ तथा व्यक्ति-यथार्थ के सत्य को प्रधान रूप मे आत्मसात किये हुए है। इन दो मूल प्रवृत्तियो का आभास 'तार-सप्तक' की रचनाओ मे उपलब्ध हो जाता है। अज्ञेय आदि व्यक्ति-सत्य की भूमिका को अधिक महत्त्व देते है और गिरिजा-कुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, रामविलास शर्मा आदि कवियो की अधिकाश रचनाओ मे सामाजिक यथार्थ को अधिक प्रतिष्ठा मिली है। व्यक्ति-सत्य को अभिव्यक्ति देने वाली काव्य-धारा की प्रयोगवाद और सामाजिक चेतना को महत्त्व देने वाली काव्य-प्रवृत्ति को प्रगतिवाद की सज्ञाओ से अभिहित किया गया है। 'तारसप्तक' के कवियों के वक्तव्यो से उनकी जीवन-दृष्टि तथा उसे प्रभावित करने वाली विचारधाराओ का स्पष्टीकरण हो जाता है। इन कवियो की समाजपरक चेतना के विपरीत अज्ञेय व्यक्तिपरक चेतना को व्यजित करने के लिए आकुल रहे हैं। उनके काव्य के मूल मे व्यक्तिवादी चिन्तन और शैली मे प्रयोगात्मक तत्त्व है, समष्टि पर व्यष्टि की हावी होने की तीव्र आकाक्षा है। अपने अहवाद को 'व्यक्तित्व की स्थापना' के रूप मे 'नदी के दीप' के माध्यम से, 'अकेले स्नेहभरे, मदमाते दीप को पक्ति देने' के द्वारा व्यक्त करने का प्रयास उनके काव्य की मूल प्रेरणा है। उनकी धारणा है कि व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के परिणामस्वरूप आज एक ही सामाजिक स्तर पर दो व्यक्तियो के सौन्दर्य-बोधो तथा विचार-धरातलों मे समानता उपलब्ध नही होती जो पुरातन काल मे सम्भव थी। इसलिए साधारणीकरण की समस्या कवि को प्रयोग-शीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बडी शक्ति है। व्यक्ति के अनुभूत को कैसे उसकी सम्पूर्णता अथवा समग्रता मे समष्टि तक पहुचाया जाए, यह समस्या कवि को ललकारती है। अज्ञेय की दृष्टि मे अनुभूत के रूप, गुण, सामा-जिक, असामाजिक आदि की इतर समस्याए गौण हैं। वह आधुनिक युग के व्यक्ति को 'यौन वर्जनाओं का पुज' मानते है। उनकी इस धारणा से उनके काव्य पर पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों के सिद्धान्तो का प्रभाव लक्षित होता है। मानव-मन की यौन कल्पनाओ एव कुण्ठित वासनाओं से आज के व्यक्ति की सौदर्य-चेतना भी आक्रान्त है। अज्ञेय इसे वर्गगत वर्जनाओ से भी लदा हुआ मानते हैं। उनका विद्रोहशील व्यक्तित्व एव क्रान्तिशील मानस उन्हे व्यक्ति-कामी बनने के लिए बाधित करते है। अपनी व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि को पुष्ट करने तथा उसे दार्शनिक रूप देने के लिए उन्होने पाश्चात्य चिन्तन-पद्धतियो, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो, काव्य-धाराओ तथा आलोचना-सम्प्रदायो से प्रेरणा प्राप्त की है। इस प्रकार 'तारसप्तक' मे सकलित इन कवियो ने युग-जीवन को सचालित करने वाली सामाजिक तथा वैयक्तिक चेतना को अभि-व्यक्ति देने का प्रयास किया है। इन दो विभिन्न विचारधाराओ ने काव्य की प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्तियो को पुष्ट करने तथा सम्पन्न बनाने मे सहायता दी है। इन दोनो काव्य-धाराओ मे छायावाद के प्रति प्रतिक्रिया एव विद्रोह की भावनाए भी लक्षित होती है जिनका आभास सक्रान्ति-काल के कवियो की रचनाओ मे उपलब्ध होता है। इस काव्य-सग्रह मे रूपगत तथा वस्तुगत नये प्रयोगो को अपनाया गया। सन पैतालीस के बाद नई सामाजिक चेतना मार्क्सवाद से सम्बद्ध होने लगी। इसे प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किया गया। रूप-गत प्रयोगों से सम्बद्ध कविता को प्रयोगवाद का नाम दिया गया जिसका श्रेय प्रगतिवादियो को है। इसी बिन्दु से प्रयोगवादी तथा प्रगति-वादी कविता मे अन्तर बढता गया। प्रयोगवाद पर व्यक्तिवादी तथा प्रतिक्रियावादी होने के आरोप लगाये गए और प्रगतिवाद पर प्रचारवादी होने का आक्षेप किया गया। एक काव्य-प्रवृत्ति मे शिव-तत्त्व पर बल दिया गया और दूसरी मे सौन्दर्य-तत्त्व को महत्त्व दिया गया, एक मे समष्टि की महान समास्याओ के सम्मुख व्यष्टि की समस्याओ को हेय एवं तुच्छ समझा गया और दूसरी मे व्यक्ति की समस्याओ को समष्टि का केन्द्र माना गया। इस प्रकार दो परस्पर-विरोधी

विचार-धाराओं ने दो विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों को विशिष्ट तथा स्वतन्त्र रूप प्रदान किया।

५. प्रगतिवाद—प्रगतिवाद का प्रेरणा-स्रोत मार्क्सवादी जीवन-दर्शन है। इसलिए प्रगतिवाद को मार्क्स-वाद का साहित्यिक सस्करण भी माना जाता है। डा० नामवरसिह प्रगतिवाद तथा प्रगतिशील मे भेद करने को कोरा बुद्धि-विलास समझते है जो उनके मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। उनका मत है कि छायावाद मे गतिरोध आने पर प्रगतिवाद का उदय हुआ है। उनकी दृष्टि मे विकास की प्रवृत्ति आदर्शवाद मे क्रमश यथार्थवाद की ओर, और यथार्थवाद से क्रमश स्वस्थ सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख है। साहित्यकार के सामने एक ही मूल समस्या है जिसके समाधान मे उसकी प्रगतिशीलता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। 'कस्मै हविषा विधेम?' साहित्य किसके लिए? इसका उद्देश्य स्वान्त सुखाय है या बहुजनहिताय है? बुद्धिजीवियो ने मानवतावादी आवरण मे व्यक्ति-हित को छिपाने का प्रयास किया है। इस प्रकार वह मार्क्सवाद की कसौटी पर ही साहित्य की प्रगतिशीलता का मूल्याकन अपेक्षित मानते हैं। छायावाद, प्रयोगवाद तथा प्रगतिवाद मे अन्तर को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है कि कल्पनाप्रवण अन्त दृष्टि छायावाद की विशेषता है, अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की, और सामाजिक यथार्थ दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है। उनको प्रगतिवाद मे स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण सयम एव स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक दृष्टिगत होता है, उसकी निराशा मे भी आशा की दीप्ति दृष्टिगोचर होती है। शिवदानसिह चौहान तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी प्रगतिवाद की विशेषताओ का विवेचन किया है, परन्तु नामवरसिह इन आलोचको की दृष्टि मे व्यक्तिवादी सस्कारो को पाते है।[1] डा० नगेन्द्र प्रगतिवादी काव्य तथा मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को एकागी एव सकुचित समझते है। उनकी धारणा है कि यह जीवन की अनेक सूक्ष्म तथा जटिल प्रवृत्तियो की उपेक्षा करता है। वह साहित्य को अपने मूल रूप मे सामाजिक या सामूहिक चेतना नही मानते, परन्तु उमे वैयक्तिक स्वीकार करते है। 'साहित्य वस्तुत अभिव्यक्ति है। बाहर और भीतर इसके पक्ष है। भीतर की प्रकृति बहिरग को अपने मे आत्मसात कर गहरी एव घनीभूत होती रहती है और बहिरग की प्रवृत्ति अन्तरग का प्रसार करती हुई व्यापक होती रहती है। काव्य जीवन की भागवत व्याख्या है, वह जीवन की अन्त-रग साधना है। मार्क्सवाद की उपादेयता व्याख्या तक ही सीमित है। उसके द्वारा किया गया मूल्याकन एकागी होता है।'[2] डा० नगेन्द्र का निजी दृष्टिकोण रसवादी सिद्धान्त, मनोविश्लेषणवादी जीवन-दृष्टि तथा अभिव्यजनावादी काव्य-सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण प्रगतिवादी काव्य को अकाव्य के रूप मे देखने के लिए बाधित है। वह मार्क्सवाद के बौद्धिक दृष्टिकोण को काव्य के अनुपयुक्त भी समझते है। इस प्रकार प्रगतिवादी काव्य, जो सैद्धान्तिक रूप मे द्वन्द्वा-त्मक भौतिकवाद से प्रभावित है, मनोविश्लेषणवादी आलोचको की दृष्टि मे काव्य की गरिमा से वचित हो जाता है। विश्वम्भर मानव भी प्रगतिवादी काव्य को उस प्रकार पल्लवित एव विकसित नही समझते जिस प्रकार अद्वैतवादी एव विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तो के आधार पर रहस्यवाद तथा कृष्ण-काव्य का सृजन एव प्रसार हुआ था। इसका कारण यह भी हो सकता है कि प्रगतिवादी कवि अभी उस जीवन मे दूर है जो प्रगतिवाद का प्रेरणा-स्रोत है। डा० रामविलास शर्मा, डा० नामवरसिह तथा अन्य प्रगतिवादी आलोचक काव्य का मूल्याकन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से करते है और उसी कवि को प्रगतिवादी होने की सज्ञा देना उपयुक्त समझते है जो जन-जीवन मे प्रेरणा ग्रहण करता है, हताश भावना का विरोधी है, धरती की गरिमा को आत्मसात करता है, सामूहिक दु ख का सामना सामूहिक शक्ति मे करता है, आसू के स्थान पर क्रोध से काम लेता है, दीन-भाव के स्थान पर तीक्ष्ण व्यग-बाण छोडता है, व्यष्टि और समष्टि मे परस्पर विरोध को अन्ततोगत्वा मौलिक स्वीकार नही करता और उस वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए आकाक्षी तथा सघर्षशील है जिसमे व्यक्ति का हित समाज का हित होगा, और समाज का हित व्यक्ति का हित होगा। प्रगति-वादी के मतानुसार प्रयोग के समर्थक अधिकाश व्यष्टिवादी है जिन्होने अचेतन मन की ज्ञात और अज्ञात कन्दराओ मे घुसकर मनुष्य की काम-वासनाओ का साक्षात्कार किया है, जो व्यक्ति-मानस को ही समस्त घटनाओ और सम्बन्धो

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियां, पृ० ६२
२. आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियां,

का केन्द्र और कारण मानते है, जो व्यक्ति-सापेक्ष अनुभूतियो को ही निरपेक्ष सत्य समझते है, जिनके लिए कला केवल व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का ही साधन और साध्य है ।[1] इस प्रकार प्रयोगवादी काव्य के मूल मे व्यक्तिवादी विचार-धारा एव रूपवादी प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए चौहान प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद में सन्तुलन स्थापित करने का विफल प्रयास इन शब्दो द्वारा करते है कि प्रयोगवादियो की काव्य-वस्तु के प्रति और प्रगतिवादियों की काव्य-रूप के प्रति उदासीनता कविता के ह्रास का कारण बन रही है। दोनों पक्षों के प्रवक्ता और कवि वस्तु एव रूप, प्रगति और प्रयोग की समस्या को एकागी दृष्टि से आकते हैं, परन्तु इनकी समस्या का समग्र एव सश्लिष्ट रूप में समाधान करना काव्य-विकास के लिए अपेक्षित है । इस तरह चौहान ने प्रगतिवादी कवि को व्यापक जीवन-दृष्टि प्रदान करने के लिए मार्क्सवादी दर्शन को विस्तार देने का प्रयास किया है ।

६. मूल्याकन——प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति की उपलब्धियो तथा सीमाओ का मूल्याकन आलोचको ने विभिन्न दृष्टियो से किया है । डा० नगेन्द्र इस प्रवृत्ति की अधिकाश रचनाओ को भाव-प्रधान मानते हुए इनमे मानववादी क्रान्तिकारी स्वर को अधिक तीव्र तथा साम्यवाद की मात्रा को कम पाते है । उनकी दृष्टि में कल के छायावादी आज के प्रगतिवादी है । अतएव उनके काव्य मे क्षयी रोमास बार-बार उभरता है । प्रगतिवादी काव्य के इस मूल्याकन से सम्भवत उनका सकेत अचल, नरेन्द्र शर्मा आदि सक्रातिकालीन कवियो की रचनाओं तक सीमित है । लक्ष्मीकान्त वर्मा नई कविता के प्रवक्ता के रूप मे प्रगतिवादी काव्य का विरोध सैद्धान्तिक आधार पर इसलिए करते है कि इसमे मानव-विशिष्ट की अवहेलना होती है और किसी मतवाद की रूढ़ि अथवा पूर्वाग्रह से आक्रान्त होकर वास्तविक काव्य की सृष्टि नही हो सकती । गिरिजाकुमार माथुर व्यष्टि की समस्याओ का समाधान समष्टि की महान समस्याओ मे जोड़ते है और व्यक्ति-जीवन के प्रश्न को सीमित रूप से लेकर एक व्यापक रूप मे घटाने के पक्ष मे है । इसलिए उनकी दृष्टि मे प्रगतिशील काव्य का भविष्य उज्ज्वल है और अनास्था की परिस्थितिया चिरस्थायी नही है । शिवदानसिह चौहान की धारणा है कि तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी विकास नही कर पाए थे कि उन्होने मतवाद मे पड़कर अपनी काव्य-प्रतिभा को स्वय ही कुठित कर डाला । उनकी दृष्टि मे युग-सत्य तो नही बदला, केवल उसका बोध तत्काल मलिन और खण्डित हो गया ।[2] इन आलोचको के विवेचन तथा प्रगतिवादी कवियो की मौलिक रचनाओ के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर-छायावादी काल के हिन्दी के कुछ कवियो ने प्रगतिवादी चेतना को अभिव्यजना देने का प्रयास अवश्य किया है । इनकी उपलब्धि के सम्बन्ध मे मतभेद का होना स्वाभाविक है । प्रगतिवाद एक स्वतत्र एव विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप मे मान्य एव स्वीकृत है । इसका निजी वस्तुगत स्वरूप है । इसमे रूढिगत मान्यताओ के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति है, राष्ट्रीय भावनाओ का पोषण है, लाल सवेरा, लाल किरण, लाल सेना आदि का चित्रण है; पूजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध है, शोषित के प्रति सहानुभूति तथा शोषक के प्रति आक्रोश की भावना है; सामाजिक विषमता पर तीक्ष्ण व्यग है, धरती के प्रति ममता है, किसान तथा मजदूर के लिए विशेष मोह है, भावुकता की अपेक्षा बौद्धिकता के प्रति आग्रह है, आदर्श के स्थान पर यथार्थ को आत्मसात करने का प्रयास है । परन्तु इन सभी विशेषताओ से युक्त काव्य को प्रगतिवाद की सज्ञा देना उचित नही जान पडता । वास्तव मे प्रगतिवादी कवि उसे स्वीकार करना होगा जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हो, जो सामाजिक चेतना को समाजवादी चेतना मे परिणत करने के लिए प्रयत्नशील हो, जिसमे सामाजिक यथार्थ को समाजवादी धरातल पर ग्रहण करने का आग्रह हो । वह जीवन-विकास के पथ को द्वद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर प्रशस्त करने का आग्रही हो। वह जीवन-विकास के पथ को द्वद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर प्रशस्त करने का पक्षपाती हो और काव्य को इस पथ के निर्माण के लिए अस्त्र के रूप मे प्रयोग करने का समर्थक हो । वह इस दृष्टि से काव्य की रचना करता है और इसके धरातल पर ही प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति का मूल्याकन अपेक्षित है ।

---

१. शिवदानसिह चौहान : काव्यधारा, पृ० २०३, २०४

२. काव्य-धारा, पृ० ४४

७. प्रयोगवाद—उत्तर-छायावाद युग की दूसरी काव्यधारा वैयक्तिक कविता का चरम विकास है जिस-का अभी तक अन्तिम रूप से नामकरण नही हो पाया है। इसलिए इसे प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, रूपवाद, प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है। शिवदानसिंह चौहान ने नई कविता को भी इस काव्य-प्रवृत्ति के अतर्गत रखा है। उत्तर-छायावादी काल में हिन्दी-काव्य दो विभिन्न धाराओ मे प्रवाहित होने लगा था · एक धारा सामाजिक यथार्थ और दूसरी धारा वैयक्तिक यथार्थ को आत्मसात किये हुए थी। इन दोनो धाराओ मे जीवन-यथार्थ का स्वर उभर कर व्यक्त होने लगा था। 'तारसप्तक' के वक्तव्य मे अज्ञेय ने साधारणीकरण की समस्या पर विचार करते हुए प्रयोग के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। उनकी धारणा है कि 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकषाओ के बीच उसके अनेक स्तरों की उद्भावना कवि आदिकाल से करता आया है। साधारणीकरण की समस्या का रूप पहले इतना जटिल नही था जितना वह आज जीवन-परिपाटियों मे घोर विषमता तथा विभिन्नता के कारण बन चुका है। व्यक्तिवादी चेतना के परिणामस्वरूप आज एक ही सामाजिक स्तर पर दो व्यक्तियो के सौदर्य-बोधो तथा विचार-धरातलों मे वह समानता उपलब्ध नही होती जो पुरातन काल मे सम्भव थी। इसलिए साधारणीकरण की समस्या कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति है।[1] काव्य मे 'प्रयोग' के महत्त्व को इस रूप मे स्वीकार करने के कारण आलोचक ने इस काव्यप्रवृत्ति को प्रयोगवाद की सज्ञा देना उचित समझा। इसमे सन्देह नही कि 'अज्ञेय' ने दूसरे सप्तक मे प्रयोगवाद नाम का एक मतवाद के रूप मे इस शब्दो मे विरोध किया है "प्रयोग का कोई वाद नही है। हम वादी नही रहे। न प्रयोग अपने मे इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नही है। कविता भी अपने-आप मे, इष्ट या साध्य नही है। अत हमे, 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमे 'कवितावादी' कहना।"[2] 'अज्ञेय' प्रयोग को दोहरे साधन के रूप मे स्वीकार करते है, एक तो वह उस सत्य को पाने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है और दूसरे वह प्रेषण को जानने का भी साधन है। इस प्रकार प्रयोग का महत्त्व वस्तु तथा उसके अनुरूप शिल्प दोनो को उपलब्ध करने मे निहित है। इसलिए प्रयोग, वस्तु और शिल्प, दोनो क्षेत्रो मे फलप्रद होता है। प्रयोगवाद को वाद-विशेष से मुक्त कराने के लिए नई कविता के नाम से भी अभिहित किया गया है। प्रयोगवाद उत्तर-छायावादी काल की एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप मे स्वीकृत हो चुका है जिसकी अपनी वस्तुगत एव शैलीगत विशेषताए है, जिसकी अपनी जीवन-दृष्टि है, जो एक ओर छायावाद तथा वैयक्तिक कविता की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का विस्तार है और दूसरी ओर छायावादी की कल्पनाशीलता एव स्वप्नशीलता, आदर्शवादिता एव भावुकता का विरोधी है।

'अज्ञेय' ने सप्तको के सम्पादक से रूप मे डा० जगदीश गुप्त तथा श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नई कविता' के सम्पादक तथा समर्थक के रूप मे और कवियो ने अपने वक्तव्यो के द्वारा प्रयोगवादी तथा नई कविता के स्वरूप को वस्तु एव शिल्प की दृष्टि से स्पष्ट करने तथा इसके सम्बन्ध मे भ्रान्तियो को दूर करने का प्रयत्न किया है। आलोचकों ने भी प्रयोगवादी तथा नई कविता की काव्य-प्रवृत्तियो को स्वतन्त्र रूप देना स्वीकार किया है और इनकी उपलब्धियो एव सीमाओ का मूल्याकन किया है। प्रयोगवादी काव्य का सूत्रपात 'तारसप्तक' के प्रकाशन (१९४३) से प्राय सभी स्वीकार करते है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे आलोचको के विभिन्न मत है। डा० प्रेमशकर ने इसका नवीन यथार्थ की दूसरी धारा के रूप मे विवेचन किया है जिसमे सामाजिक चेतना को महत्त्व न देकर वैयक्तिक चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। इस काव्य-प्रवृत्ति के कवियो की दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-विश्लेषण पर टिकी हुई है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को उन्होने एक सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया है। व्यक्ति पूर्णतया अपने सामाजिक परिवेश से वचित भी नही है, परन्तु उसके लिए वह परिवेश प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है। प्रयोगवादी कवि बौद्धिकता के औचित्य को अपनाता है और कभी-कभी इसमे इसकी निष्पत्ति को खोजने का प्रयत्न करता है। यह काव्य-धारा मनोविश्लेषण की भूमिका पर प्रतिष्ठित है। अवचेतन की स्थिति को व्यक्त करने के लिए बौद्धिक प्रक्रिया से काम लेना काव्य-सृजन का मूल विन्दु है। वस्तु

---

१. तारसप्तक, पृ० ७४, ७५

२. दूसरा सप्तक, पृ० ६

तथा शिल्प की दृष्टि से यह काव्य-प्रवृत्ति प्रयोग के महत्त्व को अनिवार्य रूप में ग्रहण करती है जिससे इस काव्य-धारा को प्रयोगवाद की सज्ञा से अभिहित किया है और जिसका विफल निषेध एव निराकरण 'अज्ञेय' ने किया है। डा० नामवरसिह प्रयोगवाद का विश्लेषण मार्क्सवादी दृष्टिकोण से करते है और उनका मत है कि इसका उदय मोह-भंग से हुआ है। इसमे छायावादी कल्पना-शीलता के विपरीत यथार्थ का आग्रह अधिक है जो प्रकृतिवादी काव्य-प्रवृत्ति की भी विशेषता है। इन काव्य-प्रवृत्तियो के यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण में भारी अतर के कारण इनका परस्पर-विरोधी होना स्वाभाविक है। इस अतर को पाटने के लिए भी कवियों तथा आलोचकों ने प्रयत्न किए है। प्रयोगवादी कवि छायावादी काव्य मे उदात्त के स्थान पर वस्तुओ के क्षुद्र रूपो को उद्घाटित करता है। इसके उदाहरण 'चाय की प्याली', 'मकड़ी का जाला', 'बास की टूटी हुई टट्टी', 'रिरियाता कुत्ता', 'चादनी मे तीन टागों पर खडा गदहा' आदि मे उपलब्ध होते हैं। इन कवियो ने छायावादी काव्य की अप्सरामयी, श्रद्धामयी, गरिमामयी, कल्पनामयी नारी को सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है जो उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। इस कारण अस्पृश्य प्रेम ने साकार होकर मासल रूप धारण कर लिया है। भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की स्थापना भी इसी दृष्टि का प्रतिफल है। डा० नामवरसिंह की धारणा है कि छायावाद मे मानवीय प्रेम की अभिव्यक्ति का स्वरूप रहस्यात्मक है और प्रयोगवाद मे इस पर बौद्धिक आवरण डाला गया है। इसमे रूढियो का विरोध है और मान्यताओ पर प्रश्न-चिह्न लगे हुए है। प्रयोगवादी कवि मध्य-वर्ग का सदस्य होने के कारण सकटग्रस्त, चिन्तित एव विक्षुब्ध है। उसकी वाणी मे प्राय· टूटने का स्वर ध्वनित होता है। विश्वम्भर मानव प्रयोगवाद पर प्रतीकवाद से लेकर अतियथार्थवाद तक के प्रभावो को मानते है। वह प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादी विचारधारा मे सदेहवाद को पनपते और अनास्था को उभरते हुए देखते है। यह प्रयोगवाद के वस्तु-पक्ष का स्वरूप है। इसके शिल्प-पक्ष मे बौद्धिक प्रतीक-विधान, विशृखल स्मृति-चित्रण, स्वप्न-चित्रण, सूक्ष्म विम्ब-विधान, मुक्त छन्द, लयमान गद्य आदि उपलब्ध होते है। प्रयोगवादी कविता मे जीवन की आस्था-अनास्था, मधुरता-कटुता, असारता-व्यर्थता, घुटन-घुमडन, दीनता-हीनता आदि का मार्मिक चित्रण है जो इस काव्य-प्रवृत्ति की निजता है। इस प्रकार की जीवन-स्थिति की गहरी सवेदना एव सूक्ष्म अभिव्यजना युग-चेतना के एक विशिष्ट स्तर का परिणाम है जिसकी अवहेलना करना वस्तुस्थिति से पलायन ही समझा जा सकता है। प्रयोगवादी कवि साहस के साथ अपने व्यक्ति-मन तथा उसके माध्यम से परोक्ष रूप मे सामाजिक स्थिति का उद्घाटन करता है। यह इस काव्य-प्रवृत्ति की ऐतिहासिक देन है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य नगेन्द्र तथा अन्य आचार्यों ने प्रयोगवादी कविता पर काव्य के शाश्वत सिद्धान्तो के आधार पर जो आरोप लगाये है उनका निराकरण प्रयोगवादी कवियो को अधिकतर स्वय करना पडा है।

अज्ञेय ने साधारणीकरण के प्रश्न को दूसरे सप्तक की भूमिका मे उठाया है और उसके उत्तर मे यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि 'प्रयोगवादी' कवि न केवल इस सिद्धान्त को मानते है बल्कि इसी से प्रयोगो की आवश्यकता भी सिद्ध करते है।[1] इसके अतिरिक्त यह सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की अनुभूतियो के क्षेत्र के विकास को भी मानते है और अनुभूतियो को व्यक्त करने के उपकरणो के विकास को भी आवश्यक समझते है। यह स्वीकार करते है कि मानव के मूल राग—प्रेम, घृणा आदि—नही बदले; परन्तु राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धो की प्रणालिया बदल गई है।[2] अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए वह 'तथ्य' और 'सत्य' मे 'वस्तु-सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' मे अन्तर को निरूपित करते है। सत्य वह तथ्य है जिससे व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध होता है। तथ्य का काव्य मे कोई स्थान नही है, इसमे केवल सत्य की अभिव्यक्ति होती है। 'वस्तु-सत्य' अथवा 'तथ्य' बाह्य वास्तविकता है। उसके बदलने से उससे रागात्मक सम्बन्ध जोडने की प्रणालिया भी बदलती है। यदि वे नही बदलती तो बाह्य वास्तविकता से मानव का सम्बन्ध टूट जाता है। आज की वास्तविकता से इन आचार्यों के सम्बन्ध टूटे हुए है। आन्तरिक सत्य अथवा व्यक्ति-सत्य की अभिव्यक्ति के लिए साधारणीकरण की समस्याओ का उठना स्वाभाविक है। पुरातन काल मे साधारणीकरण की समस्या सरल थी, काव्य के मुहावरे सीमित थे। आज के युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे

१. दूसरा सप्तक, पृ० ८
२. दूसरा सप्तक, पृ० ६

अनेक हैं। कवि के सामने समस्या यह है · क्या वह सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र मे सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे या वह व्यापक क्षेत्र तक पहुंचने के लिए सीमित मुहावरे मे बधा न रहकर राह खोजने की जोखिम उठाए। पहली अवस्था मे कवि साधारणीकरण करता है, परन्तु इसके साथ ही साधारण के क्षेत्र को सकुचित करके वह आन्तरिक विरोध की स्थिति का आश्रय लेता है। दूसरी अवस्था में वह साधारणीकरण के लिए एक सकुचित क्षेत्र के साधारण मुहावरे को छोडने के लिए बाधित होता है, परन्तु इससे वह एक दूसरे आन्तरिक विरोध की शरण लेता है। यदि अज्ञेय का यह निरूपण ठीक है तो कवि के सामने प्रश्न यह है कि दोनो आन्तरिक विरोधों की स्थितियो मे कौन-सी अधिक ग्राह्य है। अज्ञेय की धारणा है कि दूसरी स्थिति को अपनाने से कवि को उदार एव व्यापक दृष्टि से देखने का श्रेय मिलेगा। साधारणीकरण की समस्या के साथ भाषा का मूल प्रश्न भी जुडा हुआ है। भाषा के शब्दों का चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। इसलिए कवि को शब्दों का निरन्तर नया सस्कार करना पडता है और ये सस्कार क्रमश जन-मन मे पैठकर पुन. अभिधेय हो जाते है कि उस रूप मे वे कवि के काम के नही रहते। अज्ञेय का मत है कि अभिधेय अर्थ मे शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण पड जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित नही होता। कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नये सत्यों का रूप देता है।[1] उनकी दृष्टि मे आज साधारणीकरण अधिक कठिन है। कवि तथा सहृदय दोनों की सवेदनाओं में उलझाव समान परिस्थितियो का परिणाम है। यह एक विडम्बना होगी यदि कवि आज के सत्य को इस कारण व्यक्त न करे कि उसे सब एक साथ नही समझने और उसका परित्याग कर वह कल के ही सत्य को व्यक्त करता रहे। इस प्रकार अज्ञेय साधारणीकरण की समस्या को महत्त्व देकर उसका समाधान आधुनिक परिस्थितियों के सदर्भ मे प्रस्तुत करते है। यह सत्य है कि आज के विशेषीकरण के युग में काव्य का भी विशेषीकरण हो रहा है। अत रस सथा साधारणीकरण के 'शाश्वत' सिद्धान्तो पर भी प्रश्न-चिह्न लगाए जा रहे है और इनका विवेचन नई दृष्टियो से किया जा रहा है। साधारणीकरण को विशिष्ट रूप दिया जा रहा है और नवरसो की सख्या में वृद्धि कर वृद्ध रस को दसवे रस के रूप मे प्रतिपादित किया जा रहा है। इसके मूल मे आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो सभी परम्पराओ को चुनौती देने और रूढियो का विरोध करने की प्रेरणा देता है। इसके फलस्वरूप अराजकता, अव्यवस्था, अनास्था, नास्तिकता, सदेहात्मकता के वातावरण की सृष्टि स्वाभाविक है। प्रयोगात्मकता की प्रवृत्ति के प्रति कवियो का आग्रह सयोगवश नही, कारणवश है। वस्तु तथा शिल्प की दृष्टि से काव्य के मूल प्रश्नो को उठाकर उनके उत्तर नई भाषा मे देने का प्रयास किया जा रहा है। और यह भाषा बौद्धिकता एव वैज्ञानिकता से अनुरजित है तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तो एव अद्युनातन काव्य-प्रवृत्तियो से प्रभावित है।

८. नकेनवादी कवि—अज्ञेय तथा गिरिजाकुमार माथुर के अतिरिक्त बिहार के तीन कवियो ने प्रयोग को साध्य के रूप मे प्रतिपादित कर प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद के नाम से अपनी काव्यप्रवृत्ति को अभिहित किया है। नलिनविलोचन, केसरीकुमार तथा नरेश मेहता का प्रयोगवाद रूढ होकर प्रपद्यवाद अथवा प्रयोगवाद की उपधारा का रूप धारण करता है। केसरीकुमार का मत है कि प्रयोगवाद का आरम्भ नलिनशर्मा की कविताओ से होता है जिनकी रचना 'तारसप्तक' (१९४३) से पहिले १९३६-३८ मे हुई थी। 'तारसप्तक' के कवि प्रयोग को काव्य का बाह्य उपकरण मानते थे जिसमे प्रगति तथा प्रयोग दोनो की सुविधा सम्भव थी। इस प्रकार सप्तको मे जिस काव्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ वह प्रयोगशील का था, प्रयोगवादी का नही।[2] इस कारण इन तीनो कवियो को 'प्रयोग-दशसूत्री' के प्रकाशन की आवश्यकता पडी जिसमे पहली बार प्रयोगवाद को प्रयोगशीलता से भिन्न स्वीकार किया गया। इन कवियो ने अपने वाद के नाम-संकेत के लिए 'नकेन' को अभिधेय मान लिया। नरेश मेहता ने घोषित किया कि प्रयोग काव्य का साध्य है और प्रपद्यवाद प्रयोग का दर्शन है। नरेश प्रयोग की आवश्यकता को चिरतन मानते है। इन कवियों की दृष्टि मे उपचेतन की समस्या कविता की सनातन समस्या है। नया कवि मुक्ति आसग के सहारे उपचेतन की जटिलता को परास्त कर अपना पथ प्रशस्त करना चाहता है। प्रयोगवाद का अभिप्रेत मुक्त काव्य नही, स्वच्छन्द काव्य है। इसलिए अज्ञेय ने प्रयोगशील

---

१. दूसरा सप्तक, पृ० ११, १२
२. नकेन, पृ० ११४

काव्य का शील-निरूपण किया है। नकेनवादियों की दृष्टि मे प्रयोगवाद के आलोचक भी काव्य के माध्यम से इतिहास, राजनीति और दर्शन की अपेक्षा रखते हैं जिससे उन्हे प्रयोगवाद मे वास्तविक काव्य-सृजन नही उपलब्ध होता। आचार्य वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि प्रिया के ध्यान मे चांद देखने के अभ्यस्त हैं, वे साधारणीकरण-कृत विचारों और शब्दो के अभ्यासी हैं।[1] प्रयोगवादी अथवा प्रयोगशील काव्य पर जितने भी आरोप लगाये गए है, केसरी-कुमार ने उनका निराकरण करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि काव्य का अभिप्रेत वह प्रयोग ही है जिसके स्थापत्य मे भाव और व्यजना एक परिस्थिति-जन्य अनिवार्यता मे एकाकार होकर सत्य-रूप ग्रहण कर लेते है। प्रयोगवादी कवि की स्थिति विचित्र है। एक ओर उसे मार्क्सवादी बनने का आदेश दिया जाता है और दूसरी ओर उससे चिरन्तन काव्य की माग की जाती है। कविता न तो मार्क्सवाद, गाधीवाद को अपनाने से हो सकती है और न ही इनसे पलायन करने से। वह स्वय मे स्वतन्त्र है। नकेनवादियों की धारणा है कि प्रेम, शृंगार, भक्ति, वीरता सनातन काव्य-विषय है, परन्तु आज इनके अर्थ जटिल बन चुके है। आज कवि ऐसे केन्द्र की खोज मे है जहा से वह इनकी वैय-क्तिक व्याख्या कर सके। यह वैयक्तिक व्याख्या ही काव्य के लिए ऐसा स्थल है जहा वह काव्य बना रह सकता है। इस प्रकार नकेनवादियो ने काव्य के सिद्धान्तो पर गम्भीर चिन्तन किया है और नवीन दृष्टि से उनका विवेचन किया है, परन्तु उनकी रचनाओ मे काव्य की उपलब्धि कही-कही देखने को मिलती है।

नकेनवादी तथा प्रयोगवादी कवियो की रचनाओं के स्वरूप मे अन्तर का अभाव है, परन्तु इनके काव्य-सिद्धान्तो में मतभेद के कारण नकेनवाद को प्रयोगवाद की उपधारा के रूप मे स्वीकार करना उचित जान पड़ता है। प्रपद्यवाद को प्रयोग के दर्शन के रूप मे स्थापित किया गया है और इसमें प्रयोग की आवश्यकता को चिरन्तन माना गया है। प्रपद्यवाद अनुभूति को शब्द का अविभाज्य अग स्वीकार करता है। उसके अनुसार नवीन सगति के लिए नवीन शब्द-सगीत की आवश्यकता होती है। कविता सामान्य अनुभव के क्षेत्र से आगे के अनुभव को व्यक्त करती है। इसलिए इसमे साधारणीकरण को विशिष्टीकरण के रूप में ग्रहण किया गया है। कवि मुक्त आसगो के माध्यम से मानव-मन की निविडता का अवगाहन कर अपने को सुरक्षित रखने के पक्ष में है। भाषा की समस्या पर भी इसी दृष्टि से विचार किया गया है। नकेनवादी की दृष्टि में तुकान्त के आग्रह से आये हुए शब्द 'चादनी' के साथ भामिनी, कामिनी, यामिनी, रागिनी आदि, घिसी हुई मुद्राओ के समान निर्मूल्य है। वह भाषा के वैयक्तिक प्रयोग मे विश्वास रखता है। नकेनवाद की यथार्थ-वादी अन्तर्मुखी बौद्धिक प्रवृत्ति ने कविता के शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, छन्द-विधान और प्रतीक-विधान को भी प्रभावित किया है। इसकी रचनाओ मे शब्दो का वैयक्तिक प्रयोग, वाक्य-विन्यास मे गद्य की लय, छन्द-विधान में मुक्त छन्द और प्रतीक-विधान मे बौद्धिक प्रतीको के प्रति आग्रह शिल्प की दृष्टि से प्रपद्यवाद की विशेषताए हैं। इस प्रकार नकेनवाद मे व्यक्ति-यथार्थ अथवा व्यक्ति-सत्य को अभिव्यक्ति देने का प्रयास लक्षित होता है। इसका सिद्धान्त-पक्ष प्रयोगवाद की अपेक्षा अधिक निश्चित, सीमित तथा सकुचित है। परन्तु इसकी उपलब्धि प्रयोगवाद से नितान्त भिन्न है। इसलिए नकेनवाद अथवा प्रपद्यवाद की प्रवृत्ति को प्रयोगवाद की उपप्रवृत्ति के रूप में ग्रहण करना ही उपयुक्त जान पड़ता है। इन दोनो काव्यप्रवृत्तियो के मूल मे व्यक्तिवाद की विचारधारा तथा व्यक्ति-निष्ठ जीवनदृष्टि है जो कवि को उन सभी मूल्यो का विरोध करने के लिए बाधित करती है जो व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा विकास मे बाधा बनकर आते है। प्रयोगवाद तथा नकेनवाद मे वस्तु तथा शिल्प की दृष्टि से विशेष अन्तर दृष्टिगत नही होता। सैद्धान्तिक दृष्टि से नकेनवादियो ने प्रयोगवाद के प्रयोग को साधन-रूप में स्वीकार न कर काव्य के साध्य-रूप मे मान लिया है और व्यावहारिक दृष्टि से नकेनवादियो की रचनाओ पर अपेक्षाकृत फ्रायड के सिद्धान्तो का अधिक गहरा प्रभाव जान पडता है जिसके फलस्वरूप 'मुक्त-आसंगत' तथा 'चेतना-प्रभाव' की पद्धति को इन्होने अधिक अपनाया है। इस प्रकार दोनो के सूक्ष्म अन्तर का विवेचन करने के उपरान्त इन काव्य-प्रवृत्तियो को स्वतन्त्र प्रवृत्तियो के रूप मे स्वीकार करना अनुचित होगा। उत्तर-छायावादी काल मे दोनों काव्यधाराए वैयक्तिक कविता का ही विकसित रूप हैं जिनमे व्यक्ति-सत्य अथवा व्यक्ति-यथार्थ की सत्ता एव महत्ता को स्वीकार कर उसे युग-चेतना के अनुरूप अभि-व्यक्ति देने का वैयक्तिक प्रयास है।

९. नई कविता—प्रयोगवादी काव्य 'तारसप्तक' मे शिल्पगत था। उसमे वस्तु की दृष्टि से व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक यथार्थ दोनो की अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल आदि की रचनाओ मे 'प्रगति' अथवा सामाजिक यथार्थ के स्वर मुख्य रूप मे ध्वनित होते है। अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर आदि की कविताओ मे प्रमुखत व्यक्ति-यथार्थ को अभिव्यजना मिली है। दूसरे सप्तक मे आकर 'व्यक्ति-सत्य' का स्वर अधिक गम्भीर एव अधिक व्यापक हो जाता है और तीसरे सप्तक मे सकलित कवियों की रचनाओं मे इसको गहराने की प्रवृत्त ही लक्षित होती है। सामाजिक यथार्थ को व्यक्ति-सत्य की दृष्टि मे आकने तथा व्यक्त करने का प्रयास तीसरे सप्तक के कवियो की विशिष्टता है। व्यक्ति-सत्य को गहराने तथा सामाजिक सत्य को वैयक्तिक दृष्टि से आत्मसात करने के प्रयास को प्रयोगवाद की अपेक्षा 'नई कविता' के नाम से अभिहित किया जा रहा है। अज्ञेय के अतिरिक्त जगदीश गुप्त तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा नई कविता के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे है। इसे प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्ति के विकसित रूप मे भी ग्रहण करने की वृत्ति पाई जाती है। अज्ञेय का नई कविता से सम्बंद्ध होना उनके प्रयोगशील दृष्टिकोण का परिणाम है। इसी कारण उन्होने दूसरे सप्तक की भूमिका मे प्रयोगवाद का काव्य के वाद के रूप मे विरोध किया था और प्रयोग को वाद-विशेष से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। प्रयोगवाद रूढ होकर प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद का रूप धारण करने लगा और गतिशील होकर नई कविता मे विकास पाने लगा है। परन्तु इनके मूल में व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-यथार्थ के विविध स्तर तथा विभिन्न धरातल है। इनका वैयक्तिक काव्य की परम्पराओ के रूप में मूल्याकन करना तथा इनको 'व्यक्ति-सत्य' को व्यजित करने वाली एक ही व्यापक काव्य-प्रवृत्ति की एकसूत्रता मे बाधना उपयुक्त जान पडता है। प्रयोगवाद, नकेनवाद तथा नई कविता की रचना करने वाले कवियो की सूची विस्तृत एव विशाल है। इसमे अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे के नाम 'तारसप्तक' से, शमशेरबहादुरसिह, नरेशकुमार मेहता, धर्मवीर भारती दूसरे सप्तक से, प्रयाग-नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, केदारनाथ सिह, कुवरनारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना तीसरे सप्तक से और इनके अतिरिक्त जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, बालकृष्ण राव, श्रीकान्त वर्मा आदि के नाम नई कविता के अकों से लिये जा सकते है। 'नई कविता' के अको की अनेक रचनाओ मे प्रगतिशील स्वर भी ध्वनित हुआ है जिससे व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक यथार्थ को समन्वित करने का प्रयास भी लक्षित होता है। परन्तु जिस प्रकार 'तारसप्तक' में प्रयोग की समानता होते हुए इन दो मूल काव्य-प्रवृत्तियो मे अन्तर पाटने का प्रयास विफल सिद्ध हुआ था, उसी प्रकार नई कविता मे इनमे विरोध को शान्त करने का प्रयत्न सफल नही हो पाया है। यह सत्य है कि आज भारतीय जीवन मे राजनीतिक दृष्टि से व्यक्ति-हित तथा समाज-मगल मे समन्वय को स्थापित करने के प्रयास हो रहे हैं, परन्तु इस चेतना को गहराने तथा आत्मसात करने के लिए अभी समय की अपेक्षा है। नई कविता की कतिपय रच-नाओ मे व्यक्ति-हित तथा समाज-कल्याण में सामजस्य की स्थिति सहज न होकर कृत्रिम है, आन्तरिक न होकर बाह्य है, गहरी न होकर सतही है। अज्ञेय तथा उनके सहयोगियो ने उत्तर-छायावादी काल मे वस्तु एव शिल्प की दृष्टि से प्रयोग की समस्या को उठाया और उसका समाधान व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि से उपस्थित किया, परन्तु प्रयोगवादियो ने प्रयोग के महत्त्व को स्वीकार करते हुए समाज-मगल की दृष्टि से काव्य-वस्तु का प्रतिपादन किया और काव्य-शिल्प की उपेक्षा की। इस मतभेद के फलस्वरूप उत्तर-छायावादी काव्यधारा विभक्त होकर दो विभिन्न सीमान्तो मे प्रवाहित होने लगी। व्यक्ति-चिन्तन से अनुरजित काव्य-धारा भी उपधाराओं का रूप धारण करने लगी और इनमे प्रयोगवाद तथा नकेनवाद का यथासाध्य स्पष्टीकरण किया जा चुका है। नई कविता भी मूलत व्यक्ति-चिन्तन से सम्बद्ध है। लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा उनके सहयोगी कवियो ने अपने दृष्टिकोण को तीसरे सप्तक के कवियो द्वारा और नई कविता के आलोचनात्मक निबन्धो के माध्यम से इस काव्य-प्रवृत्ति की वस्तुगत तथा शिल्पगत विशेषताओ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तु एव शिल्प किस प्रकार एक-दूसरे को प्रभावित एव रूपायित करते है और किस प्रकार युग-चेतना तथा कवि की जीवन-दृष्टि से निर्धारित होते है यह आलोचना-शास्त्र के लिए एक स्वतन्त्र विषय है। नई कविता की वस्तुगत तथा शिल्पगत विशेषताओ का मूल्याकन उसकी मूल विचारधारा के सन्दर्भ मे अपेक्षित है।

नई कविता को एक काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करने के लिए लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नई कविता के प्रतिमान के रूप मे उसकी वस्तुगत एवं शिल्पगत विशेषताओ़ो का विवेचन किया है। उसकी मूल विचार-धारा एवं जीवन-दृष्टि का विश्लेषण किया है और उसके सौन्दर्य शास्त्र को स्थापित करने के लिए प्रयत्न भी किया है। डा० जगदीश गुप्त ने नई कविता की रचनाओं को प्रसारित कर नई कविता के सम्पादन-द्वारा इस काव्य-प्रवृत्ति को स्वतन्त्र रूप देने में सहयोग दिया है। इसका प्रसार एव प्रचार अन्य पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से भी हो रहा है। इसलिए उत्तर-छायावादी काल मे नई कविता एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत होने लगी है। नई कविता का अधिकांश बहुमुखी होने के कारण अव्यवस्थित प्रतीत होता है, परन्तु इसकी अव्यवस्था मे भी एक नई व्यवस्था को पाने की आकांक्षा है। इसमे अधुनातन परिवेश की अभिव्यक्ति है और इस परिवेश का स्वरूप जटिल एवं बहुमुखी है। इसलिए इसमें अनेक स्वरो की ध्वनि तथा विविध स्तरों का आभास है। नई कविता में वर्गसाँ के चेतनावाद, विलियम जेम्स के चेतना-प्रवाह, आइस्टाइन के सापेक्षवाद, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि के प्रभावस्वरूप युग की जटिल चेतना तथा व्यक्ति की निविड सवेदना को पकडने का प्रयास है। इसलिए लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इस परिवेश को आधुनिकता एव समसामयिकता की सज्ञाओं से अभिहित किया है। नई कविता मे आधुनिकता का भाव-बोध है और इस भाव-बोध की अभिव्यक्ति के लिए उन प्रतीको, बिम्बो आदि का प्रयोग है जो यथार्थ जीवन की उपज है और जिनका सम्बन्ध उस वैयक्तिक भाव-स्तर से है जो क्षण के साथ आन्दोलित होता है। मानवीय सत्य के महत्त्व को स्थापित करने के लिए नई कविता लघु परिवेश तथा छोटे क्षण के प्रति आस्था रखती है। इसलिए नई कविता का उद्देश्य जीवन की नवीन परिस्थिति, उसके नवीन स्तरों एव धरातलो को व्यक्ति-सत्य की दृष्टि से अभिव्यक्ति देना है। इस प्रकार से व्यक्ति-सत्य को रेखांकित कर इसकी मूल विचार-धारा का परिज्ञान हो जाता है। परन्तु व्यक्ति-सत्य को अतिव्यक्तिवादी विचारधारा से भिन्न भी माना गया है। लक्ष्मीकान्त वर्मा नई कविता के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि एक ओर समष्टिवादी विचारधारा और दूसरी ओर अतिव्यक्तिवादी विचारधाराए नव-विकास के लिए घातक है। नई काव्य-चेतना दोनों की अनावश्यक तथा कृत्रिम आकाक्षा के प्रति विद्रोह करती है।[1] समष्टिवाद से आलोचक का आशय प्रगतिवाद से है और अतिव्यक्तिवाद से उनका अभिप्राय प्रपद्यवाद तथा प्रयोगवाद से है। इस प्रकार नई कविता को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप मे स्थापित करने के प्रयास से उसे मतवाद के आग्रह से मुक्त किया जाता है। नई कविता उनकी दृष्टि में सामाजिक स्तर पर भी मानव की व्यक्तिनिष्ठा को स्वीकार करती है और व्यक्ति की विशिष्टता नये भावस्तरों को निजी स्वर देती है। इसमे मात्र शिल्पगत प्रयोग न होकर विषय-वस्तु की नवीनता है और विषय-वस्तु मात्र चमत्कार न होकर एक साक्षात्कार किया हुआ जीवन-सत्य है, और जीवन-सत्य बाह्य-आरोपित न होकर मानवीय स्तर पर अनुभूत सत्य है। जीवन-सत्य स्थिति-विशेष की अभिव्यक्ति है और वह स्थिति स्थिति-शील न होकर गतिशील है।[2] इसलिए एक ओर इसमे छायावाद के उदात्त आदर्शवाद का विरोध है जिसका अमरबेल के समान अपना धरातल नही है और दूसरी ओर प्रगतिवाद के प्रति विद्रोह है जिसमे मानव-विशिष्ट की उपेक्षा है। नई कविता नये भाव-बोध को व्यक्त करने के फलस्वरूप सौन्दर्य-बोध के नये तत्त्वों तथा यथार्थ के नये धरातलों की खोज मे सलग्न है। वह कमल के साथ कीचड़ को भी स्वीकार करती है। छायावादी के लिए जीवन का विरूप पक्ष त्याज्य है, नकेनवादी इससे रस लेता है, प्रगतिवादी इसके द्वारा करुण की सृष्टि करता है, परन्तु नई कविता इसे औचित्य प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त सौंदर्य का रूप भी गतिशील है, इसकी गतिशीलता प्रत्येक क्षण मे अपनी सापेक्षता ग्रहण करती है। सौन्दर्य को यथार्थ से पृथक भी नही किया जा सकता। असुन्दर भी सुन्दर की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सकता है। इस प्रकार सुन्दर का यथार्थ अथवा सत्य से गहन सम्बन्ध होता है और सत्य जीवन की विकासशील प्रवृत्ति है। सत्य यह पृथ्वी है, सत्य इस धरती की सीमाएं है, सत्य मनुष्य का सघर्ष है। यथार्थ को अस्वीकार करना सौदर्य को नष्ट करना है। सौंदर्य को यथार्थ से संघर्ष

---

१. नई कविता के प्रतिमान, पृ० ३७
२. नई कविता के प्रतिमान, पृ० ३४

करना पड़ता है, पुराना रूप खण्डित होता है, नया निर्माण पाता है। इस प्रकार कवि नये स्तरों की अनुभूति पाता है।[1] मानवीय स्तर पर नई कविता न तो वस्तुस्थिति से पलायन करती है और न ही उससे मुक्ति चाहती है। वह मानव-विशिष्टता और विवेक के आधार पर उसके लिए नये स्तरों और सम्भावनाओं को विकसित करती है।[2] इनके महत्त्व को नई कविता स्वीकार करती है। इसमे व्यक्ति की सामाजिक जीवन के साथ स्थापना, कलाकार के अह के प्रति निष्ठा, मानव-विशिष्टता मे विश्वास, जागरूकता तथा बौद्धिक तुष्टि के स्वर ध्वनित होते है। लक्ष्मीकान्त वर्मा 'तार-सप्तक' के अधिकाश कवियों को नई कविता में रखते हैं। नई कविता मे चिन्ता और क्षोभ के स्वर सकटग्रस्त मध्यवर्गीय जीवन की स्थिति का उद्घाटन करते हैं। इस काव्य-प्रवृत्ति तथा काव्य-विकास मे कोरी भावुकता का ह्रास तथा बौद्धिकता का विकास, अलौकिकता का ह्रास तथा लौकिकता का विकास, व्यष्टि तथा समष्टि के सश्लेषण का प्रयास, नये सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति, जीवन के प्रति आस्था तथा यथार्थ के प्रति आग्रह, रूप एवं विरूप दोनो की अभिव्यक्ति, व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण आदि विशेषताए उपलब्ध होती हैं जो इसके वस्तुपक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करती है। इसके शिल्प-पक्ष मे प्रतीकवाद, विम्बवाद, रूपवाद, मुक्त छन्द की गरिमा, अर्थ की लय आदि विशेषताए इसके वस्तु-पक्ष से प्रभावित हैं। नई कविता मे अभिव्यक्ति कही दुरूह एव अस्पष्ट है, कही बौद्धिक तो कही रागात्मक है, कही रसात्मक तो कहीं प्रभावात्मक है, कही साकेतिक तो कही अभिधात्मक है। इस प्रकार यह काव्य-प्रवृत्ति वस्तु एव शिल्प की दृष्टि से अनेकरूपात्मक तथा विविधात्मक है जो एक ओर इसकी अव्यवस्था एवं अराजकता की परिचायक है और दूसरी ओर इसके विस्तार एव विकास की द्योतक है।

१०. गीति-काव्य—उत्तर-छायावादी हिन्दी-काव्य की इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त, जिनमें संक्रान्तिकाल की वैयक्तिक कविता और उसके बाद के प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद तथा नई कविता का विवेचन किया गया है, एक अन्य काव्य-धारा का नाम भी लिया जाता है जिसे गीतिकाव्य की सज्ञा दी जाती है। इसके नये गीति-काव्यकारों मे विद्यावती 'कोकिल', सुमित्राकुमारी सिन्हा, शान्ति मेहरोत्रा, हसकुमार तिवारी, गिरिधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र, नीरज आदि के नाम प्रमुख रूप से तथा अन्य कवियो के नाम गौण रूप से लिये जाते है। गीतिकाव्य छायावाद की विशिष्ट देन है जिसमे भाव की गम्भीरता, कल्पना की उत्कृष्टता तथा कला की गरिमा अपनी चरम सीमा को स्पर्श करती है, परन्तु उत्तर-छायावादी काल मे जिसने नया मोड़ लिया है और सक्रान्तिकाल मे जिसे बच्चन, नरेन्द्र शर्मा तथा 'अंचल' आदि ने छायावादी रहस्यात्मक गीतिकाव्य को लौकिक रूप दिया है और उत्तर-छायावादी काल मे प्रयोगवादियो तथा प्रगतिवादियो की भांति नये गीतकारो ने नई चेतना को अभिव्यक्ति दी है। इस गीति-काव्य को केवल शैली की दृष्टि से एक स्वतन्त्र काव्य-धारा के रूप मे स्वीकार करना अनुचित नही जान पडता, परन्तु इसके मूल मे विचारधारा के आधार पर तथा इसमे व्यक्त वस्तु एवं काव्य-चेतना की दृष्टि से इसे स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप मे प्रतिष्ठित करना मुझे अनुचित जान पडता है। साहित्य की प्रवृत्तियो के वर्गीकरण का मूलाधार उनको प्रभावित करने वाली जीवन-दृष्टि तथा उनमे व्यक्त चेतना आदि ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। यह ठीक है कि नये गीति-काव्य का स्वरूप परम्परागत हिन्दी गीति-काव्य से भिन्न है। इसमे प्रेम नित्य जीवन का प्रेम है। वह न तो तलवारो की छाया मे पलने वाला वीरता से उद्भूत है, न ही निर्गुण-सगुण के प्रति आत्मनिवेदन है, न ही अभिसारिकाओं की प्रणय-याचना है और न ही रहस्यलोक को आलोकित करने वाला कोमल भाव है। इसका स्वरूप लौकिक, विश्वसनीय तथा मानवीय है। इसकी विफल स्थिति मे निराशा का गम्भीर स्वर है और इसकी सफल अवस्था मे उल्लास का सहज स्वर है। इसमे व्यथा की अनुभूति पर विजय पाने की उत्कट आकाक्षा है और दु ख के उन्नयन की प्रवृत्ति है। अधिकाश गीतकारो मे मानवता की भावना उनके उदार दृष्टिकोण का परिणाम है जिसमे चिन्तन की गहन मात्रा है। इनमे जीवन की व्यापक उलझनों तथा कठोर सघर्ष के ओज की अभिव्यक्ति की क्षमता इतनी उपलब्ध नही होती जितनी कोमल भावनाओ एव सुकुमार कल्पनाओ के वहन करने की शक्ति दृष्टिगत होती है। गीत प्राय प्रतीक-प्रधान तथा बिम्बप्रधान है जो

१. नई कविता के प्रतिमान, पृ० १०७
२. नई कविता के प्रतिमान, पृ० ११६

नई चेनता को व्यक्त करने के लिए अधिक उपयुक्त है। जीवन के मनोवैज्ञानिक सत्यो को मुखरित करने के लिए मुक्त-छन्द का प्रयोग अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। मुक्त छन्द अपनी अराजकता की अवस्था को पार कर चुका है और अब वह स्वय एक सतुलित लय और सगीत-प्रवाह से युक्त होकर विकास पा रहा है। गीतिकाव्य में मुक्तछन्द रचना छन्दहीन नही कही जा सकती। इसे सरल समझकर कोरी गद्य-रचना को मुक्तछन्द रचना की संज्ञा देना अनुचित है। गीतिकाव्य मे गहरी अनुभूति एव सजग चेतना जिस भावोद्गार के वेग को बौद्धिक सतुलन के साथ एक लयमय रूप प्रदान करती है वह मुक्तछन्द का सहज रूप है। मुक्त छन्द ने इन कवियो का पथ नये छन्दों की रचना के लिए भी प्रशस्त कर दिया है। इस प्रकार गीतिकाव्य की धारा एक नया मोड़ लेकर अधुनातन युग-चेतना को व्यक्त करने मे प्रयासशील है और इस युग-चेतना का स्वरूप व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक-यथार्थ दो मूल प्रवृत्तियो अथवा विचार-धाराओ मे लक्षित होता है। नये गीतकारो मे तारा पांडे की रचनाओ में वेदना की सहज एव मार्मिक अभिव्यक्ति है। नारी की विवशता कही त्याग, कही उदासी, कही अनुताप, कही आकुलता, कही खीझ और कही आंसू का रूप धारण करती है। विद्यावती 'कोकिल' ने वासना को भक्ति का अग मानकर जीवन से भक्ति का सम्बन्ध स्थापित किया है। भक्ति मे निराकार-साकार की समस्या का अभाव है। उनके काव्य मे समस्त जीवन की पूजा है और लौकिक प्रेम की अनुभूति है। महादेवी लौकिकता से अपना अचल बचाकर निकल जाने का प्रयास करती है, परन्तु 'कोकिल' लौकिक प्रेम को भक्ति का रूप देती है। सुमित्राकुमारी सिनहा अभय होकर लौकिक प्रेम को स्वीकार करती है और उनकी विफल अनुभूति मे निराशा एव मरण के स्वर भी झकृत होते है। सिनहा व्यक्तिगत प्रेम से व्यापक प्रेम की ओर उन्मुख होकर उसे शक्ति के रूप मे उद्घाटित करती है। शान्ति महरोत्रा के गीतो का मुख्य विषय भी प्रेम है जिसका स्वरूप अन्य नये गीतकारों की भाति व्यक्तिगत एव लौकिक है। इन्होने प्रेमी मे सासारिकता को देखा है और प्रेमिका मे साधना की वृत्ति को आका है। वह नारी मे अगाध सहन-शक्ति का आभास पाती है। उनकी दृष्टि मे एक सफल कवि के लिए असफल प्रेम की अनुभूति पाना आवश्यक है। हसकुमार तिवारी के गीत-सग्रह 'अनागत' मे वस्तु एव शिल्प की दृष्टि से छायावादी काव्य की विशेषताए उपलब्ध होती है। बालस्वरूप 'राही' के गीतो मे जीवन के सुख-दु ख की सहज एवं सरल अभिव्यक्ति है। रामावतार त्यागी गीत को सगीत से पृथक करने के पक्ष मे नही है। उनकी दृष्टि मे सबसे बडा गीतकार महानतम भावो को सरलतम शब्दो मे व्यक्त करने की क्षमता रखता है। ललित गोस्वामी ने अपने गीतो की रचना गेयता की दृष्टि से की है जिनमे स्वर के आरोह-अवरोह का आधार भारतीय सगीतशास्त्र है। वीरेन्द्र मिश्र के गीतो मे चिन्तन भी उभर कर आया है। शम्भुनाथसिह का गीति-काव्य मे विशिष्ट स्थान है। उनके गीत-सग्रह 'छाया लोक' मे छायावादी काव्य की विशेषताए उपलब्ध होती है। इस काव्य-सग्रह मे उनके व्यक्तिगत जीवन के भाव-अभाव, आशा-निराशा, सयोग-वियोग, आनन्द-वेदना के गीत स्वरित हुए है और 'उदयाचल' (१६४६) मे सामाजिक जीवन के धरातल पर व्यक्तिगत जीवन के विश्वास तथा समष्टिगत जीवन की प्रेरणा तथा प्रगति की भावनाएं स्वरो मे लहरा उठी है। वह अपनी काव्य-चेतना को किसी वाद-विशेष की सीमा में बांधने के विरोधी है। 'दिवालोक' के गीतो मे कवि के वैयक्तिक सुख-दु ख, हास-रुदन की अभिव्यक्ति है, परन्तु कवि अपनी वैयक्तिक चेतना की सीमाओ से सघर्ष करता हुआ लोक-चेतना को आत्मसात करने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार गीति-काव्य की धारा विविध भाव-भूमियो को पार करती हुई विभिन्न दिशाओ मे प्रवाहित हो रही है। इस नये गीति-काव्य को स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप मे स्वीकार न कर समस्त उत्तरछायावादी काव्य को मूलत· गीति-काव्य की संज्ञा मे भी अभिहित किया जाता है। परन्तु यह धारणा गीति-काव्य के स्वरूप तथा उसकी परिभाषा पर ही आश्रित है। यदि गीति-काव्य से आशय उस काव्य से है जो कथात्मक न होकर मुक्तक है तो इस मत को स्वीकार करने में सकोच न होगा। परन्तु गीति-काव्य को एक सीमित परिधि मे बाधकर उसे एक उपकाव्य-धारा के रूप मे आंकना उपयुक्त जान पडता है। उत्तरछायावादी काल में गीति-काव्य मे वस्तु-पक्ष प्राय. अलौकिक मे लौकिक की ओर, आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख रहा है। इसे अधिकाधिक मानवीय भावनाओ की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जा रहा है और इसमे बौद्धिकता के अनुपात की भी वृद्धि हो रही है।

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध मे उत्तरछायावादी काव्य की प्रवृत्तियो को समझने तथा स्पष्ट करने का प्रयास है। इनके पक्ष तथा विपक्ष मे आचार्यों, आलोचकों तथा स्वय कवियो ने अपने-अपने मतो का प्रतिपादन करने के लिए काव्य की मूल समस्याओं को भी उठाया है। भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तो के आधार पर इन काव्य-प्रवृत्तियो का मूल्याकन भी किया गया है। इस मूल्याकन के मूल मे दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराए दृष्टिगत होती है—एक जीवन-दृष्टि व्यक्ति-हित के चिन्तन से अनुप्राणित है और दूसरी समाज-कल्याण की विचारधारा मे प्रभावित है। प्रयोग, प्रगति, परम्परा, रूढि, साधारणीकरण रागात्मकता, अभिव्यक्तिवाद, सगीतात्मकता, लयात्मकता, बौद्धिकता, रसवादिता आदि काव्य-सम्बन्धी तत्त्वो का विश्लेषण, विवेचन तथा मूल्याकन इन दो मूल दृष्टियो के आधार पर सम्पन्न हुआ है। इनमे मतभेद की स्थिति भी इन दो परस्पर-विरोधी जीवनदृष्टियो का परिणाम है। प्रयोग तथा प्रगति की सत्ता तथा महत्ता को दोनो पक्ष स्वीकार करते है, परन्तु परम्परा के सम्बन्ध मे इनकी धारणाओ मे अन्तर गहराने लगता है। रूढि का भी दोनो विरोध करते है। व्यक्ति-हित से सम्बद्ध विचारधारा से प्रभावित होकर साधारणीकरण की समस्या को विशेषीकरण का रूप देकर इसे काव्य में प्रेषणीयता की समस्या के रूप मे उद्घाटित करते है, रागात्मकता से भाव-प्रवणता का बहिष्कार कर उसे बौद्धिकता से युक्त करते है, सगीतात्मकता एव लयात्मकता को बाह्यारोपित न मानकर उसे आन्तरिक स्वरूप प्रदान करने में विश्वास रखते हैं और परम्परा को प्राय रूढि के रूप मे आक कर उससे सम्बन्ध तोड़ देने के पक्ष मे है। समाज-मंगल की भावना से प्रेरित होने वाले आलोचक परम्परा से अटूट सम्बन्ध स्वीकार कर जन-मन से विभिन्न होने के पक्ष मे नही है। इसी कारण आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी नई कविता मे वस्तुमुखी या सामाजिक सत्ता का अभाव और युग-जीवन के प्रति विरक्ति पाते है। उनका मत है कि साधारणीकरण के मूल मे सामाजिक एव सामूहिक सवेदना ही होती है। नई कविता को वह हिन्दी-काव्य की नई शैली के रूप मे स्वीकार करते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी समाज-कल्याण की भावना से प्रभावित होकर व्यक्तिवाद से अनुप्राणित छायावादी काव्य को भी शैलीमात्र की सज्ञा प्रदान की थी। परन्तु धीरे-धीरे आचार्य नन्ददुलारे ने छायावादी काव्य की उपलब्धियो को स्वीकार किया और उनका मूल्याकन भी प्रस्तुत किया। इसी प्रकार उत्तरछायावादी काव्य की प्रवृत्तियों की समीपता के कारण उनका मूल्याकन अधिक सहानुभूति तथा निष्पक्षता की अपेक्षा रखता है। उत्तर-छायावादी युग मे सक्रान्तिकाल से लेकर आज तक जिन काव्य-प्रवृत्तियो का प्रतिपादन हुआ है उनके मूल मे व्यक्ति-सत्य तथा समाज-सत्य की दो परस्पर-विरोधी धाराए लक्षित होती है और इनके आधार पर ही हिन्दी की काव्य-प्रवृत्तियो का वर्गीकरण समीचीन जान पडता है। इन दो मूल जीवनदृष्टियो के अन्तर को पाटने के लिए राजनीति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व मे अनेक प्रयास हो रहे है, परन्तु अभी तक पारस्पिरिक विरोध की स्थिति समन्वयशील न होकर सह-अस्तित्व की ओर उन्मुख है। भारतीय समाज मे व्यक्ति-हित तथा समाज-मगल को समन्वित करने के लिए विविध प्रयोग हो रहे है जिनके भावी विकास पर किसी निश्चित मत को प्रकट करना ज्योतिषी, मनीषी अथवा आचार्य को अधिक शोभा देता है। इसमे सन्देह नही है कि अधुनातन काव्य-प्रवृत्तियो मे युग-चेतना को अभिव्यक्ति अवश्य मिली है, उसका स्वरूप भले ही विशिष्ट एव परिमित हो। उत्तरछायावादी काव्य की इन दो मूल प्रवृतियों के सदर्भ मे काव्य की अन्य उप-प्रवृत्तियो को आंकने से उनका मूल्याकन अधिक युक्तिसगत तथा स्पष्ट हो सकता है।

साहित्य की प्रतिक्रिया

डा० देवराज उपाध्याय

किसी भी रचना के सम्बन्ध मे कितने ही तरह के मतभेद हो सकते है परन्तु इससे सभी सहमत होगे कि पाठक पर उसका प्रभाव पडता है, उसमे किसी तरह की प्रतिक्रिया जगती है और वह एक विशेष ढग से प्रतिक्रिया-तत्पर होता है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' ने हृदय मे प्रेम और भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित कर दी, सूर के 'भ्रमरगीत' ने पाठक को विरह-रस से आर्द्र कर दिया और बिहारी की शृंगारिक फुहारो ने हृदय को मह-मह कर दिया, भूषण के उद्बोधनो ने डूबते प्राणो मे भी वीर-रस का सचार किया। तुलसी ने भक्तिपरक कविता की, पाठक ने भक्ति के भाव ग्रहण किए; सूर ने शृगार (विप्रलम्भ) का रस-राजत्व दिखलाया, पाठक को विरह-रसास्वादन मिला, बिहारी ने शृगार काव्य लिखा, पाठक को शृगार रस मिला; भूषण ने युद्ध के गीत गाए, पाठक मे वीरत्व के भाव जगे।

इन सब उदाहरणो से हम किस परिणाम पर पहुचते हैं? यही न, कि जिस तरह का वर्ण्य विषय होगा उसमे अपने अनुरूप प्रतिक्रिया जगाने की शक्ति होगी। अमुक भाति का विषय, अमुक भाति की प्रतिक्रिया। ठीक उसी तरह से जिस तरह विज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में उत्तेजक वस्तु (Stimulus) तथा प्रतिक्रिया (Response) वाला सिद्धान्त काम करता है। बिल्ली ने चूहे को देखा, झपट पडी। यहा चूहा उत्तेजक पदार्थ का काम करता है, झपट पड़ना प्रतिक्रिया है। Respons है जो बिल्ली में जागरित होती है। कविता को चूहे के स्थान पर रख लीजिए, पाठक को बिल्ली के स्थान पर। बस, जिस साहित्यिक प्रतिक्रिया के सन्दर्भ मे हम विचार कर रहे है वह बात स्पष्ट हो जायगी।

आज का युग यत्रो का युग है। अधिकाश मानव-व्यापार और व्यवहार यन्त्रो के द्वारा परिचालित होते है। यन्त्र के द्वारा गृह को आलोकित किया जाता है, उसे साफ-सुथरा किया या बुहारा जाता है। हमारा भोजनाच्छादन, अध्ययनाध्यापन, गमनागमन, आदान-प्रदान सब कुछ यन्त्राधीन है। ऐसी परिस्थिति मे मनुष्य की बुद्धि अथवा मस्तिष्क की प्रतिक्रिया पर भी यन्त्रो का प्रभाव पड़े और वह यन्त्रो के सन्दर्भ मे सोचने लगे तो आश्चर्य की बात नहीं। आपने किसी यन्त्र मे कपडे डाल दिए, सिला-सिलाया तैयार सूट आपके सामने आ गया, मशीन मे आपने लोहे के टुकड़े रखे और बना-बनाया लोहे का बर्तन तैयार। तब हम यदि यह सोचने तथा विश्वास करने के लिए तत्पर हो, जाए कि युद्ध-विरोधी साहित्य, अर्थात उस साहित्य से जिसमे युद्ध का बडा ही भयावह चित्रण किया गया हो युद्ध-विरोधी भावो का प्रचार होगा, शान्ति-पाठ से शान्ति उत्पन्न होगी, क्रान्ति से क्रान्ति, प्रेम-चित्रण से प्रेम, घृणा से घृणा, तथा ईर्ष्या से ईर्ष्या की उत्पत्ति होगी तो यह अस्वाभाविक ही कहा जा सकता है। मनुष्य को मशीन बना देने की तथा उसे यन्त्रवत प्रतिक्रिया-तत्पर होते देखे जाने की प्रतिक्रिया कई शताब्दियो से चल रही है उसे हम Sitmulus और Response की सीमा मे देखने लगे है।

पर वास्तव मे प्रश्न यह है कि मानव पर क्या इस सस्ते तथा सरल ढग से विचार करना भी होगा? क्या वह इतने सीधे-सादे ढंग से परिचालित होता है कि बटन दबाया और रोशनी जल गई? यदि एक क्षण के लिए यह मान भी ले कि वह ऐसा ही सीधा-सादा तथा भोला-भाला प्राणी है और व्यावहारिक जगत मे वह इसी तरह आचरण करता है तब भी प्रश्न यह उठता है कि साहित्यिक जगत में प्रवेश करने पर भी वह साधारण सासारिक व्यक्ति ही बना

रहता है ? क्या साहित्यिक जगत और साधारण ससार मे कोई अन्तर नही ? व्यक्ति और पाठक एक ही है ? बाजार से सौदा खरीद कर लाने वाले, पेट काटकर एक-एक पैसा जोडकर बैंक-बैलेंस बढाने वाले, ईट का जवाब पत्थर से देने वाले और कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' पढ़ने वाले में या महादेवी वर्मा की कविता पर सर धुन-धुन कर रोने वाले में कोई अन्तर नहीं ?

इस प्रश्न की ओर हमारा ध्यान हठात इसलिए भी आकर्षित होता है कि जब हम विश्व-साहित्य की अमर तथा प्रभावोत्पादक एव मानव की भावात्मक सत्ता पर सर्वाधिक अधिकार करने वाली कृतियो को देखते है तो पाते है कि वे दुःखान्त है, Tragedies हैं, उनमे नायक का पतन है मानो प्रकाश पर अन्धकार की विजय हो। हा, सुखात्मक कृतियां भी हैं, Comedies भी है जिनमे उल्लास के गीत गाये गए है, प्रणयोच्छ्वास की कथाए कही गई है ? हमे गुदगुदाने की चेष्टा की गई है, जीवन के सुखमय तथा उज्ज्वल पक्ष का ही चित्रण किया गया है। पर ये प्रभाव की दृष्टि मे उतनी महत्त्वपूर्ण नही रही है और लोगो के हृदय की गम्भीर तृप्ति के साधन बनने का गौरव नही प्राप्त कर सकी है। यह विरोधाभास कैसा ? लोगों को कहते तो यही सुना है **'रोपें पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते होय'**। पर हम बबूल का पेड रोपते हैं और उसमें आम का फल लगता है; वह करुणा जो **भवभूति** से अधिक मूल्य नही रखती उसका उत्तर विश्व की विभूति बन जाता है। जीवन की जुगुप्सा साहित्य मे आकर रस का उद्रेक करने वाली किस तरह हो जाती है ?

इस प्रश्न पर इस ढग से विचार कीजिए। हमे युद्ध-विरोधी साहित्य का प्रणयन करना है। हम चाहते है कि ऐसी कहानी की रचना करे या कविता लिखे जिसे पढकर पाठक मे युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न हो और लोग अपनी मनोवृत्तियो को विश्व-शान्ति की ओर केन्द्रित करे। हमे क्या करना चाहिए ? अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए क्या यह ठीक होगा कि युद्ध की विभीषिका का उग्र वर्णन उपस्थित किया जाय ? इसके द्वारा जो जन-धन की अपार क्षति होती है उसका भयावह चित्रण किया जाय ? हिरोशमा तथा नागासाकी का जीता-जागता चित्र खीचकर रख दिया जाए ? क्या ऐसा करने से हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे ? युद्ध का दूसरा पक्ष भी होता है। युद्ध के कारण हमारे अदर प्रसुप्त वीरत्व के भाव जाग पडते है, देश, जाति, राष्ट्र तथा किसी सिद्धान्त के लिए सर्वस्व की आहुति कर देने की प्रवृत्ति भी जागृत होती है, सगठन मे दृढता आती है, एकता की भावना बढती है, हम अनुशासन का महत्त्व सीखते है। इस रूप को भी अपने वर्णन मे स्थान दिया जाय तो क्या पाठक में युद्ध के प्रति आकर्षित होने तथा उसमे युद्धप्रियता के भाव उत्पन्न होने की सम्भावना है ? युद्ध का मानवीय वर्णन क्या पाठको मे युयुत्सा के भाव उत्पन्न करेगा ?

इसका दो-टूक उत्तर देना कठिन है। पर यदि कोई यह कहता है कि युद्ध के दुर्धर्ष तथा लोमहर्षक वर्णन से युद्ध के प्रति आसक्ति के भाव उत्पन्न होने की आशका है तो हम उसमे निहित सचाई के प्रति उदासीन नही हो सकते। यह बात युद्ध ही के लिए नही, सब तरह के भावों के लिए लागू हो सकती है। कम-से-कम यह तो सही है ही कि किसी भी विषय की भीषणता, कष्टप्रदायकता तथा पीडोत्पादकता मे नैसर्गिक रूप से तद्विरोधत्व या तद्बाधकत्व रहता है। इस सिद्धान्त को ठीक मानने मे कई तरह की अडचने हो सकती हैं।

पहली बात तो यही है कष्ट और पीडाए पाठक के हृदय मे वीरता के भावो के लिए आधार प्रस्तुत कर सकती है। यह साधारण सी बात है कि वीरगण अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए बडे-से-बडे बलिदान के लिए तैयार रहते है, कठिन-से-कठिन परिस्थितियो का सामना करते है, देशभक्ति के उन्माद मे हमने स्वयसेवको को पुलिस की सगीनो को हँसते-हँसते छाती पर लेते देखा है। अर्थात, समीकरण यह हुआ कि जितना ही अधिक कष्ट, बलिदान और पीड़ा; उतनी ही बडी वीर-जयमाला। वीर को कष्ट सहना पडता है इस सिद्धान्त से जरा-सा खिसक कर इस सिद्धान्त पर आ जाना कठिन नहीं कि जो कष्ट सहता है वह वीर है। अत. वीर कष्ट से डरे क्यो ? ठीक है, युद्ध मे कष्ट उठाना पड़ता है, जन-धन-संहार होता है, नगर-के-नगर उजाड हो जाते है। तो इससे क्या ? इश्क मे लाखो-हजारो बस्तिया फुक जाती है। आशिक शायद ही कभी फूलता-फलता हो पर इससे क्या, वह अपने प्रेमपथ से विचलित होगा ? नही।

मै एक सच्ची घटना बताऊ। मै बहुत ही कायर व्यक्ति हू मै सदा यही सोचता हू कि यदि विपत्तियां सामने

ग्राकर खड़ी होजाएं तो क्या करूंगा ? दुम दबा कर भाग जाऊंगा या डटकर उनका सामना करूंगा ? मैं जब कांग्रेस में काम करता था ग्रौर कभी-कभी जब सरकार-विरोधी भाषण देता था तो यही सोचता था कि पुलिस गोली चलाने लगे तो क्या होगा ? इसी तरह की दोलायमान चित्तवृत्ति में मैंने ग्रपने एक ग्रार्यसमाजी ग्रौर कांग्रेसी मित्र से ग्रपनी बात कही ग्रौर पूछा कि कृपया बतलाइए, कि इस परिस्थिति में ग्रापकी प्रतिक्रिया क्या होगी ? उत्तर में उन्होने जो कहा, वह ग्राज भी मेरे कानो में गूज रहा है। उन्होंने कहा कि जब तक विपत्ति नही ग्राई रहती है, पुलिस की बन्दूक नही उठी रहती है तब तक तो चित्त जरा चंचल रहता है जरूर, पर जब भय की सामग्री सामने ग्रा खड़ी होती है तो चित्त स्थिर हो जाता है, उस समय कोई विकल्प नही रह जाता। बस, भय के मुख को पकड़ने की ही बात रह जाती है।

इन बातों को जब मै ग्राज ग्रपने स्मृति-पटल पर लाता हू तो दो कविताएं बरबस याद ग्रा जाती हैं : एक सस्कृत का श्लोक है ग्रौर दूसरा उर्दू का एक शेर। सस्कृत का श्लोक यो है :

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद् भयमनागतम्।
ग्रागतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्यात् यथोचितम्॥

उर्दू का शेर यो है

रग-रग तड़प रहा है नया रंग देखकर,
कातिल भी है, छुरी भी है, मेरा गला भी है।

बाते तो ग्रौर भी याद ग्राती हैं जिनमें एक यह भी है कि जब खुदीराम बोस फांसी के तख्ते पर चढ रहे थे तो प्रसन्नता के कारण उनके शरीर के भार मे ग्रभिवृद्धि हो गई थी।

इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत समस्या पर विचार करें तो क्या ऐसा ग्रनुमान नही होता कि मनुष्य में कष्ट सहने की, दुःख से उलझने की, दुख को पछाड़ कर विजय-सुखानुभूति प्राप्त करने की नैसर्गिक ग्राकाक्षा होती है ग्रौर वह ग्रपना भोजन मागती है ? क्या शिवजी हलाहल को प्रसन्नतापूर्वक नही पी जाते है, गले में सर्पों तथा कबन्धो की माला धारण करके ग्रानन्दित नही होते है, श्मशान-भूमि में रुण्ड-मुण्डो से क्रीडा नही करते एव ताण्डव कर प्रलयकर नही बन जाते ? तब हम यह कैसे कह सकते है कि किसी वस्तु का भयावह चित्रण कर, उसकी विभीषिका दिखला कर, रक्त की नदिया बहा कर हम पाठक के हृदय मे भय का सचार कर देंगे, उसके हृदय मे घृणा-विराग के भाव उत्पन्न कर देंगे। ऐसा भी मान लेने के लिए पर्याप्त ग्रवसर है कि जिस विभीषिका को खून मे रग कर हम लाल कर रहे हैं वह इतना चमक उठे कि उसमे रस पड जाय ग्रौर ग्रापको वह ग्रपनी ग्रोर खीचने लगे।

इस पहलू पर विस्तारपूर्वक तो एक क्षण बाद विचार होगा, पर इस दृष्टि से भी क्यों न सोचे कि किसी विषय का ग्रतिचित्रण, **रसस्य युक्तिः पुनः पुनः** मानसिक कुण्ठा भी उत्पन्न कर सकती है, बुद्धि की धार को भोथर भी कर सकती है। मानस की वह दशा कर दे सकती है कि वह वर्णित विषय के प्रति उदासीन हो जाय ग्रौर उसके प्रति किसी प्रकार का क्रिया-तत्परत्व उसमें ग्रा ही नही सके। उदाहरण के लिए, ग्रग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार टॉमस हार्डी के प्रसिद्ध उपन्यास Tess of the D' Urbervilles को लीजिए। टेस पर मानो खुदा की मार है। वह जन्मजात ग्रभागिन है। जहा कहीं भी जाती है वहा दुर्भाग्य उसका पीछा करता है। ऐसा लगता है कि नियति ने उसे इसीलिए निर्मित किया है कि उसके साथ दारुण तथा लोमहर्षक खेल खेला जाय। हम एक बार देखते हैं कि वह विपत्तियों का शिकार हुई, हमे उसके साथ सहानुभूति होती है। पर जब हम बार-बार उसे विपत्तियों मे पड़ते देखते है, उसने सुवर्ण का स्पर्श किया नही कि मिट्टी बन गया, तब हममे एक मनोवैज्ञानिक ग्रौदासीन्य (Psychological Callus) ग्रा जाता है। हम कहा तक सहानुभूति दे ! यदि वह इसी के लिए बनी है तो हम क्या करे ! ऐसी मनोवृत्ति हो जाती है। एक बार भी भाग्य ने टेस का साथ दिया होता तो बात भी थी।

जैनेन्द्र ने **'त्यागपत्र'** में किसी की डायरी हाथ लग जाने की बात कही ग्रौर विश्वास दिलाया कि उस डायरी को जरा सम्पादित कर वह प्रकाशित कर रहे हैं, तो बात समझ में ग्राई ग्रौर पाठकों ने उसे सत्य समझ कर उस पर विश्वास भी किया। पर बार-बार जब वही बात होने लगी, **कल्याणी** में भी वही बात, यहां तक कि ग्रागे **जयवर्धन** में भी

वही बात, तो पाठको के लिए इस भ्रम के जाल को तोड़ना सहज हो गया और अब उनमे इस तरह के कौशल के प्रति उदासीनता आ गई।

मान लीजिए कि कोई कवि **युद्ध**-**विरोधी अथवा** पूजीवाद-विरोधी महाकाव्य लिख रहा है, यह निश्चित है कि उसे बाध्य होकर युद्ध की दारुणता, महानाश, प्रलयकरता का अतिमात्रिक चित्रण करना ही पडेगा। वह इससे पीछा छुड़ा ही कैसे सकता है जब वह उसी के लिए प्रतिश्रुत है। पूजीवादी शोषण के भयानक दृश्यो का चित्रण करना ही पड़ेगा। लेखक के बावजूद भी उसकी कलात्मक प्रतिभा का एक बृहद भाग दूसरी ओर प्रेरित होगा। जब ऐसी बात अनिवार्य है तो यह भी सही है कि उस वर्णन मे एक शक्ति होगी, आकर्षण होगा, उसमे अपील होगी, वह आमन्त्रित करता-सा जान पडेगा और पाठक के हृदय मे वह भाव जगेगा जिसे भयकरता के प्रति मोह (Fascination for ugliness) कह सकते है। हमने देखा है कि साप कितने भयकर होते है, पर उनके व्यवहार से ऐसा भी लगता है कि उनकी भयकरता मे पक्षियो को सम्मोहित करने की शक्ति भी होती है। दीपक की लौ कितनी गर्म होती है, जला देने वाली होती है पर उसमे सम्मोहन भी होता है जो परवानो को अपनी आहुति देने के लिए प्रेरित करता है।

साहित्य के क्षेत्र में ऐसी घटनाए न घटी हो सो भी बात नही। मिल्टन के पाठको से यह बात छिपी नही है कि वे साहित्य के द्वारा, विशेषत Paradise lost तथा Paradise Regained के द्वारा शैतान पर धार्मिकता की विजय का निर्घोष करना चाहते थे, पर साहित्य मे कुछ एसी रहस्यमयी क्रिया हुई है कि शैतान अपनी शैतानियत की विकरालता एव दुर्धर्षता के साथ, बल्कि उसी के कारण, आकर्षक बन बैठा है। कौन नही जानता कि शेक्सपियर ने शाइलक को कितना गिराना चाहा है, कितनी गहरी काली स्याही उस पर पोतनी चाही है। पर यह जो शाइलक है, वह शेक्सपियर के चगुल से किसी-न-किसी प्रकार निकलकर पाठक की सहानुभूति पर अधिकार करने लगा है। विद्यार्थियो को न जाने कितनी बार Shylock was more sinned against than sinning? इस प्रश्न का उत्तर देना पडा होगा। अर्थात, शाइलक उतना अपराधी नही जितना कि उसके विरुद्ध अपराध किया गया है।

प्रेमचन्द **'गोदान'** मे अपनी सारी सहानुभूति **होरी** को देना चाहते थे, पर बात कुछ ऐसी हुई कि **मालती** का चित्रण अधिक सरस हो उठा और वह चोरी-चोरी दबे-पाव आकर पाठक की सहानुभूति की अधिकारिणी हो उठी। चूकि **मालती** जिस अधिकार का दावा पेश करती है उसमे एक कौशल है, सफाई है, तर्जे-अदा है, अत उसमे व्यग्य या ध्वनि का मजा है। **होरी** मे वाच्यार्थ है तो मालती मे व्यग्यार्थ है। **मालती** अपने अधिकार को व्यग्यत्व की दशा तक पहुचा देती है, **होरी** मे तो ज्यादा गुणीभूत व्यग्य ही है। **मालती** अधिकार के लिए लडती तो है पर हाथ मे तलवार नही लेती है इसीलिए इसकी सादगी पर मर जाने की इच्छा हो जाती है। **होरी** तो शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित हो प्रेमचन्द के नेतृत्व मे सेना लेकर हमारे हृदय की सहानुभूति पर धावा बोलता है।

मनुष्य के स्वभाव मे ही विरोधाभास रहता है। उसके भीतर सदा ही दो विरोधी प्रवृत्तियो मे सघर्ष चला करता है। वह जिसे प्यार करता है उसके प्रति घृणा के भाव भी इसमे कही-न-कही पलते रहते है। वह आखो मे आसू भरकर हँसता है और खिल-खिलाकर रोता है। इस विरोधाभास को हम एक भूल, गलती, त्रुटि या दोष कह कर ही सन्तोष नही कर ले सकते। यह उसकी जैविक अनिवार्यता है, Biological necessity है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जिस तरह से उन्हे निसर्ग से अन्य प्रवृत्तिया मिली है, उसी तरह यह भी उनमे से एक है।

यही देखिए न! प्रकृति ने हमे उन सब साधनो से सम्पन्न किया है जिनसे हम सुरक्षित रह सके, सर्वप्रयोजन-मौलिभूत आनन्द को प्राप्त कर सके, शिशिर ऋतु मे भी बिस्तर पर पडे-पडे लिहाफ की गरमी का मजा ले सके। पाच ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रिया सब हमारे सुखसम्पादन मे सहायता देने के लिए प्रस्तुत है। ये हमारे लिए वरदान-स्वरूप है। पर प्रकारान्तर से अभिशाप भी है। कारण कि इनका अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि इन साधनो के प्रयोग के लिए क्षेत्र चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि इन साधनों के चलते ही, इन्ही के कारण ही हमारे अन्दर एक सघर्ष, युद्ध, छटपट, त्वरा, यह कर, वह कर सदा चलता रहेगा। जब तक यह हलचल बनी रहेगी तब तक हमे कहा शान्ति, कहां चैन की सांस! भूत तो हमारे बस मे हो गया है अवश्य और वह ऐसा शक्ति-सम्पन्न है कि हमारे मुह से कोई आज्ञा

निकली नही कि उसने पूरी करके दिखला दी। पर उसे तो काम चाहिए। काम नही होगा, वह व्यस्त नहीं रहेगा तो व्यक्ति को ही खाएगा। अत कम-से-कम उसे काम देने की, व्यस्त रखने की ही चिन्ता हमे खाती रहेगी। कहां हमने भूत को इसलिए बस मे किया था कि हमे सुख होगा, पर वही दुःख का कारण हो गया। यही मानव है और उसका जीवन विरोधो का पुज!!

हम उन विरोधो मे से किसी को भी घृणा की दृष्टि से नही देख सकते। ये विरोध हमारे जीवन के मूलाधार हैं, इनमे से हम किसी को छोड नही सकते। और यदि इन्हे जीवन मे नही छोड सकते तो साहित्य मे ही कैसे छोड़ सकते है, जो जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करता है।

तब साहित्यिक क्या करे? यदि युग के श्यामल, ध्वसकारी, जुगुप्साजनक चित्रण उपस्थित करने से उसके प्रति अनुराग होने तथा पाठक मे युद्ध-मनोवृत्ति के उत्पन्न होने की सम्भावना है, तो क्या यह भी सम्भव है कि युद्ध के प्रति नये दृष्टिकोण रखने, अर्थात उसके कोमल चित्र खीचने से, उसके दिव्य तथा उन्नत पहलू दिखलाने से, उसका गुणानुवाद करने से युद्ध के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो और हमे शाति के उपासक होने मे सहायता मिले। यदि युद्ध के मानवीय पक्ष को दिखलाया जाय, युद्धजन्य परिस्थितियो के कारण पारस्परिक सगठन की भावना का विकास दिखलाया जाय, कष्टसहिष्णुता की अभिवृद्धि की बात कही जाय, आत्मशक्ति और पौरुष का चमत्कार दिखलाया जाय तो पाठक पर कैसा प्रभाव पडे?

जो हो, इतना अवश्य है। ऐसे साहित्य के द्वारा युद्ध-जैसी दुर्धर्ष तथा भयकर वस्तु के प्रति भी एक शांतिमय दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति जगेगी। हम युद्ध को भी सास्कृतिक दृष्टि से देखना सीखेगे। इस सास्कृतिक दृष्टिकोण का विकास बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। हम युद्ध के वातावरण मे भी शाति की झलक पायेगे मानो अधकार मे प्रकाश की रेखा चमक रही हो। और जब अन्धकार मे प्रकाश की रेखा चमकेगी तब वह प्रकाश की बाढ में छिप जाने वाली रेखा मे कही अधिक प्रभावोत्पादक होगी। हम मे आलोचनात्मक मूल्याकन के भाव जगेगे और साथ ही हृदय मे इस बात की ध्वनि उठेगी कि मानवता की सच्ची सेवा शाति के साधनो मे ही होगी, युद्ध के उपादानो से नही।

शाति यदि युद्ध से श्रेष्ठ है, उच्चतर है, अधिक वाञ्छनीय है तो इसका सबसे अधिक प्रामाणिक आधार इसी बात से दे सकते है कि इस युद्ध के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण शातिपूर्ण है, विद्वेषयुक्त या घृणापूर्ण नही। बिच्छू डंक मारता जाय, पर साधु उसकी रक्षा से मुख नही मोडेगा। इस तरह साधुता को डक पर विजय प्राप्त करने मे सहायता मिलेगी। कम-से-कम साधुता का स्वरूप तो निखर कर सामने आयेगा। यदि बिच्छू के डक की चोट लगते ही साधु भी बिच्छू के डक को तोडने के लिए तत्पर हो जाय, तो कहा गई साधुता? बिच्छू डक-हीन होने से भले रह जाय, पर साधु की साधुता की भद्द तो उड ही जायगी।

इस सम्बन्ध मे एक विचारक की उक्ति बडी ही उपयोगी है· Let the war be put forward as a cultural way of life, as one channel of effort in which people can be profoundly human and you induce in the reader the fullest possible response to war, precisely such a response as might best lead one to appreciate the preferable ways of peace. 'अर्थात, आप एक काम करे। युद्ध का वर्णन इस ढग से करे मानो वह हमारे सास्कृतिक जीवन का अग हो, एक ऐसा व्यापार हो जिसमे मानवीय गुणो का अधिकाधिक विकास करने का अवसर मिले। परिणाम यह होगा कि मनुष्य मे युद्ध के प्रति पूर्ण प्रतिक्रिया-तत्परत्व जगेगा। और वह प्रतिक्रिया ऐसी होगी जो मनुष्य मे जीवन के शातिमय उपायो के प्रति अभिरुचि जागृत करेगी।'

साहित्यिक प्रतिक्रिया के इस पहलू पर विचार करते समय अर्थात युद्ध या किसी भी विषय पर सास्कृतिक दृष्टिकोण अथवा मानव के नैसर्गिक विरोधाभास की बात करते समय वर्ड्सवर्थ के विचार याद हो आते हैं जो उसने कविता और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रगट किये है। उसका कथन है कि काव्य का ध्येय ऐसी उत्तेजना उत्पन्न करना है जिसमे आनन्द का पुट अत्यधिक है। पर उत्तेजना तो मानस की असाधारण या विषम अवस्था मानी जाती है। इस अवस्था मे विचार और भाव किसी प्रशस्त मार्ग का अनुसरण नही करते। यदि उत्तेजना को उद्दीप्त करने वाले प्रति

सशक्त चित्रों एव भावों के कारण अनुपात से अधिक वेदना का पुट आ गया तब इस बात का भय है कि उत्तेजना का रूप अपनी उचित सीमा को लाघ जाय। परन्तु यदि वहा कुछ ऐसी चीज का समानाधिकरणत्व हो जो नियमित है, जिससे मानस की विविध अवस्थाए कम उत्तेजना के अवसरो पर परिचित है तो इसका अच्छा प्रभाव पडेगा। परिणाम यह होगा कि साधारण भावों के मिश्रण के कारण, उत्तेजना मे असम्पर्कित भावो के कारण उत्तेजना सयमित होगी, यह निर्विवाद सत्य है। अतः यद्यपि ऊपरी तौर से देखने पर यह विरोधाभास-सा भले ही मालूम पडे, पर इसमे किसी भी तरह की शका की गुजाइश नही कि छद के कारण भाषा की वास्तविकता कुछ अश मे मुड़ जाती है और सारी रचना के ऊपर वास्तविक सत्ता की अर्द्धचेतना छा जाती है तथा अधिक कारुणिक अवस्थाए और भावनाए जिनमे वेदना का अश ज्यादा है वे छन्दोबद्ध, विशेषतः तुकान्त काव्य मे, गद्य से अधिक सहनीय हो सकती है।

अनुसंधान और आलोचना

डा० नगेन्द्र

यो तो भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे अनुसंधान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु हिन्दी मे इसका पारिभाषिक रूप पिछले दो दशाब्दो मे ही स्थिर हुआ है। आज इसका प्रयोग अगरेजी-शब्द 'रिसर्च' के पर्याय रूप मे होता है। और एक विशेष प्रकार की प्रविधि एव उपलब्धि इसके साथ नियमित रूप से सम्बद्ध हो गई है। लक्ष्य-भेद से अनुसधान के स्थूलत: दो भेद किए जाते है सोपाधि और निरुपाधि। वस्तुत. यह विभाजन सर्वथा स्थूल है। अनुसधान के प्रयोजन, प्रक्रिया एव उपलब्धि की दृष्टि से दोनो मे कोई मौलिक अन्तर नही है। अर्थात, उपाधि तो केवल एक आनुषगिक तथा व्यावसायिक सिद्धि है। उसमे अनुसधान की आत्मा उपाधि-ग्रस्त ही होती है, इसीलिए उसके लिए 'सोपाधि' विशेषण उपयुक्त ही है। फिर भी हम सभी सोपाधि ब्रह्म के ही रूप है, अत: अपने आवरण के अन्तर्गत उपाधि-सापेक्ष्य रूप ही हमारे विवेचन का उचित विषय बन सकता है।

उपाधि-सापेक्ष्य अनुसधान के लिए प्राय. निम्नलिखित उपबन्धो का विधान है

(१) इसमे (अनुपलब्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यों या सिद्धान्तो का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति मे यह ग्रन्थ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसधान किन अशो मे उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है, तथा वह विषय-विशेष के अध्ययन को कहा तक और आगे बढाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार सतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत प्रकाशित किया जा सके।

--(आगरा यूनिवर्सिटी पी-एच० डी० नियमावली)

आगे चलकर डॉक्टर ऑफ लैटर्स के प्रसंग मे भी प्राय. इन्ही विशेषताओं का उल्लेख है। केवल एक बात नई है, यहा 'विषय के अध्ययन को और आगे बढाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी० लिट० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह उपबन्ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयो के नियमो मे भी लगभग ये ही शब्द है। इस प्रकार विश्व-विद्यालय-विधान के अनुसार अनुसधान के तीन तत्त्व है·

१—अनुपलब्ध तथ्यो का अन्वेषण

२—उपलब्ध तथ्यो अथवा सिद्धान्तो का नवीन आख्यान (पुनराख्यान),

३—ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात मौलिकता,

इनके अतिरिक्त एक तत्त्व (चतुर्थ) और भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।

अनुसधान के इन चार गुणो मे से प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाङ्मय के प्राय. सभी रूपो के लिए समान है। इस प्रकार अनुसधान के अपने विशिष्ट धर्म तीन हैं नवीन तथ्यो का अन्वेषण, उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तो का नवीन आख्यान और ज्ञान की वृद्धि।

आप लोगो की सुविधा के लिए मै सक्षेप मे तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अतर और स्पष्ट करना आव-

श्यक समझता हूं। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते है, सत्य के इस रूप-विशेष को स्पष्ट करने के लिए इन आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनमे से कुछ तथ्य तो विहित (प्रकाशित) रहते है, किन्तु अनेक तथ्य प्रायः निहित (प्रच्छन्न) रहते है, अथवा काल के आवरण मे लुप्त हो जाते हैं और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। तथ्यानुसधान प्राय. काल-सापेक्ष्य-सा बन गया है और यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि तथ्यानुसधान प्राचीन विषयों की शोध मे ही सम्भव हो सकता है। किन्तु यह साधारणत. मान्य होते हुए भी आवश्यक नही है, क्योंकि प्रत्येक विषय में अनेक निहित तथ्य भी तो होते है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथ्यानुसधान के सामान्यत दो रूप है (१) काल के प्रवाह में लुप्त तथ्यों का अन्वेषण, और (२) विषय मे निहित तथ्यो का अन्वेषण। उदाहरण के लिए, तुलसी के युग की परिस्थितियां, उनके जीवन की घटनाएं, उनकी रचनाए, उन रचनाओ की अनेक प्रतियां, उनके निर्माण से सम्बद्ध स्थितियां आदि तुलसी-विषयक अनुसधान के अनेक बहिरग तथ्य है जो काल-सापेक्ष्य है, अर्थात, काल के प्रवाह में से जिन्हे ढूढकर निकालना पडता है। इनके अतिरिक्त तुलसी के काव्य मे निहित अनेक अतरग तथ्य है: जैसे तुलसी के आत्म-कथन, दार्शनिक विचार, नैतिक विचार, शैली के तत्त्व, भाषा के तत्त्व, शब्द-समूह आदि जो आन्तरिक अन्वेषण की अपेक्षा करते है। ये दोनो अन्वेषण-प्रक्रियाए तथ्यानुसधान के अन्तर्गत आती है और चूकि प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के साहित्य के अनुसधान मे इनका न्यूनाधिक प्रयोग सम्भव है, अत तथ्यानुसधान की सभावना को प्राचीन साहित्य तक ही सीमित करना उचित नही है। यह ठीक है कि मैथिलीशरण गुप्त या 'प्रसाद' की जीवन-घटनाओ की जानकारी के लिए प्राचीन राजपत्र, हस्तलेख, शिलालेख आदि की छानबीन की आवश्यकता नही है। उनकी रचनाओ के अनेक पाठों का तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा अनावश्यक है, उनकी युगीन परिस्थितियो के आकलन के लिए भी गहरी खोजबीन की जरूरत नही है, परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक तथ्य रह जाते है जिनका अन्वेषण उतना ही यत्न-साध्य है जितना तुलसी-काव्य से सम्बद्ध तथ्यों का हो सकता है। यहा तक तो हुई तथ्यानुसधान की बात, अब इसके आगे तथ्याख्यान को लीजिए। तथ्यों के आख्यान का वास्तविक अर्थ है तथ्यो के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन, उनके द्वारा व्यजित जीवन-सत्य या मानव-सत्य का उद्घाटन। तथ्य अपने वस्तु-रूप में जड है, किन्तु मानव-जीवन के सदर्भ मे, अर्थात मानव-चेतना के ससर्ग से वह चैतन्य बन जाता है। मानव-चेतना के ससर्ग से जो एक नवीन अर्थ-ज्योति उसमे कौंध जाती है उसको आलकारिको ने व्यजना कहा है। वास्तव मे तथ्यो के आख्यान का अर्थ इसी निहित व्यजना को विहित करना है। यद्यपि व्यजना तथ्य-रूप अभिधा पर आश्रित रहने के कारण अन्तत ससीम ही होती है, किन्तु अपनी सीमा के भीतर भी उसमे अनेक अर्थछायाओं की सम्भावना निहित रहती है। इन अर्थछायाओ के कारण ही तथ्य के नवीन, चिर-नवीन आख्यान की सम्भावना बनी रहती है और इसीलिए अनुसन्धान के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यों का नवीन आख्यान अथवा पुनराख्यान भी अनुसधान के अन्तर्गत आता है। उपर्युक्त सभी तथ्य, चाहे वे बहिरग हो या अंतरग, केवल आधार है। उदाहरण के लिए, प्राचीन राजपत्रो मे तुलसी-विषयक उल्लेख आधारमात्र है, वास्तविक उपलब्धि तो उनके द्वारा तुलसी के जीवन-चरित की व्यजना का स्पष्टीकरण इन तथ्यों का आख्यान है। यह व्यजना अनेकरूपा हो सकती है और उसी के अनुसार आख्यान भी नवीन हो सकता है। तथ्याख्यान का यह अपेक्षाकृत स्थूल रूप है। इसके आगे तुलसी की जीवन-घटनाए स्वय तथ्य बन जाती है और फिर अनुसधाता उनकी व्यजनाओ का उद्घाटन करता है। अर्थात, उनके द्वारा व्यजित तुलसी-व्यक्तित्व के गुण-दोषो का प्रकाशन करता है। यह तथ्याख्यान का दूसरा सोपान है। आगे चलकर व्यक्तित्व के ये गुण-दोष स्वय तथ्य बन जाते है और अनुसन्धाता उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरग तथ्याख्यान की प्रक्रिया है। अतरग तथ्याख्यान तुलसी के काव्य को केन्द्र मानकर चलता है, वह तुलसी की रचनाओं का क्रम निर्धारित करता है। उनमे निहित दार्शनिक एव नैतिक विचारो का, उनकी शैली के तत्त्वो का, भाषा के तत्त्वो—शब्द-समूह आदि का विश्लेषण करता है। यह सब भी वस्तुत तथ्यानुसधान के अतर्गत ही आयेगा। भेद केवल इतना है कि ये तथ्य बहिरग न होकर अतरग है, किन्तु है ये तथ्य ही। इनका भी आख्यान उतना ही आवश्यक है, अन्यथा ये भी जड़वत है। इनके आख्यान का भी अर्थ होगा इनकी व्यंजनाओं का स्पष्टीकरण। नहछू तथा मंगल आदि मानस की पूर्ववर्ती रचनाएं हैं और विनयपत्रिका परवर्ती, इस

तथ्य की उपलब्धि महत्त्वपूर्ण है किन्तु साधन-रूप मे ही; अर्थात इस तथ्य के द्वारा व्यंजित तुलसी के कवित्व-विकास का महत्त्व और भी अधिक है और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है इस क्रम-विकास द्वारा व्यजित तुलसी की कवि-आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की काव्य-शैली के तत्त्वो का विश्लेषण तथ्यानुसधान-मात्र है। इन तत्त्वो के द्वारा व्यजित तुलसी-काव्य के स्वरूप का अनुसधान तथ्याख्यान है। उदाहरण के लिए, रामनरेश त्रिपाठी की कृति 'तुलसीदास और उनकी कविता' में तथ्यानुसधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना 'गोस्वामी' 'तुलसीदास' मे तथ्याख्यान का प्राधान्य है। तथ्यो के सकलन को देखकर सच्चा अनुसधाता प्रश्न करेगा—इससे क्या? और फिर उनके आधार पर अपनी आंतरिक जिज्ञासा—काव्य के मर्म के उद्घाटन—मे प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के काव्य मे साधर्म्य-मूलक अलकारो की सख्या वैषम्य-मूलक अलकारो से अधिक है, यह एक उपयोगी तथ्य है। इसकी व्यंजना यह है कि तुलसी के काव्य मे वैदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता है। आगे चलकर यह भी तथ्य हो जाता है और इस महत्त्वपूर्ण सत्य को ध्वनित करता है कि तुलसी की कविता का आस्वाद मनःशाति-रूप है, बुद्धि-चमत्कृति-रूप नहीं है। इस प्रकार एक तथ्य दूसरे सूक्ष्मतर तथ्य की व्यजना करता हुआ काव्य के मर्म तक पहुचने में सहायता देता है। यही तथ्याख्यान है।

विगत छः वर्षों से मेरा अनुसधान से व्यावसायिक सम्बन्ध रहा है। अनेक विषयो के निरीक्षकों-परीक्षकों के साथ विचार-विनिमय के प्रचुर अवसर मिलते रहे है। इस विचार-विनिमय के अन्तर्गत अनुसधान के विषय मे अनेक प्रश्न सामने आए है। एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान ने हमारे एक शोध-विषय 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस कैसे लिखा जाएगा'? 'थीसिस' से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसन्धान जिसमे प्रमुख आचार्यों की अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोधमंडल की किसी बैठक मे इतिहास के एक विद्वान ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी-काव्य के विकास मे सिख कवियो का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अन्तर्गत अनुसन्धाता क्या शोध करेगा? मैने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण सामग्री अभी तक सर्वथा अज्ञात है। पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा, परवर्ती अनुसन्धाता उसके आधार पर अंतरग विश्लेषण करेगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षको की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसन्धान नही है। स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होने यह मान लिया कि सिख-कवियो के ग्रन्थो का पाठानुसन्धान और सम्पादन तो अनुसन्धान के अन्तर्गत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नही; सर्वेक्षण तो अनुसन्धान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनों ही प्रसग अनुसधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते है। अगरेजी का एक शब्द है 'थीसिस', जो सस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है। इसका अर्थ है कोई मौलिक प्रस्थापना-विशेष जिसको अनुगमन या निगमन-विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानो के अनुसार शोध-प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है। इसीलिए अगरेजी मे शोध-प्रबन्ध के लिए 'थीसिस' शब्द का प्रयोग ही रूढ हो गया है। इसमे सन्देह नही कि उत्तम शोध-प्रबन्ध मे किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उससे अनुसंधित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु इसकी सम्भावना सर्वत्र नही है। वास्तव मे इस प्रकार का अनुसन्धान उन्ही क्षेत्रो मे सम्भव है जहा अध्ययन काफी विकसित हो चुका है। जहा प्रारम्भिक कार्य ही नही, व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के सगुण भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियो पर इतना कार्य हो चुका है कि इस प्रकार की प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तैयार हो चुकी है। और इस प्रकार का अनुसन्धान-कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध-प्रबध मैने देखे, एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक मे यह प्रस्थापना की गई थी कि आचार्य शुक्ल का मूल जीवन-दर्शन है भावयोग, और उनका सम्पूर्ण वाङ्मय-आलोचना, निबन्ध, कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन से अनुप्राणित है। दूसरे में यह प्रस्थापना की गई थी कि बिहारी का काव्य ध्वनि-काव्य है और उसी के प्रकाश मे सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसन्धान की उच्चतर भूमि है। यहा शोधकर्ता अनेकता मे एकता के अनुसन्धान का सीधा प्रयत्न करता है। अनेकता मे एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है। इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अतः शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक-से-अधिक निकट है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि सदा कठिन

होती है, अत· यहां भी शोधक को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के अनुसधान मे यह आशका सदा रहती है कि मूल प्रतिज्ञा ही कही अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यो को विकृत रूप मे पेश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। ऐसा प्राय सम्भव है और इसीलिए यह शोध-पद्धति अधिक वस्तु-परक नही मानी गई। वस्तुपरक शोध-पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि तथ्य ही शोधक का अनुशासन करे, शोधक तथ्यों का शासन न करे। स्पष्टत· उपर्युक्त प्रणाली मे दूसरी बात का खतरा बराबर बना रहता है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि तो खतरे से खाली कभी रही ही नही।

अनुसधान का तीसरा प्रमुख तत्त्व है ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार। वास्तव में यही उसका प्राण-तत्त्व अथवा व्यावर्तक धर्म है। नवीन तथ्यो की उपलब्धि, उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों के नवीन आख्यान––ये दोनो तत्त्व इसी सिद्धि के साधन है। इनमे से कोई एक तत्त्व या सभी तत्त्व मिलकर अनत ज्ञान की वृद्धि करते है––यह ज्ञान की वृद्धि ही वास्तव में अनुसधान का मूल उद्देश्य है। अन्य गुण जैसे व्याख्या, विवेचन, सप्रेषण, प्रतिपादन-सौष्ठव आदि भी अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण धर्म है, किन्तु वे व्यावर्तक धर्म नही है; क्योकि एक तो उनके अभाव मे भी अनुसधान हो सकता है और दूसरे अध्ययन के अन्य क्षेत्रो मे भी उनका उतना ही वरन इससे भी अधिक महत्त्व है। इसके विपरीत ज्ञानवृद्धि के अभाव मे अनुसधान का स्वरूप खडित हो जाता है। ऐसा विवेचन या प्रतिपादन, जो ज्ञानवृद्धि मे सहायक न हो अनुसधान की परिधि मे नही आएगा या कम-से-कम शुद्ध अनुसधान के अतर्गत नही माना जाएगा। विचार या भाव का सप्रेषण अपने-आप मे साहित्यिक अध्ययन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है––एक दृष्टि से उसका सर्वाधिक मूल्य है किन्तु वह निरपेक्ष रूप मे अनुसधान के अन्तर्गत नही आएगा। अत· निष्कर्ष यह है कि ज्ञानवृद्धि ही अनुसधान का व्यावर्तक धर्म है।

'आलोचना' का शब्दार्थ है सर्वांग निरीक्षण। साहित्य के क्षेत्र मे आलोचना से अभिप्राय है किसी साहित्यिक कृति का सागोपाग निरीक्षण। इसके अतर्गत तीन कर्तव्य-कर्म आते है––(१) प्रभाव-ग्रहण, (२) व्याख्या-विश्लेषण, और (३) मूल्याकन अथवा निर्णय। आलोचना मूलत कलाकृति द्वारा प्रमाता के हृदय मे उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करती है, अर्थात प्रिय-अप्रिय प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है। इसके उपरान्त वह प्रतिक्रिया भी प्रियता अथवा अप्रियता के कारणो का विश्लेषण करती है। सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार रूप का, मनोविज्ञान के अनुसार स्रष्टा और भावक की मानसिक परिस्थितियो का तथा समाजशास्त्र के अनुसार दोनों की सामाजिक परिस्थितियो का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करती है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्यो लगती है। और अन्त मे इन दोनो प्रतिक्रियाओ के आधार पर उसका मूल्याकन किया जाता है। आलोचना के अन्तर्गत ये तीन प्रतिक्रियाए आती है। किसी-न-किसी रूप मे आलोचना इन तीनों कर्तव्यों का निर्वाह करती है, अवधारण का भेद हो सकता है, किन्तु समालोचना मे प्राय इन तीनों मे से किसी की उपेक्षा करना कठिन ही होता है।

अनुसंधान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुसधान और आलोचना दोनो की केवल जाति ही नही, उपजाति भी एक है। अत दोनो मे पर्याप्त साम्य है। दोनो की पद्धति बहुत-कुछ समान है: व्याख्या-विश्लेषण और निर्णय दोनो मे समान है। अनुसधान मे जो तथ्याख्यान है वही आलोचना मे व्याख्या-विश्लेषण है, दोनो मे विवेचन, कार्य-कारण-सूत्र का अन्वेषण, परस्पर सम्बन्ध तथा अर्थ-व्यजना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के सतुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति भी दोनों मे प्राय समान ही है। तथ्य-विश्लेषण के उपरान्त तत्त्व-रूप में निष्कर्ष ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है। उसके बिना तथ्य-विश्लेषण का कोई अर्थ ही नही रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसधान और आलोचना दोनो के लिए समान रूप से मान्य है, उसके बिना विचार की प्रक्रिया पूरी नही होती। तथ्याधार अनुसधान के लिए एकान्त अनिवार्य तो है ही, किन्तु आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का निषेध नहीं किया सकता; क्योकि तथ्यों के पुष्ट आधार के बिना आलोचना मे विश्वास की दृढता नही आती।

यह सब होने पर भी अनुसधान और आलोचना पर्याय नही हैं। मनोविज्ञान से पुष्ट सस्कृत-व्याकरण क यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का द्योतन नही करते, उनमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसंधान की मूल धातु 'धा' है, उसमे सम उपसर्ग लगाकर सधान शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है लक्ष्य बांधना, निशान लगाना। और आलोचना की मूल धातु है 'लुच्', अर्थात देखना। इसी मूल धात्वर्थ के आधार पर दोनो के रूढ अर्थ मे आगे चलकर भेद हो जाता है---एक का अर्थ हो जाता है लक्ष्य बांधकर उसके पीछे बढना और दूसरे का हो जाता है पूर्ण तरह से देखना-परखना। यही दोनो के मौलिक भेद का आधार है। अनुसंधान मे अन्वेषण पर अधिक बल है और आलोचना मे निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनों तत्त्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नही है; अन्वेषण बिना निरीक्षण-परीक्षण के कृतकार्य नही हो सकता, और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के भी पूर्व-क्रिया रूप मे अन्वेषण की आवश्यकता प्राय: रहती है, फिर भी अनुसधान और आलोचना का क्षेत्र पूर्णत: सह-व्यापक नही है। अनुसधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो शुद्ध आलोचना के अन्तर्गत नही आते और आलोचना के भी कुछ रूपो को शुद्ध अनुसधान मानने मे वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए, जीवनचरित-विषयक अनुमधान, पाठानुसधान, भाषावैज्ञानिक अनुसधान आदि रूप आलोचना के अतर्गत नही आ सकते। इसका अभिप्राय यह नही है कि इनमे आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रो का अनुमधाता आलोचन-शक्ति एव निर्णय की क्षमता से सम्पन्न नही होता। वास्तव मे इन सभी क्षेत्रों मे भी निरीक्षण-परीक्षण, निष्कर्ष-ग्रहण आदि उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितने अन्यत्र। परन्तु आलोचना का प्रयोग यहा हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज्म) के अर्थ मे ही कर रहे हैं; सामान्य अर्थ मे, अर्थात सामान्य निरीक्षण-परीक्षण के अर्थ मे, नही। इसी प्रकार आलोचना के कुछ-एक रूप भी है जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो अनुसधान की गरिमा को वहन नही कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसधान और आलोचना के क्षेत्रो मे पूर्ण सह-व्याप्ति नही है।

अपने मतव्य को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक अर्थ मे आलोचना के स्वरूप को और स्पष्ट कर लेना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रश्न-पत्र में एक सवाल था: 'आलोचना विज्ञान है या कला?' मुझे याद नही उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, किन्तु आज मेरे मन मे इसका उत्तर स्पष्ट है: आलोचना, अर्थात साहित्यिक आलोचना, कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली मे आलोचना न तो उस अर्थ मे रस का साहित्य है जिस अर्थ मे कविता, उपन्यास, कहानी आदि है और न उस अर्थ मे ज्ञान का साहित्य है जिस अर्थ में दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान-शास्त्र या तर्कशास्त्र है। यह तो अपने प्रामाणिक रूप मे रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सर्वथा अनिवार्य होता है, अर्थात किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार-पद्धति उसके आत्मभूत तत्त्वो के प्रभाव को ग्रहण किये बिना रह नही सकती, क्योकि विषय के तत्त्व, उसका लक्ष्य आदि उसकी विवेचन-पद्धति को भी अनिवार्यतः अनुशासित करते रहते है। साहित्य के तत्त्व है अनुभूति और कल्पना, उसका प्राण है रस। अतः साहित्य की विवेचन-पद्धति उसके अगभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राणभूत रस के प्रभाव को बचा नही सकती। अतएव उसमे भी कला के तत्त्वो, अर्थात रस और उसके उपकरण अनुभूति तथा कल्पना आदि का, अन्तर्भाव अनिवार्यत: हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना मे कला-तत्त्व अनिवार्यत. विद्यमान रहता है, उसमे आत्माभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप मे अवश्य रहती है। अनुमधान के विषय में यह प्रश्न नही किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र? वह निश्चय ही शास्त्र है, कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए; क्योकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है, एक शैली होती है जो वाङ्मय के अन्य रूपो से उसके रूप-वैशिष्टय को पृथक करती है। अनुसधान के उपबध चार में निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अथवा 'सन्तोषप्रद' रूप-आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नही। उदाहरण के लिए, निबन्ध की ललित गद्यशैली अनुसधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न 'सतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि **आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है; किन्तु साहित्यिक अनुसंधान से उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।**

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण, तथ्यों का वस्तुपरक आख्यान, वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया अनुसधान के लिए

महत्त्वपूर्ण ही नही है, वरन ये तो उसके प्राण-तत्त्व है। किसी-न-किसी प्रकार के, बहिरग अथवा अन्तरग, तथ्यो के सम्यक अन्वेषण के बिना अनुसधान एक पग भी आगे नही बढ सकता। फिर इन तथ्यों के आख्यान मे अनुसधाता की दृष्टि एकान्त वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करे, वह तथ्या का निर्देशन न करे। यो तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बडी आवश्यकता है किन्तु अनुसधान के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसधान का मार्ग एकान्त तपश्चर्या का मार्ग है, उसके लिए अधिक कठोर सयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता कदाचित नही है। आत्मरस का यत्किंचित सस्पर्श उसके लिए एकान्त-वर्जित नही है। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया अनुसधान के लिए सर्वथा अनिवार्य है। सदर्भ आदि के पूर्ण विवरण, अनुक्रमणिका, परिशिष्ट, ग्रन्थ-सूची, पाद-टिप्पणिया आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अन्तर्गत आती है। वास्तव मे यह प्रविधि या शिल्प-विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नही है, किन्तु वहा इसका उतना अनिवार्य महत्त्व नही है। शुद्ध आलोचना मे आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति लेखक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्य-विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है। वस्तुत इनसे उसका अवधान-भग होने की भी सम्भावना हो सकती है।

अनुसधान और आलोचना का प्रत्यक्ष उद्देश्य भी एक नही होता। अनुसधान का लक्ष्य, जैसा कि हमने अभी सिद्ध किया, ज्ञान-वृद्धि है; किन्तु आलोचना का लक्ष्य है ज्ञान की अवगति। जो अनुसधान ज्ञान की वृद्धि मे योग नही देता वह विधानत॰ असफल है, किन्तु आलोचना के लिए इतना पर्याप्त नही है। जो आलोचना काव्य की आत्मा का साक्षात्कार नही करा सकती, अर्थात उसके सारभूत प्रभाव का सम्प्रेषण नही कर सकती, कलाकार के साथ प्रमाता का तादात्म्य स्थापित नही कर सकती, वह अपने मौलिक उद्देश्य की पूर्ति मे असफल रहती है। प्रत्यक्ष 'फलागम' के इसी भेद के कारण दोनो के 'आरम्भ' मे भी स्पष्ट भेद हो जाता है। 'आलोचक का पहला धर्म है प्रभाव-ग्रहण, अर्थात आलोच्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया।' अनुसधाता के लिए वह आवश्यक नही है, प्राय बाधक भी हो सकती है। वह अपना कार्यारम्भ तथ्य-सकलन से करता है जिसमे उसकी दृष्टि निर्लेप रहनी चाहिए। इस प्रकार अनुसधान और आलोचना के आरम्भ और फलागम मे बाह्य भेद अवश्य है।

अब तक मैने अत्यन्त तटस्थ भाव से अनुसधान और आलोचना के साम्य और वैषम्य का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो सक्षेप मे अपने निष्कर्षों की आवृत्ति कर दू जिससे आगे के विवेचन मे सहायता मिल सके।

साम्य: (१) साहित्यिक अनुसधान और साहित्यिक आलोचना एक ही विद्या—साहित्य-विद्या—के दो उपभेद है।

(२) दोनो की पद्धति बहुत-कुछ समान है। दोनो की प्रक्रिया में तथ्यो के सकलन—त्याग एव ग्रहण, व्याख्यान-विश्लेषण, निष्कर्ष-ग्रहण—का प्राय. उपयोग किया जाता है।

वैषम्य: (१) किन्तु अनुसधान और आलोचना पर्याय नही है। धात्वर्थ के अनुरूप अनुसधान मे अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और आलोचना मे निरीक्षण-परीक्षण पर।

(२) अनुसधान के अनेक रूप ऐसे है जो आलोचना के अन्तर्गत नही आते और इसी प्रकार आलोचना के भी कतिपय रूप अनुसधान के उपबधो की पूर्ति नही कर पाते।

(३) आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व आलोचना का अनिवार्य गुण है, किन्तु अनुसधान मे उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता और उसकी अनुवर्ती वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया का महत्त्व अनुसधान के लिए अनिवार्य है। आलोचना के लिए उसका महत्त्व परिशिष्ट रूप मे ही रहता है।

(५) अनुसंधान का प्रत्यक्ष (एपेरेंट) उद्देश्य है ज्ञान की वृद्धि, और आलोचना की सिद्धि है मर्म की अवगति या अनुभूति।

मुझे आशा है इस भेदाभेद-निरूपण से दोनों के विषय में आपकी सापेक्षित धारणाएं और मानस-बिम्ब थोड़े बहुत स्पष्ट अवश्य हो गए होगे। किन्तु यह तो पूर्वपक्ष है, या आप यह कह सकते हैं कि यह हमारे आज के प्रतिपाद्य का तथ्याधार-मात्र है। उत्तरपक्ष मे मै अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हू: क्या शुद्ध आलोचना अनुसधान नहीं है? यह प्रश्न एक दूसरे ढग से भी रखा जा सकता है · क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यत: उत्तम अनुसधान नही है? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुमधान अपनी चरम परिणति मे आलोचना से भिन्न ही रहता है? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यत उत्तम अनुसधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसधान अपनी चरम परिणति मे आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी मे जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसधान का भी मै उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हू। यहा तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धान्तिक निबन्धो को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्य-शास्त्र के विकास मे उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार सदिग्ध हो सकता है? अर्थात क्या उनका शोध-मूल्य किसी प्रकार कम है? आप कदाचित हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेगे। ये आलोचक है शान्तिप्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक है किन्तु आप औचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसधाता होने मे शका कर सकते है। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रियजी की जिन रचनाओ का शोध-महत्त्व सदिग्ध है उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी, प्रभाववादी आलोचना प्राय. निम्नकोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को सयत और दृष्टि को स्थिर कर जहां आधुनिक काव्य—विशेषत. छायावाद काव्य—के मर्म का उन्मेष करने मे सफल हुए हैं वहा उनकी आलोचनाओ का शोध-मूल्य भी असदिग्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विभूति अपने-आप मे महत्त्वहीन अनुसधान नही है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मै आपसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूंगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव मे भी उत्तम अनुसधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसधान के क्षेत्र से कदाचित कुछ उदाहरण उपस्थित करेगे किन्तु मै तो साहित्यिक अनुसधान की बात कर रहा हू। साहित्यिक अनुसधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध-प्रबन्धो के नाम लेना चाहे। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसग मे सामान्य रूप से मै यही निवेदन करना चाहूगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्राय दुर्लभ ही है। ऐसे प्रबन्ध, जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है, उत्तम अनुमधान न होकर अनुसधान के सदर्भ-ग्रन्थो के रूप मे ही मान्यता प्राप्त कर सकेगे। पश्चिम मे, और वहा के अनुकरण पर इस देश मे भी, ऐसे ग्रन्थो का महत्त्व बढ रहा है। मै इसका निषेध नही करता, किन्तु ये सब तो अनुसधान की सामग्री या साधन-मात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ है जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश मे आई है। उनमे हिन्दी साहित्य और उसके अनुसधाता का निश्चय ही बडा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हे आदर्श अनुसधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसधान के प्रारूप है। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करे तो विद्या के सभी भेदो का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है सत्य की उपलब्धि। तथ्य और सत्य मे यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मर्म का साक्षात्कार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तथ्य-बोध से आगे चलकर तथ्य के द्वारा व्यजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की परम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुमधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के उपबध मे तथ्यो या सिद्धान्तो के नवीन आख्यान के अन्तर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प रूप मे किया गया है किन्तु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसधान की उच्चतर भूमि है। इस लक्ष्य की सिद्धि के बिना अनुसधान केवल तथ्य-बोध का साधन होकर रह जाता है, सत्य की सिद्धि का माध्यम नही।—तब फिर उसकी गणना विद्या के अन्तर्गत न होकर उपविद्या के अन्तर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और व्यवसाय दोनो से अनुसधाता होने के नाते आपको अनुसधान की यह अधोगति स्वीकार्य नही होगी।

अनुसधान के क्षेत्र मे आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग १५-२० वर्ष पूर्व जब हिन्दी

मे अनुसंधान का कार्य विधिवत आरम्भ हुआ, उस समय साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति मे तत्त्व-दर्शन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यो की चिन्ता अधिक नही करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओ एव सैद्धान्तिक निबन्धो मे तथ्याधार स्पष्टत दुर्बल है। वस्तुत आत्मा का अनुसधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यों के सकलन और साख्य की पद्धति के अवलम्बन के प्रति उनकी रुचि नही थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यो का उद्घाटन वह अपनी सक्षिप्त भूमिकाओ मे कर गए है, परवर्ती अनुसधानो के विशालकाय ग्रथ आज तक उनमे कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नही कर पाए हैं। बिहारी, घनानन्द आदि कवियो के विषय मे चिन्तन के जो सूक्ष्म तत्त्व वह अपने इतिहास मे रख गए है, परवर्ती अनुसधाता अब तक तथ्यो के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे है या विस्तार। वास्तव मे मूल अनुसधेय क्या है ? तत्त्व ही न ? इस तत्त्व-शोध की सामान्यत: दो विधिया है एक दर्शन की, दूसरी विज्ञान की। पहली की गति ऋजु और त्वरित है, वह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करती है, दूसरी का आधार अधिक दृढ और पुष्ट है किन्तु गति मन्थर एव विलम्बित है। दोनो के अपने गुण-दोष है : पहली के परिणाम शीघ्रगम्य है किन्तु भ्रान्तिपूर्ण भी हो सकते है, दूसरी मे भ्रान्ति की आशका अपेक्षाकृत बहुत कम है किन्तु उसमे एक बडी आशका यह है कि अनुसधाता की दृष्टि तथ्य-जाल मे उलझ जाती है और तत्त्व की उपेक्षा हो जाती है। तथ्यो के तक्र के स्वाद मे तत्त्व के नवनीत का स्वाद भूल जाता है। शुक्लजी के अनुसधान मे पहली पद्धति के गुण-दोष थे। लगभग उन्ही दिनों हमारे कुछ-एक विद्वान विदेश से शोध-कार्य कर लौटे थे जहा वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसधान के क्षेत्र मे भी यथावत प्रयोग हो रहा था। यहा आकर इन्होने देखा कि हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र मे इसका सर्वथा अभाव था, उसकी प्रविधि और प्रक्रिया अत्यन्त अपूर्ण और अव्यवस्थित थी। फलत डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिन्दी-शोध के क्षेत्र मे भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध-प्रणाली का आविर्भाव हुआ, जो प्रचलित प्रणाली के साथ सघर्ष मे आने लगी। उसी सघर्ष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसधान आलोचना नही है। इस पृथक्करण मे लाभ और हानि दोनो ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसधान मे तथ्यान्वेषण का महत्त्व बढा। पुष्ट तथ्याधार से विवेचना मे प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया मे वैज्ञानिक व्यवस्थिति एव पूर्णता आई। दृष्टि को निस्सग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य का सयमन और उससे प्रभावित अशुद्ध निष्कर्षण की प्रवृत्ति का नियन्त्रण हुआ। इससे न केवल हिन्दी-अनुसधान का, वरन हिन्दी-आलोचना का भी, कल्याण हुआ, किन्तु हानि भी कम नही हुई। अन्तर्दृष्टि अवरुद्ध होने लगी। तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्त्व कम होने लगा। अनुसधाता शाखाओ मे उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिक्य होने लगा। हृदय के सुन्दर रहस्यो को समझने के लिए साख्यिकी परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियन्त्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिन्तन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूपविधा का गौरव इतना बढा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा। साहित्य के अन्तर्दर्शन को नये आलोचक 'छायावादी आलोचना' कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिन्दी-अनुसंधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। वास्तव मे यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिन्त्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहा विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव मे इस प्रवृत्ति के मूल मे एक आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि-प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति मे से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि-प्रक्रिया निरपेक्ष नही है : वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते है। जो विद्वान विज्ञान की निस्सग दृष्टि और एकान्त वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का यथावत आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते है वे इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते है कि रूपाकृति तो आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अत: साहित्य की आत्मा का अनुसधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवावस्था के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक और सामाजिक विज्ञानो का; पर, इसके आगे बढना खतरनाक होगा। उससे साहित्यिक मूल्यो का विपर्यय हो जाने की बडी आशका है।

और, यह आशका आज हिन्दी-अनुसधान के क्षेत्र मे सत्य सिद्ध हो रही है। अनुसधान आलोचना नही है,

इस भ्रान्त धारणा से अन्य भ्रान्तियों का जन्म हो रहा है। हिन्दी का अनुसधाता यह समझने लगा है कि अनुसंधान का कार्य केवल अन्वेषण करना है, सत्साहित्य और असत्साहित्य––यहा तक कि साहित्य और असाहित्य की परख से उसका क्या वास्ता ? फलत आज साहित्यिक अनुसधान के नाम पर ऐसे वाङ्मय का सग्रह हो रहा है जो किसी भी लक्षण से साहित्य के अन्तर्गत नही आता। मैंने भारतीय हिन्दी परिषद की निबन्ध-गोष्ठी के सभापति-पद से यह प्रश्न उठाया था। उस समय समयाभाव के कारण मै अपने मन्तव्य को स्पष्ट नहीं कर पाया था, और सुना था, बाद मे कतिपय विद्वानों को मेरे वक्तव्य पर आपत्ति भी थी। मेरा अभिप्राय वास्तव मे यह है कि साहित्यिक अनुसधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए; ऐसी सामग्री को जो साहित्य के अन्तर्गत नही आती, अर्थात जो अपनी विषय-वस्तु और प्रतिपादन-शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने मे सर्वथा अक्षम है, उसे साहित्यिक अनुसधान के अन्तर्गत सग्राह्य नहीं मानना चाहिए। आज हिन्दी के अनुसधाता आदिकाल, भक्तिकाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्वार्द्ध आदि से सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे है जो साहित्य नही है। उदाहरण के लिए, राम-काव्य अथवा कृष्ण-काव्य के कलेवर को विगत दस-पन्द्रह वर्षों मे नवीनता के अन्वेषको ने ऐसे अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थों से भरकर फुला दिया है जो किसी भी परिभाषा के अनुसार काव्य नही है। आप कहेगे उनका ऐतिहासिक एव सास्कृतिक मूल्य है। ठीक है, मै भी इसे मानता हूं; किन्तु अनुसधान के विषय का शीर्षक तो राम-काव्य या कृष्ण-काव्य है, रामभक्ति अथवा कृष्णभक्ति-सम्प्रदायो का इतिहास नही है। जो स्पष्टत अकाव्य है उस सामग्री का पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के लिए उपयोग कर लीजिए किन्तु 'काव्य' शीर्षक के अन्तर्गत उसका अनुसधान करने की कृपा न कीजिए। आदिकाल को ही लीजिए। नाथो और सिद्धो की सैकडो रचनाओ का हमारे खोजियों ने साधुओ की गुदड़ियों मे से निकालकर ढेर लगा दिया है। आयुर्वेद, कृषि, समकालीन राजनीति आदि से सम्बद्ध राशि-राशि ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार आयुवद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे है। निर्गुण सन्तो की साम्प्रदायिक बानिया जिनकी रचना शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितान्त अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-रसिक ने जिनका भूलकर भी उल्लेख नही किया, आज के वैज्ञानिक अनुसधान के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि कर रही है। इसी प्रकार आधुनिक-काल मे भारतेन्दु और द्विवेदी-युगो की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहिन्य मे अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। उधर लोकसाहित्य का आक्रमण भी जोर से हो रहा है, और लोकसाहित्य तक तो कुशल थी, क्योकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की करुण-मधुर अनुभूतियो से उसका कुछ न कुछ सम्पर्क बना रहता था; किन्तु अब तो हमारा अनुसधान लोकवार्त्ता तक प्रगति करता जा रहा है। उस वार्ता तक, जिसके विषय मे सस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रान्त निर्णय था .

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

भामह काव्यालकार २।८७

अर्थात, 'सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षिगण अपने घोसले मे जा रहे है।' यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो वार्ता कहते है। अर्थात 'वार्ता' शब्द हमारे काव्य-शास्त्र मे अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मै एक भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नही चाहता। इसलिए अपने मतव्य को थोडा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मै एक क्षण के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नही चाहता। सास्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक अनुसधान मे इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन सस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने मे सिद्धो, नाथो और सतो की बानियो का अपूर्व महत्त्व है। देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारो का चिर-आश्रित रहेगा, इसी प्रकार लोक-सस्कृति और समाज-शास्त्र के लिए लोकवार्ताओ का महत्त्व अक्षुण्ण है। मध्ययुग अथवा आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपर्युक्त सामग्री अत्यन्त मूल्यवान है, प्रेरक स्रोतो के रूप मे इसका उपयोग किया जा सकता है, कवि-मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता भी असदिग्ध है। किन्तु वह तो क्षेत्र ही दूसरा है। आज तो संत-काव्य, राम-काव्य,

कृष्ण-काव्य, शीर्षक के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और इसका कारण क्या है ? केवल यह गलत नारा कि अनुसधान आलोचना नही है। इसीलिए, आलोचक-दृष्टि के अभाव मे, अनुसधाता काव्य के नवनीत के साथ उस सप्रेटा को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारो ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा माल है। इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी) मे साफ करके ही इस्तैमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसधान का लक्ष्य क्या है ? काव्य-सत्य की शोध ही न ? जिस अनुसधान मे काव्यत्व, अर्थात काव्य का मूल सत्य, ही खो जाए वह फिर और किसकी खोज करना चाहता है ?

उर्दू की परम्परा के मोड़

प्रो० चन्द्रप्रकाशसिंह

जिस भाषा का नाम उर्दू है वह वास्तव मे इस देश के जनसाधारण की भाषा कभी नही थी। परन्तु इतना अवश्य मानना पडेगा कि वह मुगलकाल के अन्तिम दिनो मे कुछ प्रमुख नगरो मे रहने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों के शिक्षित वर्ग की भाषा बन गई थी। इस समय हमे यह बात भी नही भूलनी चाहिए कि भाषा की दृष्टि मे उर्दू का अभ्युदय और शासन की हैसियत से मुगलो का ह्रास परस्पर समकालीन है। इसलिए उर्दूभाषा मे जिन भावो की अभिव्यक्ति हो सकी है वे दो प्रकार के है, एक तो दु:खवाद और दूसरा है विलासवाद। इन्ही दो मनो-वृत्तियो को लेकर दिल्ली और लखनऊ मे उर्दू भाषा और साहित्य के दो सम्प्रदाय स्थापित हुए। जहां तक दिल्ली का सम्बन्ध है, वहा का साहित्य एक वेदना मे डूबा है। वह अपने चारों ओर आई हुई आपत्ति को देखता है, और उसे एक दैवी विधान समझकर उसके सामने अपना सिर झुका लेता है। 'मीर' और 'गालिब' दिल्ली के श्रेष्ठ कवि है और दोनों ने अपनी आपत्ति का रोना रोया है। इसके विपरीत लखनऊ का सम्प्रदाय कुछ अपवादो को छोडकर विलासिता के रग मे डूबा हुआ है। उस विलासिता के वातावरण मे सत्य की खोज का कोई स्थान नही, मनुष्य के भीतर जो गहरी भावनाए है, उनकी अभिव्यक्ति का कोई उपाय उसमे नही है। हँसी-ठट्ठा, छिछोरापन और निम्नतम कोटि की कामुकता का वर्णन ही लखनऊ के सम्प्रदाय की विशेषता है। इस लखनऊ के स्कूल के प्रमुख कवि जुरअत' और 'इंशा' है। कवियो की हैसियत से आज उनका सम्मान अवशिष्ट नही है परन्तु अपने समय के समाज को वे अपने कविता-पाठ से और अपनी कामुकता की अभिव्यक्ति से मुग्ध कर देते थे। परन्तु लखनऊ मे भी एक ऐसा वर्ग विद्यमान था जो कामुकता के पीछे दौडना अपना ध्येय न समझता था, जिसके ऊपर वाजिदअली शाह की मनोवृत्ति की मुहर न लगी थी। विलासियो के जीवन मे एक समय ऐसा भी आता है, जब वे अपने विलासिता के जीवन से ऊबकर धर्म की ओर दौडते है, क्योकि धर्म-चिन्तन मे उनको एक सान्त्वना और एक शान्ति मिलती है। इसलिए लखनऊ के इस छिछोरपन और हसी-ठट्ठे के साहित्य की प्रति-क्रिया-स्वरूप लखनऊ मे ही एक धर्म-प्रधान साहित्य का जन्म हुआ, जिसको हम मर्सिया कहते है। यह मर्सिया भारत की अपनी चीज है। जिस प्रकार के मर्सिए उर्दू भाषा मे पाए जाते है, वैसे न तो फारसी मे है और न अरबी मे। मर्सिया के साहित्य पर हिन्दी का कितना प्रभाव पडा है इसका थोड़ा-सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि मीर अनीस जो मर्सिया-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि है उनको हिन्दी के दस हजार दोहे कठस्थ थे। जितने शब्दो का प्रयोग मीर अनीस ने किया है उतने शब्दों का प्रयोग उर्दू के किसी अन्य कवि ने नही किया। परन्तु मीर अनीस की भाषा न तो कही दुरूह हुई है और न कही उसमे जटिलता ही आने पाई है। मर्सिया-काव्य का ध्येय श्रोताओ के हृदय को आर्द्र बनाना और उनमे करुण रस की निष्पत्ति करना था। इस काम मे मीर अनीस को पर्याप्त मात्रा मे सफलता प्राप्त हुई है। उनके बहुत से ऐसे मर्सिए है, जिनको पढते समय मनुष्य के भीतर से करुणा का वही स्रोत फूट निकलता है, जो रामायण के अयोध्याकाड के पढने से।

इस प्रकार गदर से पहले उर्दू साहित्य में तीन धाराए चल रही थी . दिल्ली का दु:खवाद, लखनऊ का विलासवाद, मर्सिया का धर्मवाद। परन्तु १८५७ की क्रान्ति ने भारत की दुनिया ही बदल डाली। अब न दिल्ली स्वतन्त्र

थी और न लखनऊ। कुंठित देश एक नई भावना से पीडित था, और उसके लिए नवीन भाषा और भाव की याचना कर रहा था। इसलिए हम यह पाते है कि महाक्रान्ति के पश्चात उर्दू ने एक नवीन वाग्योग और नई भावना की अभिव्यक्ति स्वीकार की।

जब दो राष्ट्रो या दो सस्कृतियो मे परस्पर सघर्ष होता है, तो उनके फलस्वरूप जो सास्कृतिक उन्मेष घटित होता है, उसमें उन दोनों का समन्वय होता है। परन्तु यह समन्वय एक ही दिन मे नही हो जाता। इसके लिए काफी समय चाहिए और इसके लिए साधारणतया तीन मजिलो से गुजरना पडता है। पहले विजेता की सस्कृति विजित की संस्कृति को छाप लेती है, और विजित जाति के साहित्यकार विजेताओ के साहित्य की नकल कर अपने को धन्य मानते हैं। वह अपने अतीत और सस्कृति को एक सन्देह की दृष्टि से देखते है। इस स्थिति मे साहित्य का सर्जन नही होता, केवल अनुकरण होता है। इस नकल को ही प्राय प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य कहा जाने लगता है। परन्तु मनुष्य की आत्मा कभी नकल करने से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह नित्य-नूतन सर्जन मे ही शान्ति पा सकता है। सर्जन विश्व के विधाता का नियम है, और जो आत्मा उसी विधाता का अश है, वह भी नये सर्जन के लिए सदैव विकल रहता है। साथ-ही-साथ राष्ट्रीय जीवन मे भी आत्मग्लानि के पश्चात आत्मश्लाघा का एक समय आता है, जब प्रत्येक नई वस्तु को प्रत्येक नये विचार और भावना को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता है, अतीत की पूजा की जाती है और वर्तमान की अवहेलना जीवन का एक अग बन जाती है। वस्तु और आदर्श का सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस सघर्ष के परिणामस्वरूप नवीन और पुरातन दोनो से ऊचा उठकर सनातन तत्त्व की खोज मनुष्य की आत्मा का ध्येय बन जाती है। वह वर्तमान और अतीत के देश और काल के पदो के पीछे एक सनातन सत्य की झाकी देखता है। एक ऐसा सत्य, जो परिस्थितियो से आच्छादित हो जाता है, परन्तु नष्ट नही हो जाता। सूर्य की तरह मेघमालाओ से घिर जाने पर भी उसका प्रकाश किसी स्तर पर देदीप्यमान रहता है। समन्वय-काल मे इसी सनातन तत्त्व की प्रस्थापना होती है। यही जीवित जातियो और भाषाओं का विकास-मार्ग है।

उर्दू भाषा के लिए भी इन तीनों परिस्थितियों के बीच से पार होना अनिवार्य है। दो परिस्थितियो से वह गुजर चुकी है, तीसरी परिस्थिति के लिए उसे तैयार होना है। महाक्राति के बाद के साहित्य-स्रष्टाओ मे मौलाना अल्ताफहुसैन 'हाली' और 'आजाद' का नाम प्रमुख है। वे दोनो उर्दू के गजल, उसके शृगार, उसकी रूढिग्रस्त उपमाओं और उसके सकुचित क्षेत्र से ऊब उठे थे। इसलिए वे अगरेजी की प्रवृत्ति-सम्बन्धी कविता का अनुसरण करते है। विदेश का पौधा इस देश की सास्कृतिक भूमि मे लगाते है और उसको अपनी प्रतिभा से सीचते है। परन्तु वह पौधा इस देश की भूमि के अनुकूल नही है, केवल विलायत के पौधे की नकल है। उससे इस देश के लोगो की तृप्ति नही होती, इसलिए वह आप-ही-आप मुरझाकर सूख जाता है। इसलिए हाली और आजाद की गदर-बाद की पहली कविताओ मे रस नही है। ऐसा लगता है कि वे पद्य मे लिखे हुए नीरस निबन्ध है। इस समय मे केवल अग्रेजी साहित्य की नकल ही नही होती, उसकी कुछ कविताओ का अनुवाद भी होता है। यह सब समय है १८८५ के पहले का, जब इस देश मे राष्ट्र की मुक्ति के लिए न तो व्यापक क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रारम्भ हुए थे और न कांग्रेस की स्थापना हुई थी।

क्रान्तिकारी आन्दोलन और काग्रेस की स्थापना इस देश के इतिहास मे एक विशेष महत्त्व रखते है। वे एक राष्ट्र के निश्चय-बल की घोषणा करते है। वह राष्ट्र केवल अग्रेजो की नकल से ही सन्तुष्ट नही है, अपने लिए एक स्वतन्त्रता का चित्र चाहता है। स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व एक ही वस्तु है। यह स्वतन्त्रता की भावना और व्यक्तित्व उत्पन्न करने की चेष्टा देश में विभिन्न प्रकारों मे फूट पडती है। कही उसका नाम है क्रान्ति-आन्दोलन, और कही उसका नाम है पुनर्जागरण। साहित्य का क्षेत्र भी इससे बचा हुआ नही है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस देश को आत्म-विश्वास के लिए बहुत कुछ तैयार कर दिया था। उन्होने अपने समय के हिन्दू नवयुवको के मन मे यह भावना भर दी थी कि चाहे हम इस समय किसी भी विषम परिस्थिति मे क्यों न पड गए हो, हमारे पास ज्ञान की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक वेद हैं, जो विश्व के साहित्य में अपना जोड नही रखते। हिन्दू नवयुवक दयानन्द की इस विचारधारा से प्रभावित हुए, उनके डूबते हुए हृदयों को सहारा मिला और वे अपने पैरों पर खड़े हो सके। उन्होंने अपनी प्रतिभा को एक नये सृजन के कार्य

में लगाया। विदेश की नकल से हटकर अब तक अतीत के प्रति गौरव के अनुभव करने की कहानी प्रारम्भ होती है। परन्तु इसी समय नाटक के रगमच पर विदेशी राजनीति का खिलाडी आ पहुचता है जो यह अनुभव करता है कि इस तीस करोड के जनसमुदाय पर शासन करने की केवल एक तरकीब है, और वह यह कि हिन्दू और मुसलमानो को आपस मे लडाया जाय। मीर सैयद अहमदखा इस कूटनीति के चगुल मे फस जाते है और उनके द्वारा अलीगढ मे एक मुहमडन कालेज की स्थापना होती है, जो आगे चलकर राष्ट्र-विरोधी विचारधाराओ का केन्द्र बन जाता है। सर सैयद 'हाली' को भी अपनी ओर खीच लेते है, और वह अलीगढ मे अध्यापक नियुक्त हो जाते है। वही हाली, जिन्होने पहले 'हुब्बे वतन' के शीर्षक से एक बडी लम्बी कविता लिखी थी, जिसमे हिन्दू-मुसलमान सबको एक राष्ट्रीयता की साधना मे लग जाने को पुकारा था, अब 'शिकवए हिन्द' और 'मद्दो जजर इस्लाम' नाम की कविताए लिखते है। 'हुब्बे वतन' नाम की कविता नीरस है, पर उसके विचार स्पष्ट है। वह राष्ट्र-विरोधी नही है। शिकवए-हिन्द (भारत से उपालम्भ) मे हाली इस देश मे कोई गौरव की वस्तु नही पाते। वह यह अनुभव करते है कि इस्लाम जिस व्यापक ध्येय को लेकर चला था वह भारत मे आकर समाप्त हो गया। जो धर्म अपने जीवन के प्रथम सत्तर वर्षों मे ही स्पेन से लेकर अफगानिस्तान तक फैल गया था, उसका बेडा गगा के दहाने मे जाकर डूब गया।

राजनीति का प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन पर भी पडा। अग्रेजों ने जो नीति पहले अपनाई थी, वह अशत मुस्लिम-विरोधी थी। परन्तु उन्होने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि देश की राजसत्ता का अपहरण हमने मुसलमानों के हाथो से नही, वरन हिन्दुओ के हाथो से किया है। उन्होने यह भी अनुभव किया कि हिन्दू स्वतन्त्रता चाहता है और मुसलमान राजसत्ता का भूखा है। ऐसी स्थिति मे अग्रेजी साम्राज्यवाद और हिन्दू के बीच मे कोई स्थायी समझौता नहीं हो सकता है। हा, सत्ता के बटवारे के विषय मे मुसलमान से समझौता किया जा सकता है। मुसलमानो में एक ऐसा प्रबल दल विद्यमान था, जो देश मे प्रजातन्त्रवाद की अपेक्षा अग्रेजों के शासन को अधिक पसन्द करता था। अलीगढ़ कालेज इस मनोवृत्ति का केन्द्र बन गया, और वहा से जो विद्यार्थी निकले उनमें से ९० प्रतिशत साम्प्रदायिकता का विष अपने मन मे लेकर लौटे और जहा-जहा वे गए, उन्होने इस विष को बोना प्रारम्भ कर दिया।

पुरानी पीढी धार्मिक सहिष्णुता के वायुमडल मे पली थी। दोनो जातियो के मान्य व्यक्ति धर्म का परस्पर विरोध करते हुए भी मानवता के कुछ ऐसे मूल्यो को स्वीकार करते थे, जिनके विषय में कोई मतभेद न था, जो बुराई को बुरा और अच्छाई को अच्छा समझते थे और जिनकी धार्मिकता साम्प्रदायिकता से अभिभूत न थी। इस्लाम का वह रूप जो उसने इस देश में आते समय प्रदर्शित किया था, बहुत कम उग्र रह गया था। एक ऐसी विचारधारा का जन्म हुआ था, जो मदिर और मस्जिद को गौण स्थान देती थी, और हृदय की अन्तर्भावना को मुख्य; जो मुस्लिम होते हुए भी हिन्दुओ के योगियो और सन्यासियो के प्रति आकर्षित हुई थी और जो हिन्दू होते हुए भी मुसलमानो के समाश्रत हसन और हुसेन का आदर करती थी। जो विष अलीगढ कालेज के नवयुवको ने बोया, उससे वह विचारधारा नष्ट हो गई। बुझते हुए कोयलों को फिर नई वायु का प्रोत्साहन मिला और वह धधकने के लिए व्यग्र हो उठे।

यह स्वीकार करना पडेगा कि एक समय ऐसा अवश्य आया, जब उर्दू हिन्दू और मुसलमान दोनों की एक श्रेणी-विशेष के लोगो की भाषा बन गई थी। या यो कहिए कि वह उत्तर भारत की एक शहरी उपभाषा बन गई थी। मूल हिन्दी भाषा कभी अपने स्थान से च्युत नही हुई। उर्दू भारतीय भाषाओ के परिवार मे हिन्दी की एक नई शैली के रूप मे आई और उसको इस देश की अन्य सब भाषाओं की तरह दुलार और स्नेह मिला। परन्तु उसका रूप केवल एक शहरी उपभाषा का रहा; देश की वास्तविक भाषा, अर्थात जनता की भाषा, वह कभी नही बन पाई। फिर भी उर्दू अपनी ही वस्तु थी इसी देश की थी और उस पर भारतीयता की एक गहरी छाप लगी हुई थी। मिर्जा गालिब के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनो समाविष्ट थे। अन्य कवियो के शिष्य-जनों मे भी हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। तुलसीकृत रामायण की बहुत-सी प्रतिया अब भी पुराने घरों मे उर्दू लिपि मे छपी हुई मिलेगी और साठ-सत्तर वर्ष से पहले के सग्रहकर्ताओ के घरो मे तो ऐसी पुस्तिकाए मिलेगी, जिनमें हिन्दी-छन्द उर्दू लिपि मे लिखे हुए पाए जाते हैं। यह आदान-प्रदान केवल एक ओर से न था। उर्दू के कुछ कवियो ने ऐसी कविताएं भी लिखी है जिनमें तीन पक्तियां होती

हैं और दो प्रथम पक्तिया हिन्दी का दोहा होता है और तीसरी पक्ति उर्द् के किसी छन्द से उर्दू की पक्ति होती है ।

यहा यह बात याद रखने योग्य है कि दोहा के समान उर्द् मे कोई छन्द नही है, यद्यपि गीतिका, हरि-गीतिका, भुजगप्रयात आदि अनेक छन्दो के समानान्तर छन्द उर्द् भाषा मे उपलब्ध है । उर्द् मे हिन्दुओ ने रामचन्द्र की कथा लिखने का प्रयास किया, क्योकि भगवान राम की कथा भारतीय सस्कृति का प्राण रही है । और जिसने भगवान राम के जीवन के मर्म को नही समझा उसने भारतीय सस्कृति को नही समझा, तथा जिसने भगवान राम की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली उसने हिदू सस्कृति स्वीकार कर ली । मुशी जगन्नाथप्रसाद खुश्तर का एक ऐसा प्रयास बहुत प्रचलित है । इसके अतिरिक्त और भी इस प्रकार के प्रयास किये गए, परन्तु वे इतने प्रचलित नही ।

उर्दू के जन्म के समय मुगल-साम्राज्य मे हिन्दू और मुसलमानो को पास लाने का प्रयास चल रहा था । उस समय जो कविता उर्द् मे हुई, उसमें हिन्दी-शब्द बहुतायत मे मिलते है । वह मुगल-साम्राज्य के उत्कर्ष का काल था, सब दिशाओ मे समन्वय चल रहा था । साहित्य, सगीत, कला, जीवन सबमे हम सब एक दूसरे के निकट आ रहे थे । रामायण और महाभारत का अनुवाद सस्कृत से फारसी मे हुआ था । इस समय के प्रमुख मुसलमानो मे और कोई दोष चाहे रहे हो पर यह स्वीकार करना पडेगा कि धर्म के नाम पर उनकी कट्टरता कम हो चली थी । हिन्दुओ का वेदान्त और मुसलमानो का सूफी मत एक दूसरे के बहुत निकट थे, और दोनो जातियो मे भिन्न-भिन्न नामो मे उनकी विचारधारा सबसे अधिक सम्मानित थी ।

मुसलमानो की नई राजनीति ने साधारण मुसलमानो को यह समझने के लिए विवश किया कि वे हिन्दुओं से सर्वथा भिन्न है । उनका धर्म हिन्दुओ से भिन्न है, उनकी सस्कृति भिन्न है तथा उनके जीवन के मानबिन्दु भी भिन्न हैं । वे देश के शासक रहे है और शासन करना उनका जन्मजात अधिकार है । हिन्दू शासित रहा है और उसको मुसल-मानों की अधीनता मे रहना ही चाहिए । यह बात नही है कि मुसलमानो मे इसके प्रतिकूल विचार रखने वाले व्यक्ति मौजूद नही, परन्तु उद्वेगो की धारा मे विचारो के लिए कोई स्थान शेष नही रहता । मुसलमान सत्ता की मदिरा की धारा मे बहे जा रहे थे, और किसी भी साधारण व्यक्ति के लिए, उस नशे का उतारना, जो उनके ऊपर चढ रहा था, असम्भव था ।

उर्द्-साहित्य मे भी इस स्थान पर स्पष्ट रूप मे दो दल हो गए । एक वह जो देश की स्वतन्त्रता के विचारों से प्रेरणा ग्रहण करता था और दूसरा वह जो मुस्लिम सत्ता के पुनरुत्थान मे । ये दोनो विचारधाराए उर्द्-साहित्य मे भी स्पष्ट रूप मे देखी जाने लगी ।

देश और विदेश मे बहुत-सी ऐसी घटनाए हुई जिससे दूसरी प्रकार की भावना को बल प्राप्त हुआ । एक भावना थी बलकान की लडाई, दूसरी, उसके पश्चात टर्की के ऊपर विजय प्राप्त करना और उसकी आड मे पैन-इस्लामिज्म का उदय । देश के अन्दर जो घटनाए हुई उनमे थी १९०६ की पृथक निर्वाचन और मुस्लिम लीग की स्थापना, हिन्दी की खडीबोली का उदय और उसका न्यायालयो और शिक्षालयो मे प्रथम स्थान प्राप्त करने के लिए सघर्ष ।

सन १९२० तक ये दोनो धाराए स्पष्ट रूप मे देश के सामने नही आई थी । सन १९२० मे महात्मा गाधी के असहयोग आन्दोलन मे हिन्दू और मुसलमान बाह्यत एक-दूसरे के बहुत पास आ गए थे, परन्तु साथ-ही-साथ विचार मे एक दूसरे से बहुत दूर भी हो गए थे । हिन्दुओ के लिए सारे सघर्ष और पुरुषार्थ का मानबिन्दु था देश की स्वतन्त्रता । मुसलमानो के लिए उसका मानबिन्दु था खिलाफत की सरक्षा । इसीलिए जब इसमे एकता का मार्ग अवरुद्ध हो गया, तो विचारो की भिन्नता अपने उग्र रूप मे प्रकट हो गई । यह सत्य है कि जब डा० इकबाल यूरोप की यात्रा करके सन १९१० ई० या उसके लगभग भारत मे लौटे थे तो उनकी वैयक्तिक विचारधारा मे आमूल परिवर्तन हो चुके थे । यूरोप जाने से पहले वह एक उत्कृष्ट राष्ट्रीय कवि थे और इनकी उस समय की लिखी हुई कविताए राष्ट्र की साहित्यिक सम्पत्ति की मूल्यवान निधिया है । अपनी यूरोप की यात्रा मे उन्होने यूरोप की भयकर राष्ट्रीयता का उग्र रूप देखा । साथ ही-साथ वह बर्गसा, नीत्शे और ट्राट्स्की के दर्शन के भी सम्पर्क मे आए । जर्मनी से उनको अपनी डाक्टरेट की डिग्री मिली

थी और उस समय जर्मनी सत्तावाद (डिक्टेटरशिप) की भावना से ओतप्रोत था। डा० इकबाल ने भी इसी प्रवाह में अपना सन्तुलन खो दिया। जब वह भारत लौटे तो वह पैन-इस्लामिज्म के एक उग्र कवि थे। जहां पहले उन्होंने हिमालय, नया शिवाला, तस्वीरे-दर्द और हिन्दी तराना नामक कविताए लिखी थी, वहा अब उन्होने शिकवा, जवाबे शिकवा, शमा और शायर, तुलूए इस्लाम और तरानये-मिल्ली नामक कविताए लिखी। उन्होंने अपनी इन कविताओ मे इस्लाम की गिरती हुई राजनीतिक सत्ता का रोना रोया है और मुसलमानो को फिर उस सत्ता को प्राप्त करने के लिए उत्तेजित किया है।

जिस समय उन्होने राष्ट्रीय कविताए लिखी थी उस समय देश बगाल के विभाजन के उत्पीडित था और उस विभाजन के प्रतिशोध के लिए स्वदेशी-आन्दोलन भी चलाया गया था। उस समय उर्दू कविता एक नया रूप बदल रही थी। 'हाली' और 'आजाद' का वह जमाना बीत चुका था, जिसमें उर्दू कविता ने अग्रेजी कविता से न केवल प्रेरणा ही प्राप्त की थी, बल्कि उसका अनुकरण भी किया था। यह इस शती मे पहले की बात है। इस शती के साथ ही साथ उर्दू के तीन प्रमुख कवियो ने अपना साहित्यिक जीवन शुरू किया . डा० इकबाल, 'चकबस्त' लखनवी और 'सुरूर' जहानाबादी। पहले डा० इकबाल अपने इस्लामत्व मे राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो रहे थे। सुरूर जहानाबादी की राष्ट्रीयता की साहित्यिक साधना की पृष्ठभूमि हिन्दू धर्म था और चकबस्त हिन्दू और मुसलमानो की एक मिली-जुली सस्कृति के सदेशवाहक थे। इकबाल के हृदय मे भारत के प्राचीन ऋषियो के प्रति सन्मान और आदर का भाव था, वह उनके विरोधी न थे। अपनी 'हिमालय' नामक कविता मे उन्होने उस पुरानी सस्कृति के पुनरुत्थान की ओर स्पष्ट सकेत भी किया है : 'दौड पीछे की तरफ ऐ गर्दिशे ऐयाम तू।'

सुरूर जहानाबादी ने बहुत-सी ऐसी कविताए लिखी है जो भारत की प्राचीन सस्कृति के सन्देश से गर्भित है। सीताजी की बेकरारी, नल-दमयन्ती, चित्तौड की गुजिश्ता अजमत, 'सती' इत्यादि उनकी अनेक ऐसी कविताए हैं। परन्तु मुसलमानो के प्रति उनके काव्य में हमे एक उदात्त उदारता और सवेदना का भाव मिलता है। चकबस्त के यहा प्रारम्भ से ही हिन्दू और मुसलमान दोनो परम्पराओ को मिलाने का प्रयत्न विद्यमान है जो लखनऊ की विशेष सस्कृति के अनुरूप ही है।

सुरूर का देहान्त सन १९१० ई० मे हो गया उस समय उनकी आयु केवल ३७ वर्ष की थी। वह अपनी प्रतिभा का पूरा दान साहित्य को न दे सके। चकबस्त का शरीरपात सन १९२६ ई० मे हुआ। उस समय आयु केवल ४४ वर्ष की थी और वह बहुत कुछ उर्दू की सेवा करने की योजना बना रहे थे। उस समय उनकी कविताए बहुत लोकप्रिय हो गई थी। रामायण का एक सीन, ऐनी बीसेंट की गिरफ्तारी, भारत के सैनिको को बिदा आदि उनकी कविताए सीधी हृदय पर चोट करने वाली है और एक सात्त्विक उत्तेजना प्रदान करती है।

सुरूर और चकबस्त की मृत्यु के पश्चात राष्ट्रीयता का कोई कवि उर्दू भाषा मे ऐसा न रह गया था, जो किसी अश मे भी डा० इकबाल की समता कर सकता था। इसलिए उर्दू पढने वालो को और विशेषकर मुसलमानों को जो प्रेरणा मिली वह डा० इकबाल से ही। इस समय भी कुछ उर्दू के साहित्यिक, जिनमे भी हमीदुल्ला 'अफसर' विशेष उल्लेखनीय है, श्री शब्बीर हुसेन 'जोश' के साथ उर्दू-साहित्य में राष्ट्रीयता के दीपक की बुझती हुई लौ के बढाने मे प्रवृत्त रहे। परन्तु इकबाल के साहित्य के सर्जन और दर्शन की उनसे कोई तुलना नही की जा सकती।

देश का यह भी दुर्भाग्य था कि इसी समय मे अजमलखा का देहात हो गया। हकीम अजमलखा, हिन्दू और मुसलमान, दोनो मे समान रूप से समादृत थे और उनका प्रभाव दोनो पर था। दूसरा आघात जो हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को पहुचा वह डा० असारी के निधन से। डा० असारी के निधन के पश्चात मुस्लिम जनता साम्प्रदायिक पंजे मे अच्छी तरह से जकड गई। १९३० मे जिन मुसलमानो ने देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लिया था उनकी सख्या १९२० के आन्दोलन मे भाग लेने वालो की अपेक्षा कही कम थी। परन्तु सख्या मे भी अधिक मत्त्हव की बात उनके स्तर की थी। सन १९२० मे जिन मुसलमानो ने भाग लिया था, वे अपने समाज मे एक सम्मान का स्थान रखते थे; परन्तु सन १९३० मे जिन लोगो ने भाग लिया उनका कोई स्थान दूसरे समाज मे न था।

सन २० का राष्ट्रीय आन्दोलन जब समाप्त हुआ, तो हिन्दू और मुस्लिम एकता की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह एकता अपने-अपने स्वार्थों पर अवलम्बित थी और उसके पीछे कोई एकनिष्ठा या किसी एक संस्कृति के पीछे श्रद्धा की भावना न थी। उस प्रतिक्रिया मे हमको मिला मुलतान और कोहाट का दगा, महात्मा गाधी का २१ दिन का व्रत, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय और महामना मालवीय का काग्रेस मे एक प्रकार से अलग हो जाना और दूसरी ओर मौलाना मोहम्मदअली और शौकतअली का भी काग्रेस मे अलग हो जाना। अग्रेजी साम्राज्यवाद का कुचक्र सफल होने लगा और जो विष का वृक्ष अलीगढ कालेज मे बोया गया था, वह साम्प्रदायिकता के वसन्त मे अपने विषमय फल लाने लगा। महात्मा गाधी ने एक महान तपस्वी की तरह फिर भी अपना सन्तुलन नही खोया। वह फिर भी दोनो सम्प्रदायो को पास लाने के प्रयत्न मे सलग्न रहे। इस सकट-काल मे हमारे साथ दो प्रमुख मुसलमान नेता थे, एक खान अब्दुलगफ्फार खा और दूसरे मौलाना आजाद। मुसलमान खान अब्दुलगफ्फार खा का सम्मान करते थे परन्तु सीमाप्रान्त को छोडकर और कही भी मुसलमान उनका राजनीतिक नेतृत्व स्वीकार करने को तैयार नही थे। मौलाना अबुलकलाम आजाद का प्रभाव मुसलमानो मे मौलवियो और उन लोगो पर एकरूप था जो धार्मिक मनोवृत्ति रखते थे। परन्तु उनका प्रभाव उन लोगो पर अधिक न था जो मुस्लिम सम्प्रदाय के लिए राज-सत्ता चाहते थे। इस समय मुसलमानो के सामने दो वस्तुए थी, साम्प्रदायिकता की मदिरा और राष्ट्रीयता का गगाजल। साधारण मुस्लिम जनता ने उस मदिरा को ग्रहण करना ही स्वीकार किया। राष्ट्रीयता मे मुसलमानो को यह मनमोहकता और मादकता नही मिली जो उन्हे साम्प्रदायिकता मे मिली। उर्दू भी इन साम्प्रदायिकता के पुजारियो के पजे मे पडकर साम्प्रदायिकता की भाषा बन गई। वह साम्प्रदायिकता का ही स्वर अलापने लगी और उस का ही गीत गाने लगी। आजकल जो उर्दू के प्रति एक शका है, उसका मूल उर्दू के इस साम्प्रदायिक सगीत मे ही है।

यहा यह बताने की आवश्यकता नही है कि फारसी के अक्षर ग्रहण करने के कारण उर्दू अपना उद्भव उसमे कैसे मान बैठी, हा यह अवश्य हुआ कि युग की समस्त चेतनाओ का प्रभाव अपरोक्ष रूप मे उर्दू पर भी पडता रहा। यह भी सत्य है कि उर्दू ने आरम्भ मे ही फारसी-साहित्य का जो प्रभाव ग्रहण किया था उसे ही अत तक निष्ठापूर्वक साधे रहने की चेष्टा की और यहा तक कि फारसी साहित्य मे समय-समय पर होने वाले परिवर्तनो को भी ग्रहण नही किया; तो भी उर्दू के कवियो को स्वीकार करना पडा कि जमाने मे इश्क के अलावा और भी सैकडो गम है।

गजल प्रयुक्त तो गजल के ही रूप और अर्थ मे हुई, पर 'माशूक' अलबत्ता माशूक नही रह गया। अग्रेजो मे हुकूमत लेने की कविताओ मे 'हुकूमत' माशूक हो गई, साम्यवाद के दौर-दौरे मे 'रोटी'। खत एक ही रहा, मजमून बदलते रहे। मौ० मोहम्मदअली, शौकतअली, गाधीजी, हकीम अजमलखा, डा० जाकिर हुसेन आदि को राष्ट्रीयता का हामी पाकर मौलाना अबुलकलाम आजाद द्वारा उर्दू काव्य मे भी राष्ट्रीयता मे ओत-प्रोत रचनाए की जाने लगी। सविनय अवज्ञा, असहयोग और सत्याग्रह का भी प्रभाव उर्दू पर उतना ही पडा जितना क्रान्तिकारी विचारधारा का और हिन्दुस्तान से लन्दन तक भारतीय 'तेग' चलने की कामना बराबर दोहराई जाती रही।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। दोनो बातो का प्रभाव उर्दू साहित्य पर पडा। देश मे विभिन्न वादो ने प्रजातन्त्र के झडे के नीचे अपना-अपना बिगुल बजाना आरम्भ किया। उर्दू के कवियो मे भी मोर्चेबन्दी हो गई। यन्त्र-प्रधान व्यापारिक युग की समस्त सवेदनाए उर्दू-काव्य मे अभिव्यक्ति पाने लगी। आदमी और श्रम की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली गई। बुद्धिवाद की नास्तिकता ने भाग्य और भवानी की लिखा-पढी को फफोड कर रख दिया, विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की वकालत भी उर्दू कविता ने की। साम्राज्यवाद के अत और समाजवाद की स्थापना का खुलकर स्वागत हुआ। 'बोल री धरती बोल' का उत्तर मिल गया।

यदि यह कहा जाय कि उर्दू-साहित्य इस नये मोड पर पहुचते-पहुचते अपनी कुठाओ मे मुक्ति पाकर मानवता के उन्नयन का समर्थक और माध्यम बन गया है तो अत्युक्ति न होगी। परन्तु उर्दू को लिपि के मामले मे स्वतन्त्रता नही प्राप्त हुई। विदेशी लिपि का बहिष्कार करने की आवश्यकता अनुभव की गई और बडे-बडे उदारमना उर्दू-लेखको ने स्वीकार किया कि यदि उर्दू भाषा को देवनागरी लिपि में लिखा जाय तो यह गुलामी के लाछन मे त्राण पा

सकेगी। उर्दू के ऐसे भी समर्थक हैं जो इस वाछनीय परिवर्तन के विरोधी है। तो भी अब इस युग में परिवर्तन को अधिक दिनों तक स्थगित नही रखा जा सकता है। जिस भाषा ने समय से प्रभाव ग्रहण करते-करते इतनी उन्नति करली है, क्या वह सकीर्णता के इस क्षीण बन्धन मे बधी रह जायगी। यह सही है कि उर्दू के कुछ लेखक, जो कल तक अपने देश में राष्ट्रीयता के उन्नायक थे, आज पाकिस्तान पहुच कर इस प्रस्ताव का विरोध कर रहे है। उर्दू के हिन्दुस्तानी अभि-भावकों मे भी इस प्रश्न पर दो मत है, तो भी यह नही समझना चाहिए कि आज किसी कारण से जो व्यक्ति उचित-अनुचित का विवेक नही कर पा रहा है वह कल भी नही कर पाएगा।

उर्दू-कवियो के काव्य-सग्रह अब देवनागरी लिपि मे प्रकाशित हुए है। फारसी अक्षरो के समर्थको को विचार करना चाहिए कि इससे पाठ मे कही कोई अन्तर पडता है? या यह कि उस साहित्य को अब उर्दू-साहित्य नहीं कहा जायगा? प्रश्न पर उदारतापूर्वक आगे दूर तक देखते हुए किसी पूर्वाग्रह को मन मे स्थान दिए बिना विचार करने की आवश्यकता है कि श्रेष्ठ क्या है और वरेण्य क्या है?

पाकिस्तान द्वारा उर्दू भाषा गृहीत होने के कारण जो अवाछनीय गतिविधि भारत के उर्दू-साहित्य मे परिलक्षित होती है, वह यहां की परम्पराओ के विरोध मे जी सकेगी, ऐसा नही जान पडता। यहा उर्दू को समस्त अरा-ष्ट्रीयता विसर्जित करके देश की अन्य भाषाओ से सम्बन्ध रखकर चलने की आवश्यकता है। अराष्ट्रीयता की यह दुर्भावना तब तक बनी रहेगी जब तक उर्दू विदेशी लिपि का बहिष्कार नही कर देती। फारसी लिपि और पाकिस्तान जैसे घोर सम्प्रदायवादी राष्ट्र से जब तक उर्दू-साहित्य का सम्बन्ध अक्षुण्ण रहेगा तब तक उसमे भारतीयता की भावना नही उत्पन्न होगी और यही प्रवृत्ति अतत घातक सिद्ध होगी।

अत आवश्यक है कि उर्दू-साहित्य के कर्णधार इस पक्ष पर विचार करे कि भारत की भाषा होते हुए अभारतीय प्रवृत्तियो को अपनाना उर्दू के लिए कहा तक मुनासिब है और इस प्रवृत्ति का परित्याग किए बिना क्या भारत मे उर्दू जी सकेगी?

उर्दू को जीवित, सुसम्पन्न और उत्तरोत्तर प्रगतिशील बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी के साथ उसने कृत्रिम भेद की जो दीवार खडी की है, उसे गिरा दिया जाय। प्रारम्भ मे यह भेद नही था। उर्दू के आधुनिक आचार्य इशा ने 'दरियाए लताफत' मे उर्दू के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया है। आतिश ने भी 'उर्दू' के लिए 'हिन्दी' शब्द का इस्तेमाल किया है और सादी के समकालीन कवि बाकर आगाह अपने काव्य-सग्रह को 'दीवाने हिन्दी' कहते है। ऐसे अन्य भी अनेक प्रमाण मिलते है, जिससे यह सिद्ध होता है कि प्रारम्भिक अवस्था मे उर्दू के प्रतिष्ठित कवियो द्वारा हिन्दी-उर्दू का अभेद स्वीकृत था। किन्तु लिपि-भेद के कारण ही भेद की जड पडी और वह बढकर शैली-भेद के रूप मे परिणत हुआ और आज वही भ्रम मे भाषा-भेद मान लिया गया है। भाषा-भेद-विषयक यह भ्रान्त एव अवैज्ञानिक धारणा आज इस देश मे साम्प्रदायिकता एव अराष्ट्रीय प्रवृत्तियो का अधिष्ठान बन गई है। इसको दूर करने के लिए हिन्दी और उर्दू के बीच का लिपि-भेद तुरन्त दूर कर देना आवश्यक है। इसको दूर करने के लिए हिन्दी तथा उर्दू दोनो पक्षो से सद्भावनापूर्ण सामूहिक प्रयत्न होना चाहिए। हिन्दी के पाठ्यक्रमो मे मीर, गालिब आदि को हिन्दी का ही कवि मान कर स्थान दिया जाना चाहिए, उर्दू-साहित्य के इतिहास को भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अवि-च्छेद्य अग मान कर अध्ययन किया जाना चाहिए। लिपि-भेद दूर हो जाने से शैली-भेद दूर होगा, और दोनो की सहज एकता की सम्यक प्रतिष्ठा हो सकेगी। एक ध्यान मे रखने की बात है कि बगाल और गुजरात मे भी बहुसख्यक समर्थ मुसलमान कवि हुए है, परन्तु वहा उर्दू की तरह लिपि या शैली का कोई भेद उत्पन्न नही हुआ। इसका मुख्य कारण लिपि की एकता थी। हिन्दी और उर्दू के बीच लिपि-भेद दूर कर देने से हमारे राष्ट्रीय जीवन की अनेक जटिल साम्प्रदायिक समस्याओ का फल स्वत प्राप्त हो सकता है।

सम्पादक—

रामधारीसिंह 'दिनकर'

जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

सम्पादकीय

यह संस्कृति खण्ड राजर्षि टंडन जी की सांस्कृतिक विचारधारा के प्रति एक छोटी-सी श्रद्धांजलि-मात्र है। संस्कृति का क्षेत्र असीम है, एक-एक विषय पर सैकड़ों ग्रंथ विद्यमान हैं। यहां पर भारतीय सस्कृति की कुछ मूल प्रवृत्तियों पर एक-एक लेख दिया गया है। सौभाग्य से भारतीय चित्र-कला, संगीत-कला तथा नाट्यकला में वर्तमान शताब्दी में जो प्रगति हुई है उसके भी अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित कुछ सर्वेक्षण हमें प्राप्त हो गये हैं। भारतीय संस्कृति के उद्गमकालीन कुछ मूल प्रश्नों पर तथा संस्कृतियों के समन्वय पर भी इस खण्ड में कुछ विचार प्रकट किये गए हैं जो हिंदी के लेखकों को इन विषयों पर और अधिक ध्यान देने के लिए आकर्षित करते हैं। इस छोटे-से खण्ड में भी हमें हिंदी के कुछ माने हुए विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो सका, इसके लिए हम उनके अत्यंत कृतज्ञ हैं।

इन्द्र

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

ऋग्वेद मे इन्द्र देवता की महिमा और व्याख्या के अनेक मत्र है। 'इन्द्र' ईश्वर का वाचक है। परमैश्वर्यरूप सृष्टि का विधाता यदि किसी शब्द से यथार्थ मे अभिहित किया जाय, तो उसके लिए 'इन्द्र' यही उपयुक्त नाम हो सकता है। इस विश्व मे सर्वव्यापक शक्ति-तत्त्व इन्द्र है। इस शरीर मे इन्द्रियों का अधिष्ठाता मध्यप्राण भी इन्द्र कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्ट कहा है कि कोई मूलभूत शक्ति या अग्नि इस देह मे प्रतिष्ठित हुई है। उसी के सचालन से अन्य सब अवयव कार्य मे प्रवृत्त हैं। वह अग्नि या जीवनी-शक्ति समिद्ध होने के कारण 'इन्ध' कहलाती है। उसका शतायु-पर्यन्त समिन्धन हम सब प्रत्यक्ष देख रहे है। वनस्पति, पशु और मानव, इन तीन धरातलो या रूपो मे वह शक्ति प्राणनक्रिया कर रही है। उसकी मध्यगत सत्ता से ही जीवन का सत्र सतत है। इस शक्ति की सज्ञा इन्धनात्मक होने के कारण परोक्ष या सांकेतिक भाषा मे 'इन्द्र' कही जाती है। शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि मे इस निरुक्ति का जो कुछ मूल्य हो, तात्त्विक दृष्टि से यह नितान्त सत्यात्मक है।

मध्य या केन्द्रीय प्राणशक्ति मूलरूप मे 'एक' है, किन्तु सृष्टि या अभिव्यक्ति मे आते ही वह 'बहुधा' हो जाती है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** ऋषियो का दर्शन है। यह अर्थवाद या कथन-मात्र नही, सृष्टि का अविचल तथ्य है। विश्व मे मूल शक्ति एक है पर उसके रूप बहुधा हैं। शरीर की मूलभूत शक्ति एक है, पर वही चक्षु, श्रोत्र, वाक्, प्राण, मन आदि के रूप मे कार्य करती है। इन्हे 'देव' कहा जाता है। स्थूल इन्द्रियो के अधिष्ठातृ देवता शक्ति के ही रूप है। इन्द्रियो को प्रकारान्तर से 'लोक' कहा गया है, और उनके देवो को लोकी या लोकपाल। देवो का अधिपति इन्द्र एक होते हुए भी नाना-रूपो मे अभिव्यक्त हो रहा है। इसके मूल मे इन्द्र की प्रातिस्विक शक्ति ही कारण है, यही उसका स्वभाव है :

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपे ईयते'

शरीर मे इन्द्रियो की सत्ता इस बात का प्रमाण है कि उनके मूल मे इन्द्रशक्ति सक्रिय और सत्तावान है। वनस्पतिजगत, पशुजगत और मानवजगत इन तीनो मे इन्द्रियो का विकास देखा जाता है। वृक्ष भी स्पर्श का अनुभव करते है। उनमें स्पर्शेन्द्रिय का, अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा अधिक विकास है। जहा इन्द्रिय की क्रिया है उसके मूल मे मन-स्तत्त्व अवश्य रहता है। अतएव इन्द्र को 'मनस्वान्' कहा जाता है :

'यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।'

इन्द्र मनस्वी देव है। उसी की सत्ता अन्य देवों या इन्द्रियों को क्रतु या संकल्पात्मक कर्मशक्ति से युक्त करती है।

इन्द्र इन्धनात्मक शक्ति है। उसके तीन रूप है . मन, प्राण, वाक्। पचभूतो की सज्ञा वाक् है। क्योंकि पचभूतो में सबसे सूक्ष्म आकाश है जिसका गुण शब्द है; अतएव शब्द या वाक् को सब भूतो का प्रतीक मान लिया जाता है। अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन रूप एक ही मूलभूत शक्ति-तत्त्व के है। स्थूलभूत रूप मे इन्द्र कहा जाता है। अग्नि पृथ्वी-लोक की, वायु अन्तरिक्ष-लोक की और इन्द्र या आदित्य द्युलोक की शक्ति है। द्युलोक मे जो आदित्य है, उसे ही इन्द्र भी कहा जाता है :

'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'

हम अपने ही शरीर मे देखे। जठराग्नि वासव इन्द्र है जो वसु या भूत-तत्त्वों को शरीर में सम्भृत करता है। मध्यभाग मे मरुत्वान् इन्द्र है जो हृदय और फुप्फुस का संचालन करता है। यह ठीक वैसी ही विद्युत्-शक्ति है जो किसी यन्त्र को सचालित करती है। मरुत् या प्राणों के द्वारा ही यह विद्युत् मिल रही है। तीसरा मस्तिष्क-संस्थान है जहा चिन्तन या मननशक्ति का अधिष्ठान है। वह सबसे सूक्ष्म और व्यापक है, एवं उसकी शक्ति सबसे अधिक प्रभाव-शालिनी है। वह मघवान् इन्द्र है। मन की यज्ञिय शक्ति ही मघ-तत्त्व है। मघतत्त्व के अयान में ही मन मोहग्रस्त होता है।

इन्द्र का रथ यह शरीर है। इन्द्र को अपने रथ में गति की आवश्यकता है। गतितत्त्व ही अश्वतत्त्व है। पजर का नाम रथ नही। रथ वह है जिसमें पजर का सचालन-वाहन भी हो। इन्द्र के रथ मे दो अश्व है। उन्हें ही 'अश्विनी' कहते है। प्राणापान या प्राण के द्विविध रूप ही अश्विनीकुमार है। प्रत्येक शरीर को जीवन या प्राणन की आवश्यकता है। वनस्पति, पशु, मानव इन तीनो को गति या स्पन्दन प्राणापान से ही प्राप्त होता है। दो रूपो मे अभिव्यक्त होते हुए भी प्राण एक ही है। शतपथब्राह्मण मे उसकी यथार्थ वैज्ञानिक परिभाषा की गई है :

'प्राणो वै समंचनप्रसारणम्'

फैलना और सिकुडना—यही स्पन्दन का रूप है। जहां यह क्रिया हो वही प्राणन की अभिव्यक्ति जाननी चाहिए। प्राणनात्मक कर्म ही जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यह प्राणन-क्रिया श्वास-प्रश्वास की धौंकनी है। जिस शरीर मे यह धौंकनी चल रही है उसी मे जीवन है। अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राणापान की धौंकनी के लिए शरीर की अनिवार्य आवश्यकता है। विराट्-शक्ति की अभिव्यक्ति हमारे अनुभव मे तभी आती है जब वह शरीर मे प्रकट हो। भूत-प्राण-मन की समष्टि सज्ञा शरीर है। इसी सघात को 'देह' कहते हैं। प्रत्येक शरीर, शक्ति का एक आवपन या पात्र है। यही यज्ञ की वेदी है, अथवा समष्टि या विराट् भुवन का केन्द्र-बिन्दु या नाभि है :

'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'

इस मन्त्र-भाग मे शरीर की सीमाए प्रवर्तमान यज्ञ की ओर संकेत है। शरीर मे जो शक्ति कार्य करती है, वह छन्द या सीमा से छन्दित हो जाती है। जहा छन्द है वही दैवी यज्ञ है। जो शक्ति छन्द से बहिर्भूत है वह आसुरी है। प्रत्येक शरीर, देश और काल के छन्द का अनुशासन मानकर जीवित है। जन्म, वृद्धि और अन्त ये कालकृत छन्द हैं जो क्रमशः शरीर की देशगत सीमा मे प्रकट होते है। इन्हे ही गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन नामो से अभिहित किया जाता है।

ऊपर जिस 'अश्व' या 'अश्विनी' का उल्लेख किया गया है उसकी एक सज्ञा 'दध्यग अथर्वा' भी है। अथर्वन् की दो व्युत्पत्तिया है, जो दोनो सगत है। शतपथ के अनुसार प्राण या अग्नि अथर्वा है। श० ६।४।२।१ तथा यजु० ११।३२ के अनुसार अथर्वा ने प्राणाग्नि का सर्वप्रथम मथन किया :

'अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने'

अथर्वा मे जो 'अथर्' शब्द है वह अग्नि का वाचक है, जिससे ईरानी परम्परा मे 'अतर, आज़र-आतिश' शब्दों की परम्परा चली। पर गोपथ में एक दूसरी व्युत्पत्ति दी है·

तद् यद् अब्रवीद अथ अर्वाङ् एनम् एतासु अप्सु अन्विच्छ इति तद् अथर्वा भवत् तदथर्वणोथर्वत्वम्। (गो० पू० १।४)। अथ अर्वाग्, से अथर्वा की व्युत्पत्ति क्या सकेत करती है? पहले जल की सृष्टि और उसमे अग्नि का जन्म या गर्भधारण—यह सृष्टि की प्रक्रिया है जिसका ऋग्वेद मे कई बार उल्लेख आता है—**'अग्नि अपांगर्भः' (ऋ० ३।५।३);** अर्थात् अग्नि जलो का पुत्र है। देवो ने दर्शनीय अग्नि को जलो में ढूढ निकाला :

'अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसृणाम्।' ऋ० ३।१।३

पहले ऋतात्मक जल, फिर सत्यात्मक अग्नि—यही सृष्टि का क्रम है। माता-पिता का शुक्र-शोणित, ऋत या सोम है। उसमे शिशु प्राणरूप अग्नि का जन्म होता है। इस शिशु को ऋग्वेद में 'चित्र शिशु' कहा जाता है। यही क्रमशः चित होने वाला अदभुत प्राणतत्त्व या जीवन है। कवियो ने इसे ही 'कुमार' कहा है जो किसी देश या काल-विशेष

की विजड़ित घटना या लीला यही 'कुमारसम्भव' है जो तारकासुर-रूपी मनस्तत्त्व को मर्यादित करने वाली दैवी शक्ति है। **'चन्द्रमा मानसो जातः'** के अनुसार चन्द्रमा-रूपी नक्षत्र या तारक ही मन है।

जल पहली सृष्टि है : **अप एव ससर्जादौ।** उसमे त्रयी विद्या का बीज अग्नि या प्राण का रूप है। वही 'अथ अर्वाग्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अथर्वा है। यह अथर्वा गति का ही प्रतीक है। **यह अश्व या गति प्रत्येक प्राणी के मस्तक के साथ जुड़ा है।** ऐसा कोई जीवधारी नही जिसमे अथर्वा अश्व का शीर्षभाग न हो। इस वैदिक आख्यान का मूल तात्पर्य क्या है ? हमारा जो भौतिक शरीर है वह पार्थिव है। इस पृथ्वी को जो प्राणात्मक स्पन्दन प्राप्त है उसका मूल मनस्तत्त्व मे है। भौतिक दृष्टि से भी समस्त शरीर मे रुधिर का अभिसरण कराने वाला यन्त्र हृदय है। यह ऐसा इंजिन है जो जन्म से मृत्यु-पर्यन्त स्पन्दन या सधमन करता रहता है। जिस शक्ति मे यह निरन्तर सचालित होता है वह वैद्युत शक्ति इन्द्र कही जाती है। यह अन्तरिक्षचारी मरुत्वान् इन्द्र है। पर इस प्राणात्मक शक्ति का प्रेरणा-केन्द्र मस्तिष्क मे है जहा से हृदय नित्य सचालित रहने का विधान प्राप्त करता है। जो स्थूल मस्तिष्क है वह भौतिक है। किन्तु उसके आधार पर प्रतिष्ठित जो मनस्तत्त्व है वह देव कहा जाता है। यह ऐसे ही है जैसे सूर्य के पाचभौतिक शरीर के मूल मे भी कोई सूर्य या भौतिक मस्तिष्क को स्थूल विज्ञानगत साधनो से देखा या जाना जा सकता है। पर मस्तिष्क के अभ्यतर में कार्य करने वाले मानस तत्त्व का केवल अनुभव किया जा सकता है। यही देवो का देवत्व है। प्रत्येक भूतात्मक सस्थान के पीछे यही देवमयी शक्ति है। वह देवात्मक मनस्तत्त्व, जो मस्तिष्क की प्रतिष्ठा है, इन्द्र कहलाता है। ऋग्वेद मे इन्द्र को यथार्थ ही 'मानस्—वान्' कहा है। उसी की शक्ति अन्य सब देवो या शरीर-सस्थान के प्राणावयवो को शक्ति प्रदान करती है। वैदिक परिभाषाओ मे अर्थ की व्यापकता निहित रहती है। अतएव प्राण की शक्ति भी इन्द्र है और मनस्वत्त्व भी इन्द्र है, एव इन दोनों से ऊपर शुद्ध आत्मतत्त्व भी इन्द्र है।

अथर्वा को 'दध्यङ्' क्यो कहा जाता है ? कालान्तर के आख्यानो मे इस को ही 'दधीचि' ऋषि की सज्ञा दी गई जिसके दृढ अस्थितत्त्व से इन्द्र के वज्र का निर्माण होता है। 'दधि अचतीति दध्यङ्', अर्थात जो 'दधि' का निर्माण करता है वह दध्यग प्राण है। इसे ही 'दधिक्रा' या 'धिक्रवा' भी कहा गया है। दधि का विकिरण करने वाला यह प्राण सूर्य के केन्द्र मे है। वही अपनी रश्मियो से महती ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति का विकिरण या वितरण करता हुआ भूतो का निर्माण करता है। जिसे हम दधि कहते है, वह दुग्ध का जमा हुआ रूप है; उसे ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पृथिवी-लोक का प्रतीक माना गया है

'दधि हैवास्य लोकस्य लोकस्य रूपम्।' शतपथ ७।५।१।३

गेहू के पौधे मे पहले जल या सोम सचित होता है। उस जलीय सोम मे दूध मिलाया जाता है और वही दूध-रूपी सोम गेहू के दाने के कोटर या पोखली मे भर जाता है। अन्त मे वही दुग्ध जम जाता है जिसे लोक-भाषा मे दधि और विज्ञान की भाषा मे श्वेत-सार या स्टार्च कहते है। पानी, दूध और दही, ये तीनो सोम के ही तीन रूप है। सोम के कूटने-पीसने-छानने, दूध मिलाने और पीने की समस्त प्रक्रिया प्रत्येक प्राणिसस्थान मे नित्य होती है। वनस्पति, पशु और मनुष्य, तीनो के शरीर का निर्माण सोम की चमत्कारिक पद्धति पर ही निर्भर करता है। जो प्राणतत्त्व इस सोमयज्ञ का सधमन करता है, जो जीवन की धौंकनी चलाकर शरीरगत उष्णता और बाह्य सूर्य की उष्णता से सोम का अधिश्रयण और पवित्रीकरण करता है, वही इन्द्र है। यदि वह इन्धनात्मक मध्यप्राण या समिद्ध जीवनीय अग्नि सक्रिय न हो तो सोम-सम्बन्धी कोई प्रक्रिया शरीर मे सिद्ध नही हो सकती।

प्रत्येक शरीर या देह-संस्थान मे प्राणाग्नि द्वारा रस या सोम की शुद्धि और पाचन के लिए तीन अछिद्र पवित्र लगे हुए है : पहला छानने का नतना शरीर की कोष्ठाग्नि या वैश्वानर है जो खाये हुए अन्न को पचाकर रसों को छानती है। आदि से अन्त तक यह अतिसूक्ष्म और पेचीदा रासायनिक क्रिया है जिसमे कई प्रकार के अम्ल और क्षार स्वय उत्पादित होकर योग प्रदान करते है। दूसरे अच्छिद्र पवित्र प्राणापान है, और तीसरा मन है। शरीर की धातुओं का पवित्रीकरण इन तीनों के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाया जाता है। ये तीनो ही तीन प्रकार की अग्निया है, अथवा एक ही अग्नि के तीन रूप है जो इसी कारण 'त्रिषधस्थ' कही जाती है। पहली पार्थिव वैश्वानर अग्नि को 'पवमान', दूसरी

आन्तरिक्ष्य प्राणापानरूपी अग्नि को 'पावक' और तीसरी दिव्य या मानस अग्नि को 'शुचि' कहते हैं। पहली पवमान अग्नि को निर्मथ्याग्नि भी कहा जाता है। यही शरीर की शक्ति के अरणि-मन्थन से मथी जाती है। जीवन की मूलभूत अग्नि यही है। यह पार्थिव या स्थूल है जो रासायनिक रूप मे उन रसों में निवास करती है जिनसे शरीरस्थ अन्न-सामग्री का परिपाक किया जाता है।

इन्द्र और सोमपान

वेदो मे इन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता सोमपान है। इन्द्र-रूपी अग्नि निरन्तर सोम चाहती है। सोम के अभाव मे क्षणभर भी अग्नि का स्पन्दन या जीवन सम्भव नहीं। वैश्वानर जठराग्नि को अन्नरूपी सोम न मिले तो उसकी क्षीणता का अन्त मृत्यु है। ऐसी ही जितनी धातुचितिया है सब एक-दूसरे से अनस्यूत है और सबमें प्राणाग्नि का सधमन हो रहा है। अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मास, मास से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र का संस्थान पुष्ट किया जाता है। पहला सोम है, बादवाला अग्नि है। प्रत्येक को सोम और प्रत्येक को अग्नि के रूप मे कार्य करना पड़ता है। ये ही अध्यात्म शरीर-यज्ञ की सप्त चितिया है। सर्वत्र इन्द्र के सप्त मरुतो की शृखला व्याप्त है। प्रत्येक चिति मे इन्द्र का सोमपान चालू है। सबसे अन्त मे शुक्र और ओज से मन.शक्ति का निर्माण होता है। मन-रूपी इन्द्र को सदा सोम चाहिए। सोम के भी अनेक रूप है। अशु सोम स्थूल रसात्मक सोम है। सोम का अग्नि द्वारा जहा मन्थन होता है वही सस्थान 'ओषधि' कहलाता है। शरीर और उसके प्रत्येक अवयव या चिति मे 'ओषधि'-सस्थान कार्य कर रहा है। दूसरा ग्रह सोम है जो शरीर के भिन्न भागो मे या इन्द्रियों मे प्राणशक्ति-रूप मे सचित होता है। तीसरा राजा सोम है जो मनस्तत्त्व के रूप मे आलोम-आनखाग्र व्याप्त है। इसे ही चन्द्रमा कहते है। चान्द्र सोम की शान्ति अमृत है जो शरीर को प्रतिक्षण जीवन देकर अमर बना रही है। सबसे अन्त का वाज सोम है जो हमारे भीतर बुद्धि या विज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित है और जो हमारे व्यक्तिभाव को समष्टि प्राण, समष्टि विज्ञान और समष्टि चेतना के साथ जोडने वाला यही वाज सोम है।

इन्द्र और बृहस्पति

इसके अधिष्ठाता बृहस्पति समष्टि विज्ञान या सूर्य के ही रूप है। ये इन्द्र रूपी व्यष्टि मन और व्यष्टि अहकार या चान्द्र-सोम या प्रज्ञान के नियामक गुरु है। बृहस्पति की गौए किसी अद्रि की गुफा मे मुदी है। वही समष्टि विज्ञान या विराट् मन है। उन गौओ को व्यष्टि जीवन के लिए उन्मुक्त करने वाला इन्द्र व्यक्ति का निजी मन है। बृहस्पति और इन्द्र दोनो एक-दूसरे से अविनाभूत है। समष्टि और व्यष्टि दोनो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक ब्रह्म है दूसरा क्षत्र है। जो क्षत्र है वही राजा है। जो राजा है वही धर्म का पालक या व्यवस्थापक है। धर्म ही मर्यादा या सीमाभाव है। यही व्यक्ति या व्यष्टि भाव है। क्षत्र से उच्चतर ब्रह्म भाव है। वह निर्धर्मक स्थिति है। उसमे सब धर्मों का अन्तर्भाव या समन्वय रहता है। वही ऋषि की स्थिति है। राजसूय से राजा और वाजपेय से सम्राट् बनता है—**'स वाजपेयेनेष्टवा सम्राडिति नामाधत्त।'** (गोपथ पू० ५।८) अनेक राजाओ का अधिपति सार्वभौम सम्राट् कहलाता है। एक जनपद की सीमित पृथिवी का स्वामी पार्थिव या राजा कहलाता है। समस्त जनपदो की भूमियो को वश मे करने वाला सम्राट् होता है। व्यष्टि जीवन 'राजा' और समष्टि जीवन 'सम्राट्' के समान है। प्रत्येक जीवन एक इकाई, एक जनपद-राज्य या एक यज्ञ के समान है।

जीवन का अधिपति देवता इन्द्र है। एक-एक प्रजा या जनता मे एक-एक इन्द्र होता है। जो उसका सर्वश्रेष्ठ और ओजिष्ठ-बलिष्ठ रूप है, वही इन्द्र कहलाता है। इन्द्र की शक्ति का स्रोत सोमपान है। सोम की वैदिक कल्पना एक ओर सरल और दूसरी ओर जटिल है। सारे विश्व की व्याख्या ही अग्नि-सोम के रूप मे की गई है। **अग्निषोमात्मकं जगत्**—यही सृष्टि का सक्षिप्त सूत्र है। जहा भी प्राण या जीवन का स्पन्दन है वही अग्निषोमीय, पशु का आलम्बन हो रहा है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। अन्नाद मे अन्न की आहुति ही यज्ञ है। सोम मातृतत्त्व, अग्नि पितृतत्त्व है। अग्नि अक्षर या शक्ति है, सोम क्षर या भूत है। अग्नि के विना सोम निर्जीव है और सोम के बिना अग्नि अरूप रहता है।

सोम से ही भूतात्मक शरीर का निर्माण गर्भित मातृ-कुक्षि या गर्भ में किया जाता है। अग्नि रूप इन्द्र को सोम की उपलब्धि ही उसकी पूर्णता है।

सोम की व्याख्या

सृष्टि के मूलभूत शक्ति-तत्त्व को वेदों में पारमेष्ठ्य समुद्र कहा गया है। वही ऋत है—**'ऋतमेव परमेष्ठि।'** उस महती महीयान अखंड समुद्र की ऊर्मिया या लहरे ही विश्व का ओजायमान जीवन-प्रवाह है। उस महासमुद्र की तुलना में एक-एक विश्व एक ऊर्मि या एक मधुबिन्दु है। उस मधुबिन्दु की निरन्तर आहुति सूर्य को प्राप्त हो रही है। उसी सोमाहुति से सूर्य का जीवन संचालित है। सूर्य की एक संज्ञा इन्द्र भी है। सूर्य अपने विश्व का केन्द्र या मध्यप्राण या इन्द्र है। पारमेष्ठ्य सोम की अजस्र धारा ही सूर्यरूपी इन्द्र का विराट् सोमपान है। समष्टि-विज्ञान के एकाकार अखड संस्थान में जो सृष्टि के नाना भावो का उदय होता है, वही उसका सोमपान या मातृमपर्क है जिससे व्यष्टि का अस्तित्व सभव होता है। जहा अग्नि में सोम की आहुति नही, वहा तम या अन्धकार व्याप्त रहता है। अग्नि का निजी रूप कृष्ण है, वह अनभिव्यक्त है। सोम से ही उसमे प्रकाश उत्पन्न होता है। जो अग्नि काष्ठ या समिधा मे व्याप्त है वह कृष्ण है। अग्नि के संयोग से सोमरूप समिधा का समिन्धन ही ज्योति या शक्ति का आविर्भाव है। सूर्य या इन्द्र द्युलोक का अधिपति है। **'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** का यही तात्पर्य है। जहा 'द्युलोक' इन्द्र है वही द्युलोक है और जहा है वहा इन्द्र की सत्ता अवश्य है। कोई ऐसी पृथिवी नही जिसका निजी द्युलोक न हो। जो स्थूल दृश्य है वह भौतिक रूप पृथिवी है। उसी मे अग्नि का पार्थिव रूप दिखाई पड़ता है। उस पृथिवी के आधार पर स्थिति अग्नि का जो विरल रूप है वही द्युलोक का इन्द्र तत्त्व है। जैसे कोष्ठ की अग्नि क्षरात्मक रसों के रूप मे स्थूल है। उससे अन्तत· उत्पन्न होने वाली जो मन की विचार-शक्ति या ज्योति है वह उसका विरल रूप है, वही इन्द्र है।

शीर्ष भाग में वह ज्योति का लोक है। उसे ही ज्योति से आवृत्त स्वर्ग कहा जाता है जहां मनस्वान् इन्द्र का अधिष्ठान है। जैसे व्यष्टि में मन है, वैसे ही समष्टि ब्रह्माण्ड में विज्ञानात्मक सूर्य है। वहा सूर्य के स्थूल भौतिक सूर्य का ग्रहण नही करना चाहिए। सूर्य का स्थूल भूतात्मक अश तो उसका पार्थिव भाग है। उस पार्थिव लोक पर अधिष्ठित विज्ञान या बुद्धि-तत्त्व ही सूर्य का द्युलोक है। यह बुद्धि ही प्रज्ञा या धी तत्त्व है। मस्तिष्क का जो स्थूल रूप है वह उसका पार्थिव भाग है। उसी सस्थान के द्वारा प्रज्ञा-भाग प्रकाशित होता है। यही नियम प्रत्येक प्राणि-केन्द्र में चरितार्थ हो रहा है। जो सूर्यगत प्रज्ञा-तत्त्व या प्राण है उसे निरन्तर सोम चाहिए। इन्द्र ने अपना परिचय देते हुए **'प्राणास्मि प्रज्ञात्मा'** कहा है। प्राणमय सस्थान में अभिव्यक्त प्रज्ञात्मक चितितत्त्व ही इन्द्र है। यही विश्व मे जीवन की अभिव्यक्ति है जो मानव, पशु और वनस्पति के रूप मे त्रेधा विभक्त है। पर सबका मूलभूत नियम एक है। एक में मन, एक मे प्राण और एक में भूतों की विशिष्टता का तारतम्य या भेद है, अन्यथा तीनों मे तीन हैं। प्रत्येक त्रिवृत् सृष्टि है।

अश्व का प्रतीक

सूर्य के एक ओर परमेष्ठी है, दूसरी ओर पृथिवी : परमेष्ठ्य समष्टि सोम और पार्थिव व्यष्टि दोनों सूर्य की सत्ता के लिए आवश्यक हैं। सूर्य अपनी रश्मियों से जहां भी पृथिवी पर सोम है प्रत्येक तृण और जलाशय से उसका सग्रह करता है। मेघों के रूप मे सोम के विशाल द्रोणकलश भौतिक सूर्य के चारों ओर आकाश में संचित हो जाते है। वही सोम अभिवर्षण द्वारा पुन· पृथिवी पर आता है। उससे औषधि-वनस्पतियों का जीवन-चक्र प्रवर्तित होता है। इसी सोमा-हुति-परम्परा से अन्त मे पुरुष का निर्माण होता है। जहा सोम की आहुति है वहीं भूत की अभिव्यक्ति या भूतात्मक शरीर की रचना होती है। भूतात्मक देह की सज्ञा ही 'दधि' है। इस दधि का निर्माता ही दध्यग अथर्वा अग्नि है जिसे सोम-विद्या का रहस्य ज्ञात है। दध्यंग अथर्वा मूल आग्नेय प्राण है। उसके द्वारा सोम का रहस्य दो अश्विनीकुमारों को प्राप्त होता है। प्राणापान का द्विधा विभक्त क्रम ही अश्विनी है। जब तक शरीर में अश्विनीकुमारो का निवास है तभी तक उसका गति से सम्बन्ध रहता है। गति का वास्तविक रूप समंचन-प्रसारण है।

गति के दो रूप हैं : एक गति, दूसरा आगति। गति-आगति का युग्म ही एक अश्व के दो रूप है जिन्हे अश्विनी

कहा जाता है। ये अश्विनी वस्तुत: विराट् विश्व और व्यष्टि शरीर दोनो के लिए आवश्यक है। विराट् में गति का स्रोत सूर्य है। सूर्य की शक्ति ही व्यष्टि मे सूर्या है। सूर्या का वर सोम है। सोम और सूर्या का प्रतिक्षण विवाह होता है। यह विवाह ही जीवन और प्राण है। सोम के सहयोगी अश्विनी हैं। यदि किसी संस्थान मे अश्विनी-रूप प्राणापान का द्विविध स्पन्दन नही है तो उसमें सोम या मधु का पाचन नही हो सकता।

आख्यान के रूप में कहा जाता है कि अश्विनीकुमार वधू-कामुक सोम के सहयोगी हैं, अथवा उनके रथ पर बैठकर सूर्य की पुत्री सूर्या अपने पति के यहां जाती है। यदि विराट् सूर्य की ब्रह्माण्ड-व्यापी शक्ति का एक अंश हमे प्रतिक्षण न मिले, यदि हमारे जीवन का स्वस्तिक विश्वास्वस्तिक के साथ सन्तुलित न रहे तो जीवन का रथ नही चल सकता। उसमे विषमता उत्पन्न हो जायगी जो उसकी गति कुंठित कर देगी। अतएव सूर्य-सूर्या-सोम-अश्विनी की कथा का रहस्य स्पष्ट है।

इसका ही परिवर्तित या उपबृहित रूप विवस्वान् सूर्य और सरण्यू-छाया की कहानी है। सूर्य की पुत्री या दुहिता शक्ति ही सरण्यू या उसकी छाया है। वह छाया प्रत्येक चिदंश या जीव को प्राप्त हो रही है। ईश्वर आतप और जीवन छाया-रूप है। विराट् प्राण सूर्य और व्यष्टि प्राण छाया है। इसी छाया ने अश्वा का रूप धारण किया और सूर्य ने अश्व का। उनके सम्मिलन से दो अश्विनीकुमारों का जन्म हुआ जो प्रत्येक जीवन-केन्द्र या शरीर-संस्था के सचालक है। एक ही मूलभूत तत्त्व की द्विविध कल्पना इन आख्यानों में पाई जाती है। सबसे रहस्यात्मक तो प्राण या जीवन है। समष्टि जीवन का व्यष्टि जीवन के साथ जो स्थिर और फलवान् सम्बन्ध है उसको बताना ही वैदिक आख्यान का लक्ष्य है।

'अश्व' और 'अश्वा' शब्द सृष्टि-विषयक भावों के प्रतीक हैं। गति-तत्त्व का स्थूल प्रतीक अश्व है। सूर्य ही विराट् अश्व है जिसके मेघ से यह विश्व विरचित हुआ है और नित्य रचा जा रहा है। यह अनादि अनन्त अश्वमेध है। विराट् प्राण ही विराट् अश्व है। उस विराट् शक्ति के एकत्र सचय या यज्ञ से ही विश्व की रचना होती है। सूर्य ही अपनी सहस्र रश्मियो से प्राणो को सचित और प्रसारित करता हुआ इस यज्ञ का विधाता है। सूर्य सापेक्ष काल या सवत्सर का प्रतीक है। सवत्सर प्रजापति के घूमते हुए चक्र की संज्ञा सूर्य है। सूर्य स्वयं महाकाल का अभिव्यक्त रूप है। यह अभिव्यक्त सापेक्ष काल ही हमारे वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्रों के रूपो मे प्रतिपल प्रकट हो रहा है। इनकी उपलब्धि ही जीवन है। काल के ये खण्ड जब तक हमे प्राप्त होते रहते है तब तक आयुष्य का अमृत-सत्र चलता रहता है।

महाकाल की सृष्टि से एक ही उषा है। सापेक्ष काल की दृष्टि से अनेक उषाएं है जो आती-जाती रहती हैं। यही काल-चक्र का परिभ्रमण है। वस्तुत: काल-रूपी अश्व का जब से आरम्भ हुआ तभी से यह उषा है। अतएव उषा काल के उपक्रम का एक छोर या एक सिरा है—**उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः।** जो सिर या मस्तक है वही शरीर का एक छोर है। प्रत्येक उषा सूर्य की पुत्री है। वह किसी एक दिन थी, दूसरे दिन नही—ऐसा नही है। प्रत्येक क्षण उषा के आरम्भ का क्षण है। प्रत्येक क्षण मे सवत्सर के आरम्भ की गणना की जा सकती है। काल के पटल पर जितने भी चिह्न मानव ने अंकित किए हैं वे अपनी कल्पना के अनुसार हैं, वे ध्रुव नही, सापेक्ष है। अतएव शतपथ में जो यह कहा है कि सवत्सर उषा मे अपने रेत का सिंचन करता है और उससे कुमार का जन्म होता है। वही कुमार रुद्र है। जो रुद्र है वह अग्नि है (श० ६।१।३।८–१०)।

संवत्सर सविता है, उषा उसकी सावित्री शक्ति है। सवत्सर और उषा के संयोग से ही कुमार या प्राण या जीवन का जन्म होता है। प्रत्येक प्राणी का जीवन-चक्र उसका अपना संवत्सर है। जितनी कलावधि में जो अपने जीवन का एक मंडल-चक्र पूरा कर लेता है वही उसका जीवन-चक्र या संवत्सर-चक्र है।

अग्निरूपी अद्भुत कुमार या चित्र शिशु

प्रत्येक बीज के अभ्यन्तर में यह अग्नि-रूपी प्राणतत्त्व सोया हुआ रहता है। जब बीजाधान किया जाता

है तब मातृकुक्षि मे वह जीवन-केन्द्र जागृत हो जाता है। उसका वह जागरण ही जीवन का आरम्भ या यज्ञ का उपक्रम है। वही कुमार का जन्म है। यही कुमार अग्नि भी कहा जाता है और इसी की सज्ञा इन्द्र है। समिन्धन या समिद्ध अग्नि ही इस कुमार का जागरण या रुदन भी कहलाता है। अशनाया तत्त्व की सज्ञा रुदन है। बालक अन्न के लिए रोता है। ऐसे ही प्राण रूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेते ही अन्न या सोम के लिए रोता है। ऐसे ही प्राणरूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेने ही अन्न या सोम के लिए व्याकुल हो पडता है। इसी अशनाया या अन्न-ग्रहण की इच्छा को ब्राह्मण-ग्रन्थो मे रुदन कहा गया है। पृथिवी और द्युलोक के मध्य मे जितनी प्राणिसृष्टि है, वनस्पति-पशु-मानव जिसके त्रिविध रूप है, उस सबको रोदसी सृष्टि कहते है। रोदसी मे सर्वत्र अन्न-अन्नाद एव स्त्री-पुरुष का नियम व्याप्त है। पुष्टि और प्रजनन प्राण के दो लक्षण है। अग्नि है। अग्नि से पुष्टि और इन्द्र से कलात्मक प्रजनन सभव होता है। दोनो के मध्य मे प्राणात्मक शक्ति वायु है।

जहा जीवन है वहा तीन नियम कार्य करते है। एक तो अन्न-अन्नाद या अशनाया का नियम है। इसी मे स्थूल भौतिक देह का निर्माण होता है। यह अग्नि देवता का पार्थिव क्षेत्र है। दूसरा नियम श्वास-प्रश्वास की क्रिया है। प्राण की धौकनी से ही अन्न का ग्रहण और परिपाक होता है। प्राणन-क्रिया बीच मे होने से अन्तरिक्षलोक का वायु देवता है। इसी मे तीसरी अवस्था प्रजनन की है जिसके कारण प्रत्येक बीज वृक्ष के रूप मे परिवर्तित होता हुआ अन्त मे पुष्प और फल के माध्यम से पुन बीजसृष्टि मे पर्यवसान पाता है। बीज से चलकर फिर बीज तक पहुच जाना ही जीवन का पूरा चक्र है। जो बोया जाता है वह बीज या शुक्र है। उसका अन्तिम परिणाम भी बीज ही है। यह समस्त रोदसी सृष्टि शुक्र-शोणित या बीज-सृष्टि है। सर्वत्र माता-पिता का द्वन्द्व आवश्यक है। अर्धशरीर पुरुष, अर्धशरीर नारी—यही प्राणि-सृष्टि है। इसमे प्रजनन की प्रक्रिया ही इन्द्र का रूप है। प्रजनन आनन्द की सर्वोच्च स्थिति है। उसका मूल काम है। काम मन का रेत या वीर्य है—**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० १०।१२६।४**

मन की रहस्यात्मक शक्ति है। मन ही इन्द्र है—**यन्मनः स इन्द्रः। (गोपथ उ० ४।१२)। यो जात एव प्रथमो मनस्वान्। (ऋ० २।१२।१)।**—यह मनस्वान् इन्द्र ही सब देवो का अधिपति देव है। शरीर मे मन ही सबसे महत्त्वपूर्ण दिव्य शक्ति है। इसे ज्योतियो की ज्योति एव अमृत-ज्योति कहा गया है। ऋषि ने प्रश्न किया है

कवीयमानः क इह प्रवोचद्

देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥ ऋ० १।१६४।१८

"जो कवि है और जो अपने दर्शन को छन्दो मे निबद्ध करता है, वह जानता हो तो इस बात को बतावे कि विश्व मे मनरूपी देवता की सृष्टि कहा से और कैसे हुई ?"

सचमुच मन की रचना बहुत बडा रहस्य है। इन्द्रिया, प्राण और शक्ति के अन्य अनेक स्फुट रूपो का स्रोत और रहस्य मन मे है। मन-प्राण-वाक् (=पचभूत) की समष्टि ही तो मानव या जीवन है। ये तीनो ही आदित्य-वायु-अग्नि देवता है। तीनो इन्द्र के रूप है जो द्युलोक-अन्तरिक्ष-पृथिवी के अधिपति है। इन तीनो का एक सूत्र मे नध जाना ही तानूनप्त्र सम्बन्ध कहलाता है। एक के भी अभाव से शरीर की स्थिति सम्भव नही रहती। इन तीनो मे भी मन की महिमा सबसे विशिष्ट है। उपनिषद् के अनुसार, 'तीन वस्तुए आत्मा के लिए रची गई।' मन-प्राण-वाक् को आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए निर्मित किया गया। जब मन अन्यत्र चला जाता है तो देखता-सुनता नही। मन से ही व्यक्ति देखता है, मन से ही सुनता है। वस्तुत काम, सकल्प, विचिकित्सा (सशय) श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय—ये सब कुछ मन के ही रूप है। वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय प्रवृत्ति और क्रियाओ की समष्टि आत्मा है (वृ० उप० १।५।३)।

जिसे प्रज्ञा या बुद्धि कहते है वह मन ही है। पुराणो ने इस रोचक विषय का और विस्तार किया, तदनुसार क्षेत्रज्ञ पुरुष से अधिष्ठित प्रधान या प्रकृति से सर्वप्रथम महत् का प्रादुर्भाव होता है। गुणो के वैषम्य से ही नानात्व की सृष्टि होती है। इस महान् की अनेक सज्ञाए है, जैसे मन, मति, बुद्धि, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, सवित्, भू, ज्ञान आदि। सबको जानने और सबकी उपलब्धि करने के कारण मन को ही सवित् कहा जाता है। जितने द्वन्द्व है, वे इस मन मे ही घर बनाते है, इसलिए इसका एक नाम 'विपुर' है। लोक मे मन ही सबका अधिपति और नियामक है अतएव ब्रह्मा इसकी

संज्ञा है। यह उत्पन्न होता है, अतएव भव है। शरीर-रूपी पुर मे निवास करने के कारण यही पुरुष है। विराट् में इसकी स्वय सत्ता सबसे पूर्व विद्यमान है, अतएव यह स्वयम्भू भी कहा जाता है। सब कार्यों का स्मरण करने से यही स्मृति है। भोग्य पदार्थों का चयन करने के कारण इसे चिति भी कहते है। प्रत्येक मे जो बोध-शक्ति है वह बुद्धि मन ही है। कहा तक कहा जाय, भूतमात्रा, प्राण-मात्रा और प्रज्ञा-मात्रा--इन तीनो मात्राओ के छन्द और विवेक का हेतु मन ही है। भूतमात्रा से यह भूतो का अपने भीतर भरण कर लेता है। प्राणमात्रा के रूप मे भूतो के पृथक-पृथक विभागों को बाटता है और प्रज्ञा मात्रा के रूप मे सबका ज्ञान रखता है—ऐसी विलक्षण रहस्यमयी शक्ति मन है । **बिभर्ति मानं मनुते विभागं मान्यते पि च** (वायु० ४।२३।५०) यजुर्वेद में शिव-सकल्प मन्त्रो के अनुसार प्रजाओ के अन्तः-करण मे निवास करने वाला यह मन अद्भुत यक्ष है जो कभी विश्राम नही लेता, सदा काम मे व्यापृत रहता है। जिस मे अनन्त शक्ति है, जो जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओ मे अपनी दूरगम प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कभी बाहर जाता है और कभी भीतर लौट आता है। जो नश्वर भूतो मे रहते हुए स्वय अमर ज्योति है। प्रज्ञा, चिति, धृति, चित्त जिसके अनेक रूप है, ऋक्-यजु-साम जिसकी नाभि या केन्द्र मे पिरोए हुए हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान की समस्त रचना जिसके अन्तराल मे परिगृहीत है, जिसके बिना कोई कर्म करना सम्भव नही, यज्ञो मे और सभाओ मे होने वाले मानवों के कर्म जिस पर निर्भर है, जिसका स्वरूप अजर और वेग सबसे अधिक है—ऐसा विचित्र मन प्रजापति की सृष्टि मे सबसे रहस्यमयी रचना है। वह मन ही इन्द्र तत्त्व है। मन की शक्तियो का भी क्या कही अन्त है! 'यदि यह पृथिवी दस गुनी बडी हो जाय और प्रतिदिन मनुष्य सख्या बढने लगे तो भी रुद्र की वृहण शक्ति का कभी अन्त नही होगा' (ऋ० १।५२।११)। ऐसा जो समष्टि मन है, उसी का एक अश हमारा व्यष्टि मन है जो प्रत्येक व्यक्ति केन्द्र में स्फुट हुआ है। यह अभिव्यक्ति ही मानव का जीवन है। यही केन्द्र की प्रतिरूपता है—**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**। विश्व का बडा या छोटा कोई रूप ऐसा नही जो इन्द्र के बिना बन सके। इन्द्र सबकी नाभि मे बैठा हुआ नम्य प्राण है। मन के रूप मे प्रतिष्ठित उसी केन्द्र से प्राणो की रश्मिया चारो ओर छिटकती है जिसमे व्यक्तित्व-रूपी मडल का विधान बनता है।

इन्द्र और असुर

इन्द्र अपने मडल का अधिपति है। वह विश्वकर्मा विश्वदेव है। (ऋ० ८।९१।२) वह धर्मकृत् है। (ऋ० ८।९८।१) अर्थात् अपने मडल मे मर्यादा का पालन कराने वाला है। जहा तक इन्द्र की सत्ता है, कोई असुर उसका धर्षण नही कर सकता। असुरो का पराभव इन्द्र का अपराजित यश है।

जहा इन्द्र का मडल है उस पर असुरो का आक्रमण होता रहता है। इन्द्र और असुर दैवी और आसुरी वृत्तियो के प्रतीक है। इन्द्र अपने मडल का राजा है। वह असुरो का प्रवेश नही चाहता। असुर उसके मडल मे बलपूर्वक प्रवेश कर जाना चाहते है। इन्द्र और वृत्र के सघर्षों को देवासुरम् कहा जाता है। देवासुरम् की लीला भूत, प्राण, मन इन तीनो क्षेत्रो मे हो रही है। वस्तुत. सृष्टि के मूल मे दो प्रधान तत्त्व है—एक आकर्षण, दूसरा विकर्षण। मित्र और वरुण का सम्बन्ध पारस्परिक आकर्षण पर आश्रित है। इनके भी अपने-अपने मडल है। मित्र को 'आगिरस' और वरुण को 'भार्गव' कहते है। पर ये दोनो मडल माता-पिता की तरह एक-दूसरे को अपनी ओर खीचते हैं। इसके विपरीत इन्द्र और वृत्र एक-दूसरे को परे फेकते है। उनमे विकर्षण का नियम काम करता है। विकर्षण या विरोध ही वैर है। आकर्षण से शृगार और विकर्षण से वीर रस का जन्म होता है। इन्द्र सबसे महान् वीर है। जो वीर है उसे असुरो का पराजय करना ही चाहिए। विजयी युद्ध से ही वीर की चरितार्थता होती है। प्रसुप्त शक्ति का सघर्ष के लिए जागरण ही उसका वीरण है। एक बार जब इन्द्र को युद्ध का नायक कल्पित किया गया तो उसके वाहन, आयुध, सेना आदि अनेक उपकरणो का वर्णन रोचनात्मक अर्थवाद है। इन्द्र अपने रथ मे दो अश्वो का सयोजन करता है—**योजा न्विन्द्र ते हरी**। ऋषि ने प्रश्न किया है—कौन इन्द्र के हरी अश्वो को जानता है? **हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित** (ऋ० १०।११४।९) कहा है—**ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी**—ऋक् और साम ही इन्द्र के दो अश्व है। (ऐ० ब्रा० २।२४) ऋक् और साम को रथ मे जोड़कर ऋषि उसका सचालन करते है:

यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्ररथं वर्तयन्ति । यज्ञ ही रथ है जिसे विमित किया गया है, अर्थात् मात्रा या नाप-जोख के अनुसार जिसका पजर-सस्थान रचा गया है। इस यज्ञीय रथ को गति देने वाले इन्द्र के दो अश्व हैं और इसकी व्यवस्था करने वाले मनीषी कवि है। प्रत्येक का शरीर ही देवरथ या इन्द्ररथ है। मन-रूपी प्रज्ञातत्त्व का अधिष्ठाता इन्द्र इस रथ का नियामक है। ऋक् और साम वाक् और मन के, प्राण और अपान के या दो अश्विनी के या गति आगति के प्रतीक हैं। इन्द्र के मण्डल का व्यास ऋक् और घेरा या परिधि साम कहा जाता है।

वस्तुत इन द्वद्वो का अत नही है। समस्त रचना ऋक्-साम का वितान है। और परिधि को ही वृत्ति का विस्तार समझना चाहिए मण्डल छोटा हो या बडा, उसका केन्द्र-बिन्दु एक-सदृश रहता है। उस केन्द्र मे स्थिति के धरातल पर गतितत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र-बिन्दु या स्थित-गति के सम्मिलित रूप को यजु कहा जाता है। यजु मे यत् और जू के दो प्रतीक है। 'यजू' ही साकेतिक भाषा मे यजु कहा जाता है। यजू मे 'यत' गति तत्त्व का और 'जू' स्थिति तत्त्व का प्रतीक है। इन्ही साकेतिक परिभाषाओ को और आगे बढाते हुए गति को वायु और स्थिति को आकाश भी कहा जाता है। इस प्रकार स्थिति-तत्त्व, गति-तत्त्व और आगति-तत्त्व इन तीनो के सम्मिलिन से वृत्त का मूर्त्त रूप या मण्डल का सम्पूर्ण रूप बनता है। मण्डल ही जीवन की इकाई है। प्रत्येक शरीर एक-एक मण्डल है।

मण्डल ही पुर या राष्ट्र है। मुख्य प्राण इन्द्र मण्डलेश्वर है, अन्य सब प्राण उसके सामन्त कहे जाते है। इन्द्र का असुरो से सदा युद्ध भी रहता है। क्योकि मण्डल की रक्षा का दायित्व इन्द्र पर है। पर वस्तुत वेदो और ब्राह्मणो मे जो युद्धो के वर्णन है, ये सब रोचक अर्थवाद है। इन्द्र तो अशत्रु उत्पन्न हुआ है—**अशत्रुरिन्द्र जज्ञिये** (ऋ० १०।१३३।२) **अशत्रु हि मा जनिता जनान्** (ऋ० १०।२८।६)। इन्द्र के बलो की कहानी माया है। न उसका कोई शत्रु पहले था, न आज है।

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न पुरा विवित्से ॥

(ऋ० १०।५४।२)

शतपथ मे भी इसी की व्याख्या करते हुए कहा है .

नैतदस्ति यद्देवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्।

(शतपथ ११।१।२।१७)

आख्यानो मे और इतिहासो मे जो देवो और असुरो के युद्ध की कहानिया कही जाती है, उनमे घटना की तथ्यात्मक सचाई नही देखनी चाहिए। वे वर्णन तो अर्थवाद-रूप है। वे सृष्टि-विद्या के प्रतीक है। इन वर्णनो मे इतिहास की खोज व्यामोह है। वृक्ष, बल, शम्बर, पणि ये असुर ऐतिहासिक नही, ये तो आसुरी भावो के प्रतीक है। जैसे इन्द्र कोई पुरुष-विशेष नही, ऐसे ही असुर भी जातीय पुरुषो के नाम नही। देवासुरम् की कल्पना सृष्टि के ज्योति और तम का सघर्ष है। वृत्र एक है, और अनेक भी है, इसीलिए उसे 'वृत्राणि' भी कहा जाता है। इन्द्र की शक्तियो का अवरोधक वृत्र है—**सर्वं वृत्वा शिश्ये।** जो सबको घेर कर बैठ गया, वही आवश्यक तत्त्व वृत्र है। वृत्र का निराकरण इन्द्र का सबसे बडा यशस्य कर्म है। इन्द्र वृत्रहन् है। इन्द्र की विजय शाश्वत है, वह जेता और अपराजित है। 'जित ते' कह कर उसे प्रणाम किया जाता है। सूर्य प्रकाश का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। सूर्य और प्रकाश पर्याय है। **इन्द्रः सूर्यमरोचयत्** (ऋ० ८।३।६), अर्थात इन्द्रत्व के कारण सूर्य मे रोचना या ज्योति है। इन्धन ही इन्द्रत्व है। समिद्ध अग्नि ही 'इन्ध' या इन्द्र है। प्रत्येक व्यक्ति महान् अश्वत्थ वृक्ष की एक शाखा है। इस शाखा मे अग्नि गर्भित है। शाखा का ज्वलनशील होना ही जीवन है। सौ वर्ष की अवधि तक जलने के लिए जीवन या प्राणरूपी समिधा या शाखा का प्रकृति निर्माण करती है। इष् और ऊर्ज् इस शाखा को जीवन के लिए अन्न और शक्ति प्रदान करते है। यह शाखा कटी हुई नही है। इसकी अव्यक्त जड सदा हरी रहती है, अतएव यह शाखा फूलती-फलती है। मधु या सोम चखकर जीवित रहने वाला मध्वद, सुपर्ण या जीव इस शाखा पर रहता और प्रसव करता है। जो एक सुपर्ण की गति है, वही सब गुणो के जीवन-चक्र का नमूना है।

इन्द्र और श्वा

ऋग्वेद मे इन्द्र को **'शुनं हुवेम मघवानमिंद्रम्'** (ऋ० ३।३९।९।।३।३०।२२) आदि मन्त्रों में 'श्वा' कहा गया है। इन्द्र भोकने वाला कुत्ता है, यह भी विचित्र कल्पना है। इसके पीछे तत्त्वात्मक सकेत है। जो अमृत आकाश है, इन्द्र उसका अधिष्ठाता है। इसे ही परम व्योम कहते है। परम व्योम मे परा वाक् या अमृता वाक् का स्रोत है। उसी की भूतात्मक अभिव्यक्ति भौतिक आकाश के रूप मे होती है। आकाश का गुण शब्द है। शब्द ही वाक् है। जो शब्द या वाक् है वही ब्रह्म है। वेदो मे वाग्ब्रह्म का पूरा दर्शन ही है—**यावद ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्** (ऋ० १०।११४।८) परा वाक् और अपरा वाक् यही विश्वसृष्टि है। जहा आकाश है वही शब्द है। जो परमाकाश या अमृत आकाश है वही वैयाकरणो द्वारा स्फोट और ऋग्वेद मे गौरी वाक् या चतुष्पदा वाक् का पहला 'परा' नामक चरण कहा जाता है। इसी आकाश तत्त्व का अधिष्ठातृदेव इन्द्र है। आकाश मे अनन्त शब्द भरा हुआ है। स्तनयित्नु मेघ-शब्द से लेकर नाना वागात्मक शब्दो का उद्गम आकाश है। यही इन्द्र का भौकता हुआ कुत्ता है। श्वान तो एक प्रतीक है। जैसे स्तनयित्नु मेघ गर्जन के रूप मे प्रचण्ड शब्द महसा उत्पन्न करता है, ऐसे ही कुत्ता अपने कण्ठ मे अकीमात् शब्द का ढेर उत्पन्न करता है। अतएव श्वा आकाश का प्रतीक है। सरमा देवशुनी वाक् की सज्ञा है। जो सृष्टि-व्यापिनी शक्ति का मूल सरस्वान् समुद्र है, जिमे ब्रह्मसर भी कहते है; उसी के जलो का मापन व्यष्टि-रचना मे होता है। प्रत्येक व्यक्तिगत शरीर एक कमण्डलु है जिसमे उस सरस्वान् समुद्र का सलिल भरा हुआ है। यही सर-मा का शब्दार्थ है। सरमा ब्रह्वादिनी है। जैसे आम्भृणी, सरस्वती आदि वाक् की सज्ञाए है, ऐसे ही सरमा है। सरमा इन्द्र की गतिविधि से परिचित है। आकाश-तत्त्व कहा नही है। वह इन्द्र का प्रत्यक्ष रूप है। आकाश का गर्जन या शब्द इन्द्र का वज्र है। भौतिक आकाश मानो परमव्योम या अमृताकाश-रूपी सरस्वान् समुद्र का फेन है। शब्द तन्मात्रा ही सृष्टि का मूल है। पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश मे आकाश सबसे सूक्ष्म है। वाक्-तत्त्व आकाश नाम का पहला भूत है। वह मर्त्या वाक् है। उससे उपर जो ब्रह्मतत्त्व है वह अमृता वाक् कहा जाता है। मर्त्या वाक् इन्द्र की माया या इन्द्राणी या शची शक्ति है। अमृता वाक् स्वय इन्द्र है। केवल शब्द को और पजीकृत पचभूतो के समुच्चय को भी वाक् कहा जाता है। पचभूतो का मूल उपादान वाक् है। देवश्वा और देवशुनी प्रतीको का यही अभिप्राय है। शब्दात्मक आकाश के रूप मे इन्द्र की सत्ता का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अव्यक्त रूप मे इन्द्र नम्य आत्मा है। सृष्टि मे उसी का वितान होता है। यही परिग्रहित या समृद्ध रूप उसका श्व रूप है—**यद्वै समृद्धं तच्छुनम्** (श० ७।२।२।९।)। मूल आत्मतत्त्व का विस्तृत तूलभाव कितना अनन्त है, इसका पल्लवित वर्णन विज्ञान और दर्शन के शब्दो मे मिलता है। वही शुन इन्द्र है। सर्वत्र उसमे शब्द का अधिष्ठान है।

इस प्रकार वेदो मे इन्द्र का स्वरूप अनेक आख्यानात्मक वर्णनो और प्रतीको के रूप मे पल्लवित हुआ। हमारे इस शरीरात्मक विश्व मे प्रज्ञान-रूपी इन्द्र की महिमा सबसे अधिक और रहस्यात्मक है।

चार सांस्कृतिक क्रान्तियां

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

परिवर्तन की चाल जब धीमी रहती है तब उसे सुधार कहते है। किन्तु, जब वह बहुत तेज हो जाती है तब उसे क्राति कहने का रिवाज है। भारतीय सस्कृति के क्षेत्र मे ऐसी चार क्रान्तिया घटित हुई है और हमारी सस्कृति पर उन चारो क्रान्तियो का प्रभाव है।

पहली क्रान्ति तब हुई जब आर्य भारत आए, अथवा यो कहे कि जब भारतवर्ष मे आर्य और आर्येतर जातियो का मिलन हुआ। आर्य और आर्येतर जातियो के मिश्रण से भारत मे जो जनता तैयार हुई वही भारत की बुनियादी जनता हुई और उस जनता की सस्कृति ही इस देश की बुनियादी सस्कृति है।

उन्नीसवी सदी मे भारत के प्राचीन साहित्य का जो अध्ययन और मनन हुआ, उससे विद्वानो का मत यह हो गया था कि भारतीय सस्कृति मे जो कुछ भी सुन्दर और श्रेष्ठ है वह आर्यो का दिया हुआ है, इसके विपरीत, जो कुछ भी साधारण और सामान्य है, वह आर्येतर जातियो का दान रहा होगा। किन्तु, इधर तीस-चालीस वर्षो के भीतर इस विषय मे जो अध्ययन और चिन्तन किया गया है, उसमे तस्वीर कुछ और ही बनती है। अब विद्वान यह मानने लगे है कि भारत की प्राचीन बुनियादी सस्कृति भी सामासिक है और उसमे आर्यो और आर्येतर जातियो का प्राय बराबर-बराबर का अशदान है।

शिव आर्येतर देवता है

उदाहरण के लिए, यदि शैव धर्म पर विचार किया जाय तो यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय मे रुद्र की कल्पना तो मिलती है, किन्तु, आर्यों के प्राचीन साहित्य से यह पता नही चलता कि 'बाण की तरह चमकते हुए आनेवाले' इस रुद्र से श्मशानवासी, गजाजिन पहनने और भाग-धतूरा खाने वाले शिवजी का क्या सम्बन्ध है। वामन, कूर्म और शिव-पुराणों मे शिवजी की जो कथा आती है, उससे भी यही दिखाई देता है कि शिव की पूजा आर्य-ऋषियो की पत्नियो मे तो चलती थी, किन्तु, ऋषिगण उसे पसन्द नही करते थे। इस पर से यह अनुमान निकलना स्वाभाविक है कि ऋषियो का विवाह आर्येतर देवियो से हुआ था तथा ये देविया जब अपने पतियो के घर आई, तब अपने पितृकुल के देवता शिव को भी अपने साथ लेती आई। ऋषियो ने पहले तो शिव-पूजा का विरोध किया, किन्तु, बाद को वे स्वय भी शिवजी को पूजने लगे। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव का भाग नही रखा गया था, इससे भी यही अनुमान निकलता है कि आर्यों के यहा शिव की पूजा की स्वीकृति जरा देर से हुई है। शिव की पूजा करो, किन्तु उनका प्रसाद न खाओ, यह बात भी शिव के सम्बन्ध मे आर्यों की झिझक का ही प्रमाण है। आज भी कार्तिकेय और गणेश के लिए जो उत्साह दक्षिण मे दिखाई देता है, वह उत्तर मे नही है। उत्तर भारत मे कार्त्तिकेय की मूर्ति सिर्फ विजयादशमी के अवसर पर दुर्गा के साथ बनाई जाती है और गणेश, अक्सर, शुभ और लाभ के बीच दूकानो पर विराजा करते है; लेकिन, दक्षिण के मन्दिरो मे दोनों भाइयों की बडी-बडी मूर्त्तियां देखने मे आती है जिनकी बनावट से वीरता टपकी पडती है। अलबत्ते, उज्जैन मे गणेश की एक अच्छी मूर्त्ति पधराई गई है, पर, वह अभी बिलकुल हाल ही की घटना है।

रेवरेण्ड किटेल की कन्नड-इगलिश-डिक्शनरी मे ऐसे कितने ही शब्दो की सूची दी गई है जो द्रविड-भाषा

से निकल कर, बहुत प्राचीन काल में ही, संस्कृत में पहुंच गए और जो अब सस्कृत से किसी भी तरह बिलगाये नही जा सकते। ऐसे शब्दो मे एक शब्द पूजा भी है। लोगो का अनुमान था कि यह शब्द पूज् धातु से निकला होगा, किन्तु हिन्द-जर्मन-भाषा-परिवार मे जब कही भी इस धातु का पता न चला, तब लोग नई दिशाओं मे सोचने लगे। अन्त मे, अब यह अनुमान, प्रायः सत्य माना जा रहा है कि, हो न हो, पूजा शब्द तमिल के पू और जै, इन दो धातुओं के योग से बना है। तमिल मे पू का अर्थ पुष्प और जै का अर्थ कर्म होता है; अतएव, पूजा का अर्थ पुष्प-कर्म होना चाहिए जो बिलकुल ठीक है। आर्यों का प्रधान प्रेम हवन अथवा यज्ञ पर था। पूजा इस देश की जनता की चीज थी। इसीलिए, हवन तो पडितो तक ही सीमित रह गया, किन्तु, पूजा घर-घर मे फैल गई।

भारत की यह बुनियादी सस्कृति शताब्दियो तक अक्षुण्ण चलती रही और बाहर से जो भी जातिया इस देश में आई, वे सब-की-सब भारतीय जनता के समुद्र मे डूबती चली गई और उनकी सस्कृतिया भी भारतीय सस्कृति मे विलीन होती गई। उसके अपवाद केवल पारसी और मुसलमान है जो बहुत बाद को आए।

संतों द्वारा ऊंच-नीच का विरोध

तब ईसा से, प्राय, छह सौ वर्ष पूर्व भारत मे पहले भगवान महावीर और फिर भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ। बुद्ध हिन्दू जन्मे थे और उनके सारे कार्य भी बतलाते है कि वह अपने समय के सबसे बडे हिन्दू सुधारक और सत थे। उन्होने हिसापूर्ण यज्ञो का तो विरोध किया ही, किन्तु, उनका सबसे बडा कार्य, शायद, यह था कि उन्होंने जन्म के आधार पर जातियो को श्रेष्ठ और अधम मानने से इनकार कर दिया। 'सभी मनुष्य जन्मना समान है और ऊच-नीच का भेद केवल कर्म और आचरण की उच्चता और नीचता का भेद है', इस विचार का जोरदार प्रचार, सबसे पहले, बुद्ध ने ही किया था। बुद्ध ने ही वर्णाश्रम-धर्म के विरुद्ध विद्रोह करके इस देश मे बृहत मानवतावादी उस विचारधारा को आरम्भ किया जो बौद्ध एव नाथ सतो तथा कबीर, नानक, दादूदयाल और स्वामी दयानन्द को छूती हुई महात्मा गांधी तक पहुच गई है। यह बुद्ध की धारा है। किन्तु, इसके समानान्तर वह विचारधारा भी बह रही है जिसके विरुद्ध बुद्ध ने विद्रोह किया था, किन्तु, जो स्मृतियो और पुराणो से निकल कर शकराचार्य, उदयनाचार्य, वाचस्पति मिश्र, विद्यापति और तुलसी को छूती हुई लोकमान्य तिलक और महामना मालवीय जी महाराज तक आई है। बुद्ध के इसी बृहत मानवतावादी आन्दोलन से भारतीय सस्कृति मे दूसरी क्राति घटित हुई जिसका प्रभाव जीवन की अमरूय दिशाओ मे पडा है। ज्यो-ज्यो समय व्यतीत होता है, इन दोनो धाराओं की पारस्परिक दूरी, क्रमश., क्षीण होती जाती है और बुद्ध तथा शकर परस्पर समीप होते जाते है।

तीसरी क्रान्ति तब हुई जब इस्लाम, विजेताओ के धर्म के रूप मे, भारत आया। कहते है, मुसलमान जब भारत आए तब, आरम्भ मे, सबसे अधिक हत्या उन्होने बौद्ध साधुओ की ही की थी। किन्तु, यह भी सच है कि भारत मे इस्लाम के फैलने-योग्य जो वातावरण था वह, सब-का-सब, बौद्धो का ही तैयार किया हुआ था। इस्लाम के आगमन के पूर्व ही, भारत मे ऐसे कई सम्प्रदाय तैयार हो चुके थे जो बहुत-कुछ इस्लाम के अनुकूल थे। बौद्धो के दीर्घकालीन प्रचार ने, आखिरकार, समाज मे एक ऐसा समुदाय तैयार कर दिया था जो निराकार का पूजक, जाति-प्रथा का द्रोही और धर्म-शास्त्रो का शत्रु था। सिद्ध, नाथपथी और बाद के निर्गुनियाँ सन्त बौद्ध प्रचारको के ही उत्तराधिकारी थे जो वर्णाश्रम-धर्म की खुले-आम खिल्ली उडाते थे। भारत मे जो लोग झुण्ड-के-झुण्ड मुसलमान हुए उनमे अधिक सख्या उन्ही लोगो की थी जो इन निर्गुणवादियो के अनुयायी रहे थे, अर्थात् जिन पर बुद्ध के उपदेशो का गहरा प्रभाव था।

इस्लाम का प्रभाव

हिन्दुत्व और इस्लाम के मिलन से, बाद को, ऐसी कितनी ही बाते निकली जिनसे भारतीय संस्कृति की सामासिकता मे वृद्धि हुई है। खुसरो, जायसी, कबीर, नानक और दादूदयाल, ये उस सामासिकता के आरभिक व्याख्याता हुए है। उर्दू भाषा इसलिए उत्पन्न हुई कि फारसी के प्रेमी मुसलमान अपनी काव्यात्मक भावनाओं का गान भारत की भाषा मे करना चाहते थे। इसी प्रकार, खान-पान, रहन-सहन और पोशाक तथा सगीत और चित्रकारी एवं स्थापत्य मे

ऐसी कितनी ही चीजे हैं जो हिन्दुत्व और इस्लाम के मिलन से उत्पन्न हुई है। काव्य मे इस्लाम की सबसे बडी देन, शायद, सूफी-प्रवृत्ति या रहस्यवाद है। फारस मे रहस्यवाद उपनिषदो और बौद्ध साधनाओ के साहचर्य से जन्मा था। पीछे, जब वह भारत आया, तब वह प्राचीन होता हुआ भी बहुत-कुछ नवीन था। भारत मे निवृत्ति का प्रचार बहुत दिनो मे होता आया था; किन्तु, कबीर से पहले यहा कोई भी ऐसा कवि ही नही जन्मा जिसने मृत्यु को, उस प्रकार, काम्य बताया हो जैसे कबीर ने बताया है।

जिन मरने थे जग डरं, सो मेरो आनन्द।
कब मरिहूं कब देखिहूं, पूरन परमानन्द ॥

'जिन्दा रहना विरह है और मरने से विरह समाप्त हो जाता है', यह अनुभूति फारस के सूफी सन्तो की थी। वही से यह चीज हिन्दुस्तान आ गई। और अब तो यह भाव रवीन्द्रनाथ और महादेवी की कविताओ मे भी देखा जा सकता है।

हिन्दुत्व और इस्लाम ने, एक-दूसरे को, कई प्रकार से प्रभावित किया और, कभी-कभी, यह प्रभाव गभीर भी रहा है। किन्तु, आदमी यदि सतर्कता न बरते तो इन प्रभावो का वर्णन घोर अतिरजन से युक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, यह कहना घोर असत्य है कि गुरु-परपरा भारत मे इस्लाम के साथ आई, अथवा, भक्ति-आन्दोलन के पीछे इस्लाम का प्रभाव था। गुरु-परपरा भारत मे तब से मौजूद है जब महात्मा मुहम्मद का जन्म भी नही हुआ था। और भक्ति भी इस्लाम के जन्म से बहुत पहले की चीज है। इसके आरभिक बीज उपनिषदो और गीता मे मिलते है तथा इसका भावनात्मक विस्तार तमिल भाषा के आलवार और नायनार सतो की भावविह्वल कविताओ मे प्राप्त है जिनमे मे कुछ लोग छठी सदी मे भी जनमे थे।

परपरा से यह देश मानता आया है कि भक्ति का जन्म दक्षिण मे हुआ। पद्मपुराण और श्रीमद्भागवत, दोनो मे एक श्लोक, समान रूप से, मिलता है जिसमे भक्ति स्वय अपने मुख से स्वीकार करती है:

उत्पन्ना द्राविडे चाहं, कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे, गुर्जरे जीर्णतां गता॥

और हिन्दी मे भी, परम्परा से आता हुआ एक दोहा है जो भक्ति को दक्षिण मे उत्पन्न बताता है·

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप नौ खंड ॥

रामानुज आलवार सतो की मानस-सतान थे। भक्ति की भावनात्मक अनुभूति पहले आलवार सतो को ही हुई थी। रामानुज ने उन अनुभूतियो में से भक्ति का दार्शनिक सिद्धान्त निकाला। आलवार अपढ पिता और रामानुज पडित पुत्र है। यदि आलवार नही हुए होते तो रामानुज का उद्भव असभवप्राय था।

प्रपत्ति के विषय मे भी, अक्सर, कहा जाता है कि यह इस्लाम का प्रभाव था। मेरा खयाल है, रामानुज को यह सिद्धान्त इस्लाम से नही मिला। इस्लाम तब तक भारत मे फैला कहा था ? यह तो आलवारो की शरणागति को रामानुज के द्वारा दिया हुआ पारिभाषिक नाम है। विपद की बात यह है कि भक्ति–आन्दोलन का इतिहास अभी ठीक से लिखा ही नही गया है। और वह तब तक सही नही समझा जाएगा जब तक उत्तर और दक्षिण की सभी भाषाओ मे उपलब्ध सामग्रियो का उपयोग कई विद्वान सम्मिलित होकर नही करते। आन्तर-भारती का यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि मद्रास और दिल्ली के विश्वविद्यालयो को इसे तुरन्त हाथ मे ले लेना चाहिए। डाक्टर ताराचन्द और प्रोफेसर कबीर की पुस्तको से, इस विषय मे जो भ्रम फैला है, उसका समीचीन मार्जन इसी श्रम-साध्य कार्य से होगा।

डाक्टर ताराचंद ने यह भी लिखा है कि इस्लाम यदि भारतवर्ष मे नही आता तो शकराचार्य का आविर्भाव होता या नही, यह सदिग्ध है। किन्तु, इस्लाम क्या शाकर मत की तरह अद्वैत मे विश्वास करता है ? इस्लाम एक ईश्वर मे विश्वास अवश्य करता है, किन्तु, वह अद्वैतवादी नही है। इस्लाम ईश्वर को एक मानता है, किन्तु, वह यह भी

समझता है कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई, वह सातवें आसमान पर रहता है और उसके हृदय में भक्तो के लिए दया और दुष्टो के लिए घृणा का वास है। ससार असत्य है अथवा जो कुछ हम देखते है वह 'कुछ नही मे कुछ का आभास है', ये बातें इस्लाम मे न पहले थी, न अब है। इस्लाम मे इसका कुछ थोडा आभास मात्र सूफियो के जरिये आया था और वह भी नवी-दसवी सदी के बाद। किन्तु, शकर का जन्म आठवी सदी मे हुआ था और जिस विचारधारा का उन्होने विकास किया, वह भारत मे बहुत दिनो से बहती आ रही थी। शकर अपने पूर्वज नागार्जुन और वसुबन्धु के उत्तराधिकारी है। उनकी माया की कल्पना बौद्धो के शून्यवाद से निकली थी। इसीलिए, शकर को लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे। उपनिषद, बुद्ध, वसुबन्धु और नागार्जुन की विचारधारा से अपरिचित होने के कारण ही अर्धपडित शकर को इस्लाम की देन मानते है।

इसी प्रकार, जो पडित यह कहता है कि कर्णाटक का वीर-शैव अथवा लिगायत सप्रदाय इस्लाम का अनुकरण है, वह शैव विचारधारा का सम्यक ज्ञान नही रखता। कन्नड भाषा मे अल्लम का अर्थ लिगायत भक्त होता है। इस शब्द को अल्लाह से निकला हुआ मानना उतना ही हास्यास्पद है जितना यह कहना कि कृष्ण नाम क्राइस्ट से निकला होगा। फिर भी, ये दोनो हास्यास्पद बातें ऐसे लोगो ने कही है जो विद्येतर कारणों से, विद्वान कहला रहे है।

यूरोपीय बुद्धिवाद

सस्कृति के क्षेत्र मे चौथी क्रान्ति तब आरम्भ हुई, जब भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम का सपर्क ईसाइयत और यूरोपीय बुद्धिवाद से हुआ। यह महाक्रान्ति अन्य सभी क्रान्तियो से अधिक व्यापक और गम्भीर है। शुरू तो यह उन्नीसवी सदी के साथ ही हुई, किन्तु, आज भी इसकी धारा लहरे लेती हुई आगे जा रही है और हम सभी लोग उसके प्रवाह मे है। इस क्रान्ति का सबसे भयानक परिणाम यह है कि इसने धर्म और विज्ञान, नवीन और प्राचीन तथा व्यष्टि और समष्टि के बीच दुर्धर्ष सघर्ष उत्पन्न कर दिया है।

हिन्दुत्व के वृत्त मे इस क्रान्ति के नेता राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, परमहस रामकृष्ण, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्र, अरविन्द, महर्षि रमण, एनी बेसेंट और महात्मा गाधी हुए है। और इस्लाम के भीतर इस क्रान्ति का मार्ग-दर्शन सर सैयद अहमद खा, मौलाना चिरागअली, सैयद मेहदीअली, सलाह अलदीन खुदाबख्श, मौलाना करामतअली, मौलाना हाली, मौलाना शिवली नौमानी और सर मुहम्मद इकबाल ने किया है। सन सत्तावन के गदर मे अगरेजो का मुकाबिला हिन्दुओं और मुसलमानो ने मिलकर किया था। लेकिन, संस्कृति के क्षेत्र में यूरोप से जब चुनौती आई, तब उसका जवाब दोनो धर्मों की ओर से अलग-अलग दिया गया। खैरियत की बात यह है कि अलग-अलग होने पर भी हिन्दुत्व और इस्लाम के उत्तर, मूलत., दो नही, एक है। वह एक उत्तर यह है कि यूरोप और अमरीका के नये ज्ञान मे जो कुछ भी उपयोगी और श्रेष्ठ है उसे हम अवश्य ग्रहण करेगे; लेकिन, साथ ही, हमारे अपने धर्म और सस्कृति मे जो कुछ भी ऊचा और महान है, हम उसे भी नही छोड़ सकते। एक हाथ मे विज्ञान की मसाल और दूसरे मे अध्यात्म का ज्योतिर्मय कमल, यह भारत का अगला स्वरूप दीखता है। विज्ञान के उदय के बाद अतीत और वर्तमान के बीच जो विश्वव्यापी सघर्ष आरम्भ हुआ, उसमे अतीत, प्राय, सभी देशो मे पराजित हो गया है। केवल भारत ही वह देश है जहा विश्व का अतीत आज भी जोरो से युद्ध कर रहा है। हमे कोई ऐसी राह निकालनी चाहिए जिससे इस लडाई मे एक की जीत और दूसरे की हार न होने पाए। सस्कृति अहकार नही, विनय है। संस्कृति जीत नही, समझौता और मैत्री का नाम है। अतीत और वर्तमान अगर परस्पर मित्र हो गये तो यह समझिये कि दुनिया को अपने दु खो से बाहर निकलने की राह मिल गई।

पुनश्च

दिल्ली मे सस्कृति शब्द का अर्थ नाच-गान और नाटक तक सीमित होता जा रहा है। नृत्य, संगीत और नाटक भी सस्कृति के अग है, किन्तु सस्कृति उन्ही तक सीमित नही है। सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है; सस्कृति वह तत्त्व है जो हम स्वय है। सभ्यता बहुत जल्दी भी बन सकती है; किन्तु, सस्कृति के बनने मे बहुत ज्यादा वक्त लगता

है और सभ्यता शीघ्र ही नष्ट भी हो सकती है, किन्तु, सस्कृति के नष्ट होने मे भी समय लगता है। मोटर, महल और हवाई जहाज, ये सभ्यता के उपकरण हैं। वे जल्दी लाये जा सकते है और जल्दी ही छीने भी जा सकते है, किन्तु, दया, माया, करुणा, अहिसा, साहस और शील ये आसानी मे नष्ट नही होते। कहा तो यह जाता है कि सस्कार आदमी की मृत्यु से भी समाप्त नही होता। वह जन्म-जन्मान्तर तक हमारा पीछा करता है।

एक दूसरे धरातल पर संस्कृति विचार है, सस्कृति भावना है, सस्कृति मनुष्य का जीवनव्यापी दृष्टिकोण है। हम जैसे विचारों मे विश्वास करते है, हमारे कर्म वैसे ही हो जाते है। निवृत्ति की माला जपते-जपते हम गुलाम हो गये और प्रवृत्ति की आराधना का आरम्भ करते ही हमारी गुलामी चली गई,। किन्तु, सस्कृति न तो केवल निवृत्ति है और न केवल प्रवृत्ति। सस्कृति दुराग्रह नही, सहनशीलता को कहते है। सस्कृति युद्ध नही, समझौते का नाम है। संसार में आज जो अशान्ति दिखाई पडती है, उसका एकमात्र कारण यह नही है कि दुनिया पूजीवाद और समाजवाद नामक दो शिविरो मे बट गई है। इस सकट का मूल कारण, शायद, यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति के सघर्ष मे निवृत्ति बिलकुल पराजित हो गई। जैसे निवृत्ति की अति से दीनता और दौर्बल्य बढता है, वैसे ही, प्रवृत्ति की अति, राक्षसी वृत्ति को बढावा देती है।

एक समय लोग यह मानकर निश्चेष्ट हो गए थे कि ससार माया और असत्य है। आज वे इस विश्वास के कारण कठोर हो रहे है कि परलोक की कल्पना ही झूठ है, इसलिए, पुलिस से बच कर जो भी करोगे वह पुण्य होगा। ससार की अशान्ति का कारण यह है कि व्यक्ति और राष्ट्र, दोनो ही, आज नम्बर एक बनने की कोशिश मे बेतहाशा दौड रहे है। लोग यह भूल गए है कि प्रजातन्त्र की असली पताका का नाम कफन है जिस पर लिखा रहता है कि सभी व्यक्ति समान है। मेरा खयाल है, प्रवृत्ति की गाढी स्याही मे जब तक निवृत्ति का पानी मिलाया नही जाएगा, तब तक शान्ति की कविता नही लिखी जा सकती।

संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढती है। जिस जलाशय मे नया जल लाने वाले द्वार खुले हुए है, वह हमेशा ताजा और नवीन रहेगा। जिसके पानी लाने वाले दरवाज़े बन्द हो गए, वह जलाशय सडकर सूख जाएगा। भारत की बुनियादी संस्कृति बन्द जलाशय की सस्कृति नही थी। एक तो उसका जन्म ही अनेक सस्कृतियो के योग मे हुआ था। दूसरे, जब तक वह अन्य सस्कृतियो के जल को स्वीकार करती रही, उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। अपनी समृद्धि के दिनो मे भारतीय सस्कृति बहिष्कार की नीति नही बरतती थी। उस समय भारत ने ससार को अनन्त ज्ञान दिया, यह बात हमे याद है। किन्तु, हम यह भूल गये कि उन दिनों बाहर से चीजें हम लेते भी थे। केन्द्र शब्द एक समय ग्रीक शब्द केटर से लिया गया था। ज्योतिष-ग्रन्थों मे एक ग्रन्थ रोमक-सिद्धान्त भी है जो रोम की याद दिलाता है। एक दूसरे ग्रन्थ पौलिश-सिद्धान्त के बारे मे भी अनुमान है कि वह अलेक्जेड्रिया के विद्वान पोलस के सिद्धान्तो के अनुसार लिखा गया था। कहते है, होरा-चक्र की पद्धति भी यहा यूनान से आई थी। और ताजक-शास्त्र तो, स्पष्ट ही, अरब से आया हुआ लगता है। इस ग्रन्थ के अनेक श्लोको मे अरबी-शब्दो का धडल्ले से प्रयोग हुआ है, ऐसा पडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है।

इन बातों से शिक्षा यह निकलती है कि गुरु का पद उसी को शोभा देता है जिसमे शिष्य बनने की भी शक्ति है। जो शिष्य बनने से इनकार करने लगता है, उसका गुरु-पद आपसे-आप विनष्ट हो जाता है।

भारतीय संस्कृति

डा० मंगलदेव शास्त्री

जिस रूप मे भारतीय सस्कृति का प्रश्न आज देश के सामने है, उस रूप मे उसका इतिहास अधिक प्राचीन नही है। तो भी यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर इस पर विशेष ध्यान गया है।

वर्तमान भारत मे यह प्रश्न क्यो उठा ? यह विषय रुचिकर होने के साथ-साथ मनन करने के योग्य भी है। हमारे मत मे तो इसका उत्तर यही है कि, विदेशीय सघटित विचारधारा तथा राजनीतिक शक्ति के आक्रमण का प्रतिरोध करने की दृष्टि से, हमारे मनीषियो ने अनुभव किया कि सहस्रो वर्षों की क्षुद्र तथा सकीर्ण साम्प्रदायिक विचार-धाराओ और भावनाओ के विघटनकारी दुष्प्रभाव को देश से दूर करने के लिए आवश्यक है कि जनता के सामने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो मे एक सूत्र-रूप से व्यापक, मौलिक तथा समन्वयात्मक विचार-धारा रखी जाए। भारतीय संस्कृति की भावना को उन्होने ऐसा ही समझा। वर्तमान भारत मे भारतीय सस्कृति के प्रश्न के उठने का यही कारण हमारी समझ मे आता है।

'संस्कृति' शब्द का अर्थ

'सस्कृति' शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के झगडे मे हम इस समय पडना नही चाहते। सब लोग इसका कुछ-न-कुछ अर्थ समझकर ही प्रयोग करते है। तो भी प्राय निर्विवाद रूप से इतना कहा जा सकता है कि ·

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिकसम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्टया प्रेरणा-प्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिकजीवनस्योत्कर्षः पर्यवस्यति। तयैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते। किं बहुना, संस्कृतिरेव वस्तुतः 'सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' (छान्दोग्योपनिषद् ८।४।१) इत्येवं वर्णयितुं शक्यते। अतएव च सर्वेषां धर्माणां संप्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते।" (प्रबन्धप्रकाश, भाग २, पृ० ३)।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारो मे या सामाजिक सम्बन्धों मे मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही सस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की समाप्ति सस्कृति मे ही होती है। विभिन्न सभ्यताओ का उत्कर्ष तथा अपकर्ष सस्कृति के द्वारा ही नापा जाता है। उसके द्वारा ही लोगो को सघटित किया जाता है। इसीलिए सस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायो और आचारो का समन्वय किया जा सकता है।

विद्वानो का इस विषय मे ऐकमत्य ही होगा कि ऊपर के अर्थ में 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग प्रायः बिलकुल नया ही है।

भारतीय संस्कृति के विषय में विभिन्न दृष्टियां

सस्कृति के विषय मे सामान्य रूप से उपयुक्त विचार के होने पर भी, भारतीय सस्कृति की भावना के विषय मे बडी गडबड़ दिखाई देती है। इस विषय मे देश के विचारको की प्राय. परस्पर-विरुद्ध या विभिन्न दृष्टिया दिखाई देती हैं।

इस विषय मे अत्यन्त सकीर्ण दृष्टि उन लोगो की है, जो परम्परागत अपने-अपने धर्म या सम्प्रदाय को ही 'भारतीय संस्कृति' समझते है। सस्कृति के जिस व्यापक या समन्वयात्मक रूप की हमने ऊपर व्याख्या की है, उसकी ओर उनका ध्यान ही नही जाता है। 'कल्याण' ने कुछ वर्ष पहले एक 'सस्कृति-विशेषाक' निकाला था। उसमे लेख लिखने वाले अधिकतर ऐसे ही सज्जन थे, जिनको कदाचित यह भी ज्ञान नही था कि प्राचीन 'धर्म', 'सम्प्रदाय', 'सदाचार' आदि शब्दों के रहने पर भी देश मे 'सस्कृति' शब्द के इस समय प्रचलन का मुख्य लक्ष्य क्या है ?

दूसरी दृष्टि उन लोगो की है, जो भारतीय सस्कृति को, भारतान्तर्गत समस्त सम्प्रदायो मे व्यापक न मानकर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायो से ही सम्बद्ध मानते है। इस दृष्टि वाले लोग यद्यपि उपर्युक्त पहली दृष्टि वालो मे काफी अधिक उदार हैं, तो भी देखना तो यह है कि उपर्युक्त विचार-धारा से प्रभावित भारतीय सस्कृति मे वर्तमान भारत की कठिन साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान की, तथा साथ ही ससार की सतत प्रगतिशील विचारधारा के साथ भारतवर्ष को आगे बढाने की कहा तक क्षमता है। यदि नही, तब तो यही प्रश्न उठता है कि कही भारतीय सस्कृति के इस नवीन आन्दोलन से देश को लाभ के स्थान मे हानि ही न उठानी पडे ? हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनो पहले तक सबसे सम्मानित 'भारतीय सस्कृति' शब्द उपर्युक्त विचार-धारा के कारण ही अब अपने पद से नीचे गिरने लगा है।

तीसरी दृष्टि उन लोगो की है जो भारतीय सस्कृति को देश के किसी विशिष्ट एक या अनेक सम्प्रदायो मे परिमित या बद्ध न मानकर, समस्त सम्प्रदायो मे एक सूत्र-रूप से व्यापक, अतएव सबके अभिमान की वस्तु, काफी लचीली, सहस्रो वर्षों से भारतीय परम्परा से प्राप्त सकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओ और विषमताओ के विष को दूर करके राष्ट्र मे एकात्मकता की भावना को फैलाने का एकमात्र साधन समझते है। स्पष्टत इसी दृष्टि से भारतीय सस्कृति की भावना देश की अनेक विषम समस्याओ के समाधान का एकमात्र साधन हो सकती है।

दूसरी ओर, लक्ष्य या उद्देश्य की दृष्टि से भी, भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे लोगो मे विभिन्न धारणाए फैली हुई है। कोई तो इसको प्रतिक्रियावादिता या पश्चाद्गामिता का ही पोषक या समर्थक समझते है। सस्कृति-रूपी नदी की धारा सदा आगे को ही बहती है, इस मौलिक सिद्धान्त को भूलकर वे प्राय यही स्वप्न देखते है कि भारतीय सस्कृति के आन्दोलन के सहारे हम भारतवर्ष की सहस्रो वर्षों की प्राचीन परिस्थिति को फिर से वापस ला सकेगे। पश्चाद्गामिता की इसी विचार-धारा के कारण देश का एक बडा प्रभाव-सम्पन्न वर्ग भारतीय सस्कृति की भावना का घोर विरोधी हो उठा है, या कम-से-कम उसको सन्देह की दृष्टि मे देखने लगा है।

दूसरे वे लोग है, जो भारतीय सस्कृति को देश के परस्पर-विरोधी तत्त्वो को मिलाने वाली, गगा की सतत अग्रगामिनी तथा विभिन्न धाराओ को आत्मसात करने वाली धारा के समान ही सतत प्रगतिशील, और स्वभावत. समन्वयात्मक समझते है। प्राचीन परम्परा मे जीवित सम्बन्ध रखते हुए वह सदा आगे ही बढेगी। इसीलिए उसे ससार के किसी भी वाद से, वस्तुत प्रगतिशील वाद से न तो कोई विद्वेष हो सकता है, न भय।

उपर्युक्त विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव के कारण ही भारतीय सस्कृति के आधार के विषय मे भी विभिन्न मत प्रचलित हो रहे है।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

इस सम्बन्ध मे जनता मे सबसे अधिक प्रचलित मत विभिन्न सम्प्रदायवादियो के है। लगभग दो-ढाई सहस्र वर्षों से इन्ही सम्प्रदायवादियो का बोलबाला भारत मे रहा है। इन सम्प्रदायो के मूल मे जो आर्थिक, जातिगत, समाजगत या राजनीतिक कारण थे, उनका विचार यहा हम नही करेंगे। तो भी इतना कहना अप्रासगिक न होगा कि इस दो-ढाई सहस्र वर्षों के काल मे भी भारतवर्ष की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो मे इन सम्प्रदायवादियों का काफी हाथ रहा है।

अपने-अपने सम्प्रदाय तथा परम्परा को ही सृष्टि के प्रारम्भ मे ब्रह्मा, शिव आदि के द्वारा प्राय प्रवर्तित कहने वाले, तथा अपने से भिन्न सम्प्रदायों को प्रायः अपने से हीन कहने वाले, इन लोगों के मत मे तो 'विशुद्ध' भारतीय

सस्कृति का आधार उनके ही सम्प्रदाय के प्रारम्भिक रूप मे ढूढना चाहिए। वैदिक, तांत्रिक, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध जैसे सम्प्रदाय प्राय. इसी कोटि मे आ जाते हैं।

ये लोग अपने-अपने सम्प्रदाय से अनन्तर-भावी या भिन्न सम्प्रदायो को प्राय अपने मौलिक धर्म का विकृत या बिगड़ा हुआ रूप ही समझते है।

उदाहरणार्थ मनु के ·

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति॥ (१२।९७)
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ (१२।९५-९६)

(अर्थात्, चातुर्वर्ण्य और चारो आश्रमो के साथ-साथ भूत, वर्तमान और भविष्य तथा तीनों लोकों का परिज्ञान वेद से ही होता है। वेदबाह्य जो भी स्मृतिया या सम्प्रदाय हैं, वे तमोनिष्ठ तथा नवीन होने के कारण निष्फल और मिथ्या है।) इत्यादि वचन, युगो के क्रम से धर्म के ह्रास की कल्पना, मनुस्मृति-जैसे ग्रथो मे शूद्र राज्य की विभीषिका, पुराणो मे 'नन्दान्त क्षत्रियकुलम्' (अर्थात नन्दो के अनन्तर वैदिक सम्प्रदाय के पोषक क्षत्रिय राजाओं का अन्त), धर्मशास्त्रो मे चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के साथ सकरज जातियो की स्थिति की कल्पना, इत्यादि समस्त विचार-धारा उन्हीं सम्प्रदायवादियो की प्रतीक है, जो भारतीय सस्कृति को प्रगतिशील और समन्वयात्मक न मानकर केवल अपने-अपने सम्प्रदाय मे ही अपनी विचारधारा को बद्ध रखते है।

एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता, असहिष्णुता की भावना और भारत के वर्तमान या ऐतिहासिक स्वरूप के समझने मे वैज्ञानिक समष्टि-दृष्टि का अभाव—इन बातो मे ही इन लोगो का मुख्य वैशिष्टय दीख पडता है।

यह विचित्र-सी बात है कि हमारे कुछ आधुनिक इतिहास-लेखक तथा विचारक भी इस (बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक) पूर्वग्रह (Prejudice) से शून्य नही है। साम्प्रदायिक या जातिगत पूर्वग्रह के कारण वे भारतीय सस्कृति के इतिहास के अध्ययन मे समष्टि-दृष्टि न रखकर, एकागी दृष्टि से ही काम लेते रहे है। केवल बौद्धो आदि पर भारत के अध पतन का दोष मढना, ऐसे ही लोगो का काम है।

ऐतिहासिक गवेषणा मे हमारी एकागी दृष्टि का प्रधान कारण यह होता है कि हम प्रायः अपनी दृष्टि को सस्कृत-साहित्य मे ही परमिति कर देते है। पर सस्कृत-साहित्य मे कितनी अधिक एकागिता है, इसका ज्वलत प्रमाण इसी से मिल जाता है कि बौद्धकालीन उस इतिहास का भी, जिसको हम भारत का स्वर्ण-युग कह सकते है, सस्कृत-साहित्य मे प्राय उल्लेख ही नही है। 'व्याकरण महाभाष्य' मे पाणिनि के **'येषां च विरोधः शाश्वतिकः'** (२।४।९) (अर्थात जिनमे परस्पर शाश्वतिक विरोध होता है, उनके वाचक शब्दो का द्वद्व समास एकवचन मे रहता है) इस सूत्र का एक उदाहरण 'श्रमणब्राह्मणम्' दिया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि कम-से-कम ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व से ही श्रमण (अर्थात बौद्ध) और ब्राह्मणो मे सर्प और नकुल-जैसी शत्रुता रहने लगी थी। सस्कृत-साहित्य की उपर्युक्त एकागिता के मूल मे ऐसे ही कारण हो सकते है। यही बात सस्कृतेतर साहित्यो के विषय में भी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भारतीय सस्कृति के आधार के विषय में उपर्युक्त साम्प्रदायिक तथा एकागी दृष्टि के मुकाबले मे आधुनिक विज्ञानमूलक ऐतिहासिक दृष्टि है। इसके अनुसार भारतीय सस्कृति को उसके उपर्युक्त अत्यन्त व्यापक अर्थ में लेकर, उसको स्वभावत: प्रगतिशील तथा समन्वयात्मक मानते हुए, वैदिक परम्परा के सस्कृत-साहित्य के साथ बौद्ध-जैन साहित्य तथा सन्तां के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन, मूक जनता के अनंकित विश्वास और आचार-विचारो के परीक्षण

ग्रौर भाषा के साथ-साथ पुरातत्त्व-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक साक्ष्य के ग्रनुशीलन के द्वारा समष्टि-दृष्टि से, भारतीय संस्कृति के ग्राधारों का ग्रनुसंधान किया जाता है।

उपर्युक्त दोनो दृष्टियो मे किसका कितना मूल्य है, यह कहने की बात नही है। स्पष्टत उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टि से ही हम भारतीय सस्कृति के उस समन्वयात्मक तथा प्रगतिशील स्वरूप को समझ सकते है, जिसको हम वर्तमान भारत के सामने रख सकते है ग्रौर जिसमे भारत के विभिन्न सम्प्रदायो ग्रौर वर्गों को ममत्व की भावना हो सकती है। हम इस लेख मे इसी दृष्टि से, सक्षेप मे ही, सस्कृति के ग्राधारो की विवेचना करना चाहते है।

भारतीय संस्कृति के मौलिक ग्राधार

भारतीय सस्कृति के ग्राधार के विषय मे उपर्युक्त समन्वयमूलक दृष्टि का क्षेत्र यद्यपि ग्राज के वैज्ञानिक युग में ग्रत्यधिक व्यापक ग्रौर विस्तृत हो गया है, तो भी यह दृष्टि नितरा नवीन कल्पनामूलक है, ऐसा नही कहा जा सकता। भारतवर्ष के ही विद्वानो की परम्परागत प्राचीन मान्यताग्रो मे इस दृष्टि की पुष्टि मे पर्याप्त ग्राधार मिल जाता है। उदाहरणार्थ, सस्कृत के ज्ञाताग्रों से छिपा नही है कि वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म के लिए 'निगमागम धर्म' नाम पडितो मे प्रसिद्ध है। ग्रनेक सुप्रसिद्ध ग्रथकारो के लिए, उनकी प्रशसा के रूप मे **'निगमागमपारावारपारदृश्वा'** कहा गया है। इसका ग्रर्थ स्पष्टत यही है कि परम्परागत पौराणिक हिन्दू धर्म का ग्राधार केवल 'निगम' (या वेद) न होकर, 'ग्रागम' भी है। दूसरे शब्दो मे वह निगम-ग्रागम-धर्मों का समन्वित रूप है। यहा 'निगम' का मौलिक ग्रभिप्राय, हमारी सम्मति मे, निश्चित या व्यवस्थित वैदिक परम्परा से है ग्रौर 'ग्रागम' का मौलिक ग्रभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल मे ग्राती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सास्कृतिक परम्परा मे है। 'निगमागमधर्म' की चर्चा हम ग्रागे भी करेगे। यहा तो हमे केवल यही दिखाना है कि प्राचीन भारतीय विद्वानो की भी ग्रस्पष्ट रूप से यह भावना थी कि भारतीय सस्कृति का रूप समन्वयात्मक है।

इसके ग्रतिरिक्त साहित्य ग्रादि के स्वतन्त्र साक्ष्य से भी हम इसी परिणाम पर पहुचते है। सबसे पहले हम वैदिक सस्कृति से भी प्राचीनतर प्राग्वैदिक जातियो ग्रौर उनकी सस्कृति के विषय मे ही कुछ साक्ष्य उपस्थित करना चाहते है।

वैदिक साहित्य को ही लीजिए। ऋग्वेद मे वैदिक देवताग्रो के प्रति विरोधी भावना रखने वाले दासो या दस्युग्रो के लिए स्पष्टतः 'ग्रयज्यव' या 'ग्रयज्ञ' (=वैदिक यज्ञ-प्रथा को न मानने वाले), 'ग्रनिन्द्रा' (=इन्द्र को न मानने वाले) कहा गया है। इन्द्र को इन दस्युग्रो की सैकडो 'ग्रायसी पुर' (=लोहमय या लोहवत् दृढ पुरियो को) नाश करने वाला कहा गया है।

ग्रथर्ववेद के 'पृथिवी-सूक्त' मे **'यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा ग्रसुरानभ्यवर्तयन्'** (१२।१।५) (ग्रर्थात जिस पृथ्वी पर पुराने लोगो ने विभिन्न प्रकार के कार्य किए थे ग्रौर जिस पर देवताग्रो ने 'ग्रसुरो' पर ग्राक्रमण किए थे) स्पष्टत प्राग्वैदिक जाति का उल्लेख है। भारतीय सभ्यता की परम्परा मे 'देवो' की ग्रपेक्षा 'ग्रसुरो' का पूर्ववर्ती होना ग्रौर प्रमाणो से भी सिद्ध किया जा सकता है। सस्कृत भाषा के कोषो मे ग्रसुरवाची 'पूर्वदेवा' शब्द से भी यही सिद्ध होता है।

शतपथ मे मास को श्रेष्ठ ग्रन्नाद्य तो बतलाया ही गया है, पर हमारी स्मृति मे कदाचित यह भी कहा है कि जहा देवता मास को पसन्द करते है, वहा ग्रसुरो को उससे घृणा होती है।

बौधायन धर्मसूत्र मे एक स्थल पर ब्रह्मचर्यादि-ग्राश्रमों के विषय मे विचार करते हुए स्पष्टत कहा है.

'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः तत्रोदाहरन्ति।
प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर ग्रास।
स एतान् भेदांश्चकार'''तान् मनीषी नाद्रियेत।'

ग्रर्थात् ग्राश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक ग्रसुर ने किया था। पुराणो तथा वाल्मीकि रामायण

आदि मे भारतवर्ष मे ही रहने वाली यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग आदि अनेक अवैदिक जातियो का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार इन जातियो की स्मृति और स्वरूप साहित्य मे क्रमश. अस्पष्ट और मन्द पडते गए है, यहा तक कि अन्त मे इनको 'देवयोनि-विशेष' (तु० **विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धोऽभूतोऽमी देवयोनयः॥** —अमरकोश) मान लिया गया, इससे यही सिद्ध होता है कि ये प्रागैतिहासिक जातिया थी, जिनको क्रमशः हमारी जातीय स्मृति ने भुला दिया। अग्रवालो आदि की अनुश्रुति मे भी 'नाग' आदि प्रागैतिहासिक जातियों का उल्लेख मिलता है।

पुराणों मे शिव का जैसा वर्णन है, वह ऋग्वेदीय रुद्र के वर्णन से बहुत-कुछ भिन्न है। ऋग्वेद का रुद्र केवल एक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है। उसका यक्ष, राक्षस आदि के साथ कोई भी सम्बन्ध नही है। परन्तु पौराणिक शिव की तो एक विशेषता यही है कि उसके गण भूत, पिशाच आदि माने गए है। वह राक्षस और असुरो का खासतौर पर उपास्य देव है। इससे यही सिद्ध होता है कि शिव अपने मूल रूप मे एक प्राग्वैदिक देवता था, जिसका पीछे से शनै-शनै वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया।

वैदिक तथा प्रचलित पौराणिक उपास्य देवो और कर्मकाण्डो की पारस्परिक तुलना करने से भी हम बर-बस इसी परिणाम पर पहुचते है कि प्रचलित हिन्दू देवताओ और कर्मकाण्ड पर एक वैदिकेतर, और बहुत अशो मे प्रागैतिहासिक, परम्परा की छाप है।

प्राचीन वैदिक धर्म की अपेक्षा पौराणिक धर्म मे उपास्यदेवों की सख्या बहुत बढ गई है। वैदिक धर्म के अनेक देवता (ब्रह्मणस्पति, पूषा, भग, इन्द्र, मरुत) या तो पौराणिक धर्म मे प्राय. विलुप्त ही हो गए है या अत्यन्त गौण हो गए है। पौराणिक धर्म के गणेश, शिवशक्ति और विष्णु ये मुख्य देवता है। वेद मे इनका स्थान या तो गौण है या है ही नही। अनेक वैदिक देवताओ (जैसे विष्णु, वरुण, शिव) का पौराणिक धर्म मे रूपान्तर ही हो गया है। भैरव आदि ऐसे भी पौराणिक धर्म के अनेकानेक देवता है, जिनका वैदिक धर्म मे कोई स्थान नही है।

पौराणिक देव-पूजा-पद्धति भी वैदिक पूजा-पद्धति से नितरा भिन्न है। पौराणिक कर्मकाण्ड मे धूप, दीप, पुष्प, फल, पान सुपारी आदि की पदे-पदे आवश्यकता होती है। वैदिक कर्मकाण्ड मे इनका अभाव ही है।

वैदिक धर्म से प्रचलित पौराणिक धर्म के इस महान परिवर्तन को हम वैदिक तथा वैदिकेतर (या प्राग्वैदिक) परम्पराओ के एक प्रकार के समन्वय मे ही समझ सकते है।

इसी प्रकार हमारी सस्कृति की परम्परा मे विचार-धाराओ के कुछ ऐसे परस्पर-विरोधी द्वन्द्व है, जिनको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओ के साहाय्य के बिना नही समझ सकते। ऐसे ही कुछ द्वन्द्वो का सकेत हम नीचे करते है

१. कर्म और सन्यास।

२. ससार और जीवन का उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकास का ही नाम अमृतत्व है। यही नि श्रेयस् है।

इसके स्थान मे—

ससार और जीवन दु खमय है। अतएव हेय है। इनसे मोक्ष या छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

३. ज्योतिर्गमय लोको की प्रार्थना[1] और नरको[2] का निरन्तर भय, इन द्वद्वो मे पहला पक्ष स्पष्टतया वैदिक सस्कृति के आधार पर है। दूसरे पक्ष का आधार, हमारी समझ मे, वैदिकेतर ही होना चाहिए।

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष की प्राचीनतर वैदिकेतर सस्कृतियो मे ही दूसरे पक्षो की जड होनी चाहिए। ऊपर सन्यासादि आश्रमो की उत्पत्ति के विषय मे जो बौधायन धर्मसूत्र का मत हमने दिया है, उससे भी

१. तुलना कीजिए—उद्वय तमसस्परि स्व. पश्यन्त उत्तरम्। (यजु० २०।२१); तमसो मा ज्योतिर्गमय। इत्यादि।

२. 'नरक' शब्द ऋग्वेद सहिता, शुक्ल यजुर्वेद, वा० सहिता तथा सामवेद सहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्ववेद संहिता में केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।

यही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी हमारे देश के अध्यात्म-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र का आधार ये ही द्वितीय पक्ष की धाराए हैं। ये धाराए अवैदिक हैं, यह सुनकर हमारे अनेक भाई चौक उठेगे। पर हमारे मत मे तो वस्तु-स्थिति यही दीखती है।

इन्ही दो प्रकार की विचारधाराओ को बहुत अशो मे, हम क्रमश ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय भी कह सकते है। 'ऋषि' तथा 'मुनि' शब्दो के मौलिक प्रयोगो के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुचते है। 'मुनि' शब्द का प्रयोग भी वैदिक संहिताओ मे बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका 'ऋषि' शब्द मे कोई सम्बन्ध नही है।

ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे, सक्षेप मे, हम इतना ही यहा कहना चाहते है कि दोनो की मौलिक दृष्टियों मे हमें महान भेद प्रतीत होता है। जहा एक का झुकाव हिसा-मूलक मासाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है, वहा दूसरे का अहिसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता (तथा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। जहा एक का, परम्परा मे वेदो को सुनने के कारण ही शूद्रो के कान मे शीशा पिलाने का विधान है, वहा दूसरी ओर उसने ससार भर के शूद्रातिशूद्र के भी हित की दृष्टि मे बौद्ध, जैन तथा सन्त सम्प्रदायो को जन्म दिया है। इनमे एक मूल मे वैदिक, और दूसरी मूल मे प्राग्वैदिक प्रतीत होती है।

इसी प्रकार हमारे समाज मे वर्ण और जाति के आधार पर सामाजिक भेदो का द्वैविध्य दीखता है, वह भी इसी प्रकार का एक द्वन्द्व प्रतीत होता है।

पुरुष-विध देवताओ के साथ-साथ स्त्री-विध देवताओ की पूजा-उपासना भी इसी प्रकार के द्वन्द्वो मे से एक है।

हम एक और द्वन्द्व का उल्लेख करके अपने लेख के उपसहार की ओर आते है। वह द्वन्द्व ग्राम और नगर का है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहा 'ग्राम' शब्द वैदिक सहिताओ मे अनेकत्र आया है, वहा 'नगर' का प्रयोग हमे एक बार भी नही मिला। वैदिक साहित्य और धर्म-सूत्रो मे भी वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है। दूसरी ओर, नगरो के निर्माण मे 'मय' जैसे असुरो का उल्लेख पुराणो आदि मे मिलता है। नगरो के साथ ही नागरिक शिल्प और कला-कौशल का विचार सम्बद्ध है। यह विचारणीय बात है कि वैदिक सस्कृति के वाहक ऊपरी तीनो वर्णो मे कला और शिल्प का कोई स्थान नही है। इन कामो को करने वालो की तो ये लोग 'शूद्रो' मे गणना करते है। इस प्रवृत्ति की व्याख्या हमारी समझ मे उपर्युक्त ग्राम तथा नगर के द्वन्द्व मे, जो कि वैदिक और प्राग्वैदिक परिस्थितियो की ओर सकेत करता है, मिल सकती है।

उपसंहार

ऊपर के अनुसन्धान से यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि भारतीय सस्कृति के मौलिक आधारो के विचार मे हम उसकी प्रधान प्रवृत्तियो को, जिनमे अनेक परस्परविरोधी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तिया भी है, कभी नही समझ सकते, जब तक हम यह न मान ले कि उनके निर्माण और विकास मे वैदिक सस्कृति की धारा के साथ-साथ एक वैदिकेतर या प्राग्वैदिक धारा का भी बडा भारी हाथ रहा है। दोनो धाराओ के समन्वय ही मे हमे उन मौलिक आधारो को ढूढना होगा।

वैदिक सस्कृति के समान ही वह प्राग्वैदिक सस्कृति भी हमारे अभिमान और गर्व का विषय होना चाहिए। आर्यत्व के अभिमान के पूर्वग्रह से युक्त, और भारत मे अपने साथ सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से प्रवृत्त यूरोपीय ऐतिहासिको के प्रभाव से उत्पन्न हुई यह भावना कि भारतीय सभ्यता का इतिहास केवल वैदिक काल मे प्रारम्भ होता है, हमे बरबस छोडनी पडेगी। भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिकता, त्याग की भावना, पारलौकिक भावना, अहिसावाद जैसी प्रवृत्तियों की जड, जिनके वास्तविक और सयत रूप का हमको गर्व हो सकता है, हमको वैदिक सस्कृति की तह से नीचे तक जाती हुई मिलेगी।

वैदिक सस्कृति का बहुत ही बडा महत्त्व है, जिसके विषय मे एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है, तो भी भारतीय जनता के समुद्र मे उसका स्थान सदा से एक द्वीप-जैसा रहा है। मूक जनता की अवस्था के अध्ययन से तथा महाराष्ट्र आदि प्रदेशो में वैदिको की अपनी पृथक अवस्थिति से यही सिद्धान्त निकलता है।

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय

वैदिक और प्राग्वैदिक सस्कृतियो का उक्त समन्वय अदृष्टविधया बहुत प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। परस्पर आदान-प्रदान से दोनो धाराए आगे बढती हुई अन्त मे पौराणिक हिन्दू धर्म के रूप मे समन्वित होकर आपातत एक धारा मे ही विकसित हुई। इस समन्वय का प्रभाव धर्म, आचार-विचार, भाषा और रक्त तक पर पड़ा। इसके प्रमाणो की यहा आवश्यकता नही है।

इसी समन्वय को दृष्टि मे रख कर, जैसा हमने ऊपर कहा है, निगमागम धर्म नाम की प्रवृत्ति हुई। इसी के आधार पर सनातनी विद्वान बहुत ही ठीक कहते है कि हमारे धर्म का आधार केवल 'श्रुति' न होकर श्रुति-स्मृति-पुराण है।

पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समन्वय मे बहुत बडा काम भगवान व्यास का था। अपने समय मे पुराणो के 'सग्रह' या 'सपादन' मे उनका बडा हाथ था—यही पौराणिक प्रसिद्धि है। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही उपर्युक्त प्राग्वैदिक सस्कृति की ओर निर्देश करता है। उनका सहयोग उस समय के अनेकानेक 'ऋषि-मुनियो' ने दिया होगा, जिनमे से अनेको की धमनियो मे व्यास के सदृश ही दोनो सस्कृतियो का रक्त बह रहा था और प्राय· इसीलिए उनका विश्वास दोनो सस्कृतियो के समन्वय मे था।

यह समन्वित पौराणिक सस्कृति जो कि बहुत अशो में वर्तमान भारतीय सस्कृति के मेरुदण्ड के समान है, न तो केवल वैदिकेतर ही कही जा सकती है न उसको हम यूरोपीय विद्वानो के अभिप्राय से 'आर्य-सस्कृति' या 'अनार्य-सस्कृति' ही कह सकते है। उसकी तो समान रूप से उपर्युक्त दोनों धाराओ मे सम्मान की दृष्टि होनी चाहिए। यही सनातन धर्म की दृष्टि है। इसीलिए यूरोपीय प्रभाव से हमारे देश के कुछ लोगो मे आर्य-अनार्य, वैदिक-अवैदिक शब्दों को लेकर जो एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है, वह वास्तव में निराधार और अहेतुक है।

समन्वित धारा की प्रगति और विकास

गगा-यमुना-रूपी वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओ के सगम से बनी हुई भारतीय सस्कृति की यह धारा अपने 'ऐतिहासिक' काल मे भी स्वभावत स्थिर तथा एक ही रूप में नही रह सकती थी। इस लम्बे काल मे भी तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियो और आवश्यकताओ से उत्पन्न होने वाली नवीन धाराओ से वह प्रभावित होती हुई, और क्रमश उन धाराओ को आत्मसात करती हुई, नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे बढती रही है।

वैदिक और वैदिकेतर सस्कृतियो का प्रारम्भिक समन्वय केवल नाम-मात्र मे ही था। उन दोनो मे अनेकानेक स्वार्थों और बद्धमूल परम्पराओ के कारण अनेक प्रकार के वैषम्य, गगा की धारा मे प्रारम्भ मे बहते हुए परस्पर टकराने वाले टेढे-मेढ़े शिलाखण्डों के समान, चिरकाल तक सयुक्तधारा मे भी वर्तमान रहे। परस्पर सघर्ष के द्वारा ही उन्होने अपनी विषमता के रूप को धीरे-धीरे दूर किया है और भारतीय सस्कृति की धारा की महिमा को बढ़ाया है। यह क्रिया अब भी जारी है और जारी रहेगी। इसी मे भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता है।

उपर्युक्त वैषम्यो मे एक बडा भारी वैषम्य उस बडी भारी मानवता के कारण था, जिसको उस समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियो ने सब प्रकार से दलित कर रखा था। भारतवर्ष के आगे के इतिहास मे पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होने वाले जैन, बौद्ध, वैष्णव और सन्त आदि आन्दोलनो की उत्पत्ति और प्रसार मे उपर्युक्त विषमताओं का बडा भारी हाथ था। समाजगत विषमताओ ने ही भगवान कृष्ण, बुद्ध, महावीर, कबीर, चैतन्य आदि महापुरुषों को जन्म दिया और उन्होने उन विषमताओ के दूर करने मे अपने महान कार्य के द्वारा भारतीय सस्कृति की धारा की ही महत्ता को बढाया।

भारतवर्ष के इतिहास में आने वाले इसलाम और ईसाइयत के आन्दोलनों को भी हम भारतीय सस्कृति

की धारा के प्रवाह से बिलकुल अलग नही समझते। प्रथम तो इन दोनो की आध्यात्मिकता और नैतिकता का आधार 'एशियाटिक' सस्कृति के इतिहास की परम्परा के द्वारा भारतीय सस्कृति की मौलिक धारा तक पहुच जाता है। दूसरे, इतिहास-काल मे भी उनका, भारतीय बौद्ध सस्कृति का ऋणी होना कोई अस्वीकार नही कर सकता। तीसरे, उन दोनो में कम-से-कम ९५ प्रतिशत सख्या उन्ही की है, जो प्राचीन भारतीय सस्कृति के ही उत्तराधिकारी हैं, और आज भी उनमें सांस्कृतिक मूल्य की वस्तुओ पर भारतीयता की काफी छाप है। हमारा तो विश्वास है कि हम सहिष्णुता से काम लेते हुए, उनकी वास्तविक धार्मिक भावनाओ को ठेस न पहुचाते हुए, उनमे सुप्त भारतीयता को जगा सकते है। और वे भी भारतीय सस्कृति की धारा से पृथक नही रह सकते। हमारे मत मे बौद्ध, जैन आदि धर्मों की तरह ही, भारतवर्ष की पूर्वोक्त विषमताओं से ही इन सम्प्रदायो के प्रसार मे काफी सहायता मिली है और इनके द्वारा भारतीय संस्कृति भी प्रभावित हुई है, और उसको कई प्रकार के साक्षात या असाक्षात रूप से लाभ भी हुए है ।

हम उपर्युक्त सब आन्दोलनो को भी एक प्रकार से भारतीय सस्कृति का उपकारक और आधार कह सकते हैं।

आवश्यकता है कि हम भारतीय सस्कृति के विकास को समझने के लिए उपर्युक्त समष्टि-दृष्टि मे काम ले। प्रत्येक भारतीय साम्प्रदायिक एकागी दृष्टि को छोडकर भारतीय सस्कृति के समस्त क्षेत्र के साथ अपने ममत्व को स्थापित करे और अपने को उसका उत्तराधिकारी समझे।

यह भारतीय सस्कृति स्वभावत. सदा से प्रगतिशील रही है और रहेगी। इसमे अपने जीवन की जो अबाध धारा बह रही है, उसके द्वारा ही यह भविष्य के देशीय या आन्ताराष्ट्रिक मानवता के हित के आन्दोलनो का स्वागत करते हुए, अपनी अनन्त परम्परा की रक्षा करते हुए ही आगे बढती जाएगी। इसी भारतीय सस्कृति मे हमारी आस्था है।

भारतीय संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना

श्री परशुराम चतुर्वेदी

भारतीय सस्कृति के प्रारभिक रूप की एक झलक हमे वैदिक साहित्य मे मिलती है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि वेद-कालीन आर्यों का जीवन-क्रम अत्यत सीधा-सादा था और उनकी आवश्यकताए भी बहुत सीमित थी। वे अधिकतर वनो मे रहा करते थे, खेती किया करते थे और पशुओ का पालन भी करते थे। उनकी मित्र-मडली में स्वभावतः अपने वर्ग के ही लोग रहा करते थे और इसी प्रकार उनके शत्रुओ मे वे लोग गिने जाते थे जिन्हे वे अनार्य कहते थे। उन अनार्यों के साथ मे वे प्राय. लडा-भिडा करते थे और उन पर विजय प्राप्त कर इन्होने विस्तृत भूमि उपार्जित कर ली थी। परन्तु फिर भी ये उनके प्रति किसी प्रकार के स्थायी वैर की भावना रखते हुए नहीं जान पडते। जब ये कभी परमात्मा की स्तुति करने लगते है तो उनके प्रति भी इनके हृदयो से प्राय· मैत्री-भाव की ही अभिव्यक्ति होती है। ऐसे अवसरो पर इनका कहना है—"मुझे मित्र से भय न रहे, अमित्र वा शत्रु से भय न रहे, अपने परिचितो से भय न रहे, अपरिचितो से भय न रहे, रात को भय न रहे, दिन को भय न रहे और सभी दिशा के लोग मेरे मित्र बने रहे।"[१] वास्तव मे, ये अन्यत्र इस प्रकार भी कहते है—"हे परमेश्वर, मुझे समस्त प्राणीगण मित्र की आख से देखे और मै भी सभी प्राणियों को मित्र की आख से देखू। हम सभी एक दूसरे को भले प्रकार से एक मित्र की ही आख से देखा करे।"[२]

वेदकालीन आर्यों के अनुसार उनके पशुओ के लिए भी शाति और अभय की दशा उसी प्रकार अभीष्ट थी। उनका कहना था कि "हे भगवन्, हमारी प्रजाओ के लिए शाति प्रदान कर तथा पशुओ के लिए भी अभय प्रदान कर!"[३] और "हे इन्द्र तुम हमारे द्विपद (भृत्यादि) और चतुष्पद (चौपायो) के लिए भी कल्याणकारी बनो।"[४] बहुत से लोग उनकी इस प्रकार की उक्तियो को कोरी स्वार्थपरता पर ही आधारित मान लेने की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। परन्तु, यदि, उपनिषद-साहित्य की ओर भी दृष्टि डाली जाय तो, यह स्पष्ट होते देर नही लगती कि इसका मूल कारण उनका वह दार्शनिक दृष्टिकोण भी हो सकता है जिसके अनुसार, सारे विश्व के भीतर एव बाहर तक भी, सिवाय एक आत्मा के और कुछ भी सत्य नही। एक ही आत्मा सर्वत्र ओतप्रोत है जिस कारण किन्ही भी दो व्यक्तियों या पदार्थों मे भी कोई मौलिक भेद नही है। जैसा कि 'ब्रह्मबिन्दूपनिषद' मे कहा गया है—"एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत वा पदार्थ में व्यवस्थित है और वही, जल में चन्द्र के प्रतिबिब की भाति, एक होता हुआ भी, अनेक रूपो मे प्रतीत होता रहता है"।[५] फिर इसी बात को, एक दूसरे प्रसग मे, 'ईशोपनिषद' के अन्तर्गत भी इस प्रकार कहा गया है: "यह सारा का सारा जगत और उसमे जो कुछ भी दीखता है वह ईश्वर द्वारा अधिष्ठित है जिस कारण तू उसका त्यागभाव से ही उपभोग कर और किसी

---

१. अथर्ववेद, १९--१५--६
२. यजुर्वेद, ३६--१८
३. यजुर्वेद, ३६--३२
४. यजुर्वेद, ३६--८
५. ब्रह्मबिन्दूपनिषद, १--१२

के धन का लोभ न कर'।[1] अतएव, इसी उपनिषद के अनुसार 'जो व्यक्ति सपूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतो में भी आत्मा का ही अनुभव करता है वह, इस सर्वात्मवादी मनोवृत्ति के कारण, किसी से भी घृणा नही करता।'[2] तथा, इसलिए, जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सभी भूत आत्मवत हो गए उस समय क्या उस एकत्वदर्शी को कभी शोक वा मोह हो सकता है ?[3]

विश्व-ऐक्य तथा गीता

इस प्रकार, यदि ऐसा कहा जाय कि, विश्व-बन्धुत्व की भावना के लिए, कम-से-कम उपनिषदो की रचना के समय उसके दार्शनिक मूलाधार पर अधिक बल दिया जाता था तो, कदाचित, अत्युक्ति न होगी। इस बात के उदाहरण हमें 'महाभारत' की रचना के समय तक भी प्रचुर मात्रा मे मिलते है और गीता मे तो ऐसे ही ज्ञान को 'सात्त्विक' भी कहा गया है। जैसे 'जिस ज्ञान से यह समझ पडता है कि भिन्न-भिन्न प्राणियो मे एक ही अविभक्त और अव्यय भाव (आत्मा) है वही सात्त्विक ज्ञान है।[4] तथा उसी ग्रन्थ मे अन्यत्र, सर्वोत्कृष्ट योगी का परिचय देते समय भी, कहा गया है—'हे अर्जुन, सुख हो या दु ख, अपने ही समान औरों को भी होता है, जो ऐसी आत्मौपम्य दृष्टि मे सर्वत्र देखने लगे वही योगी परम वा उत्कृष्ट माना जाता है।'[5] किन्तु इस मनोवृत्ति का कही अधिक स्पष्ट एव व्यावहारिक रूप हमे वहा लक्षित होता है जब हम अनेक महापुरुषों द्वारा यह कहते हुए भी सुनते है कि हम न केवल सभी प्राणियो के दु.ख से दुखी है, अपितु उन्हें दु खरहित कर देने के लिए कटिबद्ध भी है। ऐसा स्वर हमे प्रथम कदाचित 'महाभारत' मे ही सुन पडता है जहां कहा गया है—'मैं न तो राज्य चाहता हू, न स्वर्ग की इच्छा रखता हू और न मोक्ष ही मेरा परम ध्येय है, मैं तो यही चाहता हू कि किसी प्रकार दुखी प्राणियो का कष्ट दूर कर सकू।'[6] यही बात कही-कही ऐसी शुभेच्छा के रूप मे दीख पडती है—'सभी सुखी रहे, सभी नीरोग रहे, सभी अपने कल्याण के भागी बने और कोई भी किसी प्रकार दु ख का अनुभव न करे।"[7] और इन बातो से वह भावना वस्तुत: क्रियात्मक रूप ग्रहण कर लेती है।

श्रमण-साहित्य

विश्वबन्धुत्व की भावना के इस दूसरे व क्रियात्मक रूप के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हमे श्रमण-साहित्य मे मिलते है। महात्मा गौतम बुद्ध ने, आत्मा के अस्तित्व की ओर मे पूरी उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए, सारी ससृति को ही दु खमूलक ठहराया था। अतएव, उनके अनुसार सभी प्राणी दुःख के गर्त मे पडे है और उनका उद्धार करना हमारा परम कर्तव्य होना चाहिए। इसी उद्देश्य से उन्होने 'करुणा' की भावना को भी विशेष महत्त्व दिया तथा 'मेत्ता' वा मैत्री को पूर्णत. व्यवहार मे लाने की चेष्टा की। सारिपुत्र के अनुसार—"अपनी हत्या करने पर तुले देवदत्त के प्रति, चोर अगुलिमाल के प्रति, धनपाल हाथी के प्रति और अपने पुत्र राहुल के प्रति, इन सभी के प्रति वे मुनि एक समान थे।"[8] भगवान बुद्ध ने स्वय कहा है—"हे वाशिष्ठ, जैसे कोई बलवान शख बजाने वाला थोडे ही परिश्रम से चारो दिशाओ को गुजा देता है उसी प्रकार, मित्र-भावना से भावित चित्त की विमुक्ति से भी, जो कार्य होता है उसकी व्यापकता बढ जाती है।"[9] इसी बात को 'धम्मपद' के भी अन्तर्गत इस प्रकार कहा गया है—"वैर से वैर की शान्ति नही होती, प्रत्युत अवैर से वैर

---

१. ईशोपनिषद (१)
२. वही (६)
३. वही (७)
४. भगवद्गीता (१८--२०)
५. वही (६--३२)
६. महाभारत
७ गरुडपुराण, उत्तर (३५--५१)
८. मिलिन्द-प्रश्न (ओपम्य-कथा)
९. तेविज्ज सुत्त (दीघ० १—१३)

शान्त होता है, यह सनातन धर्म है।"[1] जैनधर्म के महान तीर्थंकर, महावीर ने, इस तथ्य को पूर्ण महत्त्व देते समय 'अहिंसा' को सर्वप्रमुख स्थान दिया है। उनके मतानुसार तो ज्ञानी होने का भी सार यही है कि किसी की हिंसा न की जाय। इस हिंसा से अभिप्राय केवल जीव-हत्या का ही नहीं, और न इसे किसी का जी दुखाने तक भी सीमित किया जा सकता है। इसकी व्यापकता का कुछ आभास जैन-दर्शन के इस अनेकांतवाद के आधार पर भी कराया जा सकता है जिसके अनुसार प्रत्येक मत का अपना एक पृथक महत्त्व है। मेत्ता और अहिंसा इन दोनों के ही लिए अतर्वृत्तियों की समुचित साधना अपेक्षित रही और इनका व्यावहारिक रूप विशुद्ध नैतिक आचरण मे दीख पडता था जिसे पीछे निर्वैर धर्म की भी सज्ञा दी गई और जिसका कबीरादि सतों ने भी प्रचार किया।

सतों के समय तक भारत मे इस्लाम धर्म का भी प्रवेश हो चुका था और मुस्लिम सस्कृति का क्रमशः कुछ-न-कुछ प्रभाव भी पडने लगा था जिस कारण उसके द्वारा प्रचारित विश्वबन्धुत्व की भावना का भी यहा यत्किचित अपना लिया जाना असम्भव न था। इस्लामी विश्वबन्धुत्व के मूल मे कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं काम करता था और न विश्व के प्राणियो के प्रति पूरी सहानुभूति का ही भाव था। इसका प्रमुख आधार किसी जगन्नियंता के केवल एक मात्र होने मे दृढ विश्वास-मात्र था और इस्लाम के अनुयायियो का यह एक दावा भी था कि उस विश्व व्यापक भ्रातृ-भाव का सम्बन्ध भी केवल उन्ही में सम्भव है जो उनके इस प्रकार के 'दीन' मे पूरा ईमान लाने वाले हो। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनकी विश्वबन्धुत्व-सम्बन्धी इस भावना के कारण विभिन्न धार्मिक वर्गों का अस्तित्व भी स्वीकृत हो जाय। कम-से-कम भारतवर्ष की जनता पर तो इसका प्रभाव बिना पडे नहीं रह सका और भारतीय सस्कृति के मध्यकालीन रूप मे हमे इस प्रकार की दो भिन्न-भिन्न मान्यताओ के चिह्न अवश्य लक्षित हुए, जिनमे से एक के पोषक यदि मुसलमान थे तो दूसरी को प्रश्रय देने वाले अपने को स्पष्ट शब्दों में 'हिन्दू' कहने लगे और इन दोनो के पारस्परिक विरोध की मात्रा मे वृद्धि हो गई। कबीर आदि निर्गुणी सतों एव सूफियो को ऐसी ही स्थिति को सभालने एवं प्रेमभाव फैलाने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करने पडे।

भारतवर्ष पर मुसलमानो का आधिपत्य पांच सौ वर्षों से भी कुछ अधिक समय तक रहा और इस अवधि के भीतर तथा इसके आगे भी कुछ दिनों तक, विश्वबन्धुत्व की भावना पर यहा न्यूनाधिक मजहबी रग ही चढता चला गया जिसकी सबसे बडे कमजोरी यह थी कि ईश्वरवाद को इसके लिए मूलाधार मानते हुए भी, न तो वहा, वैदिक युग की भाति किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रत्यक्ष बल था और न उसके पीछे श्रमण-सस्कृति वाले त्याग की नैतिक प्रेरणा ही काम करती थी। इसके सिवाय इस्लामी ईश्वरवाद के साथ अनेक ऐसी अन्य स्वीकृतिया भी लगी हुई थी, जो सब किसी धार्मिक वर्गों के लिए एक समान मान्य नही हो सकती थी और जिनके कारण इसीलिए, विश्वबन्धुत्व की भावना में बाधा भी पड़ सकती थी; जिसका एक परिणाम यह हुआ कि यहां की भारतीय सस्कृति पर उसका कोई स्थायी प्रभाव नही पड़ सका। आधुनिक जगत की विविध आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक क्रान्तियो के फलस्वरूप स्वय ईश्वरवाद की मूल धारणा को ही ठेस पहुचते देर नही लगी और तदनुसार विश्वबन्धुत्व की भावना को भी कोई नया रूप देने की जरूरत पड़ी। इसीलिए हम देखते है कि जो बात पहले आत्मनिष्ठ एव आचरणपरक-मात्र ही लगती थी वह आज क्रमशः वस्तुनिष्ठ एव संगठन-प्रसूत बनती चली जा रही है और एक ऐसी भावना उदय हो रही है जो अनेक तत्त्वो पर आधारित होगी।

आधुनिक जगत के विभिन्न देशों वा जातियो ने अपने-अपने यहां राष्ट्रीय सगठन-सम्बन्धी आन्दोलनों को जन्म देकर आपस में प्रतिस्पर्धा के भाव जागृत कर लिए हैं जिससे प्राय. अशान्ति की आशंका खड़ी हो जाया करती है। उनके चिन्तनशील नेताओं ने इसी कारण कई बार अतर्राष्ट्रीय सस्थाओं की योजना कर उनके द्वारा विश्व-शान्ति लाने का स्वप्न देखा है और इस बात मे उनके साथ स्वयं भारत ने भी सहयोग किया तथा हाथ बटाया है। इसने अपने यहां धर्मनिरपेक्ष राज्य की प्रतिष्ठा की है और दूसरो के साथ व्यवहार के लिए यह 'पंचशील'-सम्बन्धी आदर्श का भी पूरा

---

१. धम्मपद (१-६)

प्रचार करने लगा है यह देश उन मनीषियो के स्वर मे अपना स्वर मिलाने के लिए उत्सुक रहता है जो विशुद्ध मानवतावाद के प्रचारक रहे है। अतएव अन्य अनेक देशो के लोग जहा इन सारी बातो को केवल किसी राजनीतिक सहूलियत जैसा ही महत्त्व देते होगे, वहां यह देश अपने प्राचीन आदर्शों के आधार पर आज भी बहुत स्पष्ट शब्दो मे कहता है—"भारत का धर्म समस्त समाज का धर्म है, इसका मूल पृथिवी मे है, किन्तु इसका शिखर आकाश मे है और फिर भी दोनो अन्योन्याश्रय है। भारत ने धर्म को सदा द्युलोक व भूलोक के समस्त प्राणियो के ही जीवन-व्यापी विशाल वृक्ष के रूप मे देखा है।" —रवीन्द्रनाथ टैगोर।
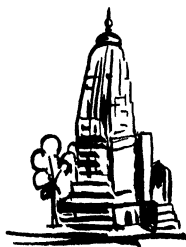
प्राचीन भारत में निरामिष भोजन की प्रवृत्ति

डा० रामजी उपाध्याय

भोज्य पदार्थों का विश्लेषण और वर्गीकरण करने से प्रतीत होगा कि वे निम्न प्रकार के है

वनस्पति से प्राप्तव्य ——अन्न, फल-फूल, नाल, पत्र, शाक, तेल, गुड, चीनी, मिश्री, मसाले आदि।

प्राणिवर्ग से प्राप्तव्य——मास, दूध, दही, घी, वसा, अण्डा, मधु आदि।

भूगर्भ तथा जल से प्राप्तव्य——नमक।

उपर्युक्त वस्तुओ मे से यथासम्भव अधिकाधिक वस्तुओं को लोग अपने लिए स्वाद और स्वास्थ्य की दृष्टि से चुन लेते है। स्वाद और स्वास्थ्य के अतिरिक्त भोजन की वस्तुओ का चुनाव अपनी सात्त्विकता की अभिवृद्धि के लिए एव धार्मिक दृष्टि से भी करने की रीति भारत मे सुदूर प्राचीन काल से ही रही है। भारतीय धारणा के अनुसार मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसका शरीर बनता है और विचार-सम्बन्धी प्रवृत्तिया उत्पन्न होती हैं। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार 'आहार शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि, सत्त्व-शुद्धि से ध्रुव स्मृति और ध्रुव स्मृति से मोक्ष सम्भव होता है।'[1] गीता मे सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियों के परिचायक भोजनों के लक्षण मिलते है।[2]

भोज्य पदार्थों की उपर्युक्त सूची मे मास, वसा और अण्डे को आमिष तथा शेष को निरामिष कोटि मे रखा गया है। आमिष भोज्य को निरामिष भोज्य से मिश्रित करके या स्वतन्त्र रूप से खाने का प्रचलन भारत मे प्राय सदा ही रहा है। आयुर्वेद के ग्रन्थो मे स्वास्थ्य की दृष्टि से आमिष-भोजन की भूरि-भूरि प्रशसा की गई है और सम्भवत यही कारण है कि मास-भोजन सतत लोकप्रिय रहा है।[3] वैदिक और पौराणिक युग मे यज्ञो के अवसर पर देवताओ को समर्पित किये हुए मास-भोजन को खाने की रीति प्रचलित थी।[4] फिर भी मास-भोजन के परित्याग के लक्षण वैदिक काल से ही दिखाई पडते है। वैदिक काल से ही यज्ञ की दीक्षा लेने वाले पुरुषो के लिए मास खाने का निषेध था। आचार्यों के लिए भी नियम बना कि उपाकर्म से लेकर उत्सर्जन की अवधि मे मास-भोजन न करे। तपोमय जीवन

---

१. छान्दोग्य उप० ७।२६।२

२. गीता १७।८–१०

३. चरक, सूत्रस्थान २७।३०७–३१०

४. यह लोकप्रियता इतनी बढी हुई थी कि शतपथ ११।७।१।३। में मांस को सर्वोत्तम भोज्य कहा गया। आरम्भिक युग में जैन और बौद्ध भिक्षु भी भिक्षा में मांस पाते थे तो उसे खाने में हिचकिचाते नहीं थे। कोई निषेध कम-से-कम आरम्भिक युग में नहीं था। आचारांग सूत्र २।१।१०।५

ऋग्वेद १।१६२।२१ के अनुसार लोगों का धारणा थी कि जिस घोडे का यज्ञ में वध किया जाता है वह न मरता है और न ससार उसकी हिसा करता है, अपितु वह उत्तम मार्ग से देवताओं के पास चला जाता है। तथा १।१६।१३। वैदिक साहित्य में इस धारणा के सूचक असंख्य उल्लेख मिलते है। ऋग्वेद १. १६२. १०. ८६. १४. १०. २७. २; १०. ९१. १४; ८. ४३. ११; अथर्ववेद १२.४; ५. १८; ३. २१. ६; तैत्तिरीय सहिता १. ३. १४; ७; शतपथ ब्राह्मण ३. १. २. २१; ऐतरेय ब्राह्मण—६. ८. बृहदारण्यक उप० ६. ४. १८; आप० ध० सू० २. ७. १६. २५; आश्व० गृ० सू० १. २४. २२–२६

बिताने वाले लोग भी मास नही खाते थे।[१] छान्दोग्य उपनिषद् में यज्ञायज्ञीय सामसूक्त जानने वाले व्यक्ति को आदेश दिया गया है कि उसे जीवन-भर मांस नही खाना चाहिए, कम-से-कम एक वर्ष तक तो नही ही खाना चाहिए।[२] अथर्ववेद में मांस को सुरा के समकक्ष माना गया है।

वैदिक साहित्य के उपर्युक्त उल्लेखों से कम से कम इतना तो सिद्ध होता ही है कि भारत मे उस समय भी एक वर्ग अवश्य ही था, जो मांस-भोजन को आध्यात्मिक अभ्युदय के प्रतिकूल और अपावन मानता था।

उपनिषद्-काल से पशुओ की बलि देकर सम्पादित किए जाने वाले यज्ञो का महत्त्व घटने-सा लगा और वेदो मे बताए हुए यज्ञो के द्वारा प्राप्य स्वर्ग के स्थान पर तप और तत्त्वज्ञान के द्वारा मुक्ति को लभ्य माना गया। तप जीवन की शुद्धि है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम मे तप को ही प्रधानता दी गई। वानप्रस्थ और सन्यास के मुनिवर्ग ने मांस भोजन का प्राय· सर्वथा परित्याग किया है। इससे मास-भोजन की सात्त्विक दृष्टि से हीनता सिद्ध हुई। मुनियो की सख्या उपनिषद्-काल से लेकर प्राचीनकाल में प्राय सदा ही बहुत अधिक रही। मास के परित्याग का जो आदर्श मुनिवर्ग मे प्रतिष्ठित हुआ, उसका सारे समाज पर अतिशय प्रभाव पडकर रहा।[३]

बौद्ध तथा जैन और अहिंसा

बौद्ध और जैन सस्कृतियो मे अहिसा का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया गया है। अहिसा के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी प्राणी का वध नही करना चाहिए। प्राणियो का वध किए बिना मास मिलना असम्भव ही है। ऐसी परिस्थिति मे इन दोनो सस्कृतियो के अनुयायी गृहस्थो का मास खाना बन्द-सा होने लगा। अहिसा के साथ जिस दयाभाव की प्रतिष्ठा की गई, उसका प्रतिपालन तभी हो सकता था, जब मास भोजन का सर्वथा त्याग किया जाता। धीरे-धीरे जैन और बौद्ध भिक्षुओ की भी समझ मे यह बात आ गई कि यदि अहिसा के व्रत को अपनाना है तो मास-भोजन नही ही करना चाहिए। जैन सस्कृति मे तो पूर्ण रूप से आगे चलकर गृहस्थो और मुनियो के लिए मास-भोजन को सर्वथा त्याज्य बताया गया।[४] बौद्ध सस्कृति की महायान शाखा मे मास-भोजन के परित्याग पर बल दिया गया।[५]

गौतम बुद्ध के जीवन-काल मे ही बौद्ध मत मे भिक्षुओ के लिए मास-भोजन की ग्राह्यता का विरोध आरम्भ हुआ। यह विरोध सक्रिय था और इसका नेता देवदत्त था, जो स्वय पहले बुद्ध का अनुयायी था। देवदत्त ने एक बार बौद्ध सघ के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि बौद्ध भिक्षु मछली का मास-भोजन करने से विरत हो जाय, तो मै और मेरे अनुयायी पुन. सघ मे सम्मिलित हो जाय।[६] इस घटना से सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज का एक वर्ग मास-भोजन और साधु-जीवन के सामजस्य को समझने मे असमर्थ था।

मास के लिए पशु-वध पर रोक राजकीय नियमो के द्वारा भी लगाई गई।[७] गौतम के जीवन-काल मे ही कुछ दिन ऐसे नियत किए गए, जब कोई किसी पशु का वध मास के लिए नही कर सकता था। अशोक ने मास-भोजन पर प्रतिबध की दिशा मे स्वय अपना उदाहरण प्रस्तुत किया। जहा उसके सूप के लिए सहस्रो पशुओ का वध होता था,

---

१. शतपथ १४।१।१।२९

२. छान्दोग्य २।१९।२

३. प्राचीन काल से ही भारत में यह परिपाटी रही है कि तपोमय जीवन के उच्चादर्शों को यथाशक्य गृहस्थ जीवन में समन्वित किया जाय, जैसे उपवास, तीर्थाटन आदि प्रारम्भ में मुनियों के लिए और फिर गृहस्थों के लिए भी नियत हो गए।

४. जैन-संस्कृति के अनेक ग्रन्थों में कथाओं के माध्यम से निरूपित किया गया कि जिस पशु का मास कोई खा रहा है, वह पूर्व जन्म का उसका कोई सम्बन्धी—माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री आदि रह चुका है। उदाहरण के लिए देखिए पुष्पदन्तकृत 'जसहरचरिउ' में यशोपति अपने पिता के श्राद्ध में जन्मान्तर में मछली-योनि में उत्पन्न अपने पिता का ही मास ब्राह्मणों को भोजन के लिए देता है।

५. वाटर्स—ह्वेनसांग, पृ० ५७

६. चुल्लवग्ग—७।३।१५

७. देखिए, अर्थशास्त्र सूनाध्यक्ष-प्रकरण

उसने नियम बनाया कि केवल दो मोर और एक हरिण के मांस से ही काम चलाया जाय। हरिण-वध किसी-किसी दिन ही हो सकता था। उसने प्रजा को सूचित किया कि इन पशुओं का वध भी भविष्य में बन्द हो जाएगा।[1] अशोक की दया-भावना के पात्र मनुष्यो के साथ-ही-साथ पशु भी हुए। उसने जहा मनुष्यो के लिए औषधालय खोले वहां पशुओ के लिए भी। अशोक ने राजपथ पर वृक्ष लगवाए और कुए खुदवाए तो वे पशुओं और मनुष्यों के लिए समान रूप से थे। वह ऐसे स्थलो पर पशुओ का नाम व्यंजना से समझने के लिए नही छोड देता, अपितु स्पष्ट शब्दो में कहकर मनुष्य और पशु को एक कोटि मे ला देता है।[2] अशोक ने प्रजा को समझाया कि प्राणियों को न मारना साधु-पथ है।[3] उसने प्रजा को प्राणि-वध से विरत करने के लिए बहुविध प्रयत्न किए और इस दिशा मे उसे सफलता भी मिली।[4] एक दिन ऐसा आया जब उसने अनेक पशु-पक्षियो और मछलियों का वध अपने राज्य मे सर्वत्र बन्द करा दिया। नियम बनाया कि कम-से-कम एक जीव को तो दूसरे जीव का मास नही ही खिलाया जाए। वर्ष के अनेक पवित्र दिनो के लिए भी नियम बनाया कि मछलिया न तो पकडी जाय और न बेची जायं। उन दिनो जलाशयों और वनो मे प्राणि-वध सर्वथा बन्द रहता था।[5]

महाभारत तथा स्मृतियां

मास-भोजन के सम्बन्ध मे महाभारत और मनुस्मृति मे, पक्ष और विपक्ष, दोनो प्रकार के मत भरपूर मिलते है। मास-भक्षण का विरोध उसकी असात्त्विकता के आधार पर किया गया और उसका गुण-गान स्वाद और स्वास्थ्य-सवर्धन की दृष्टि मे निरूपित किया गया है। स्वाद की दृष्टि से इसे विविध प्रकार के अपूप (पूए), शाक, खाण्डव, तथा अनेक प्रकार के रस-योगों से अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई थी।[6] फिर भी अहिंसा की दृष्टि से महाभारत काल मे मास-त्याग को परमधर्म बतलाया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक अभ्युदय, परलोक और सात्त्विकता की तनिक भी चिन्ता होती थी, उसके लिए भारत में पूरा प्रयत्न किया गया कि वह मास-भक्षण से विरत हो जाय। इस प्रयत्न की दिशा इस प्रकार है—"मास अपने पुत्र के मांस के समान ही है। यह समझना निरी भूल है कि मै स्वय तो मार ही नहीं रहा हू, केवल मास खाता भर हू, मुझे पाप लगने का कोई कारण नही।"[7] वास्तव मे अपने आप मरे हुए या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा मारे हुए प्राणी का मास खाने वाला उसके वध करने वाले के समान ही है। मास-क्रय करने वाला धन से, खाने वाला अपने उपयोग से और घातक वध और बधन से उस प्राणी का वध करते है। प्राणियों को अपना जीवन सबसे बढकर प्रिय है। ऐसी परिस्थिति मे सभी प्राणियों के प्रति दया करनी चाहिए। अहिंसक सभी प्राणियो का पिता और माता है।[8]

महाभारत का उपर्युक्त तर्क मानव की सद्भावनाओं को जागरित करने के लिए था। इसके द्वारा प्राणियों के प्रति आत्मीयता का विकास हो सका होगा। इन तर्कों के अतिरिक्त धार्मिक दृष्टि से भी मास-भक्षण का परिणाम अत्यन्त भयावह दिखाया गया और अहिसा तथा मास परित्याग को इस लोक और परलोक मे सर्वोच्च अभ्युदय का कारण बताया गया। मांस-विरति से लाभो की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई, वह अत्यन्त आकर्षक है। अहिसा और मास-विरति का धार्मिक विवेचन इस प्रकार है :

---

१. अशोक का प्रथम शिलालेख
२. अशोक का द्वितीय शिलालेख, 'मगेसुलुखानि लोपितानि उदुपानानि च खानापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसान।
३. अशोक का तृतीय शिलालेख
४. चौथा शिलालेख
५. पांचवां स्तम्भलेख
६. महाभारत, अनुशासन पर्व ११६।२-६
७. बौद्ध धर्म में मांस-भक्षण को इसी परिस्थिति में मान्यता मिली थी।
८. महाभारत-अनुशासनपर्व, अध्याय ११४।११५ तथा ११६ से इसी प्रकार की उक्ति भागवत पुराण में इन शब्दों में मिलती है :

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृपखगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत्पश्येत् तैरेषामन्तर कियत् ॥ ७।१४।६

(मृग, ऊट, गदहा, बन्दर, चूहा, सांप, पक्षी और मक्खी इन सबको अपने पुत्र के समान समझो, पुत्र कैसे इन सबसे भिन्न है ?)

अहिसक का रूप सुन्दर हो जाता है, अङ्ग पूर्ण और निर्दोष होते है, आयु, बुद्धि, बल, सत्त्व और स्मरण-शक्ति बढ़ती है। सौ वर्षों तक प्रतिमास अश्वमेध करने वाले के समान ही पुण्यशाली मधु और मास का न खाने वाला होता है। जो मास नही खाता, पशुओ को किसी प्रकार की हानि नही करता, वह सभी प्राणियो का मित्र और विश्वास-पात्र बन जाता है। उसकी किसी प्रकार की हानि प्राणि-वर्ग नही कर सकता। सज्जनो के बीच ऐसे पुरुष का सम्मान होता है। जो अपना मास अन्य प्राणियों के मास से बढाना चाहता है, वह निश्चय ही विनाश के पथ पर है। कोई व्यक्ति मधु-मास न खाकर मानो यज्ञ ही करता रहता है, सदा दान ही देता रहता है, सदा तपस्वी रहता है। मास का परित्याग सुख, धर्म और स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ आयतन है। मास न खाने वाला सर्वत्र निर्भय रहता है, वह कभी उद्विग्न नहीं होता। मांस खाने से आयु क्षीण होती है। जो दूसरो के मास से अपना मास बढाता है, वह जहा कही भी अगले जन्म मे उत्पन्न होता है, वही उद्विग्न रहता है। मास न खाने से धन, आयु, यश आदि बढते है और स्वर्ग मे स्थान मिलता है। यज्ञ के बहाने भी मास खाने वाला नरक मे ही स्थान पाता है। प्राचीन काल मे यज्ञ के समय भी अन्न के पशु बनाकर उन्ही की बलि चढाने की परम्परा रही है। मास न खाने मे तपस्या का फल मिलता है, जो चार वर्ष तक मास नही खाता उसे कीर्त्ति, आयु, यश और बल––चार मगलो की प्राप्ति होती है। यदि एक माम का भी बिना मास खाए रह जाय तो सभी दु खों से छुटकारा पाकर मानव स्वस्थ होकर रहता है। मास या पक्ष भर भी मास न खाए तो ब्रह्मलोक मे स्थान पाने का अधिकार हो जाता है। जो मनुष्य जीवन-भर मास नही खाता, वह स्वर्ग मे विपुल स्थान पाता है। इसके विपरीत मास-भक्षक की भयावह दुर्गति कुभीपाक नरक मे होती है। मास-भक्षक जिस प्राणी का मास खाता है, उसी का मास वह प्राणी अगले जन्म मे खाएगा। अहिसा सबसे बढकर धर्म, दम, दान, तप, यज्ञ, फल, मित्र और सुख है।[1]

मास के परित्याग और अहिसा के सिद्धान्त के इस प्रकार स्पष्टीकरण होने के पश्चात भी यदि मास-भोजन भारत से कभी न जा सका तो उसके लिए सर्वप्रथम कारण **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** का ही बहाना रहा है। वेदो की धारणाए आप्त वचन मानकर सदा प्रतिष्ठित रही है। वैदिक वचनो के अनुमार याज्ञिक कर्मकाण्ड मे मास और पशुबलि प्राय अपेक्षित रहे है। याज्ञिक हिसाओ का विरोध उपनिषद्, महाभारत और मनुस्मृति आदि किसी ग्रन्थ मे नही हुआ है।[2] पौराणिक युग मे भी वैदिक परपरा के अन्धभक्त लोगो मे यज्ञ-सम्बन्धी मास-भोजन पर रोक पूर्ण रूप से नही लग पाई।[3]

पुराणों द्वारा मांस-भोजन का विरोध

फिर भी कुछ पुराणो मे मास-भोजन का घोर विरोध किया गया। इस विरोध की रूप-रेखा बहुत कुछ

---

१. महाभारत-अनुशासनपर्व के अध्याय ११४-११६ से
उपर्युक्त उच्च सिद्धान्तो के होते हुए भी महाभारतन्काल मे 'मास-भोजन लोकप्रिय प्रतीत होता है। वन-पर्व ५०।४ के अनुसार पाण्डवों ने हरिण का शिकार करके उसके मास से ब्राह्मणों का आतिथ्य किया। सभापर्व ४।१-२ के अनुमार मय-सभा के उद्घाटन के अवसर पर १०,००० ब्राह्मणों को जो भोजन दिया, उसमें सूअर और हरिण का मास भी था। रामायण २।९१।६३-७३ में भी भोजन मे मास की विशेषता है।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ८-१५-१ में, सभी प्राणियों के प्रति अहिसा होनी चाहिए, केवल तीर्थ को छोडकर। महाभारत-अनुशासनपर्व ११५।५२-५४ में भी यज्ञ द्वारा प्रोक्षित मास को खाद्य स्वीकार किया गया है। फिर भी इस विशाल ग्रन्थ में याज्ञिक हिसा का विरोध भी मिलता है। मनुस्मृति ५।२२।२७।४२ ने ब्राह्मणों के लिए भी पशु-पक्षियों को वध करने की छूट दी है यदि वध यज्ञ-सम्पादन करने के लिए हो यद्यपि मनुस्मृति ५।५३ मास-भोजन के पक्ष में नहीं है। मनु ने स्पष्ट कहा है—प्राणियों की हिमा किये बिना मास नही उत्पन्न होता, प्राणि-वध करने से स्वर्ग नही मिलता। अतः मांस खाना छोड देना चाहिए। (मनु० ५।४८—५१) परन्तु देवताओं और पितरों को अर्पित करके मांस खाया जा सकता है (वही ५-५२)

३. विष्णु पुराण ३।१६, वायुपुराण अ० ८३ तथा अग्नि पुराण १६।३०-३२ में श्राद्ध के अवसर पर पितरों की तृप्ति के लिए ब्राह्मणों को मास-भोजन देने का विधान इसी बात का द्योतक है।

महाभारत के समान ही है। इसके अनुसार, "जो लोग मांस नही खाते, वे स्वर्ग में स्थान पाते है। मास न खाने से जो पुण्य होता है, वह एक सहस्र गायो के दान के समान ही है। सभी तीर्थों में जाने और सभी यज्ञों के सम्पादन करने से जो पुण्य होता है, वह सारा-का-सारा मास न खाने वाले को अनायास ही मिल जाता है।"[१] भागवत पुराण में मास-भोजन से विरत करने की योजना अत्यन्त सफल कही जा सकती है। लोकप्रियता की दृष्टि से यह पुराण सर्वोत्तम रहा है और इसकी साहित्यिक विशेषताए इतनी उदात्त रही है कि यह ग्रन्थ न केवल साधारण जनता के बीच ही प्रतिष्ठित हुआ अपितु विद्वानो मे भी इसकी अप्रतिम प्रतिष्ठा हुई। सारे भारत, और विशेषत' वैष्णव मतानुयायियों, में मास-परित्याग का सारा श्रेय प्राय इसी ग्रन्थ को दिया जा सकता है। भागवत मे निश्चयात्मक भाषा में कहा गया है—"धर्म जानने वाला व्यक्ति न तो स्वय मास खाए और न श्राद्ध मे पितरों को ही समर्पित करे। पशु के मास से उतनी तृप्ति नही होती, जितनी मुनियो के भोजन से। सद्धर्म की कामना करने वाले व्यक्ति के लिए मन, वाणी और कर्म से किसी भी प्राणि को दुख न देना परम धर्म है। सबसे बडा यज्ञ है ज्ञान से प्रज्वलित आत्म-सयम की अग्नि मे अपने कर्मों का होम कर देना। जब यज्ञ मे द्रव्य का होम किया जाता है तो उसे देख सभी प्राणी डरने लगते हैं कि यह निर्दय व्यक्ति कही हमारा ही तो वध नही करेगा।" भागवत मे आदेश दिया गया है कि नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं का सम्पादन मुनिजनोचित अन्नों से ही करे।[२] जो लोग वैदिक हिसा को उचित समझते है, उनके लिए भागवत श्रुतियों का वास्तविक अर्थ समझने की सीख देती है। वैदिक साहित्य मे भी मास-मद्य से निवृत्ति करा देना ही अभीष्ट अर्थ है। यज्ञ मे पशुओं के आलभन का अर्थ उनकी हिंसा नही है।[3]

स्कन्दपुराण मे आयुर्वेद के इस मत का खण्डन किया गया है कि मास खाने वाले लोग विशेष पुष्ट और दीर्घजीवी होते है। इसे मास-लोभियो और दुष्ट पापात्माओं का मत कहा गया है। इसके अनुसार मास न तो आयु बढाने का साधन है और न तो इससे स्वास्थ्य या बल ही बढता है। मास खाने वाले भी रोगी, दुर्बल और स्वल्पायु देखे जाते हैं तथा जो मास नही खाते, वे भी पृथ्वी पर नीरोग, दीर्घायु और हृष्ट-पुष्ट अगों वाले होते है। मास की उत्पत्ति घास, काठ या पत्थर से नही होती, किसी जीव की हिसा करने पर ही मास मिलता है, अत. उसे सर्वथा त्याग देना चाहिए।[४]

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इस युग मे मास-भोजन समादर की दृष्टि से नही देखा जाता था। महाकवि बाण ने समाज की इसी परिवर्तित मनोवृत्ति का निदर्शन करते हुए कहा है—मधु, मास आदि का आहार सज्जन पुरुषों के द्वारा निन्दित है।[५] सात्त्विक वृत्ति वाले तथा अध्यात्मवादी गृहस्थों की मांस के प्रति धारणा अवश्य ही परिवर्तित हो गई। फिर भी भोजन मे रसास्वादन को सर्वप्रथम ढूढने वाले नागरिकों को मास-युक्त तेमन के रस से कभी विरति नही हुई।[६]

---

१. ब्रह्म पुराण २१६।६३-६५-६६
२. भागवत सप्तम स्कन्ध १५।७-११
३. वही, एकादश स्कन्ध ५।११
४. स्कन्दपुराण, नागरखण्ड २६।२२५-२३७
५. आहारः साधुजननिन्दितः मधुमांसादिः
—कादम्बरी पृ० ३२, सं० श्री पी० डी० वैद्य
६. नैषधचरित १६।८६-८१-८० आदि।
ये उल्लेख प्राचीन संस्कृति के अन्तिम युग के कहे जा सकते हैं।

प्राचीन भारत में नैतिकता

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपने दैनिक जीवन मे किसी-न-किसी जीव अथवा समाज के किसी-न-किसी अंग के सम्पर्क मे आना ही पडता है। उसे जो भी आचरण करना पडता है, वह समाज सापेक्ष है। समाज-विहीन व्यक्ति के लिए नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न ही नही उठता। यह समस्या तो तभी सामने उपस्थित होती है जब कि मनुष्य किसी अन्य प्राणी अथवा समाज के प्रति कार्य करने को उद्यत होता है। इस प्रकार नैतिकता को हम मानवी-आचरण की सच्ची सार्थकता को निर्धारित करने वाला साधन और सिद्धान्त ठहरा सकते है।

परन्तु साधन और सिद्धान्त की शुद्धिता के समर्थक सभी नही मिलते। एक पक्ष अभीष्ट-सिद्धि को ही महत्त्व देता है तो दूसरा सिद्धि के साथ-साथ साधन की पवित्रता मे भी आस्था प्रकट करता है। इस प्रकार आज नैतिकता-वादियो के दो दल बन गए है। एक प्रवृत्तिमूलक नैतिकता का समर्थक है तो दूसरा आदर्शमूलक नैतिकता का विधायक। प्रवृत्तिमूलक नैतिकतावादी ऐसी नैतिकता के पोषक है जो किसी जातीय जीवन मे युग-युग से परम्परागत मान्यताओ के आश्रित है। इसके विपरीत आदर्शवादी ऐसी नैतिकता के समर्थक है जो जीवन के परिवर्तित मूल्यो के साथ-साथ स्वय भी बदलती रहे। व्यवहार मे नैतिकता के दो रूप लक्षित होते है, व्यक्तिगत और सामाजिक। दोनो का परस्पर सापेक्षिक सम्बन्ध है। फलत नैतिकता-अनैतिकता पर विचार करते समय सतुलित दृष्टि अपेक्षित है।

वेदों में नैतिक मानदंड

भारतीय चिन्ताधारा मे नैतिकता के बीज उसकी प्रारम्भिक अवस्था से ही मिलने लगते है। 'अवेस्ता' आदि से तो यहा तक सकेत मिलता है कि आर्यों के भारत पहुचने के पूर्व ही उनमे नैतिक भावनाओ की उद्भावना हो चुकी थी। ज्योतिर्मय कल्याणकारी और दुष्ट दानवो के विरोध में पवित्र देवताओ की स्वीकृति आदि नैतिक तत्त्वो के कुछ ऐसे ही उदाहरण है। ऋग्वेद की ऋचाओ मे साधु-असाधु और नृत-अनृत जैसे भाव-व्यजक शब्दो के प्रयोग मिलते रहते है।[१] भक्ति-भावना का प्रादुर्भाव अपने-आप मे क्रमश कोमल वृत्तियो की सक्रियता का द्योतक है। वैदिक जीवन मे यज्ञ का विधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रसग मे श्रद्धा को यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी स्वीकार किया गया है। और तदनुसार श्रद्धा और यज्ञ को अभिन्न ठहराया गया है।[२] ऋग्वेद मे वरुण को निष्पाप कहा गया है। इसी प्रकार अथर्व-वेद मे इन्द्र को बतलाया गया है कि वह पहले पापकर्मा था, किन्तु अब उससे मुक्त है।[3] ऋग्वेदीय युग के उत्तरकाल मे देवताओ की एक ऐसी गोपनीय गोष्ठी की चर्चा आती है जिसमे वरुण के सम्मुख निष्पाप व्यक्तियों के नाम लिये जाते हैं।[४] ऋग्वेद मे ही ऐसी भी प्रार्थना की गई मिलती है जिसमे पाप से मुक्ति पाने की जागरूक अभिलाषा प्रकट होती है।[५]

---

१. ऋग्वेद : ४।१।१७

२. गोस्वामी : दी भक्ति कल्ट इन एनशियेंट इंडिया, पृष्ठ ६

३. अथर्ववेद : ३।३१।२

४. ऋग्वेद : १०।१२।८

५. वही : ५।८२।५ और २।२८।६

पापकर्म मे विरत होने वाले के लिए क्षमा-याचना की गई मिलती है।[1] अथर्ववेदीय युग तक आते-आते लोक-मंगल तक की भावना मुखरित हो उठती है।[2]

ऋग्वेद मे नैतिक-अनैतिक कार्य का लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट ही कहा गया है कि "देवताओं द्वारा स्वीकृत सभी कार्य नैतिक है।"[3] इस प्रकार उस काल मे नैतिकता की जो धारणा थी उसके अनुसार वह दैवी व्रतो (नियमों) की अभिव्यक्ति है और पाप उन व्रतो का उल्लघन है।[4] यही नही, पाप का फल भोगने का क्लेश स्वतः पापस्वरूप बन जाता है। अस्वस्थ होना अनैतिक है और यह दैवी प्रकोप का लक्षण है। पाप के दड-स्वरूप रुग्णता पाप का ही मूर्त रूप है।[5] वैदिक साहित्य मे नरक का स्पष्ट उल्लेख तो नही मिलता, किन्तु उसका सकेत अवश्य मिलता है। ऋग्वेद की ही एक ऋचा मे अदिति, मित्र और वरुण से प्रार्थना की गई मिलती है जिसमें दीर्घकालीन अन्धकार से छुटकारा मिलने और प्रकाश पाने की कामना प्रकट की गई है।[6] वरुण पापी को क्षमा-दान करते हैं। उन दिनो लोगों की ऐसी धारणा रही है कि दैवी व्रतो के पालन करने वाले को देवता लोग सहर्ष सहायता भी पहुचाते हैं। ऋग्वेद मे ही वरुण तथा अन्य देवताओं के ऐसे गुप्तचरो का उल्लेख मिलता है जो कभी सोते अथवा विश्राम नही करते, अपितु पृथिवी के उन मानवो पर दृष्टि रखते है जो दैवी व्रतो (नियमो) का उल्लघन करते हैं। इस प्रकार का उल्लेख जरथस्त्रु के उपदेश मे भी बतलाया जाता है।

उत्तरकालीन वैदिक युग मे बहुदेववाद के क्रमश एकेश्वरवाद मे परिणत होते जाने से दैवी शक्तियों का प्रभाव लोप होने लगा। सस्कारग्रस्त मानव अपनी परम्परागत मान्यताओं की ओर उन्मुख हुआ। जादू और टोना-टोटका द्वारा रोग, शोक और चिन्ताहरण के उपाय किए जाने लगे। अपरोक्ष शक्तियो को द्रवीभूत करने के लिए वैदिक ऋचाओं तक के उपयोग होने लगे। अथर्ववेद मे टोने--टोटके का वर्णन मिलता है। परन्तु इसमे लोक-प्रचलित रीति-रस्मो के साथ-साथ नैतिकतापरक धर्म का भी स्थान है। उस समय तक नैतिकता-व्यजक पूर्व प्रचलित शब्दो के प्रयोग होते जा रहे थे। नैतिक दृष्टि से पूर्ववर्ती वेदो से इसमे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि अब दीर्घकालीन अन्धकार की चर्चा न होकर नरक का वर्णन मिलने लगता है। वास्तव मे, ऐसे लोको के अन्धकारमय होने की चर्चा ईशावास्योपनिषद मे भी आ चुकी है।[7] यम अभी तक स्वर्ग के ही देवता है जहा से मृत प्राणी पापी होने पर नरक मे ढकेल दिया जाता है। कालान्तर नरकों के भेद के साथ-साथ उनकी सख्या-वृद्धि भी होती गई। यम उसके अधिष्ठाता बने। सत्कार्य की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त करने के उद्देश्य से पवित्रात्मा के लिए ज्योतिर्लोक (स्वर्गलोक) मे बहुस्त्रियो का सुख भोगने की ओर आकर्षित किया गया मिलता है।[8] यद्यपि उसमे काम-केलि की ओर सकेत नही है।

प्रजापति और धार्मिकता

प्रजापति प्रारम्भ मे ही धार्मिकता एव नैतिकता के प्रमाण-स्वरूप है। बुद्ध के समय तक उन्ही के ऐसे विधि-विधान थे जो एक दैवी व्यक्तित्व की देन कहे जा सकते हैं।[9] अपनी चारित्रिक विशेषताओ के ही कारण प्रजापति को

१. ऋग्वेद : ८, ६७, १७
२. अथर्ववेद : ३, ३०, १—७
३. ऋग्वेद : २।२३।१६ और २।५६।२
४. ई. ड. होपकिस : एथिक्स आव इंडिया, पृष्ठ ४४
५. वही, पृष्ठ २५
६. ऋग्वेद : ८।१८।१५
७. असूर्या नाम ते लोका अधेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥
तुलनीय : श्रीमदभगवदगीता: १६।१६-१६-२०
८. अथर्ववेद : ५।१८।१३ और १६।३
९. ई. ड. होपकिंस : एथिक्स आव इंडिया, पृष्ठ ५१

ऊचा पद प्राप्त था और नैतिकता के प्रश्न छिड़ने पर उन्ही के मत उद्धृत किए जाते थे।

ब्राह्मण-ग्रथो मे दार्शनिकतापरक ऐसे अनुमान पाये जाते है जो विकसित होकर उपनिषदो के रूप मे मिलते है। इनमे प्रजापति की लोकप्रियता अभिवृद्धि पर लक्षित होती है। परवर्ती काल मे वह नैतिकता का नियन्ता और नियामक बन जाता है। वैदिक युग के बाद उसके आदेश प्रत्येक अवसर पर निर्णायक का काम करते है। परन्तु देवताओ की नैतिकता के संरक्षक के रूप मे उसकी स्वीकृति अब भी बनी रहती है और टोना-टोटका भी चलता रहता है। उन दिनों नैतिक आचरण और परम्परागत रीति-नीति मे स्पष्ट भेद करना सभव न था, यद्यपि नैतिकता की उपेक्षा अथवा अवहेलना को पाप समझा जाता रहा। पाप दैवी इच्छा के विरुद्ध होने के बजाय अनाचार समझा गया। दुष्ट के प्रति दैवी प्रकोप का होना अब भी विश्वास का विषय था। अतएव सिल्वा लेवी का यह कथन सर्वथा भ्रामक है कि इस प्रथा मे नैतिकता का कोई स्थान न था।[1]

आत्म-नियन्त्रण

औपनिषदिक दर्शन के अन्तर्गत जीवात्मा को विश्वात्मा मे अभिन्न मानने के कारण नैतिकता का प्रश्न कुछ दूसरे प्रकार का हो गया और तदनुसार इसका समाधान भी किया जाने लगा। एक स्थल पर कहा गया है कि जो अनैतिक आचार मे विरत नही होता वह कोरे ज्ञान से 'उसकी' प्राप्ति नही कर सकता। इसमे आत्म-नियत्रण पर अधिक बल दिया गया मिलता है। अपवित्रात्मा को बार-बार जन्म ग्रहण करना पडता है और वह इस प्रकार अतिम लक्ष्य की प्राप्ति मे वचित रह जाता है।[2] नैतिक दृष्टि मे परमात्मा शुद्ध एव पवित्र है और धर्म के माध्यम से उसकी प्रकृति का बोध होता है। अब धार्मिक जीवन मे कर्मकाण्ड का वह स्थान नही रह गया था। इसका स्थान तपस्या, उदारता, शुद्धता, अहिसा और सच्चाई ने ले लिया था।

महाभारत मे कहा गया है कि बुद्धिमान लोग पाप नही करते, वे पाप-कर्म मे विरत रहते हैं और अपनी बुद्धिमानी से पूर्वजन्म के सचित पापो का भी परिहार कर देते है।[3] उपनिषदो मे भी कहा गया है कि वही पक्का साधु वा सत है जो अपने पापो को ध्वस्त कर उनमे मुक्त हो जाता है।

उपनिषद्कालीन दार्शनिको ने भाग्य के प्रभाव को स्वीकार नही किया। उनके अनुसार मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता है। परन्तु मनु भाग्य और मानवीय प्रयत्न दोनो को ही समान रूप से स्वीकार करते है। पूर्वकालीन दार्शनिको का ज्ञान द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का सिद्धात शिथिल पडता गया। आध्यात्मिक एव सदाचार-पूर्ण जीवन के बिना अब मोक्ष सभव न था। उनके अनुसार जीवन के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्ग थे। वास्तव मे, ये दार्शनिक ससार मे रहते हुए भी उसमे लिप्त नही थे। वे जीवन को कर्तव्य रूप मे स्वीकार करते थे, अपने को इसमे जकडा हुआ नही अनुभव करते थे।

प्रारभिक अवस्था में भद्र पुरुषो के आचरण ही नैतिकता के आदर्श थे। सशय उत्पन्न होने की स्थिति मे सतो के जीवन से प्रेरणा ली जाती थी। मनु के अनुसार नैतिक आदर्शों की मर्यादा भग करने वाले को उसकी जातिगत स्थिति के अनुरूप दड मिलना चाहिए। एक जैसा अपराध करने वाले ब्राह्मण अथवा राजा को चाडाल से अधिक दड देना उचित है।[4] 'महाभारत' मे तो यहा तक कहा गया है कि बड़े को बडा ही दड मिलना चाहिए।[5] फिर भी, सच बात यह है कि आरभिक स्थिति मे नैतिकता का स्वतंत्र रूप से दार्शनिकों अथवा सदाचारवादियों ने विचार नही किया था। सम्पूर्ण जीवन किसी-न-किसी धर्म-भावना से प्रेरित था और नैतिकता धर्म मे ही अतर्निहित थी। कानून की बाग-

---

१. लेवी : डाक्टरिन ड् सेक्रीफिस, पृष्ठ ६
२. कठोपनिषद् १।२।२४ और ३।७
३. महाभारत : १२।२७०।२०
४. मनु : ८।३३६
५. महाभारत : १२।२६८।१५

डोर मुखिया अथवा शासक के हाथ मे रहती थी और वे प्रायः धर्माचार्यों द्वारा प्रेरित होते थे। इनके आदेश अधिकतर वशगत अथवा जातिगत परम्पराओ का अनुसरण करते थे।

स्मृतियों द्वारा नैतिकता पर ज़ोर

वैदिकोत्तर युग मे स्वर्ग और नरक की कल्पना दृढ़ होती गई। शुभाशुभ और पाप-पुण्य की धारणा पर ध्यान केन्द्रित रहने लगा। शुभ कर्मों का कर्त्ता स्वर्ग का तथा पाप कर्मों का कर्त्ता नरक का भागी अथवा भोक्ता समझा जाने लगा। पापियो के लिए दण्ड-विधान निर्मित होने लगे। अब यम नरक के प्रशासक हुए, जाति-प्रथा, पुनर्जन्मवाद और नरक की कल्पना ने पाप-पुण्य की भावना को बल प्रदान किया। ऐसा माना जाने लगा कि पापी का जातिच्युत होना अथवा पुनर्जन्म के अनुसार निम्नतर योनि मे जन्म लेना तथा नरक में जाकर उसका दण्ड भोगना अवश्यम्भावी था। इस जन्म मे जो जैसा कर्म करेगा वह अगले जन्म मे वैसा फल भोगेगा। इसी प्रकार इस जन्म मे जो भोगा जा रहा है, उसमे पूर्व जन्म के कर्मों का भी फल है। स्वभावतया सभी लोग मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग मे स्थान पाने के इच्छुक रहते थे। विवेक का स्थान भय अथवा आतक ने ले लिया था। धर्मसूत्रो के कालक्रम के बारे में अभी तक विद्वानो मे मतैक्य नही हो पाया है।[1] बौद्धायन के अनुसार "स्वर्ग जाने का पात्र होने का अधिकारी वही है जो नीचता, कठोरता और कुटिलता का परित्याग करने को तत्पर है।" इसी प्रकार वशिष्ठ का सुझाव है कि "न तो वेद अथवा बलि और न उदारता उस व्यक्ति की रक्षा कर सकती है जिसका चरित्र गर्हित है जिसने अपने को पथभ्रष्ट कर लिया है—दुश्चरित्र को मनुष्य अपराधी ठहराते है और बुराइयो के कारण उसका पतन होने लगता है तथा वह रोग का शिकार होकर अल्पायु हो जाता है।"[2]

गौतम बुद्ध-कालीन गौतम ऋषि ने अपने धर्मशास्त्र मे चालीस पवित्र क्रियाओ का पालन करने का आदेश दिया है।[3] उनके अनुसार चालीस पवित्र क्रियाए है. "अब मै आत्मा के आठ श्रेष्ठ गुणो को बतलाता हूं। जीव-दया, धैर्य, असन्तोष से निवृत्ति, शुद्धता, उत्साहपूर्ण उद्योग, मगलमय विचार, निर्लोभ और द्वेषहीनता।" साधु-सतो के लिए सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कठोर नियम है। वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार विरक्त को मास-भक्षण की इच्छा न कर ससार के प्रति उदासीन रहना चाहिए। किसी के साथ न तो वह पक्षपात करे और न उसे हानि पहुचावे। इसी प्रकार जन-साधारण के लिए "द्वेष करना, धोखा देना, घमड करना, अहकार करना, अविश्वास करना, आत्म-प्रशसा करना, दूसरे पर अपराध थोपना और क्रोध करना आदि वर्जित है।" इस नियामक ने आगे चलकर बतलाया है कि "ईमानदारी का अभ्यास करो, बेईमानी का नही, दूरदर्शी बनो, अदूरदर्शी नही; उर्ध्वगामी बनो, अधोगामी नही।"[4] कभी-कभी इन नियामको का आग्रह बडा विचित्र मालूम देता है जब वे कहते है कि "वेद-प्रमाण को अस्वीकार कर सतो के उपदेशो मे दोष निकालना आत्मा का हनन करना है।" बौद्धायन के अनुसार "धर्म मे अनास्था पाप है" और नास्तिक को नैतिक अपराधी की श्रेणी मे रखा गया है। मनु के अनुसार अविश्वास करना, वेद में दोष निकालना, देवताओ को अपशब्द कहना, घृणा करना, क्रोध करना और निर्दयता का व्यवहार करना त्याज्य है।[5] इस प्रकार नैतिकता की बागडोर देवताओं के हाथ से निकल कर मनुष्य के हाथों आ गई।

परन्तु मनुष्य के हाथ मे नैतिकता की बागडोर आने के बाद नैतिक मूल्यों मे परिवर्तन लक्षित होने लगा।

---

१. पी. एस. शिवस्वामी अय्यर : इवोल्यूशन आव हिन्दू मोरल आइडियल्स, भूमिका पृष्ठ १६

२. बौद्धायन धर्मसूत्र : २।२।४।२५

३. ई. ड. हापकिस : एथिक्स आव इ डिया, पृष्ठ ६०

४. वशिष्ठ धर्मसूत्र; १०।३० और ३०।१

५. मनु : ४।१६३

सत्य के प्रति ग्रास्था तो पूर्ववत बनी रही, किन्तु उसे मर्यादित करने की ग्रोर प्रवृत्ति बढने लगी।[1] गाय का पीछा करने वाले कसाई को उसका पता बतलाया जाय अथवा नही, यह विचार का विषय बन गया। ऐसे ग्रवसरो पर झूठ तक बोलने की छूट दे दी गई, विशेषतया जबकि एक प्राणी के प्राणो की रक्षा हो रही हो। ग्रापस्तम्ब सूत्र के ग्रनुसार मिथ्या साक्षी देने वाला नरक जाता है, किन्तु गौतम ग्रौर मनु प्राण-रक्षा के लिए झूठ बोलने की छूट देते है, यद्यपि ऐसा करने के बाद ग्रात्मशुद्धि का भी सुझाव देते है। ब्राह्मण तथा गाय की प्राण-रक्षा, विवाह ग्रौर प्रेम-व्यापार ग्रादि मे ग्रसत्य-भाषण क्षम्य है।[2] महाभारत मे कहा गया है कि "यदि ग्रावश्यकता पडे तो बोलो, यद्यपि मौन रहना, बोलने मे ग्रधिक ग्रच्छा है। परन्तु केवल सत्य ही बोलो, वह भी जो प्रिय हो।[3] बौद्धो के सुभाषित सूत्र मे भी कुछ ऐसी ही बात दुहराई गई है। राजाग्रो के लिए कही-कही ग्रपवाद भी मिलते है। कौटिल्य ने, नैतिकता का उपदेशक न होने पर भी, कहा है कि राजा की ग्रोर से सच्चरित्रता को सदा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। यद्यपि मनु ने सत्ता-मद को मद-पान मे भी हेय ठहराया है। पापो से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। वशिष्ठ ग्रौर मनु ने तो यहा तक कहा है· "पाप का प्रायश्चित्त उसको स्वीकार करने ग्रथवा दण्ड का भुगतान करने-मात्र से दूर हो जाता है।"
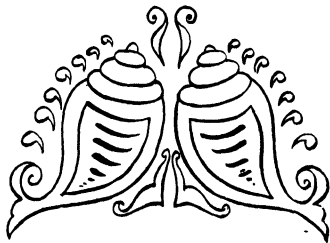
१. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियंच नानृतं ब्रूयादेव धर्मः सनातनः ।।मनु ।।

२. आपस्तम्ब सूत्र : २।११।२६।६

३. महाभारत : ५।३६।१२

भारतीय कला के दो प्रेरणा-स्रोत : शिव और कृष्ण

श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

जब हम भारतीय कला के हजारो वर्षों के इतिहास पर दृष्टिपात करते है तो हठात् दो नामो पर हमारा ध्यान अटक जाता है। साहित्य, सगीत, शिल्प, नृत्य, चित्रकला तथा स्थापत्य सभी क्षेत्रो मे शिव तथा कृष्ण के व्यक्तित्व हमे प्रभावित करते है। साहित्य की बडी-बडी कृतियो का ताना-बाना इन दो रूपो के बीच बुना हुआ है; और जहा पर शिव या कृष्ण स्वय नायक नही है वहा वह कथाकार के रूप मे ही सही हमारे सामने आते है। लेकिन जहा तक सगीत, शिल्प, चित्रकला या स्थापत्य का सम्बन्ध है, यदि भारतीय कला के इन अगों से हम शिव तथा कृष्ण को निकाल दे तो क्या बच जाएगा। केदारनाथ से लेकर रामेश्वरम तक और द्वारिका से लेकर जगन्नाथपुरी तक हमारी कला इन्ही दो शक्तियो से अभिभूत रही है।

क्या शिव आर्यों के देवता नहीं हैं ?

इससे पूर्व कि हम इन महाशक्तियो की कल्याणकारी प्रवृत्तियो का विवेचन करे, यह आवश्यक है कि शिव तथा कृष्ण के सम्बन्ध मे हमारी भावनाए स्पष्ट हो जानी चाहिए। साधारणत यह धारणा बन गई है—विशेषत उन लोगो मे जो विद्वान या विद्या-प्रेमी है कि शिव तथा कृष्ण अनार्य देवता थे, द्रविड थे, जिन्हे बाद मे आर्यों ने आत्मसात कर लिया। सावधान लेखक इस अनार्यत्व को आर्येतर नाम देते है। न केवल पाश्चात्य लेखको ने, बल्कि हमारे देश के ही डा० अल्तेकर व डा० हरप्रसाद शास्त्री जैसे विद्वानो ने यह पक्ष लिया है। जो इतने सावधान नही है वह कह देते है कि शिव दक्षिण के देवता थे, वहा पर ही शिव-परिवार व शिव की बडी प्रतिष्ठा थी और वैदिक ऋषियो ने जब अनार्य स्त्रियो से विवाह किया तो उनके देवता के रूप मे शिव को स्वीकार कर लिया।

इस भ्रात धारणा का उद्‌गम दो कारणो से हुआ है। एक तो यह मत कि भारत मे आर्यों के आगमन से पूर्व सिधु-सभ्यता वाली जाति थी जिसके साथ आर्यों का धीरे-धीरे सम्बन्ध हुआ। इसलिए जिस समय ऋग्वेद लिखा गया उसमे शिव का उल्लेख नही है लेकिन बाद के साहित्य मे शिव धीरे-धीरे आ गए। ऋग्वेद मे शिव के जिस रुद्र रूप का उल्लेख है उसे शिव से पृथक माना जाता है और कहा जाता है कि अथर्ववेद मे रुद्र देवता महादेव बन गए।[1] रुद्र विशुद्ध वैदिक देवता है लेकिन उनको शिव से पहले अलग किया गया और बाद मे यह सिद्ध किया जाता है कि शिव रुद्र की एक उपाधि हो गई। इस सबका आधार यह कहा जाता है कि ऋग्वेद सबसे प्राचीन वेद है और अथर्ववेद सबसे नया, इसलिए अथर्ववेद मे जो वर्णन है वह बाद के है।

अथर्ववेद के सम्बन्ध मे यह कल्पना बडी गलत है। स्वय अथर्ववेद का नाम यह पुकारता है कि वह पुराना वेद है, नया नही। और उसके जो वेद-मन्त्र है उनमे से तीन-चौथाई ऋग्वेद तथा सामवेद मे मिलते है। इसका सीधा अर्थ होता है कि वह अश कम-से-कम उतना ही पुराना है जितना ऋग्वेद या सामवेद। ऋग्वेद के प्रथम ऋषि अगिरा ही अथर्ववेद के आदि ऋषि है। अथर्ववेद सहिता का पूरा नाम ही अथर्व आगिरस संहिता है। फ्रेंच इतिहासकार मेसन

१. शैवमत : डा० यदुवशी, पृष्ठ १०

खजुराहो का कन्दर्वेश्वर
का मंदिर
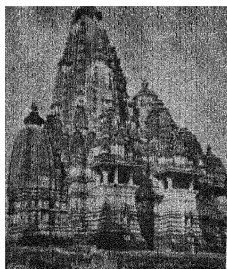
भुवनेश्वर का
मुकटेश्वर मंदिर
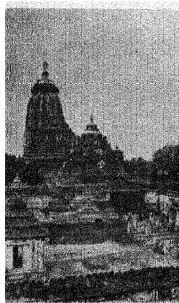
पुरी का जगन्नाथजी
का मंदिर

दाएँ हाथ में घट लिये
हुए परिवृत्तवदना सुन्दरी
खजुराहो
(समय १०वीं शती)

बेलूर (मैसूर) में
चित्र केशव मंदिर में
एक 'मदनिका'

मृगजातक का दृश्य
भरहुत से प्राप्त किलापट्ट
भारतीय संग्रहालय,
कलकत्ता
(समय ई० पूर्व दूसरी शती)

मयूर युग्म । मयूर
शिलाखंड पर बैठे प्रेमी-युगल
चित्रित हैं।
सांची के मुख्य स्तूप के
पूर्वी द्वार पर उत्कीर्ण
(समय ई० पू० प्रथम शती)

त्रिभंगी मुद्रा में जटाजूटधारी
शिव की भावपूर्ण मूर्ति
कौशांबी से
(गुप्तकाल)
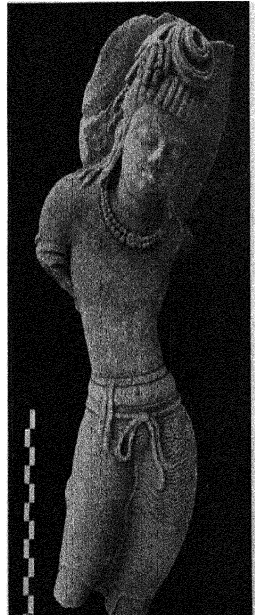
औसेंल के अनुसार—"यह सग्रह अन्य संग्रहो से कुछ ज्यादा नया नही है। इसका शीर्षक ही यह घोषणा करता है कि इसका जन्म प्राचीन है क्योकि अथर्वन् अग्नि का पुरोहित है। अवेस्ता का अतर है।"[1]

अंग्रेज विद्वानों की परम्परा को स्वीकार करते हुए भी डा० यदुवशी ने माना है कि अथर्ववेद का निम्न-लिखित श्लोक ऋग्वेद के मन्त्रों से पुराना है

'रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः।

इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः॥' ११।२।३०

इस मन्त्र मे रुद्र का जो रूप बतलाया गया है, जिसमे श्वान भी साथ है वह शिव के पौराणिक रूप से मिलता-जुलता है। अथर्ववेद मे रुद्र को जटाओ वाला, नील-ग्रीव (नीलकण्ठ), कपर्दनि, भिषगराज (वैद्यनाथ), पशुपति, महादेव सभी प्रकार के नामो से पुकारा गया है। यही शिव के वर्तमान स्वरूप के परिचायक भी है। यजुर्वेद मे तो और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि रुद्र के सौ रूप है और शिव के सभी नामो को उसमे स्मरण किया गया है। शतरुद्रिय सूक्त मे तो रुद्र और शिव स्पष्ट ही एक है। यहा हम उसके कुछ मन्त्र दे रहे हैं .

नमस्ते रुद्रमान्यवऽउतो तऽइषवे नमः बाहुभ्यमुत ते नमः। या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी। तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशान्ताभिचाकशीहि। यामिषुंगिरिशान्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्रतां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत। शिवेन वचसात्वा गिरिशाच्छावदामसि।

× × × ×

नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च। नमः शंगाय च पशुपतये च नमः उग्राय च भीमाय च नमो ऽग्रेवधाय च दूरवेधाय च नमो हंत्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्तराय।

नमः शम्भुवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।

× × × ×

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अ ध क्षमाचरा तेषांꣳसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्यसि।

× × × ×

इन मन्त्रो मे जिस प्रकार भगवान शिव के समस्त गुणो का वर्णन है उसके बाद यह कहना कि शिव केवल आर्येतर लोगो के देवता थे जो बाद मे आर्यों के देवता बने, गले नही उतरती।

क्या शिव सिन्धु-सभ्यता की देन हैं ?

वेद-मन्त्रो के अतिरिक्त शिव के आर्येतर देवता होने के पक्ष की दूसरी दलील यह दी जाती है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता मे शिव की नग्न मूर्ति मिली है जिसका वेदो के 'शिश्ने देवता' के साथ मेल मिलता है। चूकि यह मान लिया गया है कि मोहजोदडो तथा हडप्पा तक आर्य-संस्कृति नही पहुची थी इसलिए वहा पर नन्दी तथा शिव के जो प्रतीक मिले है वह निस्सन्देह आर्येतर हो जाते है। परन्तु सिन्धु-सभ्यता के सम्बन्ध मे पिछले दस वर्षों मे जो अनुसधान हुए हैं उन्होने सिन्धु-सभ्यता की सारी कल्पनाओ को भूठा कर दिया है। कल तक जो सभ्यता सिन्धु नदी की दक्षिण घाटी तक सीमित समझी जाती है उसका उत्तरी छोर हिमालय के नीचे रोपड तथा दक्षिणी छोर गुजरात के लोथल नगर में मिला है। उधर सौराष्ट्र के रगपुर से लेकर उत्तरप्रदेश मे यमुना-तट पर स्थित आलमगीरपुर तक हडप्पा-सस्कृति के अवशेष मिले है। इस प्रकार सिन्धु-सभ्यता का प्रसार हिमालय से विन्ध्याचल और सिन्धु-घाटी मे गगा के मैदान तक मान लिया गया है।[2]

---

१. एंशिएंट इंडिया एण्ड इंडियन सिविलिजेशन : मेसन औसेंल, ग्रेबोवस्का व फिलिप स्टर्न द्वारा लिखित (रतलज व केगन द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी-अनुवाद)—पृष्ठ-सख्या २००

२. इण्डियन आर्क्योलोजी, १९५८-५९, पृ० १

सिंधु-सभ्यता पर नवीन अनुसंधान

लोथल, रोपड तथा आलमगीरपुर मे केवल हड़प्पा-सस्कृति के अवशेष ही मिले हों, सो बात नहीं। वहां पर हड़प्पा-सस्कृति के साथ-साथ अन्य प्रकार के अवशेष भी मिले, जिनसे यह सिद्ध हो गया कि इस सारे क्षेत्र में समय-समय पर एक जैसी सभ्यता फैलती रही। हड़प्पा व मोहजोदडो की खुदाई से वैदिक सभ्यता के प्रतीकों की ही नही, बौद्ध-कालीन भारत तक की सभ्यता की कोई कडी नही मिलती थी। सन १६३४–३५ मे काठियावाड के लीमड़ी राज्य के रगपुर स्थान मे श्री माधोस्वरूप वत्स ने खोजकर यह अनुमान किया था कि रगपुर मे हड़प्पा-सस्कृति के अवशेष हैं। लेकिन सन १६४७ मे डा० मोरेश्वर पत ने यह अनुमान किया कि रगपुर विशुद्ध आर्य बस्ती है। सन ५३-५४ में वहा पर जो दोबारा खुदाई हुई तो उससे पता चला कि वहां पर एक के बाद एक तीन सभ्यताओ के युग है। इन खोजों से यह भी सिद्ध हुआ कि यदि पहली परत से हड़प्पाकालीन सभ्यता का पता लगता है तो ऊपरी तह राजस्थान मे उदयपुर के पास अहाड में प्राप्त सामग्री से मिलती जुलती है। अहाड़ की इस सभ्यता की कडी एक ओर उत्तर भारत के काले व लाल मिट्टी के बर्तनो से मिलती है तो दूसरी ओर दक्षिण में मैसूर के मस्की नामक स्थान तक के रहन-सहन से।

सोमनाथ की खुदाई ने जो १६५५ में हुई एक के बाद एक पाच नगरो का पता दिया जिसमे हड़प्पा के प्रारम्भिक चिह्नो से लेकर गुप्तकाल के चमकदार लाल पालिश वाले मिट्टी के बर्तन मिले। इससे तय हो गया कि इस स्थान पर लगातार एक के बाद एक प्रकार की सभ्यताओं का सिलसिला बना रहा है और उनका एक-दूसरे से सम्बन्ध रहा है।[1] निवास की एक दूसरे काल की परतो में काले व लाल पालिश, चमकदार लाल पालिश, उत्तरी काली पालिश के बर्तन इस प्रकार मिले हैं कि प्रत्येक काल का दूसरे काल से सम्बन्ध व सिलसिला मिलता जाता है। इसी प्रकार की खोज खान्देश जिले मे बहल की खुदाई से मिलती है जो उसका रगपुर तथा हड़प्पा से सम्बन्ध कायम रखती है।[2] लोथल मे तो काले व लाल पालिश के बर्तन सभ्यता की हर परत पर मिले हैं जो कि हड़प्पा-सस्कृति के पिछले अवशेषों मे नही मिले थे। इन्होंने लाल पालिश, काली व लाल पालिश, व चमकदार उत्तरी काली पालिश के नाम से तीन विभिन्न सभ्यताओं का जो भ्रम था उसे दूर कर तीनों सभ्यताओ को एक-दूसरे का उत्तराधिकारी बना दिया है। सन १६५६ मे मेरठ जिले मे आलमगीरपुर की खुदाई ने भी इस मत का समर्थन किया।[3]

शिव की लिगाकार मूर्ति के कारण शिव को आर्येतर लोगों का देवता कहा जाता है। परन्तु सिंधु-घाटी या हड़प्पा-सभ्यता मे कही भी शिवलिग या उस प्रकार की कोई मूर्ति नही प्राप्त हुई है। केवल एक नग्नमूर्ति को देखकर जिसके चारो ओर पशु है विद्वानो ने कल्पना कर ली है कि उसके लिग को पृथक किया जा सकता होगा। डा० यदुवशी ने, सम्भवत: अन्य विद्वानो के मत का समर्थन पाकर लिखा है—"सिधु-घाटी के लोग लिंगोपासक थे। ऊपर जिस शील चित्र (सील चित्र, सील की छाप) की चर्चा की गई है उसमे पुरुष देवता को ऊर्ध्वमेढ़ अवस्था मे दिखाया गया है। यद्यपि लिग को किसी प्रकार बढाकर नही दिखाया गया है और न किसी अन्य प्रकार से उसकी ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी चित्र में इस देवता को त्रिमुख दिखाया गया है अतएव सम्भव है कि पुरुष नर की मिली एक भग्न मूर्त्ति, जिसकी गर्दन की मोटाई को देखते हुए कहा जा सकता है कि इसके भी तीन सिर रहे होंगे, इसी देवता की मूर्ति होगी। इस मूर्ति की जननेन्द्रिय ऐसी बनाई गई है कि उसको अलग किया जा सकता है। इन दोनों बातों से यह सम्भव हो जाता है कि सिधु-घाटी मे उर्वरता-सम्बन्धी विधियो मे जिस लिग की उपासना होती थी, वह इस देवता का लिग था। अत: जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात हुआ तब इस लिगोपासना का रुद्र की उपासना मे समावेश हो गया।"[4]

---

१. इण्डियन आर्क्योलोजी, १६५५–५६, पृष्ठ ८
२. ,, ,, १६५६-५९, पृष्ठ १५, १७
३. ,, ,, १६५८-५६, पृष्ठ ५५
४. डा० यदुवंशी : शैवमत, पृष्ठ ३१-३२

यह अनुमान नितान्त कपोल-कल्पना है। हडप्पा, मोहजोदडो, लोथल, रगपुर, रोपड, बहल, आलम गीरपुर तथा सौराष्ट्र व गुजरात के उन समस्त स्थलों में जहां पर हडप्पाकालीन सस्कृति के अवशेष मिले है, एक भी शिवलिंग प्राप्त नही हुआ है। किसी भी मूर्ति को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि लिग ही यहा पूजा जाता था। सिधु-सभ्यता की मूर्तियों में तो सिर व हाथ भी अलग किये जा सकते हैं। यदि सिधु घाटी की सभ्यता जो इस समय यमुना तथा सतलुज की घाटी से लेकर नर्मदा के मुहाने तक पहुंच गई है,लिगोपासक होती तो उसके कोई चिह्न अवश्य होते।

शिवलिंग का जन्म-स्थान : मथुरा

इसके विपरीत पहला शिवलिग मथुरा मे मिला है। मथुरा आर्यों के ब्रह्मर्षि देश का भाग है। ग्रेब्रोवस्का व फिलिप स्टर्न के अनुसार लिग-मूर्तियो का प्रारम्भ ही मथुरा की कला के साथ हुआ

"The linga (phallus) treated naturalistically both in India and Indo-China appears with the art of Mathura and the fingure accompanying is related in style to the Bodhisattavas of the same art and the images of Shiva on the reverse of Scykian coins."[1]

लेखको के अनुसार स्वाभाविक रूप से निर्मित लिग-मूर्ति, क्या भारत मे क्या इण्डोचीन मे, मथुरा की कला के साथ प्रकट होती है और उनके साथ जो मानवाकृति है वह उसी कला के बोधिसत्त्व तथा शक-मुद्राओ के पीछे शिव की मूर्तियो से मिलती है।

कुषाण राजाओ के अनेक सिक्को के पीछे शिव व नादी की मूर्तिया है। विमकडफसीज, वासुदेव व कनिष्क तृतीय के सिक्को पर एक या अनेक मुखवाली शिवमूर्तियां है जो मथुरा मे मिली है।[2] कुषाणकालीन एक शिव मूर्ति की शक लोग पूजा करते दिखाए गए है। कुषाण-काल का एक चतुर्मुखी शिवलिग मिला है और गुप्त-काल का एक पचमुखी शिवलिग। शिव-पार्वती की सम्मिलित मूर्तिया भी मिली है जो गुप्तकाल की है। अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति और इलौरा के कैलाश की मूर्ति-जैसी एक छोटी मूर्ति जिसमे रावण कैलाश उठा रहा है और पार्वती भयभीत हो रही है, मथुरा मे मिली है। सभी मूर्तिया प्राचीन है और गुप्त-काल तक की है।

शिव उत्तर भारत के देवता हैं

भगवान शिव की पौराणिक परम्पराएं उन्हे उत्तर भारत का देवता सिद्ध करती है। वह हिमालय के निवासी हैं। उनका पहला विवाह दक्ष प्रजापति की पुत्री से तथा दूसरा विवाह हिमालय की पुत्री पार्वती मे होता है। कैलाश, गधमादन, हेमवत से हट कर भी यदि शिवजी कही आते है तो काशी को विश्वनाथ पुरी बनाते है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार भी, और वह हमारा सबसे प्राचीन काव्य है, मथुरा का शासक मधु शिव का बडा भक्त था और उसे वरदानस्वरूप एक अमोघ शूल प्राप्त हुआ था। समस्त यदुवशी शिव के उपासक थे। यहा तक कि भगवान कृष्ण के जन्मदिवस पर उनका दर्शन करने व भविष्य बताने के लिए महादेवजी आते है। मथुरा के चारो कोनों पर चार शिव-मदिर प्राचीन काल से चले आते है जिनमे रगेश्वर, रत्नेश्वर, पिप्पलेश्वर व भूतेश्वर अब भी प्रसिद्ध है।

मथुरा मे शिव-परिवार की भी बडी भक्ति रही है। ईसा के ८९वे सन मे बनी स्वामी कार्तिकेय की दाए हाथ मे अभय मुद्रा व बाये हाथ मे माला लिये एक मूर्ति मिली है जो मथुरा-सग्रहालय मे मौजूद है। एक दूसरी मूर्ति मे वह मयूर पर बैठे हुए है। मिट्टी की मूर्ति मे भी स्वामी कार्तिकेय दिखाये गए है जिससे पता चलता है कि वहा यह रूप इतना लोकप्रिय हो गया था कि खिलौने तक बनते थे। एक मूर्ति मे शिव व ब्रह्मा कार्तिकेय का अभिषेक कर रहे है।

गणेश की जो मूर्तिया मथुरा मे मिली है वे विविध प्रकार की है। बाल गणपति की मूर्तिया मिली है। हाथ में मोदक लिये दशभुजी गणेश एक मूर्ति मे नृत्य कर रहे है। एकदन्ती गणेश की अनेक मूर्तिया है।

मथुरा मे आज भी दशभुजी गणेश की एक बडी भारी मूर्ति एक मन्दिर मे है। वैसे कोई शिव मन्दिर ऐसा नही है जहा पर गणेशजी न हो।

---

१. एंशियेंट इण्डिया एण्ड इण्डियन सिविलिजेशन, पृष्ठ ३७३-३७४

२. श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा, पृष्ठ ३१

गौरी गणेश

भगवान शकर तो शैव व स्मार्तों के देवता है लेकिन शिव-परिवार के दो व्यक्ति गौरी और गणेश तो उत्तर भारत के प्रत्येक हिन्दू के देवता हो गए है। भारतीय नारी के सौभाग्य का कोई कार्य पूरा नही होता जब तक कि गौरी-पूजन न हो। और कोई भी धार्मिक कृत्य, जन्म से लेकर मृत्यु तक बिना गणेश-पूजन के सिद्ध नही होता। इसलिए मैं आदरणीय दिनकरजी की इस राय से सहमत नही हू कि उत्तर भारत मे गणेश केवल शुभ व लाभ के बीच आते हैं। गणेश चतुर्थी उत्तर भारत का एक बडा पवित्र व्रत है। उसी प्रकार हरतालिका तीज व गणगौर उत्तर भारत की स्त्रियो के बडे भारी राष्ट्रीय त्यौहार है। यह गौरी तथा गणपति दोनो के प्रति सम्मान को प्रकट करते हैं।

दिनकरजी की यह धारणा गणेशजी की मूर्तिया न देख कर हुई है। परन्तु मुस्लिम काल मे उत्तर भारतीय देवताओ के इतने मन्दिर नष्ट हुए कि उत्तर भारत की मूर्ति-सम्पदा को जब दक्षिण से मुकाबिला करते है तो दक्षिण कही अधिक सम्पन्न मिलता है। परन्तु आज भी यदि हम उत्तर भारत के मन्दिरो व सग्रहालयों का निरीक्षण करे तो पता चलेगा कि गणेशजी का इतना कम सम्मान न था। शिव का शिवालय तो उत्तर भारत के प्रायः प्रत्येक ग्राम मे विद्यमान है और वहा गणेशजी व पार्वतीजी भी विद्यमान रहती है। काशी का सबसे बड़ा मदिर ढुढिराज गणेश का है।

अब हम इस बात का ब्यौरेवार वर्णन करेगे कि भारतीय कला मे शिव का योगदान कितना है और तब देखेंगे कि उनको हटा दे तो हमारी कला बडी अधूरी रह जायगी।

भारत के प्रसिद्ध शिव-मन्दिर

उत्तर भारत के सबमे बडे समृद्ध व महत्त्वपूर्ण मन्दिरो मे सोमनाथ का नाम आता है। सोमनाथ के मन्दिर को महमूद गजनवी ने नष्ट कर दिया। पर जब वह तैयार था तो कला का अदभुत भण्डार था। कुमारपाल चालुक्य तथा रानी अहिल्याबाई ने पुन: इस मन्दिर को बनवाया। और अब एक नये मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।

उसी काल के एक दूसरे महत्त्वपूर्ण मन्दिर-समूह को सौभाग्यवश हम अब तक सुरक्षित पाते हैं। यह है खजुराहो का मन्दिर-समूह। इसका कन्दरिया महादेव का मन्दिर आज तक के सुरक्षित मन्दिरो का, स्थापत्य तथा शिल्प, दोनो की दृष्टि से मुकुट-मणि माना जाता है।

ग्यारसपुर का नीलकण्ठेश्वर का मन्दिर दूसरा मन्दिर है जो मध्य प्रदेश के आन्तरिक अचल मे पडा रहने के कारण सुरक्षित रह गया। यह भी भारतीय मूर्तिकला का अद्भुत नमूना है।

उडीसा मे भुवनेश्वर मे भुवनेश्वर या लिगराज का मन्दिर उत्तर भारत का न केवल सबसे ऊचा व सुन्दर मन्दिर है, एक प्रमुख देवस्थान भी है। इसने नगर को नाम दिया है। इसी प्रकार का आसाम का शिवसागर का विशाल मन्दिर है। यद्यपि कला की दृष्टि से शिवसागर इतना सम्पन्न नही है जितना भुवनेश्वर, परन्तु सुदूर आसाम में भी शिवसागर अपनी विशालता केलिए प्रसिद्ध है। नर्मदा नदी के उद्गम अमरकण्टक, ओकारेश्वर माधाता व महेश्वर के मन्दिर केवल धार्मिक दृष्टि से ही पवित्र नही है उनका कला-रूप भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। भोपाल के पास 'भोजपुर' का भग्नावशेष एक ऐसे मन्दिर की स्मृति दिलाता है जो किसी समय सोमनाथ की सानी का था।

काश्मीर तो शैवमत का बडा भारी केन्द्र रहा है और न केवल अमरनाथ की पवित्रता, बल्कि श्रीनगर के शिव तथा गणेश मन्दिर प्राचीन काश्मीरी कला का परिचय देते है।

उज्जैन का महाकाल शताब्दियों से हमारे साहित्य, कला, सस्कृति को प्रभावित करता आया है। हर-गौरी की सम्मिलित मूर्ति महाकाल की ऐसी अमूल्य भेट है जिसने आज के नास्तिक काल मे भी हर-गौरी को बैठक वालों की शोभा के लिए आवश्यक बना दिया है।

विश्वनाथ पुरी काशी का मन्दिर कितना भव्य रहा होगा, इसका कुछ पता ज्ञानवापी की मसजिद से लगता है। स्वय वर्तमान विश्वनाथ मन्दिर की मूर्तिया सुन्दर है परन्तु प्राचीन विश्वनाथ का शिल्प तो जौनपुर की मसजिद मे दबा पडा है।

शैव कला के अन्य स्मारक

इलौरा का कैलाश, नृत्य करते हुए शिव, इलौरा की शान और भारत के शिल्पियो का गौरव है। एलिफेंटा तो केवल त्रिमूर्ति शिव, अर्द्धनारीश्वर शिव तथा प्रलयकारी शिव के रूप को प्रकट करती है। ये सब भारतीय कला के गौरव है।

शिव ने भारत की सभी कलाओं को प्रभावित किया है। नृत्य और सगीत के वह आदि आचार्य है, वह नटराज है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे भगवान शिव को ही सगीत व नृत्य का आधार माना है। भरत को उन्होने ताण्डव नृत्य सिखाया। पार्वती को उन्होने लास्य सिखाया है। और पार्वती से यह नृत्य भगवान कृष्ण की पतोहू उषा ने सीखा। उषा ने यादव स्त्रियो को लास्य सिखाया और उन्होंने सारे ससार मे इस सुन्दर नृत्य का प्रसार किया।

परिणामस्वरूप, भारत मे जितनी कास्य प्रतिमाएं बनी, उनमे नटराज सबमे प्रमुख है। दक्षिण मे चिदबरम् के मदिर मे नटराज शिव के नृत्य करते हुए अनगिनत रूप है। बादामी की गुफाओ मे, हालबीड के होयसलेश्वर के मदिर में, उडीसा के मुकटेश्वर मे, इलौरा की गुफाओ मे नृत्य करते शिव की सुन्दर मूर्तिया बनी। यही नही, शिव तथा पार्वती के पुत्र नृत्य-गणपति की भी बडी सुन्दर मूर्तिया बनी। भेडाघाट (जबलपुर) के गौरीशकर मदिर मे नृत्य-गणपति की सुन्दर मूर्ति कल्चुरि कला का एक श्रेष्ठ प्रतीक है।

सगीत शिव के डमरू से निकला है। सगीत शास्त्र के लिए भी शिव को हम विस्मरण नही कर सकते। समस्त परम्पराएं भारतीय सगीत का स्रोत कैलाशवासी महादेव से ही मानती है।

इन शिव ने हमे आज-पर्यन्त केदारनाथ और रामेश्वरम्, काशी और काची, सोमनाथ और भुवनेश्वर, उज्जैन और त्र्यबकेश्वर जैसे सुन्दर तीर्थ दिए है और उनके द्वारा हमारी स्थापत्य, शिल्प तथा कास्य मूर्तिकला की गौरवपूर्ण परम्परा की रक्षा की है।

अफगानिस्तान में शिव व गणेश

शिव और गणपति की कुछ अलभ्य मूर्तिया हाल ही मे अफगानिस्तान मे भी मिली है। भारतीय पुरातत्त्व-विदो का एक मण्डल अफगानिस्तान मे खुदाई के लिए गया था। उसको काबुल मे महाविनायक की एक मूर्ति मिली जिसमे नागरी लिपि मे शिलालेख भी है। यह लेख छठवी शताब्दी का है। डा० रामचन्द्रन व डा० शर्मा के अनुसार मणि, प्रवाल तथा वलय-सहित यह मूर्ति गुप्तकाल की सारनाथ की मूर्तियो से मेल खाती है। महाविनायक सर्प का यज्ञोपवीत पहने है और मोदक प्राप्त कर चुके है। उनका यह भी अनुमान है कि वस्त्राभूषण मगध परपरा के अनुसार है। इस प्रकार महाविनायक की यह प्रतिमा, जो शाही नरेश खिमगल ने स्थापित की थी, अफगानिस्तान से मगध तक की एक-सी परम्पराओ की याद दिलाती है।

गणेशजी की एक और प्रतिमा शकरधार (या शकरधार) मे प्राप्त हुई है। यह सगमरमर की है। वहा पर शिव तथा सूर्य की भी सगमरमर की सुन्दर मूर्तिया मिली है। यह मूर्ति ईसवी की चौथी शताब्दी की है जिस पर गुप्तकला की छाप है। पुरातत्त्वज्ञो के अनुसार यह कौशाम्बी की हरगौरी प्रतिमाओ की भाति है।

यहा पर जो शिव की मूर्ति मिली है उसमे मुकुट पर चन्द्रकला तथा कानो मे पत्रकुडल व माथे पर अर्द्ध-मीलित त्रिनेत्र है। यह सुन्दर मूर्ति भी चौथी शताब्दी की आकी गई है। ये सारी मूर्तिया गर्देज से मिली है जिसको शाही शासको ने अपनी राजधानी बनाया था।[1]

शिव के उपासक चद्रवश ने, जिस चन्द्र को शिव ने अपने मस्तक पर रख दिया है, यदुवशी कृष्ण के रूप मे एक और विभूति दी, जिसने हमारी कला तथा विचारधारा मे मौलिक क्राति कर दी। और यह है भगवान कृष्ण का व्यक्तित्व।

---

१. आर्क्यालोजीकल रिकोनेसा इन अफगानिस्तान : श्री बी० एन० रामचन्द्रन व डा० वाई० डी० शर्मा द्वारा (केवल सरकारी प्रयोग के लिए प्रकाशित, १९५६)
अध्याय २, पृष्ठ-सख्या ३–४–५–६

क्या कृष्ण भी अनार्य देवता थे ?

भगवान कृष्ण के सम्बन्ध मे भी एक धारणा है कि वह वैदिक देवता न थे क्योंकि वेदों में उनका नाम नहीं है। परन्तु वेदो मे कृष्ण के नाम का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि उनका जन्म निश्चित ही वैदिक काल के पश्चात हुआ। छादोग्य उपनिषद मे देवकी-पुत्र कृष्ण का उल्लेख है और उन्हे घोर आगिरस का शिष्य कहा है। यह कथन कृष्ण के पौराणिक वर्णन से बिल्कुल मिलता है, क्योंकि आगिरस द्वारा वर्णित अथर्ववेद की अनेक क्रियाओ, विज्ञान तथा शिल्प का मथुरा बडा भारी केन्द्र था। आगिरस का तत्वज्ञान विशुद्ध वैज्ञानिक है और जो भी ऐतिहासिक शोधे हुई हैं उनसे पता लगता है कि लोहे के प्रयोग, निर्माण-कार्य मे पत्थर तथा मसाले के प्रयोग, शिल्प विश्वविद्यालय व रासायनिक क्रियाओं मे मथुरा उस समय अग्रगण्य था जिसके कारण वहा पर ही ऐतिहासिक शिल्प, चित्र तथा स्थापत्य कला, नाटच आदि के हमे प्रथम दर्शन होते है। मथुरा यदुवंशियो के विशाल गणतन्त्र की राजधानी व अंतर्राष्ट्रीय राजपथ के केन्द्र पर स्थापित थी जिस कारण उसने सब स्थानो से प्रभाव ग्रहण किया और उसे सशक्त बनाकर दूर-दूर तक फैलाया।

कृष्ण का कलाओं को योगदान

इस ऐतिहासिक भूमि में जब भगवान श्रीकृष्ण जैसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ तो उसने भारतीय जीवन की काया पलट कर दी। नृत्य हमे शिव ने दिया था, पर बासुरी की तान और रास देकर, हल्लीसक व मडलाकार नृत्यो को रचकर, कृष्ण ने नृत्य व सगीत को व्यक्ति से लेकर सामूहिक रूप दे दिया। अजन्ता व बाघ की गुफाओं मे भारतीय नृत्य के चित्र इन्ही हल्लीसक नृत्यो की परम्परा को दिखाते हैं।[1]

ईस्वी पहली शताब्दी का कृष्णमन्दिर

भगवान कृष्ण के जन्म-स्थान पर मथुरा मे एक मन्दिर बना था जिसका उल्लेख ईसा की पहली शताब्दी मे मिलता है। शक राजा शोडास के समय मे उत्कीर्ण एक शिलालेख से पता लगता है कि वहा पर वासुदेव कृष्ण के एक चतु शाला मन्दिर, तोरण तथा वेदिका का निर्माण वसु नामक व्यक्ति ने किया था।[2] इसके पश्चात चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल मे इसी जन्म-स्थान पर एक विशाल मन्दिर बनवाया गया। इसके पश्चात महमूद गजनवी द्वारा जब मथुरा के मन्दिर तोडे गए तो उसके इतिहासलेखक उल उत्वी ने एक ऐसे मन्दिर का जिक्र किया है, जिसे देवताओं ने बनाया था और मनुष्य बना ही नही सकते थे।[3]

बीसलदेव रासो के नायक यदुवशी बीसलदेव ने तथा ओरछा के शासक वीरसिह देव ने भी इस स्थान पर मन्दिर बनाये, जो बनते और बिगडते गए। केशवराय के मन्दिर की फ्रासीसी यात्री टैवर्नियर ने प्रशसा की थी।

भगवान कृष्ण के कितने मन्दिर बने व बिगडे, परन्तु आज भी क्या उत्तर, क्या दक्षिण, सर्वत्र उनकी कीर्ति के स्मारक विद्यमान है। द्वारिका का मथुरानाथ का मन्दिर, जगन्नाथपुरी का जगदीश का मन्दिर भारत के सबसे लोकप्रिय धाम है। लगभग एक हजार वर्षों से बने ये मन्दिर अनूठे है। बेलूर का चिन्नकेशव मन्दिर भारतीय मूर्ति तथा स्थापत्य की अद्भुत छवि अकित किये है और न जाने कितने नृत्यसगीत-विशारदो को प्रेरणा देता रहा है। मथुरा, वृन्दावन, काकरौली, नाथद्वारा, डाकोर जी, पढरपुर, चितलदुर्ग इन सभी स्थलो का महत्त्व इसी विभूति के कारण बढ़ गया है।

भारतीय संगीत की परम्परा

उत्तर भारत का सगीत तो जैसे भगवान कृष्ण से अलग हो नही सकता। उनकी संगीत मुरलिया ने क्या हिन्दू क्या तुरक सभी को मोह लिया। आज कृष्ण ही ऐसे भारतीय देवता है जिसके गुण-गान कड़े से कड़े मुसलमान सगीतज्ञ के मुख से सुन सकते है। भगवान कृष्ण ने सगीत की शक्ति को दर्शाया था तथा उसके द्वारा जीवन मे रस डाला

१. 'नटराज' : श्री जगदीशचन्द्र : पृष्ठ २२

२. 'मथुरा'—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, पृष्ठ २८

३. ब्रज का इतिहास—पृष्ठ १३०, तथा मथुरा-महिमा, पृष्ठ ६५

था। अतएव यह भी आश्चर्य की बात नही कि मथुरा नगरी में आचार्य दत्तिल हुए जिन्हे श्री अमियकुमार गोस्वामी भरत से भी पहला संगीताचार्य तथा अन्य लोग (जैसे श्री रामकृष्ण कवि) पच-भरतों में से एक मानते है। डाक्टर वासुदेव-शरण अग्रवाल के अनुसार पाणिनि ने कस-वध नामक नाटको के खेले जाने का वर्णन किया है। आज-पर्यन्त मथुरा मे कस-वध-लीला खेली जाती है। संस्कृत नाटको की समस्त पात्रिया शौरसेनी बोलती है। अतएव इसमे आश्चर्य नही कि कृष्णलीला से ही—जिसे उस समय कस-वध कहते हो—भारतभूमि मे विधिवत नाटक खेलने की परम्परा पडी हो। उस समय मथुरा में नटसूत्रों के प्रणयन-अध्ययन की सम्भावना भी है।

इस प्रकार नाटको के लिए भी, नृत्य की भाति, हम कृष्ण से ही प्रारम्भ देखते है। आश्चर्य नही कि नृत्य तथा सगीत और नाटकों की यह लोक-कला विकसित होकर सारे देश मे फैल गई। यदुवंशियो के पूर्वपुरुष नहुष के बारे मे यह परम्परा है कि उन्होने नाटकशाला बनाई थी। परन्तु उनके पश्चात सगीत व नृत्य नाटक के बारे मे यदुवशियो का प्रेम कृष्ण के समय मे ही ज्ञात हुआ। यदुवशियों ने सौराष्ट्र, गुजरात, विदर्भ, महाराष्ट्र तथा कर्णाटक तक जो वश-विकास किया उसके साथ-साथ नृत्य, सगीत, शिल्प व नाटको की परम्पराए भी गई। कहा तो यह जाता है कि पुरी के मन्दिर का प्रारम्भकर्ता भी यदुवशी ही था।

ध्रुपद, धमार, होरी के गायक हरिदास, मीरा, बैजू बावरा, गोपाल नायक, तानसेन आदि अनेक श्रेष्ठ कलाकार हुए। कवियो तथा सगीतज्ञो ने भगवान कृष्ण की आराधना मे सर्वोत्तम पदों की रचना की। यदि कृष्ण का सहारा न होता तो ब्रजभाषा का काव्य ही नही, सगीत भी सूना-सूना लगता।

कला में 'त्रिभंगी' लाल

भगवान कृष्ण ने भारतीय कला मे एक नई शैली दी। त्रिभंगी लाल कृष्ण की मुरली बजाते समय की छवि ने कला मे 'त्रिवंका' परम्परा को जन्म दिया जिसने नृत्य को मूर्ति पर उतारना सम्भव कर दिया। डाक्टर कुमार-स्वामी ने लिखा है[1]:

"Besides the seated forms already noted there are no less characterstic standing poses. Some severe types are perfectly symetrical but more frequent and capable of greater variation is the stance, well seen in figure 57, where the weight of body rests on one leg and the other is slightly bent. Images of the later type are called Trivanka because the maiden line in front view is twice curved A rarity of this with legs crossed is frequently adopted in the representation of Krishna the flute player. From such forms again there are all transitions to the cotinuous movement and perfect fluidity of dancers. If any power in Indian art is really unique it is its marvellous representations of movement—for here in the movement of limbs is given the swiftness and necessity of impelling thought itself much more than an enstay of action subsequent to thought.

There is close connection between sculpture and dancing not merely as much as certain images represent dancing gods (Shiva, Krishna, etc.) but because the Indian art of dancing is primarily one of gesture in which the hands play a most important part." '

डा० आनन्द कुमारस्वामी का मत है कि त्रिवका की शैली ने भारतीय मूर्तिकला को ससार मे अद्वितीय शक्ति दी है क्योकि इसके द्वारा गति का अद्भुत चित्रण करने मे समर्थ हुए है। वशीवादक कृष्ण की इस त्रिवका मूर्ति के दर्शन हमे जापान के नारा नगर मे दैबुत्सु मूर्ति के सामने के एक शिरदल पर मिले। यही शक्ति भारतीय कला को सारे दक्षिण एशिया मे घुमा लाई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव तथा कृष्ण की प्रेरणा भारत की सभी कलाओ के विकास व प्रसार में असाधारण महत्त्व की रही है। इसी सभ्यता व सस्कृति पर हमे गौरव है। और हमे यह भी गौरव है कि कृष्ण व शिव भारतीय विचारधारा की प्राचीनतम परम्पराओं की अपनी विभूतियां है, किसी के मागे-जाचे की नही। यदि ये देवता उधार लिये गए होते तो भारत की जनता ने उनके चित्रण व पूजन के लिए अपना श्रम इस प्रकार न व्यय किया होता जैसा किया।

---

१. दी आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स आव इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ ३१

गत अर्धशताब्दी में शास्त्रीय हिन्दुस्तानी संगीत की प्रगति

श्री ठा० जयदेवसिंह

१९वी शती मे मुगलराज्य का अन्त हो जाने के बाद जो कुछ शास्त्रीय संगीत के कलाकार बच गए थे उन्होने देशी रियासतो मे शरण ली। जयपुर, उदयपुर, अलवर, रामपुर, इन्दौर, ग्वालियर रियासतें शास्त्रीय सगीत का केन्द्र बन गईं। किन्तु कलाकार प्राय अपने ही घरवालो को सगीत सिखलाते थे, दूसरो को नही। दूसरी बात यह हुई कि शास्त्रीय संगीत से साधारण जनता की कौन कहे, शिक्षित वर्ग का भी कोई सम्पर्क न रह गया। जिस प्रकार महिलाओ के आभूषण पिटारी मे बन्द रहते है, केवल किसी उत्सव के दिन निकाले जाते है, उसी प्रकार राग भी होली-दिवाली के दिन कलाकारो द्वारा राजसभा मे प्रस्तुत किए जाते थे। उसके अनन्तर ये किसी को सुनने को भी न मिलते थे। केवल नाथद्वारा, काकरौली इत्यादि के वैष्णव मन्दिरो मे कलेवा, भोग, शयन, आरती इत्यादि के समय रागो मे विष्णुपद, ध्रुवपद गाए जाते थे जो कि साधारण जनता जाकर सुन सकती थी। किन्तु इन गायको को इतना साधारण वेतन मिलता था कि उनको अपना पेट पालना कठिन था। न तो वहा सगीत के अच्छे शिक्षक रह गए, न विद्यार्थी निश्चिन्त होकर अपना सारा समय सगीत की साधना मे लगा सकते थे। परिणाम यह हुआ कि मन्दिरो मे सगीत का केवल ककाल अवशिष्ट रहा। इसका प्राण निकल चुका था।

थोडी बहुत जो नाटक कम्पनिया स्थापित हुईं उनमे अधिकतर चलते हुए गाने गाए जाते थे। कभी-कभी नाटक के आरम्भ होने मे ध्रुवपद शैली में एक वृन्द-गान हो जाता था, किन्तु प्राय· चलते हुए गाने ही सुनने को मिलते थे।

न तो सगीत का कोई विद्यालय था जहा कोई उसे सीख सकता हो और न स्वरलिपि मे गान अथवा गत (गति) ही प्रकाशित थे जिन्हे देखकर कोई घर पर सीख सके।

जहा तक पता चलता है सबसे पहले महाराजा बडौदा के प्रसिद्ध गायक उस्ताद मौलाबख्श ने १८८६ मे स्वरलिपि में कुछ गान लिखे, परन्तु व्यवस्थित रूप से शास्त्रीय हिन्दुस्तानी सगीत की प्रगति २०वी शती से आरम्भ हुई। इस दिशा मे जो कार्य हुआ है उसे हम तीन शीर्षको मे विभाजित कर सकते है—(१) प्रकाशन, (२) प्रचार, (३) शिक्षण। इन्ही तीन शीर्षको मे हम इसकी प्रगति का वर्णन करेंगे।

१. प्रकाशन—राजा शौरीन्द्रमोहन टागोर ने १८९६ मे यूनीवर्सल हिस्ट्री आफ म्यूजिक 'Universal History of Music' प्रकाशित किया जिसमे उन्होंने सबसे पहले भारतीय सगीत का एक सक्षिप्त इतिहास दिया। उन्होने 'यत्रक्षेत्रदीपिका' भी प्रकाशित की जिसमे सितार इत्यादि वाद्यो की गतें स्वरलिपि मे छपी, जिससे सगीतप्रेमियों को घर-बैठे सगीत सीखने का अवसर मिला। बगाल के कुछ और विद्वानो ने भी सगीत पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित कराईं। श्री कृष्णधन वन्द्योपाध्याय का 'गीतसूत्रसार' निकला और श्री रामप्रसन्न वन्द्योपाध्याय ने 'सगीतमंजरी' प्रकाशित कराई। तानसेन के कुछ वंशज बगाल मे पहुच गए थे। उनसे सीखकर श्री गोपेश्वर वन्द्योपाध्याय ने कुछ ध्रुवपद 'सगीत-चन्द्रिका' मे प्रकाशित किए।

कलाकारो ने जिन गीत और गतो को छिपाकर रखा था और अपने पुत्र-पुत्री के सिवा जल्दी और किसी

को सिखलाते नही थे वे अब धीरे-धीरे प्रकाश मे आने लगे ।

संगीतशास्त्र का अध्ययन

सब सगीतशास्त्र सस्कृत मे था । सगीतशास्त्र की यह दशा हो गई थी कि उसका कोई समझने वाला ही नही रह गया; क्योंकि जो केवल सस्कृत जानते थे वे सगीत नही जानते थे, और जो सगीत जानते थे वे सस्कृत मे सर्वथा अनभिज्ञ थे । अत. सगीत के ग्रथ केवल कौतुकालय की वस्तु बन गए थे जिनका दूर से लोग आदर के साथ-साथ कभी-कभी दर्शन कर लेते थे, किन्तु जिनका कोई उपयोग नही होता था । कलाकार केवल लक्ष्य सगीत जानते थे, लक्षण सगीत से वे उदासीन हो गए थे ।

लक्ष्य सगीत का सग्रह और उनके लक्षणो का शास्त्रीय विवेचन, यह सगीत के लिए अत्यन्त अपेक्षित था। इस कार्य को वही कर सकता था जो सगीत और सस्कृत दोनो जानता हो । सगीत के सौभाग्य मे ये दोनो गुण पडित विष्णुनारायण भातखण्डे मे मिल गए । उन्होने सगीत विधिपूर्वक सीखा था और वह सस्कृत के भी विद्वान थे । इस काचनमणि-सयोग से सगीत का बडा उद्धार हुआ । सगीत शास्त्रो का मन्थन करके और प्रचलित सगीत मे मिलाकर उन्होने सस्कृत मे 'श्रीमल्लक्ष्यसगीतम्' की रचना की। इस ग्रथ के मूल तत्त्वो का उन्होने अपने मराठी-ग्रथ 'हिन्दुस्थानी-सगीतपद्धति' के चार भागो मे विस्तृत रूप से वर्णन किया । इसका पूरा हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। भिन्न-भिन्न रागो मे गीतो का सग्रह करके स्वरलिपि मे निबद्ध कर उन्होने 'हिन्दुस्थानीसगीतक्रमिक' के छ भागो मे प्रकाशित किया । इन दो ग्रन्थो से सगीत का बहुत उपकार हुआ । सगीतशास्त्र को, जिसे कलाकार भी भूल गए थे, लोग फिर से जानने लगे, और अमूल्य गीत लोग घर बैठे सीख सके ।

पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने ख्यालों को स्वरलिपि मे 'सगीतबालबोध' के कई भागो मे प्रकाशित किया । फिर उन्होने एक-एक राग के ख्याल को लेकर आलाप, तान, बोलतान, सरगम इत्यादि से विस्तार करके 'राग-प्रवेश' नामक ग्रन्थ के १८ भाग प्रकाशित किए। 'रागप्रवेश' के द्वारा गायक प्रत्येक राग का आध घटे तक विस्तार कर सकता है । इनके अनन्तर पण्डितजी ने एक-एक राग पर अधिक विस्तार से एक-एक ग्रन्थ प्रकाशित किया । इसके भी पाच भाग प्रकाशित हो चुके है । मीरा, कबीर, सूर, तुलसी, दादू, नानक इत्यादि सन्तो के पदो को रागो मे निबद्ध कर, स्वरलिपि मे लिखकर 'भजनामृतलहरी' कई भागो मे प्रकाशित कर पडितजी ने गायको का बहुत बडा उपकार किया । इसके पूर्व स्वरलिपि मे भजन नही लिखे गए थे । इसके अतिरिक्त पण्डितजी ने कुछ टप्पो को स्वरलिपि मे निबद्ध कर 'टप्पागायन' नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया । पण्डितजी के शिष्यो मे से श्री शकरराव व्यास ने ख्याल की कई रचनाए करके 'व्यासकृति' के कई भागो मे प्रकाशित की । श्री विनायकराव पटवर्धन ने 'सगीतविज्ञान' के छ भागो मे कुछ पुरानी और कुछ नई चीजे प्रकाशित की । पण्डित ओंकारनाथजी ने कुछ सुन्दर गान 'सगीताजलि' के कई भागो मे प्रकाशित किया । पण्डित श्री कृष्णनारायण राताजनकर ने कुछ नई रचनाओ को स्वरलिपि मे निबद्ध कर 'अभिनव-गीतमजरी' मे प्रकाशित किया । साथ ही उन्होने प्रसिद्ध रागो मे ताने बनाकर 'तानमालिका' के तीन भाग प्रकाशित किए । ग्वालियर के श्री राजाभैया पूछवाले ने ध्रुवपद, धमार, ख्याल, टप्पे, ठुमरी इत्यादि का सग्रह प्रकाशित किया ।

कुछ ग्रन्थ शास्त्र पर भी निकले है जिनमे मराठी मे प्रो० कृष्णराव गणेश मुले का 'भारतीय सगीत' और हिन्दी मे पण्डित ओकारनाथ की 'प्रणवभारती' तथा पण्डित कैलाशचन्द्र बृहस्पति का 'भरत का सगीत-सिद्धान्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

राजा नवाबअली ने उर्दू मे 'मारफुन्नगमान' २ भागो मे प्रकाशित किया । इसका अब हाथरस के 'सगीत कार्यालय' से हिन्दी-अनुवाद भी छप गया है। रामपुर के नव्वाब छम्मन साहब ने बहुत से ध्रुवपदो का स्वरलिपि मे सग्रह किया, किन्तु वह अभी तक अप्रकाशित है । इधर रामपुर के नवाब हिज हाइनेस रजा अली ने भी अपनी रचनाओ के कुछ सग्रह छपवाए है ।

संगीत-परिषदों द्वारा प्रचार

२. प्रचार—शास्त्रीय संगीत का प्रचार सगीत-परिषदो और आकाशवाणी द्वारा सबसे अधिक हुआ ।

सबसे पहले पण्डित भातखण्डे के प्रयत्न से बड़ौदा में सन १९१६ में अखिल भारतीय सगीत परिषद हुई जिसमें प्रायः देश भर के गुणी जन एकत्र हुए थे। इसमे कलाकारों का गायन-वादन तो हुआ ही, सगीतशास्त्र की मुख्य समस्याओं पर भी विचार हुआ। इसके अनन्तर दिल्ली, बनारस, लखनऊ इत्यादि नगरो में भी परिषदे हुईं। प्रयाग, कानपुर, कलकत्ता और बम्बई मे बरसो तक प्रत्येक वर्ष सगीत-परिषद हुई। पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने अपने शिष्यों के साथ देश भर मे भ्रमण किया और जहा-जहा वह गए उन्होने सगीत-परिषद की जिसमे उनके शिष्यो और अन्य गुणीजनों का गायन-वादन हुआ। इस प्रकार शास्त्रीय सगीत का सन्देश देश के कोने-कोने तक पहुच गया।

सन १९३७ मे अखिल भारतीय आकाशवाणी की स्थापना हुई। तब से इसके द्वारा नित्य पर्याप्त अंश में शास्त्रीय सगीत का प्रसार होता है।

इतने समय के निरन्तर प्रचार के परिणामस्वरूप श्रोताओ को मुख्य रागो के नाम मालूम हो गये और उन्हे उनकी थोडी-बहुत पहचान भी हो गई।

संगीत विद्यालय

३. शिक्षण—शास्त्रीय सगीत की सबसे बडी समस्या थी उसके शिक्षण की समुचित व्यवस्था। जो अच्छे कलाकार थे वे अपने कुटुम्ब के लोगो को छोडकर दूसरो को सगीत सिखलाते नही थे। ग्वालियर मे उस्ताद हद्दू खां-हस्सू खा ने अपने कुटुम्ब के बाहर के लोगो को ख्याल सिखलाया। इस प्रकार ख्याल महाराष्ट्र मे फैला। कुछ कलाकारो ने बगाल मे विष्णुपुर मे कुछ लोगो को ध्रुवपद सिखलाया। इस प्रकार ध्रुवपद बगाल मे फैला। किन्तु अभी तक सगीत का कोई ऐसा विद्यालय नही था जिसमे सगीत का समुचित रूप से शिक्षण होता हो। सबसे पहले पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने लाहौर मे १९०१ मे गान्धर्व महाविद्यालय खोला जिसमे व्यवस्थित रूप से सगीत की शिक्षा दी जाने लगी। धीरे-धीरे उन्होने पजाब के और कई नगरो मे इसकी शाखाए खोली। बम्बई मे १९०८ मे उन्होने गान्धर्व महाविद्यालय खोला जिसमे लगभग ४० शिक्षक थे और ४००-५०० विद्यार्थी सगीत सीखते थे। कुछ लोगो ने कलकत्ते मे भी सगीत विद्यालय खोले। महाराजा बडौदा ने बडौदा मे एक सगीत विद्यालय खोला जिसमे देश के कई प्रसिद्ध कलाकार सगीत के शिक्षण के लिए नियुक्त किए गये। पण्डित भातखण्डे जी ने महाराज सिंधिया की सहायता से ग्वालियर मे माधव-सगीत विद्यालय खोला और १९२६ मे राय राजेश्वर बली, राय उमानाथ बली और राजा नवाब अली की सहायता से लखनऊ मे 'मैरिस कालेज ऑफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक' खोला। इसके अनन्तर प्रयाग मे 'प्रयाग सगीत विद्यालय' खुला। धीरे-धीरे कुछ शिक्षा बोर्डों और विश्वविद्यालयो मे सगीत एक वैकल्पिक विषय हो गया।

संगीत के ह्रास के कारण

यह सब होते हुए भी, सगीत के महान् कलाकारो का अभाव होता जा रहा है। इसके दो मुख्य कारण है—एक तो आज के विद्यार्थी मे साधना की बडी कमी आ गई है। सगीत एक ऐसी कला है जो जीवन-भर की साधना से कुछ हाथ मे आती है। दूसरे एक कक्षा मे बहुत से विद्यार्थियो को एकत्र सिखलाने की जो पद्धति है उसमे संगीत का साधारण ज्ञान-मात्र होता है, कलाकार नही तैयार किए जा सकते। विद्यालय मे सीखे हुए कुछ प्रतिभाशाली होनहार विद्यार्थियों को चुन कर यदि अच्छे गुरु को सौपा जाय और वे केवल दो-तीन विद्यार्थियो को दो-तीन घण्टे नित्य शिक्षण दे तभी सगीत के अच्छे कलाकार बन सकते है।

हमारे कलाकार तैयारी को सब कुछ मान बैठे है। इसलिए कला का बहुत ही ह्रास हो रहा है। प्रत्येक विद्यालय मे कलात्मक सौन्दर्य (aesthetics) की शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है।

अभी तक किसी भी विद्यालय मे सगीतविषयक अनुसन्धान के लिए कोई प्रबन्ध नही है। सगीत की प्रगति के अनुसन्धान की परम आवश्यकता है।

सगीत शास्त्र के बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ ग्रन्थागारो मे अप्रकाशित पड़े हुए है। उनके प्रकाशन की भी बडी आवश्यकता है।

वर्तमान शताब्दी की भारतीय चित्रकला

श्री नगेन्द्र भट्टाचार्य

पिछले ६० वर्षों की भारतीय चित्रकला अपने मनोवैज्ञानिक आधार की दृष्टि से बडी महत्त्वपूर्ण है। इसमे न केवल इस समय की, बल्कि पिछली शताब्दी की भी देश की राजनीतिक चिन्ताधारा का चित्रण हुआ। यद्यपि, हमे यह स्वीकार करना होगा कि इस काल मे हमारे देशवासियो की कलाओ के सम्बन्ध मे कोई विशेष दिलचस्पी नही रही, और न उन्होने इनमे कोई जीवन्त दिलचस्पी लेने का प्रयत्न किया।

इस छोटे-से लेख मे भारत के कला-आन्दोलनो के मनोवैज्ञानिक आधार का एक सिलसिलेवार ब्यौरा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। १८वी शताब्दी के मध्य से लेकर १९वी शताब्दी के अन्त तक का काल अनुकरण का काल है जिसमें पश्चिमी मान्यताओ एव आदर्शों को स्वीकार किया गया और यह स्वीकृति मुख्यत हमारी अन्तर्निहित हीन भावना का ही परिणाम थी। अगला काल राष्ट्रीय जागरण का काल है जिसमे कला के क्षेत्र मे भी पुरानी परम्पराओ के अनुकूल एक विशिष्ट शैली के अन्वेषण एव अपनाने का प्रयत्न किया गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद तीसरा काल प्रारम्भ हुआ। इस काल मे भी पश्चिम की ओर ही अधिक रुझान रहा। वस्तुत पहले और तीसरे काल का प्रभाव एक जैसा रहा, केवल मनोवैज्ञानिक रुख मे परिवर्तन हुआ। दूसरा काल पहले तथा तीसरे काल से वास्तविक रूप में भिन्न है। इसलिए इस काल की सामाजिक पृष्ठिभूमि तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बातो का उल्लेख करते हुए इस काल का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। तीसरे काल की मुख्य बात यह है कि इसमे हमने अपनी पुरानी हीन भावना का त्याग करके अपने आपको दूसरो के समकक्ष समझना आरम्भ किया। दूसरे शब्दो मे यदि कहा जाए तो इस काल मे हमने राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय भावना को अपनाया और अपने कला-आन्दोलन को आधुनिक विश्व कला-आन्दोलन के साथ सम्बद्ध करने का यत्न किया।

प्रत्येक देश की कला वहा की जनता के जीवन और उनकी सास्कृतिक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध होती है, इसलिए साधारणत यह स्वाभाविक है कि कला जनता की आत्मा को चित्रित करती है। यदि हमे किसी देश की किसी निश्चित काल की परिस्तिथियो का पता लगाना हो तो हम देश के उस निश्चित काल के साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला और भवन-निर्माण कला के स्तर से यह पता लगा सकते है।

अब हम सक्षेप मे विगत इतिहास की समीक्षा करेगे और हमारे देश के ही कुछ उदाहरणो की जाच करेगे। हम मौर्य और गुप्तकाल तथा चोल, पल्लव और राष्ट्रकूट साम्राज्यो की समृद्धि का अन्दाजा उनके युग की कला और साहित्य के विकास से लगा सकते है। भवभूति और कालिदास के काव्य, अमरावती, इलौरा, साची, सारनाथ या महाबलिपुरम् की भव्य मूर्तिया और अजन्ता की गुफाओ की चित्रकला, इन सब अमर कृतियो की रचना किसी अत्याचार, गरीबी और राजनीतिक अशान्ति के वातावरण मे सम्भव नही हो सकती थी। बाद के समय मे, जब कि कला, जो कि राजा और प्रजा के बीच धार्मिक ऐक्य का आधार थी, का ह्रास हुआ तब मुगल, राजपूत और पजाब के छोटे-छोटे पहाड़ी राजाओं के दरबारों मे बहुत छोटे-छोटे आकार के किन्तु आश्चर्यजनक चित्रो का बोल-बाला हुआ। इन चित्रों मे इन सभी दरबारो की समृद्धि की झाकी मिलती है। इनमे जन-साधारण के जीवन का कोई अकन नही है क्योकि

ये चित्र जन-कलाकारों द्वारा नही आके गए। इस समय के कलाकारों को राजाओं का आश्रय एवं संरक्षण प्राप्त था और वे राजाओ के आदेशों पर कला-सृष्टि करते थे और इसलिए वे अपने चित्रों द्वारा अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन करने का यत्न करते थे।

कला का आधार धर्म

भारतीय इतिहास के स्वर्णिम युग मे सर्जनात्मक कला का आधार धर्म था। बड़े-बड़े राजा लोग असीमित धनराशि व्यय करके उदारतापूर्वक कलाकारो को प्रोत्साहन देते थे और इस प्रकार जीविका-निर्वाह से निश्चिन्त होकर ये कलाकार भवन-निर्माण-कला, चित्रकला और मूर्ति-कला आदि की, अपने-अपने क्षेत्र मे महान कृतिया तैयार करने की साधना मे अथक रूप से लगे रहते थे। मन्दिर और विहार इस कला के केन्द्र थे, और इसलिए इस समय की कला, राजा और प्रजा दोनो के सयुक्त प्रयत्नो का परिणाम थी। किन्तु बाद के समय मे, जबकि धर्म, जो राजा और प्रजा की घनिष्ठ एकता को बनाए रखने की कडी था, का प्रभाव कम हुआ तब धर्म और सामाजिक कृतियो पर आधारित जन-कला सदा के लिए विलुप्त हो गई और दरबारो की नफासत भरी कला ने उसका स्थान ले लिया। परिमाणतः जन-कला की महानता और आभा क्षीण हो गई और उसका रूप केवल धार्मिक एव विधि-विधानात्मक मात्र होकर रह गया। इस प्रकार यह कला देश के हजारो-लाखो घरोदो मे सदा के लिए तिरोहित हो गई। इसके बाद भारत की चित्रकला दरबारों की चित्रकला के नाम से जानी जाने लगी। किन्तु जब विदेशी शासन के आतकस्वरूप राजाओ और राज्यो का लोप हुआ तो भारतीय कला भी पूर्ण रूप से विलुप्त हो गई। किन्तु फिर भी दिल्ली, लखनऊ, पटना और पहाडी राज्यो की कुछ राजधानियो मे भारतीय चित्रकला अपनी कुछ प्रभावहीन प्रतिलिपियो के रूप मे जीवित रही। आमतौर पर विदेशी दर्शको और धनी भारतीयो ने इन प्रतिलिपियो का सग्रह किया, किन्तु इनमे कोई सर्जनात्मक चमक नही है।

१८वी शताब्दी मे जब अग्रेज और फ्रासीसी आदि पश्चिमी शक्तियो ने पूर्वी तथा दक्षिण भारत की रिया-सतो पर विजय प्राप्त कर ली तब जनता ने विवश होकर यूरोपीय प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भारतीयों मे जिस हीन भावना का उदय हुआ वह केवल युद्ध और राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित नही रही बल्कि वह हमारे जीवन की जडो मे भी प्रविष्ट हो गई और हमारे लोगो ने पश्चिम का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया।

पश्चिम के इस अधानुकरण का प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन पर भी पडा। हम लोगो ने अपनी कला और साहित्य की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया और हम न केवल सामयिक, बल्कि भूतकाल की महान कलाकृतियो को पूर्णरूप से भुला बैठे। हमारी अपनी कला के सम्बन्ध मे उपेक्षा एव विस्मृति की यह स्थिति लगभग एक शताब्दी तक बनी रही।

१९वी शताब्दी के आरम्भ मे राजा राममोहनराय सरीखे लोगो ने हम लोगो को बताया कि पूर्व और पश्चिम की सर्वोत्तम बातो के समन्वय से ही देश का लाभ हो सकता है। राममोहनराय ने एक ओर तो वेदान्त दर्शन की पुनः स्थापना का प्रयत्न किया और दूसरी ओर उन्होने हमारे बच्चो को अग्रेजी पढाये जाने की आवश्यकता पर जोर दिया। इन दिनो मे राजा राममोहन राय ने स्त्री-शिक्षा तथा जिन अन्य सामाजिक सुधारो का समर्थन किया उन्हें बडा क्रान्तिकारी समझा गया। उन्होने उपयुक्त समय पर देश को यह चेतावनी दी कि हम पश्चिमी विचारधारा और पूर्वी प्रथाओ के बारे मे विवेकपूर्वक विचार करे और पश्चिम के अधानुकरण करने के स्थान पर केवल वही बाते स्वीकार करे जो हमारे लिए अच्छी और लाभदायक है।

पाश्चात्य कला का प्रभाव

पुस्तकों के अध्ययन द्वारा पूर्व का पश्चिम की विचारधारा के साथ जो सम्पर्क हुआ वह देश के लिए लाभ-दायक सिद्ध हुआ। कलकत्ता, जो इन दिनों ब्रिटिश भारत की राजधानी था, में बहुत से प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। इन महान आत्माओं ने दर्शन, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र मे हमारे पूर्वजों द्वारा प्राप्त की गई महान उपलब्धियों की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया और यह आश्वासन दिया कि भविष्य में भी इस प्रकार की महान
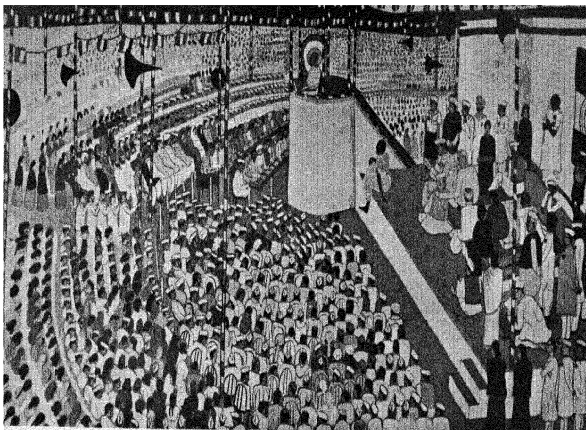
अगस्त ४२ का प्रस्ताव

'सुरैय्या'

कुरानशरीफ पढ़ते
हुए एक मुसलमान

'पस्तोजी बामनजी'

गोपिनी

'जैमिनीराय'

मंदिर

'गगेन्द्रनाथ ठाकुर'

प्रणय-मिलन

'रवीन्द्रनाथ ठाकुर'
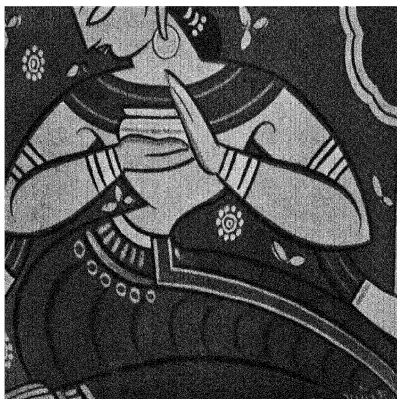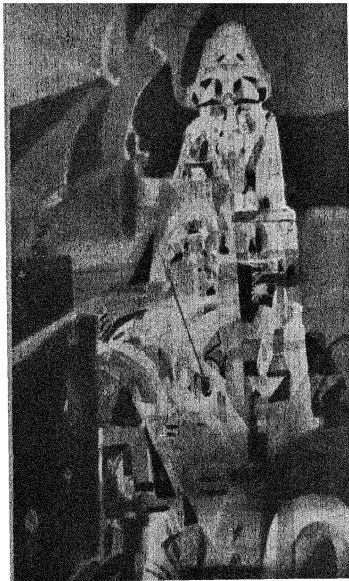
वैश्विक टकराव

विजय

'के० सी० एस० पानिकर'

प्राचीन कथावाचक

'अमृता शेरगिल'

निर्माण

'के० के० हैब्बर'

उपदेश

'सतीश गुजराल'

उपलब्धिया प्राप्त की जा सकती हैं। साथ ही साथ, इन लोगो ने पश्चिम के दर्शन, विज्ञान और साहित्यसम्बन्धी पुस्तकों का गहन अध्ययन किया। इस प्रकार जो नई चेतना जागृत हुई वह बंगाल मे पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बकिमचद्र चटर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त, रमेशचन्द्र दत्त, द्विजेन्द्रलाल राय तथा कई अन्य लेखको के साहित्य मे भी अभिव्यक्त हुई। साधारणतः इन सबके साहित्य का प्रतिपाद्य विषय राष्ट्रीय जागृति और स्वाधिकार-प्रतिष्ठा ही था। इस साहित्य ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन का पथ प्रशस्त किया और इस प्रकार १९०५ मे बग-भग के साथ यह आन्दोलन अत्यन जोर पकड गया।

किन्तु कला के क्षेत्र मे मामला कुछ दूसरा ही था। यूरोपीय कला के साथ हमारा परिचय कुछ घटिया दर्जे के चित्रकारो के चित्रो द्वारा हुआ। ये चित्रकार सिर्फ पैसा कमाने के लिए भारत आए थे। हमारे लोग, जो भारत की पुरानी कला-सम्बन्धी परम्पराओ को भूल चुके थे और जो यूरोप की हर किसी चीज को ग्रहण कर लेना चाहते थे, इन औसत दर्जे की प्रतिभा वाले यूरोपीय चित्रकारो के यथार्थवादी चित्रो को देखकर अभिभूत हो गए। ऊचे-ऊचे ओहदो पर काम करने वाले अग्रेज शासको और फौज के जनरलो ने भारत आने वाले इन चित्रकारो को न केवल सरक्षण प्रदान किया बल्कि भारतीय रियासतों के राजाओ के दरबारो में भी उनका परिचय करा दिया, जहा उन्हे बडे-बडे कीमती चित्र बनाने का काम मिलता था। राजा लोग इनके चित्रो की प्रशसा करते थे और राजाओ के साथ-साथ प्रजा भी उनकी प्रशमा करती थी। इन्ही परिस्थितियों में हमारे बहुत से चित्रकारो ने चित्र बनाने की पश्चिमी शैली यूरोपीय चित्रकारो से सीखी। १९वी शताब्दी के मध्य मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय विद्यार्थियो को चित्रकला की पश्चिमी शैली सिखाने के लिए मद्रास, कलकत्ता और बम्बई मे कला-विद्यालय खोले। मलाबार के राजा रविवर्मा ने तैल-चित्रकला एक यूरोपीय चित्रकार से सीखी और उन्होने रामायण और महाभारत के विषयो को लेकर कई तैल-चित्र तैयार किए। ये चित्र बहुत बडे आकार के है, इनमे प्रतिपाद्य विषय का चित्रण अत्यन्त यथार्थवादी रूप से किया गया है और इनमे जिस कला-दाक्षिण्य का प्रयोग हुआ वह बडी उच्चकोटि का है। बम्बई मे धुरन्धर, त्रिणीदाद, पिट्ठा-वाला, बोमन जी पेस्टन जी, ये सब लोग यूरोपीय शैली के चित्रकारो के रूप मे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार कलकत्ता मे रणदा गुप्त, शशी हैस, यामिनी प्रकाश गांगोली आदि भी यूरोपीय कलाशैली को अपनाने वाले चित्रकारो के रूप मे प्रसिद्ध हुए। इन्ही दिनों कलकत्ता के एक नवयुवक, जो प्रिस द्वारकानाथ टैगोर का पड़पोता था, ने यूरोपीय चित्रकारो से चित्रकला की शिक्षा ली। इस नवयुवक का नाम अवनीन्द्रनाथ टैगोर था जिसने हमारे देश की कला मे एक अद्भुत क्रान्ति पैदा कर कर दी।

कला के क्षेत्र मे पश्चिम के अन्धानुकरण की धारा को परिवर्तित करने के लिए कुछ यूरोपीय विद्वानो ने बडा घोर परिश्रम किया। इन विद्वानो मे जेम्स फर्गुसन, सिस्टर निवेदिता और श्री ई० वी० हैवल के नाम प्रमुख है, जिन्होने पूर्व और पश्चिम दोनो के लोगो को आश्वस्त किया कि भारत की अपनी महान कला-परम्पराए थी और इस-लिए कम-से-कम कला के क्षेत्र मे पश्चिम के पास कोई ऐसी चीज नही है जिमे वह भारत को दे सके। श्री ई० वी० हैवल, जो उस समय कलकत्ता के गवर्नमेण्ट स्कूल आफ आर्ट्स के प्रिसिपल थे, ने अपने स्कूल मे रखी हुई ग्रीक और रोमन मूर्तिकला की अनुकृतिया पास के तालाब मे फेंक दी और उन्होने अपने विद्यार्थियो मे कहा कि अब उन्हे इन अनु-कृतियो की नकल करने की कोई जरूरत नही है। उन्होने अपने विद्यार्थियो से कहा कि उनकी अपनी एक विशिष्ट कला है और उसी का उन्हें अध्ययन करना चाहिए।

जोरासाँको मे टैगोर लोगों का घर कई पीढ़ियो से कलकत्ता की सास्कृतिक गतिविधियो का केन्द्र बना हुआ था। टैगोर लोग बडे जमीदार थे। वे देश मे होने वाले सभी सामाजिक सुधारो मे गहरी दिलचस्पी लेते थे। सस्कृत और परशियन साहित्य, संगीत, नाटक और चित्रकला, इन सभी के लिए उनके हृदय मे अनन्य अनुराग था। टैगोर लोगो के घर मे वेदान्त दर्शन पर प्रतिदिन उपदेश दिया जाता था। अवनीन्द्रनाथ इस प्रकार के वातावरण मे पैदा हुए और इसी में उनका लालन-पालन हुआ।

राष्ट्रीय आंदोलन और कला में क्रांति

बग-भग के दिनो मे जोरासाँको एक बार फिर सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया जिसमें रवीन्द्र-नाथ टैगोर, जो उस समय एक प्रमुख साहित्यिक के रूप मे प्रसिद्धि पा चुके थे, एक प्रमुख नेता के रूप मे सामने आए। देश के अन्य शिक्षित नवयुवको के साथ अवनीन्द्रनाथ भी इस आन्दोलन मे पूरी तरह से कूद पडे। उन्होंने लिखित रूप से यह प्रतिज्ञा की कि वे केवल देश मे बनी हुई चीजो का ही प्रयोग करेंगे, अंग्रेजी के स्थान पर अपनी ही भाषा में अपना सम्मेलन करेगे, विदेशी वस्तुओ का इस्तेमाल नही करेगे और अपने तमाम झगडो तथा मतभेदों का निबटारा विदेशी सरकार की अदालतो मे जाए बगैर अपने आप ही आपस मे बैठकर कर लेगे। 'घडोया' नामक अपनी आत्म-कथा सम्बन्धी एक लेख मे अवनीन्द्रनाथ ने लिखा है कि यह एक ऐसा समय था जब कि एक मजदूर भी अपने देश के लिए कुछ करने की बात सोचता था। अपने देश के लिए कुछ बलिदान करना चाहता था। एक दिन जब कि अवनीन्द्रनाथ पल्ली समिति की एक बैठक के बाद लौट रहे थे तो एक कुली ने उनको रोक लिया। उसने अपने सिर से एक टोकरी नीचे उतारी और अपने कपडे के पल्लू को खोलकर उसमे से कुछ आने निकाले और उनके हाथ मे देते हुए उसने कहा, "मेरी यह दिन भर की कमाई देश के लिए समर्पित है।" ऐसा प्रतीत होता है कि अवनीन्द्रनाथ के चित्र देश को समर्पित किया गया उनका अर्घ्य है। अपनी युवावस्था मे उन्होने प्रत्येक विदेशी वस्तु का प्रयोग न करने की जो प्रतिज्ञा की थी, सम्भवत. उसी ने उनके हृदय मे यह प्रेरणा उत्पन्न की कि वह चित्रकला मे भी एक भारतीय भाषा की खोज करे।

श्री ई० बी० हैवल के साथ अवनीन्द्रनाथ के परिचय का ही यह परिणाम था कि उन्होंने इस दिशा मे अनु-सन्धान करने का निश्चय किया और इसके फलस्वरूप उन्होने कृष्णचरित्र-सम्बन्धी कई चित्र तैयार किए जिनमे उन्होंने एक सर्वथा अभिनव शैली को अपनाया। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया उन्होने पुराने मुगल और राजपूत चित्रो तथा देश की लोक-परम्पराओं का भी अध्ययन किया। उन्होने जापानी चित्रशैली का परिचय प्राप्त किया और इस प्रकार अपनी शैली को समृद्ध बनाते रहे। अपने दीर्घ जीवन के अन्त समय तक वह घोर परिश्रम करते रहे और उनके एक जीवन-काल की कलाकृतियां उनके दूसरे जीवन-काल की कलाकृतियो से भिन्न है और उनका अपना अलग-अलग वैशिष्टय है। कई दृष्टि से उनके शिष्य नन्दलाल बोस भावना मे अधिक भारतीय है और निष्पादन मे अधिक शक्ति-शाली। लेकिन हमे यह तथ्य भूल नही जाना चाहिए कि अवनीन्द्रनाथ ने अन्वेषक का कार्य किया और देश की विस्मृत पुरातन कला-परम्पराओ की खोज करके उन्हे नया रूप प्रदान किया।

कलागुरु अवनीन्द्रनाथ की परम्परा

अवनीन्द्रनाथ ने कुछ थोडे से समय के लिए कलकत्ता के 'गवर्नमेण्ट स्कूल ऑफ आर्ट्स' मे वाइस प्रिंसिपल का पद स्वीकार किया और बाद मे उन्होने 'इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट्स' नामक अपनी सस्था की स्थापना की। यहा उनके अनेक प्रतिभाशाली विद्यार्थी एकत्र हुए। नन्दलाल बोस, असितकुमार हाल्दार, शारदाचरण उकील, वेकटप्पा, मुकुल, देवीप्रसाद राय चौधरी, समरेन्द्रनाथ गुप्ता, प्रमोद चट्टोपाध्याय, क्षितीन्द्र मजूमदार तथा उनके बहुत-से अन्य शिष्यो ने पिछले लगभग ३० वर्षों मे देश के कला-आन्दोलनो का नेतृत्व किया है, और वे देश की विभिन्न कला-सस्थाओ के अध्यक्ष रहे है।

सामान्यतया इस विचारधारा से प्रभावित चित्र ऐतिहासिक और पौराणिक साहित्य का, दैनिक जीवन की घटनाओ एवं दृश्यो का चित्रण प्रस्तुत करते है। यह उसी प्रभाव का सचित्र चित्रण है जो बकिमचन्द्र, रमेशदत्त और द्विजेन्द्रलाल के साहित्य मे अभिव्यक्त हुआ है।

इस समय के एक अन्य महत्त्वपूर्ण चित्रकार, जिनने इस समय की चित्रकला मे अद्वितीय योगदान दिया है, गगनेन्द्रनाथ टैगोर है। उन्होने सामाजिक व्यग्य-विद्रूप चित्र, सीधे-सादे प्राकृतिक चित्र और क्युबिस्टिक आर्ट (ज्यामि-तिक चित्राकण-पद्धति) की अवतारणा करके भारतीय चित्रकला को समृद्ध किया है। उनके सामाजिक व्यग्य-विद्रूप चित्र बडे शक्तिशाली है और वे इसी प्रकार के यूरोपीय चित्रो से भिन्न है। उनके ये क्युबिस्टिक चित्र रोमाटिक प्रकार

के हैं। अपने बचपन मे, जोरासांको-स्थित टैगोर लोगो के भवनो के विशाल खम्भो तथा सीढ़ियो पर प्रकाश एव छाया का जो अनोखा खेल उन्होने देखा, उसीसे उन्होने अपने इन चित्रो की प्रेरणा प्राप्त की।

सामान्यत वह अपने रगो के प्रयोग मे बडी सावधानी बरतते थे और मुख्य रूप मे काले रग का प्रयोग करते थे। उन्होने रगो मे कई उल्लेखनीय फेन्टसीज की रचना की है। इस समय के अन्य महत्त्वपूर्ण चित्रकार जैमिनी राय, अमृता शेरगिल और रवीन्द्रनाथ टैगोर है। जैमिनी राय पाश्चात्य शैलियो के प्रयोग मे एक अत्यन्त कुशल चित्रकार है। अपनी परिपक्व अवस्था मे उन पर बगाल की लोक-कला का बडा गहरा प्रभाव पडा और उन्होने अपने चित्रो को नये रूप और रग प्रदान किए। और इस तरह से वह बडे लोकप्रिय हो गए।

पजाब की अमृता शेरगिल के पिता सिक्ख थे, जो फारसी और सस्कृत के विद्वान थे। इनकी माता हगरी की रहने वाली थी और जो बडी कुशल पियानो-वादक थी। अमृता ने पेरिस के कला-स्कूल मे प्रशिक्षण प्राप्त किया। वह गोगा के प्रभाव मे रगों और रूपो के सरलीकरण के सम्बन्ध मे परीक्षण कर रही थी। भारत लौट आने पर जब उन्होने राजपूत, मुगल और अजन्ता की चित्रकला देखी तो वे भारतीय चित्रशैली की अनुयायी हो गई। १९४१ मे ३२ वर्ष की छोटी-सी आयु मे उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन इतने थोडे समय मे भी वह बहुत-सी ऐसी कृतिया छोड गई जो समय गुजरने के साथ-साथ बडी लोकप्रिय हो रही हैं और जिन्होने हमारे कुछ प्रतिभाशाली कलाकारो को भी प्रभावित किया है।

कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी काफी बडी उम्र मे अपने चित्रो की प्रदर्शनी की थी। यह प्रदर्शनी पहले यूरोप मे और फिर भारत मे हुई थी। इस प्रदर्शनी को देख कर कला-समीक्षको ने एक मौलिक और शक्तिशाली कलाकार के रूप मे उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की थी। चित्रकला के सम्बन्ध मे उन्होने कोई शिक्षा तो ग्रहण नही की थी, किन्तु रूप, रग और छन्दो के समन्वय के बारे मे उनकी पैनी सूझ-बूझ ही उनकी सबसे बडी कुशलता थी जिसके आधार पर उन्होने अपने चित्र बनाए। उनके चित्र रगो मे तैयार की गई फेन्टसीज है और भारतीय चित्रो की अपेक्षा आधुनिक यूरोपीय चित्रो के साथ उनकी कला के निष्पादक तत्त्वो की अधिक समानता है।

प्रिंसिपल देवीप्रसाद चौधरी के तत्त्वावधान मे 'मद्रास स्कूल आफ आर्ट्स' और प्रिंसिपल असितकुमार हालदार और वीरेश्वर सेन के पथ-प्रदर्शन मे 'लखनऊ स्कूल आफ आर्ट्स' तथा इसी प्रकार शारदाचरण उकील के नेतृत्व मे दिल्ली, नव भारतीय चित्र-शैली के प्रसार एव प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए।

जबकि भारत के विभिन्न भागो मे नये-नये परिवर्तन हो रहे थे तब भी बम्बई की चित्रकला पर प्रिंसिपल वर्ड्सवर्थ सोलोमन, डब्ल्यू० एस० बागादातापोलास, प्रिंसिपल जेरार्ड और प्रो० लघामार आदि के नेतृत्व मे पश्चिमी विचार और शैली का प्रभाव ही अक्षुण्ण बना रहा। सन १९३१ मे बोला चटर्जी नामक एक कलाकार के नेतृत्व मे कलकत्ता के कुछ कलाकारो ने 'आर्ट रेव्यूलेशन सेन्टर' नामक एक सघ का निर्माण किया। उन्होने अपने चित्रो की एक प्रदर्शनी भी की। इस प्रदर्शनी के कुछ चित्र अत्यन्त सफल सिद्ध हुए क्योंकि उनमे रूपो का सरलीकरण और रगो का गहरा अभिनव निष्पादन किया गया था। परन्तु यह आन्दोलन अधिक देर तक न चल सका।

युद्धोपरान्त प्रवृत्तियां

दूसरे महायुद्ध के समय अमेरिका, यूरोप और आस्ट्रेलिया के अफसर तथा सिपाही भारत आए। इनमे से अधिकाश विश्वविद्यालयो से निकले हुए नवयुवक थे जिनकी चित्रकला के प्रति अभिरुचि थी। इन लोगो ने भारतीय चित्रो की बहुत अधिक माग की। ग्रामीण चित्रकारो की भाति जैमिनी राय भी अपने चित्रो की अनुकृतिया तैयार करते थे और उन्हे सस्ते दामो पर बेचा करते थे। इनके चित्र बहुत अधिक लोकप्रिय हुए और उनकी बहुत अधिक माग बढ गई। कलकत्ता मे कुछ नवयुवको ने मिलकर एक कलकत्ता ग्रुप स्थापित किया। इन चित्रकारो मे गोपाल घोष अपने ब्रुश के शक्तिशाली कार्य और चीनियो जैसी कला-निष्पादन के लिए, अवनिसेन पशुओ के आश्चर्यजनक चित्रो के लिए, जो अत्यन्त सादे और सुन्दर होते थे, प्रदोष दास गुप्त अपनी प्रभावशाली मूर्तिकला के लिए और नीरद मजूमदार अपने रगों के लिए अत्यन्त लोकप्रिय हुए।

दिल्ली में शैलोज मुकर्जी ने कागडा-चित्रों के रूप-विधान और रचना-विधान का पेरिस के चित्रकार मातीस के रग और कला-दाक्षिण्य के साथ समन्वय करने के सफल परीक्षण किए।

श्री पण्णिकर, श्रीनिवासुलु, नरसिह मूर्ति तथा अन्य नवयुवक चित्रकारो ने मिलकर मद्रास मे एक प्रगतिशील चित्रकार मघ की स्थापना की। अपने रूप-विधान की सादगी, रगो की प्रभावोत्पादकता और अपने चित्रो के शक्तिशाली लोकतत्त्वो के कारण ये लोग भी बडे प्रसिद्ध हुए। हुसेन, रजा, गाडे, डि सौजा तथा अन्य लोगो ने मिलकर बम्बई मे एक प्रगतिशील मघ की स्थापना की। ये लोग भी अपने रूप-विधानो की सादगी, गहरे तथा अभिनव रगो के प्रयोग तथा अपनी साहसिक कल्पना के लिए काफी सफल हुए। इनके अतिरिक्त देहरादून के सुधीर खास्तगीर और इन्दौर के परितोष सेन, जो बाद मे कलकत्ता ग्रुप मे शामिल हो गए, तथा बम्बई मे कृष्णा हैबर, सियावौक्स चावडा, वेन्द्रे और आरा आदि चित्रकार भी अपनी कला के लिए प्रसिद्ध हो गए।

यद्यपि कलकत्ता ग्रुप और मद्रास के प्रगतिशील कालाकारो की मुख्य प्रेरणा का स्रोत उनका अपना देश ही था, परन्तु बम्बई के प्रगतिशील कलाकार यूरोप के आधुनिक कला-आन्दोलन के साथ ही बधे हुए थे।

दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ। १५ अगस्त, १९४७ को भारत ने विदेशी दासता से मुक्ति पाई। स्वाधीनता के साथ एक नया मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हुआ। अब तक हम विदेशियो को नापसन्द करते थे और जहा तक हो सकता था वहा तक विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार करते थे तथा जो लोग विदेशी वस्तुओ का प्रयोग करते थे, वे भी कम-से-कम खुले-आम अपनी पसन्द जाहिर नही करते थे। किन्तु अब बराबरी की भावना का उदय हुआ है, बल्कि एक उदासीनता की प्रवृत्ति पैदा हो गई। हम मे एक विशेष प्रकार की विशालहृदयता का जन्म हुआ और बहुत-से लोगो ने तो खुले आम यह कहा कि राष्ट्रीय अभिव्यक्ति के रूप मे सोचना तो एक मानसिक सकीर्णता है। हमे अपना दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय बनाना चाहिए। हमने एकदम पुरानी राष्ट्रीय भावना का परित्याग कर दिया और अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे, वेषभूषा मे, खान-पान मे और रहन-सहन मे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपना लिया। अब हमे विदेशी वस्तुए खरीदने मे कोई सकोच नही रहा। और तो और, परिस्थितियो ने हमे विदेशी गेहू और चावल तक पर निर्भर रहने के लिए विवश किया। कला के क्षेत्र मे भी राष्ट्रीयता का उपहास किया जाने लगा। और अब तो कलाकारो और कला-आलोचको का यह आग्रह है कि भारतीय चित्रकला को आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियो के अनुकूल ही विकसित होना चाहिए। सतीश गुजराल ने भारत मे मैक्सिको के कला-माध्यम का सूत्रपात किया। अमीना अहमद, ज्योतिष भट्टाचार्य और वीरेन्द्र डे आदि कलाकार अमूर्त एव नोन रिप्रजेन्टेशनल—वस्तु-निरपेक्ष रूप-विधानो के सम्बन्ध मे परीक्षण कर रहे है। इसी प्रकार कुलकर्णी, कौशिक, रामकुमार, रजाक, लक्ष्मण पाई गाईतोडे और अन्य बहुत-से चित्रकार अमरीकी, जर्मन और फ्रेंच माध्यमो का प्रयोग कर रहे है। इसका मुख्य कारण यह है कि अब कलाकारो को अधिक सुगमता से और अधिक बार विदेशो मे भ्रमण करने की सुविधा प्राप्त है और अब वे विदेशी कला-कक्षो को जब चाहे तब देख सकते है और इसीलिए उनकी कला पर आधुनिक यूरोपीय कला का अधिक गहरा और सीधा प्रभाव पड रहा है।

यह सब होते हुए भी हमे यह बात नही भूल जानी चाहिए कि हमारे कलाकारो को बडी भारी समस्याओ का सामना करना पड रहा है। हमारे लोगो मे न तो कला के प्रति कोई अभिरुचि है, न कलाकृतियो की कोई माग है और न ही कलाकारो की कोई सराहना या सम्मान है। सामान्यत जनसाधारण के प्रोत्साहन एव सराहना से ही किसी काल की कला पनपती है। अब तो स्थिति यह है कि भारतीय रियासतो के विलुप्त हो जाने के बाद केवल विदेशी ग्राहक ही हमारे कलाकारो की कलाकृतिया खरीदते है। परन्तु विदेशी ग्राहकों के आधार पर ही किसी भी कला का भविष्य गौरवान्वित नही हो सकता।

सरकार ने भारत मे कला के विकास के लिए 'ललित कला अकादमी' की स्थापना की है। सरकार ने समस्त नये सरकारी भवनो को कलाकारो द्वारा चित्रित कराने के लिए भी काफी धनराशि की व्यवस्था की है। निस्सन्देह इससे कलाकारों को काफी सहायता मिलेगी, लेकिन जब तक जनता मे कला के प्रति अभिरुचि उत्पन्न नही होती तब तक इस देश मे न नो कला उन्नत हो सकती है और न कलाकारो की स्थिति सुधर सकती है।

ऋषि विश्वमित्र एवं
अप्सरा मेनका

'राजरवि वर्मा'
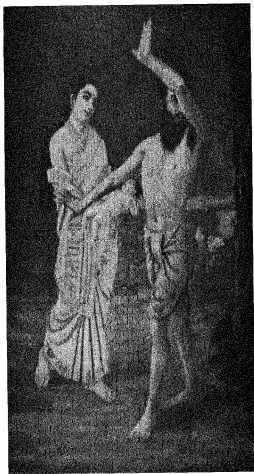
राधा का विरह

'नंदलाल बोस'

भारतमाता

अवनीन्द्रकुमार ठाकुर
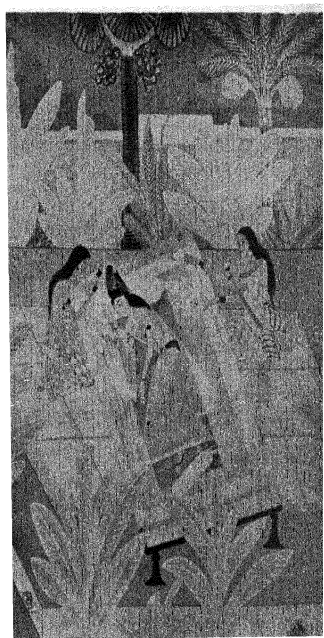
सम्राट हुमायूं कमरान
मिरजा के साथ

'राजपूत एवं मुगल चित्रकारी'
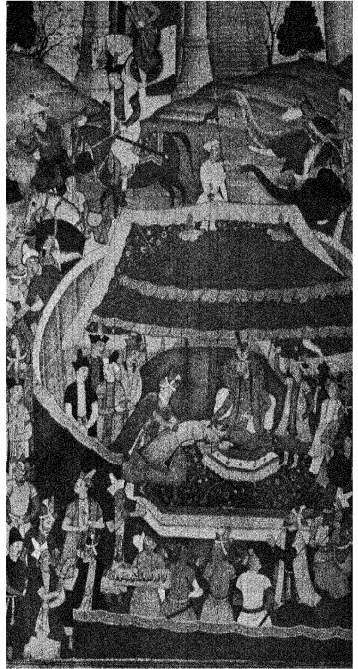
दरबारियों सहित
महाराजा साहब

'राजपूत एवं मुगल चित्रकारी'

भारतीय नाट्य-परम्परा की खोज

डा० सुरेश अवस्थी

नाटक, साहित्य के अन्य सभी रूपो की अपेक्षा किसी भी जाति के सामाजिक और सास्कृतिक जीवन का अधिक सच्चा और पूर्ण चित्र उद्घाटित करता है। नाटक एक ऐसी सामासिक कला है जिसमे जाति की अनेक साहित्यिक और दृश्य-कलाओ, जीवन-पद्धतियो, प्रथाओ, विश्वासो, आदर्शों और सघर्षों का समन्वित रूप व्यक्त होता है। यही कारण है कि किसी भी देश और किसी भी युग का समृद्ध नाटक-साहित्य सस्कृति की बहुत बडी थाती होता है। जहां नाटक-साहित्य एक ओर राष्ट्र की साहित्यिक सम्पदा का अग होता है, वही वह सास्कृतिक दाय का एक ऐसा अपूर्व सग्रहालय होता है जो शताब्दियो तक आगामी पीढियो को अपने समकालीन सामाजिक और सास्कृतिक जीवन का साक्षात्कार कराता रहता है।

नाटक के इस रूप और उसके इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य की दृष्टि से यदि हम पिछली एक शताब्दी में विकसित होने वाले नई शैली के नाटक-साहित्य को समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओ मे देखें तो हमको एक बहुत बड़े विरोधाभास का अनुभव होता है। वह विरोधाभास यह है कि भारतीय भाषाओ का पिछली एक शताब्दी का नाटक-साहित्य राष्ट्र के सास्कृतिक जीवन का सच्चा चित्र प्रस्तुत नही करता। यही नही, वह साहित्यिक तत्त्व और रूप-शिल्प की दृष्टि से भी दुर्बल है, क्योकि उसने अपनी परम्परा के सूत्रो को छोडकर विदेशी कला-तत्त्वो और परम्पराओ को पूरी तरह अपना लिया।

नवी-दसवी शताब्दी मे संस्कृत नाट्य-परम्परा के क्षीण हो जाने पर कई शताब्दियो तक हमारे देश मे नाटक की कोई स्वस्थ और सबल परम्परा न रह सकी। कई शताब्दियो के लम्बे व्यवधान के बाद उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे पश्चिमी नाटक-साहित्य के प्रभाव से जब सभी भारतीय भाषाओ मे नई कोटि के नाटक-साहित्य का जन्म हुआ तो हम न केवल अपनी सस्कृत परम्परा से विमुख हो गए, बल्कि टूटी-फूटी और विरल मध्ययुगीन नाट्य-परम्परा से भी अपने को विच्छिन्न कर लिया।

इसमे सन्देह नही है कि जब दो विभिन्न जातियो और सस्कृतियो का नाटक-साहित्य एक-दूसरे के सम्पर्क में आता है तो उनमें नाट्य-कला के तत्त्वो, व्यवहारो और रूढियो का पारस्परिक विनिमय एक सहज ऐतिहासिक प्रक्रिया है। हमारी भारतीय भाषाओं मे जिस समय नाट्य-रूप विघटित हो चुका था उसी समय पश्चिम के समृद्ध नाटक-साहित्य के सम्पर्क मे आकर हमने स्वभावत· उसके अधिकाश तत्त्वो, कला-नियमो और व्यवहारो को ज्यो का त्यों अपना लिया। इसके पश्चात बराबर पूरी एक शताब्दी से भारतीय भाषाएं पश्चिमी देशो से नाटको और नाटकीय तत्त्वों का आयात कर रही है। इसमे सन्देह नही कि इस एक शताब्दी की अवधि मे सभी भारतीय भाषाओ मे कुछ ऐसे छोटे-छोटे काल-खण्ड आए हैं, और ऐसे नाटककारों का जन्म हुआ है जिन्होने अपने को पश्चिमी परम्परा की इस अधीनता से मुक्त करके अधिक मौलिक और परम्परानुरागी श्रेष्ठ नाटक-साहित्य की रचना की।

प्राय: देशो के साहित्य के इतिहास मे ऐसा होता है कि कभी-कभी एक देश दूसरे देश से केवल इसीलिए नाटकों का आयात करता रहता है कि दूसरा देश राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अधिक सामर्थ्यवान अथवा सत्ता-

धारी है। इस शताब्दी के आरम्भ मे अनेक यूरोपीय देश फ्रास से ही नाटको का आयात करते थे, और फ्रासीसी नाटकों के ही किसी न किसी प्रकार के रूपान्तर उनके अपने देशों की रंगशालाओं मे सफल होते थे। हमने भी १९वीं शताब्दी के मध्य मे शेक्सपियर और ऐलिजाबेथकालीन दूसरे नाटककारो के नाटको के ही अनेक प्रकार के रूपान्तरों से अपनी रग-शालाओ को आबाद किया। और तब से आज तक नाटको का ऐसा ही रूपान्तर और आयात बराबर किया जा रहा है। किन्तु ऐसी स्थिति मे प्राय· राष्ट्र के अपने मौलिक नाटक-साहित्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अत. विदेशों मे नाटको का आयात रोककर देश के मौलिक नाटक-साहित्य का विकास आज की भारतीय कलात्मक जीवन की एक बहुत बडी सास्कृतिक समस्या बन गया है। यहा पर इस समस्या के स्वरूप, उसके कारणो और उसके समाधान से सम्बन्धित ऐतिहासिक और कलात्मक पक्षो पर विचार किया गया है।

भारतीय नाटकों में गत्यवरोध

भारतीय भाषाओ के वार्षिक साहित्य-सर्वेक्षणो तथा दूसरे साधनो से ज्ञात होता है कि समसामयिक भारतीय नाट्य-लेखन साहित्य के दूसरे सभी रूपों की अपेक्षा, सबसे अधिक शिथिल, गतिहीन और अल्प उत्पादन वाला है। यद्यपि पिछले १०–१२ वर्षों मे नाटकीय क्रियाकलाप का नवोन्मेष हुआ है, और भारतीय रगमच पहले से अधिक साधनवान और समृद्ध हो गया है, किन्तु इस रगमचीय आन्दोलन ने श्रेष्ठ कोटि के नाटक के उदय का अभी तक कोई आश्वासन नही दिया। इस विरोधपूर्ण और विषम स्थिति से हमारे मन मे कई प्रकार के प्रश्न उठते है। हमारी भाषाओं का नाटक-साहित्य परिमाण और गुण दोनो दृष्टियो मे आगे क्यों नही बढा ? वह हमारे आधुनिक जीवन की विभिन्न शैलियो, समस्याओ, आदर्शों और सघर्षों की नाटकोचित व्यजनाए क्यों नही कर पा रहा ? हम आज भी अपनी रग-शालाओ को समुचित नाट्य-सामग्री पहुचाने के लिए विदेशी नाटको के अनुवाद और रूपान्तर पर ही क्यो निर्भर कर रहे है ? क्या यह स्थिति नितात अनिवार्य और अटल है ? और क्या भारतीय नाटक कभी भी स्वतन्त्र होकर विकसित न हो सकेगा ? और क्या हमारी रगशालाए विदेशी नाटको का ही प्रदर्शन करती रहेगी ? इस स्थिति के कोई बडे ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक कारण है ? अथवा यह केवल हमारे नाटककारो की असमर्थता है कि वे नई शैली की आधुनिक रगशालाओ के उपयुक्त नाटको का निर्माण नही कर पा रहे ? आज इसी प्रकार के अनेक प्रश्न सभी नाट्य-विचारको, समीक्षको और नाट्य-गोष्ठियो मे बार-बार उठाए जा रहे है, किन्तु हम अभी तक किसी सन्तोषजनक उत्तर पर नही पहुच पाए।

इस स्थिति के सन्दर्भ मे जब हम भारतीय भाषाओ के पिछली अर्ध-शताब्दी के नाटक-साहित्य के इतिहास का अवलोकन करते है तो हमको ज्ञात होता है कि आधुनिक शैली के जिस नाटक ने हमारी भाषाओ मे इस शताब्दी के आरम्भिक दशकों मे जन्म लेने का विश्वास दिलाया था, वह भी जैसे समय के साथ-साथ आगे नही बढ सका। और आज नाट्य- लेखन में एक ऐसी गतिरोध की स्थिति पैदा हो गई है कि जब रगमच और उसकी आनुषगिक कलाएं तो विकसित होकर आगे बढ रही है, तब हमारा नाटक प्रगति नही कर रहा और वह पिछडा हुआ है।

नाट्य-लेखन के इस गतिरोध और कुण्ठा के कारणो पर विचार करते ही सबसे पहली बात जो हमारे सामने आती है वह यह है कि पश्चिमी नाटक-साहित्य के प्रभाव से जब हमारी भाषाओ मे आधुनिक शैली के नई कोटि के नाटक का जन्म हुआ तो हम अपनी सस्कृत नाट्य-परम्परा तथा मध्यकालीन और लोकशैली की नाट्य-परम्पराओ और रूढ़ियों से विलग हो गए। वास्तव मे, नाटक एक ऐसा साहित्यरूप है कि उसके व्यवहारो और रूढियों मे जब कभी दूसरे साधनों से आने वाले दूसरी प्रकार के व्यवहारो और रूढियो का समावेश होता है तो कलात्मक अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। और जब तक इन अन्तर्विरोधो को दूर कर दो भिन्न प्रकार की कला-रूढ़ियों मे सामजस्य नहीं स्थापित हो जाता तब तक नाट्य-रूप कभी भी विकसित नही हो सकता। इसमें सन्देह नही कि नाटक ऐसी सार्वभौम कला है कि वह अनेक जातियो की नाट्य-परम्पराओ से कला के तत्त्व और व्यवहार ग्रहण करता रहता है। विश्व के नाटक-साहित्य के इति-

हास में सभी युगो मे इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय कलात्मक आदान-प्रदान होता रहा है। किन्तु, साथ ही वह परम्परा-वादी, पुरानुगामी और सस्कृति-परक होता है और अपने इन गुणो और प्रवृत्तियों के कारण ही वह किसी जाति की संस्कृति की अभिव्यजना का सर्वश्रेष्ठ और उच्चतम माध्यम होता है। इन्ही दो विरोधी प्रकृतियो और तथ्यो के कारण प्राय: देशों के नाटक-साहित्य के इतिहास मे ऐसे ही सकट और गतिरोध आ जाते है जैसा आज हम अपने देश मे देख रहे हैं।

पश्चिमी नाट्य-परम्परा और भारतीय नाट्य-परम्परा की अपनी-अपनी मूल प्रकृति क्या है, और इन दोनो के मिलन ने किस प्रकार के अन्तर्विरोध को जन्म दिया, इसे जान लेना अपेक्षित होगा। एक ओर तो पश्चिम का अनुकृतिमूलक और यथार्थवादी नाटक-साहित्य है जो रगमच के अनेक कला-साधनो और उपस्कर पर निर्भर करता है, और दूसरी ओर, भारत का रसपरक, काव्यमय और प्रतीकवादी नाटक है जिसमे कल्पनातत्त्व का प्राधान्य है, और जो अपने रगमचीय प्रदर्शन के लिए भौतिक साधनो की अपेक्षा समाज की रसज्ञता, कल्पना और सवेदनशीलता पर अधिक निर्भर करता है। वह संवादों की काव्य-माधुरी से दर्शकों की अभिनयात्मिका वृत्ति को जगाता है, और रगमच पर सत्याभास के नितान्त सरल विधान द्वारा नाटक के उपस्थापन का सफल उपचार करता है। इसके विपरीत पश्चिमी नाटक संवाद से अधिक दृश्य-कलाओ पर जोर देता है, और नितान्त स्वाभाविकवादी दृष्टि से जीवन के चित्र-खण्ड रगमच पर प्रस्तुत करता है। दो देशो के नाटक-साहित्य की इन भिन्न-भिन्न प्रकृतियो ने ही आज के इस गतिरोध को जन्म दिया है।

हमारी भारतीय भाषाओ ने पहले चरण मे नाटक को जो रूप दिया उसमे उन्होंने एक ओर तो लोक-नाटको मे भारतीय परम्परा के अवशेष और विघटित तत्त्वो को लिया, और दूसरी ओर, पश्चिमी नाटक के रचना-व्यवहार, रूढिया, शैली-नियम सभी कुछ अपना लिये। किन्तु, हमारे नाटककार पश्चिमी देशो मे ग्रहण किये गए इन कला-तत्त्वो को पूरी तरह आत्मसात नही कर सके, और अपनी परम्परा के साथ उनका ऐसा समन्वित रूप नही खोज सके कि दो वर्गों की और दो जातियो की नाट्य-रूढियो और परम्पराओ के सम्मिलन से एक तीसरे वर्ग की रूढियो और एक नई परम्परा का सूत्रपात होता। ऐसा लगता है कि अभी इस अन्तर्विरोध से जूझने मे हमको कई दशक लग जाएगे, और इसी सघर्ष की प्रक्रिया मे हम अपनी परम्परा के सच्चे सूत्र और समन्वय के मार्ग को खोज सकेगे। हमारी भाषाओ का नाटक देश की सास्कृतिक और कला-भूमि मे धीरे-धीरे जडे पकडेगा, और तब शायद, कोई आधी शताब्दी बाद, श्रेष्ठ कोटि के नाटक का जन्म हमारी भाषाओं में सम्भव हो सकेगा।

भारतीय नाट्य-शैली पर आघात

नाट्य-लेखन के नियमो, व्यवहारो और अनेक शैलीगत तत्त्वो के आयात के कारण उत्पन्न होने वाले इस अन्तर्विरोध के साथ-ही-साथ रगमच के रूप, आकार और उसके सज्जा-विधान से भी कई प्रकार के अन्तर्विरोधो का जन्म हुआ जिनके आघात से भारतीय नाटक अभी तक उबर नही पाया और उसका रूप स्थिर नही हो सका। सस्कृत की रगमच-परम्परा नष्ट हो जाने के बाद जो मध्ययुगीन रगमच भारतीय भाषाओ को मिला वह नितान्त सादा, खुला रंगमच था जिसमे प्राय तो सम धरातल पर ही अभिनेता अपना प्रदर्शन करते थे। कुछ विशेष प्रकार के नाटकों, जैसे लीलानाटको मे, मचो और सिहासनो पर नाटकीय दृश्य झाकी के रूप मे सजाए जाते थे, और ये नाटक-दृश्य जलूस के समान एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाए जाते थे। आज भी हमारी लोकपरम्परा मे नाट्य-प्रदर्शनो का ऐसा ही रूप प्रचलित है। प्रदर्शन की इस शैली में अभिनेताओ और श्रोताओं मे किसी प्रकार का विलगाव नही रहता, वे नाटकीय क्रियाकलाप के सहकर्त्ता और सहभोक्ता होते है। नाटकीय दृश्यो को जोड़ने, पात्रों और व्यापारो का परिचय देने, और नाटयेतर प्रसगो और सूचनाओ को दर्शकों तक पहुचाने के लिए हमारे इन नाट्यप्रदर्शनों मे सूत्रधार और कथावाचक का विधान रहता था। हमने १६वी शताब्दी के मध्य मे यूरोप से जो नया रगमच लिया उसके त्रि-आयामिक स्वरूप ने, जिसके रगद्वार में चौखटे अथवा तस्वीरी फ्रेम का विधान था, हमारे इस प्रचलित रगमच का सारा कलात्मक स्वरूप ही

नष्ट कर दिया। नाटक एक ओर साहित्य का अग है, और दूसरी ओर वह दृश्यकलाओ के अन्तर्गत आता है। और इसी कारण, रगमंच के रूप, आकार और उसके सज्जा-विधान से ही नाट्य-लेखन के अनेक महत्त्वपूर्ण व्यवहारो और रूढ़ियों का जन्म होता है। इसमे सन्देह नही है कि रगमच का यह रूप ही अब हमारे देश का एक प्रधान और स्थिर रूप हो गया है और हमको इसी के अनुरूप नाटक रचने होगे। किन्तु, अब भी इस बात मे बडी सार्थकता है और इसकी अमित सम्भावनाए है कि हम रगमच के अपने परम्परागत रूप और उसके व्यवहारो की फिर से खोज करे, और उनके अनुरूप नाटक का निर्माण करे। रगमच की अपनी मौलिक रूढियो से अनुशासित होकर नाटक का जो नया रूप हमारी भारतीय भाषाओ मे विकसित होगा वह अधिक कलापूर्ण और सशक्त होगा।

यदि हम भारतीय नाट्य-परम्परा के सूत्रो की खोज और उसके पुनर्मूल्याकन का यह कार्य सांस्कृतिक जागरूकता के साथ करे तो हमको वर्तमान स्थिति के अन्तर्विरोधों का समाधान सहज ही मिल सकेगा, और यह गतिरोध टूट कर उस श्रेष्ठ नाटक-साहित्य का जन्म होगा जो चाहे पश्चिमी नाटक के समान सुबद्ध न हो और वह जीवन के व्यापारो का अनुकरण न प्रस्तुत करे, किन्तु जिसमे काव्य, सगीत, नृत्य और विविध दृश्य-कलाओ के वे सभी तत्त्व विद्यमान होगे जो नाटक को वास्तव में एक सामाजिक कला की सज्ञा देते है। भरत ने नाटक के इसी विशाल और व्यापक रूप की कल्पना करते हुए नाट्य कला के ग्यारह अग बताए थे : रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रग। अपनी परम्परा से सबद्ध होकर भविष्य का भारतीय नाटक इन्ही अनेक कला-तत्त्वो और गुणो से विभूषित होगा, और वह राष्ट्र की सस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व और उसकी सच्ची अभिव्यजना कर सकेगा।

स्वतन्त्रता आन्दोलन और हमारी संस्कृति पर उसका प्रभाव

श्री मन्मथनाथ गुप्त

यदि स्वतन्त्रता-ग्रान्दोलन का हमारी संस्कृति पर प्रभाव पडा तो यह कोई ग्राश्चर्य की बात नही है। अंग्रेजो से पहले जो विदेशी भारत मे ग्राए ग्रौर ग्रपना शासन कायम किया उनका भी हमारी मस्कृति पर बडा जबर्दस्त प्रभाव पडा; पर यह स्मरण रहे कि सस्कृति-सम्बन्धी यह ग्रादान-प्रदान कोई एकतरफा प्रतिक्रिया नही है, यानी केवल लिया ही हो ऐसी बात नही, उस लेने की प्रक्रिया का एक हद तक जबर्दस्त प्रतिरोध किया जाता रहा। इस प्रकार विदेशी प्रभाव के कारण एक तरफ जहा नये जीवन-क्रमों तथा विचारो के साथ सम्पर्क हुग्रा ग्रौर उनसे ग्रहण की धारा जारी हो गई, वही हर कदम पर उनकी हर शै के प्रतिरोध का भी सिलसिला चल पडा।

जो बाहरी प्रतिरोध होता है, वह तो होता ही है, पर एक ग्रान्तरिक प्रतिरोध भी होता है। सच तो यह है कि ग्रान्तरिक प्रतिरोध ही ग्रसली प्रतिरोध है, उसी के फलस्वरूप मस्कृति का भावी रूप निश्चित होता है।

ग्रहण तथा प्रतिरोध

पहले हम ऐतिहासिक दृष्टान्त के रूप मे अंग्रेजो के पहले ग्रहण तथा प्रतिरोध की जो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया जारी रही, उसके सम्बन्ध मे कुछ तथ्य सामने रख दे। बाहरी ग्राक्रमणो के विरुद्ध भारतीयो की ग्रोर से जो प्रतिरोध हुए, यहा तक कि राणा सागा की ग्रोर से जिस सम्मिलित प्रतिरोध की चेष्टा हुई, इसमे हम कोई देशभक्ति नही पाते। हा, इसमे साधारण शत्रु के विरुद्ध सम्मिलित प्रतिरोध की बात ग्रवश्य थी। एक साधारण सरदार दूसरे ग्राक्रमण-कारी सरदार के विरुद्ध जिन कारणो से लडता है, इन लडाइयो पर उनमे उदात्ततर किसी कारण का ग्रारोप करना कठिन है। ये लडाइया हिन्दुग्रो के विरुद्ध मुसलमानों की लडाई नही कहला सकती, क्योकि ग्राम हिन्दू जनता को इन लड़ाइयों मे कोई दिलचस्पी नही थी। राणा प्रतापसिह तथा इस प्रकार के तमाम लोगो मे स्थानीय भक्ति को छोड कोई ग्रखिल भारतीय देशभक्ति या दृष्टिकोण था, ऐसा समझना मुश्किल है। शिवाजी के विचार इन सबमे व्यापक तथा विस्तृत थे, किन्तु शायद उनके विचार उन्ही तक सीमित थे, क्योकि उनकी तरफ मे जो फौज लडती थी, कुछ लोगो के ग्रनुसार ग्रधिकाश रूप मे वह मुगलो की फौज की तरह 'भाडे के टट्टू' मात्र थी। बाद को नाटककार तथा उपन्यासकारो ने राजपूतो तथा मराठो मे देशभक्ति का सबसे विकसित रूप दिखलाया है, पर यह उनकी कल्पनामात्र है। उस युग मे केवल भारतवर्ष मे ही नही, कही भी जिसे ग्राज लोग देशभक्ति समझते है, वह भावना नही थी। जातीयता तथा देशभक्ति की भावना पूजीवादी युग की भावना है। उस युग के पहले उसका उस रूप मे कही भी ग्रस्तित्व नही था।

बाबर ग्रादि विजेता ग्रपने पहले ग्राने वाले ग्रार्यों की तरह लुटेरो की भाति ही ग्राए थे। जैसे हिन्दू नाटककार तथा उपन्यासकार यह दिखलाते हैं कि बाहर से ग्राये हुए मुसलमानो के साथ लडने वाले देशभक्ति की भावना मे परि-चालित थे, उसीप्रकार कट्टर मुसलमान लेखक ऐसा दिखलाते है मानो मुसलमान ग्राक्रमणकारी यहा पर धर्मप्रचार करने ग्राए थे, पर यह बात बिल्कुल गलत है। ये विजेता केवल विजय की दृष्टि से ग्राए थे। भारतवर्ष के मध्ययुग का इतिहास मुसलमान राजाग्रो के ग्रापसी युद्ध का इतिहास है। यदि धर्मप्रचार उद्देश्य था तो बाबर के ग्राने की क्या जरूरत थी ?

लोदी-वंश तो राज कर ही रहा था। इसी प्रकार सैकडो उदाहरण दिए जा सकते हैं।

सच तो यह है कि कथित सभी मुसलमान आक्रमणकारी अलग-अलग जाति तथा कबीले के थे और उन्होने भारतवर्ष पर अपने विशेष कबीले या जाति का आधिपत्य स्थापित करना चाहा था। इन हमलों को धार्मिक दृष्टि से समझने की कोशिश न कर आबादी के गति के नियमो से समझने की चेष्टा अधिक वैज्ञानिक होगी।

ये विजेता धर्म का वही तक उपयोग करते थे जहां तक कि धर्म उनके राज्य-शासन में सहायक होता था। अवश्य इसके कुछ अपवाद भी है। कई बार कोई कट्टर राजा धर्म मे इतना मतवाला हो गया कि उसने बुद्धि से काम नही लिया, पर ऐसे उदाहरण बहुत कम है।

जसे मुसलमानो के आने के पहले आक्रमणकारियो को भारतवर्ष मे हजम कर लिया गया, उसी प्रकार मुसलमानों को भी हजम करने की चेष्टा दूसरे रूप मे हुई। मुसलमानों को बिल्कुल हिन्दू बना लेने के बजाय कबीर, नानक आदि तत्त्वदर्शियो ने यह कहा कि हिन्दू, तुर्क दोनो एक हैं। इन लोगो ने यह चेष्टा की कि दोनो अपना-अपना धर्म छोड दे और तीसरा कुछ हो जाए। इम लोगो ने दोनों को एक हद तक गलत बताया। ये लोग सफल न हो सके, पर इन्होने दोनो की साधारण बातो पर जोर देकर दोनों के सम्बन्ध को सरलतर कर दिया, इसमें सन्देह नही। कबीर या नानक किस हद तक सफल रहे, हमे इस बात को कबीरपंथियों तथा नानकपथियों की संख्या से नही कूतना चाहिए। इनकी सख्या बहुत थोड़ी हुई, पर इनका प्रभाव इससे कहीं अधिक रहा। कबीर या नानक ने जिस कार्य को किया, उसके विराट असर को शायद कभी ठीक-ठीक कूता नही जा सके, पर उन्होने एक बहुत प्रगतिशील चेष्टा की, इसमें मदेह नही। बाहर से जो मुसलमान आए थे, वे यहा पर बस चुके थे, ऐसी हालत मे विदेशी करार देकर उनके विरुद्ध एक चिरन्तन जेहाद जारी रखना कोई बुद्धिमानी की बात नही होती।

दोनों धर्मों के इस समन्वयवाद मे जो प्रगतिशील पहलू था, उसका हम दिग्दर्शन करा चुके; पर इस प्रकार के समन्वयवाद मे एक काला पहलू भी था। यह एक तरह से आध्यात्मिक क्षेत्र मे आक्रमणकारी विदेशियो के सामने पराजय स्वीकार कर लेना तथा समन्वयवाद के द्वारा लोगो को विदेशी शासन से बेखबर कर देना था। इसकी सफाई मे यह कहा जा सकता है कि यहा के लोगो मे इतनी ताकत कहा थी कि वे विदेशियों का विरोध करते? इसलिए यह समन्वयवाद ठीक ही था।

समन्वयवाद का प्रभाव

पठान-मुगल-काल के सारे साहित्य को पढ जाइए, उसमें एक तरफ तो शृगार रस है जो सबसे भद्दा पलायनवाद है और दूसरी ओर आध्यात्मिको का समन्वयवाद है। यह विचारधारा एक पराधीन जाति के उपयुक्त थी। कबीर आदि दार्शनिकों ने लोगो से बार-बार कहा कि 'रूखा-सूखा खाकर ठण्डा पानी पी।' यह कहा गया कि उस दुनिया की फिक्र करो। क्यो न ठण्डा पानी पीकर सन्तुष्ट रहते, दूध तो सब राजा तथा उनके टुकडखोरो के लिए रिजर्व था। इहलोक जा चुका था, स्वाभाविक रूप से दूसरी दुनिया की फिक्र न करते तो क्या करते।

यह समन्वयवाद तथा उसके आनुषगिक मतवाद शासक वर्ग के बडे मतलब की चीज थे। अकबर ने इस विचार को हद तक पहुचाना चाहा। इस समन्वय के जोश मे 'अल्लोपनिषद' तथा 'दीन इलाही' की सृष्टि की गई, पर कुछ अमीरो तथा चापलूसो के अलावा किसी ने इस नवीन धर्म को गम्भीर रूप से स्वीकार न किया। पर फिर भी समन्वयवाद का मध्ययुग मे बराबर बोलबाला रहा।

औरंगजेब ने आकर कट्टरपन के पहिए को फिर से घुमाना चाहा। औरगजेब की गलती यह थी कि वह समझता था कि सब हिन्दू मुसलमान बन सकते है, पर उसकी यह धारणा गलत साबित हुई। औरंगजेब ने अकबर के द्वारा चलाई हुई धारा को उलटने की कोशिश कर बुद्धिमत्ता का परिचय नही दिया। फिर सिखों तथा मराठों ने भी कट्टरपन का जवाब कट्टरपन से दिया। नतीजा यह हुआ कि जो भूत किसी न किसी प्रकार सुला दिए गये थे, वे फिर से जग उठे। दिल्ली की केन्द्रीय सरकार की सार्वभौम सत्ता शिथिल तथा दुर्बल हो गई। दिल्ली के बादशाह भारत-सम्राट

न रहकर बहुत कुछ हद तक केवल दिल्ली और उसके इर्द-गिर्द तक के राजा रह गए। सिख खालसा राज्यनिर्माण मे लग गए। मराठे अलग खिचडी पका रहे थे, और उनमे भी कई चूल्हे हो गए। राजपूताना तो हमेशा से ही छोटे-छोटे राज्यो मे बटा हुआ था। न तो सब मुसलमान राजा ही एक थे, न सब हिन्दू राजा ही एक थे, न सब पठान ही एक थे और न सब मराठे ही एक थे। दलबन्दिया किसी उसूल, सम्प्रदाय या धर्म पर निर्भर न रहकर सम्पूर्ण रूप से सुविधा देखकर की जाती थी। यदि हिन्दू सचमुच कथित मुस्लिम शासन से परेशान थे तो उनके लिए यह सुवर्ण सुयोग था, किन्तु सच बात तो यह है कि आम जनता, चाहे वह मुसलमान हो या हिन्दू हो, की यह राय थी :

कोऊ नृप होय हमें का हानी।
चेरी छांड़ि न होउब रानी॥

स्मरण रहे कि ये पक्तिया कथित मुसलमान काल के ही एक कवि की लिखी हुई है। यह चौपाई सच्चे मानो मे भारतीय जनता की दयनीय दशा का चित्रण करती है। विशेषकर जिस जमाने का हम चित्र खीच रहे है उस जमाने की जनता के लिए यह चौपाई बिल्कुल घटती है।

कहना न होगा कि यह समय बाहर से आक्रमण करने वालो के लिए बडा सुन्दर था। भारत की जनता जो अब तक शासन के प्रति सम्पूर्ण रूप से उदासीन थी, वह अब अपनी उदासीनता की सजा पाने वाली थी, क्योंकि अब जो लोग शासनरूढ होने वाले थे वे उन्हे ग्राम्य आर्थिक पद्धति मे रहने देने वाले नही थे, वे उनको जबरदस्ती घसीटकर पूजीवादी पद्धति के अन्दर ले आने वाले थे, और पटक कर छाती का खून पीने वाले थे। ग्राम्य आत्म-यथेष्ट आर्थिक पद्धति का टूटना एक महान क्रान्ति थी, यह उन्नति थी, पर अग्रेज भारतीयो को अपना शोषित बनाने वाले थे, वे अब तक के आक्रमणकारियो की तरह इस देश मे बसने वाले नही थे। वे यहा के लोगो को लूट-लूटकर अपने देश मे ले जाने वाले थे। वे पहले से कही अधिक अच्छी तरह जनता का शोषण करने वाले थे।

ब्रिटिश शासनकाल मे स्वतन्त्रता-आन्दोलन कब शुरू हुआ, यदि यह देखा जाए तो बहुत-सी बाते सामने आती है। यो १८५७ की क्रान्ति को स्वतन्त्रता-आन्दोलन का प्रथम बिन्दु मानने का रिवाज है, पर सच्ची बात तो यह है कि स्वतन्त्रता-आन्दोलन किसी न किसी रूप मे लगभग उसी समय से शुरू हुआ जब अग्रेज भारत मे आए। पर कहा तक छोटे-छोटे विद्रोह, यहा तक कि मुस्लिम युग के विद्रोह भी, देशभक्तिमूलक थे यानी उस अर्थ मे देशभक्तिमूलक थे, जिस अखिल भारतीय अर्थ मे हम उसे लेते है, यह विवादग्रस्त है।

हमारे यहा के उपन्यासकार, नाटककार तथा कवियो ने इस युग के तथा इसके पहले के युग के बहुत से भारतीय शासको तथा अन्य लोगो पर देशभक्ति का सेहरा मढ दिया है, और उनके मुह मे बडी-बडी देशभक्ति की वाणी कहलाई है, पर यह सब मनगढन्त है। इतिहास को इस प्रकार ढालकर नवयुगोपयोगी बनाना कई दृष्टि से उचित और शुभफल-उत्पादक कहा जा सकता है, पर यह इतिहास नही है। इन युगो मे बडे-बडे लडनेवाले थे, वे बहादुर भी तथा त्यागी भी थे, किन्तु यह कहना कि वे राष्ट्रभक्ति से परिचालित थे एक बहुत ही गलत बात होगी। हम मुगल-युग मे यह देखते है कि सिसोदिया-वश के सिरमौर राणा प्रतापसिह ने यह प्रण किया था कि जब तक वे मेवाड को मुगलों से मुक्त न कर लेगे, तब तक पत्तल मे ही खाएगे, इत्यादि। इसी प्रकार हम टीपू सुल्तान को ऐसा ही प्रण करते पाते है। इसमे ऐसे लोगो की बहादुरी पर बहुत श्रद्धा होती है, पर यह कहना कि उनकी लडाई सारे भारत की लडाई थी, यह सत्य नही है। अभी अखिल भारतीय देशभक्ति का विकास नही हुआ था। लोग अपने छोटे-छोटे इलाको, कुलो, गोत्रो तथा खानदानो की दृष्टि से सोचते थे। ऐसा कहना किसी अर्थ मे उनका अपमान करना नही है। इन युगो मे तो योरोप मे भी राष्ट्र-भक्ति के विचार अच्छी तरह नही उदित हुए थे।

यदि लोगों मे किसी मामूली हद तक भी देशभक्ति उत्पन्न हो चुकी होती, तो हमे विश्वास है कि भारतवर्ष इतनी आसानी से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नही होता। मराठो मे शिवाजी के बाद धीरे-धीरे पेशवा, सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड़ ये चार राजघराने हो गए थे। इनमे यदि कुछ भी देशभक्ति होती, यानी अखिल भारतीय देशभक्ति नही, मराठीपन लिये हुए देशभक्ति होती तो भी ये चार राज्य किसी-न-किसी सूरत मे एक सामरिक तथा परराष्ट्र नीति

की दृष्टि से एक बने रहते, कम-से-कम इनकी परराष्ट्र नीति कुछ नहीं तो अंग्रेजो के मुकाबले मे एक होती, पर खुर्दबीन लेकर ढूढने पर भी हम इनमे कोई ऐसा योगसूत्र नही पाते। इसी प्रकार हम देखते है कि हिन्दू शासकों के द्वारा शासित राज्यो मे भी कोई एका नही था, न वे किसी ऐसी नीति का अनुसरण कर रहे थे, जिसे पैन-हिन्दू या महासभाई कहा जा सके। यही हाल मुसलमान-शासित राज्यो का भी था। हम जब इस सारे दृश्य को एक निगाह से देखते है तो हमें ऐसा ज्ञात होता है कि इनमे धर्म या देश के आधार पर कोई सार्वजनिक भावना नही थी। उस समय के सब राजा, नवाब, बादशाह एक प्रकार मे केवल अपने क्षुद्र स्वार्थवाले शोषक ही जचते है। सम्भव है कि इसमे कही कोई व्यतिक्रम दिखलाई दे, पर यह व्यतिक्रम था न कि नियम। कई राजा अच्छे स्वभाव वाले तथा व्यक्तिगत रूप से परोपकारी थे, पर इससे उनकी पद्धति के अन्तर्निहित चरित्र मे कोई फर्क नही आता।

अंग्रेजो ने भारतवर्ष को इतनी आसानी से जीत लिया, इसका कारण यह है कि यहा के शासक तथा शासन-यन्त्र बिल्कुल लचर, निकम्मे तथा कमजोर थे। वे पतित भी थे। इसके साथ ही एक बात और भी साफ कर देनी चाहिए, नही तो गलतफहमी पैदा होने का डर है, वह यह है कि इन लोगो पर जिस शक्ति ने विजय पाई वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी कोई धर्मार्थ कम्पनी नही थी। उनके अपनी ही लेखो-पत्रो तथा पार्लियामेंट के सामने समय-समय पर आये हुए सबूतों से यह साबित है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी डाकुओ का एक गिरोह-मात्र था। इसके सभी अफसर, कर्मचारी, छोटे से लेकर बडे अहलकार अव्वल दर्जे के मक्कार, बेईमान तथा खूखार थे। फिर भी उनमे एक बात थी जो भारत के राजाओ, नवाबो, बादशाहो मे नही मिलती।

एक उदाहरण लिया जाए। जिस समय मुगल-सम्राट शाहजहा की लडकी बीमार हुई थी और उसका सफल इलाज करने के लिए एक अंग्रेज डाक्टर से यह कहा गया कि वह इनाम मागे, तो उसने अपने लिए कुछ मागने के बजाय सारी अंग्रेज जाति के लिए कुछ हक माग लिए। यह साबित है कि कम्पनी के बडे से बडे नौकरो ने उस युग मे अपने निजी कारोबार को बढाया, यहा तक कि अपनी जेबो मे लाखों की रकमे घूस के रूप में डाली, फिर भी आम तौर से जहा भी कम्पनी के बुनियादी स्वार्थों की बात आई, वहा उन्होने न तो कम्पनी को धोखा ही दिया, और न उसके विरुद्ध आचरण ही किया। इसलिए यह मानना पडेगा कि सागठनिक तथा नैतिक दृष्टि से कम्पनी के ये पतित नौकर हमारे राजाओ, नवाबो, वजीरो से अच्छे थे। कम्पनी के नौकरो ने बडी-से-बडी घूसखोरी की, पर उनमें कोई न तो मीरजाफर या दुर्लभराय ही पैदा हुआ जो घूस खाकर कम्पनी के विरुद्ध लडे, और न कोई ब्रिटिश सेना ही ऐसी निकली जो मीरजाफर तथा दुर्लभराय की सेना की तरह दुश्मन से जाकर मिल गई। यह एक कारण है जिसकी वजह से अंग्रेजो का सितारा बराबर बुलन्दी पर चढता गया।

इससे यह निष्कर्ष निकालने की हरगिज आवश्यकता नही है कि नस्ल या जाति की दृष्टि से ही अंग्रेजो मे कोई खूबी थी। नही, अंग्रेजो मे इस प्रकार की किसी खूबी की कल्पना करना गलत है। एक जमाना था जब उनके देश मे भी धर्म के नाम पर इतने बडे वैमनस्य पैदा हो जाते थे कि बाहर के कैथोलिको को देश पर आक्रमण करने के लिए मदद दी जाती थी, पर जिस समय अंग्रेज यहा आए थे, उस समय उनमे पूजीवाद का उदय हो रहा था, और साथ ही साथ देशभक्ति का भी उदय हुआ था। इसलिए अंग्रेजो की यह विशेषता नस्ल की खूबी नही थी, बल्कि सामाजिक पद्धति की दृष्टि से उन्नत होने का परिणाम था।

यदि हम ब्यौरो की ओर जाते है तो पता लगता है कि पलासी के कुछ सालो के अन्दर १७६४ मे बगाल सेना मे काफी व्यापक विद्रोह हुआ था। यह विद्रोह कुछ नये फौजी नियमो के विरुद्ध हुआ था। इन लोगो की मांग यह थी कि ये नियम बदल दिए जाए। ये लोग पहले हथियारबन्द विद्रोह की तरफ नही गए, बल्कि इन्होने एक तरह से हडताल कर दी थी। पर मेजर मनरो को जब उनके इस प्रतिवाद का पता लगा तो वे जल्दी से बाकीपुर से छपरा पहुच गए, और गोरे सैनिको के साथ विद्रोही सैनिको पर हमला कर दिया। फिर तो इन विद्रोहियो मे से जो हाथ आए, उनको तोप के मुह से उडा दिया गया।

इसी प्रकार १७६५ मे एक अन्य सिपाही-विद्रोह हुआ। इसी प्रकार उन्नीसवी सदी मे १८५७ के पहले ही

कई और सिपाही-विद्रोहों का पता लगता है। १८०६ मे वेल्लोर मे मद्रास आर्मी मे देशी सेना ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह ने इतना व्यापक रूप धारण किया कि इसी के कारण कहा जाता है कि लार्ड विलियम बैंटिक की नौकरी गई। बाद को बैंटिक ने अपनी सफाई देते हुए कहा कि यह विद्रोह उनके कुशासन के विरुद्ध नही था। बल्कि वर्षो से मुसलमानों में जो विद्रोह की आग भडक रही थी, उसी का यह परिणाम था। पर यह बात गलत थी। जैसा कि लार्ड बैंटिक ने खुद ही १८०७ की ८ जनवरी के मिनिट मे माना है, बाद को यह विद्रोह नन्दी दुर्ग, सकरी दुर्ग आदि जिन स्थानो मे फैल गया, वहा फिर हिन्दू और मुसलमान का प्रश्न नही रहा। सभी धर्मों के सैनिक एक होकर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खडे हुए थे।

सिपाही-विद्रोह के दो साल पहले भी निजाम की फौज की तृतीय घुडसवार सेना ने १८५५ के २१ सितम्बर को विद्रोह का झडा बुलन्द किया। फौज के अध्यक्ष ब्रिगेडियर मैकेजी के शरीर पर दस घाव आए, और वे किसी तरह जान लेकर भागे। विद्रोहियो ने उनका घर लूट लिया। इस विद्रोह के नेता भी मुसलमान थे।

हमे इन विद्रोहो के ब्यौरे मे जानने की आवश्यकता नही है। 'राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास' नामक पुस्तक में हमने इन पर ब्यौरेवार विचार किया है, इसके अलावा 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' मे भी इनका उल्लेख है।

१८५७ का विद्रोह इन विद्रोहो की कडी मे ही एक महान कडी थी। उसके सम्बन्ध मे यहा हम कुछ नही बताएगे। केवल इतना कहकर हम आगे बढ जाएगे कि इस घटना का प्रभाव सुदूरव्यापी रहा।

सस्कृति के प्रश्न पर वापस आते हुए हम यह देखते है कि ग्रहण, प्रतिरोध और ग्रहणमूलक प्रतिरोध और प्रतिरोधमूलक ग्रहण सब तरह की प्रक्रियाओ के दृष्टान्त हमे मिलते है।

एक तरफ राजा राममोहनराय थे जो भारतीय नवजागृति के पुरोधा थे। वह भारतीय और अग्रेजी दोनो विद्या, दर्शन तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे। १७७४ मे उनका जन्म हुआ था। वह बहुत ही उदार विचारो के व्यक्ति थे और घटनाओ तथा वस्तुओ को भविष्य की दृष्टि से देखने मे समर्थ थे। वह जिस युग मे पले, उस युग मे पश्चिम की उदीयमान पूजीवादी सभ्यता और भारतवर्ष की ह्रासशील सामन्तवादी धार्मिक सभ्यता मे प्रबल सघर्ष हो रहा था। राममोहन ने इन दोनो सभ्यताओ का अच्छी तरह अध्ययन किया था, और उनकी यह राय बन चुकी थी कि भारतीयो को अग्रेजी शिक्षा अपनानी चाहिए।

यो तो १८१३ के पहले सरकारी तौर पर भारतवर्ष मे पादरियो को कोई उत्साह नही दिया जाता था कि वे धर्मप्रचार करे। पर नई सनद मे सरकार की ओर से एक याजक विभाग खोल दिया गया, और यह तय हुआ कि एक विशप और दो आर्च डिकन भारतवर्ष मे होगे। ये लोग अब सरकारी पैसे से पलने वाले थे। इस प्रकार सरकारी तौर पर तो ईसाई धर्म के प्रचार की व्यवस्था अब हुई, पर इसके बहुत पहले से ही जो पादरी यहा पर किसी तरह घुस आए थे, वे कही सतीदाह-प्रथा, तो कही गगा और सागर के सगम पर बच्चो के विसर्जन की बात को लेकर, तो कही हिन्दुओ की मूर्तिपूजा को लेकर तरह-तरह का प्रचार किया करते थे और साबित करते थे कि हिन्दू बहुत निकृष्ट दर्जे के प्राणी है।

राममोहनराय ने शास्त्रो का अध्ययन किया तो वे इस नतीजे पर पहुचे कि हिन्दू धर्म का सार एकेश्वरवाद है, न कि बहु-देवदेवीपूजा। उन्होने १८०४ मे ही फारसी मे 'तूहफात उलमुमाह दीन' नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमे एकेश्वरवाद को स्थापित किया। कहना न होगा कि उनकी इस चेष्टा से पादरी बहुत नाराज हुए, पर सबसे मजे की बात तो यह है कि कट्टर हिन्दू भी उनसे नाराज हुए। पर वह इससे दबने वाले नही थे। १८१५ मे उन्होने वेदान्त का भाष्य लिखा, और फिर उसमे एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया। उसी साल उन्होने मानिकतल्ला स्थान मे आत्मीय सभा नाम से एक सभा खोली जिसका उद्देश्य वेदान्त की आलोचना करना था। यही आत्मीय सभा १८२८ मे उपासना समाज, ब्रह्म सभा या ब्राह्म समाज मे परिणत हो गया।

राममोहन ने सामाजिक सुधार के क्षेत्र मे भी बड़ा जबर्दस्त काम किया, उन्ही के आन्दोलन के कारण सतीदाह-प्रथा गैरकानूनी करार दी गई। यह आश्चर्य की बात है कि ऐसे मामलो मे भी, जिनमे अग्रेजो का कुछ बिग-

ड़ता नही था, उन्होने राममोहन को वर्षों तक टकराया। सती-दाह एक ऐसी कुप्रथा थी जिसके सम्बन्ध में दो रायें नहीं हो सकती थी। पर इस सम्बन्ध मे भी सरकार ने दीर्घ सूत्रता से काम लिया। जब जोरो से इसका आन्दोलन उठाया गया तो भी लार्ड वेलेसली पूछताछ कर रह गए। वह भी समझते थे कि यह प्रथा खराब है, किन्तु वह अपने साम्राज्य का हित इसी मे समझते थे कि इस प्रथा मे हस्तक्षेप न किया जाए। बहाना यह था कि सरकार धार्मिक बातो मे हस्त-क्षेप करके जनता मे क्षोभ उत्पन्न करना नही चाहती; पर पहले दिए विवरणो से ज्ञात है कि सरकार ने ऐसी सैकड़ो बाते की जिनसे जनता को क्षोभ हुआ, जैसे यहा की कारीगरी का नाश कर सैकडो लोगो की रोजी ली गई। इसलिए क्षोभ की बात नही थी। सरकार ऐसे मामलो मे क्षोभ उत्पन्न करने से नही डरती थी, जिनमे उनका काम बनता था। बाकी जनहितकर बातो मे वह बहुत तटस्थ बन जाती थी।

मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स का भी ध्यान इस ओर गया, किन्तु उन्होने भी इस पर जाच-पडताल करने के अतिरिक्त कोई सक्रिय कदम नही उठाया। राजा राममोहनराय ने इस सम्बन्ध मे सैकडो प्रमाण देकर एक अंग्रेजी मे पुस्तक लिखी, जिसमे यह दिखलाया गया कि सती दाह कोई धार्मिक प्रथा नही है और इसे बन्द करने मे धर्म मे हस्त-क्षेप का प्रश्न नही उठता। प्रजातन्त्र का यह एक सम्मिलित सिद्धान्त समझा गया है कि धर्म मे हस्तक्षेप न किया जाय किन्तु यह कब तक, इसका भी तो कुछ हिसाब है। धर्म मे हस्तक्षेप तभी तक नही करना चाहिए जबकि वह निर्दोष हो, अपने तक ही सीमित हो, तथा किसी पर उससे जबर्दस्ती न होती हो। इसलिए सती-प्रथा के सम्बन्ध मे यह उदा-सीनता सरकार की प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति का परिचय देती है। फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सिद्धान्तो से क्या मतलब था?

राममोहनराय ने बगाल मे प्रचलित कुलीन-प्रथा के विरुद्ध भी आन्दोलन किया। कुलीन-प्रथा के अनु-सार एक पुरुष कई सौ स्त्रियो तक से विवाह कर सकता था। राममोहन ने इस कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई, पर इस सम्बन्ध मे वे कानून नही बनवा सके। उन्होने स्त्रियो के दायाधिकार के सम्बन्ध मे आन्दोलन किया और यह चाहा कि पति की मृत्यु के बाद उसकी सारी सम्पत्ति पर स्त्री का अधिकार हो जाए। दहेज तथा लडकी बेचने के विरुद्ध भी उन्होने आन्दोलन किया। सक्षेप मे वह सभी तरह के प्रगतिशील आन्दोलन के अग्रभाग मे रहे। देशबन्धु दास ने एक समय बोलते हुए यह जो कहा था कि––"The life-work of this great man has got to be re-estimated, re-valued, re-understood and re-interpreted" याने इस महान व्यक्ति के जीवन के कार्यों पर पुनर्विचार करने, समझने तथा उसकी फिर से व्याख्या करने की आवश्यकता है। यह बात बहुत ही सत्य है। अभी राममोहन को समुचित तरीके मे समझा नही गया है।

दूसरी तरफ उसी युग मे एक अन्य व्यक्ति थे, जिनका बगाली युवको पर बडा प्रभाव पडा। हेनरी लुई डिवीयन डिरोजियो नामक एक फिरगी शिक्षक थे। फिरगियो मे अपने को अंग्रेज समझने की जो प्रवृत्ति थी, वह इनमे नही थी। वह जन्मभूमि भारत को ही अपना देश समझते थे। वह कवि भी थे, और कविता मे स्वदेश-प्रेम का प्रचार करते थे। १८२६ मे जब वह हिन्दू कालेज मे काम लेकर आए, तो उनकी उम्र केवल १७ थी। वे लोगो के, विशेषकर छात्रो के, मन मे देशभक्ति उत्पन्न करने के साथ-साथ तरह-तरह के विषयो पर बोलते थे। कालेज के अलावा भी वह डेविड हेयर के स्कूल मे भी जाकर व्याख्यान दिया करते थे। यह एक अजीब बात है कि डिरोजियो एक तरह से बगालियो की, और इसलिए भारतीयों की देशभक्ति के गुरु हुए।

डिरोजियो की शिष्य-मण्डली और राममोहन-प्रचारित प्रगति मे एक बहुत बडा फर्क यह था कि डिरो-जियो के शिष्य अपने सुधारो मे धर्म का आधार नही मानते थे। धर्म को सब कुसस्कारो का जनक जानकर उन्होंने धर्म के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की थी। वे बहुत से काम ऐसे करते थे, जिनको देखकर कट्टर समाज के लोग बहुत घबडाते थे; उदाहरणार्थ उन्होने उसी युग मे छूआछूत त्याग दिया था, गोमास आदि भक्षण किया था, इत्यादि। लोगो को डिरो-जियो से इतनी घबराहट हुई कि हिन्दू कालेज की कमेटी ने १८३१ के २५ अप्रैल को उन्हे कालेज से निकाल दिया। इसके बाद डिरोजियो ने पहली जून से ही 'ईस्ट इण्डिया' नाम से एक अखबार निकाला। दुर्भाग्य से उसी साल के

२६ दिसम्बर को उनकी मृत्यु हो गई, नही तो इसमे सन्देह नही कि ये जिस सेवा को कालेज के जरिये मे कर रहे थे, अब उसी की अखबार के जरिये से व्यापकतर रूप मे जारी रखते। डिरोजियो के शिष्यो मे कई नव जागृति के नेता हुए। कट्टर लोग उनसे जिस प्रकार घबडाते थे, उस प्रकार घबडाने की कोई जरूरत नही थी; यह इस बात मे साबित है कि डिरोजियो की शिष्य-मण्डली मे केवल कृष्णमोहन वन्द्योपाध्याय ईसाई हो गए। बाकी लोगो ने किसी-न-किसी प्रकार के सुधार कार्यों मे भाग लिया। कृष्णमोहन भी बराबर राष्ट्रीय विचार के रहे।

यहा हम एक पहलू की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहते है। वह यह कि अग्रेजो के प्रति लोगों मे जितना विद्वेष बढता गया, अग्रेजी के प्रति उतना ही प्रेम बढता गया, यह एक बहुत ही सुन्दर विशेषता रही और इसका हमारी सभ्यता, सस्कृति, साहित्य, बल्कि हमारे मनोजगत और बहिर्जगत सब पर बहुत भारी प्रभाव पडा। यह प्रक्रिया अब भी जारी है और बहुतो के अनुसार इसके जारी रहने मे ही हमारा कल्याण है, अवश्य इस हद तक नही कि इससे हमारी अपनी भाषाओ की प्रगति रुके।

इसी सम्बन्ध मे हम एक टाइप के रूप मे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध मे उल्लेख कर दे। वह कट्टर सनातनी पण्डित थे, इस पर भी उन्होने विधवा-विवाह का प्रचार किया। १८१० मे उनका जन्म हुआ। विद्वान के रूप मे वे ख्यात हो गए, और वे स्वभाव से परोपकारी, दानशील, उदार, मेधावी थे, पर सुधार मे वे कोसो दूर रहते थे। एक घटना से उनके हृदय पर इतनी चोट पहुची कि वे सरपट सुधार मे कूद पडे। उन्होने श्री शम्भूचन्द्र वाचस्पति नामक एक विद्वान से वेदान्त शास्त्र पढा था। यह महाशय बूढे हो गए थे, इनकी स्त्री मर चुकी थी। कुछ लोगो ने इनसे कहा कि फिर से ब्याह कर लो, वे कुछ दिनो तक को इस अनुरोध को टालते रहे, फिर राजी हो गए।

वाचस्पतिजी ने अपने शिष्य विद्यासागरजी से पूछा कि उनकी इस सम्बन्ध मे क्या राय है। विद्यासागर जो अपने गुरु को पिता की तरह मानते थे, बोले कि आपको बहुत कष्ट तो हो रहा है, पर इस उम्र मे इस प्रकार एक कम-उम्र लडकी से शादी करने का तथा उसको विधवा छोडकर मर जाने का कोई अधिकार उन्हे नही है। वाचस्पति जी इस पर बहुत दिनो तक अपने शिष्य से झक-झक करते रहे, किन्तु विद्यासागर ने अपनी राय नही पलटी। बल्कि और भी उग्रता के साथ अपने मत का प्रतिपादन करते रहे। अब वाचस्पति जी ने शिष्य को समझाने की आशा छोड दी, और विवाह करने का ढग लगा लिया। इस पर विद्यासागर ने गुरु को अन्तिम नमस्कार किया। जब शादी हो चुकी तो गुरु ने फिर शिष्य को बुलाया। जब वे गुरु के सामने गए तो वे उस लडकी की बात सोचकर, जिसका गुरु जी ने सर्वनाश किया था, रोने लगे। इसके बाद जब उन्होने गुरु पत्नी को देखा तो और भी रोने लगे। उन्होने कायदे के अनुसार कुछ रुपये गुरुआइन जी को भेट किए। गुरुजी ने बहुत जिद की कि वे कुछ जलपान करके जाए तो उन्होने कहा—"बस हो चुका, मै अब इस घर मे पानी नही पी सकता।"

इस घटना ने विद्यासागर के मन पर इतनी जबर्दस्त चोट पहुचाई कि उन्होने कहा कि ऐसा नही हो सकता कि शास्त्र मे विधवा-विवाह का विधान न हो। उन्होने इसी उद्देश्य से शास्त्र को छानना शुरू किया। कई मन्त्रो मे उन्हे ऐसा प्रमाण मिला कि विधवा चिता पर से उतार ली गई और इसके बाद उसका पुनर्विवाह हुआ। चिता पर से उतारने के मन्त्र भी थे। वेदो मे एक शब्द दिधषू आता है, इसका अर्थ है विधवा से विवाह करने वाला व्यक्ति। उसके अतिरिक्त उन्होने और भी बहुत से प्रमाण निकाले। कहा जाता है कि जब वे इस काम मे सलग्न रहते थे तो एक ही बार भोजन करते थे, और दिन भर इसी का मनन करते थे। एक तरफ तो उन्होने शास्त्रीय प्रमाण देकर यह पुस्तक लिखी, जिसमे विधवा-विवाह को शास्त्रीय बतलाया गया। दूसरा उन्होने इस सम्बन्ध मे बहुत से लेख लिखे तथा बगाल के बहुत से प्रतिष्ठित आदमियो के द्वारा दस्तखत कराकर सरकार को एक प्रार्थना-पत्र भेजा। उनके प्रयत्नो का फल १८५६ की २६ जुलाई को हुआ। उस दिन विधवा-विवाह सम्बन्धी कानून बन गया। विद्यासागर ने बहुविवाह को रद्द कराने के लिए भी आन्दोलन किया। उन्होने २५,००० व्यक्तियो के दस्तखत से एक प्रार्थना-पत्र भेजा। इसके अतिरिक्त उन्होने स्त्रियो की शिक्षा के लिए एक स्कूल भी खुलवा दिया।

स्वामी दयानन्द ग्रहण और प्रतिरोध के क्षेत्र मे शायद प्रतिरोध का ही अधिक प्रतिनिधित्व करते थे। स्वामी

जी का सुधार-कार्य राममोहनराय, देवेन्द्रनाथ तथा केशवचन्द्र से भिन्न किस्म का था। पहले तीन सज्जनों का मुह बहुत कुछ योरोप की ओर था, पर स्वामी दयानन्द ने योरोप की ओर पीठ कर रखी थी। राममोहन आदि मानते थे कि सभी धर्मों मे सत्य है, वे उन धर्मों के सत्य पर ही जोर देते थे, पर स्वामीजी का मत भिन्न था। वे वैदिक धर्म में ही पूर्ण सत्य का प्रकाश मानते थे, जबकि सब धर्मों को भ्रान्त समझते थे। उनकी लिखी हुई पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' इस बात का प्रमाण है। मुख्यतः वह पुस्तक दूसरे धर्मों के विरुद्ध के उपादान से पुष्ट है,और इसमें खण्डन का अश ही प्रधान है। ईसाई-मुसलमान धर्मों के अतिरिक्त उन्होने १८ पुराण, मूर्तिपूजा, शैव, शाक्त, वैष्णव सम्प्रदाय का भी विरोध किया। स्वामी दयानन्द का अगाध पाण्डित्य एक तलवार की तरह था जिसे वे सब पर चलाने के लिए उत्सुक रहते थे। इनके अनुसार वेदो का युग ही आदर्श युग था।

परमहस रामकृष्ण, महादेव गोविन्द रानाडे, सैयद अहमदखा सब मे हम प्रतिरोध और ग्रहण के विभिन्न उपादनो को मूर्त देखते है।

एक हद तक कहा जा सकता है कि भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन पाश्चात्य विशेष कर रूस के निहिलिस्टों और आयरलैण्ड के सिनफिन दल के प्रभाव के कारण था, पर यह बात कहा तक सत्य है? इसमे सन्देह नही कि जहां तक तकनीक का सम्बन्ध है भारतीय क्रान्तिकारियो ने रूसी नारोदनिको से बहुत कुछ सीखा, पर उसमे जो मौलिक सस्कृति-गत पहलू था, यानी हिसा के द्वारा भी जबर्दस्त हिंसक का प्रतिरोध करना चाहिए तथा लोहा लेना चाहिए, यह किसी प्रकार भी वैदेशिक प्रभाव नही था। यदि भारत मे अहिसा के प्रतीक बुद्ध और महावीर हुए तो रामकृष्ण आदि का प्रतीक तथा विचारधारा उससे पुरानी ही है।

अब हम बहुत सक्षेप मे इधर के स्वतन्त्रता-आन्दोलन का उल्लेख कर दे जिसके मुख्य नेता महात्मा गांधी थे। जहा तक संस्कृति के क्षेत्र का प्रश्न है, वह अपने महान भारतीय पूर्ववर्तियों से बिल्कुल अलग इस अर्थ मे थे कि उन्होने बुद्ध और महावीर के धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्त को तालस्ताय द्वारा दर्शाई हुई दिशा मे राजनीतिक अस्त्र बना डाला। इसका हमारी सस्कृति पर क्या असर पडा, कितना अच्छा असर पडा और कितना बुरा, यह अभी अच्छी तरह कूता ही नही गया है; पर इसके सामाजिक असर कई क्षेत्रो मे बहुत जबर्दस्त हुए। स्त्रियो को घर की चहारदीवारी से निकाल कर आजादी की खुली हवा मे रख देना, अछूतो के लिए जबर्दस्त आन्दोलन करना और इस प्रकार सैकडों वर्ष पुरानी जाति-भेद-मूलक वर्णाश्रम पद्धति को चोट पहुचाने मे वह बहुत सफल हुए। इसमे सन्देह नही कि विशेषकर छुआ-छूत का कलक दूर कराकर हमारी सस्कृति को नवजीवन दिलाने मे उनका जबर्दस्त हाथ रहा।

यह न समझा जाए कि सस्कृति के क्षेत्र मे ग्रहण और प्रतिरोध का यह सिलसिला समाप्त हो गया है। केवल जवाहरलाल-प्रचारित साम्यवाद के कारण ही नही, बल्कि वामपक्षी दलो की ओर झुके हुए उपन्यासकारो, कहानीकारों का भी भविष्य समाज के आधार पर गठित करने मे बडा भारी हाथ है। पर हम तो स्वतन्त्रता-आन्दोलन को छोडकर समाजवादी आन्दोलन के क्षेत्र मे आ गए, पर क्या समाजवाद के बिना स्वतन्त्रता को पूर्ण माना जा सकता है? दूसरे शब्दो मे समाजवादी भारत की स्थापना का आन्दोलन भी स्वतन्त्रता-आन्दोलन का ही भाग है।

हमारी सस्कृति, स्वतन्त्रता और इस समय चलने वाले समाजवादी आन्दोलन के कारण बहुत बदल चुकी, पर वह और भी बदलेगी, शायद सर्वधर्म-विरोध उसका एक आवश्यक तत्त्व हो जाए क्योकि भारत में प्रचारित कई बार परस्पर-विरोधी धर्मों के मानने वालो को एक पक्ति मे लाने का शायद ही अपरिहार्य अंग है। इसके अलावा इसमें सामाजिक शोषण के उन तत्त्वो को भी समाप्त करना पडेगा, जिनसे मनुष्य मनुष्य को अछूत मानकर उसका केवल मानसिक ही नही, आर्थिक शोषण भी करता है।

हिन्दी-क्षेत्र के प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

वर्तमान हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र बहुत विस्तृत है। हिमाचल प्रदेश से लेकर दक्षिण मे बस्तर तक और जैसलमेर से लेकर पूर्व मे बिहार की अन्तिम सीमा तक इस प्रदेश का विस्तार है। प्राचीन काल मे इस विस्तृत भूभाग मे भारतीय राष्ट्रनीति, धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य और ललित कलाओ के क्षेत्र मे जो उन्नति हुई, उसका पता भारतीय इतिहास की थोडी भी जानकारी रखने वालो को है। एक लम्बे समय तक इस प्रदेश के अन्तर्गत पाटलिपुत्र, श्रावस्ती कान्यकुब्ज, थानेश्वर, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, विदिशा, उज्जयिनी, त्रिपुरी आदि नगर राजनीति के गढ रहे, जहा से इस देश के बडे भागो का प्रशासनिक कार्य नियन्त्रित रहता था। वैदिक काल मे लेकर आज तक इस क्षेत्र का राजनीतिक महत्त्व प्राय· अक्षुण्ण रहा है।

राजनीति के अतिरिक्त सास्कृतिक दृष्टि से भी इस क्षेत्र का महत्त्व है। सरस्वती, गगा, यमुना, चम्बल (चर्मण्वती), टोस (तमसा), नर्मदा आदि नदियो से सिचित इस भूमि पर हमारे इतिहास के प्राचीनतम काल मे भारतीय सस्कृति के विविध अग पल्लवित-पुष्पित होते रहे। इसका प्रमाण साहित्यिक रचनाओ, पुरातत्त्व के अवशेषो, कलाकृतियों तथा विदेशी यात्रियो के वर्णनो से चलता है। यहा कुछ प्रमुख सास्कृतिक केन्द्रों का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है, जिनका भारतीय सस्कृति के निर्माण मे विशेष योग रहा है।

वर्तमान हिमाचल प्रदेश और पजाब के कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, रोपड, कागडा और चम्बा स्थान विशेष उल्लेख-नीय है। प्रथम दोनो स्थानो मे अभी तक अनुसधान और उत्खनन का कार्य नही किया जा सका। यहा क्रमश प्रारम्भिक वैदिक सभ्यता तथा पूर्वमध्यकालीन सभ्यता के अवशेष निकलने की पूरी सभावना है। अम्बाला जिले के अतर्गत रोपड नामक स्थान मे केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई का जो कार्य हुआ है, उसमे जहा एक ओर हडप्पा, मोंहजोदडो की सिन्धु घाटी वाली सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए है, वहा आर्य-सभ्यता के भी अनेक अवशेष मिले है। इनमे पजाब के इस भाग की प्राचीन सभ्यता पर बडा प्रकाश पडा है। १८वी शती मे पजाब के उत्तर-पूर्वी अचल मे स्थित कागडा घाटी चित्रकला के लिए बहुत प्रसिद्ध हुई। कागडा, गुलेर, बसोली, चम्बा आदि स्थानो मे अत्यत सुन्दर चित्रो का सृजन हुआ। पजाब के पश्चिमी भाग मे विकसित मूर्ति-कला का नाम 'गाधार-कला' प्रसिद्ध है। बुद्ध—बोधिसत्त्व की—सैकडो मूर्तिया इस कला में मिली है।

उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागो मे सास्कृतिक केन्द्रो की सख्या बहुत बडी है। पचनद प्रदेश मे पूर्व दिशा मे आगे बढने पर आर्यों ने वर्तमान दिल्ली और उत्तर प्रदेश के अनेक स्थानो को अपना आवास-स्थल बनाया। इनमे से कुछ स्थान धीरे-धीरे बडे नगरों का रूप ग्रहण करते गए। इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, मथुरा, कान्यकुब्ज (कनौज), अहिच्छत्रा, काम्पिल्य, अयोध्या, श्रावस्ती, प्रयाग, कौशाम्बी, काशी आदि ऐसे ही स्थान थे। प्रारम्भ मे आर्य लोगो की दो मुख्य शाखाऐं इस प्रदेश मे रही एक सूर्यवश की शाखा जिसका केन्द्र अयोध्या था और दूसरी चन्द्रवश की, जिसका मुख्य केन्द्र प्रतिष्ठान था। कुछ विद्वान इस प्रतिष्ठान का अभिज्ञान प्रयाग के पास भूसी नामक स्थान से करते है। अन्य लोग उसे प्राचीन सरस्वती नदी के तट पर अम्बाला जिले मे मानते है।

अंतर्वेदी के महान नगर

गगा-यमुना का दोआबा प्राचीन काल मे 'अन्तर्वेदी' के नाम से प्रसिद्ध था। इस भूभाग में भारतीय संस्कृति के अनेक बडे केन्द्र थे। चन्द्रवश और उसकी कई मुख्य शाखाओ का विस्तार यहा हुआ। यहा के दो मुख्य प्रदेश—ब्रह्मावर्त तथा ब्रह्मर्षि देश—आदर्श रूप मे माने जाते थे। अन्तर्वेदी मे स्थित हस्तिनापुर नगर कुरु राज्य की राजधानी था। इस नगर के भग्नावशेषो की खुदाई करने से प्राचीनतम बस्ती का पता चला है, जो ईस्वी-पूर्व १००० से पहले यहा थी। दूसरी बस्ती ई० पूर्व ६०० के लगभग बसाई गई और मौर्यकाल तक आबाद रही। तीसरी बस्ती का पता शुगकाल से लेकर कुषाणकाल के अन्त तक चला है। अन्तिम बस्ती के प्रमाण ग्यारहवी से चौदहवी शती तक मिलते है। दूसरा प्रसिद्ध नगर हरिद्वार है। इसका पुराना नाम 'मायापुर' था। हरिद्वार और कनखल से गुप्त एव मध्यकाल की अनेक हिन्दू मूर्तिया मिली है। तीसरा मुख्य नगर मथुरा था। इस नगर की गणना सप्त महापुरियो मे की जाती है। भगवान कृष्ण का जन्म-स्थान और उनकी लीलाभूमि होने के अतिरिक्त मथुरा नगर धर्म, कला, भाषा और साहित्य का एक प्रमुख केन्द्र बना। ई० पूर्व चौथी शती से लेकर १२वी शती तक यहा मूर्ति-कला तथा स्थापत्य का विकास होता रहा। जैन, बौद्ध तथा हिन्दू, इन तीनो प्रधान धर्मों ने मथुरा की पावन भूमि मे बडी उन्नति प्राप्त की। इन धर्मों से सम्बन्धित कई हजार मूर्तिया अब तक मथुरा नगर और उसके आसपास से मिल चुकी है। मूर्तरूप मे भगवान् बुद्ध का पूजन मथुरा मे ही प्रारम्भ हुआ माना जाता है। अनेक हिन्दू देवी-देवताओ तथा जैन-तीर्थंकरों की प्रतिमाओ का निर्माण भी यही से आरभ हुआ। कुषाण-काल मे मूर्तियो का निर्माण सबसे अधिक हुआ। मथुरा की गुप्तकालीन मूर्तियो मे अध्यात्म और सौंदर्य का अभूतपूर्व समन्वय देखने को मिलता है। मथुरा के कलाकारो ने पाषाण और मिट्टी की कितनी ही ऐसी कलाकृतियो का निर्माण किया जिनमे प्राचीन लोक-जीवन की झाकी मिलती है। अकबर और जहागीर के समय मे मथुरा-वृन्दावन मे अनेक विशाल हिन्दू मदिरो का निर्माण हुआ।

अन्तर्वेदी का अन्य महत्त्वपूर्ण नगर कनौज था। पुष्यभूति वश के सम्राट हर्षवर्धन के समय मे इस नगर की बडी उन्नति हुई। चीनी यात्री हुएनसाग ने इस नगर की समृद्धि का वर्णन विस्तार मे किया है। इससे ज्ञात होता है कि सातवी शती मे कनौज मे कई सौ बौद्ध-सघाराम थे। हर्ष ने यहा पर बहुसख्यक स्तूप बनवाए थे। नगर मे उस समय कई सौ देव-मदिर भी थे। हर्ष के बाद गुर्जर-प्रतिहार वश के शासन-काल मे भी कनौज मे कला की बडी उन्नति हुई। यहा से हिन्दू कलाकृतिया बहुत बडी सख्या मे मिली है, जिन्हे देखने से प्राचीन कलाकारो की प्रतिभा का पता चलता है। अतर्वेदी मे वर्तमान फर्रुखाबाद जिले मे कम्पिल तथा सकिसा नामक दो स्थान है। कम्पिल (काम्पिल्य) प्राचीन दक्षिण-पचाल राज्य की राजधानी था। सकिसा (सकाश्य) वह स्थान है जहा बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार, भगवान बुद्ध स्वर्ग मे माता मायादेवी को उपदेश देने के बाद ब्रह्मा और इन्द्र के साथ अवतरित हए थे। बौद्धो के प्रमुख तीर्थो मे सकिसा की गणना है। यहा से पाषाण और मिट्टी की पुरानी मूर्तिया, मुद्राऐ आदि बडी सख्या मे मिली है।

गगा-यमुना के सगम पर बसा हुआ प्रयाग नगर भारत का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। भारद्वाज मुनि का आश्रम तथा प्राचीन अक्षयवट यही माना जाता है। प्रयाग मे सगम पर सम्राट अकबर ने एक मजबूत किला बनवाया। इसके अन्दर मौर्य-सम्राट अशोक का स्तम्भ है, जिस पर गुप्तवशी शासक समुद्रगुप्त का प्रसिद्ध लेख उत्कीर्ण है। इसी स्तम्भ पर अशोक की रानी तथा बीरबल और जहागीर के लेख भी खुदे है। प्रयाग से ३७ मील पश्चिम-दक्षिण यमुना के किनारे कोसम नामक गाव है। यहा भारत की प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी कौशाम्बी बसी हुई थी। यह वत्स देश की राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के समय वहा का राजा उदयन था, जिसने अवती की राजकुमारी वासवदत्ता से विवाह किया। भगवान बुद्ध के सम्मान मे कौशाम्बी मे कुक्कुटाराम, घोषिताराम आदि अनेक विहारो का निर्माण कराया गया। अशोक ने अपना एक स्तम्भ-लेख यहा लगवाया। कौशाम्बी की खुदाई से शुग-काल से लेकर गुप्तकाल तक के प्राचीन अवशेष बडी सख्या में मिले है।

अन्तर्वेदी मे ही आगरा नगर है। मुगल शासन-काल मे आगरा और उससे चौबीस मील दूर फतेहपुर-सीकरी मे अनेक प्रसिद्ध इमारतो का निर्माण हुआ। अकबर, जहागीर और शाहजहा का शासन-काल इन इमारतो के लिए

महत्त्वपूर्ण है। आगरा मे लाल किला, ताजमहल, एतमादुद्दौला का मकबरा तथा फतेहपुर-सीकरी मे जामा मस्जिद, शेख सलीम चिश्ती की दरगाह, जोधाबाई का महल और बुलन्द दरवाजा उल्लेखनीय इमारते हैं।

कोसल-काशी

गगा और सरयू के बीच का विस्तृत खड भी ऐतिहासिक दृष्टि मे महत्त्व का है। प्राचीन काल मे पचाल, अयोध्या तथा काशी राज्य इसी प्रदेश मे थे। अहिच्छत्रा, अयोध्या और वाराणसी क्रमश इन राज्यो की राजधानिया थी। अहिच्छत्रा नगर के अवशेष बरेली जिले मे रामनगर गाव के समीप टीलो के रूप मे बिखरे हैं। वैदिक साहित्य, महाभारत तथा पुराणो के अनुसार यह नगर उत्तर पचाल की राजधानी था। राजा द्रुपद को परास्त करने के बाद द्रोणाचार्य ने उत्तर पचाल को अपने अधिकार मे कर लिया था। मौर्यकाल के बाद यहा मित्रवश के अनेक राजाओ ने राज्य किया, जिनके सिक्के अहिच्छत्रा मे सैकडो की सख्या मे मिलते है। उत्खनन मे पाषाण और मिट्टी की कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तिया यहा मिली हैं। मिट्टी की गुप्तकालीन मूर्तियों मे पार्वती, शिव तथा अन्य देवों आदि की मूर्तिया दर्शनीय है। कई पुराने शिलालेख भी यहा से मिले है।

अयोध्या नगरी की गणना भारत की सात महापुरियो मे की जाती है। इक्ष्वाकुवशी राजाओ की यह नगरी बहुत समय तक राजधानी रही। भगवान् श्रीराम का जन्म-स्थान यही माना जाता है। अयोध्या का राज्य कोसल कह-लाता था। शुग-वश के प्रथम शासक पुष्पमित्र का एक शिलालेख अयोध्या मे मिला है।

वाराणसी या काशी की गणना भारत के प्राचीनतम नगरो मे की जाती है। ऐतिहासिक काल मे कोशल तथा काशी राज्यो के बीच बहुत समय तक कशमकश चलती रही। अन्त मे काशी, कोशल राज्य का अग हो गया। बौद्ध साहित्य मे ज्ञात होता है कि वाराणसी नगर व्यवसाय और व्यापार का एक बडा केन्द्र था। उत्तर तथा मध्य भारत के सभी मुख्य नगरो से उसका सम्बन्ध व्यापारिक मार्गों द्वारा था। शिक्षा-केन्द्र के रूप मे काशी का विशेष महत्त्व है। यहा सस्कृत-शिक्षा का बहुत बडा केन्द्र रहा है, जहा वेद, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, काव्य आदि का अध्ययन होता था। काशी के समीप राजघाट नामक स्थान मे शुगकाल से लेकर मध्यकाल तक के अवशेष प्राप्त हुए है। इनमे गुप्तकाल की सैकडो मृण्मूर्तिया और मुहरे है। गगा और वरुणा के सगम पर स्थित आदिकेशव-घाट तथा मन्दिर महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका उल्लेख गाहडवाल शासकों के ताम्र-पत्रो मे मिलता है, जो काशी और उसके पास कमौली नामक स्थान मे मिले है। काशी से ५–६ मील उत्तर सारनाथ एक प्रख्यात बौद्ध केन्द्र है। बुद्धगया मे ज्ञान-सम्प्राप्ति के बाद भगवान बुद्ध ने सबमे पहले सारनाथ (मृगदाव) मे अपना धर्मोपदेश किया। अपने जीवन मे वे यहा बहुत समय तक रहे। सम्राट अशोक ने यहा एक बडा स्तूप बनवाया, जिसमे भगवान् के कुछ अवशेष सुरक्षित किए गए। पास मे ही अशोक ने एक बडा स्तम्भ लगवाया। अशोक के बाद सारनाथ मे स्तूप, मन्दिर और विहार बनवाने की परम्परा जारी रही। इनमे से चौखडी, धमेख और मर्मराजिका स्तूपों के भग्नाश अब भी देखे जा सकते है। खुदाई मे अनेक प्राचीन विहारो और मन्दिरो के खडहर निकले है। साथ ही बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तिया, जातककथाओ से चित्रित शिलापट्ट तथा विभिन्न इमारती पत्थर बडी सख्या मे सारनाथ मे मिले है। इनमे अशोककालीन सिह-शीर्ष विशेष उल्लेखनीय है। मध्यकालीन वज्रयान-सम्बन्धी बौद्ध मूर्तिया भी यहा मिली है।

गगा-सरयू के बीच वाले प्रदेश मे जौनपुर तथा लखनऊ भी उल्लेखनीय नगर है। जौनपुर मे १४-१५वी शती मे अनेक भग्न इमारते बनी, जिनकी कला शर्की-स्थापत्य नाम से प्रसिद्ध है। लखनऊ अवध के नवाबो का केन्द्र था। १७२० ई० से लेकर १८५६ ई० तक यहा नवाबी शासन रहा। उनके समय मे विशाल इमारतो के निर्माण के साथ सगीत और नृत्य की बडी उन्नति हुई।

सरयू के पारवर्ती प्रदेश मे श्रावस्ती एव कुशी नगर नामक दो मुख्य प्राचीन स्थान है। विस्तृत कोशल राज्य के दो भाग हो जाने पर उत्तर कोशल की राजधानी श्रावस्ती हुई थी। यह स्थान आजकल गोडा-बहराइच जिलो की सीमा पर 'सहेत-महेत' नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध और जैन-साहित्य मे इसका नाम 'सावत्थी' मिलता है। महात्मा बुद्ध ने

अपने पचीस वर्षाकाल यही व्यतीत किए। श्रावस्ती के समृद्ध सेठ अनाथपिंडक ने नगर के राजकुमार जेत से जेतवन नामक एक उद्यान खरीदा जिसमे उसने जेतवन-विहार नामक सुदर मठ का निर्माण कराया। चीनी यात्री हुएनसाग ने इसका विस्तृत वर्णन लिखा है। जैन तीर्थंकर सभवनाथ तथा चन्द्रप्रभु स्वामी के जन्म श्रावस्ती में माने जाते है। यहा की खुदाई से मूर्तियों, अभिलेखो और सिक्को के रूप मे कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली है। दूसरा प्रमुख स्थान कुशीनगर है जो देवरिया जिले मे वर्तमान कसिया नगर के पास स्थित है। यहा भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। पुराने टीलो की खुदाई करते समय यहा प्राचीन निर्वाण-स्तूप मिला था। गुप्त-काल तथा मध्यकाल के कई विहार और मदिर भी प्रकाश मे आए। यहा की सबसे अधिक उल्लेखनीय वस्तु भगवान् बुद्ध की लेटी हुई विशाल मूर्ति है, जिसका निर्माण गुप्त-काल मे हुआ था।

बुन्देलखण्ड की कला

यमुना के दक्षिण का भाग बुन्देलखण्ड कहलाता है। गुप्तकाल तथा चन्देल शासनकाल मे इस प्रदेश मे कई स्थानो मे मन्दिरो का निर्माण हुआ। झासी जिले मे ललितपुर से लगभग २३ मील पश्चिम देवगढ नामक स्थान है, जहा गुप्तकाल मे 'दशावतार' नामक विष्णु-मन्दिर का निर्माण हुआ। इसके द्वार-स्तम्भो पर गगा-यमुना का आकर्षक आलेखन है। मन्दिर की बाहरी दीवालो पर कई शिलापट्ट लगे है, जिन पर नर-नारायण, गजेन्द्र-मोक्ष, शेषशायी विष्णु आदि का चित्रण अत्यन्त कलात्मक ढग मे किया गया है। रामायण तथा कृष्ण-लीला के भी दृश्य यहा बडी सख्या मे मिले हैं। जालौन जिला मे यमुना-तट पर कालपी नामक नगर बसा है। जनश्रुति के अनुसार महर्षि व्यास का यहा पर निवास रहा। चन्देल राजाओ के मुख्य केन्द्रो मे से एक कालपी भी था। चन्देलो के अन्य गढ महोबा और कालिजर थे। महोबा मे इन शासको द्वारा निर्मित अनेक बडे सरोवर विद्यमान है। हिन्दू तथा बौद्ध कलाकृतिया भी यहा मिली है। कालिजर भारत के प्रसिद्ध पहाडी दुर्गों मे मे एक है। इसकी गणना अभेद्य दुर्गों मे की जाती थी। चन्देलो के कई महत्त्व-पूर्ण शिलालेख और बहुसख्यक मूर्तिया यहा मिली है।

बिहार की विभूतियां

विहार प्रदेश मे पाटिलपुत्र (पटना) उत्तर भारत की राजधानी के रूप मे कई शताब्दियो तक प्रख्यात रहा। पटना के समीप कुमुरहार नामक स्थान की हाल मे खुदाई हुई है, जिसमे प्राचीन मौर्यकालीन इमारतो का पता चला है। सम्राट चन्द्रगुप्त के महल यथा अशोक के ओपदार स्तम्भो के अवशेष इस खुदाई मे मिले है। मौर्य और शुग-कालीन मिट्टी की मूर्तिया भी बडी सख्या मे पटना और उसके आसपास से मिली है। कला की दृष्टि से मिट्टी की अनेक मूर्तिया उच्च कोटि की है। पटना और उसके समीपवर्ती स्थानो से यक्ष-यक्षिणियो की भी अनेक काय-परिमाण मूर्तिया मिली है, जिन पर अशोक के समय का ओप मिलता है। यक्षो की दो विशाल मूर्तिया कलकत्ता सग्रहालय मे है। पटना के समीप दीदारगज नामक स्थान मे चवरधारिणी स्त्री की एक अद्वितीय प्रतिमा मिली है जो पटना सग्रहालय मे है।

पाटलिपुत्र के पहले मगध की राजधानी गिरिव्रज थी, जिसे आजकल 'राजगृह' कहते है। यहा जो नगर-दीवाल मिली है वह भारत मे अब तक प्राप्त दीवालो मे सबसे पुरानी है। राजगृह के विस्तृत भाग मे प्राचीन अभिलेख तथा मूर्तिया दर्शनीय है। मगध के प्रसिद्ध दो राजाओ—वृहपृथ तथा जरासध—के समय राजगृह की बडी उन्नति हुई।

गया तथा बुद्धगया नामक स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गया जिले मे 'बराबर' नामक पहाडियो मे मौर्य सम्राट् अशोक और उसके वशज दशरथ ने आजीवक साधुओ के लिए अनेक गुफाओं का निर्माण कराया। इन गुफाओ मे तत्कालीन ब्राह्मी-लेख है। गया मे मध्यकालीन हिन्दू मन्दिर और प्रतिमाए बहुत बडी संख्या मे निर्मित हुई। गया से चार मील दूर बुद्धगया बौद्ध-धर्म के मुख्य केन्द्रो मे से है। यहा पर बोधिवृक्ष के नीचे गौतम को सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हुई। अशोक और उसके बाद बुद्धगया मे जिन कृतियो का निर्माण हुआ, उनके कुछ अवशेष अब भी यहा सुरक्षित है। शुगकालीन वेदिका, गुप्त एव मध्यकाल की मूर्तिया तथा बोधिमन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। गया जिले मे कुर्किहार नामक स्थान पाल-राजाओ के शासन-काल मे बौद्ध-कला का केन्द्र बना। यहा से धातु की बनी हुई कई सौ बौद्ध प्रति-

माएं प्राप्त हुई है। इनमें से अधिकांश अब पटना संग्रहालय में हैं।

बिहार प्रान्त का नालन्दा नगर प्राचीन राजगृह के पास ही स्थित था। यहा के प्रख्यात विश्वविद्यालय में दस सहस्र के लगभग विद्यार्थी पढ़ते थे। यहां खुदाई करने से प्राचीन विश्वविद्यालय के खंडहर निकले है। साथ ही प्रतिमाओं, लेखो तथा दैनिक जीवन-सम्बन्धी सामग्री के रूप मे प्राप्त अवशेषो से प्राचीन जीवन-प्रणाली पर बहुत प्रकाश पड़ता है। दूसरा पुराना विश्वविद्यालय विक्रमशिला बिहार के पूर्वी अचल में स्थित था।

बिहार का अन्य महत्त्वपूर्ण स्थान वैशाली था, जो इस समय मुजफ्फरपुर जिले में है। वह नगर प्रसिद्ध लिच्छवि गणतन्त्र की राजधानी थी। लिच्छवियों के अतिरिक्त विदेह तथा ज्ञात्रिक जनपद भी बिहार मे ही स्थित थे। विदेहों की राजधानी मिथिला नगरी प्राचीन काल मे ब्रह्मविद्या के केन्द्र के रूप मे प्रसिद्ध थी। कालान्तर मे भी सस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के लिए उसकी बड़ी ख्याति रही। ज्ञात्रिकों के वंश में ही जैनधर्म के प्रसिद्ध तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म हुआ। प्राचीन अग राज्य की राजधानी चम्पानगरी भागलपुर जिले में स्थित थी। वाणिज्य और व्यवसाय के लिए यह नगरी बहुत प्रसिद्ध थी। यहा से बंगाल की खाड़ी (महोदधि) तक जल-यातायात था।

राजस्थान की चित्रकला

वर्तमान राजस्थान के भी अनेक नगरों मे भारतीय सस्कृति का विकास हुआ। चित्तौड़ के पास प्राचीन माध्यमिका नगरी थी जहा से प्राप्त मौर्यकालीन शिलालेख से राजस्थान के इस भाग में वैष्णव धर्म के प्रचलन का पता चलता है। प्राचीन मत्स्य जनपद की राजधानी विराट् नगरी थी, जो वैराट नाम से वर्तमान जयपुर के अन्तर्गत है। इस नगर की खुदाई से इस ओर की प्राचीन सभ्यता का पता चला है। राजस्थान मे पुष्कर, आबू, नाथद्वारा, काकरोली आदि प्रसिद्ध तीर्थ हैं। अन्तिम दोनो स्थान उदयपुर मे है और वैष्णवो के वल्लभ-सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र हैं। नाथद्वारा मे श्रीनाथ जी की प्रसिद्ध मूर्ति है। आबू जैन धर्म का मुख्य तीर्थ है। वहा ग्यारहवी से तेरहवी शती तक भव्य जैन-मन्दिरो का निर्माण हुआ। इनमे से कई मन्दिर केवल सगमरमर के बने है। जोधपुर के पास ओसिया के मध्यकालीन मन्दिर भी उल्लेखनीय है।

राजस्थान चित्रकला के विकास के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। यहा के विभिन्न रजवाडों मे चित्रकला का विकास मुगलकाल और उसके बाद होता रहा। नाथद्वारा, किशनगढ, बूदी, कोटा, जोधपुर, जयपुर, बीकानेर आदि स्थानों में राजस्थानी चित्रकला की सैकड़ों कृतिया प्राप्त हुई है। इनमें बहुत से चित्रित ग्रन्थ तथा चित्रपट भी हैं।

मध्यप्रदेश का स्थापत्य व शिल्प

वर्तमान मध्यप्रदेश के तीन मुख्य भाग है—विन्ध्यप्रदेश, मध्यभारत तथा महाकोशल। विन्ध्यप्रदेश मे सबसे प्राचीन ऐतिहासिक स्थान भारहुत मिला है, जिसमे ई० पूर्व दूसरी शती मे एक विशाल बौद्ध-स्तूप का निर्माण हुआ। इस स्तूप के प्राप्त भग्नावशेषो से तत्कालीन लोक-जीवन की मनोरजक झाकी मिलती है। जातक-कथाओ से युक्त कलावशेष यहां बड़ी सख्या मे मिले है। इनमे से अधिकांश पर अभिलेख है। विन्ध्यप्रदेश का दूसरा मुख्य स्थान नचना-कुठारा है। इसके समीप ही भुमरा नामक स्थान है। यहा गुप्तकाल मे जो शैव मन्दिर बने उनके कुछ भग्नावशेष मिले हैं। इनकी कला उत्कृष्ट कोटि की है। पन्ना जिले में अजयगढ नामक स्थान चन्देल शासकों का गढ था जहा अनेक चन्देल शिलालेख मिले है। शहडोल जिले मे बान्धवगढ नामक स्थान है, जहा तीसरी-चौथी शती मे राज्य करने वाले मघ शासको के अभिलेख तथा सिक्के आदि बडी सख्या मे मिले है।

विन्ध्यप्रदेश में ही खजुराहो है। चन्देलों ने इस नगर को अपना केन्द्र बनाया। उनके शासन-काल मे यहा अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। कला की दृष्टि से ये मन्दिर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मध्यकालीन धर्म और समाज की स्थिति का पता उन बहुसंख्यक मूर्तियो से चलता है जो इन मन्दिरो पर उत्कीर्ण है। यहा के कारीगरों ने सौन्दर्य और शृगार के विविध उपकरणो को शाश्वत रूप प्रदान कर दिया है।

मध्यभारत में महेश्वर, उज्जयिनी, विदिशा, सांची, पद्मावती, मदसौर, उदयपुर आदि कितने ही महत्त्व-

पूर्ण स्थान हैं, जहां भारतीय संस्कृति अपने विविध रूपों मे विकसित हुई। नर्मदा के तट पर स्थित महेश्वर नगर यादवों की हैहय शाखा का एक केन्द्र था। यहा हाल मे की गई खुदाई से प्रागैतिहासिक सभ्यता का पता चला है और ज्ञात हुआ है कि ईरान के साथ इस प्रदेश का सम्बन्ध था। उज्जयिनी का नाम भारतीय साहित्य और पुरातत्त्व में अमर है। धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र मे नही, व्यावसायिक क्षेत्र मे भी उज्जयिनी की प्रसिद्धि थी। भारत के प्राचीन राजमार्ग उज्जयिनी से होकर जाते थे। यहा के धनी नागरिक धार्मिक कार्यों मे कितना भाग लेते थे, इसका पता सांची आदि स्थानो मे प्राप्त अभिलेखो से मिलता है। उज्जयिनी के समान ही विदिशा की प्रसिद्धि थी। वहा अनेक व्यवसाय उन्नति पर थे। साची स्तूप के निर्माण में विदिशा के धनिकों का बड़ा योग रहा। विदिशा शृगार और विलास की नगरी थी। महाकवि कालिदास ने उज्जयिनी की तरह इसके वैभव का भी वर्णन किया है।

विदिशा के समीप साची के जिन स्तूपो का निर्माण शुग-सातवाहन काल में हुआ, वे प्राचीन भारतीय स्थापत्य के गौरवशाली उदाहरण है। तत्कालीन भारत मे जीवन के प्रति जो मान्यताए थी उनका सच्चा दिग्दर्शन साची मे मिलता है। विदिशा के पास ही उदयगिरि नामक पहाडियों मे गुप्तकाल मे अनेक कलापूर्ण कृतियों का निर्माण हुआ। पृथिवी का उद्धार करते हुए वाराह भगवान् की एक प्रभावोत्पादक मूर्ति यहा विद्यमान है। मध्यभारत के उत्तरी भाग मे पद्मावती (वर्तमान पवाया) नागवशी राजाओं की राजधानी थी। नाग-प्रतिमाओ के अतिरिक्त माणिभद्रयक्ष की एक अभिलिखित मूर्ति यहा मिली है। गुप्तकालीन मिट्टी की बनी हुई अनेक सुन्दर मूर्तिया भी यहा मिली हैं। आधुनिक मदसौर का प्राचीन नाम 'दशपुर' था, जहा गुप्तकाल मे सूर्य का एक बडा मन्दिर था। दशपुर में रेशम के बारीक कपडों का व्यवसाय उन्नति पर था। यशोधर्मा नामक शासक के विशाल विजय-स्तम्भ मदसौर मे आज भी सुरक्षित है। ये इस शासक के द्वारा हूणवशी मिहिरकुल पर विजय-प्राप्ति के सूचक हैं। मध्यभारत मे सुहानिया, पद्मावली, ग्यारसपुर, ग्वालियर, उदयपुर, धार, माडू आदि स्थान मध्यकाल मे बहुत प्रसिद्ध थे। इनसे मिले हुए अनेक प्राचीन अवशेष आज भी प्राचीन गौरव के साक्षी हैं। इनसे मध्यकालीन शैव, वैष्णव तथा जैन धर्मों के विकास का पता चलता है। धार और माडू मे मुस्लिम वास्तु के कुछ दर्शनीय उदाहरण है।

महाकोशल का भूभाग गुप्तकाल और उसके बाद इतिहास मे प्रसिद्ध था। सागर जिले मे एरण नामक स्थान गुप्तकाल मे एक बडा नगर था। यहा सम्राट् समुद्रगुप्त का एक लेख मिला है। इसके अतिरिक्त अन्य कई महत्त्वपूर्ण लेख यहा प्राप्त हुए हैं। गुप्तकालीन विष्णु-मन्दिर के अवशेष आज भी यहा सुरक्षित है। जबलपुर जिले में त्रिपुरी नामक स्थान प्राचीन चेदि राज्य की राजधानी थी। मौर्यकाल से लेकर १२वी शती तक के अवशेष यहा बडे परिमाण मे मिले है। इस नगर के टीले कई मील के विस्तार मे फैले हैं, जिनसे प्राचीन शहर के विस्तार का पता चलता है। रायपुर जिले का सिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) नामक नगर बौद्ध तथा शैव धर्मों का प्रमुख केन्द्र था। यह बहुत समय तक महाकोशल की राजधानी रहा। महाकोशल मे राजिम, करीतलाई, अमरकण्टक, रतनपुर, पाली, जाजगीर आदि स्थान मध्यकाल मे धर्म और कला के केन्द्र थे। इन स्थानो मे अब भी अनेक भग्नावशिष्ट मन्दिर विद्यमान है और भारतीय सस्कृति का मूर्त रूप व्यक्त करते है।

सम्पादक—

बाबूराम सक्सेना

भोलानाथ तिवारी

सम्पादकीय

मुझसे जब प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के भाषा-खंड का सम्पादन करने के लिए कहा गया तो मैंने इस भार को सहर्ष और सधन्यवाद स्वीकार कर लिया क्योंकि श्रद्धेय टडन जी की प्रत्यक्ष या परोक्ष सेवा में जिस सन्तोष का आनन्द मिलता है वह निश्चय ही अग्निहोत्र आदि देव-पूजा से प्राप्त आनन्द से किसी प्रकार कम नही।

श्रद्धेय बाबूजी का जीवन त्याग और तपस्या कर अनुपम उदाहरण है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य-भार से मैं उनके निकट सम्पर्क में आया और वह मुझे सर्वथा विश्वसनीय समझ सके, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात हो गई। मैंने उनके पास बैठकर बहुत कुछ सीखा है। यह कुछ बातों से स्पष्ट हो जाएगा।

प्रथम कांग्रेसी सरकार (१६३७–३६) के बनने के कुछ महीने बाद ही यह निश्चय हुआ कि सम्मेलन, श्री सम्पूर्णानन्द जी, प्रान्तीय शिक्षा-मन्त्री, का स्वागत करे और मानपत्र भेंट करे। मैं सम्मेलन का प्रधानमन्त्री था और बाबूजी की आज्ञा से मैंने मान-पत्र का मसौदा बनाया, उन्होंने अनुमति देकर कहा कि छपने दे दीजिए। उस समय सम्मेलन-मुद्रणालय का अस्तित्व न था, पड़ोस के कृष्ण प्रेस में मैंने छपने भेज दिया। सभा का समय ६ बजे सायकाल नियत था। उससे दस-पन्द्रह मिनट पूर्व तक उस छोटे से मान-पत्र का बाबूजी शुद्धीकरण करते रहे। मैं कांप रहा था कि यदि समय पर न आ पाया तो क्या होगा, पर बाबूजी को इसकी चिन्ता न थी। उनका एक ही ध्येय था कि मान-पत्र सर्वथा दोष-रहित होना चाहिए। वह दोष को सहन नहीं कर सकते।

शिमला-अधिवेशन से हम लोग लौट रहे थे। स्वामी केशवानन्द का आग्रह था कि श्रद्धेय टंडन जी अबोहर का हिन्दी-केन्द्र देखकर जाए। उनको फुर्सत नही थी। मुझे आदेश दिया कि आप जाइए। आज्ञा का पालन करना था। साथ चले, एक स्टेशन पर मुझे दूसरी गाड़ी में बैठकर जाना था। इस बीच उन्होंने दो-तीन चिट्ठियां मुझसे लिखवाई। मै आशा करता था कि वह एक नजर से देखकर हस्ताक्षर कर देंगे, पर ऐसा नहीं हुआ। कई जगह वाक्य-विन्यास बदला, मेरे वर्णों की आकृति जहां-तहां ठीक की और तब हस्ताक्षर किए। कितनो भी जल्दी हो, वह बिना पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हुए, सही नही करते। ब्यौरे के बारे में इतना सचेत और जागरूक मैंने दूसरा व्यक्ति नही देखा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन आरंभ से ही उनका प्राण-स्वरूप रहा है। उसकी प्रतिष्ठा को वह अपनी प्रतिष्ठा और उसकी निन्दा को अपनी निन्दा समझते रहे हैं। उसके मान

और गौरव के लिए वह अपने व्यक्तित्व को त्याग चुके हैं। सम्मेलन की स्थायी समिति ने यह निश्चय किया था कि सम्मेलन का २५ वर्ष का इतिहास लिखाया जाए। एक सज्जन को प्रारूप तैयार करने के लिए रुपये पेशगी दिए गए। उन्होंने न कार्य करके दिया और न रुपये ही वापस किए। एक दूसरे महोदय ने पारिभाषिक शब्दावली तैयार कराने का ज़िम्मा लिया और स्थायी समिति को आश्वासन दिया कि उनको १००) आरंभिक व्यय के लिए दिए जाएं, शेष वह उगाह लेंगे। दिए गए। वर्षान्त तक न उन्होंने कोई काम किया और न उस रकम का हिसाब दिया। पत्रों का उत्तर ही न देते थे। ऊपर वाली रकम की तरह, इस रकम को भी स्थायी समिति ने बट्टेखाते में डालने का निश्चय किया। वार्षिक विवरण में मैंने अपने (प्रधान मन्त्री के) निवेदन में इन दोनों बातों का उल्लेख करके विवरण छपवा डाला। वार्षिक अधिवेशन को जाने के लिए हम लोग तैयार थे कि बाबूजी मेरे घर पर आए और मुझसे कहा कि "उपर्युक्त उल्लेख विवरण से निकाल दीजिए।" मैंने पूछा कि बाबूजी, क्या यह बात जो मैंने लिखी है वह झूठ है। बोले, "नहीं, अक्षरशः सत्य है। पर संस्था बदनाम होगी। लोग यही कहेंगे कि सम्मेलन में इस तरह अपव्यय होता है।" ये वही बाबूजी थे जो सम्मेलन में चार आने, आठ आने के व्यय को भी कसते थे! मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। प्रधान मन्त्री का निवेदन उक्त उल्लेख को निकालकर फिर से छापकर वार्षिक विवरण में लगाया गया।

इसी प्रकार १९४८ के दिसम्बर में सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। जो लोग उसके पदाधिकारियों में बाद को चुने गए वे छिपे-छिपे यह प्रचार कर रहे थे कि परीक्षा-मन्त्री ने कई हज़ार रुपये खा लिए हैं। मैं उस समय कार्यवाहक उपसभापति था और मैं जानता था कि यह प्रचार सर्वथा निर्मूल और चुनाव जीतने के लिए किया गया मिथ्या आरोप है। परीक्षा-मन्त्री भी श्रद्धेय बाबूजी के स्वजन आत्मीय थे। मैंने बाबूजी से कहा कि 'बाबूजी, मैं भरी सभा में इस मिथ्या आरोप का खंडन करूँगा और विरोधी पक्ष को प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए ललकारूंगा।' बाबूजी ने तुरन्त आग्रहपूर्वक मना किया और बोले, "सक्सेनाजी, मुझे इन बातों का आपसे अधिक अनुभव है। हमारा समाज सत्यान्वेषण नहीं करता। बात बढ़ाने से बात और अधिक फैलेगी और अन्ततः सम्मेलन की ही हानि होगी। आप कुछ न कहिए।" उनकी आज्ञा से, मुझे क्रोध का घूंट पी जाना पड़ा और मैंने चुप्पी साध ली।

एक बार मुझसे बाबूजी ने कहा कि "आप खादी ही पहनने का व्रत ले लीजिए।" इस प्रस्ताव से, संभव है, बाद में मुझे कांग्रेस में ले जाने की इच्छा रही हो। मैंने उत्तर दिया कि, "मैं अधिकांश खादी ही पहनता हूं, पर जब तक कुटुम्ब-भर को न पहना सकूं तब तक कैसे वद्ध-वचन हो सकता हूं और खादी महंगी बहुत पड़ती है।" उनका उत्तर सुनकर मैं रोमांचित हो गया। उन्होंने कहा, "नहीं, महंगी नहीं पड़ती। साबुन से धोने का अभ्यास कर लेने से थोड़ी-सी धोतियां रखने से काम चल जाता है। कुर्ते पीठ के ऊपरी हिस्से पर अधिक ज़ोर पड़ने से फटते हैं इसलिए उस भाग को दुहरे कपड़े से सिलाना चाहिए। और

धोती बीच से फटती है, तब उसकी दो लुङ्गियां कर लेता हूं। लुङ्गियां फटने लगें तो उनके अंगोछे हो जाते हैं। और अन्त में अगोछों के रूमाल। में तो भाई, इसी क्रम से कपड़ा इस्ते-माल करता हूं।"

आज दिल्ली या प्रादेशिक राजधानियों में दिन में भी दीपक लेकर तलाश कीजिए तो इस कैंड़े का लोक-नेता नहीं मिलेगा ! राष्ट्र का दुर्भाग्य कि इनकी सेवाओं का पूरा लाभ न उठाया जा सका !

मैं तो अपना सौभाग्य समझता हू कि ऐसे महापुरुष के सम्पर्क में आया और अपनी योग्यतानुसार उनसे कुछ सीख सका।

× × ×

प्रस्तुत खड में पंद्रह लेख जा रहे हैं। इनको प्राप्त करने का सारा श्रेय मेरे सह-योगी डा० भोलानाथ तिवारी को है। मैंने लेखों को देख लिया है, कई प्रकार से प्रस्तुत सामग्री उपादेय, संग्रहणीय और बहुमूल्य है। सम्पादन में डा० तिवारी के अतिरिक्त मेरे विभागीय सहयोगी श्री रमेशचन्द्र मेहरोत्रा ने भी मदद की है। मै इन दोनों का कृतज्ञ हू।

हिन्दी के कोश और कोशशास्त्र के सिद्धांत

डा० हेमचन्द्र जोशी, डी० लिट्०

यास्काचार्य का निघटु प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा (वैदिक) का पहला कोश है। इसके साथ यास्क ने निरुक्त देना भी उचित समझा। निरुक्त का अर्थ है किसी शब्द पर नि शेष कहना। खडी बोली मे निरुक्त का पर्याय व्युत्पत्ति है। हम जानते ही है कि **वराह** 'जगली सूअर' को कहते है; पर यह नही जानते कि यह नाम क्यो और कैसे गढा गया। सस्कृत वैयाकरण कहते है कि शब्द के भीतर धातु, प्रत्यय और उपसर्ग रहते है। धातु नाम भी हो सकता है। इस कारण निरुक्तकार ने बताया कि **वराह** शब्द **वराहार** 'जिसका आहार बहुत है' से निकला। वराह, वराहार का सक्षिप्त रूप है। अब, हमारी बुद्धि पर प्रकाश पडा कि अधिक खाने के कारण जगली सूअर को **वराह** नाम दिया गया। यास्क की उक्त व्युत्पत्ति ने हमारे आगे **वराह** शब्द का मूल-चित्र खीच दिया और उक्त शब्द को विशेष महत्त्व सौपा तथा उसकी महिमा हमारे मन मे जमा दी। सब जानते है कि कुछ जतु बिलो मे रहते है। बिल, हम सबकी जबान पर है, पर हमे पता नही कि **बिल** शब्द कहा से आया, कैसे बना और हम इसे **बिल** क्यो कहते है? यह शब्द वैदिक काल से चला आया है और आज भी खडी बोली मे धडाधड बोला जाता है। इस शब्द पर भी यास्क ने प्रकाश डाला है। उसने बताया है कि **बिल** **भिद्** 'छेदना, तोडना' धातु का एक रूप है। अब हमारी समझ मे आया कि शब्द सार्थक है। लबे और पतले जीव मिट्टी, दीवार आदि भेद कर अपने वास के लिए जिस छेद को तैयार करते है, उसका नाम वैदिक जनता ने **बिल** रखा। यहा **भ** का **ब** और **द** का ल हो गया है। **बिल** शब्द जनता की बोली से लिया गया होगा। वेदो मे जनता की बोली के कुछ रूप आगए है। **विकृत** का **विकट, प्राकृत** का **प्रकृत, प्रकृत** का **प्रकट** ऐसे ही शब्द है। जो हो, यास्क की निरुक्ति ने इस शब्द के विषय में हमारी ज्ञान की आखों का परदा उठा दिया। इसकी व्युत्पत्ति से हमे आनद मिला और पता चल गया कि यह कैसे और कहा से आया? निरुक्त, निघटु का प्रमुख अग माना गया। उणादि सूत्र उन शब्दो की व्युत्पत्ति बताने को तैयार किए गए, जिनकी व्युत्पत्ति बनना कठिन था। भले ही, इसकी कई व्युत्पत्तिया हँसी पैदा करने वाली ही क्यो न हो, पर प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के भाषाशास्त्रियो के लिए महान गौरव और गर्व का स्थान है कि उन्होने ही ससार मे पहले-पहल इस नियम का आविष्कार किया कि कोई भी शब्द अपना अर्थ और व्युत्पत्ति अपने भीतर छिपाकर रखता है। आदि आर्य-भाषा के समय से यह नियम काम करता था। किन्तु इसका आविष्कार प्राचीन भारत के भाषाशास्त्रियो की देन है और आज सभी भाषाशास्त्री इससे लाभ उठा रहे है। यह तथ्य सभी भाषाशास्त्री स्वीकार करते है।

यूरोप मे तीन सौ साल से कोशो मे शब्द के साथ उसकी व्युत्पत्ति और अर्थ देने का प्रचलन है। जॉनसन का कोश अठारहवी सदी के अत मे प्रकाशित हुआ। इसकी प्राय सौ वर्ष तक, अगरेजी भाषा-भाषियो मे, धूम रही। इसकी विशेषता थी व्युत्पत्ति और अर्थ की स्पष्टता। जॉनसन ने सारे अगरेजी साहित्य को छान कर कोश पर हाथ लगाया। उसे अवश्य ही चमकना था। किन्तु किसी भी विषय मे प्रगति अबाध और निरतर होती रहती है। इधर डेढ सौ वर्ष से, यूरोप मे प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा का प्रगाढ और तुलनात्मक अध्ययन हो रहा है। इससे भाषाशास्त्र और व्युत्पत्ति के विषय मे क्रांति हो गई है। जर्मन विद्वान ब्रुगमान, हाल्सफेल्ड क्रूगे, वाकरनागल आदि ने इस क्षेत्र मे वह शोध की कि स्वय प्राचीन भारतीय व्याकरणकार कई स्थलो मे अपूर्ण सिद्ध हो गये। इन विद्वानों ने व्युत्पत्ति के मूल तक

पहुंचने का प्रयत्न किया और इसमें बहुत दूर तक सफलता प्राप्त की। क्लूगे ने 'सव्युत्पत्तिक जर्मन कोश' लिखा। इसमें जर्मन शब्दों की व्युत्पत्ति प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा तथा उससे भी प्राचीन आदि-आर्य-भाषा तक पहुंचाई गई। एक शब्द लीजिए; जर्मन मे लोमड़ी को **फ़ुक्स** कहते है। क्लूगे ने खोज से निदान निकाला कि **फ़ुक्स** प्राभा (=प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा) के **पुच्छ** से बना है। यह व्युत्पत्ति इस कारण निकली कि सियार की पूछ नरम और घने बालों की होती है। किसी पदार्थ या जीव की किसी एक विचित्र विशेषता के कारण भी उसका नामकरण किया जाता है। प्राभा० में **रोम-पुच्छक** एक जीव का नाम है। ऋग्वेद मे इसका बहुत व्यवहार है। क्या यह जीव लोमडी (=लोम 'रोम'-अपभ्रंश प्रत्यय -डी) तो नही है ? मोनियर विलियम्स ने इस शब्द का अर्थ 'भेड, सूअर और गिलहरी' दिया है, जिनके विषय में कुछ निश्चित कहा नही जा सकता, क्योंकि प्राभा० शब्दों का अर्थ समय के प्रभाव से कुछ का कुछ हो गया है। प्राभा० में **टिड्डी** को **शलभ** कहते थे, प्राकृत (प्रा०) मे इसका रूप **सलह** हो गया। कुमाऊनी बोली मे **टिड्डी** को आज भी **सलौं** कहते हैं, पर खडी बोली (खबो०) मे इसको **टिड्डी** कहते है। कम-से-कम डेढ हजार वर्ष से मध्य-भारतीय आर्य-भाषाओ मे जनता **टिड्डी** को **तेड्डु** कह रही है। देशीप्राकृत (देप्रा०) मे यह शब्द मिलता है। गुजराती मे इसे **टिड्डु** कहते हैं। इस दृष्टि से सम्भव है कि **रोम-पुच्छक** 'लोमडी' ही हो। चँवरी-गाय का नाम भी **रोम-पुच्छक** है। इन तथा इनके अतिरिक्त और अनेक प्रमाणों से महापडित क्लूगे ने निदान निकाला है कि प्राभा० **पुच्छ** का रूप जर्मन (ज०) मे **फ़ुक्स** हो गया है। वेब्स्टर के प्रसिद्ध अगरेज़ी (अ०) कोश ने यह निदान पक्का मानकर अ० **फौक्स** की व्युत्पत्ति **पुच्छ** तक पहुंचाई है। यह व्युत्पत्ति ठीक ही है। प्राभा० मे लोम (न्) का अर्थ 'पूछ के बाल' है। इसी कारण सियार को **लोम-रा** भी कहते है। खबो० के शब्द **लोम-ड़ी** का अर्थ भी **लोम-(न्)-ड़ी** 'नरम और बालदार पूछ वाला' है। हिन्दी के प्रसिद्ध कोश हिन्दीशब्दसागर तथा सक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर मे बताया गया है कि **लोम-डी** प्राभा० **लोमटिक** या **लोमलीय** से निकला है। पर ये दोनो शब्द मेरे देखने मे नही आए। प्राभा० मे **रोम-पुच्छक** है, **रोम-श, रोम-आश** भी मिलते है। लोम (न्) भी है, किन्तु **लोमटिक, लोमलीय** नही है। हिं० श० सा० के विद्वान लेखको ने उक्त प्राभा० के शब्द कहा पाए, यह बडा रहस्य है ! प्राहि० मे **लोमड़ी** का एक नाम **लोवा** भी मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति उक्त कोश ने **लोमश** मे निकाली है जो अशुद्ध है। **लोवा** प्राभा० (वैदिक) **लोपाश** का रूप है। **लोपाश** वैदिक (वै०) **लुप्** या **रुप्** 'विध्वस करना' मे बना है। अवेस्ता (अ०) मे **लोपाश** का प्रतिशब्द **रओपिश** है, पहलवी (पह०) मे **रोपास, रोबास** मिलता है, फारसी (फा०) मे यह रूप **रूबाह** हो गया। वै० **लोपाश** सस्कृत (स०) मे **लोपाक** रूप मे भी है। यह **रुप्, लुप्** 'लूटना, लोप करना' से बना है। वै० **रुप्** धातु (धा०) पह० **रोप** 'लूट' मे भी है। अं० मे rob इस **रुप्** का रूपान्तर है। इसलिए स्पष्ट है कि **लोवा** का मूल **लोपाश** मे ही मिलता है। **लोमश** वह व्युत्पत्ति है जो बिना विचारे दे दी गई। प्राय· नव्वे वर्ष से शुद्ध व्युत्पत्ति देने के साधन पैदा होने लगे। पहला व्युत्पत्ति-कोश अ० मे १८८० ई० मे प्रकाशित किया गया। यह महापडित स्कीट ने लिखा। १८८२ ई० मे उन्होंने संक्षिप्त अगरेजी व्युत्पत्ति कोश निकाला। उस समय शब्दो की बाल की खाल निकाली जा रही थी कि अपने मूल का रहस्य-उद्घाटन करे। इस कारण अपने १६०१ के सस्करण मे स्कीट ने भूमिका मे लिखा—'इस बीच बहुत-से महत्त्वपूर्ण लेख और ग्रथ निकले है जो नाना विद्वानो की शोध का फल है। इनका विषय इडो-जर्मन तुलनामूलक भाषाशास्त्र है। इन भाषाओ के ध्वनि-परिर्तन का विश्लेषण करने के लिए सठीक ढग निकाले गए हैं। भाषाशास्त्र बहुत आगे बढ गया है। क्लूगे का जर्मनभाषा का व्युत्पत्ति-कोश, फ्राक का डच भाषा का व्युत्पत्तिकोश, हान्सफेल्ड और दार्पस्टेटर का नवीन फ्रेंच-कोश आदि व्युत्पत्ति के क्षेत्र मे बहुत आगे बढ गए है। इनके अतिरिक्त कुछ अति महत्त्वपूर्ण ग्रंथो ने, जैसे ब्रुगमान का 'भारोपा भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' आदि ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को स्पष्टतर और अधिक सठीक बनाकर व्युत्पत्ति को नया रूप दे दिया है। इसलिए अति आवश्यक है कि नये तथ्यों के साथ-साथ चलने के लिए मेरे ग्रंथ का नया, अधिक शुद्ध सस्करण निकाला जाय।' उत्तम से उत्तम हिन्दी-कोश मे प्राय: सब व्युत्पत्तियां अशुद्ध हैं। एक तो, हमारा व्युत्पत्ति देने का ढग गलत है। हम हिन्दी-शब्दो के आगे से, फा०, अ०, पुर्त० आदि रख देते हैं और समझते हैं कि व्युत्पत्ति दे दी गई। अब थोडा विचार कीजिए कि **सम** (स०) का अर्थ **समान** देकर क्या व्युत्पत्ति मालूम हो गई ? **मील** (अ) लिखकर कौन-सी व्युत्पत्ति हाथ लगी ? अं० में **मील** को **माइल** कहते हैं। **नमाज़** (फा०)

से हम क्या समझे ? कोश का कर्तव्य है कि हमे बताए कि यह आर्य शब्द है और प्राभा० **नमस्या, नमस्** से सम्बन्धित है। **गिरजा** (पुर्त० **इग्रिजिया**) से क्या पता चला ? **इग्रिजिया** अशुद्ध है, पुर्तगाली मे **इग्रेजा** है। यह भूल मक्षि० शब्द-सागर मे तीस साल से चली आ रही है। स० हिशसा० के कई सशोधित (?) सस्करण निकल गए है, पर इसके विद्वान संपादको ने यह भद्दी भूल नहीं सुधारी। उधर स्कीट का अगरेजी व्युत्पत्ति-कोश देखिए; उसमे बताया गया है कि इसका यूनानी (यू०) रूप **कुरिअकौन्** था जो **कुरिअकॉस्** 'स्वामी या प्रभु का' नपुसकलिग का रूप है। यू० मे **कुरॉन्** 'शूर' को कहते हैं। स्कीट ने बताया है कि **कुरॉन्** और प्राभा० **शूर** ध्वनि-परिवर्तन के अनुसार एक शब्द है। इस व्युत्पत्ति से हमारी ज्ञान की आख के सामने शब्द का इतिहास और पूरा चित्र खिच गया। उधर अपने कोश देखिए कि सस्करण के बाद सस्करणो का ताता बधा है पर तीस साल मे **इग्रिजिया** सुधार का **इग्रेजा** नही किया गया। हिन्दी मे एक रोग को **अपरस** कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति दी गई है—(स० अ– स्पर्श)। इससे क्या समझा जाय ? वास्तव मे यह शब्द अरबी (अ०) से हिन्दी मे आया है। स० कोशो मे यह शब्द या इसका तथाकथित मूल **अ-स्पर्श** रोग कही नही मिलता। अ० मे कोढ को **बरस** कहते है और **अबरस** भी, इस **अबरस** का हिन्दी (हि०) मे **अपरस** हो गया। अ० और फा० का भाषाशास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण ऐसी भद्दी भूल को हिन्दी कोशो मे आदर का स्थान प्राप्त हो रहा है। गरीब की जोरू का खुदा रखवाला है। हिन्दी-कोशों का रखवाला कोई नही है। एक शब्द **दिवाला** है। अपने कोशो मे बताया गया है कि यह हि० **दिवाली** से निकला है; पर है यह वास्तव मे फा० शब्द। इस पर विद्वानो ने कुछ विचार नही किया। इस प्रकार अपने कोशो मे व्युत्पत्तिया प्राय सभी अशुद्ध है। इस पर कोई सस्था या सरकार ही कुछ कर सकती है। हमारे कोशो से अधिक शुद्ध व्युत्पत्ति वाले कोश अन्य प्रादेशिक भाषाओ मे है। मराठी का मराठी-व्युत्पत्ति-कोश आदि-भारोपा-भाषा तक पहुंचा है। वह तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक है। यह प्रयास सचमुच मे स्तुत्य है। बगला, उडिया गुजराती आदि मे अच्छे-अच्छे कोश है। हम ही क्यो पिछडे रहे ? कोश और व्याकरण की त्रुटिया सारे साहित्य को अशुद्ध कर देती हैं।

कोश मे प्रमुख स्थान अर्थ का है। अर्थ सरल भाषा मे अति स्पष्ट और सठीक होना चाहिए। प्रत्येक शब्द के अर्थ सभी पहलुओं और स्थलो के विचार से पूरे-पूरे होने चाहिए। हमारे हिदी-कोशो मे इस दृष्टि से भी बहुत कमी है। एक शब्द **बितताना** लीजिए। सूरदास मे इसका प्रयोग मिलता है और वह तीन अर्थों मे। ये तीन अर्थ है (१) बीतना समाप्त होना, (२) आनदित या विशेष तृप्त होना और (३) सताप करना, दुःख करना, विलाप करना, किन्तु हिशसा० मे इसका केवल एक अर्थ दिया गया है। उसमे है—'बितताना–क्रि० अ० (हि बिलखना) बिलखाना। व्याकुल होना, सतप्त होना। उ० (उदाहरणार्थ) रोवरि महरि फिरति बिततानी। ' इस शब्द पर 'सरस्वती' सितबर १९५९ मेरा लेख देखे। सतप्त अर्थ ठीक है और यह वितप्त का वितत्त होकर निकला है, न कि बिलखना से। विद्वान पाठक देखे कि ध्वनिपरिवर्तन के किस नियम से **बिलखना** बितताना बन गया ? पाइय-सद्द-महण्णवो मे **वितृप्त** से निकला **वितत्त** है इसका प्रयोग जैन शास्त्र मे मिलता है। तीसरे अर्थ बीतना या समाप्त होना का भी सूरदास ने उपयोग किया है। हिशसा के एक अर्थ से सूरदास द्वारा उपर्युक्त तीनों अर्थ कैसे मालूम होगे ? कोश की यह त्रुटि अक्षम्य है। इसमे अर्थ-क्षेत्र मे अनर्थ की सृष्टि हो जाती है। और देखिए, **समाचार** शब्द भी उक्त कोश मे दिया गया है—'समाचार-सज्ञा पु० (स०) सवाद, खबर, हाल' विज्ञ पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे सारा स० साहित्य छान डाले, उन्हे समाचार का कोश मे दिया अर्थ नहीं मिलेगा। भले ही आप्टे या विलसन के कोशो मे एक अर्थ news भी दिया गया है। पाली मे **समाचार** का अर्थ **'सघ का आचार'** है। स० मे **समाचार** का अर्थ पीटर्सबुर्गर सस्कृत-जर्मन कोश मे 'अच्छी तरह करना' दिया गया है। समाचरति, समाचरेत् आदि का अर्थ भी यही है। केवल एक शब्द **संचारी** है दूती का कार्य करने वाली स्त्री। अपभ्रश (अप०) में सयंभू ने **समाचार के** अर्थ मे **संचार** का व्यवहार किया है। उसकी रामायण मे एक स्थान पर है—'लइ एत्तडउ सारु सचारु हो।' प्रसग से इसका अर्थ यह बैठता है—'मै इतना ही बढिया समाचार लाया हू।' तुलसी ने प्राकृत रामायणें पढ़ी थी, सो उन्होंने समझा होगा कि इस **संचार** का स० रूप **समाचार** होगा और अपने रामचरितमानस मे **समाचार** 'खबर' के लिए रख दिया। इस शब्द का प्रचार सिध से लेकर बगाल तक पाया जाता है। दक्षिण मे नही है।

इस स्थिति मे **समाचार** प्रा० या अप० **संचार** से निकला। कोश में इसका निर्देश होना चाहिए। तब उत्पत्ति **और अर्थ** की स्पष्टता का बोध पाठकों को होगा।

कोश मनगढत नही होना चाहिए, यह कोश-शास्त्र का पहला सिद्धात है। इसके सब शब्द साहित्य के भीतर व्यवहृत होने चाहिए। यूरोप के सभी देशो की भाषाओं मे कोश मे केवल वे ही शब्द दिए जाते है जिनका समावेश उच्च कोटि के साहित्यिको द्वारा ग्रन्थो मे किया गया हो। इतना ही क्यो, न्यू इगलिश डिक्शनरी मे अंग्रेजी साहित्य से शब्द चयन करने मे ५० वर्ष लगे। शब्दों के सब प्रकार के उचित प्रयोग के उदाहरण खोजने मे अधिक समय लगा। यह न्यू इगलिश डिक्शनरी अब आक्सफोर्ड डिक्शनरी नाम से जगत मे प्रसिद्ध है। इसमे यह भी बताया गया है कि शब्द पहले-पहल कब और किसके ग्रन्थ मे व्यवहार मे आया। इससे शब्द के इतिहास का पता चलता है। फ्रेंच कोशकार लित्रे ने फ्रेंच साहित्य मे व्यवहृत प्रत्येक शब्द के प्रथम प्रयोग का समय ढूढने मे अपना सारा जीवन होम दिया। प्रायः सौ वर्ष से लित्रे का फ्रेंच कोश फ्रेंच भाषा का गौरव बढा रहा है। हमारे कोशों मे अंग्रेज कोशकार टोमस, गिलक्राइस्ट, शेक्स-पियर, फोर्ब्स, बेट्स, फैल्लन और प्लैट्स ने अपने सपादित कोशो मे केवल वही शब्द लिये है जो साहित्य मे काम मे आ चुके हो। फैल्लन ने तो अपने कोश मे प्रत्येक शब्द के नाना अर्थों के लिए नया उदाहरण खोज-खोजकर दिए हैं, इस कारण उसके कोश का जोड नही मिलता। शेक्सपियर, गिलक्राइस्ट आदि ने दखिनी हिंदी के शब्द भी दिए थे। हिंदी या उर्दू मे दहि० का कुछ पता हाल-हाल तक न था, सो उस हिंदी के शब्द हमारे कोशों मे मिलते ही नही। हिंदी भाषा के इतिहास मे इन शब्दो का महत्त्व है। इनका देना भी आवश्यक है। अब देखिए **हुआ** के पहले दो रूप थे **हुता, अथा। हुता** महिशिसा० मे, है **अथा** का कही पता नही है। यह **अथा, था** का पूर्व रूप है और दहि० मे मिलता है। यह **अथा** वै० **अस्थात्** से **अत्था** होकर आया है। हिंदी की परम्परा मे इसका स्थान है। दहि० का यह रूप अपनी भाषा के ध्वनिपरिवर्तन का अच्छा उदाहरण है। हिंदी-कोशो मे यह नही पाया जाता। और सुनिए, **जाना** कोश मे है और ठीक है किन्तु **गया** के विषय मे है—'गया—क्रि० अ० (म० गम्) जाना क्रिया का भूतकालिक रूप। थोडा विचार करने पर साफ हो जायगा कि **गम्** (?)से **गया** नही बना है। यह **गम्** के **गत** रूप से बना है और वह पहले प्रा० मे **गय** रूप प्राप्त करने के बाद। **गम** (?)से **गया** कैसे आयगा? **गया-बीता** मे देप्रा० **गय** 'मरा हुआ' है। कोश को इतना तो अवश्य बताना चाहिए। आक्सफोर्ड डिक्शनरी मे देखिए किस प्रकार go और went की व्युत्पत्तिया दी गई है। इसी प्रकार is, was' were आदि समझाये गये है कि इनके मूल रूप भिन्न-भिन्न है। ऐसा हिंदी मे भी होना ही चाहिए। हमे ज्ञान और ज्ञान के उद्गम भाषा का सठीक और सूक्ष्म परिचय प्राप्त कर अन्य सभ्य देशो के समकक्ष बनना चाहिए।

अब कुछ शब्द लीजिए, जिनका प्रयोग हिंदी मे बहुत कम या शायद ही होता हो। **तालीशपत्री, तालाख्या, तामस मख, तामस बाण ताम्रकूट** 'तबाकू?' (तबाकू तो दक्षिणी अमरीका से पुर्तगाली लाए। मोनियर विलियम ने इस शब्द का अर्थ एक झाडी लिखा है, इस पर विचार होना चाहिए था) **ताम्रकर्षी** ताबे का बरतन बनाने वाला, **ताम्रकार** 'अजना' (प्रूफ की भूले है, ऐसी भूले हजारो की सख्या मे है।) **ताम्रगर्भ** (ताम्रगर्भ) **ताम्रपाकी, ताम्रावी, तार्क्ष, तार्क्षय, तार्क्षी, तार्क्ष्य, तार्क्ष्यज, तार्क्ष्यप्रसव, तार्क्ष्यशैल, तार्क्ष्यी, तार्प्य** आदि शब्द ऐसे है जिनमे से कुछ सस्कृत कोश (मो० सि०) मे नही मिलते और कुछ के अर्थ अशुद्ध और भ्रमात्मक है। स० कोश मे **तार्क्ष** और **तार्क्ष्य** ये दो शब्द ही मिले। इनसे बने और शब्द कहा से आये? कोशकार ही जाने। इस प्रकार के शब्दों से कोश के सैकडो पन्ने भरे हैं। भला हिंदी साहित्य मे क्या कभी वे शब्द काम मे आये? पहले यह जान लेना चाहिए। ऐसे अशुद्ध-अप्रयुक्त शब्दों से कोश का कलेवर बृहदाकार बना देना, कोशशास्त्रज्ञो के लिए अनुचित है।

हिन्दी-कोशो मे मनमानी घरजानी का राज है। जो शब्द जिस रूप मे साहित्य के ग्रथो में आए हैं, उनका रूप तोड़ा-मरोड़ा गया है। भाषण-शास्त्र का नियम है कि किसी भाषा शब्द का अद्यतम रूप मूल-रूप से अधिक महत्त्व का होता है। हिन्दी के लिए **अद्य** और **अज्ज** का उतना महत्त्व नही है जितना कि उक्त शब्दों की परम्परा मे आए हुए नवीन-तम रूप **आज** का। **नव, नव्य** से **नया** का मूल्य हिन्दी के लिए अधिक है। हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए **मूर्च्छन** से **मुर-झाना** का बहुत अधिक महत्त्व है। पर हिन्दी-कोशो ने उलटा मार्ग पकडना उचित समझा है। तुलसी ने **घटजोनी शब्द**

का प्रयोग किया है, यह व्यवहृत शब्द-कोशों में नही है। उनमे सम्पादको ने, न मालूम क्या समझकर, इसको उडा दिय है और स० शब्द **घटयोनि** दे दिया है। तुलसी या सूरदास ने **कौसल्या** लिखा है, पर हिन्दी के कोशों मे यह व्यवहृत शब्द है। इस प्रकार जायसी, तुलसी, सूर आदि द्वारा प्रयुक्त प्राचीन हिन्दी की शब्द-सम्पत्ति भ्रष्ट रूप मे कोशो मे आई है। हिन्दी के शब्दो के रूप मध्य भारतीय आर्य भाषाओ द्वारा प्रभावित और परिवर्तित होकर हमारे पास आए है। उन रूपो का स० से अधिक महत्त्व है, ऐसे स्थलो पर उन हिन्दी रूपो का सस्कृतीकरण करना हिन्दी को अपने उच्च पद से गिराना अर्थात् भ्रष्ट करना है। हमारे कोशो मे हिन्दी के प्राचीन और परम-प्रतिभाशाली कवियो के शुद्ध शब्दो की अव हेलना कर रूप विकृत कर दिया गया है। क्या भाषा के प्रयोग मे अपना जोड न रखने वाले ये महाकवि जिन्होने प्राचीन हिन्दी को इतना ऊचा चढा दिया कि सारे ससार को कबीर, तुलसी आदि का अनुवाद करना पडा, हमसे भी गए-बीते थे कि अब हम यह कुप्रयास कर रहे है कि उनके शब्द सुधारे। कोशो मे तो उनके शब्द ज्यो-के-त्यो दिए जाने चाहिए। इसी मे हिन्दी का गौरव और सौष्ठव है।

कोश को पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब वह तुलनात्मक हो। भाषा का तुलनात्मक ज्ञान नया है। यह इधर डेढ सौ वर्षों की उपज है। किसी भाषा का ज्ञान बिना सम्बन्धित भाषाओ तथा शब्दो की परम्परा या इतिहास मे उसके विकास की क्रमश तुलना के नही होता। साथ ही किसी भाषा-वर्ग के शब्दो की तुलना से उस वर्ग की भाषा-विशेष के शब्दो की व्युत्पत्ति और ठीक अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। **विधवा** शब्द लीजिए। हम लोग सदा समझते रहे कि प्राभा० के वैयाकरणो के अनुसार यह **वि-धव** 'विना-पति' से बना है। **वि-धव-आ, विधवा** हो गया। पर ऋ० मे **विधवा** आया है किन्तु **धव** 'पति' नही आया है, भले ही यास्क ने **धव** का अर्थ 'पति' तो नही, किन्तु 'नर' दिया है। पाश्चात्य पडितो ने लै० मे **विधवा** के अर्थ मे विद्उअ देखा और पाया कि **विद्** का अर्थ 'अलग करना, भाग करना' है सो तुरत ताड गए कि जो (पति से) अलग हो गई हो वह **विधवा** है। फिर उन्होने पाया कि ऋ० मे **विध्** का अर्थ 'अकेले रहना रिक्त होना' है। वै० **विधु** का अर्थ 'चन्द्रमा' इसलिए है कि चन्द्रमा अकेला अथवा आकाश मे बेजोड है। श्लोक भी है—**'एकश्चन्द्रस्तमो हंति।'** इस **विध्** धातु से हमारा **विधवा** शब्द व्युत्पन्न हुआ। **वि-धव-आ** से नही। अब देखिए यह शब्द आर्य-परिवार (भारोपा) का है। प्रास्ला० मे **विधवा** को **विदोव** कहते थे, यू० मे **एइस्थौस** 'अकेला ब्रह्मचारी' प्राआइरि० मे इसका रूप **फेद्ब** है गौ० मे **विधवा** को **विदुवो** कहते है। आदि आर्य-भाषा मे इसका रूप **विधे-उ-ओ** रहा होगा। प्राभा० मे पत्नीरहित पुरुष को **वि-धव-स्** (=ः) कहते थे, **विधुर** भी। तुलनात्मक अध्ययन से उक्त शब्द का सच्चा रहस्य खुल गया। जब मै हिशसा का सम्पादन कर रहा था तो उसमे एक शब्द **छगन** या **छगनिया** मिला। **छगनिया** का अर्थ स्पष्ट ही 'छगन से बना' होता है। इसकी व्युत्पत्ति केवल देप्रा० मे **छगण** और **छगणिया** मिले। पहले शब्द का अर्थ 'गोबर' तथा दूसरे का 'गोइठा' है। इससे व्युत्पत्ति का सहारा मिला, व्युत्पत्ति का परदा नही उठा। केवल इतना ही पता चला कि भारतीय आर्य जनता कभी यह शब्द बोलती थी तथा इसने साहित्य मे स्थान प्राप्त कर लिया था। इसके कुछ समय बाद मुझे पडितप्रवर वाकरनागल का 'आल्ट इ डिशे ग्रामाटीक' पढने का अवसर मिला। उसने लिखा था कि **यकृत** मे **त** प्रत्यय है, क्योकि भारोपा भाषा-वर्ग मे सर्वत्र **यकर** या प्राभा० **यकृ** एक शब्द के रूप मे मिलता है। यू० मे **एयार,** लै० **येकुर,** अवे० **याकरे,** फा० **जिगर** आदि रूप पाए जाते है जिनमे **यकृ-त** का **यकृ** सदा एक साथ है, इसलिए इसमे केवल—**त** प्रत्यय है। **शकृ-त** में भी यह प्रत्यय होना चाहिए और इसका दूसरा रूप कभी **शक** या **शकन्** भी रहा होगा। इसका षष्ठी रूप **शक्न** (—**स्**) होता ही है। खत्ति (Hittite) भाषा मे कुछ शब्द ऐसे पाए गए है कि उनने अत मे **र्** या **न्** समान रूप से एक ही अर्थ मे होता था। **एशर्** 'रक्त', **असृ-क**' है, **एशन्** भी उसी अर्थ मे है। **असृ** मे **क** प्रत्यय है। मूल-शब्द **असृ** है। इसका षष्ठी का रूप भी **अस्न-स्** है। इसका भी दूसरा रूप **असन्** रहा होगा और यह **ख-एशन्** का प्रतिरूप है। सस्कृत में और भी ऐसे शब्द है—जैसे, **धन्वन् धनुर् विद्वन्** (अथर्ववेद) **विदुर** आदि शब्द इसी आदि आर्य-परम्परा के है। अब **छगन** का परदा उठ गया। मै तुरन्त समझ गया कि वाकरनागल का बताया **शकन** या **शकन्** रूप अवश्य कभी रहा होगा और उस रूप से ध्वनि-परिवर्तन के स्थिर नियमो के अनुसार जनता ने **शकल्** का रूप बिगाड या अपने मुख-सुख के अनुसार **छगण** कर दिया, जिसका अर्थ देप्रा० मे 'गोबर' हो गया और प्राहि० से स्पष्ट मालूम होता है कि इसका

एक अर्थ 'विष्ठा' भी रहा होगा। सूरदास ने बार-बार बालगोपाल को **छगन-मगन** बताया है। सहिंशसा० में **छगन शब्द** दिया गया है, अर्थ बताया गया है 'छोटा बच्चा-प्रिय बालक' और साथ मे सूरदास का उदाहरण है—'गिरि गिरि परत, घुटुरुवनि टेकत, खेलत है दोउ छगन-मगन।' **छगन** का 'छोटा बच्चा, प्रिय बालक' अर्थ कही नही देखा जाता। यहा **छगन-मगन** का अर्थ है—मैल से लथपथ और आनन्द मे मगन, छगन मे डूबे हुए।' सूरदास वर्णित यह रूप बच्चो के लिए स्वाभाविक ही है। आर्य या भारोपा भाषा वर्ग की तुलनात्मक अध्ययन-शैली का यह चमत्कार है। एक और शब्द लीजिए, स० और हि० मे भी **धन, निधन, धनु-स् धन्वन्** आदि शब्द है। **धन** का अर्थ वेद मे है 'युद्ध या मार-काट मे जीती सम्पत्ति'; **निधन** का अर्थ मृत्यु है, **धनु (स्)** का अर्थ है 'मारने वाला अस्त्र', **धन्-वन्** 'मार-वाड' है। प्राचीन जर्मन मे दुनुम् 'समुद्र तट पर बालू का पहाड़' है। यू० मे एक **थेन्** धातु मिलता है जिसका अर्थ 'मरना' है, इसके रूप **ए-थन्-ए** 'वह मरा' **ते-थ्-आसि** 'वे मरे' है। प्राभा० मे एक धन् धातु है 'दौडना', कभी प्राभा० मे दूसरा **धन्** धातु भी रहा होगा जिसका अर्थ होगा 'मरना, मारना, विध्वस करना'। उक्त शब्द उसी लुप्त धातु के रूप है। अन्यथा उनकी क्या व्युत्पत्ति होगी ? यह व्युत्पत्ति भी तुलनात्मक अध्ययन का फल है। ऐसे सैकड़ो उदाहरण दिए जा सकते है जिनमे स्वय हिन्दी शब्दो पर प्रकाश पडता है, किन्तु स्थानाभाव बाधक है।

यहा इतना कहना जरूरी है कि यदि ऊपर की बातों पर पूरा प्रकाश डालने के साधन कोशकार के पास न हो, तो कोश अवश्य अधूरा और त्रुटिपूर्ण रहेगा। एक विद्वान जिनको यह गर्व था कि वे कोशशास्त्र के ज्ञाता है, मुझसे नागरी प्रचारिणी सभा के कोश-विभाग मे भेंट करने आए। उन्होंने नाक की व्युत्पत्ति पूछी। मैंने कहा—'इस शब्द की पूरी व्युत्पत्ति मिलना कठिन हो रहा है। केवल इतना ही ज्ञात हो सकता है कि स० मे **नाक** के लिए **नक्र** है और देप्रा० मे **णक्क**। यह पता नही कि **नक्र** का **णक्क** बना या **णक्क** का सस्कृतीकरण **नक्र** किया गया। इस पर प्राभा० के ये पंडित बोले कि **नक्र** तो **नाके** को कहते है। स० मे कामदेव को **नक्रकेतन** और **मकरकेतन** दोनो नामो से कहते है। मैंने उन्हे बताने का यत्न किया कि **नक्र नाक** को भी कहते है, पर अपने विद्वान मित्र हठ करने लगे कि ऐसा नही है। तब उन्हे कोश दिखाए गए और उनको स्वीकार करना पडा कि **नक्र** का एक अर्थ 'नाक' है। ऐसी अधूरी विद्या किसी काम को निकम्मा कर देती है। सच है .

अनंत पारं किल शब्द शास्त्रम्, स्वल्प तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।

मेरे इस लेख से स्पष्ट है कि कोश मे चार बाते अवश्य होनी चाहिए—(१) शब्दचयन का ठीक ढग जिसमे कोश की भाषा के साहित्य से प्रचलित शब्द, उचित ही नही समुचित उदाहरण के साथ, रहने चाहिए, (२) व्युत्पत्ति ऐसी होनी चाहिए कि शब्द के भीतर का रहस्य स्पष्ट हो जाय। यह रहस्य शब्दो के आगे म० अ० अ० फा० आदि देकर नही खुलता। ऐसा करने से बहुधा भ्रम रह जाता है। (३) अपने मनगढत शब्द कोश मे नही भरे जाते, उसमे तो साहित्य में वर्तमान और प्रचलित शब्द चुने जाते है। (४) कोश मे कोश की भाषा का तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचन भी रहना चाहिए। आजकल का भाषाविज्ञान तुलनात्मक होता है। इस तुलना का ज्ञान न होने से, छात्र हो चाहे अध्यापक, सभी का भाषा का ज्ञान अधूरा रह जाता है। अभी, हाल मे, डाक्टरेट के लिए शोध करने मे लगे एक बुद्धिमान छात्र ने तुलनात्मक शब्द-शास्त्र के सिलसिले मे बताया कि अ० शब्द **कैमल** स० शब्द **क्रमेल** या **क्रमेलक** से निकला है। मैंने आश्चर्यान्वित होकर पूछा कि ऐसा उलटा पाठ तुमको किसने पढाया ? बोला—'यह तो अमुक विद्वान ने अपने भाषा-शास्त्र में दिया है।' सचमुच, उसने उक्त पुस्तक मे यह अशुद्ध क्रम दिखा दिया। मै और भी चक्कर मे पडा। बात यह है कि दो, सवा दो हजार वर्ष पहले भारत के ज्योतिषशास्त्र के पडितो ने ज्योतिष के ग्रथो मे कुछ यू० शब्द अपनाए। **केंद्र, होड़ा, ज्यामिति** आदि ऐसे ही शब्द है। उस समय यू० **कमेलौस्** शब्द भी शुद्धि करके **क्रमेल-स्** (= .) रूप मे सस्कृत हो गया। इस पर तुर्रा यह कि शब्द-कल्पद्रुम मे इसकी व्युत्पत्ति दी गई है—'क्रमेण एलति गच्छतीति क्रमेलकः।' अब तमाशा देखिए कि धातुपाठ मे **एल्** नदारद है। तब **एलति गच्छति** कहा से आया ? यह सस्कृतीकरण का चमत्कार है। इसलिए, अति आवश्यक है कि तुलनात्मक शब्द बिना भारोपा भाषाओ का ऐतिहासिक क्रम और प्राभा० का पूर्ण ज्ञान किये नही दिए जा सकते। नही तो '**विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्**' हो जायगा। तेजस्विनावधीतमस्तु !

ब्रजभाषा : उद्गम और विकास

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

१. कोई भी साहित्यिक भाषा एक साथ आकाश से नही उतरा करती है । उसका किसी-न-किसी जन-बोली से विकास हुआ करता है। साहित्यकारों की लेखनी का बल पाकर उस जनबोली में क्रमश परिष्कार, प्रांजलता एवं लालित्य बढता जाता है। समय के प्रवाह मे आगे बढती हुई वह जनबोली भी अपना रूप बदलती चलती है। यही बात ब्रजभाषा के उद्गम और विकास के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है।

२. ब्रजभाषा से तात्पर्य ब्रज मे बोली जाने वाली भाषा या बोली से है । वैदिक साहित्य में 'ब्रज' शब्द का प्रयोग गोष्ठ अथवा गो-समूह के अर्थ मे पाया जाता है। वैदिक ऋषि त्रिष्टुप् छन्द मे अग्निदेव की प्रार्थना करते हुए कहता है कि 'हे तरुण ! शीत से पीडित मानव तेरी सेवा मे उसी प्रकार आते है, जिस प्रकार कि गाए उष्ण गोशाला में आती है।'[1]

३. हरिवशपुराण मे 'ब्रज' शब्द का प्रयोग उस स्थान के लिए हुआ है जो मथुरा के निकट था।[2] मथुरा के चारो ओर चौरासी कोस मे भी ब्रज माना जाता है । डा० सत्येन्द्र का कथन है कि वाराहपुराण मे मथुरा-मडल की सीमा बीस योजन अथवा चौरासी कोस निर्धारित हो चली थी। मत्स्यपुराण मे कृष्ण की लीलाभूमि को ही 'ब्रजमडल' कहा गया है।[3] सन् १५६० ई० के लगभग रचित श्रीनारायण भट्ट-कृत 'ब्रज-भक्ति-विलास' ग्रन्थ के एक श्लोक के आधार पर तत्कालीन ब्रज-क्षेत्र की सीमा इस प्रकार मानी जाती है—पूर्व में हास्यवन (अलीगढ जिले का हसायन गांव), पश्चिम में उपहारवन (गुडगाव जिले मे सोन नदी के किनारे तक), दक्षिण मे जह्नुवन (जिला आगरे का बटेश्वर गाव) और उत्तर मे भुवनवन (शेरगढ परगना) । इन्ही सीमा-स्थानो से सम्बन्धित 'ब्रज-क्षेत्र' के विस्तार के विषय मे निम्नाकित दोहा भी प्रचलित है :

"इत बरहद उत सोनहद, उत सूरसेन को गाँव।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा-मंडल माँह।।

४. इतिहास बताता है प्राचीन भारतीय शूरसेन जनपद बडा महत्त्वपूर्ण था। इस जनपद की राजधानी मथुरा थी, जिसे 'मधुरा' नाम से भी पुकारते थे। शौरसेनी प्राकृत इसी जनपद मे बोली जाने वाली भाषा थी। कालान्तर में मथुरा-मडल या ब्रज-मडल की सस्कृति और भाषा जिस प्रदेश मे फैली, वह ब्रज-प्रदेश कहा गया। वर्तमान-काल में ब्रज भाषा-भाषी क्षेत्र का विस्तार ग्रियर्सन आदि विद्वानो के अनुसार इस प्रकार माना जा सकता है :

जिला मथुरा, राजस्थान का जिला भरतपुर तथा करौली का उत्तरी भाग जो भरतपुर तथा धौलपुर की सीमाओं से मिला हुआ है; धौलपुर जिला । मध्यप्रदेश के मुरैना और भिण्ड नामक जिले एव ग्वालियर का लगभग २६ अक्षांश से ऊपर का भाग, कुल आगरा जिला, इटावा जिले का अधिकाश; जिला मैनपुरी, जिला एटा (पूर्व के कुछ

---

१. 'गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ'—ऋक्० १०-४-२

२. हरिवंशपुराण महात्म्य, अ० १०, श्लोक १६, पृ० ०८३

३. 'ब्रज और ब्रज-यात्रा', भारतीय विश्वप्रकाशन दिल्ली, सन् १९५९, पृ० ५

भागो को छोडकर जो फर्रुखावाद जिले की सीमा से मिलते है), जिला अलीगढ (उत्तर-पूर्व मे गगा नदी की सीमा तक), बुलन्दशहर जिले का लगभग आधा दक्षिणी भाग (पूर्व मे अनूपशहर की सीध से लेकर); गुडगाव जिले का दक्षिणी भाग (पलवल की सीध से) तथा अलवर जिले का पूर्वी भाग जो गुडगाव जिले की दक्षिणी सीमा तथा भरतपुर की पश्चिमी सीमा से मिला-जुला है।

५. ब्रजभाषा-क्षेत्र के सम्बन्ध मे लल्लूलाल का मत भी यहां उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने ग्रथ 'जनरल प्रिसिपल्स ऑफ इन्फ्लैक्शन एण्ड कन्जूगेशन इन दी ब्रजभाखा'[1] मे ब्रजभाषा का क्षेत्र निश्चित करते हुए लिखा है कि यह भाषा ब्रज, जिला ग्वालियर, भरतपुर, बंसवाडा, भदावर, अन्तर्वेद तथा बुन्देलखण्ड मे बोली जाती है ·

"Bruj Bhakha or The Language spoken by the Hindoos in the Country of Braj in the District of Goaliyur, in the Dominions of the Raja of Barutpoor, as also in the extensive Countries of Bueswara, Bulundawur, Untur and Boondelkhund."—Lalloolal Kuvi.

६—डा० धीरेन्द्र वर्मा कन्नौजी को ब्रजभाषा के अन्तर्गत ही मानते है। अतएव उनके मतानुसार ब्रजभाषा के क्षेत्र मे निम्नाकिन प्रदेश सम्मिलित है—उत्तरप्रदेश के अलीगढ, मथुरा, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायू तथा रायबरेली के जिले, पजाब के गुडगाव जिले की पूर्वी पट्टी, राजस्थान मे भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग, मध्यभारत मे ग्वालियर का पश्चिमी भाग। इसके अतिरिक्त उत्तरप्रदेश के पीलीभीत, शाहजहापुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर के जिले भी ब्रजभाषी क्षेत्र मे सम्मिलित कर लिये गए है।

७. मेरा अपना मत यह है कि कन्नौजी ब्रजभाषा से पृथक है। कन्नौजी पर अवधी का भी प्रभाव है। सक्षेप मे यहा यही कहा जा सकता है कि कन्नौजी अपनी प्रकृति मे ओकारान्त है और ब्रजभाषा औकारान्त। भूतकाल की क्रियाओ मे ब्रज मे औकारान्त के साथ 'य' श्रुति का योग भी पाया जाता है । इसके अतिरिक्त भविष्यत-काल की क्रियाओ मे ब्रजभाषा कृन्दन्तरूपिणी है और कन्नौजी तिङन्तरूपिणी।

८. **कन्नौजी**			**ब्रजभाषा**	
नौकरी को काम		—	नौकरी कौ काम।	
घर ते निकार दओ		—	घर ते निकारि दयौ।	
राम नै (ने) देखो हइ		—	राम नै देखौ है (देख्यौ है)।	
काम करन् लगो		—	काम करन् लगौ (लग्यौ)।	
मरो परो हइ		—	मरौ परौ है (मर्यौ पर्यौ है)।	
राम घर गओ हइ		—	राम घर गयौ है (गयौ ऐ)।	
छोरा जइहै छोरी जइहै	(तिङन्त रूप)	—	छोरा जाइगौ छोरी जाइगी	(कृदन्त रूप)
अथवा				
छोरा जइहइ छोरी जइहइ	(तिङन्त रूप)	—	छोरा जायगौ छोरी जाइगी	(कृदन्त रूप)

९. ब्रजभाषा के प्रचलित जनबोली-रूप की विशुद्धरूपता के दृष्टिकोण से सर्वेक्षण किया जाय तो विशुद्ध रूप मे ब्रज बोली[2] निम्नाकित जिलो मे ही मिलेगी

१· प्रिंटेड ऐट दी इण्डिया गजट प्रेस, सन् १८११ ई०।

२· ब्रजबुलि इस ब्रज बोली से पृथक् काव्यभाषा है। ब्रजबुलि, वास्तव में उड़ीसा, बंगाल तथा आसाम प्रदेश के मध्यकालीन (१५वीं-१६वी शती) कृष्ण-भक्त वैष्णव कवियों द्वारा प्रयुक्त एक कृत्रिम-सी भाषा है। इसका मूल ढांचा मैथिली तथा बगाली के संयोग से बना है।—(दे० हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमडल, बनारस, सं० २०१५ वि०, पृ० ५१६)।

जिला धौलपुर, आगरा, मथुरा और अलीगढ की सभी तहसीलो मे। बुलन्दशहर जिले की तहसील बरन, खुरजा और अनूपशहर मे तथा एटा जिले की तहसील जलेसर मे। बरन (बुलन्दशहर) तहसील के अगौता और स्याना नाम के परगनों मे खडीबोली का मिश्रण अथवा उसके प्रभाव के चिह्न तथा सकेत मिलने लगते है। इन्ही उपर्युक्त जिलो मे हमें ब्रजभाषा विशुद्ध रूप मे सुनने को मिल सकती है। **'राम कौ छोरा', 'गयौ', 'मार्‌यौ', 'कल्लि छोरी पीहर ते बिदा है जाइगी'** आदि प्रयोग विशुद्ध ब्रजभाषा के हैं और उपर्युक्त जिलों मे पूर्णरूपेण प्रचलित है।

१०. इस समय हमारे समक्ष ब्रजभाषा दो रूपो मे है—(१) साहित्यिक ब्रजभाषा, (२) जनपदीय ब्रजभाषा। साहित्यिक ब्रजभाषा का उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ सूरदास का 'सूरसागर' माना जा सकता है। ब्रजभाषा के साहित्य में यह प्रसिद्ध मौलिक कृति है। ब्रजभाषा मे सबसे पहली साहित्यिक रचना ऐसी सुडौल, परिमार्जित प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण हो और उसकी पृष्ठभूमि मे भाषा का कोई स्वरूप न रहा हो, ऐसा होना असम्भव है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि 'सूरसागर' की भाषा की पृष्ठभूमि मे एक परम्परागत विकास है जिसकी पुष्टि डा० शिवप्रसादसिह कृत 'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' नामक शोध-ग्रन्थ से हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन मे बहुत बड़ा सार है कि "सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[1]

११. मनुस्मृति (२।२१), गरुडपुराण (१।१५) और विनयपिटक महावग्ग (५।१३।१२) मे मध्यदेश की सीमाओ का उल्लेख है। उनके आधार पर यह निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि मध्यदेश भारत का केन्द्र था। केन्द्र मे स्थिति होने के कारण मध्यदेश की भाषा समय-समय पर प्रमुख स्थान पाती रही है। ईसा-पूर्व एक सहस्र वर्ष से लेकर आज तक इस प्रदेश की भाषा ने सम्पूर्ण भारत के शिष्ट जनो की वाणी पर आसन जमाया है। शिष्टजनो की यह भारतीय आर्य-भाषा क्रमश वैदिक, सस्कृत, पालि, शौरसेनी, प्राकृत और अपभ्रश के नामो से समय-समय पर विख्यात हुई है। अपभ्रश की विकास-परम्परा मे ही ब्रजभाषा भी आती है। अतएव भारत का मध्यदेश ब्रजभाषा की उद्गम-भूमि भी है।

१२. मध्यदेशीय आर्यों की मूल भाषा वैदिक थी। इसमे जनजीवन के तत्त्व सपृक्त थे। मध्यदेशीय आर्य, आर्येतर जातियो से वर्षों सघर्ष करते रहे। कोल, द्राविड तथा अन्य जातियो ने आक्रमणकारी आर्य जाति का डटकर सामना किया। ये आर्येतर जातिया मध्यदेशीय आर्यों से पराजित हुई और विजेता जाति की सस्कृति तथा भाषा से प्रभावित भी हुई। उसके साथ-साथ मध्यदेशीय आर्यों की भाषा मे भी कोल, द्राविड, मुण्डा आदि अनेक स्थानीय जातियो की भाषाओ के बहुत-से तत्त्व सम्मिलित हो गए।[2] अत वैदिक भाषा मे जो प्रवृत्ति प्रतिलक्षित होती है, वही शौरसेनी प्राकृत, अपभ्रश तथा ब्रजभाषा मे भी दृष्टिगोचर होती है। वैदिक भाषा मे शब्द के मध्यग 'र्' का लोप विकल्प से पाया जाता है। वैदिक साहित्य मे 'दूलभ' के लिए दुर्लभ'[3] और अप्रगल्भ के लिए 'अपगल्भ'[4] शब्द मिलते है। हेमचन्द्र ने इस 'र्' लोप की प्रवृत्ति की ओर सकेत किया है। जैसे प्रिय > पिय। चन्द्र > चन्द। वैदिक **'दूलभ'** (ऋक्० ४।६।८), सस्कृत **'दुर्लभ'**, अपभ्रश **'दुल्लह'** (हेमचन्द्र, शब्दानुशासन, ८।४।३३८।१), और ब्रजभाषा **'दूलहा'** या **'दूल्हो'** पर दृष्टिपात करने पर वैदिक भाषा की विकासशृखला के स्वरूप का हमे कुछ आभास अवश्य हो जाता है। ब्रजभाषा मे **'पहर'** (स० प्रहर > पहर) और **'पिय'** (स० प्रिय > पिय) आदि के प्रयोग वैदिक **'अपगल्भ'** का ही स्मरण दिलाते है।

१३ ध्वनि-परिवर्तन की जो प्रवृत्ति पालि मे मिलती है, वही ब्रजभाषा में भी देखी जा सकती है। अशोक के शिलालेखो मे जो शब्द मिलते है उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि स० 'ऋ' का विकास अ, इ, उ और ए ध्वनियो मे हुआ है। जैसे—स० कृत > कत, कट, किट। स० पितृ > पितु। स० पृथ्वी > पुठवी।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् २००६ वि०, पृ० १६५

२. देखिए पा० टी० श्रीनिवास आयगर, लाइफ इन एशिऍट इण्डिया इन दी एज आफ मत्राज, मद्रास, १९१२ ई०, पृ० १५

३. ऋक्० ४।६।८

४. तैत्तिरीय सहिता २।३।१४

१४. ब्रजभाषा में भी पालि की भाति सं० ऋ का विकास इ, अ में हुआ है। जैसे–सं० हृदय > ब्रज० हिया। स० कृष्ण > ब्रज कन्हैया। कारण यह है कि पालि मध्यदेश की भाषा थी। श्रीयुत स्व० सिलवा लेवी और हाइनरिख ल्यूडर्स जैसे विश्वविख्यात भाषा-शास्त्रियों का मत है कि पालि भारत के मध्यदेश की प्राचीन बोली थी।[1] डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या लिखते है कि 'पाली उज्जैन से मथुरा तक के भू-भाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है।'' वस्तुतः पालि को पश्चिमी हिन्दी का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। पालि आर्यावर्त के हृदय-प्रदेश की भाषा थी, इसलिए आस-पास, पूर्व-पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण-पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। अतः हम कह सकते है कि ब्रजभाषा वास्तव मे पालि भाषा की उत्तराधिकारिणी के रूप मे ही विकसित हुई है। कुछ निम्नाकित शब्दों की विकास परम्परा भी हमारे कथन की पुष्टि करती है :

स० **पुत्र** > पालि० **पुत्त** > ब्रज० **पूत**। स० **कृष्ण** > पालि० **कण्ह** > ब्रज **कान्हा**। स० **कर्म** > पालि० **कम्म** > ब्रज० **काम**।

१५ पालि एक साहित्यिक भाषा के रूप मे ई० पूर्व २०० से २०० ई० तक विकसित होती रही। यह भाषा मध्यदेश की एक जन-बोली पर आधारित थी और संस्कृत की प्रतिद्वद्विनी भाषा के रूप मे अपना आसन जमाने लगी। पालि भाषा के शासन-काल मे ही प्राकृतों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। मस्कृत के नाटको मे प्राकृतो का प्रयोग ग्राम्य-जनो की भाषा के रूप मे किया जाना यह सिद्ध करता है कि प्राकृत भाषाएं मूलत बोलियों पर आधारित थी। परन्तु उन बोलियों का सहज स्वाभाविक रूप क्या था, इसे जानने का हमारे पास इस समय कोई साधन नही है। सस्कृत वैयाकरणों ने जिन प्रमुख प्राकृतों का उल्लेख किया है, उनमे शौरसेनी और महाराष्ट्री को ही हम यहा लेते हैं, क्योंकि इन्ही की विकास-शृखला मे हमारी ब्रजभाषा आती है। श्री मनमोहनजी घोष ने बडे सबल प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि महाराष्ट्री वास्तव मे शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती रूप है।[3] जो लोग महाराष्ट्री को मराठी की पूर्वजा मानते है, वे भूल-भुलइयो मे है। जॉन बीम्स ने स्पष्ट कहा है कि सम्भवत· यह मान लेना जल्दबाजी होगी कि मराठी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत की वशानुगत उत्तराधिकारिणी है।[4]

१६. हम महाराष्ट्री को परवर्ती शौरसेनी प्राकृत कह सकते है। अन्तर केवल इतना था कि शौरसेनी प्राकृत मे प्रायः गद्य-साहित्य की सर्जना होती थी और महाराष्ट्री प्राकृत मे कविता की सरिता बहती थी। शौरसेनी प्राकृत ही विकसित होकर शौरसेनी अपभ्रश कहलाई और सम्पूर्ण भारतवर्ष के शिष्ट जनो की भाषा मानी गई। इसका प्रभाव ६०० ई० से १००० ई० तक बना रहा। ब्रजभाषा इसी शौरसेनी अपभ्रश की विकसित अवस्था है। कन्नौजी, बुन्देली और खडीबोली भी शौरसेनी अपभ्रश से ही विकसित हुई है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी अपने ग्रथ (आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १७७) मे लिखा है कि वास्तव मे शौरसेनी प्राकृत ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी। अतः ब्रजभाषा की पूर्व पीठिका मे विकास-शृखला को स्पष्ट करना चाहे तो इस प्रकार कह सकते है–शौरसेनी प्राकृत की वशजा शौरसेनी अपभ्रश है और शौरसेनी अपभ्रश की वशजा ब्रजभाषा है। 'अपभ्रश' शब्द से तात्पर्य शौरसेनी अपभ्रंश का समझना चाहिए। हेमचन्द्र ने अपने ग्रथ (शब्दानुशासन ८।४।४४६) मे स्पष्ट कह दिया है कि अपभ्रंश में प्राय. शौरसेनी के समान कार्य होते हैं।[5]

१७ शब्दो के मूल और विकास को स्पष्ट करने की दृष्टि से यहा हम कुछ शब्दो की सूची पिशल-कृत 'प्राकृत-भाषाओ का व्याकरण' (अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना) से उद्धृत करते हैं और उसके साथ ब्रजभाषा के शब्दो को भी रख रहे है, ताकि ब्रजभाषा के उद्भव और विकास पर प्रकाश पड़ सके—

---

१. देखिए W. Geiger, Poli grammatic and H. Lueders, Epigraphische Beitrage, 1913.

२. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, सन् १९५४ ई०, पृ० १७५

३. देखिए Jaurnal of the Department of Letters, Calcutta University, Vol. XXIII, 1933.

४. Comparative Grammar of Modern Aryan Languages, Page 34.

५. 'शौरसेनीवत्' (८।४।४४६)

संस्कृत		शौरसेनी प्राकृत		अपभ्रंश		ब्रजभाषा
हृदय	—	हिअअ	—	हिअअ	—	हिआ, हिया
पिनष्टि	—	पीसेदि	—	पीसइ (हेम० ४।१८५)	—	पीसै
प्रसीद	—	पसीद	—	पसीय	—	पसीज
द्वितीय	—	दुदिअ	—	दुइअ (हेम०१।६४)	—	द्वै
चूर्ण	—	चुण्ण	—	चुण्ण	—	चून
मूर्धन्	—	×	—	मुढ (हेम० १।२६, २।४१)	—	मुड्ढ
पार्श्व	—	पास	—	पास (हेम० २।६२)	—	पास
शीर्ष	—	सीस	—	सीस	—	सीस
पिंड	—	पिड	—	पेड	—	पेडा
स्थविर	—	थेर	—	×	—	ठेर
प्रति	—	पदि	—	×	—	पै
रुक्ष	—	×	—	रुक्ख	—	रूख (=पेड)

१८. हेमचन्द्र के व्याकरण मे ऐसे अनेक शब्द है जिनकी विकसित परम्परा मे ब्रजभाषा की शब्दावली आती है

अपभ्रंश		ब्रजभाषा		टिप्पणी
णाइ (८।४।३३०।१)	—	नाई	—	(भाति या तरह के अर्थ मे)
होइ (८।४।३३०।२)	—	होइ, होऐ	—	(सामान्य वर्तमान काल मे)
पइट्ठि (८।४।३३०।३)	—	पैठि	—	(पूर्वकालिक क्रिया-रूप)
जो (८।४।३३०।४)	—	जो	—	(सम्बन्धवाचक सर्वनाम)
सो (८।४।३३२।१)	—	सो	—	(,, ,,)
ठाउ (८।४।३३२।१)	—	ठाउँ	—	(अनुनासिकता आगई है)
पराई (८।४।३५०।२)	—	पराई	—	(म० परकीया = दूसरे की)
पहुच्चइ (८।४।३६०।१)	—	पहुचै	—	(म० प्रभवति = पहुचता है)
अइसो (८।४।४०३)	—	ऐसौ	—	(विशेषण तथा क्रियाविशेषण)
तइसो (८।४।४०३)	—	तैसो	—	(,, ,,)
कइसो (८।४।४०३)	—	कैसो	—	(,, ,,)
जइसो (८।४।४०३)	—	जैसो	—	(,, ,,)

१९. प्राकृत पैंगलम्[1] मे ऐसी शब्दावली पाई जाती है जिसका साम्य ब्रजभाषा की शब्दावली से सुगमतापूर्वक स्थापित किया जा सकता है। इस ग्रथ का रचनाकाल डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार ईसा की ९वी और १४वी शती के बीच मे है। इसके बहुत से शब्दो की निकटतम विकसित अवस्था का स्वरूप सूरसागर की पदावली मे देखा जा सकता है। कुछ आचार्यों ने अपभ्रंश[2] को भी प्राकृत नाम दिया है। वास्तव मे 'प्राकृतपैंगलम्' की भाषा अपभ्रश ही है जिसे हम शौरसेनी अपभ्रश भी कह सकते है। यहा हम ऐसे शब्दो को उद्धृत कर रहे है, जिनकी समानता ब्रजभाषा के शब्द अच्छी तरह कर सकते है।

---

१. संपादक श्री चन्द्रमोहन घोष, एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता, सन् १९२० ई०

२. पिशेल महोदय हेमव्याकरण के दोहों को भाषा को शौरसेनी अपभ्रंश मानते हैं।
(डा० भायाणी, वाग्व्यापार, पृ० १४६)

२०—प्राकृतपैंगलम् की शब्दावली से ब्रजभाषा-शब्दावली की तुलना[१]—

प्राकृत पैंगलम् का शब्द (पृष्ठ और पंक्ति-सहित) — **विकास-क्रम सहित ब्रजभाषा का शब्द**

(१) अक्खर [१५८।४] = अक्षर। (स० अक्षर > प्रा० पैंग० अक्खर > ब्रज० आखर)। 'गावौ हरि कौ सोहिलौ (हो) मन **आखर** दै मोहि।'—सूरसागर, ना० प्र० सभा, १०।४०।

(२) अग्गे [२२८।५] = आगे, पहले, मुह के सामने। (स० अग्रे > प्रा० पैंग० अग्गे > ब्रज आगे, आगे)। 'अब आज तें आप **आगें** दई लै आइयै चराइ।'—सूरसागर, १।५१।

(३) अग्गि [३०४।१] = आग, अग्नि। (सं० अग्नि > प्रा० पैंग० अग्गि > ब्रज० आग)। 'इहि उर आनि रूप देखे की **आगि** उठै अगिआई।' ब्रजभाषा सूरकोश, पृ० ६२।

(४) अज्जु [४४८।२] = इस दिन, आज। (स० अद्य > प्रा० पैंग० अज्जु > ब्रज आजु)। '**आजु** हौ एक-एक करि टरिहौ'—सूरसागर, ना० प्रा० सभा, पद सख्या १३४।

(५) अहीर [२८६।३] = एक जाति विशेष। (स० आभीर>प्रा० पैंग० अहीर > ब्रज० अहीर)। '**अहिर** जाति जाति गोधन कौ मानै।'—सूरसागर, २५४३।
'ताहि **अहीर** की छोहरिया छछिया भर छाछ पै नाच नचावें।'—रसखान

(६) आइ [४८५।३] = आकर, आकर के। (स० आ + √या > प्रा० पैंग० आइ > ब्रज० आइ)। '**आइ** जुरे सब ब्रज के बासी।'—सूरसागर १५२३।

(७) इकलि [५४१।३] = एकाकिनी, अकेली। (स० एकली > प्रा० पैंग० इकलि > ब्रज० इकली, अकेली)।

(८) कहिओ [२४।५] = कहा, कथन किया। (स० कथित > प्रा० पैंग० कहिओ > ब्रज० कह्यौ)। 'प्रथम **कह्यौ** जो वचन दयारत, तिहि बस गोकुल गाइ चराई।'—सूरसागर १।६

(९) कहू [५४१।४] = किसी जगह। (प्रा० पैंग० कहू > ब्रज० कहूँ)। 'मेरे लाडिले हो तुम जाउ न **कहूँ**।' —सूरसागर, १०।२६५।
विशेष—प्राकृत पैंगलम् का 'कहू' ब्रजभाषा-काल तक आते-आते कुछ नाक के स्वर में बोलने लगा है।

(१०) काहा [५१६।४] = क्या। (प्रा० पैंग० काहा > ब्रज० कहा, का)। 'स्याम **कहा** चाहत से डोलत ?' —सूरसागर, पद-सख्या ८६७।

(११) घरु [४६३।१] = मकान, घर। (स० गृह > प्रा० पैंग० घरु > ब्रज० घरु)—जिस प्रकार प्राकृतपैंगलम् के 'घरु' मे उकारान्तता है, ठीक उसी प्रकार ब्रजभाषा की प्रवृत्ति उकारबहुला है। साहित्यिक खडी बोली हिन्दी के अकारान्त पुल्लिग शब्द ब्रजभाषा में उकारान्त होते हैं। मुख्यतः कर्ता-कारक और कर्म कारक मे—जैसे, **गोपालु** आयौ। अब तू **नाजु** लै लै।

(१२) चलाबे [३५८।४] = चलाता है। (स० चालयति > प्रा० **पैंग० चलाबे > ब्रज०** चलाबै)—'चलाता है' के अर्थ मे अलीगढ जिले की खैर तहसील में 'चलाबै' क्रिया का प्रयोग होता है। जैसे—अरे! तू मोइ चलाबै, अर्थात् अरे! तू मुझे चलाता है!

(१३) बेसा [११८।४] = वेश्या, रडी। (स० वेश्या > प्रा० पैंग० बेसा > ब्रज० बेसा)।
विशेष—अलीगढ, मथुरा और आगरा जिले की ग्रामीण स्त्रियां लड़कियों को गाली देते देते समय **'बेसा', रंडी, सौति** आदि शब्दों का प्रयोग करती हैं।

---

१. विशेष शब्दों की तुलना के लिए देखिए, लेखक का लेख—'प्राकृतपैंगलम् की शब्दावली और वर्तमान ब्रजलोकशब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन'—हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १९५९, भाग २०, अंक १

(१४) लेहु [१८६।१] =लो, ग्रहण करो। (प्रा० पैंग० लेहु>ब्रज० लेहु, लेउ)। तुम कौन-सी पाटी पढे हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाक नही।' —घनानन्द, आचार्य शुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' सं० २००६ वि०, पृ० ३४३।

(१५) हम्मारो [३६१।४] =हमारा (अप० अम्हार>प्रा० पैंग० हम्मारो>ब्रज० हमारौ)।

२१. सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा भूतकालीन क्रिया के रूपो मे शौरसेनी अपभ्रश के परवर्ती रूप ओकारान्त मिलते है। अवहट्ट भाषा शौरसेनी का परवर्ती रूप है। प्राकृतपैंगलम् की भाषा मे राजस्थानी और अवहट्ट का मिश्रण पाया जाता है। अवहट्ट की कृति 'कीर्तिलता' मे भी भूतकालीन क्रियाए ओकारान्त मिलती है। यही ओकारान्तता उपर्युक्त प्राकृतपैंगलम् की शब्दावली में भी दृष्टिगोचर होती है। ब्रजभाषा की प्राचीन पुस्तको मे हमे ओकारान्त रूप ही मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रम की १५वी-१६वी शती मे ब्रजभाषा की प्रवृति ओकारान्त वाली थी। औकारान्त की प्रवृत्ति तो बाद मे आई है। कबीर, दादू, नन्ददास, कृष्णदास आदि की कविताओ मे ओकारान्त रूप ही मिलते है। इतना ही नही, विक्रम की १७वी शताब्दी तक हमे शब्दो के ओकारान्त रूप पूरी तरह से मिलते है। 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' नामक पुस्तक का निम्नाकित उद्धरण हमारे कथन की पुष्टि करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार इस पुस्तक का रचनाकाल विक्रम की १७वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है

"सो श्री नन्दगाम मे रहतो सो खडन ब्राह्मण शास्त्र **पढ्यो** हतो। सो जितने पृथिवी पर मत है **सबको** खडन करतो, **ऐसो वाको** नेम हतो। "सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मडली मे **आयो**।"[1]

२२—प्राचीन ब्रजभाषा काव्यो का अध्ययन करने पर हमे जिन विशेष ध्वनियों की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट कराना है, वे निम्नाकित है.

(१) ए॒ अर्थात् ह्रस्व ए।

(२) ओ॒ अर्थात् ह्रस्व ओ।

(३) न्ह् (महाप्राण न्)

(४) म्ह् (महाप्राण म्)

(५) र्ह् (महाप्राण र्)

(६) ल्ह् (महाप्राण ल्)

हेमचन्द्र के व्याकरण मे उपर्युक्त ध्वनियो का अस्तित्व स्पष्ट रूप से मिलता है।

ह्रस्व ए (ए॒) के उदाहरण

'अम्मीए सत्थावत्थेहि **सुघे** चिन्तिज्जइ माणु।

(हेम० व्याक०, ८।४।३९६।२)

हेमचन्द्र "कादि—स्थैदोतोरुच्चार—लाघवम्" (सू० ४१०) सूत्र का उल्लेख करते हुए कहता है कि 'सुघे' मे ए का उच्चारण लघु है। ठीक इसी प्रकार तुलसीदास की ब्रजभाषा-कृति 'कवितावली' मे भी हमे ह्रस्व ए (ए॒) के उदाहरण मिलते है—

'अवधेस **कै** द्वारे सकारे गई,

सुत गोद कै भूपति लै निकमे।' —(कवितावली, बाल० १)

ह्रस्व ओ (ओ॒) के उदाहरण

'तसु हउँ कलिजुगि दुल्लह**हो** बलि किज्जउँ सुअणस्सु।'

—(हेम० व्याक० ८।४।३३८।१)

१. देखिए, आचार्य शुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', ना० प्र० सभा, काशी, वि० स० २००६, पृ० ४०४

यहा 'ह्रो' मे 'ओ' का उच्चारण लघु है। इसे सूत्र (८।४।४१०) मे हेमचन्द्र ने स्पष्ट किया है। यह ध्वनि भी प्राचीन ब्रजभाषा में सुरक्षित थी। तुलसी प्रमाण है—

'पुनि लेत **सोई**[1] जेहि लागि अरै।' (कवितावली, बाल० ४)

अतः हम कह सकते है कि अपभ्रंश अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश की ए और ओ (अर्द्ध-सवृत् ह्रस्व अग्र-स्वर और अर्द्ध-सवृत ह्रस्व पश्च-स्वर) ध्वनिया ब्रजभाषा को वंश-परम्परागत सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त हुई।

२३. अपभ्रंश के 'ण्' का परिवर्तन ब्रजभाषा के 'न्' मे हुआ है। अतः महाप्राण 'ण्' भी ब्रजभाषा के महाप्राण 'न्' मे बदला; अर्थात् ण्ह् > ब्रज० न्ह्। ब्रजभाषा को उकारान्त की प्रवृत्ति भी शौरसेनी अपभ्रंश से ही प्राप्त हुई है—अप० ण्हाणु (८।४।३९९।१) > ब्रज० न्हानु। 'म्हो म्भो वा' (८।४।४१२) सूत्र में महाप्राण मूल ध्वनि 'म्ह' का उल्लेख है ही। ब्रजभाषा मे भी **म्हौं** (मुख), **तुम्हारौ, कुम्हार** आदि मे यह ध्वनि पाई जाती है। यह मूल ध्वनि सस्कृत मे मिलनी असम्भव है। ब्रजभाषा के **ल्हास** (=लाश), **ल्हैट्ट** (=लट्टू) आदि शब्दो के आदि में; **उल्हानौ, जल्हैली, गल्हैत** आदि के मध्य मे तथा **सल्हा, सोल्है** आदि के अन्त मे जो पार्श्विक महाप्राण वर्त्स्य ध्वनि है, वह हेमचन्द्र के व्याकरण मे भी मिलती है

'अह रिउरुहिरे **उल्हवइ**'—(हेम० व्याकरण ८।४।४१६।१)

२४. सस्कृत भाषा के आकारान्त स्त्रीलिग शब्द ब्रजभाषा मे अकारान्त हो गए है। जैसे स० **रेखा** > ब्रज० **रेख**। स० वार्ता > ब्रज० बात। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से ही ब्रजभाषा को प्राप्त हुई है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण मे 'स्यादौ दीर्घह्रस्वौ' (८।४।३३०) की सिद्धि के लिए प्रथम छन्द मे '**सुवण्णरेह**' और 'धण' रूपो का उदाहरण प्रस्तुत किया है—स० सुवर्णरेखा > अप० **सुवण्णरेह**। स० धन्या > अप० **धण**।

२५. ब्रजभाषा मे यदि परसर्ग-रहित अकारान्त पुलिग एकवचन का प्रयोग कर्ता तथा कर्मकारक के रूप मे होता है तो उस शब्द का रूप उकारान्त हो जाएगा :

(१) जि **खेलु** अच्छौ है (यह खेल अच्छा है)।

(२) तुमने अच्छौ **खेलु** कर्‌यौ (तुमने अच्छा खेल किया)।

२६. ब्रजभाषा ने इस प्रवृत्ति को अपभ्रंश ही से लिया है। हेमचन्द्र 'स्यमोरस्योत्' (८।४।३३१) सूत्र की व्याख्या मे कहते है कि—'अपभ्रंशे अकारस्य स्यमो परयो उकारो भवति', अर्थात् अपभ्रंश भाषा मे प्रथमा और द्वितीया एकवचन परे रहने पर अकार का उकार हो जाता है। जैसे **दहमुहु, संकरु, चउमुहु, छंमुहु** आदि शब्द-रूपो मे।

२७. यहा यह अच्छे प्रकार से समझ लेना चाहिए कि ब्रजभाषा की यह उकार-बहुला प्रवृत्ति उसे पालि शौरसेनी-प्राकृत तथा शौरसेनी-अपभ्रंश मे क्रमागत रूप मे प्राप्त हुई है— स० पुत्र > पालि पुत्तो > पुत्त (मेरौ **पूतु** आयौ)।

२८ प्रारम्भिक ब्रजभाषा मे **जासु, तासु, कासु** आदि षष्ठी विभक्ति के रूप भी अपभ्रंश के **जस्स, तस्स, कस्स** आदि से ही विकसित हुए है जो क्षतिपूरक दीर्घीकरण के परिणाम है।

२९ ब्रजभाषा मे मध्यमपुरुष एकवचन कर्त्ता के साथ आज्ञार्थ क्रिया मे इकार का आगम हो जाता है। जैसे— तू जि कामु **करि**; जा बन मे तू **बिचरि**। यह अपभ्रंश की ही परम्परा है। हेमचन्द्र कहते है कि आज्ञा-अर्थ मे मध्यम पुरुष के एकवचन और बहुवचन में इ, उ, ए विकल्प से आदेश होते है। निम्नाकित दोहे में **सुमरि, मेल्लि** और **चरि** को ब्रजभाषा के **करि** और **बिचरि** से मिलाइए :

कुजर **सुमरि** म सल्लइउ सरला सास म **मेल्लि**।
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते **चरि** माणु म **मेल्लि**॥[2] —(हेम० व्याक० ८।४।३८७।१)

---

१. खैर तहसील में आज्ञार्थ में 'लेओ', 'देओ' (लघु ओ) क्रियाएं बोली जाती हैं विशेषतः टप्पल परगने के जाटों में।

२. हे कुंजर! तू सल्लकी नामक वृक्षों का स्मरण मत कर, लम्बी-लम्बी सासें मत छोड़, भाग्य से जो कवल प्राप्त कर लिया है, उसी को चर! अपने मान को मत छोड़!

३०. 'में' परसर्ग के अर्थ में 'हि' विभक्ति[1] का प्रयोग ब्रजभाषा में पर्याप्त रूप से मिलता है। सूर के सागर में ऐसे अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं--

'**ब्रजहि** बसे आपुहि बिसरायौ'। --(सूरसागर, १०।१६८७)

'गरजि चढ्यौ **ब्रजभूमहि** आयौ।' --(सूरसागर, ६।१४१)

हेमचन्द्र के उदाहरणो मे भी 'हिं' विभक्ति अधिकरण-अर्थ मे ही प्रयुक्त हुई है

'आयहिं **जम्महि**' (८।४।३८३।३) अर्थात्, इस जन्म मे।

'तहि **देसहिं** जाहुँ' (८।४।३८६।१) अर्थात्, उस देश मे जाएगे।

३१. विभक्तियो के साथ परसर्गों का प्रयोग सूरसागर मे मिलता है। यह रूप-विधान हेमचन्द्र के दोहों में भी है--

'कृपा करि **मोहि पर**' --(सूरसागर, १।२१४)

'**हूवं मांझ** जो हरिहि बतावत।'--(सूरसागर, १०।३५७४)

× × × ×

'तुहु पुणु **अन्नहि रेसि**' (हेम० व्याक०, ८।४।४२५।१)

'**जीवहं मज्झे** एइ।'--(हेम० व्याक०, ८।४।४०६।३)

३२ सवत १६२३ वि० मे अब्दुलवाहिद विलग्रामी ने फारसी भाषा मे 'हकायके हिन्दी' नाम से एक पुस्तक लिखी थी। इसके हिन्दी-अनुवाद[2] से पता चलता है कि इसमे सूरदास से पहले की ब्रजभाषा-रचनाएं है। जिस उत्तम पुरुष एकवचनीय पुरुषवाचक सर्वनाम 'हौ' का प्रयोग सूरसागर (६।३४) मे हुआ है, उसी का प्रयोग 'हकायके-हिन्दी' मे उद्धृत ब्रजभाषा की रचनाओ मे हो चुका था

'**हौं** नय करौ जुहार।'--(हकायके-हिन्दी, पृ० ४८)

स० अहम् > अप० हउँ (हेम० व्याक० ८।४।३३८।१) > हौ--यह विकासक्रम सूर की भाषा की पूर्व-पीठिका पर प्रकाश डालता है।

३३ अतएव साहित्य के पृष्ठो मे ब्रजभाषा १००० वि० मे प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। इसका वास्तविक विकास सवत १४०० वि० से १६०० वि० तक हुआ। तदुपरान्त इसने अपना परिष्कृत एव परिनिष्ठित स्वरूप ग्रहण किया। आज ब्रजभाषी क्षेत्र मे ब्रजभाषा का जनपदीय रूप भी चल रहा है जो कुछ विभिन्न रूपो के साथ प्रचलित है। जातियो की बोली मे आकर ब्रजभाषा ने अब कई प्रकार के रूप धारण कर लिये है। अत हम यहा ब्रजभाषा के साहित्यिक रूपो तथा जनबोलीगत रूपो का कुछ भाषाशास्त्रीय विश्लेषण करेगे।

३४. ब्रजभाषा की ध्वनियां

स्वर--अ॑, अ, आ, इ॒, इ, ई, उ॒, उ, ऊ, ए॒, ए, ऐ, ओ॒, ओ, औ॒, औ।

विशेष--ह्रस्व ए (ए॒) और ह्रस्व औ (औ॒) के उदाहरण तुलसी की कवितावली मे मिल जाते है। सब स्वर अनुनासिक भी पाये जाते है।

व्यंजन--क्, ख्, ग्, घ्, ङ्। च्, छ्, ज्, झ्, (ञ्)[3]। ट्, ठ्, ड्, ड़्, ढ्, ढ़् (ण्)[3]
त्, थ्, द्, ध्, न्, न्ह। प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह। य्, र्, र्ह, ल्, ल्ह, व्, स्, ह्।

विशेष--बुलन्दशहर जिले की गूजर जाति की बोली ब्रजभाषा है। इस बोली मे ण् ध्वनि पाई जाती है। जैसे **मकौण**

१. विभक्ति सश्लिष्टावस्था में और परसर्ग विश्लिष्टावस्था में होते है --लेखक

२. 'हकायके हिन्दी'--अनुवादक सैयिद अतहर अब्बास रिजवी, ना०प्र० सभा काशी, स० २०१४ वि०

३. कुछ कवियों की कविताओं में ञ् और ण लिपि में ही मिलते है जैसे कुञ्ज (रसखान); कुण्डल (सूरदास)। 'साञ्-साञ्' में 'ञ' 'ध्वनि' मानी जा सकती है।

(मकान); **परधौण** (प्रधान)। इस 'ण्' को 'ड़ँ' के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। जैसे—**मकौड़ँ, परधौड़ँ**।

अ=गढ्अ, चार्अ, गस्त्अ

अ=अब्, मल्

आ=आदिमी, आफति, चमारि, छोरा [आँसू]

इ=आवत्इ, सोवत्इ ब्यार्इ (इ की फुसफुसाहट वाली यह ध्वनि अलीगढ जिले की तहसील कोल मे अच्छी तरह सुनी जा सकती है)

इ=इमिर्ती, चिरइआ, मरि [इँठानी]

ई=ईख, पतीली, छाती [ईगुरु]

उ=आवत्उ, जात्उ, सूज्ज्उ,[1] (फुसफुसाहट वाली यह ध्वनि भी तहसील कोल में सुनी जा सकती है)। उआर (परगना टप्पल के जाटो की बोली मे)

उ=उडान् कउआ, रेतु [उँगरिया]

ऊ=ऊन्, कथूला, कलेऊ

ए=**एकबैनिया** (=एक वेणी वाला सिर)

ए=एक्, चेला, हरे

ऐ=ऐसौ, अनैठ, बरसै

ओ=**सोई** (पुनि लेत सोई जेहि लागि अरे—कवितावली, बालकाण्ड, ४)[2]

औ=हौ (बरु मारिए मोहि बिना पग धोए हौ नाथ न नाव चढाइहौ जू—कवितावली, अयोध्याकाण्ड, ६)[3]

औ=औझपौ, कौली, औखटौ।

३५ ब्रजभाषा मे दो असम स्वरो का सयोग तो प्राय. मिलता ही है, किन्तु तीन असम स्वरो का सयोग भी मिलता है।

अ इ=कइ (कहि>हि० कह)
अ ई=लई (हि० ली)
आ उ=आउ (हि० आ)
अ उ आ=कउआ, हउआ
अ इ आ=चिरइआ, बिलइआ
अइ ओ=अइओ (हि० तू आना)
अ इ औ=अइऔ (हि० (तुम) आना)

३६ 'ड' और 'ढ' ध्वनिया शब्द के आदि मे नही आती। ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार यह कहना बहुत कुछ सगत है कि 'ड' अक्षर अर्थात स्वरयुक्त ड् शब्द के मध्य मे नही आता है। व्यजन-सयोग के साथ तो आ सकता है जैसे, **अड्डौ, गड्ढौ, मुन्डौ** आदि। 'गँडासी' और 'मुँडेल' जैसे शब्द ब्रजभाषा के नही है। ये ब्रज की बोली में **गड़ासी** और **मुंड़ेल** बोले जाते है।[4]

---

१. देखिए डा० धीरेन्द्र वर्मा: ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०, पृ० ४०

२, ३. देखिए, डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९४०, पृ० १०४, १०३

४. डा० धीरेन्द्रवर्मा ने अपने शोध-ग्रन्थ 'ब्रजभाषा' (पृ० ४२) में 'क्रीडत' का उदाहरण दिया है जिसे प्राचीन ब्रजभाषा का रूप बताया है। हमारे विचार से ऐसे दो-एक उदाहरण अपवाद ही हैं। यह भी हो सकता है कि 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' की किसी प्रति में 'क्रीड़त' पाठ भी हो, क्योंकि हिन्दी में 'क्रीडा' प्रचलित है।

३७ 'अ' अन्त्य स्वर ब्रजभाषा-शब्दों में सामान्यतया लुप्त हो गया है परन्तु संयुक्त व्यजन के साथ का और अन्त्य ड़ और ढ़ का 'अ' अवश्य बोला जाता है .

(१) मस्त, गस्त, गद्द-पद्द, झट्ट-पट्ट ।

(२) झाड़, लड़, ताड, गढ ।

३८. स्पर्श-व्यंजनो मे अनुनासिक 'ङ्' भी ब्रजभाषा मे आदि, मध्य और अन्त मे पाया जाता है :

आदि ङ्	—	ङ्वाँ	(वहाँ)
मध्य ङ्	—	अङ्गा	(एक प्रकार की रोटी)
अन्त्य ङ्	—	भाङ्	(भाँग), स्वाङ् (स्वाँङ्)

३६. अलीगढ जिले के अशिक्षित मनुष्यो तथा अशिक्षित स्त्रियो की बोली मे पश्चगामी समीकरण की प्रवृत्ति अधिक मिलती है—

(१) उर्द	>	उद्द	(बुलन्दशहर में उड्द)
(२) मर्द	>	मद्द	(,, ,, मड्द)
(३) कर्ज	>	कज्ज	
(४) हर्ज	>	हज्ज	
(५) भर्ला	>	भल्ला	
(६) बाद्साह	>	बास्सा	
(७) द्वाद्सी	>	द्वास्सी	

४० जिला आगरा, मथुरा, अलीगढ और एटा जिले की जलेसर तहसील के चमारों की बोली मे शब्द के मध्य मे आया हुआ 'ल्' प्राय. 'न्' मे बदल जाता है .

(२) बाल्टी	>	बान्टी	(चमारो की बोली में)
(२) झल्सा (जल्सा)	>	झन्सा	(,, ,,)
(३) कल्सा	>	कन्सा	(,, ,,)

४१ मथुरा जिला और अलीगढ जिले की तहसील इगलास व खैर मे निश्चयार्थ सामान्य भूतकाल की क्रिया में 'य' श्रुति का आगम पाया जाता है ·

(१) मरौ (मरा)	>	मर्यौ।
(२) करौ (किया)	>	कर्यौ।
(३) धरौ (धरा)	>	धर्यौ।

४२ आदि व्यजन-गुच्छ का होना ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है। अवधी मे यह मध्य स्वर-सयोग के रूप में पाई जाती है

अवधी			ब्रजभाषा
(१) दुआर	(उ आ)	—	द्वार
(२) कुआर	(उ आ)	—	क्वार
(३) सिआर	(इ आ)	—	स्यार
(४) पिआर	(इ आ)	—	प्यार

४३ अलीगढ जिले की इगलास, खैर और सिकन्दराराऊ तहसीलो मे स्वत नासिक्यीकरण पाया जाता है[१]—

१. डा० धीरेन्द्रवर्मा कृत 'ब्रजभाषा' ग्रन्थ (पृष्ठ ४१) के अनुसार यह अकारण अनुनासिकता बरेली, फर्रुखाबाद और मैनपुरी में भी पाई जाती है। अलीगढ़ जिले के चमारों की बोली में अकारण अनुनासिकता पाई जाती है जैसे सुई को सुइँ, नाज को नाँज।

(१) भूक > भूंक
(२) हगास > हँगास (टट्टी फिरने की हाजत)
(३) ग्राबतूं > ग्राँमतूं

सन्धि-जन्य ध्वनि-परिवर्तन

(१) चलतु+है = चलत्वै
(२) फिरत+हौ = फिरतौ, फित्तौ
(३) दुबक+गई = दुबग्गई

ब्रजभाषा का रूप-विचार

४४ ब्रजभाषा मे हिन्दी की ग्रन्य बोलियों के समान केवल दो ही लिग होते है–(१) पुल्लिग। (२) स्त्रीलिग। प्राणिवाची सज्ञाए तो लिगार्थ-भेद से ही निश्चित की जाती है जैसे **बर्ध** (पुल्लिग) ग्रौर **गाय** (स्त्रीलिग)। प्राणहीन वस्तुग्रो की द्योतक सज्ञाए भी इन्ही दोनो लिगो के ग्रन्तर्गत ग्राती है। इनके लिग का निर्धारण पतजलि के कथन **'लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य'** के ग्रनुसार ही किया जा सकता है––**काठ** (पुल्लिग), **खाट** (स्त्रीलिग)। ब्रजभाषा मे **दही** पुल्लिग मे ही ग्रधिक प्रचलित है। छोटे-छोटे जानवर, कीडे-मकोडे ग्रादि प्राय. नित्य-स्त्रीलिग या नित्य-पुल्लिग होते हैं। जैसे **मूसौ** (पुल्लिग), **मछरी** (स्त्रीलिग)। इनका **मूसी** ग्रौर **मछरा** नही होता है। हा, **मूसटा** का स्त्रीलिग **मूसटी** ग्रवश्य होता है।

४५ ब्रजभाषा की पुल्लिग सज्ञाए नीचे लिखे स्वरान्त[1] वाली होती है.

––ग्र, जैसे स्याम[1], गढ, लट्ठु, ताड, सार[1]।
––ग्रा, जैसे सखा, पोथा, बगुला, घोडा, छोरा।
––इ, जैसे कबि (स० कवि)
––ई, जैसे स्वामी, धनी, दही, पानी, बाइगी (साँप काटे का ज़हर उतारने वाला), सैमई।
––उ, जैसे बैनु, पेचु, रेतु, पनु (ग्रायु का एक भाग),
जमाउ, समाउ (कवितावली, लका०, ५४), पाउँ।
––ऊ, जैसे प्रभू, बीछू, पखेरू, कुँदरू (एक पौधा),
––ग्रो[2], टेसू, माऊँ (फसल के रोग का एक कीडा)।
––ग्रौ, जैसे माथौ, पामरौ (हि० फावड़ा), तयौ, झगडौ, मुहागौ।

४६. ब्रजभाषा की स्त्रीलिग सज्ञाए निम्नाकित ग्रन्त वाली होती है.

––ग्र, जैसे बात, खाट, रेख, डाट, गडबड।
––ग्रा, जैसे माया, माला, पुडिया, लढिया, चिरइग्रा।
––इ, जैसे सौति, मौति, राति, जाति, कोखि।
––ई, जैसे रानी, देबी, छडी, घडी, थारी।
––उ, जैसे धैनु (स० धेनु)
––ऊ, जैसे बहू, भटू
––ऐ, जैसे परै (खेत की एक हानि जो वर्षा से होती है), सरै (फोडे या घाव मे से निरन्तर मवाद निकलना)।

---

१. सामान्यतया शब्द का ग्रन्तिम 'ग्र' स्वर बोला नही जाता। किन्तु लिपि में उसका ग्रस्तित्व ग्रवश्य पाया जाता है। रूपा के इस विवरण के कुछ उदाहरण डा० धीरेन्द्र वर्मा-कृत 'ब्रजभाषा-व्याकरण' से लिये गये हैं।
२. ओकारान्त सज्ञाएं प्राचीन ग्रन्थों की लिपि में मिलती हैं।

—ओ, जैसे लपडो (झूठ बोलने वाली स्त्री), झब्बो (बडे बालो वाली कुतिया), मुर्रो (वह भैस जिसके सीग मुडे हुए होते है)।

४७. निष्कर्ष यह है कि ठेठ जनपदीय ब्रजभाषा मे इकारान्त, एकारान्त, ऐकारान्त और ओकारान्त पुल्लिग सज्ञाए नही होती। स्त्रीलिग सज्ञा—शब्दो मे भी जनपदीय ब्रजभाषा मे उकारान्त, एकारान्त और ओकारान्त नहीं पाये जाते।

४८. अनियमित रूप से पुल्लिग सज्ञाओ के स्त्रीलिग बनने वाले शब्द

	पुंल्लिग		स्त्रीलिग
(१)	भइया	—	भैन
(२)	भइआ	—	भाभी, भौजाई (तह० इगलास के जाटो की बोली मे **भग्या**[1])
(३)	बाबुल	—	मइआ
(४)	फूफा	—	बूआ
(५)	बरध	—	गइआ (तह० इगलास के जाटो की बोली मे **गग्या**[1])
(६)	चिरौटा	—	चिरइआ (तहसील इगलास के जाटो की बोली मे '**चिरइग्या**'[1] भी)

४९. पुल्लिग प्राणिवाचक सज्ञाओ को स्त्रीलिग रूप मे बदलने वाले प्रत्यय

	प्रत्यय	उदाहरण	टिप्पणी
(१)	{अ ~ इनि, इनी}	[ग्वाल ~ ग्वालिनि, ग्वालिनी]	—
(६)	{आ ~ ई}	[छोरा ~ छोरी, चेला—चेली]	—
(२)	{अ ~ अनी}	[मोर ~ मोरनी, सिघ—सिघनी]	—
(३)	{अ ~ अनी}	[ऊँट ~ ऊँटनी]—आदि दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है	
(४)	{अ ~ ई}	[चमार ~ चमारी, देव ~ देवी]	—स्त्री 'चमारिन' भी
(५)	{अ ~ इन}	[चमार ~ चमारिन, कहार ~ कहारिन]	—स्त्री० 'कहारी' भी
(१३)	{ई ~ इन, इनि}	[माली ~ मालिन, मालिनि, धोबी ~ धोबिन, धोबिनि]—	
(१०)	{आ ~ अनी}	[कउआ ~ कैउअनी, भिडिआ ~ भिडिअनी]	
(१४)	{ई ~ इनी}	[हाथी ~ हथिनी]—आदि दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है।	
(६)	{अ ~ आनी}	[देवर ~ द्यौरानी, जेठ ~ जिठानी]	
(११)	{आ ~ अ, इ}	[भैंसा ~ भैंस, भैंसि, भेडा ~ भेड]	
(७)	{अ ~ आइन}	[ठाकुर ~ ठकुराइन,]	
(८)	{अ ~ आनी}	[ठाकुर ~ ठकुरानी, पडित ~ पडितानी]	
(१२)	{आ ~ इया}	[कुत्ता ~ कुतिया, पट्ठा ~ पठिया]	—ऐसे उदाहरण बहुत कम है।
(१५)	{औ ~ इन}	[चौबौ ~ चौबिन]	
(१६)	{औ ~ ई}	[क्वारौ ~ क्वारी, आँधरौ ~ आँधरी]	

५०. 'इया' प्रत्यय लगाकर हीनतावाची या लघुतावाची स्त्रीलिग मे सज्ञाए बनती है

स्त्रीलिग		लघुतावाचक या हीनतावाचक
खाट	—	खटिया
मालिन	—	मलिनिया

---

१. मध्य व्यंजन—संयोग का युग्म बोलने में पहले व्यंजन को दुहरा कर लेता है।

चमारी	—	चमरिया[1]
लाठी	—	लठिया

५१. 'आ' तथा 'इया' प्रत्यय लगाकर हीनतावाचक पुल्लिग संज्ञाए बनती हैं :

पुंल्लिग		**हीनतावाचक**
चमार	—	चमरा
कुम्हार	—	कुम्हरा
नाऊ	—	नउआ
धोबी	—	धोबिया
कोरी	—	कोरिया

५२. **कारक-चिह्न (कारकीय परसर्ग)-रहित वचन-विश्लेषण :**

पुंल्लिग (मूल रूप)			**स्त्रीलिंग** (मूल रूप)		
एकवचन		**बहुवचन**	**एकवचन**		**बहुवचन**
एक गढ एक गढु	—	द्वै गढ	एक बात	—	द्वै बात
एक छोरा	—	द्वै छोरा	एक माला	—	द्वै माला
एक बाइगी	—	द्वै बाइगी	एक सौति	—	द्वै सौति
एक पनु	—	द्वै पन	एक रानी	—	द्वै रानी
एक बीछू	—	द्वै बीछू	एक धेनु	—	द्वै धेनु
एक माथौ	—	द्वै माथे (इस ओकारान्त पुलिग संज्ञा का मूलरूप बहुवचन मे एकारान्त हो जाता है– औ ∼ ए)	एक बहू	—	द्वै बहू
			एक परै	—	द्वै परै
			एक लपडो	—	द्वै लपड़ो

उपर्युक्त पद जब कर्ता और कर्मकारक के रूप मे ने, को आदि चिह्नों के बिना वाक्य मे आते हैं तो ये ही रूप रखते है। जैसे :

(१) एक छोरा आयौ; द्वै छोरा आए।

(२) तैने एक छोरा मार्‌यौ; तैने द्वै छोरा मारे।

(३) तेरी एक बात अच्छी है; तेरी द्वै बात अच्छी हैं।

(४) तैने एक बात कही; वाने द्वै बात कही।

लघुवाची या हीनतावाची स्त्रीलिंग शब्दो के बहुवचन मे इया का इयां हो जाता है :

एकवचन		**बहुवचन**
लठिया	—	लठियाँ
कुम्हरिया	—	कुम्हरियाँ
कुतिया	—	कुतियाँ (यह सादृश्य का परिणाम है)।

---

१. हिन्दी के 'इया' प्रत्यय के मूल में स० 'इका' भी है।'कंजरिया' (कंजर की स्त्री) की व्युत्पत्ति सं० कन्दरिका (कन्दरा में रहने वाली) से है।

पुंलिंग (विकृत रूप) एकवचन	बहुवचन
एक गढ नै —	द्वै गढन नै
एक छोरा नैं —	द्वै छोरन (छोरान) नै
एक बाइगी नै —	द्वै बाइगिन नै
एक पन नै —	द्वै पनन नै
एक बीछू नै —	द्वै बीछुन नै
एक माथे नै —	द्वै माथेन नै

स्त्रीलिंग (विकृत रूप) एकवचन	बहुवचन
एक बात नै —	द्वै बातन नै
एक माला नै —	द्वै मालन (मालान) नै
एक सौति नै —	द्वै सौतिन नै
एक रानी नै —	द्वै रानिन नै
एक बहू नै —	द्वै बहून नै
एक परै नै —	द्वै परैन नै
एक लपडो नै —	द्वै लपडोन नै

विशेष—स्त्रीलिग के बहुवचन मे 'नु' प्रत्यय भी लगता है।

५३. ब्रजभाषा में विभक्ति-प्रत्यय :

	प्रत्यय	उदाहरण	कारक
(१)	{ ऐं }	['ताकी माता खाई **कारै**'—सूरसागर ७।८ '**संकटै** गर्व बढायौ'—सूरसागर १०।६१]	कर्ता
(२)	{ ऐ }	['तू **छोराऐ** मारैगौ'—जिला अलीगढ मे]	कर्म
		['कन मागते **बांभनै** लाज नही ।' सुदामाचरित्र]	×
(३)	{ ऐं }	['ताको **हमै** बतावत'—सूरसागर]	कर्म
(४)	{ हि हि }	['महादुष्ट लै उड्यौ **गुपालहिं**'—सूरसागर १०।७८ '**जियहि** जिवाय' —सुजानसागर, ५]	कर्म
(५)	{ ए }	['मेरे **हिये** हरि के पदपकज'—सुदामाचरित्र]	अधिकरण
(६)	{ ऐं }	['राजा **हियं** सुरुचि सौ नेह'—सूरसागर, ४।६]	,,

विशेष—'हि'-प्रत्यय सप्रदान और अधिकरण अर्थ मे भी सूर ने प्रयुक्त किया है ।[१]

५४ ब्रजभाषा के कारकीय परसर्ग :

(१) {ने, नें, नै, नैं} कर्ता कारक

(२) {कु, कुँ, कू, कूँ, को, कों, कौ, इ, ऐ (यह 'ऐ' सम्भवत 'हि' से विकसित है—हि > इ > ऐ)[२]}—कर्मकारक तथा सम्प्रदानकारक

(३) {ते, तें, तैं सू, सूँ, सो, सौ, सेती, सेदी, सेंती, सेंदी, मेंदा ।}—करणकारक

(४) { ते, तें, तैं, सू, सूँ, सो, सौ}—अपादानकारक

(५) { कि, की, के, को, कौ}—सम्बन्धकारक[3]

(६) { पै, माँहि, में, मैं}—अधिकरण

---

१. देखिए डा० प्रेमनारायण टण्डन, सूर की भाषा, सन् १९५७, पृ० १५८ से १६२ तक ।

२. रामहि > रामइ > राम ऐ > रामै ।

३. हिन्दी में प्रचलित है । इसी लिए यहां हमने सम्बन्ध को कारक लिख दिया है । वैसे यह विशेषण की भाति आता है ।

संयुक्त परसर्ग—पै–ते, मैं–ते, के–मैं–ते, के–लै आदि ।

विशेष––ब्रजभाषा मे' **'नै'** परसर्ग कर्मकारक मे और **'पै'** परसर्ग कर्ता और अपादान में भी प्रयुक्त होता है। **'ऐ'** परसर्ग अधिकरण मे भी ।

(१) **पौहेन नै** घेर मे ते निकारौ ।[1] (कर्म)

(२) **गोपाल पै** चलौ (चल्यौ) नाइ जातु। (कर्ता)

(३) तू **गोपाल पै** माँगि। (अपादान)

(४) **राम ऐ** जुरु है। (अधिकरण)

कर्मकारक के अर्थ मे 'कूँ' परसर्ग का प्रयोग अलीगढ जिले मे पूरी तरह प्रचलित है। रीतिकाल के आलम के 'सुदामाचरित्र' मे भी यह प्रयोग है .

"अपने सुख की ख्वाहिश **तुझकूँ**
मुझकूँ नाहक भेजि लजावै।"[2]

सर्वनामों का विश्लेषण

५५. (१) पुरुषवाचक सर्वनाम (उत्तम पुरुष)

	एकवचन		**बहुवचन**
मूल रूप––	हूँ, हौ, मै	––	हम
विकृत रूप––	मो, मौ	––	हम

(२) पुरुषवाचक सर्वनाम (मध्यम पुरुष)

	एकवचन		**बहुवचन**
मूलरूप––	तू, तूं, तें, तै	––	तुम
विकृतरूप––	तो	––	तुम

(३) पुरुषवाचक सर्वनाम (अन्य पुरुष)[3]

	एकवचन		**बहुवचन**
मूल रूप––	बु बुग्र, बो, ग्	––	बे, ग्वे
विकृत रूप––	बा, वा	––	उन, गुन, बुन, बिन

५६ निश्चयवाचक निकटवर्ती सर्वनाम—

	एकवचन		**बहुवचन**
मूल रूप––	यि, जि, जिग्र, गि, गिग्र	––	ये, जि, जे, गि, गे,
विकृत रूप––	या, जा	––	इन, गिन

५७. सम्बन्धवाचक सर्वनाम—

	एकवचन		**बहुवचन**
मूल रूप––	जो	––	जे
विकृत रूप––	जा	––	जिन
मूल रूप––	सो	––	सो
विकृत रूप––	ता	––	तिन

---

१. 'पौहेन नै' का यह 'नै' परसर्ग कर्मकारकीय 'को' के अर्थ में है। ब्रजभाषा पर यह अपनी पड़ौसिन हरियाणी और राजस्थानी (मारवाड़ी) का प्रभाव है।

२ हिन्दी-अनुशीलन (धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक), पृ० ३९४

३. इसे दूरवर्ती निश्चयवाचक भी कह सकते है।

एकवचन		बहुवचन
५८. प्रश्नवाचक सर्वनाम		
मूल रूप--कौन, को, कहा, का	—	कौन, को, कहा, का
विकृत रूप--का, कौन	—	का, कौन

५६ अनिश्चयवाचक सर्वनाम

मूल रूप-- कोई, कोऊ, कछू, कछुक।

विकृत रूप-- काऊ, काहू।

६० विशेषण--एक, द्वै, पहलौ, दूसरौ, तीसरौ, चौथौ, पाँचमी, छठी, सगरौ, थोरौ, भौत, इकहरौ, दुहरौ, मौटी, पतरी, मौटौ, पतरौ, हलुकौ, भारी।

एकवचन		बहुवचन
मौटौ--पतरौ लोग	--	मौटे-पतरे लोग
मौटी--पतरी बइअरबानी	--	मौटी-पतरी बइअरवानी
मौटौ--पतरौ चिरौटा	—	मौटे-पतरे चिरौटा
मौटी—पतरी चिरइआ[1]	—	मौटी-पतरी चिरइआँ

६१ क्रिया-विशेषण अव्यय—

(क) स्थानवाचक--याँ, ह्याँ, वाँ, ह्वाँ (ड्वाँ)।

(ख) कालवाचक —अब, जब, कब।

(ग) विधिवाचक--त्यो, यो, ऐसें।

(घ) निषेधवाचक--नांहि, नाइँ, मति।

(ङ) कारणवाचक--चौ, च्यो, क्यौ, कत।

(च) परिमाणवाचक—कितेक, नैंक, कछुक।

६२ समुच्चयबोधक अव्यय--औ, और, औरु, फेरि, परि, जा मारें, बलिकम।

६३ विस्मयादिबोधक अव्यय—हे, ओ, आह, अरे, 'क्च-क्च' मे मिलती क्लिक-ध्वनि।

ब्रजभाषा की क्रियाएं

६४. निश्चयार्थ

ब्रजभाषा	हिन्दी		काल
(१) बु[2] (गु) चलत्वै (चलै या चलतु है)।	=वह चलता है	--	सामान्य वर्तमान
(२) बु (गु) चलि रह्यौ है (चलिरौ ऐ)।	=वह चल रहा है	--	अपूर्ण वर्तमान
(३) बु (गु) चल्यौ है(चलौ ऐ)	=वह चला है	--	पूर्ण वर्तमान
(४) बु (गु) चल्यौ (चलौ)।	=वह चला	--	सामान्य भूण
(५) बु (गु) चलि रह्यौ हो (चलिरौ ओ)।	=वह चल रहा था	--	अपूर्ण भूत
(६) बु (गु) चल्यौ हो (चलौ ओ)।	=वह चला था	--	पूर्ण भूत
(७) बु (गु) चलैगौ।	=वह चलेगा	--	सामान्य भविष्यत्

१. छोटे बालक को ब्रजबोला में चिरइआ को 'चीर्चा' पानी को 'पापा' और खाने को 'हप्पा' कहते हैं। —लेखक

२. बो, बौ, उ, गुअ रूप भी ब्रजभाषा में चालू हैं।

६५. संभावनार्थ—

(१) स्याइत है गु चलै =शायद वह चले — भविष्यत् काल

(२) त्यारी जै होइ =तुम्हारी जय हो — ,,

(३) राजा कूं चइऐ कै परजा को पालन करै } =राजा को चाहिए कि प्रजा का पालन करे। — ,,

(४) स्याइत गु चल्यौ होइ =शायद वह चला हो — भूतकाल

६६. सदेहार्थ—

(१) छोरा चलतु होइगौ =लडका चलता होगा— वर्तमान काल

(२) घोडा चल्यौ होइगौ =घोडा चला होगा। — भूतकाल

६७. आज्ञार्थ—

(१) छोरा वाँ जाइ =लड़का वहाँ जावे। — भविष्यत्

(२) तुम सडक पै चलौ =तुम सडक पर चलो।— ,,

(३) का मै सग चलू ? =क्या मै साथ चलू ?— ,,

६८ संकेतार्थ—

(१) जौ मेरे बहुत-सौ धन होतौ (होतौ) तौ त्यारे सँग चलतौ। } =यदि मेरे यहा बहुत-सा धन होता तो तुम्हारे साथ चलता। —भविष्यत्

(२) जौ मोहन मेरे सग चल्यौ तौ लडाई बदिकै होइगी। } =यदि मोहन मेरे साथ चला तो लडाई अवश्य होगी। —भविष्यत्

६९. सयुक्त क्रियाए

(१) क्रियार्थक सज्ञा के मेल से बनी हुई सयुक्त क्रिया—

मोइ तेरे घर **जानौ परेगौ**=मुझे तेने घर जाना पडेगा।

(२) सज्ञा या विशेषण के मेल से बनी हुई सयुक्त क्रिया—

रिसी के साप ते गु वई **भस्म हैगौ**=ऋषि के शाप से वह वही भस्म हो गया।

(३) वर्तमानकालिक कृन्दत सें बनी हुई सयुक्त क्रिया—

गु आपु ई आप **पढ़तु र् हैत्वै**=वह आप ही आप पढता रहता है।

लोटा पै की चमक **जाति रही**=लोटे पर की चमक जाती रही।

(४) भूतकालिक कृदन्त से बनी हुई सयुक्त क्रिया—

गु पोखरा मे **कूदी परत्यै** =वह पोखरे (कच्चा तालाब) मे कूदी पडती है।

(५) पूर्व कालिक कृदन्त से बनी हुई सयुक्त क्रिया—

झट्ट गोपालु **बोलि उठ्यौ**=तुरन्त गोपाल बोल उठा।

छोरी **रोइ परी** और मा **उठि बैठी**=लडकी रो पडी और माँ उठ बैठी।

(६) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त से बनी क्रिया—

न निगलत बनै, न उगलत बनै=न निगलते वनता है न उगलते बनना है।

(७) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त मे बनी क्रिया—

हू जि काम **करैं जातिउँ**=मै यह काम किये जाती हू।

(८) पुनरुक्त संयुक्त क्रिया—

गु कछु **बोल्तुचाल्त्वै**=वह कुछ बोलताचालता है।

सामासिक पद-युग्म

७०. **प्रतिध्वनि पद-युग्म**—घोड़ा-वोडा, काम-फाम (काम-वाम), मौटी-भौटी, रोटी-फोटी (रोटी-वोटी), पानी-वानी, काम-धाम।

७१. **अनुकार पद-युग्म**—पूछ-ताछ (पूछ-गछ), खुसामद-दरामद, ऊबड-खाबड, बासन-कूसन।

७२. **विकार पद-युग्म**—गोभी-गाभी, घेर-घार, होना-हवाना, देर-दार, काम-कूम, फेर-फार, ज्वान-जमान, रोज-राहट, कूच-काच, टूटी-टाटी।

७३. **अनुवाद-पद-युग्म**—साग-सब्जी, धन-दौलत, बर्तन-भाडे, हल्लौ-गुल्लौ, सील-म्हौर, कपडा-लत्ता, जान-बूझ।

७४. **प्रतिचर-पद-युग्म**—लड्आ-पेड़ा, ढोल-तासे, लोग-लुगाई, मा-बाप, भैनि-भइआ, कहन-सुनन, न्हान-धोमन, आनौ-जानौ, देख-भार, बाट-बनौरौ, खेल-कूद, खानौ-पीनौ (खाइबौ-पीबौ), लैनौ-दैनो (लैबौ-दैबौ) धरनौ-ढकनौ, घिस्सा-पट्टी।

७५. **द्विरुक्ति-पद-युग्म**—सरर्-सरर्, पट्-पट्, टन्-टन्, गट्-गट्, घर्र-घर्र, पडर्-पडर्, कड़र्-कडर्, ताड-ताड, गटागट्, पटापट्, सडासड्, घूसम्घूसा, टालम्टूल, ढीलम्ढालौ, मुक्का-मुक्की, घिस्सा-घिस्सी।

७६. ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुन्देली की वाक्यावली की तुलना .

(१) ब्रजभाषा—"हरी रोजु गोपाल् ते जिई कहतु रहत्वै कै ए गोपाल ! राम् नें अपनी आखिन् ते देख्यौ ऐ कै मोहन् के बाप नें अपने बेटा कू[१] धन के लऐ घर् ते निकार दौ ऐ और गु साइकिल पै चढिकें सहर में नौकरी कौ काम करन् लगौ ऐ।"—(तह० कोल, जि० अलीगढ)

(२) **कन्नौजी**—"हरी रोज गोपाल् सै जहे कहत् कहन् हइ के ओ गोपाल् ! राम् ने अपनी आखिन् सै देखो हइ के मोहन के बाप् ने अपने बेटा कउँ धन के लए घत्तै निकाद्दओ हइ अउ बउ साइकिल् पइ चढिकै सहर मइ नउकरी को काम् करन्न लगो हइ।" (तह० कन्नौज)

(३) **बुन्देली**—"हरी रोज गोपाल् सौ जोई कहत रहत है कै ए गोपाल् ! राम ने अपनी आखन् सौ देखो है कै मोहन के बाप् ने अपने बेटा खौ धन के काजें घर सें निकार दओ है और बो साइकिल् पै चढिकै सहर में नौकरी को काम करन् लगो है।"—(तहसील झासी)

परसर्गों की तुलना :

ब्रज		**कन्नौजी**		**बुन्देली**
नें	—	ने	—	ने
कौ	—	को	—	को
कूं	—	कउँ	—	खौ
में	—	मइ	—	में

क्रिया की तुलना :

लगौ है	—	लगो हइ	—	लगो है।
आवतु है	—	आत हइ	—	आउत है।
गु रिस में भरिगौ	—	बउ रिस मइ भर गओ	—	बो रिस मे भर गओ

१. बुलन्दशहर में 'कू' और मथुरा शहर के चौबों की बोली में 'कौ' बोला जाता है—लेखक

हिन्दी में बलाघात और सुरलहर

श्री रमेशचन्द्र महरोत्रा

हिन्दी में बलाघात[1] का ध्वनियों और ध्वनिगुणों पर सामान्य प्रभाव

एक ने कहा, 'मुझे भूख् लगी है।'

यदि दूसरा व्यक्ति इस वाक्य मे प्रयुक्त 'भूख्' शब्द को न सुन पाए, और एक दुहरे प्रश्न के साथ पहले व्यक्ति से पूछे, 'क्या ? प्यास् ?', तो इसके उत्तर मे प्रथम वक्ता यदि 'नही' के मानो को व्यक्त करते हुए केवल 'भूख्' कहे, जिसका अर्थ अपने मे ही 'प्यास् नही' हो, तो वह अपने पहले वाक्य 'मुझे भूख् लगी है' के 'भूख्' से इस दूसरे 'भूख्' को अधिक बलाघात के साथ बोलेगा (आगे से हम बलाघात-युक्त अक्षर के आरम्भ के पहले बलाघात का एक चिह्न लिखा करेंगे, यथा 'ˈभूख्'), और तब इस 'ˈभूख्' का 'ˈऊ' एक तो अपेक्षाकृत अधिक दृढ (Tense) होगा, और दूसरे अधिक दीर्घ। ऐसे ही उदाहरणों से निष्कर्ष निकाल कर नियम के रूप मे यह कहा जा सकता है कि बलाघात ध्वनियो को दृढ बना देता है, और उनमें दीर्घता ला देता है। यदि हम, उदाहरणार्थ 'टूट्' को 'ˈटूट्'की भाति बोले, तब विशेषकर पहला 'ट्' बहुत दृढ (Fortis) होगा, और यदि उसे बिना बलाघात दिए बोले, तब दोनों 'ट्' अपेक्षाकृत एकदम शिथिल (Lenis) होंगे।

बच्चे से पहली और दूसरी बार 'खा' कह चुकने के बाद—यदि वह जिद पकडकर, खाना नही शुरू करता है—अगर डाटकर 'ˈखा' कहा जाय, तो वह 'ˈखा' पहली और दूसरी बार कहे गए 'खा' की अपेक्षा अधिक बलाघातयुक्त होगा, साथ ही उसका स्वर भी दीर्घतर। इसी के साथ सुर (Pitch) को भी लें---कि अधिकाशत, बलाघात का प्रयोग 'सुर' को ऊचा कर देता है। उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि बाद वाले 'ˈखा' मे पहले और दूसरे 'खा' की अपेक्षा काफी ऊचा सुर प्रयुक्त किया जायगा। सुर और बलाघात का यो तो काफी निकटसम्बन्ध है, पर ऐसा नही है कि बलाघात पडने पर निश्चितत सुर भी ऊचा हो ही जाय, जैसे यदि हम बच्चे से कहे, 'वह् चिडिया फुर्र् से उड गई।' और वह इस वाक्य के तीसरे शब्द को न समझते हुए हमसे पूछे, 'कैसे उड् गई ?', तब हम उसे समझाते हुए 'ˈफुर्र्।' को अधिक बलाघात तो देते है, पर सुर ऊचा नही करते। इसी प्रकार, यदि कोई हमसे पूछे, 'कित्ने बजे है ?', और हम उत्तर दें 'चार्।' लेकिन यदि वह फिर पूछ बैठे, 'कित्ने ?' तो हम 'ˈचार्।' पर बलाघात तो देगे, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि सुर भी ऊचा उठाए ही, हा, यदि वह एक बार और पूछ ले, 'कित्ने ?', तब जरूर सुर भी काफी ऊचा हो जाएगा, और तब उस 'ˈचार।' मे यह अर्थ भी निहित होगा, 'बह् रे हो गए हो क्या बिल्कुल् ?'। 'ˈचार्।' का 'आ' हमारे दोनों—दूसरे और तीसरे--उत्तरो मे पहले उत्तर 'चार्।' के 'आ' की अपेक्षा दीर्घतर होगा। तीसरी बार कहे गए 'ˈचार्।' का 'ˈआ' सबसे ज्यादा लम्बा होगा।

१. (क) इस लेख में उदाहरणों का उच्चरण अक्षर-विन्यास की दृष्टि से किया जाएगा, प्रचलित में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके।
(ख) चूकि बिना बलाघात के कोई अक्षर नहीं बोला जाता, इसलिए जहां हल्का बलाघात होगा, वहा हम मानेंगे कि 'बलाघात नहीं है' या 'अशक्त बलाघात है'। और जहा जोर का, यानी अधिक श्रोतव्य बलाघात होगा, वहां हम मानेंगे कि 'बलाघात है' या 'सशक्त बलाघात है'।

इसके भी कम-से-कम दो उदाहरण देखे कि बलाघात स्वरो की ही नही, व्यजनो की भी दीर्घता बढा देता है :

यदि आपसे पूछा जाय, 'वह क्या है ?', और आप उत्तर दे, 'नल् ।'(बलाघात नही है), उसके बाद प्रश्न कर्ता दुबारा पूछ ले, 'क्या ?', और आप फिर उसी प्रकार उत्तर दे दे, 'नल् ।'(अब भी बलाघात नही है) ; लेकिन प्रश्नकर्ता सिर्फ तफरीह के लिए एक बार और पूछ ले, 'क्या ?'; बस, आपका धैर्य डावाडोल हो जाएगा, और आप 'नल्' पर इतना जोर दे डालेगे कि उसकी शक्ल 'नल्ऽऽ' जैसी हो जाएगी, अर्थात् इस अक्षर पर पडा हुआ बलाघात 'ल्' को बहुत लम्बा बना देगा ।

एक व्यक्ति के लिए हम कहे, 'उसमे अनन्त् गुण् भरे पडे है ।', और दूसरे के लिए कहे, 'उसमे अनन्त् गुण् भरे पडे हैं ।' तो साफ भेद पता चल जाएगा कि पहले से दूसरे व्यक्ति मे अधिक गुण है, क्योकि पहले वाक्य के 'अनन्त्' शब्द के 'नन्त्' अक्षर पर बलाघात का प्रयोग नही हुआ है, और दूसरे वाक्य के 'अनन्त्' शब्द के 'नन्त्' अक्षर पर उसका प्रयोग जम कर हुआ है। इस बलाघात का 'त्' के पहले वाली 'न्' ध्वनि पर पडा हुआ प्रभाव भी स्पष्टत सुना जा सकता है कि वह अपेक्षाकृत कितनी अधिक दीर्घ हो गई है ।

बलाघात, 'एक सुरलहर' का जो 'केन्द्र अक्षर' (Syllable at the centre of an intonation) होता है, यानी उस सुरलहर मे निहित बात का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अश होता है, उसे उस सुर लहर के अन्य सारे अक्षरो मे अधिक मुखर (prominent) बनाने मे सहायता करता है, जैसे .

'मै शेर् था ।' (='मै था शेर, और कोई व्यक्ति नही ।), इसकी सुरलहर के केन्द्र पर है 'मै' ।
'मै' शेर् था ।' (=मै 'शेर' था, गीदड नही ।), इसमे 'शेर्' सबसे सधिक मुखर है ।
'मै शेर् था ।' (=मै शेर 'था', अब नही हू, अब कुछ और हू ।), इसकी सुरलहर मे 'था' पर का बलाघात उसे सर्वाधिक मुखर बनाए हुए है ।

बलाघात व्यजन-ध्वनियो मे द्वित्व भी ला देता है, जैसे हम कहते है, 'धम्म् मे गिरा ।' या 'खट्ट् से आवाज् हुई ।' इन दोनो वाक्यो के पहले अक्षरो पर बलाघात है, इसीलिए 'धम्' का 'धम्म्', और 'खट्' का 'खट्ट्' हो गया है । बिजनौर जिले के लोग झटके दे-देकर बोलते है, अर्थात् कम-ज्यादा बलाघात का खूब प्रयोग करते हुए। उन्हे 'रोटी नही खाता ?' को आप कहते हुए सुनेगे 'रोट्टी नइ खात्ता ?'

बलाघात स्पर्श-ध्वनियों मे, अग्रेजी मे तो खूब, पर हिन्दी मे कभी-कभी ('कभी-कभी' इसलिए कि हिन्दी में बलाघात का प्रयोग अग्रेजी की अपेक्षा वैसे भी बहुत कम होता है । हिन्दी मे वाक्य के अधिकाशत तो एक भी अक्षर पर बलाघात का प्रयोग नही 'किया जाता', कभी केवल एक अक्षर पर किया जाता है, और कभी—कम ही अवसरो पर—दो या अधिक अक्षरो पर किया जाता है । इसके विपरीत, अग्रेजी मे ऐसा कभी नही होता कि वाक्य के एक भी अक्षर पर बलाघात न हो ? उसमे वाक्य के एक से लेकर कई-कई अक्षरो तक पर बलाघात रहना एक बहुत आम बात है ।) महाप्राणत्व ला देता है, जैसे हम यदि 'क्या बताऊ !' को खीझ कर कहे, तो वह मुह से निकलता है, 'ख्या बताऊ !' इसका उल्टा है कि एकदम बलाघातहीन (मतलब, बहुत ही अल्प बलाघात युक्त) होने पर अक्षर मे से महाप्राण का लोप हो जाता है । उदाहरणार्थ, यदि कोई सशय उठाए कि 'आप् क्या सच्मुच् आर्मी मे रहे है ?' तब तो आप हर 'ह्' युक्त अक्षर पर बल देकर कहेगे, 'हा, हा, रहा हू ।', लेकिन यदि आप किसी अन्य प्रसग मे किसी से सारा-का-सारा वाक्य बिल्कुल शिथिलता से (अर्थात् बिना कही बलाघात प्रयुक्त किए) पूछे, 'कहा जा रहे हो ?' तो वह इस सूरत का हो जायगा—'का जा रएओ ?' । 'साहब्' का 'साब्', या कभी-कभी 'पाव्' का 'पा' हो जाना भी इसी ओर इगित करता है कि जब ऐसे शब्द बलाघात-शून्य करके बोले जाते है, तब उनकी एकाध ध्वनि उड जाती है ।

यदि सवृत स्वरों को बलाघातयुक्त बनाकर बोला जाय, तब तो वे वैसे ही रहते हैं; लेकिन यदि उन्हें बलाघातहीन करके बोला जाय, तो वे मध्य-केन्द्रीय स्वर (Central mid vowel) की दिशा की ओर थोडा-सा बढ जाते हैं, जैसे 'भाई साहब्' और 'पच्चीस' का 'भाइ साहब्' और 'पच्चिस्' हो जाने मे ('ई' से 'इ'), या 'बाऊजी' और 'सदूक्ची' का 'बाउजी' और 'सदुक्ची' हो जाने मे ('ऊ' से 'उ')। इसी प्रकार, यदि विकृत स्वरों को बलाघातयुक्त बनाकर बोला जाय, तब तो वे वैसे ही रहते है; लेकिन यदि उन्हे बलाघातहीन करके बोला जाय, तब वे भी मध्य-केन्द्रीय स्वर की दिशा की ओर बढ जाते है। जैसे, 'माता जी' और 'बाजार्' का 'मातअजी' और 'बजार्' हो जाने में ('आ' से 'अ')।

हिन्दी में बलाघात की सार्थकता

दुनिया मे कोई भी भाषा ऐसी नही होती, जिसमें सारे-के-सारे अक्षर एक-सा बल लगाकर बोले जाते हों। उन पर बलाघात की विभिन्न मात्राओं का लगाया जाना ही भाषा की स्वाभाविकता का द्योतक है। हिन्दी मे बलाघात दो प्रकार का मिलता है--एक तो वह जिसके बारे मे ठीक-ठीक बताया जा सकता है कि वह 'कहा' होगा, जैसे--

(१) यदि शब्द मे केवल एक अक्षर महाप्राण-ध्वनि ('ह्', या विसर्ग) या महाप्राण व्यजन-ध्वनि (ख्, घ् आदि) से युक्त हो, तो उस अक्षर पर शब्द के अन्य अक्षरों की अपेक्षा अधिक (सशक्त)[1] बलाघात होगा। उदाहरणार्थ, 'हकीम्' मे 'ह' पर, 'ग्राहक्' मे 'हक्' पर, 'राही' मे 'ही' पर, 'मह्मान्' मे 'मह्' पर, 'बेगुनाह्' मे 'नाह्' पर, 'प्रायः' में 'य' पर, 'फन्दा' मे 'फन्' पर, 'निश्छल्' मे 'छल्' पर, 'अमिताभ्' मे 'ताभ्' पर, 'अर्धांगिनी' मे 'धाङ्' पर, 'बलाघात्' मे 'घात्' पर और 'उदाहरणार्थ' मे 'दाह्' पर, इत्यादि।

(२) यदि शब्द 'साधारण एकाक्षरीय' (महाप्राणत्वयुक्त ध्वनिहीन) बोला जाय, तो उस पर अशक्त बलाघात नही पडा करता, सदा सशक्त ही पडा करता है। उदाहरणार्थ, 'कि', 'आ', 'तुम्', और 'वीर्', इत्यादि पर; लेकिन यदि वह महाप्राणत्वयुक्त ध्वनियुक्त हो, तो उसमे कुछ और सशक्तता आ जाती है। जैसे 'हो', 'भव्' और 'भाव्' इत्यादि पर।

(३) यदि शब्द मे दो अक्षर हो, जिनमे से कोई भी महाप्राण-ध्वनि या महाप्राण व्यंजन-ध्वनि से युक्त न हो, और उनमे से एक दीर्घ स्वर रखता हो और दूसरा ह्रस्व, तो सदा दीर्घ स्वर वाले अक्षर पर बलाघात होगा। उदाहरणार्थ 'नीति' मे 'नी' पर, 'आदत्' मे 'आ' पर, 'नकेल्' मे 'केल्' पर, और 'रमा' में 'मा' पर, इत्यादि।

(४) द्व्यक्षरात्मक शब्द मे कही भी कोई महाप्राण-ध्वनि या महाप्राण व्यजन-ध्वनि न हो, और यदि दोनो अक्षरो के स्वर ह्रस्व हो तब भी, और यदि दोनो के स्वर दीर्घ हो तब भी, बलाघात प्रथम अक्षर पर रहता है। जैसे 'किरण्' मे 'कि' पर, और 'मृदु' मे 'मृ' पर, इसी प्रकार, 'जीजा' मे 'जी' पर, और 'पाल्तू' मे 'पाल्' पर, इत्यादि।

(५) यदि द्व्यक्षरात्मक शब्द के दोनो अक्षरो मे महाप्राणध्वनि और महाप्राणव्यजन-ध्वनि में से कोई एक-एक ध्वनि आई हो, तो उस पर नियम (३) और (४) लगेगे। उदाहरणार्थ 'झाखड्' में 'झा' पर, 'हठी' में 'ठी' पर और 'हाथी' मे 'हा' पर, इत्यादि।

(६) तीन अक्षरो के शब्दों मे (यदि किसी में भी महाप्राणत्वयुक्त ध्वनि न हो) बलाघात की स्थिति सामान्यतः इस प्रकार रहती है.

ह्रस्व ह्रस्व ह्रस्व	'नलिनि', 'अरुणिम्'	पहले अक्षर पर
दीर्घ दीर्घ दीर्घ	'पाजामा', 'चौवालीस'	दूसरे पर

---

१. इस (सशक्त) बलाघात को दिखाने के लिए आगे के उदाहरणों में बलाघात-द्योतक चिह्न। को नहीं प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि इस प्रकार की सशक्तता अर्थ भेदोत्पादिका नहीं है। आगे चिह्न के प्रयोग को केवल 'उस सशक्त बलाघात के लिए' सीमित कर दिया है, जिसके कारण अर्थ में भेद उत्पन्न हो जाता है।

ह्रस्व ह्रस्व दीर्घ	'अतुकान्त', 'कबड्डी'	तीसरे पर
दीर्घ दीर्घ ह्रस्व	'पालागन्' 'रामानुज्'	पहले पर
दीर्घ ह्रस्व ह्रस्व	'मागलिक्' 'पागल्पन्'	पहले पर
ह्रस्व दीर्घ दीर्घ	'निशाना', 'बराती'	दूसरे पर
ह्रस्व दीर्घ ह्रस्व	'चमारिन्', 'तमारि'	दूसरे पर
दीर्घ ह्रस्व दीर्घ	'आसुरी', 'कामुक्ता'	पहले पर

(७) चार अक्षरो के शब्दो मे (यदि एक भी महाप्राणयुक्त ध्वनि न हो) मे अधिकतर पर बलाघात आरम्भिक अक्षर पर रहता है। जैसे 'कमलिनी' मे 'क' पर, 'कार्य्कारिता' मे 'कार्य्' पर, 'आदर्णीया' मे 'आ' पर, और 'करामाती' मे 'क' पर, इत्यादि।

ऊपर-वर्णित बलाघात सार्थक बलाघात नही है, वह हिन्दी की केवल सामान्य ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति द्योतित करता है। उदाहरणार्थ, यदि 'नलिनि' के 'न' के बलाघात को 'लि' पर, और 'न' को बलाघातहीन बनाकर बोल दिया जाय, तो अर्थ मे किसी प्रकार का फर्क पडने की सम्भावना भी नही हो सकती; हा कानो को कुछ फर्क जरूर सुनाई पड सकता है—कुछ-कुछ अस्वाभाविक-सा। ऐसा बलाघात हिन्दी मे प्रयुक्त स्वाभाविक बलाघात है। अर्थो मे भेद पैदा करने के लिए "हमारी इच्छानुसार प्रयुक्त किया गया" बलाघात नही। इस बलाघात को 'निरर्थक बलाघात' कह सकते है।

दूसरे प्रकार का बलाघात हिदी मे 'सार्थक' बलाघात है। 'वह् वहा थी'—इस वाक्य मे कोई भी विशिष्ट भाव नही घुसा हुआ है। इसकी कार्यकारिता है 'मात्र सूचना दे देना।' कि किसी ने हममे पूछा, 'वह् कहा थी ?' और हमने जैसे बिना किसी विशेषता के साथ एक साधारण-सा उत्तर दे दिया कि वह वहा थी। पर यदि हमे बताना हो 'मै बिल्कुल सही कह रहा हू, आप माने या न माने, 'वह वहा मौजूद थी।' तब हम उक्त वाक्य 'वह् वहा थी।' को इस प्रकार बोलेगे, 'वह वहा ˈथी'। हमने देखा कि यदि अक्षर 'थी' को दो प्रकार से—एक कम बलाघात के साथ और दूसरे अधिक बलाघात के साथ—उच्चारित किया जाय, तो (बाकी सारी बाते समान रखने पर भी) माने बदल जाते है, यानी बलाघात की हिन्दी मे दो मात्राए (degrees)—अशक्त और सशक्त[1]—विरोध (contrast) मे है, ध्वनिग्रामीय है। हिन्दी मे बलाघात के दो ध्वनिग्राम हुए। इस प्रकार के बलाघात को पहले प्रकार के बलाघात (निरर्थक) की भाति हम अन्दाज से नही बता सकते कि वह किस अक्षर पर प्रयुक्त होगा, या किस ध्वनि के द्वारा प्रशासित रहेगा। बलाघात का यह भेद अनुमान से परे (unpredictable) है, और यदि अनुमान के साथ चलता है, तो अर्थ-परिवर्तन के साथ भी चलता है—एक अर्थ के साथ इसकी एक मात्रा, और दूसरे अर्थ के साथ इसकी दूसरी मात्रा। एक-सी स्थितियो मे इस (सार्थक बलाघात) के दोनो रूप आ सकते है, पर निरर्थक बलाघात की अशक्त और सशक्त मात्राए बैठी हुई स्थितियों मे आएंगी, एक-सी स्थितियो मे नही। सार्थक बलाघात की बात पक्की करने के लिए कुछ अन्य उदाहरण और ले

'तुम् कभी पास् नही हो सक्ते।'—इस वाक्य से कोई ऐसा अर्थ नही निकल रहा कि जिससे यह प्रतिभासित हो कि इसमे किसी चीज़ की 'तुलना' किसी अन्य वस्तु से की जा रही है; लेकिन आप इसी वाक्य के पहले शब्दवत् अक्षर 'तुम्' को सशक्त बलाघात से युक्त करके बोलिए, और फिर देखिए कि वाक्य का अर्थ कुछ और ही हो जाता है; उसमे 'तुलना का भाव' प्रखर रूप से आ जाता है—'चाहे सारी दुनिया पास हो जाए, लेकिन "तुम" कभी पास नही हो सकते।' यहां भी बलाघात की दो मात्राओ से दो अर्थ सम्बद्ध है।

'तुम्ने कब् देखा ?' एक साधारण प्रश्न है, लेकिन 'तुम्ने ˈकब् देखा ?' केवल प्रश्न ही नही है, बल्कि वह इस अर्थ को भी स्पष्टतः सूचित करता है कि प्रश्नकर्ता का आशय प्रश्न के साथ यह जतलाना भी है कि '(तुम) झूठ

१. निरर्थक बलाघात के सशक्त रूप से सार्थक बलाघात का सशक्त रूप सर्वदा अधिक सशक्त हुआ करता है।

बोलते हो ?' एक और उदाहरण देकर बलाघात की बात की सीमा पर पहुचा जाय ·

'वह् बहुत् सुन्दर् है ।'

'वह् बहुत् सुन्दर् है ।'

उक्त वाक्यो मे बलाघात के भेद को छोडकर शेष बाते समान है । बस, बलाघात के ही भेद के कारण अर्थों मे भेद मौजूद है । पहले 'बहुत्' के माने है 'बहुत', पर दूसरे 'बहुत्' (बहुत्) के माने है 'बहुत ही ज्यादा, पहले की अपेक्षा कई गुना ज्यादा ।'[1]

निरर्थक बलाघात की दो मात्राए खोजने के बाद भी यदि हम कह दे कि 'हिन्दी मे बलाघात नही है', तो कोई हर्ज नही, लेकिन सार्थक बलाघात की दो मात्राए ढूढने (और स्थापित करने) के बाद हमे यह स्वीकार करना ही पडेगा कि 'हिन्दी मे बलाघात है ।'

हिन्दी में सुर-लहर

हिन्दी मे सुर (Pitch) महत्त्वपूर्ण है—तान (Tone) नाम से नही (जिसे हम शब्द-स्तर पर परखते है), सुर-लहर (Intonation) नाम मे (जिसे वाक्य-स्तर पर जाचा जाता है) ध्वनियों को विभिन्न सुरो पर बोलकर हम 'वाक्य मे कही गई पूरी बात' के अर्थ मे कुछ विशेषता लाते है, किसी 'शब्द' के अर्थ मे कोई परिवर्तन नही करते ।

सुर-लहर कहते है भाषा मे सुरो के उतार-चढाव के क्रम को । ऐसी सुर-लहर, जो केवल विश्वव्यापी मनोवेगो को द्योतित करे, भाषा-विज्ञानियो के अध्ययन के क्षेत्र मे नही आती, बल्कि हम ऐसी सुर-लहर को, जो ससार की सभी भाषाओ मे समान रूप से मिलती है, पारिभाषिक रूप मे 'सुरलहर' ही नही कहते । क्रोध मे सुरो का ऊचा हो जाना, या बहुत भावुक होकर धीरे-धीरे बर्ताते वक्त सुरों का अपेक्षाकृत नीचा प्रयोग, इत्यादि सुर-लहर का हिस्सा नही है । कानाफूसी मे बात करते समय सारी ध्वनियो के सुरो को एक ही तल पर बोलना, आदि भी भाषा की सुर-लहर से बाहर की बाते है । सुर मे उतार-चढाव रोने-झीकने मे भी होता है, और हँसने-दहाडने मे भी होता है, लेकिन यह सब सम्पत्ति प्राणी-मात्र की है, किसी विशिष्ट भाषा-भाषी की नही । भाषा-विज्ञान तो ऐसी ध्वनियो को अपने दायरे मे आनेवाली 'भाषा' की परिभाषा मे ही शामिल नही करता । गाना गाते समय भाषा की स्वाभाविक सुर-लहर की सर्वथा समाप्ति हो जाती है, क्योकि उस समय ध्वनियो को सगीत के सुरो के एक बनावटी, अर्थात् नकली, उतार-चढाव मे चलना पडता है, बातचीत के समय वाली असली सुर-लहर मे नही ।

जिस भाषा मे शब्द-स्तर पर सुर सार्थक होता है, उसे Tone language कहा जाता है, जैसे चीनी । उसमे दो खडीय ध्वनिग्रामो (फ् और उ) का एक क्रम है 'फु' । इसे चार अलग-अलग सुरों के साथ बोला जाता है,

---

१. हिन्दी का यह बलाघात शब्द-स्तर पर तो है, लेकिन शब्द के अक्षरों पर उसका विभाजित रूप से होना-न होना इस प्रकार निश्चित नही है, जिस प्रकार उदाहरणार्थ ग्रीक में, कि यदि, उदाहरण के लिए 'पोलो' के पहले अक्षर पर बलाघात है, तो अर्थ होगा 'शहर', और यदि दूसरे पर है, तो उसका अर्थ होगा 'बहुत' । कह सकते है कि हिन्दी के शब्दों पर सार्थक बलाघात का प्रयोग करने से 'पूरमपूर शब्दार्थ' तो नही बदलता, पर शब्द का 'सामान्य अर्थ' बदलकर 'विशिष्ट अर्थ' हो जाता है; जैसे अंग्रेजी में भी; उदाहरणार्थ, सामान्य अर्थ वाले वाक्य He is there. को यदि कोई 'he is there.' की भांति बोलता है, तो उसका अर्थ बहुत विशिष्ट हो जाता है (कि मै शर्त बदकर कहता हूं कि वह वहा है और जरूर है) । अंग्रेजी में बलाघात का काम व्याकरणिक भेद भी पैदा करना है, जैसे cont-est सज्ञा और contest क्रिया । इस तरह का बलाघात भी हिंदी में नही है । हिंदी में जिस प्रकार का बलाघात है, उसका अंग्रेजी से एक उदाहरण और प्रस्तुत है—

'How are you ?' (प्रथम वक्ता के द्वारा प्रयुक्त)

'How are you ?' (जो जवाब देता है, उसके द्वारा प्रयुक्त)

जिससे चार अलग-अलग शब्द बनते हैं, यथा गिरते सुर के साथ 'फु' बोले जाने का अर्थ है 'जिलाधीश', चढते सुर के साथ 'फु' के माने है 'धन-दौलत', सम सुर के साथ 'फु' का अर्थ है 'आदमी', और गिरकर चढते (Falling-rising) सुर के साथ 'फु' का मत लब है 'धनवान'। हिन्दी मे यदि कोई शब्द 'फु' होता, तो वह केवल एक शब्द होता; क्योकि उसे हम चाहे किसी भी प्रकार के सुर के साथ बोलते, वह वही रहता (अर्थ-भेद उत्पन्न करने मे असमर्थ); लेकिन चीनी मे 'फु' जैसे चार शब्द है, जो चार प्रकार से बोले जाते है और चार अर्थ व्यजित करते है। हिन्दी का कोई जानकार सभवत· यह प्रश्न उठा बैठे कि हिन्दी मे भी, उदाहरणार्थ 'तुम।' 'तुम ?' और 'तुम !' तीन अलग-अलग सुरो से युक्त शब्द हैं। लेकिन (इसका उत्तर यह है कि) 'तुम' के अपने कोई सुर नही है, इन तीन उदाहरणो मे प्रयुक्त सुर है तीन वाक्यो के सुर। यदि इनकी जगह कोई अन्य वाक्यवत् प्रयुक्त शब्द, उदाहरणार्थ 'बेवकूफ' रख दिया जाय, तो उस पर भी इसी प्रकार उक्त तीन प्रकार के सुरो का प्रयोग करना पडेगा। या यो कहे कि यदि इनमे मे प्रत्येक 'तुम' को उठाकर अन्य वाक्यो मे कही रख दिया जाय, तब इनके ये सुर नही रहेगे, लेकिन किसी Tone language के ऐसे शब्द वाक्य मे चाहे कहीं भी व्यवहृत हो, उनके सुर हमेशा वही रहेगे। जैसे चीनी भाषा के उक्त उदाहरण के किसी 'फु' को किसी भी वाक्य मे, और वाक्य के किसी भी स्थान पर रख दे, उसका अपना सुर उसके साथ चलेगा। तय हो गया कि हिन्दी Tone language नही है, क्योकि उसके एक भी शब्द का अपना पृथक सुर निश्चित नही है। उसमे सुर का उतार-चढाव होता है, अर्थ भी बदलते है, लेकिन वह उतार-चढाव और अर्थ मे परिवर्तन इस बात पर निर्भर करता है कि अमुक शब्द या शब्द-क्रम वाक्य मे किस स्थल पर और कैसे व्यवहृत हुआ है, अर्थात हिन्दी के 'वाक्य मे' सुरो की की स्थिति सार्थक है। एक उदाहरण ले :

मै वहा जाऊंगा।

मै वहा जाऊगा ?

इन दोनो वाक्यो को बोलने मे 'मै वहा जा' तक सुर एक-सा रहता है, लेकिन उसके बाद पहले वाक्य मे वह गिरने लगता है, और 'गा' की समाप्ति तक पहुचते-पहुचते वह उससे भी नीचे गिर जाता है, जिसमे कि 'मैं' शुरू हुआ था। दूसरे वाक्य मे 'जा' के बाद सुर ऊपर चढने लगता है, और 'गा' की समाप्ति तक पहुचते-पहुचते वह इतना ऊचा उठ जाता है कि जितना ऊचा सुर उस वाक्य मे कही प्रयुक्त नही होता।

यह कहना कि हिन्दी मे सुर-लहर है, 'सुर-लहर' का सामान्य प्रयोग है। सुर-लहर का विशेष प्रयोग इस प्रकार होगा कि जब भी हम बोलते है, तब कम-से-कम 'एक सुर-लहर', या अधिक सुर-लहरो का प्रयोग हम किया करते है। हमारी हर सुर-लहर, छोटी या बडी, तीन मे मे एक प्रकार के विराम मे समाप्त होती है, यानी हिन्दी की प्रत्येक सुर-लहर का अतिम हिस्सा सुर का या तो (१) रुकाव (स्थिरत्व) दिखाता है, या (२) चढाव प्रदर्शित करता है, और या (३) गिराव द्योतित करता है। चूकि ये रुकाव, चढाव और गिराव 'विराम' के तीन प्रकार है, इसलिए इन्हे ध्वन्यात्मक रूप मे सुविधा की दृष्टि से (मोटे तौर पर) इस प्रकार नाप कर कहा जा सकता है कि रुकाव वाली सुर-लहर (जिसमे न चढाव होता है, न गिराव) के अन्त पर की ध्वनि की दीर्घता, या वहा पर उच्चारण की गति का विश्राम 'दो पल' के लिए किया जाता है, चढाव वाली सुर-लहर के अन्त मे उस विराम की दीर्घता 'तीन पल' की होती है, और गिराव वाली सुर-लहर के अन्त मे वह 'चार पल' की होती है। दो, तीन या चार पल की दीर्घता का प्रयोग तो हम सदा सुर-लहर के अन्त मे करते है, पर एक पल की दीर्घता का प्रयोग हम सुर-लहर के बीच मे एक या एकाधिक सधि-स्थलों (Junctures) पर किया करते है। बिना एक पल की दीर्घता रखने वाली सुर-लहर हो सकती है, जैसे 'नही।' की सुर-लहर, क्योकि 'नही।' मे कोई सधि-स्थल नही है। लेकिन ऐसी कोई सुर-लहर नही हो सकती, जिसमे दो, तीन और चार पल की दीर्घता मे से एक का प्रयोग न हो। बात और आसान करने के लिए चारो प्रकार की दीर्घता के उदाहरण देखे :

नही[२ पल] भाई।[४ पल]
कभी[१ पल] नही[१ पल] जाग्रोगे?[३ पल]
हा।[४ पल] कभी[१ पल] नही[१ पल] जाऊंगा।[४ पल]

पहले उदाहरण मे 'न्' से 'ग्र', 'ग्र' से 'ह्', ग्रौर 'ह्' से 'ई' तक जाने मे एक-एक पल भी नहीं लगता, लेकिन 'ई' से 'भ' तक जाने मे दो पल लग जाते हैं। बस यहा 'ई' के बाद पहली सुर-लहर समाप्त हो जाती है। 'भ्' से दूसरी सुर-लहर ग्रारभ होती है। 'भाई' के 'ई' के बाद ग्रगर हम कुछ ग्रौर बोलते है, तो चार पल बाद बोलेगे। दूसरे वाक्य 'कभी नही जाग्रोगे?' का ग्रतिम 'ए' तीन पल का समय लेता है, ग्रर्थात् यदि हम 'कभी नही जाग्रोगे?' 'क्यो नही जाग्रोगे?' साथ-साथ पूछे, तो इन दो वाक्यो के बीच मे, या तो तीन पल को रुक जाएगे, ग्रौर या पहले वाक्य के 'जाग्रोगे' के 'ए' को तीन पल लम्बा बना देंगे। इस उदाहरण मे एक सुर-लहर है। तीसरे उदाहरण मे फिर दो सुर-लहरे है। पहली सुर-लहर 'हा।' पर खत्म हो जाती है, क्योकि वहा सुर-लहर का गिराव प्रयुक्त हुग्रा है, चार पल लम्बा। 'कभी' के 'ई' ग्रौर 'नही' के 'न्' के बीच मे केवल एक पल का समय लगता है। इसी प्रकार 'नही' के 'ई' ग्रौर 'जाऊगा' के 'ज्' के सधि-स्थल पर भी केवल एक पल का समय लगता है। यह (एक पल का) विराम (सगम) सुर-लहर को हिस्सो मे बाटने वाली एक चीज कहा जा सकता है। ग्रब यह जाहिर है कि एक वाक्य या किसी ग्रन्य उच्चार-खण्ड मे जितने भी दो, तीन, या चार पल वाले विराम ग्राएगे, उतनी ही सुर-लहरे उसमें होगी। उदाहरणार्थ .

नही[२ पल] ऐसा मत करो[३ पल] वरना मे जान दे दूगा।[४ पल]

यहा दुहरा ले कि दो पल की जगह पर का सुर उससे पिछले सुर की बराबर ऊचाई पर है, तीन पल की जगह पर का सुर उससे पिछले सुर से कुछ चढ गया है, ग्रौर चार पल की जगह पर का सुर उसके पिछले सुर से उतर गया है।

ग्रनेक बार ऐसा होता है कि चढाव वाली सुर-लहर के ग्रन्त पर हम देवनागरी मे प्रश्न-सूचक चिह्न लगाते है। जैसे 'कभी नही जाग्रोगे?' मे, लेकिन इन दोनो (चढाव वाली सुर-लहर ग्रौर प्रश्न-सूचक चिह्न) मे कोई नियमित ग्रौर स्थिर सम्बन्ध नही है। ऐसा भी हो सकता है कि हम प्रश्न-सूचक चिह्न लगाए, ग्रौर बोलते समय गिराव वाली सुर-लहर का प्रयोग करे, जैसे 'कैसा रहा उनका भाषण?' ऐसा भी सभव है कि हम प्रश्न-सूचक चिह्न न लगाए, ग्रौर फिर भी चढाव वाली सुर-लहर का प्रयोग करे, जैसे 'रुको, मै ग्राता हू।' में, या 'एक, दो, तीन।' मे कॉमा ही चढाव वाली सुर-लहर के द्योतक का काम निभा रहा है। ग्रामतौर से ऐसा होता है कि चढाव वाली सुर-लहर मे पिछला सुर यदि कोई उचा सुर हो, तब तो वह प्रश्न-सूचक चिह्न के द्वारा लिखी जाती है, ग्रौर यदि उससे पिछला सुर ग्रपेक्षाकृत कोई नीचा सुर हो, तब उसे कॉमा के द्वारा लिखा जाता है। चढाव वाली सुर-लहर को विस्मयसूचक चिह्न या सबोधक चिह्न के द्वारा भी लिखा जाता है, जैसे 'ग्रच्छा! इतना सुन्दर!' ग्रौर 'सुनो!' इत्यादि मे। गिराव वाली सुर-लहर को ग्रधिकाशतः पूर्ण विराम-चिह्न के द्वारा लिखा जाता है, जैसे 'मै मजे मे हू।' लेकिन जैसा ऊपर प्रश्न-सूचक चिह्न के सम्बन्ध मे चर्चा करते समय इगित हो चुका है कि इस सुर-लहर को बहुत से मौको पर प्रश्न-सूचक चिह्न के द्वारा भी लिखा जाता है। जैसे 'कल जाग्रोगे? वापस कब ग्राग्रोगे?' में 'ग्राग्रोगे' के बाद के प्रश्न-सूचक चिह्न के द्वारा। गिराव वाली सुर-लहर को लिखने के लिए चाहे पूर्ण विराम लगाया जाय, चाहे प्रश्न-सूचक चिह्न, वह बात के पूर्ण होने की सूचना देती है। उसे सुनकर हमारे मन में यह धारणा बैठ जाती है कि वक्ता की उस सुर-लहर मे कही गई बात ग्रधूरी नही है, वह पूरी हो चुकी। जैसे कोई मकान-मालिक यदि ग्रापसे एक धमकी के साथ पूछे, 'ग्राप नहीं निकलेगे मेरे घर में से?', ग्रौर ग्राप उसे तैश मे ग्राकर उत्तर दे, 'हा। नही निकलूगा।' तब ग्राप गिराव वाली दो सुर-लहरे बोलते है। यदि ग्राप 'नही निकलूगा।' न बोले, तब भी ग्रापका काम पूरी तरह चल सकता है, क्योंकि ग्राप चार पल वाले विराम की गिराव वाली सुर-लहर का प्रयोग कर चुके हैं। मकान-मालिक को जवाब ग्राप सिर्फ 'नही' कह कर दो प्रकार से दे सकते है, जिसमे से एक का ग्रर्थ होगा—'ग्राप नही निकलेगे।' ग्रौर दूसरे का ग्रर्थ होगा 'ग्राप निकलने को तैयार है।' कैसे?

यदि आप 'नही।' को गिराव वाली सुर-लहर के साथ बोलते है, तो आप मकान-मालिक की बात काट रहे है (और अपना जवाब पूर्ण करके बोल रहे हैं); और यदि आप 'नही' को चढाव वाली सुर-लहर के साथ बोलते हैं, तो आप मकान-मालिक की बात का समर्थन कर रहे है कि 'नही भाई, तुम गलत समझ रहे हो, मै निकलूगा' (और अपना जवाब पूर्ण के करने लिए अभी कुछ और, जैसे 'निकलूगा' कहेगे)। आपका पहला जवाब इस प्रकार लिखा जायगा---'नही।' (या 'नहीं निकलूगा।') और दूसरा जवाब इस प्रकार लिखा जायगा---'नही ! निकलूगा।' चढाव वाली सुर-लहर मे बात पूरी भी हो जाती है जैसे 'जाओगे ?' मे, और अधूरी भी रह सकती है, जैसे 'एक, दो, तीन।' मे 'एक' और 'दो' के बाद यह आभास होता है कि अभी कुछ कहना शेष है। अर्धविराम-चिह्न से भी गिराव वाली सुर-लहर को द्योतित किया जाता है, जैसे 'मै जाता हू; तुम आओ।' मे 'हू' के बाद। पर 'मै जाता हू, तुम आओ।' मे 'हू' के बाद चढाव वाली सुर-लहर का विराम है। दो सुर-लहरे पास-पास हो, तब उनके बीच में यदि गिराव वाली सुर-लहर का विराम हो, तो उन दो सुर-लहरो की बातो मे परस्पर इतना समीप और घनिष्ठ सम्बन्ध नही होता, जितना उन दो सुर-लहरो की बातो मे होता है जिनके बीच मे चढाव वाली सुर-लहर का विराम हो। यदि बीच मे रुकाव वाली सुर-लहर का विराम हो, तो यह सम्बन्ध और भी ज्यादा निकट का होता है। रुकाव वाली सुर-लहर को देवनागरी मे लिखने का तरीका अधिकाश स्थलो पर जगह उसी प्रकार खाली छोड देना है, जिस प्रकार कि एक पल वाले विराम के लिए। एक पल वाले विराम के लिए कभी-कभी समास-चिह्न लिखा मिलता है, जैसे 'भाषा-विज्ञान' या 'समास-चिह्न' आदि मे, लेकिन दो पल वाले विराम के लिए समास-चिह्न कभी लिखा नही मिल सकता, क्योंकि वह सुर-लहर के मध्य मे कभी नही आता। वैसे काल-मात्रा को छोडकर इन दो विरामो मे समानता है, क्योंकि दोनो ही न सुर का किसी प्रकार का चढाव रखते है और न गिराव। चूकि रुकाव वाली सुर-लहर के विराम की दीर्घता अल्प ही है, इसलिए उसे अधिकाशत लिखकर दिखाने की जरूरत नही समझी जाती। इसके विपरीत, चढाव वाली और गिराव वाली सुर-लहरो के विरामो की दीर्घता अधिक (रुकाव वाली की से क्रमश डेड और दो गुनी) होती है, इसलिए उन्हे हमेशा लिखकर दिखाने की जरूरत समझी जाती है। रुकाव वाली सुर-लहर का एक उदाहरण ले :

'हा [२ पल] जाउगा। [४ पल] जरूर [१ पल] जाऊगा। [४ पल]

यह विराम सुर-लहरो के अन्त मे तो प्राय आया करता है, लेकिन सपूर्ण वाक्य के अन्त मे चढाव और गिराव वाली सुर-लहरो के विरामो की अपेक्षा बहुत कम आया करता है। यदि यह वाक्यात मे आता है, तो आमतौर से तब, जब वक्ता कुछ कहते-कहते रुक जाय---शर्म के कारण, या झिझक के कारण, या किसी घटना के कारण, या किसी अन्य कारण, जैसे मान लिया हम कोई प्राइवेट बात कर रहे हो, और अचानक कमरे मे कोई ऐसा व्यक्ति घुस आए जिसे हम वह बात न सुनाना चाहते हो, उदाहरणार्थ 'मैने चुपके से झाका ही था---'। सुनने वाला ऐसी सुर-लहर को सुनकर मन मे अवश्य सोचेगा कि आगे क्या हुआ। ऐसी अधूरी बात की रुकाव वाली सुर-लहर के विराम के लिए देव-नागरी में डैश भी लिखा जाता है और कुछ डौट भी।

एव व्यक्ति का नाम है 'सागर'। 'सागर' नाम का एक शहर भी है। एक वाक्य बनता है---'कहा जा रहे हो सागर ?' इसका अर्थ स्पष्ट है कि 'सागर' नाम के 'व्यक्ति' से प्रश्न पूछा जा रहा है। इस वाक्य मे दो सुर-लहरे है। पहली सुर-लहर का 'दो पल वाला' विराम 'हो' के बाद है, लेकिन देवनागरी लिपि इस विराम को दिखाने की परवाह नही करती। एक वाक्य और है---'कहा जा रहे हो, सागर ?' इसमे 'हो' के बाद सुर-लहर का दो पल वाला विराम नही हो सकता। इस वाक्य का अर्थ भी कम-से-कम किसी हिन्दी-भाषी से नही छिप सकता (क्या सागर जा रहे हो ?) और यदि वाक्य इन शक्लो के कर दिए जाए

'सागर ! जा रहे हो क्या ?'

'सागर जा रहे हो क्या ?'

तो 'सागर' व्यक्ति के बदले 'सागर' शहर वाले वाक्य मे दो पल वाले विराम से काम निकाला गया है।

दूसरे वाक्य मे 'सागर' के बाद एक पल के विराम का प्रयोग भी सामान्य बात है।

अभी तक हमने बात की किसी सुर-लहर के गिराव, चढ़ाव और रुकाव की। अब देखें कि एक सुर-लहर में 'सुरो' की क्या स्थिति रहती है। हिन्दी की छोटी-से-छोटी सुर-लहर मे कम-से-कम दो सुर होते हैं—एक आरम्भ में और एक अन्त मे, जैसे ●**बस**● मे। बडी सुर-लहर मे भी ऐसा अक्सर हुआ करता है कि केवल दो सुर हों, जैसे ●**दस साल बाद ऐसा हुआ है**● में, लेकिन उसमे तीन भी हो सकते है, जैसे ●**आज**● **दस साल बाद ऐसा हुआ है**● मे; और अधिक-से-अधिक चार हो सकते हैं, जैसे ●**आज हमारे घर में** ●**ठीक**● **दस साल बाद ऐसा हुआ है**● मे।

हर सुर-लहर की पूरी बात मे केवल एक सुर ऐसा होता है, जिस पर विशेष बल दिया जाता है, जैसे ●**जाओ**● के शुरू मे ही। सुर-लहर के उस सुर को सुर-लहर का केन्द्र कहते हैं। यह केन्द्र दो सुर रखने वाली सुर-लहर में सदा आरम्भ के सुर पर होता है, तीन सुर रखने वाली सुर-लहर मे बीच के सुर पर होता है, और चार सुर रखने वाली सुर-लहर मे आरम्भ से तीसरे नम्बर के सुर पर होता है। ऊपर दिये गए उदाहरणो मे जहा कही 'दस' आया है, यह केन्द्र उसके साथ वाले सुर पर है। अन्य उदाहरण ये है—

●**भागो यहां से**● मे 'भा' पर।

●**वहां**● **कब चलोगे**● मे 'कब' पर।

●**मैंने**● **पैसे न होने के कारण**● **कल से खाना नहीं खाया है**● मे 'कल' पर।

सुर के तीन स्तर नीचे लिखे दो वाक्यो की तुलना करके सहज ही ढूढे जा सकते है.

●**कब चलोगे वहां**●

●**वहां** ●**कब चलोगे**●

यदि हम इन वाक्यो को चार पल वाले विराम के साथ बोले, तो पहले वाक्य मे आरम्भ वाला सुर ऊचा है, और अन्त वाला नीचा। दूसरे वाक्य मे भी ऊचा सुर 'कब' पर ही है, लेकिन वह वाक्य के आरम्भ मे नही है। इसी प्रकार, दूसरे वाक्य मे भी नीचा सुर वाक्य के अन्त मे ही है, लेकिन अन्तिम अक्षर (शब्द बदल जाने के कारण) बदला हुआ है। अब दूसरे वाक्य के बचे हुए (आरम्भिक) सुर को परखे, तो साफ पता चलेगा कि वह 'कब' के ऊचे 'गे' के नीचे सुरो के बीच का है। इन तीन सुरो के नामकरण 'ऊंचा सुर', 'नीचा सुर' और 'बीच का सुर' करने के बाद हम 'वहा कब चलोगे?' को इस वाक्य की सुर-लहर मे प्रयुक्त सुरो के साथ इस प्रकार लिख सकते है (विराम का जिक्र दुबारा न छेडते हुए)

बी वहां ऊँ कब चलोगे नी

अन्य उक्त दो-एक उदाहरणो को भी इस प्रकार लिख कर देखे।

ऊँ भागो यहां से नी

बी मैंने बी पैसे न होने के कारण ऊँ कल से खाना नही खाया है नी

बी आज ऊँ दस साल बाद ऐसा हुआ है नी

कुछ अन्य उदाहरण भी

बी तुम ऊँ यहाँ रहते हो ऊँ

ऊँ कौन ऊँ

बी मेरे ऊँ मन की बात नही होने पा रही है नी

बी मैं ऊँ दसों बार तो बी कह चुका हूँ बी

● यह चिह्न केवल इतना बताता है कि अमुक स्थल पर सुर की कोई ईकाई मौजूद है।

उक्त अन्तिम उदाहरण से यह पता चलता है कि यह जरूरी नही है कि सुर-लहर के केन्द्र वाला सुर सुर-लहर का सर्वोच्च सुर ही हो।

इन तीनों सुरो के अतिरिक्त एक चौथा सुर भी हिन्दी मे प्रयुक्त होता है, जो 'ऊचे' से भी ऊचा है (इसे 'आ' द्वारा लिखेंगे)। यह तब सुनने को मिलता है जब कोई व्यक्ति आश्चर्यचकित होकर, या बनकर, ऊचे सुर को ही कुछ और ऊचा करके बोले, जैसे .

बी वह आ मर गए आ

इस सुर का महत्त्व उस वक्त नही माना जाना चाहिए, जब यह अचानक ही स्वाभाविक रूप से मुंह से (चीख की तरह) निकल पडे, जैसे सांप देखते ही भयभीत होकर कोई चिल्ला उठे ·

आ साप आ

हिन्दी-सुर-लहर मे इन चारो सुरो को हम सार्थक तब कह सकते है, जब केवल इन्ही के कारण अर्थों मे भद पड़ जाय। एक शब्द है 'अच्छा', जिसे हम बहुत मौको पर वाक्यवत् व्यवहृत किया करते है। कोई यदि आपसे कहे, 'मेहरबानी करके यह काम कर दीजिए' और आपको उसके उत्तर मे हल्के से रौब के साथ (जिससे विराम गिराव वाली सुर-लहर के बदले चढाव वाली सुर-लहर का हो जाय) स्वीकृति-वाचक मात्र--'अच्छा' कहना हो, तो आप उसे इस प्रकार कहेगे--

बी अच्छा नी

और यदि किसी से बाते करने के वाद आप इस प्रकार अच्छा कहकर चल दे, जिसका अर्थ हो, 'तो मैं अब चलता हू', तो उसे इस प्रकार लिखा जायगा,

बी अच्छा बी

फिर, यदि आप किसी को कोई चुनौती देते हुए, जो एक प्रकार का प्रश्न भी होगी, कहना चाहे, 'तो तुम बाज नही आओगे ?' तो केवल 'अच्छा' को इस प्रकार बोलकर कह सकते हैं--

बी अच्छा ऊँ

इसके बाद, यदि आपका बच्चा आपसे आकर कहे कि वह चार फुट ऊचा कूद लेता है, तब आप उससे आश्चर्य-मिश्रित प्रश्न 'सचमुच !' के अर्थों के साथ 'अच्छा' को इस प्रकार कह सकते है

बी अच्छा आ

चारों प्रकार के 'अच्छा' कहने के अन्त मे एक ही प्रकार की चढाव वाली सुर-लहर के तीन पल वाले विराम का प्रयोग है। इन चार उदाहरणो मे नी, बी, ऊ, और आ सुरो का परस्पर ध्वनिग्रामीय विरोध है, अतः ये चार सुर-स्तर हिन्दी की सुर-लहर की (विरामो की भाति) सार्थक इकाइया है। सुरो के अन्य सूक्ष्म अन्तर इन चारो मे ही समान हुए है। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो दूर जाने वाले को, जैसे-जैसे वह अधिक दूर बढता जाय, अपना सुर सरगम के अनुसार क्रमशः ऊचा करते हुए, 'हिन्दी मे ही' पुकारता चला जाय, लेकिन इससे हिंदी भाषा की सुर-लहर मे बारह या इक्कीस सार्थक सुरो की सत्ता सिद्ध नही हो जायगी !

अवधी के ध्वनि-ग्राम

डा० उदयनारायण तिवारी

अवधी पूर्वी-हिन्दी की एक प्रमुख बोली है। साधारणत. अवधी एक विस्तृत क्षेत्र—खीरी (लखीमपुर), सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर, गोंडा, बहराइच, फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर, मिर्जापुर तथा बांदा के कुछ भागों—में बोली जाती है। किन्तु यहां इस अध्ययन का आधार इलाहाबाद जिले की मेजा तहसील की अवधी बोली है। यह अध्ययन श्री दिनेशप्रसाद शुक्ल[1] एम० ए०, शोधछात्र, प्रयाग विश्वविद्यालय की सहायता से सम्पन्न हुआ है। इसके सूचक (Informant) भी श्री शुक्ल ही हैं। श्री शुक्लजी अपने घर मे, परिवार वालो से सदैव इसी बोली मे बातचीत करते हैं। इस बोली के ध्वनिग्राम आगे दिए जा रहे हैं—

स्वरीय—

	अग्र	मध्य	पश्च
	अवृत्ताकार	अवृत्ताकार	वृत्ताकार
संवृत	इ [i]		उ [u]
अर्धसंवृत	ए [e]	ऽ [ə]	ओ [o]
विवृत	ऍ [æ]	आ [a:]	ऑ [ɔ]

१. श्री दिनेशप्रसाद शुक्ल लेखक के निर्देशन में ही डी० फिल्० के लिए अधिनिबन्ध प्रस्तुत कर रहे है। बाबूजी (श्री टण्डनजी) घर में तथा प्रयाग के अवधी बोलने वालों से प्रायः इसी बोली में बातें करते है। प्रस्तुत निबन्ध का इस दृष्टि से भी महत्त्व है। —लेखक

व्यंजनीय—

		ओष्ठ्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	काकल्य
अवरोधी	स्पर्श	प	त	ट	च	क	
		फ	थ	ठ	छ	ख	
		ब	द	ड	ज	ग	
		भ	ध	ढ	झ	घ	
अनवरोधी	संघर्षी		स				ह्
	नासिक्य	म	न			ङ	
	कम्पनजात		र				
	ताडनजात			ड़			
	पार्श्विक		ल				
	अर्धस्वर	व			य		

खण्डेतर ध्वनिग्राम [Supra-Segmental Phonemes]

१. दीर्घता [Length]

२ अनुनासिकता [Nasalization]

अवधी मे दीर्घता एव अनुनासिकता खण्डेतर ध्वनिग्राम है। उदाहरणार्थ—गऽरे (गले मे)—गऽ रे (गया रे); साप (श्राप)—साँप (साँप)।

स्वर

अग्र[1] अवृत्ताकार	।इ।	सवृत	उच्च	।सिर। ,	मस्तक
	।ए।	अर्धसवृत	मध्य	।बेना। ;	पखा
	।एॅ।	विवृत	निम्न	।एॅना। ,	दर्पण
मध्य अवृत्ताकार	।ऽ।	अर्धसवृत	मध्य	।बऽर। ,	वर, दूल्हा
	।आ।	विवृत	निम्न	।बार। ;	बाल
पश्च वृत्ताकार	।उ।	सवृत	उच्च	।कुकुर। ;	कुत्ता
	।ओ।	अर्धसवृत	मध्य	।ओकऽर। ;	उसका
	।ओॅ।	विवृत	निम्न	।नौकऽर। ;	नौकर

व्यंजन

स्पर्श	।प।	—[प]	द्वयोष्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	।पार।[1]
	।फ।	—[फ]	,,	,,	महाप्राण	।फार।
	।ब।	—[ब]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।बार।
	।भ।	—[भ]	,,	,,	महाप्राण	।भार।
	।त।	—[त]	वर्त्स्य	अघोष	अल्पप्राण	।तार।
	।थ।	—[थ]	,,	,,	महाप्राण	।थार।
	।द।	—[द]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।दान।
	।ध।	—[ध]	,,	,,	महाप्राण	।धान।
	।ट।	—[ट]	मूर्धन्य	अघोष	अल्पप्राण	।टाट।
	।ठ।	—[ठ]	,,	,,	महाप्राण	।ठाट।

१. 'पार, फार' आदि में, अन्तिम व्यञ्जन स्वर-रहित है। यद्यपि इन्हें हलन्तर रूप में लिखा नहीं गया है।

	।ड।	—[ड]	„	सघोष	अल्पप्राण	।डाक।
	।ढ।	—[ढ]	„	„	महाप्राण	।ढाक।
	।च।	—[च]	तालव्य	अघोष	अल्पप्राण	।चार।
	।छ।	—[छ]	„	„	महाप्राण	।छार।
	।ज।	—[ज]	„	सघोष	अल्पप्राण	।जार।
	।झ।	—[झ]	„	„	महाप्राण	।झार।
	।क।	—[क]	कण्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	।कार।
	।ख।	—[ख]	„	„	महाप्राण	।खार।
	।ग।	—[ग]	„	सघोष	अल्पप्राण	।गऽर।
	।घ।	—[घ]	„	„	महाप्राण	।घऽर।
संघर्षी	।स।	—[स]	वर्त्स्य	अघोष	„	।सार।
	।ह।	—[ह]	काकल्य	„	„	।हार।
नासिक्य	।म।	—[म]	द्वयोष्ठ्य	सघोष	अल्पप्राण	।मार।
	।न।	—[न]	वर्त्स्य	„	„	।नार।
	।ङ।	—[ङ]	कण्ठ्य	„	„	।पऽङ्खी।
कम्पन-जात	।र।	—[र]	वर्त्स्य	„	„	।घोरा।
ताड़न-जात	।ड़।	—[ड़]	मूर्धन्य	„	„	।घोड़ा।
पार्श्विक	।ल।	—[ल]	वर्त्स्य	„	„	।लाला।
अर्धस्वर	।व।	—[व]	द्वयोष्ठ्य	„		।वार।
	।य।	—[य]	तालव्य	„		।यार।

अवधी मे निम्नलिखित ध्वनि-ग्रामों के एक से अधिक सह स्वन (Allophone) है—

।ढ। —[ढ] आदि अथवा नासिक्य व्यजन के बाद। [ठन्ढ] [ढाक]
[ढ़] अन्यत्र [बाढ़]

।फ। —[फ़] अन्त मे [साफ़]
—[फ] अन्यत्र [फार] [ऽसरफी]

।स। —[श] मध्य, ट के पहले [मुशटी]
[स] अन्यत्र [सार] [घास]

। न ।—[ञ] तालव्य-अवरोधी व्यजन के पूर्व मध्य मे,
[चञचऽल]

[ऩ] मूर्धन्य-अवरोधी व्यजन के पूर्व मध्य मे,
[डऽऩडा]

[न] अन्यत्र [किनकी] [तऽनखाह]

खण्डेतर ध्वनिग्राम— **दीर्घता—**

। इ । । इः । ···। सिर। । सीर ।
। ए । । एः । ···। केतऽना । । के. तऽना ।
। ओ । । ओ· । ···। ओतऽना । । ओः तना ।
। उ । । उः । ···। मुड़ऽब । । मुः डऽब ।
। ऽ । । ऽ· । ···। जऽरे । । जऽः रे ।

अनुनासिकता

। आ । । आँ । । साप । । साँप ।
। ओ । । ओं । । गोद । । गोंद ।
। उ । । उँ । । नाउ । । नाउँ ।

सर्वाधिक प्रचलित आक्षरिक आकृति

अवधी में कोई भी शब्द स्वर अथवा स्वर + व्यंजन के संयोग से बन सकता है। नीचे जो सूची दी जा रही है उसमें स्वर के लिए अ तथा व्यंजन के लिए क चिह्न का प्रयोग किया गया है।

(१) अ=इ· (यह), (२) अ+अ=आइ=(आया), (३) अ+अ+अ=आइउ (स्त्रीलिंग तुम आई), (४) क+अ+क=जऽर (ज्वर), (५) क+अ+क+अ=जऽरऽ (जलो), (६) क+अ=जऽ (जाओ), (७) क+अ+अ=गाइ (गाय), (८) क+अ+अ+अ=खाइउ (स्त्रीलिंग खाया ?), (९) अ+अ+क=आएन (आये), (१०) अ+अ+क+अ=आएनि (आये), (११) क+अ+क+अ+अ+अ+क+अ=बसिअउटा (बासी), (१२) क+अ+क+अ+क+अ+अ+क+अ=मरिगउनु (एक गाली, जिसे औरतें पुरुषों के लिए प्रयोग करती हैं।

स्वर-संयोग

आदि—

(१) ऽउ (ऽउर), (२) आइ (आइनि), (३) आउ (आउब), (४) उऽ (उऽब), (५) एउँ (एउँसऽ —चावल आदि पकाने के लिए कहना), (६) एउ (एउ—ये भी), (७) ओउ (वे भी)।

मध्य—

(१) ऽइ (कऽइमे), (२) ऽइँ (भइँसि), (३) ऽउ (खऽउलऽब), (४) आए (सुनाएस), (५) इआ (उ) (भोरिआउब), (६) इऽ (बऽसिऽउटा), (७) एउ (नेउरऽवा), (८) एँ उ (जेउब—खाना), (९) ओ आ (सोआउब), (१०) उऽ (छुऽब), (११) उ आ (दुआरे)।

अन्त—

(१) अइ (गऽइ–गई), (२) ऽइँ (तऽइँ), (३) ऽइ (कऽलऽइ·), (४) आइ (गाइ), (५) आई (लाई), (६) आए (बिआए)।

लगभग सभी अन्य स्वरों (अनुनासिक तथा दीर्घ) के संयोग भी मिलते हैं।

व्यंजन-संयोग

आदि—

आदि व्यंजन-संयोग के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है। फिर भी अभी तक निम्नलिखित आदि व्यंजन-संयोग मिला है :

(१) त+र=त्राहि।

(२) प+र=प्रेमा (एक नाम)।

मध्य—

(१) प प—छऽपपऽर, (२) प फ—कऽपफऽन, (३) प त—जदुपती, (४) प न—सऽपना, (५) प ट—खऽपटा, (६) प ड—कऽपड़ा, (७) प च—खऽपची, (८) प ल—घऽपला, (९) प स—लऽपसी, (१०) ब ब—मुरऽबबा, (११) ब भ—जिबभा, (१२) म ब—लऽमबऽर, (१३) म म—गुरऽममा, (१४) म त—रऽमता, (१५) म द—उमदा, (१६) म ट—चिमटा, (१७) म छ—गऽमछा, (१८) म ह—सऽमहारऽब, (१९) म ल—गऽमला, (२०) त त—पऽततल, (२१) तथ—पऽतथऽ, (२२) त क—सऽतका, (२३) द द—गऽददा, (२४) द् ध—ऽदधा,

(२५) न प--पऽनपऽब, (२६) न न--पऽननी, (२७) न ट--घऽनटा, (२८) न ड--चऽनडाल, (२९) ञ छ--पऽञछी, (३०) ङ खी--पऽङखी, (३१) न ह--आनहऽर, (३२) ट ट--गऽटटा, (३३) ट ठ--पऽटठा, (३४) ट क--पऽटका, (३५) ड ड--गऽडडी, (३६) च च--बऽचचा, (३७) च छ--मऽचछऽर, (३८) ज ज--लऽजजा, (३९) ज झ--खुजझा, (४०) क क--मुकका, (४१) क त--चुकता, (४२) क न--ढऽकना, (४३) क ट--नऽकटी, (४४) क ठ--लऽकठा, (४३) क च--सिकचा, (४६) क ख--भुकखऽड, (४७) क स--बऽकसा, (४८) ग ग--लऽगगी, (४९) ग त--लऽगता, (५०) ग ल--बऽगली, (५१) र प--खुरपी, (५२) र फ--बऽरफी, (५३) र म--गऽरमी, (५४) र द--गऽरदा, (५५) र त--भऽरता, (५६) र छ--बऽरछा, (५७) र ध--बऽरधा, (५८) र ग--गऽरग, (५९) र ह--मारह, (६०) ड ह--गाडह, (६१) ल ब--चऽलबऽयऽ, (६२) लत--चऽलता, (६३) ल ट--पऽलटा, (६४) ल द--जऽलदी, (६५) ल न--चऽलनी, (६६) ल क--गऽलका, (६७) ल ह--चूलह, (६८) स प--इसपात, (६९) स म--चऽसमा, (७०) सत--सऽसता, (७१) सक--इसकूल, (७२) स ख--मऽसखऽरा, (७३) स स--मिससी।

अन्त--

(१) न द--कऽनद, (२) न स--कऽनस, (३) न ध--गऽनध, (४) नट--चऽनट, (५) ङ ग--जऽङग, (६) न ढ--ठऽनढ, (७) ञ च--पञच, (८) ङ ख--सऽङख, (९) स त--जुसत, (१०) ट ठ--भुटठ, (११) क क--झऽकक, (१२) ड ड--गऽडड।

मध्यव्यंजन संयोग

	प	फ	ब	भ	त	थ	द	ध	ट	ठ	ड	ढ	च	छ	ज	झ	क	ख	ग	घ	स	ह	म	न	ङ	र	ड	ल	य	व
प	X	X			X				X				X				X				X			X			X	X		
फ																														
ब			X	X																										
भ																														
त					X	X																								
थ																														
द								X																						
ध																														
ट									X	X																				
ठ											X						X													
ड											X																			
ढ																														
च													X	X																
छ																														
ज															X	X														
झ																														
क					X				X	X			X				X	X			X			X						
ख																														
ग					X				X	X									X								X	X		
घ																														
स	X				X												X	X			X		X							
ह																														
म					X		X		X					X		X	X					X	X	X		X	X	X		
न	X		X				X	X	X		X	X		X			X	X	X		X	X	X	X						
ङ																		X	X	X			X							
र	X	X			X	X	X							X	X				X		X	X	X							
ड																														
ल			X		X		X		X								X					X		X						
य																														
व																														

सुर[1]

(१) प्रश्न कहा जाथय ?

उत्तर—$\overset{1}{\text{घरे}}^{2}$ ↑ —स्वाभाविक उत्तर।

(२) $\overset{2}{\text{घरे}}^{3}$ ↑ जाथय—क्या घर जा रहे हो ?

(३) $\overset{1}{\text{घरे}}^{2}$ ↓ —घर छोडकर अन्यत्र जा ही कहा सकता हूं।

× × ×

(१) प्रश्न —का तू यह समइ घरे जाथय ?

उत्तर—$\overset{1}{\text{हा}}^{1}$ ↑ — हा के बाद भी और कहे जाने की आशा।

(२) $\overset{2}{\text{हा}}^{2}$ ↑ —श्रोता किसी वस्तु को ध्यानपूर्वक सुनकर उत्तर दे रहा है।

(३) $\overset{3}{\text{हा}}^{3}$ ↑ —यदि उत्तर 'हा !' मे मिलने की सम्भावना हो, किन्तु किसी कारणवश प्रश्नकर्ता उत्तर न सुनकर स्वय पूछ उठे—हा।

× × ×

(१) $\overset{3}{\text{राम}}^{2}$ ↓ (ए राम)—यदि दूर से बुलाना हो।

(२) $\overset{3}{\text{राम}}^{2}$ ↑ —पास मे बैठे रहने पर यदि बुलाना हो।

× × ×

(१) $\overset{1}{\text{मर्द}}^{1}$ ↓ (मर्द अहइ)—सामान्य जातिवाचक सज्ञा।

(२) $\overset{1}{\text{मर्द}}^{2}$ ↑ —आटा गूंधो।

× × ×

(१) $\overset{1}{\text{मर्द}}^{1}$ ↓ न^{1} —मर्द का बहुवचन।

(२) $\overset{1}{\text{मर्द}}^{1}$ ↑ न^{1} ↑ —आटा गूंधो न।

× × ×

(१) $\overset{2}{\text{जार}}^{1}$ ↓ —काटा।

(२) $\overset{2}{\text{जार}}^{1}$ ↑ —जलाओ।

× × ×

$\overset{1}{\text{मेल}}^{1}$ ↓ —विष्टा।

$\overset{1}{\text{मेल}}^{1}$ ↑ —मलो।

× × ×

(१) $\overset{1}{\text{उ}}$ $\overset{1}{\text{मनई}}^{1}$ ↑ $\overset{1}{\text{अहइ}}^{1}$ ↓ —सामान्य कथन।

(२) $\overset{2}{\text{ऊ}}$ $\overset{1}{\text{मनई}}^{2}$ ↑ $\overset{1}{\text{अहइ}}^{1}$ ↓ —वह आदमी है।

---

१. अंकों (१,२,३,४) द्वारा सुर [Pitch] का सामान्य, मध्य, उच्च तथा अति उच्च रूप में चढाव-उतार या आरोह-अवरोह दिखलाया गया है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी बाणों द्वारा सुर का ऊपर-नीचे जाना प्रदर्शित किया गया है। —लेखक

(३) उ मनई^{१} ↑ अहइ^{१} ↓ —क्या वह आदमी है ? (प्रश्नवाचक)

× × ×

(१) के^{२} अहइ^{१} ↓ —प्रश्न

(२) के^{२} अहइ^{१} भउजी^{२} ↓ —कौन है भाभी ? (यदि भाभी से पूछा जाय)

(३) के^{२} अहइ^{१} ↓ भउजी^{२} ↑ —कौन है—भाभी ? (प्रश्नवाचक)

(४) भउजी^{२} अहइ^{१} ↓ का^{३} ↑ —भाभी हैं क्या ? (,,)

(५) भउजी^{२} अहे^{२} ↑ का^{२} रे^{३} ↓ —क्या भाभी हैं ? (सन्देहात्मक)

(६) अच्छा^{३} ↑ भउजी^{२} अहइ ↓ —ठीक है, भाभी है ।

× × ×

(१) ए भइया^{२} ↑ —पास मे रहने पर यदि बुलाया जाय ।

(२) ए भइया^{२} ↑ —दूर रहने पर यदि बुलाया जाय ।

(३) ए भइया^{१} ↑ —मान-मनौती करने मे ।

× × ×

(१) का^{३} पढथऽय^{१} ↑ कालि^{१} ↓ दा^{१} ↑ स^{१} ↓ —('क्या पढते हो कालिदास' यदि पाठक का नाम कालिदास हो)

(२) का^{२} पढथऽय^{१} ↑ काली^{२} ↑ दास^{१} ↓ —क्या कालिदास कवि के ग्रथ पढ़ रहे हो ?

× × ×

(१) हम खुरपी^{२} ↑ लेब^{१} ↓ —मै खुर्पी लूगा—सामान्य कथन

(२) हम खुरपी^{३} ↑ लेब^{१} ↓ —मै खुर्पी ही लूगा—अन्य वस्तु नही ।

(३) हम खुरपी^{२} ↑ लेब^{१} ↓ —मै (दूसरा कोई नही) खुर्पी लूगा ।

(४) हम खुरपी^{२} ↑ लेब^{१} ↓ —मै खुर्पी अवश्य लूगा ।

प्राचीन खड़ी बोली गद्य में भाषा का स्वरूप

डा० प्रेमप्रकाश गौतम

भाषा-स्वरूप तथा भाषा-विकास के अनुशीलन की दृष्टि मे गद्य-वाड्मय जितना उपयोगी है, उतना पद्य नही। पद्य की भाषा गति, यति, मात्रा आदि की आवश्यकताओ के कारण प्राय जन-भाषा से दूर और कभी-कभी कृत्रिम हो जाती है। पुराने शब्दरूप तथा प्रयोग भी पद्य-क्षेत्र मे स्थान पाते है। परन्तु गद्य बहुधा बोलचाल की स्वाभाविक भाषा के निकट होता है। वस्तुत किसी समय का गद्य ही उस समय की भाषा के रूप को जानने का उपयुक्त साधन हैं। काव्यात्मक अलकृत गद्य की बात दूसरी है परन्तु शुद्ध गद्य सदैव भाषानुशीलन के कार्य मे महत्त्वपूर्ण सहायता करता है। हिन्दी के प्राचीन गद्य का महत्त्व मुख्यत भाषा की ही दृष्टि मे है। विषय, शैली रूप आदि का भी महत्त्व उसमें माना जा सकता है। परन्तु उसकी उपयोगिता प्रधानत हिन्दी के पुरातन रूप का प्रतिविम्बित करने के कारण है।

प्राचीन हिन्दी गद्य की परम्परा चौदहवी शताब्दी से प्राप्त होती है, वह भी राजस्थानी तथा मैथिली मे। परन्तु इन दोनों विभाषाओ के साहित्यिक तथा विद्वान् और श्री ग्रियर्सन जैसे भाषाविज्ञानी इन्हे हिन्दी से बाहर की स्वतत्र भाषाए मानते है। दक्खिनी तथा ब्रजभाषा मे भी गद्य का प्रारम्भ चौदहवी शती से बताया जाता है। परन्तु इनमे प्रामाणिक गद्य सोलहवी शती से उपलब्ध होता है। खडी बोली की गद्य-परम्परा और भी परवर्तिनी है। विश्वसनीय रूप मे खडी बोली का गद्य सत्रहवी शती मे ही मिलता है। अवधी, छत्तीसगढी और भोजपुरी मे तो प्राचीन गद्य-वाड्मय ही अत्यन्त क्षीण हैं। कुछ कागज-पत्र, टीका-टिप्पण, शिलालेख तथा अठारहवी शती के दो-चार ग्रन्थ प्राप्त हुए है। बनारसी बोली की 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' नामक बारहवी शती की एक औक्तिक व्याकरणिक रचना अवश्य उपलब्ध है जिसमे बनारसी बोली के गद्य-वाक्य सस्कृत-वाक्यो के साथ लिखित है। यह ग्रन्थ इसकी भाषा के सुनीतिबाबू-कृत अध्ययन के साथ प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ के बाद सत्रहवी शती तक अवधी या बनारसी गद्य का कोई नमूना प्राप्त नही होता। वस्तुत प्राचीन काल मे गद्य का जैसा उन्मेष राजस्थानी, ब्रजभाषा, दक्खिनी तथा खडी बोली मे हुआ, वैसा अवधी आदि पूर्वी भाषाओ मे नही। इनके प्राचीन गद्य के आधार पर इन भाषाओ के पुराने रूप तथा विकास का अध्ययन प्रामाणिक रूप मे किया जा सकता है। खडी बोली के पुरातन रूप पर प्रकाश डालने की उपयोगिता और उसके आधुनिक उत्कर्ष तथा महत्त्व को दृष्टि मे रखते हुए प्रस्तुत प्रबन्ध मे खडी बोली और उसके प्रसग से दक्खिनी के प्राचीन गद्य का सक्षिप्त भाषा-सम्बन्धी अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

खडी बोली का अभ्युदय तो साम्प्रतिक है परन्तु प्राचीन वह लगभग उतनी ही है जितनी ब्रजभाषा। उसके अस्तित्व के प्रमाण चौदहवी शताब्दी से ही मिलते है। पद्य मे ही नही, गद्य-क्षेत्र मे भी उसकी स्थिति चिरप्राचीन है। नाथ-सिद्धों की अनेक गद्यमय और गद्य-पद्य-मय रचनाओ मे ब्रजभाषा, राजस्थानी और पजाबी के साथ खडी बोली का प्रयोग मिलता है। अर्ध-शिक्षित जनता के निमित्त लिखित कथा-कृतियो मे भी इस भाषा का व्यवहार हुआ है। रीतिकाल से पूर्व की (१६५० ई० से पहले की) ऐसी अनेक लघु गद्य-मय तथा गद्य-पद्य-मिश्रित रचनाए उपलब्ध है जिनमे खड़ी बोली शैली के शब्द-रूप अन्य-भाषाओ के शब्दरूपो के साथ पर्याप्तत. प्रयुक्त है। चौदहवी-पन्द्रहवी शती के 'मलफ़ूजात' (मुसलमान सन्तों के लिखित प्रवचनो) से सम्बन्धित फारसी-ग्रन्थो मे भी खडी बोली के वाक्य यत्र-तत्र

प्राप्त होते हैं।[1] परन्तु इन वाक्यों की प्रामाणिकता सुनिश्चित नही। लिपिकों ने इन्हे मूल रूप मे रहने दिया होगा, इस सम्बन्ध मे सन्देह होता है। राजा मानसिह से सम्बन्धित एक फरमान मे भी खडी बोली गद्य की कुछ पक्तिया प्राप्त होती है।[2] चौदहवी शती के ख्वाजा जहागीर समनानी की १३०८ ई० मे निर्मित एक सूफीमत-विषयक गद्य-रचना बताई जाती है।[3] परन्तु यह अप्राप्त है। इसकी प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध है।

प्राचीन दक्खिनी मे, उसे खडी बोली हिन्दी का पूर्व रूप माना जाए या न माना जाए, बहुत-सी गद्य-रचनाए समुपलब्ध है। ख्वाजा गेसूदराज के नाम से प्रसिद्ध 'मेराजुलआशिकीन', 'हिदायतनामा', 'शिकारनामा' आदि ग्रन्थो की प्रामाणिकता तो सदिग्ध है परन्तु कुछ ग्रन्थ (यथा, शाह बुरहानुद्दीन जानम-कृत 'कल्मितुलहकायक', मौला अब्दुल्लो-कृत अहकामुस्सलात' और मुल्ला वजही-कृत 'सबरस') अवश्य ही प्रामाणिक है। परन्तु दक्खिनी मे भी गद्य का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ सोलहवी शताब्दी का है। भक्ति-काल के अन्त तक दक्खिनी मे गद्य-निर्माण यद्यपि प्रचुर परिमाण मे हो चुका था, परन्तु अपने मूल और प्रामाणिक रूप मे प्राचीन दक्खिनी गद्य की बहुत कम रचनाए प्राप्त है। उपलब्ध प्रतिया प्राय काल-निर्देश-रहित है, फिर उनमे भाषा भी परिवर्तित है। ख्वाजा गेसूदराज, शाह मीराजी शम्सुलउश्शाक आदि सूफी सन्तो के कुछ फारसी-ग्रन्थो के उनके अनुयायियो द्वारा किये गए अनुवाद भी इन सन्तो के नाम मे उनकी मौलिक कृतियो के रूप मे प्रसिद्ध हो गए प्रतीत होते है। परन्तु दक्खिनी की जितनी भी प्रामाणिक रचनाए उपलब्ध है वे खड़ी बोली के इतिहास की दृष्टि से—उसके प्राचीन स्वरूप पर प्रकाश डालने के लक्ष्य से महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन दक्खिनी रचनाओ मे, अन्य भाषाओ के शब्द-रूपो के साथ ही सही, खडी बोली शैली के शब्द-रूप जितनी प्रचुरता मे प्रयुक्त हुए है उतनी प्रचुरता से उत्तर भारत की सत्रहवी शती तक की 'हिन्दवी' या 'हिन्दुस्तानी की रचनाओ मे नही। उत्तर भारत मे अठारहवी शती के प्रारम्भ तक जहा कही भी खडी बोली का लिखित प्रयोग हुआ प्राय व्रजभाषा, राजस्थानी या इतर प्रादेशिक भाषा के सहारे ही हुआ।

उत्तर भारत मे निर्मित जिन प्राचीन (रीति-युग से पूर्व की) प्राप्त गद्य-रचनाओं की प्रतियो मे खडी बोली के शब्द-रूप न्यूनाधिक मिलते है उनमे 'कुतुब शतम्', (प्रतिसम्वत् १६७० गद्य-पद्यमय), 'भोगलु पुरान' (प्रति सम्वत् १७६२ गद्यमय[5]), 'गोरष गणेस गुष्टि' (प्रति सम्वत् १७१५ गद्य-मय) और 'महादेव गोरष गुष्टि' (प्रति सम्वत् १७१५ गद्यमय) उल्लेखनीय है। 'नव बोली छन्द', 'नव भाषा', 'सकुनावली' आदि और भी अनेक लघु रचनाओ मे खडी बोली का प्रयोग प्राप्त होता है।[4] परन्तु इनके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि ये रीति-युग से पूर्व की है। जिन रचनाओ का नाम-निर्देश यहा किया गया है वे प्राय. सुलघु है। कोई भी कृति पाच पृष्ठो से अधिक की नही है। इनमे 'कुतुबशतम्' ('कुतुबुद्दीनरीवात') तथा 'भोगलुपुरान' (भूगोल पुराण) मे खडी बोली शैली के शब्द-रूप अपेक्षाकृत अधिक है। तत्कालीन जन-भाषा का रूप प्रस्तुत करने की दृष्टि से 'कुतुब शतम्' अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह

---

१. 'मलफूज़ात'-सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ है—'सियरुलऔलिया', 'खैरुलमजालिस', और 'सरूरुस्सुदूर'। इनमें मिलने वाले कुछ वाक्य हैं—'खोजा बुरहानुद्दीन बाला है', 'पोंनू का चांद भी बाला होता है', 'रह रह', 'तू मेरा गुसाई, तू मेरा करतार', 'मुझ इस तपथई' 'छुडा', जो मुडासा बाधे सो पाइन पमरे', 'अरे मौलाना ये बडा होसी'। मौलवी अब्दुल हक ने 'उर्दू की इब्तदाई नशो व नुमा में सूफ़ीयाए कराम का काम' पुस्तक में फारसी के कुछ अन्य ग्रन्थों से खडी बोली के वाक्य उद्धृत किए है जो इन ग्रन्थों में यत्र तत्र आए है। इन वाक्यों में प्रयुक्त कुछ शब्दरूप है—तुझसे, होए, करे, तुसां, पोंचे, कू, को, ते, का, में, जिस, पावे, देवे, हुआ, मुआ, तैसा। 'पंजाब में उर्दू' और 'बिहार में उर्दू' नामक ग्रन्थों में भी प्राचीन खड़ी बोली के वाक्य उद्धृत किये गए है।

२. हाजीपुर के शाहे मुख्तार अहमद से प्रो० हसन असकरी को प्राप्त यह फ़रमान 'बेंगाल : पास्ट ऐंड प्रेजैण्ट' नामक ग्रथ (जिल्द ६६) में प्रकाशित हो चुका है। मूल फरमान फारसी में है, उसका सक्षिप्त अनुवाद खडी बोली में। १६वी शती के इस नमूने में भाषा का रूप यह है—'श्री महाराजाधिराज श्री मानसिह जी ओ ' दखल मत करो वो हर साल परवाना तलब मत करो साल तमाम में फी बीगा मजरुआ पीछे सिक्का यक खालसा लीजो अवरव अवर कछू दखल मत करो '' ''।'

३. हामिद हसन कादिरी—'दास्ताने तारीखे उर्दू' (१६४१) पृ० १६।

४. इस रचना की प्राचीनतर प्रतिलिपि श्री ह० प्र० द्विवेदी ने 'नाथसिद्धों की बानियां' शीर्षक सग्रह-पुस्तक में प्रकाशित की है।

५. इन रचनाओं की प्रतियों में बहुत पाठान्तर है।

रचना सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी की व्यावहारिक खडी बोली पर प्रकाश डालती है। इसमे खडी बोली, राजस्थानी तथा ब्रजभाषा के साथ प्रयुक्त है। अन्य रचनाओ मे भी ब्रजभाषा, राजस्थानी, पजाबी अथवा पूर्वी हिन्दी मे प्रभावित खडी बोली का दर्शन होता है।[1] इस विभाषा-मिश्रण का कारण खडी बोली का उस समय दुर्बल और साहित्य-क्षेत्र मे अप्रतिष्ठित होना तो है ही, गद्यकारो का अपनी प्रादेशिक बोली के सस्पर्श से न बच पाना भी इसका कारण है। प्रादेशिक शब्द और शब्द-रूप ही नही, प्रदेश-विशिष्ट उच्चारण भी इस समय की रचनाओ मे प्राप्त होता है।

उल्लिखित रचनाओ की भाषा की एक मुख्य विशेषता, प्राचीनता और अर्वाचीनता का सयोग है। इनकी प्राप्त प्रतिलिपियो मे एक ओर 'अम्हे'-'अमे' (हम), तुम्ह (तुम), 'अम्हारा' (हमारा), 'उत्पन्या',[2] 'सूरजु', 'कउन', 'अउर', 'इकु', 'जलकीआ', 'उत्पन्निओ',[3] 'उतपते', 'कथन्ति', 'भ्रमते',[4] 'घरा', 'बूढा', 'पावइ', 'करतइ', 'जाण्या'[5] ऐसे पुराने रूप है, दूसरी ओर 'यह', 'तूम', 'हम', 'तुमाहारा', 'मारा', 'मीठा', 'पारा', 'का', 'आया', 'गावणा', 'चलती',[6] 'इन', 'दाहिणे' 'से', 'सुनो', 'आवते', 'जाते', 'होरहते', 'जैसा', 'तैसा',[7] 'पर्वतो', 'अखो', 'देवते', 'ऊचा', 'बडा', 'होता', 'करता', 'बैठा', 'होयगा',[8] 'यह', 'जिसका', 'इतनी', 'ऐसा', 'चाहता है', 'करते हइ', 'बैठा था', 'खुलावती थी', 'आकर खडा रहा',[9] ऐसे आधुनिक ढग के शब्द-रूप।

इन रचनाओ मे अर्ध-तत्सम और तद्भव शब्द अपेक्षाकृत अधिक है। 'कुतुबशत' मे तो, जो अर्ध-शिक्षित जनता के निमित्त लिखी गई है, भाषा प्राय तद्भव-निष्ठ है। प्रचलित प्रयोग उन्मुक्तत अपनाये गए है। सज्ञा-पद ही नही, विशेषण भी प्राय तद्भव है।[10] कुछ लेखो मे उकारान्त सज्ञा-सर्वनाम भी प्रयुक्त है। स्वर-सन्धि-रहित उद्वृत्त रूप ('कउन', 'कहइ', 'करउ', 'तउ' आदि) भी यत्र-तत्र प्राप्त होते है। परन्तु स्वर-सन्धि वाले रूपो का प्राधान्य है। सज्ञा के विकारी बहुवचन रूप की 'ओ', 'यो' विभक्तिया प्राय नही मिलती। केवल 'भूगोल पुराण' की श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रकाशित प्रतिलिपि मे 'अखो', 'पर्वतो' ऐसे रूप प्राप्त होते है।[11] आकारान्त पु०-सज्ञा का एकारान्त अविकारी बहुवचन रूप 'देवते' भी इस रचना की उक्त प्रतिलिपि मे मिलता है। 'कुतुबशत' ('कुतुबुद्दीनरी वात') मे पु० एकवचन विकारी मे 'शाहजादे' प्रयुक्त हुआ है। अन्य रचनाओ मे खडी बोली शैली के ऐसे रूपो का प्राय अभाव है। इनमे बहुवचन की विभक्तिया है—'आ', 'या', 'नि', 'न'।[12] कर्तृ-सज्ञा के रूपो मे 'हार' परसर्ग मिलता है जिसके पूर्व 'नि' अथवा 'न' है। सर्वनाम रूप प्राचीन-अर्वाचीन दोनो प्रकार के है। उल्लिखित रचनाओ की उपलब्ध प्रतियो मे सर्वनाम के एक ओर 'अम्हे', 'कून', 'कउन', 'ते', 'तु', 'ताका', 'तोमु' इत्यादि रूप है, दूसरी ओर 'तुम्हारा', 'हमारे', 'आपकी', 'यह', 'ये', 'जिसका' इत्यादि। आद्यक्षर कही-कही दीर्घ है—यथा 'तूम', 'जीन' ('गोरख ग० गुष्टि') उकारान्त सर्वनाम भी मिलते है, यथा—'तिसु', 'कउन', ('भूगोल पुराण')। आकारान्त विशेषण लगभग सभी रचनाओ मे है, यथा—'वड़ा',

---

१. 'भोगलु पुराण' की भाषा ब्रजभाषा तथा पंजाबी से प्रभावित है। 'गोरष गणेस गुष्टि' तथा 'महादेव गोरष गुष्टि' में ब्रजभाषा-मिश्रित खडी बोली है। शेष में प्रायः राजस्थानी तथा ब्रजभाषा से प्रभावित खडी बोली प्रयुक्त है।

२. 'गोरष गणेस गुष्टि'

३. 'भूगोल पुराण'

४. 'महादेव गोरष गुष्टि'

५. 'कुतुबशत'

६. 'गोरष गणेस'

७. 'महादेव गो० गुष्टि'

८. 'भूगोल पुराण'

९. 'कुतुबशत' ('कुतुबुद्दीन रीवात')

१०. तद्भव शब्दों में आद्यक्षर कहीं लघु के स्थान पर दीर्घ है, कहीं दीर्घ के स्थान पर लघु। यथा—'कीया', पीलाया, ईतनी, दुध, सुरत। 'स' के स्थान पर 'श' और 'श' के स्थान पर 'स' मिलता है—यथा—माणश, तिशहीक, 'सहर'। 'न' को 'ण' और 'ख' को 'ष' है। संयुक्त व्यजन कम हैं। लोप तथा आगम के विकार पर्याप्त है।

११. देखिए हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'नाथसिद्धों की बानियां', परिशिष्ट १

१२. 'आ', 'या' विभक्तिया 'कुतुबशत' तथा 'भूगोल पुराण' में ही है।

'खारा', 'रवरचरा' (गोरख ग० गुष्टि), 'ऊंचा', 'बडा', 'खारा', 'केता', (भूगोल पु०), 'ऐसा', 'बड़ा', 'बडेरा', (कुतुब शत)। बहुवचन अविकारी और एकवचन विकारी विशेषण-पद प्रायः एकारान्त है। यथा—'ऐसे', 'जेते', 'ऊचे' (भूगोल पु०), 'दाहिणे', (महादेव गो० गुष्टि)। विशेषण के पु० विकारी बहुवचन रूप प्राय 'आ' विभक्त्यन्त है। यथा—'हमारे बडा बूढा के उठ साफ करउ' (कुतुबशत)। कारक-चिह्न अधिकतर ब्रजभाषा और राजस्थानी के है। खडी बोली के केवल 'का', 'रा', 'मे', 'पर' चिह्न मिलते है। कही-कही 'से' भी प्रयुक्त है। 'भूगोल पुराण'—मे सम्बन्धकारक का स्त्री-बहुवचन का परसर्ग 'कीआ' है—'जलकीआ नदीआ बहतीआ है नि'। अन्य प्रयुक्त कारक-प्रत्यय है—'कु', 'कू', 'कू', 'कु', 'की' (कर्म), 'त', 'ते', ते, 'सु', 'शु', 'सो', 'सेती' (करण-अपादान); 'परि', 'मै', 'महि', 'मधि' (अधिकरण)। स्पष्ट है कि कारक-चिह्नो मे बहुत अस्थिरता और अनेक-रूपता है। अन्य शब्द-भेदों मे भी अव्यवस्था और रूप-वैविध्य है। इसका एक कारण तो ब्रजभाषा आदि विभिन्न भाषा-शैलियो का सम्पर्क है। दूसरा कारण उस समय तक खडी बोली का व्याकरण-बद्ध न हो पाना है।

रीतिकाल से पूर्व के खडी बोली गद्य के जो भी नमूने प्राप्त हुए है उनमे क्रिया का अच्छा प्रयोग नही मिलता। क्रियारहित वाक्य भी उपलब्ध होते है। 'गोरष गणेस गुष्टि' मे तो बहुत से वाक्य क्रिया-रहित है। सयुक्त क्रिया तो बहुत ही कम आई है। केवल 'कुतुब शत' की परिवर्तिनी प्रतियो मे, 'आकर खडा रहा' 'भर ल्या आ', ऐसे सयुक्त क्रियापद यत्र-तत्र मिलते है। इस रचनाओ मे क्रिया का प्रयोग अपेक्षाकृत विकसित है। इसमे 'जोडकर' 'आकर', आदि पूर्वकालिक कृदन्त भी प्रयुक्त है। सयुक्त काल के उदाहरण 'भूगोल पुराण' मे भी प्राप्त होते है— यथा 'चलता है', 'होता है', 'बैठे है'। 'कुतुबुद्दीन री वात' मे तो सयुक्त काल के प्रयोग बहुत है। यथा—होइ है, धरै है, होन है, चाहता है, पिछाणताऊँ, करते हइ, बैठा था, 'पुलावती थी' इत्यादि। 'भूगोल पुराण' मे भी क्रिया का अपेक्षाकृत अच्छा प्रयोग है। इसकी द्विवेदी जी द्वारा प्रकाशित प्रतिलिपि मे 'चलते ही', 'बैठे है', ऐसे अर्वाचीन रूप भी है। गोरखपथी और निरजन-पथी रचनाओं मे भाषा उतनी विकसित नही है। उनमे इस प्रकार के क्रियापद विरल है। इन रचनाओ की उपलब्ध प्रतियो मे वर्तमान सामान्य के रूप प्राय लट् तिङन्त है। यथा—कहै, बुज, आव, ऊतपतते, (गोरष ग० गुष्टि) कथति, भ्रमते, उतपते, अनुसरै, भोगवै, (महादेव गोरष गुष्टि) धरै है, होइहै, पावइ, (कुतुबशत)। 'भूगोल पुराण' मे ऐसे रूपो का प्राय अभाव है। उसमे इस काल मे अधिकतर कृदन्त है। यथा—होता है, करते है, देखते। 'कुतुब शत' मे भी 'होता है', 'चाहता है', 'करते हइ' आदि क्रियापद प्रयुक्त है। गोरखपथी रचनाओ मे कृदन्त पद अपेक्षाकृत कम है। व्यजन द्वित्व वाले 'दित्ता' ऐसे रूप, 'अचवते', 'अनुसुरै' ऐसे नामधातु क्रिया-पद और 'बहती आ', इस प्रकार के 'आ' विभक्ति वाले स्त्री बहुवचन वर्त्तमान कृदन्त भी प्राप्त होते है। सज्ञा कृदन्त 'न', 'ना' दोनो मे अन्त होते है। पजाबी-राजस्थानी-प्रभाव मे 'ना' के स्थान पर यत्र-तत्र 'णा' प्रत्यय मिलता है, उसके पूर्व प्राय 'व' है। यथा—गावणा, ध्यावणा, (गोरष ग० गुष्टि), करणा (कुतुब)। पूर्वकालिक कृदन्त अधिकतर 'मिलि' ऐसे इकारान्त है। 'कर' परसर्गान्त पूर्वकालिक केवल 'कुतुबशत' की परवर्ती प्रतियो मे दृष्टिगोचर होते है।

भूतकालिक (पूर्ण) कृदन्त पु० एकवचन मे आकारान्त, 'या विभक्त्यन्त और ब्रजभाषा-शैली के 'इओ', 'इऔ' अन्त वाले तीनो प्रकार के है। यथा—आया, आव्या, कह्या (गोरष ग० गुष्टि); कीया, हुआ, कहा, कह्या, रहा, भया (कु० वात), रहिआ, रहिओ, 'उत्पन्निओ' (भूगोल पु०)। इनके बहुवचन रूप कही एकारान्त है, कही अकारान्त।[1] आकारान्त पद भविष्य काल मे भी उपलब्ध होते है। इनमे 'ग' के पूर्व प्राय 'य' अथवा 'इ' है। यथा—होयगा, होइगा, (कु० वात)।[2] 'कुतुबुद्दीन री वात' की परवर्ती प्रतियो मे 'था, थी, थे', और 'है, है, हू', का भी प्रयोग मिलता है।[3] 'हइ', 'ऊँ', 'हैनि' ऐसे रूप भी प्राप्त होते है। 'भूगोल पुराण' की द्विवेदीजी द्वारा प्रकाशित प्रतिलिपि मे तात्कालिक कृदन्त 'चलते ही' भी एक स्थल पर आता है। अव्यय अधिकतर पुराने ढग के है और प्रायः ब्रजभाषा शैली के है।

---

१. आकारान्त पु० शब्दों के बहुवचन अविकारी रूप अधिकतर एकारान्त है।

२. मध्य अनुरागम वर्त्तमान काल के भी रूपों में है— आवते, जावते (गोरष ग० गुष्टि), आवती, वसियता, (भूगोल पुराण)

३. 'भूगोल पुराण' में 'है', 'हैं', के साथ 'हेनि' भी है।

पजाबी के 'तद', 'कदी' अव्यय भी आए है। अव्यय-शब्दो मे भी अस्थिरता और वैविध्य है।[1]

वाक्य अधिकतर लघु और सरल है। 'गोरख ग० गुष्टि' मे तो बहुत-से वाक्य आधी-आधी पक्ति के है और प्राय. क्रियारहित है। क्रिया का समुचित प्रयोग नही मिलता, यह हम लिख चुके है। कही-कही कारक-चिह्नो का भी प्रयोग नहीं है। मिश्र-संयुक्त वाक्य अपेक्षाकृत कम है। भूतकाल की सकर्मक क्रिया का प्रयोग प्राय कर्मणि है, परन्तु 'साहिबा खबर पाई', 'साहिबा कही', 'ढढणी प्रसाद कीया' (कु० वात) ऐसे भी प्रयोग पाए जाते है, जिनमे कर्ता अप्रत्यय है। कही-कही वाक्यारम्भ मे 'सो' का प्रयोग हुआ है। शब्द-क्रम आधुनिक हिन्दी मे प्रायः अभिन्न है।[2]

दक्षिण मे गुलबर्गा, बीजापुर और गोलकुण्डा मे निर्मित 'दक्खिनी साहित्य' की भाषा मे खडी बोली की प्रवृत्तिया अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त होती है। भक्ति-काल के अन्तिम चरण तक 'दक्खिनी' मे गद्य-निर्माण पर्याप्त परिमाण में हो चुका था। दक्खिनी के प्राचीनतम गद्यकार शेख ऐनुद्दीन गजुलइल्म (मृत्यु १३८८ ई० मे) बताए जाते है, परन्तु उनकी दक्खिनी रचना अप्राप्त है। उनके पश्चात ख्वाजा गेसूदराज बन्दानवाज का नाम लिया जाता है, परन्तु उनके नाम मे प्राप्त 'मेराजुल आशकीन', 'हिदायतनामा', 'शिकारनामा', 'तिलावतुलवजूद' आदि रचनाओ की भी प्रामाणिकता सदिग्ध है। 'मेराजुल आशिकीन' अपेक्षाकृत प्रामाणिक मानी जाती है, परन्तु वह जिस रूप मे प्राप्त है भाषा की दृष्टि से १५वी-१६वी शती की नही मानी जा सकती। लिपिको ने उसकी भाषा मे पर्याप्त परिवर्तन किया प्रतीत होता है। शाह मीराजी शम्सुलउश्शाक (निधन-काल १४९६ ई०) के नाम से प्रसिद्ध 'शरहमरगूबुल कुलूब', 'सबरस', 'जलनरग', 'गुलबास' नामक रचनाए भी प्राय. अप्रामाणिक है। वास्तव मे रीतिकाल से पूर्व की प्रामाणिक दक्खिनी गद्य रचनाए चार ही है। ये है—शाह बुरहानुद्दीन जानम (१४५४–१५८३) कृत 'कल्मितुल हकायक', मौला अब्दुल्ला-रचित 'अहकामुस्सलात' (१६२३), मुल्लावजही-प्रणीत 'सबरस' (१६३६ ई०) और अब्दुस्समद-लिखित 'तफसीर बहावी' (१६४० ई० के लगभग)। गेसूदराज की 'मेराजुल आशिकीन' भी लगभग प्रामाणिक है। इन्ही रचनाओ के आधार पर प्राचीन दक्खिनी का भाषा-सम्बन्धी अध्ययन किया जा सकता है।

---

१. कुछ अव्यय-शब्द उद्धृत किए जाते है— अगे, आगे, आगै, तउ, तो, तौ, अवर, और, कहा, कहा, काहा, काहा, नहि, नाही, क्या, काहा।

२. इस समय (रीतिकाल मे पूर्व के) खडी बोली गद्य के कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए जाते ह.

एक दिवस साहिबां ढढणी क पाग पुलावती था। ढढणी प्रसाद कीया। साहिबा तुझ कु क्या उपगार करू। हम क क्या उपगार करहुगे। हमारे बडा बूढा के उठ साफ करऊ। तेहउ अवर क्या उपगार करउगे (कुतुबशतम्, पुरातत्त्व-मन्दिर जयपुर में स्थित स० १६७० की प्रति, प्रथम पत्र)

ऐसा कुतुवदी साहजादा दिल्ली बीच पिरोसाह पातस्याह का साहजादा भया। दावलदान फकीर की लडको साहिबा से आसिक रह्या। बहुत दिना प्रीति लागी। दुखपीड आपदा सहुमागी। पोरोसाहि का तखत पाया। साहजादा साह कहाया। यह सिफ्न कुतबदीन साहजादे की पढै। बहुत हा वजन सुख से बढै। यह वात शाह जुग से रही। ढढणी ने जोडकर कही। (कुतुबशतम्— भण्डारकर ओ० इ० की स० १७८६ की प्रति)।

सूरज उदचल ऊपरि उदै होता है। अस्ताचल ऊपरि अस्त होता है। सूरज चलने ही मिख्या दोइ सहस्र जोजन एक निमिष महि सूरज चलता है। —— देवने रछिया करते ह। शब्द सुनते है। अरु अखों देखने न ह। अमी जल अचवते है।

तहा गति कउन पावते हैं। अकाल मधि अखड मूरति है। (भूगोल पुराण—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रतिलिपि, नाथसिद्धों की बानियां, परिशिष्ट १)

सुमेर परबत कै दछिणै भाग जंबू असे नामअक वृक्ष है। अरु अक लाख जोजन जबू वृक्ष का विस्तार है। तिस वृक्ष का फल हस्ती समान है। से फल पडत प्रमांण पाणी का प्रवाह चलत है। सो प्रवाह मानसरोवर जात है। फुन तिस फलं का रस की नदी बहिती है। (भूगोल पुराण—स० १७६२ की प्रति)

गणेस बुज गोरष कहै। स्वामी जी तुम काहां त आया। कहा तुमाहारा नाव। अबधू हम निरत्रत आया। जोगी है मारा नाव। स्वामी जी जोगी ते तो कून बोलिबे...। स्वामी पृथ्वी का कोंण बरण, आपका कोंण बरण, तेज का कोंण बरण, बाई का कोंण बरण, आकास का कोंण बरण,— (गोरष गणेस गुष्टि— 'सेवादास की बानी' शीर्षक गुटका, पत्र ६३२-६३३)

छुधा, त्रिषा, निद्रा, आलस, क्राति ये पाच प्रकृति तेज की बोलिये। इन तेज मारग जीव अनुसरै तौरजि-पान भोगवै।—— इच्छा ग्रासंति अविगत रहंत, आवते न जाते। जैसा है तैसा हो रहते (महादेव गोरष गुष्टि—स० १७१५ की प्रति)

इन रचनाओ की भाषा मे खडी बोली की प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। परन्तु बहुत-सी बातों में वह खड़ी बोली से भिन्न है। शब्द-रूपो, शब्द-भण्डार और वाक्य-रचना मे ही नही, उच्चारण मे भी भेद है। सज्ञा-बहुवचन के रूप राजस्थानी और पजाबी के समान प्राय 'आँ'–'याँ' विभक्ति वाले है।[1] यथा–मूरताँ, जीवाँ, आदम्याँ के, नेकियाँ सूँ, करनहारियाँ (सबरस)। बहुवचन विशेषण-रूप और विशेषण-कृदन्त भी विशेष्य के अनुसार 'आँ'–'याँ' मे अन्त होते है · 'ऐस्याँ ते बहुत्याँ का, बडियाँ (सबरस); चार चीजाँ छुपाको रख्याँ (मेराजुल आशिकीन); करत्याँ, पढत्याँ (कल्मितुलहकायक) सर्वनाम रूप बहु-विध है। खडी बोली–भिन्न सर्वनाम-रूप भी पर्याप्त है . हमन, हमना, तुमन, तुमना, तुज, उनो, जिनो (विकारी) तू, ऊ, यू, यो, तुमे, हमे, ई, इने, किने, जे, ज कोई, जकुछ, अपस (अविकारी)। तुज, जाके, ताके (सम्बन्ध) इत्यादि। सार्वनामिक विशेषण प्राय 'ता'–'ते' (पु०), 'ती'–'तियाँ' (स्त्री०) प्रत्ययान्त है। यथा–जेता, जिता, विते, एते, तेतियाँ, एतियाँ। कर्त्ता प्रत्यय 'ने' का प्राय अभाव है। सम्बन्ध-कारक का स्त्री० बहुवचन का प्रत्यय 'क्याँ' है. 'मे राज क्याँ निशानियाँ' (मेराजुल आशिकीन)। अन्य खडी बोली–भिन्न कारक-चिह्न है। कू, कों, सू, सो, ते, थे, सेती, सते, केर, मो, पो, महि, मह, मने, मियाने, उपराल। बहुत-से क्रियारूप भी आधुनिक खडी बोली से भिन्न है। यथा कते (कहते), देखत, करत्वाँ (करती), देख्या (देखा) रखयाँ (रक्खी), होसी (होगा), लेसू (लूगा), आइ, बुलाय, देको (देकर) अँपड्या, अछ, अह, अथ, थ्यां (थी)।

दक्खिनी मे ऐसे अव्यय भी बहुत है जो खडी बोली मे नही है। ये है–च, छ (ही), होर (और), नको (मत) जधाँ (जहाँ), तधाँ (तहाँ), अगे, आधे (आगे), सगात (साथ), अताल (अब), की (क्यो), अजहो (अबतक), नेमे, नमेन, धात (तरह) इत्यादि। अव्यय ही नही, अन्य कई शब्द भी खडी बोली से भिन्न है। यथा–डोसा (बूढा), झाप (छलाग), खुई (पसीना), तमा (लालच), अभू (आँसू), ठार (स्थान), बारा (बालक), खिलारा (खिलानेवाला), पलाओ (बुलाओ), तहे (लिए), गल (बात)। इनमे से कुछ शब्द तो ब्रजभाषा-शब्दो के तद्भव है, कुछ मराठी-पजाबी आदि के है। 'सू', 'केर' प्रत्यय और 'ने' का अभाव पूर्वी हिन्दी का प्रभाव है। फारसी-अरबी के शब्द भी प्रचुरत. प्रयुक्त है। सम्कृत-शब्द भी है, विशेषकर बुरहानुद्दीन जानम-कृत 'कल्मितुलहकायक' और वजही-कृत 'सबरस' मे।

वाक्य-रचना फारसी से प्रभावित है। शब्द-क्रम और समास-विधान प्राय उसी प्रकार का है वजूदे खाकी, तेरे जिक्रे बगैर (वजूदुल आरफीन), के जद अमर हता उस थे (कल्मितुलहकायक) गुनाह कबीरा, हाता दोनो (अहकामुस्सलात)। भूतकाल की सकर्मक क्रिया प्राय कर्त्तरि है। सयुक्त क्रिया के कई रूप और प्रयोग मिलते है। प्राचीन उत्तरी खडी बोली गद्य की अपेक्षा प्राचीन दक्खिनी-गद्य मे 'क्रिया' और 'वाक्य' का अच्छा विकास दिखाई देता है। यत्र-तत्र क्रिया और कारक-चिह्न का अध्याहार, नाम-धातु क्रियापद, दुहरा कारक-चिह्न, 'ठारेठार' ऐसे द्विरुक्त सज्ञा-पद, लिगदोष, और कुछ विचित्र-विशिष्ट तथा अनुचित प्रयोग, प्राचीन दक्खिनी गद्य-भाषा की इतर विशेषताएँ है। उसकी प्रमुख ध्वनि-सम्बधिनी प्रवृत्तियाँ ये है। आद्य लघु को दीर्घ यथा–पीलाना, दीर्घ को लघु यथा दुसरा, गुगे; महाप्राण को अल्पप्राण। यथा–हात, देक, मुजे, रकता, दो शब्दो के समास मे पूर्व या पर-पद के किसी व्यजन, स्वर या अक्षर का लोप, यथा-ज कुछ, ज लग, कुछ क्रिया-रूपो मे 'ह' या किसी अन्य मध्य व्यजन का लोप . यथा–कते, दीस, 'ह' का पर-व्यजन मे लीन होना . यथा-पछानता; दो मूर्धन्य ध्वनियो वाले शब्दो के प्रथम मूर्धन्य के स्थान पर दन्त्य (तुटे, थडी); अन्तिम 'म' को 'वँ' और 'ग' को 'क' (नावँ, लोक); कुछ शब्दो मे अनुस्वारान्तता (या, वा, जधा, तधा), 'क' का 'ख'-जैसा उच्चारण (यथा–'शौक' को 'शौख') और आ, ए, ओ इन स्वरो का लघु होना।

परन्तु इन विषमताओ की अपेक्षा दक्खिनी मे समताएँ अधिक है। सज्ञा के एकवचन अविकारी और विकारी रूप खडी बोली से अभिन्न है। एकवचन विकारी रूप सभी रचनाओ मे एकारान्त है। कही-कही बहुवचन अविकारी और विकारी रूप भी खडी बोली के समान है—'सजदे किए ठार', 'क्या समझेगे दाने', 'किस्से धड़ेगे इस ठार' (सबरस); 'दोनो कानों' (मेराजुल आशिकीन); 'हाता दोनों' (अहकामुस्सलात)। दक्खिनी की प्राचीन गद्य-

---

१. ब्रजभाषा-शैली के 'न' प्रत्ययान्त और खडी बोली शैली के 'ए' और 'ओं' प्रत्ययान्त रूप भी मिलते है।

रचनाओं में 'मेराजुल आशिकीन' की भाषा खड़ी बोली के अपेक्षाकृत अधिक निकट है। इस पुस्तक मे 'उसे', 'उसका', 'मे', 'तुम्हारा', 'जो', 'दूसरा', 'दोनो', 'करता है', 'करते है', 'करेगा', 'लेकर', 'लेना', 'करे', 'सुनो', 'हुआ', इत्यादि खडी बोली शैली के रूप प्रचुर है। सर्वनाम और सार्वनामिक विशेषण के जो रूप नीचे उद्धृत किये गए है, उनके अतिरिक्त खडी बोली के निम्नावतरित सर्वनाम-रूप भी प्रयुक्त हुए है·

हम, तुम, तुज, तुमारी, वह, यह, ये, जिसे, क्या, सब, सभी, और वर्तमान-कालिक कृदन्त के पुल्लिग एक-वचन में 'ता' प्रत्यय भी मिलता है, पुल्लिग-बहुवचन मे और स्त्रीलिग-एकवचन मे क्रमश 'ते', 'ती' प्रत्ययान्त क्रियापद हैं। भविष्य के सी, से, सू प्रत्यय वाले रूपों के अतिरिक्त, गा, गी, गे वाले पद पर्याप्तत व्यवहृत है। पूर्वकालिक कृदन्त के 'को', 'इ', 'य' पदान्तो के साथ खडी बोली का 'कर' पदान्त भी है। सहायक क्रिया के पीछे अवतरित रूपो के अति-रिक्त खडी बोली शैली के 'हूँ', 'है', 'है', 'हो' रूप बहुधा आए है। कुछ अव्यय भी इस शैली के है। खडी बोली-प्रदेश की बोल-चाल में व्यवहृत 'कॉं', 'यॉं', 'वॉं', जॉं, नई, अगे, 'कने', 'सात', 'भौत' आदि अव्यव दक्खिनी गद्य मे स्थल-स्थल पर उपलब्ध होते है।

रीतिकाल की फोर्ट विलियम कालेज से पूर्व की खडी बोली गद्य की रचनाओ ('एकादशी-महिमा', 'सकु-नावली', 'पोथी सलोत्री की', 'सीधा रस्ता,' 'मारफतसागर परिचय', 'गोरक्षशतम् टिप्पण,' 'नरसिहदास गौड की दवावैत', 'लखपत दवावैत', 'जिनसुखसूरि मजलस', 'अनुभव प्रकाश','मोक्षमार्ग प्रकाश', 'भाषा-उपनिषद्,' 'भाषा योग वासिष्ठ', 'भाषा पदम पुराण', 'आदि पुराण वचनिका', 'सुदृष्टि-तरगिणी वचनिका', 'दहमजलिस' इत्यादि) की भाषा प्राचीनतर खडी बोली गद्य की भाषा की भाति प्राय ब्रजभाषा, राजस्थानी, पजाबी, पूर्वी हिन्दी और फारसी मे से किसी एक भाषा अथवा अनेक भाषाओ से प्रभावित है। परन्तु इस समय के खडी बोली गद्य पर प्राचीनतर खडी बोली गद्य की अपेक्षा ब्रजभाषा आदि का प्रभाव कम है। भाषा की दृष्टि से इस समय की रचनाएँ त्रिविध है सस्कृतनिष्ठ, तद्भवनिष्ठ और फारसीपरक (उर्दू-शैली की)। शब्द रूपो का वैविध्य प्राय· सर्वत्र है जिसका कारण विभाषा-सम्पर्क और व्याकरणिक अस्थिरता है। कुछ रूप द्रष्टव्य है

सर्वनाम—यह, इअह, इह, इअ, ऐह, एह, ए, या (इस); मुझे, मोको, मोहे, मोए, उसका, ताका, वाका, तिसका, विसका, वुसका, ताकौ, ताको, उन्होने, उनोने, वुन्होने, विन्होने, विनोने।

क्रिया—कहता, कहत, कहतु, कहै; किया, कीआ, कर्या, करिआ, करा, कीना, कीयो, कीयौ।

स्पष्ट है कि ब्रजभाषा आदि निकटवर्तिनी भाषाओ का प्रभाव पर्याप्त है। ऐसा होने पर भी इस काल के खडी बोली गद्य की भाषा आधुनिक खडी बोली के बहुत निकट है। सज्ञा के विकारी बहुवचन की 'ओ' (ओं), 'यो' विभक्तियाँ बहुलत मिलती है।[1] 'आँ', 'इयाँ', वाले किरणाँ, 'पदमनियाँ' 'धारणेहारियाँ' (भाषा योगवाशिष्ठ-निर्वाण-प्रकरण, नागरी प्रचारिणी सभा काशी की प्रति) ऐसे भी रूप है और ब्रजभाषा शैली के 'नि', 'न' अन्तवाले भी। अवि-कारी बहुवचन मे 'बाने' शब्द भी एक रचना ('मारफतसागर' ग्रथ के 'हकीकत' शीर्षक परिचय) मे मिलता है। सज्ञा-पद सप्रत्यय-अप्रत्यय दोनो प्रकार के है। कर्त्तृ-सज्ञा के प्रत्यय 'हार', 'हारा' है। 'भाषा-योग-वासिष्ठ' की प्रतियो मे 'वाला' भी मिलता है।[2] इनके विकारी रूप एकवचन मे एकारान्त और बहुवचन मे कही 'ओ' विभक्त्यन्त, कही 'आँ' (पु०) 'इयाँ'(स्त्री०) विभक्ति वाले और कही 'न' विभक्ति वाले है। कारक-चिह्न खडी बोली शैली मे केवल पाच-छ है—का, की, के, से, में, पर। शेष कारक-प्रत्यय ब्रजभाषा और अन्य प्रादेशिक बोलियो के है। इस समय की रचनाओ मे 'से'-वाचक 'करिके'–'करि' शब्द और 'मे'-वाचक 'विषे'–'विषै' शब्द बहुलत व्यवहृत है। विशेषण अकारान्त, आका-रान्त और 'ओ'। 'औ' मे समाप्त होने वाले कई प्रकार के है। उनके विकार प्राय आधुनिक ढग के है। अन्य आकारान्त

---

१. 'ओं' के स्थान पर 'ओ' भी है। यथा-शरीरों का, बुधों का (भाषा उपनिषद्, पत्र २) अंगों में, नेत्रों के (वही पत्र २७), फलों, पदार्थो के (वही पत्र ३७) उपनिषदों का (वही पत्र १०७), वचनों करि (भाषा योग० पत्र ६), कानो (वही पत्र ६५), शब्दों (वही पत्र १४०)।

२. 'भाषा उपनिषद्' की एशियाटिक सोसायटी में सुरक्षित प्रति में 'भक्षणहू' (भक्षण करने वाला) तथा 'भक्षण कर्नहारा' ऐसे भी रूप हं। (पत्र २)।

शब्दों की भाँति ग्राकारान्त विशेषण पदो के भी ग्रवि० पु० बहुवचन रूप ग्रौर वि० पु० एकवचन रूप बहुधा एकारान्त है। पु० वि० बहुवचन में 'ग्रों' विभक्ति भी यत्र-तत्र मिलती है। स्त्री-बहुवचन मे कही-कही 'इयाँ' वाले 'बडियाँ' (बड़ीं) ऐसे रूप ग्राए है। सर्वनाम-रूप कुछ तो खडी बोली के समान है, कुछ ब्रजभाषा ग्रादि के। 'भाषा उपनिषद्' (रचना सं० १७७६) मे ब्रजभाषा शैली के 'जु', 'कोउ', 'या', 'जासो', 'वाही', 'ए', 'जा', 'वा', 'ता' ग्रादि बहुत से सर्वनाम हैं। खडी बोली शैली के सर्वनाम पद भी इस रचना मे पर्याप्त हैं।

वर्तमान सामान्य काल मे कृदन्त रूपों के साथ 'करो', 'ग्रहो', 'कहै है', 'हो है' तिङन्त-पद भी प्रचलित थे। इस काल मे कृदन्त पदो मे 'ता'-'ती'-'ते' के ग्रतिरिक्त 'त'-'तु'-'ति'-'तियाँ' प्रत्यय भी प्राप्त होते हैं। 'भाषा योग वासिष्ठ' की कुछ प्रतियो मे ग्रौर कुछ ग्रन्य रचनाग्रों की उपलब्ध प्रतिलिपियों मे 'करतियाँ', 'जातियाँ' ऐसे रूप प्रयुक्त हैं। भूत-कालिक कृदत के 'भइयाँ', 'ग्राइयाँ' ऐसे रूप भी व्यवहृत है। इस कृदन्त के एकवचन पुल्लिग रूप त्रिविध हैं—'कहा','कह्या', 'कह्यो', (कह्यौ)। पु० बहुवचन में ये कहीं एकान्त है कही ऐकारान्त। यथा—ग्राऐ, ल्याऐ ('वीतक', 'दृष्टान्तसागर टीका') भूतघटमान काल मे 'पढे थी', 'सुणे थी', 'कीये थी' (विवेकमार्त्तण्ड) ऐसे प्रयोग भी मिलते है। ग्रारभिक ग्रपूर्ण काल (Inceptive Imperfect) के 'चाहता भया','वरतत भया','कर्त भये' ग्रादि रूप ग्रौर 'भासता है' 'फुर्ता है', 'प्रकासता है' ग्रादि नाम-धातु क्रिया-पद प्रयुक्त है[1] इनके ग्रतिरिक्त 'लेपायमान','बधायमान' ऐसे कृदन्त ग्रौर 'ग्राश्चर्य को प्राप्त भया' 'दृष्ट ग्राता है' ऐसे सस्कृतानुयायी प्रयोग भी कुछ रचनाग्रो मे विशेषकर सस्कृत से ग्रनूदित पुस्तको मे प्राप्त होते हैं, पूर्व कालिक कृदन्त ग्रौर ग्राज्ञा-विधि के रूप कही ग्राधुनिक हिन्दी के समान है, कही ब्रजभाषा-शैली के। भविष्य के रूप वर्तमान खडी बोली के भविष्य-रूपो से प्रायः ग्रभिन्न है, केवल मध्य मे 'य', 'इ', ग्रथवा 'वे', का ग्रागम है, यत्र-तत्र ऐसे 'पाइहो' तिङन्त भी इस काल मे व्यवहृत है। खडी बोली शैली के 'हे', 'है, है, था, थी, थे' सहायक क्रिया-पद पर्याप्ततः प्रयुक्त है। 'हे', 'हो', कही-कही 'थे', 'था' के वाचक हैं। 'हा'--'हता' (था), हती (थी), 'हते' (थे) भी उपलब्ध होते है। संयुक्त काल ग्रौर सयुक्त क्रिया के बहुत-से रूप ग्रौर प्रयोग प्राप्त होते है। प्राचीनतर खडी बोली गद्य की ग्रपेक्षा इस समय के खडी बोली गद्य मे सयुक्त क्रिया ग्रौर सयुक्त काल का प्रयोग ग्रधिक हुग्रा है। ग्रव्यय ग्रधिकतर ब्रजभाषा शैली के है। ग्रन्य प्रादेशिक भाषाग्रो—विशेषकर पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी ग्रौर पजाबी—के भी ग्रव्यय ग्राए है। खडी बोली के बहु-प्रयुक्त ग्रव्यय ये है· 'ग्रौर', 'परन्तु', 'नही', 'क्या', 'जहाँ', 'कहाँ', 'कैसी', 'जेसे', 'तेसे', 'साथ'।

वाक्य लघु ग्रौर दीर्घ, सरल ग्रौर मिश्र-सयुक्त दोनों प्रकार के है। 'भाषा उपनिषद्', 'भाषा योग वासिष्ठ' ग्रौर 'पद्मपुराणवचनिका' मे काफी बडे वाक्य मिलते है। सयुक्त वाक्यों मे 'सो', 'ग्ररु', 'ग्रौर' सयोजक उपवाक्यो के ग्रादि में बहुलत· प्रयुक्त है। 'ग्ररु' की ग्रावृत्ति कभी-कभी खलने लगती है। ग्रन्य बहु-प्रयुक्त सयोजक है। यथा—'कि'-वाचक 'जो', 'यदि'-वाचक 'जौ', 'जो', ग्रौर, 'तौ' 'जेसे', 'तेसे', 'यद्यपि', 'परन्तु'।

विशेषणोपवाक्यो वाले मिश्र-वाक्यो मे प्रमुख उपवाक्य प्राय ग्रन्त मे है। पहले विशेषणोपवाक्य दिए गए हैं, फिर 'ऐसा जो............' 'सी तिस—' शब्दो के साथ प्रधान उपवाक्य जोडे गए है। 'कैसा है ग्रमुक', 'रूपी' ग्रौर 'जो है सो' की शैली भी मिलती है।[2] तुकमय गद्य की रचनाग्रों मे वाक्य प्रायः पद्यात्मक है उनमे शब्द-क्रम पद्य-वाक्यो जैसा है। कही-कही शब्द-क्रम उर्दू-शैली का ग्रथवा ग्राधुनिक हिन्दी-शैली से भिन्न है। यथा–'निकट श्री प्रजापति के गमन कर' (भाषा उप) 'ग्ररु दुख सब मिटि गए है' (भाषायोग-निर्वाण), 'मालदे विसके मे' (बाजनामा)। भूतकाल की

---

१ इस प्रकार के प्रयोग 'भाषा उपनिषद' ग्रौर 'भाषायोगवासिष्ठ' में ग्रधिक हैं।

२. कैसा है सच चित ग्रानन्द रूप सो कहते है जिससे इह सर्व भासने है। ग्ररु जिस विषै इते सर्व लीन होते हैं। ग्ररु जिस विषै इस सर्व इस्थित है। नित सत ग्रात्मा को नमस्कार है। (भाषा योगवासिष्ठ—वैराग्यप्रकरण, सं० १८५५ की इन्डिया ग्रॉफिस में सुरक्षित प्रति, पत्र १)। ग्ररु ग्रवर ग्रंग जु पाछै है सो षष्ट ग्रान है ······ग्ररु परा जु इन तान काल सो है सो वही है, (भाषा उप० एशियाटिक सो० की प्रति, पत्र ३७, ९९) 'कैसे है श्रीराम, लक्ष्मीकर ग्रालिगित है हृदय जिनका ग्रौर प्रफुल्लित है मुख रूपी कमल जिनका, महा पुण्याधिकारी हैं महा बुद्धिमान है गुणन के मन्दिर उदार है चरित्र जिनका, जिनका चरित्र केवल ज्ञान के ही गम्य है ऐसे जो श्री रामचन्द्र···' (पदमपुराणवचनिका प्रथम पर्व, पृ० ६)

सकर्मक क्रिया का प्रयोग प्राय. कर्मणि है। कही-कही कर्तरि भी है और कर्ता अप्रत्यय है। यथा, हे रघुनन्दन में जो तुमकों उपदेश किया हों ('भाषायोग')। सप्रत्यय कर्म के भी उदाहरण दृष्टिगत होते है—यथा—'सास्त्र को पढे थी' (विवेक मार्तण्ड)। कही-कही कारक-चिह्न और क्रिया का अध्याहार है। वचन-लिंगदोष और अनगढ विचित्र प्रयोग पर्याप्त है।

रीतिकाल की दक्खिनी-गद्य-रचनाओ (कजुलमोमिनीन, 'गुलजारुस्सा लिकीन', 'शमायलुल अतकिया', 'दलायलुल अतकिया', 'रिसाले वजूदिया', 'रिसाला तसव्वुफ', 'गज मखफी', 'मारिफतुल सुलूक' असरारुत्तौहीद' 'हैदरनामा', 'तुतीनामा' 'अनवारे सुहेली' आदि) की भाषा प्राचीनतर दक्खिनी-गद्य-रचनाओं की भाषा की अपेक्षा उत्तर की हिन्दुस्तानी (खडी बोली) के और अधिक निकट है। खडी बोली शैली के 'औरतो', 'आँखो', 'प्यालो', 'तुजको', 'निकालकर', 'भरकर', 'होते थे', 'बनाना', ऐसे शब्द इस समय के दक्खिनी गद्य मे पर्याप्त प्राप्त होते है। दक्खिनी-विशिष्ट शब्दरूप भी प्रचुर है। वे प्राय ज्यो के त्यो बने हुए है। रीतिकालीन दक्खिनी गद्य मे फारसी-निष्ठता भी कुछ अधिक है। 'कलिमतुल हकायक', 'सबरस' आदि प्राचीनतर रचनाओ मे जहा सस्कृत के शब्द और हिन्दी-शैली के स्थल पर्याप्त है, वहाँ इस समय की रचनाओ मे इस प्रकार के शब्दों तथा स्थलो का प्राय अभाव है। उनके स्थान पर फारसी-अरबी के 'मै फरमाबरदार हू उसका', 'खुदा ए ताला', मोमिनान', 'जमाल के दीदार मूँ जमाल बरुगता हू' (तर्जुमा शमायलुल अतकिया), 'हजरत रिसालत पनाह् अास सूँ इसरारे अजायब व मुवानाते गरायब छिपाये', 'जबाने गौहर फिशां सूँ जवाब यों दिए' (रिसाला तसव्वुफ) आदि प्रयोग और शब्द प्रचुरत प्राप्त होते है। वास्तव मे इस समय के दक्खिनी-गद्य की भाषा उर्दू शैली की है। प्राचीनतर गद्य मे भी उर्दू शैली की वाक्य-रचना तथा शब्दावली है, इस युग की रचनाओ मे उर्दू की प्रवृत्ति और बढ गई है।

खडी बोली गद्य का विकास वास्तव मे १९वी शताब्दी से प्रारम्भ होता है। साहित्य तथा भाषा दोनो दृष्टियों से इस शताब्दी मे खडी बोली हिन्दी का गद्य प्रगति को प्राप्त हुआ। राजनीतिक तत्त्वो, धार्मिक प्रचारकों, शिक्षा-समितियों, समाचार-पत्रों, प्रेस के आविष्कार और अग्रेजी तथा बगला के गद्य के सम्पर्क ने खडी बोली हिन्दी-गद्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। भाषा-क्षेत्र में भी शुभ परिवर्तन हुए। परन्तु भारतेन्दु के समय तक गद्य-भाषा मे पूर्ण व्याकरणिक शुद्धता, स्थिरता तथा एकरूपता न आ सकी। ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी आदि के शब्द-रूप उसमे बने रहे। १९वी शती-पूर्वार्द्ध की रचनाओं ('रानी केतकी की कहानी', 'बैतालपच्चीसी', 'सिंहासनबत्तीसी', 'नासिकेतोपाख्यान', 'रामचरित', 'प्रेमसागर', 'लताइफे-हिन्दी', 'लालचन्द्रिका-टीका', 'गोरा-बादल की वीरता', 'स्त्री-शिक्षा-विधायक', 'भागवत-सार', 'आत्मसिद्धान्त', 'दाय-भाग', 'उपदेश कथा', 'कृष्णचरितोपाख्यान नाटक', 'जानकीरामचरित नाटक', 'इन्दर-सभा', 'धरमसिंह का वृत्तान्त', 'बुद्धि फलोदय' आदि) समाचार-पत्रो ('उदन्तमार्तण्ड', 'बगदूत', 'जगतदीपक भास्कर', 'बनारस अखबार', 'साम्यदण्ड मार्तण्ड', 'मालवा अखबार', 'सुधाकर' आदि) और जनपत्रो के अनुशीलन से पता चलता है कि १८५० ई० तक गद्य-क्षेत्र मे ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी आदि निकटवर्तिनी प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव, व्याकरणिक अनौचित्य और अस्थैर्य बराबर बना रहा। हा, समय के साथ वह कुछ कम होता गया है और गद्य-भाषा परिष्कृति तथा प्रौढता की ओर अग्रसर होती गई है।

इस समय की गद्य-भाषा प्राय तत्सम-निष्ठ है। 'गोरा-बादल की वीरता' तथा 'ससिपना वारता' जैसी अर्धशिक्षित जनता के निमित्त लिखित कुछ रचनाओं मे अवश्य तद्भवनिष्ठ भाषा है। परन्तु पाठ्यपुस्तकों और साहित्यिक रचनाओं मे सस्कृत-परक भाषा ही प्राप्त होती है। कही-कही सस्कृतनिष्ठता के आग्रह के कारण भाषा निर्जीव हो गई है। रूप-रचना पर्याप्त विकसित है। पुराने ढग के 'पदमिनियां', 'साथवालियां', गातिया, 'होतिया', 'बिन ब्याहिया' ऐसे 'यां'-विभक्ति वाले स्त्री० बहुवचन रूप, 'राजो', 'आत्मो', 'देवतो', 'अनगिनत गौ', 'करनिहारा' ऐसे सज्ञापद, 'विसे', 'वुह', 'मुज', 'उस्को', 'विन्होने', 'वीनोंके', 'तिन्ह को', 'सभों कों', 'हमों कों', ऐसे सर्वनाम, 'दूहूँ', 'पहचानू हूँ', 'आवे है', 'चीन्हते है', 'किई' (ली) 'लिई' (ली) हुऐ, हुवा, भया, पावेगा, होयगा, दीजे, ऐसे क्रिया-पद और इनके साथ ब्रजभाषा तथा पूर्वी शैली के बहुत-से शब्द-रूप इस काल के गद्य में उपलब्ध होते है। यह सब होने पर भी १९वीं शती-पूर्वार्द्ध के खडी बोली गद्य की भाषा आधुनिक गद्य-भाषा के बहुत निकट है। ब्रजभाषा आदि का प्रभाव धीरे-धीरे हट

रहा था। खडी बोली निखर रही थी। अधिकतर आधुनिक ढग के शब्द-रूप प्रयुक्त होते थे। संज्ञा के विकारी-अविकारी बहुवचन रूप, सर्वनाम तथा विशेषण प्राय. आधुनिक ढग के हैं। आकारान्त रूपों का बाहुल्य है। उनके एकवचन विकारी तथा बहुवचन अविकारी रूप एकारान्त है। सज्ञा-कृदन्त 'ना' मे अन्त होते हैं। कर्तृ संज्ञा मे 'हार', 'हारा', 'हारे' की अपेक्षा 'वाला', 'वाले', अधिक प्रयुक्त है। वर्त्तमान सामान्य काल में 'दूहूँ', 'आवे है', ऐसे तिङन्त और 'आवत', 'आतिया', 'करतिया', ऐसे कृदन्त भी आए है। परन्तु 'ता', 'ती', 'ते', 'तीं' प्रत्यय वाले रूप अधिक हैं। पूर्वकालिक कृदन्त अधिकाश मे ब्रजभाषा-शैली पर 'इ' (य) प्रत्ययान्त हैं। 'कर' 'के' परसर्ग इनके साथ कम सयुक्त है। तादार्थ्यक कृदन्त भी प्राय. ब्रजभाषा-शैली पर 'न' अन्तवाले हैं। यथा—'ब्याहन आऐ', 'पुकारन लागे'। भूतकाल मे प्रायः भूतकालिक (पूर्ण विशेषण) कृदन्त व्यवहृत है। इनके विकार आधुनिक ढग के है। इस समय के खडी बोली गद्य में 'नारी'-वाचक रडी शब्द, 'योगी'-वाचक 'अतीत' शब्द, 'अत्यन्त' का अर्थ रखने वाला 'निपट' शब्द, 'से'-अर्थक 'करि-करिके' शब्द तथा 'मे'-अर्थक 'विशे' शब्द बहुलत. प्रयुक्त हैं।

इस समय के भी गद्य मे विचित्र अशुद्ध प्रयोग स्थल-स्थल पर प्राप्त होते है। यथा—'राजा को अज्ञान किया', 'मुझे कहा', 'तुझे क्या वध करू' (प्रेमसागर), 'रडिया चुलबुलिया', 'जो अपने मद में उडचलिया है' (केतकी की कहानी) 'जाया चाहती हू', 'ज्ञान-विज्ञान को पहुची', 'आपने निपट हमको सनाथ किया', 'विनती किए पर' (नासिकेतोपाख्यान'), 'हम लोग का जय होगा', 'विचार मे ठहरेगा', 'विस बातो मे' (रामचरित्र)। पूर्वी प्रभाव के कारण लिंग-दोष के उदाहरण सदलमिश्र के गद्य से लेकर भारतेन्दु तक के गद्य मे प्राप्त होते हैं। लक्ष्मणसिंह तथा शिवप्रसाद जी के भी गद्य मे प्रयोग का अनौचित्य तथा वैचित्र्य लक्षित होता है। बहुत से वाक्य शिथिल, अस्पष्ट तथा प्रभावहीन हैं। सदलमिश्र, लल्लूलाल आदि १९वीं शती के प्रारम्भ के गद्यकारों की वाक्य-रचना तो अधिकतर दुर्बल है। इनके गद्य मे पूर्वकालिक कृदन्तो, वर्तमान अपूर्ण कृदन्तो या विकारी भूतकृदन्तो की लडी मिलती है। मुख्य क्रिया एक ही रहती है। वर्तमान अपूर्ण कृदन्तो से बने विशेषणोपवाक्यो को अन्त मे 'ऐसे जो', 'ऐसे जो सो' शब्दो की सहायता से जोडा गया है। ऐसे वाक्यो के प्रारम्भ में टीका-शैली के 'अमुक कैसा है जिसके···' ये अथवा इस प्रकार के अन्य शब्द आए हैं। कही-कही 'लगा', 'लगी' या 'लगे' क्रिया को प्रथम उपवाक्य मे लिखकर शेष उपवाक्य उसके बिना लिखे गए है। ऐसे वाक्य भी हैं जिनमे मुख्य क्रिया नही है या बहुत दूर है। कहीं-कही विचित्र वक्र रचना है। तुकमय, पद्यात्मक तथा उर्दू-शैली का भी वाक्य-विन्यास कहीं-कही है, जहा क्रिया कर्म के पूर्व है और विशेषण विशेष्य के बाद। यत्र-तत्र वाक्याश अथवा शब्द व्यर्थ अथवा अनुचित है। ऐसे वाक्य भी प्राप्त होते हैं जो सहकारी क्रिया के बिना पगु है। कही-कही कारक-चिह्न अप्रयुक्त है, कही दुहरा कारक-चिह्न है। कुछ सयोजक ('कि', 'अरु', 'और', 'सो') बहुलत प्रयुक्त है। 'जो' शब्द 'कि' संयोजक के भी अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। भूतकाल की सकर्मक क्रिया का प्रयोग प्राय: कर्मणि है, परन्तु कही-कही कर्त्तरि प्रयोग के भी उदाहरण प्राप्त होते है। सयुक्त क्रिया का अच्छा प्रयोग हुआ है। कही-कही तो 'होता चला आया है', 'उठ खडा हुआ' ऐसी लम्बी सयुक्त क्रियाए मिलती है। परन्तु कही-कही इस क्रिया का अभाव खटकता है, जैसे 'नासिकेतोपाख्यान' के इन प्रयोगो मे—'वह भी धरती पर गिरी', 'मेरी छाती फटती है।' 'चल खडे हुए' (नासिकेतोपाख्यान) 'चटाया की' (वैतालपच्चीसी) ऐसे विचित्र-अशुद्ध क्रियापद भी मिलते है। नाम-धातु क्रियापद इस काल के गद्य मे प्राचीनतर गद्य की अपेक्षा कम हैं। इनका प्रयोग अधिकतर वर्तमान सामान्य काल मे हुआ है। आरम्भिक अपूर्णकाल के 'करते भये' ऐसे प्रयोग तथा 'कम्पायमान', 'शोभायमान' ऐसे 'मान'-प्रत्ययान्त वर्तमान कृदन्त इस समय के गद्य मे भी प्राप्त होते हैं, परन्तु समय के साथ ये कम होते गए है।

कौरवी और राष्ट्र-भाषा हिन्दी

डा० कृष्णचन्द्र शर्मा

जिनके कर्णकुहुरों में ब्रजभाषा की माधुरी ने रस घोल दिया है, वह पछांह (दो-आब के पश्चिमोत्तर कोने के प्रदेश) की बोली को 'खडी-बोली' कहते हैं। इस सम्बोधन से उनका अभिप्राय कदाचित इस बोली की खरखराहट या उजड्डपन को व्यक्त करना है। वास्तव मे खडी-बोली पौरुषेय व्यक्तियो की अभिव्यक्ति का साधन रही है, और यह उसके स्वर का बल ही है जिसके कारण उसे कर्ण-कटु कहा जाता है। आज भी जिसे 'दो टुकडे बात कहना' बोलते हैं कोई इनसे सीख जाय। यही वह बोली है जिसको ११-१२वी शती के पश्चात पंजाब की ओर से आकर दिल्ली मे बसने-वाले यवन-आक्रान्ताओ ने अपने व्यवहार के लिए चुना था। वास्तव मे खडी बोली इधर के ग्रामीणो की शुद्ध-सम्पूर्ण बोली है, जिसे खडी-बोली की अपेक्षा 'खरी-बोली' कहना अधिक उपयुक्त होगा। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार 'ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के अधिकाश भाग मे सर्वापेक्ष अधिक लालित्य एव सौष्ठवपूर्ण उत्तरी भारत का प्रादेशिक भाषा-रूप समझा जाता था' और खडी-बोली उसका एक विकसित रूप है।[१]

दिल्ली के चारो ओर एक तो वैसे ही कई बोलियो—ब्रज, राजस्थानी, बागरू व पजाबी—का साम्राज्य है, और दूसरे राजधानी होने के कारण समय-समय पर बदलने वाले शासको के प्रभाव-स्वरूप यहा की बोली मे विदेशी शब्द पर्याप्त मात्रा मे सम्मिलित होते रहे है। खडी बोली मे अरबी-फारसी शब्दो की सख्या लगभग बीस-तीस प्रतिशत तक है, जो कि तद्भव-रूप मे जनसाधारण द्वारा व्यवहार किये जाते है। इसमे अनेक ऐसे देशज शब्द भी है जिनका हिन्दी-सस्कृत-पर्याय खोजने मे कठिनाई होगी, क्योकि इस बोली ने आर्यभाषाओ ही से नही, अपितु अनार्य भाषाओ से भी शक्ति ग्रहण की है। इसे 'रेखता' कहकर ठीक ही पुकारा गया था। 'रेखता' शब्द फारसी मसदर 'रेखतन'—जिसका अर्थ 'छिडकना' है—से बना है तथा यह स्पष्ट किया जा चुका है कि खडी-बोली मे अनेक देशी-विदेशी भाषाओ के शब्दों का मिश्रण हुआ है। इसी बोली का एक रूप मुसलमानी आक्रमणकारियो के साथ १७वी शती मे दक्षिण मे पहुचकर 'दक्खिनी' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका है। यह वही भाषा थी जिसे खुसरो ने हिन्दी (हिन्दवी) या रेखता, आ० ग्रियर्सन महोदय ने पश्चिमी (हिन्दी) देशज हिन्दोस्तानी, तथा महापडित राहुल साकृत्यायन ने 'कौरवी' नाम दिया है। इसी मे जब फारसी-तत्सम शब्दों की अधिकता हो जाती है, तो इसको 'उर्दू' और सस्कृत-तत्सम बहुला होने पर (साहित्यिक) 'हिन्दी' कहा जाता है। वास्तव मे यह 'कुरु-प्रदेश' के ग्रामीणो की बोली है। किसी समय मे यमुना के पश्चिम की समस्त वनस्थली, जो सरहिन्द तक फैली थी, कुरु-जागल के नाम से विख्यात थी। महाराज कुरु पुरुवशी राजा भरत के अनन्तर छठी पीढी में राजा सवरण के पुत्र थे। इन्ही महाराज कुरु की तपस्या-भूमि होने के कारण इस वन का नाम 'कुरु-जागल' पडा। कुरु प्रदेश की राजधानी हस्तिनापुर थी, जो मेरठ जिले की मवाना तहसील का अब एक ग्राम है। वर्तमान खड़ी-बोली प्रदेश का जो सीमा-निर्धारण आधुनिक विद्वानो ने किया है, वह लगभग सभी 'कुरु-प्रदेश'[२] के अन्तर्गत

---

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

२. श्री राहुलजी के अनुसार यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी की मूल भूमि है—सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ के पूरे तीन जिले एव बुलन्दशहर की सिकन्दराबाद तहसील। यही प्राचीन 'कुरु-जनपद' है।

ग्रा जाता है। ग्रत: खडी बोली को 'कौरवी' नाम से पुकारना ग्रत्यन्त उपयुक्त है। एक तो प्रादेशिक बोलियो के नाम प्रदेश से सम्बन्धित होने ही चाहिए, दूसरे यह कि ग्रपने नूतन नाम से यह बोली ग्रपनी सम्पूर्ण सास्कृतिक चेतना से युक्त होकर खडी बोली (साहित्यिक हिन्दी), रेख़ता ग्रथवा देशज हिन्दुस्तानी से पृथक ग्रपने यथार्थ रूप मे पहचानी जा सकती है।

प्राकृत भाषाग्रो का युग समाप्त होते न होते इस क्षेत्र मे वर्तमान बोलियों का युगारम्भ हो गया था। यहां जिन प्राकृत भाषाग्रों का चलन था, उनमे १—शौरसेनी, २—मागधी, ३—पैशाची मुख्य थीं। इनके ग्रतिरिक्त जो बोलियां थी, उनमे 'ग्रर्द्ध-मागधी' ग्रौर 'नागर' मुख्य बतलाई जाती है। 'नागर' शौरसेनी तथा मागधी (महाराष्ट्री) का मिश्रण था।

'नागरन्तु महाराष्ट्री शौरसेन्योस्तु संकरात्।'

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह नागर ही नागरी ग्रथवा हिन्दी की जननी है। शौरसेनी-ग्रवहट्ट से प्राप्त हिन्दी के इस रूप को ग्रा० ग्रियर्सन तथा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने पश्चिमी हिन्दी कहा है। स्थानीय विशेषताग्रो के कारण इसके चतुर्भुज १. खडो-बोली, २ ब्रजभाषा, ३. कन्नौजी, ४. बुन्देली कहे जाते है। खडी-बोली पजाबी तथा राजस्थानी से प्रभावित है। इन चारो बोलियो मे ब्रज तथा खडी-बोली ग्रधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि खडी बोली ग्राज राज-भाषा, राष्ट्र-भाषा तथा साहित्य-भाषा के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित है, तो ब्रजभाषा भी लगभग तीन सौ पचास वर्ष तक साहित्य की सर्व-मान्य भाषा होने का गौरव प्राप्त कर चुकी है। हिन्दी के युगान्तरकारी कवि, महाकाव्य-प्रणेता लोकनायको की ग्रभिव्यक्ति का माध्यम बनने का ब्रजभाषा ही को गर्व है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि मे खडी-बोली का परिचय सक्षेप में इस भांति दिया जा सकता है कि भारतीय ग्रार्य-भाषा-परिवार मे प्राकृतो के पश्चात शौरसेनी-ग्रपभ्रश से मध्यदेश (कुरु-पांचाल ग्रादि) मे पश्चिमी हिन्दी का रूप स्थिर हुग्रा, जिससे विकसित दो-ग्राब के उत्तरी-पश्चिमी कोने मे बोली जाने वाली बोली का रूप गठित हुग्रा जिसे खडी-बोली कहते है। इस भाषा का मूलाधार 'ग्रौ' या 'ग्रो'-कारान्त बोलियां न होकर 'ग्रा'-कारान्त बोलिया है। साथ ही द्वित्व की प्रवृत्ति के कारण यह पजाबी की ग्रोर ग्रधिक खिचती मालूम होती है। श्री बद्रीनाथ भट्ट के ग्रनुसार खडी-बोली की उत्पत्ति 'शौरसेनी+ग्रर्द्धमागधी तथा पजाबी+पैशाची के गडबड ग्रपभ्रश से' हुई है। 'खडी-बोली' का भौगोलिक स्थिति को देखकर सहज ही में स्पष्ट हो जाता है कि यह तथा इसके ग्राधार पर निर्मित 'साहित्यिक हिन्दी' उस स्थान की भाषाए है, जहा ब्रजभाषा शनै-शनै पजावी मे ग्रन्तर्भुक्त हो जाती है। डा० उदयनारायण तिवारी का यह मत सर्वथा समीचीन है। ग्रियर्सन ने ग्रपने 'लिग्विस्टिक सर्वे ग्राव इडिया' (भाग ४, ग्र० १) मे इस बोली का रूप कुछ इस प्रकार दिया है.

"एक माणस के दो छोरे थे। उनमें नै छोट्टे छोरे ने बाप्पू ते कहया ग्रक बाप्पू हो, धन का जौणसा हिस्सा मेरे बाडे ग्रावे सै मन्नै दे दे।"

कौरवी (खडी-बोली) वास्तव में उत्तरी दो-ग्राब के पश्चिमी जिलो की बोली है। इसका मूल क्षेत्र मेरठ ग्रौर उसमे भी तहसील बागपत है।[1] कितु बोलियों के साम्य की दृष्टि से इसका क्षेत्र उत्तरी दो-ग्राब के पश्चिमी जिले, पश्चिमी रुहेलखण्ड तथा ग्रम्बाला (कग्गर नदी से पूर्व का भाग) तक बतलाया जाता है। इस प्रकार यह बिजनौर, मुरादाबाद, रामपुर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के स्थलीय भाग, ग्रम्बाला, पूर्वीय तथा पेप्सू-राज्य के कुछ भागो तक बोली जाती है। भौगोलिक दृष्टि से यह क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी-भाषी प्रान्त के उत्तरी-पश्चिमी कोने में पडता है, जिसके पूर्व ग्रौर दक्षिण मे ब्रजभाषा, पश्चिम मे बांगरू व राजस्थानी तथा उत्तर मे पहाडी भाषाएं (—जिन

---

१. कुछ लोगों के विचार में कौरवी का केन्द्र बागपत न होकर हस्तिनापुर (त० मवाना) है क्योंकि कौरवों की राजधानी यही थी ग्रौर ग्रादर्श मानी जाने के कारण यहीं की बोली का प्रचार हुग्रा होगा। किन्तु यह भ्रमात्मक है तथा महाभारत-काल की बोली से कौरवी का सम्बन्ध-स्थापन कोरे भावावेश का परिणाम है। इस बोली (खड़ी-बोली) को कौरवी नाम देने का ग्रर्थ केवल उस प्राचीन प्रदेश से उसका सम्बन्ध जोडना है न कि उस काल की बोली से हां।

पर कुछ राजस्थानी का प्रभाव है) बोली जाती है ।

डिस्ट्रिक्ट गजैटियर्स के प्रस्तुतकर्ता श्री एच० ग्रार० नेविल महोदय ने इन सब जिलो की बोली को हिन्दुस्तानी (पश्चिमी हिन्दी का एक रूप) कहा है, जिनमे कही-कही स्थानीय ग्रथवा जातिगत विशेषताग्रो के कारण ग्ररबी-फारसी का पुट ग्रधिक हो गया है, ग्रौर कही कम । जैसे, मुजफ्फरनगर जिले के चमारो की बोली का उदाहरण देते हुए वह कहते है कि वहा का खेत रखाने वाला चमार ग्रपना व्यवसाय बतलाते हुए 'महाउजत' शब्द उच्चारण करेगा, जो 'महाफजत' का विकृतरूप है । ग्रपने किसी पडौसी के निधन की सूचना वह इन शब्दो मे देगा कि ग्रमुक 'काल कर दिया' जिसका ग्रभिप्राय है उसका 'इन्तकाल' हो गया । बिजनौर के सम्बन्ध मे उन्होंने टिप्पणी दी है कि युक्तप्रान्त के किसी ग्रन्य जिले में यहां से ग्रधिक उर्दू का व्यवहार पढे-लिखे ग्रौर जनसाधारण मे नही पाया जाता । सहारनपुर जिले की बोली मे भी वह ग्रामीणों की भाषा में फारसी का ग्रत्यधिक मिश्रण बतलाते है, ग्रौर ऐसी ही मुरादाबाद की बोली भी है, जिसका दक्षिण दिशा मे बढते हुए 'ब्रज' मे विलय हो जाता है । मेरठ जिले मे ग्ररबी-फारसी शब्दो के मिश्रणवाली भाषा तो गावो मे बोली ही जाती है किन्तु जमना-खादर की भाषा पर हरियाणा-भाषा (बागरू या जाटू) का प्रभाव व्यक्त रूप से देखा जाता है । द्वित्व की प्रवृत्ति भी यही से ग्रारम्भ हो जाती है, जिसका पूर्ण प्रभाव मुजफ्फरनगर, सहारनपुर की बोली मे ग्रनुभव किया जा सकता है । सहारनपुर जिले के एक कृषक की बोली का उदाहरण लीजिए

"एक पड्डत था । म्हारे पडोसी ने ग्रपणी लौंडी के ब्या मे उमै बुल्लाणं का तै कर्या था । पडज्जी पन्चस रपे पै ग्राणकु रजाबद होगए । ठीक दो दिण पहल्डे म्हारे पडोसी कु नू खबर चली, ग्रक उतौ बाहर लगर्ये जाण । वो ढेर पिरेसाण होण लग्या ।"

इससे प्रकट है कि खडी बोली पर बागरू के माध्यम मे पजाबी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पडा है । कुरु ग्रौर ग्राधुनिक हरियाणा एक देश ही थे । हरियाणा ग्रौर मेरठ की भाषा मे ग्रन्तर नही है । दोनों के मुहावरे तथा वाक्य-विन्यास समान है । इन दोनो बोलियो मे यदि ग्रन्तर है तो वह 'स' ग्रौर 'ह' का है । कौरवी मे 'स' के स्थान पर वर्तमान-कालिक क्रिया में 'ह' ग्रौर भूतकालिक क्रिया मे 'य' जोडकर कोमल उच्चारण किया जाता है । समस्त कुरु-प्रदेश की बोली मे हम ये प्रवृत्तिया स्पष्ट देख सकते है । हिन्दुस्तानी के पश्चात यदि यहा कोई ग्रौर बोली प्रमुख है तो वह पजाबी ही है । जिसके फलस्वरूप यहा के निवासियो की बोली मे 'लोड', 'नू' जैसे ग्रनेक पजाबी शब्द सम्मिलित हो गए हैं ।

जन-सख्या-लेखा देखने से पता चलता है कि कौरवी (खडी-बोली) उत्तरप्रदेश के सघन जनसख्या वाले प्रदेश की बोली है । इसके बोलने वालो की सख्या यद्यपि ५३ लाख बतलाई जाती है, जो यूरोप के ग्रीस देश की सम्पूर्ण जनसख्या मे समता करती है, परन्तु ये ग्राकडे पुराने है । खडी बोली बोलने वालो की सख्या वास्तव मे इससे कही ग्रधिक है। क्योकि खडी बोली क्षेत्र का विस्तार निर्धारित क्षेत्र मे भी कुछ ग्रधिक है (यह क्षेत्र बोली मे साम्य उत्पन्न होने की दृष्टि से हापुड से १३ मील दक्षिण ग्राड ट्रक रोड पर स्थित जिला बुलन्दशहर के गुलावठी ग्राम से ग्रारम्भ हो जाता है) ग्रौर उपर्युक्त ग्रको में विगत वर्षों मे हुई जन-वृद्धि का विचार भी नही रक्खा गया है । यदि उक्त दोनो बातो को दृष्टि मे रखकर कौरवी बोलने वालों की सख्या निश्चित की जाय, तो वह ग्रवश्य ही इससे कही ग्रधिक होगी ।

व्याकरण—कौरवी 'ग्रा'-ग्राकारान्त बोली है । ब्रज तथा उसकी सीमाग्रो पर बोले जाने वाले 'ग्रौ' ग्रौर 'ग्रो'-कारान्त शब्द पजाबी-प्रभाव से यहा 'ग्रा'-रान्त में परिवर्तितन हो जाते है ।

संस्कृत	**ब्रज**	**कौरवी-सा० हिन्दी**
काण	कानौ कानो	कान्ना <काना
ग्रध	ग्रधौ	ग्रण्धा <ग्रधा
चौक्ष	चोखौ <चोखो	चोखा
धाव	धावौ	धावा
निष्पुत्र	निपूतौ	निपूता
भद्र	भलौ <भलो	भला

वधिर	बहिरौ <बहिरो	बहरा बडरा
लभन	लहनौ	लहना
अक्षगट	अखाड़ौ	अखाड़ा

सम्बन्धकारक मे कौरवी में 'का' अनुसर्ग का प्रयोग होता है। वह भी अन्य बोलियों के 'कौ' अथवा 'को' का आकारान्त रूप ही है।

ब्रज	कौरवी-सा० हिन्दी	पंजाबी
घोडा कौ	घोडे का	घोड़े दा

ग्रामीण बोली कौरवी मे साहित्यिक-हिन्दी का 'ऐ' अथवा 'अ', 'ए' तथा 'औ' मे बदल जाता है—

सा० हिन्दी	कौरवी
भोडा	भौडा <भुडा
मौसी	मोंसी
और	ओर <अर <होर
मैला	मेह्ला, मह्ला

स्वरलोप, स्वरागम तथा स्वपरिवर्तन—

सा० हिन्दी	कौरवी
तुम	तम
कुत्ता	कूता (बागपत तहसील)
इकट्ठा	कट्ठा
मासलह (फा०) <मसाला	मसाल्ला <मसाल्डा
मिठाई	मठाई
सरकारी	सिरकारी
मिल	मील <मील्ड ळ
इकबाल	अकबाल
उठवाना	ठुवाना

साहित्यिक हिन्दी का 'न' और 'ल' वैदिक ल्ड मे बदल जाता है। किन्तु 'न' का 'ण'-'ल्ड' मे परिवर्तन अधिक और ल का ल्ड मे अपेक्षतया कम होता है—

सा० हिन्दी	कौरवी
सोहना	सोहणा, सोणा
मनुष्य	मानस <माणस <मणख
वर्ध	बल्डद
बाल	बाल्ड

द्वित्व की प्रवृत्ति —

लोटा	लोट्टा
धोती	धोत्ती
गाड़ी	गड्डी
धवल	धौल्ड़ा, धौल्ला
जीजा	जीज्जा <जिज्जा

वास्तव में द्वित्व की प्रवृत्ति कौरवी में पाली-भाषा से आई है, जो बांगरू के माध्यम से कौरवी मे सम्मि-

लित हो गई है। मेरठ मे इसका प्रारम्भ होता है, किन्तु मुजफ्फरनगर-सहारनपुर मे इसका पूर्ण प्रभाव देखा जाता है। इसके अनुसार स्वराघात वाले दीर्घ स्वर के पश्चात का व्यजन द्वित्व हो जाता है। द्वित्व व्यजन के पूर्व का ई–इ, ऊ–उ तथा ए–ए में बदल जाता है, किन्तु 'आ' किंचित ह्रस्व तो हो जाता है, परन्तु वदलता नही––

घीसा	घिस्सा
मीठा	मिट्ठा
ऊपर	उप्पर
देखा	देक्खा
खाता	खात्ता
बोली	बोल्ली

संज्ञाओं के विकारी रूप––

सज्ञाओ के विकारी रूप बनाने के लिए 'ओ' अथवा 'ऊ' लगा दिया जाता है,

घर मे	घरो मा
घर जा रहा	घरूँ जार्‌या
मर्‌दो को	मर्दूं कुँ

क्रिया मे 'है', 'था' की अन्तर्भुक्ति हो जाती है, ऐसा दीर्घस्वरान्त क्रियापदो के वर्तमान और भविष्यत् काल मे देखा जाता है।

आव्वै,	खाव्वै,	जाव्वै,	करै
करै हागा	खावै हागा		करता था, खाता था।
जागा,	खागा		जाएगा, खाएगा।

कौरवी मे सपूर्ण वर्तमानकालिक क्रिया के स्थान पर सामान्य वर्तमान क्रिया का प्रयोग भी मिलता है। ऐसा साहित्यिक हिन्दी मे नही होता—

सा० हिन्दी	कौरवी
गया है	जार्‌या है।
गए है	जार्‌ये है।

यथा, 'मेरा बाप्पू गा जार्‌या आ। (गया है)

'यहा कोइ नी सब रामलिल्ला देखण जार्‌ये है। (गए है।)

वर्ण-संयुक्ति

मुख-सुख के लिए भाषा की समास-सक्ति का प्रयोग––

साहित्यिक भाषा	कौरवी
गया	ग्या
करा	कर्‌या
मिला	मिल्या
यहा से	य्हस्सै
वहा से	व्हस्सै

व्यंजन-परिवर्तन

है	सै
धीरे	दीरै
कीकड़	टिक्कड (बागपत तहसील)

भगवान	बगमान (मेरठ परगना पूर्वीय।)
सीधा	सुध्धा < सुड्डा
आदमी	यादमी

वर्ण-विपर्यय

जमानत	जनामत
मतलब	मतबल
नुकसान	नुसकान < नसकान
इकसठ	इसकट
सिगनल	सिगल्ड़ ळ

कौरवी मे परसर्गों का व्यवहार साहित्यिक हिन्दी के समान ही होता है। किन्तु 'ने' का प्रयोग कर्मणि और भावे के अतिरिक्त करण मे भी कभी-कभी देखा जाता है। 'ने' का प्रयोग खडी बोली की निजी विशेषता है।

मनै तनै उसनै

'उसनै कह दिज्जै यहंस्सै इबी म्हारा जाणा नी हो सक्कै।'

'रामफल्ड हर नै यो बात बिगाड दी।'

'ड' का उच्चारण कौरवी मे सुरक्षित है तथा इसी प्रकार ढ का भी, जैसा कि उक्त उदाहरण से प्रगट है। नकारार्थक 'नही' के स्थान पर यहा 'नी' अथवा 'ने' का प्रयोग होता है।

कढाई कढाई

फारसी के प्रभाव स्वरूप कौरवी मे साहित्यिक हिन्दी की भाति 'श' का तालव्य, 'ज' का दंत-तालव्य तथा 'फ' का दतोष्ठ्य उच्चारण नही होता—

सा० हिन्दी	**कौरवी**
ज़रूरत	जरूरत
शादी	साद्दी
कागज़	कागज

दीर्घ स्वर के पश्चात आने वाला अनुस्वार आधे न की भाति सुन पडता है—

ईट	=	ईन्ट
पाच	=	पान्च
ऊट	=	ऊन्ट

इसके अतिरिक्त कौरवी एव साहित्यिक हिन्दी के व्याकरण मे विशेष अन्तर नही है। वाक्य-विन्यास प्राय. दोनो का एक जैसा ही है।

कौरवी ने अरबी, फारसी, तुरकी एव अग्रेजी व अन्य यूरोपीय भाषाओ के शब्दो को अपनाकर उन्हे अपना रूप दे दिया है और वह तद्भ व-रूपो मे अगणित सख्या मे बोले जाते है। इस प्रकार के शब्दों की सूची श्री अम्बिकाप्रसाद वा जपेयी ने अपनी पुस्तक 'Persian Influence on Hindi' तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में दी है। इन विदेशी भाषाओ का प्रभाव केवल इतने तक ही सीमित नही है, अपितु उन्होने हमारी भाषा को लिंग-भेद में परिवर्तन, नये प्रत्ययों के आगम तथा नूतन प्रयोगो के व्यवहार मे भी प्रभावित किया है। असख्य विदेशी शब्दो के बहु-वचन हिन्दी-नियमो के अनुसार बना लिये गए हैं, तथा अनेक विशेषण, क्रिया-विशेषण अथवा सम्बन्धसूचक अव्यय और उपसर्ग उनसे ले लिये है। यह सब इस भाति हुआ है कि आज यहा के लोगों को उसका भान भी नही है। 'भाषा बहता नीर' कबीर ने ठीक ही कहा था। भाषा की यही शक्ति तो उसका जीवन और बल है।

साहित्यिकता की दृष्टि से कौरवी उपयोगी बोली है। इसके अनेक वाग्व्यवहार (मुहावरे) और लोको-

क्तियां अत्यन्त सारगर्भित हैं। इनका चयन कर हम अपनी भाषा को अतिरिक्त शक्ति प्रदान कर सकते है। इस प्रदेश की बोली अभिधा की अपेक्षा लक्षणा तथा व्यजना से अधिक सम्पन्न है और प्राय लोग गूढार्थ भाषा का ही उपयोग करते हैं। एक बार किसी व्यक्ति ने दूसरे से प्रश्न किया :

'ताऊ हो घस्सिटा का छोरा —सुण्या ता टाग्ग टुट्टगी —इब कैस्से ?'

उत्तर मिला —

'हां आराम आग्या उसणै, पर सौरा इबी खाड सी मल्डता चल्डै।'

लँगडेपन को बतलाने के लिए इससे अधिक सुन्दर शब्द-चित्र क्या दिया जा सकता है। 'खाड सी मल्डता चल्डै' में अभिभाषक सम्बन्धित व्यक्ति के रोग का ही वर्णन नही करता, अपितु वह उसके समक्ष उसका जीता-जागता चित्र उपस्थित कर देता है। कौरवी की शक्ति का परिचय और अनुमान कराने वाले मुहावरों मे से कुछ नीचे उद्धृत किये जाते है

किठूर किठूर देखणा

गदवद मारणा

टाग तराज्जू होणा

या लिकडना

सियो सै गाडे खान्ना[1]

तग्गा तोड करणा

यदि बोल-चाल के शब्दों, मुहावरो और लोकोक्तियो को, जो अगणित सख्या मे आज भी व्यवहार मे है, संग्रह कर परिष्कृत कर लेने के अनन्तर साहित्य-भाषा मे स्थान दिया जाय तो भाषा की यह सहस्रो वर्ष की अर्जित शक्ति, जिसके पीछे अनुभव और व्यवहार का अनन्त बल है, व्यर्थ न हो पाएगी। यहा कुरु-जनपद मे प्रचलित कतिपय शब्दो की अर्थ-सहित सूची दी जा रही है। इससे सहज अनुमान हो सकेगा कि इन शब्दो मे अर्थ की कितनी गाम्भीरता तथा द्योतन की कैसी अमोघ शक्ति है

संस्कृत	**कौरवी**	**सा० हिन्दी**
माद्य	मादगी	रोग, बीमारी
चोलक	चोला	शरीर, वस्त्र
स्वस्थान	सुथना	सुथना<पायजामा
पर्याण	पलान<पलाण	काठी
	याणी	अयानी
शोधिनी	सौजनी	बुहारी

अनुकरणात्मक—

झरनाटा	(झाझ का स्वर)
धुद्कार	(घोर रव)
दह्मल-दह्मल	(मद गति)
हुलहुलियाई	(उद्वेगपूर्ण)

अन्य —

शब्द	**अर्थ**
सिखर	आकाश, चोटी

---

१. महाकवि सूर ने 'भ्रमरगीत' के एक पद में इस लोकोक्ति का प्रयोग किया है—
"हुस्यार तौ घणीं, पर रांड कैस्सै होग्यी ?"

चस्कना	मीठा-मीठा दर्द होना
तीमन	पतली पानीदार सब्जी (तेमन)
बुकलाणा	इतराना
बरगी	समान (उपमावाचक)

परन्तु आज तो इस शक्ति के नष्ट हो जाने की बडी भारी आशका उत्पन्न हो गई है। श्री राहुलजी के विचार मे 'हिन्दी के लिए यह दुर्भाग्य की बात थी कि साहित्यिक भाषा का जन्म लेकर ग्रामवासिनी कौरवी से उसका नाता टूट गया।'[1]

कौरवी पौरुषेय व्यक्तियो की बोली है, जिनका व्यवसाय साधारणतया कृषि है। इससे वह खूब पदा करते है, और जीवन की सब सुख-सुविधा तथा स्वास्थ्य-प्राप्त ये लोग बड़े मसखरे और व्युत्पन्न-मति देखे जाते हैं। इनकी बोली मे हास्य-व्यग तो मानो पुजीभूत हो गए है। एक बार तहसील बागपत के बावली ग्राम के सिमाने पर कोई बड़ी-बडी मूछो वाला अधेड आयु का व्यक्ति छोटे-से मरियल टट्टू पर सडक-सडक चला जा रहा था कि इतने मे ही सिर पर न्यार (पशुओ के चारे) की गठरी धरे दो मुग्धाए खेत से निकली और जो आगे थी उसने अपनी सखी से कहा—

'अर, यो टट्टू पै मूंछ कूंण लाद्दे जा है।'

'टट्टू पर मूछ लादना'—वस्तुत सबल अभिव्यक्ति है, जिससे कोई भी तुरन्त मूछो के आकार, विस्तार और परिमाण का सहज अनुमान ले सकता है। इस भाति अनेक अवसरो पर यहा के ग्राम्य जनसाधारण बातचीत में जो ध्वनि उत्पन्न करते है, वह हास्य-व्यग्य के लिए तो उपयुक्त है ही, साथ ही उसकी विशाल साहित्यिक सम्भावनाएं भी है। ये लोग अपने अनूठे प्रयोगो द्वारा शब्दो को नूतन अर्थ देने की क्षमता प्रदान करते है। राजा लक्ष्मणसिंह ने अपनी पुस्तक 'मिमौयर्स आव बुलन्दशहर' मे बागपत का नाम 'वाकप्रस्थ' दिया है और उसका अर्थ वाग्मी पुरुषो का नगर बतलाया है जो आज भी यहा के निवासियो की वाक्पटुता देखकर उपयुक्त जान पडता है। अब मे लगभग ५ वर्ष पूर्व एक बार लेखक का ज्येष्ठ पुत्र मेरठ के बावली ग्राम-निवासी अपने सहपाठी के गाव गया। जैसे ही ये दोनो युवक ग्राम की सीमा मे प्रवेश कर रहे थे, उसी समय खेत मे काम कर रहे किसी व्यक्ति का परिचित स्वर कान मे पडा—

"अरे वच्चू दिक्खै, अर यो सग म कौण सै—तण या ठेट्टर मे का मू मेरी ओर फेरिए।"

सूट-बूट-नेकटाई से लैस बने-ठने युवक के लिए 'ठेट्टर' शब्द के व्यवहार मे भाव-गाम्भीर्य की पराकाष्ठा हो गई है। प्रश्नकर्त्ता का अभिधेयार्थ यह था कि इस अभिनेता-जैसे विचित्र वेष-भूषा वाले व्यक्ति का दर्शन और परिचय दो, जिसने हमारे भावो को सहसा उत्तेजित कर दिया है। सत्य ही रगमच पर नवीन पात्र के उदित होने पर जिस भाति प्रेक्षको मे उत्कण्ठा की एक लहर दौड जाती है, ठीक उसी भाति तो इस नवीन शहरी का गाव मे आगमन भी था। इन्ही कारणो से यहा के जाट लोगो की मति-व्युत्पन्नता के सम्बन्ध मे यह कहावत प्रसिद्ध ही हो गई है कि,

'बेपढ़ा जाट, पढ़ा जैसा। पढ़ा हुआ जाट खुदा जैसा।'

कौरवी-प्रदेश के निवासियो मे जाट, गूजर तथा चमारो की सख्या अधिक है। जाति-भेद के अनुसार इनकी बोल-चाल और व्यवहार मे भी अन्तर है। जाट लोगो की तरह गूजरो की बोली 'गूजरी' अन्य जाति वालो से भिन्न है। किन्तु, चमारो की ऐसी कोई पृथक बोली नही है, यद्यपि उच्चारण की स्थानीय विशेषताए ग्राम-ग्राम मे अनुभव की जा सकती है। गूजरी भाषा की प्रगट विशेषता यह है कि उसमे 'हो' 'हो' जैसे मुखाकृति को गोल बनाकर बोले जाने वाले शब्द अधिक है तथा वे लोग, विशेषकर उनकी स्त्रिया, उच्चारण के इस विचित्र ढग को अपनाते हैं। मेले-ठेले में—विशेषकर गढ-गगा पर कार्तिकी के मेले मे—बैलगाड़ी पर बैठकर जाती हुई गूजरियां जब गीत के बोल उठाती हैं, तो उसमे कोई शब्द भी श्रोता की समझ मे नही आता, और पीछे केवल 'हो' की ध्वनि गूजती रह जाती है। गुर्जर-इतिहास के लेखक श्री यतीन्द्रकुमार वर्मा का कथन है कि सन १८५७ मे अग्रेजो ने सडको पर राह-चलते हर आदमी को जो 'ए' को 'ओ' उच्चारण करता उसे गूजर समझकर ग्राम रास्तो व सड़को पर तुरन्त फांसी के फन्दों मे झुला दिया था।

---

१. आदि हिन्दी के गीत और कहानियां, भूमिका पृ० २ : श्री राहुल सांस्कृत्यायन, १९५०

'गूजरी भाषा' का सम्बन्ध शौरसेनी से अधिक है। इस सम्बन्ध मे इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का मत भी ऐसा ही है। इसके विपरीत श्री जयचन्द्र विद्यालकार ने गूजरी को राजस्थानी का महत्त्वपूर्ण अग माना है। कुछ भी हो, दोनो ही दशा मे गूजरी का सम्बन्ध शौरसेनी अवहट्ट मे ठहरता है। गूजरो की भाषा के विषय मे विद्यालकार जी द्वारा प्रगट एक विशेष बात यह है कि सभी जगह फिरन्दर गूजर अपनी गूजरी बोली, जो मेवाती और जमुना[1] काठे की बोली का मिश्रण है, बोलते है। इस विषय पर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री के० एम० मुशी का वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि "काशमीरी गूजरो के ग्राम्य-गीत, लोक-गीत बिल्कुल हमारे गुजरात के ग्राम्य-गीतो की तरह है।—" इससे सिद्ध है कि गूजर लोग कही भी रहे, वे अपनी भाषा-एकता को सर्वत्र बनाए रखते है। इस सदर्भ मे अफगानिस्तानी शहाना गूजर खानबहादुर मोहम्मद अब्दुल मलिक की भाषा का उदाहरण देना यहा उपयुक्त होगा·

"थारा नामि क्या है। तुम कित गया था, म्हारो बाप-दादो दिल्ली से आयो थो। म्हारे गाव अन्दर पाच सौ गूजरा के है।—म्हारो बडो का बडा बडो बहादुर थो।"

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि उत्तर-पश्चिमी भारत तथा अफगानिस्तान के गूजरो की बोली मे पर्याप्त साम्य है। तुलना के लिए हापुड के निकट ग्राम मतनोरा (जि० मेरठ) के गूजरो की बोली का एक उदाहरण और लीजिए .

"मेरौ नौम रामचन्द्रै जी। हमारे गा मे तौ काई इस्कूल नौ है।"

दोनो उदाहरणो से स्पष्ट है कि यत्किचित ब्रज का प्रभाव आता है। गूजरी बोली मे बहुवचन बनाने के लिए ब्रज की तरह 'न' लगाने की प्रथा है—

घोडे	घोडन
भंस	भैंमन

तथा 'आ' को इसमे 'औ' के समान बोला जाता है। कही-कही 'आ' का परिवर्तन 'ऊ' मे होता है, किन्तु यह अधिकाश व्यक्तिगत है

यहा < य्हा   यहू

भाषा-वैचित्र्य यो तो एक ही स्थान पर जाति-भेद तथा वर्ग-भेद के अनुसार देखा जा सकता है, किन्तु इसके अतिरिक्त स्थानान्तर मे अनुभव किया जाने वाला भाषा-भेद वास्तव मे ध्यान देने की बात है। मेरठ जिले मे ही बागपत, हापुड और मवाने की बोलियो मे अन्तर है। हापुड मे ब्रज का कुछ पुट मिल जाता है, जबकि बागपत तहसील मे हरियाणी भाषा का प्रभाव और मवाने मे मुजफ्फरनगर की द्वित्व बोली का प्रभाव अधिक है। किंतु शुद्ध कौरवी बागपत बडौत की ही मानी जाएगी।

• • •

---

१. बुलन्दशहर जिले का सिकन्दराबाद तहसील में गूजरों की संख्या अधिक है और इनकी यहां जमना-काठे की बोली है।

'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग और अर्थ : एक शोधक दृष्टि

डा० आशा गुप्ता

भाषा-विशेष के अर्थ मे खडी बोली नाम ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि अन्य भाषाओ की अपेक्षा अर्वाचीन है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम लल्लूजीलाल के 'प्रेमसागर' तथा सदलमिश्र-कृत 'नासिकेतोपाख्यान' एव 'रामचरित्र' मे मिलता है। ये गद्य-ग्रथ फोर्ट विलियम कालेज मे हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष डा० जान गिलक्राइस्ट के आदेश से लिखे गए थे। लल्लूजीलाल तथा सदलमिश्र अपने ग्रथो की भूमिका मे क्रम से लिखते है कि--

१ 'श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलिकिरिस्त महाशय की आज्ञा से सवत् १८६० मे लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने जिसका सार ले यामनी भाषा छोड दिल्ली आगरे की **खड़ी बोली** में कह नाम प्रेमसागर धरा।[1]

२ 'अब स० १८६० मे नासिकेतोपाख्यान को जिसमे चन्द्रावती की कथा कही है देववाणी से कोई-कोई समझ नही सकता इसलिए **खड़ी बोली** मे किया।'[2]

३ 'अब इस पोथी को भाषा करने का कारण सिद्ध है कि मिस्टर जान गिलक्रस्त साहब ने ठहराया और एक दिन आज्ञा दी कि अध्यात्मरामायण को ऐसी बोली में करो जिसमे अरबी-फारसी न आवे। तब मै इसको **खड़ी बोली** मे कहने लगा और स० १८६२ मे इस पोथी को समाप्त किया और नाम इसका रामचरित्र रखा।'[3]

इसके पश्चात डा० गिलक्राइस्ट द्वारा रचित 'द हिन्दी स्टोरी टैलर', 'द ओरिएटल फब्युलिस्ट' तथा 'द हिन्दी-रोमन आर्थोएपिग्रेफिक अल्टिमेटम' आदि ग्रथो मे भी इसका अनेक बार उल्लेख मिलता है। इनमे से कुछ प्रयोग विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जो इस प्रकार है .

१ 'इन (कहानियो) मे से कई **खड़ी बोली** अथवा हिन्दुस्तानी के शुद्ध हिन्दवी ढग की है। कुछ ब्रजभाषा मे लिखी जाएगी'।[4]

२. 'मुझे खेद है कि ब्रजभाषा के साथ **खड़ी बोली** की भी उपेक्षा कर दी गई थी। हिन्दुस्तानी की यह विशिष्ट पद्धति या शैली (पार्टीक्युलर ईडियम और स्टाइल) उस भाषा के विद्वार्थियों के लिए बहुत ही लाभदायक सिद्ध होती।'[5]

३. 'ठेठ **खड़ी बोली** मे हिन्दुस्तानी के व्याकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता है और अरबी-फारसी का प्रायः पूर्ण परित्याग रहता है।'[6]

---

१. प्रेमसागर—पृ० १, १८०५ : प्रथम संस्करण
२. नासिकेतोपाख्यान—पृ० २
३. रामचरित्र—पृ० २ (हस्तलिखित प्रति) इण्डिया आफिस, हिन्दी अनुशीलन—पृ० ३४ : वर्ष ७, अंक १ से उद्धृत
४. The Hindie story Teller. Vol. II 1803. p. 2, Calcutta
५. The Oriental Fabulist. p. 5. 1803, Calcutta.
६. The Oriental Fabulist. p. 5. 1803, Calcutta.

४. 'शकुन्तला का दूसरा अनुवाद **खड़ी बोली** अथवा भारतवर्ष की 'निराली' (खालिस) बोली मे है। हिन्दुस्तानी से इसका भेद केवल इसी बात मे है कि अरबी और फारसी का प्रत्येक शब्द छाट दिया जाता है।'[१]

५. 'प्रेमसागर' एक बहुत ही मनोरजक पुस्तक है जिसे लल्लूजीलाल ने हमारे विद्यार्थियो को हिन्दुस्तानी की शिक्षा देने के निमित्त ब्रजभाषा की सुन्दरता और स्वच्छता के साथ **खड़ी बोली** मे किया। इससे अग्रेजी भारत की हिन्दू जनता के बृहत समुदाय को भी लाभ होगा।[२]

प्रेमसागर से पूर्व किसी अन्य साहित्यिक गद्य-पद्य ग्रथ अथवा ऐतिहासिक पुस्तक मे 'खडी बोली' शब्द का उल्लेख नही मिला। स्वय डा० गिलक्राइस्ट भी इस शब्द से पहले अपरिचित थे। यह सदलमिश्र की उक्ति मे स्पष्ट है कि, 'एक दिन आज्ञा दी कि अध्यात्मरामायण को **ऐसी बोली** मे करो कि जिसमे अरबी-फारसी न आवे।' सम्भवत: इसीलिए उनके प्रेमसागर से पूर्व रचित ग्रथ ओरिएटल लिग्विस्ट (१७६८ ई०) तथा अपेडिक्स टु गिलक्राइस्ट डिक्शनरी (१७६८ ई०) मे 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे उनका तात्पर्य 'भारत की उस प्राचीन भाषा से है जो मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व देश की भाषा थी और जो अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी का मूलाधार है।[३] कहना न होगा कि खडी बोली शब्द की अनुपलब्धि इस तथ्य का द्योतक है कि उस समय तक यह शब्द भाषा-विशेष के अर्थ में प्रचलित न था।

भाषा के इस नूतन नाम को देखकर कतिपय परवर्ती विद्वानो को यह भ्रम हो गया कि खडी बोली नाम मे व्यवहृत यह बोली नई है। अतएव उन्होने इसके उद्भव के सम्बन्ध मे अनेकानेक कल्पनाए कर डाली। राजा शिवप्रसाद ने लिखा कि, '(जब) डा० गिलक्राइस्ट ने मीर अम्मन और लल्लूजीलाल कवि से भाषा मे कुछ गद्य-पुस्तके लिखने को कहा · तो वे दोनो बहुत ही द्विविधा मे पड गए होगे (क्योकि) वह (भाषा) उनके लिए नई चीज थी। (अत) उन्होने लिखा तो परन्तु दोनो ही ने कृत्रिम भाषा मे लिखा।[४] डा० ग्रियर्सन ने कहा कि 'यह हिन्दी भाषा के उद्भव का समय था जिसे अग्रेजो ने आविष्कृत किया और गद्य-साहित्य मे इसका उपयोग गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता मे सर्वप्रथम 'प्रेमसागर' के रचयिता लल्लूजीलाल ने किया।[५]

इसके अतिरिक्त सदलमिश्र और लल्लूजीलाल दोनो 'भाखा'-मुशियो ने डा० गिलक्राइस्ट के आदेशानुसार कथा-वाचनार्थ अरबी-फारसी शब्दो का पूर्ण परित्याग कर दिया। अतएव 'यामनी भाषा को छोड' जैसे वाक्याशो के कारण उर्दू-हिन्दी साहित्य जगत मे यह भी भ्राति फैली कि उर्दू ही खडी बोली की जन्मदात्री है। डा० अब्दुल हक ने दावा पेश किया कि, 'फोर्ट विलियम कालेज के मुशियों ने (खुदा उनका अरवाह को शरमाए) बैठे-बिठाए विला वजह और बगैर जरूरत यह शोश छोडा। लल्लूजीलाल ने जो उर्दू के ज़बादा और उर्दू किताबो के मुन्सिफ भी थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज़ किताबे लेकर उन्होने उनमे से अरबी-फारसी लफ्ज़ चुन-चुन कर अलग निकाल दिए और उनकी जगह सस्कृत और हिन्दी के नामानूस लफ्ज़ जमा दिए, लीजिए हिन्दी बन गई।'[६]

यही भ्रम हिन्दी साहित्य के कवि-मनीषियो को भी हो गया। प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने कहा कि, 'खडी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिन्दी के वर्तमान गद्य-पद्य को देखकर यह जान पडता है कि उर्दू रचना मे फारसी-अरबी तत्सम या तद्भवो को निकाल कर सस्कृत या हिन्दी-तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई।' · ··· ···हिन्दी गद्य भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरम्भ होती है ·· · ·· पुरानी हिन्दी गद्य और पद्य खडे रूप मे मुसलमानी है। ·· ··· विदेशी मुसलमानो ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पडी बोली' को 'खडी' बनाकर लश्कर

---

१. The Hindee-roman ortho-epigraphic ultimatum. p. 19. (foot note) 1804, Calcutta.
२. The Hindee roman ortho-epigraphic ultimetum p. 20 (foot note) 1804, Calcutta.
३. Oriental Linguist. p. 3. 1798. Calcutta.
४. Hindi Selections. p. 11 1867. Shiv Prasad
५. The modern vernacular literature of Hindoostan (Introduction) G. A. Grierson 1889.
६. उर्दू, पृ० ३८३, अजुमन तरक्की ए उर्दू, औरगाबाद (दकन), अप्रैल १९३७

ग्रौर समाज के लिए उपयोगी बनाया।'[१] जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी शब्द-भेद से बात यही दोहराई। उन्होने कहा कि 'जो भाषा ग्राजकल खडी बोली के नाम से कही जाती है वह हमारी समझ में उर्दू का ही रूपान्तर है। ग्रारम्भ में तो वह उर्दू भाषा मे भाखा के प्रचलित शब्द रखकर बनाई गई ग्रौर फिर शनै -शनै. उसमे सस्कृत के शब्द मिलाये जाने लगे।'[२] ला० भगवानदीन के विचार मे, 'फारसी में ही कुछ ब्रज ग्रौर कुछ बांगड़ू का टेक लगाकर बोली को 'खडा' कर दिया गया ग्रौर उसका नाम पड गया 'खडी बोली'। (खडी बोली किसी बोली का नाम नही है वह सिर्फ हिन्दी की तारीफ है) फारसी ग्रार्याई बोली है।'[3] शायद इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इसे 'नई भाषा' या 'साधु भाषा' नाम से ग्रभिहित किया है।'[४]

इसके ग्रलावा प्रेमसागर की खडी बोली ग्रत्यधिक ब्रजरंजित थी ग्रौर डा० गिलक्राइस्ट ब्रजभाखा को हिन्दुस्तानी का मूलाधार भी घोषित कर चुके थे।[५] ग्रतएव उर्दू-हिन्दी के लेखको ने यह कहना ग्रारम्भ कर दिया कि दोनो शैलिया ब्रजभाषा की ग्रौरस पुत्री है। एक ग्रोर बालमुकुन्द गुप्त ने ग्रपने 'हिन्दी भाषा' शीर्षक लेख मे कहा कि, वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वही ब्रजभाषा से यह उत्पन्न हुई ग्रौर वही उसका नाम हिन्दी रखा गया।'[६] ग्रौर दूसरी ग्रोर मौलाना मुहम्मद हुसैन ग्राजाद ने (१८३३--१९१० ई०) 'ग्राबेहयात' में जबान उर्दू की तारीख बताते हुए फरमाया कि, 'इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी नई जबान बिरजभाषा से निकली है ग्रौर बिरज-भाषा खास हिन्दोस्तानी जबान है। लेकिन वो ऐसी जुबान नही है केह दुनिया के परदे पर हिन्दोस्तान के साथ ग्राई हो। उसकी उम्र ग्राठ सौ बरस से ज्यादह नही है ग्रौर ब्रज सब्जाजार उसका वतन है।'[७]

इस प्रकार के ग्रवैज्ञानिक मतों का तर्कपूर्ण खण्डन करने की विशेष ग्रावश्यकता नही प्रतीत होती, क्योकि डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति भाषाविदो ने ग्रनेक तर्कों एव प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि "शौरसेनी-ग्रपभ्रश-प्रसूत-पश्चिमी हिन्दी के मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोले जाने वाले एक रूप खडी बोली से वर्तमान साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है।··· भारतवर्ष मे ग्राने पर बहुत दिनो तक मुसलमानो का केन्द्र दिल्ली रहा, ग्रत फारसी, तुर्की ग्रौर ग्ररबी बोलने वाले मुसलमानों ने जनता से बातचीत ग्रौर व्यवहार करने के लिए धीरे-धीरे दिल्ली के ग्रडोस-पडोस की बोली सीखी। इस बोली मे ग्रपने विदेशी शब्द-समूह को स्वतन्त्रतापूर्वक मिला लेना इनके लिए स्वाभाविक था।·· "शाही दरबार से सम्पर्क मे ग्राने वाले हिन्दुग्रों को इसे ग्रपनाना स्वाभाविक था क्योकि फारसी-ग्ररबी शब्दों से मिश्रित किन्तु ग्रपने देश की एक बोली मे इन भिन्न भाषा-भाषी विदेशियो से बातचीत करने मे इन्हे सुविधा रहती होगी ·····शासको द्वारा ग्रपनाई जाने के कारण यह उत्तर भारत के समस्त शिष्ट-समुदाय की भाषा मानी जाने लगी··· "उर्दू का जन्म तथा प्रचार इसी प्रकार हुग्रा।······उर्दू का मूलाधार दिल्ली के निकट की खडी बोली है। यही बोली ग्राधुनिक साहित्यिक हिन्दी सगी बहने है।"[८] प्रारम्भ मे यह

---

१. 'पुरानी हिन्दी', पृ० १०८ : प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा
२. खडी बोली का ग्रान्दोलन, पृ० २१ : डा० शितिकण्ठ मिश्र
३. हिन्दुस्तानी पत्रिका (१८४६), पृ० २५१, महात्मा भगवानदीन
४. हिन्दी भाषा, पृ० १०, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
५. Proceedings of the Council of the college of Fort William.
Home miscellaneous Vol. I, P. 62--63. Extract from a letter of Dr. Gilchrist dated the 4th Jan. 1802 to Charles Roman-Secretary to the Coollege Cuncil.
६. हिन्दी भाषा, भूमिका 'क', श्री बालमुकुन्द गुप्त
७. ग्राबेहयात 'जबाने उर्दू की तारीख' पृ० ६ : मुहम्मद हुसैन ग्राजाद
८. (क) हिन्दी भाषा का इतिहास, भूमिका, पृ० ५६, ६१-६२, डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९४६
(ख) Indo-Aryan and Hindi, P. 175, 179; Dr. S. K. Chetterjee, Ed. 1940.
(ग) पश्चिमी हिन्दी ग्रथवा केन्द्रीय हिन्दी ग्रार्यभाषा की प्रधान पांच विभाषाएं हैं—खडी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बांगरू ग्रौर बुन्देली······इसी की (खड़ी बोली) उत्पत्ति के विषय में ग्रब यह माना जाने लगा है कि इसका विषय शौरसेनी-ग्रपभ्रंश से हुग्रा

स्वरूप और स्थान भेद के कारण कितने नामो से जानी जाती थी और इसका नाम 'खडी बोली' किस प्रकार पडा, यह डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों मे सुनने योग्य है। हिन्दी, हिन्दुस्तानी या हिन्दुस्थानी और खडी बोली वगैरह भिन्न-भिन्न नामो से कही जाने वाली केवल एक मूल भाषा है जो पश्चिमी श्रेणी के अन्तर्गत एक बोली या भाषा या उप-भाषा मात्र है .....दिल्ली की बोली 'पारतरूत' अर्थात् राजधानी की बोली थी .....मुसलमान राज्यशक्ति तथा उससे सम्बन्धित हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत होने के कारण साहित्य की भाषा न होने पर भी बोलचाल की मुख्य अथवा प्रतिष्ठित भाषा होने से पीछे इसका नया नाम पडा 'खडी बोली'।'[1] डा० ताराचन्द ने भी हिन्दुस्तानी की व्याख्या करते हुए कहा है कि, 'हिन्दुस्तानी कोई मनगढन्त नई भाषा नही है, वह वही खड़ी बोली है जिसे दिल्ली और मेरठ के आसपास रहने वाले बहुत पुराने वक्तो से बोलते चले आते है।'[2]

हाब्सन-जाब्सन-कोष के प्रणेताओं ने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का उर्दू भाषा के प्रर्याय मे प्रयोग किया है, किन्तु उसका आधार आगरा-दिल्ली के आसपास के क्षेत्रो की बोली को माना है।[3] १८८१ की जनसख्या-रिपोर्ट मे पजाब की विभिन्न बोलियो का उल्लेख करते हुए चार्ल्स इबसन ने भी शब्द-भेद से यही कहा।[4] इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध वैयाकरण मिस्टर वीम्स का भी मत उल्लेखनीय है। वे कहते है,' "यह सामान्य बोली प्राचीन राजधानी दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्र मे उत्पन्न हुई। बोलचाल की वही हिन्दी भाषा के नए रूप का आधार बनी जिसमे सज्ञा और क्रियाओ का रूप-परिवर्तन हिन्दी का था और अत्यन्त प्रचलित शब्द भी रखे गए किन्तु फारसी, अरबी यहा तक कि तुर्की शब्द इस प्रकार सन्निविष्ट हो गए जैसे अग्रेजी मे लैटिन और ग्रीक शब्द।"[5] यह नही, विदेशी गवर्नर, इतिहासज्ञ, फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी अध्यक्ष, परीक्षक आदि सभी ने यह अनुभव कर लिया था कि उर्दू अथवा 'हिन्दुस्तानी' भारत की जन-प्रचलित भाषा नही है। इस हिन्दुस्तानी के सम्यक् एव समुचित ज्ञान के लिए उसकी मूलाधार बोली का ज्ञान अनि-वार्य है चाहे उसे खडी बोली कहा जाय अथवा 'हिन्दवी'। कहते है कि ६ वर्ष लगातार काम करने के उपरान्त जब एलिफस्टन अवकाश लेकर १८०९ मे कलकत्ता गए तब उसने कहा था कि, "यहा (भारत मे) के लोग उस भाषा 'मूर्स' अर्थात् 'उर्दू' मे बात करते है जिसमे वे सोचते नही।"[6] ब्लाकमैन के अनुसार, "हिन्दू और मुसलमान दोनो एक ही बोली मे बात करते थे जिसका नाम हिन्दी या हिन्दवी था।"[7] इस हिन्दी मे फारसी के शब्द कैसे अधिकाधिक सन्नि-विष्ट होते गए, ई० होरविट्ज़ के शब्दो में सुनिए। वे कहते है, "यह विशेष आश्चर्य की बात नही है कि हिन्दी अधिका-धिक फारसीमय हो गई। मुगलो ने हिन्दुओ पर विजय पाई पर हिन्दी की विजय उससे भी बडी थी। उसने असभ्य (खड) विजेताओ को जीत लिया। एक पीढी के बाद हिन्दी जबान तैमूर के अनुयायियो के कैम्प मे स्थापित हो गई।

है ... "यह खडी बोली ही आजकल की हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों का मूलाधार है ... खडी बोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है।'

—भाषा-विज्ञान, पृ० १०६, डा० श्यामसुन्दरदास

१. भारत की भाषाएं और भाषा-सम्बन्धी समस्याएं—पृ० ५८

—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

२. हिन्दुस्तानी १९३८, पृ० २१३

३. Hobson -Jobson, p. 317. New Edition-London 1903, Edited by william Crooke, John Murray Albernate street.

४. Report on the Census of Punjab. p, 161 (Taken on the 17th Feb. 1881), by D. Charles J. Ibbtson, vol. I., Calcutta.1883

५. Report on the Census of Punjab. Taken on the 17th Feb. 1881; P. 162. by D. Chrrles J. Ibbetson, Vol. I. Calcutta.

६. The men who ruled India–The Founders– Philip Woodruff

७. The Hindus Rajas under the Mogals–Calcutta Reviw 1871.

उन्होने हिन्दी को अपनी आवश्यकतानुसार नवीन सांचे मे ढाल लिया और उसे उर्दू भाषा अर्थात 'कैम्प की भाषा' कहा। किन्तु हम इसे हिन्दुस्तानी कहते है क्योंकि उर्दू सारे भारत मे प्रचलित है।"[1]

खडी बोली मे प्रेमसागर लिखने की प्रेरणा देने वाले हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष डा० गिलक्राइस्ट ने स्वयं भी हिन्दवी को मुसलमानी आक्रमण से पूर्व भारत की प्रचिलित बोली तथा उसपर आद्धृत अरबी-फारसी-मिश्रित हिन्दुस्तानी को अर्वाचीन कहा है। उन्होने 'हिन्दवी' और 'हिन्दुस्तानी' की सेक्सन और अग्रेजी भाषा के सम्बन्धसे तुलना की है।[2] बाद मे जब फोर्ट विलियम कालेज मे हिन्दी पठन-पाठन की उपेक्षा की जाने लगी तो तत्कालीन हिन्दुस्तानी अध्यक्ष जे० टेलर एव परीक्षक जे० रोएबक ने कौंसिल के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों के नाम (क्रम से १४ नवम्बर १८१२ तथा १६ नवम्बर १८१२ को) जो पत्र लिखे उनमे स्पष्ट कहा था कि 'हिन्दी' मुसलमानो के आक्रमण से पूर्व भारत के सारे उत्तर-पश्चिमी प्रान्तो मे बोली जाती थी और अब भी इन प्रान्तों के आदिम हिन्दू इसे बोलते है। यह खडीबोली या 'ठेठ' हिन्दी अथवा 'हिन्दुस्तानी' की विशिष्ट बोली जो सारे भारत विशेषतया दिल्ली-आगरे में बोली जाती है कालेज मे उसी रूप मे नही पढाई जाती जैसे प्रारम्भ मे पढाई जाती थी, जब हिन्दुस्तानी अध्यक्ष के पास दो भाखा-मुशी थे।'[3] एस० डब्ल्यू० फैलन ने तो भाषा-निबन्ध मे स्पष्ट ही कहा कि, 'जो ट्यूटोनिक और अग्रेजी का सम्बन्ध है वही हिन्दी और उर्दू का है। जो उत्तम अश अग्रेजी में लैटिन और ग्रीक का है वही उर्दू में फारसी-अरबी का है। हिन्दी इस कपडे का 'ताना' तथा फारसी-अरबी उसका बाना है। 'उनके विचार मे भाषा के रूप-परिवर्तन का कारण यह था कि 'मिश्रित-भाषा, जो हिन्दुओं और फारसी-भाषी मुगल विजेताओ के निकट-सम्पर्क के कारण सहज रूप मे विकसित हुई है, बाद मे सम्पर्क न रहने पर भी विदेशी मुहावरो से अनुप्राणित होती रही × × (इस तरह) सच्ची भाषा दब गई, उसको घृणापूर्वक तिरस्कार करके किनारे ढकेल दिया गया।' फलतः हिन्दुस्तानी की मूलाधार खडी बोली × × "दरबार और मार्वजनिक कार्यालियो से अपमानित होकर यह प्रकृत हिन्दी आज भी सामाजिक या घरेलू जीवन एव बाजारों मे जीवित है। देश की सारपूर्ण उक्तिया, लोकोक्तिया, राष्ट्र-गीतों आदि मे आज भी उसकी आत्मा का ऐसा प्रभाव है जिसके समक्ष विदेशी और उपेक्षाकृत कम-परिचित बोली (उनका तात्पर्य उर्दू मे था) दुर्बल एव अशक्त दृष्टिगत होती है। इन (हिन्दी) पद-पदाशो की जडे जनता के स्वभाव और सभा-समाजो मे गहराई तक जमी हुई है जो उच्चतम से लेकर निम्नतम (लोगो) के भावानुरूप एवं बुद्धिगम्य है।"[4] कदाचित इसीलिए इसे कृत्रिम भाषा घोषित करने वाले राजा शिवप्रसाद इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए आगे चलकर कहते है कि, "फारसी-अरबी शब्दो से लदी हुई इस नई भाषा प्राकृत को हिन्दी, हिन्दुस्तानी, भाखा, ब्रजभाषा, रेखता, खडीबोली, उर्दू या उर्दू-ए-मुअल्ला कुछ भी नाम दिया जाय। (यह निश्चित है कि) इसका बीजारोपण महमूद गजनवी के परवर्तियो के हाथो हुआ।"[5] मौलाना अब्दुल हक ने भी अपने 'कवायदे उर्दू' मे स्वीकार कर लिया है कि उर्दू हिन्दुस्तान मे जन्मी है और इसकी बुनियाद पुरानी हिन्दी पर है, क्रियापद जो भाषा का प्रधान अग है और सर्वनाम तथा कारक-चिह्न सबके सब हिन्दी हैं, सिर्फ सज्ञा और विशेषण अरबी-फारसी के दाखिल हो गए है।" और सम्भवत. इसी कारण डाक्टर ग्रियर्सन भी पश्चिमी हिन्दी की बोली के रूप मे 'हिन्दुस्तानी' के अनेक प्रकारों का अस्तित्व मानते है।"[6]

---

१. Short history of Indian literature by Horrwitz. p. 159. T. Fisher Unwin Adephi Terrace. London 1907

२. Oriental Linguist P. 3. Calcutta. 1779.

३. Proceedings of the College of fort william. Home miscellane ousVol. 4. p. 276-277.

४. An English Hindustani Law and Commercial Dictionary of words and Phrases-S.W.Fallon. Calcutta. 1858. Dissertation. p. 11,12,14.

५. Hindi Selections p. 10. Part VI. Sive Prasad.

६. A Linguistic Survey of India. Vol. IX, Part I, P. 47.

जैसा कि पहले कहा जा चुका है खडी बोली और उर्दू दोनो आत्मजाओं को ब्रजभाषा से उद्भूत मानने की भ्रान्ति का कारण कुछ तो प्रेमसागर की ब्रजरजित भाषा और कुछ फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी-अध्यक्षो की नासमझी थी। पन्द्रह-सोलह वर्ष (१७८५-१७९८) तक हिन्दुस्तानी का पर्याप्त अध्ययन करके तथा समस्त उत्तरप्रदेश में घूम-फिरकर डा० गिलक्राइस्ट को यह तो विदित हो गया था कि भारत की मूलभाषा हिन्दवी है। किन्तु यह शब्द (हिन्दवी) उन्होंने स्थान-भेद से बोली जाने वाली दोआब की सभी बोलियो के लिए व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त किया था। सम्भवत. इसीलिए उन्होने हिन्दुस्तानी का आधार 'ब्रजभाषा' निश्चित किया। और कालेज के परवर्ती कर्मचारियो को भाषा-भेद का समुचित ज्ञान हो जाने पर भी हिन्दुस्तानी के आधार के सम्बन्ध मे यह भ्रान्ति बहुत समय तक बनी रही। विलियम प्राइस ने कालेज के हिन्दी-अध्यक्ष के पद से ११ अक्तूबर, १८२४ को कौंसिल के सेक्रेटरी कैप्टेन रडैल के नाम जो पत्र लिखा उसमे खडी बोली का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया; उसे ही उर्दू का आधार माना और सेक्रेटरी से अनुरोध किया कि खडी बोली को 'हिन्दी' नाम से व्यवहृत किया जाय। किन्तु उनके विचार मे अन्य भगिनी भाषाओ से इसके पार्थक्य का कारण विदेशी पदाशो का प्रभाव-मात्र था। क्योकि उन्होने सब प्रकार का अन्तर स्वीकार करते हुए भी सबका व्याकरण एक ही माना है। उनके अनुसार उच्चतम उर्दू तथा निम्नतम 'भाषा' की वाक्य-रचना तथा अन्य रूप प्रायः समान ही है। उदाहरण देते हुए प्राइस साहब ने कहा कि, 'उर्दू तथा भाषा के सम्बन्ध-कारक चिह्न 'का-के-की' तथा 'कौ-के-की' मे विशेष अन्तर नही है। (और) भाषा का 'मै मार्यो जातो हो' तथा उर्दू का 'मै मारा जाता हू' भी लगभग एक से है।' और 'ब्रजभाषा और उर्दू के उदाहरणो मे जो थोडा-सा अन्तर स्पष्ट किया गया उस शैली-वैविध्य का कारण केवल प्रान्तीयता है।'[१] सम्भवत इसीलिए रडैल ने लुशिंगटन को २४ सितम्बर, १८२४ को पत्र मे लिखा था कि, 'इस प्रेजीडेंसी के अन्तर्गत क्षेत्रों मे प्रचलित किसी भी सस्कृत-प्रसूत बोली का व्याकरण-ज्ञान उसी स्रोत से निकलने के कारण अन्य भगिनी भाषाओ के ज्ञान के लिए पर्याप्त होगा। अतएव कालेज कौंसिल'' ' नये नियमो के अन्तर्गत फारसी भाषा के साथ हिन्दुस्तानी की जगह बगाली या ब्रजभाषा का पर्याप्त ज्ञान (जिसे ठेठ हिन्दी या हिन्दवी भी कहा जाता है) अनिवार्य कर दिया जाय।'[२] यह भ्रान्ति एच० टी० कोलब्रुक को भी हुई। उन्होने सस्कृत और प्राकृत भाषाओ से सम्बन्धित एक लेख में कहा कि, 'कान्यकुब्जो का बहुत बडा राज्य था जिसकी राजधानी कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज थी। उन्ही की भाषा सम्भवत' आधुनिक हिन्दुस्तानी का आधार है जिसे हिन्दी या हिन्दवी नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसकी दोनो बोलियो मे अन्तर स्पष्ट है। एक अधिक सभ्य है दूसरी कम। इसमे से पहली का नाम हिन्दी है और दूसरी प्राकृत के समान कुत्सित है।'[3] ईस्ट इडिया कालेज हेलबरी के उर्दू-अध्यक्ष ई० बी० इस्टविक ने भी इनका समर्थन कर डाला। आपने फरमाया कि, 'हिन्दी, हिन्दुस्तानी दोनो का आधार मिस्टर कोलब्रुक ने ठीक ही कहा है, उत्तरभारत की राजधानी कन्नौज की भाषा 'हिन्दवी' है। यह मथुरा के आसपास ब्रजक्षेत्र मे अब भी बोली जाती है। इसलिए इसे ब्रजभाषा भी कहते है।'[४]

वास्तव मे गलतफहमी का कारण यह था कि उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भी खडी बोली की विशिष्ट-

---

१. Letter from William Price (dated 11th Oct. 1824) to Captain Ruddell, Secretary to the College Council, p. 503-506 Proceedings of the College Fort William Home Miscellaneous Vol. 9.

२. Letter from Rudell (24th Sept. 1824) to C Lushington, Secretary to the government, General department P. 495-500 Vol. 9.
Proceedings of the College of Fort William. Home Miscellaneous.

३. Asiatic Researches p. 220. Vol. VII, 1803 (Second imp.) 'on the Sanskrit and Prakrit languages.' by H. T. Colbrooke.

४. 'A concise grammar of the Hindustani lauguage,' by E. B. Eastwick James Maddena Leadenhall Street, London, 1847.

ताओं का अध्ययन करने की ओर न तो किसी का ध्यान ही गया था और न उसका अपना कोई व्याकरण बना था। इस सम्बन्ध मे एच० विल्सन का कथन उल्लेखनीय है, 'हिन्दी की बोलियो की विशिष्टताओं का कभी अध्ययन ही नहीं किया गया। हमारे पास केवल एक ब्रजभाषा का व्याकरण है जो बहुत छोटा है। कहने-योग्य कोश-जैसा भी कुछ उपलब्ध नहीं होता। 'प्रेमसागर' ही मात्र ऐसा ग्रंथ है जिसका (इस दृष्टि से) कुछ मूल्य है।'[1]

निष्कर्षत: यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि खडी बोली विदेशियो की देन नहीं है। न वह 'उर्दू पर से बनाई गई' और न ब्रजभाषा उसकी माता है। ब्रजभाषा की तरह यह भी शौरसेनी-अपभ्रंश-प्रसूत पश्चिमी हिन्दी से उत्पन्न हुई। प्रारम्भ मे यह दिल्ली-मेरठ तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती थी। देश में जब मुसलमानी साम्राज्य स्थापित हुआ और दिल्ली राजधानी घोषित कर दी गई तो फारसी-भाषी विदेशियों का भारतीय जनता के साथ सम्पर्क बढता गया। शनै:-शनै: दिल्ली की स्थानीय बोली फारसी-कोश से जीवनदायिनी शब्द-शक्ति संचित करने लगी। सामाजिक एव राजनीतिक मैत्री के साथ इसका प्रचार और प्रसार बढा। स्थान-भेद तथा प्रयोग-भेद से इसके स्वरूप-भेद भी होते गए। इस प्रकार साहित्य-जगत मे यह हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुई, उर्दू, रेखता, दखिनी आदि अनेक नामो से पहचानी जाने लगी। प्रारम्भ में इसके बोलचाल के रूप को हिन्दोस्थानी अथवा 'मूर्स' कहा जाता था।

स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि जब प्रस्तुत बोली के इतने नाम प्रचलित थे तब 'खडीबोली' नये नाम की आवश्यकता क्यो पडी ? इन्ही मे से एक नाम क्यो नही चुन लिया गया। इसके निम्नलिखित कारण दृष्टिगत होते हैं :

हिन्दी, हिन्दवी एवं हिन्दुई नाम

उर्दू-साहित्य मे इसके जितने नाम प्रचलित है उनमे 'हिन्दी 'हिन्दवी' अथवा 'हिन्दुई' सबसे पुराना है। मुसलमान लेखको ने इसका सर्वत्र उपयोग किया है। कहा जाता है कि सादल्दवलाह मसऊद (मृत्यु ५२५ हि०) ने एक हिन्दी दीवान लिखा था।[2] अमीर खुसरो के नाम से प्राप्त 'खालिक बारी' (उर्दू-हिन्दी कोश) मे बारह बार 'हिन्दी' और पचपन बार 'हिन्दवी' शब्द का उल्लेख मिलता है। कवि सौदा के उस्ताद शाह हातम और आतिश भी अपने अभिव्यक्ति के माध्यम को इसी नाम से अभिहित करते थे। सादी के समकालीन बाकर आगाह (११५७ हि० में जन्म) ने अपने उर्दू दीवान का नाम 'दीवाने हिन्दी' रखा था।[3] उर्दू के आधुनिक आचार्य इशा ने अपने 'दरिया-ए-लताफत' मे भी इस शब्द का कई जगह प्रयोग किया है। अब्दुल कादिर सरवरी साहब ने बाकर आगाह के दीवाचे का मुताला करते हुए कहा है कि 'हिन्दी या हिन्दवी इसका (उर्दू) का कदीम तरीन नाम था ···· उर्दू और दखनी के लिए भी यह लफ्ज बिला तकल्लुफ इस्तेमाल होता था। उर्दू, हिन्दी, दक्खिनी एक ही जबान के मुख्तलिफ नाम है।'[4] स्पष्ट है कि हिन्दी, हिन्दवी अथवा हिन्दुई नाम 'उर्दू' के लिए भी प्रयुक्त हो चुकने के कारण भ्रम उत्पन्न कर सकते थे।

उर्दू, रेखता अथवा हिन्दुस्तानी नाम

उर्दू पद्य-साहित्य की भाषा को 'रेखता' नाम से भी अभिहित किया जाता था। कहते है कि 'रेखता' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सादी दक्खिनी के कलाम मे मिलता है जो वली दक्खनी से पूर्व आदिलशाह अव्वल के समय (सन १५८६) मे हुआ था।[5]

---

१. A glossary of Judicial and Revenue terms. Preface p. 25......by H. H. Wilson. 1855. Enlarged edition by Ganguli and Basu; Eastern Law House, Calcutta, 1940.

२. Early Hindustani poetry. by A Speenger, P. 442. Journal of asiatic society of Bengal, Vol, 21 (1853)

३. हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी : पृ० ४८--४६, पद्मसिंह शर्मा

४. उर्दू, अप्रैल-सन् १६२६ ई० जिल्द ६ हिस्सा ३४, पृ० २८१--३१८; बाकर आगाह, मुहम्मद अब्दुल कादिर सरवरी

५. हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी : पद्मसिंह शर्मा, पृ० १६, २५

बाद में तो शाह मुबारक आबरू, मीर, सौदा, गालिब, जुरअत, कायम आदि सभी शायरो ने अपनी काव्य-भाषा को 'रेखता' सज्ञा दी। 'रेख़ता' हिन्दी आदि नामो से अभिहित इस अरबी-फारसी मिश्रित पद्यबद्ध शेरो की भाषा के लिए 'उर्दू' नाम कब से चल पड़ा इसका निर्णय अभी तक किसी पुष्ट प्रमाण के आधार पर नही हुआ है। हा, अठारहवी शती के अन्त में (१७६७ ई०) सैय्यद अताहुसैन तहसील ने चहार दरवेश का तर्जुमा 'नौतर्जेमुरस्सा' के नाम मे किया था। उसमे इन्होंने अपनी जुबान के लिए रेखता, हिन्दी और जबान उर्दू-ए-मुअल्ला तीनो नाम एक ही प्रसग और एक ही पृष्ठ पर साथ-साथ दिए है। इससे ज्ञात होता है कि 'उर्दू' शब्द भाषा के लिए तब तक रूढ नही हुआ था।

इधर खड़ी बोली-साहित्य मे भी कबीर, पलटू, तुलसी साहब आदि के कुछ 'रेखता' शीर्षक पद मिलते है। यह तो निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इन सत-कवियो ने ही स्वय इन पदो की भाषा को 'रेख़ता' सज्ञा दी। क्योकि अधिकांश सत अपढ थे ··· और इनकी बानियो का सकलन इनके शिष्यो या परवर्ती लिपिकारो ने किया। परतु इस शब्द के प्रयोग से यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि 'रेखता' शब्द उर्दू-साहित्य के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य मे भी प्रचलित था। कदाचित इसीलिए आलम (स० १६४०--१६८०) ने अपने काव्य 'सुदामाचरित्र' को 'रेखता' शब्द सम्पूर्ण कहा है। और सवाई प्रतापसिह देव ब्रजनिधि ने (१८२१--१८६०) की 'रास का रेखता' शीर्षक रचना एव 'रेखता सग्रह', लिखे थे जिनकी भाषा प्राय. अरबी-फारसी-मिश्रित है। यह भी कहते है कि ब्रजनिधि की सभा मे 'रेखता' शायरो का बडा मान था जिनमे 'रसराज' तथा 'रसपुज' विशेष रूप मे समादृत थे।[१] इन 'रेखता' शीर्षक पदो को पढने से यह भी ज्ञात होता है कि ये कवि अरबी-फारसी शब्दो के प्रयोग मे कोई सकोच नही करते थे और 'रेखता' को भाषा के साथ सगीत का पारिभाषिक शब्द समझ कर राग-रागिनिया भी बाधा करते थे। तात्पर्य यह है कि अठारहवी शताब्दी तक शायर और कवि दोनो अपनी-अपनी पद्य-भाषा के लिए 'रेखता' शब्द का निस्सकोच उपयोग करते थे।

अब फोर्ट विलियम कालेज मे भाषा के नाम की स्थिति देखिए। कह आए है कि यूरोपियन इतिहासज्ञ, यात्री एव साहित्यकार 'हिन्दी' की इस जन-प्रचलित और विकसित भाषा को 'हिन्दुस्तानी' या 'मूर्स' कहा करते थे।[२] गिल-क्राइस्ट 'मूर्स' शब्द को अनुपयुक्त समझते थे।[3] फोर्ट विलियम कालेज मे वह हिन्दुस्तानी-प्रोफेसर क्यो कहलाए, इसका उन्होने कारण भी स्पष्ट किया है।[४] वे जानते थे कि ब्रिटिश राज्य के सुशासन के निमित्त सिविल कर्मचारियो को हिन्दुस्तानी मे पूर्ण दक्षता प्राप्त कराने के लिए उनकी आधारभूत बोली 'हिन्दवी' का ज्ञान अनिवार्य था। उनके अपने विचार में आधेय (उर्दू) एवं आधारभूत (हिन्दवी) भाषाओ मे प्रधान भेद केवल अरबी-फारसी आदि विदेशी शब्द-सन्निवेश तथा विभिन्न लिपिया था। इसलिए उन्होने कालेज कौसिल मे नागरी खुशनवीस तथा भाखा-मुशी के लिए माग पेश की थी।[५] जिसके परिणामस्वरूप लल्लूजीलाल और सदलमिश्र दोनो भाखा-मुशियो की नियुक्ति हुई। गिल-क्राइस्ट ने दोनो से कथा मे 'यामनी भाषा छोडने' या 'अरबी-फारसी न आने देने' का अनुरोध किया। और क्रम मे 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' रूपान्तरित हुए। डाक्टर साहब के 'हिन्दवी' से उत्तर प्रदेश की सब बोलियो का अर्थ निकलता था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी तथा विद्यार्थी 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी' या 'रेखता' को उर्दू के पर्याय

---

१. ब्रजनिधि-ग्रन्थावली की प्रस्तावना—स० हरिनारायण शर्मा पुरोहित

२. Hobson-Jobson (being an glossary of Anglo-Indian colloquial words and pharases and of kindered terms) p. 417, 584
by Col Henry Yule and Arthaur Coke Burnell. Pub: Jon Murray, Albernate Street, 1886, New edition 1903.

३. See– The Title page of the Oriental Linguist an easy familiar introduction to the popular language of Hindustani Vulgarly, but unproperly called the moors, Calcutta, 1798.

४. Oriental Linguist Introduction 3.

५. Proceedings of the College of Fort William. p. 62–63. Home miscellaneous Vol. I.

में प्रयुक्त करते थे।[1] स्वयं डा० गिलक्राइस्ट भी 'रेखता'— मिश्रित भाषा को (उर्दू) का द्योतक समझते थे।[1] दूसरे लल्लूजीलाल खुद रेखता (उर्दू) के पंडित थे। जब उनसे साहिब ने कहा कि, 'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो उसे 'रेखते' की बोली मे कहो।' तो उन्होंने कहा 'बहुत अच्छा, पर इसके लिए कोई पारसी लिखने वाला दीजै, तो भलीभांति लिखा जाय।'[3]

तीसरे, उस युग तक 'रेखता' नाम से प्राप्त खडी बोली काव्य मे समान्यतया अरबी-फारसी आदि शब्दों का प्राचुर्य रहता था। हिन्दी साहित्य के कवि भाषा के अतिरिक्त उसे गेय पदों की एक विशिष्ट शैली भी मानते थे। वास्तव मे अब तक उसमे से किसी कवि ने विदेशी शब्दो के बहिष्कार की चेष्टा न की थी। अत: प्रेमसागर की भाषा के लिए 'रेखता' या हिन्दुस्तानी शब्द का उपयोग कालेज के अध्यक्ष, अन्य कर्मचारियों, विद्यार्थियों एवं साहित्यकारों के मस्तिष्क मे उलझन पैदा कर सकता था। आश्चर्य नही जो इन सब कारणो के देखते हुए लल्लूजीलाल ने उसे 'खडी बोली' नाम दे दिया हो।

खड़ी बोली शब्द के अर्थ : जिस प्रकार नाम की नवीनता को देखकर कतिपय विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनेक धारणाएं बना ली थी, उसी प्रकार नाम की विशिष्टता के आधार पर खडी बोली शब्द के भी विभिन्न अर्थ स्थिर करने के प्रयत्न किये गए। सर्वप्रथम ईस्ट इण्डिया कालेज हेलबरी के हिन्दुस्तानी-अध्यक्ष ई० बी० इस्टविक ने 'खडा' और 'खरा' को समानार्थक मानकर प्रेमसागर के नवीन सस्करण (१८५१) के हार्ट फोर्ड[4] कोष मे खडी बोली के अर्थ इस प्रकार दिए—

खडा—

1. Erect, upright, steep, standing
2. Genuine, pure went it (Khara)

खडी बोली—

Khari Boli, the true genuine language i. e. the pure language. 3

पादरी कैलॉग ने भी 'खडी' बोली को 'खरी' बोली कहकर उसका अर्थ 'प्योर' स्पीच किया।[5] इसी प्रकार जॉन प्लेट्स ने भी 'खडा' और 'खरा' मे कोई भेद न किया। 'खरा' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत के शस्त छ+क' मे कल्पित करते हुए आप कहते है कि—

1. खरा (Khara— (Perhaps शस्त+क.) adj. good. exellent, best, prime, choice, real, true, not false or counterfeit, pure, undebased, unalloyed
2. Upright, right, exact, fixed, complete, full standard, settled, valid-Khara Karra, (v. t to seprate good from bad)

---

१. हिन्दुस्तानी जबान कि जिसका जिक्र मेरे दावे में है उसको 'हिन्दी' 'उरदू' या 'रेखता' कहते हैं।—मैर्ली का थीसिस जो ६ फरवरी १८०२ को फोर्ट विलियम कालेज में पढा गया।

फोर्ट विलियम कालेज— पृ० १०६, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

(b) Glossay of India terms for the various department of the Government of East India Company, Pub· J & H, Cox Brothers, Printers for East India Company,

२. Rekthu morter, plaster. mixed dialect.
Oriental linguist. p. 105, Calcutta 1798.

३. Lalchandrika, p. 3, by G. Grierson. Government Printing, Calcutta 1896.

४. Prem Sagur p. 40 (Hertford) 1851, El. p. 40

५. A grammer of the Hindi language: p. 18 (preface to the first edition-- foot note)
—by S. H. Kellog

Khari Boli (Vulgar khari boli) pure language or idiom., coin of the true mint.

कदाचित विदेशी विद्वानो का प्रभाव था कि हिन्दी साहित्य के कलाकारो ने 'खरी' को 'खडी' का पर्याय-वाची समझ लिया। प० सुधाकर द्विवेदी ने 'सीधी बोली की राम-कहानी की भूमिका' मे कहा है कि 'हिन्दी और संस्कृत मैं र, ड, ल का अदल-बदल हुआ करता है। इसलिए खरी बोली के स्थान पर 'खडी बोली' होगई। खरी-खोटी बोलियो मे से खरी-खरी बोलियों को चुनकर 'खडीबोली' बनी है। अपनी भाषा मे भूल कर जो शब्द दूसरे आ गए हो इन्हे निकाल देने से 'खरे' शब्दों की खरीबोली हो जाती है। इसी अर्थ मे ठेठ हिन्दी भी प्रचलित है। ठेठ हिन्दी का अर्थ है 'सूखी हिन्दी', जिसमे दूसरी भाषा के रस न हों।'[1] यही 'प्रेमघन' जी ने भी तृतीय साहित्य सम्मेलन मे सभापति के पद से कहा, 'आज-कल के लोगो के इस कथन मे कुछ भी सार नही है जो 'खरी बोली' को खडी बोली लिखते और कहते है कि यह ईजादे-बन्दा है। स्व० बाबू अयोध्याप्रसाद की उत्तेजना से जिसका आरम्भ व अधिक प्रचार हुआ है।[2] अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जी ने कहा कि रेखता पुष्ट या पक्की भाषा है। समय पाकर यही हिन्दुओ मे नागरी या नगर की भाषा व 'खरी' बोली कहाने लगी।[3]

टी० ग्राहम बेली ने 'खडी बोली' शब्द के प्रयोग एव अर्थ (use and meaning of the term khari Boli) सम्बन्धित लेख मे अनेक तर्क एव प्रमाण देकर विद्वानो मे फैले हुए खरी-खरी के भ्रम को दूर करना चाहा। और अन्त में उसकी व्याख्या मे शब्द के सामान्य अर्थ 'खडा', फिर 'प्रस्तुत', 'प्रचलित' और स्थापित' निश्चित किए।[4] इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होने अन्यत्र कहा है कि, 'खरी' शब्द का ' 'अर्थ 'शुद्ध' अथवा 'जिसमे किसी का 'मिश्रण' न हुआ हो' आदि तो अवश्य माना जा सकता है और यह (शब्द) किसी भी भाषा का विशेषण भी हो सकता है।(परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि) यह किसी बोली का नाम कभी नही था चाहे वह 'गवारी' रही हो या न रही हो।[5] मौलाना अब्दुल हक ने 'खडी' और 'खरी' का फर्क तो किया किन्तु अर्थ प्राय. वही रखे अर्थात् मुरव्वजा, आममुस्तनद (स्टैण्डर्ड) जबान। और शायद जान प्लेट्स के 'वल्गर' विशेषण मे ही सकेत लेकर यह भी कह डाला कि खडी बोली के माने हिन्दु-स्तानी मे आम तौर पर गवारी बोली के है जिसे हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा जानता है। वह न कोई खास जबान है और न जबान की कोई शाखा।[6] किन्तु वशीधर विद्यालकार फिर भी 'र' और 'ड' के झमेले मे फसे रहे। उन्होने लिखा, 'खडी' का लफ्ज सस्कृत के 'खर' से बना है जिसके माने सख्त, कठोर और खुरदुरा है। जिसमे किसी तरह की नरमी और नजाकत न हो। इस 'खर' लफ्ज मे खडी बना है। खरी के माने 'सच्ची' या 'हकीकी' इसलिए होते है कि सच्ची बात अक्सर सख्त होती है।[7]

प० चन्द्रबली पाण्डेय ने 'खडी बोली' की निरुक्ति' शीर्षक लेख मे अपने मे पूर्व-स्थापित सभी मतो का तर्कपूर्ण खण्डन करते हुए कहा कि, 'खडी बोली' का अर्थ है प्रकृत, ठेठ या शुद्ध बोली। उनकी तर्क-पद्धति इस प्रकार है ·

खड़ा—

१. बिना पका, असिद्ध, कच्चा, जैसे खडा चावल

२. समूचा, पूरा जैसे, खडा चना चबाना।

---

१. A Dictionary of urdu, classicel Hindi and English by John T. Platts 1930, Oxford University Press fifth imp.

२. सीधी बोली का रामकहानी, भूमिका, पृ० ११ — सुधाकर द्विवेदी

३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जनवरी १९१३, पृ० १०६

४. हिन्दी पर फारसी का प्रभाव —पृ० १२, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

५. Vol. VIII Bulleetin of the School of Sriental Otudies 1935-37

६. उर्दू—(औरंगाबाद) जनवरी १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५३, सं० १५१-१६० लेख 'बाज गलतफहमियां'

—पं० मनोहरलाल जुत्शी

७. उर्दू (औरंगाबाद) अ[illegible]—जिल्द १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५४, सं० ४७१-४७८

—खड़ी बोली, लेख०—वशीधर विद्यालकार

पाण्डेयजी को प० सुधाकर द्विवेदी का खड़ी बोली के लिए 'सीधी बोली' शब्द-प्रयोग तो मान्य है, किन्तु ग्राहम बेली द्वारा प्रस्तुत 'टकसाली' अथवा 'प्रचलित' (करेन्ट) अर्थ से वह बिल्कुल सहमत नही हुए।[1] माताबदल जायसवाल ने चन्द्रबली पाण्डेय के 'शुद्ध' अर्थ का तो तिरस्कार कर दिया और 'प्रचलित बोली' को ही खडी बोली का सार्थक अर्थ निश्चित किया। इसके प्रमाण मे उन्होंने 'मोल्सवर्थ' के मराठी शब्दकोश से खडी, चाकरी, खडी किमत, खडी ताजीम आदि प्रयोग उद्धृत भी किए है।[2] डा० शितिकण्ठ मिश्र ने भी कहा कि, 'मौलिक प्रयोगों से इसका जो प्रचलित अर्थ निकलता है उसका रहस्य इसकी सर्वजन-सुबोधता और सरलता ही है। अतः (उनकी राय मे) ग्राहम बेली के 'प्रचलित' अर्थ को मान लेने मे किसी प्रकार की आपत्ति न होनी चाहिए।'[3]

कुछ ऐसे भी विद्वान है जिन्होने अपनी रुचि के अनुसार 'खडीबोली' भाषा मे कतिपय दोष देखे और उन दोषो को अर्थ-रूप मे 'खडी' शब्द पर आरोपित कर दिया। इन सबने शब्द-भेद से 'खड़ी' शब्द को कर्कशता, कर्णकटुता, नीरसता आदि अवगुणों का द्योतक बताया। कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी-व्याकरण मे लिखा कि, 'ब्रजभाषा के ओकारान्त रूपो से मिलान करने पर हिन्दी के आकारान्त रूप खडे जान पडते है––बुन्देलखण्ड में भी इस भाषा को ठाठ बोली (या तुर्की) भी कहते है।'[4] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी कुछ ऐसी ही कल्पना की। उन्होने कहा कि, 'ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव मे खडी-खडी लगती है, कदाचित इसी कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा।'[5] किशोरीदास वाजपेयी ने 'खडी बोली' के सम्बन्ध मे प्रकारान्तर से कामताप्रसाद गुरु की धारणा दोहरा दी। आप कहते हैं कि,'मीठा, जाता, खाता' आदि मे जो खडी पाई––आप अन्त मे देखते है वह दिल्ली के अतिरिक्त इसकी किसी भी दूसरी बोली मे न मिलेगी। ब्रज मे 'मीठ' और अवधी मे 'मीठी' चलता है, मीठी जल, मीठ पानी। इसी तरह 'जात है, खात है' आदि रूप होते है। केवल कुरुजनपद मे ही नही, यह खडी पाई आगे पजाब तक चली गई है––'मिट्ठा पाणी लावदा है।' सो, इस खडी पाई के कारण इसका नाम 'खडी बोली' बहुत ही सार्थक है।'[6]

प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी प्रभृति विद्वानों ने न तो खडी शब्द के अर्थ किए और न उस भाषा के गुण-दोषो की आलोचना की। उन्होने केवल ब्रजभाषा, अवधी आदि को 'पडी बोली' सज्ञा देकर 'खडी' नाम सार्थक माना। गुलेरी जी लिखते है कि, 'हिन्दुओ की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी बैसवाडी, अवधी, राजस्थानी और गुजराती आदि ही मे मिलती है––अर्थात 'पडी बोली' मे पाई जाती है। 'खडी-बोली' या 'पक्की बोली' या रेखता या वर्तमान हिन्दी के वर्तमान गद्य-पद्य को देखकर यह जान पडता है कि उर्दू-रचना मे फारसी-अरबी-तत्सम या तद्भवो को निकाल कर सस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई––विदेशी मुसलमानों ने आगरा, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पडी बोली को 'खडी' बनाकर लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया।'[7]

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के विचारानुसार भी, 'अठारहवी शताब्दी के अन्त मे हिन्दुओं का ध्यान दरबार

१, उर्दू का रहस्य––खडीबोली को निरुक्ति––पृ० ५९-८३
––चन्द्रबली पाण्डेय : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९९७

२. हिन्दी-अनुशीलन–– ––वर्ष ७, अंक १, भारतीय हिन्दी परिषद, पृ० ३२-३८ : खडी बोली नाम का इतिहास
––माताबदल जायसवाल

३. खडीबोली का आन्दोलन––पृष्ठ ११-११ ––डा० शितिकंठ मिश्र

४. हिन्दी व्याकरण––पाद-टिप्पणी, पृ० २५ ––कामताप्रसाद गुरु

५. हिन्दी भाषा का इतिहास––पृष्ठ ४१ ––डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९३३

६. हिन्दी-शब्दानुशासन––पृष्ठ १५ ––किशोरीदास वाजपेयी
––नागरी प्रचारिणी सभा

७. Indo Aryan and Hindi, p. 169, by S. K. Chatterjee, 1940

की परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) बोली की ओर गया। उसका नाम तो पड़ा 'खड़ीबोली' और ब्रजभाषा, अवधी आदि शेष बोलियां 'पड़ीबोली' कही जाती थी।[1]

गुलेरीजी तथा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के समान ब्रजरत्नदास ने 'खडी' नाम तो 'पडी' के वजन पर आधारित माना किन्तु उन्होने इस 'पडी' को ब्रज, अवधी आदि भाषाओं का द्योतक न मानकर रेख्ता से सम्बन्धित बताया। उन्होंने लिखा कि, 'मुसलमानो ने जब हिन्दी का साहित्य-रचना मे उपयोग करना आरभ किया तब वे उसमें अपने छोड़े हुए देशो की भाषाओं के शब्द तथा भाव आदि का भी प्रयोग करने लगे और इसलिए उन्होने इस मिश्रित भाषा का नाम 'रेख्ता' रखा, जिसका अर्थ मिली-जुली या गिरी-पडी है। ब्रजभाषा-भाषी लल्लूजीलाल ने, जो उर्दू दाँ मुशियों की सहकारिता मे काम कर रहे थे और यामनी भाषा छोड दिल्ली-आगरे की बोली मे ग्रथ-रचना कर रहे थे, थे, गिरी-पडी रेख्ते की बोली से यामनी शब्दावली निकालकर जिस भाषा मे प्रेमसागर लिखा उसे रेख्ते अर्थात् मिश्रित गिरी-पडी बोली के वजन पर खडी बोली नाम दे दिया, जो नाम उनके बाद चल पडा।[2] हा, डा० श्यामसुन्दरदास इस सम्बन्ध में कुछ अनिश्चित मत के ही रहे। उन्होने कहा, 'इसका नामकरण किसी प्रदेश के नाम पर नही है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तब 'रेख्ता' का नाम दिया। रेख्ता का अर्थ गिरता या पडता है। क्या इसी गिरी या पडी भाषा के नाम पर विरोध सूचित करने के लिए इसका नाम खडी बोली रखा गया? कुछ लोगो का कहना है कि यह 'खडी' शब्द खरी (टकसाली) का बिगडा रूप है।[3]

खडी बोली शब्द के उपर्युक्त अर्थ-निर्वाचिनो मे विद्वानों के स्थूलत चार दृष्टिकोण लक्षित होते है जिन पर क्रमशः तर्क एव प्रमाण-पुरस्सर विचार करना आवश्यक है।

खड़ी-खरी शब्द

प्रथम वर्ग के विद्वानो मे इस्टविक एव प्लेट्स ने 'खडी' और 'खरी' को समानार्थक मानकर 'खडी बोली' शब्द के 'ट्रू जेनुइन' अथवा 'प्योर' अर्थ किए है। प्लेट्स ने एक अर्थ 'वल्गर' इस्टविक से अधिक दिया है।

अब यह देखना है कि लल्लूजीलाल ने 'खडी', 'खरी' मे से किस शब्द का प्रयोग किया था? जैसा कि ग्राहम बेली ने कहा है लल्लूजीलाल ने जिस भाषा मे प्रेमसागर लिखा था उसको उन्होने स्पष्ट 'खडी बोली' कहा है। १८०३ तथा १८०५ ई० के दो प्रकाशित अपूर्ण सस्करणो मे इसका यही अक्षरीकरण रहा। ग्रथ का पूर्ण सस्करण १८१० ई० स्वय लल्लूजीलाल की देख-रेख मे मुद्रित हुआ था। उसमे भी खडी बोली शब्द ज्यो-का-त्यो बना रहा। इनके अतिरिक्त सदल मिश्र ने अपने नासिकेतोपाख्यान (१८६० ई०) तथा रामचरित्र (१८६२) लगभग दो वर्ष के अन्तरा मे लिखे थे। शब्द-प्रयोग मे उल्लेखनीय परिवर्तन यहा भी दृष्टिगत नही होता। १८१४ ई० मे विलियम प्राइस ने प्रेमसागर के आधार पर 'खडी बोली-इगलिश कोश' तैयार किया था। उसकी भूमिका मे भी 'खरी' नही, बल्कि 'खडी' का ही उपयोग हुआ है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी कारण 'खरी' का रूप लेखक या प्रकाशक की भूल से 'खडी' लिखा अथवा छप गया होता तो पन्द्रह वर्ष की अवधि में इसे कही-न-कही अवश्य शुद्ध कर दिया जाता। अतएव यह निश्चित है कि फोर्ट विलियम कालेज के भाखा-मुशी लल्लूजीलाल ने उसका नाम 'खडी बोली' ही रखा था।

शब्दार्थ एव प्रयोग की दृष्टि से भी 'खडी' और 'खरी' पर्यायवाची नही है। प्रश्न यह उठता है कि इन दोनो शब्दो को पर्यायवाची मानने की भ्रान्ति कब, कहा तथा कैसे हुई? यह तो नही कहा जा सकता कि 'ड' और 'र' के सूक्ष्म अन्तर को यूरोपियन विद्वान समझते नही थे। डा० गिलक्राइस्ट ने 'ओरिएण्टल लिग्विस्ट' के कोश मे 'खडा' और 'खरा' के पृथक-पृथक अर्थ किए है। यदि यह मान भी लिया जाय कि 'खडा' और 'खरा' को एक समझने की गलती सर्वप्रथम इस्टविक की हुई जो उसके कोश द्वारा प्लेट्स तक सक्रमित हुई तो फिर इस्टविक को यह भ्रान्ति किस प्रकार हुई? इस्टविक उर्दू के पडित थे। ईस्ट इडिया कालेज हेलबरी में हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष थे। १८४७ ई० मे हिन्दुस्तानी भाषा

---

१. Indo-Aryan and Hindi, p. 189, by S. K. Chatterjee, 1940

२. खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० १०-११ —ब्रजरत्नदास

३. हिन्दी भाषा—पृ० ३२—(पाद टिप्पणी) —डा० श्यामसुन्दरदास

का व्याकरण लिखकर ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अतएव यह कहना युक्तिसंगत न होगा कि उन्हें 'ड़' और 'र' में अन्तर नही ज्ञात था। ग्राहम बेली इस भ्रान्ति का सूत्रपात करने का समस्त दोष गार्सां द तासी पर मढ़ते हैं जिन्होंने अपने 'इस्तवार द ल लितरेत्यूर हिन्दवी एट हिन्दुस्तानी' के प्रथम सस्करण (१८३९ ई०) मे 'खडी' और 'खरी' को पर्याय माना और फिर दूसरे सस्करण (स० १८७०) में (खडी) शब्द की आवश्यकता ही न समझी।[1] किन्तु तासी साहब तो उर्दू के जबादा थे ? तो फिर ?

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो डा० गिलक्राइस्ट द्वारा खडी बोली के 'प्योर', स्टर्लिग, टंग, पर्टिक्युलर ईडियम आदि विशेषण ही प्रच्छन्न रूप से इस गलतफहमी का कारण बने। तासी साहब का sans melange de mots arbes un persans पदाश डा० गिलक्राइस्ट के nearly a total exclusion of Arabic and persian का भाषान्तर-मात्र था, और 'प्योर' को उन्होने ज्यो-का-त्यों ग्रहण कर लिया। तासी साहब की नासमझी बस इतनी ही हुई कि उन्होंने इसे 'खडी' का विशेषण न मानकर शब्द का 'अर्थ' कल्पित कर लिया। सम्भवत इस 'प्योर' को ही फिट बैठाने के लिए उन्हे 'खडी' को 'खरी' कर देना पड़ा।

तासी के बाद ईस्टविक, प्लेट्स, बेली आदि विद्वानो द्वारा प्रस्तुत विभिन्न वर्षों के लिए भी डा० गिलक्राइस्ट के 'प्योर', स्टर्लिग, आदि ईडियम शब्दो से दूर जाने की आवश्यकता नही है। डा० गिलक्राइस्ट ने प्योर, स्टर्लिग तथा 'खरा' के अनेक अर्थ बताए है, जिनमे मे कतिपय विषय की दृष्टि से उल्लेखनीय है। जैसे ·

Pure=saf (साफ) nirmal (निर्मल) clear, genuine, real.
usl (अस्ल) Khalis (खालिस) theth (ठेठ)
Sterling=standard, Genuine
Khalis (खालिस) nirala (निराला) poora (पूरा)[2]
खरा—Khura—honest, genuine.

इस्टविक ने देखा कि 'खरा' का जैनुइन 'प्योर' एव 'स्टर्लिग' मे भी विद्यमान है, अत. उन्होने pure and genuine when it "खरा" स्पष्ट करके कोश मे the true genuine language i. e. pure language खडी बोली शब्द के अर्थ-रूप मे ही दे दिए। जॉन प्लेट्स ने तासी का 'प्योर' तथा गिलक्राइस्ट का 'ईडियम' 'पर्टिक्युलर ईडियम और स्टाइल' से तो ले लिया, किन्तु ईस्टविक द्वारा कल्पित 'जैनुइन' का तिरस्कार कर दिया। इस प्रकार इन्ही तीन-चार शब्दो को लेकर बेली, चन्द्रबली पाण्डेय, जायसवाल, शितिकण्ठ मिश्र आदि विद्वानो ने अपने से पूर्व प्रतिपादित मतो की आलोचना-प्रत्यालोचना की, उनका खण्डन-मण्डन किया और अपनी-अपनी रुचि एव धारणानुसार विभिन्न अर्थ कर डाले। डा० बेली ने 'खडा' को करट तथा आस्टेब्लिश्ड आदि अर्थों का द्योतक बताया। चन्द्रबली पाण्डेय ने 'जैनुइन' या 'प्रकृत' को ही सर्वथा साधु अर्थ कहा। और माताबदल जायसवाल तथा डा० शितिकण्ठ मिश्र को डा० बेली का प्रचलित (करेन्ट) अर्थ 'खडी' की उचित व्याख्या प्रतीत हुई।

प्लेट्स द्वारा किये गए अर्थों मे 'वल्गर' शब्द भी गिलक्राइस्ट की ही देन है। डा० साहब ने प्रयोग-भेद के आधार पर हिन्दुस्तानी की तीन प्रचलित शैलिया निर्धारित की थी, जिनमे से तीसरी प्रकार की 'हिन्दवी' शैली को 'वल्गर' कहा। किन्तु स्मरण रहे, डा० गिलक्राइस्ट ने यह शब्द अपने पूर्ववर्ती इतिहासज्ञो एवं लेखको से ही सीखा था। इसके प्रमाण मे हाब्सन-जाब्सन मे दिए अनेक अवतरण उद्धृत किये जा सकते है। जब तक फारसी राज-दरबार की भाषा रही, आम बोलचाल मे व्यवहृत होने वाली तथाकथित 'हिन्दुस्तानी' या 'मूर्स' विदेशियों द्वारा 'वल्गर' कहलाती रही। किन्तु जब वही 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'उर्दू' शिष्ट एवं शिक्षित व्यक्तियों की भाषा हो गई, तब डा०

---

१. Use and meaning of the term Khari Boli. P. 717-723. Journal of the Royal Asiatic Society, Oct. 1926; T. G. Bailey, (also see—Historic de la litrature Hindo Vie et Hindoustanhie-P. IV Vol. I, Ist edition. 1839 and P 307, 2nd edition, 1870)

२. oriental Linguist—by Gilchrist, Calcutta. 1798.

गिलक्राइस्ट के ही शब्दों मे वह लेंग्वेज अथवा 'पाप्युलर स्पीच' कहलाई। हिन्दवी ही अशिक्षित (ग्रामीणो) की अभिव्यक्ति का माध्यम रह गई थी, अतएव डा० गिलक्राइस्ट ने उसे 'वलगर' हिन्दवी कह डाला। यही शब्द प्लेट्स ने 'खडी' शब्द के विशेषण रूप मे दे दिया। डा० अब्दुल हक ने 'खडी' और 'खरी' मे फर्क बताकर भी डा० गिलक्राइस्ट द्वारा प्रयुक्त स्टर्लिंग शब्द के स्टैण्डर्ड अर्थात 'आममुस्तनद' ज़बान प्रस्तुत किए।

हिन्दी साहित्य मे सुधाकर द्विवेदी आदि का 'खरी बोली' सूखी हिन्दी आदि अर्थ करने का कारण बहुत स्पष्ट है। प्रेमघन, द्विवेदी, वाजपेयीजी आदि सब साहित्यकार ब्रजभाषा-प्रेमी थे। उन दिनो 'खडी बोली बनाम ब्रजभाषा' आन्दोलन जोरों पर था, विशेष आश्चर्य नही जो उन्होने ब्रजभाषा के माधुर्य के कारण इसे खरी-खोटी अथवा सूखी हिन्दी आदि अर्थों मे प्रयुक्त किया हो। वास्तव मे ऐसे ब्रजभाषा-प्रेमियो की विचारधारा से प्रभावित होकर ही वंशीधर विद्यालकार ने 'खडी' की व्युत्पत्ति सस्कृत के 'खर' शब्द तक खीच कर उसके सख्त, कठोर और खुरदुरा अर्थ किए। यह उन्होने उसी लेख मे आगे चल कर स्पष्ट भी कर दिया है कि इसका सिर्फ यही मतलब है कि उस जबान को उस जमाने के हिन्दीदाँ ब्रजभाषा के मुकाबले मे न तो मीठी समझते थे और न उसमे वह सलाहियत थी जो ब्रजभाषा मे थी। इसका गैर-शुस्तापन और करख्तगी ब्रजभाषा के मुकाबले मे थी। लल्लूजीलाल जहा के रहने वाले थे वहा खडी के लफ्ज से वही मायने लिये जाते है। दिल्ली, आगरे के इलाको मे आज 'खडी' का लफ्ज गैरशुस्ता और कर्ख के मायने मे इस्तैमाल होता है इसलिए अगर उन्होंने इस लफ्ज को उन्ही मानो मे इस्तैमाल किया हो तो कुछ ताज्जुब की बात नही।'[1] शायद कुछ इसी करख्तगी की वजह से 'नूर-उर-लुगात' मे खडी बोली की व्याख्या इस प्रकार की गई है, 'मरदो के लबो-लहजे मे जो गुफ्तगू की जाती है उसको खडीबोली कहते है।'[2]

एक बात और। मौलाना अब्दुल हक ने खडी बोली को 'गवारी बोली' कहा है।[3] इनसे पूर्व डा० ग्रियर्सन भी अपने भाषा-सर्वे मे इसे 'गवारी बोली' के नाम से प्रचलित बता चुके थे।[4] यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस 'गवारी' शब्द का डा० गिलक्राइस्ट के 'वल्गर' शब्द से कोई सम्बन्ध नही है। क्योकि उस समय तक 'वल्गर' शब्द सामान्यतया भाषा के साथ एव 'गवारी' नही, 'अपितु प्रकृत, आमफहम, प्रसिद्ध, मशहूर' आदि अर्थो मे इस्तेमाल किया जाता था। कोलब्रुक ने 'प्राकृत' भाषा का समानार्थक अग्रेजी शब्द 'वलगर' दिया है।'[5] और गिलक्राइस्ट ने 'वलगर' के 'आम, प्रसिद्ध, प्रकट, मशहूर' आदि अर्थ दिए है।[6] वास्तव मे उनका तात्पर्य उसी बोली मे होता था जो 'ठेठ' रूप मे शिक्षित एव अशिक्षित वर्गों द्वारा आम तौर पर भावाभिव्यक्ति के लिए उपयोग मे लाई जाती थी और जिसे गाव का बच्चा-बच्चा समझता था। अतएव डा० गिलक्राइस्ट 'वलगर हिन्दी' का अर्थ केवल आम, प्रसिद्ध या मशहूर 'हिन्दवी' आदि अर्थों तक ही सीमित रखा जा सकता है।

खडी बोली के साथ 'गवारी' शब्द जोडने मे सबसे बडा हाथ मौलाना अब्दुल हक के पूर्ववर्ती उर्दू-समर्थको का है। सन् १८३७ मे 'उर्दू' सब प्रान्तो के दफ्तरो की भाषा घोषित की जा चुकी थी। जब स्कूली शिक्षा के प्रबन्ध मे भाषा का प्रश्न उठा तो वहा से भी खडी बोली को दूर रखने का जागरूक प्रयत्न किया गया। खडी बोली के विरोधियो मे सबसे प्रखर स्वर सैय्यद अहमद खा (१८१७-१८९८) का था। कहते है कि वह हिन्दी को एक 'गवारी बोली' बता

---

१. उर्दू : अप्रैल १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५४, सफा ४७१-४७८, 'खडी बोली' वशीधर विद्यालंकार
२. नूर-उल-लुगात : जिल्द ४, मौलवी नैय्यर-उल-हसन, नैय्यर प्रेस, लखनऊ १९२९ (प्र० स०)
३. उर्दू : जनवरी १९३४ (औरगाबाद) जिल्द १४, हिस्सा ५३, सफा १६०, नोट
४. Linguistic Survey of India. P. 291 Vol. 9, Part I—Grierson
५. on the sanskrit and prakrit Laguages. by H T. Colebrooke, P. 220, Asiatic Researches Vol. VIII. 1803. P 220.
६. Hindoostani philology. Vol. I, Gilchrist. 1810 see—vulgar [and also oriental Linguist, Calcutta 1798.]

कर अंग्रेजो को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते जा रहे थे।[1] उस युग के मौलवी और अन्य उर्दूदाँ 'खड़ी बोली' को किस प्रकार घृणा की दृष्टि से देखते थे और १८७९ तक 'गंवारी' विशेषण किस उदारता से खड़ी बोली के साथ प्रयुक्त होने लगा था, यह फैलन साहब के 'इगलिश हिन्दुस्तानी ला एण्ड कमर्शल डिक्शनरी (१८५८)' तथा 'ए न्यू हिन्दुस्तानी-इंगलिश डिक्शनरी' (१८७९) की भूमिका पढने से ज्ञात हो जाता है।[2] अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा संगृहीत 'खडी बोली का पद्य' नामक पुस्तक के भूमिका-लेखक फ़्रेड्रिक पिंकोट ने भी इसकी ओर सकेत किया था।[3] इधर हिन्दी साहित्य में भी 'खडीबोली बनाम ब्रजभाषा आन्दोलन' चल चुका था और ब्रजभाषा-प्रेमियों का एक दल इसे 'डाकिनी, पिशाचिनी, त्रास, भद्दी बोली, बाजारू भाषा' आदि कहकर तिरस्कृत कर रहा था। खड़ीबोली-विरोध के ऐसे युग तथा ऐसी परम्परा मे डा० ग्रियर्सन एव मौलाना अब्दुल हक आदि का 'खडी बोली' को 'गवारी' का पर्यायवाची कह डालना कुछ आश्चर्यजनक नही प्रतीत होता।

निष्कर्ष—सत्य तो यह है कि लल्लूजीलाल, सदलमिश्र, डा० गिलक्राइस्ट आदि किसी ने भी दिल्ली-आगरा की इस बोली के लिए 'खडी' शब्द का उपयोग उपर्युक्त अर्थों में से किसी मे किया नही था। १८५० तक जितने भी हिन्दुस्तानी-इगलिश कोश प्रकाशित हुए, किसी में खडी बोली का उल्लेख तक नही मिलता। टेलर-हंटर कृत 'हिन्दुस्तानी एण्ड इगलिश डिक्शनरी' (१८०८), डब्ल्यू० सी० स्मिथ की 'ए डिक्शनरी हिन्दुस्तानी एण्ड इग्लिश' (संक्षिप्त १८२०); टाम्पसन की 'ए डिकशनरी उर्दू एण्ड इंगलिश' (१८३८) तथा डन्कन फोर्ब्स की 'डिक्शनरी हिन्दुस्तानी एण्ड इगलिश' (१८४८) आदि अधिकाश कोशों की भूमिका मे उन ग्रन्थों के नाम गिनाये गए हैं जिनके आधार पर वे कोश तैयार किये गए थे। लगभग सभी मे 'प्रेमसागर' का उल्लेख मिलता है। किन्तु इन कोशों मे 'खडा', 'खरा' और 'खरी' के अर्थ केवल शब्दों के अर्थों तक सीमित है। टाम्सन एवं डन्कन फोर्ब्स ने अपनी डिक्शनरी मे 'ब्रजभाषा' के अर्थ तो दिए हैं किन्तु 'खडी बोली' के अर्थ नही दिए। यही नही लैफ्टिनेन्ट विलियम प्राइस ने केवल 'प्रेमसागर' में प्रयुक्त महत्त्वपूर्ण शब्दो के आधार पर एक 'खडी बोली' और इगलिश कोश (१८१४) तैयार किया था। इसकी भूमिका मे कोशकर्ता ने 'खडी बोली' शब्द का उल्लेख तो किया है, किन्तु कोश मे इसका अर्थ कहीं नही दिया। अन्य कोशो की तरह खरी-खडी का शाब्दिक अर्थ 'मिट्टी' ही दिया गया है। टेलर, रोएबक, रडैल, विलियम प्राइस आदि परवर्ती हिन्दुस्तानी-अध्यक्ष एव परीक्षको ने खडी बोली के लिए 'ठेठ हिन्दवी' या 'हिन्दी' नाम का व्यवहार भी किया है।[4] यह 'ठेठ' भी डा० गिलक्राइस्ट के 'प्योर, स्टर्लिंग' आदि शब्दो की तरह 'खडी बोली' का विशेषण-मात्र था, खडी शब्द की व्याख्या नही। और ये विशेषण केवल उसके प्रकृत तथा जन-प्रचलित स्वरूप एव सुगमता आदि गुणो की ओर सकेत करते है।

प० कामताप्रसाद गुरु, डा० धीरेन्द्र वर्मा, प० किशोरीदास वाजपेयी आदि द्वितीय वर्ग के विद्वान 'खड़ी बोली' की आकारान्त प्रवृत्ति को ब्रजभाषा की ओकार-बहुला वृत्ति की तुलना मे कर्णकटु एव नीरस समझते है। उनकी धारणा है कि 'खडी' शब्द इस बोली के उल्लिखित अवगुणो का सूचक है। तात्पर्य यह है कि ये लोग भी प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एव डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति भाषाविज्ञों के समान 'खडी' नाम ब्रजभाषा-सापेक्ष्य ही कल्पित करते है। अन्तर केवल इतना है कि प० कामताप्रसाद, डा० वर्मा आदि इस 'खडी' को माधुर्य-गुणविहीन कल्पित करते हैं और

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४३३

२. (a) Dissertation-p. 19. An English Hindustani law and commercial Dictionary or words and Phrases—S. W. Fallon. Calcutta. 1858.

३. (b) Preface 3. A new Hindustani English Dictionary with and foiklore, Banaras. by S. W.Fallon. 1879.

४. J. Roebuck (examiner) An address to the Council pf. College of Fort Willian (16th Nov, 1812) P. 282-291, home Miscellaneous. Vol, IV.

डा० सुनीतिकुमार तथा गुलेरीजी आदि ब्रज, अवधी जैसी प्रान्तीय भाषाओं को 'पडी बोली' अभिहित कर 'खड़ी' नाम की सार्थकता बताते है।

किन्तु वस्तुस्थिति को देखते हुए 'खडी बोली' को ब्रज-सापेक्ष्य भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, जिसके अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम 'प्रेमसागर' की भाषा पर ही दृष्टिपात कीजिए। बोली के नाम-दाता लल्लूजीलाल ने अपना प्रेम-सागर चतुर्भुज मिश्र-कृत ब्रजभाषा काव्य से खडी बोली मे गद्यान्तरित किया था। उपर्युक्त भाषा-मनीषियों की धारणा-नुसार लल्लूजीलाल को खडी बोली के प्रकृत स्वरूप को दृष्टि मे रखते हुए ब्रजभाषा के सज्ञा, सविभक्तिक सर्वनाम, अव्यय, क्रियापद आदि प्रयोगो का बहिष्कार अभीष्ट होना चाहिए था, किन्तु लेखक ने डा० गिलक्राइस्ट के आदेशा-नुसार केवल 'यामिनी भाषा न आने देने' पर ही ध्यान जमाए रखा। कदाचित इसीलिए प्रेमसागर की भाषा अनेक स्थलो पर अत्यधिक 'ब्रजरजित' है।

'वहा जाय देखे तो चित्रशाला मे उजला बिछौना बिछा है। उस पर एक फूलो से सवारी अच्छी सेज बिछी है। किसी पर हरि जा बिराजे और कुबजा एक ओर मन्दिर मे जाय उबटन लगाय, न्हाय-धोय, कघी-चोटी कर, सुथरे कपडा गहने पहर आपको नख-सिख से सिगार कर, पान खाय, सुगन्ध लगाय, ऐसे रोव-चाव से श्रीकृष्णचन्द्र के निकट आई कि जैसे रति अपने पति के पास आई होय।'[1] उपर्युक्त उद्धरण मे 'जाय, तिसी, लगाय, धोय, होय' आदि प्रयोग द्रष्टव्य है।

दूसरे यदि डा० गिलक्राइस्ट का उद्देश्य इसे ब्रजभाषा से पृथक करना होता तो वे 'यामिनी भाषा छोडने' का आदेश न देकर ब्रजभाषा छोडने का आग्रह करते। लालचन्द्रिका की भूमिका मे लल्लूजीलाल ने रेखते की बोली, ब्रज-भाषा और खडी बोली तीन भाषाओ का उल्लेख किया है। ब्रजभाषा-सापेक्ष होने पर केवल दो ही नामो का उल्लेख पर्याप्त होता। तीसरे भाखा-मुशियो द्वारा रचित माधोनल कामकन्दला, शकुन्तला, सिहासनबत्तीसी और बैताल पच्चीसी आदि ग्रथों का ही अध्ययन पर्याप्त समझकर डा० गिलक्राइस्ट फोर्ट विलियम कालेज मे भाषा-मुशियो की नियुक्ति की माग पेश न करते। क्योकि इन रचनाओ की भाषा प्रेमसागर की खडी बोली से कही अधिक स्वच्छ एव परिमार्जित है। उदाहरणार्थ, बैतालपचीसी की कुछ पक्तिया देखिए ·

१ 'इसके एक धोबी की लडकी अति सुन्दरी आती साम्हने से इसने देखी। उसे देख मोहित हुआ और देवी के दरशन को गया। दडवत कर हाथ जोड उसने अपने मन मे कहा, 'हे देवी, जो इस सुन्दरी से मेरा विवाह तेरी कृपा से हो तो मै अपना सिर तुझे चढ़ाऊ।'—छठी कहानी

२. 'तब मनस्वी बोला, 'ससार मे भगवान ने बहुत रत्न पैदा किए है पर स्त्री-रत्न सबसे उत्तम है। और उसी के लिए मनुष्य धन की इच्छा करते है। जब नारी को त्यागा तो धन लेके क्या करेंगे, जिनको हसीन औरत मुय-स्सर न हो उनसे ससार मे पशु भले है। धर्म का फल है धन, और धन का फल है सुख; और सुख का फल है नारी।'[2]
—बैताल पच्चीसी, चौदहवी कहानी।

खडी बोली व्याकरण की दृष्टि से इनमे कोई दोष नही है। हा हसीन, मुयस्सर, गरज, इत्तिफाक आदि यामिनी शब्द आ गए है। इन्ही पर डा० गिलक्राइस्ट को आपत्ति हुई। क्योकि उनका विचार तो यह था कि खडी बोली ब्रजभाषा का माडिफिकेशन (सशोधित रूप) मात्र है।[3] और खाय, बुलाय, चलाय अथवा बिनका, परखा, पुनि भई आदि शब्दो का सन्निवेश हो जाना स्वाभाविक है। अन्यथा प्रेमसागर की ब्रजरजित भाषा को फोर्ट विलियम कालेज के विद्यार्थियो की पाठ्य-पुस्तक के रूप मे कदापि स्वीकार न किया जाता।

इसके अतिरिक्त खडी बोली और हिन्दुस्तानी (उर्दू) का उदाहरण डा० गिलक्राइस्ट ने अपने 'पालिग्लौट

---

१. प्रेमसागर : ४९वां अध्याय, पृ० १५८; ब्रजरत्नदास

२. Hindi and Hindoostanee Selections—Vol I, William Price.
(बेताल-पच्चीसी–P. 33. 51) Hindoostani Press, 1827

३. Orient

फैव्यूलिस्ट' में दिया है। जिस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात हो जायगा कि अरबी-फारसी बहिष्कृत भाषा को ही वे खडी बोली कहते थे—

खड़ी बोली

'एक समय किसी नगर मे चर्चा फैली कि उसके पडोस के पहाड को प्रसूति की पीर हुई। और कहते है कि अति आह कर कराहने का शब्द उसमे सुना जाता था। और सब की ध्यान उसी पर थी कि कुछ अनूठी वस्तु छिन एक मे प्रसिद्ध होगी। अधिक चाओ से लोगो की भीड उस नये कौतुक के देखने को इकट्ठी थी। एक तो तक रहा था कि कोई देवयत जनेगा, दूसरा इस बात पर कि कोई अद्भुत राक्षस होगा।'

हिंदुस्तानी

'एक बार किसी शहर मे यू शुहरत हुई कि उसके नजदीक के पहाड को जनने का दर्द उठा। और कहते है कि बहुत आह-औ-नाले की आवाज उससे सुनी जाती थी। और सब किसी पर नजर थी कि कुछ अनूठी चीज अनकरीब जाहिर होगी। बडे शौक से आदमियो की भीड उस अजायब तमाशा देखने जमा थी। एक तो मुन्तजिर था कि कोई देव पैदा होगा। दूसरा इस बात पर कि कोई अनोखा राकस होगा।'[1]

वास्तव मे यही 'रेखता' अर्थात् हिन्दुस्तानी तथा हिन्दवी यानी खडी बोली मे अन्तर भी था। और कदाचित इसी आधार पर उन्होने 'रेखता' को मिश्रित (मिक्सड) बोली और हिन्दवी को शुद्ध (प्योर) कहा था। यही नही, फैलन और देवीप्रसाद आदि ने भी अपने निबन्ध एव व्याकरण आदि मे जो उदाहरण प्रस्तुत किए है उनमे हिन्दुस्तानी और हिन्दी का अन्तर अरबी-फारसी आदि विदेशी शब्दो के प्रयोगो द्वारा ही स्पष्ट किया गया है। फैलन अपने निबन्ध मे हिन्दी की मौलिक क्रियाओ का उल्लेख करते हुए कहते है कि 'प्रश्न किया जा सकता है कि अरबी के' हासिल करना, मनकलीब करना, मुतगयार करना, फतेह, गैरमुमकिन, नामुकम्मल आदि हिन्दी के अधिक परिचित क्रियापदो पाना, पलटना, बदलना, जीत, अनहोनी, अधूरा आदि से किस प्रकार अच्छे है?[2] इसी प्रकार के उदाहरण देवीप्रसाद ने भी अपने व्याकरण मे दिए है

उर्दू—तुम्हारे उस्ताद के नजदीक पढने आया हू।

हिन्दी—तुम्हारे गुरु के समीप अध्ययन करणे आया हो।

उर्दू—मौलवी साहब घर मे है या ना? किस तरह खबर पावे कि मै मुलाकात को आया हू उनकी।

हिन्दी—मलोवि साहब घर मे है कै नही? कसि भाति सवाद पावे कि मे साक्षात को आया हो।[3]

सम्भवत इसीको देखकर डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि—'वे महोदय (डा० गिलक्राइस्ट) अरबी-फारसी हटाकर और उनके स्थान पर हिन्दी-शब्द भरती करवा कर एक उर्दू की ही किताब लिखवाना चाहते थे।'[4] और जैसा कि खडी बोली की व्युत्पत्ति के प्रकरण मे दिखाया भी जा चुका है। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी-अध्यक्ष बहुत समय तक हिन्दुस्तानी के ज्ञान के लिए ब्रजभाषा-व्याकरण का अध्ययन ही पर्याप्त समझते रहे थे। परिणामस्वरूप 'मै मार्यो जातो हो' ओकारान्त वाक्य एव 'मै मारा जाता हू'—आकारान्त वाक्य मे विशेष अन्तर नही देखा। अतएव यह कहना कि ब्रजभाषा की ओकारान्त प्रवृत्ति की तुलना मे आकारान्त प्रवृत्ति तथा ब्रजभाषा के माधुर्य एव कोमलता आदि गुणो की समता मे कर्कशता-परुषता जैसे अवगुणों के कारण खडी बोली नाम दिया गया, यह कल्पना निस्सार प्रतीत होती है।

---

१. An English Hindoostani Law and Commercial dictionary of words and Phrases. P. 15. Dissertation–S. W. Fallon. Calcutta. 1858

२. Debi Prasads Polyglot grammer and exercises. P 59. (in persian) English Arabic, Hindee, Oordoo and Bengali). Calcutta 1854.

३. The Satsaiy of Bihari P. 12. (Lal Candrika)—Grierson.

४. The Satsaiy of Bihari P. 12. (Lal Candrika)—Grierson.

तब फिर विचारणीय प्रश्न यह कि खडी बोली को ब्रजभाषा-सापेक्ष मानने की धारणा किन कारणो से बद्धमूल हुई ? जैसा कि प० चन्द्रबली पाण्डेय ने स्पष्ट ही कहा है इसका कारण ब्रजभाषा और खडी बोली का द्वन्द्व था।[1] भारतेन्दु-काल मे जिस समय खडी बोली को काव्य का माध्यम स्वीकृत करने का प्रश्न उठा, तब ब्रजभाषा के कुछ प्रेमी केवल लालित्य के परिरक्षण के लिए ब्रजभाषा को हिन्दी साहित्य मे बनाये रखने के पक्षपाती रहे। प्रतापनारायण मिश्र, शिवनाथ शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि कवि-आलोचक ब्रजभाषा की रसपूर्णता के समक्ष खडी बोली को काव्यभाषा बनाना युग का दुराग्रह-मात्र समझते थे।

इसके अतिरिक्त इन तथाकथित गुण-अवगुणो का आरोप 'खडी' शब्द पर किसी प्रकार नही किया जा सकता; क्योकि यह आन्दोलन खडी बोली नामकरण के लगभग पचहत्तर वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ था। यहा यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्रज-अवधी आदि प्रान्तीय भाषाओ का नाम कभी भी 'पडी बोलिया' नही रहा। अतएव डा० सुनीतिकुमार, प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि की तद्विषयक धारणा मे कोई बल नही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष स्पष्ट निकलता है कि प्रेमसागर ब्रजभाषा से नही, अपितु 'हिन्दुस्तानी' या 'रेख्ता' से पृथक करने के लिए रचा गया था। जो शब्द-भेद से ब्रजरत्नदास के 'रेख्ता' के वजन पर 'खडी बोली' नामकरण मत का समर्थन करता है।[2]

इस सम्बन्ध मे कुछ कहने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि किसी भाषा के नामकरण का प्राय. क्या आधार होता है ? ससार की विभिन्न भाषाओ के नामो पर दृष्टिपात करने से भाषा-नामकरण के तीन आधार लक्षित होते है ·

(१) भाषा का नाम—जाति अथवा देशपरक होता है। जैसे ग्रीक, जर्मन, इगलिश, इटैलियन, मराठी, गुजराती, ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि।

(२) भाषा का नाम गुणपरक हो सकता है। जैसे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि।

(३) भाषा का नाम किसी भाषा के वजन पर भी रख दिया जाता है। जैसे पिगल के वजन पर डिगल।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है और डा० श्यामसुन्दरदास ने भी कहा है 'खडी' शब्द किसी स्थान, देश अथवा जाति का द्योतक नही है। यह शब्द किसी प्रकार के गुण या अवगुण पर भी प्रकाश नही डालता। अत अब एक ही सम्भावना शेष रह जाती है कि 'खडी' नाम किसी प्रचलित बोली के नाम के वजन पर रखा गया। बाबू ब्रजरत्नदास का कहना है—'खडी' नाम रेखता अथवा गिरी-पडी अर्थों के वजन पर रखा गया होगा। वास्तव मे यही एक कारण हो भी सकता है क्योकि रेख्ता शब्द से पृथक करने के लिए ही 'खडी बोली' नये नाम की आवश्यकता पडी थी और गिलक्राइस्ट ने अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा से विदेशी शब्दो के बहिष्कार द्वारा खडी बोली का प्रकृत स्वरूप निश्चित किया था। रेख्ता शब्द की अर्थगत व्याख्या इस मत को और पुष्ट कर देती है। मुहम्मद हुसेन आजाद ने 'आबेहयात' मे रेख्ता शब्द के अर्थ इस प्रकार दिए है .

'रेख्ता के माने है गिरी, पडी, परीशान चीज। क्योकि इसमे लफ्जे-परीशान जमा है इसलिए इसे रेखता कहते है। यही सबब है कि इसमे अरबी-फारसी-तुर्की वगैरह कई जबानो के अल्फाज शामिल है और अब अगरेजी भी दाखिल होती है।'[3]

'फरहगे आसफिया' मे इसकी पहली सिफत गिरा हुआ और बिखरा हुआ बताई गई है।[4] 'नूर-उल-लुगात' मे भी मुहम्मद हुसैन आजाद की बात ही दोहरा दी गई है, अर्थात् 'रेख्ता के माने है गिरी, पडी, परीशान चीज। क्योकि

---

१. उर्दू का रहस्य—पृष्ठ ६६, खड़ी बोली की निरुक्ति —चन्द्रबली पाण्डेय

२. खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १०-११ —ब्रजरत्नदास

३. आबेहयात, सफा, २१, मुहम्मद हुसैन आजाद, आजाद बुक डिपो, लाहौर

४. रेख्ता—सिफ्त—१. गिरा हुआ, चकोदा, टपका हुआ, बेसाख्ता, निकला हुआ, जिला तक्लीफ या बिला तसनीह, जबान से निकला हुआ।
२. जिसका हुआ, मुन्तशिर, परेशान।

उस जबान मे अरबी-फारसी, तुर्की वगैरह कई जबानों के अल्फ़ाज शामिल हैं इसलिए रेख्ता कहलाती है।'[1] सैयद एहतिशाम हुसैन ने भी 'रेख्ता' का अर्थ मिला-जुला, गिरा-पडा या पक्का दिया है।[2] फ्रांसिस जानसन तथा स्टेन गैस के फारसी-अंग्रेजी शब्दकोशो मे रेखता की व्युत्पत्ति फारसी के रेख्त' से बताकर उसके अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं।

रेख्ता—रेख्त: = Poured, spilled, scattered, a mass made by spilling anything.

जबाने रेख्ता = a gibberish, a mixed language-name given to Hindustani language.[3]

रेख्ता के उपर्युक्त अर्थों से जो 'गिरी-पडी' अर्थ निकलता है वह 'खडी' शब्द के नामकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। लल्लूजीलाल को 'खड़ी' नाम देने का स्फुरण सम्भवतः रेख्ता के गिरी-पड़ी अर्थ के वज़न ही हुआ था।

खडी बोली की व्युत्पत्ति एव अर्थों से सम्बन्धित विभिन्न मतों एव व्याख्याओं की युक्ति-युक्त मीमांसा करने के उपरान्त साराशत कहा जा सकता है कि लल्लूजीलाल-कृत प्रेमसागर से पूर्व 'खडी बोली' शब्द का प्रयोग यद्यपि हिन्दी साहित्य के किसी ग्रथ मे उपलब्ध नही होता, तथापि निश्चित है कि यह बोली भारत मे स्थान एव स्वरूप-भेद से हिन्दवी, हिन्दुई, रेख्ता, हिन्दुस्तानी आदि अनेक नामो से प्रचलित थी। मुसलमान जाति से शताब्दियो तक सम्पर्क मे आने के कारण इस बोली में शनैः-शनै. अरबी-फारसी आदि विदेशी शब्दो का सन्निवेश होता गया। अठारहवी शती के अन्त तक यह मिश्रित भाषा शिष्ट एव शिक्षित जनसमुदाय की अभिव्यक्ति का माध्यम हो चुकी थी। किन्तु इसका ठेठ रूप दिल्ली-मेरठ और उसके आसपास के गांवो मे तब भी बोला जाता था। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी डा० गिलक्राइस्ट ने रेख्ता या हिन्दुस्तानी की इसी आधारभूत बोली मे लल्लूजीलाल को प्रेमसागर तथा सदल मिश्र को नासिकेतोपाख्यान लिखने का आदेश दिया था। इसका मिश्रित रूप उर्दू-काव्य की तरह हिन्दी-काव्य में भी प्रयुक्त होता था और दोनो शैलियो मे यह 'रेख्ता' नाम से ही जानी जाती थी। इस रेख्ता नाम का एक तो हिन्दी साहित्य मे पर्याप्त प्रचार न था, दूसरे फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष और विद्यार्थी इसे उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के पर्याय में प्रयुक्त करते थे, इसलिए लल्लूजीलाल ने उसी 'रेख्ता' शब्द के गिरी-पडी अर्थ के वजन पर अरबी-फारसी युक्त इस बोली को 'खडी' नाम दे दिया। और पिगल के वज़न पर निर्मित शब्द 'डिंगल' की जिस तरह परवर्ती काव्य मे अनेकानेक व्याख्याए की गई उसी प्रकार 'खडी बोली' शब्द के भी विभिन्न अर्थ कर डाले गए। गिलक्राइस्ट महोदय ने खडी बोली भाषा के लिए जितने विशेषणपरक शब्दों का इस्तेमाल किया था, परवर्ती विद्वानो ने उन्ही विशेषणों के आधार पर 'खडी' शब्द के अर्थ घटित कर लिये। वस्तुत उन अर्थों से इस शब्द (खडी बोली) का कोई सम्बन्ध न था।

१. नूर-उल-लगात—मौलवी नैय्यर—उल-हसन, नैय्यर प्रेस लखनऊ, १६२६ प्रथम संस्करण

२. उर्दू साहित्य का इतिहास पृ० ६२, सैयद एहतिशाम हुसैन, अनजुमन तरक्काए उर्दू (हिन्दी) अलीगढ़।

३. (a) A Dictionary Perrsian, Rrabia and English-Francis Johnson.

(b) Persian English Dictionary, F. Steingass Kengan Paul Trench Trubner & Co., London (3rd inp.)

खड़ी बोली का ब्रजभाषाकरण

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

आधुनिक बोलचाल की ब्रजभाषा पर स्टैण्डर्ड हिन्दी का प्रभाव दिन-दिन बढता जाता है। व्याकरण-रूप, शब्द-समूह, यहा तक कि वाक्य-विन्यास मे भी इस प्रभाव की छाया देखी जा सकती है। पर इस प्रभाव का एक दूसरा ही रूप वहा द्रष्टव्य है जहा शिक्षित वर्ग की बोली मे स्वत स्टैण्डर्ड हिन्दी अथवा खडी बोली का ब्रजभाषाकरण हो जाता है। खडी बोली के ब्रजभाषाकरण से तात्पर्य यह है कि स्टैण्डर्ड हिन्दी के शब्द-रूपो और प्रयोगो का ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक और व्याकरणगत प्रकृति के अनुकूल प्रयोग। आगरा जिले की बोली के जो नमूने लेखक ने एकत्र किए है उनसे स्पष्ट पता चलता है कि इस क्षेत्र के काफी शिक्षित और सस्कृत लोग अब भी आपस की बोलचाल मे ब्रजभाषा का प्रयोग करना पसन्द करते है, पर उनके भाव आधुनिक चितन मे सम्बद्ध है, जिन्हे ठेठ ब्रजभाषा मे समुचित रूप से अभिव्यक्त नही किया जा सकता। इसका फल यह होता है कि वक्ता के विचार तो स्टैण्डर्ड हिन्दी की शैली से लिये होते हैं, पर उन्हे ब्रजभाषा मे ढाला जाता है। कही-कही तो लगभग स्टैण्डर्ड हिन्दी के शब्द-प्रयोगों और मुहावरों का ब्रज-भाषा मे अनुवाद-सा कर दिया जाता है। ऐसे उदाहरण भी मिले है जहा अग्रेजी के वाक्य-विन्यास और लहजे को अप-नाने का बिना सजग हुए प्रयास किया गया है।

भाषा काफी हद तक वक्ता की सवेदना को नियमित और निर्धारित करती है। इस दृष्टि मे ठेठ ब्रजभाषा बोलने वाले की सवेदना आधुनिक सदर्भ मे सीमित और सकीर्ण ही कही जायगी। शिक्षित लोग जब आपस मे ब्रजभाषा का प्रयोग करते है तो उनकी सवेदना और भाषा-गत रूप मे तारतम्य नही दिखाई देता। उनकी सवेदना अपेक्षाकृत विकसित है, जिसे ब्रजभाषा कदाचित ठीक-ठीक वहन नही कर पाती। फलत. वे अपने बिचारो की अभिव्यक्ति के लिए कभी-कभी स्टैण्डर्ड हिन्दी का ब्रजभाषाकरण करते है।

ब्रजभाषाकरण की यह प्रवृत्ति मुख्यत दो रूपो मे देखी जा सकती है। एक तो स्टैण्डर्ड हिन्दी के शब्दो को लेकर उनका व्याकरण-सम्बन्धी परिवर्तन ब्रजभाषा के नियमानुसार करना, और दूसरे उन शब्दो का उच्चारण ब्रज-भाषा की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल करना। स्पष्ट ही यह ब्रजभाषाकरण शब्द-प्रयोगो के क्षेत्र मे ही सीमित है। पर कही-कही मुहावरो और शैली मे भी परिलक्षित होता है। नीचे इस ब्रजभाषाकरण के कुछ उदाहरण दिए जा रहे है

१ **सत्याग्रहन् कों जोर हें**—इस वाक्य मे स्टैण्डर्ड हिन्दी के शब्द **सत्याग्रह** को लेकर उसका बहुवचन ब्रजभाषा के नियम से बनाया गया है।

२. **प्रस्तावनि में प्रस्ताव धरे हें**—इस वाक्य मे भी **प्रस्ताव** शब्द का बहुवचन ब्रजभाषा के अनुसार है।

३. **हमऊँ उनिकी बातन् सें प्रभावित भए**—इस वाक्य मे सयुक्त क्रिया मूलत: स्टैण्डर्ड हिन्दी की है। पर **प्रभावित हुए** के स्थान पर **प्रभावित** भए करके प्रयोग का ब्रजभाषाकरण किया गया है।

४. **ब्यौंसाय कछु हें नांए**—खडी बोली की सज्ञा **व्यवसाय** मे आदि स्वर **अ** को ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक प्रकृति के अनुकूल **औं** (व्य. ब्यौं) कर लिया गया है। ब्रज मे पहले भी सस्कृत-तत्सम **व्यापार से ब्यौंपार** या **ब्यौंपारी जैसे** शब्द मिलते है। पर **ब्यौंसाय** अपेक्षाकृत आधुनिक जान पडता है।

५. **आंबोलननि कों इतिहास बताउत हैं**—इस वाक्य के प्रथम शब्द मे बहुवचन के लिए ब्रजभाषा का नियम तो अपनाया ही गया है, पर उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्टैण्डर्ड हिन्दी के एक विशिष्ट शैलीगत प्रयोग **'बताता है'** का **'बताउत हैं'** करके ब्रजभाषाकरण किया गया है। इस प्रकार के प्रयोगो मे परसर्ग तथा क्रिया-सम्बन्धी रूप आदि ही ब्रजभाषा के रह जाते है, मूल भाव स्पष्टत खडी बोली का दिखाई देता है।

ब्रजभाषा के एक अत्यन्त सफल आधुनिक कवि ने एक स्थल पर कहा है—**'पूछें अतो पतो'**। यहा पर खडी बोली के मुहावरे को ब्रजभाषापन दिया गया है। साथ ही **'अता पता'** बदलकर उसका ओकारात ब्रज रूप **अतो पतो** कर दिया गया है। ऐसे प्रयोग बोलचाल की भाषा मे भी मिल जाते है। इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि ब्रजभाषाकरण की यह प्रवृत्ति शिक्षितो की परस्पर बातचीत मे ही विशेषतः मिलती है। किसी अशिक्षित ग्रामीण से बात करते समय शिक्षित ब्रजभाषी अपनी बोली मे अपेक्षाकृत ठेठ शब्दो के प्रयोग की अधिक चिता करता है।
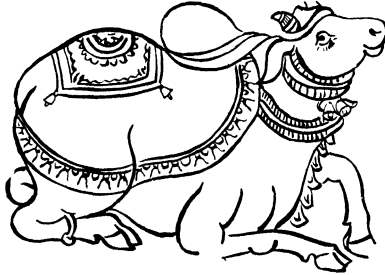
भाषा-ध्वनि-विज्ञान का मूल तत्त्व

डा० सिद्धेश्वर वर्मा

वर्तमान युग मे विज्ञान का इतना विस्तार हो गया है कि एक ही घटना के विषयक अनेक विज्ञान उत्पन्न हो रहे है। इस लेख का प्रयोजन केवल मानव-भाषा की ध्वनियो तक सकुचित रहेगा। प्राचीन भारत मे भाषा-ध्वनि-विज्ञान का नाम 'शिक्षा' था। यह नाम क्यो रखा गया ? इसका उत्तर एक प्राचीन ग्रथ **'शिक्षापंजिका'** मे दिया गया है—'शिक्षा वह है जिसके द्वारा वर्णोच्चारण सिखाया जाता है' (देखिए मनमोहन घोष-कृत 'पाणिनीय शिक्षा', पृष्ठ ४)। इस व्याख्या का आधार सस्कृत धातु 'शिक्ष्' है, जिसका अर्थ पाणिनीय धातुपाठ मे 'विद्या ग्रहण करना' बताया गया है। स्वभावत· विद्या-ग्रहण का प्रारम्भ वर्णोच्चारण से ही होता है। अत शिक्षा का प्रयोजन विशेष रूप मे निम्नलिखित स्थलो से प्रतीत होगा

(१) 'शिक्षा वह है जिसका प्रयोजन वर्णोच्चारण का ऐसा विशिष्ट ज्ञान है जिसमे उदात्तादि स्वर और ह्रस्वादिमात्रा भी सम्मिलित हो' (देखिए, मधुसूदन सरस्वती, वेबर-कृत 'भारतीय अध्ययन' और इण्डिश स्टूडीन Indische Studien, खड १, पृष्ठ १६ मे उद्धृत)।

(२) 'शिक्षा वह है जिसमे वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण-प्रकार का उपदेश किया जाता है' (सायण ऋग्वेद-भाष्यभूमिका मे घोष-कृत पाणिनीय शिक्षा XXIX मे उद्धृत)।

यद्यपि शिक्षा के उपरोक्त लक्षण पर्याप्त व्यापक है तो भी वर्तमान युग की आवश्यकताओ के दृष्टिकोण से न तो इतने स्पष्ट है, और न इतना विस्तार जतलाते है। भाषा-ध्वनि-विज्ञान का लक्षण वेब्स्टर के अंग्रेजी कोष मे बडा सन्तोषजनक है, और वह यह है·

'ध्वनि-विज्ञान भाषाश रूप से गृहीत वर्णों का वह विज्ञान है जिसमे निम्न विचार किए जाते है (१) उच्चारण-यत्न द्वारा वर्णों की उत्पत्ति, (२) वर्णो का श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण, (३) वर्णों की विशेषताए जैसे मात्रा, स्वर, बल, श्राव्यता तथा समीपस्थ ध्वनियों द्वारा उसकी विकृति; (४) भाषा के वर्ण-विन्यासादि अन्य पक्षो के साथ उनका सम्बन्ध।' इस लक्षण को देखते ही पहले तो इसकी सर्वांगीणता स्पष्ट प्रतीत होती है, क्योकि पहले तो यह वक्ता और श्रोता दोनो के पक्ष को सम्मुख रखता है और फिर वर्णों का लिखित हिज्जो के साथ सम्बन्ध भी जतलाता है। दूसरे शब्दो मे यह लक्षण ध्वनि-विज्ञान का सारा प्रोग्राम हमारे आगे रख देता है।

ऊपर दर्शाया गया है कि इस लेख का विषय मानव-भाषा की ध्वनियो तक ही सकुचित होगा। परन्तु यहा कुछ और भी सकोच करना होगा। प्राचीन वैदिक ग्रथ तैत्तिरीय सहिता (५।१।६) मे भाषा को प्राण का उच्चतम रूप बताया गया है, और इसी भाव को अधिक विस्तृत रूप से वेब्स्टर ने अपने कोष मे ऐसे प्रकट किया है— 'भाषा उस श्वास अथवा नाद का नाम है जो जिह्वा-अवयवों की गति द्वारा वर्णों के रूप मे प्रकटित और उद्‌गारित किया जाता है।' परन्तु ये दोनो लक्षण भाषा का आभ्यन्तर और चरम तत्त्व जतलाते है, क्योकि अन्तत श्वास और नाद ही भाषा के मूल तत्त्व है। किन्तु भाषा का बाह्य रूप भी जानना आवश्यक है। इस पक्ष को प्रसिद्ध ध्वनि-विज्ञ प्रोफैसर डेनियल जोन्ज़ अपने ग्रंथ 'वर्णत्व' (फ़ोनीम) १६५०, पृष्ठ १ मे भाषा का निरूपण इस प्रकार करते है—'भाषा स्वरयन्त्र, मुख,

नासिका आदि द्वारा उन विविध शोरों (नोइज़िज़) के उच्चारण का नाम है, जिन्हें मानव-समाज ने विशिष्ट अर्थों का सांकेतिक प्रतीक मान लिया है। इस सारगर्भित वचन में भाषा का मूल तत्त्व वे क्रमरहित ध्वनिया बताई गई है जो किसी समाज मे क्रमिक और सहित शब्द बनकर उस समाज के व्यावहारिक सकेत द्वारा अर्थ-विशेष का बोध कराती हैं। 'हिन्दीशब्दसागर' मे भी कुछ इसी प्रकार का लक्षण किया गया है–– 'भाषा व्यक्त नाद की वह समष्टि है जिसकी सहायता से किसी एक समाज या देश के लोग अपने मनोगत भाव तथा विचार एक-दूसरे पर प्रकट करते हैं।' परन्तु यहा भाषा को 'नाद की समष्टि' श्रोता के दृष्टिकोण से कहा गया है, परन्तु वक्ता के दृष्टिकोण से भाषा उच्चारण-यन्त्र और वक्ता के प्रयत्न का फलविशेष है।

आदिकालीन हिंदी जैन साहित्य की प्राचानतम कृति 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' और उसकी भाषा

डा० हरिशंकर शर्मा 'हरीश'

आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य मे ११वी शताब्दी मे उपलब्ध होने वाली सर्वप्रथम और महत्त्वपूर्ण कृति 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' है। यह रचना एक उल्लास-प्रधान गीत है जिसे स्तुति भी कहा जा सकता है। गीत-मुक्तको मे इस प्रकार की अनेक रचनाए परवर्ती साहित्य मे विशाल सख्या मे उपलब्ध होती है परन्तु प्रस्तुत रचना की भाति 'उत्साह'-सज्ञक रचनाओ का लगभग अभाव ही है। 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' एक अनुभूति-प्रधान गीति-रचना है जिसकी विषयवस्तु का सीधा सम्बन्ध इतिहास मे है। गीति-रचनाओ मे ऐतिहासिकता का समन्वय करने वाली रचनाओ की कडी मे 'महावीर-उत्साह' को शीर्ष स्थान दिया जा सकता है।

'उत्साह' नाम से रचना के नाम व शिल्प का कोई विशेष सम्बन्ध नही है तथा न आगे ही इस नाम की अन्य कोई रचनाए पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का कोई काव्यरूप भी परवर्ती रचनाओ मे परिलक्षित नही होता। पूर्ववर्ती साहित्य मे अर्थात सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश-साहित्य मे गीति-प्रधान रचनाए तो पर्याप्त मिल जाती है, परन्तु 'उत्साह' संज्ञा-विशेष मे किसी काव्यरूप का बोध कराने वाली कोई अन्य रचना नही मिलती। वस्तुत. अपभ्रश से इतर पुरानी हिन्दी में सर्वप्रथम यही रचना उपलब्ध होती है जिसका कई दृष्टियो से महत्त्व है।

प्रस्तुत कृति का नाम 'उत्साह' है। उत्साह वीररस का स्थायी भाव है अत इसकी निष्पत्ति किसी उल्लास या आल्हादक महोत्सव अथवा अन्य किसी घटना-विशेष के कारण ही हो सकती है। यह भी सम्भावना हो सकती है कि किसी चमत्कारिक दैवीय घटना, भक्ति का चरम आनन्द या उद्वेग होने पर ही कवि के ये हृदयोद्गार फूट निकले हो। यों परम्परा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्याश्रित जितने भी कवि होते थे, वे राजा की स्तुति या प्रशस्ति स्तवनस्वरूप गीत-वर्णन किया करते थे तथा राजा की विजय या पराभव के पश्चात पुन राज्य-प्राप्ति के अवसर पर हर्षोल्लास और असीमित आनन्द मे स्निग्ध स्तुतिमूलक रचनाओ का निर्माण किया करते थे। वस्तुत उत्साह नाम इसीलिए सार्थक परिलक्षित होता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि उत्साहसज्ञक रचनाओ का वस्तु शिल्प किसी काव्यरूप-विशेष के लिए रूढ नही है। यह तो एक स्तुतिमूलक गीतिरचना है जो कवि के आह्लाद-विशेष और उत्साह-विशेष की सूचना प्रस्तुत करती है। यो सरलता के लिए उसे वीररस-प्रधान स्तवन या गीत कहा जा सकता है परन्तु फिर भी सख्या मे केवल एक होने से यह परिभाषा रूढ नही कही जा सकती। जो भी हो, यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की रचनाओं मे एक स्वाभाविक तथा असाधारण उत्साह का उन्नयन होता है। वस्तुत: विशिष्ट प्रकार की कोई भी आह्लादक स्तुति 'उत्साह' नाम से पुकारी जा सकती है।

'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' का रचना-काल स० १०८१ के लगभग है तथा इसके रचनाकार धनपाल है। इस कृति का सम्पादन श्री मुनि जिनविजय जी ने किया था और बहुत पहले यह रचना प्रकाशित भी हो गई थी।[1] पर इस रचना को अपभ्रंश तथा प्राचीन राजस्थानी समझकर इस पर विशेष ध्यान नही दिया गया। परन्तु परिशीलन

१. जैन साहित्य सशोधक, सं० १९८४, पृ० २४४, सम्पादक मुनि जिनविजय।

करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कृति अपभ्रंश और हिन्दी भाषा के बीच की एक कडी है और इसके द्वारा अपभ्रंश और हिन्दी के शब्द-रूपो के बीच में एक विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। इस दृष्टि से इस रचना का महत्त्व और अधिक बढ जाता है।

प्रस्तुत स्तुति का स्थान सत्यपुर है, महावीर की मूर्ति इसी स्थल पर वर्णित है। सत्यपुर मारवाड़ का 'सांचौर' नामक स्थान था। यह स्थान अब भी जोधपुर राज्य के दक्षिण भाग मे है। सत्यपुर साचौर का सस्कृत रूप है और सच्चउर> प्राकृत है जिसका अपभ्रंश साचौर हो गया। यही स्थान महावीर का एक अत्यन्त प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ है। सत्यपुर के लिए 'जगचिन्तामणि' ग्रंथ मे "जयउ वीर सच्चउरि[२] मडण" उल्लेख मिलता है तथा जिनप्रभ सूरि के विविध तीर्थ-कल्प मे भी 'सत्यपुर की विशेषकल्प'[3] बताने का उल्लेख मिलता है। अत यह स्पष्ट है कि सत्यपुर जैनियो का एक विशिष्ट तीर्थ था।

कृति की विषय-वस्तु स्तुतिपरक या धार्मिक है तथा घटना ऐतिहासिक। स्तवन या उत्साह का विषय श्री सत्यपुरीय महावीर की प्रतिमा है जिसका आक्रमणकारी के हाथ से बच जाना, मूर्ति के प्रभाव से आक्रमणकर्त्ता का पुन. लौट जाना आदि घटनाओ ने, जो उत्क्रांति और विध्वस की प्रतीक है, श्रद्धालु भक्तो को गाने, नाचने, मूर्ति का यश वर्णन करने तथा किसी भी प्रकार अपनी हर्षोल्लासमयी भावनाओ के उद्वेग की उत्साहपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए बाध्य किया। धनपाल का यह स्तवन उसी प्रतिक्रिया का प्रतिफल है। क्योकि महावीर के दैवीय सामर्थ्य के कारण व्याकुल होकर गजनीपति चला गया और जैन सघ जब पूर्णतया परितुष्ट हुआ तो सब वीर भवणे पूजा, महिमा, गीत, नृत्य, वजित्र और द्रव्यों का दान आदि प्रभावनाए करने लगे। वस्तुत इसी प्रभावना-प्रसग पर उपस्थित हो, महाकवि धनपाल ने अपनी भक्ति और उल्लास मे डूब कर यह उत्साह-गीत प्रस्तुत किया होगा, ऐसा स्पष्ट होता है।

विषय-विवेचन की दृष्टि से विचार करने पर हमे रचनाकार की काव्यशक्ति का परिचय सहज ही मिल जाता है। धनपाल ने इस रचना का प्रारम्भ प्रार्थना से किया है। कवि ने महावीर के यश की विशालता का वर्णन किया है। महाकवि की इस कृति मे यह स्पष्ट है कि विशाल पैमाने पर काव्यगत अलकारों, छन्दो तथा अन्य कलापक्षीय उपादानो का अभाव है जो आदिकालीन अधिकाश रचनाओ मे ही है, परन्तु फिर भी भाषा काव्यरूप तथा तत्कालीन समय मे साहित्य की प्रामाणिक रचनाओ के रूप मे सत्यपुरीय महावीर उत्साह जैसी छोटी कृतियो का भी पर्याप्त महत्त्व है। प्रस्तुत गीति-मुक्तक मे एक अजस्र धारावाहिकता है। प्रत्येक पद में कवि का उल्लास है। यह उसका उत्साह-प्रधान गीत है, जिसमे अपभ्रंश की अनुरणनात्मकता तथा ध्वन्यात्मकता जैसी काव्य-प्रवृत्तिया स्पष्ट होती है। कवि के स्वर मे महत् अनुभूति और मधुरता का समन्वय है, अत अनुरजन की क्षमता होना स्वाभाविक है। कवि ने ऐतिहासिक तथ्य को काव्य के माध्यम से प्रचुर रूप मे प्रभावोत्पादक बनाया है। प्रस्तुत गीत की सबमे बडी विशेषता इसके जनगीत के रूप मे लोकप्रिय होने मे है। जीवन के मनोवेगो और भावो को जगाने मे ये जैन-काव्य बडे प्रभावशाली है। जैन समाज मे आज भी सत्यपुरीय महावीर उत्साह जैसे आह्लादक गीत कठस्थ करके प्रतिदिन पाठ किए जाते है।

कवि ने सत्यपुरीय जिनेन्द्र महावीर के शौर्य का वर्णन पर्याप्त कुशलता से किया है। वर्णन का प्रवाह स्पष्ट है

> **बहुएहि तारायणेहि रवि प्रसरू कि भिज्जइ**
> **बहुएहि वि विसहरेहि मिलि वि किम गरुडु गिलिज्जइ।**
> **बहु कुरंग आरूड्ठ करहि किरि काय मयवह**
> **पुणिवि बहुय तुरूक्क कांइ सच्चउरि—जिणिदह॥[१]**

अर्थात्, "अनेक तारागण मिलकर जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश का भेदन नही कर सकते, वैसे अनेक विषधर

१. जैन साहित्य सशोधक, पृ० २४४
२. विविध तीर्थकल्प—श्री जिनप्रभ सूरि, पृ० ९०-९६
३. ,, ,, पृष्ठ २४२

मिलकर भी क्या गरुड को निगल सकते है ? और जिस प्रकार अनेक हिरणों का समूह भी मदोन्मत्त हाथी का कुछ नहीं कर सकता, उसी प्रकार अनेक तुर्क मिलकर भी सत्यपुर के जिनेन्द्र का कुछ नही बिगाड सकते ।"

कवि ने दृष्टान्त से उक्त तथ्य को पुष्ट किया है। प्रस्तुत उत्साह कवि की आह्लादमयी अभिव्यक्ति होने से अत्यन्त स्वाभाविक बन पडा है। श्रद्धा, भक्ति और भावावेश मे कवि ने महावीर की महिमा की क्षमता को अनेक उपमानो मे बाधा है। जिस प्रकार पहाडो मे सुमेरु, तारागणो मे दिवाकर तथा सुरलोक मे देवताओ मे इन्द्र श्रेष्ठ है, उसी प्रकार तीनो लोको मे जिनेन्द्र सत्यपुरीय श्रेष्ठ है ·

जिम महंतु गिरवरह मेरु गहगणह दिवायरु,
जिम महंतु सुरवरह मज्झि उवहिहिं रयणायरु।
जिम महंतु सुरवरह मज्झि सुरलोइ सुरेसरु,
तिम महंतु तियलोय लितउ सच्चउरि जिणेसरु।।[1]

"चाद-सूरज के प्रकाश की भाति उज्ज्वल (प्रकाशित) सागर की भाति गम्भीर महावीर का अमृत बरसाने वाला प्रतिविम्ब तीनो लोको मे अनुपमेय है। **'तिहुमणि तसर पडिबिम्बु नत्थि जसु उप्पम दिज्जइ'** ऐसे अनुपमेय और अनिर्वचनीय मन्दिर के वर्णन करने को अनेक मुह और देखने को अनेक नेत्र चाहिए। जबकि कवि के पास तो सिर्फ एक ही जीभ व दो आखे मात्र है।

सहस्सेण विलोयणह तित्थु न होय नियंतह,
वयण सहस्सेहि गुणननुह निट्ठि यहि घुणंतह।
एक्क जीह धणपालु भणइ इक्कु जं महनियतणु,
कि वन्नउ सच्चउरि वीर हउं पुणु इक्काणणु।।[2]

रचना मुक्तक गीति है जिसके प्रत्येक पद मे अपना-अपना स्वतन्त्र भाव है। यह रोला छन्द मे रची गई है।

'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' की भाषा के विषय मे विद्वानो मे परस्पर मत भेद है। रचना ११वी[3] शताब्दी की होने से भाषा की जानकारी के लिए महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन भाषा का स्वरूप, उसका पुरानी हिन्दी की ओर या तत्सम शब्दो की ओर बढने का प्रयास, लोक-भाषा के शब्दो का उसमे समावेश, तथा अपभ्रश की उत्तरवर्ती स्थिति आदि सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वो का समावेश धनपाल की इस रचना मे समन्वित है। सत्यपुरीय उत्साह एक ऐसी कडी है जो परवर्ती अपभ्रश को पुरानी हिन्दी या देश्य भाषाओ से मिलती है। अत भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी रचना महत्त्वपूर्ण लगती है। इस रचना की भाषा के विषय मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। श्री मुनि जिनविजय जी[4] तथा श्री के० का० शास्त्री[5] दोनो इसको अपभ्रश की ही ठहराते है। पर श्री अगरचन्द नाहटा इसे शुद्ध अपभ्रश न मान, प्राचीन राजस्थानी से प्रभावित उत्तर अपभ्रश की मानते है तथा उन्होने इसे वीरगाथा-काल के भाषा-काव्यो के अन्तर्गत ही रखा है।[6] कई गुजराती विद्वान इसे जूनी गुजराती की कृति समझते है, स्वय मुनिजी ने गुजराती समाज मे जैन साहित्य की गुजराती की सबसे प्राचीन रचना मानकर ही इसका प्रकाशन किया है।[7]

अत इसकी भाषा को अवश्य विवादग्रस्त बना दिया गया है पर रचना की भाषा का अध्ययन करने पर

---

१. जैन साहित्य स शोधन खण्ड ३३, अङ्क ३, पृ० २४३, पद ११
२. वही पृष्ठ, पद १४
३. नागरी प्रचारिणी वर्ष ४६, अङ्क ३ में श्री नाहटाजी का लेख—वीरगाथा-काल का जैन भाषा साहित्य
४. जैन साहित्य संशोधक पृ० १६८४; खण्ड ३, प्र० ३, सत्यपुरीय महावीर उत्साह परिचय, पृष्ठ २४४
५. आपणा कवियों, पृष्ठ ४४ पर—श्री शास्त्री जी लिखते है कि यह कवि मालवपति मुञ्जसिधुराज और भोज की विद्वत-सभा में अग्रणी था। इसी कवि ने १५ गाथा का सत्यपुरीय महावीरोत्साह मंड नाम का अपभ्रंश-काव्य रचा है
६. ना० प्र० वर्ष ४६, अङ्क ३ में श्री अगरचन्द नाहटा का लेख
७. जैन सा० सं० पृ० २४१-२४४

यह स्पष्ट हो जाता है कि रचना प्राचीन राजस्थानी की है जिस पर अपभ्रंश के परवर्ती रूपों का प्रभाव है। साथ ही तत्कालीन प्रचलित कुछ विदेशी शब्द भी आ गए है। वस्तुतः भाषावैज्ञानिक प्रवृत्तियो, प्राचीन राजस्थानी के ध्वनिजन्य प्रभावों तथा नियमों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। रचना के शब्दों, रूपों और शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार करने पर पुरानी राजस्थानी और उत्तर अपभ्रंश का समन्वय स्पष्ट परिलक्षित होता है तथा कई शब्द तो एकदम सस्कृत के ही अपभ्रश है। यथा ·

पसरत	(स०) प्रसरत	पसाउ	पसादु	(स०) प्रसाद
रक्खि	(स०) रक्षि	कोहु	(स) क्रोध	
सामि	(स०) स्वामिन्	सच्चउरि	(अपभ्रश) साचोर	
			(प्रा०) सच्चउस	(स०) सत्यपुर[1]
विहोउहि	(स०) विस्फोटय			

उत्तर अपभ्रश के स्वरूप प्रस्तुत करने वाले कुछ शब्द देखिए ·

(सज्ञाए) (१) इयरनर, गब्भरु, तिहुयण, जगडण, मयण, सिद्धत्थह, पेच्छतह, नयरि, नाहु, गहगणह, दिवायरु, रयणायरु मज्झि तियलोयतिलहु···आदि

(क्रियाए) (२) भिज्जइ, जगडिज्जइ, भग्गु, गिलिज्जइ, उव्भसियइ, पुच्छुत्थउवि, विरज्जइ, पणमिज्जइ, दिज्जय आदि।[2]

प्राकृत के भी शब्द मिल जाते है.

दुट्ठट्ठ, कम्म, दुट्ठ, आरुट्ठ, पाविट्ठ, चड्डावल्लि, सोरट्ठु, 'अज्जवि, दुट्ठमडिहि, किंकिल्लि, वयण-सहस्सेहि, गुणनतुट्ठु, अत्थि, तित्थु, नत्थि, तुट्ठइ आदि।

अनेक राजस्थानी शब्द भी बहुलता से परिलक्षित होते है ·

प्रा० राजस्थानी संज्ञा सर्वनाम विशेषण क्रियाएं आदि

जेण, किम, तणु, जासु, तरुवरिहि, फरसु, तेरिस, जाव, ताव, सोतेहि सिरि, कोड, जिणु, कुहाडा, भामडलु, सिरिभाल, जण, मण, आणदण

मोडिय, वितोडिय, तोडहि, झोड़हि, चलिउ, करहि, मिलि, रहि, नामिओ, सदामिओ, निविडिय, ताडिउ, दीसहि, सोहिय, सहवि, नमहु, उवहि, हरवि, लेखि, दीसइ, पडसइ, भणइ भावइ, आवइ आदि।

तत्सम शब्दो की वृद्धि—

इन अनेक तत्सम रूपो मे यह ज्ञात हो जाता है कि कृति की भाषा अपने पुराने रूपो को छोड नये रूप ग्रहण कर रही है

उम्मूल, जासु, पहरत, नयणिहि, सिरमाल देसु, मोमेसरु, अनु, सिरि, मिलि, करहि, चिरकालि, चामीयर, वरतुरग, निमित्त, अगि, तसु, गोसाला, सगमय, अमर, कुसुम चमर, गिरिवर, मेहु, किम आदि-आदि।

विदेशी · 'तुरूवक' शब्द विदेशी है—

अपभ्रश की उकार-बहुला प्रवृत्ति यद्यपि इन शब्दो मे स्पष्ट है परन्तु फिर भी उसमे एक उत्तरोत्तर विकास परिलक्षित हो जाता है। यदि इसी विकसित रूप या देश्य भाषा या लोक-भाषा के इन रूपो के उत्तर अपभ्रश का विकसित स्वरूप कहा जाय तो अत्युक्ति नही होगी।

करेवि, मुमरेवि, भजेवि आदि शब्द अपभ्रश के परिवर्तन की ओर सकेत करते है और अन्य रूप प्राकृत-तत्सम की भाति ही लगते है। भाषा के इन उदाहरणों से ऐसा लगता है कि अपभ्रश के दो रूप उस समय प्रचलित रहे

१. देखिए—जैन सा० सशोधक, खण्ड ३, प्र० ३, पृ० ३, २४१-२४३
२. वही ग्रन्थ, वही पृष्ठ

होगे एक स्वाभाविक और दूसरा कृत्रिम। साथ-ही-साथ इन शब्दों मे सरलता आने का आग्रह है।

वस्तुत. ११वी शताब्दी का यह काल अपभ्रश का पराभव-काल है। इसी काल मे परवर्ती अपभ्रश मे तत्सम शब्दो का सक्रमण बडी तेजी से प्रारभ होगया था। उसके कई शब्दों के चिह्न घिस गए थे तथा विभक्तिया भी बिखरने लग गई थीं। बोलचाल की इन भाषाओं मे तत्सम शब्दो के प्रचार से उनके बदलते हुए स्वरूप मे एक नव्य रूप अवश्य ही झाकने लग गया था। साधारण जनता की बोलचाल की भाषा मे संस्कृत-शब्द उसी स्वाभाविकता से प्रयुक्त होते थे जैसा बाद की बोलियों में होता रहा। धीरे-धीरे सस्कृत के तत्सम शब्द अधिकाधिक मात्रा मे आने लगे। सो इस काल की भाषा की प्रमुख प्रवृत्ति रही बोलचाल मे तत्सम शब्दो का प्रचार।[1] और इसीलिए अपभ्रश पुरानी हिन्दी मे परिवर्तित होगई। अतः सत्यपुरीय उत्साह मे पुरानी हिन्दी के शब्दो का अकुर दिखाई देने लगता है। प्रस्तुत कृति की भाषा में हिन्दी के प्राचीन रूपो के तत्त्वो के अकुर रूप मे विद्यमान होने के लिए स्वर्गीय गुलेरीजी का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है—'विक्रम की ७वी से ११वी शताब्दी तक अपभ्रश की प्रधानता रही है और फिर वह पुरानी हिन्दी मे परिणत होगई। इसमे देशी की प्रधानता है, विभक्तिया घिस गई है, खिर गई है। एक ही विभक्ति 'है' या 'आह' कई काम देने लगी है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इमे मिली। विभक्तियो के खिर जाने से कई अव्यय या पदलुप्त विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे जो विभक्तिया नही है। क्रिया-पदो मे मार्जन हुआ। हा, इसने केवल प्राकृत ही के तत्सम और तद्भव पद नही लिये, किन्तु धनवती अपुत्रा मौसी सस्कृत से भी कई तत्सम पद लिये। अप-भ्रश साहित्य की भाषा हो चली थी। वहा 'गत' भी 'गय' और 'गज' भी 'गय'। काच, काक, काय, कार्य सबके लिए 'काय'। इसमे भाषा के प्रधान लक्षण सुनने मे अर्थ-बोध का व्याघात होता था। अपभ्रश मे दोनो प्रकार के शब्द मिलते है।[2]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ११वी शताब्दी मे अपभ्रश अपने अवसान पर थी और उसमे उत्तरोत्तर पुरानी हिन्दी के स्वरूप का ढाचा निर्मित हो रहा था। अद्यावधि अन्य विभाषाओं मे सत्यपुरीय महावीर उत्साह के अतिरिक्त तत्कालीन कोई प्रति नही मिलती, अत पुरानी हिन्दी के प्रारम्भिक रूपो को बीज रूप मे इस कृति मे देखा जा सकता है।

इन तथ्यो पर विचार करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुचा है कि इस कृति की भाषा अपभ्रश के परवर्ती रूपों से प्रभावित प्राचीन राजस्थानी है। राजस्थानी साहित्य के एक प्रसिद्ध विद्वान श्री नरोत्तमदास जी भी इसको प्राचीन राजस्थानी की ही रचना स्वीकार करते है।[3]

अत. कृति की भाषा मे राजस्थानी, ऊपर अपभ्रश तथा तत्सम शब्दो के प्रयोगो से सम्बन्धित कुछ प्रवृत्तिया और उदाहरण इस प्रकार देखे जा सकते है·

(१) अपभ्रंश मे ह्रस्व और दीर्घ का व्यत्यय करके इस नियम की पूर्ति होती थी, वह चाहे पद के अत में दीर्घ हो या प्रारभ मे।

(२) प्रत्यय स्वार्थक हो और जिन्हे स्वार्थक बनाने मे विशेष अइल्ल और ड आदि प्रत्यय हो। यथा—अल-कृत—अलकिय। उ जोड कर यह अलकियउ बनाया जा सकता है।

(५) छन्द-योजना के लिए (।) लघु स्वरो का दीर्घीकरण। पद आदि मध्य और अन्त मे मे कोई भी हो। कही-कही स्वर के मध्य मे भी पद दीर्घ हो जाता था।

(४) द्वित्व-प्रवृत्ति भी एक प्रधान प्रवृत्ति थी। विशेषकर परवर्ती वर्णन को द्वित्व करने की प्रवृत्ति प्राकृत मे भी मिलती है। यथा.

भ्रमर मम्मर। यह प्रवृत्ति छंद-योजना मे विशेष योग देती है।

(५) अनुस्वार की प्रवृत्ति छद-योजना को सुघड़ करने की है अत सत्यपुरीय उत्साह में अमिय, हियकर

---

१. देखिए—हिन्दी साहित्य का आदिकाल : श्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २०

२. पुरानी हिन्दी (सभा-सस्करण) : श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पृष्ठ ६

३. ढोलामारू रा दोहा—प्रस्तावना-भाग, पृष्ठ १५० (सभा-संस्करण, स्वामी नरोत्तमदास)

आदि शब्दों के प्रयोग देखे जा सकते हैं। तत्कालीन काव्य 'ढोलामारू रा दोहा' में भी चमकउ, गजतउ आदि प्रयोग मिलते हैं।

(६) **सयुक्त वर्णों में एक का लोप करना—**

यह पूर्ववर्ती स्वर को लघु बनाने के कार्य मे आया है यथा :

अपभ्रश का थक्क थकइ।

(७) अनुस्वार को ह्रस्व करने के लिए अर्द्धचन्द्र का प्रयोग भी अपभ्रंश में मिलता है। यथा, सं० पर्यंकिका पल्लकिका, पालकी पालकी, सपूर्ण सउन्न।

इनके अतिरिक्त सकोच और प्रसारण के नियम भी मिलते है, यथा :

मयूर मउर मोर; (अप०) अइ ऐ; अउ औ।

अपभ्रश की यह संकोच की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं जो आलोच्य ग्रथ मे मिल जाते है। इनमे अपभ्रश का उत्तरकालीन स्वरूप परिलक्षित होता है।

(८) अन्त्य स्वर को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति[1] अपभ्रंश-ध्वनियो की मुख्य विशेषता है। इसके अतिरिक्त प्रथमा और द्वितीया में ओ का उ मे परिवर्तित हो जाना, य का ज (निय निज); क, त, प, तथा ख, थ, प का लोप; ग, द, ब, का घ, ध, भ, हो जाना, म का व मे बदल जाना आदि प्रवृत्तिया इस 'उत्साह'-कृति में पाई जाती है। और ये अपभ्रश की ध्वनिमूलक विशेषताए है।[2]

(९) लिग-भेद की समाप्ति, कारक-विभक्तियो का घिसना और सख्या मे बहुत कम हो जाना, अनेक नये परसर्गों का प्रयोग। यथा सहु, केहि, थिउ, मज्झ आदि।

(१०) सामान्य वर्तमान काल के अपभ्रश रूपो का घिसकर पुरानी हिन्दी की भाति हो जाना, यथा—करउ का करहु, करहि का करह, करइ का कहइ। अ इ उ का उकारान्त होना, स और ह कम एक समान होकर 'ह' की प्रधानता होना तथा सयुक्त क्रियाओ का निर्माण होना। यथा—भज्जिउ और पूर्वकालिक क्रिया मे प्रमुखतः 'इ' का निर्वाह आदि उसकी विशेषताएं थी। अत डा० याकोबी के ये विचार कि 'अपभ्रश एक मिश्रित भाषा थी, जिसने अपने शब्द-कोष का अधिकाश साहित्यिक प्राकृतो से ग्रहण किया और अपना व्याकरणिक गठन देशी भाषाओ से।'[3] वस्तुत. अपभ्रश का व्याकरण देशी भाषाओ के आधार पर बनता चला जा रहा था और भारतीय आर्यभाषा के विकास के बीज उसमे सन्निहित थे। उसकी ध्वनियो पर प्राकृत का प्रभाव अवश्य था पर वह भी धीरे-धीरे दूर होता जा रहा था। तथा इसी परवर्ती अपभ्रश से कई क्षेत्रीय भाषाओ के निर्माण के सूत्र स्पष्ट हो रहे थे। और राजस्थानी उनमे सबसे प्रधान है। अपभ्रश के परवर्ती स्वरूपो के परस्पर साम्य का अनुमान सत्यपुरीय महावीर उत्साह के निम्नाकित उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाता है·

१. **अ का इ में बदल जाना—**

स० कच्टपक (अप०) कच्उवउ काचवउ (प्रा० रा०) काचिवउ।

स० गत (अप०) गउ गिउ

२. पूर्ववर्ती परवर्ती अक्षर 'उ' होने पर उसके प्रभाव से अ का उ हो जाना

जैसे—प्रस्तुत रचना मे—

गरुड गुरूडु ?[4]

---

१. हि० ग्रे० आ० अप० : डा० तगारे, पृष्ठ १८-१९

२. देखिये 'सन्देश रासक' की भूमिका : डा० हरिवल्लभ मायाणी, पृष्ठ ४१

३. देखिये भविस्सयत्त कहा, पृष्ठ ६८

४. जैन साहित्य सशोधक—सत्यपुरीय महावीर उत्साह, पृष्ठ २४१-४२

३. **संयुक्त स्वर 'अ' के बीच में य श्रुति का आगम :**

स० रत्न (अप०) रअण रयण (प्रा० रा०)[1]

४. अपभ्रंश के उत्तरकाल मे पश्चिमी राजस्थानी मे अनुस्वार और अनुनासिक मे परिवर्तन—

संचरित (अप०) सचरह साचरइ।

अपभ्रंश का पद के अन्त मे आया हुआ अनुस्वार प्राचीन राजस्थानी मे अ अनुनासिक के रूप मे मिलता है

पूणिहि बहुय तुरुक्क काइ सच्चउरि-जिणिदह[2]

५. ज का परिवर्तन कभी-कभी य मे हो जाता है। 'अनेक स्थानो पर इस परिवर्तन का केवल आभास मात्र ही होता है क्योकि लिखने मे 'ज' और 'य' प्रायः एक-दूसरे के स्थान पर व्यवहृत हो जाते है और इसमे कोई सदेह नही कि वे बहुत-कुछ एक ही प्रकार से सच्चरित होते थे, अर्थात ज की भाति। लेकिन कुछ स्थानो पर ऐसा प्रतीत होना हैं कि 'ज' का दुर्बल होकर य हो जाना वास्तविक है अर्थात् स्वरो के बीच 'ज' व्यजन की शक्ति खो देता है।'[3]

यथा—१–स० कथ्यते (अप०) कहिज्जइ कहीजइ कहीयइ कहीइ।

२–निज निय[4]

६ किसी अन्य स्वर के पूर्व यदि 'अ' आता है तो उसका प्राचीन राजस्थानी मे अ आ के पूर्व य का आगम हो जाता है—

स० नगर, (अप०) नयर[5]

७. द्वित्व व्यजन का बिना स्वर के दीर्वकरण के ही प्रा० रा० मे सरलीकरण हो जाता है। यथा—

१–स० निष्पद्यते, (अप०) णिप्पज्जइ नीपजइ नीमजइ (प्रा० रा०)

२–स० व्याख्यानइति, (अप०) वक्खाणइ बखानइ (प्रा० रा०)

८. कही-कही अनुनासिकता मे विपरीत स्थिति भी मिलती है। यथा—

१–स० कानि (अप०) काइ काइ या काई या काह।

२–मध्य मज्झ माझ माह (पु० हि०)

व्यजन के अन्त के प्रतिपादिक मे 'उ' विभक्ति प्रत्यय मिलता है। यथा—

जिणेसरु[6]

९. सर्वनामो मे भी जस्सु जामु जसु के पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी हिन्दी मे सम्बन्ध विकारी रूप जास जस जसु तथा तस्सु, तासु, तस, तास, तासु देखे जा सकते है। प्राचीन राजस्थानी का यह रूप—'तिहुयण जगडण, मयण सरहि तणु जासु न भिज्जइ'[7] उदाहरण से सम्बन्धकारक का रूप स्पष्ट हो जाता है। अपभ्रंश का को, कोइ, कोवि आदि कोइ कोवि कोय आदि रूप बन जाता है तथा काइँ के काइ, काई आदि रूप पुरानी राजस्थानी मे बनते है।

१०. प्रश्नवाचक मे किसउ किसिउ, किस्यउ शब्द प्रमुख है जो लोप द्वारा प्रश्न और अनिश्चय को प्रकट करते हैं। यथा—

१–किसउ सउ; २–किसिउ सिउ

---

१. सत्यपुरीय महावीर उत्साह, पृष्ठ २४३, पद ११

२. वही, पृष्ठ २४२, पद ४

३. पुरानी राजस्थानी, मूल लेखक डा० एल० पी० तेस्सीतोरी, अनुवादक श्रीनामवरसिंह, पृष्ठ ३४

४. भणइ ऐक्कु जं० मह नियतणु (जैन सा० संशोधक) पृ० २४३, पद १४

५. वही, पृ० २४२, पद ७, वही, पृ० २४२ पद ४, काइ सच्चउरि जिणि० दह।

६. स० महावीर उत्साह। जैन सा० पृ० २४३, पद ११

७. वही, पृ० २४१

३–किस्यउ स्यउ आदि चिह्न रह जाते है। पश्चिमी हिन्दी में इस अनिश्चयवाचक का रूप 'सो' मिलता है। अनुमानत. यह रूप किसउ सउ सो आदि क्रम मे रह जाता होगा। हमारी आलोच्य रचना में 'वयसाहिहि सच्चउरि वीरू सो किम पणभिज्जइ' रूप सर्वनाम है तथा 'सोमसरु सो तेहि भग्गु' प्रयोग भी मिलता है, परन्तु यहा यह शब्द समान अर्थ 'सिउ' या 'सादृश्य' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।'[१]

११. इसी रचना मे राजस्थानी अव्यय क्रिया-विशेषण जिमतिम आयि मिलते है—

१–जिम महतु गिरिवर मेरु

२–जिम महतु सु सयभु रुमणु

३–तिम महतु तियलोय तिलकु[२]

क्रिया के पहले कही-कही स० नापि, (अप०) णवि, नवि (राज०) भी मिलता है। तिण, तिणइ, तेणि, तिणी आदि भी राजस्थानी रूप है जो सम्भवत· सर्वनामो से ही बनते होगे।

१२. क्रियाओ मे मे वर्तमान काल की भवति होइ होय और होइ एव हुइ रूप भी मिलते है। इसके अतिरिक्त कहइ, भणइ, पुच्छइ, जावइ, भावइ आदि रूप पुरानी राजस्थानी या पुरानी हिन्दी की पूर्ववर्ती स्थिति पर प्रकाश डालते है। इसके अतिरिक्त भी रचना मे 'लेवि' प्रयोग द्रष्टव्य है—'कुहाडा', 'हत्थि लेवि' अमियलेवि।[3] अपभ्रश की उकार प्रवृत्ति की भाति पुरानी हिन्दी मे भी सुणउ, करउ, आवउ अउ आदि प्रयोग मिलते हैं।

१३. प्रा० प० राजस्थानी मे—स० भग्नक (अप०) भग्गउ भागउ रूप मिलता है जो व्यजन तथा प्रत्यय के सारूप से होता है, पर राजस्थानी मे यह यौगिक स्वरूप और भी सरल हो गया है।

१४. पूर्वकालिक कृदन्त मे धातु मे एवि प्रत्यय जोड़कर क्रिया के—भणेवि धरेवि पणमेवि आदि रूप, तथा 'ई' प्रत्यय जोडकर नमीअ, पणमीअ आदि रूप मिलते है। इसके अतिरिक्त वर्तमान कर्मवाच्य के कीजइ, दीजइ, पीजइ रूप मिलते हैं—

स० क्रियते अप० कीज्जइ कीजइ (पुरानी हि० या रा०)।

दीयते दिज्जइ दीजइ

लीयते लिज्जइ लीजइ।

१५. इसके अतिरिक्त सज्ञा या विशेषण से सीधी बनी हुई नामबोधक क्रियाए भी मिलती है। यथा—

स० आनद आणन्द आणन्दिउ तथा सत्यपुरीय उत्साह का 'जणमण आणन्दणु'[४] ऐसा ही प्रयोग है।

इसी तरह प्राचीन राजस्थानी या परवर्ती अपभ्रश के रूपो का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। और इन शब्दो में हिन्दी की सरलता स्पष्ट परिलक्षित होती है। कई तद्भव शब्दो के तत्सम रूप हिन्दी की ही भाति सरल हो जाते हैं। तद्भव व तत्सम-रूपो के कुछ उदाहरण देखे जा सकते है—

पसरत-प्रसरत। तिहुयण-त्रिभुवन। सोमेसरू-सोमेश्वर। सिरि-श्री। सिद्धत्थ-सिद्धार्थ। तारयण-तारागण। विषहर-विषधर। तुरुक्क-तुर्क। जिणिदह-जिनेंद्र। सामि-स्वामी। अज्व-आज। नयर-नगर। चलणारविंद-चरण अरविंद। पणमहु-प्रणमतु। बिगु-बिनु। नाहु-नाथ। भुवण-भुवन। गहगण-ग्रहगण। दिवायरू-दिवाकर। सयभु रमणु-स्वयभू-रमण। रयणायरू रत्नाकरू। दिणयर-दिनकर। लोयण-लोचन। तणु-तनु। निय-निज। भड-भट। नाण-ज्ञान। सहस्सेण-सहस्त्रेण। वन्नउ-वर्णउ।[५]

इसके अतिरिक्त अनेक शब्द ऐसे भी है जिनमे तत्समता, सारल्य और नवीनता स्पष्ट होती है। तत्का-

१. सत्यपुरीय महावीर उत्साह,

२. वही, पृ० २४३

३. वही

४. जैन साहित्य संशोधक—सत्यपुरी महावीर उत्साह, पृ० २४२, वर्ष ३, अङ्क ३

५. वही, पृ० २४३-२४४

लीन प्रयुक्त इन शब्दो और वर्तमान हिन्दी के शब्दों मे पर्याप्त साम्य है। यथा--बलवत, उम्मूल, जासु, तोउहि, सुधीरह, दमु, सिरि, सोमेसरू, बहु, रवि, किम, कुरंग, करहि, चिरकालि, वीरु, वर तुग्ग, चामीयर, निमित्त, रज्जु, जिम, रुण्ड, परबलि, जो, न, नमहु, तसु, सहयि जसु, समवसरण, सुरवर, चमर, कुममम, जिम महतु, गिरिवर मेरु, गभीर, इमि, भावइ, जाउ, जहि, गयउ न आवइ आदि-आदि।[1]

श्री राहुल साकृत्यायन ने तो अपभ्रश को ही पुरानी हिन्दी कह डाला है। उनके द्वारा इस सम्बन्ध मे प्रयुक्त 'देशी भाषा' शब्द बड़ा प्राणवान है। वस्तुत. अपभ्रश ने ही अपने विशाल गर्भ से इन अनेक देशी भाषाओ को जन्म दिया है। अपभ्रश के महाकवि हेमचन्द्र के बाद भारत मे हुई राज्यक्राति और राष्ट्रीय परिस्थितियो ने सारा ढाचा ही बदल डाला। इससे अपभ्रश का व्यापकत्व बिगड गया और उसके भावी विकास को इन सक्रान्तियो ने भिन्न-भिन्न देशी भाषाओ के रूप मे बदल दिया और राजस्थानी, गुजराती, पजाबी, बगला, मराठी आदि अनेक प्रान्तीय भाषाए बनी। इस प्रकार अपभ्रश की इन पुत्रियो ने मा की सम्पन्नता की, जिससे जितनी बनी, रक्षा की है। इन सब देश्य भाषाओ मे अपभ्रंश की श्रीवृद्धि-जन्य गौरव व महिमा की अधिक सुरक्षा इस राजस्थानी ने की है। जो अपभ्रश की 'जेठी बेटी' कहलाती है। राजस्थानी मे सबसे प्राचीन व प्रामाणिक रचनाओ की रक्षा का श्रेय इन जैन मुनियो व जैन विद्वानो को है। वस्तुत· अब तक जो जैन रचनाए मिली है उनमे यह रचना सबसे प्राचीन है, इसलिए इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। पर इसके काव्य से भी श्रेष्ठ उदाहरण हाल ही मे बम्बई के प्रिस आफ वेल्स म्यूजियम के एक शिलालेख मे मिला है जिसकी भाषा १०वी शताब्दी की है तथा जिसका काव्य सत्यपुरीय महावीर उत्साह मे भी प्राचीन एव अत्यन्त सम्पन्न है। और उसमे एक नायिका के नख-शिख का सांगोपांग वर्णन है। यह शिलालेख अजैन लेखक का है, परन्तु आदिकाल के काव्य का सर्वोत्तम रूप प्रस्तुत करने वाला यही शिलालेख है जो स्थान-स्थान पर कटा होने से स्पष्ट नही है। लेखक को उसकी प्रतिलिपि (estempage) के रूप मे डा० मोतीचन्द से प्राप्त हुई है। इस शिलालेख के काव्य के उदाहरण, लेखक ने पूर्व पृष्ठो में विस्तृत रूप से दिए है परन्तु अजैन रचना होने मे आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य की सर्वप्रथम रचना धनपाल की सत्यपुरीय महावीर उत्साह ही कही जायगी।

---

१. जैन-साहित्य-संशोधक सत्यपुरीय महावीर उत्साह, पृ० २४१-४५

हिन्दी भाषा के अध्ययन की परम्परा[1]

श्री महेन्द्र

हिन्दी भाषा का अध्ययन पिछली ढाई शताब्दियो से होता आ रहा है किन्तु अभी तक इसे एक स्थान पर प्रस्तुत नही किया जा सका है। इस लेख मे उसी का प्रयास किया गया है। सुविधा के लिए इस अध्ययन को हिन्दी भाषा की विभिन्न बोलियो के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) पश्चिमी हिन्दी—खडी बोली, उर्दू, बांगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली।
(२) पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी।
(३) राजस्थानी—मेवाती, अहीरवाटी, मालवी, जयपुर-हाडौती, मारवाडी-मेवाडी।
(४) पहाडी (मध्यवर्ती)—कुमाउनी, गढवाली।
(५) बिहारी—मैथिली, मगही, भोजपुरी।

(१) पश्चिमी हिन्दी

(१) पश्चिमी हिन्दी के सबसे प्राचीन व्याकरण के विषय मे सुनीति बाबू ने लिखा है[2]—'मेरे मित्र, शान्तिनिकेतन विश्वभारती के फारसी तथा उर्दू के अध्यापक, मौलवी जियाउद्दीन साहब को किसी भारतीय मुसलमान विद्वान ने फारसी मे लिखे हुए ब्रजभाषा के एक व्याकरण तथा ब्रजभाषा काव्य एव अलंकारविषयक ग्रन्थ का पता बताया जो औरगजेब के शासनकाल मे रचा गया था।' उन्होंने आगे लिखा, 'इस पुस्तक से 'हमे ईसा की सत्रहवी सदी के अन्तिम भाग के फारसीदा मुसलमानो के व्यवहार के लिए लिखी हुई भाषा-विज्ञान की एक अच्छी पुस्तक मिलेगी, जिसमे दिए हुए ब्रजभाषा के व्याकरण को हम हिन्दी के एक विशिष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कह सकते हैं।' यह पुस्तक सन १९३५ मे शान्तिनिकेतन से प्रकाशित हुई। इस दृष्टि से यह भले ही नवीन हो किन्तु इसकी प्राचीनता मे सन्देह नही किया जा सकता। यद्यपि इसके रचनाकाल के विषय मे स्वय सुनीति बाबू ने लिखा है—'इस पुस्तक का रचना-काल नही पता।

---

१. 'भाषा का अध्ययन' एक व्यापक वाक्यांश है। इसके अन्तर्गत अनेक रूप से अनेक बातें आ सकती हैं किन्तु समयाभाव के कारण यहां पर निम्न बातों पर ही अपने आपको केन्द्रित करने का प्रयास किया गया है—

(१) भाषा का किसी भी दृष्टि से अध्ययन,
(२) व्याकरण रूप में,
(३) पर्याय, मुहावरा और लोकोक्ति-कोषों के रूप में।

शब्द-कोष को जान बूझकर कुछ कठिनाइयों के कारण छोड़ दिया गया है।

इस प्रकार की सूची में अधुनातन लेख भी यदि सगृहीत किये गए होते तो अच्छा होता, किन्तु आधुनिक काल में इतनी अधिक पत्र-पत्रिकाएं निकल रही हैं कि उन्हें एकत्रित कर पाना कई महीनों का काम है। अतः सन् १९१९ से पूर्व के प्रकाशित तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख ही यहां उद्धृत किये गए हैं।

इधर कुछ दशकों से केवल पाठ्यक्रम के लिए भी पुस्तकें लिखी गई हैं। उनमें से विशेष स्तर की पुस्तकों को ही यहां स्थान दिया गया है।

२. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या; पृष्ठ १४३

समय शायद सत्रहवी शताब्दी का अन्तिम चरण होगा।'[1] शान्तिनिकेतन से प्रकाशित सस्करण के आधार पर इसका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—'पुस्तक फारसी भाषा मे है। परिच्छेद सख्या २६ बी० मे लेकर ४८ अ० तक संगृहीत किया गया है। इसकी एक विस्तृत भूमिका है जो ४६ पृष्ठो की है, उसमे पुस्तक के शेषांश का भी विवरण दिया गया है। पुस्तक का नाम 'तुहफतु-ल-हिन्द' (Tuhfatu-L-Hind) दिया गया है। इसमें एक भूमिका है जो अनुच्छेद स० २८ बी से ४८ अ (Foll 26-48a) तक है। उसी का उत्तरांश यहा सगृहीत किया गया है। भाषा-वैज्ञानिक या व्याकरणिक दृष्टि से यही महत्त्वपूर्ण है। इसके चार उदाहरण है। पहले मे हिन्दी-ध्वनियो और उनकी विशेषताओ पर, दूसरे मे हिन्दी-ध्वनियो की सख्या तथा क्रम और अरबी तथा फारसी से उनकी पहिचान के चिह्न, तीसरे मे स्वरो के चिह्न तथा उनसे सम्बन्धित व्याकरणिक नियम, चौथे मे व्यजनो के साथ प्रयुक्त स्वर, उनके प्रकार तथा विशेषताए और भाषा के व्याकरणिक नियम दिये गए है जिसमे शब्द, सर्वनाम, उपसर्ग, प्रत्यय आदि पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक मे सात अन्य अध्याय हैं जिसमे छन्द, लय, काव्यशास्त्र आदि अन्य विषयो पर प्रकाश डाला गया है।

(२) जॉन जोशुआ केटेलेर द्वारा रचित व्याकरण है। ग्रियर्सन ने इसका समय १७१५ ई० दिया है।[2] उस विवरण से ऐसा लगता है कि ग्रियर्सन को वह पुस्तक प्राप्त नही हुई थी। इस बात की ओर सुनीति बाबू ने भी अपने लेख मे सकेत किया है।[3] इस पुस्तक का उन्होने जो विवरण दिया है उसी का बहुत ही सक्षिप्त किन्तु आवश्यक अश यहा दिया जा रहा है। यह पुस्तक हालेंड के लाइडन नगर से सन १७४३ ई० मे 'दावीद मिल या मिल्लिउस' (Daud mill or millus) नामक एक पडित द्वारा प्रकाशित की गई थी। 'पुस्तक लैटिन मे है और इसमे इस्लाम तथा यहूदी धर्मों के विषय मे कई प्रबन्धों के साथ-साथ लैटिन मे केटेलर का हिन्दुस्तानी व्याकरण, फारसी व्याकरण, लैटिन हिन्दुस्तानी फारसी धातु-पाठ, लैटिन हिन्दुस्तानी फारसी अरबी शब्द-कोष तथा हिन्दुस्तानी के समोच्चारण-युक्त कुछ शब्दों का सग्रह आदि बाते दी हुई है। पुस्तक-प्रकाशक मिल ने अपनी भूमिका मे लिखा है कि केटेलेर की पुस्तके हालेंड की भाषा डच मे थी जिनका स्वय उन्होने (मिल ने) लैटिन मे अनुवाद किया।[4] पुस्तक की लिपि रोमन है, हिन्दुस्तानी शब्द भी उसी मे दिए गए है।

पुस्तक के प्रथम अनुच्छेद मे ग्रन्थकार ने (Akar Nagion) या नागराक्षर के सम्बन्ध मे कुछ विचार किया है। शब्द-रूप मे कर्तृ कारक, कर्तृ कारक के सिवा अन्य कारको के प्रातिपदिक मे पार्थक्य नही है। सर्वनाम के रूप; मत अव्यय का प्रयोग; ई तद्धित के सयोग से विशेषण शब्द किस रीति मे भाववाचक बन जाते है इसके उदाहरण; विशेषण पर्याय; विभिन्न प्रत्ययों के योग से कर्तृवाच्य विशेष्य बनाने की रीति के उदाहरण, और क्रियापद की आलोचना यही विषय प्रस्तुत किये गए है। इस पूरे व्याकरण मे सुनीति बाबू के निष्कर्ष कुछ इस प्रकार है—'व्याकरण के सूत्र नितान्त सक्षिप्त है पर थोडा सा भाषाज्ञान प्राप्त कराने के लिए काफी है जो केटेलेर ने हिन्दुस्तानी सीखी थी और जिसे उन्होने दूसरों को सिखाने की कोशिश की थी, उदाहरण और अनुवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुद्ध खडी बोली नही, बाजारू बोली है और विशेषतया बम्बई, सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के ढग की बाजारू हिन्दुस्तानी है।'[5]

पुस्तक के अन्त में लैटिन-हिन्दुस्तानी-अरबी-फारसी का एक छोटा सा शब्द-कोष भी दिया गया है। उस दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है।

(३) १७४४ ई०—सिहुलट्ज का ग्रामर। इसके विषय मे ग्रियर्सन ने लिखा है कि यह लैटिन मे है।[6] इसका अधिक विवरण नही मिलता।

१. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १४४
२. L. S. I.—Vol IX. Part 1. Page 6.
३. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १४४
४. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १४५
५. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १५७
६. 'Schultze's Grammer is in Latin. Hindustani words are given in the Perso-arabic character with transliteration.' L. S. I Vol. IX. Pt. 1. Page 8.

(४) १७७२ ई०— हडले का व्याकरण है।

(५) १७७३ ई०—जे० फरगुसन का लंदन से प्रकाशित-कोष—'A Dictionery of the Hindostan langnage' जिसकी भूमिका में हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण दिया गया है।

(६) १७७८ ई०—अज्ञात लेखक द्वारा लिखित तथा एम-रोम० से प्रकाशित पुस्तक—'Portnguese Gramatica Indostana'

(७) १७७९ ई०—जार्ज हडले का लन्दन से प्रकाशित व्याकरण—'A short Grammar of hemuors languege.'

(८) १७९६ ई०—गिलक्राइस्ट का कलकत्ते से प्रकाशित व्याकरण भाषा 'A Grammar of the Hindoustanee Language.'

(९) १८०१ ई०—लैबिडेफ का लन्दन से प्रकाशित व्याकरण, 'A Grammar of the prose and mixed East Indian Dialects, with Dialogues affixed, spoken in all the Eastern countries, methodically arranged at Calcutta, according to the Brahmenian system of the Sanskrit Language.[१]

(१०) १८०८ ई०—चार्ल्स स्टुअर्ट का व्याकरण 'An Introduction to the study of the Hindostani Language as spoken in the cornote. जो सम्भवत. कुडलोर से प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा सस्करण १८४३ ई० मे मद्रास मे प्रकाशित माना है।

(११) १८०९ ई०— जान बोर्थविक गिलक्राइस्ट का कलकत्ते से प्रकाशित व्याकरण (AGrammar of the Hindustani Language)

(१२) १८१० ई०— मौलवी अमानतुल्ला का कलकत्ते से प्रकाशित हिन्दी कविता मे हिन्दुस्तानी भाषा का सक्षिप्त व्याकरण है जिसका नाम है 'सर्फ-ए-उर्दू'।

(१३) १८११ ई०— लल्लूजीलाल का कलकत्ते से प्रकाशित व्रजभाषा व्याकरण जिसमे सुबन्त और तिङन्त के सामान्य सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया है।

(१४) १८११ ई०— रोब्रक का कलकत्ते से प्रकाशित अग्रेजी और हिन्दुस्तानी का कोष, जिसमे हिन्दुस्तानी भाषा का सक्षिप्त व्याकरण भी है।

(१५) १८१३ ई०— जॉन शेक्सपीयर का लन्दन से प्रकाशित हिन्दुस्तानी व्याकरण (A Grammar of Hindustani Language)।

(१६) १८२३ ई०— मिर्जा मुहम्मद सलीह और कैप्टिन डब्लू० प्राइस का लन्दन से प्रकाशित तीन प्रमुख भाषाओं— हिन्दुस्तानी, अरबी और फारसी का व्याकरण।

(१७) १८२३ ई०— मुहम्मद इब्राहीम मकबाह का बम्बई से प्रकाशित हिन्दुस्तानी व्याकरण —'तोहफा-ए-एलीफ-निस्तून'।

(१८) १८२७ ई०— विलियम एट्स की कलकत्ते से प्रकाशित हिन्दुस्तानी भाषा पर लिखी पुस्तक जिसके तीन भाग हैं। प्रथम और तृतीय मे क्रमश व्याकरण और शब्द-समूह दिया गया है। व्याकरण ७६ पृष्ठो मे है तथा ११ पृष्ठो मे उसका परिशिष्टाश है। क्रमश: ध्वनियो सज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय तथा सयुक्त शब्दों का विवेचन किया गया है। प्रथम परिशिष्ट मे पद-परिचय तथा दूसरे मे वाक्य-सम्बन्धी कुछ विशेषताए दी गई है। पुस्तक मे विवेचन की पद्धति वैज्ञानिक है, पहले रूप दिये गए है फिर उनसे सम्बन्धित विशेषता आने पर प्रकाश डाला गया है।[२]

(१९) १८२७ ई०— एम० टी० आदम का कलकत्ते से ही प्रकाशित 'हिन्दी भाषा का व्याकरण'।

(२०) १८२७–२८ ई०— कैप्टिन विलियम प्राइस द्वारा लिखित लन्दन से प्रकाशित हिन्दुस्तानी

---

१. L. S. I. Vol IX, Pt. I.

२. पुस्तक का यह विवेचन सातवें संस्करण से है जो १८४५ में प्रकाशित हुआ

व्याकरण, 'A New Grammar of Hindoostani Language.'

(२१) १८२७–३० ई०— कैप्टिन विलियम प्राइस और तारिणीचरण मित्र की कलकत्ते से प्रकाशित 'Hindee and Hindostanee Selections' जिसकी भूमिका मे हिन्दुस्तानी और ब्रजभाषा-व्याकरण की प्रारम्भिक बाते दी गई हैं।

(२२) १८२८ ई०— सैंडफोर्ड अरनोट और डकन फोर्ब्स की लन्दन मे प्रकाशित पुस्तक, जिसका नाम है— 'On the origin and structure of the Hindoostanee tongue.'

(२३) १८२६ ई०— गार्सां द तासी तथा जॉसफ हेलिग्रोडोर की पेरिस मे प्रकाशित पुस्तक 'Rudiments de La Langue Hindustanie जो हिन्दुस्तानी भाषा की बुनियादी बातो पर प्रकाश डालती है।

(२४) १८३० ई० डब्लू० एनड्र द्वारा लिखित लन्दन से प्रकाशित 'A Comprehensive Synopsis of the elements of Hindoostani Grammar.'

(२५) १८३१— सैन्डफोर्ड अरनॉट का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा का नया व्याकरण'।

(२६) १८३८— जेम्स आर बैलण्टाइन का लन्दन मे प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'।

(२७) १८३६— जेम्स आर० बैलण्टाइन की ही लन्दन से प्रकाशित पुस्तक 'Elements of Hindi and Braj Bhakha Grammar.'

(२८) १८४२— जेम्स आर० बैलण्टाइन का ही लन्दन मे प्रकाशित हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण, जिसमें ब्रज तथा दक्खिनी बोलियो का विशेष विवरण दिया गया है।

(२६) १८४२— मद्रास मे प्रकाशित किसी अज्ञात लेखक की 'हिन्दुस्तानी व्याकरण की भूमिका'।

(३०) १८४४— अरनॉट तथा फोर्ब्स का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'।

(३१) १८४५— शेक्सपीयर की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक 'An Introduction to Hindustani Language.'

(३२) १८४५— अहमद अली की दिल्ली मे प्रकाशित उर्दू के प्रारम्भिक व्याकरण की पुस्तक 'फियाज-ए-चश्मा'।

(३३) १८४५— डकन फोर्ब्स की लन्दन मे प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी मैनुअल'। इसके दो भाग है एक मे भाषा का सक्षिप्त व्याकरण तथा दूसरे मे अग्रेजी, हिन्दुस्तानी के आवश्यक शब्दो की सूची दी गई है।

(३४) १८४६— फोर्ब्स डकन का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण' 'A Grammar of Hindustani Language in the Oriental and Roman Character.'

(३५) १८४७— मुहम्मद इब्राहीम मकबाह की बम्बई से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दुस्तानी व्याकरण के पाठ'।

(३६) १८४७— ईस्टविक की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दुस्तानी भाषा का सक्षिप्त व्याकरण'।

(३७) १८४८— इशा अल्लाह खां तथा मुहम्मद हसन की मुर्शिदाबाद से प्रकाशित उर्दू भाषा के व्याकरण तथा मुहावरे पर पुस्तक 'दरस-ए-लतीफत'।

(३८) १८४६— इमामबख्श मौलवी की दिल्ली से प्रकाशित 'उर्दू भाषा का व्याकरण'।

(३६) १८४६— वाजिदअली खा का आगरे से प्रकाशित ग्रथ 'गुलदस्त-ए-अंजुमन'।

(४०) १८५२— जे० डैटलो पोर्चनो की बर्लिन से प्रकाशित पुस्तक 'An fangsginde einer Grammatik der his dustanischan sprache.'

(४१) १८५४—अलेक्जेण्डर फॉकनर की बम्बई से प्रकाशित पुस्तक 'The Orientalist's Grammatical Vade Mecum.'

१. पुस्तक का यह विवेचन सातवें सस्करण से दिया गया है जो १८४५ में प्रकाशित हुआ।

(४२) १८५४— देवीप्रसाद की कलकत्ते से प्रकाशित 'पोली ग्लोट व्याकरण' जिसमे फारसी, अंग्रेजी, अरबी, हिन्दी, उर्दू और बंगाली पाठ भी दिए गए हैं।

(४३) १८५७ (लगभग)— रामजसन की 'भाषा-तत्त्व-बोधिनी'।

(४४) १८५७ लगभग— रतीलाल का 'भाषा-चन्द्रोदय'।

(४५) १८५८—करीमुद्दीन मौलवी की पुस्तक 'कवायदुल मुबतबी', आगरा से प्रकाशित तृतीय संस्करण। पुस्तक कब लिखी गई, यह ज्ञात नही है।

(४६) १८५८ — सर विलियम मोनियर की चैलटनहम से प्रकाशित पुस्तक 'Rudiments of Hindustani Gramar.'

(४७) १८६०—सर विलियम मोनियर की 'हिन्दुस्तानी प्रीमियर' नाम की पुस्तक जो लन्दन से प्रकाशित हुई। इसके विषय मे लिखा गया है कि यह पहला व्याकरण है जो नए सीखने वालों के लिए उपयोगी है।[1] इसमें विभिन्न विषयो के प्रचलित शब्दो की सूची दी गई है।

(४८) १८६०— 'उर्दू अंग्रेजी शब्द-समूह' नाम से बनारस से प्रकाशित पुस्तक, जिसके लेखक का नाम नही मिलता।

(४९) १८६१— हैदरजगबहादुर की लन्दन से प्रकाशित 'Key to Hindustani' नाम की पुस्तक।

(५०) १८६१— ईश्वरीदास की बनारस से प्रकाशित पुस्तक 'The Soldiers Hindoostanee Companion.

(५१) १८६२— सर विलियम मोनियर का लन्दन से प्रकाशित 'व्यावहारिक हिन्दुस्तानी व्याकरण' नामक ग्रथ।

(५२) १८६२— 'कवायदे उर्दू' नाम का उर्दू-व्याकरण, जिसके चार भाग हैं। पहला, दूसरा तथा तीसरा भाग नासिर अली बेग तथा फैजउल्ला खा द्वारा तथा चौथा मुहम्मद अहसान द्वारा लिखित है।

(५३) १८६५— जी० पी० हजलग्रोव की बम्बई से प्रकाशित 'A vocabulary – English and Hindustanee' नाम की पुस्तक।

(५४) १८६६— हलरायड की लाहौर से प्रकाशित पुस्तक 'तसहील-अल-कलम'।

(५५) १८६८— कैप्टिन बोरैन डाइल की अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी के शब्द समूह पर मद्रास से प्रकाशित एक पुस्तक।

(५६) १८६९— अज्ञात लेखक की मद्रास से प्रकाशित पुस्तक 'Romanized Hindustanee Manual.'

(५७) १८६९— बा० नवीनचन्द्र राय का 'नवीन चन्द्रोदय'।

(५८) १८७० (लगभग)— हरिगोपाल पाध्ये की 'भाषा तत्त्व दीपका'।

(५९) १८७०— एथरिंग्टन की बनारस और लन्दन से प्रकाशित 'The Students Grammar of Hindi Language.'

(५९) (अ) १८७०— शीतलप्रसाद गुप्त की लखनऊ से प्रकाशित 'शब्द प्रकाशिका' नामक पुस्तक।

(६०) १८७०—मुहम्मद अली की पुस्तक The Hindustan Teacher का बंगलौर से प्रकाशित तृतीय संस्करण। प्रथम सस्करण का समय अज्ञात है।

(६१) १८७१—भैरवप्रसाद मिश्र की पुस्तक 'हिन्दी लघु व्याकरण' का द्वितीय संस्करण।

(६२) १८७२—जौन टी० प्लैट्स का हिन्दुस्तानी और उर्दू भाषा का व्याकरण।

(६३) १८७२—'हिन्दुस्तानी व्याकरण के प्राथमिक निमय' नाम की एक पुस्तक रुड़की से प्रकाशित हुई,

1. A first Grammer Suited to Beginners —L. S. I. Vol. IX. Pt. 1, p. 22

जिसके लेखक का नाम मालूम नहीं। यह पुस्तक थॉमसन सिविल इजीनियरिंग कॉलेज के लिए लिखी गई थी।

(६४) १८७२—जॉन डाउसन की लन्दन से प्रकाशित पस्तक A Grammar of the Urdu or Hindustani Language.

(६५) १८७२ से ७६ तक—जॉन थीम्स की प्रसिद्ध पुस्तक Comparative Grammer of the Modern Aryan Languages of India यह लन्दन से प्रकाशित हुई। इसके तीन भाग है। पहला भाग १८७२ मे, दूसरा १८७५ मे, तीसरा १८७६ मे प्रकाशित हुआ, जिनमे क्रमश वर्णन, सज्ञा सर्वनाम तथा क्रिया पर विचार किया गया है।

(६६) १८७३—एथरिंग्टन की बनारस से प्रकाशित 'भाषा-भास्कर'।

(६७) १८७३—फरल की कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तक (Hindustani Synonyms)

(६८) १८७३—सदासुखलाल के इलाहाबाद से प्रकाशित 'एंग्लो-उर्दू कोश', जिसमे व्याकरण-सम्बन्धी बातें भी हैं।

(६९) १८७४—पौलोमेरिस होमम की असागाव-बम्बई से प्रकाशित पुस्तक Novo. Vocabulario en Portignee, Concanim, Inglare Hindustani.

(७०) १८७४—पैजोनी मोनसिगनोर की सरधना से प्रकाशित पुस्तक Grammatica italianae indostana.

(७१) १८७४—जॉन टी० प्लैट्स की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दुस्तानी और उर्दूभाषा का व्याकरण'।

(७२) १८७४—सैल की मद्रास से प्रकाशित प्रारम्भिक व्याकरण की पुस्तक 'सुलासातुल कवानीन'।

(७३) १८७५ (लगभग)—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'हिन्दी व्याकरण' नाम की छोटी पुस्तिका।

(७४) १८७५—राजा शिवप्रसाद का 'हिन्दी व्याकरण'।

(७५) १८७५—राजा शिवप्रसाद की उर्दू-व्याकरण की पुस्तक 'उर्दू सर्फ ओ नहो'।

(७६) १८७५—केलॉग की प्रसिद्ध पुस्तक A Grammer of Hindi Language, जिसमे हिन्दी की विभिन्न बोलियो के भी रूप दिये गए है। पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

(७७) १८७७—सैल की मद्रास से प्रकाशित पुस्तक 'जामिउल कवानीन'।

(७८) १८७७—शिवप्रसाद का इलाहाबाद से प्रकाशित 'हिन्दी-व्याकरण'।

(७९) १८७७—दुर्गाप्रसाद का लखनऊ से प्रकाशित उर्दू-व्याकरण 'जुबदातुल कवायद'। इसके दो भाग है।

(८०) १८८०—हार्नली की लन्दन से प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक 'गौडी-भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन · पूर्वी हिन्दी के विशेष विवरण सहित'।

(८१) १८८०—जॉन टी० प्लैट्स का एडिनबर्ग से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी और उर्दू' विषय पर एक लेख, जो एनसाइक्लोपीडिआ ब्रिटानिका, भाग ११, ९वां सस्करण मे सगृहीत है।

(८२) १८८०—सर लायल की एडिनबर्ग से प्रकाशित पुस्तक 'Sketch of the Hindustani Language.'

(८३) १८८१—ग्रियर्सन की कलकत्ते से प्रकाशित 'कैथी लिपि-चिह्नो के विषय मे लिखित छोटी सी पुस्तिका'।

(८४) १८८२—ई० पामर की लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी फारसी अरबी का सरल व्याकरण' जिसका नाम 'Simplified Grammar Hindustani Persian Arabic' है।

(८५) १८८२—पिंकोट का लन्दन से प्रकाशित 'The Hindi Manual', इसमे व्याकरण के विषय मे विचार किया गया है।

(८६) १८८३—कीगन की सरधना से प्रकाशित पुस्तक 'Grammatica Lingunal Indostani.'

(८७) १८८३—फौक्यूज की नापोली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी जबान का कवाइद'।

(८८) १८८३—जे० विन्सन की पेरिस से प्रकाशित हिन्दुस्तानी व्याकरण की पुस्तक 'Elements de la Grammaise Hindonstanie.'

(८९) १८८४—फैलन का 'हिन्दुस्तानी मुहावरा-कोष'।

(९०) १८८५—मुहम्मद हुसैन की लाहौर से प्रकाशित 'जमिउल कवायद' नाम की पुस्तक।

(९१) १८८५—अज्ञात लेखक की दिल्ली से प्रकाशित Polyglot Grammer and Dialogues नामक पुस्तक।

(९२) १८८६—दीनानाथ डे का कलकत्ते से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी व्याकरण'।

(९३) १८८६—'रेनोल्ड की कलकत्ते से प्रकाशित 'घरेलू हिन्दुस्तानी' नाम की पुस्तक, जो हिन्दुस्तानी सीखने वालो के लिए विशेष उपयोगी है।

(९४) १८८६—शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का 'हिन्दी व्याकरण'।

(९५) १८९०—कैम्पसन की लन्दन से प्रकाशित 'The syntax and Idioms of Hindustani' नामक पुस्तक।

(९६) १८९०—सैंट कैन्टिन रनीडे की रोनन से प्रकाशित एक पुस्तक, जिसका नाम है 'Abrege de Grammaise Hindustani'.

(९७) १८९०—परसी स्मिथ का कलकत्ते से प्रकाशित 'उर्दू-व्याकरण'।

(९८) १८९०—शिवदास की 'लोकोक्तिकौमुदी'

(९९) १८९०—विश्वम्भरनाथ खत्री की कलकत्ता से प्रकाशित 'हिन्दी लोकोक्ति कोष'।

(१००) १८९२—देवीदयाल की 'भाषा शब्द निरूपण' नाम की पुस्तक।

(१०१) १८९२—कमीलो टगलिअब्यू की टोरिनो, रोम, फ्रेंच से प्रकाशित पुस्तक, जिसका नाम है: 'Grammatica della Lingua Hindustani Urdu'

(१०२) १८९४—गौरीशकर हीराचन्द ओझा की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन लिपिमाला'

(१०३) १८९४—एम० सिहुलट्ज का लिपजिग से प्रकाशित ग्रथ 'Grammatika der Hindustanis chm Grammar'.

(१०४) १८९५—लैफ्टिनेंट ग्रीन का ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित 'A practical Hindustàni Grammar'

(१०५) १८९५—एल० मैक्कार्थी की वरनाअर से प्रकाशित पुस्तक 'Grammaire Hindustani Francaise'

(१०६) १८९५—जी० रैन्किग की कलकत्ता से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दुस्तानी की गाइड'।

(१०७) १८९५—जी० स्माल का कलकत्ते से प्रकाशित 'उर्दू या हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'।

(१०८) १८९५—रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल मे प्रकाशित 'आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं मे बलात्मक स्वराघात' पर एक लेख।

(१०९) १८९६—एडविन ग्रीव्स की बनारस से प्रकाशित 'A Grammer of Modern Hindi' नामक पुस्तक।

(११०) १८९७—एस० संगोगी द्वारा लिखित, मद्रास से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा सीखने का सरल तरीका' नाम की पुस्तक।

(१११) १८९८—टी० वोलजली हेग का इलाहाबाद से प्रकाशित 'उर्दू-अध्ययन का तरीका' प्राप्त होती है।

(११२) १८६६—जे० विन्सन की पेरिस से प्रकाशित पुस्तक 'Manual de La Langue Hindustani.'

(११३) १६००—हरीचन्द्र का पेशावर से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी मैनुअल'।

(११४) १६००—कामताप्रसाद गुरु की प्रसिद्ध पुस्तक 'भाषा वाक्यपृथक्करण'।

(११५) १६०२—सतप्रसाद की 'कहावत-सग्रह'।

(११६) १६०४— पन्नालाल बानलीवाल की छोटी-सी पुस्तिका 'लिङ्ग-बोध'।

(११७) १६०५— चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'अक' नाम की पुस्तक मिलती है।

(११८) १६०६—हलरायड की लाहौर और लदन से प्रकाशित पुस्तक, जिसका नाम है 'Hindustani for every day.'

(११९) १६०७—सिद्धश्वर वर्मा की पुस्तक 'लोकोक्ति या कहावत' प्रकाशित हुई।

(१२०) १६०७— महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रयाग मे प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति'। पुस्तक सक्षिप्त है। उपसहार मे हिन्दी की विभिन्न बोलियो का क्षेत्र, सीमा आदि बताया गया है। वही पर कुछ व्याकरणिक विशेषताए भी यत्र-तत्र उद्धृत की गई हैं।[1]

(१२१) १६०८—बालमुकुन्द गुप्त की 'हिन्दी भाषा' नाम की पुस्तक।

(१२२) १६०६— फिलोट की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक जिसका विवरण कुछ इस प्रकार है–'Hindustani Stumbling Block, being difficult points in the Syntax and idiom of Hindustani explained and exemplified'

(१२३) १६११— गोविन्दनारायण मिश्र की 'विभक्ति-विचार' नामक की पुस्तक।

(१२४) १६११— टिसडल की लन्दन मे प्रकाशित 'A conversation Grammar of the Hindustani Language.'

(१२५) १६१५— रामरत्न का 'लोकोक्ति-सग्रह', यह सन उसके द्वितीय सस्करण के प्रकाशन का है।

(१२६) १६१६— कलकत्ते से प्रकाशित ग्रियर्सन के 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' का भाग ९, हिस्सा १; इसमे पश्चिमी हिन्दी पर विस्तार से विचार किया गया है।

(१२७) १६२०— कामताप्रसाद गुरु का काशी मे प्रकाशित प्रसिद्ध 'हिन्दी व्याकरण'। यह व्याकरण विस्तृत है। इसमे ऐतिहासिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियो को अपनाया गया है। इसी के 'मध्यम', 'सक्षिप्त' आदि अनेक सस्करण प्रकाशित हुए है।

(१२८) १६२०—गौरीशकर शुक्ल की प्रसिद्ध पुस्तक 'राष्ट्रभाषा हिन्दी'।

(१२९) १६२४— नगेन्द्रनाथ वसु की पुस्तक 'भारतीय लिपि-तत्त्व'।

(१३०) १६२४— बद्रीनाथ भट्ट की पुस्तक 'हिन्दी'। व्याकरण की दृष्टि से इसमे बहुत कम सामग्री है।

(१३१) १६२४— श्यामसुन्दरदास का बनारस मे प्रकाशित 'हिन्दी भाषा का विकास'। इसमे हिन्दी की विभिन्न बोलियो के रूप दिये गए है। ब्रज, अवधी और खडी बोली मे साम्य ढूढने के यत्न किये गए है।[2]

(१३२) १६२४— रामाधीन मिश्र की पुस्तक 'हिन्दी मुहावरे'।

(१३३) १६२५— आर० एन० साहा की 'अक्षरो की उत्पत्ति' नाम की पुस्तक।

(१३४) १६२५— श्यामसुन्दरदास का 'भाषा-विज्ञान'। इसमे हिन्दी पर भी सामग्री है।

(१३५) १६२६— दुनीचन्द की प्रसिद्ध पुस्तक 'पजाबी और हिन्दी का भाषा-विज्ञान'। भाषा-विज्ञान की पुस्तक होते हुए भी इसमे व्याकरण पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

(१३६) १६२६— गौरीशकर, हीराचन्द ओझा की पुस्तक 'नागरी अक और अक्षर' प्रकाश मे आई।

---

१. पुस्तक का यह विवरण १६२७ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण से दिया गया है।

२. पुस्तक का विवरण १६५० में प्रकाशित तृतीय संस्करण से दिया गया है।

(१३७) १९३०— मोहिउद्दीन कादरी का 'हिन्दुस्तानी ध्वनि-विज्ञान' नाम का लन्दन विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध। इसके दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों मे उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

(१३८) १९३२— बहादुरचन्द की 'लोकोक्तिया और मुहावरे' नाम की पुस्तक।

(१३९) १९३२— रामनरेश त्रिपाठी की पुस्तक 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी'।

(१४०) १९३२— पद्मसिंह शर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी'। इसमें व्याकरण-भेद, लिपि-भेद, उर्दू मे दूसरी भाषा के शब्द, हिन्दी मे शब्द-प्रयोग आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। विवेचन अधिक सूक्ष्म नही है। व्यावहारिकता का आश्रय लिया गया है।[1]

(१४१) १९३३— धीरेन्द्र वर्मा की इलाहाबाद से प्रकाशित पुस्तक 'ग्रामीण हिन्दी'। इसका परिशिष्ट व्याकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, इसमें हिन्दी की मुख्य बोलियों के व्याकरणों की तालिकाए दी गई है।[2]

(१४२) १९३३— धीरेन्द्र वर्मा की 'हिन्दी भाषा का इतिहास' अपने ढंग की यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

(१४३) १९३३— धीरेन्द्र वर्मा की 'हिन्दी भाषा और लिपि' नाम की पुस्तक। यह पहली पुस्तक का भूमिका-भाग ही है।

(१४४) १९३४— ब्लाक की 'La Indo Aryan' नाम की पुस्तक फ्रांसीसी भाषा मे है। इसमें हिन्दी भाषा-विषयक सामग्री भी है।

(१४५) १९३५— जम्बुनाथन की पुस्तक 'हिन्दी मुहावरा कोश'।

(१४६) १९३६— गौरीशकर भट्ट की 'देवनागरी लिपि का विधान-निर्माण-पत्र'।

(१४७) १९३६— गौरीशंकर भट्ट की पुस्तक 'अक्षरतत्त्व'।

(१४८) १९३७— आ० जे० सरहिन्दी का 'हिन्दी मुहावरा कोष'।

(१४९) १९३७— धीरेन्द्र वर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक 'ब्रजभाषा-व्याकरण'। सक्षिप्त आकार होते हुए भी इसमे वैज्ञानिकता का आधार ग्रहण किया गया था।

(१५१) १९३८— अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की प्रयाग से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव'।

(१५२) १९३८— ब्रह्मस्वरूप दिनकर की पुस्तक 'हिन्दी मुहावरे'।

(१५३) १९३८— कालेलकर की 'चलती हिन्दी'।

(१५४) १९३९— रामचन्द्र शुक्ल की काशी से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी उद्गम'।

(१५५) १९३९— चन्द्रबली पाडेय का काशी से प्रकाशित 'भाषा का प्रश्न'।

(१५६) १९३९— चन्द्रबली पाडेय की काशी से प्रकाशित 'बिहार मे हिन्दुस्तानी'।

(१५६) (अ) १९३९— चन्द्रबली पाडेय की काशी से प्रकाशित 'कचहरी की भाषा और लिपि'।

(१५७) १९४०— अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की पुस्तक 'हिन्दुस्तानी मुहावरे'।

(१५८) १९४०— चन्द्रबली पाडेय की काशी से प्रकाशित 'मुगल बादशाहों मे हिन्दी'।

(१५८) (अ) १९४०— चन्द्रबली पांडेय की काशी से प्रकाशित 'उर्दू का रहस्य'।

(१५९) १९४२— सुनीतिकुमार चटर्जी की अहमदाबाद से प्रकाशित 'Indo Aryan and Hindi.' यह पुस्तक बाद मे हिन्दी मे भी प्रकाशित हुई।

(१६०) १९४३— किशोरीदास वाजपेयी की प्रयाग से प्रकाशित 'ब्रजभाषा का व्याकरण'। सन दूसरे सस्करण का है।

---

१. पुस्तक का विवरण इलाहाबाद से १९५१ में प्रकाशित नवीन संस्करण से दिया गया है।

२. यह विवरण १९५५ में प्रकाशित पचम सस्करण से दिया गया है।

(१६१) १६४३— महात्मा गाधी की दिल्ली से प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा का प्रश्न' नाम की छोटी सी पुस्तिका।

(१६२) १६४४— रामचन्द्र गर्ग की 'अच्छी हिन्दी' नाम की पुस्तक।

(१६२) (अ) १६४५— गणेशदत्त इन्द्र की लखनऊ से प्रकाशित 'अक्षरशास्त्र'।

(१६३) १६४५— रविशकर शुक्ल की 'राष्ट्र भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी' नाम की पुस्तक।

(१६४) १६४५— राममूर्ति महरोत्रा की आगरे से प्रकाशित 'लिपिविकास' नाम की पुस्तक।

(१६५) १६४६— रामचन्द्र वर्मा की 'हिन्दी प्रयोग' नाम की पुस्तक।

(१६६) १६४७— महात्मा गाधी की अहमदाबाद से प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' नाम की पुस्तक।

(१६७) १६४७— चन्द्रबली पाडेय की काशी से प्रकाशित 'हिन्दी की हिमायत क्यो'।

(१६८) १६४८— शिवनाथ की काशी से प्रकाशित 'हिन्दी कारको का विकास' नाम की पुस्तक।

(१६९) १६४८— किशोरीदास वाजपेयी की कलकत्ते से प्रकाशित 'अच्छी हिन्दी का नमूना' नाम की पुस्तक।

(१७०) १६४९— जवाहरलाल नेहरू की अहमदाबाद मे प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा का सवाल' नाम की छोटी सी पुस्तिका।

(१७१) १६४९— किशोरीदास वाजपेयी का कलकत्ते से प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण'।

(१७२) १६४९— किशोरीदास वाजपेयी की कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तिका 'हिन्दी निरुक्त'।

(१७३) १६४९— देवनागरी लिपि सुधार समिति का विस्तृत विवरण लखनऊ से प्रकाशित किया गया। यह केवल ७५ पृष्ठ का है, किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(१७४) १६५०— दुनीचन्द की होशियारपुर से प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी व्याकरण'।

(१७५) १६५०— डा० सूर्यकान्त की दिल्ली से प्रकाशित 'टकसाली हिन्दी'।

(१७६) १६५१— भोलानाथ तिवारी का 'हिन्दी मुहावरा कोष'।

(१७६) (अ) १६५२— बाबूराम सक्सेना की इलाहाबाद से प्रकाशित 'दक्खिनी हिन्दी'।

(१७७) १७५४— धीरेन्द्र वर्मा के 'लाँ लाँग ब्रज' नाम के थीसिस का हिन्दी-अनुवाद 'ब्रज भाषा' नाम से इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ।

(१७८) १६५४— सुनीतिकुमार चटर्जी की 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी'। यह उनकी १६४२ मे प्रकाशित 'Indo-Aryan and Hindi' का अनुवाद है।

(१७८) (अ) १६५४— भोलानाथ तिवारी का इलाहाबाद से प्रकाशित 'बृहद् पर्यायवाची कोष'।

(१७९) १६५५— रामचन्द्र वर्मा की बनारस से प्रकाशित 'शब्द-साधना'।

(१८०) १६५५— उदयनारायण तिवारी की प्रयाग से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास'।

(१८१) १६५६— कपिलदेव की आगरा से प्रकाशित 'ब्रजभाषा बनाम खडी बोली'।

(१८१) (अ) १६५६— शितिकण्ठ मिश्र की काशी से प्रकाशित पुस्तक 'खडी बोली का आन्दोलन'।

(१८२) १६५७— किशोरीदास वाजपेयी की काशी से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी शब्दानुशासन'।

(१८३) १६५८— भारत सरकार की ओर से प्रकाशित 'A Basic Grammar of Modern Hindi.'

(१८४) १६५८— शिवप्रसाद सिह का शोधप्रबन्ध 'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य।

(१८५) १६५८— भोलानाथ तिवारी की दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण'।

(१८६) १६५८— किशोरीदास वाजपेयी का 'सरल शब्दानुशासन'।

(१८७) १६५९— हरदेव बाहरी की इलाहाबाद से प्रकाशित 'Hindi Semantics' पुस्तक।

(१८८) १६५६-- रामदहिन मिश्र का पटना से प्रकाशित 'बृहद् मुहावरा कोष' (प्रथम भाग)।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रथ भी है जिनका उल्लेख तो मिलता है किन्तु प्रकाशन समय ठीक से ज्ञात नही है :

१.	केशवराम भट्ट	—	'हिन्दी व्याकरण'
२.	रामचरण सिह	—	'भाषा प्रभाकर'
३	रामावतार शर्मा	—	'हिन्दी व्याकरण'
४.	विशेश्वर दत्त शर्मा	—	'भाषा तत्त्व प्रकाश'
५	रामदहिन मिश्र	—	'प्रवेशिका हिन्दी व्याकरण
६	अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी	—	'हिन्दी कौमुदी'
७.	रसूल अहमद	—	'हिन्दुस्तानी मुहावरा कोष'

इनके अतिरिक्त निम्न पाच ग्रथ ऐसे है जिनका प्रकाशन अभी नहीं हुआ है। ये पाचों डी० लिट्० या पी०एच० डी० की उपाधि के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है--

(१) १६४६— ओमप्रकाश का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्वीकृत 'हिन्दी मुहावरे' नाम का शोध-प्रबन्ध है।

(२) १६५७-- कनिका विश्वास का 'व्रजबुली' नाम का शोध-प्रबन्ध, जिस पर काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय से उपाधि प्राप्त हुई।

(३) १६५८-- कैलाशचन्द्र भाटिया का आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत 'हिन्दी मे आगत शब्दो का भाषा-तात्त्विक अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध।

(४) १६५८-- रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'आगरा जिले की बोली का अध्ययन' शीर्षक ग्रथ, जिस पर प्रयाग विश्व-विद्यालय से उपाधि प्राप्त हुई।

(५) १६५६— जगदेव सिह का 'A Grammatical Structure of Bangaru' शीर्षक ग्रथ पर, जिस पैनिस्लावेनिया विश्वविद्यालय ने शोध प्रबन्ध रूप मे स्वीकार किया।

(२) पूर्वी हिन्दी

(१) १८८०—हार्नलीका 'पूर्वी हिन्दी का व्याकरण', जिसमें 'पूर्वी हिन्दी' शब्द आधुनिक बिहारी और अवधी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(२) १८६०—हीरालाल काव्योपाध्याय लिखित 'छत्तीसगढी बोली का व्याकरण', जिसका ग्रियर्सन ने अनुवाद और सम्पादन किया था और जो बगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल (Vol. IX) मे प्रकाशित हुआ था। १६२१ मे यह अलग छपा।

(३) १८६३—केलॉग का हिन्दी भाषा का व्याकरण, जिसमे पूर्वी हिन्दी की विभिन्न बोलियो के स्थान-स्थान पर उल्लखित।

(४) १८६५—ग्रीब्ज के बनारस से प्रकाशित 'तुलसीदास के रामायण ग्रथ के व्याकरण पर विचार' नामक ग्रंथ, जिसमें अवधी पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

(५) १६०४—ग्रियर्सन का कलकत्ते से प्रकाशित 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' का छठा भाग, जिसमे विस्तार से पूर्वी हिन्दी की सभी बोलियो व उपबोलियों के रूप पर प्रकाश डाला गया है।

(६) १६३७—बाबूराम सक्सेना का इलाहाबाद से प्रकाशित शोध-प्रबन्ध 'Evolution of Awadhi'-इसमे अवधी का प्राय: सभी दृष्टियो से ऐतिहासिक और वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

(७) १९४९—लक्ष्मीधर का शोध-प्रबन्ध जो लन्दन मे प्रकाशित हुआ। इसका नाम है–'मलिक मुहम्मद जायसी के महाकाव्य पद्मावत के विशिष्ट सदर्भ मे १६वी शती की हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन'।

(८) १९५७—भालचन्द्र राव तैलग को नागपुर विश्वविद्यालय से 'भारतीय आर्य-भाषा परिवार की ये परिवर्तित बोलिया, छत्तीसगढी, हलवी, भरती' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। इस प्रबन्ध के प्रथम, द्वितीय, तृतीय खण्डो मे तीनो बोलियो का दर्शन, रूप और अर्थतत्त्व की दृष्टि से विचार किया गया है। पचम खण्ड मे तीनो बोलियो के शब्दो की अनुक्रमणिका भी प्रस्तुत की गई है। ग्रथ अभी अप्रकाशित है।

(३) राजस्थानी

(१) १८१८—जोहन क्रिस्टोफ अडलग की बर्लिन मे प्रकाशित 'Mithridates order Allgemeins' sprachenkunde. etc. Vol. IV जिसमे जयपुरी के विषय मे सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(२) १८६६—जे० राबसन का ख्याल अथवा मारवाडी नाटको का सग्रह बेवर मिशन प्रेस मे प्रकाशित हुआ, जिसमे विस्तृत भूमिका और शब्द-कोष भी था।

(३) १८७६—केलॉग का 'हिन्दी भाषा का व्याकरण', जिसमे स्थान-स्थान पर राजस्थानी बोलियो के रूप भी है।

(४) १८८६—फैलन द्वारा लिखित 'हिन्दुस्तानी-मुहावरा कोष' प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन व सशोधन टैम्पिल और दिल्ली के लाला फकीरचन्द वैश्य द्वारा किया गया था। यह बनारस तथा लदन से प्रकाशित हुई थी।

(५) १८९८— जी० मैकलिस्टर द्वारा लिखित अहमदाबाद से प्रकाशित 'जयपुर जिले मे बोली जाने वाली बोलियो के उदाहरण' नामक पुस्तक, जिसमे शब्दकोष और व्याकरण भी था। इस पुस्तक के विषय मे ग्रियर्सन ने लिखा है–'मैकलिस्टर का यह कार्य जयपुर जिले मे बोली जाने वाली भाषाओ का पूर्ण व महत्त्वपूर्ण सग्रह है। वास्तव मे यह उस जिले का भाषा-सर्वेक्षण है।'[१]

(६) १९०१—प० रामकरन शर्मा द्वारा लिखित 'मारवाडी व्याकरण'। यह सम्भवत जोधपुर मे प्रकाशित हुई थी।

(७) १९०१— ग्रियर्सन का रायल एशियाटिक सोसायटी के जनरल मे प्रकाशित एक लेख, जिसमे प्रमुख राजस्थानी बोलियो पर प्रकाश डाला गया है।

(८) १९०८— ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित कलकत्ता मे प्रकाशित 'भारत के भाषा–सर्वेक्षण' का भाग ९, हिस्सा २।

(९) १९१४-१६—इटेलियन विद्वान टैसीटरी के 'इडियन एन्टीक्यूरी' मे पुरानी पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण पर कुछ लेख प्रकाशित हुए थे। कुछ दिन पूर्व 'राजस्थानी भाषा' नाम से अनुकरण करके नामवरसिह ने इसे काशी से प्रकाशित किया।

(१०) १९४६ (लगभग)—नरोत्तम स्वामी और मुरलीधर व्यास की 'राजस्थानी कहावता' जो कलकत्ता से प्रकाशित हुई। यह दो भागो मे है।

(११) महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध सस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर के अन्तर्गत महाकवि सूर्यमल आसन से ता० २७, २८, २९ जनवरी, सन १९४७ को सुनीतिकुमार चटर्जी ने तीन भाषण दिए जो वहीं से 'राजस्थानी भाषा' नाम से प्रकाशित किए गए। इनमे राजस्थानी की विशेषताए तथा उसका इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

---

१. 'of the above, Mr. Macalister's work is a most complete and valuable record of the many forms of spuch employed in the Jaipur state. It is a linguistic survey of the entire state.' L. S. I. Vol. IX, pt. 2 Page 33.

(१२) मोतीलाल मेनारिया की प्रयाग से प्रकाशित पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'। इसके प्रथम प्रकरण से व्याकरण पर भी प्रकाश पडता है।

(१३) १९५३—पुरुषोत्तमलाल मेनारिया की बनारस से प्रकाशित 'राजस्थानी भाषा की रूपरेखा और मान्यता का प्रश्न' नामक पुस्तक।

(१४) १९५८—कन्हैयालाल सहल का दिल्ली से प्रकाशित शोध-प्रबन्ध 'राजस्थानी कहावते : एक अध्ययन'। इसमे राजस्थानी कहावतो का विस्तृत विवेचन है।

(४) पहाड़ी

(१) १८९३—केलॉग का लन्दन से प्रकाशित हिन्दी व्याकरण का दूसरा सस्करण है। इस व्याकरण मे गढवाली और कुमाउनी दोनो भाषाओ के रूप स्थान-स्थान पर उल्लिखित है।

(२) १८९४—गगादत्त उपरेती द्वारा लिखित लोडिआना से प्रकाशित 'Proverles and Folklore of Kumaun and Gorhwal'.

(३) १९००—गगादत्त उपरेती की अलमोडा से प्रकाशित 'Hill Dialects of the Kumaun Division' इसके विषय मे डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा है कि 'यह पुस्तक पहाड़ी भाषा की अनेक बोलियों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करती है।'

(४) १९०८—ग्रियर्सन द्वारा सगृहीत, कलकत्ते से प्रकाशित 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' के नवे भाग का चौथा हिस्सा।

इन उपरोक्त पुस्तको के अतिरिक्त तीन ग्रन्थ और प्राप्त होते है जो अभी तक अप्रकाशित है। ये तीनों पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है।

(क) १९५४—गुणानन्द जुयाल का आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'मध्य पहाडी भाषा और उसका हिन्दी से सम्बन्ध . एक आलोचनात्मक अध्ययन'। इसके ध्वनि, शब्द, रूप तथा वाक्य-विन्यास का विवेचन किया गया है।

(ख) १९५७—गोविन्दसिंह कन्दारी द्वारा प्रस्तुत आगरा विश्वविद्यालय मे स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'गढवाली की रावल्ती उपबोली, उसके लोकगीत और उसमे अभिव्यक्त लोक-सस्कृति'।

(ग) १९५८—जनार्दनप्रसाद काला का 'गढवाली भाषा और उसका लोक-साहित्य' शीर्षक लखनऊ विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध। इस पुस्तक मे भाषा का अध्ययन अन्यन्त सक्षिप्त है। द्वितीय खण्ड मे ध्वनि, व्याकरण, शब्द-तत्त्व सम्बन्धी विशेषताए है तथा तृतीय खण्ड के पचम अध्याय मे लोकोक्तियो, मुहावरो आदि पर प्रकाश डाला गया है।

(५) बिहारी

(१) १८६८—बीम्स का रायल एशियाटिक सोसायटी के (Vol. III) जर्नल मे प्रकाशित एक लेख, जिसमें भोजपुरी पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

(२) १८७४—सर जार्ज कैम्पबेल की कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तक 'specimen of languages of India'. इसमे मैथिली भाषा पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है, साथ ही शब्दो की एक सूची भी प्रस्तुत की गई है।

(३) १८७५—मिस्टर फैलन ने 'इण्डियन एन्टीक्यूरी' मे मैथिली भाषा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

(४) १८७९—फैलन का बनारस तथा लन्दन से प्रकाशित 'नया हिन्दुस्तानी-अग्रेजी कोष' प्राप्त होता है, जिसमे बिहारी भाषाओ पर प्रकाश डाला गया है।

(५) १८८०—हार्नली का लन्दन से प्रकाशित अन्य गौडीय भाषाओ की तुलना-सहित 'पूर्वी हिन्दी का व्याकरण'।

(६) १८८१—ग्रियर्सन द्वारा लिखित कलकत्ते से प्रकाशित 'उत्तरी बिहारी की मैथिली भाषा' यह सन

१८८० मे बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (भाग १) मे पहले प्रकाशित हो चुका था।

(७) १८८१—जे० आर० रेड की इलाहाबाद से प्रकाशित 'आजमगढ जिले की रिपोर्ट', जिसके तृतीय परिशिष्ट में भोजपुरी के शब्द-समूह पर प्रकाश डाला गया है।

(८) १८८१—ई० बी० अलेक्जैण्डर का इलाहाबाद से प्रकाशित 'भारत के उत्तरी-पश्चिमी जिलों का व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक विवरण', जिसमे गोरखपुर मे बोली जाने वाली भाषा का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(९) १८८१—ग्रियर्सन की कलकत्ते मे प्रकाशित 'कैथी' की एक छोटी पुस्तिका।

(१०) १८८२—ग्रियर्सन का कलकत्ते से प्रकाशित 'मैथिली बोली का प्रारम्भिक विवेचन' नाम की पुस्तक, जिसके पहले भाग में उसका व्याकरण दिया गया है।

(११) १८८३—ग्रियर्सन का बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (भाग III) मे बिहारी सज्ञा एव क्रिया-रूपों पर (Declension and Conjugation) प्रकाशित निबन्ध।

(१२) १८८३ से ८७ तक—ग्रियर्सन की कलकत्ते से प्रकाशित आठ भागो मे 'बिहारी भाषा की बोलियो व उपबोलियों के सात व्याकरण'।

(१३) १८८५ व ८९ मे—हार्नली और ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित कलकत्ता, लन्दन और लिपज़िग से प्रकाशित 'बिहारी भाषाओ का तुलनात्मक कोष' जिसमे व्याकरण-सम्बन्धी बातें है।

(१४) १८९१—जॉन क्रिश्चियन की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक मिलती है जिसका नाम है 'बिहारी मुहावरे'।

(१५) १८९३—केलॉग का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दी भाषा का व्याकरण', जिसमे मैथिली, भोजपुरी के भी रूप दिये गए है।

(१६) १८९७—गिरीन्द्रनाथ दत्त का बगाल की 'एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल' मे (Vol. Lxvi) 'सरई जिले मे बोली जाने वाली बोलियो का विवेचन' शीर्षक लेख।

(१७) १९०३—ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित, कलकत्ते से प्रकाशित 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' का भाग ५, हिस्सा २, जिसमे बिहारी भाषाओं का विस्तृत व्याकरण प्रस्तुत किया गया है।

(१८) १९२६—सुनीतिकुमार चटर्जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'बगाली भाषा की उत्पत्ति और विकास', जिसमे बिहारी की विभिन्न बोलियो के भी उदाहरण दिये गए है।

(१९) १९५४—उदयनारायण तिवारी का पटना से प्रकाशित 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध, जिसके द्वितीय खण्ड मे विस्तार से भोजपुरी भाषा का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

(२०) १९५८—सुभद्रा झा का 'मैथिली भाषा की रूप-रचना' नामक लन्दन मे प्रकाशित शोध-प्रबन्ध।

(२१) १९५८—हरिहरप्रसाद गुप्त का दिल्ली से प्रकाशित शोध-प्रबन्ध, जिसका नाम है—'आजमगढ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग-सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन'।

इसके अतिरक्त दो शोध-प्रबन्ध और प्राप्त होते है जो अभी तक प्रकाशित नही हुए है—

(१) १९४३—नलिनीमोहन सान्याल का कलकत्ता वि० वि० से स्वीकृत 'बिहारी भाषाओ की उत्पत्ति और विकास' शीर्षक शोध-प्रबन्ध।

(२) १९५०—विश्वनाथप्रसाद का लन्दन वि० वि० से स्वीकृत 'भोजपुरी ध्वनियो और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध।[1]

---

१. यह लेख इसी अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए श्रद्धेय डॉ० भोलानाथ जी तिवारी के आदेश से उन्ही के निर्देशन में तैयार किया गया है। शीघ्रता के कारण यह सूची उतनी पूर्ण नही हो सकी है, जितनी सम्भव थी। अशुद्धियों एव परिवर्द्धनों के सम्बन्धों में सुझावों का सहर्ष स्वागत करूंगा।

—लेखक

देशज शब्द और हिन्दी

श्री पूर्णसिंह

हिन्दी भाषा के शब्द-समूह का ऐतिहासिक दृष्टि से वर्गीकरण—तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी—चार शीर्षको के अन्तर्गत बहुत दिनो से होता आया है। थोडे बहुत परिवर्तनों के साथ यही वर्गीकरण सबसे अधिक तर्क-सम्मत एव ग्राह्य भी है। यहा इनमे से, अत्यधिक विवादास्पद, 'देशज' नामक वर्ग पर विचार किया जा रहा है।

यो तो प्राचीन काल मे देशज शब्द के अनेक पर्यायो एव उनके अनेक अर्थों का प्रयोग मिलता है परन्तु शब्द-समूह के एक विशिष्ट वर्ग के अर्थ मे इसका सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य भरत[1] ने किया है। उन्होने देशज के लिए 'देशीमत' शब्द का प्रयोग किया है।

देशज शब्द की परिभाषा एवं स्वरूप

देशज शब्दो के अध्ययन मे आज तक उसकी किसी निश्चित परिभाषा का अभाव रहा है। यो तो इसके स्वरूप को लेकर भरत ने भी कुछ सकेत दिए थे परन्तु उस स्वरूप का स्पष्टीकरण आज तक न हो पाया। हमारे पुराने आचार्यों मे से भरत, चण्ड, रुद्रट तथा हेमचन्द्र ने ही देशज शब्द पर कुछ अधिक स्पष्टता के साथ विचार किया है। भरत के कथन से केवल यही व्यजित होता है कि देशज शब्द तत्सम (समान) तथा तद्भव (विभ्रष्ट) शब्दो से भिन्न प्रकार के होते है। इनके पश्चात छठी शताब्दी के आचार्य चण्ड ने 'देशीप्रसिद्ध की सज्ञा उन दोनो को दी है जो न सस्कृत के है और न प्राकृत के।'[2] रुद्रट के अनुसार 'देशज शब्द उनको कहते है जिनकी प्रकृति-प्रत्ययमूलक रचना नही दिखाई जा सकती।'[3] अर्थात इनके अनुसार देशज शब्दो का न तो सस्कृत से सम्बन्ध है और न इनकी व्युत्पत्ति ही दी जा सकती है। रुद्रट के पश्चात देशीनाममाला के रचयिता अपभ्रश के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने उन शब्दो को देशज कहा है 'जिनकी सस्कृत से व्युत्पत्ति नही दिखाई जा सकती। यदि सस्कृत से व्युत्पत्ति दिखा भी दी जाए तो उस अर्थ मे वे सस्कृत-कोषो मे प्रचलित नही हैं। वे शब्द भी देशज है जिनका अर्थ-परिवर्तन हो गया है और जो प्राकृत मे बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। परन्तु अर्थ-परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि वह शब्द के लाक्षणिक या गौण प्रयोग के आधार पर न हुआ हो।'[4]

लोक-भाषाए ज्यो-ज्यों सस्कृत से दूर होती गई, त्यो-त्यो देशज शब्दो की सख्या भी बढने लगी और परिणामस्वरूप देशज शब्दो के अध्ययन की ओर भी ध्यान जाने लगा। आधुनिक काल मे इस अध्ययन को और भी बल मिला। आधुनिक युग मे देशज शब्दों पर विचार करने वाले विद्वानो मे बीम्ज, हार्नले, डा० भण्डारकर, जार्ज ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार तथा डा० बाबूराम सक्सेना के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते है।

बीम्ज महोदय ने उन शब्दो को देशज माना है जिनका उद्गम-स्रोत सस्कृत नही है। इनके उद्गम-स्रोत के

---

१. नाट्यशास्त्र (१७-३)

२. हिस्टोरिकल ग्रामर आॅव अपभ्रश, पृष्ठ ५, तगारे

३. रुद्रट-प्रणीत काव्यप्रकाश (६-२७)

१. देशीनाममाला (१—३, ४)

विषय में बीम्ज का कथन है 'या तो वे देश के मूल निवासियों की भाषाओं से आए हैं या सस्कृत-काल के पश्चात आर्यों ने ही उनका निर्माण किया है।'[1] हार्नले भी देशज शब्दो का सस्कृत मे कोई सम्बन्ध न मानते हुए उनके उद्गम-स्रोत के विषय मे बीम्ज से सहमत है। साथ ही उन्होने एक नई सम्भावना व्यक्त करते हुए कहा है कि 'आर्यों ने सस्कृत के शब्दों को ही अपने सम्भाषण से इतना विकृत कर लिया है कि उनको पहचानना असम्भव हो गया है। ऐसे शब्द ही देशज है। इस मान्यता का कारण देते हुए हार्नले का कहना है कि आधुनिक युगीन भाषा-वैज्ञानिक खोजो के फलस्वरूप देशज शब्दों की सख्या घटती जा रही है। इनके मूलरूप पहचाने जा रहे है और इस प्रकार इनका सम्बन्ध सस्कृत मे स्थापित होता जा रहा है।[2] डा० भण्डारकर भी देशज शब्दों का सम्बन्ध सस्कृत से न मानते हुए इनका विकास आर्यों द्वारा विजित आदिवासियो की भाषाओ से स्वीकार करते है।[3]

जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार देशज शब्दो की व्युत्पत्ति सस्कृत मे नही दिखाई जा सकती और ये कई प्रकार के होते है। कुछ देशज शब्द ऐसे है जो मुडा तथा द्रविड भाषाओ मे ग्रहण किये गए है, तो कुछ स्थानीय या प्रादेशिक है जिनका विकास यही हो गया है। जार्ज ग्रियर्सन का यह भी कथन है कि देशज शब्दो की अधिकाश सख्या प्राथमिक प्राकृतो से निकली है, परन्तु ये प्राकृते उस प्राकृत से भिन्न है जिसका सस्कार करके सस्कृत का निर्माण किया गया। अत ये शब्द सच्चे तद्भव है, परन्तु तद्भव के उस अर्थ मे नही जो भारतीय वैयाकरणो द्वारा इस शब्द को दिया गया है। ये शब्द स्थानीय बोलियों के रूप थे और इनको तद्भव से अभिन्न मानना चाहिए।[4]

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मत को निष्कर्षस्वरूप यो कह सकते है कि कुछ देशज शब्द तो आर्य-पूर्व की भाषाओ से आए है और कुछ का विकास देश मे ही जनसाधारण की बोल-चाल मे हो गया है। इनका यह भी कथन है कि 'प्राचीन वैयाकरणो ने ध्वन्यात्मक शब्दो को भी इनके अन्तर्गत रख दिया है।'[5] डा० बाबूराम सक्सेना ने अपना देशज-सम्बन्धी मन्तव्य और भी स्पष्ट शब्दो मे प्रकट करते हुए कहा है 'उन शब्दो को हम देशज कहते है जो आधुनिक समय की बोल-चाल मे स्वत. विकसित हुए है। जैसे पेड, गडबड, ठडाई आदि।'[6]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

ऊपर हमने देश-विदेश के नये-पुराने अनेक भाषा वैज्ञानिको के देशज-सम्बन्धी मन्तव्यो का अवलोकन किया। इन मतो के सत्य-असत्य पर विचार करना अभी शेष है। यदि इन सभी मतो को मिलाकर देशज शब्दो की विशेषताए बताई जाए तो सात विशेषताए बनती है। अर्थात इन सभी मतो मे देशज शब्दो के विषय मे कुल मिलाकर निम्न सात बाते कही गई है.

(१) इन (तथाकथित देशज) शब्दो की सस्कृत भाषा मे व्युत्पत्ति सिद्ध नही की जा सकती।
(२) ये देश के मूल निवासियो की भाषाओ से आए है।
(३) इन शब्दो की व्युत्पत्ति अज्ञात है।
(४) इनकी उत्पत्ति देश मे ही हुई है।
(५) ये शब्द सस्कृत के ही ऐसे विकृत रूप है जिनको पहचानना असम्भव हो गया है।
(६) ये शब्द प्रारम्भिक प्राकृतो से आए है।
(७) अनुकरणात्मक शब्द भी देशज का ही एक अग है।

---

१. ए कम्पैरेटिव ग्रामर आव दि मॉडर्न द्राविडियन लैंग्वेजिज आंव इण्डिया—भाग १, पृष्ठ १२
२. 'ए कम्पैरेटिव ग्रामर आंव दि गॉडियन लैंग्वेजिज' की भूमिका, पृष्ठ ३९-४०; सम्पादक : मुरलीधर बनर्जी; 'हेमचन्द्र की देशीनाम-माला' के पृष्ठ २४ पर उद्धृत
३. विल्सन फिलालॉजीकल लैक्चर्स, पृष्ठ १०८-१०८
४. लिंग्विस्टिक सर्वे आंव इण्डिया—प्रथम भाग, पृष्ठ १२७
५. ओरिजिन एण्ड डिवलपमैण्ट आंव बेंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १९१-१९२
६. सामान्य भाषा-विज्ञान, पृष्ठ १२६

यह प्रश्न अभी शेष है कि उक्त विशेषताएं ठीक है या गलत। नीचे प्रत्येक विशेषता के साथ प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर संक्षेप में विचार किया जाएगा।

(१) क्या देशज शब्दों की संस्कृत से व्युत्पत्ति नहीं दिखाई जा सकती ?

देशज शब्दो का आर्यमूल से कोई सम्बन्ध नही, यह मान्यता सर्वथा सत्य प्रतीत होती है। क्योकि सस्कृत से सम्बन्ध जुडने पर तो कोई भी देशज शब्द सस्कृतसम (तत्सम) या सस्कृत-भव (तद्भव) की श्रेणी मे आ जाएगा। इतना ही नही, अपितु यह मान्यता और भी विस्तृत है। जब प्राकृत-वैयाकरणों ने देशज शब्दों के संस्कृत-सम्बन्ध का निषेध किया था तो सम्भवत वे यह कहना चाहते थे कि देशज शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक सम्बन्ध कही से भी नहीं दिखाया जा सकता। परन्तु, क्योकि तत्कालीन भाषा का शब्द-समूह प्राय. सस्कृत से ही नि.सृत था, अत: सस्कृतेतर भाषाओं से व्युत्पत्ति की समस्या उठाने की उन्होने आवश्यकता ही न समझी होगी। यदि इस रूप मे इस मत को स्वीकार न करें तो सस्कृत से भिन्न अरबी, फारसी, अग्रेजी आदि भाषाओ के सभी शब्द देशज हो जाएगे, क्योंकि इनकी व्युत्पत्ति भी तो सस्कृत से सिद्ध नही की जा सकती।

(२) क्या देशज शब्दों का उद्गम-स्रोत देश के मूल निवासियों की भाषाएं हे ?

बीम्ज, डा० भण्डारकर, ग्रियर्सन तथा डा० चैटर्जी आदि विद्वानो ने स्पष्ट कहा है कि देशज शब्द आर्य-पूर्व की भाषाओं से आए है। इतना तो सर्वथा सम्भव है कि आर्यों ने द्रविड-कोलादि भाषाओ के कुछ शब्द अपनाये हों, परन्तु यह बात विचारणीय है कि इन शब्दो को देशज किस आधार पर कहा जा सकता है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि देशज शब्दो का व्युत्पत्तिमूलक सम्बन्ध किसी भी भाषा से स्थापित नही किया जा सकता। जिस प्रकार हिन्दी मे गृहीत अग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के शब्दो को देशज नही कहा जा सकता, उसी प्रकार द्रविड, कोलादि भाषाओ से गृहीत शब्द भी देशज नही कहे जा सकते। यह तो हो सकता है कि तथाकथित देशज शब्दो मे अनेक शब्द द्रविड भाषाओ से आकर मिल गए हो; परन्तु सिद्धान्तत इन शब्दो को देशज नही कहा जा सकता और आशा की जा सकती है कि देशज शब्दो मे मिले हुए ऐसे शब्द भविष्य मे अलग कर दिए जाएं।

(३) क्या देशज शब्दों की व्युत्पत्ति अज्ञात है ?

ऊपर की दोनो पिशेषताओ पर विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि देशज शब्दो की व्युत्पत्ति किसी भी भाषा से सिद्ध नही की जा सकती। इसका यही अर्थ हुआ कि इनकी व्युत्पत्ति अज्ञात है। अत पहली दो और तीसरी, तीनो विशेषताओ मे कोई विशेष अन्तर नही रह जाता। डा० श्यामसुन्दरदास ने देशज शब्दो की व्युत्पत्ति को अज्ञात मानते हुए इसे 'अल्पज्ञता का सूचक'[1] माना है। परन्तु हमारे विचार से यह अल्पज्ञता की कोई बात नही है। डा० श्यामसुन्दरदास की इस मान्यता का तो यही निष्कर्ष निकलता है कि अल्पज्ञता दूर होने पर सभी देशज शब्दो की व्युत्पत्ति का पता चल सकता है। तो क्या देशज शब्दों का अस्तित्व एक प्रपच या भ्रम-मात्र है ? क्या अज्ञान का आवरण हटते ही ये शब्द किसी अन्य शब्द-श्रेणी मे समाविष्ट हो जाएगे। केवल अल्पज्ञता के आधार पर ही देशज शब्दों का अस्तित्व स्वीकार करना तो ठीक नही।

हमारे विचारानुसार देशज शब्द केवल ऐसा प्रपच-मात्र नही है जो अल्पज्ञता के दूर होते ही साफ हो जाएगा। भाषा की स्थिर प्रकृति विकमनशीलता के कारण उसमे नूतन शब्दो का निर्माण और पुरानो का लोप होता रहता है। प्राचीन आर्यों ने सस्कृत-काल तक कई सहस्र शब्दो का निर्माण कर लिया था। किसी भी भाषा का यह विकास या निर्माण कोई योजनाबद्ध प्रक्रिया नही होती अपितु अपनी स्वभाविक प्रवृत्ति के कारण ही शब्द-समूह आदि का परिवर्तन होता रहता है। अत यह कहना अनुचित न होगा कि सस्कृत के निर्माण के पश्चात भी अनेक ऐसे शब्द स्वभावत: बने होगे जिनका सस्कृत भाषा से कोई सम्बन्ध नही हो सकता। ये शब्द उसी प्रकार बने होगे जिस प्रकार सस्कृत के सहस्रो शब्द बने थे, जिस प्रकार सस्कृत (या आदिम भाषा इडोहिट्टाइट) के शब्दो की व्युत्पत्ति का प्रश्न नही उठता उसी

---

१. हिन्दी भाषा का विकास, पृष्ठ ३१

प्रकार इन शब्दों की व्युत्पत्ति भी नही दी जा सकती। ऐसे शब्द ही वास्तविक देशज शब्द है और इनकी व्युत्पत्ति सदैव अज्ञात रहेगी। यही तो उनके देशजत्व का मूलाधार है। इस प्रकार डा० श्यामसुन्दरदास की धारणा तर्कसगत नही कही जा सकती; हा अल्पज्ञता उन शब्दो के विषय मे हो सकती है जो अदेशज होते हुए देशज शब्दो मे घुल-मिल गए है और कालान्तर मे जिनकी व्युत्पत्ति का पता लगने की सम्भावना की जा सकती है।

(४) क्या देशज शब्दों की उत्पत्ति देश में ही हुई है ?

आधुनिक युग मे भाषा की दैवी उत्पत्ति को प्राय· अस्वीकार किया जा चुका है। अतः यह सिद्ध है कि शब्द भी आकाश मे न टपककर पृथ्वी पर या देश मे ही बने होगे। तो फिर यहा देशज से क्या विशिष्ट अभिप्राय है ? यहा 'देशज' शब्द मे यह अभिप्राय निहित है कि जो भी शब्द जिस भाषा के देशज कहे जाते है वे उस भाषा-भाषी क्षेत्र-विशेष मे ही वहा के जनसाधारण द्वारा ग्राम बोलचाल मे निर्मित किये हुए होते हैं। यहा प्रश्न उठता है कि सस्कृत भाषा के (असंस्कृतावस्था के) शब्द भी तो जनता ने अपने देश-विशेष मे साधारण बोलचाल द्वारा ही विकसित किए थे तो फिर वे देशज क्यो नही है ? इसका उत्तर यही है कि हमे अपनी प्राचीनतम भाषा को, जिससे हमारी आधुनिक भाषा का व्युत्पत्ति-मूलक सम्बन्ध है, आधार रूप मे स्वीकार करना होगा। अन्तत किसी आधार पर तो आधुनिक अध्ययन टिकेगा ही। हिन्दी के विकास के सम्बन्ध मे सस्कृत से और पहले का आधार खोजने की हमे आवश्यकता नही।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देशज शब्द देश-विशेष की ही उपज है। परन्तु किस शब्द की उत्पत्ति कब हुई, इसका सूक्ष्म अध्ययन बहुत कठिन है। देशज शब्द सस्कृत-काल से लेकर आधुनिक काल तक बनते आ रहे है और भविष्य मे भी बनते रहेगे।

(५) क्या देशज शब्द संस्कृत-शब्दों के ही अत्यधिक विकृत रूप हैं ?

आधुनिक युग मे अनेक खोजो के परिणामस्वरूप बहुत से तथाकथित देशज शब्दो की सस्कृत मे व्युत्पत्तिया सिद्ध की जा रही है। इन्ही शोधो के आधार पर हार्नले तथा डा० व्हूलर आदि ने अनुमान लगाया था कि सभी देशज शब्द सस्कृत के ही विकृत रूप है और एक-न-एक दिन इन सभी के मूल रूपो का पता चल जाएगा।

यह बात तो स्वीकार की जा सकती है कि तथाकथित देशज शब्दो मे अनेक शब्द अज्ञानवश ऐसे मिले हुए है जो सस्कृत के ही अति विकृत रूप है और कालान्तर मे जिनके मूल रूपो को पहचाना जा सकता है, परन्तु सिद्धान्त रूप मे ऐसे शब्दो को देशज नही कहा जा सकता। लेकिन क्योकि हम ऐसे शब्दो को वर्तमानावस्था मे देशज शब्दों से अलग नही कर सकते अत देशज शब्दों के अध्ययन की यह एक समस्या अवश्य है।

(६) क्या देशज शब्द प्रारम्भिक प्राकृतों के हैं और इनको तद्भवों से अभिन्न मानना चाहिए ?

जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार सस्कृत के निर्माण से पहले आर्यों की नैसर्गिक भाषा के कई रूप थे, जिनको इन्होंने प्रारम्भिक प्राकृते कहा है। इन्ही नैसर्गिक या प्राकृत भाषाओं मे से मध्यदेशीय प्राकृत का सस्कार करके सस्कृत भाषा का निर्माण किया गया। शेष प्राकृते भी लोकजीवन मे रहकर सस्कृत के साथ-साथ चलती रही और कालान्तर मे इन्होने सस्कृत, पालि तथा प्राकृत आदि को अपने शब्द-समूह से प्रभावित किया। इन्ही मध्यदेशेतर प्रारम्भिक प्राकृतों से गृहीत शब्द ही ग्रियर्सन के अनुसार देशज है। दूसरे शब्दो मे देशज शब्दो का उद्गम-स्रोत मध्यदेशेतर प्राकृत भाषाए ही है।

एक क्षण के लिए इस मत को ठीक मान भी ले तो हम इसमे इतना और जोडना चाहेगे कि देशज शब्द जहां मध्यदेशेतर प्रारम्भिक प्राकृतों से आए है वहा यह भी सर्वथा सम्भव है कि कुछ शब्द मध्यदेश की ही प्रारम्भिक प्राकृत से आए हो। कहा जा सकता है कि उसका तो सस्कार करके सस्कृत बनाई ही थी, फिर वे शब्द देशज कैसे कहे जा सकते है ? लेकिन क्या मध्यदेशीय प्राकृत के सभी शब्दो का परिष्कार करके सस्कृत मे परिवर्तित कर दिया गया था और वे वाङ्मय मे आ गए थे ? हमारे विचार से जनसाधारण के सभी शब्द कभी भी वाङ्मय मे नही आ सकते। बहुत से शब्द सस्कृत की मुहर लगने से बच गए होगे, लेकिन वे जनता मे प्रचलित रहे और कालान्तर मे अपने प्रभावस्वरूप वाङ्मय में भी स्थान पा गए। क्योकि, ये शब्द संस्कार के नियमों एव विधि-विधानो से बाहर रह गए थे, अत सस्कार

की हुई भाषा (सस्कृत) से इनकी व्युत्पत्ति नही दिखाई जा सकती। कहने का अभिप्राय यह कि मध्यदेशेतर प्रारम्भिक प्राकृतो से ही नही, अपितु मध्यदेशीय प्रारम्भिक प्राकृत से भी आए शब्दो को ग्रियर्सन के हिसाब से देशज कहना चाहिए। हम इस पूरी मान्यता पर ही नीचे विचार करेगे।

तथाकथित देशज शब्दो मे प्रारम्भिक प्राकृतों के शब्द हो सकते है यह तो माना जा सकता है; परन्तु उन्हे देशज कहना हमे ठीक नही लगता। ग्रियर्सन महोदय ने प्रारम्भिक प्राकृतो से आए इन शब्दो को सस्कृत के शब्दों से, अधिक प्राचीन चाहे हो, लेकिन कम प्राचीन नही माना है। हमारे विचार से इन शब्दों और सस्कृत के शब्दो मे कोई अन्तर नही करना चाहिए और यदि ऐसे शब्द हमारी भाषाओ मे है, तो उन्हे तत्सम और तद्भव के अन्तर्गत स्थान देना चाहिए। देशज शब्दो का अस्तित्व सस्कृत-काल के पश्चात मानना ही ठीक है वरना तो सस्कृत के शब्दो को भी देशज कहा जाने लगेगा। यदि ऐसे शब्द हमारी भाषाओ मे है तो इतने लम्बे समय से वे अवश्य ही विकृत हो गए होगे और इसी अवस्था मे ग्रियर्सन की यह मान्यता ठीक हो सकती है कि वे तद्भवो से अभिन्न है। यदि उन्हे देशज कहे तो तद्भवो से अभिन्न कैसे हो सकते है? अत इन शब्दो को उसी अर्थ मे तद्भवो से अभिन्न मानना चाहिए जो भारतीय वैयाकरणो ने तद्भव शब्द को दिया है।

प्रारम्भिक प्राकृतो के कई रूप थे भी या नही। यदि थे तो इसका कोई प्रमाण नही कि देशज शब्द वही से आए है। हम किसी भी देशज शब्द के विषय मे निश्चय से नही कह सकते कि यह किसी प्रारम्भिक प्राकृत से आया है। अत ऐसी दशा मे हमारा उक्त विवाद निरर्थक-सा लगता है।

(७) क्या अनुकरणात्मक शब्द भी देशज के अन्तर्गत आएंगे ?

जो शब्द किसी ध्वनि या दृश्यादि के अनुकरण पर बनते है उन्हे अनुकरणात्मक कहते है। ध्वन्यात्मक की अपेक्षा 'अनुकरणात्मक' नाम अधिक उपयुक्त है क्योकि इसमे ध्वनि एव दृश्य दोनो के अनुकरण पर बने शब्दो का समावेश हो जाता है। इन शब्दो के विषय मे यह प्रश्न बडा महत्त्वपूर्ण है कि क्या ध्वनि या दृश्य का शब्दों मे ठीक-ठीक अनुकरण किया जा सकता है? यदि ऐसा सम्भव होता तो अनुकरणात्मक शब्द ही भाषा की वास्तविक सम्पत्ति होते। परन्तु ऐसे शब्दो मे ज्यो-का-त्यो अनुकरण न होकर ध्वनि या दृश्य की गूज अथवा प्रतिबिम्ब-मात्र होता है।

अनुकरणात्मक शब्द भाषा के जन्मकाल से ही उसके साथ है, लेकिन प्राचीन काल मे इनके अध्ययन की ओर ध्यान नही दिया गया। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनुकरण-सिद्धान्त को मानने वाले विद्वान तो ऐसे ही शब्दो के आधार पर भाषा का निर्माण एव विकास मानते है। कम-से-कम इस सिद्धान्त मे इतनी सत्यता तो है ही कि भाषा के आरम्भ मे अनुकरण के आधार पर भी कुछ शब्द बने थे। इस प्रकार इन शब्दो की नीव बडी गहरी है।

प्राकृत-वैयाकरणो ने ऐसे शब्दो को देशज के ही अन्तर्गत रखा था, इस बात का स्पष्ट उल्लेख डा० चाटुर्ज्या तथा डा० उदयनारायण तिवारी ने किया है।[1] हिन्दी के आधुनिक विद्वानो मे से कुछ इनको देशज मानने के पक्ष मे है तो कुछ विपक्ष मे। वास्तव मे यदि अनुकरणात्मक शब्दो की व्युत्पत्तिमूलक विशेषताओ पर विचार किया जाए तो ये देशज शब्दो से अभिन्न लगते है। प्रथम तो इनकी व्युत्पत्ति नही दी जा सकती, दूसरे इनका सम्बन्ध भी देश-विशेष से है। लेकिन, क्योंकि इनके मूल मे स्पष्ट या अस्पष्ट अनुकरण का आधार वर्तमान है, अत यह विशेषता इनको देशज शब्दो से कुछ अलग कर देती है, तथापि इतना अलग नही कि देशज की श्रेणी से बाहर निकल जाए। यह तो देशज शब्दो के एक वर्ग की एक विशेषता मात्र है। सारत अनुकरणात्मक शब्द भी देशज ही है।

अनुकरणात्मक शब्दो मे स्पष्ट या अस्पष्ट अनुकरण का होना आवश्यक है परन्तु हिन्दी के कोषग्रथों में कुछ ऐसे शब्दो को भी अनुकरणात्मक दिया गया है जिनके मूल मे अनुकरण की कल्पना भी नही की जा सकती। उदाहरणार्थ, हिन्दीशब्दसागर से झझट, चहलपहल, चरपरा, चुभना तथा चोचला आदि शब्दो को लिया जा सकता है। हमारे विचार से 'झझट' शब्द के निर्माण के मूल मे किस ध्वनि या दृश्य का अनुकरण रहा होगा, इसका अनुमान भी नही लगाया जा

१. (i) ओरिजिन एण्ड डिवलपमैण्ट आव बैंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १९१
(ii) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ २११

सकता। 'झझट' शब्द का अर्थ भी किसी ध्वनि या दृश्य से प्रकट नही हो सकता। ऐसी ही स्थिति दूसरे शब्दो की है। हमारे विचार से ऐसे शब्दों को अनुकरणात्मक न मानकर सीधे देशज के अन्तर्गत रखना चाहिए।

ऊपर की विशेषताओ के विवेचन के फलस्वरूप वास्तविक देशज शब्दो की निम्न विशेषताए स्थापित की जा सकती है :

१. देशज शब्दो की व्युत्पत्ति नही दी जा सकती।

२. देशज शब्द जनसाधारण की बोलचाल द्वारा देश-विशेष की उपज है।

३ देशज शब्दो का एक भाग ही अनुकरणात्मक शब्द है।

इसके अतिरिक्त भ्रम या अज्ञान के कारण देशज शब्दो मे कुछ एसे शब्द भी मिले हो सकते है जो—

(i) सस्कृत के ही अत्यधिक विकृत रूप है,

(ii) द्रविड-कोलादि मूलनिवासियो की भाषाओ मे आए है,

(iii) प्रारम्भिक प्राकृतों से आए है।

परन्तु ये देशज शब्दो के अध्ययन मे समस्याए-मात्र है, सिद्धान्तत ऐसे शब्द देशज नही है। यदि ऊपर उल्लिखित देशज शब्दो की विशेषताओं को एकत्र कर दिया जाए तो देशज शब्दों की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है .

'सस्कृत-काल के पश्चात प्रदेश-विशेष के लोक-व्यवहार मे निराधार अथवा अनुकरणात्मक आधार पर निर्मित व्युत्पत्ति-रहित शब्दो को देशज कहते है।' यह सामान्य रूप से देशज शब्दों की परिभाषा हुई। हिन्दी के देशज शब्द वही है जो हिन्दी-युग मे बने है।

विभिन्न युगों में देशज शब्दों की स्थिति

(१) **संस्कृत-युग**—सामग्री के अभाव मे सस्कृत-काल के देशज शब्दो की स्थिति के विषय मे अनुमान से ही काम लेना पडता है। सस्कृत (वैदिक) भाषा का काल प्राय १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक माना जाता है। ५वी शती-पूर्व पाणिनि ने नैसर्गिक भाषा का सस्कार करके सस्कृत रूप का प्रतिष्ठापन किया। यदि नैसर्गिक भाषा के एक हजार (१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू०) वर्षों की बात छोड दी जावे, तो ऐसा विचार है कि सस्कार के एकदम बाद सस्कृत में देशज शब्दो का अभाव रहा होगा, क्योकि उस समय की जो भी शब्दावली जिस रूप मे मिली वही सस्कृत हो गई थी। परन्तु इस संस्कार के पश्चात भी तो लोक-व्यवहार मे नये शब्द बनते रहे होगे। ऐसे शब्दो को ही देशज कहा जा सकता है। पाणिनि के पश्चात प्रयोग मे आये इन देशज शब्दो के आधार पर भी कुछ नई धातुए प्रकाश मे आई होगी और उनके लिए नये प्रत्ययादि सोचे गए होंगे। अष्टाध्यायी का उणादि-प्रकरण और उसके आधार पर परवर्ती शब्दो की सिद्धि मे इस बात का सहज सकेत है।

सस्कार की प्रारम्भिक अवस्था मे कुछ वर्षों तक विधि-विधानों की कठोरता के फलस्वरूप प्रत्येक ऐसे शब्द का बहिष्कार किया गया होगा जिसका सस्कृत की किसी धातु से सम्बन्ध न हो। लेकिन कुछ वर्ष के पश्चात जनसमाज मे निर्मित शब्दों ने सस्कृत को प्रभावित करना और वाङ्मय मे आना आरम्भ कर दिया होगा। परन्तु, क्योकि इस प्रकार के शब्द प्राचीन काल से ही सस्कृत के अग बन चुके है अत उनको अलग करना बहुत कठिन ही है।

सस्कृत भाषा के प्रसिद्ध विद्वान टी० बरो ने भी यह स्वीकार किया है कि 'क्लासिकल सस्कृत मे भी अनेक ऐसे शब्द है जिनका उद्गम अज्ञात है। भारतीय शब्दावली के अनुसार इनमे अनेक शब्द देशज ही है। हमे इन अज्ञात उद्गम वाले शब्दों को देखकर आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए।'[१]

(२) **पालि-काल**—पालिकाल तक आते-आते देशज शब्दो की सख्या बढ़ गई होगी, क्योकि इतने समय तक काफी देशज शब्दो का विकास हो गया होगा। राइज डेविड द्वारा सम्पादित पालि के एकमात्र अच्छे कोष 'पालि-इगलिश डिक्शनरी' मे एक बहुत बडी सख्या अज्ञात व्युत्पत्ति वाले शब्दो की है। निश्चय ही इनमे से अधिकाश शब्द देशज होगे।

---

१. दि संस्कृत लैंग्वेज, पृष्ठ ४७

स्वय कोषकार ने भूमिका मे कहा है 'ऐसे शब्दो की विशाल सख्या है जिनके उद्गम का पता नही चलता। अनेक शब्द ऐसे भी हैं जिनकी व्युत्पत्ति उनका ठीक अर्थ प्रकट नही करती, अपितु कभी-कभी तो उलटा अर्थ देती है। प्रत्येक जीवित भाषा मे इस प्रकार के शब्द होते हैं।'[1] कोषकार का यह वक्तव्य देशज शब्दो की ओर ही सकेत करता है। बहुत से शब्दो को कोष मे अनुकरणात्मक भी माना गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पालि भाषा के देशज शब्दों की सख्या कई सहस्र है।

(३) **प्राकृत-काल**––प्राकृत काल देशज शब्दों की दृष्टि से बहुत सम्पन्न है। देशज शब्दो की बडी सख्या को देखकर ही इस युग मे इन शब्दो का अध्ययन आरम्भ हुआ। प्राकृत भाषा के प्रसिद्ध एव प्रामाणिक कोष 'पाइअसद्द-महण्णवो' मे अनेक शब्दो को स्पष्ट रूप से देशज स्वीकार किया गया है। कोषकार का कथन है, 'जिन शब्दों का सस्कृत के शब्दो के साथ कुछ भी सादृश्य नही है, कोई सम्बन्ध नही है, उनको देश्य या देशी बोला जाता है। यथा अकासिय, अगय, इसव, उअचित––आदि।'[2] यहा कोषकार ने उदाहरण रूप मे ४५ शब्द दिए है। यह तो बानगी-मात्र है और जैसा कि हम पहले कह चुके है कोष के भीतर कई सहस्र शब्दो को स्पष्टतया देशज स्वीकार किया गया है।

(४) **अपभ्रंश-काल**––अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि इस युग मे देशज शब्दों की सख्या सर्वाधिक रही है। बहुत से वैयाकरण इनके अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए और बारहवी शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने तो ऐसे शब्दो की माला ही प्रस्तुत कर दी।

इस युग मे देशज शब्दो की स्थिति पर प्रकाश डालने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि अपभ्रश की सारी तो क्या, अधिकाश शब्दावली भी एकत्र उपलब्ध नही है। इसका कोई कोष भी प्रकाशित नही हुआ है। तगारे महोदय ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्टोरिकल ग्रामर ऑव अपभ्रश' मे यो तो अपभ्रश के प्रत्येक पक्ष पर विचार किया है, परन्तु देशज शब्दो की ओर उनका ध्यान भी प्राय. नही गया है।

वैसे तो अपभ्रश भाषा का साहित्य बहुत है परन्तु उसके सुसम्पादित एव सुप्रकाशित ग्रथों मे पाहुड दोहा, सावयधम्म दोहा, प्राकृतपैंगलम्, उक्तिव्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर तथा कीर्तिलता का ही नाम लिया जा सकता है। इन पुस्तकों की शब्दानुक्रमणी देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन ग्रथो मे अनेक देशज शब्दो का प्रयोग हुआ है। लेखक अनेक शब्दो की व्युत्पत्तिया देने मे असमर्थ रहे है, व्युत्पत्ति न दे सकने पर उन्होने कही तो उसका सस्कृत-पर्याय दे दिया है और कही प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। कई शब्द तो ऐसे है जिनके अर्थ का भी पता नही चल सका है। हमारे विचार से इस प्रकार के सभी शब्दों को देशज कहा जा सकता है। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की गवेषणात्मक भूमिका मे डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी अपभ्रश मे अनेक देशज शब्दों के अस्तित्व को स्वीकार किया है और उक्त पुस्तक से ही उदाहरण दिए है। इसके अतिरिक्त यह भी कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी के आदिकाल मे उपलब्ध देशज शब्दो मे से बहुत से उसी रूप मे अथवा भिन्न (पूर्व) रूप मे अपभ्रश-काल मे वर्तमान रहे होगे।

(५) **हिन्दी-युग में देशज शब्दों की स्थिति**––हिन्दी-युग मे अभिप्राय हिन्दी भाषा के आरम्भ से आज तक के समय का है। इसका आरम्भ लगभग १०वी शताब्दी से स्वीकार किया जाता है। सुविधा के लिए इस युग को परम्परागत चार कालो मे ही विभक्त करके प्रत्येक काल मे देशज शब्दों की स्थिति पर अलग-अलग विचार किया जाएगा।

हिन्दी के आदिकाल तक अर्थात दसवी शताब्दी तक आते अपभ्रश अपने रूप परिवर्तित कर हिन्दी की ओर बढ़ने लगी थी। वैसे तो इस काल का बहुत-सा साहित्य अप्रामाणिक एव अर्द्ध-प्रामाणिक माना जाता है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि इन ग्रथों की रचना उस समय हुई जब अपभ्रश और हिन्दी के रूप पूर्णतया अलग न हो पाए थे। इस युग के रासो-ग्रथो मे देशज शब्द भरे पड़े है। अकेले 'पृथ्वीराज रासो' मे ही कई सौ देशज शब्द हैं। डा० विपिन-विहारी त्रिवेदी ने अपने ग्रंथ 'चन्दवरदाई और उनका काव्य' मे रासो के देशज शब्दों पर कुछ विचार कर लगभग साठ

---

१. पालि-इंगलिश डिक्शनरी, भूमिका-पृष्ठ ७

२. पाइअसद्दमहण्णवो, भूमिका-पृष्ठ ७

शब्दो को उदारण रूप मे प्रस्तुत किया है। हमारा विचार है कि यदि रासो की भाषा का व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन किया जाए तो निश्चय ही कई सौ देशज शब्द निकलेगे। ऐसी ही स्थिति अन्य ग्रथो की है।

सम्भवत: हिन्दी के आदिकाल मे देशज शब्दो की सख्या अपभ्रश-काल की सख्या से कम हो गई थी और फिर निरन्तर घटती रही। इस युग में कुछ तो धार्मिक धाराओ के उदय के कारण सस्कृत-शब्दावली का और मुसलमानो के आगमन के कारण अरबी-फारसी की शब्दावली का हमारी शब्दावली पर प्रभाव पडा होगा और इन शब्दों ने बहुत से देशज शब्दों को स्थानान्तरित कर दिया होगा।

इसके पश्चात भक्तियुग आया। भक्ति-आन्दोलन के आधार पर ग्रथ सस्कृत के होने के कारण सस्कृत-शब्दावली का प्रचार बहुत बढ गया। साथ ही अरबी-फारसी और तुर्की के शब्द भी हमारे शब्द-समूह मे प्रविष्ट हो गए जिससे देशज शब्दों की सख्या और भी कम हो गई। फिर भी देशज शब्दो का बहुत कम प्रयोग इस काल मे नही हुआ है क्योंकि तुलसी, सूर तथा जायसी के ग्रथो मे इनकी एक बहुत बडी सख्या वर्तमान है। सूरसागर मे ही अनुकरणात्मक शब्दों सहित सहस्रो देशज शब्द प्रयुक्त हुए है। डा० प्रेमनारायण टण्डन ने अपने शोध-प्रबन्ध 'सूर की भाषा' मे सूर-साहित्य से कुछ देशज शब्दो को उद्धृत किया है। 'तुलसीशब्दसागर' मे भी बहुत से शब्द व्युत्पत्ति-रहित एव अनेक अनुकरणात्मक है।[1] ये सभी शब्द सिद्ध करते है कि तुलसी ने सस्कृतमयी भाषा का प्रयोग करते हुए भी अनेक शब्दो को अपनाया है। यही दशा जायसी के काव्य की है। लोकभाषा के अत्यधिक निकट होने के कारण सम्भवत देशज शब्दों की दृष्टि से वे सूर एव तुलसी से भी आगे बढ गए हैं।

रीतिकाल की प्रवृत्तिया, राजमहलो के शृगार-वर्णन और रीति-ग्रथां के निर्माण की थी। अन्त.पुर अथवा नायक-नायिकाओं के वर्णन मे कवि सीमित शब्दावली का ही प्रयोग करते थे। दूसरी ओर यद्यपि इनका काव्यशास्त्रीय विवेचन विशेष गम्भीर एव महत्त्वपूर्ण तो न था, तथापि शब्दावली तो काव्य-शास्त्र की ही थी। उपर्युक्त दोनो बाते देशज शब्दों के अनुकूल न होने से इस युग में देशज शब्दो की सख्या भक्तिकाल से भी कम हो गई, फिर भी बिहारी एव भूषण जैसे कवियो ने इनका प्रयो ग तो किया ही है। बिहारीसतसई मे लगभग ४५ देशज शब्द प्रयुक्त हुए है।

आधुनिक काल अथवा खड़ी बोली युग में देशज शब्दों की स्थिति

कविता—यो तो खडी बोली का जन्म भी ब्रज तथा अवधी के साथ ही हुआ, परन्तु साहित्य मे इसका विशेष स्थान भारतेन्दु के बाद ही बना। खडी बोली के विकास के सकेत ११ वी शती से ही मिलने लगते है और गोरख-नाथ-देवलनाथ तथा चन्दवरदाई की रचनाओ मे इसका पुट मिलता है। आदिकाल के अन्तिम चरण के कवि अमीर खुसरो ने तो इसके बहुत परिष्कृत रूप का प्रयोग किया है। यदि इस काल को खडी बोली का भी आदिकाल माना जावे तो इसमे देशज शब्दो की स्थिति हिन्दी के आदिकाल के समान ही है। खुसरो की परिष्कृत हिन्दी की रचनाओ मे बहुत ही कम देशज शब्दो का प्रयोग हुआ है।

हिन्दी के पूर्व-मध्ययुग की भाति खडी बोली का भी पूर्व-मध्ययुग माना जा सकता है जिसमे साहित्य की तीन धाराए थी। सन्तो की प्रेम एव भक्तिमिश्रित काव्य-धारा, उर्दू कवियो की प्रेम-कथानको की धारा—जिसे भाषा की दृष्टि से हिन्दी-उर्दू धारा कह सकते है—तथा रहीम-गग आदि की नीतिपरक काव्य-धारा। सन्तो की रचनाओ मे प्रयुक्त खडी बोली में देशज शब्दो का सामान्य प्रयोग हुआ है। हिन्दी-उर्दू धारा के कवियो—आलम, जटमल, वली, इशा, नजीर तथा मीर आदि की—भाषा दिल्ली के निकट की जनभाषा थी, अत इस काल मे इसी धारा मे देशज शब्दो का अधिक प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत रहीम तथा गग आदि की रचनाओ मे बहुत कम देशज शब्द आए है। रहीम की एकमात्र खडी बोली की रचना 'मदनाष्टक' मे किसी भी देशज शब्द का प्रयोग नही हुआ है। उत्तर मध्ययुग मे रस-निधि, ठाकुर, पद्माकर, देवनाथ तथा ग्वाल आदि की कुछ रचनाओ मे खडी बोली का पुट मिलता है। इन्होने भी देशज शब्दो का प्रयोग बहुत कम किया है।

---

१. तुलसी-शब्दसागर : सम्पादक डा० भोलानाथ तिवारी

वास्तविक रूप से खड़ी बोली-युग का आरम्भ भारतेन्दु से हुआ। भारतेन्दुयुगीन खड़ी बोली कविता का विषय देशप्रेम एव भारतीय संस्कृति के अधोपतन का खेद-प्रकाशन है। साथ ही भविष्य के उज्ज्वल स्वप्नों एव प्राचीन संस्कृति के गुणगान पर भी कविताएं लिखी गई हैं। इस प्रकार के काव्य-विषय के कारण इस युग में सस्कृत-शब्दो का प्रयोग बढने लगा और देशज शब्दो की स्थिति सामान्य रही। द्विवेदी-युग में भाषा की शुद्धि एव संस्कार-परिष्कार पर अधिक बल दिया गया। भाषा सस्कृतनिष्ठ बन गई और देशज शब्दों का प्रयोग निरन्तर कम होता चला गया। इस युग की सस्कृतनिष्ठ रचनाओं में 'प्रियप्रवास' का नाम लिया जा सकता है जिसमें सम्भवत· ही किसी देशज शब्द का प्रयोग हुआ हो।

यों तो द्विवेदीयुगीन कविता मे भी देशज शब्दों का प्रयोग काफी कम हो गया था, परन्तु छायावादी कविता को देखने से तो ऐसा लगता है कि इसमे देशज शब्द है ही नहीं। प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी की रचनाए बहुत सस्कृतनिष्ठ है और सिवाय कुछ अनुकरणात्मक शब्दों के अन्य बहुत ही कम देशज शब्द इनमें आ पाए हैं। देशज शब्दो का यह बहिष्कार किसी जान-बूझकर चलाये गए आन्दोलन का परिणाम नही, अपितु कविता-विषय, अतिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति तथा छायावादी वायवीयता के कारण स्वतः हो गया है। छायावादी कविता-जितने कम देशज शब्द सस्कृत-काल के पश्चात आज तक किसी भी युग मे प्रयुक्त नही हुए।

यह बात बहुत कुछ ठीक है कि छायावादी कविता की भाषा कभी भी जनभाषा नही रही। छायावाद की परवर्ती प्रगतिवादी कविताधारा ने जहा छायावादी विचारधारा का विरोध किया वहा उसकी भाषा, अति कल्पनाप्रियता तथा वायवीयता का भी खण्डन किया। यथार्थवादिता पर बल दिया गया और भाषा को भी जनसाधारण के निकट लाने का प्रयास किया गया। इस प्रकार लोक की ओर रुचि बढने से अनेक देशज शब्द फिर से साहित्य मे आने लगे। प्रयोगवादी एव अधुनातन कविता में भी देशज शब्दो की स्थिति प्राय वैसी ही है। अधुनातन युग के देशज शब्दो के विषय मे यह और उल्लेखनीय है कि अनुकरणात्मक आधार पर बने देशज शब्द अन्य देशज शब्दो की अपेक्षा अधिक है।

खड़ी बोली गद्य में देशज शब्दों की स्थिति

पद्य की अपेक्षा गद्य साधारण जनता के अधिक निकट होता है, सम्भवतः इसी कारण गद्य-साहित्य मे पद्य-साहित्य की अपेक्षा देशज शब्दो का आधिक्य पाया जाता है।

खडी बोली हिन्दी गद्य की आरम्भिक अवस्था में जासूसी तथा तिलस्मी आदि मनोरजन एव घटनाप्रधान उपन्यासो का आधिक्य था। इनकी भाषा सरल एव अनेक देशज शब्दो से युक्त है। यदि गणना की जाए तो इन उपन्यासो में सहस्रो देशज शब्द मिलेगे। इनके पश्चात प्रेमचन्द अपने उपन्यासो मे जनता के बहुत निकट आ गए, फलतः उन उपन्यासों मे ग्रामीण एव देशज शब्दो की एक बहुत बडी सख्या समाविष्ट हो गई। 'रगभूमि' उपन्यास में ही लगभग २२५ देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनमे से १५० के लगभग तो खडी बोली मे बहुत प्रचलित है। यही दशा 'गोदान' आदि उपन्यासो की है।

जनसाधारण मे निर्मित होने के कारण देशज शब्द दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा विचार-प्रधान विषयो के लिए उपयुक्त नही होते। सूक्ष्म विचारो की अभिव्यक्ति प्राय इनके द्वारा नही की जा सकती। यही कारण है कि छायावादी गद्य एव अन्य विचार-प्रधान निबन्धो आदि मे इनका प्रयोग नही के बराबर हुआ है। प्रसाद के निबन्धो, महादेवी वर्मा की आलोचनात्मक भूमिकाओ, राय कृष्णदास आदि के गद्यगीतो, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी एव अज्ञेय आदि के साहित्य में देशज शब्द बहुत कम है। इसके विपरीत यशपाल आदि के प्रगतिवादी गद्य मे इनकी सख्या अपेक्षाकृत कुछ अधिक है।

आंचलिक उपन्यासों में देशज शब्द

गद्य साहित्य में देशज शब्दो की दृष्टि से आचलिक उपन्यासो का विशेष महत्त्व है। इन उपन्यासो में मैला 'आंचल', 'परती परिकथा', 'गंगा मैया' तथा 'बाबा बटेश्वरनाथ' बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें देशज शब्दों की अधिकता का

अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि अकेले 'मैला आचल' मे ही ३०० के लगभग देशज शब्दो का प्रयोग हुआ है। निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि अधुनातन गद्य मे पर्याप्त देशज शब्दो का प्रयोग हो रहा है।

हिन्दी में देशज शब्दों की संख्या

हिन्दी मे देशज शब्दों की सख्या जानना भी बडा मनोरजक होगा। यद्यपि इस बात का कोई निश्चित उत्तर तो नही दिया जा सकता, फिर भी अनुमान लगाया जा सकता है।

जब हम हिन्दी शब्द का प्रयोग करते है तो इसमे मध्यदेश के, दसवी शताब्दी से आज तक के, सभी भाषा-रूप आ जाते है। साहित्य में प्रयुक्त मध्यदेशीय शब्दावली का सबसे बडा कोष 'हिन्दी शब्द सागर' है जिसमे लगभग एक लाख शब्द हैं। इस कोष मे लगभग ३१०० शब्दो को स्पष्ट रूप से देशज स्वीकार किया गया है। लगभग एक हजार शब्द अनुकरणात्मक है। पीछे सिद्ध किया जा चुका है कि अनुकरणात्मक शब्द भी देशज ही है अत. देशज शब्दों की सख्या चार हजार से ऊपर हो जाती है। इनके अतिरिक्त उक्त कोष मे ६०० शब्द इस प्रकार के है जिनकी व्युत्पत्ति के स्थान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है। लगभग १५० शब्दो की व्युत्पत्ति सस्कृत, फारसी और अरबी आदि से दी तो गई है परन्तु उसे संदिग्ध माना गया है। क्योकि इन शब्दो के विषय मे कोषकारो का कोई निश्चित मत नही है अत· इनको भी देशज माना जा सकता है। सैकडो शब्द डिगल के एव सैकडो दोहरी व्युत्पत्तियो वाले है। इन शब्दों मे से भी बहुतो के देशज होने की सम्भावना है। इस प्रकार सब मिलाकर हिन्दी मे देशज शब्दो की सख्या ५००० से भी अधिक होती है जो हिन्दी-शब्द-समूह का लगभग ५ प्रतिशत है।

खड़ी बोली के देशज शब्दों की संख्या

अब रहा खडी बोली में देशज शब्दो की सख्या का प्रश्न। यह तो निश्चित ही है कि हिन्दी शब्द सागर की शब्दावली के एक बहुत बडे भाग का प्रयोग खडी बोली मे नही होता। अत हिन्दी एव खडी बोली हिन्दी के देशज-शब्दो की सख्या मे काफी अन्तर है। उक्त कोष के आधार पर ही खडी बोली के देशज शब्दो की सख्या लगभग ३००० मानी जा सकती है।

खडी बोली के देशज शब्दो की सख्या के विषय मे एक बात और भी कथनीय है कि अधुनातन खडी बोली के साहित्य मे अनेक ऐसे देशज शब्दो का प्रयोग हो रहा है जो हिन्दी शब्दसागर मे नही आ पाए है। किसी भी कोष में अधुनातन पूरी शब्दावली तब तक नही आ सकती जब तक कि सारे अधुनातन साहित्य की शब्दानुक्रमणी तैयार न हो। यदि इस प्रकार का प्रयास किया जाए तो अनेक शब्द ऐसे निकलेंगे जो अभी तक किसी भी कोष मे स्थान नही पा सके है और जिनमे से बहुत से देशज है। आचलिक उपन्यासो के विषय मे यह कथन सर्वाधिक सत्य है। यदि साहित्य मे प्रयुक्त, परन्तु कोषों द्वारा अप्रकाशित शब्दावली की ओर भी ध्यान दिया जाए तो निश्चय ही खडी बोली के देशज शब्दों की सख्या बढ जाएगी।

खड़ी बोली के बहुप्रचलित देशज शब्द

यह प्रश्न विवादास्पद है कि खडी बोली के देशज शब्द कौनसे है और कौनसे नही। आज आचलिक कथा-साहित्य और लोकभाषा-प्रचार के कारण हिन्दी-प्रदेश की देशज शब्दो से युक्त शब्दावली, चाहे अब तक वह परिनिष्ठित हिन्दी का अग न भी रही हो, खडी बोली भी शब्दावली मे स्थान पाती जा रही है। यहा इस विवाद मे न पडकर खड़ी बोली के बहुप्रचलित लगभग २६० शब्द उदाहरण रूप मे प्रस्तुत करके उनमे से कुछ पर व्युत्पत्तिमूलक विचार किया जाएगा :

अटकल, अरराना, आढत, आल्हा, ऊटपटांग, ऊबडखाबड, ऊलजलूल, कजूस, कटकटाना, कलमलाना, कल्लर, कसमसाना, कायँ-कायँ, किचकिचाना, कुलबुलाना, खचाखच, खच्चर, खटकना, खटखटाना, खटपट, खडबडाहट, खद्दर, खनकना, खनखनाना, खर्राटा, खलबली, खादी, खिलखिलाना, खुभना, खुर्राट, गटकना, गटपट, गडबड, गड़पना, गत्ता, गदराना, गपकना, गालमूसरी, गिचपिच, गिटपिट, गिडगिडाना, गिलगिली, गिलौरी, गुडगुडाना, गुन-

गुनाना, गुर्राना, घडघडाहट, घपला, घमासान, घमाका, घर्राटा, घहराना, घिसपिस, घुन्ना, घूट, घोंपना, घोटाला, चपत, चटकना, चटकीला, चटपट, चमाचम, चरमराना, चहकना, चहलपहल, चाटना, चिडचिडा, चिपकना, चिपचिपा, चिरौरी, चिलडा, चिल्ला, चीचपड, चीकू, चुभना, चुहड़ा, चूहा, चोचला, छटपटाना, छपछप, छमाछम, छलछलाना, छाबडी, छौकना, जंजाल, जगमगाना, जलेबी, झंझट, झंझनाना, झकझक, झकझोरना, झगडा, झटपट, झड़प, झन्नाटा, झमेला, झहरना, झिझिक, झिडकना, झिलमिल, झुग्गी, झुटपुटा, झुनझुना, टटा, टट्टू, टनटन, टपकना, टर्राना, टाली, टीमटाम, टीस, टूम, टेटुआ, ठढाई, ठकठक, ठनठन, ठनाका, ठपठप, ठहाका, ठुमकना, ठुमरी, ठेठ, ठेस, डकार, डबडबाना, डील, डुगडुगी, ढाबा, तडकना, तडतडाना, तडपना, तडकभडक, तरतराना, तारामीरा, ताबडतोड, तुतलाना, तेदुआ, थपकना, थपकी, थपथपाना, थपेडा, थप्पड, थूक, थोथा, दनदनाना, दनादन, दहाड़ना, दुतकारना, धकधक, धकधकाना, धक्का, धडकना, धडल्ला, धड़ाका, धडाधड, धडाम, धत्, धधकना, धब्बा, धमकाना, नहरुआ, नौटकी, पटपट, पठाका, पपोरना, पागल, पिचपिचा, पिलपिला, पुचकारना, पेठा, पेड, फफकना, फटकना, फटकारना, फटफटाना, फडफडाना, फरफराना, फर्राटा, फुदकना, फुसफुसाना, फूक, फूहड, बटाढार, बडबडाना, बरबर, बरमा, बरवै, बागर, बिचकना, बिज्जू, बिनौला, बिलबिलाना, भडकना, भडकीला, भडास, भट्टा, भन्नाना, भनभनाना, भबकी, भरता, भिनकना, भुरभुरा, भगा, भोपू, मकोडा, मक्का, मखौल, मचकना, मचमचाना, मचलना, मट्ठी, माद, मुन्ना, मेमना, रद्दा, रिमझिम, रेवडी, लचक, लचकीला, लच्छा, लड़खड़ाना, लथपथ, लपकना, लपलपाना, ललकारना, लात, लुगाडा, लहडा, लोच, लौडा, शेरवानी, सडास, सकपकाना, सटपटाना, सनसनी, सन्नाटा, समोसा, सरसराहट, सहलाना, साझी, साई, साईस, सालू, सिटपिटाना, सिलवट, सिसकना, सौड, हकलाना, हक्काबक्का, हडपना, हडबडाना, हल्ला, हाफना, हौआ, हारिल, हिचकी, हिनहिनाना तथा हुल्लड आदि।

ऊपर उद्धृत शब्दों में से कुछ पर व्युत्पत्तिमूलक विचार

(१) **अटकल**—

हिन्दी मे अटकल शब्द का प्रयोग (अ) कल्पना, अनुमान तथा (आ) अन्दाज व कूत के अर्थ मे होता है। हिन्दीशब्दसागर[1] मे 'अटकल' की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

अटकल—स० √अट् = घूमना + सं० √कल् = गिनना।

श्री कुलकर्णी ने इसकी व्युत्पत्ति स० अर्द्ध + कल् अथवा स० अन्तर + कल् से बताई है।[2] इस व्युत्पत्ति को देखकर यह कहा जा सकता है कि श्री कुलकर्णी का एक निश्चित मत नही है। दूसरे श्री कुलकर्णी तथा हिन्दी शब्दसागर दोनो का 'अटकल' की व्युत्पत्ति के विषय मे मतभेद है, वह भी उस अवस्था मे जबकि दोनों ने ही व्युत्पत्ति सस्कृत से दिखाई है। हमारे विचार मे ये सभी व्युत्पत्तिया भी अटकल-मात्र है। तीसरे 'अट् + कल्', 'अन्तर + कल्' या 'अर्द्ध + कल्' आदि किसी से भी यदि अटकल शब्द निकला होता तो इन मतों मे इतना वैपरीत्य तथा अनिश्चितता नही रहती। चौथे सस्कृत की दो धातुओ से, जिनका अर्थ भी अटकल से अनुरूप नही है, अटकल शब्द का बनना कुछ कम ही समझ मे आता है। उक्त व्युत्पत्तियो को प्रामाणिक न मानकर ही श्री रामचन्द्र वर्मा[3] ने 'अटकल' की व्युत्पत्ति के स्थान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है।

हमारे मत से यह शब्द देशज है फलत व्युत्पत्ति का प्रश्न ही नही उठता। अनुमानमात्र के आधार पर संस्कृत की किन्ही समान ध्वनियो वाली धातुओ को पकड़ कर रख देना व्युत्पत्ति नही कही जा सकती। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री टर्नर[4] का इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे मौन रहना भी इसके देशजत्व की ओर सकेत करता है। यदि इसकी

---

१ हिन्दी शब्दसागर, पृष्ठ ६३, कालम १

२ मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृष्ठ १७, कालम २

३. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृष्ठ २६, कालम २

४ नेपाली डिक्शनरी, (अड्कल्), पृष्ठ १०, कालम २

व्युत्पत्ति सम्भव होती तो टर्नर-जैसा प्रौढ़ मस्तिष्क उसे प्रस्तुत करने मे नही चूकता । निष्कर्ष-स्वरूप यह कहना अनुचित न होगा कि अटकल शब्द देशज ही है और इसकी व्युत्पत्ति नही दी जा सकती ।

(२) **कंजूस**—

हिन्दी शब्दसागर[1] मे 'कजूस' शब्द की व्युत्पत्ति स० कण + हि० चूस मे बताई गई है । श्री रामचन्द्र वर्मा का भी यही मत है ।[2] श्री ज्ञानेन्द्रमोहनदास[3] ने इसे स० कण् + चुष् मे व्युत्पन्न माना है और इसका प्राकृत रूप 'कचुष' दिया है । यद्यपि उपर्युक्त सभी मत लगभग समान ही है और कण् + चूस से 'कजूस' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हैं, तथापि ये उचित नही लगते, भले ही ध्वनि और भाव का कुछ साम्य इनमे दिखाई पडता हो । स० 'कण्' तत्सम और 'चूष' तद्भव का मेल ही क्यो हुआ ? इनके अतिरिक्त श्री कुलकर्णी[4] ने इसकी व्युत्पत्ति स० कर्ण + जुष् मे मानी है और इसका प्राकृत रूप 'कण्णभुस' बताया है । इतने पर भी श्री कुलकर्णी 'जुष्' के विषय मे कोई निश्चय नही कर सके है । अत. यह स्पष्ट है कि हिन्दी शब्दसागर और श्री रामचन्द्र वर्मा के मत से इनका मत भिन्न है जबकि दोनो ही पक्षो ने सस्कृत का आधार ग्रहण किया है । इस प्रकार ये व्युत्पत्तिया तर्कसगत प्रतीत नही होती ।

यहा यह सकेत करना भी अच्छा होगा कि 'कजूस' शब्द को हिन्दी शब्दसागर मे जहा देशज दिया गया है वहा इसके नवीनतम सस्करण 'सक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' मे इसकी व्युत्पत्ति को सदिग्ध व अनिश्चित मानकर प्रश्न-वाचक चिह्न लगा दिया है ।[5] यह उक्त शब्द के देशजत्व की ओर सकेत करता है । वास्तव मे 'कजूस' शब्द देशज है । टर्नर महोदय ने भी इसकी व्युत्पत्ति नही दी है[6] अत यह मत और भी पुष्ट हो जाता है ।

(३) **खादी**

गजी, किसी अन्य मोटे कपडे या हाथ से बने कपडे को खादी कहते है ।

हिन्दी शब्दसागर[7] मे इस शब्द को देशज माना गया है । श्री रामचन्द्र वर्मा[8] ने इसकी व्युत्पत्ति के स्थान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है । श्री कुलकर्णी[9] ने भी इसकी व्युत्पत्ति नही दी है । इन्होने फारसी 'खादा' से इसके निकलने की सम्भावना अवश्य प्रकट की है परन्तु फिर स्वय ही कह दिया है कि ऐसा होना कठिन एव सदिग्ध है ।

टर्नर[10] महोदय ने सस्कृत के एक कल्पित रूप 'खद्' से इसकी व्युत्पत्ति दिखाने की चेष्टा की है परन्तु इस पर उनको स्वय विश्वास नही है । वास्तव मे इस प्रकार किसी सस्कृत-शब्द की कल्पना करके उसके साथ किसी शब्द को सम्बद्ध करना तर्कसगत नही । सारत इसकी व्युत्पत्ति नही दी जा सकती और यह देशज ही है ।

(४) **चमाचम**

इसका अर्थ है उज्जवल, काति के सहित, झलक के साथ ।

हिन्दी शब्दसागर[11] मे इसे हिन्दी 'चमकना' के अनुकरण पर निर्मित शब्द माना गया है और 'चमकना' की व्युत्पत्ति स० चमत्कार से दी गई है । हमारे विचार मे 'चमकना' की व्युत्पत्ति स० चमत्कार से ठीक नही, क्योकि न तो 'चमकना' मे स० चमत्कार का भाव है और न ही 'चमत्कार मे 'चमकना' के प्रकाश तथा ज्वाला-सम्बन्धी भाव है ।

---

१. हिन्दी शब्दसागर, पृष्ठ ४१९, कालम १
२. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृष्ठ २०२, कालम १
३. बागलाभाषार अभिधान, पृष्ठ ४०८, कालम ३
४. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृष्ठ १२६, कालम २
५. सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृष्ठ १५१, कालम २
६. नेपाली डिक्शनरी, (कजूस) पृष्ठ ६८, कालम १
७. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ७०३, कालम २
८. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ० ३०४, कालम १; पृ० २६८, कालम १
९. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृ० २०३, कालम २
१०. नेपाली डिक्शनरी, पृ० १२०, कालम १
११. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ९४५, कालम २

अत. न तो स० 'चमत्कार' से 'चमकना' की व्युत्पत्ति दी जा सकती और न ही 'चमकना' से 'चमाचम' बना है।

टर्नर[1] महोदय ने भी इसकी व्युत्पत्ति न देकर केवल इतना लिखा है कि इसकी स० 'चमत्कार' से तुलना करो। अत: यह तो स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में संस्कृत का चमत्कार शब्द था और यदि वे 'चमकना' की व्युत्पत्ति इससे ठीक समझते तो एक निश्चित मत प्रकट करते। इस प्रकार हमारे मत का और भी समर्थन हो जाता है।

श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'चमाचम' को अनुकरणात्मक शब्द माना है।[2] यद्यपि इस शब्द मे अनुकरण के आधार की कम ही सम्भावना है फिर भी ऐसा असम्भव नही। कुछ भी हो, यदि यह अनुकरणात्मक है तब तो देशज है ही, और यदि अनुकरणात्मक न भी माना जावे तो इसे सीधे रूप से देशज स्वीकार करना ही अधिक उचित है।

(५) चूहा

हिन्दी शब्दसागर[3] और श्री रामचन्द्र वर्मा[4] द्वारा इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है--

अनुकरणात्मक चू (चू) + हा (प्रत्यय) = चूहा।

परन्तु यह व्युत्पत्ति कुछ तर्कसगत नही लगती। इसके अटकल मात्र होने का प्रमाण यह है कि सक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर[5] के नवीनतम सस्करण में इसकी व्युत्पत्ति स० चूष + क ? = चूहा दी गई है। परन्तु यह भी एक अन्य कल्पना-मात्र है और सम्भवत 'मूषक्' की नकल पर ऐसा किया गया है। टर्नर महोदय[6] ने भी इसकी व्युत्पत्ति नही दी है। हमारे विचार से इस शब्द की व्युत्पत्ति नही दी जा सकती और यह देशज ही है।

अधिक से अधिक चूहा शब्द को अनुकरणात्मक माना जा सकता है क्योकि चूहा 'चू-चू' की ध्वनि करता है। ऐसा मानने पर भी यह देशज के अन्तर्गत ही रहेगा और हमारी मान्यता यथावत रहेगी।

(६) जंजाल

यह शब्द हिन्दी मे झझट, बखेडा, प्रपच, बधन, फसाव आदि के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

श्री रामचन्द्र वर्मा[7] तथा हिन्दी शब्दसागर[8] द्वारा जजाल शब्द हिन्दी 'जग + जाल' से व्युत्पन्न माना गया गया है। परन्तु यह व्युत्पत्ति ध्वनि एव अर्थ के साम्य पर आद्धृत एक ऐसी कल्पना-मात्र लगती है जैसे कि अवधी के 'नियर' शब्द को अग्रेजी 'नीयर' शब्द से उद्भूत मानना। श्री कुलकर्णी[9] ने जजाल की व्युत्पत्ति स० जज् = युद्ध मे मानी है। डा० बनीकात काकाती ने इसे 'खासी' तत्त्व माना है।[10] श्रीदास[11] ने इसकी व्युत्पत्ति न देकर केवल यह लिख दिया है कि इसके मूल मे स० झझा का भाव है। वास्तव मे जजाल की व्युत्पत्ति के विषय मे इतने विभिन्न मतों का होना यही सिद्ध करता है कि इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती। टर्नर महोदय[12] ने भी इसकी कोई व्युत्पत्ति नही दी है। इन सभी मतो को देखते हुए 'जजाल' शब्द को देशज मानना ही तर्कसगत होगा।

(६) झंझट

यह शब्द व्यर्थ का झगडा, टटा, बखेड़ा, कठिनाई तथा परेशानी आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है। हिन्दी-

---

१. नेपाली डिक्शनरी (चम्कनु), पृ० १६७, कालम १
२. प्रामाणिक हिन्दी कोष
३. हिन्दी शब्दसागर, पृ० १०२६, कालम २
४. प्रामाणिक हिन्दीकोष, पृ० ४१६, कालम २
५. सक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३२२, कालम १
६. नेपाली डिक्शनरी, (चुहा) पृ० १८२, कालम १
७. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ० ४४०, कालम १
८. हिन्दी शब्दसागर, पृ० १०६६, कालम १
९. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृ० ३०९, कालम १
१०. आसामी इट्स फॉर्मेशन एण्ड डिवलपमेंट, पृ० ३४
११. बागला भाषार अभिधान, पृ० ८२८, कालम १
१२. नेपाली डिक्शनरी, पृ० २०६, कालम २

शब्दसागर[1] तथा श्री रामचन्द्र वर्मा[2] के अनुसार 'झझट' शब्द अनुकरणात्मक है। परन्तु यह विचारणीय है कि किस आधार पर इसे अनुकरणात्मक कहा जा सकता है। 'झझट' शब्द को देखकर हम किसी ऐसे दृश्य या ध्वनि की दुरूह कल्पना तक नही कर पाते जिसका अनुकरण इस शब्द मे दिखाई पडे। 'झझट' शब्द का प्रयोग तुलसीदास ने भी किया है। तुलसी शब्दसागर[3] में इसकी कोई व्युत्पत्ति न देकर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है। टर्नर महोदय[4] ने भी इसकी व्युत्पत्ति नही दी है। इन सभी मतो को देखते हुए यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 'झझट' शब्द देशज ही है।

(८) ठेस

हिन्दी मे इस शब्द का प्रयोग 'आघात' या 'चोट' के अर्थ मे होता है।

हिन्दी शब्द सागर[5] में 'ठेस' शब्द का निकास हिन्दी 'ठस' से माना गया है। श्री रामचन्द्र वर्मा[6] का भी यही मत है। अब प्रश्न यह उठता है कि हि० 'ठस' कहा से आया ? इसकी व्युत्पत्ति उक्त दोनो ने ही स० 'स्थासन्' से मानी है जिसका अर्थ है—दृढता मे जमा हुआ अथवा दृढ। इसके विपक्ष मे प्रथम बात तो यह है कि मोनियर विलियम्ज ने अपनी 'सस्कृत इग्लिश डिक्शनरी' मे 'स्थासन्' शब्द ही नही दिया है। उन्होने 'स्थास्नु' शब्द अवश्य दिया है जिसका अर्थ है टिकाऊ, स्थायी, अनादि आदि। यदि 'स्थासन्' शब्द भी मान लिया जाए अथवा इसके स्थान पर 'स्थास्नु' ही मान लिया जाए तो भी कुछ आपत्तिया शेष रह जाती है। जैसे न तो इनका अर्थ ही 'ठेस' के अर्थ से मेल खाता है और न ही इनसे ठेस का विकास स्वाभाविक जान पडता है। अतः इन सस्कृत-शब्दो से ठेस की व्युत्पत्ति मानना औचित्यपूर्ण नही।

टर्नर महोदय[7] भी ठेस की व्युत्पत्ति के विषय मे मौन है। यदि उक्त सस्कृत-शब्द से यह निकला होता तो यह विद्वान अवश्य ही कुछ उल्लेख करते। सारत इस शब्द की व्युत्पत्ति नही दिखाई जा सकती, क्योकि यह देशज है। डा० श्यामसुन्दरदास[8] द्वारा इसको देशज माना जाना हमारे कथन को और भी पुष्ट करता है।

(९) पागल

पागल शब्द की व्युत्पत्ति हिन्दी शब्दसागर[9] एव श्रीदास[10] द्वारा स० पागल से दी गई है। परन्तु यह विवादास्पद है कि स० भाषा मे 'पागल' शब्द है भी या नही। सर मोनियर विलियम्ज[11] ने 'पागल' शब्द तो दिया है परन्तु उसके आगे लिखा है—'बगाली भाषा मे प्रयुक्त एक शब्द'। उन्होने ब्रह्मवैवर्त्त पुराण से इस शब्द का निर्देश भी किया है। परन्तु ऐसा विचार किया जाता है कि ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का वह अश, जहा 'पागल' शब्द आया है, बहुत बाद का एव प्रक्षिप्त है। यहां यह बात और द्रष्टव्य है कि मोनियर विलियम्ज ने तो 'पागल' को बगला भाषा मे प्रयुक्त एक शब्द कहा है परन्तु श्री दास ने इसे सस्कृत का ही शब्द स्वीकार किया है। सर विलियम्ज का यह कथन भी विचित्र-सा लगता है कि 'पागल' बंगला मे प्रयुक्त एक शब्द है। इस बात को सभी जानते है कि बगला मे ही नही, अपितु हिन्दी, मराठी तथा पजाबी आदि अनेक भाषाओं मे इसका प्रयोग धडल्ले से होता है।

---

१. हिन्दी शब्द सागर—पृष्ठ १२०९, कालम २
२. प्रामाणिक हिन्दी कोष—पृष्ठ ४८०, कालम १
३. तुलसी शब्द सागर—पृष्ठ १८३, कालम २
४. नेपाली डिक्शनरी—पृष्ठ २२८, कालम २
५. हिन्दी शब्द सागर—पृष्ठ १२९६, कालम २
६. प्रामाणिक हिन्दी कोष—पृष्ठ ५१२, कालम २
७. नेपाली डिक्शनरी—पृष्ठ २५४, कालम १
८. हिन्दी भाषा—पृष्ठ ५५
९. हिन्दी शब्द सागर—पृ० २०६१, कालम २
१०. बंगला भाषा अभिधान—पृ० १२०७, कालम ३
११. प्राकृत हिन्दी डिक्शनरी—पृ० ६१४, कालम ३

श्री कुलकर्णी[1] ने 'पागल' की व्युत्पत्ति नही दी है। इन्होंने इतना अवश्य कहा है कि मराठी में तो यह शब्द हिन्दी से आया है परन्तु इसका उद्गम-स्रोत कोई अन्य भाषा है। उस अन्य भाषा का कोई संकेत नही किया गया है।

हमारे विचार से यह शब्द सस्कृत आदि का न होकर देशज है। सम्भवत· इसी कारण हिन्दी-शब्दसागर के नवीनतम सस्करण संक्षिप्त हिन्दीशब्दसागर[2] मे इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित मानी गई है। श्री रामचन्द्र वर्मा[3] का भी यही मत है। टर्नर[4] महोदय ने भी इसकी व्युत्पत्ति नही दी है। समग्रत: 'पागल' शब्द सस्कृत से व्युत्पन्न न होकर देशज है।

डा० बनीकान्त काकती[5] ने 'पागल' शब्द को मलयालम का तत्त्व माना है, परन्तु किसी उद्धरणादि से अपने पक्ष का समर्थन नही किया है। मलयालम के एक-दो कोषों को देखने पर हमें इस प्रकार का कोई शब्द नहीं मिला, अत· इस मत को विश्वासनीय प्रमाणो के न मिलने तक स्वीकार करना तर्कसगत नही।

(१०) **पेड़**

हिन्दी मे 'पेड' शब्द वृक्ष का पर्याय है।

हिन्दी शब्दसागर[6] और श्री रामचन्द्रवर्मा[7] द्वारा इसकी व्युत्पत्ति स० पिण्ड से मानी गई है। हमारे विचार से यह व्युत्पत्ति-अनुमान मात्र पर आधारित है और यह अनुमान 'पेड और पिण्ड' के ध्वनि-साम्य को देखकर ही लगाया जान पडता है। यदि 'पेड और पिण्ड' के कुछ समान अर्थ की दुहाई भी दी जाए तो भी बात कुछ बनती नही, क्योकि पेड से भिन्न सहस्रो ऐसे पदार्थ है जिनमे पिण्डत्व के लक्षण पेड की अपेक्षा अधिक है और पेड़ (वृक्ष) की अपेक्षा उनको पेड (पिण्ड) कहना अधिक सार्थक है।

डा० बाबूराम सक्सेना[8] ने 'पेड' शब्द को देशज स्वीकार किया है। हम डा० सक्सेना के ही मत से सहमत है।[9]

---

१. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृ० ४८४, कालम ३
२. सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ० ६०५, कालम ३
३. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ० ७७७, कालम १
४. नेपाली डिक्शनरी, पृ० ३७१, कालम १
५. आसामी टर्म्स फार्मेशन एण्ड डिवलपमैंट, पृ० ४५
६. हिन्दी शब्द सागर, पृ० १२८७, कालम २
७. प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोष, पृ० ८१४, कालम २
८. सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० १२६
९. शब्द-समूह की दृष्टि से देशज शब्द प्रत्येक भाषा की मूल सम्पत्ति होते हैं फलतः प्रत्येक भाषा के लिए इनका अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु जहां तक मुझे ज्ञात है भारत की किसी भी भाषा को लेकर इस विषय पर विशेष कार्य नही हुआ है। हिन्दी भाषा भी इसका अपवाद नहीं। एम. ए. के डिसर्टेशन के रूप में आदरणीय डा० भोलानाथ तिवारी के निर्देशन में मैंने इस विषय पर कार्य किया था। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रंथ के लिए उसी आधार पर, डा. तिवारी के आदेश से यह निबन्ध लिखा गया है। इसकी सीमाओं से मैं अपरिचित नहीं हू, फिर भी मुझे विश्वास है कि दिशा नई होने के कारण पाठकों द्वारा पसन्द किया जायगा।

हिन्दी-अक्षर

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया

०.० 'अक्षर' का सामान्य अर्थ है, जो घटता नही अथवा जिसका क्षरण नही होता।[१] अक्षर एक गतिमात्र है जिसकी गति वक्ष की मासपेशियो का श्वास-स्पन्दन ही है जिसके द्वारा फेफडो मे वायु-सकोचन उत्पन्न होता है और वायु-उत्प्रेषण प्रारम्भ होता है।[२] स्टेट्सन[३] महोदय 'अक्षर को एक मोटर यूनिट' मानते है। साधारणत हम अक्षर उस ध्वनि-समुदाय (वर्ण या वर्ण—समूह) को कह सकते है जो एक आघात या झटके मे बोला जाता है जिसमे एक स्वर या स्वरवत् व्यजन रहता है। उसी स्वर के पूर्वांग या पराग बनकर अनेक व्यजन रह सकते हैं। अक्षर मे स्वर ही प्रमुख होता है—यह अक्षर का मेरुदण्ड है। स्वर ही अक्षर, स्पन्दन को घोषित करता है इस प्रकार एक अक्षर से स्वर को न तो पृथक् ही किया जा सकता है और न बिना स्वर या स्वरवत् व्यजन के अक्षर का निर्माण ही सम्भव है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा[४] अक्षर का आवश्यक तत्त्व स्वर मानते हुए नारद-शिक्षा से उद्धरण देते हुए कहते है कि व्यजन किसी भी भाषा मे मोतियो के तुल्य है जबकि स्वर उस डोरी के तुल्य है जिनमे सभी मोती पिरोये रहते है। स्वर तो स्वत. शासित होता है—'स्वय राजते' मे पतजलि ने माना है। नारद-शिक्षा मे स्वर को शक्ति-सम्पन्न सम्राट् और व्यजन को निर्बल राजा के तुल्य माना है। अक्षर के सम्बन्ध में सबमे अधिक स्पष्ट विवेचन प्राचीनों मे ऋक्-प्रातिशाख्य मे किया गया है। विवेचन सूत्रो में है, प्रारम्भ इस प्रकार होता है—'अक्षर' कोरा स्वर, स्वर तथा व्यजन, अनुस्वार के साथ स्वर या व्यजन तथा अनु-

---

१. पतजलि ने अपने महाभाष्य में कहा है—

अक्षरं न क्षरं विद्यात्। न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम्।

√क्षि
√क्षर > दोनों धातुओं से ही इसका अर्थ अविनाशी है।

व्याकरण महाभाष्य भाग १, खण्ड १, आह्निकम् २, डेक्कन एज्यूकेशनल सोसायटी, पुणे, १८८१ शक, पृष्ठ १३८

२. आर० एम० एस० हेफनर—जनरल फॉनेटिक्स, सन् १९४९, पैरा ३-०६

३. आर० एच० स्टेट्सन—मोटर फोनेटिक्स, सन् १९५१, पृष्ठ २९

टिप्पणी—अक्षर के विशेष विवरण के लिए देखिए—

अ—कैलाशचन्द्र भाटिया, अक्षर, त्रिपथगा, सितम्बर १९५९, पृष्ठ ११९-१२२

आ—रोमनयकबसन, फंडामेटल्ज अव लैंग्वेज, सन् १९५६, पृष्ठ २०

इ—एलन—फोनेटिक्स इन एशियेंट इण्डिया, सन् १९५३, पृष्ठ ७९-८१

ई—एल० ब्लूमफील्ड, लैंग्वेज, सन् १९५६, हेनरी होल्ट क०, पृष्ठ १२०

उ—सी० हॉकेट; ए मैन्युअल अव् फॉनोलोजी, प्र० स०, पृष्ठ ५१

ऊ—सी० हॉकेट, ए कोर्स इन मोर्डन लिंग्विस्टिक्स, सन् १९५८ पृष्ठ ९९

ए—फर्थ साउण्ड्ज एण्ड प्रासोडीज, टी० पी० एस० १९४८, पृष्ठ १२८-१५२

ऐ—क्रोनर तथा ट्रिम बॉवेल, कासोनेट एण्ड सिलेबिल, वर्ड, सन् १९५३, पृष्ठ १०३-१२२

४. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, क्रिटिकल स्टडीज इन द फ़ोनेटिक आब्जर्वेशन अव् इण्डियन ग्रामेरियन्ज, सन् १९२९, पृष्ठ ५५-५८

स्वार के साथ स्वर रूप में हो सकता है। आदि व्यंजन आगे के स्वर और अन्त्य व्यंजन का सम्बन्ध पूर्व स्वर के साथ होता है। मध्य में दो व्यजन हो तो एक का पूर्व व दूसरे का पर से होता है। अक्षर गुरु व लघु भी होते हैं।[1]

०. १ मुखरता, मात्रा, श्वास-बलादि तत्त्व मिलकर अक्षर के उत्कर्ष तत्त्व का निर्माण करते हैं। यह तत्त्व स्वर मे ही अधिक होता है, वैसे कुछ भाषाओ मे व्यजनो को भी यह स्थान प्राप्त है। वही व्यजन इस स्थान को प्राप्त कर सकते है जो बहुत मुखर हो जैसे अंग्रेज़ी[2] मे 'न' और 'ल' तथा जापानी[3] मे 'स'। अफ्रीकी[4] भाषाओ में भी अनेक व्यजन इस कोटि के है।

०. २ इस प्रकार 'व्यष्टिरूप' मे स्वर इकाई से युक्त 'स्वनग्रामो की सहति' का वह न्यूनतम आदर्श 'अक्षर' है जो पूर्वापर किसी एक व्यजन-ध्वनि अथवा अनुमत व्यजन-गुच्छों से युक्त हो। इस प्रधान तत्त्व को शिखर का रूप दिया जा सकता है। एक शब्द मे शिखर निर्मित होगे, उतने ही अक्षर कहलाएंगे, जैसे—
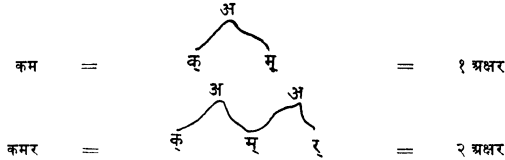
०. ३ अक्षर की सीमा-निर्धारण करना दुष्कर कार्य है,[5] जब तक कि ध्वनियत्रों का आश्रय न लिया जाय। लेकिन फिर भी एक शब्द मे कितनी आक्षरिक ध्वनिया है इसका निश्चय कानो के द्वारा सुनने मात्र से ही हो सकता है और फिर उसके साथ कहां और किस स्थिति में कौन-सा व्यंजन आ रहा है यह निश्चय करना शेष रह जाता है। आदि व अन्त्य स्थिति के व्यजनो मे कोई विवाद नही हो सकता; पर मध्य मे प्रयुक्त व्यजनानुक्रमो मे से कितने व्यंजन प्रथम स्वर के साथ रहकर अक्षर-निर्माण कर रहे है और कितने आगे आने वाले स्वर के साथ, यह बात विवादास्पद हो सकती है। फिर भी अक्षर की सीमा के लिए डॉ० बाबूराम सक्सेना[6] ने एक विधि दी है—"रुकने का स्थान उन दो अक्षरो के बीच की मौन स्थिति (स्पर्श वर्णों का द्वितीय अवयव) या श्रव्यता की अल्पता होती है। स्वरत्व की अधिक मात्रा स्वरो मे, उससे कम अत.स्थो मे, फिर सघर्षी वर्णों मे और कम-से-कम स्पर्श वर्णों मे होती है।" जैसे बगड दो पहाडियो के अलग-अलग अस्तित्व को जताती है उसी प्रकार स्वरत्व की अल्पता दो अक्षरों की सीमा निर्धारित करती है। जैसे दो बगडो के बीच के भाग को हम पहाडी कहते है, उसी प्रकार दो अल्प स्वरत्व वाली ध्वनियो के बीच के ध्वनि-समूह को हम अक्षर कहते हे।"

१. हिन्दी-अक्षर :

१. १ वैदिक काल से आज तक निरन्तर शब्दो का उच्चारण बदलता रहा और फिर उसके फलस्वरूप उनका आक्षरिक स्वरूप भी। वैदिक काल मे तो अक्षरो का विशेष महत्त्व था। प्रत्येक छन्द अक्षरो की सख्या पर आधा-

---

१. ऋक् प्रातिशाख्य : स० मगलदेव शास्त्री, सन् १९३१, पृष्ठ ४९३-९४
सव्यञ्जन' सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम् ।८,३२॥ व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्यान्त्य तु पूर्वभाक् ।८,३३॥ विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम् ।८,३४॥ सयोगादिश्च वैव च ।८,३५॥ सहक्रम्य' परक्रमे क्रमेण सहक्रम्यो वर्णः पूर्वमक्षर वा भजते परक्रमे सति, अक्कः ।८,३६॥ गुर्वक्षरम् ।८,३७॥ लघु ह्रस्व न चेत्सयोग उत्तरः ।८,३८॥ अनुस्वारश्च ।८,३९॥ संयोगं विद्याद् व्यञ्जनसगमम् ।८,४०॥ गुरुर्दीर्घम् ।८,४१॥ गरीयस्तु यदि सव्यजन भवेत् ।८,४२॥ लघु सव्यञ्जनं ह्रस्वम् ।८,४३॥ लघीयो व्यंजनादृते ।८,४४॥

२. डेनियल जोन्स—ऐन आउटलाइन अव् इंग्लिश फोनेटिक्स, नि० १०१, सन् १९५६, पृष्ठ २४
३. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा—वही पुस्तक, पृष्ठ ५५
४. प्रो० गोलोक बिहारी धल, ध्वनि विज्ञान, प्र० स०, पृष्ठ २०९
५. डेनियल जोन्स—वही पुस्तक, पाद टिप्पणी २, नियम २१२, पृष्ठ ५५
६. डॉ० बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा-विज्ञान, १९५६ ई०, पृष्ठ ७३-७४

रित है। संस्कृत के सहस्रो शब्द आज भी हिन्दी मे प्रयुक्त होते हैं, उनमे से कुछ का रूप भी वही है, पर उच्चारण नितान्त भिन्न हो गया है, जिसके कारण आक्षरिक रूप भी भिन्न हो गया। अतएव आज के उच्चारण के आधार पर हिन्दी के शब्दों से आक्षरिक स्वरूप का विश्लेषण होना अत्यावश्यक है।[1]

१ २. हिन्दी का आक्षरिक विन्यास अभी तक पूर्ण रूपेण नही हो सका है। इस सम्बन्ध में हिन्दी के व्याकरणों,[2] भाषा-विज्ञान की पुस्तकों[3] तथा कुछ रिसर्च पेपरों[4] मे यत्र-तत्र निर्देश मात्र हुआ है। अक्षर के निर्माण मे स्वर का विशेष महत्व प्रतिपादित किया जा चुका है अतएव सर्वप्रथम हिन्दी-स्वरों के सम्बन्ध मे कुछ विवेचन आवश्यक है।

२. हिन्दी-स्वर

हिन्दी मे निम्नलिखित स्वर प्रयुक्त होते है।[5]

२.१ मूल स्वर–ह्रस्व– अ, इ, उ

दीर्घ– आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ

नवीन– । ऑ। केवल अंग्रेजी-आगत शब्दो मे।

२.२ संध्यक्षर– ऐ। अइ। औ। अउ।

मूल स्वर

संध्यक्षर स्वर
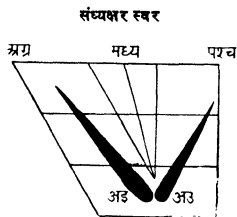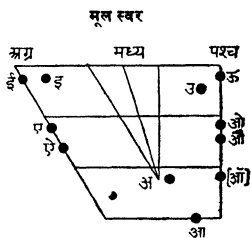
टिप्पणी—१. अ, इ, उ स्वरो के आ, ई, ऊ स्वर क्रमश केवल दीर्घ-रूप नही है, वरन् दोनो स्वरो मे उच्चारण-स्थान की दृष्टि से भी अन्तर है, जिसमे स्वरो के गुण पृथक् हो जाते है।

---

१. हिन्दी के आक्षरिक विन्यास का विवरण प्रस्तुत करने के हेतु उत्तर प्रदेश की प्रारम्भिक कक्षाओं में कक्षा १ से कक्षा ५वी तक के पाठ्य-क्रम (बेसिक) में पढाई जाने वाली पुस्तकों की शब्दावली को आधार बनाया है। यह हिन्दी की बेसिक शब्दावली मानी जा सकती है जो उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा मान्य है। पुस्तकों से मैने लगभग १०,००० चिटें बनाकर उनका विश्लेषण किया है और यथासम्भव उन्ही से आगे आने वाले समस्त उदाहरण दिए है, जहा उदाहरणों का अभाव है, हो सकता है कि वे आगे के अध्ययन में प्राप्त हों। कुछ पैटर्न (आदर्श, नमूने, स्वरूप) भी बढ सकते है। पर मुझे विश्वास है कि कम-से-कम द्व्यक्षरिक शब्दों के नमूने अब अधिक न होंगे। हा, आगे तो उपसर्ग और प्रत्ययों की भीड के फलस्वरूप सैकड़ों नवीन रूप दृष्टिगत हो सकते है। फिर भी पाठकों से निवेदन है कि अपने सुझावों से अवगत कराके अध्ययन को आगे की दिशा में बढाने में सहायता प्रदान करेंगे।

श्रद्धेय डा० बाबूराम सक्सैना तथा प्रो० गोलोकबिहारी धल से मैने अक्षर-विभाजन की विधि प्राप्त की है। अपने विश्लेषण के कार्य को मैं समय-समय पर क० मु० हिन्दी विद्यापीठ के सचालक डा० विश्वनाथप्रसाद को सशोधनार्थ दिखाता रहा, उन्होने मुझे जो अमूल्य सुझाव दिए, उनके प्रति मैं कृतज्ञ हू। अक्षरो के विश्लेषण-कार्य में मुझे श्री निरोतीलालजी से विशेष सहायता मिली।

२. कामताप्रसाद गुरु—हिन्दी-व्याकरण, नि० ४० तथा बेसिक ग्रामर आव् हिंदी, पृ० १२-१३

३. श्यामसुन्दरदास—भाषा रहस्य, स० १९९२, पृ० २३९-२४०

४. उर्दू—डॉ० मसूदहुसैन : ए फोनेटिक एण्ड फोनोलोजीकल स्टडी द वर्ड इन उर्दू
हिंदी : रमेशचद्र मेहरोत्रा—हिंदी सिलेबिक स्ट्रक्चर, इण्डियन लिंग्वस्टिक्स टर्नर, भाग २, पृ० २३१-२३७

५. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—हिंदी भाषा का इतिहास, सन् १९४९, पृ० १०२-१०८
डॉ० उदयनारायण तिवारी—हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, प्र० स०, पृ० ३१८-३२१

२. (ए) से (ऐ) और (ओ) से (औ) नितान्त भिन्न है। सभी दीर्घ हैं।

(ए) बेल	(ओ) ओट
(ऐ) बैल	(औ) औट

३. 'ऐ' और 'औ' लिखित रूप से समान होते हुए भी परिनिष्ठित हिन्दी में दो-दो रूपो में उच्चरित होते है—

(ऐ) < १. बैल– बैल–अग्र अर्द्धविवृत दीर्घ स्वर[1]
२. गैया– गइया–सन्ध्यक्षर स्वर, केवल अर्द्धस्वरों के पूर्व

(औ) < १. औरत औरत–पश्च अर्द्ध विवृत दीर्घ स्वर
२. कौआ कउआ–संध्यक्षर-स्वर

४. प्रत्येक स्वर से अक्षर प्रारम्भ हो सकता है और वह अन्त्य स्थिति मे भी आ सकता है।

५. 'ऋ' का उच्चारण आज 'रि' की तरह होता है।

३. स्वर-संयोग

हिन्दी भाषा मे प्रयुक्त स्वरों का सयोग भी पाया जाता है। परिनिष्ठित हिन्दी मे स्वर-सयोग सीमित सख्या में ही है जबकि हिन्दी की बोलियों मे इसकी संख्या बहुत अधिक पाई जाती है। हिन्दी की प्रधान बोलियो मे से ब्रजभाषा के स्वर-सयोगो का विवेचन डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[2] तथा भोजपुरी के स्वर-सयोगों का विवेचन डॉ० विश्वनाथ प्रसाद[3] ने किया है।

हिन्दी-स्वर-सयोगो को हम निम्नलिखित तालिका मे प्रस्तुत कर सकते हैं–

	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ
अ	×	×		×		×	×			
आ	×	×		×		×	×		×	
इ	×	×					×		×	
ई										
उ		×		×			×		×	
ऊ	×	×								
ए	×	×		×			×			
ऐ										
ओ	×	×		×	×	×	×		×	
औ										

१. प्रो० गोलोकबिहारी धल, ध्वनि-विज्ञान, ४ ४१, १९५८, पृ० १०९

२. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—ब्रजभाषा, १९५४, पृ० ४१-४२

३. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद—फोनेटिक फएड फोनोलोजीकल स्टडी ऑव् भोजपुरी, लन्दन विश्वविद्यालय, १९५०, पृ० ११८-११९

६. हिन्दी-व्यंजन-गुच्छ

		प्	त्	ट्	क्	ब्	द्	ड्	ग्	म्	न्	ण्	ड़्	फ्	थ्	ठ्	ख्	भ्	ध्	ढ्	घ्	फ़्	व्	स्	ज़्	श्	च्	ज्	छ्	झ्	य्	ह्	ल्	र्	क़्	ख़्	ग़्
प्	१																														X		X	X			
	२	X	X																					E							X			X			
त्	१																						X								X			X			
	२		X							X	X				X							※	X	X							X			X			
ट्	१																						E								E			E			
	२			X												X															X						
क्	१																						X			⊗					X		X	X			
	२		X	E	X					X							X						X	E		⊗					X		X	X			
ब्	१																														X		E	X			
	२		※				X												X						※			X						※			
द्	१																						X								X			X			
	२						X			X									X												X			X			
ड्	१																														X			E			
	२							X																							X						
ग्	१																						X								X		X	X			
	२									X	X								X												X			X			
म्	१																														X		X	X			
	२	X				X	※							X																	X		X	X			
न्	१																														X	X					
	२		X				X			X	X				X				X					X		X	⊠	⊠	⊠	⊠	X	X					
ण्	१																																				
	२			X				X				X				X							X								X						
ड़्	१																																				
	२				X				X								X				X																
फ्	१																																				
	२																																	E			
थ्	१																																				
	२																														X						
ठ्	१																																				
	२																														X						
ख्	१																														X						
	२																														X						
भ्	१																																	X			
	२																														X						
ध्	१																						X								X			X			
	२																						X								X			X			
ढ्	१																																				
	२																														X						
घ्	१																																	X			
	२										X																				X						
फ़्	१																														E		E	E			
	२		※	E																													※	※			
व्	१																														X			X			
	२																														X			X			
स्	१	X	X	E	X					X	X			X	X		X						X								X		E	X			
	२				X					X	※												X								X		※	X			
ज़्	१																																				
	२																																	※			
श्	१																														X			X			
	२	⊗	※	⊗	※					※	X	⊗				⊗							X				X				X						
च्	१																														X						
	२																										X		X		X						
ज्	१																						X								X						
	२																											X			X			X			
छ्	१																																				
	२																																				
झ्	१																																				
	२																																				
य्	१																																				
	२																																				
ह्	१																														X			X			
	२									X	X												X								X						
ल्	१																																				
	२	X		E	X		※			X				X				X				※									X	X	X				
र्	१																														X						
	२	X	X		X	X	X		X	X		X						X	X		X	※E	X	E	※	X	X				X		E				
क़्	१																																				
	२		※																													※					
ख़्	१																						※								※						
	२		※																					※													
ग़्	१																																				
	२																								※												

संकेत

१	आदि स्थिति
२	अन्त-स्थिति
X	व्यंजन-गुच्छ
※	अरबी-फारसी के व्यंजन-गुच्छ
⊗	[श] में मूर्धन्यता आजाती है।
⊠	[न] का तालव्यीकृत रूप [ञ]
E	अंग्रेज़ी के व्यंजन-गुच्छ

४. अनुनासिकता

अनुनासिकता का भी हिन्दी मे विशेष महत्त्व है। किसी भी स्वर को अनुनासिक किया जा सकता है। अनुनासिक स्वर तथा निरनुनासिक स्वर से अर्थ-भेद भी हो जाता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित शब्दो को लिया जा सकता है—

४ १. **अनुस्वार से भेद :**	हँस	—	क्रिया-विशेष
४.२. **शुद्ध स्वर से भेद :**	हस	—	पक्षी-विशेष

४.२.१. **आदि स्थिति**	४.२ २ **मध्य स्थिति**	४.२.३ **अन्त्य स्थिति**
आधी—१।२ भाग	बाट—मार्ग, प्रतीक्षा करना	भागो—क्रिया-विशेष
आँधी—धूलमय तेज वायु	बाँट—क्रिया, तोलने का पदार्थ	भागो—भाग का बहुवचन।

५. हिन्दी व्यंजन

		द्वयोष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	मूर्द्धन्य	तालव्य-वर्त्स्य	तालव्य	कंठ्य	अलिजिह्वीय	काकल्य
स्पर्श	अघोष	प्		त्		ट्			क्	(क़)	
	सघोष	ब्		द्		ड्			ग्		
	अघोष	फ्		थ		ठ			ख्		
	सघोष	भ्		ध्		ढ्			घ्		
स्पर्श सघर्षी	अघोष						च्				
	सघोष						ज्				
	अघोष						छ्				
	सघोष						झ्				
सघर्षी	अघोष		(फ़)		स्		श्		(ख़्)		
	सघोष				(ज़्)				(ग़्)		ह्
अनुनासिक	सघोष	म्			न्	ण्			[ङ्]		
पार्श्विक	सघोष				ल्						
लुंठित	सघोष				र्						
उत्क्षिप्त	सघोष					[ड़्]					
	सघोष					[ढ़्]					
सप्रवाह अर्द्धस्वर		[व़्]	व्					य्			

टिप्पणी १. ऊपर के स्पर्श तथा स्पर्श-सघर्षी के खानो मे ऊपर की प्रथम दो पक्तिया अल्पप्राण की और शेष महाप्राण की है।

२. ○ गोलाकृत ध्वनिया अरबी-फारसी तथा अग्रेजी आदि विदेशी शब्दो के उच्चारण में ही प्रयुक्त होती है।

३. 'म्', 'न्', 'ल्', 'र्', के क्रमश. 'म्ह्', 'न्ह्', 'ल्ह्', 'र्ह्' महाप्राण रूप भी मिलते है

४. 'ड', 'ढ', तथा 'व' ध्वनिया क्रमश 'ड्', 'ढ्' तथा 'व्' के सस्वन-मात्र है।

		आदि	**मध्य**	**अन्त**
[ड]	[ड]	सर्वत्र होता है	केवल द्वित्व और नासिक्य व्यजन के साथ होता है	
	[ड़]	नही होता है	उपयुक्त स्थितियो को छोड़कर सर्वत्र होता है।	
			विदेशी-आगत शब्द अपवाद है।	

४. मूर्द्धन्य ध्वनियो के सयोग से 'श्' ध्वनि में मूर्द्धन्यता आ जाती है।

५. तालव्य ध्वनियों के सहयोग से 'न्' का ही तालव्यीकृत अनुनासिक व्यंजन 'ञ' हो जाता है।

६. [ ] ध्वनिया केवल शब्द के मध्य या अन्त में ही आती हैं। इनसे शब्द कभी प्रारम्भ नही होता है।

७. उच्चारण में ।अ। का लोप –

शब्दों की विभिन्न स्थितियो में लिखित ।अ। उच्चरित नही होता है।[1]

७.१. एकाक्षर –

७. १. १. प्रारम्भ मे स्वर 'ह्रस्व' या 'दीर्घ' हो और उसके परे कोई व्यंजन हो तो अन्त्य ।अ। उच्चरित नही होता है।

ह्रस्व स्वर	अब्	इन्	उस्
दीर्घ स्वर	आज्	ईख्	ऊन्

७. १. २. १ दो व्यजनो के मध्य ह्रस्व या दीर्घ स्वर हो तो अन्त्य . अ उच्चरित नही होता

७. १. २. १ १.	ह्रस्व	घर्	किस्	बुन्
७. १. २. १. २.	दीर्घ	साफ्	सीप्	घूट्
७. १ २. १ ३	दीर्घ अनुनासिक	साप्	नीद्	घूंट्

७. १. २. २. आदि मे व्यंजन गुच्छ हो अथवा अन्त मे[2], अन्तिम ।अ। उच्चरित नही होता।

७. १. २. २. १.	आदि	स्वर्	ध्रुव्
७. १. २. २. २.	अन्त्य	शान्त्	दीर्घ्
७. १ २ २. ३.	आदि अथवा अन्त मे	प्रश्न्	क्षुब्ध्

७. २. द्व्यक्षर

७. २. १ यदि प्रारम्भ मे स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) हो और उसके आगे दो व्यजन हों जिनके प्रथम व्यंजन का स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) हो तो अन्तिम व्यजन के ।अ। का लोप हो जाता है।

	आदि	मध्य		
७. २. १. १.	ह्रस्व	ह्रस्व	अनल्	अधिक्
७. २. १. २.	दीर्घ	ह्रस्व	आकर्	आतुर्
७ २ १ ३	दीर्घ	दीर्घ	आकाश्	आधीन्
७. २. १. ४.	ह्रस्व	दीर्घ	अनाज्	अहीर्

---

१. इस सबध में देखिए, कामताप्राद गुरु का हिन्दी व्याकरण, स० २००१, नियम ४०, पृष्ठ ४६-४७। हिन्दी की बेसिक व्याकरण, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार सन् १९५८, पृष्ठ १८-१९।

२. उक्त दोनों ही लेखक इस स्थिति में ।अ। का लोप नही मानते। देखिए गुरु-नियम ४ 'क'१ तथा बेसिक व्याकरण, नियम ५१ ।द। और दूसरी और मेहरोत्रा कही भी ।अ। का अस्तित्व स्वीकार नही करते। देखिए उनका वही लेख टर्नर वोल्यूम भाग २, पृष्ठ २३२। मैंने इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देकर उच्चारणों को सुना। इस सबध में निश्चित रूप से तीन कोटिया प्रतीत होती हैं—

अ--लम्ब	--अन्त्य ।अ।	नही है।
आ--क्षुद्र	--अन्त्य ।अ।	उन उच्चारणों में सुनाई पडता है जो बहुत ही स भल कर बोलते हैं, अन्यथा ।अ। का अस्तित्व नही।
इ--कार्य	--अन्त्य ।य।	के साथ कुछ न कुछ सुनाई अवश्य देता है। हो सकता है अर्द्ध स्वर के कारण कुछ स्वरत्व सुनाई पडता हो।

मैंने इस सबंध में श्रद्धेय डा० विश्वनाथप्रसाद से भी परामर्श लिया, आपका सुझाव इस प्रकार है—

"इन उदाहरणों (प्रश्न, अवश्य, स्वास्थ्य आदि) के अन्त्य सयुक्त वर्ण के बाद जो एक हल्की स्वरवत् ध्वनि सुनाई पडती है वह वस्तुतः स्वर नही माना जा सकता है। मैं तो उसे केवल रागमात्र मानूंगा जिसे ə या P या π या रा द्वारा द्योतित किया जा सकता है।" (पत्र से उद्धृत)

७. २. २. यदि प्रारम्भ में स्वर हो और उसके आगे दो व्यजन हो तथा अन्त मे दीर्घ स्वर हो तो प्रथम व्यंजन के ।अ। का लोप हो जाता है—

७. २. २. १ इत्‌ना, उठ्‌ता

७. २. ३ यदि प्रारम्भ मे स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) हो तत्पश्चात तीन व्यंजन हों, और अन्तिम तीन व्यजनो के मध्य ह्रस्व या दीर्घ स्वर हो तो पहले और तीसरे व्यजन के बाद का ।अ। उच्चारित नही होता है—

	आदि	अन्तिम	(दो व्यजनों के मध्य)
७. २. ३. १	ह्रस्व	ह्रस्व	अक्‌बर्‌
७. २. ३ २	ह्रस्व	दीर्घ	अप्‌मान्‌
७. २ ३. ३	दीर्घ	ह्रस्व	आच्‌मन्‌
७. २. ३. ४	दीर्घ	दीर्घ	आस्‌मान्‌

७. २. ४. १ यदि किसी शब्द मे तीन व्यजन हों तो अन्तिम तृतीय व्यजन के ।अ। का उच्चारण नही होता है—

	प्रथम व्यजन का स्वर	द्वितीय व्यजन का स्वर	
७ २. ४ १ १	ह्रस्व	ह्रस्व	फसल्‌
७. २ ४. १. २	ह्रस्व	दीर्घ	विशाल्‌
७. २. ४ १ ३	दीर्घ	ह्रस्व	वापस्‌
७. २ ४. १. ४	दीर्घ	दीर्घ	बीमार्‌

७. २. ४. २ यदि किसी शब्द मे तीन व्यजन हो और अन्तिम व्यजन का स्वर दीर्घ हो, तो प्रथम अक्षर में द्वितीय व्यजन के बाद का ।अ। उच्चारित नही होता है—

बिक्‌नी चल्‌ता मर्‌ता

७. २. ५. १. यदि किसी शब्द मे चार व्यजन हों जिनके मध्य मे दो व्यजनो का व्यजनानुक्रम हो तो अतिम व्यंजन का ।अ। उच्चारित नही होता—

पत्थर्‌ सुन्दर्‌

७. २. ५ २ यदि सभी व्यजन ह्रस्व स्वरो के साथ हो तो द्वितीय और चतुर्थ व्यजन के स्वर का ।अ। उच्चार नही होता—

लग्‌भग्‌ जम्‌कर्‌

७. २. ५. ३. यदि तृतीय व्यजन दीर्घ स्वर युक्त हो तो द्वितीय तथा चतुर्थ व्यजन के ।अ। का उच्चारण नही होता—

बर्‌सात्‌ चुप्‌चाप्‌

७. २. ५. ४ यदि प्रथम व्यजन दीर्घस्वर युक्त हो तो द्वितीय तथा चतुर्थ व्यजन के ।अ। का उच्चारण नहीं होता—

जान्‌कर्‌ जोध्‌पुर्‌

७. २. ५. ५ यदि प्रथम तथा तृतीय दोनो व्यंजन दीर्घ हों तो भी द्वितीय तथा चतुर्थ व्यजन के ।अ। का उच्चारण नही होता—

सूर्‌दास

७. ३. इस प्रकार विभिन्न परिस्तिथियो मे।अ। का उच्चारण नही होता है। इस सम्बन्ध मे अभी शोध अपेक्षित है। यह लोप की प्रक्रिया केवल- ह्रस्व 'अ' तक ही सीमित नही, वरन् सभी ह्रस्व-स्वरो 'अ,इ,उ' पर प्रभाव डालती

है। अन्त्य स्थिति में ह्रस्व-स्वर का उच्चारण प्रायः बहुत क्षीण होकर लुप्त हो जाता है अथवा दीर्घ हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ—

'गति' का उच्चारण 'ग-ति' न मिलकर 'गत्' या 'गती' मिलता है।

७.४ अंग्रेजी के सैकडो शब्द[2] जिनके अन्त में ह्रस्व ।इ। थी, हिन्दी में दीर्घ ।ई। के साथ गृहीत हुए हैं, जैसे कम्पनी, बैटरी, कमेटी, पौलिसी आदि।

८. अक्षर-विभाजन

८०. अक्षर-सीमा, रूपमात्र-सीमा तथा शब्द-सीमा के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन श्री मेहरोत्रा[3] ने अपने लेख मे किया है। अक्षर-सीमा सर्वत्र शब्द-सीमा नहीं होती, वरन् शब्द-सीमा सर्वत्र अक्षर-सीमा होती है। जैसे:

१. आ-काश् अक्षर-सीमा पर 'आ', 'काश' पृथक-पृथक शब्द नही है।

२. न-चल शब्द-सीमा पर 'न' तथा 'चल' पृथक-पृथक अक्षर हैं।

रूप-मात्र सीमा भी सर्वत्र अक्षर-सीमा नही होती है। जैसे 'स्त्रीत्व' के शुद्ध उच्चारण में ।ई। और ।त्। ध्वनियों के मध्य अक्षर-सीमा नही है, पर—

स्त्री – एक पृथक रूपमात्र है, और
त्व – एक पृथक रूपमात्र है

हिन्दी में 'नहर' शब्द को बहुवचन रूप मे बदलने के लिए – 'ओ' प्रत्यय लगा दिया जाता है। इस प्रकार 'नहरों' शब्द मे दो रूपमात्र हैं—

नहर + ओं
जबकि अक्षर-सीमा है—
नहर = न–हर
नहरों = नह्–रोंज

८.१ बहुवचन तथा आक्षरिक विभाजन

८.१.१. जहां अक्षर-संख्या और अक्षर-सीमा मे कोई परिवर्तन नही—

एकवचन	अक्षर स्वरूप	बहुवचन	अक्षर-स्वरूप
बच्चा	बच्–चा	बच्चों	बच्–चों

८.१.२. जहां अक्षर-संख्या में परिवर्तन नही, पर अक्षर-सीमा बदल जाती है—

एकवचन	अक्षर-स्वरूप	बहुवचन	अक्षर-स्वरूप
फसल	फ–सल्	फसलों	फस्–लों

८.१.३. जहाँ अक्षर-सख्या मे वृद्धि हो जाती है तथा अन्तिम अक्षर का स्वरूप बदल जाता है—

८.१.३.१ एकाक्षर

एकवचन	अक्षर-संख्या	बहुवचन	अक्षर-संख्या
दिन	१	दिनों	२
बैल	१	बैलों	२

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना : परिवर्तनशील हिन्दी, साहित्य सन्देश भाग १९, अंक १-२ पृष्ठ ५३
डा० सिद्धेश्वर वर्मा : The Pronimication of Engish in North West Indian hin guislics Bagachi Vol. पृष्ठ १०७
डा० मसूद हुसेन : The Phonekic and Phonological Study of word in urdu, पृष्ठ २३

२. कैलाशचन्द्र भाटिया : हिन्दी में अगरेजा के आगत शब्दों को भाषा-तात्त्विक अध्ययन, थीसिस आगरा विश्वविद्यालय १९५०, पृ० ४३

३. रमेशचन्द्र मेहरोत्रा, वही टर्नर वोल्यूम भाग २ वाला लेख, पृष्ठ २३३

८. १. ३. २ द्व्यक्षर

पूर्वज	२	पूर्वजों	३

८. १. ३. ३ त्र्यक्षर

उपासक	३	उपासकों	४

८.२ मध्य में व्यंजनों का अनुक्रम या गुच्छ :

८.२.१ द्वित्व :

यदि दो स्वरों के मध्य मे एक से दो व्यजन द्वित्व रूप मे प्रयुक्त हों तो उनमें से प्रथम व्यजन प्रथम स्वर के साथ और द्वितीय व्यजन अन्तिम स्वर के साथ आवेगा .

अम्मा — अम्-मा

'अन्न' मे 'न्' का द्वित्व न मानकर 'न्' मे दीर्घता मानना अधिक उचित होगा।

यदि प्रारम्भ मे व्यजन हो और अन्त मे दीर्घ स्वर हो तो भी प्रथम व्यजन प्रथम अक्षर के साथ और द्वितीय व्यंजन द्वितीय अक्षर के साथ होगा :

गल्ला = ग् अ ल् ल् आ
= गल्-ल् आ
= गल्-ला

८.२.२ व्यंजनानुक्रम रूप[1] :

. प्रारम्भ[2] और अन्त मे जितने भी व्यजन-गुच्छ शुद्धतम उच्चारण मे सम्भव हो सकते है उनका रेखाचित्र पृथक् से दिया जा चुका है पर मध्य स्थिति मे दो भिन्न व्यजनो का साथ-साथ आना आक्षरिक विभाजन मे एक समस्या है जिसका हल निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है :

८.२.२.१ समस्थलीय—नासिक्य-स्पर्श		लम्बा	= लम्-बा
	स्पर्श-नासिक्य	अन्तिम	= अन्-तिम
	अघोष-महाप्राण	अच्छा	= अच्-छा
	स्पर्श-सघर्षी	उत्साह	= उत्-साह
	सघर्षी-स्पर्श सघर्षी	पश्चिम	= पश्-चिम
८.२.२.२ सम उच्चारण-विधि—स्पर्श		भक्ति	= भक्-ति
		चुट्की	= चुट्-की

१. बेसिक ग्रामर ऑव् हिन्दी, शिक्षा मन्त्रालय, पृष्ठ १३ पर इस सम्बन्ध में यह नियम बनाया गया है कि अनेक व्यंजनानुक्रमों में से पहला प्रथम अक्षर के साथ और शेष सभी दूसरे आगामी अक्षर के साथ आते है। इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण दिए गए है—

मन्त्री = मन्-त्री, चन्द्रमा = चन्-द्र-मा, अक्षर = अक्-षर् (अ-क्षर नहीं)

अद्वितीय = अद्-वि-ती-य (अ-द्वि-ती-य नही)

टिप्पणी—अद्वितीय का उच्चारण—अद्-वि-ती-य सम्भव नही। ।वि। का पृथक से उच्चारण नही होता है। इसके दो भिन्न उच्चारण सम्भव हो सकते ह :

१. अ-द्वितीय; यहा 'अ' उपसर्ग-रूप में है। २. अद्-द्वितीय; यहां ।द्। ध्वनि का उच्चारण दोनों ओर होता है। वस्तुत: अधिकतर लोग दूसरे प्रकार से ही बोलते है वैसे प्रथम उच्चारण भी ठीक है क्योंकि ।द्व। का व्यंजन गुच्छ आदि स्थिति में आ सकता है। देखिए व्यंजन गुच्छ चार्ट। इस तथ्य की ओर निर्देश डा० बाबूराम सक्सेना ने 'सामान्य भाषा-विज्ञान', पृष्ठ ७३-७४ पर भी किया है और श्री रमेशचन्द्र मेहरोत्रा ने भी (देखिए वही लेख, पृष्ठ २३४) किया है—

विद्वान् = विद्-द्वान्

२. आदि स्थिति में व्यंजन-गुच्छों को बहुधा जनभाषा में स्वरागम अथवा स्वर-भक्ति के द्वारा तोड़ दिया जाता है। यही प्रक्रिया विदेशी व्यंजन-गुच्छों के साथ भी चरितार्थ होती है। हिन्दी तथा अंग्रेजी के व्यजन-गुच्छों के तुलनात्मक विवेचन के लिए द्रष्टव्य है :
कैलाशचन्द्र भाटिया—हिन्दी तथा अंग्रेजी के व्यंजन-गुच्छों का तुलनात्मक अध्ययन, भारतीय साहित्य, वर्ष ४, अङ्क ३, पृष्ठ १-५

८.२.२.३ भिन्न-भिन्न उच्चारण-विधि तथा स्थल :

पार्श्विक	स्पर्श	हल्का	=	हल्-का
सघर्षी	स्पर्श	उस्की	=	उस्-की
सघोष स्पर्श	महाप्राण	अद्भुत	=	अद्-भुत्
स्पर्श	अर्द्ध स्वर	उद्योग	=	उद्-योग्
लुंठित	स्पर्श	आर्थिक	=	आर्-थिक्
स्पर्श	नासिक्य	आत्मा	=	आत्-मा

८.२.३ व्यंजन-गुच्छ :

८.२.३ १ समस्थलीय

नासिक्य	स्पर्श	पक्ति	=	पक्-ति
अनुस्वार	सघर्षी	सस्था	=	संस्-था
स्पर्श	लुंठित	निमन्त्रण	=	नि-मन्-त्रण्

८ २.३.२ भिन्न-भिन्न उच्चारण तथा स्थल--

महाप्राण स्पर्श अर्द्ध स्वर	अध्यापक	=	अ-ध्या-पक्

८.२.४ तीन व्यंजनो का अनुक्रम हो :

तीन व्यजनो का अनुक्रम वैसे सामान्यत· कम प्रयुक्त होता है फिर भी जहा कही भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं तो उनका आक्षरिक विभाजन इस प्रकार होता है—

सम्भावित रूप स्वर व्य व्य व्य स्वर : को कई प्रकार से विभाजित किया जाता है।

१. स्वर—व्य व्य व्य स्वर=राम **की स्त्री,** केवल शब्द-सीमा पर ही सम्भव है

स्वर व्य व्य व्य—स्वर=**अस्त्र आदि**

२. स्वर व्य–व्य व्य स्वर=सन्ध्या=सन्-ध्या

३. स्वर व्य व्य-व्यं स्वर = सस्था=मस्-था

८३. प्रत्यय लगाने से आक्षरिक विभाजन मे परिवर्तन—

शब्द	आक्षरिक स्वरूप	
शीत	शीत्–एक अक्षर	व्य स्वर व्य
शीतल	शी-तल्–द्वयक्षर	व्य स्वर–व्य स्वर व्य
कीच	कीच–एक अक्षर	उपर्युक्त प्रकार ही
कीचड	की-चड–द्वयक्षर	

इस प्रकार विभिन्न प्रत्ययो के लगने से मूल शब्द के आक्षरिक स्वरूप मे भी परिवर्तन हो जाता है।

८.४. अक्षर-विभाजन की सीमाएं :

हिन्दी मे आक्षरिक स्वरूप की निम्नलिखित सीमाएं है :

संकेत-चिह्न :

अक्षर-सीमा – –

स्वर–स

दीर्घता– – (स के ऊपर)

अनुनासिकता– ~

दीर्घ स्वर–स̄

अनुनासिक स्वर–स̃

दीर्घ अनुनासिक स्वर–स̄̃

व्यजन –व

१.	स– स̄	हु–आ	हुआ	
२.	स̄– स	खा–इ	खाइ	अन्त में दीर्घत्व आ जाता है
३.	स̄– स̄	आ–ओ	आओ	
४.	स̃– स	कुँ–अर	कुंअर	
५.	स– स̄̃	हु–ई	हुई	
६	स̄– स̄̃	सा–ईं	साईं	
७.	स– व	अ–त्‌इ	अति	
८.	स̃– व	ब–धी	बधी	
९.	स̄– व	आ–ठ	आठ	
१०.	स̄̃– व	आ–ख	आख	
११.	स̄ व–वव	आ श–श्रम	आश्रम	
१२.	स व–वव	श त–त्रु	शत्रु	
१३.	व–व	अच्–छा	अच्छा	
१४	व–वव	इन्–द्र	इन्द्र	
१५.	वव–व	मस्–था	सस्था	

८.४. अक्षर-आदि-स्थिति :

अक्षर के आदि में कोई भी स्वर (ह्रस्व, दीर्घ, अनुनासिक) ड़, ढ़, ण्, ङ् व्यजनो को छोडकर सभी व्यजन, अकेले, अथवा अनुमत व्यजन-गुच्छ, जिसका रेखाचित्र पीछे दिया जा चुका है, आ सकते है। इन सभी बातो को ध्यान मे रखकर हिन्दी के शब्दों का जो (विश्लेषण कर) आक्षरिक विभाजन किया गया है, उनके निम्नलिखित स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है :

९. आक्षरिक स्वरूप :

९. १. एकाक्षर .

स्वरूप		उदाहरण
९.१.१ स̄		आ
९.१.२ स̄̃		ए
९.१.३ स̄ व	–आ–	आंख

	–ईं–	ईंट
	–ऊं–	ऊंट
	–ऐं–	ऐंठ
	–औं–	औंघ
६.१.४ स व	–अ–	अब
	–इ–	इन
	–उ–	उस
६.१.५ स̄ व	–आ–	आज
	–ई–	ईख
	–ऊ–	ऊन
	–ए–	एक
	–ऐ–	ऐब
	–ओ–	ओस
	–औ–	और
६.१.६ स व व[1]	–अ–	अंग
	–इ–	इच
	–उ–	उच्च
६.१.७ स व व व[1]	–अ–	अस्त्र
	–इ–	इन्द्र
६.१.८ व स	–अ	न
	–इ	कि
६.१.९ व स̄	–आ	खा
	–ई	थी
	–ऊ	भू
	–ए	ले
	–ऐ	है
	–ओ	जो
	–औ	नौ
६.१.१० व स̄~	–आ	हा
	–ई	थी
	–ऊ	हू
	–ए	मे
	–ऐ	मै
	–ओ	यो
	–औ	—
६.१.११ व स व	–अ–	घर
	–इ–	किस

१. अन्त में 'राग' माना जा सकता है जैसा कि निर्देश पहले किया जा चुका है।

	—उ—	बुन
६.१.१२ व स̃ व	—अ—	हँस
	—उ—	मुह
६.१.१३ व स̄ व	—आ—	साफ
	—ई—	चीज
	—ऊ—	धूल
	—ए—	देर
	—ऐ—	चैत
	—ओ—	ठोस
	—औ—	मौत
६.१.१४ व स̄ व $\text{व}_{\text{रा}}$	—आ—	शान्त
	—ई—	शीघ्र
	—ऊ—	सूर्य
	—ए—	नेत्र
	—ओ—	योग्य
	—औ—	बौद्ध
६.१.१५ व स̃ व	—आ—	साप
	—ई—	नीद
	—ऊ—	घूट
	—ए—	भेट
	—ऐ—	भैस
	—ओ—	चोंच
	—औ—	हौस
६.१.१६ व स व $\text{व}_{\text{रा}}$	—अ—	कठ
	—इ—	सिक्ख
	—उ—	शुद्ध
६.१.१७ व स व व $\text{व}_{\text{रा}}$	—अ—	वस्त्र
६.१.१८ व स व व व $\text{व}_{\text{रा}}$	—अ—	वर्त्स्य
६.१.१९ व स̄ व $\text{व}_{\text{रा}}$	—ई—	तीव्र
	—ऊ—	मूल्य
	—ओ—	योग्य
६.१.२० व व स व	—अ—	स्वर
	—इ—	प्रिय
	—उ—	ध्रुव

६. १. २१ व व स व व$_{रा}$ —अ— प्रश्न

६. १. २२ व व स̄ व व व$_{रा}$ —आ— स्वास्थ्य

६. १. २३ व व स —आ— क्या

—ई— श्री

६. १. २४ व व स̄ व —आ— प्यास, स्थान, द्वार[१]

—ई— द्वीप

—ऊ— व्यूह

—ए— प्रेम

—ओ— क्रोध

६. १. २५ व व स̄ व व —आ— प्राप्त

६. १. २६ व व स̃ —ओ क्यो

६. २. द्व्यक्षर :

६. २. १ स-वस[२] अति

६. २. २ स-वस̄

	-आ	-ई	-ए
अ-	अहा	अभी	अरे
इ-	इठा	इसी	इसे
उ	उठा	उसी	उसे

६. २. ३ स—व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
अ-	अनल	अधिक	अतुल
इ-	इधर		
उ-	उपल	उचित	उडुप[३]

६. २. ४ स—व स̄ व

	आ	ई	ऊ	ए	ओ
अ -	अनाज	अहीर	अनूप	अचेत	अशोक
उ -	उतार			उमेश	

६. २. ५ स—व स व व अगस्त

६. २. ६ स—व स̄ वव अपूर्व

६. २. ७ स̄—स आओ

---

१. इन शब्दों के पिआस, इस्थान, दुआर आदि उच्चारण भी लोक में प्राप्त होते है। साधारणतः लोक में व्यजन-गुच्छों के पूर्व आदि स्वरागम हो जाता है।

२. अन्त्य ह्रस्व स्वर उच्चरित नहीं होते अथवा दीर्घत्व आ जाता है।

३. बेसिक में प्रयुक्त नहीं।

६. २. ८ स̄~—व स̄ — आँधी, ऊँचे

६. २. ९ स̄~—व स̄~ — आँखें, आँनें

६. २. १० स̄~—व स व — आँगन, ईंधन

६. २. ११ स̄—व स — आठो

६. २. १२ स̄—व स — आयु। अन्त मे दीर्घत्व भी आता है।

६. २. १३ स̄—व स̄

	-आ	-ई	-ए	-ओ
आ-	आशा	आती	आने	आयो
ऊ-	ऊना	ऊनी		
ऐ-	ऐसा	ऐसी	ऐसे	
ओ-	ओढा	ओढी	ओढे	

६ २. १४ स—व स~ — औरो

६. २. १५ स̄—व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
आ-	आकर	आशिष	आतुर
ऊ-	ऊपर		

६ २. १६ स̄— व स व व_{रा} — — एकत्र

६ २. १७ स— व स̄ व — आकाश, आधीन, आदेश

६ २. १८ स— व व स̄ — आज्ञा

६. २. १९ स_व— व व स व — आश्रम

६ २. २० स व— व स̄

	-आ	-ई	-ऊ	-ए	-ओ
अ-	अच्छा	अप्नी		अड्डे	
इ-	इत्ना	इत्नी		इत्ने	
उ-	उठ्ता	उस्की	उल्लू	उन्के	उस्को

६. २ २१ स व— व स~ — अम्माँ, इन्हें, उन्हे

६. २ २२ स व—व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
अ-	अक्बर्	अन्तिम्	अद्भुत्
इ-	इस्थल्		
उ-	उड्कर्	उन्नति	

आदि स्वरागम

६.२.२३ स व—व स व

	-आ-	-ई-	-ऊ-	-ए-	-ओ-
अ-	अप्मान्		अंगूर्		
इ-	इस्नान्	इक्कीस्	इस्कूल्	इस्नेह्	
उ-	उत्साह्	उन्नीस्		उप्देश्	उद्योग्

आदि स्वरागम

६.२.२४ स व— व स व	आत्मज्, आर्थिक्
६.२.२५ स व— व स व	आस्मान्
६.२.२६ स~ व—व स	आत्मा, आप्की, आग्रे, आप्को
६.२.२७ स~ व—व स	उँगली
६.२.२८ स व—व स व व	अरविन्द
६.२.२९ स व—व व स व	उज्ज्वल
६.२.३० स व—व स व व रा	आश्चर्य
६.२.३१ स व—व व स	इस्त्री
६.२.३२ स व व—व स व	आर्कटिक
६.२.३३ वस—स	मई, हुआ, रुई, लिए, हुए
६.२.३४ वस—स~	हुई, हुओ

६.२.३५ व स—व स[1]

	-इ	-उ	
-अ	अरि	पशु	दीर्घत्व अन्त में
-इ	तिथि	रितु	,, ,,
-उ	मुनि	गुरु	,, ,,

६.२.३६ व स—व स~ नहि

६.२.३७ व स—व स

	आ	ई	ए	ऐ	ओ
-अ	दवा	पड़ी	मरे	परै	चलो
-इ	चिता	छिपी	मिले	मिलै	मिलो
-उ	सुधा	सुखी	चुके		

६.२.३८ व स—व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
-अ	फसल्	चरित्	चतुर्
-इ	बिगड़्		
-उ	कुशल्	रुधिर्	बुरुश्

---

१. अन्त में दीर्घता

९. २. ३९ व स–व स व

	-आ-	-ई-	-उ-	-ए-	-अ-
अ	सलाम्	हकीम्	खजूर्	सफेद्	करोड़्
इ	विशाल्	निशीथ्		विशेष्	विरोध्
उ	गुलाम्	कुलीन्		सुवेद्	सुयोग्

९. २ ४० वस–व स व व — वसन्त, चरित्त, चरित्र, समुद्र
९. २. ४१ व स–व स व व — समाप्त
९. २. ४२ व स–व स~ — वहाँ, नही, सकूं, कहे, पदों, मियाँ, मिले, दिनों, दुखों,
९. २. ४३ व स~–स व — कुँअर
९. २. ४४ व स–व स~ व — पहुँच
९. २. ४५ व स~–व स — बँधी, हँसी
९. २. ४६ व स~–व स व — सँभार, मँभाल
९. २. ४७ व स–स — भाई, कोई, सोओ
९. २. ४८ व स–स~ — साईं, लाऊं
९. २. ४९ व स–व स — धेनु, नारि। अन्त मे दीर्घता आ जाती है।
९. २. ५० व स~–व स — पाँति, भाँति। अन्त मे दीर्घता।
९, २, ५१ व स~–व स — गूंजी, बाँका, फाँसी
९. २. ५२ व स–व स

	आ	ई	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ
आ	काला	नाड़ी	बापू	तारे	भावै	मानो	
ई	नीला	धीमी	टीपू	नील	खीझै	छीको	
ऊ	बूढ़ा	भूखी	छू-छू	छूने	टूटे	पूछो	
ए	ठेला	तेजी		बेटे		देखो	
ऐ	बैठा	पैड़ी	मैकू	पैसे			
ओ	सोचा	जोगी		मोटे	सोवै	खावो	
औ	दौड़ा	चौकी		बौने			

९. २. ५३ व स–व स~ — बैलों, गेहूँ
९. २. ५४ व स–व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
-आ	वापस्	नाविक्	जामुन्
-ई	दीपक्	जीवित्	
-ऊ	भूतल्	दूषित्	नूपुर्
-ए	बेगम्		
-ऐ	पैदल्	लैटिन्	
-ओ	होकर्	कोटिक्	गोकुल्
-औ	रौनक्	कौशिक्	कौतुक्

६. २. ५५ वस–वस व — बीमार, भूगोल, कालेज, बेहोश

६. २. ५६ व स̄–व व स̄ — कीन्ही

६. २. ५७ वस̄–स व — बाईस, तेईस

६. २. ५८ व स̄~–व स̄~ — दाँतो, पाँचो

६. २. ५९ व स̄~–व स व — बैंगन

६. २. ६० व स$_{व}$–व व स — शत्रु

६. २. ६१ व स–व व स व — सुदृढ [ऋ–रि]

६. २. ६२ व स व–व स — भक्ति, मजु, सिद्धि, बिन्दु, मुक्ति ।

६. २. ६३ व स व–व स̄

	-आ	-ई	-ऊ	-ए	-ऐ	-ओ
-अ-	गंगा	बक्री	टट्टू	जप्ते		सम्झो
-इ-	जिन्का	दिल्ली	हिन्दू	बिख्रे		किस्को
-उ-	कुर्ता	छुट्टी	जुग्नू	चुग्ते		मुझ्को

६. २. ६४ व स ब–व स̄~ — भक्तो,

६. २. ६५ व स व–व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
-अ-	पत्थर्	पश्चिम्	जयपुर्
-इ-	निश्चग्	चिन्तित्	बिल्कुल्
-उ-	सुन्दर्	पुल्कित	चुन्मुन्

६. २. ६६ व स व–व म व

	-आ-	-ई-	-ऊ-	-ए-	-ओ-	-औ-
-अ-	बर्सात्	तल्लीन्	मंजूर्	संकेत्	सन्तोष्	कन्नौज्
-इ-	विश्वास्	निर्भीक्	तिर्सूल्	सिग्रेट्	विद्रोह्	बिज्नौर्
-उ-	चुप्चाप्					

६. २. ६७ व स व–व स व व — निष्कर्ष, दुर्गन्ध, सत्सग, सकल्प, सबंध

६. २. ६८ व स व–व स̄ व व — सिद्धान्त

६. २. ६९ व स व–व व स̄ — तपस्या, तपस्वी, मन्त्री

६. २. ७० व स व–व व स̄~ — वस्त्रो, यन्त्रो

६. २. ७१ व स̄~ व–व स̄ — मँग्वा, बँट्ना, हँस्ते

६. २. ७२ व स व–व व स व — उज्ज्वल

६. २. ७३ व स व–व य स व — सग्राम

६. २ ७४ व स̄ व–व स — शान्ति, मूर्ति । अन्त में दीर्घता ।

६. २. ७५ व स व–व स

	-आ	-ई	-ऊ	-ए
-आ	कात्ना	पाद्री	पाल्तू	काट्ने
-ई	तीस्रा	भीत्री		बीत्ते
-ऊ	सूच्ना	पूर्वी		दूस्रे
-ए		रेश्मी	नेह्रू	देख्ने
-ऐ	तैर्ना	फैल्ती		तैर्ने
-ओ	बोल्ना	लोम्ड़ी		टोक्रे
-औ		नौक्री		तौल्ने

६. २. ७६ व स व–व स~ टोक्री, साध्नो

६. २. ७७ व स ब–व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
-आ-	वास्तव्	हार्दिक्	कान्पुर्
-ई-	बीर्बल्		पीर्पुर्
-ऊ-	घूम्कर्		फूल्पुर्
-ए-	देख्कर्		
-ओ-	लोट्कर्		जोध्पुर्
-औ-	दौड़्कर्		जौन्पुर्

६. २. ७८ व स व–व स व मार्कर्, लालटेन्, पूज्नीय्

६. २. ७९ व स व–व स व व देवदत्त, मार्नामह्

६. २. ८० व स व–व स~ शिखरो, सैकडो

६ २ ८१ व स व–व स पाँचवे

६. २. ८२ व स व–व स व पेशन

६. २. ८३ व स व–व व स व राष्ट्रीय

६. २. ८४ व स~ व–व स

–आ ई
चाँदनी मीचती

९. २. ८५ व स व व – व स

पंक्ति

९. २. ८६ व स व व – व स̄

संस्था

९. २. ८७ व स व व – व स व

वज्रमय

९. २. ८८ व स व व – व स̄ व

संस्कार, विद्यमान

९. २. ८९ व स व व – व व स व

संस्कृत। ऋ–रि।

९. २. ९० व व स – स̄~

म्याऊँ

९. २. ९१ व व स – व स̄

कृपा। ऋ–रि।

९. २. ९२ व व स – व स व

प्रकट, स्वगत

९. २. ९३ व व स – व स व व

प्रसिद्ध, प्रसन्न

९. २. ९४ व व स – व स̄ व

प्रकार, स्वभाव, प्रकाश, प्रताप

९. २. ९५ व व स – व स व व व

स्वतन्त्र

९. २. ९६ व व स̄ व – व स̄

द्वारा

९. २. ९७ व व स व – व स̄ व

शृंगार। ऋ–रि।

९. २. ९८ व व स̄ – व स

व्याधि

९. २. ९९ व व स̄ – व स̄

प्यारे, ग्वाला

९. २. १०० व व स̄ – व स व

व्याकुल, ज्योतिष

९. २. १०१ व व स̄ – व स̄ व

स्वीकार, त्योहार

९. २. १०२ व व स̄ व – व स̄

प्रार्थी

९. २. १०३ व व स̄ व – व व स̄

ज्योत्स्ना

९. २. १०४ व व स̄~ – व स̄

न्योँता

९. ३ त्र्यक्षर—

९. ३. १ स – व स – व स — अवधि

९. ३. २ स – व स – व स व — अनुपम

९.३.३ स – व स – व स̄ व	अनुसार
९.३.४ स – व स व – व स̄	इकट्ठा
९.३.५ स – व व स – व स व	अध्ययन
९.३.६ स – व व स व – व स व	अमृतसर। ऋ–रि।
९.३.७ स – व स̄ – व स	उपाधि
९.३.८ स – व स̄ – स	अढाई
९.३.९ स – व स̄ – व स̄	उडाते
९.३.१० स – व स̄ – व स व	अचानक
९.३.११ स – व स̄ व – स̄	उछालता
९.३.१२ स – व स̄ व – व स̄~	इमारतें
९.३.१३ स – व स̄~ – व व स̄	अयोध्या
९.३.१४ स – व व स̄ – व स व	अध्यापक
९.३.१५ स – व व स̄ – व स̄ व	इब्राहीम
९.३.१६ स̄~ – व स व – व स̄	अँगरखा
९.३.१७ स̄~ – व स̄ – व स̄	अँधेरी
९.३.१८ स̄ – स – स̄	आइए
९.३.१९ स̄ – वस – वस	आहुति
९.३.२० स̄ – व स̄ – व स̄ व	आयोजन
९.३.२१ स̄ – व स̄ व – व स̄ व	आशीर्वाद
९.३.२२ स̄~ – व स – स̄~	आँसुओ
९.३.२३ सव – वस – व स	स्थिति। अग्रागम इ।
९.३.२४ स व – व स – व स̄	उन्मनी
९.३.२५ स व – व स – व स̄~	अवसरों
९.३.२६ स व – व स – व सर्व	स्मरण। अग्रागम इ।
९.३.२७ स व – व स – स̄	उपजाऊ
९.३.२८ स व – व स̄ – व स व	उत्साहित
९.३.२९ स व – व स̄ – व स̄	उपयोगी
९.३.३० स व – व स̄ – व स̄~	अवतारो
९.३.३१ स व – व$_{व}$स – व स व	अत्याचार
९.३.३२ स व – व स – व स व	अन्वेषण
९.३.३३ व स – व स – व स	जलधि
९.३.३४ व स – व स – व स̄~	दुनिया, मथुरा
९.३.३५ व स – व स – व स̄ व	परिवार
९.३.३६ व स – व स – स̄	कलई
९.३.३७ व स – व स – स̄	पशुओ
९.३.३८ व स – व स – व स̄~	कलियां
९.३.३९ व स – व स व – व स व	पुरन्दर

९. ३.४० व स – व स व – व स̄ — झिझकते

९. ३.४१ व स – व स व – व स व — नमस्कार

९. ३.४२ व स – व स व – व व स व — निमन्त्रण

९. ३.४३ व स̄ व – व व स – स~ — शत्रुओं

९. ३.४४ व स – व स̄ – व स — समाधि

९. ३.४५ व स – व स – व स व — जवाहर

९. ३ ४६ व स – व स – स — भलाई

९. ३ ४७ व स – व स – स̄~ — बलाएँ

९. ३ ४८ व स – व स – व स

स¹	स²	आ	ई	ऊ (स³)	ए	ओ
-अ	आ	मराठा	पठारी	तराजू	बहाते	
	ई	महीना			पलीते	
	ऊ	नमूना				
	ए		बरेली	घरेलू	सबेरे	बसेरो
	ओ	महोबा				
	औ		कसौटी			
-इ	आ	निराला	सिपाही		खिलाते	
	ई				पपीते	
	ए	बिखेरो				
	ओ	भिगोया	बिलोती			
-उ	आ	कुठारा	पुरानी		बुझाते	

९ ३.४९ व स – व स̄~ – व स̄~ — दरारे

९ ३.५० व स – व स̄ – व स — पहूंगी

९. ३.५१ व स – व स̄ – व स व — लगातार

९. ३.५२ व स – व स – व स̄ व — जहाँगीर

९ ३.५३ व स – व स̄~ व – व स — महात्मा

९. ३.५४ व स – व स̄~ – व व स̄ व — पराक्रम

९. ३ ५५ व स~ – व स̄ – स̄ — सिचाई

९. ३ ५६ व स~ – व स – व स̄ — गँवाते

९. ३ ५७ व स̄ – व स – स̄~ — धातुओ

९. ३ ५८ व स̄ – व स – व स̄ — तौलिया। विदेशी शब्द।

९. ३.५९ व स – व स – व स~	रानियाँ
९. ३.६० व स – व स – व स व	कालिदास
९. ३.६१ व स – व स व – व व स	सामग्री
९. ३.६२ व स – व स व – व व स व	भारद्वाज
९. ३.६३ व स – व स व – व स~	सोलहवी
९. ३.६४ व स – व स – व स व	कारीगर
९. ३.६५ व स – व स – स~	शाखाओं
९. ३.६६ व स – व स – व स	झूमेगा
९. ३.६७ व स – व स~ – व स	लौटूंगा
९. ३.६८ व स – व स – व स~	बाजारों
९. ३.६९ व स – व स –व स व	नारायर
९. ३.७० व स – व स व – व स व	शोभायमान
९. ३.७१ व स व – व स – व स व	लक्ष्मण
९. ३.७२ व स व – व स – स	बम्बई
९. ३.७३ व स व – व स–स~	जुगनुओं
९. ३.७४ व स व – व स – व स	तरजनी
९. ३.७५ व स व – व स – व स~	दर्शकों
९. ३.७६ व स व – व स व – व स	सुन्दरता
९. ३.७७ व स व – व स व – व स~	सरकडों
९. ३.७८ व स व – व व स व – व स~	पन्द्रहवीं
९. ३.७९ व स व – व स – स	बहजोई
९. ३.८० व स व – व स – व स व	सम्मेलन
९. ३.८१ व स व – व स – व स	सरकारी
९. ३.८२ व स व – व व स व – व स	विद्यार्थी
९. ३.८३ व स व – व स~ – व स	जिन्होंने
९. ३.८४ व स व – व व स – व स~	विद्वानों
९. ३.८५ व स व – व व स – व स	चन्द्रमा
९. ३.८६ व स~ व – व स – व स	मँगवाना
९. ३.८७ व स व व – व स व – व स व	संगमरमर
३. ३.८८ व स व व– व स – व स	कर्मचारी
९. ३.८९ व स व – व स – व स~	शाहजहाँ
९. ३.९० व स व – व स – व स	पाठशाला
९. ३.९१ व व स – व स व – व स	व्यवस्था
९. ३.९२ व व स – व स – व स व	प्रयोजन
९. ३.९३ व व स – व स – व स व	व्यापारिक
९. ३.९४ व व स – व स – व स	द्वारिका। द्वितीय उच्चारण 'द्वार्-का'।
९. ३.९५ व व स – व स – व स	क्यारियाँ
९. ३.९६ व व स – व स व – व स व	प्रारम्भिक

९.४. चतुरक्षर—

९. ४.१ स – व स – व स̄ – व स̄ — अधिकारी
९. ४.२ स – व स – व स̄ – व स व — अभिवादन
९. ४ ३ स – व स̄ – व स व – व स̄~ — अठारहवीं
९. ४.४ स̄ – व व स – व स – व स̄~ — आक्रमणों
९. ४.५ वस – व स – व स̄ – स̄ — कठिनाई
९. ४.६ व स – व स – व स̄ व – व स̄ — पहिचानते
९. ४.७ व स – व स̄ – स – व स̄~ — लड़ाइयों
९. ४.८ व स – व स – व स – व स̄~ — पहाड़ियों
९. ४.९ व स – व स̄ – व स – व स̄ — बराबरी
९. ४.१० व स – व स̄ – व स – व स̄~ — निवासियो
९. ४.११ व स – व स̄ व – व स̄ – स̄~ — महात्माओ
९. ४.१२ व स – व स – व स̄ – व स̄ — हरियाली
९. ४.१३ व स̄ – व स̄ – व स̄ – व स̄ — चौकीदारी
९. ४.१४ व स – व स व– व स – व स — वनस्पति
९. ४ १५ व स̄ – व स व – व स – व स व — पारस्परिक
९. ४ १६ व स̄ – व स – व स̄ – व स व — हानिकारक
९. ४.१७ व स̄ – व स̄– व स – व स̄~ — कारीगरो
९. ४.१८ व स व – व स व – व स – व स̄~ — पगडडियो

९.५ पंचाक्षर—

९. ५.१ स – व स – व स̄ – व स – व स̄~ — अधिकारियो
९. ५.२ वस – व स̄ – व स – व स̄ – स̄ — दियासलाई

१०. हिन्दी-अक्षर तथा अंग्रेजी-आगत शब्द :

हिन्दी मे प्रयुक्त अग्रेजी-आगत शब्दों का आक्षरिक स्वरूप भी विचारणीय है। प्रत्येक भाषा विदेशी शब्दों को लेकर अपने रूप मे आत्मसात कर लेती है अथवा कभी-कभी किसी बहुप्रयुक्त तथा आवश्यक शब्द के साथ उसका अपना रूप भी चला आता है। वे ही शब्द अधिक आ पाते हैं जो उस भाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल हों।[2]

१०. १. १. दोनों भाषाओं में कोई आक्षरिक परिवर्तन नहीं :

१०. १. १. एकाक्षर :

शब्द	अग्रेजी उच्चारण	आक्षरिक स्वरूप	हिन्दी-रूप
Bill	[bil]	व स व	बिल
Boot	[bu:t]	व स̄ व	बूट
Bank	[b e n k]	व स व व	बैंक

टिप्पणी—१. अन्त में ह्रस्व 'इ' दीर्घत्व ले लेती है अथवा लुप्तप्राय हो जाती है।
२. विभिन्न उपसर्ग और प्रत्ययों के लगाने से आक्षरिक स्वरूप बदलते जाते हैं जिनपर विस्तृत अनुसन्धान अपेक्षित है।

२. इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है :
कैलाशचन्द्र भाटिया—सिलेबिक चेंज आव् इंग्लिश लोन वर्ड्ज इन हिन्दी
कैलाशचन्द्र भाटिया—हिन्दी में अग्रेजी-आगत शब्दों का भाषा-तात्त्विक अध्ययन (थीसिस), आगरा विश्वविद्यालय, १९५८, पृष्ठ १५०-१५९

Rail	[r ei l]	वससव	रेल

१०. १.२ द्व्यक्षर—

Baby	[b ei bi]	वस—व स	बेबी
Engine	[endzin]	स व—व स व	इंजन

१०. १.३ त्र्यक्षर—

Advocate	[ædvəkeit]	स व—व स—व स व	एडवोकेट

१०. २. अंग्रेजी के एकाक्षरिक शब्द हिन्दी में द्व्यक्षरिक :

१०. २.१. अंग्रेजी में संध्यक्षर स्वर के कारण :

शब्द	उच्चारण	आक्षरिक स्वरूप	हिन्दी रूप	आक्षरिक स्वरूप
Pile	[fail]	व स स व	फाइल	व स—स व
Fine	[fain]		फाइन	
Down	[daun[		डाउन	

१०. २.२. अंग्रेजी-व्यंजन-गुच्छ के टूटने के कारण :

शब्द	उच्चारण	आक्षरिक स्वरूप	हिन्दी-रूप	आक्षरिक स्वरूप
Glass	[gla s]	व व स व	गिलास	व स—व स व
School	[sku l]	व व स व	इस्कूल	व स—व स व

इस प्रकार अग्रेजी द्व्याक्षरिक हिन्दी त्र्याक्षरिक मे, त्र्याक्षरिक शब्द हिन्दी-चतुराक्षरिक मे परिवर्तित हो गए और कहीं क्रम इसका उल्टा भी रहा है।

११. हिन्दी-अक्षर तथा संगम

हिन्दी-अक्षर मे सगम[१] का भी महत्त्व है।

'न + दी जाय' और 'नदी' दोनो एक समान होते हुए भी सगम की दृष्टि से भिन्न है। प्रथम उदाहरण में 'न' और 'दी' के मध्य सगम है जहा पर कुछ देर के लिए जिह्वा को विश्राम करना पडता है। स्पष्ट ही है कि इसमे—

'न'—निषेधात्मक अव्यय है और

'दी'—देना क्रिया का एक रूप

यदि इन दोनो शब्दो के मध्य कुछ देर के लिए रुका न जाय तो यही दोनो शब्द मिलकर 'नदी' वन जावेगे जिसका अर्थ नितान्त भिन्न है। इस प्रवृत्ति के पर्याप्त उदाहरण हिन्दी मे भरे पडे है।

११. १. जब एक रूप में कोई क्रिया-पद होता है :

११. १. १ 'लो' अथवा 'ली' के साथ

{हो + ली = क्रिया रूप
{होली = त्यौहार विशेष

{रो + ली = क्रिया रूप
{रोली = एक लाल रंग का पदार्थ

{खा + ली = क्रिया
{खाली = रिक्त

१. इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम लिग्विस्टिक स्कूल देहरादून, १९५७ में लेखक से डॉ० भोलानाथ तिवारी के साथ विचार-विमर्श हुआ। उदाहरणों की ढूंढ में हम दोनों ही रहे, पर इधर मुझे अपने सहयोगियों श्री श्रीकृष्ण वार्ष्णेय तथा श्री रोशनलाल से पर्याप्त उदाहरण प्राप्त हुए, उनके प्रति मैं आभारी हूं। इस सम्बन्ध में श्री मेहरोत्रा का टर्नर वोल्यूम भाग २ वाला लेख भी द्रष्टव्य है।

पी + ली	=	क्रिया
पीली	=	पीत रंग का

१.१.१.२. अन्त में 'जा' हो :

खा + जा	=	क्रिया
खाजा	=	खाने का एक नमकीन पदार्थ
रो + जा	=	क्रिया
रोजा	=	'रोजा' का अपभ्रंश रूप

११.१.३ एक ही क्रिया के दो भिन्न रूपों का युग्म :

पी + पा	=	पीना क्रिया के दो रूप
पीपा	=	छोटा कनस्तर

११.१.४ जब नकरात्मक अव्यय 'न' साथ में हो :

न + आई	=	क्रिया के साथ
नाई	=	बाल काटने वाली जाति

११.१.५ कर्म के साथ क्रिया :

बतासा + ले	=	'ले' क्रिया के साथ
बता + साले	=	बताना क्रिया का आज्ञार्थक रूप साले के साथ
सोडा + ला	=	'ला' क्रिया के साथ
सो + डाला	=	'सोना' क्रिया का भूत ।

११.२ सम्बन्धवाचक 'का', 'की', 'के' के साथ :

छल + की	=	छल से सम्बन्धित
छलकी	=	'छलकना' क्रिया का भूत
हल + की	=	हल से सम्बन्धित
हल्की	=	भारी का विलोम
सिर + का	=	सिर से सम्बन्धित
सिरका	=	एक पेय पदार्थ
सिर + की	=	सिर से सम्बन्धित
सिरकी	=	छप्पर बनाने के प्रयोग मे आने वाले सरकडे
पाल + की	=	पाल से सम्बन्धित
पालकी	=	एक सवारी जिसको उठाकर ले जाया जाता है ।
पल + की	=	पल से सम्बन्धित
पलकी	=	'पालकी' का छोटा रूप
पल + का	=	पल से लम्बन्धित
पलका	=	'पलग'
गुट + का	=	गुट से सम्बन्धित
गुटका	=	एक खेलने का पदार्थ
मन + का	=	मन से सम्बन्धित
मनका	=	माला का एक दाना
सन + की	=	सन से सम्बन्धित
सनकी	=	विकृत मस्तिष्क वाला
जान + की	=	जान से सम्बन्धित
जानकी	=	सीताजी
नल + की	=	नल से सम्बन्धित
नलकी	=	मशीन मे लगाने वाली लम्बी पेचक

११.३. अन्य रूप : प्रत्यय के साथ :

बे + गम[1]	=	बिना चिन्ता के
बेगम	=	रानी

११.४. तीन प्रकार से संगम :

आज + आ	=	आज के दिन आओ
आ + जा	=	आकर जाओ
आजा +	=	आना क्रिया का ही रूप

यह हिन्दी के आक्षरिक स्वरूप की झाकी पाठको के समक्ष प्रस्तुत है। यह विषय जटिल है और साथ ही विवादास्पद। फिर भी, मैंने चेष्टा की है कि अक्षर-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सके। प्रत्येक अक्षर की पृष्ठभूमि मे हिन्दी-स्वर, सध्यक्षर स्वर, स्वर-सयोग, व्यजन तथा व्यजन-गुच्छ, व्यजनानुक्रम, विभिन्न स्थितियो मे स्वर का लोप, अक्षर-संगम का सम्यक् ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है अतएव इन तत्वो की ओर भी स्थान-स्थान पर निर्देश मात्र किया गया है। इन सभी विषयो पर हिन्दी मे पृथक्-पृथक् कार्य अभी उपेक्षित ही पडा है।
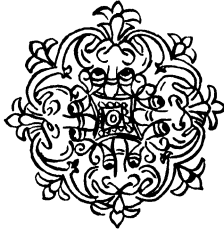
१. यद्यपि 'बेगम' अरबी शब्द है और 'ेगम' तुर्की फिर भी हिन्दी-भा ा-भाषी जनता के द्वारा सामान्यतः एकसा ही उच्चारण सुनाई पड़ता है।

निश्चित संख्यावाची में अनिश्चितत्व

डा० बाबूराम सक्सेना

विराट् पुरुष के लक्षण मे उसे सहस्र शीर्ष वाला, सहस्र आखो वाला और सहस्र पांव वाला बताया है। निश्चय ही यहा **सहस्र** का अर्थ १००० नही है; अर्थ है, सहस्रो या असख्य। उसी प्रकार **शतक्रतुः** का अर्थ है सैकड़ो वीर-कर्म करने वाला, न कि केवल निश्चित १०० यज्ञो का कर्त्ता। पौराणिक काल का यह कथानक कि इन्द्र ने सौ यज्ञ किए है और जब कोई मानव ९९ यज्ञ करके १००वा यज्ञ करना चाहता है तो इन्द्र इस डर से कि कही यह मुझे इन्द्रासन से हटा न दे, या मेरी बराबरी न करने लगे, उसके यज्ञ मे सर्वथा बाधा पहुचा कर उसे 'शतक्रतु' नही होने देते, कथानक-मात्र है। सहस्राक्ष, शतक्रतु आदि शब्दो मे समास का विग्रह भिन्न-भिन्न करने पर हजारों आखों वाला या एक हजार आखों वाला, सैकडो क्रतुओ वाला या एक-सौ क्रतुओ वाला आदि अर्थ प्रकरण के अनुकूल किया जा सकता है।

हिन्दी बोल-चाल के स्तर पर ध्यान देने से यह देखा गया है कि गणसंख्यावाची शब्द कभी-कभी क्रमिक संख्या के अर्थ मे प्रयुक्त होते है। हम ऐसा बहुधा बोलते हैं कि कालेज ४ तारीख को बन्द होगा और ३० तारीख को खुलेगा; जबकि हमारा अभिप्राय यह होता है कि कालेज चौथी तारीख को बन्द होगा और ३०वी को खुलेगा। किसी से पूछिए कि आज कौन तारीख है, तो उत्तर मिलेगा १२ या १३, न कि १२वी या १३वी। यदि पूछे कि क्या बजा है तो उत्तर होगा चार बजा है या पांच, न कि चौथा या पाचवा। आप कह सकते है कि चार या पाच घण्टे बजाये जाते है इस लिए गणवाचक शब्द का प्रयोग ही साधु है, क्रमवाचक का नही। परन्तु फिर आप प्रश्न मे एकवचन का प्रयोग क्यो करते है? आज दोनों प्रकार के प्रयोग हिन्दी मे चल रहे है—

(१) क्या बजा है?
चार बजा है।
(२) कितने (कै) बजे है?
चार बजे है।

और कट्टर व्याकरणशास्त्री भी प्रथम प्रयोग को असाधु नही ठहरा सकता। अगरेजी बोल-चाल मे भी तारीख और समय के विषय मे इसी प्रकार का प्रयोग चलता है, और शिष्ट समाज के लेख मे भी 16th April के स्थान पर 16 April पाया जाता है।

निश्चित सख्यावाची शब्दो को अनिश्चित के अर्थ मे प्रयोग करने के उदाहरण भी अब हिन्दी बोल-चाल मे मिलते है। अवधी मे मसल है—

'पांच पंच मिलि कीजइ काजा,
हारे जीते न आवइ लाजा।'

निश्चय ही यहा पाच का अर्थ निश्चित सख्या ५ नहीं है; अर्थ है, ५, ६, ७ या और अधिक।

मुहाविरा है—

"चार पैसे कमाने लगे तो इसका घर भी बसा दिया जाय।"

यहां निश्चय ही ४ का अर्थ चार नही है और न पैसे का पैसा। चार पैसे में तो एक प्याला चाय भी न मिलेगी, भार्या के भरण-पोषण की बात कौन कहे !

नौकरी के लिए प्रार्थना करने का मुहाविरा है—

'सरकार आध सेर आटे का प्रबन्ध कर दीजिये।'

निश्चय ही 'आध सेर आटा' यहा जीविका का प्रतीक-मात्र है और **आध, आधे** का वाचक नही है। यदि अक्षरशः वही अर्थ लिया जायगा तो हम वही भूल करेंगे जो उस साहब ने की थी जिसने नौकर के यह कहने पर कि 'हुजूर हमारे माई-बाप है।' —कहा था कि 'देखो हम तुम्हारा बाप हो सकता है, माई नहीं होने सकता।'

जब आप किसी ऐसे आदमी को साथ ले जाना चाहते है जो तुरन्त चलने योग्य नही है और स्नान करना चाहता है, तो वह कहता है—

'ठहरिए, शरीर पर दो लोटे पानी डाल लू तो चलू।'

यहा निश्चय ही वह व्यक्ति **दो ही** लोटे पानी नही डालेगा, यह बात आप तुरन्त स्वीकार कर लेंगे।

विचार और अनुसधान करने पर इसी प्रकार के अनेक उदाहरण बोलचाल में मिल जायगे। यहा मैंने दिङ्मात्र निवेदन किया है। वाणी मे मितार्थी शब्द अमितार्थी हो जाते हैं और अमितार्थी मितार्थी। भाषा के सभी अगो मे यही बात दिखाई देती है। इसी प्रकार विकास होता है। भगवती सरस्वती की यही क्रीडा है।
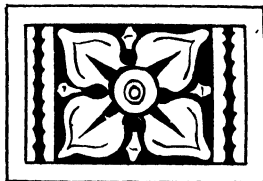
भारत की भाषा-समस्या

डा० भोलानाथ तिवारी

भारत की भाषा-समस्या निखर कर भी खटाई मे पडी हुई-सी है। अनेक क्षेत्रों से अब भी रह-रहकर विरोधी स्वर सुनाई पड जाते है और लगता है कि बहुतो के मन मे यह बात बैठी हुई है कि इस समस्या को जिस ढग से सुलझाया गया है वह न्यायोचित नही है। यहा पूरी समस्या और उसके समाधान पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जा रहा है।

कवीन्द्र रवीन्द्र भारत को 'महामानवेर समुद्र' कहा करते थे। यहा अनेक धर्म, अनेक जाति और अनेक भाषाओ का होना इसके अनुरूप ही है। यूरोप मे से यदि रूस को निकाल दे तो शेष का लगभग दो-तिहाई भाग भारत से बडा नही है। इस प्रकार यह महाद्वीप-जैसा ही है। भाषाओ और बोलियों की सख्या, यहा लगभग सात सौ है, जो भारोपीय, द्रविड़, आस्ट्रोएशियाटिक और तिब्बती-बर्मी इन चार परिवारो की है। इनमे प्रमुख है कश्मीरी, सिधी, पजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम, बगाली, उडिया, आसामी और हिन्दी।[1] इनमे उत्तरी भारत की आर्य-भाषाओ मे शब्द-समूह के साथ-साथ रूप-साम्य भी है। दक्षिण की द्रविड भाषाओं की उत्तर भारत की भाषाओ से केवल शब्दावली की ही न्यूनाधिक समानता है।

भाषा की समस्या प्रमुखत तीन प्रकार की है। शासन और न्याय की भाषा की समस्या, शिक्षा के माध्यम की समस्या, विदेशो से सम्बन्ध की समस्या। इनमे प्रथम के केन्द्रीय, प्रान्तीय और अन्तर्प्रान्तीय तीन रूप है: न्याय और शासन के लिए केन्द्र मे किस भाषा का प्रयोग हो? प्रात मे किसका प्रयोग हो और एक प्रात से दूसरे के पत्र-व्यवहार मे किसका प्रयोग हो? शिक्षा की दृष्टि से भी समस्या तीन प्रकार की है. प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, विश्वविद्यालयीय शिक्षा। विदेशो से सम्बन्ध का अर्थ है, उनसे पत्र-व्यवहार किस भाषा मे किया जाय?

स्पष्ट ही प्रात मे वहा की भाषा का प्रयोग होगा। यदि दो भाषाए है, दोनो का प्रयोग वैकल्पिक हो सकता है। शिक्षा का माध्यम अन्तत तीनो स्तरो पर प्रातीय भाषा होगी। अपनी भाषा के अतिरिक्त माध्यमिक स्तर से दो अन्य भाषाओं (एक अपने देश की राजभाषा और एक विदेशी भाषा) का अध्ययन होना चाहिए, जैसा कि रूस आदि कई समुन्नत देशो मे है। इस प्रकार शिक्षा और प्रातीय समस्याओ को हल करने में कोई विशेष कठिनाई नही है। समस्या शेष रहती है केवल एक भाषा की, जिसमे न्याय तथा शासन आदि की दृष्टि से केन्द्र का, केन्द्र और प्रांतों का तथा प्रात और प्रांत का एव वैदेशिक सम्बन्ध के काम किये जा सके।

यदि भारत की समुन्नत भाषाओ की सख्या बडी न होती तो यह समस्या विशेष कठिन न होती। इस प्रसग मे कुछ लोग स्विट्जरलैण्ड, कनाडा और बेल्जियम आदि का नाम लेते है और कहते हैं कि सभी भाषाओ का प्रयोग होना चाहिए, जैसा कि इन देशों मे होता है। वस्तुत इन देशो मे स्थिति ऐसी नही है, विशेषत. वैदेशिक सबध एक से अधिक भाषाओं मे करना तो बिल्कुल ही व्यावहारिक नही होगा। स्विट्जरलैण्ड मे भाषाए कई है जिनमें जर्मन, फ्रेच, इटैलियन

---

१. हिन्दी-उर्दू व्याकरणिक दृष्टि से एक है। वस्तुत: उस एक भाषा की ही एक शैली सस्कृतनिष्ठ, दूसरी फारसी-अरबी शब्दों से लदी और तीसरी बीच की है। हिन्दुस्तानी भी भिन्न नहीं है, वह या तो उर्दू-हिन्दी के बीच की भाषा है या फिर उर्दू का ही दूसरा नाम।

ग्रौर रोमांश ग्रादि प्रमुख है। इनमे केन्द्र मे जर्मन, फ्रेंच ग्रौर इटैलियन का प्रयोग होता है, किन्तु वैदेशिक कार्यों मे केवल फ्रेंच ही प्रयुक्त होती है। कनाडा मे भाषाए तो कई है किन्तु प्रमुख केवल ग्रग्रेजी ग्रौर फ्रेंच हैं। केन्द्र का कार्य इन दोनो मे होता है, किन्तु बाहरी कामों मे केवल ग्रग्रेजी का ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार बेल्जियम मे भाषाए कई है, जिनमे प्रमुख फ्लेमिश, फ्रेंच ग्रौर जर्मन है। केन्द्र का कार्य फ्लेमिश ग्रौर फ्रेंच मे होता है। वैदेशिक कार्यों में फ्लेमिश का प्रयोग होता है।

उपर्युक्त देशो की व्यवस्था से दो बाते स्पष्ट है (क) वैदेशिक कार्यों के लिए तो हमे एक भाषा को चुनना ही होगा, सारी भाषाए उसका माध्यम नही बन सकती; (ख) केन्द्र में एक से ग्रधिक भाषाग्रो का प्रयोग हो सकता है।

'ख' के सम्बन्ध मे भारत मे समस्या कुछ भिन्न है। ऊपर हमने देखा कि दो-तीन से ग्रधिक भाषाग्रो का प्रयोग केन्द्र मे कही नही होता। किन्तु भारत मे उस रूप मे दो-तीन भाषाग्रो को चुनना कई कारणो मे सभव नही है। पहली बात तो यह है कि यहा के लोग दुर्भाग्य या सौभाग्य से भाषा ग्रौर धर्म के नाम पर इतनी बुरी तरह से जागरूक हैं कि केन्द्र के लिए दो-तीन को लिये जाने का प्रश्न उठने पर सभी चाहेगे कि उनकी भाषा ग्रवश्य ले ली जाय। दूसरे उन देशों मे सौभाग्य से प्रतिशत की दृष्टि से केवल दो या तीन भाषाए ही प्रमुख हैं, ग्रत दो-तीन को चुन लेना सरल है। उदाहरणत', स्विट्जरलैण्ड मे रोमाश ग्रादि जो भाषाए छोड दी गई है उनके बोलने वाले एक प्रतिशत या उससे भी कम है। किन्तु भारत मे चार से दस प्रतिशत के बीच मे ही बगला, मराठी, तेलुगु, तमिल, पजाबी, गुजराती ग्रौर कन्नड़ ये सात भाषाए ग्राती है। ग्रत: ग्रन्य देशो के सादृश्य के ग्राधार पर भी दो-तीन भाषाग्रो को चुनना यहा कठिन है। इसका ग्राशय यह निकला कि केन्द्रीय तथा ग्रन्तर्प्रान्तीय ग्रादि कार्यों के लिए भी एक भाषा को चुनना ही ग्रधिक सुविधा-जनक है। व्यावहारिक एव ग्रार्थिक दृष्टि से भी यही ग्रच्छा है।

समस्या वस्तुत यही है कि वह एक भाषा कौनसी है जिसमे उपर्युक्त काम किये जायं ? उसे राज-भाषा कहे या राष्ट्र-भाषा[1] ? इसके लिए कुछ लोग सस्कृत का नाम पेश करते रहे है, किन्तु यह एक तो व्याकरण की जटिलता एव रूपाधिक्य के कारण ग्रत्यन्त कठिन है ग्रौर दूसरे ग्राज की जीवित भाषा नही है। कई करोड ग्राबादी वाले इस देश मे हजार व्यक्ति भी शायद ही मिले जो इसका ग्रधिकार के साथ बोलने ग्रौर लिखने मे प्रयोग कर सकें।[2] दूसरा नाम ग्रग्रेजी का लिया जाता रहा है ग्रौर ग्रब भी लिया जाता है। वस्तुत. एक स्वतन्त्र ग्रौर स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए यह बहुत ही ग्रपमानजनक है कि वह ग्रपनी भाषाग्रो को छोड किसी भी विदेशी भाषा को इस सम्मानीय स्थान पर प्रतिष्ठित करे। इसमे सदेह नही कि ग्रंग्रेजी भारत की किसी भी भाषा की तुलना मे बहुत ही विकसित ग्रौर सपन्न है; किन्तु ऐसे प्रसग मे तर्क के ग्रतिरिक्त ग्रौर भी बातों का सामने उभर ग्राना स्वाभाविक है। जिस प्रकार हम ग्रपने राष्ट्र-पति या प्रधानमत्री ग्रादि सम्मानीय पदो को ग्रपने ही राष्ट्रवासियो को देते है, उसी प्रकार इस प्रसग मे भी हमे करना पडेगा। हम किसी भी ग्रन्य राष्ट्र के व्यक्ति को केवल इस ग्राधार पर इन पदो पर नही रख सकते कि वह बहुत योग्य है। यहा भावनाग्रो के प्रश्न को ठुकराया नही जा सकता। दूसरे भारत मे ग्रग्रेजी जानने वालो का प्रतिशत भी बहुत नगण्य है। कहने को लगभग एक प्रतिशत लोग ग्रग्रेजी जानते है किन्तु इस बात मे तनिक भी सदेह नही कि ऐसे व्यक्ति जो विश्वास के साथ ग्रग्रेजी बोल, लिख ग्रौर पढ सके शायद १० या १२ प्रतिशत मे ग्रधिक न होगे। ग्रौर इन १० या १२ प्रतिशत के लिए शेष, लगभग सौ प्रतिशत, जनता भुलाई नही जा सकती। लोग कहते है ग्रग्रेजी हमारे लिए कामधेनु है,

---

१. एक भाषा को राष्ट्रभाषा कहना बहुत समीचीन नही है, क्योंकि राष्ट्र की सभी भाषाएं इस नाम का ग्रधिकारिणी है। यों यह नाम चल गया है, ग्रतः इसे रोकना ग्रब ग्रसम्भव सा है।

२. डा. चटर्जी ने भी सस्कृत के राज-भाषा होने का समर्थन नही किया है। वे ग्रपनी पुस्तक 'भारत की भाषा-सम्बन्धी समस्याएं' (प्रथम संस्करण, पृ० ६०) में इसकी सम्भावनाग्रों पर विचार करते हुए निष्कर्षस्वरूप कहते है, 'लेकिन मुसलमान ग्रौर ऐसे ग्रनेक हिंन्दू, जिनका मानसिक विकास संस्कृत के वातावरण में नही हुग्रा है, इस सरल संस्कृतको भी नहीं स्वीकार करेंगे।' ग्रतएव सस्कृत की बात छोड देनी होगी।

ज्ञान का बहुत बड़ा साधन है। ठीक है, बात सही है; किन्तु दो अलग प्रश्नों को मिलाना क्यों ? उस दृष्टि से अंग्रेजी हा क्या, अनेक भाषाओं को हम सदा-सर्वदा पढ़ते रहेंगे। राजभाषा के रूप में अंग्रेजी को न स्वीकार करने से, हमारा ज्ञान के लिए अंग्रेजी पढ़ना-पढ़ाना, कहां प्रभावित होता है ?[1]

इन दो के बाद हिन्दी ही विचारणीय है। यह इसलिए नहीं कि भारतीय भाषाओं की तुलना में यह सम्पन्न और सुविकसित है, बल्कि इसलिए कि इसके बोलने वाले औरों की तुलना मे अधिक हैं। सन १९५१ की जनगणना के अनुसार हिन्दी को छोड़कर भारत में सबसे अधिक संख्या (९.२४ प्रतिशत) तेलुगु बोलने वालों की है। बंगला के ७.०३ प्रतिशत हैं, तथा अन्य भाषाओ के और भी कम हैं। इस प्रकार १० प्रतिशत से अधिक बोलने वाले किसी के नही हैं, किन्तु हिन्दी के बोलने वाले ४० प्रतिशत से ऊपर हैं। यहा बोलने वालों से आशय है जिनकी मातृभाषा हिन्दी या उसकी कोई बोली है। किन्तु इसके अतिरिक्त अहिन्दी-भाषियो मे भी पर्याप्त सख्या ऐसे लोगो की है जो हिन्दी बोल और समझ लेते है। इस प्रकार अधिक से अधिक भारत हिन्दी से सुपरिचित है। भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान डा० सुनीतिकुमार चटर्जी[2] का मत इस प्रसग मे दर्शनीय है। वे अपनी पुस्तक 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' में लिखते है :

'उक्त भाषाओं (भारतीय भाषाओ) में हिन्दी या हिन्दुस्थानी का स्थान सबसे आगे है। कुछ अंशों में तो हिन्दी भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है। हिन्दी या हिन्दुस्थानी घरेलू भाषा की दृष्टि से अवश्य केवल दक्षिण-पूर्वी पजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, उत्तर-पूर्वी मध्यप्रदेश, उत्तरी ग्वालियर तथा पूर्वी राजपूताना आदि कतिपय प्रदेशों में ही बोली जाती है; और यहा भी अधिकाश भागों मे प्रादेशिक बोलिया और केवल शहरो में हिन्दुस्थानी बोली जाती है। परन्तु फिर भी अपने दो रूपों — नागरी हिन्दी एव उर्दू— में हिन्दुस्थानी बगाल, आसाम, उडीसा, नैपाल, सिन्ध, गुजरात एव महाराष्ट्र[3] को छोडकर बाकी समस्त भारत की सर्वमान्य भाषा है। गुजराती तथा मराठी बोलने वाली जनता नागरी हिन्दी को भली भाति पढ एव समझ ही लेती है। इसके अतिरिक्त बोलचाल की हिन्दुस्थानी समझने मे भी उसे कोई खास कठिनाई अनुभव नही होती। राजपूताना एवं मालवा की जनता ने पिछली शताब्दियों के अपने उच्चकोटि के राजस्थानी पिगल साहित्य के रहते हुए नागरी हिन्दी को अपना लिया है। कुछ थोडे से सिक्खो एव अन्य व्यक्तियों को छोड़ कर बाकी सारे पजाबी भी हिन्दुस्थानी का (नागरी हिन्दी या उर्दू रूप मे) व्यवहार करते है। पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार के निवासियों ने भी हिन्दी को अपना लिया है········· बगाल, आसाम एव उडीसा में भी बोलचाल की हिन्दी का एक सरल रूप सभी लोग समझते है।······ द्राविड-भाषी दक्षिण मे भी सबसे अधिक समझ ली जाने वाली भाषा हिन्दुस्थानी ही है, खासकर शहरों एव बडे तीर्थ-स्थानों मे। इसके अतिरिक्त फिजी, ब्रिटिश गायना, त्रिनिदाद, वेस्ट-इडीज, दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका, मॉरिशस, मलय तथा इन्डोनेशिया मे हिन्दुस्तानी-भाषियो की बस्तिया हैं।'

डॉ० चटर्जी अपने उपयुक्त कथन के निष्कर्ष-स्वरूप कहते हैं—

'बोलने वालो एवं व्यवहार करने तथा समझने वालों की संख्या की दृष्टि से हिन्दुस्थानी का स्थान जगत की महान भाषाओं में तीसरा है; इसके पहले केवल चीनी भाषा को उत्तरी बोली तथा अंग्रेजी......।' **इस प्रकार हिन्दी या हिन्दुस्थानी आज के भारतीयों के लिए एक बहुत बड़ी रिक्थ है। यह हमारे भाषा-विषयक प्रकाश का एक महत्तम साधन तथा भारतीय एकता एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक रूप है। वास्तव में हिन्दी ही भारत की भाषाओं का प्रतिनिधित्व**

---

१. डा० चटर्जी भी अंग्रेजी के पक्ष में नहीं हैं। वे अपनी पूर्व-उल्लिखित पुस्तक (पृ० ८४) में लिखते हैं, 'अनेक व्यक्ति अन्तर्प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय या जातीय भाषा के रूप में अंग्रेजी को ही स्वीकार करने का अनुमोदन करते हैं। किन्तु मेरा विचार है कि यह पूर्णतया सम्भव नहीं है।' आगे इस पर विचार करते हुए वे भारत के लिए बेसिक इगलिश, एस्परान्तो, इदा, नोवियाल आदि की सम्भावनाओं पर भी विचार करते हैं, जिसका निष्कर्ष है, 'इनमें से एक भी हमारे लिए सुविधाजनक न होगी।' (पृ० ८९)

२. डा० चटर्जी भारत के मूर्द्धन्य भाषा-तत्त्वज्ञ हैं, अहिन्दी-भाषी हैं अतः उनकी ओर से हिन्दी के पक्ष में पूर्वाग्रह का प्रश्न नहीं है; और अब हिन्दी-विरोधी हैं, इसीलिए यहां और आगे उनके मत को विस्तार से उद्धृत किया गया है। वस्तुतः हिन्दी के पक्ष में जितनी भी बातें कही जा सकती हैं, उन सभी को उन्होंने विरोधी होने के पूर्व बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से सबके सामने रखा है।

३. यहां दक्षिणी भारत छूट गया है

कर सकती है।[1]

यह है हिन्दी-प्रचार और प्रचलन के आधार पर एक भाषा-विशेषज्ञ का मत। कहना न होगा इस दृष्टि से स्पष्ट ही हिन्दी अपने इस स्थान की एकमात्र अधिकारिणी है।

दूसरी बात जो हिन्दी को इस पद के योग्य बनाती है वह है उसकी प्रकृति। इस बात की ओर सबसे पहले ग्रियर्सन ने सकेत किया था। उनका कहना था कि इसका व्याकरण अन्यो की तुलना मे सरल है। गाधीजी ने भी व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर इस प्रकार की बात कभी कही थी। डॉ० चटर्जी ने विस्तार से इसकी प्रकृति पर प्रकाश डाला है। यहा लगभग उन्ही के शब्दों मे प्रमुख बातें ये हैं :

(क) कुछ दृष्टियों से यह सभी भारतीय भाषाओं के निकट है। आर्य-भाषाओं से रूपों और शब्दों दोनों ही दृष्टियों से और द्राविड़ भाषाओं से वाक्य-विन्यास, शब्द तथा मुहावरो की आधारभूत बातो की दृष्टि से।

(ख) सभी महान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को प्राप्त भाषाओ (उदा० अग्रेजी) की भाति हिन्दुस्थानी भी अब प्रान्त या देश के सकुचित दायरे को छोडकर विश्वकोषीय स्थिति (encyclopaedic stage) को प्राप्त कर रही है। ······वह एक अत्यत उदार तथा युक्तियुक्त नीति का अनुसरण करने वाली भाषा कही जा सकती है।

(ग) हिन्दुस्थानी की शैली सक्षिप्त या लाघवपूर्ण एव अलकृत या विस्तारपूर्ण दोनो प्रकार की हो सकती है। हिन्दुस्थानी एक ओजपूर्ण पौरुषयुक्त भाषा है।

(घ) 'करना' 'बनाना' आदि के साथ संज्ञा जोड़कर अनेक भावों को व्यक्त कर सकती है। इससे क्रिया के रूप घट जाते है, तथा सज्ञा के प्रयोग के कारण क्रिया में स्पष्टता रहती है।

(ङ) इसकी ध्वनिया नपी-तुली और सुनिश्चित भी हैं। कश्मीरी या पूर्वी बगला की तरह स्वर-परिवर्तन की दुरूहता नही है। कठिन ध्वनियां भी नही है।

(च) हिन्दी के व्याकरण के रूप भी अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना मे कम हैं। ······बोलचाल की हिन्दुस्थानी-व्याकरण तो केवल एक पोस्टकार्ड पर लिखी जा सकती है।

इस प्रकार प्रकृति की दृष्टि से भी, सामान्य व्यक्ति नही अपितु एक भाषा-तत्त्वज्ञ की दृष्टि से, हिन्दी अपने पद की, भारतीय भाषाओं मे एकमात्र अधिकारिणी है।[2]

तीसरी बात जो हिन्दी के पक्ष मे है, वह है परम्परा की। मनुस्मृति तथा अन्य अनेक ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति और धर्म का केन्द्र और स्रोत प्राचीन काल से ही मध्यदेश रहा है, और यही की भाषा पूरे देश की एक प्रकार से राष्ट्र-भाषा रही है। वैदिक सस्कृत का स्वरूप तो अधिकाशत: बाहर ही निश्चित हो चुका था, किन्तु लौकिक सस्कृत का सम्बन्ध मोटे रूप से मध्यदेश के पश्चिमोतर भाग से है। आगे चलकर सर्वमान्य भाषा 'पालि' मि लती है। पालि का सम्बन्ध पहले विद्वान बिहार से मानते थे किन्तु अब यह प्राय: निश्चित-सा हो गया है कि वह मूलत. मध्यदेश की भाषा थी। पालि के बाद उसका स्थान शौरसेनी प्राकृत लेती है। इसका सम्बन्ध भी मध्यदेश से ही है। इसी प्रकार अपने काल की पूरे उत्तरी भारत की परिनिष्ठित और सर्वसामान्य भाषा शौरसेनी अपभ्रश का सम्बन्ध भी इसी मध्यवर्ती भूभाग से था। कहना न होगा कि खड़ी बोली हिन्दी भी इसी मध्य देश से सम्बद्ध है और अपने-अपने काल की सर्वमान्य भाषा की परम्परा में—सस्कृत—पालि—शौरसेनी प्राकृत—शौरसेनी अपभ्रश—हिन्दी—आती है। इस प्रकार परम्परागत रूप से भी हिन्दी सर्वमान्य भाषा है।[3] यह बात विचित्र है कि आज भी यह बात किसी-न-किसी रूप में मान्य-सी है कि हिन्दी प्रदेश ही भारत का केन्द्र है। आज भी इस क्षेत्र के निवासियो के लिए नेपाल के लोग 'मदे-

१. भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी, प्रथम संस्करण, पृ० १४७-६
२. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १५०-२
३. इसमे भी भाषाविज्ञानविदों ने स्वीकार किया है। इस प्रसगमें डॉ चटर्जी का ही एक उद्धरण देखा जा सकता है : 'हिन्दुस्थानी भारत की एक सार्वजनिक भाषा के इतिहास की शृखला में अन्तिम कड़ी के रूप में हमारे सामने आई।' · · 'हमेशा उत्तर भारतीय मैदानों के पश्चिमी भाग—आधुनिक पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश—में उद्भूत भाषा ही सार्वजनीन भाषा बनकर रही है।' (वही, पृष्ठ १८८)

सिया' (मध्यदेशीय) का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार बगाली और पंजाबी, दोनों, हिन्दी प्रदेश वालों को 'हिन्दुस्तानी' कहते है, यद्यपि वे स्वयं भी हिन्दुस्तानी ही है।

इस प्रकार प्रचार-प्रसार, प्रकृति और परम्परा तीनों ही दृष्टियों से हिन्दी ही राष्ट्र या राज-भाषा होने की स्थिति मे है।

जहा तक देश तथा देश के बाहर पास के द्वीपो, बरमा, सिंगापुर या अफ्रीका आदि मे प्रचार-प्रसार का सम्बन्ध है, इसका प्रमुख कारण आर्थिक है। इस प्रदेश की आबादी पर्याप्त है और एक ओर धनिक वर्ग है तो दूसरी ओर अत्यन्त गरीब वर्ग। दोनो ही वर्ग के काफी आदमी हिन्दी प्रदेश के बाहर और देश के बाहर भी अपनी जीविका कमाने इस सदी के आरभ के पूर्व से ही जाते रहे हैं। ग्रियर्सन के सर्वेक्षण से पता चलता है कि अहिन्दी प्रदेश के बड़े-बड़े नगरो मे काफी बडी सख्या हिन्दुस्तानी बोलने वालो की है। देश के भीतर कोने-कोने मे प्रचार के लिए आर्थिक के अतिरिक्त कुछ और भी कारण है। दिल्ली काफी दिनों से राजनीति और इतिहास का केन्द्र है, इस कारण भी इसके पास की भाषा को कुछ प्राथमिकता एव प्रचार मिला है। मुसलमान आरभ मे आए तो पंजाब के बाद दिल्ली के आस-पास रुके। वहा मे धीरे-धीरे दक्षिण मे वे 'दक्खिनी' या 'दक्खिनी हिन्दी' लेकर गए तथा देश के और भागो मे भी यहा की भाषा लेकर फैले। हिन्दी के प्रसार मे धर्म का भी कम हाथ नही है। राम और कृष्ण इधर काफी दिनो से हिन्दू धर्म के मूल स्तभ रहे है और इन दोनों की भूमि (अयोध्या, व्रज) हिन्दी-प्रदेश मे है। इस कारण यहा चारो ओर से तीर्थ-यात्री आते रहे है। तीर्थराज प्रयाग और देवनगरी काशी तथा आसपास के अन्य अनेक तीर्थों का आकर्षण भी इसके साथ काम करता रहा है। इधर कुछ दशको मे सिनेमा ने भी हिन्दी के प्रचार मे सहयोग दिया है। हिन्दी-दर्शकों की सख्या अधिक होने से देश मे हिन्दी फिल्मे अपेक्षाकृत अधिक बनती है और उनका पूरे भारत मे प्रचार है। दक्षिण भारत मे भी लोग उनके द्वारा अपना मनोरजन करते है। कलकत्ता और बम्बई मे तो समस्त हिन्दी-प्रचार का श्रेय सिनेमा को दिया जा सकता है।

यह तो इधर की बात की जा रही है। पढे-लिखे लोगो मे तो थोडा-बहुत प्रचार बहुत पहले से है। यही कारण है कि बहुत से अहिन्दी प्रान्तो मे कई सदियो पूर्व से हिन्दी मे भी रचनाए हुई है। पजाब तो पडौसी प्रदेश है और वहा के अनेक पजाबी कवियो ने हिन्दी मे रचनाए की हैं। इस दृष्टि से गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिह, दलसिह, धर्मसिंह, चन्द्रशेखर, नरेन्द्रसिह, सतोषसिह आदि पचास से ऊपर नाम उपलब्ध है। इसमे कबीर के प्रभाव ने भी काम किया और न केवल पजाब मे अपितु अन्य प्रान्तो मे भी सत-साहित्य हिन्दी मे लिखा गया। गुजरात में तो कहना ही क्या। श्री के० एम० झाबेरी ने अपने 'माइल स्टोन ऑव् गुजरात लिटरेचर' मे लिखा है कि 'मध्ययुगीन गुजरात मे हिन्दी ही अधिकाशत विद्वानो की भाषा थी।' कृष्ण-प्रेम से प्रभावित दर्जनो कवियो ने हिन्दी मे लिखा है। वहा जैन साहित्य, विशेषत· दिगबरो का भी, हिन्दी मे ही लिखा गया है। गुजरात के प्रमुख हिन्दी-कवियो मे भालण, अखो, दयाराम, दलपत-राम, ब्रह्मानन्द, धीरो, गवरी आदि उल्लेख्य है। महाराष्ट्र मे हिन्दी के प्राचीन प्रचार और प्रयोग के अनेक उदाहरण है। समर्थ रामदास की हिन्दी रचनाए सर्वविदित हैं। हिन्दी के कवि भूषण उधर कई दरबारों में थे। शिवाजी स्वय हिन्दी के कवि थे, उनके कुछ छन्द आज भी उपलब्ध है। पेशवाओ, होल्करो और सिधियो के दरबार मे हिन्दी मे काम होता था। वहा के अन्य प्रसिद्ध हिन्दी-कवियो मे चक्रधर, दामोदर पडित, ज्ञानेश्वर, नामदेव, गोंदा, सेना, एकनाथ, श्यामसुन्दर, कान्होबा, तुकाराम, वामन पडित, अमृतराय, रगदास, कल्याण आदि तथा कवयित्रियो मे महदासिया, महदबा, उमाबी, रूपाई, मुक्ताबाई, बहिणाबाई आदि उल्लेख्य है। दक्षिण मे दक्खिनी हिन्दी के अनेक कवि हुए हैं जिनमे बदा नवाज, शाह मीराजी, शाह अलीमुहम्मद, शाह बुरहानुद्दीन, रुस्तमी, हाशिमी, कुतुबशाह, वजही, वजदी, वली आदि का नाम लिया जा सकता है। इन्होने दक्खिनी मे लिखा, किन्तु इनके अतिरिक्त हिन्दी के अन्य रूपों मे लिखने वाले भी कुछ दक्षिण भारत मे मिल जाते है। केरल के महाराज रामवर्मा ने सूर-तुलसी की भाति भक्ति के बड़े सुन्दर छद रचे है। आध्र के १६ वी सदी के प्रसिद्ध कवि पेद्दन्ना के भी कुछ हिन्दी छंद मिलते है। बंगाल का ब्रजबुलि-साहित्य तो हिन्दी-प्रभावित है ही, वहा के कई अच्छे कवियो ने बगाली के साथ-साथ हिन्दी मे भी रचनाए की हैं। इस दृष्टि से

१८वीं सदी के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध कवि चन्द्र गुणाकर का नाम उल्लेख्य है। इसी प्रकार उड़िया कवियों मे भी कुछ ने हिन्दी में रचना की है, जिनमे ब्रजनाथ बडजेना प्रमुख हैं। इस प्रकार इस सदी के पहले ही हिन्दी अन्य प्रान्तो मे इतनी पहुच ही चुकी थी कि लोग उसे साहित्य-रचना के स्तर पर स्वीकार कर रहे थे।

प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का आन्दोलन हिन्दी वालो ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया। वस्तुतः इतिहास न जानने वाले ही ऐसा कहते हैं। हिन्दी वाले तो हिन्दी का प्रयोग करते थे, उसके आधार पर चारो ओर अपने देश मे घूम लेते थे, और उन्हे कोई कठिनाई नही होती थी, इसीलिए भाषा की समस्या पर कभी उनका ध्यान ही नही गया। दूसरी ओर कोई अहिन्दी-भाषी जब अपने प्रदेश मे बाहर जाता था तो उसके सामने यह प्रश्न स्वभावत· आता था कि वह दूसरो को कैसे समझाए और उन्हे स्वय कैसे समझे। उसकी अपनी भाषा तो काम कर नही पाती थी। इसीलिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि भारत की अखिल देशीय भाषा की ओर उसका ध्यान गया। इस प्रकार अहिन्दीभाषी भारतीयो ने ही सर्वप्रथम यह कहा और माना कि हिन्दी ही यहा की अखिल देशीय भाषा है।[1] जैसा कि आगे स्पष्ट हो जाएगा। दूसरे लोग, जिन्होने इस बात को हिन्दीभाषियो से पहले अनुभव किया था, वे थे विदेशी। विदेशी यहा आए तो स्वभावत वे सभी भाषाओ को तो सीख नही सकते थे, अत· कोई एक ऐसी भाषा चाहते थे, जिसे जान लेने पर पूरे देश मे काम चल जाए। इस प्रकार अहिन्दी और विदेशी लोगो ने ही सर्वप्रथम हिन्दी को अखिल देशीय भाषा के रूप मे पहचाना और इसके जानने पर बल देना प्रारम्भ किया। कालक्रमानुसार इस दृष्टि से कुछ बाते यहा देखी जा सकती है।

विदेशी लोगो मे प्रथम नाम एडवर्ड टेरी का है जिसने अपने यात्रा-विवरण (वाइज टु द ईस्ट इण्डीज) मे, जो १६५५ ई० मे छपा, 'हिन्दोस्तानी' को यहा की बोलचाल की भाषा कहा है। १८वी सदी के आरम्भ मे ही हिन्दी या हिन्दुस्तानी का महत्त्व स्पष्ट हो गया था, इसीलिए १७०४ मे ही तुरोनेसिस नामक विद्वान ने 'लोकसिकन लिगुआ हिन्दोस्तानिका' प्रस्तुत किया। उस समय डचो का व्यापार चल रहा था। यद्यपि उन लोगो का सम्बन्ध प्रमुखत दक्षिणी भारत से था, फिर भी हिन्दुस्तानी का जानना उनके लिए इतना आवश्यक प्रतीत हुआ कि डच मालिको की सुविधा के लिए जे० जे० केटेलेयर ने डच भाषा मे हिन्दुस्तानी का व्याकरण (१७१५ ई०) लिखा। यह हिन्दुस्तानी का प्रथम व्याकरण १७४३ ई० मे लायडेन द्वारा लैटिन मे अनूदित हुआ। १७२७ मे ए० हेमिल्टन ने हिन्दुस्तानी को अपने एक यात्रा-विवरण मे, जो १७२७ मे छपा, मुगल राज्य की सामान्य भाषा कहा। यह ध्यान देने योग्य है कि मुगल राज्य केवल हिन्दी प्रदेश नही था। १८५२ मे फ्रास मे अपने एक व्याख्यान मे प्रसिद्ध फ्रासीसी विद्वान गार्सा द तासी ने 'हिन्दुई-हिन्दुस्तानी' को भारत की लोक या अखिलदेशीय भाषा कहा था। १८८६ मे लन्दन मे प्रकाशित होने वाले प्रसिद्ध कोश 'हाब्सन-जाब्सन' मे हिन्दुस्तानी को भारत भर के मुसलमानो की राष्ट्र-भाषा कहा गया है। इसके बाद तो ग्रियर्सन आदि अनेक लोगो ने इसे राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार किया।

अपने देश मे सबसे पहले बगाल और बम्बई मे जागृति हुई, इसी कारण राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भी सर्वप्रथम वही के लोगो का ध्यान गया। डॉ० अमरनाथ झा के अनुसार इस बात की ओर सकेत करने का प्रथम श्रेय राजा राममोहनराय को है। उन्होने हिन्दी को इस रूप मे अपनाने की बात अपने किसी भाषण मे कही थी। बम्बई फ्री चर्च कॉलेज के प्राध्यापक श्री पेठे ने कदाचित १८६४ मे 'राष्ट्र भाषा' नाम की एक मराठी पुस्तक मे यह स्पष्ट किया कि 'भारत के लिए एक भाषा आवश्यक है और वह हिन्दी है।' तीसरे प्रसिद्ध व्यक्ति, जिन्होने इस बात पर बल दिया था, बंगाल के महान धार्मिक नेता केशवचन्द्र सेन थे। इनका एक पत्र था 'सुलभ समाचार', १८७५ मे इसमे इन्होने स्पष्ट शब्दों में भारत की एकता के लिए एक भाषा पर बल दिया था और इसके लिए हिन्दी अपनाने को कहा था।[2]

---

१. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी इस बात को स्वीकार किया है। वह अपने पश्चिम बङ्ग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता के अध्यक्षीय भाषण (१६५१) में कहते है—"आधुनिक भारत में हिन्दी के प्रमुख स्थान के विषय पर पहले-पहल सचेत हुए अहिंदी प्रान्तों के लोग।" (पृ० १२)

२. उनके शब्द ये है—'यदि भारतवर्ष एक ना हइले, भारतवर्षे एकता नाहय, तबे ताहार उपाय किं? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार

वस्तुतः श्री पेठे और श्री सेन को ही इस आन्दोलन का अगुआ माना जा सकता है, यद्यपि राष्ट्रभाषा का आन्दोलन उसके बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। केशवचन्द्र सेन ने स्वयं तो ऐसा लिखा ही, किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने एक और बहुत बडा काम किया जिसने हिन्दी के प्रचार में बहुत बडी सहायता की। उन्हीं दिनों गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज या वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे थे। वे संस्कृत में भाषण दिया करते थे। ४८ वर्ष की अवस्था मे स्वामीजी कलकत्ता पहुचे और वहा भी उन्होंने संस्कृत मे भाषण दिया। श्री केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी से कहा कि यदि आप पूरे भारत को अपनी बात सुनाना चाहते हैं तो हिन्दी सीखिए और उसी का प्रयोग कीजिए। स्वामीजी ने श्री सेन की बात मानकर ४८ वर्ष की उम्र मे हिन्दी सीखी और हिन्दी में भाषण देना तथा आपने ग्रथ लिखना शुरू किया। कहना न होगा कि आर्यसमाज ने हिन्दी-प्रचार में बहुत बडा योग दिया और इसके साथ हिन्दी अनेक ऐसे घरों में प्रविष्ट हो गई, जहा उसका जाना सामान्यत· सम्भव न था। यह भी कम आश्चर्य की बात नही कि हिन्दी का एक प्रकार से पहला व्यवस्थित गद्य-ग्रथ प्रेमसागर के लिखने वाले लल्लूजीलाल गुजराती थे। हिन्दी-प्रदेश के प्रथम पत्र 'बनारस अखबार' के सम्पादक एक मराठी सज्जन हरि रघुनाथ थत्ते थे। उन्ही दिनो एक अन्य मराठी हरिगोपाल पाण्डे ने 'भाषातत्त्व दीपिका' (१८७० के लगभग) नाम का हिन्दी-व्याकरण लिखा। इस प्रसग मे न केवल बगला और भारत के, अपितु विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी का भी नाम लिया जा सकता है। ये भी हिन्दी को ही भारत की राष्ट्र-भाषा मानते थे। बगाल के प्रसिद्ध साहित्यिक पत्र 'बगदर्शन' मे १८७८ मे इन्होने एक लेख लिखा था जिसमें अपने ये विचार बड़ी स्पष्टता और दृढता से व्यक्त किये थे।[1] प्रसिद्ध शिक्षाविशारद भूदेव मुखर्जी भी बंगाली ही थे, जिन्होंने डॉ० ग्रियर्सन से लोहा लेकर बिहार की कचहरियो मे हिन्दी भाषा और नागरी एव कैथलिपि को स्थान दिलाया था। उन्होने अपने 'आचार-प्रबन्ध' नामक पुस्तक मे तथा अन्यत्र भी हिन्दी को ही अखिल भारतीय भावनाओ के ऐक्य का साधन कहा था।[2] सन १९०० के आसपास तक के अन्य गुजराती, मराठी तथा बगाली हिन्दीप्रचारको तथा समर्थकों मे हरगोविन्ददास सेठ, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सदाशिवराव, योगेन्द्रनाथ वसु, अमृतलाल चक्रवर्ती तथा बगाल के प्रसिद्ध नेता कालीप्रसन्न आदि उल्लेख्य हैं। इसके बाद भी अहिन्दी लोगों ने ही राष्ट्र-भाषा के रूप मे हिन्दी को तथा इस आन्दोलन को विशेष रूप से आगे बढाया है। ऐसे लोगों में सर्वश्री महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस, राजगोपालाचार्य, कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, प० ग० र० वैशम्पायन, न० वि० गाडगिल, मश्रूवाला, दिवाकर, निजलिंप्पा, सुनीतिकुमार चटर्जी तथा अनन्तशयनम् आयगर आदि प्रमुख हैं। यों हिन्दी-भाषियो मे राजर्षि टडन तथा उनके द्वारा सस्थापित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा किये गए ऐतिहासिक कार्य की प्रशसा मे यह सम्पूर्ण ग्रथ आपके समक्ष है।

कराइ उपाय। एखन जतो गुलि भाषा प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्रायः सर्वत्र-इ प्रचलित। एहि हिन्दी भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाष करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइते पारे। किन्तु राजार साहाय्य ना पाइले कखनो-इ सम्पन्न हइबे ना। एखन इंग्रेज जाति आमादेर राजा। तांहारा जे ए प्रस्तावे सम्मत हइबेन, ताहा विश्वास करा जाय ना। भारतवासी देर मध्ये अनैक्य था— कबेमा, ताहारा परस्पर एक-हृदय हइबे, इहा मने करिया हय-तो इंग्रेजेर मने भय हइवे। तांहारा मने करिया थाकेन जे, भारतवासीयेर मध्ये अनैक्य थाकिले ब्रिटिश साम्राज्य स्थिर थाकिले ना।.. . भारतवर्षेर मध्ये जे सकल बडो-बडो राजा आछेन, तांहारा मनोयोग करिले, ए कार्य ही आरम्भ करिते पारेदन।. जेमन एकभाषा करिते चेष्टा करा कर्तव्य, तेमनि उच्चारण के ओ एक रूप करिते चेष्टा करा कर्तव्य। भाषा एक ना हइले पारे ना।

१. उस लेख का एक अंश है—'इंग्रेजी भाषा द्वारा जाहा हउक, किन्तु हिन्दि शिक्षा ना करिते कोनो क्रमे-इ चलिबेना। हिन्दी भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकाश स्थानेर मगल-साधन करिबेन, केवल बांगला ओ इंग्रेजी चर्चाय हइबे ना। भारतेर अधिवासी सख्यार सहित तुलना करि ले, बांगला ओ अंग्रेजी रूप जन लोक बलिते ओ बुझिते पारेन ? बांगलार न्याय जे हिन्दिर उन्नति हइते छे ना, इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिन्दि भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जांहारा ऐक्य बन्धन संस्थापन करिते पारिबेन, तांहारा इ प्रकृत भारत बन्धु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन, जतो दिन परे-इ हउक मनोरथ पूर्ण हइबे।

२. आचारप्रबन्ध में वे लिखने हैं, 'भारतवासीर चलित भाषा गुलिर मध्ये हिन्दी-हिन्दुस्तानी इ प्रधान, एवं मुसलमान दिगेर कल्याणे उहा समस्त-महादेश-व्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहा के अवलम्बन करिया-इ कोनो दूरवर्ती भविष्यकाले समस्त भारतवर्षेर भाषा सम्मिलित थाकिबे।

गांधीजी का ध्यान इस ओर इस सदी के प्रथम दशक में ही गया। १९०९ मे उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज और होमरूल' के १८वे अध्याय में लिखा था "हर एक पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी को अपनी भाषा का, हिंदू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को परशियन का और सबको हिंदी का ज्ञान होना चाहिए।......सारे हिंदुस्तानी के लिए अखिल देशीय भाषा हिंदी होनी चाहिए।......ऐसा होने पर हम अपने आपस के व्यवहार से अंग्रेजी को निकाल बाहर कर सकेंगे।"[1]

तभी से वह इसके लिए प्रयत्नशील रहे। १९१७ मे भडौच मे दूसरी गुजरात शिक्षा-परिषद मे सभापति पद से भाषण देते हुए उन्होंने इस प्रश्न को पर्याप्त विस्तार से लिया। उस समय तक राष्ट्रभाषा के लिए अंग्रेजी का नाम भी बड़े जोर-शोर से लिया जाने लगा था। गाधीजी ने उसी दृष्टि से प्रश्न को उठाया। उनके गुजराती-भाषण के कुछ अंशों का हिंदी-रूपांतर देखने योग्य है।

'अगर गहरे पैठकर हम सोचे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा नही बन सकती और न उसे बनाना चाहिए। इसे ठीक से समझने के लिए हमे यह देखना चाहिए किसी भाषा के राष्ट्रभाषा बनने के लिए क्या-क्या बाते आवश्यक है। ऐसी बातें पांच हैं–(१) सरकारी कर्मचारियो के लिए वह भाषा सरल होनी चाहिए, (२) भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसके माध्यम से पूरे भारत मे धार्मिक, आर्थिक और राजनीति का विचार-विनिमय हो सके, (३) उसका भारत के काफी लोग प्रयोग करते हों, (४) राष्ट्र के लिए सरल हो, (५) ऐसी भाषा का चुनाव करने में मात्र अल्पकालिक या वर्तमान लाभ ही न देखकर दूर तक देखना चाहिए,

आगे विस्तार से विचार करते हुए उन्होने यह स्पष्ट किया था कि 'अंग्रेजी मे इन मे से कोई गुण नही है, और इनमे कोई भी ऐसा नही है जो हिंदी मे न हो, इसीलिए हिंदी ही राष्ट्रभाषा होने के योग्य है।'

आगे भी गाधीजी इस सम्बन्ध मे 'यग इडिया' मे बराबर लिखते रहे तथा अपने भाषणों मे कहते रहे। मद्रास और बगाल मे हिन्दी का विशेष विरोध था। सन २० तथा २१ मे उन्होने वहा के लोगो से अपील की और अत मे उन्ही के प्रयास का फल था कि १९२५ में कानपुर के काग्रेस-अधिवेशन मे काग्रेस की महासमिति और कार्यकारिणी का काम हिन्दी मे करने का प्रस्ताव पारित हो गया।

बापू अपने जीवन के अत तक इसके सम्बन्ध मे हिन्दी नवजीवन, नवजीवन हरिजन-सेवक, हरिजन-बन्धु आदि मे लिखते और कहते रहे और उन्ही के आशीर्वाद से सन '४९ मे कन्स्टीट्यूट असेम्बली ने हिन्दी को राज-भाषा स्वीकार कर लिया।

राजनीति के अहिंदी दिग्गजो मे सुभाषचन्द्र बोस का नाम भी इस दृष्टि मे उल्लेख्य है, कि वे सरल हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के लिए यत्नशील रहे। १९३८ मे हरिपुरा-काग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया।[2]

यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि श्री राजगोपालाचार्य तथा डा० सुनीतकुमार चटर्जी आज हिन्दी के कट्टर विरोधियो मे है। डा० चटर्जी अपने जीवन के आरम्भ से हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा मानते रहे है। १९२१ मे अपने थीसिस की भूमिका मे उन्होने अपना यह मत व्यक्त किया था[3]। १९४० मे अहमदाबाद की गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी के समक्ष भाषण देते हुए भी इन्होंने बहुत विस्तार से इन्ही बातो को दोहराया। उनका यह भाषण सन '४२ मे अंग्रेजी

१. A universal language for India should be Hindi.........if we can do this, we can drive the English language out of the field in a short time.

२. We shall have to develop our lingua franca and a common script.........So far our Lingua franca is concerned, I am inclined to think that the distinction between Hindi & Urdu is artificial one...

३. Hindi or Hindustani is unquestionably the most important language of India and the only speech which can be said to be really national for all India.

मे तथा '५४ मे हिन्दी मे 'भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी' नाम छपा। इस पुस्तक से पर्याप्त उद्धरण पीछे दिए जा चुके है। १९४३ में ऑक्सफोर्ड मे प्रकाशित 'लैंग्वेजेज् एन्ड लिग्विस्टिक प्राब्लम' मे १९५१ में हिन्दी में प्रकाशित 'भारत की भाषाए और भाषा-सम्बन्धी समस्याए' मे तथा १९५१ में ही पश्चिम बग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता के अपने अध्यक्षीय भाषण मे भी डा० चटर्जी ने ऐसे ही विचार व्यक्त किए। पीछे हम देख चुके हैं कि आपने विस्तार से इस बात को बडे विद्वत्तापूर्ण ढग से स्पष्ट किया कि राष्ट्रभाषा के योग्य संस्कृत, अग्रेजी या बंगला आदि नही है और केवल हिन्दी ही है। यह विचारणीय है कि लगभग आधी सदी तक एक भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार का मत व्यक्त करने वाला विद्वान भाषा-शास्त्री एकाएक विरोधी मत व्यक्त करने वाला कैसे हो गया। इसका सक्षिप्त उत्तर यही है कि राजनीति का चक्कर इसीको कहते है। पहले भाषाशास्त्री बोल रहा था, अब राजनीतिज्ञ बोल रहा है। जहा तक सत्य का प्रश्न है, स्पष्ट ही यदि हिन्दी १९२१ मे १९५१ तक हर प्रकार से डा० चटर्जी की दृष्टि मे भारत के लिए एकमात्र राष्ट्रभाषा थी तो १९५४ या ५६ मे उसका इस पद के सर्वथा अयोग्य हो जाने का प्रश्न बिलकुल नही उठता।

राजाजी के सम्बन्ध मे भी यही बात है। १९२८ मे राजाजी ने 'हिन्दी इगलिश सेल्फ-इन्सट्रक्टर' नामक पुस्तक की भूमिका मे हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना है और उसे सभी को पढने की सलाह दी है। १९३८ मे मद्रास के मुख्य मन्त्री की हैसियत से राजाजी ने हिन्दी को वहा अनिवार्य विषय करा दिया था और विरोधियो को जेल भी भेजा था। इस प्रकार बहुत दिनो तक हिन्दी का समर्थन करने वाले राजाजी, अब उसके विरोधी हो गए है। कहना न होगा कि राजाजी को भी राजनीति ने ही अपने पूर्व-व्यक्त मत का विरोधी बना दिया है। वस्तुत डा० चटर्जी तथा राजाजी की आलोचना या उनके विरोध के लिए किसी उत्तर की आवश्यकता नही; विरोधी होने के पूर्व इन दोनों विद्वानो ने जो लिखा, किया और कहा है वही उनके लिए सबसे बडा उत्तर है।

इस प्रकार हमारी भाषा-समस्या किसी भी दृष्टि से उलझी हुई नही है; हां, राष्ट्र के हित को न देखते हुए अपने राजनीतिक स्वार्थवश उलझाने वालो की बात और है।

---

१. Of the 30 crores that live in India, 14 crores speak Hindi or some very near dialect of that language.........From the political as well as cultural and businiss points of view, it is imperatively necessary for the south Indians to learn Hindi......Can the deliberation of the central assembly and the transactions of the high officers of state and others exercising authority in the central govt. be permitted to be done in English? Obviously not. Hindi is bound to be the language of the cantral Govt. and the Legislature and also of the provincial government in their dealings with each other and with the govt. of India.

सम्पादक—

मो० सत्यनारायण

यशपाल जैन

सम्पादकीय

इस शती के साठ वर्षों में राष्ट्रभारती की सहोदराओं ने अपने-अपने साहित्य में जो प्रगति की है, उससे पाठकों का परिचय कराना इस खड का मुख्य प्रयोजन है। हमारे साहित्य-भण्डार का मूल्यांकन तभी तो हो सकता है, जबकि प्रत्येक भारतीय भाषा के योग-दान का लेखा-जोखा हमारे सामने हो।

हमने प्रयत्न किया है कि भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत सभी राष्ट्र-भाषाओं तथा उनके साहित्य की विगत साठ वर्षों की प्रगति का विवरण इन पृष्ठों द्वारा पाठकों को सुलभ हो जाय। इस प्रयास में कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे, लेकिन हमें हार्दिक प्रसन्नता है कि विद्वान लेखकों ने बड़ी गभीरता, परिश्रम तथा सचाई से अपनी-अपनी भाषाओं के विवरण प्रस्तुत किये हैं। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि हिन्दी उनकी मातृभाषा न होते हुए भी उन्होंने अपनी रचनाए हिन्दी में ही तैयार करके भेजी हैं। यह हम सबके लिए निस्संदेह बडे गौरव की चीज है।

हम लेखकों के आभारी हैं, जिन्होंने समयाभाव की चिन्ता न करके हमारे अनु-रोध पर अपने सारगभित लेख भेजकर इस अनुष्ठान को पूर्ण करने में योग दिया।

हम आशा करते हैं कि इस खंड की सामग्री भारतीय साहित्य के संबंध में जहां हमारा ज्ञान-वर्धन करेगी, वहाँ हमें इस बात का आभास भी करायेगी कि पिछले साठ वर्षों में हमारी साहित्य-निधि में कितनी मूल्यवान अभिवृद्धि हुई है।

असमीया साहित्य और उसका विकास

श्री रजनीकान्त चक्रवर्ती 'अरुण'

आधुनिक असमीया साहित्य का विहंगावलोकन

आधुनिक असमीया की साहित्यधारा की गति को देखने से पहले हमे इसकी विशाल पृष्ठभूमि की ओर देखना आवश्यक है, क्योंकि जिस उत्थान-पतन के बीच क्रमशः इसका विकास होता आया है, वह न केवल असमीया साहित्य के अपितु समूचे भारतीय साहित्य के साथ इसका पूर्वापर-सम्बन्ध प्रतिष्ठित कर एक मधुर और निविड स्नेह-सूत्र को संग्रथित करता है।

असमीया भाषा का जन्म-काल

असमीया भाषा भारतीय आर्य-भाषाओं मे अन्यतम है। इसका विकास साधारणतया मागधी अपभ्रश से माना जाता है। सातवी सदी में 'ह्वेनसाग' के भारत-भ्रमण के विवरण में इसका स्वतत्र अस्तित्व दिखाई पडता है। दसवी सदी तक आते-आते इसका रूप बहुत ही स्पष्ट हो पडता है और एक निश्चित दिशा की ओर यह प्रवाहित होने लगती है।

असमीया भाषा का शब्द-भंडार

जहां तक शब्द-भंडार का सवाल है, असमीया भाषा मे मुख्यत· चार प्रकार के शब्द पाये जाते है। इसकी जननी सस्कृत होने के कारण अधिकतर शब्द तत्सम या सस्कृत के ही है। हा, कुछ सस्कृत-शब्द स्थान तथा काल-विशेष के अनुसार परिवर्तित होकर तद्भवरूप में इसमे प्रयुक्त होते है। उदाहरण के लिए, बिया (विवाह), हात (हस्त), मूर (मस्तक), शराध (श्राद्ध), भाइ-भनी (भ्राता-भगिनी) आदि शब्द इस श्रेणी मे आते है। इसके अलावा असम घाटी में आस्ट्रो-एशियाई, तिब्बती-बर्मी आदि जातियो का व्यापक आगमन हुआ था, इसलिए उनका भी प्रभाव इस भाषा पर पडा, अर्थात उनके कुछ शब्द असमीया भाषा में समा गए। यही नही, अरबी-फारसी और आधुनिक यूरोपीय भाषाओ के अनेक शब्द घुल-मिल गए, जिनके कारण वर्त्तमान असमिया साहित्य का शब्द-भडार (भारतीय दूसरे दो-तीन साहित्य को छोड़कर) बढ़ता ही जा रहा है।

असमीया साहित्य का काल-विभाजन

इसके जन्म-काल और शब्द-भण्डार की आलोचना के बाद अब हम इसके साहित्य पर कुछ दृष्टिपात करना चाहेंगे। सारे विश्व की सभी भाषाओं के प्राथमिक रूप का विश्लेषण करने पर यह साफ दिखाई पडता है कि पहले-पहल सब जनता की बोली मे अलिखित रूप मे ही पड़े हुए थे। क्रमश. जब जन-चेतना की वृद्धि होती गई, तब जाकर आहिस्ते-आहिस्ते उनमे लिखित साहित्य दिखाई देता है। ठीक इसी तरह, असमीया साहित्य का प्रारम्भिक रूप भी हमे अलिखित ही मिल जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बहुत दिनों तक इसका प्रचार लोक-गीत, लोक-कथा और तत्र-मत्र आदि के जरिए ही होता आया है और अन्त में वह लिखित साहित्य का रूप धारण कर लेता है। असमीया साहित्य के इतिहास को बहुतों ने बहुत प्रकार से विभाजित किया है। पर श्री डिम्बेश्वर नेओगजी के विभाजन को अधिक विद्वानो का समर्थन

मिला है। श्री नेओगजी ने असमीया साहित्य का काल निम्न प्रकार से विभाजित किया है—

१.	आदि युग	सन ६०० से ११०० ई० तक
२.	प्राक्-वैष्णव युग	सन ११०० से १४५० ई० तक
३.	वैष्णव युग	सन १४५० से १६५० ई० तक
४	उत्तर-वैष्णव युग	सन १६५० से १८२६ ई० तक
५.	आधुनिक युग	सन १८२६ से अब तक

यद्यपि असमीया साहित्य का प्रारम्भिक काल सन ६०० ई० से ही माना गया है, तथापि दसवी सदी से पहले लिखित साहित्य का निदर्शन अब तक नही मिला। 'बौद्ध गान और दोहा' में प्राचीन असमीया का रूप मिलता है। 'डाकर वचन' जो मुख्यतः किसानो के कुछ नीतिमूलक पदो का सग्रह है, इस काल मे विशेष स्थान रखता है। इनके अलावा धाइनाम, बिहुनाम, फुल कोवर, मणि कोवर, पगला पार्वतीर गीत आदि लोक-कथाए और योगिनी-तंत्र, कालिका-पुराण, तंत्र-मत्र आदि असमीया साहित्य के अन्तर्गत है। प्राचीन कामरूपी जनता के आदर्शों, विश्वासों और विविध धार्मिक सम्प्रदायो का चित्र इन सबमे हमे मिल जाता है।

प्राक्वैष्णव युग से असमीया साहित्य का यथार्थ विकास होता आया है। पौराणिक गाथाओ को लेकर इस काल मे बहुत से काव्यो की रचनाए हुई। हेम सरस्वती का 'प्रह्लादचरित्र', हरिवर विप्र का 'बभ्रु-वाहन युद्ध' तथा 'लव-कुश युद्ध' अपनी चारुता और गाभीर्य के कारण प्रसिद्ध है। कविरत्न सरस्वती ने 'जयद्रथ-वध' और रुद्रकन्दलि ने 'सात्यकिप्रवेश' की रचना की।

इस काल मे असम-उपत्यका के पूर्वांचल पर आहोम, मध्यभाग मे कछारी और पश्चिम खड में कोचराजाओं का शासन विराजमान था। लेकिन पारस्परिक वैमनस्य के रहते हुए भी इन तीनो वश के राजाओ ने असमीया साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए आशातीत प्रोत्साहन दिया था। बराहराज महामाणिक्य की प्रेरणा से माधवकन्दलि ने 'सप्तकाड रामायण' की रचना की। वाल्मीकि रामायण की कथा का आधार होते हुए भी इस रामायण मे कवि की मौलिक सूझ-बूझ दिखलाई पडती है।

वैष्णव युग को असमीया साहित्य के लिए स्वर्ण-काल कहा जा सकता है। इसके पहले असम में शाक्तो और तांत्रिको की भीडभार थी। समाज में धर्म के नाम पर कुत्सित आचारो का प्रचलन हुआ था। विभिन्न राज-वशो की आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण जनता तबाह हो रही थी। इसी समय मे छिन्न-विछिन्न असमीया जाति को नवजीवन देने वाले श्रीमन्त शकरदेव का प्रादुर्भाव हुआ। श्रीमन्त शंकरदेव ने सारी असमघाटी मे भक्ति की ज्योतिमय धारा बहा दी, जिससे असम की सारी दीनताए धुल गई और उसमे नवीन चेतना का पवित्र रूप चमकने लगा। जनमानस और साहित्य नवीन भावों की उत्प्रेरणा से प्रफुल्लित व चमत्कृत हो उठा।

असमीया साहित्य मे श्रीशकरदेव की देन अतुलनीय है। उनके कीर्त्तनघोषा, दशम, गुणमाला, भागवत का अनुवाद, भक्ति-प्रदीप और बरगीत आदि अमूल्य ग्रन्थों के द्वारा असमीया साहित्य जगमगा उठा। इन्होने काव्य-ग्रन्थो के अलावा असमीया साहित्य मे नाटक की रचना कर क्रांति-सी मचा दी। श्रीशकरदेव ने रुक्मिणी-हरण, चिह्न-यात्रा, पत्नी-प्रसाद, कालिदमन, केलिगोपाल, रामविजय आदि नाटकों की रचनाएं की और साथ ही इन्हे उपयुक्त खुले रंगमंच पर खेलने की व्यवस्था भी की। यही नही, नाटकों के अभिनय के समय वे खुद नट बनकर अभिनय भी करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि श्री शकरदेव ने असम के लोक-समाज को नवीन दिशा की ओर चलने का सकेत किया। आपने साहित्य की सृष्टि मे जिस तरह की गद्य-शैली को अपनाया है, वस्तुत. भारतीय भाषाओ में वह सर्वप्रथम प्रयास है। उस प्रचीन काल में भी असमीया गद्य साहित्य का रूप कितना प्रौढ और पूर्णता को प्राप्त था, उसका श्रीमन्त शकर-देव की रचनाओ से ही प्रमाण मिलता है। गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' की तरह असम के जन-समाज मे श्री शकरदेव के 'कीर्त्तनघोषा' ग्रन्थ ने प्रसिद्धि प्राप्त की है।

इस तरह श्री शंकरदेव के प्रमुख शिष्य श्री माधवदेव के 'बरगीत', 'नामघोषा' और 'भक्तिरत्नावली'

आदि भी असमीया भक्ति-साहित्य के अनमोल रत्न हैं। सोलहवी सदी मे कोच-बिहार के महाराजा नरनारायण के राजत्व-काल में राजकवि श्री रामसरस्वती ने महाराज के आदेश से असमीया मे महाभारत लिखना प्रारम्भ किया था। उनके वध-काव्य समूह अपूर्व और मर्मस्पर्शी हैं। श्री रामसरस्वती के समकालीन श्री अनन्त कन्दलि ने असमीया मे 'रामायण' लिखी। यह रामायण भक्ति-प्रधान भाव से ओतप्रोत है। इस भक्तिकाल में अनेक कवियो ने असमीया मे भक्ति-मूलक काव्यों की रचना पर इस धारा को बहुत आगे बढा दिया। इस काल की विशेष देन है गद्य और पद्य में लिखित वैष्णव अनुयायियों की चरितपोथियां, जिनसे ऐतिहासिक लेखों का सूत्रपात होता है। इस समय के गद्य-रचयिताओ में वैकुण्ठनाथ भट्टदेव ने असमीया गद्य-रचना को सुदृढ बना दिया। सच कहा जाय तो असमीया का प्रकृत गद्य-लेखक श्री भट्टदेव जी को ही कहना चाहिए। 'कथा-भागवत', 'कथा-गीता', 'भक्ति-विवेक' तथा 'शरण-सग्रह' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाए है।

आहोम राजा भी असमीया साहित्य की श्रीवृद्धि के पोषक थे। भारतीय साहित्य मे इन आहोम राजाओ की सबसे बडी देन है 'बुरजी', जिसको हम इतिहास कहते है। इन राजाओ ने अपने पण्डितो के द्वारा क्रम-बद्ध रूप से वशावलियों की रचना कराई और इतिहास-लेखन-कला को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। आहोम-बुरंजी, तुगखुगिया बुरंजी आदि से उस काल के गद्य-साहित्य तथा इतिहास को बहुत ही प्रोत्साहन मिला है।

आधुनिक युग का प्रारम्भ

अठारहवी सदी का अन्तिम और उन्नीसवी सदी का प्रारम्भिक काल असम के इतिहास मे सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण और अन्धकारमय समय था। गृह-विवाद के कारण आहोम राज-शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई थी। क्रूर बर्मणो (ब्रह्मदेशीय लोगो) के अत्याचार एव भयकर रक्तपात से हरी-भरी असम घाटी श्मशान-सी बन गई। ऐसे दुर्योगकाल मे साहित्य की प्रगति कैसे हो सकती थी? मानो[1] (ब्रह्मदेशियो) ने असम की समृद्धि, शृखला, व्यवस्था सब कुछ विनष्ट कर डाला। असम के इतिहास की बर्बरता का पटाक्षेप सन १८२६ ई० मे जाकर होता है, अर्थात उसी साल अग्रेजो ने बर्मियों के हाथ से असम को जीतकर अपने शासन मे मिला लिया।

असम पराधीन हुआ और साथ ही उसकी सस्कृति पर प्राणान्तक एक दूसरा आक्रमण आरम्भ हो जाता है। अग्रेजो के अधीन होते ही असम की तमाम अदालतो मे बगाली अफसर और दूसरे कार्यकर्त्ता नियुक्त हुए। इन अफसरो और कार्यकर्त्ताओ ने अपने कामकाज मे असमीया भाषा का एकदम बहिष्कार कर दिया। इन लोगो ने प्राचीन साहित्य-भडार से समृद्ध असमिया भाषा को बगला भाषा की एक अपभ्रश बोली की आख्या दी और आखिर मे उनका षडयन्त्र इस प्रकार बढ़ गया कि सन १८३६ ई० मे असम की अदालतों मे बगला भाषा को ही स्थान मिला, असमीया भाषा निर्वासित हो गई। बंगला भाषा के न जानने के कारण बहुत से असमी कर्मचारी पदच्युत हो गए। शिक्षा में भी बंगला ही चलने लगी। सारे असम की सस्कृति और उसके भाषा-साहित्य के लिए यह चरम विपर्यय का समय था। इसी दुर्योग-पूर्ण काल मे अमेरिकन वैप्टिस्ट मिशन का असम मे आगमन हुआ। इन मिशनरियो ने जनता के साथ सम्पर्क स्थापित किया और यह महसूस किया कि असमीया बगला की एक अपभ्रश बोली नही, बल्कि एक स्वतन्त्र भाषा रही है। इन मिशनरियो ने ही पहले-पहल असमीया भाषा मे पाठ्य-पुस्तको की रचना की और अपने ईसाई विद्यालयों में उन्हें चालू कर दिया। इसके अलावा शिवसागर नगर मे इन लोगों ने छापाखाना भी खोला। धीरे-धीरे असमी लोगों पर इसका काफी असर पडा। अपनी दूरदर्शिता से सन १८४६ में असमीया भाषा मे 'अरुणोदय' नामक एक पत्रिका इन मिशनरियों ने ही निकाली। 'अरुणोदय' ही असमीया भाषा की सर्वप्रथम पत्रिका है।

उस अन्धकारमय काल मे इस प्रकार धीरे-धीरे म्रियमाण असमीया जाति मे नवीन चेतना का स्फुरण हुआ। इसी काल में आनन्दराम ढेकियाल फुकन असमीया भाषा के उद्धारक के रूप मे प्रकट हुए। आनन्दराम के नेतृत्व मे असमिया भाषा को उसका न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए अनवरत सघर्ष करना पडा। उन्होने अग्रेज सरकार

१ असमीया लोगों ने ब्रह्मदेशीय लोगों को उस समय मान नाम से पुकारा था।

को स्मारक-लिपि दी और उनके प्रयत्न में मिशनरी लोगों ने भी बड़ी सहायता पहुंचाई। अन्त में इनके अथक परिश्रम से सन १८७६ ई० मे असमीया भाषा को अदालत आदि में जगह मिल गई। असमीया जाति में नव-जागृति शुरू हुई।

आनन्दराम ढेकियाल फुकन आधुनिक असमीया साहित्य के पुरोधा कहे जाते हैं। आपने 'असमीया लरार मित्र', 'असमीया भाषा के सम्बन्ध मे कुछ बाते' आदि पुस्तको की रचना कर भाषिक मार्ग की रुकावटें काफी हद तक दूर की। इनके बाद हेमचन्द्र बरुआ ने प्रथम असमीया वैज्ञानिक कोष 'हेम कोश' की रचना। श्री गुणाभिराम बरुआ भी इस काल के एक प्रमुख लेखक थे।

आधुनिक काव्य

यद्यपि असमीया भाषा राहुग्रास से मुक्त होकर प्रकाश में आने लगी और रघुदेव गोस्वामी, गोपीनाथ चक्रवर्त्ती, पूर्णकान्तदेव शर्मा आदि ने प्राचीन शैली पर काव्य-रचना की, फिर भी सन १८७५ के बाद ही काव्य में आधुनिक पाश्चात्य प्रेरणा की झलक मिलती है। माइकेल मधुसूदन के 'मेघनाथ-वध' काव्य के अनुकरण पर रमाकात चौधरी ने 'अभिमन्यु-वध' की रचना की। यह काव्य आधुनिक असमीया काव्य मे विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। कमलाकांत भट्टाचार्य इस काल के श्रेष्ठ कवियों में अन्यतम हैं। देशभक्ति-मूलक कविता-रचना कर उन्होंने राष्ट्रीय भावना से असमिया जाति को उद्बोधित किया है। उनकी 'चिन्तानल' (१८९०) सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है। इसमें सगृहीत सभी कविताएं अपूर्व तेजोद्दीपक और स्फूर्ति सचार करने वाली हैं। भोलानाथदास ने भी अतुकान्त छन्द में 'सीताहरण' काव्य की रचना की। इसी सूत्र मे गुणाभिराम बरुआ का 'रामनवमी' काव्य भी उल्लेखनीय है।

असमीया साहित्य में छायावादी युग

अन्य भारतीय भाषाओ की तरह उन्नीसवी सदी का अन्तिम भाग और बीसवी सदी का प्रारम्भ असमिया साहित्य के सर्वांगीण विकास का काल है। 'जोनाकी' (१८८९) के प्रकाशन से पश्चिमी रोमाटिक भावधारा से अनुप्राणित जिन कवियो का अभ्युदय हुआ उन्होंने साहित्य के सारे क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। एक ओर राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कविताए लिखी जाने लगी, दूसरी ओर कवियो के हृदय मे विशाल मानववादी दृष्टिकोण जाग उठा। प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम, इसमें प्रेममय तत्त्व का सधान और साथ-साथ मानवीय-हृदयवेदना का सामजस्य, इस काल के साहित्य की प्रमुख विशेषताएं है।

इस समय मे आकर राष्ट्रीय चेतना जनता के हृदय मे उच्छ्वसित हो उठी। देश की पराधीनता की आलोचना मे जाकर शोषित-पीडित मानवसमाज की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। वस्तुतः यह युग आधुनिक असमीया साहित्य की अभिव्यक्ति, विचार और भावना की सशक्त अनुभूति की महिमा से मडित है।

इस गौरवशाली युग मे चन्द्रकुमार आगरवाल, लक्ष्मीनाथ बेंजबरुआ और हेम गोस्वामी इन तीन महारथियो का उदय असम के सारे साहित्य-क्षेत्र को मथ डालने वाला है। ये तीन विभूतिया 'त्रिवेणी' की तरह एक साथ मिलकर प्रवाहित हुईं। साहित्य का हर विभाग इनकी देन से परिपूर्ण हो उठा। काव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध सबमें अपूर्व ओजस्विता आ गई। पत्रकारिता का क्षेत्र भी बहुव्यापक और सम्भावनाओ से युक्त होकर प्रकट हुआ।

इस युग की नीव डालने वाले के रूप मे चन्द्रकुमार आगरवाल का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उनके पिता हरिविलास आगरवाल भी असमीया के अच्छे साहित्यिक और अनुरागी थे। कलकत्ते में पढ़ते समय लक्ष्मीनाथ बेंजबरुआ, हेम गोस्वामी के सहयोग से उन्होने सन १८८९ मे 'जोनाकी' का सम्पादन और प्रकाशन आरम्भ किया, जिससे युग-परिवर्तन की सूचना मुखर हो उठी। इस पत्र के माध्यम से अनेक भावी असमीया लेखको को उन्होंने प्रोत्साहन दिया।

कविता

चन्द्रकुमार आगरवाल न केवल कुशल पत्रकार ही थे, बल्कि काव्य में रोमांटिक भावना या छायावाद के प्रवर्तकों के अग्रदूत भी थे। 'प्रतिमा' (१९१३) और 'बीन बरागी' (१९२३) नामक उनके काव्य-संग्रहों में भावना का चरम उत्कर्ष दिखाई पडता है। ये दोनो काव्य असमीया साहित्य की उज्ज्वल मणियां हैं। चिन्तन-शील दार्शनिक

कवि के रूप में आप अग्रगण्य रहे। 'जानकी' के अलावा चन्द्रकुमार ने 'असमीया' साप्ताहिक तथा अर्द्ध-साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। लक्ष्मीनाथ बेंजबरुआ को छायावादी या रोमांटिक कवियों मे श्रेष्ठ माना गया है। यद्यपि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी, फिर भी काव्य-रचना में उन्होंने बडी निपुणता दिखाई। सन १९१३ ई० मे 'कदम कलि' नामक उनका एक कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमे बीन बरागी, प्रियतमा का सौन्दर्य-भ्रम, धनबर रतनी आदि कविताए छायावादी भावनाओं को प्रकाशित करती हैं। श्री बेंजबरुआ ने प्रचलित रूढिवाद के खिलाफ आवाज उठाई और साथ ही भावजगत में एक उथल-पुथल मचा दी। वह छायावादी होने पर भी उत्कट स्वदेशानुरागी थे। उन्होने राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण 'अमोर आपोनार देश' तथा 'असम सगीत' आदि कविताओ की रचना कर असम की अतीत संस्कृति की महत्ता को सामने लाकर जन-मानस में उद्बोधन का स्वर गुजा दिया। इसी तरह हेमचन्द्र गोस्वामी का इस समय के कवियो में अपना एक अलग महत्त्व है। उन्होने 'सानेटो' की रचना की और पश्चिमी रोमाटिक की अनुप्रेरणा से उच्च कोटि की कई कविताए लिखी। सन १९०७ की 'फुलर चाकि' नामक सगृहीत प्रेममूलक कविताए कवि के मानस का अच्छा प्रतिनिधित्व करती हैं। एक ओर जहा उनमे विरह का आधिक्य दिखाई पड़ता है, वहा दूसरी ओर प्रकृति-प्रेम तथा आशावाद का सकेत मिल जाता है।

असमीया साहित्य मे छायावाद के प्रवर्तक इन तीन कवियों के अलावा और भी कवि उनके अनुवर्ती होकर साहित्य-गगन में उदित हुए और उन्होने असमीया साहित्य को चमकाया। इनमें पद्मनाथ गोहाई बरुआ, वेणुधर राज-खोवा, हितेश्वर बरुबरुआ, दुर्गेश्वर शर्मा, नीलमणि फुकन आदि प्रमुख रहे। 'लीला' और 'फुलर चानेकी' आदि काव्यो के रचयिता के रूप मे पद्मनाथ गोहाईबरुआ बहुत ही श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी है। प्रसाद गुण-युक्त भाषा-शैली, प्रवाह-पूर्ण छन्द और गम्भीर भावनाओ से परिपूर्ण उनकी कविताए हैं। वेणुधर राजखोवा का 'चन्द्रसम्भव' एक प्रबन्ध काव्य है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पच कविता', 'दश गीत', 'सुर लरार गीत', 'असमिया भाई' तथा 'वाही' आदि गीति-कविताओ के संग्रह निकाले।

काव्य के माध्यम से जिन कवियो ने राष्ट्रीय भावना का उद्बोधन किया, उन लोगों मे हितेश्वर बरबरुआ का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अंग्रेजी काव्य के अध्ययन और प्रेरणा का प्रभाव उनके काव्य मे सुपरिस्फुटित है। यद्यपि उनके पहले भी अतुकान्त पदो और सानेटो की रचना हो चुकी थी, तथापि उन्होने उनमे प्राण-सचार कर एक नवीन दिशा का संकेत किया। 'कमतापुर ध्वस', 'युद्ध क्षेत्रत आहोम रमणी' उनके सर्वाधिक जनप्रिय काव्य-ग्रन्थ है। राष्ट्रीय भावना और वीर रस इन काव्यों मे मुखरित हुआ है, साथ-ही-साथ करुण रस का भी यथोचित समाहार है।

नीलमणि फुकन की कविताओं मे रहस्यवाद की ओर झुकाव दिखाई पडता है। उनमे भावना की अपेक्षा अधिक मनन और चिन्तन हम देख पाते है। श्री फुकन के 'मानसी' और 'ज्योति कणा' काव्यो मे अन्तर की आकुल जिज्ञासा का परिचय मिलता है। 'सन्धानी' मे सत्य एव शाश्वत तत्त्व की अन्वेषण-स्पृहा प्रबल हो उठती है। परवर्ती काल में इनके द्वारा रचित 'जिजिर' तथा 'अमित्रा' आदि काव्यो में विदेशी शासन के प्रति तीव्र असन्तोष, सामाजिक विषमताओं पर उत्कट घृणा-भाव प्रकट रूप से दिखाई पडते है।

इसी काल के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि-रत्न रघुनाथ चौधरी और यतीन्द्रनाथ दुवारा है। कविरत्न रघुनाथ चौधरी जन-समाज मे 'विहगी कवि' नाम से प्रसिद्ध है। आपके हर एक काव्य मे प्रकृति के प्रति असीम मोह दिखाई पड़ता है। पक्षियों को लेकर काव्य-रचना के क्षेत्र मे वह निपुण है। इनके 'सादरी', 'केतेकी' और 'दहिकतरा' काव्य बडे ही मार्मिक और मधुर है। विषय की मौलिकता, भावो मे गहराई और प्रेमधारा से अभिसचित होकर ये काव्य असमीया साहित्य मे सदा चमकने वाले है। यतीन्द्रनाथ दुवारा ने रुबाइत-ई-उमरखैयाम का प्राजल असमीया अनुवाद 'ओमर तीर्थ' के नाम से किया है। इनके 'आपोन सुर' और 'बनफुल' नाम के दो काव्य प्रकाशित हुए है। 'बनफुल' काव्य पर कवि दुवारा को भारत सरकार का पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। दुवारा की कविताओं में निराशावाद, मनो-वृत्तियों का द्वंद्व और आशाभंग-जनित गहरी व्यथा का मार्मिक चित्रण मिलता है। छन्दो की विविधता, शब्दो के माधुर्य के कारण इन्हे असमीया का 'शेली' कहा जाता है। 'कथा-कविता' नामक गद्य-काव्य की रचना कर उन्होंने गद्य-काव्य के

क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित कर दिया है।

छायावादी-काल की महिला-कवियो में स्वर्गीया धर्मेश्वरीदेवी बरुवानी और श्रीमती नलिनीबाला देवी के नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। धर्मेश्वरीदेवी के 'फुलर शराई' तथा 'प्राणर परश' नामक काव्यो में गहरी मनोव्यथा, ससार के प्रति तीव्र वैराग्य और परमात्मा के प्रति हार्दिक आत्म-निवेदन का भाव दिखाई पडता है। श्रीमती नलिनी-बालादेवी विशेष रूप से रहस्यवादी भावधारा का प्रतिनिधित्व करती है। इनके 'सन्धियार सुर', 'सपोनर सुर' और 'परश मणि' आदि काव्यो मे आध्यात्मिकता तथा रहस्योन्मुखतापूर्ण भावावेश पाया जाता है। उनकी कविता का मूल स्वर भी दु खवादी हो गया है। उन्हे भारत के राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मश्री' की उपाधि का सम्मान मिला है।

नवीन राष्ट्रीय प्रगतिवादी काव्यधारा

द्वितीय महायुद्ध के कुछ समय पहले से राष्ट्रीय आन्दोलनो की तीव्रता बढने के साथ-साथ सरकारी दमन नीति की चरम सीमा को छूने लगी थी। जनता एक ओर अभावो के मारे पिसती जा रही थी और दूसरी तरफ स्वतंत्रता की प्यास उत्तरोत्तर बढती जा रही थी। फलत कवियो का झुकाव भी उधर होना अपरिहार्य था। इस काल में राष्ट्रीय स्वर अधिकाधिक मुखर होता गया। साथ-ही-साथ अपनी हीनताजन्य अवस्थाओ के कारण पर भी विचारपूर्ण कविताए लिखी जाने लगी।

एक ओर समाजवादी चिन्ताधारा से प्रेरित होकर कुछ कवियो ने सामाजिक और आर्थिक विषमता पर दारुण प्रहार किया, दूसरी तरफ कुछ कवि 'फ्रायडियन' विचारधारा से अनुप्राणित होकर अन्तर्द्वन्द्वो, दमित कुठाओं-जनित सामाजिक तथा मानसिक अन्त वृत्तियो का चित्रण करने लगे। इस तरह के दोनो प्रकार के कवि ही सामाजिक जीवन और परिस्थितियो से असन्तुष्ट थे। परन्तु जहा एक पक्ष उसकी बाहरी विषमताओं को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहा वहा दूसरा पक्ष विषमताओ से फैली विवशताओं का चित्रण करने में लगा हुआ था, जिसमे दु ख और वेदना का प्राधान्य था। टी० एस० इलियट, ऐजरा पाउड आदि कवियों की प्रेरणा से असमीया काव्य मे प्रतीक शैली और नवीन काव्यिक अनुसन्धान चलने लगा। अनेक नवीन कवि इस धारा के अन्तर्गत आज हम देख पाते हैं।

इस काल के सशक्त राष्ट्रीय कवियो मे अम्बिकागिरी रायचौधरी का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। 'तुमि' काव्य मे यद्यपि उन्होने अपनी रहस्यवादिता का परिचय दिया है, तथापि अपनी राष्ट्रीय कविताओ के कारण ही वह प्रसिद्ध है। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय 'अन्तर मे आग जलाने वाले कवि' के रूप मे आपकी प्रसिद्धि फैली और उन्हे 'अग्नि कवि' की उपाधि मिली। स्वतन्त्रता के बाद उनकी दृष्टि सामाजिक और वर्गिक विषमताओ की ओर मुड गई है, साथ ही उन पर समय-समय पर अग्नि-बाण का प्रहार होता रहता है।

विनन्दचन्द्र बरुआ ने 'शख ध्वनि' और 'प्रतिध्वनि' नाम के दो काव्यो की रचना की। इनमे प्राचीन अस-मीया सस्कृति के प्रति गहरी आस्था को प्रकट करते हुए कवि ने उदात्त आह्वान किया है। इस तरह डिम्बेश्वर नेओग के 'इन्द्र धनु' और 'मुकुता' आदि काव्यो के द्वारा राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष हुआ। प्रसन्नलाल चौधुरी ने भी सामा-जिक जीवन की विवशताओ के विरुद्ध सघन शखनाद किया।

प्रगतिवादी आधुनिक कविता का प्रारम्भ देवकान्त बरुआ से होता है। इनकी 'सागर देखिछा' कविता को आधुनिक असमीया काव्य-जगत मे श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इधर हेम बरुआ ने तो प्रतीकवादी कविताओं की रचना मे विशिष्टता दिखलाई है। नवकात बरुआ भी इसी शैली को अपनाकर अनेक कविताओ की रचना कर चुके हैं। उनकी 'हे अरण्य, हे महानगर' के अलावा और भी कई कविता-पुस्तके प्रकाशित हुई है। वर्तमान प्रगतिवादी कवियों में नवकांत बरुआ का स्थान प्रमुख माना जाता है।

इस धारा मे आज अनेक कवि हो रहे हैं। 'आवाहन' और 'राम-धेनु' नामक मासिक पत्रों मे अनेक कवि-ताएं हम देख रहे है। इन कवियो मे दिलीप बरुवा, महेन्द्र बरा, कमलेश्वर चलिहा, लक्षहीरादास, निर्मलप्रभा बरदलै, शुचिव्रता रायचौधुरी आदि के नाम गिने जा सकते हैं।

वर्तमान असमीया कविताओ की प्रसार-वृद्धि हो तो रही है, परन्तु जनमानस के साथ जैसा गहरा सम्बन्ध होना चाहिए था, धीरे-धीरे उसमे कमी दिखाई पड़ रही है इसका कारण है अनुकरण की प्रवृत्ति तथा पाडित्य-प्रदर्शन की अप-चेष्टा । छन्द और लय का बहिष्कार हो जाने से कविता मे नीरसता की वृद्धि हो गई है और उनके भाव विच्छिन्न भी हुए, जिससे साधारण जन के लिए दुर्बोध्य माने गए । अभी तक असमीया साहित्य मे बेजबरुआ जैसे युगान्तरकारी पुरुष नही निकले । सबसे पहले सोचने की बात यह हुई है कि आज के कवियो के पास दृढ आस्था, त्याग और तपस्या की कमी है । लेकिन हमे आशा है कि असमीया जन-समाज मे (खासकर नवयुवको मे) जैसी जागृति दिखाई पड रही है, जल्दी ही कोई प्रतिभा आगे आकर उनका मार्ग-प्रदर्शन करेगी ।

असमीया गद्य-साहित्य

यह कहा जाय तो शायद अत्युक्ति नही होगी कि असमीया भाषा का गद्य आधुनिक भारतीय भाषाओ मे सबसे पुराना है । भट्टदेव ने बहुत पहले ही चमत्कारपूर्ण असमीया भाषा मे गद्य-साहित्य का सृजन किया । परतु जैसा कि कहा गया है, उन्नीसवी सदी के प्रारभ तक अपनी जीवन-रक्षा के सघर्ष के कारण जूझते रहना पडा और इसी कारण साहित्य की गति भी कुछ रुक-सी गई थी । बाद की, उन्नीसवी सदी के तीसरे चरण मे पुनर्विकास दिखाई दिया । नाटक, उपन्यास, छोटी कहानी और निबन्ध आदि मे असमीया गद्य-साहित्य का भडार फलने-फूलने लगा । बीसवी सदी के प्रारम्भ मे उच्चकोटि का गद्य-साहित्य असमीया मे मिला ।

उपन्यास

सन १८७७ ई० मे अरुणोदय मे प्रकाशित 'कामिनीकान्त' असमीया साहित्य का सबसे पहला उपन्यास है । लेकिन मुख्यत ईसाई धर्म के प्रचार के उद्देश्य से ही यह लिखा गया था । इसमे न तो औपन्यासिक कला है, न कोई दूसरा आदर्श । इसके बाद आनन्दराम ढेकियाल फुकन की कन्या पद्मावतीदेवी फुकननी का सुधर्मसार उपाख्यान निकला । सत और असत चरित्र का द्वद्व इसमे प्रकट हुआ तथा आदर्शवाद की स्थापना हुई है । इनके बाद पद्मनाथ गोहाइबरुआ के भानुमती और लाहरी नामक दो उपन्यासो का प्रकाशित होना उल्लेखनीय है । ये दोनो उपन्यास आहोम-काल पर लिखे गये है । ये सारे उपन्यास किसी विशेष आदर्श को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से लिखे जाते थे । उपन्यास-कला पर इनमे कम ध्यान रखा गया था, इसलिए ये आधुनिक उपन्यासों की कोटि मे नही आ सके । सन १८६५ मे असमिया के उपन्यास-सम्राट रजनीकान्त बरदलै का पहला उपन्यास 'मिरी जियरी' प्रकाशित हुआ । एक जनजातीय मिरी युवक-युवती की यह प्रेमकथा है । इसमे लेखक की करुणा सहानुभूति से ओतप्रोत है । यह लघु उपन्यास असम की जनजातीय (असम घाटी के) समस्या की ओर सकेत करने वाला है ।

इसके बाद असम की ऐतिहासिक घटनाओ पर आधारित अनेक उपन्यास एक-एक करके प्रकाश मे आने लगे । मनोमती (१६००), दन्दुवाद्रोह (१६०६), रगिलि (१६२५), निर्मल भकत (१६२६), रहदै लिगिरी (१६३०), राधारुक्मिणीर रण (१६२५), ताम्रेश्वरीर मदिर (१६२६) आदि प्रसिद्ध उपन्यास असमीया साहित्य-भडार मे बरदलै की अपार देन है । मनोमती और रहदे लिगिरी दोनो की घटनाए असम के ऊपर बर्मियो के आक्रमण के काल से ली गई है । दन्दुवाद्रोह असम के गृहविवाद तथा मोवामरिया आन्दोलन पर रची गई घटनाए है । बरदलै के उपन्यासों पर स्काट तथा बकिमचन्द्र का प्रभाव परिलक्षित होता है । परतु इन्होंने विषयवस्तु, चरित्र-चित्रण और औपन्यासिक भाषा-शैली मे अपनी सर्वाधिक प्रतिभा दिखाई है । उनके उपन्यास असमिया साहित्य की अक्षय निधि है । बरदलै-जैसा विशाल दृष्टिकोण, सूक्ष्म अनुभूति और उदात्त भावनापूर्ण कोई औपन्यासिक असमीया साहित्य मे अब तक दिखाई नही पडा ।

लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ने भी सन १६०५ मे 'पदुम कोवरी' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा । किन्तु बरदलै की तरह उन्हे सफलता नहीं मिली ।

संख्या की दृष्टि से अधिक होने पर भी वर्तमान काल मे असमीया साहित्य मे उच्च कोटि के उपन्यासो

का ग्रभाव है। हितेश्वर बरबरुवा का मालिता ग्रौर मइना, दण्डिनाथ कलिता का फुल, साधना, गणविप्लव, ग्रदृष्ट ग्रौर ग्राविष्कार, विनन्दचन्द्र का प्रेम कुहि, देवचन्द्र तालुकदार का धुवली कुवली, ग्राग्नेयगिरी, विद्रोही ग्रौर ग्रपूर्ण, शरत-चन्द्र गोस्वामी का पाणीपथ, हरिनारायण दत्तबरुग्रा का चित्रदर्शन ग्रादि उपन्यास वर्तमान ग्रसमीया जन समाज में जनप्रिय हो चुके हैं।

युद्धोत्तर काल में ग्रसमीया उपन्यास मे ग्राचलिक समस्याएं ग्रधिक मुखर हो उठी हैं। वीणा बरुग्रा के जीवनर बाटत उपन्यास में ग्रसम का एक मनोमोहक चित्र हमें मिल जाता है। हितेश डेका के ग्राजिर मानुह, नतून पथ ग्रादि उपन्यासो मे गाधीवाद का ग्राकर्षण देखा जाता है। रास्ना बरुग्रा के सेउजी पातर काहिनी मे ग्रसम के चायबागानों में काम करने वाले मजदूरों के जीवन का दृश्य हमारी ग्राखों के सामने दिखाई पडता है। दीनानाथ शर्मा के नदाइ उपन्यास मे ग्रामीणो तथा किसानो की मार्मिक कहानी है।

इनके ग्रलावा होमेन बरगोहांइ, सैयद ग्रब्दुल मालिक, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ग्रादि भी ग्रौपन्यासिक श्रेणी मे ग्रा जांते है। रचना-शैली मे बरगोहाइ की रचनाग्रो ने जनप्रियता प्राप्त की है। ग्रब्दुल मालिक ग्रौर वीरेन्द्र भट्टाचार्य समाजवादी दृष्टिकोण से सामाजिक समस्याग्रो को प्रस्तुत करते ग्राये है। मालिक का 'छविघर' बहुचर्चित उपन्यासों मे एक है। जासूसी ग्रौर तिलिस्मी उपन्यास मे कुमुदेश्वर बरठाकुर ग्रौर प्रेमनारायण दत्त ने ग्रच्छा नाम कमाया है। प्रेमनारायण की कलम मे बच्चों का दिल बहलाने वाला जादू है।

कहानी

साधु-कथा (लोककथा) के रूप पुराने काल से ही कहानी का उद्‌भव हुग्रा है, लेकिन ग्राधुनिक ग्रसमीया कहानी का विकास पश्चिमी प्रभाव से ही हुग्रा है। बीसवी सदी के प्रारम्भ से ही कहानी-कला मे निखार ग्राया है। लक्ष्मीनाथ बेजबरुग्रा को ही ग्रसमीया के ग्राधुनिक कहानीकारों का स्रष्टा माना गया है। सुरभि, साधुकथार कुकि ग्रौर जानबिरी ग्रादि कहानी-सग्रहों में प्राचीन लोक-कथाग्रों ग्रौर ग्राधुनिक कहानिग्रों मे समन्वय का प्रयास देखा जाता है। जीवन के लघु ग्रश को ग्रहण करके उसे प्रभावोत्पादक ढग मे व्यक्त कर देना बेजबरुवा की विशेषता है। उनकी कहानियो की सबसे बडी विशेषता है यथार्थ चित्रण। बीच-बीच मे तीव्र व्यग्योक्ति ग्रौर परिहास का पुट बेज-बरुग्रा की रचना में मिल जाता है।

शरत गोस्वामी दूसरे गल्प-लेखक हैं जिन्होने गल्पांजलि, मयना, बाजीकर ग्रादि कहानियों में शैली की मनोज्ञ छटा, गम्भीर सहानुभूति ग्रौर करुणा की धारा बहा दी है। इस श्रेणी के छविराम डेका, लक्ष्मीधर शर्मा, रमा-दास, इन्दीवर गगै, मुनिन बरकटकी, महीचन्द्र बरा, होमेन बरगोहाइ, ग्रब्दुल मालिक, लक्ष्मीनाथ फुकन ग्रादि कहानी-कार हैं। प्रगतिवादी कहानी-लेखकों मे पद्म बरकटकी का नाम उल्लेखनीय है।

लक्ष्मीधर शर्मा की कहानियों मे नारी-समस्याग्रो का समाधान् पाया जाता है। 'व्यर्थतार दान' की भाषा-शैली ग्रौर कथावस्तु का विकसित रूप दिखाई पड़ता है। महिला-कहानीकारों मे वीणा बरुग्रा, उषा भट्टाचार्य, लक्षहीरा दास, मामणि गोस्वामी ग्रादि प्रमुख है।

दूसरे महासमर से पहिले पश्चिमी प्रभाव से फ्रायडीय विचारधारा का बड़ा गहरा प्रभाव हमारे इन कहा-नीकारों पर पड़ा था। इसी वजह से यौन व्यापारों का चित्रण कहीं-कही कुरुचि ग्रौर ग्रश्लीलता की सीमा को छू लेता है। महायुद्ध के परवर्ती काल में कहानी भी साधारण मजदूर, किसान ग्रौर मध्यवर्ग के जीवन का चित्रण करती है। भाव ग्रौर शैली दोनो में ग्रत्यधिक परिवर्तन हो गया है। पुरानी ग्रौर नई विचारधाराग्रों का संघर्ष इन कहानियों में ग्रधिक मुखर हो उठता है। ग्राज की कहानी मध्ययुग के पीड़ित, वचित मानव-समाज को लेकर चलती है तथा उसे ग्रपनी मान व मर्यादा मे प्रतिष्ठित देखना चाहती है। ऐसे कहानीकारो में ग्रब्दुल मालिक, जोगेशदास, भवेन्द्रनाथ शइकीया ग्रादि प्रसिद्ध हैं।

ग्राजकल ग्रसमीया कहानी की दशा यथार्थवाद की ग्रोर ग्रधिक है। जहां एक ग्रोर घरेलू समस्याग्रों ग्रौर

सम्बन्धों की उलझनों को दिखाता हुआ वह उनके समाधान की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर पहाड़ी तथा नाना दुर्योगों से पीड़ित असम की एकाग्रता पर भी विचार करता है। मनस्तात्त्विक उथल-पुथल, मध्यवर्गीय जीवन की परेशानी और विचार-संकट, कदम-कदम पर सामाजिक एवं आर्थिक प्रतिबन्ध से सब क्रमश. कहानी के मूल स्वर होते जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि पुरानी कुण्ठा पर नवीन आस्था का निर्माण हो रहा है।

नाटक

असमीया मे नाटक और रगमच दोनों ही बहुत पुराने जमाने से चले आ रहे हैं। श्री शकरदेव और श्री माधवदेव के रचे हुए नाटक उस समय की धार्मिक प्रेरणाओं के स्रोत थे, जिन्हें आज भी असम के ग्रामीण लोग बड़े चाव से देखते और रस-पान करते हैं। उस काल के रगमच बहुत ही सादा-सीधा रहा। वस्तुत. आज जिसे हम रगमच कहते है वह उसी का प्रारम्भिक होने पर भी प्रौढ रूप था।

प्राचीन नाटको की परम्परा से समृद्ध होने पर भी आधुनिक नाटक विशेषकर बगला और अग्रेजी नाटकों के प्रभाव से ही पनपे हैं। अग्रेजी प्रभाव-सम्पन्न प्रारम्भिक नाट्यकारो मे गुणाभिराम बरुआ, हेमचन्द्र बरुआ तथा रुद्र-राम बरदलै अग्रवर्ती है। गुणाभिराम के रामनवमी, हेमचन्द्र के कनियार कीर्तन और रुद्रराम बरदलै के बंगाल-बगालिनी नामक नाटक प्रसिद्ध है।

इस धारा को पुष्ट करने वाले लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ हैं। उन्होने चक्रध्वजसिह, जयमती कुवरी, बेलिमार, जितिकाइ, चिकरपति-निकरपति आदि ऐतिहासिक नाटकों की रचना कर उनमे राष्ट्रीय सन्देश भर दिया। इन तमाम नाटको में कल्पना तथा ऐतिहासिक तथ्य दोनो के प्रति लेखक सतर्क रहा है। असम के प्राचीन गौरव को प्रतिष्ठिापित कर नवीन असम की चेतना का उद्बोधन इन नाटको मे है। चक्रध्वजसिह नाटक मे असम की वीरता एव पौरुष की गाथा है। लाचित बरफुकन के नेतृत्व मे मुगलो का असम से निर्वासन इसका आधार है। बेलिमार मे बर्मियों के आक्रमण और उस समय के असम की राजनीतिक व सामाजिक हीनावस्था का चित्रण किया गया है। इधर तो आहोम राजा विलासी बनकर गृह-विवाद मे पडे हुए थे, उधर जनता की तबाही चरम सीमा पर आ पहुची थी। इसी समय बर्मियों ने अवसर देखते ही हमला कर सारे असम को तहस-नहस कर डाला। इस नाटक मे मर्मान्तिक वेदनाओ को साकार रूप मे दिखाया गया है। जयमती कुवरी मे वीरागना नारी के सतीत्व का आदर्श तथा बलिदान का महत्त्व चित्रित किया है।

नाटको के अलावा बेजबरुआ ने प्रहसन भी लिखे थे। 'चिकरपति-निकरपति' उनके उत्तम प्रहसनो मे से एक है। तीव्र चुटीले संवाद और सशक्त व्यग-रस उनके प्रहसनो की विशेषता है।

जयमती, गदाधर, वाणरजा और लाचित बरफुकन इन चार नाटको के रचयिता पद्मनाथ गोहांइबरुआ प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। उनके सभी नाटक ऐतिहासिक सच्चाई पर आधारित हैं। किन्तु बेजबरुआ में सयम का जितना निर्वाह है वह गोहाइबरुआ मे पहुच नही पाया है। हा, प्रहसनो के क्षेत्र मे उनका 'गाव बूढा' बहुत ही सफल बन पड़ा है। असम के किसान-जीवन की विवशता का, उसके हाहाकारों का चित्रण ऐसा सुन्दर हुआ कि अभिनय के समय उससे तहलका मच गया था। ग्रामीण जीवन के चित्रण मे गोहाइबरुआ सिद्धहस्त और अनुभवी रहे।

माइकेल के 'मेघनाद-वध' और 'तिलोत्तमा-संभव' इन काव्यों से आधार लेकर चन्द्रधर बरुआ ने असमीया साहित्य में अतुकान्त छन्दमय नाटकों की रचना की। 'भाग्यपरीक्षा' उनका एक प्रहसन है।

असमीया नाटक-रचयिता और रंग-मच के उन्नायक के रूप मे ज्योतिप्रसाद आगरवाल की देन महत्त्वपूर्ण है। असमीया चलचित्र के निर्माता के रूप मे रूपकोवर ज्योतिप्रसाद आगरवाल ही सर्वप्रथम हमारे सामने पहुच जाते हैं। शोणित कुवरी, कारेडर लिगिरी और लमित आदि इनके नाटक धीरोदात्त भावना और असीम देश-भक्ति से ओत-प्रोत है। पश्चिमी भाषा के विद्वान होने के कारण इनके नाटकों में पश्चिम का प्रभाव भी पाया जाता है।

स्वतन्त्रता के आन्दोलन के समय में नाटकों को जनता में जागृति लाने का अच्छा साधन माना गया था।

अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी हुई। असम के प्राचीन गौरवमय इतिहास की तरफ लेखकों ने दृष्टि डाली। इन साहित्यकारों ने उसे फिर से साकार रूप देने का प्रयत्न किया।

नकुलचन्द्र भूआ का बदन बरफुकन, चन्द्रकान्तसिह, बुद्धीन्द्र भट्टाचार्य का रमणी गाभरू, देवचन्द्र तालुकदार का असम प्रतिभा, बामुनी कावर और भास्कर बर्मन, प्रसन्नलाल चौधुरी का नीलाम्बर आदि ऐतिहासिक नाटक बहुत ही प्रसिद्ध है। इधर पौराणिक नाट्यकारो मे अतुलचन्द्र हाजरिका का स्थान प्रमुख माना गया है। बगाली अपेरा (यात्रागान) शैली को अपनाते हुए असमीया मे अनेक नाटको की सृष्टि कर हाजरिका ने रंग-मच के एक विशेष अभाव को असम से दूर कर दिया। पहले कई बार हम जिक्र कर चुके है, दूसरे महासमर के बाद असमीया साहित्य के सभी अंगों मे परिवर्तन आ गया था। ठीक उसी तरह नाटक के क्षेत्र मे भी नई दृष्टिभंगी हमें मिलती है। इसी वक्त ऐसे अनेक ऐतिहासिक नाटको का निर्माण हुआ जिनमे सामाजिक समस्याओं के प्रति अधिक ध्यान दिया गया है। दण्डिनाथ कविता के सतीर तेज, पराजित, कीचक-वध, प्रवीण फुकन के मणिराम देवान, लाचित बरफुकन, चन्द्रनाथ फुकन के पियली फुकन, सुरेन्द्रनाथ शइकीया के कुशल कोवर आदि अनेक प्रसिद्ध नाटक हम देख पाते है। इन नाटकों मे स्वाधीनता-आन्दोलन मे आत्माहुति देने वाले वीरो की गाथाओ का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त शिशुओ के लिए भी नाटको का निर्माण हुआ। इस दिशा मे मित्रदेव महन्त का स्थान बहुत ही ऊचा है। इनके 'कुकुरी कणार आठ मगला', 'चरणधूहि' आदि नाटको ने बडी प्रसिद्धि पाई है।

आधुनिक काल मे प्रवीण फुकन ने नाटक के क्षेत्र मे काफी हाथ बटाया है। 'शतिकार बाण' नामक नाटक ने वर्तमान प्रकाशित नाटको मे एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। इस नाटक मे वर्तमान असम की विभिन्न समस्याओं को चित्रित किया गया है। सत्यप्रसाद बरा का शिखा तथा अब्दुल मालिक का राजद्रोही, ये दोनों नाटक आज के समय मे बडे ही प्रसिद्ध हुए।

एकांकी और रेडियो-नाटक भी हाल मे काफी रचे गए है। इस काम में 'आकाशवाणी गुवाहाटी' की तरफ से विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला है।

वर्तमान समय मे नाटकों की प्रगति कुछ धीमी-सी नजर आ रही है। इसका कारण सिनेमा के आजाने से और स्थायी रगमच की कमी की वजह से नाटको के विकास मे बाधाए बताई जाती हैं। हा, कई सहकारी समितिया इन अभावों को दूर करने के लिए बनी है, परन्तु अबतक इसका ठोस सुधार नही हो पाया। स्कूल-कालेजो में तथा समय-समय पर दूसरे उत्साही लोगो के द्वारा कुछ अच्छे नाटको का अभिनय हो जाता है, परन्तु इन सबको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि शकरदेव के युग मे जनता के बीच नाटक ने जैसा पवित्र स्थान बना लिया था उससे आज बहुत ही पिछडा जा रहा है। स्थायी रगमच तभी सम्भव हो सकता है जब सरकार का सही दृष्टिकोण और सामूहिक प्रचेष्टा हो, इससे नाटक का विकास अवश्य ही होगा।

निबन्ध

असमीया साहित्य मे पश्चिम के प्रभाव से निबन्ध भी विकसित हुआ। अरुणोदय के काल से ही इसका आरम्भ हम मानते है। इसके परवर्ती निबन्धकारों मे आनन्दराम ढेकियाल फुकन, हेमचन्द्र बरुआ, गुणाभिराम बरुआ, कमलाकान्त भट्टाचार्य, सत्यनाथ बरा के नाम उल्लेखनीय है। लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ने असमीया निबन्ध को बहुत ही गति प्रदान की। व्यक्तिवादी गद्य-रचना की शैली मे वह सबसे आगे आ जाते है। असमिया घरेलू जीवन की घटनाओं का आपने अपने कृतित्व मे समावेश किया है। 'कृपाबर बरबरुवार काकतर टोपोला' मे कृपाबर का जो सुन्दर चित्रण तथा साथ-ही-साथ उस समय के समाज की विभिन्न स्थितियों का रसपूर्ण जो विवरण दिया, वह सचमुच ही मनोमोहक व व्यंग्यात्मक चुटकियों से परिपूर्ण है। सत्यनाथ बरा ने 'जीवन का शान्ति पर्व' आदि जो निबंध लिखे, उन पर बेजबरुआ की शैली की छाप दिखाई देती है।

कमलाकान्त भट्टाचार्य ने गभीर तथा चिन्तामूलक निबन्ध लिखे हैं। पद्मनाथ गोहाइबरुआ के निबन्ध

साधारण विषयों के होने पर भी उनकी रचना-शैली मे शब्दो का आडम्बर दिखाई पडता है। रजनीकान्त बरदलै के कौतुक और हास्य से परिपूर्ण निबन्ध हृदयग्राही बन पडे है।

गवेषणामूलक निबन्धकारों मे रजनीकुमार पद्मपति प्रसिद्ध है। प्राचीन असमीया इतिहास के बारे मे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे आपके कई लेख निकल चुके हैं। हा, उन निबन्धो मे विचार-तत्त्व की प्रधानता होने से कुछ नीरसता अवश्य आ गई है। निबन्धकार के रूप मे नीलमणि फुकन का स्थान भी बहुत अग्रणी है। 'दैनिक बातरि' के सम्पादन के काल से इस दिशा मे आपका झुकाव देखा गया है। 'चिन्तामणि' और 'साहित्य कला' ये दोनो निबन्ध उनकी गद्य-रचना के अच्छे दृष्टान्त है। इस तरह वेणुधर शर्मा ने अनेक ऐतिहासिक लेख लिख कर असमीया के गद्य साहित्य-भडार को सुदृढ़ बनाया। इनके अतिरिक्त सूर्यकुमार भूया, उपेन्द्रनाथ लेखारु, सत्येन्द्रनाथ शर्मा, महेश्वर नेओग आदि भी निबधकारो की श्रेणी मे अपना स्थान लेकर असमीया के इस अग-विशेष की पूर्ति मे सहायता पहुचा रहे है।

असमीया लोक-साहित्य

असम का लोक-साहित्य बहुत ही पुराना है। इसके बारे मे हम पहले ही कुछ चर्चा कर चुके है। परम्परा से यह लोक-साहित्य गीतो के रूप में चला आ रहा है। असमीया साहित्य के प्राचीन युग को बहुतो ने गीति-युग ही कहा है। धाइ नाम, गरखीया नाम, बिहु नाम, फुल कोवर, मणि कोवर, पगला पार्वतीर गीत, टोकारी नाम, हुचरी नाम तथा आइ नाम आदि इसी काल की रचनाए है।

यहा के 'बिहु' उत्सव को किसी ने मगोल-परम्परा की देन माना है। बिहु जैसे अनुष्ठान चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया मे प्रचलित हैं। बिहु गीतो मे कुछ चीनी फूलों के नाम (जैसे कपौ) का उल्लेख किया जाता है। बिहु गीतों की भाषा बहुत ही सरल और मधुर है, परन्तु इनमे भावार्थ-गाभीर्य दिखाई पडता है।

नृत्य इस गीत का अविच्छेद्य अग है। आन्तरिकता, अनुभूति की गभीरता, विश्वात्म बोध, उच्च कोटि की कल्पना, सौन्दर्य-बोध, प्रकाशन-शैली का सयम आदि के समावेश से ये बिहु गीत अपूर्व ऐश्वर्य-मडित है।

बिया नाम में सयत पवित्र मिलन का मधुर गीत सुना जा सकता है। सरल कल्पना, मनोहर उपमा और पाताल गगा की तरह बहता हुआ करुण रस आदि इन गीतों की विशेषताए है।

धाइ नाम और गरखीया नाम आदि की भावना और अनुभूति अत्यन्त सरल है। बच्चो को बुलाने, खिलाने और हँसाने की मनोमोहक भंगिमा इनमे पाई जाती है। इन गीतो के अलावा नाव खेलवा गीत, बार माही गीत, टोकरी गीत, देह विचार गीत आदि असमीया लोक-गीतो के सुन्दर नमूने है। लोक-कथाओं का सग्रह यद्यपि बहुत कुछ हुआ है तथापि हमारी दादियों और नानियो के आचल की गाठ मे असख्य कथाए छिपी पडी है। उन सबको अच्छी तरह सग्रह करने से असमिया साहित्य ही नही, बल्कि भारत के दूसरे साहित्य भी धनी बन सकते है।

इनके अतिरिक्त असमीया मे ऐतिहासिक लोक-गीत भी प्रचलित है। फूल कोवर, मणि कोवर गीत, जना गाभरुर गीत, बदन बरफुकरन गीत, मणिराम देवानर गीत और मदुम कोवरीर गीत आदि ऐतिहासिक गीतो मे है। उन गीतो मे विशेषकर देश-माता के लिए शहीद होने वालो के यश-गान हैं।

भारत के पूर्वांचल में सुदृढ सेनानी की भाति स्थित असम पहले से ही साहित्य के क्षेत्र मे जागरूक है। फिर भी प्रगति के इस युग मे उसमे त्रुटि या कमी रह सकती है। वह दिन दूर नही, जब असमीया भाषा अपनी प्राचीन और अर्वाचीन सस्कृति की वाहक बनकर भारती के मन्दिर मे अपनी सर्वोत्तम भेट अर्पित करेगी। हमारी कामना अन्त मे यही है कि भारत की महान सस्कृति का वृक्ष सुदृढ हो और अपने और पुष्पो की महक से भारत-भमि को सुगन्धित करे।

आधुनिक उत्कल-साहित्य

श्री अनसूयाप्रसाद पाठक

आधुनिक उडिया साहित्य के गत ६० वर्षों के इतिहास की चर्चा करने वालों की दृष्टि १८६६ के फकीर मोहन सेनापति पर जा सकती है। कारण, आधुनिक भाषा के साथ-साथ साहित्य की चर्चा उनसे, या उनसे कुछ ही साल पूर्व से चलती है और इस चर्चा मे मुख्यतः सामने आ जाते हैं तत्कालीन ईसाई धर्म के प्रचारक पादरीगण। उनका मुख्य उद्देश्य साहित्य अथवा भाषा के प्रचार एव उसकी अभिवृद्धि न था, उनका लक्ष्य तो केवल ईसाई धर्म का प्रचार करना था; पर इतना तो मानना ही पडेगा कि भाषा मे लिखने तथा पाठ्य पुस्तको के निर्माण का उन्होने जो श्रीगणेश किया, उत्कलवासी उसे कभी भी नही भूल पाएगे। उत्कल भाषा तथा साहित्य की पृष्ठभूमि को समझने के लिए आरम्भिक काल पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

सभी मानते हैं कि स्थानच्युत उड़िया भाषा की उन्नति-साधन के लिए सन १८६७ स्मरणीय रहेगा। कारण, यह फकीर मोहन के द्वारा उत्कल-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा का समय था। उन्होने पाठ्य पुस्तकों के अभाव को दूर किया तथा शैली का परिमार्जन किया। कई पुस्तके इन्होने लिखी। सस्कृत से रामायण, महाभारत तथा भगवद्-गीता का अनुवाद किया। पत्नी-वियोग मे जिन गीतो की रचना उन्होने की थी, वे 'पुष्पमाला' तथा 'उपहा' के नाम से संग्रहीत होकर उत्कल के साहित्य-भण्डार मे सर्व प्रथम आई।[1]

वास्तव मे फकीर मोहन की साहित्यिक रचनाए सन १८६७ से आरम्भ होती हैं। समालोचना, गीति-काव्य आदि पर भी उन्होंने कलम उठाई पर साहित्य-क्षेत्र में अमरता उन्हे प्राप्त हुई उपन्यास और छोटी-छोटी कहानियों के द्वारा २५ वर्ष तक रजवाडो मे शासक के रूप मे रहने के कारण। फकीर मोहन को पावन लोक-चरित्र के अध्ययन करने का अच्छा अवसर मिला और उस अनुभूति ने सेनापति के लिए अमृत-रसास्वादन के समान, उनके जीवन मे ओत-प्रोत होकर उनका जीवन-प्रवाह ही बदल दिया। आज तो जिस भाषा को कवि फकीर मोहन ने वाणी दी तथा उनकी लेखनी ने जिसे निखारा उसका विस्मरण समस्त जाति तथा उत्कल का विस्मरण करना होगा। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस भाषा का सस्कार उन्होने किया और जो आज उत्कल प्रदेश के जनपदों मे फल-फूल रही है, उसका उस समय का रूप बहुत ही असस्कृत था। उस समय उडिया भाषा के अनन्य सेवको मधुसूदन व्यास कवि, फकीर मोहन, राधानाथ राय आदि को भाषा के परिष्कार के लिए जो कठोर साधना करनी पड़ी होगी उसकी कल्पना की जा सकती है। अतः हमको उनके श्रम को दृष्टि में रखकर आगे बढ़ना होगा। उसी समय उनकी सहायता के लिए सन १६०३ मे 'उत्कल साहित्य समाज' की स्थापना तथा उत्कल सम्मेलन के जन्म ने सोने में सुगन्धि का काम किया। साथ ही, बहुत सी पत्र-पत्रिकाए निकली, जिनमे 'उत्कल-दर्पण', 'उत्कल-मधुप', 'बिजली' प्रमुख थी। परन्तु इनके पहले भी 'उत्कल-साहित्य' नामक पत्र १८६७ मे विश्वनाथ दास ने निकाला था।

फकीर मोहन अपने उपन्यासों और कहानियो के माध्यम से उड़िया भाषा और जाति का सच्चा और शुद्ध

१. कटक में रहते सर्व प्रथम उन्होंने 'रेवती' नामक उपन्यास लिखा था। उस समय उत्कल साहित्य पत्रिकाओं में 'धूर्जटी' नाम से कहानियां प्रकाशित होती थीं। 'धूर्जटी' नाम मधुसूदन राव ने दिया था।

रूप प्रस्तुत करने में सफल रहे। उनके चार उपन्यास—'लछमा', 'छ माण ग्राठ गुण्ठ', 'मामू' और 'प्रायश्चित्त' राजनीतिक और सामाजिक उपन्यास है, और ये दो सौ वर्ष पीछे तक के उत्कलीय सामाजिक जीवन का दर्शन कराते है।

उत्कल मे नव जागरण का एक और भी कारण है। यह समय उत्कल-साहित्य के श्रीगणेश का था। बगला का प्रभाव उत्कल-साहित्य पर भरपूर था, उसका कारण है बगाल की ओर से मुगलो तथा अंग्रेजों का आगमन। दीर्घकाल तक उडीसा बंगाल के आधीन रहा। उडिया की पाठ्य पुस्तकों पर भी, जो कि वही से निर्मित होती थीं, बंगला का प्रभाव पडता रहा। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, पाठ्य पुस्तको के निर्माता ईसाई प्रचारक अधिक थे। इस प्रकार यही ढर्रा चला आता रहा, लेकिन इसमे फकीर मोहन, उत्कल साहित्य समाज और उत्कल सम्मेलन बगला के आदेशवत आने वाले शब्दों को रोका जाने लगा, इसमे ये सफल हुए।

सन १९०५ का बंग-भग का काल उत्कल के लिए नवजागरण और उत्साह का काल था। सन १९१२ मे बंगाल के साथ से हटकर उत्कल बिहार के साथ शामिल हो गया। यह सब हुआ ब्रिटिश शासन की सुविधा की दृष्टि से, फिर भी उत्कल-साहित्य नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर जाग उठा और सतत विकास-पथ पर अग्रसर होता गया। राधानाथ राय, भक्तकवि मधुसूदन राव और फकीरमोहन आदि लेखकगण अपनी-अपनी रचनाओ के द्वारा लोगो का मनोरंजन करने मे लगे थे। राधानाथ के खण्ड-काव्यों पर यद्यपि अंग्रेजी प्रभाव था, तथापि माधुर्यगुण से ओत-प्रोत थे। महायात्रा, दरबार, केदार, उषा और चिलिका ने उत्कल भाषा एव साहित्य मे नई चेतना, काव्य-रसास्वादन करने मे एक प्रकार की नई अनुभूति और स्पृहा जागृत की थी। भक्त-कवि मधुसूदन राव के गीतो ने तो उत्कल के जन-जन की वाणी में अपना नीड बना लिया :

"प्रभुकु देखिले थरे, आउ त न छाड़िबि रे!"
"भकत लागि भकत बन्धु के ते व्यथा पाउजणा नथिला।"

—आदि पद्य जगन्नाथ धर्म का बाना फहरा रहे थे। इनकी साहित्य-सर्जना ईश्वरभक्ति और प्रेम से प्रेरित थी। भाषा अतिसरल और प्रवाहमयी थी। अवश्य उक्त दोनो की रचना मे साहित्य की अभिवृद्धि और अनूठी अनुभूति है, लेकिन जिस प्रकार फकीरमोहन ने अपनी स्वाधीन चिंतना से ४०० वर्ष के उत्कलीय जन-जीवन का चित्र अंकित किया है, वह बेजोड है। फकीरमोहन की श्रेष्ठता के दो कारण है—एक तो उनकी रचना का काल १८९९ मे प्रारभ होता है और दूसरे उसमे समूचे उत्कल का चित्र है। उनकी रचनाओ मे उत्कल जन-जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत हो जाता है। वहां के रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार का परिचय तो उनकी रचनाओ से मिलता ही है, पर उत्कल की धार्मिक, सास्कृतिक, कलात्मक प्रवृत्तियो की अनुभूतिया तथा प्रेरणाए भी उनकी कृतियो मे साकार हो जाती है।

१९वीं सदी के अन्त मे उत्कल-साहित्य का अभ्युत्थान होता है। इसमें 'इन्द्रधनु', 'बिजली' आदि कितने ही मासिक पत्र सहायक रहे। विशेष उल्लेखनीय है विश्वनाथ के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'उत्कल साहित्य' मासिक, जिसने उत्कल-साहित्य की प्रगति मे विशेष गति प्रदान की है, फिर भी उस पत्र का झुकाव मध्य-कालीन भज साहित्य की ओर अधिक था। ऐसा लगता था, मानो उत्कल जन-जीवन के साथ का सम्बन्ध दूर होता जाता है।

हम कह आये है कि बग-भंग आन्दोलन और सन १९१२ मे बिहार के साथ उत्कल के सम्मिश्रण से उत्कल-साहित्य में नवचेतना का सचार हुआ। बगाल से आये मुगलो के उत्पात और मराठों का नगा नाच, ब्रिटिश राज्य का आगमन और उसकी दुरगी नीति एव खुशामदी सामन्तो के विलासमय जीवन से प्रताडित उत्कल का करुण तथा नैराश्य-पूर्ण चित्र फकीर मोहन की रचनाओं मे मिलता है। अनूठी व्यग्योक्तियो, लक्षणा आदि से मन के भावो को व्यक्त करना या मन के भावो को स्पर्श करना फकीर मोहन का काम था।

इन सब झांकियों का दर्शन करते हमे नन्दकिशोर बल के दर्शन होते है। ग्राम्य जीवन के साथ उन्होने किस प्रकार तादात्म्य स्थापित किया हुआ था, यह उनकी रचनाओ के कथोपकथन, लोकोक्तियो-मुहावरो आदि मे स्पष्ट परिलक्षित होता है। गीति-काव्य लिखने मे नन्दकिशोर का स्थान मधुसूदन के बाद का है। बाल-सुलभ कथन, काकली की आनन्द-माधुरी की स्निग्ध छाया मे पडकर पाठक जितना आनन्द नन्दकिशोर के काव्य-गीतों को पढकर पाते है

उतना अन्य काव्यों से नही। नन्दकिशोर की रचना का सयय १८७५ से १९२८ तक का माना जाता है।

इसी समय गगाधर मेहर ने भी काव्य-रचना की थी। उनका समय है १८६८ से १९२४।

गगाधर मेहर सम्बलपुर जिले के वरपाली नामक गांव मे जन्मे थे। आप आधुनिक शिक्षा से पूरी तरह व चित रहे। परन्तु आपके हृदयसागर की मलय-मधुर तरगो की गलझार उडिया भाषा के माध्यम से जिस प्रकार प्रवाहित हुई है और समस्त उत्कल के पुरपल्ली मे, नगर-नगर मे और आबाल—वृद्धवनिता—के जीवन में व्यापी है, वह अभूतपूर्व है। गगाधर मेहर ने अनेक कविताए लिखी है, लेकिन जिस प्रकार 'प्रणय-वल्लरी' और 'तपस्विनी' में उनकी कवि-प्रतिभा उभरी है वैसी अन्य ग्रन्थों में नही। उक्त दो ग्रन्थ आज भी उडिया की उच्च शिक्षा के लिए विद्यालयों मे स्थान प्राप्त किये हुए है। जिस प्रकार उपन्यास, कहानी आदि गद्य-साहित्य मे मधुर भाव-व्यजक भाषा के प्रवाह में फकीर मोहन आनन्द वितरण करते हैं, काव्य-क्षेत्र मे गगाधर मेहर का वही स्थान है। ये दोनो अपने-अपने क्षेत्र में उत्कलीय जन-जीवन का प्रतिनिधित्व करते है।

२०वी सदी मे उत्कल-साहित्य का ज्ञान-भण्डार पर्याप्त भरा जा चुका था। गगाधर तथा नन्दकिशोर आदि कवियों की काव्य-साधना से उत्कल-साहित्य परिपुष्ट होने लगा था। उन्होंने वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास आदि सस्कृत के महाकवियो से विशेष प्रेरणा ली।

गीति-काव्य के प्रणयन मे अन्य कवियों ने भी योगदान दिया, जिनमें चिन्तामणि महान्ति, मदनमोहन पट्टनायक, पद्मचरण पट्टनायक, दीनबन्धु काव्यरजन, कृष्णमोहन पट्टनायक, लक्ष्मीकान्त महापात्र आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनमे लक्ष्मीकान्त महापात्र की साहित्य-साधना अभूतपूर्व थी। संक्रामक रोग के बाहुपाश में रहते हुए भी हास्य-रसात्मक व्यगोक्तिमयी सरस रचना मे आप सिद्धहस्त थे। आप 'डगर' के जन्मदाता है। अनेक साल तक इसके सम्पादक भी रहे। 'डगर' के जरिये आपने उत्कल के जन-जीवन को हरा-भरा बनाये रखा। यह पत्र आज भी प्रौढ रसात्मक साहित्य प्रस्तुत करने मे सामर्थ्यवान है। कुन्तला कुमारी साबत गीति-काव्य और उपन्यास के नारी-लेखको में अग्रगण्य हैं। ये केवल उत्कल मे ही नही, बल्कि हिन्दी संसार में भी सुपरिचित है। 'रघुअरक्षित', 'नवतुण्डी' आदि उपन्यास लिखकर कुन्तला कुमारी ने उत्कल के मध्यवर्गीय जीवन का सुन्दर चित्रांकन किया है। आपकी रचनाओ को पढ़कर उत्कल के साहित्यिको ने अपनी आन्तरिक अभिरुचि प्रकट करते हुए कहा था, "कुन्तला कुमारी फकीर मोहन का खाली स्थान ले लेगी।"

इसी समय छोटी-छोटी कहानी लिखने मे लक्ष्मीकान्त महापात्र के साथ चन्द्रशेखर नन्द, बकनिधि पट्टनायक दयानिधि मिश्र, दिव्यसिंह पाणिग्राही, गोपालचन्द्र प्रहराज आदि अनेक लेखक उत्कल-साहित्य की श्रीवृद्धि मे लगे हुए थे। गोपाल प्रहराज ने 'बाई महान्ति पाजि', 'भागवत टुंगीरे सन्ध्या' आदि कई हास्यरसात्मक पुस्तके लिखी हैं। आपकी रचनाओं मे ग्रामीण जीवन तथा शहरी जीवन का पुट खूब रहता था। कथन मे व्यगोक्तियो तथा मुहावरो का प्रयोग जैसा आपने किया है, अन्यत्र देखने को नही मिलता है। आप उत्कल मे एकमात्र व्यक्ति है, जिन्होने सर्वप्रथम बाल-साहित्य की ओर दृष्टि डाली है। आपका लिखा हुआ विशाल 'पूर्णचन्द्र भाषा कोष' केवल उत्कल में नही, समूचे भारत तथा विदेशो मे भी प्रसिद्ध-प्राप्त है।

जहा उत्कल-साहित्य में उपन्यास, कहानी और काव्य का प्रणयन हो रहा था, वहा नाट्य कला भी पीछे नही थी। चिकिटि के राजा (१८७२-१९०४) नाटक को परिपूर्ण करने में लगे रहे। उन्होंने नाट्य मण्डलियां बनाईं, रंगमंच बनाया और नाटक की रचना मे भी पीछे नही रहे। उड़ीसा नाट्य-शास्त्र को जीवित रखने की यह सुन्दर तथा अनोखी चेष्टा है। दक्षिण उड़ीसा मे इनका गौरव पूर्ण स्थान माना जाता था। उधर उत्तर उड़ीसा में रामशंकर और भिखारीचरण पट्टनायक ने नाटक-रचना में विशेष नाम कमाया था। प्रान्त के प्रचलित यात्रा (लीला) के संस्कार के लिए रामशकर राय और कृष्णप्रसाद चौधरी अथक श्रम कर रहे थे। इधर गोविन्दचन्द्र सूर्यदेव भी यात्रा आदि को परिमार्जित करने में लगे हुए थे।

उत्कलीय युवको के हृदय में नव-उत्साह जाग्रत करने के लिए तीन प्रसिद्ध घटनाएं सामने आईं: एक है

मधुसूदनदास के नेतृत्व मे उत्कल सम्मेलन का गठन; दूसरी है बग-भग और तीसरी बिहार-उडीसा-मिलन। उत्कल सम्मेलन के जन्मदाता का श्रेय मधुसूदनदास को है पर उसके प्राण-प्रतिष्ठाता उत्कलमणि पण्डित गोपबन्धुदास है। गोपबन्धुदास की प्रेरणा से उत्कल मे राजनीतिक वायुमण्डल भी फैला। आपने 'सत्यवादी' मे बकुलबनको केन्द्र बनाकर शिक्षा का प्रचार आरम्भ किया, विद्यालय की स्थापना की और वह उडिया भाषा तथा साहित्य की चर्चा का भी केन्द्र बन गया। आपकी प्रेरणा से उत्कलीय नवयुवको मे नव जागरण, नव उत्साह और नव चेतना के भाव जागे, भाषाभिव्यक्तियो के लिए जागा। प्रान्तीय भाषा-भाव के साथ उडीसा मे जातीय भाव जागा, फलस्वरूप **'बंग आमार'** को आदर्श मानकर उत्कल मे भी 'वन्दे उत्कल जननी' की पुकार तमाम उत्कलीयो मे गूजने लगी। चार सौ साल से दलित तथा प्रनाडित जाति जाग उठी, भाषा-प्रेम जागा, साहित्य के प्रति अनुराग जागा। मराठो के निर्मम प्रहारों से, मुगलों के अमानुषिक अत्याचारों से जो जाति पुराने दर्द को सहला रही थी, उत्कल सम्मेलन के जन्मदाता मधुसूदनदास के **'मां मां बोलि केते मुं डाकिलि, माँकु पाइलि नाहिं। भाइ, भाइ बोलि केते मुं डाकिलि, भाइकि पाइलि नाहिं'**—की पुकार मे उत्कलीय युवको की रग-रग में नया खून हिलोरे लेने लगा। मधुसूदनदास और उत्कलमणि पण्डित गोपबन्धुदास नवजीवन प्रदान करने वाले दो मनीषी है।

इसी समय से उत्कल में प्रबन्ध-साहित्य की रचना भी शुरू हो जाती है। इसमे राधानाथ राय के सुपुत्र श्री शशिभूषणराय का योगदान अतुलनीय है। इसके अलावा पण्डित गोपीनाथ नन्द ने भी कई सस्कृत काव्यो, नाटको का अनुवाद उडिया मे किया था। भागवत, दाण्डिरामायण और शारला महाभारत पर पाण्डित्यपूर्ण समालोचनाए भी लिखी। नन्द ने सर्वप्रथम उडिया भाषा मे छन्दो की रचना का क्रम चलाया था। पण्डित मृत्युजय रथ ने भी गवेषणात्मक निबध लिखकर नई धारा का सूत्रपात किया था। जीवनी लिखने मे श्याममुन्दर राजगुरु ने जैसा नेतृत्व किया था, उससे उत्कल-साहित्य मे उनका नाम हमेशा अमर रहेगा।

उत्कल-साहित्य के पृष्ठपोषक तथा प्रचारको मे शशिभूषण रथ, तारिणीचरण रथ, पण्डित कृपासिन्धु मिश्र आदि सज्जनो के नाम से उत्कल आज भी अपने को गौरवान्वित समझ रहा है।

उत्कल-जागरण की धारा के दो भाग यहा से शुरू होते है। एक के नायक प्राचीनता के पृष्ठपोषक, जाति के व्यावहारिक जीवन मे उन्नति करने वाले मधुसूदनदास है। दूसरी धारा के नायक है पण्डित गोपबन्धुदास, और इन धाराओं को हम गगा-यमुना की सज्ञा दे तो अत्युक्ति नही होगी। गगा की धारा आगे जाकर जातीय जागरण के साथ-साथ राष्ट्रीयता का जामा पहनाती है और दूसरी (जमुना) पीछे हटकर सामाजिक, प्रादेशिक तथा शासको के साथ आवेदन-निवेदन मे विश्वास रखकर आगे बढती है।

गगा की धारा के पृष्ठ-पोषक थे पण्डित गोपबन्धुदास, वह अत्याचारी शासक के साथ आवेदन-निवेदन के पक्षपाती नही थे। उन्होने अपनी भाव-धारा मे गोते लगाने और शुद्ध-पूत राष्ट्रीयता मे डूबे हुए व्यक्ति निकालने की कल्पनाओ को सत्य रूप देने के लिए सत्यवादी के बकुल बन मे एक राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना की। यह विद्यालय अंग्रेजी शासन द्वारा सचालित विद्यालयो से भिन्न भावाभिव्यक्ति का प्रचार करने वाला विद्यालय सिद्ध हुआ। यह नवयुवको की रग-रग मे नई ज्ञान-ज्योति सचारित करने वाला था। यह जाति-जागरण के इतिहास मे अमर छाप रखने वाला कलात्मक चिह्न-स्वरूप खडा हो गया था। इस विद्यालय का उद्देश्य केवल परीक्षाए उत्तीर्ण करवा कर अग्रेजी शासन को सुदृढ करने वाले गुलाम पैदा करना न था, परन्तु इसका लक्ष्य था जन-जन मे मानवीय भावो का विकास करना। युवको को इसने इतना मुग्ध कर लिया कि वे सर्वस्व-त्यागी बन गोपबन्धु की विद्यागगा की धारा मे अपने को ला-ला कर समर्पित करने लगे। पण्डित गोपबन्धुदास ने तीन नारो की उद्घोषणा की 'समाज-सुधार करो', 'दरिद्र-नारायण की सेवा करो' और 'भारत माता की सेवा करो'। पण्डित गोपबन्धुदास की इस पुकार को सुन पण्डित नील-कण्ठदास, पण्डित गोदावरीश मिश्र, पण्डित कृपासिन्धु मिश्र, पण्डित लिगराज मिश्र और आचार्य हरिहरदास आदि कितने ही महान त्यागी, सत्यनिष्ठ, सेवा-परायण, प्रगाढ़ विद्वान युवक जमा हुए, और पण्डित गोपबन्धुदास से सेवा-दीक्षा ली। ये सभी विद्वान एक-एक से बढ़कर धुरन्धर, ज्ञानी, देश और साहित्य-स्रष्टा साबित हुए। और यह क्रम

१६२८ तक जारी रहा।

बकुल बन से जो साहित्य पैदा हुआ, उसका अपना इतिहास है। यह सारा साहित्य पण्डित गोपालबन्धुदास की चिन्ताधारा से प्रवाहित है। एक-से-एक स्वाधीन चिन्ताशील विद्वान जन-सेवा के साथ-साथ सत्गुणी साहित्य का सृजन करने लगे। पण्डित नीलकण्ठदास ने 'खारबेल' तथा 'कोणार्क' काव्य लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। पण्डित लिंगराज मिश्र वाल्मीकि रामायण का उत्कल भाषा मे अनुवाद कर अपनी अमर कीर्ति छोड गए। पण्डित कृपासिन्धु मिश्र ने 'कोणार्क' और 'बाराबाटी' लिखकर ख्याति प्राप्त की। आचार्य हरिहरदास गीता का अनुवाद कर जन-जन के सन्मुख आए। आज भी उडीसा साहित्य मे पण्डित नीलकण्ठदास की प्रतिभा जाज्वल्यमान है। आपने मासिक 'नव भारत' पत्र के द्वारा नए-नए समालोचक तथा निबन्धकार पैदा किए हैं।

उत्कल भर मे दो धाराए स्पष्ट रूप से प्रकाश में आई। एक सत्यवादी के बकुल बन से प्रकाशमान हुई, जो राष्ट्रीयता की ज्योति से चमकती हुई चल रही थी और दूसरी धारा मे वे लोग थे जो अंग्रेजो के शासन में रहकर अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध आनन्द, ज्ञानवान साहित्य रस प्लावनमयी धारा को प्रवाहित कर आगे बढ रहे थे, जो जातीय जीवन के जागरण मे कम सम्बन्ध रखती हुई आ रही थी। जिसमें राजे-महाराजे, सामन्तवादी नौकरशाही के लोग भी शामिल थे। अवश्य ही इस धारा से जरा-सा अपने अलग रखकर मधुसूदनदास ने उत्कल-जागरण में अपना जीवन लगा दिया। लेकिन नाना प्रकार के राजनीतिक जंजाल और कटकाकीर्ण पथ मे चलने वाले थे पण्डित गोपबन्धुदास। आपकी प्रेरणा से राष्ट्रीय कांग्रेस उत्कल मे आई। लाखो युवक इसमे शामिल हुए। जिनमे आज के मुख्यमन्त्री डॉ० हरेकृष्ण महताब भी थे। गोपबन्धुदास की पुकार थी—

'मिशु मोर देह ए देश माटिरे
देशबासी चालि जाआन्त पिठिरे।
देशर स्वाराज्य पथे जेते गाड़
पुरु तहिं पड़ि मोर मांस हाड़॥'

उत्कल मे एक ओर तो यह राजनीतिक धारा प्रवाहित हो आधुनिक उडिया साहित्य का निर्माण हो रहा है, दूसरी ओर 'उत्कल साहित्य समाज' की तरफ से प्राचीन उत्कल साहित्य की चर्चा भी जारी थी। श्री आर्त्तवल्लभ महान्ति १६१५ मे रेवेसा कालेज मे उडिया के प्रोफेसर हुए, तब से कालेज मे भी प्राचीन साहित्य के प्रति अनुराग जागृत हो उठा। आपके अध्यवसाय से १६२३ में 'प्राची समिति' नामक एक संस्था बनी और आप उसके प्रधान बने। महान्ति जी के गम्भीर पाण्डित्य, निरलस अध्यवसाय और शुद्ध असीम साधना से प्राचीन साहित्य के शुद्ध सस्करण निकलने लगे। अपने प्राचीन साहित्य पर जो मुखबन्ध लिखा है वह ग्रंथो के तत्त्व को खोलने वाला साबित हुआ है। उडीसा मे जिस प्रकार समालोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है, वह अन्यत्र देखने मे कम आती है। आपके समकालीन सहायको मे विच्छन्द चरण पट्टनायक दाहिने हाथ के स्वरूप मे साथ थे। साथ-ही-साथ अध्यापक करुणाकर कर, अध्यापक लक्ष्मीकान्त चौधुरी, अध्यापक घनश्यामदास और सुधाकर पट्टनायक आदि को भुलाया नही जा सकता। कम-से-कम मध्ययुगीन साहित्य की काव्य-मर्मज्ञता का आभास उत्कल वाणियो के समक्ष आया है। यात्रा, पाला आदि प्राचीन साहित्य के सुन्दर पदों का गायन दर्शक और श्रोताओ के लिए अभिरुचि-वर्द्धक हुआ करता था। महान्ति जी सभा, समाज और कक्षा में भी जब साहित्यसुधा-सागर मे गोते लगाने लगते तो वह अपने-आप को भूल जाते। कक्षा मे छात्रो के सामने भी मुग्ध हो गा उठते······अहा क्या कहना—

विष्णुपदी विष्णुपद · ई कार भेद शबद
तरंगीरे गता-गत तहिं उचित
विशारद से सामन्त मन्तरे दास सेबित
डाकु न शुणन्ते रघुनाथ कथित

विषधर प्राये कि तुहि
बेले नेत्र ढालि गुण उदार नोहिं ।।
बधिर नुहई वीर लोइला तहिं धिबर
शुणिलिणि पथरे पथर अबला
बालि पड़ि तो चरणु आशंका उपुजे एणु
नउका नायिका हेले बुड़िब भेला
वृत्तिए मो पोषे कुटुम्ब
बसाइ न देवि पाद न धोइ नाब ।।
बढ़ाइ देले पथर भावग्राही रघुवीर
पथरे क्षालित करि बसने पोछि
अहारे धौत पद नेहिछि शिब बिषाद
न पाइ चरणामृत पानकु इछि
बिज्ञानि कैवर्त्त धोइला
विश्वे पतित पाबन नाम रहिला ।।

इसके फलस्वरूप हजारो छात्रों मे उडिया-साहित्य के प्रति अनुराग जागा।

सन १९१३ मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'गीताजलि' पर नोबल पुरस्कार मिला था। इससे तमाम हिन्दुस्तान मे तहलका मच गया और उसी को आदर्श मानकर सभी प्रान्तो मे विश्व-साहित्य की कामना कर रचना होने लगी। उडीसा भी इसमे पीछे नही रहा। इनकी साहित्य-रचना से जितने कालेज के छात्र प्रभावित हुए उनमे अन्नदाशकर राय, शरतचन्द्र मुखर्जी, कालिन्दीचरण पाणिग्राही, बैंकुण्ठनाथ पट्टनायक, नवकृष्ण चौधुरी, हरिहर महापात्र आदि युवको ने शान्ति-निकेतन से प्रकाशित होने वाली 'सबुज'नामक मासिक पत्रिका से अनुप्राणित हो उत्कल मे भी एक नई साहित्यिक धारा का सूत्रपात किया। इन लोगो ने मिलकर सबुज नामक समिति की स्थापना की। इस समिति के मुख-पत्र के रूप मे 'युगवीणा' नामक मासिक पत्र निकाला। इस कारण मे ये लोग सबुज कवि के नाम से प्रसिद्ध हुए। लेकिन उक्त नामो मे से केवल दो व्यक्ति लगभग सन १९३१ से आज तक साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। एक है कालिन्दीचरण पाणिग्राही और दूसरे है वैकुण्ठनाथ पट्टनायक। यह १९३१ का समय था।

महात्मा गाधी ने सन १९२१ मे अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया, काग्रेस के सिद्धातो के प्रति अनुराग रखने वाले व्यक्ति इस आन्दोलन मे शामिल हुए। उडीसा भी इसमे पीछे नही रहा। नाना प्रकार के प्रेरणादायक ओजस्वी राष्ट्रीय गीत लिखे जाने लगे। नाटक, कहानी, उपन्यास, प्रबन्ध आदि लिखने का क्रम जारी था। इसमे पण्डित गोपबन्धु दास अग्रगण्य थे। जेल मे रहकर आपने 'कारा कविता', 'बन्दिर आत्म-कथा' का प्रणयन किया तथा जातीय कल्याण की बलिवेदी पर तिल-तिल कर अपनी आहुति चढा दी। इस समय वाछानिधि महान्ति, वीर किशोरदास राष्ट्रीय गीत-रचना मे पीछे नही रहे। वाछानिधि महान्ति के राष्ट्रीय गीत पढने और सुनने वाले देश-सेवा मे अपने को नियोजित करते रहे। रास्ता, घाट, रेलयात्रा आदि मे भिखमगो तक के मुख से आपके गीत, 'राष्ट्रीय पताका जातीय जीवन' की मधुर ध्वनि मुखरित हो उठती थी। इधर डा० हरेकृष्ण महताब अपने लेख, उपन्यास, कहानी आदि साहित्यिक रचनाओ के द्वारा लोगों मे उत्साह भर रहे थे। इन रचनाओ मे 'पलासी अवसान' जातीय जागरण मे बहुत सुन्दर हाथ बटा रही थी। उस पुस्तक से राष्ट्रीय भावधारा को प्रस्फुटित देख तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उसे जब्त कर लिया था। इधर नित्यानन्द महापात्र की 'स्वराज्य पाला' और 'मौसी' नामक दो पुस्तके जब्त कर ली थी। इन जब्त पुस्तको के कारण उत्कल-साहित्य-समाज मे आप सुपरिचित हो गये। सन १९२१ से १९४२ तक इसी प्रकार का राजनीतिक उतार-चढाव होता रहा। राष्ट्रीय भावधारा को लेकर चलने वाले उत्कल-साहित्य ने जन-जीवन को इतना ओतप्रोत किया कि प्राचीन साहित्य का प्रचार करने वाली 'प्राची समिति' खतम हो गई। रवीन्द्रसाहित्य के अनुकरण पर चलने वाली 'सबुज-समिति' भी खतम हो गई। उसके प्रधान

पृष्ठपोषक श्रीयुक्त कालिन्दीचरण पाणिग्राही की कलम की गति भी बदल गई, जिसका प्रधान सच्चा रूप 'माटिर मणिष" आज केवल उत्कल मे ही नही, भारतीय साहित्य मे भी स्थान पाये हुए है।

सन १९३६ मे उत्काल विहार से अलग हुआ। राष्ट्रीय जागरण के साथ शुद्ध साहित्यिक भावधारा भी काम कर रही थी। इनमे मायाधर, मानसिह, राधामोहन गणनायक, आनन्द पट्टनायक और सचि राउत राय मुख्य थे। सचि राउत राय तो चमक उठे ढेकानाल के अत्याचारित और पुलिस की गोली खाए हुए बालक 'बाजिराउत' नामक काव्य लिखकर। यह समय उत्काल-साहित्य के लिए मंगलमय था। नाना प्रकार के उपन्यास, कहानी, कविता, प्रबन्ध आदि की रचनाओ मे सुन्दर सौम्य गीति दिखाई पड रही थी। नवोदित कवियों की रचना-अभिरुचि उत्कल साहित्य की गौरवमयी अभिवृद्धि है। इसी समय उत्कल के युवको मे नई चिन्ताधारा प्रवाहित होने लगी। भगवतीचरण पाणिग्राही के नायकत्व मे समाजवाद और समाजवादी साहित्य का श्रीगणेश हुआ। फलस्वरूप मानसिह के अनेक साहित्यिक प्रेम-गीत, जिनमे काव्य-सौन्दर्य की परागमयी प्रतिभा विद्यमान थी, वह प्रौढ बौद्धिक साहित्य में परिणत हो गई।

आधुनिक नाटककारो मे अश्विनीकुमार घोष, कालीचरण पट्टनायक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके नाटक रगमच पर आ चुके है। अश्विनीकुमार का 'कोणार्क' उत्कल मे बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। इसके अलावा उत्कल मे और भी बहुत से उदीयमान नाटककार प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके है।

गाधी-विचारधारा से प्रभावित हो डा० हरेकृष्ण महताब ने अनेक उपन्यास, कविता और एकाकी लिखे है, जो उत्कल साहित्य में अपना स्थान पा रहे है और विद्यालयो के पाठ्य-क्रम मे भी जिन्हे स्थान मिला है।

इतना होते हुए हमको यह कहना पडेगा कि साहित्य-सृजन मे जितनी मगलमयी जेले साबित हुई है, उतना कोई भी शुभस्थान मगलमय नही दिखलाई पडता। यह सभी भारतीय भाषाओ के लिए मंगलमय शुभ घडी थी। उत्कल भी इससे पीछे नही रहा। अहमदनगर मे रहकर डा० हरेकृष्ण महताब ने उडीसा का प्रामाणिक इतिहास लिखकर उडीसा के जन-जीवन को विशेष रूप से गौरवान्वित किया। आज तक उडीसा के जितने इतिहास लिखे गए है, वे या तो अग्रेजी में है अथवा अग्रेजी के आधार पर लिखे गए है। उस क्षेत्र मे यही पहला मौलिक ग्रन्थ है, जिसमे जैन, बौद्ध आदि साहित्य से सामग्री का चयन किया है। इसमे उत्कल मे आगत सभी धर्मों, शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, वाममार्गी आदि की सुन्दर साहित्यिक चर्चा है। इसलिए कहा जाता है कि १९४२ का आन्दोलन जिस प्रकार स्वराज्य के लिए मगलमय बना है, उसी प्रकार साहित्य के लिए भी।

सन १९४२ मे उडीसा के विद्वान लेखक, राष्ट्रप्रेमी ब्रह्मपुर सैण्ट्रल जेल मे बन्दी थे। सभी किसी-न-किसी साहित्य-चर्चा मे अपना मनोरजन कर जीवन बिता रहे थे। इनमे पण्डित लिगराज मिश्र तो पहले 'शकुन्तला' और बाद मे 'वाल्मीकि रामायण' का पाठ सुना रहे थे, नित्यानन्द महापात्र जेल का अपना सारा समय उपन्यास और कहानी लिखने मे बिता रहे थे। ज्वलन्तानिग्रो, हिन्द स्वराज, हिडमाटि, भारत भाग्य विधाता, अभगा हाड आदि कितनी रचनाए आपने वही की है। श्री भागीरथी महापात्र भी बौद्ध ग्रन्थ का उत्कल भाषा मे अनुवाद कर रहे थे। सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, मनमोहन मिश्र, वीर किशोरदास आदि सभी राष्ट्र-भक्त साहित्यिक वातावरण को अपने-अपने प्रतिभा-सौरभ से सुरभित किये हुए थे। सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी ने 'विश्व इतिहास की झलक' का अनुवाद वही किया था।

सन १९४४ मे उत्कल-विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ शिक्षा-क्षेत्र मे उत्कल एक नई निश्चित दिशा की ओर अग्रसर हुआ। इससे उत्कल साहित्य की अभिवृद्धि में यथेष्ट प्रोत्साहन मिलने लगा। उड़िया साहित्य में नए समाज तथा नए मानव के विकास की सम्भावनाओ से नवीन आभा झलकने लगी। प्राची-समिति, सबुज-समिति मृतप्राय हो चुकी थी। बल्कि हम यों कहेगे कि जमुना-धारा की यही इतिश्री थी। विच्छन्दचरण पट्टनायक प्राचीन साहित्य के प्रचार के लिए प्राची समिति के प्राण थे। अब केवल मध्ययुगीन भज साहित्य की आलोचना-गवेषणा मे उन्होंने अपने को नियोजित कर दिया और 'कलिग भारती' नामक संस्था बना, कुछ छात्रो को ले, साहित्य ज्योति जलाते चलते आते है।

आगे गंगाधारा के पृष्ठपोषक पण्डित गोपबन्धुदास के अनुकरणीय पण्डित नीलकण्ठदास, गोदावरीश

मिश्र, पण्डित लिगराज मिश्र, हरेकृष्ण महताब आदि लेखक जिस रास्ते चल रहे थे, उत्कल-साहित्य की धारा उसी रास्ते बहने लगी। उत्कल-साहित्य के लिए यह परम सौभाग्य की बात थी।

१९४६ में स्वराज्य मिलने के बाद उत्कल का शुद्ध निखरा प्रखर तेज सामने आया। साहित्य और समाज अभी तक केवल मूक चर्चा के विषय बने थे। १९४८ में उत्कल के मुख्यमंत्री डा० हरेकृष्ण महताब ने अपनी साहित्यिक अभिरुचि को और व्यापक रूप देने के लिए 'प्रजातन्त्र-प्रचार-समिति' का निर्माण किया। इसके पहले आपके विशाल उत्कल-इतिहास और टाउटर-प्रतिभा आदि अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। परन्तु प्रजातन्त्र समिति का जन्म उत्कल-साहित्य की उन्नति के लिए एक नई चीज थी। आपने 'झकार' नामक मासिक पत्र निकाला जिसके शुरू से लेकर आज तक सम्पादक है। इस पत्र मे बडे ही उच्चस्तरीय गवेषणात्मक लेख प्रकाशित होते रहते है। इस समिति का सर्वोत्तम कार्य हुआ करता है विषुव-मिलन के समय उडिया साहित्यिको का सम्मेलन। इसमे विभिन्न विषयो के प्रबन्ध-पाठ किये जाते है और सर्वोत्तम आने वालों को पुरस्कृत किया जाता है। प्रचार समिति के इस उद्यम से उच्चकोटि के विद्वानों के द्वारा लिखित लगभग ५०-६० प्रबन्ध सगृहीत होते है। साथ ही सैकडो विद्वानो का सम्मेलन बिना किसी भेदभाव के मधुर भ्रातृ-भाव मे परिणत होता है।

इस समय उत्कल में, जिन लेखको और कवियो का नाम है, उनमे उपन्यास-लेखको मे कान्हुचरण महान्ति, गोपीनाथ महान्ति, कालिन्दीचरण पाणिग्राही, कमलाकान्तदास, वसन्तलता पट्टनायक आदि के नाम उल्लेखनीय है। कहानी-लेखको में राजकिशोर राय, सुरेन्द्र महान्ति, गोदावरीश महापात्र, ब्रह्मानन्द पण्डा, नाटक-क्षेत्र मे कविचन्द कालिचरण पट्टनायक, गोपाल छोटराय, प्राणबन्धु कर, शरलादेवी, लाला नगेन्द्रकुमार राय, उदयनाथ मिश्र, साहित्य-इतिहास मे गौरीकुमार ब्रह्मा, विनायक मिश्र, सूर्यनारायणदास, कुजबिहारी त्रिपाठी, बशीधर महान्ति आदि। काव्य मे श्रीमती तुलसीदास, विद्युत प्रभा, वाछानिधिदास, नवकिशोरदास, गोपाल मिश्र, प्रबन्ध-समालोचना मे श्री नटवर शामन्त राय, जानकीवल्लभ पट्टनायक, तारिणीचरणदास आदि। इतिहास मे--डा० हरेकृष्ण महताब, सत्यनारायण राजगुरु, केदारनाथ महापात्र, प्रह्लाद प्रधान आदि। प्रह्लाद प्रधान के गवेषणात्मक, पाण्डित्य-पूर्ण लेखो से उडिया साहित्य धनी बन रहा है। हिन्दी साहित्य भी आपसे अछूता नही है।

उडीसा के साहित्यिक एव राजनीतिक इतिहास-लेखन में प्राय. कम उदारता का परिचय दिया गया है। कुछ ऐसे विद्वान है, जिनका नाम ऐतिहासिक भूल से जाते है। बालकृष्ण पट्टनायक ने, जिनकी उम्र आज ८६ साल की है, बहुत पहले 'चिर जुहार', 'फुल बउल वेणी' नामक पुस्तके लिखकर उत्कल की वेदना और आकाक्षा तथा दिवंगत आत्माओ के लिए अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की थी। आज भी वे अपने काम मे पूर्ववत लगे है और १२,००० मुहावरों और कहावतो का सग्रह किया है। पण्डित स्वप्नेश्वरदास ने, जिनकी आयु आज ८० वर्ष की है, बहुत पहले तुलसी रामायण का उत्कल भाषा मे पद्यानुवाद किया था। यह उनकी अमर कीर्ति है। प्रवचन तरग ने, जयशकरप्रसाद की 'कामायनी' का उडिया अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह उत्कल के लिए महान गौरव की बात है। आप सुन्दर ग्रन्थों का उत्कल साहित्य भण्डार को दान है।

श्री लक्ष्मीनारायण साहु उत्कल की एक अपूर्व विभूति है। पाच-छः विषयों में एम० ए० है। उत्कल मे उन इने-गिने विद्वानो में से है जो किसी पद के लिए लालायित नही है। आपने कई पुस्तके लिखकर उडिया-साहित्य के भण्डार को भरा है और वर्षों 'उत्कल साहित्य समाज' के मन्त्री रह कर साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

श्री पद्मनाभ पट्टनायक उत्कल के उन इने-गिने लोगो मे से है, जो कि भज-साहित्य सागर मे गोते लगाकर रत्न निकाल रहे हैं। जगतबन्धु महापात्र ने भी तुलसी-कृत रामायण का उत्कल भाषा मे पद्य-बद्ध अनुवाद किया है। और 'मणिकांचन', 'धड़िया बाबाजी' आदि उपन्यासो के लेखक हैं।

यहा हम और कुछ ऐसे व्यक्तियो की चर्चा करने का लोभ सवरण नही कर सकते जिन्होने अपनी वाणी, तन, मन, धन से देश, जाति और साहित्य की सेवा करने मे अपने को होम रखा है। ये हैं स्वामी विचित्रानन्ददास, राधानाथ रथ, गोपबन्धु चौधुरी, भुवनानन्ददास। राधानाथ रथ गोपबन्धुदास के परम निष्ठावान भक्तो में से एक हैं।

जिस 'समाज' मासिक, साप्ताहिक और दैनिक के द्वारा गोपबन्धु द्वारा साहित्य और देश की सेवा करने में पीछे नहीं रहे, उनमें एक राधानाथ जी भी हैं। आपने दैनिक 'समाज' का सम्पादन कर उड़िया भाषा में एक नई धारा, नई गति और नई चिंतना का दिशा-निर्देश किया है।

गोपबन्धु चौधुरी जैसे नेता या लेखक बिरले ही मिलेंगे। उड़ीसा को उन पर गर्व है। उन्होंने गांधी-विचारधारा के प्रचार मे अनुपम योग दिया। अपनी पुस्तकों, अपने लेखों तथा अनुवादो के द्वारा उन्होंने उड़िया लोगों मे गांधी-विचारों के बीज बोए। उत्कल मे गाधी-साहित्य और गांधी-अहिंसा वाणी को जन के जीवन मे प्रवेश कराने का विशेष श्रेय गोपबन्धु चौधुरी को है। आप उड़िया, अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू और गुजराती के अच्छे ज्ञाता थे। और उड़िया के प्रौढ़ ज्ञान के भी ज्ञाता और लेखक थे।

मैंने भरसक प्रयत्न किया है कि उड़िया समाज एव साहित्य के निर्माण में जिसने भी योगदान दिया है, उसके लाभ तथा कर्तृत्व का उल्लेख हो जाय। इस पर भी यदि कुछ भूल रह गई हो तो उदारमना विद्वान क्षमा करेंगे।
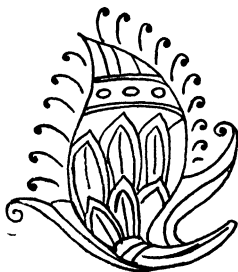
उर्दू भाषा के साठ वर्ष

श्री गोपीनाथ 'अमन'

इस बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे उर्दू भाषा मे, पुरानी और नई उर्दू भाषा मे, दोनो शैलियों मे सघर्ष चल रहा है। नवाब मिर्जा खा 'दाग' गजलो के सबसे बड़े उस्ताद माने जाते थे। वह शेख मोहम्मद इब्राहीम 'जौक' के शागिद थे। इन्ही 'जौक' साहिब से अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर भी इस्लाह लिया करते थे। 'जौक' का देहान्त तो गदर से पहले ही हो गया था। बहादुरशाह जफर सन १८५८ मे गिरफ्तार करके ब्रह्मा भेज दिए गए। 'दाग' उस समय नवयुवक थे और 'गालिब' उस्तादो मे माने जाते थे। 'जौक' और 'गालिब' समकालीन थे। परन्तु 'गालिब' का देहान्त सन १८६६ ई० मे हुआ। 'जौक' के शागिदो मे सबसे प्रसिद्ध मिर्जा 'दाग' और गालिब के शागिदो मे 'मौलाना हाली' थे। 'दाग' का देहान्त सन १६०५ ई० मे और 'हाली' का देहान्त सन १६१५ ई० मे हुआ। 'दाग' गजल के धनी थे और उनकी ज़बान भी बहुत सरल है। इसी प्रकार 'हाली' की भाषा या जबान भी बहुत सरल है, परन्तु दोनो की शैलियों मे बहुत अन्तर है। 'दाग' अपने जीवन-पर्यन्त प्रेम के गीत गाते रहे परन्तु 'हाली' ने समयानुकूल चीज़े लिखी। उनकी कृतियो मे सबसे प्रसिद्ध 'मुसद्दसे हाली' है जिसमे उन्होने कविता के रूप मे मुसलमानो के भूत और वर्तमान का वर्णन किया है। उनकी दूसरी प्रसिद्ध कविताए 'हुब्बे वतन' 'मुनाजाते बेवा' 'चुपकी दाद' और 'रुबाईयाते-हाली' है। उनकी गजलो का सग्रह एक दीवान के रूप मे भी मिलता है। परन्तु यह सग्रह इतना प्रसिद्ध नही हुआ जितनी उसकी भूमिका, जो अलग एक ग्रथ के रूप मे भी छप चुकी है और जिसमे उन्होने पुरानी शैली को छोडकर नई शैली को ग्रहण करने पर ज़ोर दिया है। इसी शताब्दी के आरम्भ मे डाक्टर सर मोहम्मद इकबाल का नाम भी चमकने लगा और सन १६३८ ई० में उनका देहान्त हुआ। उस समय तो वह उर्दू भाषा के सर्वप्रथम प्रसिद्ध कवि माने जाते थे। जिस प्रकार १८वी शताब्दी मे 'मीर' को और १६वीं शताब्दी मे 'गालिब' को सबसे प्रसिद्ध उर्दू कवि माना जाता था, उसी प्रकार 'इक़बाल' को बीसवी शताब्दी का माना गया। 'हाली' केवल पद्य के ही धनी नही थे, उनकी गद्य-रचनाए भी बहुत प्रसिद्ध हैं जिनमे 'हयाते-जावेद' और वह भूमिका, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, सर्वप्रसिद्ध है। यो तो मौलाना मोहम्मद हुसैन 'आज़ाद' भी सन १६१० ई० तक जीवित रहे, परन्तु पिछली शताब्दी के अन्त मे ही वह अपने होशोहवास खो बैठे, इसलिए बीसवी शताब्दी मे उनका वर्णन करना उचित नही। एक और कवि, जो पिछली शताब्दी मे ही अपने हास्य-रस मे प्रसिद्ध थे, परन्तु बीसवी शताब्दी मे इस रस मे अधिक प्रसिद्ध हुए, वह अकबर 'इलाहाबादी' है। उन्होने भी पिछली शैली को छोडकर नई शैली को ग्रहण किया। यह अपनी विचारधारा मे तो प्राचीन है परन्तु अपनी लेखन-शैली में नवीन। उर्दू कवियो में किसी की रचनाओं मे अग्रेजी-शब्दों का इतना अधिक प्रयोग नहीं मिलता, जितना अकबर 'इलाहाबादी' की रचनाओं में। कही-कही तो इन्होने अग्रेजी शब्दो से अलकार बनाए है। जैसे—

"जबकि दस्ते नाज़नीन से पाई 'टी',
अब कहां बाकी है हम में 'पाइटी।'"

यों तो पिछली शताब्दी मे 'सैयद इशा' हास्यरस के सबसे बडे उस्ताद माने जाते थे, परन्तु अकबर 'इलाहाबादी' ने उनको भी मात कर दिया और आज यदि यह पूछा जाय कि उर्दू मे सर्वप्रसिद्ध हास्य-रस मे कवि कौन हुआ

है, तो अकबर इलाहाबादी का नाम ही लिया जायगा। इस शताब्दी के आरम्भ में मौलाना शिबली 'नैमानी' भी गद्य-लेखकों में प्रथम श्रेणी में गिने जाते हैं। यों तो वह पिछली शताब्दी से लिखते आ रहे हैं, परन्तु इस शताब्दी में उनका अधिक नाम हो गया है। 'इक़बाल' को छोडकर यह सब सन १६२० ई० तक इस ससार को छोड़ चुके थे।

राष्ट्रीय कवियो मे इस शताब्दी के सबसे प्रसिद्ध कवि पं० बृजनारायण चकबस्त थे, जिनका देहान्त सन १६२६ ई० मे ४२ साल की आयु मे हो गया, और उनकी कविताओ का सग्रह उनके देहासवान के बाद सर तेजबहादुर सप्रू की लिखी हुई भूमिका के साथ 'सुबहे-वतन' के नाम से प्रकाशित हुआ। जिस प्रकार अकबर 'इलाहाबादी' पद्य में हास्यरस मे बहुत प्रसिद्ध हुए, उसी प्रकार इस शताब्दी के आरम्भ मे मुशी सज्जादहुसैन भी, जो सन १८७७ ई० से १६१२ ई० तक 'अवध पच' निकालते रहे, गद्य के हास्य-लेख के लिए प्रसिद्ध हैं। उपन्यासो मे इस शताब्दी के आरम्भ मे प० रत्ननाथ 'सरशार' और मौलाना अब्दुलहलीम 'शरर' अधिक प्रसिद्ध थे। 'सरशार' का देहान्त सन १६०३ ई० मे हो गया और वह अपनी अमर कृति 'फिसाने आजाद' छोड गए, परन्तु मौलाना 'शरर' सन १६२६ ई० तक जीवित रहे। उनके लिखे बहुत उपन्यास है, परन्तु उनसे साम्प्रदायिकता टपकती है, अतः उनको इतनी ख्याति प्राप्त नही हो सकी जितनी 'सरशार' को।

दूसरा दौर

महात्मा गाधी के सत्याग्रह आन्दोलन का राष्ट्रीय जीवन के हर अग पर प्रभाव पड़ा। उर्दू भाषा भी उससे प्रभावित हुई। मौलाना मोहम्मद अली, जो देश के बहुत बडे नेता भी थे और कवि भी, नये रग की गजले कहते थे। इसी प्रकार मौलाना हसरत 'मुहानी' जो इस शताब्दी के आरम्भ से ही कविता करते आ रहे हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन मे शरीक होने पर नये रग मे ही गजल कहने लगे और बहुत प्रसिद्ध हुए। मौलाना मोहम्मद अली ने तो थोडा-सा कहा, परन्तु मौलाना हसरत 'मुहानी' के कुछ सग्रह है, और कुछ लोग इन्हें बीसवी शताब्दी के मध्य काल का गजल कहने वाला सबसे बडा कवि मानते हैं। असहयोग-आन्दोलन के दिनो मे उर्दू में राष्ट्रीय कविताए बहुत निकली। सन १६२३ ई० मे जो साम्प्रदायिक धाराए इस देश मे चली उनका भी प्रभाव उर्दू भाषा पर पडा। उर्दू पत्रों मे 'मिलाप' और 'प्रताप' हिन्दू दृष्टिकोण से तथा 'सियासत', 'इन्कलाब' और 'जमीदार' मुस्लिम दृष्टिकोण से लिखते थे। 'जमीदार' के सम्पादक मौलाना जफर अली खा उच्चकोटि के कवि भी थे, परन्तु कहते बहुत थे, इसलिए कही-कही उनकी कविता मे दोष और फीकापन भी है और कही-कही फक्कडपन भी। जहां उर्दू की प्राचीन और नवीन शैलियों के मेल की बात कही जाय वहाँ सर्वप्रथम मौलाना अबुलकलाम 'आजाद' का नाम उल्लेखनीय है। वह फारसी और अरबी के बहुत बडे विद्वान थे और उन्होने इस शताब्दी के आरम्भ मे जो कुछ लिखा, उसमें फारसी और अरबी अधिक थी; परन्तु जब वह देश के मान्य नेता बन गए तो जन-साधारण को समझाने के लिए उनको अपनी भाषा मे कुछ परिवर्तन करना पडा। इसलिए सन १६४० मे जब वह दूसरी बार कांग्रेस के प्रधान चुने गए उन्होने अपना अध्यक्षीय भाषण बहुत सरल भाषा में दिया। परन्तु उसी के दो वर्ष बाद जब वह जेल भेज दिए गए तो जेल से उन्होने जो पत्र अपने मित्र मौलाना हबीब उर रहमान शेरवानी को भेजे है। उनमें फिर उनकी वही पुरानी शैली झलकती है। ये पत्र 'गुबारे ख़ातिर' के नाम से प्रकाशित हुए। मौलाना अबुलकलाम 'आजाद' की दूसरी कृतियो मे 'तज़किरा' और 'तर्जुमान-उल-कुरान' बहुत प्रसिद्ध हैं परन्तु 'तर्जुमान-उल-कुरान' को वह पूरा नहीं कर सके। उसकी दो जिल्दे ही छप सकी।

गल्प-लेखको मे सबसे पहले मुशी प्रेमचन्द का नाम आता है। उनको हिन्दीवाले भी अपनाते हैं और उर्दू-वाले भी। उन्होंने आरम्भ उर्दू से ही किया, परन्तु अन्त मे हिन्दी मे लिखने लगे, इसका कारण आर्थिक भी था। मुंशी प्रेमचन्द के देहान्त के बाद कृष्णचन्द्र सर्वप्रसिद्ध गल्प-लेखक हो गए। उनके साथ ही राजेन्द्रसिंह बेदी, मन्टो, अस्मत चगताई और रेवतीशरण आदि के नाम भी प्रसिद्ध हैं। सन १६३५ ई० के बाद उर्दू मे तरक्कीपसन्द या प्रगतिशील शैली का आरम्भ हुआ। ये लोग एक विशेष राजनीतिक विचारधारा के हैं और अपने अतिरिक्त किसी को प्रगतिशील नही मानते हैं। उनका कहना है कि जो **प्रकृति को स्वयं-भू** नही मानते, वह प्रगतिशील हो ही नही सकते। इसमें मीराजी और नून मीम राशिद पहले-पहल प्रसिद्ध हुए, उन्होंने कविता के साथ शैली भी बदली। जोश 'मलीहाबादी'

ग्रौर ग्रली सरदार जाफरी भी इन्ही में गिने जाते हैं। गद्य-लेखकों मे सज्जाद ज़हीर प्रसिद्ध है।

स्वतन्त्रता के बाद

देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात जो उथल-पुथल हुई उसका प्रभाव उर्दू पर बिना पडे कैसे रह सकता था ? देश विभाजित हुग्रा ग्रौर उर्दू पाकिस्तान की सरकारी भाषा बन गई। भारत मे इसका प्रभाव कम हो गया, परतु जो हिन्दू पाकिस्तान से भारत ग्राए उनमे बहुत उर्दू के ग्रच्छे कवि थे ग्रौर है। इनमे सर्वप्रथम मुशी तिलोकचन्द 'महरूम' उल्लेखनीय हैं। उनकी पहली कविता 'जमाना' नाम के पत्र मे सन १६०६ मे प्रकाशित हुई। प० लभ्भूराम 'जोश' मलसियानी तो जालन्धर के ही रहने वाले है, परन्तु महरूम साहिब का नाम ग्राते ही उनका भी नाम याद ग्रा जाता है। वह दाग के शागिर्दों मे है ग्रौर ६० साल से ग्रधिक से कविता करते है। ग्रबतक उनके शिष्य भी ग्रच्छा कहने वाले कवियो में गिने जाते हैं, जिनमे 'साहिर' होशियारपुरी सर्वप्रसिद्ध है। जोश के सुपुत्र प० बालमुकुन्द 'ग्रर्श' भी गिने-चुने उर्दू-कवियों मे से हैं। इसी प्रकार मु० तिलोकचन्द महरूम के सुपुत्र श्री जगन्नाथ 'ग्राजाद' ने भी भारत ग्रौर पाकिस्तान में बहुत ख्याति प्राप्त की।

पिछली शताब्दी मे उर्दू के सम्बन्ध मे दिल्ली ग्रौर लखनऊ मे मुकाबला रहता था। वह समय तो गया ग्रौर वह दौर समाप्त हुग्रा। कुछ-कुछ पजाब ग्रौर उत्तर प्रदेश मे ग्रब भी चलती है। उत्तर प्रदेश के कवियो का उल्लेख करते समय मु० विशेश्वरप्रसाद 'मुनव्वर' के कुटुम्ब की ग्रोर ध्यान ग्राकर्षित होता है। उनके पिता प० द्वारिकाप्रसाद 'उफक' बहुत उच्चकोटि के कवि थे ग्रौर उफक के भाइयो मे मु० रामसहाय 'तमन्ना' ग्रौर मु० माता प्रसाद 'नैसा' भी ग्रच्छा कहने वाले थे। मुनव्वर स्वय उच्च कोटि के कवियो मे है। बच्चो की कविता कहने मे उर्दू मे मौलाना मुहम्मद 'इसमायली' सर्वप्रसिद्ध हैं। उनका देहान्त सन १६१७ मे हुग्रा ग्रौर उन्होने गदर के थोडे ही वर्षों बाद कविता ग्रारम्भ कर दी थी। ये ५० वर्ष से ग्रधिक कविता करते रहे। उनकी कविता" गाय, कछुग्रा ग्रौर खरगोश, ग्ररहर की दाल, बरसात इत्यादि बच्चो मे ग्रब भी बडे चाव से पढी जाती है।

नीचे हम इस शताब्दी के प्रसिद्ध कवियो के नाम देते है, जिनका वर्णन ऊपर नही किया गया, परन्तु जो उल्लेखनीय है। इनमे सर्वप्रथम 'जिगर' मुरादाबादी है, जिनको वर्तमान काल मे गजल का सर्वोच्च कवि मानते रहे है।[1] ग्रौर इन्ही से मिलता-जुलता दर्जा प्रो० रघुपति सहाय 'फिराक' गोरखपुरी का है। ग्राकाशवाणी मे भी कुछ ग्रच्छे-ग्रच्छे कवि हैं, जिनमे रविश 'सिद्दीकी', सागर 'निजामी' ग्रौर 'सलाम' मछलीशहरी बहुत माने जाते है। इनमे से रविश के यहा गहराई ग्रधिक है, सागर के यहा राष्ट्रीयता ग्रौर रवानी ग्रौर सलाम मछलीशहरी के यहा रगीनी ग्रौर चुल-बुलापन। 'दाग' के शागिर्दों मे बहुत से कवि प्रसिद्ध हुए। स्वय इकबाल ने भी उनसे कुछ सलाह ली। जोश मलसियानी का जिक्र ऊपर ग्रा ही चुका है। इनके ग्रतिरिक्त नवाब साइल दाग के शागिर्द भी थे ग्रौर दामाद भी। दूसरे मौलाना 'बेकुल' है जिन्होंने सौ वर्ष के करीब ग्रायु पाई। तीसरे ग्रागा शायर, जिनके जीवन मे भी मस्ती थी ग्रौर कविता मे भी। चौथे मौलाना 'सीमाब', जिनके शागिर्दों मे सागर भी है। पाचवे मेहर ग्वालियरी, जिनके सुपुत्र ग्रनवर साहब ग्रब कैम्प कालेज मे उर्दू के प्रोफेसर है। 'नूह' नारवी ग्रब बहुत वृद्ध है, परन्तु शब्दो के उलट-फेर मे सबसे ग्रधिक प्रसिद्ध हुए है। बाग़ 'संभली' मुख़म्मस ग्रच्छा कहते थे। नसीम भरतपुरी राजस्थान मे दाग के सर्वप्रसिद्ध शागिर्द थे। ग्रब दाग के जीवित शागिर्दों मे पजाब मे जोश मलसियानी, दिल्ली मे प० त्रिभुवननाथ जार ग्रौर उत्तर प्रदेश मे नूह नारवी के नाम विशेषकर ग्राते है। उर्दू के गद्य ग्रौर पद्य-लेखकों मे हाली का नाम तो ऊपर ग्रा ही चुका है, उनके शागिर्दों मे सर्व-प्रसिद्ध पं० बृजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' हुए, जो 'ग्रालमे कैफी' कहलाये। इनका देहान्त ६० साल की ग्रायु मे गाजियाबाद में हुग्रा। 'मशूरात' ग्रौर 'कैफिया' इनकी ग्रमर कृतियां है। गुलजार 'देहलवी', जो जार साहिब के सुपुत्र है, इन्ही के शागिर्द थे।

उर्दू के पत्रकारो मे वर्तमान समय मे महाशय कृष्ण, रनबीर, सरदार दीवानसिह मफतून, हयात उल्ला ग्रन्सारी ग्रौर मौलाना ग्रब्दुल बाकी प्रसिद्ध है। डा० सईद बरेलवी, जफरुल मुल्क, लाला देशबन्धु गुप्ता इत्यादि का

---

१. इनका ग्रभी हाल ही में देहान्त हो गया है।

तो देहान्त हो ही चुका है। पं० दयानारायण निगम को भी हम से बिछुड़े बहुत वर्ष हो चुके हैं। उनका पत्र 'जमाना' भी खत्म हो चुका। हां, अभी नियाज़ फतेहपुरी अपना चिराग जलाये बैठे हैं और इनका रिसाला 'निगार' अब भी साहित्य में सनद माना जाता है। वर्तमान कवियों में मौलाना अनवर 'साबरी' बहुत पसन्द किये जाते हैं।

वर्तमान शताब्दी मे उर्दू की सेवा करने वाली तीन संस्थाए विशेष उल्लेखनीय हैं: अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू, जामिया मिलिया इस्लामिया और उस्मानिया यूनीवर्सिटी, हैदराबाद। इनमे से अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू के प्रधान डा० सर तेजबहादुर सप्रू थे, मन्त्री मौलाना अब्दुल हक और उपमंत्री पं० बृजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' थे। सर सप्रू और 'आलमे कैफी' का तो देहान्त हो चुका है और मौलाना अब्दुल हक पाकिस्तान चले गए हैं। अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू ने महात्मा गांधी के हिन्दुस्तानी भाषा के आन्दोलन का विरोध किया था। देश के विभाजन के बाद अब अंजुमन का रूप बदला है, नही तो मौलाना अब्दुल हक ने तो इसमें बहुत-कुछ साम्प्रदायिकता को दाखिल कर दिया था। उस्मानिया यूनीवर्सिटी या जामिया उस्मानिया ने उर्दू पर बहुत पैसा खर्च किया और उर्दू में बहुत अनुवाद और मौलिक ग्रंथ निकाले परन्तु इनकी भाषा बहुत ही कठिन है। हां, जामिया मिलिया इस्लामिया ने सदैव अपना रूप राष्ट्रीय रखा और उसने उर्दू की ठोस सेवा की। यह संस्था गांधीजी के आदर्शों पर चलती रही और इसने हिन्दी और उर्दू दोनों को हिन्दुस्तानी का ही रूप माना। आज भी यह ऐसा ही कर रही है और डा० आबिद हुसैन और प्रोफेसर मुजीब ने उर्दू के बहुत ग्रंथ लिखे। प्रकाशन तो, सब उच्च कोटि के उर्दू-लेखको की किसी न किसी कृति का जामिया मिलिया से हुआ है।

कश्मीरी साहित्य के गत साठ वर्ष

श्री शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम'

परिचय :

कश्मीरी साहित्य के इतिहास मे बीसवी शती के गत साठ वर्ष अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योकि इस अवधि में कश्मीरी साहित्य उन सब तत्त्वो और गुणो से समृद्ध होने लगा जो किसी साहित्य को सर्वांग-सम्पन्न बनाने के लिए अनिवार्य होते हैं तथा जिनसे वह साहित्य विश्व के समुन्नत साहित्य के समकक्ष स्थान पाता है और जिनके कारण साहित्य संस्कृति का पूरक व पोषक अग बन जाता है।

जिन विशेष कारणों से वर्तमान शताब्दी के साठ वर्षों का कश्मीरी साहित्य महत्त्वपूर्ण बना है, उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है ·

१. इस अवधि मे कश्मीरी साहित्य की सुप्राप्य व दुष्प्राप्य पुरातन सामग्री को प्रकाश मे लाया गया। यह सामग्री कुछ पाडुलिपियो के रूप मे सुरक्षित थी और कुछ श्रुति-परम्परा से सकलित की गई। इस दिशा मे अनेक प्राच्य विद्याविशारदो ने कश्मीरी विद्वानों के सहयोग से सराहनीय काम किया।

२. इस अवधि के आरम्भिक काल मे कश्मीरी भाषा के व्याकरण और शब्दकोश का सकलन-सपादन किया गया, जिससे इस भाषा के विकास-क्रम को वैज्ञानिक भूमिका सुलभ हो गई।

३. कश्मीरी साहित्य, जो भारत की अन्य अनेक भाषाओ के अतीत की तरह पद्यबद्ध ही था, इसी युग में गद्य की संपत्ति से समृद्ध होने लगा। इस षष्टि के आरम्भ मे कश्मीरी लोकसाहित्य को सकलित-सपादित करके लिपि-बद्ध किया। इसमे लोकगीत, लोक-कथाएं व लोकोक्तिया शामिल थी। कुछ धार्मिक ग्रन्थो का कश्मीरी मे रूपातर किया गया और इधर बीस-बाईस वर्षों से आधुनिक गद्य साहित्य का विधिवत सृजन होने लगा है। इसमे कथा-कहानी, उपन्यास, नाटक, बाल-साहित्य, निबन्ध व समीक्षात्मक रचनाए सम्मिलित है।

४. साठ वर्षों की इसी अवधि में भारत के राजनीतिक वातावरण मे एक हलचल पैदा हुई। स्वाधीनता-सग्राम सवेग चला, सफल हुआ और फलत. स्वतन्त्र भारत आर्थिक व सामाजिक पुनर्निर्माण के काम मे जुट गया। इस देश का एक अभिन्न अग होने के कारण कश्मीर का वायुमडल इस परिवर्तन से अछूता न रह सका। कश्मीर मे भी सदियों की सामतशाही के विरुद्ध आन्दोलन चला, फलीभूत हुआ और लोकराज्य के रूप मे परिणत हुआ। नवचेतना के इस युग का आह्वान करने मे जिस तरह अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्य ने योगदान किया, कश्मीरी साहित्य भी अपनी सीमा के अतर्गत उसमे पीछे न रहा।

५. इसी युग मे कश्मीरी भाषा को भारत और कश्मीर के नये सविधानो द्वारा राजकीय मान्यता मिली और आंशिक रूप मे इसको राज्याश्रय का आश्वासन भी मिला। इतिहास मे पहली बार कश्मीरी भाषा और साहित्य ने देश के भाषा-साहित्य-परिवार मे बराबरी का दर्जा और अधिकार प्राप्त किया।

इन कारणों से स्पष्ट हो जाता है कि २०वी शती के गत साठ वर्ष कश्मीरी साहित्य के इतिहास मे क्यो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

उपरोक्त बातो का विस्तृत ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने से पहले यह ग्रावश्यक है कि कश्मीरी भाषा व साहित्य के पूर्व इतिहास का दिग्दर्शन कराया जाय ताकि इसकी पृष्ठ-भूमि तथा विकास-क्रम को समझने में ग्रासानी हो।

पूर्वपीठिका कश्मीरी भाषा कश्मीर के २५ लाख से ग्रधिक लोगों की मातृ-भाषा है ग्रौर इससे ग्रधिक लोग इस भाषा को समझते हैं। इसके उद्गम के विषय मे विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इसे हिन्दू-ग्रार्यजातीय भाषाग्रों मे सस्कृत-सभवा मानते है। कुछ विद्वान इसको दरद भाषा-समूह की शाखा मानते हैं ग्रौर इधर कुछ समय से कई विद्वान कश्मीरी को इब्रानी[1] से निकली हुई एक शाखा कहने लगे है। इन मान्यताग्रो मे विवाद की बडी गुजायश है, जो इस लेख का विषय नहीं। इतना तो निर्विवाद है कि कश्मीरी भाषा की स्वतन्त्र सत्ता सदियों से चली ग्रा रही है। कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रथ 'राजतरगिणी' मे इसका उल्लेख जन-भाषा के रूप मे ग्राया है। यह इतिहास १२वी शती में कल्हण पडित ने लिखा है। इससे पूर्व के कश्मीरी विद्वानों के सस्कृत-ग्रन्थों मे यत्र-तत्र कश्मीरी शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो इस भाषा के ग्रस्तित्व को सिद्ध करता है।

परन्तु इस भाषा की कोई साहित्यिक कृति हमे १३वी शती से पहले की नही मिल सकी है। यों तो पाश्चात्य विद्वान सर ग्रियर्सन के मतानुसार कश्मीरी साहित्य का ग्रारम्भ १४वी शती मे लल्लेश्वरी के वाक्यों से होता है, किन्तु इधर कई विद्वान १३वीं सदी की रचना 'महानय प्रकाश' से कश्मीर का ग्रादि मानने लगे है। इसके लेखक काश्मीर शैव सिद्धान्त के विद्वान शतिकठ राजाक है। 'महानय प्रकाश' शैव सिद्धान्तो का प्रतिपादक ग्रन्थ है, जिसकी भाषा भारत की तत्सामयिक सभी प्राकृतो से भिन्न है। ध्यान से देखा जाय तो कश्मीरी के पूर्वरूप का इसमे कही-कही स्पष्ट ग्राभास मिलता है। इससे यह मत निराधार नही कहा जा सकता कि कश्मीरी का ग्रादि रूप 'महानय प्रकाश' का ग्रपभ्रश है।

१३वी शती कश्मीर के इतिहास का एक सक्रान्तिकाल था। इस युग मे काश्मीर के हिन्दू शासकों का दौर ग्रन्तिम घडिया गिन रहा था, मुसलमान सुलतानो के पैर जम रहे थे। ऐसे सधि-युग में प्रशस्तिया कहने वाले राज्याश्रित कवियो को सुख-सम्मान कहा से मिलता। ऐसी स्थिति मे सस्कृत का दबाव ढीला पडा होगा, इसलिए इस काल मे सस्कृत की किसी उत्कृष्ट साहित्य-रचना का उल्लेख नही मिलता। हा, सस्कृत की, विशेषकर शैव मत की रचनाग्रों का प्रभाव ग्रवश्य था। तभी तो उसके बाद की 'ललवाणी' पर सस्कृत छाई हुई है।

परन्तु प्रश्न है कि वह कौनसी भाषा थी, जिसके माध्यम को उस समय के मुस्लिम दरवेशो ग्रौर प्रचारको ने ग्रपनाया? सस्कृत से वे परिचित न थे। फारसी ग्रौर ग्ररबी का कश्मीरी जनसमाज को ज्ञान न था, तो यह ग्रनुमान करना ग्रयुक्त नहीं कि कश्मीरी भाषा बोली व लिखी जानेवाली उन्नत भाषा रही होगी। तभी हमे इसके लगभग १०० साल बाद १४वी शती मे लल्लेश्वरी के वाख (वाक्य) उस दशा मे मिलते है, जिन्हे कई साहित्यिकों ने कश्मीरी काव्य का ग्रादि-रूप न मानकर किसी परिमार्जित-विकसित साहित्य का ग्रग मान लिया है। लगता है कि इस ग्रवधि का ग्रधिकाश साहित्य काल के कराल गाल मे समा चुका है। यह भी हो सकता है कि सस्कृत के बाद जब फारसी ने राजभाषा का ग्रासन ग्रहण किया तो कश्मीरी भाषा को उसी प्रकार राज्याश्रय से वचित रखा गया होगा, जिस प्रकार पहले सस्कृत-रचनाग्रों के मुकाबले मे इसे उभरने नही दिया गया। ग्रन्यथा कोई कारण नही दीखता कि सस्कृत की ढील पर 'महानय प्रकाश' के रूप में भी एक ग्रवशेष मिल जाय ग्रौर फारसी के राज्याश्रित होने से पूर्व लल्लेश्वरी के वाक्य भी उसी भाषा के उत्कृष्ट साहित्यिक रूप की निशानी बनी रहे, जो उस समय जनभाषा थी। इस कल्पना के पीछे, कि कश्मीरी का साहित्य था किन्तु नष्ट किया गया, यह ऐतिहासिक प्रमाण है कि १५वी शती मे सुलतान जैन-उल्-ग्राब्दीन के, जिन्हे लोग श्रद्धा से बडशाह (बडा बादशाह) कहते है, शासनकाल मे जहा सस्कृत ग्रौर फारसी की मूल रचनाग्रो व ग्रनुवादो का जोर रहा, वहा जैन-चरित (जीवनी) ग्रौर जैन-विलास (नाटक) की दो कश्मीरी साहित्यिक रचनाग्रो का

---

१. यहूदियों की भाषा

उल्लेख भी मिलता है।[1] 'बाणासुर वध' (काव्य) की कश्मीरी रचना भी इसी युग की कृति बतलाई जाती है। किन्तु विधि की विडम्बना कहिए या जानी-बूझी कोशिश कि कोई भी कश्मीरी कृति आज प्राप्य नही। कहा जाता है कि स्वयं बड़शाह और उनके वशज सुलतान हसनशाह आदि कश्मीरी में कविता कहते थे। मगर ये सब इतिहास के पन्नो की सूचनाए भर रह गई हैं। ऐसी दशा मे हमे लल्लेश्वरी के वाख (वाक्य) और शेख नूरुद्दीन वली (नुद ऋषि) के श्रूख (श्लोक) भी न मिलते, यदि वे श्रद्धावान जनता ने श्रुति-परम्परा से अक्षुण्ण रूप मे सुरक्षित न रखे होते। फिर यह भी तो नही कहा जा सकता कि इनमे से कितना भाग लुप्त हो गया और कालपरिवर्तन से कितना अश प्रभावित हुआ।

परन्तु इससे लल्लेश्वरी के 'वाक्यो' और नुद ऋषि के श्रूखो (श्लोकों) की न तो ऐतिहासिकता कम होती है और ना ही कश्मीरी काव्य-साहित्य मे इनका स्थान गौण हो जाता है।

कश्मीरी साहित्य के इतिहास का यह आदि-युग था। इस पर सूफीवाद और धर्मप्रधान दार्शनिकता की प्रबल छाप है। सतोष और गर्व की बात है कि इस साहित्य की आधारशिला धार्मिक मानवतावाद पर खडी की गई है, जिसका मूलमत्र लल्लेश्वरी का यह वाक्य है—

'शिव छुय थलि थलि रोज़ान, मव ज़ान ह्योंद न मुसलमान।'

अर्थात्, 'शिव थल-थल मे व्यापक है, हिन्दू और मुसलमान मे भेद न मानना।' काश्मीर के सास्कृतिक विकास में इससे स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात हुआ, अन्यथा धर्माधता के जमने की आशका थी। यह भी कश्मीरी साहित्य के लिए गौरव की बात है कि इसके आदि काव्य का सृजन उपेक्षिता नारी द्वारा हुआ। इसका प्रभाव इतना गहरा पडा कि लल्लेश्वरी की वाणी कश्मीरी भाषा की सूक्तिया और मुहावरे बन गई। इस अमर काव्य ने मुसलमानो और हिन्दुओं को एक सूत्र मे पिरोकर रखने का काम किया। इसी प्रकार का जादुई प्रभाव नुद ऋषि के श्रूखो का पडा। हर्ष और गौरव की बात है कि कश्मीरी साहित्य की आदि विभूतियां बिना धार्मिक भेद-भाव के सभी कश्मीरियों की आराध्य है।

इसके बाद लगभग एक शताब्दी तक की कोई कश्मीरी रचना नही मिलती।

१६वी शती के उत्तरार्द्ध मे एक बार फिर कश्मीर के इतिहास ने पलटा खाया। १५८६ ई० मे कश्मीर मुगल शासन के अधिकार मे आ गया। इस काल मे कश्मीरी साहित्य-गगन पर जूनी[2] (चाद) का उदय हुआ था। वह एक कृषक बाला थी, जिसका यौवन, लल्लेश्वरी के आरम्भिक जीवन की तरह, ससुराल के उलाहनो और कोसनो से बीधा जाता रहा। किन्तु वह प्रत्युपन्नमति ललना थी। उसके भीतर का कवि सौन्दर्य-वर्णन करने मे रम गया। सहज गति से जो गीत उसके मुख से निकले, वे सीमाबद्ध न हो सके। यहा तक कि राजदरबार मे भी उसके गुण-सौन्दर्य की चर्चा पहुची। यूसुफशाह चक ने, जो उस समय के तरुण शासक थे, तत्काल जूनी को अपनी मलिका बनाया। अब वह हब्बा खातून बन गई।

राजदरबार के वैभव की लोरिया भी हब्बा खातून मे जाग्रत कवित्व को न सुला सकी। बल्कि कहना यह चाहिए कि इस अवसर मे उसने कश्मीरी काव्य को ऊचे स्तर पर ले जाने का यत्न किया। सगीत विद्या की जानकार होने से मलिका ने कश्मीरी गीतो को रागबद्ध किया, जिसके कारण उसकी कई रचनाए विधि के निर्दय हाथो से बच-बचाकर हम तक पहुच सकी। कश्मीरी सगीत मे 'रास्त राग' हब्बा खातून की ही देन है।

हब्बा खातून का राज्य-सुख कदाचित विधाता को स्वीकार नही था। थोडे ही समय बाद यूसुफशाह चक अकबर द्वारा बदी बनाकर बिहार भेज दिये गये। उनका बेटा याकूब भी उन्ही के साथ नजरबद किया गया। राजनीति के इन दाव-पेचो से अपरिचित विरहिणी हब्बा वन-पर्वतों, गिरि-गह्वरो और सर-सरिताओ से अपने प्रीतम का पता

---

१. इनके लेखक सोमभट्ट और योधभट्ट बडशाह के दरबारी रत्न थे

२. हब्बा खातून का बचपन का नाम

पूछने लगी। उसे लगा कि प्रणयी को कोई सौकन (सौत) भरमा कर ले गई। उसकी भावना ने गीत का रूप धारण किया—

च कम्यू सोनि म्यानि भ्रम दिथ न्यूनस्को,
क्य क्यहो जि गइयो म्यान्य् वुइ ?

'—मेरे मीत ! किस मेरी सौत ने तुम्हे भरमाकर मुझसे छीन लिया। मुझसे रूठ क्यों गए ?'

विरहिणी नारी की अन्तर्वेदना की कितनी सहज और मार्मिक अभिव्यंजना है ! इसमें नारी की उस दर्द-भरी कहानी का सारा तत्र निहित है, जो तत्कालीन समाज की ललना के भाग्य मे बदा था। सामाजिकता की इस सूचना के अलावा इसमे भाव-प्रवणता के साथ प्राजल भाषा का विन्यास भी प्रवाहमय और स्वाभाविक बन पड़ा है।

आश्चर्य की बात है कि फारसी और सस्कृत की प्रगल्भता के होते हुए भी हब्बा खातून और उसके बाद अरणीमाल की काव्य-रचना ठेठ रसीली कश्मीरी भाषा मे है। इससे विदित होता है कि कश्मीरी भाषा यद्यपि अकिंचन जनता के अक की अकिंचन पुत्री ही रही, फिर भी न उसे तो प्राकृतिक सुषमा से विहीन होने दिया गया और नाही इतना दीन, कि झोली फैलाने को बाधित हो।

लोल[1] के गीतों की दूसरी गायिका अरणीमाल हुई है। इसका उदय और अस्त १८वी शती का पूर्वार्द्ध है। मध्यवर्गीय कश्मीरी पडित घराने की इस ललना का विवाह अपने समय के प्रसिद्ध फारसी कवि मुशी भवानीदास काचरू 'निक्कू' के साथ हुआ था। किन्ही कारणो से अरणीपाल अपने पति की कृपा से वचित हुई। इसके लिए उसे विरही जीवन बिताना पड़ा। इससे अरणी के संवेदनशील हृदय को ठेस लगी। वह पतिव्रता नारी थी, विद्रोह तो न कर सकी, किन्तु अतर्वेदना को कविता की धारा मे इतने वेग मे प्रवाहित किया कि वह हर एक के हृदय को झनझना कर अपने साथ बहा ले गई। अरणी का क्रन्दन, विरह-वर्णन समस्त नारी जाति का क्रन्दन बन गया। इतना सशक्त, सरल प्रणय व विरह-वर्णन कश्मीरी साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ है। अरणी की कविता मे जो भाषा-सौष्ठव और सहज भाव-प्रवणता समाई है, उसने कश्मीरी गीतो मे अपूर्व माधुर्य और रस-सृष्टि की है। अरणीमाल का यह गीत कश्मीर के जन-जन का गीत है—

अरिणि रंग गोप श्रावंणि ह्यिे, कर इये दर्शुन दिये !

—श्रावण की मुग्ध 'ही' (चम्पाकली) को अरिणि (पीला) रग हो गया। जाने कब वे आएंगे, दर्शन देंगे ! !

हब्बाखातून और अरणिमाल के गीत कश्मीरी साहित्य के इतिहास मे दूसरे दौर की पूजी हैं। संख्या की दृष्टि से इनका उपलब्ध भाग कम हो सकता है; किन्तु काव्य का विषय और वैविध्य एवं उसका गुण-गौरव ध्यान मे रखकर इसकी महत्ता इतनी है कि इस दौर का साहित्य क्लासिकी साहित्य की गणना मे आ जाता है।

कश्मीरी साहित्य के इतिहास का तीसरा युग १८वी शती के उत्तरार्द्ध से १९वीं शती के सात दशको तक फैला हुआ है। इस युग में कश्मीरी काव्य कई प्रमुख धाराओ मे प्रवहमान रहा। इनमे से मुख्य दो धाराए ये है :

१. भक्ति या उपदेशात्मक काव्यधारा,
२. प्रणय व आख्यान काव्यधारा।

भक्ति काव्यधारा को भी दो उपधाराओं मे बाटा जा सकता है : १. शिवकृष्ण राम भक्ति काव्यधारा, २. तसव्वुफ व विशुद्ध इस्लामी नातिप कलाम की धारा।

इस काल की रचनाओ मे पहली बार कश्मीरी भाषा दो विभिन्न स्रोतों से शब्द व भाव ग्रहण करने लगी, जिससे कही तो यह संस्कृतनिष्ठ बनी और कहीं अरबी-फारसी-प्रधान भाषा। कुछ तो विषय ही ऐसे थे, जिनके लिए इस या उस शब्द-भण्डार का आश्रय अनिवार्य था; किन्तु इस काल की सभी रचनाओं के लिए यह बात युक्तिसंगत नही

---

१. 'लोल' कश्मीरी में प्रेम, भक्ति, वात्सल्य, उत्सुकता और चाहत का पर्याय है। अनुवाद में कोई भी पर्याय पूरी तरह इसका अर्थ वहन नहीं करता।

मानी जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के कवियो से दरबार की फारसी का अनुकरण करने का लोभ सवरण नहीं हो सका। शायद इससे वे अपनी काव्य-रचना का महत्त्व भी बढाना चाहते होगे। इतना तो ऐतिहासिक सत्य है कि इस युग में कश्मीर का राजनीतिक सपर्क ईरान और काबुल के साथ बढ गया था। इससे भी फारसी का अधिक प्रचलन रहा। इसलिए इस काल के काव्य का अधिकांश फारसी शब्दो, मुहावरो और उपमाओं से लदाफदा मिलता है। इतना ही नहीं, कथानक और विषयवस्तु भी ईरान की प्रणय-कथाओ पर आधारित है। कह नही सकते कि इसकी प्रतिक्रिया थी या सहज प्रवृत्ति, कि इस युग के हिन्दू कवियों ने भारतीय कथानकों से विषय चुनकर रामचरित, कृष्णलीला आदि काव्यों में सस्कृतगर्भित कश्मीरी का प्रयोग किया। इससे बाहर के विद्वानों को हिन्दू कश्मीरी व मुस्लिम कश्मीरी का भ्रम हुआ, जो वस्तुस्थिति नही है।

इसमे सदेह नही कि कश्मीरी भाषा की प्रकृति को यह ऊपरी भार सह्य नही हुआ और इससे कश्मीरी भाषा के स्वस्थ विकास मे एक धचका-सा लगा, किन्तु इससे यह लाभ भी हुआ कि कश्मीरी काव्य का विषय-क्षेत्र व्यापक और विविधतापूर्ण हो गया।

सौभाग्य से ऐसे कवियो की रचनाए भी इस युग की देन है जिन्होने सस्कृत अथवा फारसी शब्दों व मुहावरों को अत्यन्त निपुणता व कुशलता से कश्मीरी रूप मे ढाल लिया और उन्हे कश्मीरी भाषा व भाव की प्रकृति के अनुकूल बनाया।

चूकि इस युग की विभिन्न धाराओ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है इसलिए उसी क्रम से काव्य-रचना का परिचय देना उचित है।

भक्ति काव्य-धारा के प्रणेताओ मे स्वामी परमानन्द, गगाप्रसाद, दिवाकर प्रकाश भट्ट, साहिबकौल, वासुदेव, लक्ष्मण जी नागाम, प्रकाशराम कुरीगाम और कृष्णदास उल्लेखनीय है। इनमे से स्वामी परमानन्द (१७६१-१८७१ ई०) ने अपने काव्य मे शिव-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का प्रतिपादन किया। स्वामी परमानन्द, जिनका असली नाम नन्दराम था, महन (मार्तण्ड) के रहने वाले थे। सस्कृत-फारसी के पडित थे, कश्मीरी शैव मत के विद्वान थे। इनकी चार रचनाएं 'राधा-स्वयंवर', 'स्वधाम चर्यथ', 'दीनक्रन्दन' तथा 'शिवलग्न' अब एक ही सग्रह रूप मे 'विज्ञानप्रकाश' के शीर्षक से मिलती है।

कश्मीरी भाषा के सत-काव्य मे लल्लेश्वरी की रहस्यवादी कविता के बाद परमानन्द का स्थान सर्वोच्च है। विद्वत्ता के साथ-साथ कश्मीरी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था, इससे इन्होने जो काव्य-रचना की उसमे दार्शनिकता की गहराई और लाक्षणिकता का कलामय प्रयोग तो है किन्तु भाषा का सौष्ठव भी बहुत ही निखरा हुआ है। एक पद्य देखिए :

गोकुल हृदय म्योन तति चोन गूर्यवान,
च्यत व्यमर्श दीप्तिमान भगवानो।

अर्थात, 'मेरे हृदय रूपी गोकुल मे तुम्हारी गोचर भूमि है, चित-विमर्श (से) दीप्तिमान हे भगवान, वृत्तिया मेरी गोपिकाए तेरे ही पीछे दौडे बासुरी-वादन की पुकार से बौराती हुई, भूलकर चेतना खोकर अपना-परायापन।'

परमानन्द कश्मीरी शैव दर्शन के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार हुए है। उनकी कविता मे वेदातियो का पलायनवाद नही। वे कहते हैं ससार की सत्ता है, यह यथार्थ है, शुभ है और यह लीला है शिव का नृत्य-मात्र, किन्तु इस कर्म-भूमि में धर्म का बल चाहिए। तभी सतोष के बीजो से आनन्द-फल मिलेगा।

परमानन्द की सगीत और नृत्य मे रुचि थी। कभी-कभी कीर्तन मे आत्म-विभोर हो स्वय ही नाचने लगते थे।

परमानन्द के शिष्यों में वासुदेव, लक्ष्मण जू नागाम और कृष्ण राज़दान ने काव्य-साधना जारी रखी। इनमे से वासुदेव की रचनाए स्वामी परमानन्द की ही रचनाओं का अग बन चुकी है। अन्य दो कवियों की चर्चा आधुनिक युग के आरम्भिक कवियों मे की जायेगी।

राम व कृष्ण-चरित पर आधारित काव्य लिखने वालों में दिवाकर प्रकाश भट्ट, साहिबकौल और प्रकाश राम कुरीगाम के नाम उल्लेख्य है। दिवाकर प्रकाश भट्ट ने 'रामावतार चरित' और 'लवकुश चरित' लिखा है और साहिबकौल की रचनाए हैं 'कृष्णावतारचरित' व 'जनम-चरित'। इनमें से तीसरे कवि प्रकाशराम कुरीगाम के 'रामायण' का महत्त्व भाव एव भाषा की दृष्टि से बहुत बड़ा है। कविवर 'आजाद' ने कहा है कि जो सहज प्रवाह, अर्थ-गभीरता और भाषा-सौष्ठव प्रकाशराय की कविताओ में है, वह अगर किसी यूरोपीय कवि की रचना में होता तो ससार में नाम पाता, किन्तु पराधीन कश्मीर के इस अनमोल हीरे का नाम कौन ले! निश्चय ही मध्ययुग के कश्मीरी कवियों में से प्रकाशराय के गीतों में सरलता, मिठास और रस-निष्पत्ति अतुलनीय बन पडी है। वात्सल्य देखना हो तो—

कोसल्यायि हंदि गोबरो, करयो गूरह गूरं।

की लोरी पठनीय है। करुण रस यत्र-तत्र भरा पडा है। किन्तु उल्लास-चित्रण में भी प्रकाशराय की कल्पना वसतागमन पर है। वे लिखते हैं—

आई बहार—बुलबुल बोलो रे
हमारे हां आओ, उत्सव मनाऊंगी
कठकशू (कक्कड़ जा भागा; गरजो भी नन्हीं धारा
उर की व्यथा कुछ हल्की हो जायगी
नींद से जाग उठो—अभी तो सबेरा है।—
चमेली से तन को नहलाकर 'संबुल' आ निकलो
धरती के लिए आज़ादी की पाती लेकर—
प्याल लिये नर्गिस तेरी (स्वागत-सत्कार को) अधीर है।

गगाप्रसाद ने 'संसारमाया मोहजाल दुख सुख चरित' में यथानाम संसार की असारता का वर्णन किया है।

नातिया कलाम व विशुद्ध तसव्वुफ की काव्य-रचनाओं में मुल्ला फकीर व मीर अब्दुल्ला बैहकी के नाम उल्लेखनीय हैं। फारसी तसव्वुफ से प्रभावित होकर इन्होंने तरीकत, मारिफ़त और सलूक आदि के रहस्योद्गार प्रकट किए। इनकी परम्परा को शम्स फकीर ने आगे चलाये रखा। किन्तु शम्स फकीर ने इसमें प्रणय की हाला इस कलात्मकता से मिला दी कि सूफी कविता, जो विशुद्ध दार्शनिकता से शुष्क-सी प्रतीत होती थी, सर्वप्रिया बन गई।

कश्मीरी काव्य के तीसरे चरण में प्रेमाख्यानों पर आधारित काव्यों का जोर रहा। यद्यपि इस धारा का मूलाधार भी सूफी पद्धति का वह समन्वय है, जो मजाजी व हकीकी इश्क (प्रेम) की विशेषता रहा है, किन्तु दार्शनिक सूफीधारा से इसका अन्तर इतना स्पष्ट है कि इस शाखा को भिन्न वर्ग मे ही रखा जाना उचित है। खासकर इसलिए भी, क्योंकि इसका विकास-क्रम और प्रभाव-क्षेत्र तसव्वुफ की सीमा में आबद्ध नही हो पाया। इस धारा का सूत्रपात करने वालों में महमूद गामी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

आज से कोई सौ बरस पहले महमूद गामी का जन्म अनन्तनाग जिले के शाहाबाद इलाके में हुआ। इन्होंने फारसी मसनवियों (प्रेमाख्यानों) का कश्मीरी में काव्य-रूप प्रस्तुत किया। इनकी एक रचना 'यूसुफ जुलेखा' का जर्मन-अनुवाद कार्ल फ्रीड्रिक बर्कहार्ड (Karl frieodrich Burkhard) ने किया है। इसके अतिरिक्त 'लैला मजनूं' 'शीरी खुसरो', 'हारून-अल-रशीद' व 'शेख सन्ना' इनके प्रसिद्ध काव्य हैं। इनके प्रशसक इन्हे 'कश्मीर का निज़ामी' कहते हैं।

मसनवियो में वल्ली उल्लाह मत्तू की 'हीमाल' भी बहुत ही लोकप्रिय काव्य है। १९वीं शती के आरम्भ की यह काव्य-रचना एक कश्मीरी लोककथा 'हीमाल नागराय' के प्रेमाख्यान पर आधारित है। यद्यपि इस पर भी फारसी की प्रगल्भता है किन्तु इसकी कथावस्तु का विषय कश्मीरी होने से यह अधिक लोकप्रियता पा सका है। इसी काल मे अब्दुल अहद नाजिम ने 'ज़न-उल-अरब' लिखा है, जिसमें उनके प्रणय-गीतों की छवि देखने को मिलती है।

इस युग के दूसरे प्रसिद्ध कवि क्रालवारी के मकबूलशाह हुए हैं। व्यंग-काव्य के प्रणेता के रूप में इनका

कश्मीरी साहित्य में विशेष स्थान है। इस पद्धति की इनकी रचनाओं मे ग्रीस्त्य नाम किसान-गाथा, मुल्लानामा, पीर-नामा, बहारनामा, ग्रयूबनामा प्रसिद्ध हैं। ये उनके चुटीले व्यगों के शाहकार है। यद्यपि इनमे वे कही-कही शिष्टता की सीमा लांघ गए है, तथापि इनमे ग्रनजाने मे ही ग्रपने समय के सामाजिक वास्तव की कई झलकिया भी दे गए है। किसानों की दुर्दशा, भ्रातियों की वबा, ग्रशिक्षा के दुष्परिणाम इन सब तत्सामयिक सामाजिक परिस्थियो पर मकबूल की काव्य-रचना से प्रकाश पडता है।

परन्तु मकबूल के ग्रौर भी कई रग है। 'गुलरेज' का प्रेमकाव्य लिखकर मकबूल ने ग्रपनी भाव-प्रवणता का रूप उजागर किया है। 'गुलरेज' का प्रेमाख्यान इसी नाम के १४वी शती के मध्य लिखी मुजद्दद जियाउद्दीन ब्रख्शब की फारसी कृति से लिया गया है; किन्तु मकबूल ने इसके कश्मीरी रूपातर मे जिस ग्रनूठी शैली को ग्रहण किया, वह वारिस शाह की 'हीर' ग्रौर 'ग्राल्हा ऊदल' की तरह कश्मीरी काव्य की एक ग्रमर शैली ही बनकर रह गई। प्रकृति-चित्रण, भाव-गुफन ग्रौर वेदना-वर्णन मे मकबूल ने बडे-बडे गुणवन्तो से टक्कर ली है। कविवर ग्राज़ाद ने लिखा है—

"मकबूल साहब ने शायरी की जिस सिन्फ (पद्धति) पर कलम उठाया है, उसका हक पूरा-पूरा ग्रदा कर चुके है। 'गुलरेज' लिखी तो कश्मीर की मसनवियो पर छा गए। तसव्वुफ लिखते है तो ऊचे पाये के सूफी मालूम होते हैं। गजल में दिल की जवानी, मुहब्बत की गर्मी, नाकामी के जज्बात (भावो) को मुनासिब ग्रल्फाज (शब्दो) का जामा पहनाते है। दुनिया की बेसबाती (ग्रसारता) पर नाउम्मीदी (निराशा के) मुजस्समा (प्रतीक) बन जाते है ग्रौर किसी की हजू (व्यंग) लिखे तो मुंह से ग्रंगारे बरसाते है।"

१८४५ ई० मे युग के एक ग्रौर महाकवि ग्रब्दुल वहाब पेर का जन्म हुग्रा। वह कमराज इलाके मे हाजिन के रहने वाले थे। इन्होने फिरदौसी के 'शाहनामा' का कश्मीरी रूपांतर करके प्रशसकों से 'कश्मीर के फिरदौसी' का नाम पाया। इसके ग्रतिरिक्त इनकी ग्रौर भी रचनाए मिलती है, जिनमे 'हफ्त किस्साये मक्रेजन' 'किस्साय चहार-दरवेश', 'किस्साये बहराम गूर', 'सैलाबनामा', 'कारे-पटवार' ग्रौर 'ग्रकबरनामा' उल्लेखनीय है। इनकी गजलों का एक दीवान भी है।

फारसी-बहुलता इनके काव्य मे भी है; किन्तु इन्होने रुस्तम व सोहराब की प्रसिद्ध मुठभेड का वर्णन जिस ग्रोजपूर्ण भाषा में किया है, उसको सुनते ही ग्रादमी का ग्रग-ग्रग फडक उठता है। इनके काव्य मे भी दार्शनिकता की पुट है। सत्तर साल की ग्रायु में इनकी मृत्यु १६१४ ई० मे हुई।

इनके ही ग्राम मे इनके समकालीन ग्रसद पेर एक कवि हुए है।

इस युग के जो ग्रन्य कवि हुए है, उनमें मौलवी सिद्दीकुल्लाह ने सिकन्दरनामा का कश्मीरी रूपान्तर किया है। 'ग्रारिज', 'फाजिल', 'मिस्कीन', मुस्तफाशाह, ग्रब्दुलगफ्फार तथा 'नामी' इस काल के ग्रच्छे कवि माने जाते है।

लेकिन जिस महाकवि ने इस युग में नई दिशा का दिग्दर्शन कराया वह शाहाबाद के रसूल मीर हुए है। उनकी लोकप्रियता की यह स्थिति थी कि ग्राधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि महजूर तक ने चिरकाल तक उनका ही ग्रनुकरण करने मे गौरव ग्रनुभव किया। वे स्वीकार करते हैं कि—

"मीर की पुरानी शराब नए बर्तनों में भर कर मयखानों में बेचने को रखी गई। महजूर, उसी शराब को पैमानों में भर-भर कर बांटता जा!"

ग्रन्यत्र महजूर कहते हैं—

"दर्द की जिस ग्रपूर्व छवि का पर्दा हटा के रसूल मीर गए, महजूर के रूप में उन्हीं का फिर ग्रविर्भाव हुग्रा।"

रसूल मीर ने गजले कही है। जिनमे काव्य के क्रूर बन्धनों के प्रति प्रच्छन्न ग्रसन्तोष है, किन्तु उनके गीत सकुचित रुढिग्रस्त विचार-सीमा मे बंध नहीं गए है।

रसूल मीर पहिला कवि है, जिसे महजूर से पहिले कश्मीर-भर मे लोकप्रियता मिली। इसका कारण यह है कि उनकी कविता का जैसा माधुर्य ग्रौर रचना-सौष्ठव ग्रन्यत्र बहुत कम मिलता है।

मीर की कविता का एक पद्य प्रस्तुत है—

मति रोजु वमा रोज धर्मम चानि लोलरे ।
छ्वनदार सोन संग ब्रोंगि गर्यंय चानि लोलरे ।।

—मेरे मीत, रुक तो जा, तेरे प्रेम के हेतु मैंने रोज़े (व्रत) धारण किये हैं। तेरे प्यार की ख़ातिर मैंने छनछनाती सोने की चूड़िया बनाई है।

मैंने जात (ईश्वर) से दिन भर मिन्नतें कीं कि तुम्हारा दिल पसीज जाय, मैंने तेरी ख़ातिर कुरान शरीफ़ के तीस पारे रात भर में पढ लिये।'

कश्मीरी साहित्य की इस पृष्ठभूमि के साथ हम अब २०वी शती के काव्य-उपवन में प्रवेश करेंगे।

आधुनिक काल

इस काल का आरम्भ वैसे १६वी शती के अन्तिम दशक से माना जाता है, किन्तु रसूल मीर को छोड़कर १६वी शती के उत्तरार्द्ध के प्रमुख कवि २०वी शती के प्रथम चरण तक जीवित रहे, इसलिए उनको भी कालक्रम के अनुसार इसी पक्ति मे गिना जा सकता है।

इनमें वहाबपेर का उल्लेख पहले आया है। रमजान भट्ट ने कश्मीर की एक प्रसिद्ध लोक-कथा के आधार पर अकनदुन काव्य लिखा। ख्याल किया जाता है कि इसकी कथावस्तु इब्राहीम और इसहाक की उस बलि के आधार पर रची गई है, जिसमे इब्राहीम अल्लाह के कहने पर अपने पुत्र खलील की बलि देने को सन्नद्ध होते है। यह काव्य बहुत ही मार्मिक और वेदना-भरा है, इसमे करुण रस का परिपाक हो पाया है। इस विषय पर प्रकाशराम कुरीगाम का काव्य-प्रयास भी उत्तम है। अन्य अनेक कवियों ने भी इस विषय को पद्य-बद्ध किया है, किन्तु रमज़ान भट्ट को वे छू न सके। भक्ति काव्यधारा के अनुयायियो मे कृष्ण राज़दान की साहित्य-साधना इस युग के विशेष कवियों मे उल्लेखनीय है। अनतनाग जिले के वनपूह ग्राम मे इनका जन्म १८५१ मे हुआ, इसलिए इन्हे हम बीसवी शती का सन्त कवि मान सकते हैं।

कृष्ण राज़दान ने परमानन्द के ही विषयों, शिव-परिणय और कृष्ण-चरित को कविता का विषय चुना। लेकिन जो सरलता, भाषा-सौंदर्य और माधुर्य का सहज प्रवाह इनकी लीलाओ का अत.बाह्य शृगार बनकर सामने आया, उसमे वे कही-कही अपने गुरु परमानन्द से भी आगे निकल गए। उनके उल्लास-चित्रण की एक झाकी देखिए :

'आओ री हाथ मिलाय हम, चलो री सखियो रास खेलें।
छः मास हो गए एक ही रात— गोपीनाथ नाचता जा।
साल हुआ दिन मास पहर।
और इस प्रकार नाचते गाते—
रात हुई दिन बस्ती उपवन
मन ले भागा मन-मोहन ।।'

कृष्ण राजदान की रचना 'शिव-परिणय' का अंग्रेजी-अनुवाद किया गया है। कश्मीरी में उनकी रचनाओं का सकलन 'हरि-हर कल्याण' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है।

सन्त-काव्य की परम्परा के वर्तमान कवियो मे मास्टर जिन्दाकौल 'मास्टरजी' का स्थान बहुत ऊंचा है। वास्तव मे 'मास्टरजी' पुरानी और नई धाराओ के समन्वय के प्रतीक हे। नये युग की क्रान्ति और पाश्चात्य शिक्षा ने इनकी अतर्दृष्टि को और व्यापकता प्रदान की है। इससे उन्होने कही-कही नये प्रयोगो और नये रगो को भी अपनाया है; किन्तु उनकी कविता मे जो दार्शनिक गहराई, धर्म की आस्था, मानववादी प्रवृत्ति और पद-लालित्य की गुणगरिमा है, उससे वे अपना व्यक्तित्व बराबर बनाये रखने मे सफल रहे है।

'स्मरण' शीर्षक उनके कविता-सग्रह पर साहित्य अकादमी ने उन्हे १६५६ मे ५००० रुपये का सम्मान-पुरस्कार दिया है। 'मास्टरजी' ने स्वामी परमानन्द के काव्य के कुछ अशों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

यहां पर हम 'मास्टरजी' की एक कविता 'प्रेम परमेश्वर' के कुछ पद्यों का कविवर बच्चन द्वारा किया हुआ रूपान्तर प्रस्तुत करते हैं—

हुआ गंदला धर्म का नीर मत-पंथों की धारों में।
मुझे पीने दो वह जल जो नहीं बंधता किनारों में ।।
मैं हर जर्रे में देखूं खुद को सब में एक को पाऊं।
दुई रहने न पाए मैं कुछ ऐसा तुझ में मिल जाऊं ।।

तसव्वुफ की प्रेम-मार्गी धारा के अनुयायियो मे अजीजुल्ला हक्कानी की गजलो का सग्रह इसी शती की रचना है। वे वेदान्त की 'सोऽहमस्मि' प्रवृत्ति के गायक हैं और आगे चलकर इस धारा को समद मीर, अहद ज़र्गर, रहमान डार, रहीम साहब सोपुरी आदि अनेक कवियो ने अबतक प्रवहमान रखा है। 'माछतुलर' (शहद की मक्खी) कविता इस धारा का एक नमूना है।

अब हम इतिहास के ऐसे मोड पर आते हैं जहा हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि १९वी शती के उपसहार ने २०वी शती को कौनसी राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति उत्तराधिकार मे दी। इससे हमे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो के प्रकाश में इस युग की साहित्यिक व सास्कृतिक गतिविधि का मूल्याकन करने मे आसानी होगी।

कश्मीर अभी डोगरा शासक महाराज प्रतापसिंह के सामतवाद के तले ही सिसक रहा था और ब्रिटिश भारत अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध सघर्ष में जुट गया था। कश्मीर बाहर के प्रभाव से बचा नही। देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन की लहर कभी-कभी यहा के जनमानस से टकराकर हलचल पैदा करने लगी थी। नई शिक्षा-प्रणाली के प्रचलित होने से इस हलचल को बल मिला। इधर जब भारत मे स्वभाषा व स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो कश्मीर के लोगो मे भी इस प्रवृत्ति का बीजारोपण हुआ। फलतः कश्मीर की प्रजा के अन्दर व्याप्त असतोष की भावना उबलने लगी। यहा तक कि अत्यन्त शातिप्रिय और सतोषी 'मास्टरजी' ने भी क्लर्क के जीवन की एक प्रबल व्यग्य कविता कही।

इस समय से कुछ पहले पाश्चात्य-प्राच्य विद्या-विशारदो (Orientalists) ने भारतीय भाषाओं व साहित्य के अनुसधान का कार्य शुरू किया था। इस क्रम मे कई विद्वानो ने रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के तत्त्वावधान मे कश्मीरी साहित्य की खोजबीन का प्रशसनीय काम किया। जिन यूरोपीय विद्वानो ने कश्मीरी विद्वानो के सहयोग से इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न किया, उनमे सर जार्ज ग्रियर्सन, ऑरेल स्टीन, सर रिचर्ड टेम्पिल, हिटन नोल्स, बुह्लर और बार्नेट आदि के नाम उल्लेखनीय है। ग्रियर्सन और टेम्पिल ने लल्लेश्वरी का अग्रेजी रूपान्तर प्रस्तुत करके दुनिया भर के विद्वानो को इस भाषा की गरिमा का ध्यान दिलाया। स्टीन और ग्रियर्सन ने हातिम तेली से लोक-कथाओ के जो प्रामाणिक वर्णन सकलित-सपादित किए, उससे कश्मीरी लोकसाहित्य की भूमिका तैयार हुई। हिटन नोल्स के लोककथा-सग्रह तथा लोकोक्ति-सग्रह से यह काम और आगे बढा। और जब प० ईश्वरकौल के सक्रिय सहयोग से कश्मीर शब्दामृत (व्याकरण) और कश्मीरी अग्रेजी शब्द-कोष सपादन किया गया तो इस भाषा के साहित्य की वैज्ञानिक पद्धति प्रतिष्ठित हुई।

इन्ही दिनो कश्मीर में ईसाई पादरियों ने 'अजील' (New Testament) का कश्मीर गद्य मे अनुवाद प्रकाशित किया। कुरान शरीफ के कुछ भाग का कश्मीरी अनुवाद भी इस काल मे किया गया।

इस गवेषणा-कार्य का एक लाभ यह भी हुआ कि लोगो को अपने अतीत की महिमा का भान होने के साथ साहित्य-साधना की जिज्ञासा जागी। अबतक जो चीजे गुमनाम पडी थी, वे जब प्रकाश मे आई तो स्वभावतः लोगो की श्रद्धा उनके प्रति बढ गई। इस भावना ने कश्मीर की सास्कृतिक नवचेतना के उभरने मे भारी योग दिया। अब कश्मीरी जनता सदियो की पराधीनता का जूआ उतार फेंकने और अपनी हर चीज को मान-प्रतिष्ठा देने के लिए मचल उठी। इस स्थिति मे परलोकवाद, ससार की असारता और पलायनवाद से लोग ऊब गये। यद्यपि रसूल मीर ने रूमान की नई स्वरलहरी से लोक-रजन करने का प्रयत्न किया था, जिसे 'महजूर' ने १९२० के बाद कुछ और स्वस्थ-सवेग

बनाकर लोकप्रिय बनाया था; किंतु लोगों का असंतोष कगार तोड़कर वह निकला।

इस असतोष की व्यापक प्रवृत्ति को जहा राजनीतिक दमनचक्र उकसा रहा था, वहां देश की उठती-मचलती नवचेतना उसे और बल देती थी। ऐसे वायुमण्डल में जिन कश्मीरी कवियों में नवयुग का आह्वान किया, उनमें गुलाम अहमद 'महजूर' का पहला स्थान है।

'महजूर' का जन्म १८८५ ई० में पुलवाया तहसील के 'मित्रगाम' मे एक मीर घराने में हुआ। प्राथमिक शिक्षा फारसी मे पाई। बचपन ही से कविता की प्रवृत्ति जागी। 'आशिक' के शिष्यत्व में अभ्यास जारी रखा। कुछ समय पजाब मे रहे। 'बिस्मिल' के सपर्क में आने से यहा उन्हें मौलाना शिबली से मिलने का सुअवसर भी मिला। उन्होंने 'महजूर' की प्रतिभा देख कर कहा कि वह अपने समय का प्रसिद्ध कवि बनेगा।

१९०७ में वे कश्मीर से लौटे। तबसे वर्तमान शती के प्रथम चरण तक 'महजूर' कभी फारसी और कभी उर्दू मे कविता करते रहे। सरकारी नौकरी मे उन्हे पटवारी का एक ऐसा पद मिला, जिस पर उन्हे कश्मीर के लगभग सभी इलाको मे घूमना पडा। इससे उनका किसान-वर्ग से सम्पर्क बना रहा। प्रकृति गवेषणाशील और रूमानी थी ही, सो रूप-लावण्य के चित्रो को अपने मानसपटल पर उतारते गए। प्राकृतिक सुषमा को मुक्त रूप मे भरपूर देखा। जनता के सतत सम्पर्क से लोक-व्यवहृत भाषा का अभ्यास बढा। ऐसी परिस्थिति पाकर उनका कवि सहज गति से गुन-गुना उठा। उनके काव्य मे जो अद्भुत प्रकृति-चित्रण बन पडा है, उसके लिए उनकी कलाप्रिय कवि-आत्मा को प्रेरणा देने वाले कारण भी सशक्त थे।

ऊपर हम कह आए है कि शुरू-शुरू में 'महजूर' ने रसूल मीर की हाला ही अपने पैमाने मे भर-भर कर वितरण की, किन्तु युग को उनसे इतनी ही अपेक्षा न थी।

कालक्रमानुसार 'महजूर' की दृष्टि कश्मीर-सुषमा के भीतर छटपटाती आत्मा का दर्शन पा सकी। उनका सवेदनशील और भावुकतापूर्ण मानस विह्वल हो उठा; किन्तु उन्होने भाप लिया कि कश्मीरी जनजीवन का चेतना अभी न तो अन्तर्बाह्य सौन्दर्य के प्रति उतावली हो उठी है, न उसमे ऐहिकता और ऐंद्रिक प्रेम का सम्मोहन जाग गया है, जो जीवन के प्रति आकर्षण और उमग उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है, और नाही कश्मीरी समाज मे आशा और विश्वास की रेखा ने कोई स्पष्टता पाई है। ऐसी परिस्थिति में शायद 'महजूर' ने विद्रोह का स्वर असमय की चुनौती समझा, जबकि जन-सामान्य की मनोभूमि भी अभी इसके अनुकूल नही थी।

इसलिए 'महजूर' ने पुराने प्रतीको और उपमाओ को ही अपनाया, किन्तु उनसे साकेतिकता एव लाक्ष-णिक व्यग्य का काम लेकर उनके प्रभाव को और तीव्र बनाया।

जो लोग महजूर की कविता को गुल व बुलबुल की शायरी कहते हैं, वे भूल जाते है कि गुल और बुलबुल से 'महजूर' ने ऐसे सबल प्रतीकों का काम लिया है, जिनसे कवि का पयाम (सदेश) अधिक भावप्रवण और गम्भीर अर्थवाहक बन गया है। कविवर 'नादिम' का कहना है कि—

> " 'महजूर' वह शायर है, जिन्होंने काव्य को परम्परागत भौडी उपमाओ और मुहावरो से आजाद करके वास्तविक कश्मीरी भावो से सजाया और जो आध्यात्मिकता हमारे काव्य मे फारसी काव्य की नकल से पैदा हुई थी, वह दूर की। 'महजूर' की शायरी की सबसे बडी विशेषता उसका स्वस्थ आशावाद है।"

महजूर का काव्य 'कलामे-महजूर' और 'पयामे-महजूर' के संग्रहो मे उपलब्ध है। जैसा कि कहा गया है, उन्होने आरम्भ मे 'बागे नसीम के गुलों' जैसी कविताए लिखकर विशुद्ध प्रकृति-चित्रण और प्रणय-वर्णन किया। बाद मे परम्पराओं, उपमाओ और प्रतीको से काम लेकर राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करने और उपेक्षित कश्मीरी को आत्मगौरव का भान कराने के लिए काव्य-सृजन किया। अन्त मे प्रथम राष्ट्रीय कवि के रूप में देशभक्ति भरे गीत लिखे। स्पष्ट है कि कवि की कृतियो पर समय की बदलती परिस्थितियों का प्रभाव पडता रहा। ज्यों-ज्यो स्वातत्र्य आन्दोलन की गति बढती गई, महजूर का स्वर भी त्यों-त्यों स्पष्ट और ऊंचा होता गया। इस प्रकार वे अपने युग का पूर्णत प्रति-निधित्व करते रहे।

'महजूर' कश्मीर का पहला कवि है, जिसकी धाक बाहर-भीतर के अभिजात वर्ग पर भी पडी। सम्भवत: इसमें विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की उस प्रशस्ति का बडा हाथ है, जिसमें उन्होने 'महजूर' को कश्मीर का वर्ड्सवर्थ कहा। जिस कविता के अंग्रेजी रूपातर को पढ़कर वे महजूर से इतने प्रभावित हुए वह है 'ग्रीस कूर' (किसान कन्या) इसमें कवि ने किसान-कन्या से सम्बोधित होकर कहा है—

"ऐ हीमाल[1] सी सुन्दर कन्या, तू चश्मो की हरियाली पर लगाई तुलसी की तरह है। फटे-पुराने कपडो में भी तू ऐसी दिखाई देती है जैसे फटे हुए मेघ-खण्डो के बीच से चाद झाक रहा हो। जब तू गिरि-पथ पर गाती-गुनगुनाती हुई निकलती है, तो स्वर्ग की अप्सराएं भी तेरे गीतो पर मुग्ध हो जाती है। तेरे हुस्न (सौन्दर्य) में बनावट नही है, तू वनों-पर्वतों, निर्झरों की सैर करती, हसती हुई पुष्प-वनो के बीच मे गुजरती है। कहीं फूलों ने तेरे कान तो नही भरे!

ख्वाजाजादिया (अभिजात वर्ग की महिलाए) भला तेरा क्या मुकाबला करेगी, तू फूलो की सहचरी और वे बन्द कमरो मे पर्दानशीन। तेरे नयनो मे शर्मो-हया का पानी भरा है, तुममे गैरत और स्वाभिमान का असीम बल है, फिर भी तेरी स्वेद-स्निग्ध भौहे तलवार बनकर हर दर्शक का मन मोह लेती है। लेकिन हे हाला की भरी मटकी, देखना तेरे होशोहवास बिगड न जाए। ऐ सुषमामयी किसान बाला, मैंने तुम्हे खेत मे आस्तीन चढाए गूड़ी करते देखा है। तू वहा भी लोलरी[2] की तरह लोलो करती हुई गा रही थी। कही श्रम से तेरी बाहे थक तो न गई!"

इस कविता ने कश्मीर की उपेक्षिता किसान-कन्या को पहली बार आत्मगौरव का भान कराया, उसमे अपने अस्तित्व पर ग्लानि के बदले अभिमान भर गया।

एक और कविता 'कॉशिर जनान' (कश्मीरी महिला) मे भी महजूर ने नारी की मुक्तिकामना को कला के माध्यम से व्यक्त किया है। इसमें पहली बार कश्मीरी नारी जीवन के वैषम्य से सचेत हुई है और उसकी गहन व्यथा को अभिव्यक्ति मिली है।

१९३८ ई० के बाद कश्मीर के जन-आदोलन ने राष्ट्रीय स्वातश्य आदोलन का रूप पाया। इस वर्ष मुस्लिम कान्फ्रेस अखिल जम्मू कश्मीर राष्ट्रीय कान्फ्रेस बनाई गई। 'महजूर', जो अभी तक गुल व बुलबुल को सकेतो मे ही प्रेरणाप्रद संदेश देते थे, अब राष्ट्रीय तराने लेकर क्षेत्र मे आए। उनकी एक मशहूर नज्म है—'वुलो हा बागबानो नौ बहारुक शान पैदा कर' (चमन के माली, आ और नये वसत की भव्यता पैदा कर! ऐसा वातावरण पदा कर दे जिससे फूल खिल-खिल जाए और बुलबुले झूमने-नाचने लगे)।

महजूर अब नई चेतना का सन्देशवाहक बनकर उस वैषम्य पर स्पष्टता से चोट करने लगा, जिसे देख-देखकर उसकी आत्मा कराह उठी थी। उसने कहा—

अमीरस ऐश तय शादी गरीबस खान-बर्बादी।
अमिस मगरूर आसन वॉल्प सुन्द खान मिटावुन छुम।।

—अमीर के लिए ऐश्वर्य है, परन्तु गरीब का घर उजडा पडा है। मैंने ऐसे मगरूर (दम्भी) अमीर का भेद ही मिटा देना है।

मिटाने के साथ-साथ वे निर्माण भी करना चाहते है—

—बादल बनकर मुझे आकाश पर चढना है और वर्षा बनकर अपने बाग को सरसाना है, क्योकि वसन्त की दाद जो देनी है मुझे और चाव से उद्यान का आनन्द भी तो लेना है।

इधर जब भारत में साम्प्रदायिक वैमनस्य का दानव उठ खडा हुआ तो महजूर तडप उठा—

"(अफसोस) मनुष्य मनुष्य ही के रक्त से अपनी पिपासा बुझाने लगा! (ऐसा लगता है कि) मनुष्यो

१. कश्मीर के लोक-प्रसिद्ध प्रेमाख्यान का नायिका।
२. दंबूर की प्रेयसी लोलरी (कश्मीर की ऐतिहासिक प्रणय-कथा की नायिका), जिससे कश्मीरी साहित्य को लोलो, लोल मिला है।

में मानवता ही नही रही।"

और इधर अपने चमन (कश्मीर) मे महजूर ने लोगों को सचेत किया कि इस विषवृक्ष को अपने यहां जड़ें जमाने न देना। उन्होंने कहा—**'न्याय ऑंविव माय थॉविव पानह् बॉन्य'**

अर्थात, आपस के झगडे त्याग दो, परस्पर प्रेमवर्त्तन करो। (इस प्रकार) सच्ची मुहब्बत आपस में बांटो।

निर्वैर होकर एक-दूसरे को अपने दुखडे सुनाओ और
अपने मन निर्मल बनाकर दंगा-फिसाद भुला दो।
तुम कश्मीरियो की धरती मा एक, जाति एक,
व्यर्थ ही आपस मे भेद व अन्तर न बढ़ाओ।
मुसलमान दूध है तो हिन्दू शक्कर,
दूध-शक्कर की तरह एक होकर मिले रहो।

महजूर को जीते-जी अपने चमन की स्वाधीनता की शुभ घडी देखने को मिली तो उन्होने आजादी का 'नवप्रकाश का उदय' कहकर स्वागत किया। उल्लास-चित्रण देखिए—

अन्धकार छट गया, उदय हुआ प्रकाश का,
प्रकाश की रश्मियां पर्वतशिखरों पर थिरकने लगीं।

इस भाव-भरी कविता मे 'महजूर' ने बीती व्यथा का वर्णन करने के साथ नूतन आशा के सुहाने सपने संजोये है।

आजादी के बाद भी युग-कवि 'महजूर' ने जन-भावना का प्रतिनिधित्व किया। जहा उन्हे लगा कि आजादी के उनके कल्पना-चित्र को भौडा बनाने का षड्यन्त्र हो रहा है—वह चाहे पडौसी की ज्यादती से हो, विश्व के राजनीतिक दाव-पेचो से किया जाता हो, अथवा देश के ही सत्ताधारियो से हो। वह बेचैन हो उठे और उन्होने चेतावनी देकर युग-कवि के अपने दायित्व का निर्वाह किया।

६२ साल की श्लाघनीय आयु पाकर महाकवि 'महजूर' अप्रैल, १९५२ को जन्नत-नसीब हुए। राज्य सरकार ने उनके शव को सम्मानपूर्वक हब्बाखातून के मकबरे के पास दफना दिया।

अपने जीवनकाल में जितनी लोकप्रियता 'महजूर' को मिली, अभी तक उसका जवाब नही।

महजूर के समकालीन एक और प्रसिद्ध कवि कश्मीरी साहित्य-गगन पर बडी आबोताब से चमके। उनका नाम अब्दुल अहद डार 'आजाद' है। आज़ाद का जन्म बडगाम तहसील के रागर गाव मे १९०३ ई० मे हुआ। महजूर की तरह उन्होने भी प्रारभ मे फारसी और अरबी शिक्षा पाई। १९१८ मे आज़ाद प्राइमरी स्कूल के अध्यापक नियत हुए। पढने-लिखने का शौक बहुत अधिक था, जल्दी ही उर्दू भाषा और साहित्य पर पर्याप्त अधिकार प्राप्त कर लिया। सौभाग्य से ऐसे लोगो का साथ बराबर मिलता रहा जो आधुनिक शिक्षा व पाश्चात्य विद्या मे परिचित थे। इस प्रकार 'आज़ाद' का अध्ययन-क्षेत्र काफी बढ गया और उनकी प्रतिभा को बढने-पनपने का अवसर मिल पाया।

कविता की शुरूआत के बारे मे आजाद ने स्वय लिखा है 'मेरे वालिद बुजुर्गवार (पूज्य पिता) शेरे-सुखन (कविता) के शैदाई थे। खासकर कश्मीरी गीत और मसनवियां सुनने का उन्हे बहुत शौक था। बारहा मुझसे पढवाते थे, जिसका मेरी तबीअत पर यह असर हुआ कि मैने १५-१६ वर्ष की ही आयु मे कश्मीरी में शेअर कहना शुरू किया।'

उन दिनो महजूर के गीत सबकी ज़बान पर थे तो आजाद ने पहले उसी रग और उसी विषय पर गज़ल लिखने शुरू किए। कहना चाहिए कि वे महजूर के अनुगामी बन गए। लोकप्रियता उन्हें भी मिली, लेकिन इस मैदान मे वह महजूर की बराबरी नही कर सके। वास्तव मे उनकी कविता कोई और पहलू बदलने की तैयारी कर रही थी।

समाज का जीवन अब आहो-कराह से छटपटाने लगा था। अधी धार्मिकता के बहुरूप ने मनुष्य को कितने ही भुलावे दिए थे। इधर आर्थिक व सामाजिक नवजागरण के नये मूल्यों का निर्धारण होने लगा था। ऐसी स्थिति में

आजाद गजलों की पुरानी परम्पराओं के कटघरे में तडपने लगा। उन्हें लगा कि प्रतीकवाद और साकेतिकता से अब काम नहीं चल सकता। उन्होंने कहा भी—

तस दर्द गजलख्वानस सद हैफ़ हजार अफ़सूस,
यस खाय खयानल पथ आराम पनुन रावे।

—उस दर्द के गीतकार पर सौ बार फटकार और हजार बार अफसोस! जिसकी काव्य-साधना निराधार कल्पनाओं पर नष्ट हो जाय।

सुहानी किन्तु निराधार कल्पनाओं के चित्रण पर उनका व्यग्य देखिए—

"ऐ भौंरे! मैं 'नर्गिस' तो तुम पर जान वार देती, परन्तु घर किसे रखूं!

क्या बताऊं, इस मेरे सुकुमार शरीर पर कितने छाले और आबले पड़े हैं जो ग्रीष्म की तपती दुपहरी और शीतकाल में तप्त सिगड़ी की सेक की देन हैं?"

१९३१ से १९३८ तक कश्मीर का राजनीतिक वातावरण बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका था और नई चेतना उभरने लगी थी। आजाद की सवेदनशील भावना और पैनी दृष्टि इसे सजग होकर देखती रही, आकती रही। सामाजिक विषमता की तीव्र अनुभूति ने उनके मानसतल को कुरेदा, तभी उनकी व्यथा एक साकार प्रश्न बनकर कलामय वाणी मे फूट पडी—

'हमारे इस पुष्प-वन ने स्वर्ग की अप्सराओं को भी राम कर लिया। क्या हमारा जीवन हमारे लिए बवाल ही रहेगा? जिस जीवन-धारा ने कल्हण, गनी और सरफ़ी जैसे गुणवन्तों को सींचा-सरसाया, क्या वही आब (जल) हमारे लिए हलाहल विष बना रहेगा?'

ज्यो-ज्यो 'आजाद' की जिज्ञासा इस प्रश्न की गहराई मे पैठती गई, उनकी यह निष्ठा दृढ होती गई कि—

'कमजोरो को देखकर ही तो अत्याचारियों का साहस बढ जाता है।' इससे उन्हे दासता की बुराई पहचानते देर नही लगी। उन्होंने समझ लिया कि—

'गुलामी ही शूरों को गिराती है, सिंहों को पिंजरों में बन्द कर देती है। कान बहरे बनाती और दिलों में भ्रांतियां पैदा कर देती है।'

इसलिए आजाद का स्वर विद्रोही हो गया। वे ललकार कर कहने लगे—

'तेरी गैरत (स्वाभिमान) की आग बुझ क्यों गई, जाग तो जा, मेरे देशवासी! तू भय की कीच में धंस गया है और बरसाती कीड़े की तरह लेटा पड़ा है।'

अब वे एक निर्भीक और दिलेर सिपाही की तरह वैषम्य के विभिन्न गढो पर धावा बोलने लगे। 'शिकवये इबलीस' (शैतान का शिकवा) लिखकर 'आजाद' ने धर्म और दीन के झूठे दावेदारो के गढो पर गोलाबारी की। आख मींचकर अनुकरण करने वालो को उन्होने सचेत किया—

'आगे वालों (नेताओं) के पीछे चलने वाले भेड़, देख, कहीं खाई में तो नहीं गिर रहा है।'

विद्रोह के इस कवि का लक्ष्य क्या था। एक जगह कहते है—

—इनसान मुद्दा म्योन (मेरा उद्देश्य मानव है)

'दीपक' शीर्षक कविता मे अपने इस उद्देश्य को और स्पष्ट करते है—

'दीन मेरा भाईचारा, धर्म मेरी आत्मीयता, मेरा 'नूराना' (ज्योति) सबके लिए। मेरे लिए जैसा काबा, बुतखाना (मन्दिर) भी वैसा ही।'

इस उद्देश्य की सफलता पर उनकी कितनी दृढ आस्था थी, जरा देखिए—

'आने दो ग्रीष्म ऋतु को, बरफ की ये इमारतें नींव से हिल उठेंगी, वसन्त की घन-गरज हिममय पर्वतों को टूक-टूक कर ढा देगी, झूठी दूकान का जगमग करता हुआ माल मंहगे दामों कब तक बिकेगा। जब पीतल कसौटी पर परखा जायगा तो ऊपरी गिलट का मोल-भाव मालूम होते क्या देर लगेगी।'

आज़ाद के जीवन की भरपूर व्याख्या उनकी 'दरियाव' (दरिया) शीर्षक कविता है। इसमें उनकी सभी विशेषताएं प्रतिविम्बित होती हैं। कश्मीरी भाषा में इतनी संघर्षमय, क्रांतिपरक और प्रेरणादायक कविता अब तक नही लिखी गई है। है तो यह एक गरजते गुनगुनाते पहाड़ी दरिया की आपबीती, मगर वास्तव में यह जीवन की उमंग-भरी सरिता का तराना है। इससे आज़ाद के भावगाम्भीर्य का पता नही चलता, कश्मीरी भाषा पर उनके अधिकार का पता भी लगता है। इस कविता का आरम्भ यो होता है :

'मैंने जिन्दगी का सोज सफ़रों और मंज़िलों में पाया'

समन्वय और सतुलन का स्वस्थ अभिव्यंजन देखिए——

'मै (दरिया) पर्वत-शिलाओं का वक्ष चीरता हूं इतनी ऊष्मा है मुझमें,
सुकुमार मीतों के तन नहलाता हूं, ऐसी नम्रता है मुझमे,
मेरे बल-पेचों में सहज सरलता और लोल (प्रेम) भरा पूरा है,
मुझे जीवन का सोज़ यात्राओं और मंज़िलों में मिलता है।'

आजाद ने देश-भक्ति के भी गीत गाए है। 'तरानये वतन' की कविता इनका एक उदाहरण है। एक और कविता मे उन्होंने देश-प्रेम के बदले मे जन्नत के प्रलोभनों तक को ठुकरा दिया है——

'यह जानते हुए भी कि स्वर्ग में दूध की नदियां बहती हैं, मेरा मन अपनी सिंधु,
वितस्ता, रबीआर, वेरनाग, गंगा और यमुना को नहीं भूल पाता।'

'आज़ाद' के कलाम पर एक निगाह डालने से ही इस विद्रोही कवि की आच का अनुभव होता है। इनके आगमन से ही कश्मीरी साहित्य में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। इसमे सन्देह नही कि 'आज़ाद' और 'महजूर' दोनों पर डाक्टर इकबाल का गहरा प्रभाव रहा है, परन्तु 'आज़ाद' जल्दी ही कश्मीर की सास्कृतिक परम्परा के अनुरूप इस प्रभाव-क्षेत्र से बाहर आए।

'आज़ाद' कवि के अतिरिक्त एक सफल समालोचक भी थे। वे वर्षों कश्मीर मे घूमते-भटकते रहे, इसलिए कि वे कश्मीरी काव्य की अस्तव्यस्त सामग्री को खोज निकालना और उसका मूल्यांकन करना चाहते थे। उनके इस काम के परिणामस्वरूप कश्मीरी साहित्य को एक विस्तृत 'कश्मीरी काव्य का इतिहास' उपलब्ध हुआ। इस इतिहास के रूप में कश्मीर को समीक्षा की एक उत्कृष्ट कृति मिली। 'आजाद' की यह देन उनके कवित्व से किसी भी रूप मे कम नही।

१९४८ मे, जब अभी कश्मीर स्वतन्त्र हुआ ही था, आज़ाद जवानी में ही कालकवलित होगए।

इनकी रचनाए 'सगरमाल' शीर्षक से अनेक भागो मे प्रकाशित की गई है।

इस दौर के तीसरे उल्लेखनीय कवि मिर्ज़ा गुलाम हसन बेग 'आरिफ' हैं। अनन्तनाग मे इनका जन्म हुआ। एम० एस-सी० तक की उच्च शिक्षा पाई है और इस समय एक सरकारी विभाग मे ऊचे पद पर है। इन्होने 'दस्तकार' शीर्षक कविता लिखकर कश्मीर के श्रमजीवी की दयनीय दशा का चित्रण किया है। स्वातन्त्र्य आन्दोलन को इन्होंने एक अति लोकप्रिय, जोशीला और भाव-भरा तराना दिया। इसका मुख्य स्वर है—

'मगर हमारा कारवां आगे ही आगे बढ़ता गया।'

इधर इनकी विचारसरणी मे तसव्वुफ की प्रवृत्ति फिर से जागी है। 'रुबाइयां' लिखकर 'आरिफ़' ने कश्मीरी काव्य की इस सिन्फ (पद्धति) को अच्छी तरह निखारा है।

१९४७ के बाद का वर्णन करने से पहले कुछ और कवियों का उल्लेख यहा आवश्यक है। इनमें दयाराम गज ने 'घर व्यज़माल' लिखकर कश्मीरी भाषा के विशुद्ध रूप का अच्छा आदर्श प्रस्तुत किया है। नन्दलाल कौल 'नन्हा' ने कश्मीरी भाषा में नये ढग के नाटको का आरम्भ किया है। 'सतचे कहवट' (सत्य की कसौटी) राजा हरिश्चन्द्र की सत्यपरायणता पर आधारित है। भाषा इसकी बहुत चुटीली और सरस है। इस नाटक का कई बार अभिनय भी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'रामुन राज' (रामराज) और 'प्रह्लाद भगत' इनके दो अन्य नाटक हैं।

इस दौर के कितने ही और भी कवि हो गुजरे है जिन्होंने अपनी साधना से कश्मीरी साहित्य के भण्डार को बढ़ाया है।

आधुनिक काल के कश्मीरी साहित्य को हमे दो काल-विभागों में बाटना पड़ेगा। एक है १९४७ के पूर्व का साहित्य, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरा भाग १९४७ के बाद का है।

१९४७ की शरद ऋतु कश्मीर के इतिहास का एक चिरस्मरणीय अध्याय है। इसमे कश्मीर पर अकारण आक्रमण किया गया, शायद इसलिए कि इस देश की सास्कृतिक नवचेतना ने साम्प्रदायिकता के सर्पदश को बे-असर कर दिया था। इस आक्रमण के सामने सामन्तवाद तो टिक न सका, मगर जनता की स्वाधीनताप्रिय आत्मशक्ति ने इसमे लोहा लेकर जीत पाई।

इसी संक्राति-काल में पहली बार कश्मीर मे सास्कृतिक मोर्चा कायम किया गया और कश्मीरी साहित्य-कार पहली बार एक जगह इकट्ठे हुए।

जिस राजनीतिक स्वाधीनता को अभी लोग सभालने भी न पाए थे, उसी को हथियाने वाले ने खून-सना हाथ बढाना चाहा। यह जनता के साथ-साथ कश्मीरी भावशिल्पियो के लिए भी एक चुनौती थी। इसने एक झटके मे सर्वत्र विद्युत-लहर दौडा दी। परीक्षा कठोर थी, परन्तु कश्मीर के साहित्यकार को यह निर्णय करते देर नही लगी कि उसका रुख किस ओर होगा। गर्व की बात है कि इस विषम परिस्थिति मे सास्कृतिक परम्परा मे कोई झोल नही आया। एक प्रवाह बह निकला, जिसने सम्प्रदायवाद की सकीर्णता और रूढिवाद की निराशा को कही थमने ही न दिया।

इस मौके पर देशभक्ति की भावना का सागर उमड़ पडा, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-भावना दृढतर हो गई और अमानवता के विरोध मे मानव के शिव सकल्प ने एक वेगवती धारा का रूप धारण किया।

कश्मीरी साहित्य को इस सक्राति-युग ने कई विभूतिया दी। महजूर, आरिफ तो जीवित थे ही, किन्तु जिन कवियो ने अभी काव्य-साधना मे पैर ही धरा था, उनमे भी इस अवसर ने नया जोश, नई उमग और नया वल-वला पैदा किया। नव-गान का आह्वान करने वाले इन कवियो में नादिम, आसी, रोशन, मजबूर, आरिज, अबारदार, प्रेमी, ज़ार, महेन्द्र, बहार आदि कितने ही साधकों ने सास्कृतिक मोर्चे पर अपना दायित्व निभाया।

इस मोर्चे के मीरे-कारवा थे, कश्मीरी साहित्य के नवोदित कवि दीनानाथ कौल 'नादिम'। इनका जन्म १९१६ ई० मे श्रीनगर मे हुआ। इनकी काव्य-साधना वैसे स्वातन्त्र्य आन्दोलन के साथ-साथ पहले से ही चलती रही, किंतु १९४७ के सघर्ष ने इनको युग का प्रतिनिधित्व सौंप दिया। उन्होने अपनी कविता का आरम्भ युद्ध-निनाद से किया

"तू कश्मीर का युवक है, हल का झण्डा थामे,
तुम्हें मोर्चों पर लड़ना है!"

और एक सच्चे सैनिक की तरह 'नादिम' ने अपने आपको भी इस सघर्ष का अग मानकर उद्घोष किया कि 'मुझे वतन की रक्षा करनी है।' सक्रिय सघर्ष के कुछ शात होने के बाद आर्थिक व सामाजिक समस्याओ की भीतरी तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याओ की बाहरी परिस्थितियो ने कश्मीर के सास्कृतिक मोर्चे को नये विषयो और नई आवश्यकताओ से सजग किया।

इन्ही दिनों 'नादिम' ने 'मै आज वे गीत नही गाऊगा' का प्रेरणाप्रद गीत लिखा। इसका विन्यास आज़ाद शायरी का था, कदाचित तुको की कैद इसकी प्रकृति ही सहन न करती। इस उद्घोष मे अनेक तरुण कवियों ने अपने स्वर मिलाये, जिनमे से कुछ के नाम ऊपर गिनाये है।

यह पहला अवसर था जब 'कोग पोश' के रूप में कश्मीरी साहित्य को एक मुखपत्र मिला। इससे कवियों और अन्य लेखको को प्रकाशन की सुविधा मिली। जो अनेक लेखक अब तक कश्मीरी मे लिखना हेठी समझते थे, वे भी प्रेरित होकर इस ओर आए। इनमे से कई कवियों की प्रतिभा कश्मीरी मे ही चहक उठी। उदाहरणत. 'रहमान राही' और 'अमीन कामिल' ने कश्मीरी साहित्य को अपनाकर इस बात का ज्वलत प्रमाण प्रस्तुत किया कि अपनी मातृ-भाषा का माध्यम किसी लेखक को कितनी जल्दी और कितनी तेजी से प्रौढ़ता की मजिलों पर पहुचा सकता है। इसी प्रेरणा

ने गुलाम रसूल 'नाज़की' को भी उर्दू के साथ-साथ कश्मीरी में कविता कहने का साहस दिया।

इस दौर के साहित्यिक प्राय· शिक्षित थे और भारतीय एव पाश्चात्य साहित्य की सभी गतिविधियों और प्रवृत्तियों से परिचित थे, इसलिए उन्होने कश्मीरी भाषा के साहित्य मे नई दिशा का अवलम्बन लिया। कविता के क्षेत्र मे जहा पहले अधिक लोक-गीत या तुकांत शैली की छन्दबद्ध रचनाए ही प्रचलित थीं, वहां १९४७ के बाद कश्मीरी कवियों ने कई नये और सफल प्रयोग किए।

इनमें कविवर 'नादिम' की देन सबसे अधिक है। उन्होंने कश्मीरी काव्य को नया स्वर प्रदान किया, नये विषय दिए और कल्पना की नई भूमिका का निर्माण किया।

'नादिम' प्रगतिवादी कवि है, किन्तु उन पर यह आरोप किसी ने नहीं लागाया कि उनकी कविता नारेबाज़ी है, या कलात्मक नही है। हिन्दी के उत्कृष्ट कवि स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'नादिम' की गणना भारत के सर्वोच्च कवियों में की है।

कविवर 'नादिम' ने जो अनेक कविताए कही है, उनमे 'पवन ने मुझसे कहा', 'मेरे गीतों ने मुझे क्या कहा', 'एक प्रश्न', '१९५३', 'गुले लाला', 'मुझे कल की आशा है' शीर्षक कविताओ ने कश्मीरी काव्य का ही नही, विश्व-साहित्य का सम्वर्द्धन किया है। 'कल मेरी आशाओ का दिन है' शीर्षक कविता मे उन्होने कलापूर्ण एव भावात्मकता से जीवन की साध और भविष्य की आशा का चित्रण किया है। 'गुले लाला' मे वे कहते है

तुम गुले लाला हो !
मेरे गीतों पर तुम्हारे ही रूप का रंग चढ़ा हुआ है,
लेकिन ·····क्या तुम्हें मालूम है मेरे 'लाला',
मैं कैसे—
रीते जीवन-घट भरते हुए,
तुम्हें मदिरा के रूप में लाया ?
क्या तुम जानते हो (ऐ नन्हें-से फूल),
मैंने कैसे मृत्यु से बचा-छिपाकर तुमको
अपने छंदों में पिरोकर अमर कर दिया।
और फिर वही गुनगुनाहट···
मेरे मुन्ने के कपोलों पर
भूख की आंच से
जो हल्की सी लाली उभर आई,
उससे मैंने
तुम्हारी लालिमा में और लाली भर दी।
वे अश्रुकण··· · छिपा
जिनको बरौनियों ने छिपा-छिपा कर
अपनी गोद में झुलाया,
उन्हीं से मैंने तुम्हारे लिए, शबनम का हार गूंथा।
मेरी घायल आकांक्षाओं से जो लहू टपका,
उन बूंदों में तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब मैंने झलकते देखा···

नादिम ने कश्मीरी साहित्य मे गीतरूपको (Opera) का समारम्भ किया। अब तक उन्होंने चार गीति-रूपक लिखे है, जिनमे 'बवूर-यबर्ज्वल' (भौरा और नर्गिस), 'नेकी-बदी' तथा 'हीमाल-नागराय' रग-मच पर खेले भी जा चुके हैं। 'हीमाल-नागराय' की रचना मे नूर मुहम्मद 'रोशन' ने उनका साथ दिया है।

इधर 'नादिम' की कविता में और भी गहनता और विलक्षणता आती जा रही है। 'नादिम' से कश्मीरी साहित्य को बडी आशाए है।

इनके बाद प्रोफेसर रहमान 'राही' का योगदान कश्मीरी काव्य का गौरव माना जा सकता है। उनकी कविता का एक संग्रह 'नौरोज़ सबा' प्रकाशित हो चुका है। आज तरुण कश्मीरी कवियो मे 'राही' ने कश्मीरी गज़ल को अर्थ-गाम्भीर्य और भाव-विलक्षणता से बहुत ऊपर उठाया है। कविवर 'बच्चन' द्वारा रूपान्तरित 'राही' की कविता का एक पद्य यहा प्रस्तुत है :

जंजीरों में बांध मुहब्बत को मत रक्खो नादानो;
भाईचारे में जो मीठापन है उसको पहचानो।
अभी जिन्दगी की पंखुरियां अगनित खुलने वाली हं;
खिलने को हं फूल अभी बहुतेरे इसको सच मानो।
बीती अभी बहार नहीं !
सोता है संसार नहीं !!

अमीन कामिल और नूर मुहम्मद 'रोशन' भी इस दौर के उल्लेखनीय कवि हैं। इनमे 'कामिल' ने गज़लो और नज्मो के अतिरिक्त 'राव रुपी' शीर्षक एक गीतिरूपक भी लिखा है। 'रोशन' का व्यग्य और वर्णन सरल, स्पष्ट होते हुए भी इतना सबल और चुटीला है कि कही-कही वे अपने सहयोगियो को पीछे छोड जाते है। 'इश्क' 'शहीदस माँजि हज सलाम' (बलवीर का माता को प्रणाम) शीर्षक कविताए इनकी प्रतिभा की परिचायक है।

आधुनिक पीढी के जो अनेक नवोदित कवि कश्मीरी साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे है, उनमे मुजफ्फर आजिम, चमनलाल चमन, मखनलाल बेकस, गुलाम नबी फिराक, गुलाम नबी 'ख्याल', मोतीलाल साकी, सर्वानन्द प्रेमी, सत्तार शाहिद, फारोक, नाजी मुनव्वर, शैदा आदि उल्लेखनीय है। प्रकृतिचित्रण के सफल कवियो में दीनानाथ वली 'अल्मस्त' का नाम इसलिए अलग लिया है, क्योंकि वे जितने सफल चित्रकार है, उतनी ही सफलता से उन्होने शब्द-चित्रण भी किया है, जिसमे भाव-गाम्भीर्य भी है।

कश्मीर से बाहर रहकर शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम' भी काव्य-साधना करते है। कश्मीर के एक प्रमुख पत्र ने इनके बारे मे लिखा है, 'हलीम एक सुलझे हुए कवि और अदीब है।'

यहा पर यह कहना प्रासगिक होगा कि कल्चरल फ्रट, कल्चरल काग्रेस या साहित्य की किसी सभा से सीधा सम्बन्ध न रखने वाले ऐसे अनेक कवि है, जिनकी साहित्यसाधना से कश्मीरी भाषा का साहित्य बराबर सम्पन्न हो रहा है। इसमे तसव्वुफ और प्रणय के गीतकार है, मसनविया लिखने वाले है और नई धारा के अनुयायी भी है।

इस प्रकार कश्मीरी काव्य की सरिता कही पहाडी नदी की तरह गरजती हुई, तो कही शान्त गम्भीर नदी की तरह निरन्तर बढ़ती जा रही है।

कश्मीरी गद्य

शुरू मे कहा जा चुका है कि गत साठ वर्षों मे कश्मीरी साहित्य गद्य के आवश्यक अग से सम्पन्न होने लगा है। इस सम्बन्ध मे २०वी शती के प्रथम चरण मे जो प्रयास किया गया, वह ऊपर आ चुका है। १९३० के बाद स्वातन्त्र्य आंदोलन के दिनो मे ही कश्मीरी गद्य की तीव्रता से कमी महसूस की जाने लगी। श्री प्रताप कालेज, श्रीनगर के 'प्रताप मैगजीन' ने कुछ समय से गद्य लिखने का क्रम चलाया, किन्तु उसका क्षेत्र छात्रों और प्राध्यापको तक ही सीमित रहा। कुछ देर बाद 'जहांगीर' नामक पत्रिका श्रीनगर से प्रकाशित की गई, जो जल्दी ही बन्द हो गई। कविवर 'महजूर' ने 'गाश' नाम से कश्मीरी की पत्रिका निकाली, लेकिन चल नही सकी।

स्वतन्त्र रूप से कश्मीरी गद्य का विधिवत निर्माण १९४७ के बाद होने लगा जो 'कोंगपोश' मे छपता रहा। इस क्षेत्र में भी नादिम' ने कहानिया लिखकर अगुवाई की। 'शीन प्यतो प्यतो' (बर्फ-बर्फ गिरती जा) उनकी बहुत ही सफल कहानी है। उनके साथ रोशन, अमीन कामिल, तेज बहादुर, बंसी निर्दोष, सोमनाथ जुत्शी और ताज बेगम ने

कश्मीरी में आधुनिक कहानियां लिखना शुरू कीं। अख्तर मुहीउद्दीन ने कश्मीरी कहानियां, 'दर्यामि हुंद एजार' (सुर्ख शलवार) और 'दद वजुन' (दांता किल-किल) कहानिया लिखकर न केवल कश्मीरी, बल्कि भारतीय कहानीकारों को चौंका दिया, क्योंकि अभी कश्मीरी गद्य का आरम्भ ही हो रहा था कि 'अख्तर' एक छलांग लगाकर ऊची कोटि के कहानीकारों मे गिने जाने लगे। अब तक 'अख्तर' के दो कहानी-सग्रह 'सत सगर' और 'सोंजल' व एक लघु उपन्यास छप चुका है। १९५७ में साहित्य अकादमी ने 'अख्तर' के कहानी-संग्रह 'सत संगर' पर उन्हे ५००० रुपये का पुरस्कार दिया है।

इनके अतिरिक्त जिन और लेखकों ने कश्मीरी कहानिया लिखी हैं, उनमे अली मुहम्मद लोन, उमेश कौल, सूफी गुलाम मुहम्मद, दीपक कौल, हृदय कौल 'भारती', अवतारकृष्ण रहबर, गोपीकृष्ण कौल 'अर्जबेगी', शंकरनाथ और बालकृष्ण कौल के नाम उल्लेखनीय है।

उपन्यास अब तक तीन प्रकाशित हो चुके हैं— १. 'दोद दग' (अख्तर मुहीउद्दीन), २. 'गटि मज़ गाश' (अमीन कामिल), ३. 'असि ति छि इसान' (अली मुहम्मद लोन)।

नाटकों का आरम्भ १९३० के आसपास नंदलाल 'नन्हा' के नाटक 'सतचे कहवट' (सत्य की परख) से हो चुका था; किन्तु १९४७ के बाद नाटक-साहित्य को रेडियो के माध्यम से नई और व्यापक भूमिका मिली। जो अभी तक 'ग्रीस सुद घरह' (प्रो० हाजिनी) का ही नाटक प्रकाशित हुआ है, किन्तु अली मोहम्मद लोन, सोमनाथ जुत्शी, सूफी गुलाम मुहम्मद और अमीन काफिल ने अब-तक कई और नाटक भी लिखे हैं जो रेडियो कश्मीर द्वारा प्रकाशित किये गए है। प्रसिद्ध नाटकों मे 'विजिवाव' (सोमनाथ जुत्शी) और शर्य भट्ट (मोहिनी कौल) के नाटक गिनने योग्य हैं। पुष्कर भान ने प्रहसन (मजाहिया) नाटक लिखकर एक अग का अभाव दूर किया है।

१९५३ के बाद कश्मीर के सूचना विभाग ने लालारुख प्रकाशन के अन्तर्गत कई लोककथाओ के सग्रह 'पोशि थर्य' (फूलो की बेल) के शीर्षक से प्रकाशित किए। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने भी एक पुस्तक 'देश विदेश चि लूक कथ' छपवाई है।

बाल-साहित्य की कई पुस्तके भी छप चुकी है। इनमें शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम' की रचना 'बाल-यार' को १९५९ की उस प्रतियोगिता मे ५००) रु० का पुरस्कार दिया गया है, जो केन्द्रीय शिक्षा विभाग के आयोजन मे हर साल की जाती है। इसके अलावा 'पोशिमाल' (सोमनाथ साधू) और 'मोख्तलर (नाजी मुनव्वर व अवतारकृष्ण 'रह बर') भी उपलब्ध है। 'गाधी जी का विद्यार्थी जीवन' कश्मीरी मे अनुवादित एक बालोपयोगी पुस्तिका है, इसका अनुवाद विशम्भरनाथ कौल ने किया है।

निबन्ध और समीक्षा के क्षेत्र मे पृथ्वीनाथ पुष्प, शमीम अहमद शमीम, यूसुफ टेग, विशम्भरनाथ कौल के नाम उल्लेखनीय है। इनमें विशम्भरनाथ कौल ने 'महजूर' और 'आजाद' के काव्य की तुलनात्मक समीक्षा 'जग ते प्रोन' (नीर क्षीर विवेक) मे की है। यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है।

१९४७ के वाद स्वतन्त्र भारत के भाषा-परिवार मे कश्मीरी को भी सविधान द्वारा १४ राष्ट्रीय भाषाओं मे समानता मिली। तब से भाषा व साहित्य-विकास के हेतु जितने भी उपक्रम किये गए, उनमें कश्मीरी भी साथ रखी गई। आकाशवाणी, दिल्ली तथा रेडियो कश्मीर ने कश्मीरी साहित्य विशेषतः गद्य के विकास मे श्लाघनीय योग दिया।

इधर जब से साहित्य अकादमी ने अन्तर्प्रान्तीय साहित्य के विनिमय का काम शुरू किया है, कश्मीरी साहित्य का विकास-क्षेत्र तब से प्रशस्त हो गया है। अब ससार के क्लासिकी साहित्य का कश्मीरी मे रूपातर किया जाने लगा है। पहली बार विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की रचनाए कश्मीरी मे अनूदित की जा रही हैं।

इस दिशा में कश्मीर की कल्चरल अकादेमी की स्थापना निस्सन्देह एक बडा भारी कार्य है, जिससे कश्मीरी साहित्य को बड़ी आशाएं है।

कुछ स्वतन्त्र सस्थाए भी कश्मीरी साहित्य-सवर्द्धन के उद्देश्य से काम कर रही हैं, जिनमे दिल्ली की 'कश्मीरी बज्मे अदब' का नाम उल्लेखनीय है। इसके तत्त्वावधान में 'पम्पोश' (द्वैमासिक) पत्रिका प्रकाशित होती है।

इस समय कश्मीर सरकार की 'तामीर' (उर्दू) और 'योजना' (हिन्दी) के अतिरिक्त 'पपोश' ही एक पत्रिका है, जो कश्मीरी रचनाएं छापती है। यह कमी खटकने वाली है कि कश्मीरी भाषा का अभी तक कोई दैनिक या साप्ताहिक पत्र नही है। श्रीनगर की पत्रिकाएं 'कुंगपोष' और 'गुलरेज़' कभी की बन्द हो चुकी है।

कश्मीरी साहित्य की एक बडी समस्या 'लिपि' रही है। इसकी पुरानी लिपि 'शारदा' अब उपयोग मे नही लाई जाती। फारसी लिपि मे ही कश्मीरी का अधिकाश साहित्य उपलब्ध है, हालाकि देवनागरी लिपि भी कही-कही बरती गई और बरती जा रही है। कश्मीरी भाषा मे अन्य भाषाओ की अपेक्षा अधिक ध्वनिया हैं, जो न फारसी और नाही देवनागरी लिपि मे हैं, इसलिए यह एक समस्या है कि उनको किस प्रकार व्यक्त किया जा सके। इससे साहित्य-सृजन, साहित्य-प्रकाशन व प्रचार मे रुकावट होती रही है; मगर अब इसे भी सुलझाया जा रहा है। इस समय फारसी लिपि मे ही कुछ चिह्न बढ़ाकर इस अभाव की पूर्त्ति की गई है।

जिस गति से कश्मीरी साहित्य इस समय बढ रहा है, उसे देखते हुए इसका भविष्य उज्ज्वल और आशा-मय है।

गुजराती साहित्य का परिचय

(सन १९०० से १९६० तक)

श्री के० का० शास्त्री

सन १९०० के पूर्व गुजराती साहित्य के विभिन्न रूपों का विकास हो चुका था। काव्य-क्षेत्र में कविवर दलपतराम डाह्याभाई ने प्राचीन कल्प लोकरजनी पद्धति मे रचना की थी और नई पद्धति मे नर्मदाशकर ने महत्त्व-पूर्ण कार्य किया था। अन्य कई कवियों ने भी अपनी साहित्यिक सेवाओं से गुजराती साहित्य की श्रीवृद्धि की। सन १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध के बाद बम्बई मे यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई। श्री नर्मदाशंकर ने थोडी बहुत शिक्षा पाकर यूरोपीय साहित्य से सम्पर्क स्थापित किया और पश्चिमी विचारधारा को गुजराती साहित्य में बहाने का कार्य किया। नरसिह राव दीवेटिया ने भी इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किए और उन्होने यूरोपीय पद्धति के प्रकृति कव्यो की शैली पर स्वतन्त्र कविताए लिखने का कार्य आरम्भ किया। उनकी ऐसी कविताओं का सग्रह 'कुसुम माला' मे देखने को मिलता है। इसी समय गुजराती में उर्दू की शायरी-पद्धति पर रचनाए करने का श्रीगणेश भी हुआ। कवि 'बाल' मणिलाल नभुभाई, देरासरी, कलापी, सागर आदि सुकवियो ने गजल की परम्परा मे सुन्दर रचनाए प्रस्तुत की।

पश्चिमी शैली के उपन्यासो का सूत्रपात भी इसी काल में हुआ। नन्दशकर का—'करण घेलो' और महिपतराम का 'वनराज चावडो' प्रारम्भकालीन ऐतिहासिक उपन्यास के सुन्दर नमूने है। सन १९०० ई० तक इस क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति हुई थी और इस प्रकार के उपन्यासो की रचनाए हो चुकी थी। सामाजिक उपन्यासों के लिखने मे नारायण हेमचन्द्र ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। बम्बई से प्रकाशित होने वाले गुजराती के साप्ताहिक पत्र 'गुजराती' मे उस काल के कई लेखको ने कथा-स्तम्भ के अन्तर्गत सामाजिक उपन्यास लिखने का कार्य बडे मनोयोग से आरम्भ कर दिया था। इस पत्र ने वार्षिक अको के रूपों मे ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित करने का सकल्प कर लिया था। इस प्रकार साप्ताहिक पत्र 'गुजराती ने दोनो प्रकार के उपन्यासों की भरमार कर दी। स्व० गोवर्धनराम का प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' चार भागो मे इसी समय प्रकाशित हुआ। इसका स्थान गुजराती उपन्यास के क्षेत्र मे पुराणो के समान है, जिसका चित्रण 'सरस्वती चन्द्र' मे किसी-न-किसी रूप मे न हुआ हो।

नाटक के क्षेत्र मे सन १९०० के पहले से ही रचनाए की जा रही थी। इस दिशा मे दलपतराम और नर्मदा-शकर ने प्रारम्भिक रचनाए की थी। उसके पश्चात श्री नवलराम ने 'वीरमती' नामक ऐतिहासिक नाटक लिखा। श्री रणछोडभाई उदैराम तथा मणिलाल नभुभाई ने सामाजिक नाटक लिखे। वैतनिक कलाकारो ने रगभूमि की शोभा बढाना आरम्भ कर दिया था। उस समय गुजरात के सिद्धहस्त अभिनेताओ द्वारा गुजराती लेखकों के समृद्ध नाटकों का अभिनय होने लगा।

निबन्ध, समालोचना, इतिहास-सशोधन तथा व्याकरण आदि के क्षेत्रों मे भी गुजरात मे पर्याप्त रूप से उल्लेखनीय कार्य आरम्भ हो चुका था। प्राचीन एव मध्यकालीन काव्य-साहित्य के प्रकाशन का कार्य प्रचुर परिमाण मे हुआ। इन पृथक-पृथक विषयो मे डा० भगवानलाल इन्द्रजी और उनके सहयोगी आचार्य वल्लभजी हरिदत्त पुरा-तत्त्व संशोधन के क्षेत्र मे सारे भारत मे ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इसी काल मे दलपतराम, नर्मदाशकर, नवलराम

इच्छाराम देसाई, हरगोविन्ददास काटावाला आदि विद्वानो ने साहित्य-सशोधन का कार्य शुरू कर दिया था। नर्मदाशंकर, नवलराम, नरसिहराव दीवेटिया, रमणभाई नीलकठ, आनन्दशकर ध्रुव, मणिभाई नभुभाई, कमलाशकर त्रिवेदी आदि ने इस काल मे निबन्ध-लेखन, व्याकरण-सशोधन आदि क्षेत्रो मे काफी कार्य किया है। साथ ही इन साठ वर्षों में अग्रगण्य नवयुवक साहित्यकारो, कवियो और सशोधको आदि ने भी अपना योगदान दिया है।

सन १६०० मे कवि 'कलापी' का देहासवान छब्बीस वर्ष की युवावस्था मे हुआ। फिर भी उनके मित्र-मडल के जगमगाते नक्षत्र श्री मणिशकर 'कान्त', प्रो० बलवतराय ठाकोर, मणिलाल नभुभाई, सागर, ललित आदि की साहित्य-सेवा का प्रवाह अविरत गति से प्रवाहित होता रहा। कवि नानालाल, अरदेशर 'खबरदार', बोटादकर आदि कवियो ने अपनी काव्य-समृद्धि द्वारा बीसवी शताब्दी की प्रथम दशाब्दी को गौरवशाली बनाया।

इस प्रथम दशाब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि गुजराती साहित्यकारो ने महान उपन्यासकार श्री गोवर्धनराम त्रिपाठी की अध्यक्षता मे सन १६०२ मे गुजराती साहित्य परिषद की स्थापना की। उसी समय अहमदाबाद मे रणजितराय बा० महेता (श्री अशोक महेता के पिता) ने 'गुजरात साहित्य सभा' की स्थापना की। यहा से प्रतिवर्ष साहित्यकारो के मेले का विशिष्ट आयोजन होता रहा। मासिक पत्रो का प्रकाशन सन १८५२ से आरम्भ हो गया था। अहमदाबाद की गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी (आधुनिक गुजरात विधान सभा) की ओर से 'बुद्धिप्रकाश' प्रकाशित होता था और अहमदाबाद के 'प्रेमचन्द रायचन्द अध्यापन मन्दिर' की ओर से 'शाला पत्र' का प्रकाशन होता था। इस क्षेत्र मे मणिभाई नभुभाई का मासिक पत्र 'सुदर्शन' प्रौढ साहित्यकारो के निबन्धो के प्रकाशन का केन्द्र बन गया। आनन्दशकर ध्रुव की ओर से 'वसत' मासिक पत्र का प्रकाशन भी इसी दशाब्दी मे हुआ। इस क्षेत्र मे 'समालोचक' की सेवा भी स्तुत्य है। इस प्रकार चारो ओर मे साहित्य की विभिन्न शाखाओ का निर्माण सामयिक पत्रों एव स्वतन्त्र ग्रथो मे मूर्त होने लगा।

इस काल की काव्योपासना मे कवि-सम्राट नानालाल दलपतराम (१८७७-१९४६) गुजराती ज्योतिर्धरों मे एक असामान्य नक्षत्र बन गए। इनको अग्रेजी साहित्य का अच्छा ज्ञान था। फिर भी भारतीयता के रग से रँगे हुए थे। आज तक इनका स्थान अपने ढग का अकेला है। जिन्होने मुक्त छन्द शैली की नीव डाली और अनेक कवियो ने उनका अनुकरण करने का प्रयत्न किया, किन्तु किसी को भी सफलता न मिली। इनका प्रथम काव्य-सग्रह 'केटलाक काव्यो' भाग १ के नाम से सन १६०३ ई० मे प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात 'वसतोत्सव', 'केटलाक काव्यो' भाग २, 'नाना नाना रास' भाग १, 'चित्र दर्शन', 'गीत मजरी', 'नाना नाना रास' भाग २, उत्तरोत्तर प्रकाशित होते रहे। इनकी रचनाओ मे उत्तम प्रकार से भावगीतो के श्रेष्ठ नमूने देखने को मिल जाते है। इन्ही के हाथो रास-काव्य मे नये प्रयोग (प्राचीन, मध्यकालीन गेय तथा नृत्यक्षम पदो एव लोक-नृत्य के ढाचे पर) आरम्भ हुए। उसकी समृद्धि आज भी हो रही है। इन्होने अपनी अभीष्ट मुक्त छन्द शैली मे अनेक नाटको की रचना की। यद्यपि यह नाटक रगभूमि के काम के न थे, किन्तु साहित्य की मूल्यवान निधि बन गए है।

नानालालजी इतिहास के भी अच्छे ज्ञाता थे, इसीलिए समय-समय पर दिए गये उनके व्याख्यान ऐतिहासिक सामग्री से भरपूर रहे है। उन्होने अतिम महान ग्रथ 'हरिसहिता' लिखकर भारतीय तत्त्वज्ञान को निचोड दिया है। यह ग्रथ गत वर्ष प्रकाशित हो चुका है।

पारसी जाति के भूषण तथा समस्त गुजरातियो के प्रिय कवि अरदेशर फरामजी 'खबरदार' (१८८१ मे १६००) का स्थान दूसरा है। उनका प्रथम काव्य-सग्रह 'काव्यरसिका' सन १६०१ मे प्रकाशित हुआ। कवि नानालाल ने यूरोपीय 'ब्लैंक वर्स' को लक्ष्य मे रखकर मुक्त छन्द की शैली दी तो खबरदार ने कवित्त-रचना भी इसी लक्ष्य को ध्यान मे रखकर की—'विलासिका', 'प्रकाशिका', 'सदेशिका', 'कलिका', 'भजनिका', 'रासचन्द्रिका', 'दर्शनिका', 'भारत नो टंकार' एव 'प्रभातनो तपस्वी' इनकी समृद्ध प्रकाशित रचनाए है। इन ग्रथो मे उनकी गेय कविताओ का भी पर्याप्त मात्रा में दर्शन होता है। ये दोनो कवि आगम साहित्य के मर्मज्ञ थे।

मणिशंकर 'कान्त' और प्रो० बलवन्तराय ठाकोर 'सेहेनी' (१८६६) भी बड़े मर्मज्ञ कवियो मे थे। कान्त

ने सन १६०० के पूर्व से ही वर्णवृत्त में गुजराती कविता का प्रवाह सुन्दर ढंग से बहाया था। उसी को प्रा० ठाकोर ने लगातार चार दशाब्दियों तक नये-नये प्रयोगों द्वारा अजीब ढंग से प्रभावित किया। यह इतिहास के एक समर्थ विद्वान थे। सस्कृत तथा आग्ल समालोचना साहित्य के भी परम ज्ञाता थे। इन दोनों क्षेत्रो मे इनकी सेवा सदा स्मरणीय रहेगी। फिर कविता मे इन्होंने नये युग को जन्म दिया। नानालाल और 'खबरदार' का अनुकरण उनके समय में और उनके बाद भी चल न सका। कुछ इधर-उधर के प्रयत्न हुए, किन्तु टिक न पाए। किन्तु प्रा० ठाकोर ने विचार-प्रधान तथा अर्थवाही कविता का प्रयोग आरम्भ किया। उसके साथ ही उन्होंने गुजराती में 'सॉनेट' का प्रयोग भी किया। आज तक यह पद्धति अविरत गति से आगे बढ रही है। इसी से उनका महत्त्व और भी बढ गया है। उनका यह काव्य-प्रवाह लगातार तीस वर्षों तक बहता रहा। स्व० रामनारायण विश्वनाथ पाठक तथा अन्य तरुण कवियो ने मुख्यतः इसी मार्ग को अपनाया। 'सुन्दरम्', 'स्नेह-रश्मि', 'बादरायण', 'श्रीधराणी', करसनदास माणेक, मनसुखलाल, पुजालाल, राजेन्द्र आदि कवियों ने इसी प्रकार की कविता का प्रवाह बहाया। इन चार दशाब्दियो को यदि हम 'बलवतराय युग' कहकर पुकारे तो अधिक उपयुक्त माना जायगा।

इन साठ वर्षों मे काफी प्रमाण मे गेय कविता भी लिखी गई। कवि बोटादकर, ललितजी एव अन्य तरुण कवियों ने इसी प्रकार की कविताएं प्रचुर मात्रा मे लिखी। अनेक कवियो ने गेय रास-रचना भी की। उनमें सव० केशव ह० सेठ तथा मूलजी भाई शाह की रास-रचनाए अत्यधिक समादृत हुई।

गुजराती मे आजकल दो प्रकार का काव्यप्रवाह चल रहा है·

(१) भारतीय तथा यूरोपीय पद्धति की विचारप्रधान कविता, और

(२) गजल पद्धति की कविता।

दूसरी पद्धति की रचनाएं कवि-सम्मेलनो में अधिक प्रचलित हैं, जिसका उद्देश्य लोक-रंजन है। यह पद्धति १६०० के पूर्व भी विकसित हो चुकी थी। स्व० अमृतकेशव नायक, स्व० सागर, स्व० नारायण विशनजी ठक्कुर ने इस पद्धति पर पर्याप्त मात्रा मे अच्छी रचनाए की थी। उन रचनाओं मे लोकरजन की मात्रा कम थी, इसीलिए संग्राह्य बन सकी। आज-कल की इस पद्धति पर लिखी गई अनेक तरुण कवियो की रचनाए इसीलिए संग्राह्य नही बन पातीं कि उनमें लोकरजक तत्त्व सर्वाधिक होता है। यद्यपि 'शयदा' और 'बेकार' आदि कवियों की रचनाएं इस दोष से सर्वथा मुक्त है। मार्ग-दर्शन के अभाव में यह पद्धति अधिक व्यापक नही बन सकी।

गुजरात के उच्च कोटि के कवियो का भी इस क्षेत्र मे आदर नही हुआ है। यदि गज़लों का यथेष्ट आदर हो तो सन १६०० के पूर्व जो गज़ले लिखी गई थी उनके समान आज भी गजलो की रचना असभव नही होगी। आज के प्रायः सभी कवि सस्कृत और अग्रेजी भाषा साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं।

हम यहां पर राष्ट्रीय आंदोलन को स्मरण किये बिना भी रह नहीं सकते। गुजराती के राष्ट्र-शायर स्व० झवेरचंद मेघाणी इस आन्दोलन की सतान है, यह कहना अत्युक्ति नही माना जायगा। राष्ट्र-भावना से युक्त कविताएं तरुण कवियों के द्वारा भी लिखी गई हैं, किन्तु उनके मूलस्रोत मेघाणीजी ही कहे जाएगे, जिन्होंने साहित्य के अन्य क्षेत्रो मे भी स्मरणीय सेवाए की हैं।

उपन्यास

इन साठ वर्षों मे ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास पर्याप्त समृद्ध बने। बम्बई के 'गुजराती' पत्र ने वार्षिक अक के रूप मे उपन्यासो की भेंट देने की प्रणाली स्थापित की थी। उसे अहमदाबाद के साप्ताहिक पत्र 'प्रजाबन्धु' एव 'गुजराती पच' ने जारी रखा। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्व० अमृत केशव नायक, स्व० ठक्कुर, नारायण विशन जी, कन्हैयालाल मुशी, चुनीलाल वर्धमान शाह प्रभृति उच्चकोटि के उपन्यासकार अस्तित्व में आये। सन १६१४ मे मुशीजी ने 'घनश्याम' के उपनाम से 'पाटणनी प्रभुता' लिखी। 'बीसवीं सदी' समाचारपत्र ने प्रतिमास उपन्यास-प्रकरणों को प्रकाशित करने की प्रणाली का समादर किया। उसी के फलस्वरूप मुशीजी के 'गुजरातनो नाथ' तथा 'राजाधिराज' दो उच्चकोटि के उपन्यास प्रकाशित हुए।

अन्तिम दो दशाब्दियो में दैनिक समाचारपत्रो ने भी प्रति सप्ताह उपन्यास-प्रकरणो को छापना आरम्भ किया। इस प्रणाली ने स्व० झवेरचद मेघाणी, गुणवतराय आचार्य, पन्नलाल पटेल, गुलाबदास ब्रोकर, चुन्नीलाल मडिया, दर्शक, पीताम्बर पटेल, पुष्कर चदरवाकर, पेटलीकर आदि उपन्यासकारो को साहित्य-सेवा करने का अवकाश दिया।

कुछ लेखको ने इस काल मे स्वतन्त्र रूप से भी उपन्यास लिखने का कार्य आरम्भ किया। गुजराती मे छोटी-छोटी कहानियां लिखने का श्रेय श्री 'धूमकेतु' तथा स्व० रामलाल व० देसाई को है। इन दोनो ने ऐतिहासिक एव सामाजिक उपन्यास भी लिखे है, जो खूब समादृत हुए है।

हम बड़े गौरवपूर्वक कह सकते है कि बगला एव मराठी भाषा के पश्चात गुजराती भाषा के उपन्यास ही आते हैं। गुजराती उपन्यासो मे अधिकतर प्रौढत्व दिखाई देने का एकमात्र कारण यह है कि उपन्यासकारो का प्रगाढ सम्बन्ध सस्कृत एव आग्ल साहित्य से रहा है। गुजराती मे बगला-उपन्यासो का अनुवाद भी पर्याप्त मात्रा मे हुआ है। यहा शरतबाबू जैसे उपन्यासकारो की रचनाए आत्मसात हो गई है।

आज के गुजराती उपन्यासो का सबसे बडा वैशिष्टय है ग्रामीण समाज का चित्रण। पहले यहा सामाजिक उपन्यासो मे शहर के समाज का चित्रण हुआ करता था। आज पन्नालाल पटेल, ईश्वर पेटलीकर, चुन्नीलाल मडिया, पुष्कर चदरवाकर आदि लेखको की रचनाओ पर दृष्टि डाले तो देखेगे कि वहा ग्रामीण समाज का अविकल चित्र मिलेगा।

कहानी

कहानी-क्षेत्र के मूल विकास का श्रेय भी समाचार-पत्रो के सिर पर जाता है। इस प्रवाह का आरम्भ श्री 'धूमकेतु' तथा स्व० रामनारायण पाठक 'द्विरेफ' ने किया था। आज यह अत्यन्त लोकप्रिय और प्रचलित बन चुका है। पहले स्व० नारायण वि० ठक्कर ने कुछ ऐतिहासिक कहानिया लिखी थी। किन्तु वे प्राय छोटे उपन्यासो की तरह बडी थी। श्री 'धूमकेतु' ने यूरोपीय पद्धति का अनुकरण किया। अत हम उन्हे यदि छोटी कहानियो का जनक कहे तो सर्वथा उचित होगा।

श्री कन्हैयालाल मुशी, स्व० रमणलाल व० देसाई, श्री गुणवन्तराय आचार्य, तरुण कवियो मे सुन्दरम्, स्नेहरश्मि, उमाशकर जोशी, तरुण उपन्यासकारो मे श्री चुन्नीलाल मडिया, ईश्वर पेटलीकर, पीताम्बर पटेल, पुष्कर चदरवाकर ने छोटी कहानिया लिखकर इस साहित्य को समृद्ध बनाने मे योग दिया है और इसे प्रशस्त बनाया है।

नाटक

गुजराती रगभूमि का इतिहास यशस्वी है। इसका मुख्य विकास-केन्द्र बम्बई था। पारसी और गुजराती लेखको ने समय-समय पर अनेक नाटक लिखे, जो आज भी आदर की दृष्टि से देखे जाते है। सन १९०० के पूर्व ही स्व० रणछोडभाई उदयराम, मणिलाल दभुभाई, डाह्याभाई घोलशा जी, कवि नथुराम सुन्दर जी, नाथाशकर शास्त्री आदि ने अनेक नाटक लिखे। यह प्रवाह विगत साठ वर्षो मे भी प्रवाहित हुआ। इधर के नाटक-लेखकों मे स्व० नारायण विसन जी ठक्कुर, श्री कन्हैयालाल मुशी, स्व० श्री रमणलाल व० देसाई, नृसिह विभाकर की परम्परा मे प्रभुलाल ब्रह्म-भट्ट, परमानन्द त्रापजकर आदि लेखको ने अपने नाटक लिखे है। हा, नाटको के प्रकाशन का काम बहुत कम हुआ है। जिसका मूल कारण यह था कि नाटको के प्रकाशन का सर्वाधिकार नाटक कम्पनियो के हाथ मे सुरक्षित था। सैंकडो नाटक लिखे गए थे। फिर भी उनमे से श्री मुशी जी तथा स्व० रमणलाल देसाई जैसे स्वतन्त्र लेखकों के नाटक ही प्रकाशित हो सके। गुजराती नाटको का स्थान सदा से विशिष्ट रहा है। उनमे स्वर्गीय बापूलाल नायक तथा वर्तमान जयशकर सुन्दरी भारत-विख्यात है।

इस नये युग मे अवैतनिक रगभूमि का विकास बडे जोर-शोर से हुआ है। इस रगभूमि पर अभिनीत होने के लिए अनेक छोटे-मोटे नाटको की रचना हो रही है। इसी युग मे एकाकियो की रचना का प्रचलन भी हुआ। स्व० बटुभाई लालभाई उमरवाडिया (स० १८९९ से १९५५) ने 'मत्स्यगधा और गागेय', 'मालादेवी और अन्य नाटको' शीर्षक से दो एकांका-संग्रह सर्वप्रथम प्रकाशित कराए। इसके बाद इस प्रवृत्ति की ओर तरुण लेखकोका भी ध्यान खिंचा।

श्री जयन्ती दलाल, चन्द्रवदन मेहता, उमाशंकर जोशी, चुन्नीलाल मडिया, पुष्कर चंदरवाकर, के० का० शास्त्री आदि अनेक लेखको ने काफी सख्या मे एकाकी और लघु नाटिकाओ से गुजराती साहित्य को समृद्ध बनाया है। विद्यालय-महाविद्यालयो मे वार्षिक समारोहो के अवसर पर बहुत-से एकाकी और छोटे नाटक रगभूमि पर आया करते है। ये रचनाएं अवैतनिक कलाकारो द्वारा स्वतन्त्र रूप से भी समय-समय पर अभिनीत होती है।

हास्य-साहित्य

इस साहित्य का आरम्भ स्व० महीपतराम नीलकण्ठ तथा नवलराम पंड्या की ओर से आज से साठ वर्ष पूर्व ही हो चुका था। इस परम्परा मे स्व० रमणलाल नीलकण्ठ ने 'भद्रभद्र' जैसा हास्यपूर्ण उपन्यास लिखकर सबको चकित कर दिया। इधर के साठ वर्षों मे श्री ज्योतीन्द्र दवे, 'मस्तफकीर', 'ओलिया जोशी', 'दोलिया देव', श्री धनसुखलाल महेता आदि लेखको ने इस साहित्य को अपनी बहुमूल्य सेवाओ से समृद्ध बनाया है। यह परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित हो रही है।

लोक-साहित्य

यद्यपि गुजराती का लोक-साहित्य एक अमूल्य निधि है, फिर भी इसका लिखित स्वरूप प्राय दुर्लभ हो चुका था। यह साहित्य सैकडो वर्षों से देहातो मे निवास करने वाले लोगो के मुखकण्ठ मे दोहा-सोरठा के रूप मे चला आ रहा है। सर्वप्रथम साप्ताहिक पत्र 'गुजराती' के वार्षिक अको मे ऐसे साहित्य को गद्य-पद्यमय कहानियो के रूप मे स्थान मिला। सर्वप्रथम पोरबन्दर के निवासी स्व० जगजीत कालिदास ने इस विषय पर अनुसन्धान किया। इसके पश्चात जिन अन्य अनुसन्धानकर्त्ताओ का ध्यान भी इधर गया उनमे स्व० झवेरचन्द मेघाणी एव स्व० गोकुलदास रायचुरा का नाम परम आदरणीय है। अनुसन्धानकर्त्ताओ ने इस साहित्य को चारणो-भाटो तथा देहातवासियो से बड़े परिश्रमपूर्वक एकत्र किया। इनके कई सग्रह प्रकाशित हुए। साथ ही बहुत-सी प्रचलित कहानिया भी प्रकाशित हुई। स्व० मेघाणी की 'सौराष्ट्रनी रसधार' के छह भाग तथा 'सोरठी बाहरवटिया' के तीन भाग इसी प्रवृत्ति के उत्तमोत्तम उदाहरण कहे जा सकते है।

तत्पश्चात सामाजिक प्रसगों तथा उत्सवों पर गाये जाने वाले गीतो, रासो, मरसियो तथा अलग-अलग जातियो मे प्रचलित इस प्रकार के साहित्यो का अनुसन्धान हुआ। भीलो के गीत, पठारो के गीत आदि भी प्रकाशित हुए। आज लोक-साहित्य भी साहित्य का एक अग बन चुका है। प्रो० पुष्कर चदरवाकर जैसे विद्वानो ने इस साहित्य मे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है।

निबन्ध और समालोचना

आज से सौ साल पूर्व 'बुद्धिप्रकाश' और 'शालापत्र' का प्रकाशन आरभ हो गया था। तभी से स्वतन्त्र निबन्ध-लेखन कार्य भी आरभ हुआ। यूनिवर्सिटी की स्थापना ने इस साहित्य को अत्यधिक वेग प्रदान किया, इसकी अविरत वृद्धि होने लगी। अनेक विषयो पर छोटे-मोटे निबन्ध लिखे जाने लगे थे, किन्तु इस क्षेत्र को कवि दलपतराम, नर्मदाशकर, नवलराम आदि के द्वारा एक विशिष्ट गौरव मिला। 'नर्मदे गद्य' और 'नवलराम ग्रथावली' साठ वर्ष से पूर्व के समृद्ध निबध-संग्रह है।

धीरे-धीरे साहित्य के विभिन्न अगो को लेकर विवेचनात्मक निबन्धसाहित्य के विकास का आरंभ हुआ। स्व० नरसिंहराव दीवेटिया, कमलाशंकर त्रिवेदी, रमणभाई नीलकठ, मणिभाई नभुभाई, रणजीतराय बाबाभाई, आनदशकर ध्रुव आदि विद्वानो ने विवेचन साहित्य को गौरवमय स्थान दिलाया। गत साठ वर्षों मे इस साहित्य को समृद्ध बनाने में रमणभाई, रणजीतराय तथा आनदशकर ध्रुव की सेवाएं सदा स्मरणीय बनी रहेगी। रमणभाई के—'कविता और साहित्य' तथा 'धर्म और समाज' के चार-चार सग्रह 'रणजीतराम ना निबधो', आनदशकर ध्रुव के 'आपणो धर्म', 'काव्य तत्त्व विचार', 'साहित्य विचार', 'दिग्दर्शन' 'विचार माधुरी' आदि सग्रह, नरसिहराव दीवेटिया के 'मनोमुकुर' के चार ग्रथ, केशवलाल ध्रुव के 'साहित्य और विवेचन' के दो भागो ने इस साहित्य को समृद्ध बनाया है।

अभिनव विवेचको मे प्रा० विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, स्व० नवलराम त्रिवेदी, प्रा० डालरराय माकड, मनसुख-लाल झवेरी, अनंतराय रावल, भोगीलाल साडेसरा, के० का० शास्त्री आदि विद्वानो की सेवाए अनेक सग्रह-ग्रथो मे प्रसिद्धि पा चुकी है। सामयिक पत्रो एव दीवाली-अको मे भी विवेचन साहित्य अविरत चालू है। वर्षभर मे प्रकाशित होने वाले ग्रथों की समीक्षा का कार्य भी होता रहता है। अहमदाबाद की गुजरात साहित्य सभा की ओर मे प्रतिवर्ष ऐसी समालोचना ग्रथ-रूप में गत ३० वर्षों से आ रही है। सस्कृत एव आग्ल साहित्य के विशिष्ट परिचय के कारण गुजराती विवेचन की कक्षा हमेशा ऊची रही है।

गांधी-युग की सेवा

महात्मा गाधी ने जब से साप्ताहिक 'नवजीवन' का प्रकाशन आरभ किया तब से गुजराती मे एक विशिष्ट प्रकार की सरल, निराडम्बर गद्य-शैली का विकास हुआ। गाधीजी, काका कालेलकर, स्व० किशोरलाल मशरूवाला, स्व० नरहरिभाई परीख, स्व० महादेवभाई देसाई, श्री मगनभाई देसाई प्रभृति लेखको ने गुजराती के निबन्ध-साहित्य को अधिक परिपोषित किया है। गत ४० वर्षों से नवजीवन लेखक मडल की सेवा अविरत चालू है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयो पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथो का लाभ 'नवजीवन प्रकाशनगृह' से हुआ है। गाधी-युग के प्रभाव मे आज भाषा का कृत्रिम शब्दाडम्बर विलुप्त होता जा रहा है और घरेलू भाषा की प्रतिष्ठा गद्य एव पद्य मे उपभोग्य होती जा रही है।

सन १८४० मे यहा समाचारपत्रो का प्रकाशन आरभ हुआ। गत साठ वर्षों मे दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक, वार्षिक समाचारपत्रो का अच्छा विकास हुआ है। समाचारपत्रों ने गुजराती साहित्य के विविध अगो को विवृद्ध करने मे प्रोत्साहन दिया है। गाधी-युग के कारण गुजराती भाषा मे सर्वभोग्यता और विचारो मे व्यापकता आ गई है।

प्राचीन साहित्य का प्रकाशन तथा भाषाशास्त्रीय संशोधन

जब से लिथोग्राफी-मुद्रण कार्य प्रचलित हुआ था तभी से गुजराती कविता साहित्य का प्रकाशन आरभ हो गया था। सर्वप्रथम स्व० कवि नर्मदाशकर तथा नवलराम पड्या की पुस्तको का, शास्त्रीयता का कुछ ध्यान रखते हुए प्रकाशन हुआ। कवि दलपतराम, इच्छाराम सूर्यराम देसाई, महीपतराम नीलकठ, हरिगोविन्ददास काटावाला, छगन-लाल विद्याराम रावल आदि विद्वानों ने शास्त्रीयता का अधिक ध्यान रखते हुए भी कई ग्रथो का सम्पादन किया है। शास्त्रीयता की ठीक-ठीक रक्षा तो गत साठ वर्षों मे ही हुई है। स्व० केशव ह० ध्रुव तथा अबालाल बुलाखीदास जैसे विद्वानों ने भाषा के प्राचीन तथा मध्यकालीन स्वरूप का ध्यान रखते हुए सम्पादन-कार्य आरभ किया। इसके बाद डॉ० मंजुलाल मजूमदार, स्व० शकरप्रसाद रावल, स्व० रामलाल मोदी तथा वर्तमान समय मे के० का० शास्त्री, मधुसूदन मोदी, डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, कान्तिलाल व्यास, डॉ० हरिवल्लभ भायाणी आदि विद्वानो ने शास्त्र-सम्मत व्याख्याए देने का आरभ किया। इसी के फलस्वरूप आज अच्छे-अच्छे प्राचीन और मध्यकालीन गद्य-पद्य-सग्रह प्रकाशित हो चुके है। उनसे भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने मे सरलता प्राप्त हुई है।

भाषाशास्त्रीय दृष्टि से व्युत्पत्ति का कार्य सर्वप्रथम स्व० ब्रजलाल शास्त्री ने किया था। उसी का अनुसरण स्व० नरसिहराव दीवेटिया ने किया। गत साठ वर्षो मे स्व० केशव ह० ध्रुव के बाद आजकल श्री के० का० शास्त्री, डॉ० त्र्यबकलाल दवे, मधुसूदन मोदी, डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, डॉ० प्रबोध पडित, डॉ० भोगीलाल साडेसरा प्रभृति विद्वानो ने इस क्षेत्र मे उल्लेखनीय कार्य किया है।

बम्बई यूनिवर्सिटी की ओर से स्व० नरसिहराव दीवेटिया का 'विल्सन भाषाशास्त्रीय व्याख्यानमाला' मे 'भाषा अने साहित्य' तथा 'ठाकुर वसनजी मावजी व्याख्यानमाला' मे डॉ० भोगीलाल साडेसरा का 'शब्द अने अर्थ' एव के० का० शास्त्री की 'रूपरचना' भाषाशास्त्र के गभीर तथा अनुशीलनपूर्ण ग्रथ है। इसके पश्चात डॉ० त्र्यबकलाल दवे का अंग्रेजी में प्रकाशित 'सोलहवी शताब्दी' की गुजराती भाषा, पं० बेचरदास दोषी का बम्बई यूनिवर्सिटी मे दिया गया

व्याख्यान 'गुजराती भाषा की उत्क्रान्ति', डॉ० हरिवल्लभ भायाणी का 'वाग्विकास', के० का० शास्त्री का 'गुजराती वाग्विकास' आदि ग्रंथ स्वतंत्र रूप से इस क्षेत्र के जगमगाते नक्षत्र हैं।

गुजराती साहित्य के इतिहास के भी महत्त्वपूर्ण ग्रथ प्रकाशित हो चुके है। स्व० कृष्णलाल मो० झवेरी ने 'गुजराती साहित्यना मार्गसूचक स्तम्भो' गुजराती और अंग्रेजी दोनो भाषाओ में लिखा है। स्व० नरसिंहराव दीवेटिया ने 'भाषा और साहित्य' पर जो पिछले तीन व्याख्यान दिए, वे भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। श्री कन्हैयालाल मुशी का 'गुजरात एव उसका साहित्य', श्री विजयराम वैद्य का 'गुजराती साहित्य की रूपरेखा', श्री के० का० शास्त्री का 'आपण कविओ', 'कवि चरित' और 'गुजराती साहित्यनु रेखादर्शन', श्री अनतराय का 'मध्यकालीन साहित्य का इतिहास' ग्रथ और कई अन्य लेखको की इस विषय पर लिखी गई पुस्तकों का इस क्षेत्र में अच्छा महत्व है।

स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई के 'जैन गुर्जर कविओ' ग्रन्थ का नाम भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है।

पुरातत्त्व-इतिहास आदि का संशोधन

इस विषय पर सर्वप्रथम किन्लोक ए० फार्ब्स और डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी ने अपनी लेखनी उठाई। फार्ब्स ने 'रासमाला' मे ऐतिहासिक कथाओ को सकलित किया। डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी ने गिरिनार की चट्टान पर खुदे हुए अशोक के धर्मोपदेशो का अन्तिम शुद्ध वाचन करके ससार मे ख्याति प्राप्त की और विदेशों से 'डाक्टर' की उपाधि की पात्रता प्राप्त की। उन्होंने गुजरात के प्राचीन इतिहास का भी सशोधन किया और 'बोम्बे गजैटियर' के ग्रथो का महत्त्वपूर्ण सम्पादन किया। इन साठ वर्षों मे यह कार्य और भी सुन्दर ढग से हुआ है। स्व० दुर्गाशकर शास्त्री, स्व० रत्नमणि भीमराव, वर्तमान समय मे मुनिश्री जिनविजयजी, प्रा० रसिकलाल परीख, डॉ० हसमुख सांकलिया, तथा प्रा० फोमिसेरियत की महान सेवाओं का गुजरात ऋणी रहेगा। तरुण लेखकों मे डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री ने वल्लभीपुर के मैत्रकों के विषय मे महत्त्वपूर्ण ग्रथ लिखे है। वे इस समय 'क्षत्रपो के इतिहास' का अनुसन्धान कार्य कर रहे है।

स्थापत्य और शिल्प के विषय मे वर्जेश तथा कनिंगहम ने अग्रेजी मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यही कार्य स्व० श्री रत्नमणिराव ने गुजराती मे किया है। श्री कन्हैयालाल मा० दवे ने 'गुजरातनु मूर्तिविधान' पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। शीघ्र ही इस ग्रथ का प्रथम भाग प्रकाशित होने जा रहा है। डॉ० कु० प्रियबाला शाह हड़प्पा सस्कृति की समकालीन लोथल-सस्कृति के अवशेषो पर अनुसधान कार्य कर रही हैं।

धर्म और तत्त्वज्ञान साहित्य

सन १६०० से पहले ही इस विषय मे गुजरात में जैन एव वेदधर्मानुयायी सम्प्रदायो का विशेषत. अनुवाद-कार्य विपुल प्रमाण में ग्रथस्थ हो चुका था। यह कार्य उसी समय मणिलाल नभुभाई ने स्वतन्त्र रूप से आरम्भ किया। इस समय बडौदा मे श्रेय साधक अधिकारीवर्ग का 'ब्रह्मनिष्ठ' श्री नृसिहाचार्यजी ने लिखना आरभ किया— उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने 'विचारसमर' ग्रथावली का प्रकाशन किया था। सुप्रसिद्ध विचारक वाडीलाल मो० शाह और परम योगी रामचन्द्रजी ने भी महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था। स्व० आनदशकर ध्रुव और रमणभाई नीलकठ ने भी यह कार्य शुरू कर दिया था। इन साठ वर्षों के समय मे भी यह परम्परा चालू रही। स्वतन्त्र रूप से एव सम्प्रदायो द्वारा भी ऐसा बहुत-सा साहित्य प्रकाशित हुआ है और आज भी होता जा रहा है। दार्शनिक विषयो पर भी विचारपूर्ण ग्रथादि का प्रकाशन हो रहा है। स्व० किशोरलाल मशरूवाला और प० सुखलालजी की दार्शनिक साहित्योपासना का विशिष्ट स्थान है।

उपसंहार

आज वैज्ञानिक एव विशिष्ट बाल-साहित्य का विकास भी उल्लेखनीय है। कोश का कार्य स्व० नर्मदाशंकर ने आरभ किया था, वह अब भी चल रहा है। गुजरात राष्ट्रीय विद्यापीठ ने गुजराती शब्दो की लेखन-एकरूपता के लिए 'जोडणी कोश' प्रकाशित किया है। उस कोश के अब तक चार संस्करण हो चुके हैं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रशसनीय कार्य गोडल राज्य के भूतपूर्व नरेश श्री भगवतसिह के सम्पादकत्व मे श्री चदूलाल ब० पटेल ने 'भगवद्-

गोमडल' कोश के बड़े-बडे नौ ग्रंथो के रूप में हुआ है। यह कोश ढाई लाख शब्दों की सोदाहरण व्याख्या से अलकृत है।

इस प्रकार गुजरात में इस समय विविध साहित्यांगो तथा कला के क्षेत्र मे विकास-कार्य चल रहा है। प्रौढ एव तरुण लेखक गुजराती साहित्य के विकास मे सलग्न है। इस गुजराती भाषा का बीज आज से आठ सौ वर्ष पूर्व आचार्य हेमचन्द्र ने बोया, आज उसका विकास वट-वृक्ष की तरह सभी क्षेत्रो मे हो रहा है। मध्यकाल मे जैन एवं जैनेतर साहित्यकारो ने गुजराती भाषा की बड़ी सेवा की। आधुनिक काल मे यूनिवर्सिटी शिक्षा के फलस्वरूप पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क स्थापित हुआ है। अब नये-नये साहित्यागो का विकास होता जा रहा है। जगत की कोई भी ऐसी विद्या नही है, जिस पर गुजराती में ग्रथ-रचना न हुई हो।
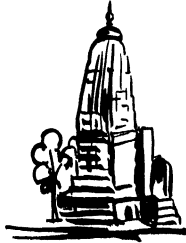
तमिल साहित्य

श्री र० शौरिराजन

सस्कृत की एक सूक्ति प्रसिद्ध है कि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।' (माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी महान होती है ।) इधर, 'जननी' शब्द जननीसम मातृभाषा का पर्याय हो सकता है । सतान के भौतिक पालन-पोषण तथा सवर्धन मे मा का जितना ममत्वपूर्ण योग है, उतना ही मातृभाषा का भी बौद्धिक परिपोषण और विकास मे है । अतएव यह मत सगत है कि मातृभाषा का अध्ययन-अनुशीलन आदि, स्वर्ग-सुखो को भी नीरस बना देता है ।

मातृभाषा की समृद्धि तथा सवृद्धि पर प्रत्येक भाषा-भाषी का विशिष्ट आग्रही होना सहज है । अतः सर्वत्र मातृभाषा की साहित्यिक और सास्कृतिक सम्पदा पर गर्व करने की स्वाभाविक चित्तवृत्ति हमे दिखाई देती है । इसका अतिसीमित आवेग, कभी-कभी सर्वमान्यता का गौरव खोकर, कट्टरता से लाछित हो जाता है । भाषाशास्त्रियो, साहित्य-समीक्षको तथा प्रचारको की विभिन्न धारणाए भी कभी-कभी गडबडी पैदा कर देती है । इधर, हम तटस्थता से प्रकृत विषय की चर्चा करेगे ।

'तमिल' का शुद्ध रूप 'तमिऴ' है । 'ऴ' ळ का मूर्धन्य रूप है, जो तमिल भाषा का विशिष्ट अक्षर है । इधर प्रचलन और सुविधा की दृष्टि से 'तमिल' का उपयोग किया जाता है ।

द्रविड भाषा-कुल मे तमिल ही एक ऐसी भाषा है, जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता को अद्यापि बनाये रखती है । आर्यों के भारत-प्रवेश के पूर्व ही द्रविडों की सस्कृति और भाषा समृद्ध थी । मोहोनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेष उपरोक्त मत की पुष्टि करते है । किन्तु, उस समय, द्रविड भाषा का स्वरूप क्या था, उसकी साहित्यिक रचनाए कैसी थी, इसका प्रमाण नही मिलता । काल-कवलित हो जाने से, केवल अनुमान (तथ्य मूलक) के बल पर हम प्राचीनतम द्रविड सस्कृति का आभास पाते है ।

प्रो० वॅजिनर (Prof Wegener) का अभिमत है कि यूरोप मे जब कोयले की उत्पत्ति हो रही थी, तब आस्ट्रेलिया, दक्षिण अमेरिका और भारत आदि भूभागो मे एक ही प्रकार के पेड-पौधे उगे हुए थे । इसलिए ये भूभाग अखण्ड प्रदेश के रूप मे फैले होगे । इस अखण्ड प्रदेश को भूतत्त्वशास्त्रियो ने 'गोडवाना' (Gondwana) नाम रखा है, इसीको 'लेमूरिया' भी कहते है । प्राचीन तमिल-ग्रन्थो मे इस प्रदेश को 'नावलन्तीवु' (नावलम द्वीप) के नाम से निर्दिष्ट किया जाता है । भूगर्भवेत्ता उन भूभागो के खुदाई द्वारा प्राचीनतम अवशेषो मे, जो शिलीभूत प्राणियों तथा वनस्पतियो (Fossil remaius) के मूर्त है, तत्कालीन अखण्ड प्रादेशिकता को प्रमाणित करते है । इस अखण्ड प्रदेश मे ईसा-पूर्व—प्राय. चार हजार वर्ष पूर्व—विकराल प्रलय होने की चर्चा पाश्चात्य विद्वानो ने की है । इधर शतपथ ब्राह्मण और तमिल के सघकालीन साहित्य मे भी भीषण जलप्लावन का निर्देश पाया जाता है ।

भारत के उत्तरापथ मे फैली दस्यु, नाग, कोड आदि आदिम जातिया द्रविड़ कुल की मानी जाती है । नागो की शाखाए दक्षिण मे सिहल तक फैली हुई है । इनकी बोली, आचार-प्रणाली और आकृति के साथ कुछ सीमा तक की समानता मिश्र, अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका के आदिम निवासियो मे पाई जाती है । विक्टर क्रिश्चियन (Victor

Christion), फेडरिक राइट (Federik Wrigbt), एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) आदि विद्वानों ने उक्त भौगोलिक तथा सांस्कृतिक सम्पर्क पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। ई० एफ० ग्रोर्लन (E. F. Orlon) का मत है, "दिवा-दैव (Beal) बलिपीठ, ऋषभ और सूर्य-स्तम्भ आदि चिह्न सालडिया, बाबिलोनिया आदि भूभागो मे प्राचीन काल मे पाये जाते थे। वहा प्रचलित (पूजित) सूर्य देवता (Belmarduk) और चन्द्र देवता (Ishtar) के मन्दिरो मे देवदासिया रहती थी। बडे-बड़े उत्सब तथा पूजाकर्म किये जाते थे। ये द्राविडों की आचार-प्रणाली से मिलते-जुलते थे। सालडियो के मृत्तिका-पट्टो मे, जो हजार से पाच हजार साल ई० पू० के मध्य के थे, 'Drauvada' और 'Drapada' शब्द मिलते हैं। यह अनुमान सही निकलेगा कि सालडिया की जाति द्रविड कुल की ही रही होगी।"[1]

द्रविड जाति की व्यापकता तथा अतिप्राचीनता के बारे मे पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। कई भारतीय अनुसन्धाताओ ने भी इस मत की पुष्टि और मान्यता दी है।

अब आगे देखे, 'तमिळ' शब्द की निष्पत्ति कब और कैसे हुई, यह यद्यपि कम विवादास्पद नही है, फिर भी विद्वानो के बहुमत के आधार पर यह कहा जा सकता है, 'द्रमिल' शब्द से जो आदिम द्राविड कुल का प्रचलित शब्द था, 'तमिळ' का उद्भव हुआ। इसी 'द्रमिल' से 'द्रविड़' शब्द निष्पन्न हुआ, न कि 'द्रु' धातु मे, जैसा कि कुछ सस्कृतज्ञ मानते हैं। 'तमिळ' के अपभ्रश-रूपो को ही पालि तथा प्राकृत भाषाओ मे 'दविड', 'दबिल' आदि शब्दो के द्वारा पाते है।

वराह मिहिर ने (ई० छठी शती) अपने ज्योतिष-शास्त्र ग्रन्थ मे 'द्रमिड' शब्द का प्रयोग किया है। उसी काल के मगलेश नामक राजा के अभिलेखो मे 'दिरमिल' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

ऐसी प्राचीन भाषा की वर्णमाला भी अपनी विशिष्टता और स्वतन्त्रता के लिए प्रसिद्ध है। भारतीय भाषाओ मे केवल तमिल लिपि ही ऐसी है जिस पर नागरी अक्षरो का प्रभाव नही पडा। कारण यह है, इसका स्रोत 'वट्टॆळुत्तु' (वर्तुल लिपि) माना जाता है। इसलिए ब्राह्मी लिपि की तरह, उसकी भी अपनी प्रत्येक परम्परा है और आकृति है।

तमिल मे बारह स्वर है और अठारह व्यजन है। नागरी की तरह ख, ग आदि महाप्राण-अल्पप्राण के अक्षर नही होते। केवल प्रथम वर्ग के अक्षरो से ही स्थान-सन्निवेश के प्रभेदो के अनुसार घोष-अघोष की ध्वनिया व्यजित होती हैं। तमिल-लिपि की विशेषताओ मे यह भी एक है। विसर्ग की तरह 'आयुतम्' नामक अक्षर '⸪' और 'ए, ओ' के ह्रस्व-रूप भी स्वराक्षरो मे होते है। व्यजनो मे चार विशिष्ट अक्षर है जो नागरी आदि आर्य-भाषाकुल की लिपियो मे अप्राप्य है, वे है, ऴ ('ळ' का मूर्धन्य मृदु रूप) ळ, 'ऱ' ('र' का महाप्राण), न (दन्त्य 'न' से भिन्न नकार)। तमिल मे सयुक्ताक्षर लिखने की परिपाटी सरल है, जैसे कि 'क्क' के लिए 'क्क', 'र्श्व' के लिए 'र्श्व' इत्यादि। तमिल-लिपिज्ञो को इन सयुक्ताक्षरो की कठिनाई नही होती। लिपि-विशेषज्ञो का कहना है कि अग्रेजी लिपि के बाद, सरलता की दृष्टि से तमिल लिपि को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है।

भक्तिकाल मे (ई० दसवी शती मे) जो मणि-प्रवाल शैली तमिल मे प्रचलित हुई, उसकी सुगमता के लिए नागरी लिपियो से ज, स, ष, ह, क्ष को लिया गया था। ये अक्षर केवल तमिलेतर भाषा-शब्दो को लिखने के लिए ही उपयुक्त होते है।

तमिल साहित्य

तमिल की प्राचीनतम साहित्यिक गति-विधि का परिचय सघकाल से प्राप्त होता है। यह सघ, जिसका मूल तमिल रूप है 'चङ्कम्' विद्वत्परिषद है। इस महान सभा मे प्रकाण्ड पडित, कविवर तथा आचार्य इकट्ठे होकर नये ग्रन्थों का अवतरण करते थे। इस सघ के अभिभावक थे पाण्डिय नरेश। इस प्रकार के तीन सघ (परिषद) पाण्डिय देश में आयोजित हुए थे।

प्रथम सघ, काय्चिन वळुति नामक पाण्डिय नरेश के अभिभावन मे, उसकी सभा मे और शिवजी के तत्वा-

---

१. 'Links with Past ages' PP. 215-222.

वधान मे प्रारम्भ हुआ। इसमें अकत्तियनार (अगस्त्य मुनि), कार्तिकेय इन पुराण-प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ, मुडिनाकनार, नितियिन् किळवन आदि तमिल विद्वान और मार्कण्डेय, गौतम, वाल्मीकि आदि संस्कृत कवि भी भाग लेते थे। शिवजी को आर्य भाषा के साथ द्रविड भाषा का भी जन्मदाता माना जाता है। अगस्त्य तमिल के प्रधान वैयाकरण के रूप मे प्रख्यात थे।

इस प्रथम परिषद मे ४,४४० (चवालीस सौ चालीस) पडित भाग लेते थे और उनकी तमिल रचनाओं—परिपाडळ्, मुदुनारै, मुदुकुरुकु, कळरियाविरै आदि-प्रबन्ध-शैलियों की रचनाएं प्रकाशित की गईं। यह परिषद् कई सौ साल तक चलती रही और इसके अभिभावक काय्चिन वळुदि से कडुकोन तक के ८९ (नवासी) पाण्डिय नरेश थे। इन मे सात नरेश स्वय महाकवि थे और इनकी योग्यता की प्रामाणिकता उक्त परिषद् द्वारा अगीकृत तथा समादृत हुई। इन नरेशो मे निलन्तरु तिरुविर पाण्डियन विशेष प्रख्यात था। अपनी विद्वत्ता, नीतिकुशलता, सद्गुणिता एव गुणज्ञता के कारण, यही बाद को, दूसरे सघ के अभिभावक तथा प्रवर्तक के रूप मे ख्याति पाता था। इस प्रथम सघ-काल मे सबके लिए अनुकरणीय व्याकरण था अगस्त्य-प्रणीत 'अकत्तियम्' नामक रीति-ग्रन्थ। कालान्तर मे, दक्षिण पाण्डिय देश विकराल जल-प्लावन से नामशेष हो चला। इसके साथ सघ तथा उसमे प्रणीत रचनाए सब विनष्ट हो गई। अब उनके नामोल्लेख के अलावा कुछ भी प्राप्त नही होते।

दूसरा विद्वत्सघ, पाण्डिय राज्य की तत्कालीन राजधानी कपाटपुरम् में स्थापित किया गया। इसका सस्थापक वेण्डेर् चेळियन नामक नरेश था। इनके वशज उनसठ नरेशो ने अपने शासनकाल मे द्वितीय सघ का श्रीवर्धन किया था। अतिम नरेश मुटत्तिरुमारन था। इस सघ के प्रमुख कर्णधार थे—अगस्त्य, तोलकाप्पियर, करु कोळि, मोशि, वेळ्ळूर काप्पियन, चिरु पाण्डरगन, तिरैयन मारन, तुवरैक्कोन, कीरन्तै, अतकोट्टाशान आदि उनसठ महापण्डित थे। इस द्वितीय संघ काल में ही अगस्त्य के प्रधान शिष्य तोलकाप्पियर का व्याकरण-ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' प्रणीत तथा प्रख्यात हुआ। अगस्त्य के रीतिग्रन्थ के साथ-साथ इसका भी महत्त्व तथा अनुकरण बढने लगा। इस काल की रचनाओ मे महापुराण और मुरुवल, शयन्तम्, शेयिरियम् आदि नाटकग्रन्थ तथा पेरुनारै, पेरु कुरुकु, इशैनुणुक्कम्, तालवगैयोत्तु आदि सगीत शास्त्र-ग्रन्थ विशेषतया उल्लेख किये जाते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश दूसरे सघ का स्थान और ग्रन्थ-समूह भी पूर्ववत् प्रलय-कवलित हो गये है। उनमे से तोलकाप्पियम् (रीतिग्रन्थ) ही पूरा बचा है। कारण, तोलकाप्पियर के कुछ शिष्य बच गये और तीसरा संघ उत्तर पाण्डिय देश की राजधानी मदुरै मे शीघ्र ही स्थापित हुआ। इस द्वितीय संघ में अगस्त्य-व्याकरण के साथ तोलकाप्पियम् की भी प्रमुख उपादेयता समादृत हुई।

द्वितीय सघ के विनष्ट होने के उपरान्त, तीसरी विद्वत्परिषद् की स्थापना उत्तर पाण्डिय देश की राजधानी कूडल (वर्तमान मदुरै) मे हुई। इस सघ की कृतिया अब उपलभ्य तमिल ग्रन्थों की अग्रणी होती है। इस सघ का श्रीवर्धन मुडत्तिरुमारन से लेकर उक्किर पेरुवळुति तक के उनचास पाण्डिय नरेशो ने किया। तमिल के शीर्ष स्थानीय शेन्तम् पूतनार, नक्कीरनार आदि उनचास पण्डितवरों तथा कविवरो ने अनेक अमूल्य ग्रन्थो का अवतरण किया और सैकडों कवियो को प्रोत्साहन देकर तमिल साहित्य को समृद्ध कराया। अब तमिल साहित्य और सस्कृति के आलोकस्तम्भ माने जाने वाले पुरनानूरु, अकनानूरु, नेडुन्तोकै, कुरुन्तोकै, नट्रिणै आदि ग्रन्थ इसी तृतीय सघकाल में, जो अठारह सौ पचास वर्ष तक सुचारु रूप से चलता रहा, प्रणीत हुए। इस समय भी अगस्त्य तथा तोलकाप्पियर के रीतिग्रन्थ ही तत्कालीन साहित्य तथा आचार्यों के लिए मार्गदर्शक रहे। इस समय के ग्रथो को ही 'सघसाहित्य' के नाम से निर्देश करते हैं।

उपरोक्त तीनो सघों की चर्चा प्रथमत: इरैयनार कळवियल नामक रीतिग्रन्थ (जीवन के प्रेमपक्ष का प्रतिपादक) में पाई जाती है। उन सघो का काल-विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—सघपूर्वकाल तथा प्रथम संघकाल ऋग्वेद के समकालीन होते है।

द्वितीय सघ यजुर्वेद, सामवेद तथा ब्राह्मणों के समय का है।

तृतीय सघ जैन-बौद्ध काल का निकटवर्ती या पूर्वकालीन मान सकते है।

इस काल-विभाजन के लिए कई उपादेय तथा बहुमान्य प्रमाण मिलते है। अब संघ-पूर्वकालीन रचनाओं

का थोड़ा अंश भी नहीं मिलता; यही स्थिति है प्रथम सघकालीन रचनाओं की भी। अगस्त्य-व्याकरण के कुछ सूत्र मिलते हैं; बस, अन्य ग्रन्थरत्नों का नामोल्लेख-मात्र प्राप्त है।

तमिल साहित्य और सस्कृति का प्रथम आलोक 'तोलकाप्पियम्' से ही मिलता है। उस रीतिग्रन्थ के अनुशीलन से पता चलता है कि उसके रचयिता के समय में सस्कृत का प्रभाव तमिल पर पडना शुरू हो गया। तोलकाप्पियर ने लिखा है, 'अन्य भाषा से उत्तम विषयों तथा ग्रन्थो को तमिल मे प्रामाणिकता के साथ अनुवाद के द्वारा लाना चाहिए।'

वेद, आगम तथा स्मृति-ग्रन्थो के कई आशय तोलकाप्पियर के समय में प्रसारित होने लगे। कही-कही कट्टरता की अवाछनीय छाया भी पडने लगी। इसकी सत्यता तोलकाप्पियम् के पद्याधिकरण के १७८वें सूत्र मे अवगत होती है। घटना यह है, 'मदुरै में सस्कृत के पण्डितो की एक परिषद् थी। उसके एक पण्डित कुयक्कोडन ने तमिल सघ के कर्णधार कवि नक्कीरर् के समक्ष कह दिया, 'आरिय नन्रु तमिऴ् तीदु।' (सस्कृत श्रेष्ठ है और तमिल नीच भाषा है।)' इस दुराग्रहपूर्ण दम्भी उलाहने से क्रुद्ध होकर, कविवर नक्कीरर् ने उस पण्डित को मृत्यु का शाप दे दिया। वह बेचारा तत्काल ही मर गया। फिर उसके सगे-सम्बन्धियो के बहुत क्षमा-प्रार्थना करने पर नक्कीरर् ने अपने शाप को उठा लिया और मृत कुयक्कोडन जीवित हुआ।'

तोलकाप्पियर को ऐन्द्र (इन्द्रप्रणीत) व्याकरण पर पूरा अधिकार था। इसका समर्थन परवर्ती आचार्यों ने किया है

'तोलकाप्पियम्' तीन अधिकरणों--सज्ञाधिकरण, शब्दाधिकरण तथा अर्थाधिकरण--से युक्त है। इन तीनों अधिकरणो में, तमिल भाषा की विशिष्टताओ को दृष्टि मे रखकर विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। तत्कालीन साहित्यिक एव सास्कृतिक रूपरेखा का परिचय तोलकाप्पियम् द्वारा पर्याप्त मिलता है।

तृतीय सघकाल मे जितने ग्रन्थ रचे गए, उन्ही को 'सघकालीन साहित्य' के नाम से निर्दिष्ट करते है। कारण, उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थ विलुप्त है। सिवाय तोलकाप्पियम् के अन्य कोई ग्रन्थ अब उपलब्ध नही है। पूर्वोक्त सघकालीन साहित्य-ग्रन्थो मे--नेडुन्तोकै, कुरुन्तोकै, नट्रिणै, पुरनानूरु, अकनानूरु आदि मे, प्रेम, वीरता, दानशीलता तथा विद्वत्ता की प्रशस्तिया अधिक मात्रा में मिलती है। उक्त ग्रन्थों के कविवरो ने न केवल राजाओं, अपितु साधारण कर्मकारों एव स्त्रियो को भी चरित-नायक का गौरव प्रदान किया है। वे ग्रथ मुक्तक या फुटकल पद्यो के सग्रह कहे जा सकते हैं। 'पुरनानूरु' में चेर, चोल और पाण्डिय नरेशो की वीरता तथा महानता की प्रशस्ति-गाथा है। इतिहास के अनुसधाताओ के लिए वह एक उत्तम निधि है। कई कवियो और कवयित्रियो की कविताओ का वह बडा प्रामाणिक सग्रह है। सुरा-सुन्दरियों की रगीन लहरे उस जमाने में कितनी उद्दाम थीं, इसका मोहक परिचय भी 'पुरनानूरु' आदि ग्रन्थो मे कम नही मिलता।

सघकाल (तृतीय सघ) का महानतम गौरव-ग्रन्थ है 'तिरुक्कुरल्'। इसके रचयिता है महर्षि तथा महाकवि तिरुवक्कुवर। इसको तमिल वेद कहते है जो पूर्णतया अन्वर्थ है। भाषा की समृद्धता, भावप्रकाश की अनुपम शैली, स्वच्छ तमिल का विशिष्ट रूप--धर्म, अर्थ और काम के विस्तृत एव काव्यमय प्रतिपादन, गागर मे सागर भरने वाली कवि की निराली प्रतिभा इत्यादि अनेक महानताओ को हम उक्त नीतिकाव्य मे पाते है। 'तिरुक्कुरल्' की सर्वाधिक श्रेष्ठता उसकी सार्वजनीनता, सर्वधर्मसमानता तथा सर्वात्मकता के कारण ही हुई है। यह ग्रन्थ सघकाल के उत्तरभाग (ई० पूर्व तीसरी या चौथी शती)। में प्रणीत है तमिल साहित्य और सस्कृति को गौरवान्वित करने मे 'तिरक्कुरल' का योगदान बहुत बडा है।

संघकाल के उपरान्त महाकाव्य-काल प्रारम्भ होता है। ईसवी द्वितीय शती से पाचवी शती तक इसकी अवधि है। इसी काल मे पच महाकाव्यो 'ऐम् पेरुम् काप्पियम्' का अवतरण हुआ। वे है, शिलप्पधिकारम्, मणिमेखलै, जीवकचिन्तामणि, वलयापति और कुण्डलकेशि। इनके क्रमश. रचयिता है--इलगो अडिगल्, शीत्तलेचात्तनार, विरुत्तक्क देवर; अन्तिम दोनों के कवि अज्ञात है और वे रचनाए भी पूर्णतया प्राप्त नही होती है।

शिलप्पधिकारम् ही ठेठ तमिल सास्कृतिक एव ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रणीत महाकाव्य है और इसके रचयिता इलगो अडिगल् ने स्वयं चेर राजा के दूसरे पुत्र होकर भी संन्यास लेकर साहित्य-सेवा का व्रत लिया था। कथा

एक पतिव्रता नारी की दैवी-शक्ति की गाथा है। पतिव्रता कण्णकी अपने निर्धन तथा निर्दोष पति पर बिना सोचे-विचारे पाडिय राजा के द्वारा किये गए अत्याचार से क्रोधित होकर, उसकी राजधानी को भस्मसात हो जाने का शाप दे देती है। पतिव्रता की वाणी अमोघ निकली। चेर राजा चेगुट्टुवन कण्णकी की शिला-मूर्ति बनवाने के लिए उत्तरायण पर रण-यात्रा कर, हिमालय से शिला खोदकर लाता है और उसे गगा में नहलाकर विजित नरेशों के सिर पर लदवाकर अपनी राजधानी को ले आता है। वहां सती कण्णकी का भव्य मन्दिर खड़ा किया जाता है और उसकी दैवी मूर्ति प्रतिष्ठापित हो जाती है। सती देवी के नाम से कण्णकी जन-मन मे घर कर लेती है और पूजी जाती है।

इसमे तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय, राजनीति, सामाजिक गतिविधिया, विशिष्ट पर्व-त्योहार, संगीत, नृत्य तथा वाद्य-कालाओ की समृद्धता, आराध्य देवता, प्रचलित सम्प्रदाय इत्यादि अनेक विषय वर्णित है। इस समय जैन-बौद्ध सम्प्रदायो का अच्छा प्रसार तमिल देश मे हो चला था, और शिवजी, विष्णु, कार्तिकेय, दुर्गा, इन्द्र आदि देवताओं की आराधनाए भी प्रशस्त थी।

'मणिमेखलै' शिलप्पधिकारम् के उत्तरार्द्ध की कथा है। यह एक बौद्ध महाकाव्य है और इसके रचयिता शीत्तलै चात्तनार स्वय प्रख्यात बौद्ध कवि थे। इसमे कण्णकी के पति कोवलन की और उसकी प्रेमिका नर्तकी मादवी से उत्पन्न पुत्री मणिमेखलै की पुनीत गाथा गाई गई है। वह अपनी कुमारी-अवस्था मे ही भिक्षुणी बन गई और कई अड़चनो को पार कर लोक-सेवा मे निरत रही। उसके रूपलावण्य पर मुग्ध एक राजकुमार की प्रेम-याचना और मणिमेखलै की जन-मगलकारी प्रवृत्ति, बौद्ध-धर्म की विशेषताओ का प्रतिपादन, तत्कालीन साम्प्रदायिक सघर्ष इत्यादि कई बाते 'मणिमेखलै' काव्य मे वर्णित है।

तीसरा महाकाव्य 'जीवकचिन्तामणि' प्रायः पाचवी शती की रचना है। यह काव्य-शिल्प, रचना-कौशल, वर्णनमाधुर्य और भाषासौष्ठव की दृष्टि से उत्तम माना जाता है। यद्यपि यह शिलप्पधिकारम् की तरह उत्तम कथावस्तु तथा तमिल की सास्कृतिक यशोगाथा से गौरवान्वित नही हो सका, फिर भी काव्य-लक्षणो से सम्पन्न होने का गौरव 'जीवकचिन्तामणि' को प्राप्त है। मान्य अनुश्रुति है कि पीछे महाकवि कम्बर ने अपनी रामायण के प्रणयन मे 'जीवकचिन्तामणि' से पर्याप्त मार्ग-दर्शन पाया। काव्य-कथा जैन महापुराण 'श्रीपुराण' की एक कथा पर आधारित है। काव्य भर मे जैन धर्म की महानताए और स्वरूप-संदेश ही स्थान पाते है।

चौथा और पाचवां महाकाव्य, जो अब पूर्णतया अनुपलब्ध है, बौद्ध धर्म का प्रचारक था और धार्मिक सघर्ष एव कट्टरता की प्रधानता उसमें पाई जाती थी।

उक्त पाच कवियों का अनुसरण कर बाद को पच लघु काव्य भी रचे गए, जो नीलकेशी, चूड़ामणि, यशोधर काव्यम्, नागकुमार काव्यम्, उदयणन् कथा है। इनमे सस्कृत साहित्य तथा जैन-बौद्ध सम्प्रदायों के प्रचुर प्रभाव को पाते हैं।

ईसवी छठी शती से नौवीं शती तक भक्ति-काल आन्दोलन ने तमिल साहित्य और संस्कृति मे नई धारणाओ तथा प्रवृत्तियों को फैला दिया। बौद्ध-जैन कवियो तथा पडितों की प्रवृत्तियां, प्रसुप्त शैव-वैष्णव कर्णधारो को उत्तेजित करने लगी। साम्प्रदायिक सघर्ष तथा स्पर्द्धाए सर्वत्र, सभी क्षेत्रों मे सक्रिय हुईं। कई मन्दिर खड़े हुए, कई नीति-ग्रंथ एव सम्प्रदाय-ग्रथ निकले। शैव-वैष्णव सम्प्रदायो के दिग्गज विद्वान देश भर में धर्म-यात्रा कर सफलता पाते गए।

शैव सम्प्रदाय के कर्णधारों मे माणिक्कवाचकर्, तिरुज्ञान संबधर्, अप्पर् तथा सुन्दरर् ये चारों शीर्षस्थानीय हैं। इन्ही की तरह, रामानुजाचार्य के समकालीन विद्वान तथा उनके पूर्ववर्ती आलवार लोगों ने वैष्णव धर्म का उत्थान और प्रसरण बडी सफलता के साथ किया। शैव सन्त कवियो की भक्ति-पुज रचनाए 'तिरुमुरै' कही जाती हैं, तथा आल्वारों की सरस-गम्भीर सूक्तिया 'दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रशस्त है।

पहले, शैव और वैष्णव मिलकर बाह्य प्रतिपक्षी जैनो और बौद्धो को निष्प्रभाव बनाने मे सफल हुए। किन्तु बाद को शैव और वैष्णव स्वय आपसी फूट के शिकार बनकर साम्प्रदायिक कट्टताओ के प्रवर्त्तक बन गए। फिर भी, इस स्पर्द्धा या सघर्ष आदि से तमिलसाहित्य की श्रीवृद्धि हुई। तमिल की विशिष्ट सास्कृतिक परम्परा में आर्य, बौद्ध

जैन आदि संस्कृतियों का समावेश, इच्छा से या अनिच्छा से ही सही, अनिवार्य हो चला।

इस स्पर्द्धा के फलस्वरूप ही, पेरिय पुराणम्, तिरुविलैयाडल पुराणम् आदि शैव साम्प्रदायिक ग्रथ और कम्ब-रामायणम् आदि वैष्णव महाकाव्य तमिल वाणी के भव्य कण्ठहार बने।

तमिल के निघटु (कोश), व्याकरण तथा रीति-ग्रथो के प्रणयन मे जैनाचार्यों की सेवाए बडी महत्त्व-पूर्ण हैं। जैन धर्म ऐसी सेवा, सदाचार तथा समभावना के बल पर ही तमिल देश मे लगभग दस शतियो तक समादर पाता रहा। जैनों द्वारा रचित ग्रथो में, याप्पिलक्कणम् (छन्दश्शास्त्र), वीर चोळियम्, नेमिनाथम् (रीति-ग्रथ), नन्नूल (व्याकरण), नालडियार (नीति-ग्रथ), मेरुमतर पुराणम् आदि विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

कम्बरामायण का रचना-काल ग्यारहवी शती है। यद्यपि, इसके पूर्व सघकाल मे एक रामायण रची गई जो लुप्त हो गई है और बाद को नौवी शती मे एक जैन कवि ने भी राम-कथा को काव्य-रूप मे लिखा है। फिर भी कम्ब-रामायण की काव्य-महिमा, उसकी रचनाशैली, सौंदर्योपासना, अभिव्यजना की प्राजलता और उक्ति-कौशल से अनूठी बन पडी है। उसके बाद उस स्तर का कोई भी महाकाव्य आज तक प्रणीत नही हुआ।

साहित्य की धारा सामाजिक गति-प्रगति के साथ बढती-रुकती, बहती-थमती हुई चलती रहती है। अग्रेजी प्रभाव ने अन्य भाषा-साहित्य की तरह तमिल को भी जागृत किया। कई पहलुओ मे अपनी समृद्धि के पथ पर तमिल अब भी बढ़ती जा रही है।
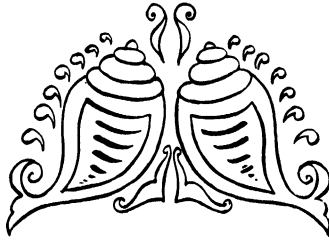
पंजाबी साहित्य के पिछले साठ वर्ष

श्री देवेन्द्र 'सत्यार्थी'

उर्दू कवि नासिख ने एक स्थान पर लिखा है · **'सुनाया रात को किस्सा जो हीर-रांझे का, तो अहले-दर्द को पंजाबियों ने लूट लिया ।'** सम्भवत· नासिख का संकेत पंजाबी कवि वारिस शाह (१७३८-१७६८) द्वारा रचित प्रसिद्ध रचना 'हीर वारिस शाह' की ओर रहा होगा, जिसके काव्य-पाठ की एक विशिष्ट संगीतमय शैली है । आप पंजाबी भाषा से अपरिचित होते हुए भी इस काव्य-पाठ से प्रभावित हुए बिना नही रहेगे । जिस 'बैंत' छन्द मे कवि ने हीर-रांझे की प्रेम-कथा लिखी है, वह पजाबी वातावरण के अधिक-से-अधिक अनुरूप प्रतीत होता है । ठेठ शब्दावली इसकी विशेषता है । पर राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से शाह मुहम्मद (१७८०-१८६२) की प्रसिद्ध काव्य-रचना 'जग सिंघा ते अंग्रेजा' बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योकि कवि ने उस युद्ध का आखों-देखा हाल प्रस्तुत किया है, जिसके फलस्वरूप पजाब सिक्खो के हाथ से जाता रहा ।

पजाबी साहित्य मे बहुत-कुछ है, जो बिल्कुल उसका अपना है । स्वर मे, लय में, शत-शत चित्रो मे, सकेतों मे, चिन्तन-आराधन मे, मन के मन्थन मे, एकान्त समर्पण मे बहुत-कुछ उसका अपना है । भगवान बुद्ध ने अपने जीवन के अवसान-क्षण मे अपने महाशिष्य आनन्द को सम्बन्धित करते हुए कहा था—'आप अपने दीप बनो, आप अपनी शरण बनो ।' यह आवाज आधुनिक पजाबी साहित्य को छू गई है ।

एक तरह से देखा जाय तो आधुनिक पजाबी साहित्य का श्रीगणेश बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे हुआ । स्वर्गीय भाई वीरसिंह, जिनका जन्म ५ दिसम्बर, १८७२ मे हुआ था, सही अर्थों मे 'आधुनिक पंजाबी साहित्य के पिता' कहे जा सकते है । उनकी अन्तिम काव्य-रचना 'मेरे सैया जीओ' पर साहित्य अकादमी ने सर्वश्रेष्ठ होने के प्रमाणस्वरूप पाच हजार रुपयों का पुरस्कार दिया था ।

'सुन्दरी', 'विजयसिह', 'सत्वन्तकौर' और 'बाबा नौधसिंह' जैसे उपन्यास लिखकर भाई वीरसिह ने एक तरह से पजाबी गद्य को जन्म दिया । फिर १६३८ में भाई वीरसिह की प्रसिद्ध रचना 'गुरु नानक चमत्कार' प्रकाशित हुई । इसे मात्र गुरु नानक की जीवनी कहना तो उपयुक्त न होगा, क्योंकि इसका उदात्त स्वर है गुरुमत की व्याख्या । वही स्वर उनकी एक और रचना 'श्री कलगीधर चमत्कार' मे मिलता है, जिसमें गुरु गोविन्दसिह की जीवनी प्रस्तुत की गई है । १६०५ मे उनका महाकाव्य 'राणा सूरतसिह' प्रकाशित हुआ । इसके साथ पजाबी मे मुक्त छन्द का प्रचलन आरम्भ हुआ । समूची रचना मे मुक्त छन्द का प्रयोग हुआ है । उनकी अन्य काव्य-रचनाए हैं—'लहिरा दे हार', मटक-हुलारे', 'बिजलिया दे हार', 'प्रीत-वीणा', 'कम्बदी कलाई' और 'मेरे सैयां जीओ' । भाई वीरसिंह का प्रेरणा-स्रोत है गुरुवाणी की काव्यधारा । यहा यह उल्लेखनीय है कि भाई वीरसिह की 'गाधीजी' शीर्षक कविता सवेदना और विषाद का अपूर्व सगम प्रस्तुत करती है । इसकी कुछ पक्तियां लीजिए—

आवाज़ आई : 'ठाह !'
धुन उठ्ठी :
'राम, रा · आ···म, रा···आ···म !'

गैब विच्चों सद् आई सुकरता दी
आ जा मेरे भाई गांधी, आजा
इस दुनिया पास इहो कुछ है,
इन्हां इन्सानां पास
इहो कुछ है

(आवाज़ आई, ठाह् ! ध्वनि उठी—'राम, राम, राम !' अदृश्य से सुकरात की पुकार सुनाई दी—आजा, मेरे भाई गांधी, आ जा ! इस दुनिया के पास यही कुछ है। इन इन्सानों के पास यही कुछ है।)

प्रोफेसर पूरनसिह (१८८१-१९३१) ने 'खुल्हे मैदान' और 'खुल्हे घुण्ड' में जिस मुक्त छन्द को जन्म दिया और धरती की जिस सुगन्ध से लिपटकर कविता की सृष्टि की, उसका मूल्यांकन होना अभी शेष है। कुछ लोग पूरनसिह पर भाई वीरसिह का गहरा प्रभाव मानते है। स्वय पूरनसिंह ने अपनी अग्रेज़ी पुस्तक 'दि स्पिरिट आफ ओरिएण्टल पोयट्री' मे स्वीकार किया है कि 'भाई साहब का स्पर्श-मात्र कवि बना देता है ''उनका दर्शन करके मुझे अपने आप सुन्दर लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मै अपने आप की पूजा करता हू। अपना व्यक्तित्व मुझे बहुत ही काव्यमय प्रतीत होता है।' इस वक्तव्य की अन्तिम स्वीकारोक्ति मे अधिक तथ्य है, क्योकि समूचे रूप मे पूरनसिंह का व्यक्तित्व, जैसा कि उनकी काव्य-रचनाओ में व्यक्त हुआ है, पजाब की माटी की सुगन्ध लिये हुए है और नदी-भाषा का छन्द कुछ इस प्रकार प्रवहमान है कि उसे देखते हुए यह मानना कठिन हो जाता है कि यह कवि भाई वीरसिह की छाया मे बैठकर लिखता है। दूसरी दृष्टि से देखे तो भाई वीरसिह की काव्य-रचना 'मटक-दुलारे' का आमुख पूरनसिह ने लिखा, जो न केवल पजाबी गद्य का एक सुन्दर नमूना है, बल्कि पूरनसिंह को एक आलोचक के रूप मे भी हमारे सामने लाता है। कुछ लोगो का यह भी विचार है कि पूरनसिह के इस मूल्याकन द्वारा भाई वीरसिह का कवि-रूप मर्यादित हो पाया।

उस युग में पूरनसिह ने 'खुल्हे लेख' के लेखक के रूप मे एक सफल निबन्धकार के रूप मे भी हमे दर्शन दिए थे।

मुसलमान कवियो में उस्ताद हमदम, मौलाबख्श कुश्ता और फीरोजदीन 'शरफ' पजाबी कविता में योगदान दे रहे थे। 'सिक्ख ऐजूकेशनल कान्फ्रेन्स' के कवि-दरबारो मे ये तीनो कवि विशेष सम्मानपूर्वक आमन्त्रित किये जाते थे। उधर पजाबी के हिन्दू कवियो में 'लक्ष्मीदेवी' के कवि कृपासागर और 'चन्दनवाडी' के कवि धनीराम चातृक पजाबी साहित्य के मच पर सम्मान पा रहे थे।

'चन्दनवाडी' का आमुख प्रो० तेजासिह ने लिखा था। 'चातृक' के इस कविता-सग्रह की अपनी विशेषता यही थी कि इस पर सिक्ख विचारधारा की वह छाप नही थी, जो भाई वीरसिह की विशेषता थी। कवि ने अपना हिन्दू रूप दरसाने पर भी कोई विशेष बल नही दिया था। सब इन्सानो के कवि के रूप मे ही चातृक का गौरव है। पर चातृक की ठेठ टकसाली भाषा बहुत दूर तक हमारे साथ नही चल सकती।

प्रोफेसर मोहनसिह का कविता-सग्रह 'सावे पत्तर' १९३६ मे प्रकाशित हुई। इसका आमुख प्रो० तेजासिह ने लिखा और उसमे कवि का जिन शब्दो मे स्वागत किया गया, इससे पहले वह भाषा प्रयोग मे नही आई थी। इसी वर्ष अमृता प्रीतम (उस समय की अमृतकौर) का प्रथम कविता-सग्रह 'अमृत लहिरां' छपकर पाठको के हाथो मे पहुचा। १९३८ में मोहनसिह का दूसरा कविता-सग्रह 'कसुम्भडा' छपा, तो उसका आमुख भी प्रो० तेजासिह ने ही लिखा। कुछ लोगो ने समझा कि मोहनसिह का अब जो भी कविता-सग्रह आया करेगा उसका आमुख निश्चित रूप से प्रो० तेजासिह ही लिखा करेगे। पर मोहनसिह ने बुद्धिमत्ता से काम लेते हुए आगे के लिए अपने किसी कविता-सग्रह का आमुख प्रो० तेजासिह से ही लिखवाने का आग्रह छोड दिया।

स्वर्गीय प्रो० तेजासिह पजाबी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों के मूलभूत पुरोहित कहे जा सकते है। १९३६ में इन पंक्तियो के लेखक की लोक-साहित्य सम्बन्धी पुस्तक 'गिद्धा' प्रकाशित हुई, तो उसकी लम्बी भूमिका भी उन्होने ही लिखी थी, जो आज तक सुसयोजित पजाबी गद्य का एक प्रतिनिधि रूप मानी जाती है। १९४१ मे जब इन

पंक्तियों का लेखक एकाएक कवि के रूप में पंजाबी साहित्य के मंच पर आया तो उसके प्रथम कविता-संग्रह 'धरती दीयां वाजा' का आमुख भी प्रो० तेजासिह ने ही लिखा था।

१६४० के बाद कुछ नये कवि सामने आए, जिनमें 'महानाच' के कवि बाबा बलवन्त, 'कत्तक कूजा' के कवि प्रीतमसिह सफीर, 'कण्ढे कण्ढे' के कवि कर्तारसिंह दुग्गल, 'मन-आइयां' के कवि चन्नणसिंह जेठूवालिया और 'नवे पन्थ' के कवि हरिन्द्रसिह 'रूप' उल्लेखनीय है। मोहनसिंह और अमृता प्रीतम के नये कविता-सग्रह पजाबी कविता की नई प्रवृत्तियो मे अपना विशिष्ट स्थान बनाते चले गये।

मोहनसिंह अब जिस तरह की कविता लिख रहा था, वह 'सावे पत्तर' से बहुत हटकर थी। 'सावे पत्तर' के कई सस्करण छपे। पर अन्य कविता-सग्रह एक-एक संस्करण से आगे नहीं चल पाते थे।

पूरनसिह ने एक स्थल पर यह भाव प्रस्तुत किया है :

यह क्षणिक होना न होना क्या है !
कुछ उड़ गया-सा लगता होता है।
वह डाल जिस पर से अभी पंछी उड़ा है,
वह कुछ-कुछ कांपती-सी है।

यह तो सभी मानते है कि प्रेम, मृत्यु, भलाई-बुराई, अमर जीवन आदि काव्य के प्रसंग नही बदलते। इन्हे प्रस्तुत करने के अन्दाज़ बदलते रहते है। आधुनिक पजाबी कविता मे भाषा सूक्ष्म हो गई है और कवि का दृष्टिकोण किसी सीमा तक टेढा। कवि की रुचि तीक्ष्णता की ओर जा रही है और उसे उपमा के स्थान पर रूपक का प्रयोग प्रिय लगता है। नूतन छवि-चित्रो का संयोजन भी आधुनिक प्रवृत्ति का विशिष्ट लक्षण है। आम बोल-चाल की भाषा का प्रयोग करते समय उसमे विशेष उतार-चढाव लाने का सस्कार भी अग्रसर हो रहा है।

पश्चिम की नई कविता ने नये पजाबी कवियों को प्रभावित किया है। प्रो० दीवानचन्द शर्मा ने ठीक ही लिखा है, "मोहनसिह की कविता में कभी-कभी यों लगता है, जैसे वह अपने अनुभवो को हमारे सामने रखते हुए उनमे से कोई अर्थ ढूढ रहा है। यह नही कि वह कोई सच्चाई पेश कर रहा हो, बल्कि यों लगता है कि वह कविता के माध्यम से किसी सच्चाई को ढूढ रहा है। यह विशेषता प्रीतमसिह सफीर की कविता मे विशेष रूप मे नजर आती है। यो लगता है कि 'सफीर' पाठको को कुछ समझाने के बजाय स्वय अपनी कविता द्वारा किसी अटल सत्य को समझने का यत्न कर रहा है। जैसे वह अपनी भावनाओ मे मस्त किसी अमर सुन्दरता को टटोल रहा है, जिसकी झलकिया ही उसे नजर आ रही है और वह उन्हे अपने पाठको की ओर मोड रहा है। मोहनसिंह की कविता मे सयम है, विचारो की प्रौढ़ता है, भावनाओ की तीक्ष्णता है और अनुभव है, जो आयुपर्यन्त प्रेम करने के पश्चात प्राप्त होता है, आयु-पर्यन्त जीवन के सघर्ष से गुज़र कर मिलता है, सोच-समझकर जीवन बिताने से आता है। मोहनसिह पुराने मूल्यो का खण्डन करता है, नये स्वस्थ मूल्यो का प्रचार करता है। 'प्रीतमसिह सफ़ीर एक प्रकार से नई पजाबी कविता का प्रतीक है। उसकी कविता मे वे सारे गुण हैं (या अवगुण है) जो पश्चिम की नई कविता के पाठको को प्रतीत होते है। उसकी कविता में बड़े हद दर्जे का सनकीपन है, यह सनकीपन ऑडन की तरह आध्यात्मिकता मे पलायन ढूढता है। कर्त्तारसिह दुग्गल अपने मूर्तरूप समाज के शिक्षित वर्ग से लेता है और कभी-कभी इस वर्ग के जीवन पर ज़ोरदार व्यग्य करता है। ......नई पंजाबी कविता का ज़िक्र देवेन्द्र सत्यार्थी और अमृता प्रीतम की साहित्य को देन की चर्चा किये बिना पूरा नही समझा जा सकता। देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने विशाल अनुभव और लोकगीत-सम्बन्धी यात्राओ के फलस्वरूप पजाबी कविता मे पजाब से बाहर के चित्र और पजाब से बाहर की सस्कृति को पजाबी कविता मे अकित किया। सत्यार्थी की कविता की शैली में लोकगीतो का-सा मुक्त प्रवाह और आवेश है, जो इनसे पहले की नज़र नही आया था। सत्यार्थी की कविता में धरती का निकटतम स्पर्श है और उन मूल्यो मे कवि का विश्वास पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है जो हमारे जीवन मे पुराने-से-पुराने और नये-से-नये है।......अमृता प्रीतम मज़दूरों, गरीबो, किसानो और हमारे समाज के पद-दलित लोगो की आवश्यकताओ, मांगो और मुसीबतों को एक स्त्री का हृदय लेकर अनुभव करती है

और उसकी चुभन इसीलिए अधिक तीखी और सदैव अधिक प्रभावशाली रही है।"[1]

साहित्य अकादमी की ओर से अमृता प्रीतम के कविता-सग्रह 'सुनेहडे' और मोहनसिह के कविता-सग्रह 'वड्डा वेला' को सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ होने का पाच-पांच हज़ार रुपयो का पुरस्कार दिया जा चुका है।

नये पंजाबी कवियों मे डॉ० गोपालसिंह दर्दी, ईश्वर चित्रकार, सन्तोखसिह धीर, प्रभजोत कौर, प्यारासिंह सहराई, जसवन्तसिंह नेकी, गुरुचरण रामपुरी, ज्ञानसिह, दियोल, सुखवीर, तख़्तसिंह, हज़ारासिंह, गुरदासपुरी, तारासिह और डाक्टर हरिभजनसिंह के नाम उल्लेखनीय है।

तारासिह के कविता-सग्रह 'सिम्मदे पत्थर' और हजारासिह के कविता-सग्रह 'मिट्टी रोई' के आमुख डॉ० हरिभजनसिंह ने लिखे है। निश्चित रूप से हरिभजनसिंह इस युग का तेजासिह प्रतीत होता है। पर आलोचक से कहीं अधिक हरिभजनसिह का कवि-रूप ही हमे प्रभावशाली प्रतीत होता है। उसका प्रथम कविता-सग्रह 'लासा' और काव्य-नाटक 'तार-तुपका' का पजाबी के नये आलोचकों ने विशेष स्वागत किया है।

उपन्यास

मिया बख्श मिनहास का सामाजिक उपन्यास 'नवाब खा' (उर्फ 'जट्ट दी करतूत') गुरुमुखी लिपि मे प्रकाशित कराने का श्रेय भाई जोधसिंह को है। इससे पूर्व जो उपन्यास भाई वीरसिंह ने लिखे, उनका उद्देश्य साहित्यिक न होकर धार्मिक प्रचारात्मक ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'नवाब खा' पजाबी का पहला सामाजिक उपन्यास है, जिसमे पहली बार किताबों की सामाजिक बुराइयो पर चोट की गई है।

यहा हमे यह भी नही भूल जाना चाहिए कि अमृतसर के हकीम सुन्दरसिंह ने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का पजाबी-अनुवाद प्रस्तुत किया और उसके द्वारा लोगो मे उपन्यास पढने की भूख पैदा की।

आज पजाबी के लोकप्रिय उपन्यासकार है नानकसिह, जिन्होने अपना जीवन 'सतगुरु महिमा' नाम की एक काव्य-रचना द्वारा शुरू किया था। उन्होने कुछ कहानिया भी लिखी। पर 'चिट्टालहू' उपन्यास के साथ वे प्रसिद्ध हुए, जिसका आमुख प्रो० तेजासिह ने लिखा था। नानकसिह के नये उपन्यास की पाठक बाट जोहते रहते हैं। नानकसिंह के उपन्यासो मे हमें आधुनिक उपन्यास की प्रगति उतनी नही दिखाई देती, फिर भी वह एकाकी अपने पथ पर चला जा रहा है; वह परवाह नही करता कि आलोचक क्या कहते है।

जिन लोगो ने नानकसिह से हट कर रास्ता बनाने की चेष्टा की उनमे सन्तसिह सेखो, कर्त्तारसिह दुग्गल, सुरिन्द्रसिह नरूला, जसवन्तसिह कवल, नरेन्द्रपालसिह, महेन्द्रसिह सरना, अमृता प्रीतम और देविन्दर के नाम उल्लेखनीय है। सन्तसिह सेखो तो एक उपन्यास 'लहू-मिट्टी' लिखकर ही रुक गया। कर्त्तारसिह दुग्गल के दो उपन्यास 'आद्रा' और 'नहु ते मास' मे पोठोहार (रावलपिण्डी) का आचलिक वातावरण मिलता है। सुरिन्द्रसिह नरूला ने 'पिओपुत्तर' लिखा, जो अमृतसर के गिर्द घूमता है। उसने और भी कई उपन्यास लिखे, पर नरूला अपने पाठक पैदा नही कर सका। जसवन्तसिह कवल के उपन्यास 'पाली', 'पूर्णमासी', 'सिविल लाइन्ज' और 'रूपधारा' आदि अपना स्थान बनाते चले गए। महेन्द्रसिह सरना का एक ही उपन्यास 'बीडां मल्ले राह' प्रकाशित हुआ है, जो बेहद पसन्द किया गया। अमृता प्रीतम के उपन्यास हल्की-फुल्की प्रेम-कथाए होते है। देविन्दर का उपन्यास 'खुशबो' १६५७ मे प्रकाशित हुआ था। इसका आमुख लोचन बख्शी ने लिखा। देविन्दर कदाचित पजाबी के सभी उपन्यासकारो मे सबसे कम आयु का लेखक है, पर उसकी लेखनी बहुत मजी हुई है। 'खुशबो' की शैली भी प्रभावशाली है।

कहानी

पजाबी साहित्य मे कहानी का स्तर बहुत ऊचा है। इन कहानी-लेखको के नाम उल्लेखनीय है—सन्तसिंह सेखों, गुरुबख्शसिह, देवेन्द्र सत्यार्थी, कर्त्तारसिह दुग्गल, सुजानसिह, अमृता प्रीतम, लोचन बख्शी, सन्तोखसिह धीर, महेन्द्र-सिह सरना, कुलवन्तसिह विरक, अमरसिह, सुखवीर, गुरवेल पन्नू, गुरमुखसिह जीत, गुरवचनसिह, प्रीतमसिह पछी, नवतेजसिह, बलवन्त गार्गी और महेन्द्रसिह जोशी आदि।

१. प्रो० दीवानचन्द शर्मा, 'आधुनिक पजाबी कविता', आजकल (कविता-अंक), मई १६५३

नाटक

आई० सी० नन्दा ने 'सुभद्रा' और 'लिली दा ब्याह' (उर्फ 'हठ-धठ') आदि नाटक लिखकर ख्याति प्राप्त की। गुरुबख्शसिह ने 'राजकुमारी लतिका ते होर ड्रामे' पुस्तक के द्वारा नाटक के क्षेत्र मे प्रवेश किया। सन्तसिंह सेखों ने भी कुछ अच्छे नाटक लिखे है। पर जिस तरह नानकसिह उपन्यास मे छा गया, वैसे ही बलवन्त गार्गी नाटक के क्षेत्र मे अत्यन्त लोकप्रिय लेखक सिद्ध हुआ। नाटक-रचना मे कर्त्तारसिंह ने भी योगदान दिया। पर दुग्गल की नाटक-कला पर रेडियो का प्रभाव अधिक है। नाटक के क्षेत्र मे हरचरणसिह, कपूरसिंह घुम्मण, गुरुचरणसिह जसूजा के नाम उल्लेखनीय है।

निबन्ध

प्रो० तेजासिह और गुरबख्शसिह ने निबन्ध की कला मे आधुनिक प्रयोग किए है। गद्य-लेखन की कला को इन दोनो लेखको ने अधिक से अधिक परिमार्जित करने का यत्न किया। इस दिशा मे स्वर्गीय हरिन्द्रसिह रूप की पुस्तक 'रूप-रग' का उल्लेख आवश्यक है।

लोक-साहित्य

लोक-साहित्य सम्बन्धी अनेक छोटी-बड़ी पुस्तके प्रकाशित हुई है, जिनमे सबसे नई और बृहत् पुस्तक है 'पजाबी लोक-गीत', जिसके लेखक है महिन्द्रसिंह रन्धावा और देवेन्द्र सत्यार्थी। आरम्भ मे डेढ सौ पृष्ठों की भूमिका है और फिर साढे चार सौ पृष्ठो मे अनेक विषयो मे विभक्त लोकगीत प्रस्तुत किये गए हैं। इसका प्रकाशन 'साहित्य अकादमी' द्वारा हुआ है।

बालज़ाक का प्रसंग

यह कहना अप्रासगिक न होगा कि पंजाबी मे आलोचना का स्तर सबसे नीचा है। यह तो सम्भव है कि एक बद-नीयत और नैतिकताशून्य प्राणी कवि, उपन्यासकार, कहानी-लेखक या नाटयकार बन जाए, पर ऐसा प्राणी आलोचक के रूप में अपना हक अदा नही कर सकता।

उर्दू-कवि अकबर इलाहाबादी ने खूब कहा है :

आजकल बिगड़ी हुई है कुछ हवा-ए-गुलसितां,
बाग़बां पर गुन्चे हँसते हैं गुलों पर बाग़बां !

न जाने यह स्थिति कब तक रहेगी ? जब तक स्थिति नही सुधरती, यही कहने को जी चाहता है—'बढे चलो, मित्रो ! यह रास्ता तो बहुत लम्बा है और यह तो चलकर ही कटेगा।'

यहा इस प्रसग मे बालजाक की बात याद आ रही है। बेचारे बालजाक को जीवन-काल मे आलोचकों की अच्छी राय कभी प्राप्त न हुई। जब वह चला गया, तो बडे-बडे आलोचक उसकी प्रशसा करने लगे। बालज़ाक को जब रोग ने आ घेरा, तो अनेक डाक्टर उसका इलाज करने आए। क्या मजाल कि किसी की भी दवा काम कर जाय। रोग बढता गया। बालजाक ने मृत्यु-शैया पर पडे-पडे कहा—'अरे तुम बिऐनचन को क्यो नही बुलवाते ? वह मुझे मौत के मुह से बचा लेगा।' आप पूछेंगे, बिऐनचन कहां प्रैक्टिस करता था ? बिऐनचन तो बालज़ाक के उपन्यासो का एक ईमानदार और अनुभवी डाक्टर पात्र था।

सच बात तो यही है कि जो चीज लेखक को बचा सकती है, वह उसकी अपने प्रति और अपने पाठकों के प्रति ईमानदारी और सच्चाई है; किसी आलोचक की छाती ठोंक कर कही हुई गर्वोक्त नही कि—'जा बेटा, तेरे सिर पर सदा हमारा हाथ रहेगा और हमारे रहते तेरे रास्ते मे सकट नही आ सकता।' साहित्यकार की जय-यात्रा तो उसके भीतर से ही आरम्भ होती है।

बीसवीं शताब्दी का बंगला-साहित्य

श्री मन्मथनाथ गुप्त

यो तो इस शताब्दी के पहले ही बगला-साहित्य बहुत उन्नति कर चुका था और उसमे बकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र आदि महान कलाकारो का उदय हो चुका था, जिनका नाम अपनी भाषा के बाहर भी फैल चुका था; पर इस शताब्दी मे आकर बगला-साहित्य को विश्व-साहित्य मे स्थान प्राप्त हुआ। पर यह नही समझना चाहिए कि ऐसा एकाएक या केवल एक व्यक्ति की साधना के फलस्वरूप हुआ, बल्कि इसके पीछे बहुत बडी साधनाए रही है। ये साधक सामने नही आ पाए, क्योंकि रवीन्द्र और शरत ने ऐसी चकाचौंध फला दी कि उसके सामने वे फीके पड गए।

रवीन्द्र-साहित्य का परिचय देने के पहले कुछ ऐसे उपन्यासकारो का भी परिचय दे देना उचित होगा, जिन्हे अति आधुनिक उपन्यासकारों मे हम गिना नही सकते, पर वे इसी शताब्दी की आरम्भ की ओर प्रसिद्ध हुए और अच्छे उपन्यास लिख गए। ऐसे उपन्यासकारो मे प्रभातकुमार मुखोपाध्याय का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। रवीन्द्र और शरत की चकाचौध मे जिन उपन्यासकारो को बगला में, और इसलिए बगला के बाहर, उचित सम्मान न मिल सका, उनमे वे प्रमुख है। प्रभात बाबू ने कई उपन्यास लिखे। उनका पहला उपन्यास 'रमा सुन्दरी', 'भारती' पत्रिका मे धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता रहा। इसमे एक स्त्री रमा सुन्दरी का चरित्र-चित्रण है जो विवाह के पहले तक बड़ी ही नटखट साहसी रहती है, उसमे स्त्री का स्वभाव बिलकुल नही है, पर विवाह के बाद ही वह स्नेहशीला पत्नी बन कर रह जाती है।

बाद को प्रभात बाबू ने 'नवीन सन्यासी', 'रत्नदीप', 'सिन्दूर कोटा', 'जीवनेर मूल्य', 'मनेर मानुष' आदि बहुत से उपन्यास लिखे। कहानिया लिखने में उन्हे विशेष सफलता मिली। उनकी अधिकाश कहानिया हास्यरस की है। कुछ कहानिया अवैध प्रेम के सम्बन्ध मे भी है। उनकी कई कहानिया स्वदेशी-आन्दोलन पर है। रवीन्द्र के बाद कहानियो की धारा को अक्षुण्ण रखने मे उन्हे एक बडी कडी मानना पडेगा।

बगला के गद्यकारो मे प्रमथ चौधुरी बहुत ही प्रमुख व्यक्ति हो गए है। यो तो उन्होने कहानिया लिखी और वे कहानिया अपने समय मे बहुत प्रसिद्ध भी हुई, पर बगला-साहित्य मे उनका सबसे बडा दान बोल-चाल वाला गद्य है। उन्होंने सम्पूर्ण रूप से बोलचाल की भाषा को अपना कर एक नई शैली की स्थापना की, जिसका प्रभाव सारे साहित्य पर पडा। उनकी 'चारयारी कथा' चार कहानियो का सग्रह है, पर उनमे एक अन्तर्निहित योगसूत्र भी है। आज यदि उनकी रचनाओं को पढा जाए, तो यह नही पता लग सकता कि वे क्यों अपने समय के साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव डालने मे समर्थ हुए। बोलचाल की भाषा को साहित्य मे सुप्रतिष्ठित करना यह उन्ही के उद्यम और अध्यवसाय का काम था। इस सम्बन्ध मे उनकी सेवा कितनी बडी है, यह श्री कुमार वन्द्योपाध्याय के इन वाक्यों से ज्ञात होगा

"मुख्य रूप से उन्ही के समर्थन के कारण बोलचाल की भाषा साहित्य की ड्योढी पर एक भिखारी की तरह नही, बल्कि समान शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी की तरह साधु भाषा के सिंहासन के आधे अश पर अधिकार जमा कर बैठ गई है। यहा तक कि रवीन्द्रनाथ ने भी उनकी उक्ति व दृष्टान्त से अनुप्राणित होकर अपनी परवर्ती रचनाओ मे बोल-चाल की भाषा का प्रचलन किया, इसीलिए उपन्यासकार की दृष्टि से उनका स्थान उतना ऊचा न होने पर भी हमारी

मंदीभूत चिन्ताधारा में नये स्रोत का वेग पहुंचाना और बुद्धिप्रधानना-युक्त मनोवृत्ति प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हें मिलना चाहिए। इस विषय में वे अंग्रेजी साहित्यकार चेस्टर टन के समतुल्य हैं। यद्यपि उनमें चेस्टर टन की तड़ित-प्रभा की तरह चकाचौध कर देने वाली बुद्धि की असिक्रीड़ा का अभाव है।"

राजशेखर बसु उर्फ परशुराम शायद समूचे भारतीय साहित्य में अपने ढंग के एक ही लेखक हैं। कभी वे धर्म पर व्यंग्य करते हैं तो कभी समाज-व्यवस्था पर, कभी चिकित्सा-प्रणाली पर तो कभी राजनीति पर। उनकी बहुत-सी रचनाओं का हिन्दी मे अनुवाद हुआ है और बराबर होता गया है। उनकी रचना को एक विशेष श्रेणी में लाना सम्भव नही है, क्योकि हास्य से सम्बद्ध सभी प्रकार के अस्त्र उनके निकट मौजूद है।

श्री केदारनाथ बन्द्योपाध्याय हास्यरस के एक बहुत प्रसिद्ध लेखक हुए हैं। बगला-साहित्य में वे हास्यरस के कदाचित सबसे प्रसिद्ध लेखक माने जाते है, पर उनका हास्यरस भाषा से इस प्रकार बधा हुआ है कि वे बगला के बाहर प्रसिद्धि प्राप्त नही कर सके, यद्यपि उनका हास्यरस किसी भी प्रकार परशुराम से निकृष्ट नही है।

इसके बाद हम एकदम से रवीन्द्र-साहित्य मे छलाग लगाते है। यद्यपि कवीन्द्र रवीन्द्र का उदय बकिमचन्द्र के युग मे ही हुआ था और बकिमचन्द्र ने उनका अभिनन्दन किया था, पर इसी शताब्दी के प्रारम्भ में उनको देश तथा विदेश मे स्वीकृति प्राप्त हुई। रवीन्द्रनाथ ने बगला भाषा को कितना समृद्ध बना दिया, इसका कुछ अनुमान एक आलोचक के इन शब्दों से किया जा सकता है ·

'रवीन्द्रनाथ ने बगला भाषा की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य इतनी अधिक बढा दी कि यह कहा जा सकता है कि किसी एक लेखक ने अकेले किसी भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य इतनी नही बढाई। रवीन्द्र गद्य-रीति का यह मौलिक गुण है कि वे केवल बुद्धि को उद्‌बुद्ध करके निवृत्त नही होते, बल्कि मन के गहन अन्त.पुर मे प्रविष्ट होकर चित्त की गम्भीरतम अनुभूति को जाग्रत कर देते हैं। इसी कारण रवीन्द्रनाथ का, गद्य-शैली मे वाक्यालकार के बीच में उत्प्रेक्षा उपमा, रूपक, श्लेष और विरोधाभास का प्रयोग सबसे अधिक है। इनमे भी उत्प्रेक्षा की ही प्रधानता है। रवीन्द्रनाथ के गद्य मे आदि से अन्त तक उत्प्रेक्षा-प्रधान उक्तियो का बोलबाला है।'[1]

रवीन्द्रनाथ की गद्य रचनाओं को तीन युगो मे बाटा गया है—(१) ज्ञानाकुर-भारती युग, याने पन्द्रह साल से बाईस साल की उम्र तक, (२) हितवादी-साधना-भारती-बगदर्शन-प्रवासी, यानी बाईस साल से इक्यावन की उम्र तक, (३) सबूग ? पत्र-युग याने इसके बाद का युग। उनकी गद्य-शैली बराबर विकसित होती रही। पहला युग तो साधना का युग था, दूसरा युग अष्टसिद्धियों और नवनिधियों का युग कहा जा सकता है और तीसरे युग मे उन्होने युग की ढाल को देखते हुए एकदम से बोलचाल की भाषा अपना ली। उनकी प्रथम गद्यरचना मे ही उनके अध्ययन की विशालता, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास का ज्ञान, साथ ही काव्य और सगीत के सम्बन्ध मे गहरा ज्ञान सूचित होता है।

उस लेख से दो एक वाक्य लीजिये—

'इसी गीतिकाव्य से फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला, गीतिकाव्य के ही कारण चैतन्य के धर्म ने बगाल में जड पकड ली और इसी काव्य के कारण बगालियों के निर्जीव हृदय में जीवन का कुछ-कुछ सचार हो रहा है।'

'शेक्सपियर दूसरों के हृदय का चित्रण करके दृश्य काव्य मे असाधारण हो गए हैं, पर अपने हृदय के चित्रण मे असमर्थ होने के कारण वे नीति काव्य मे बहुत बड़े नहीं हो सके। इसी प्रकार कविवर बायरन अपने हृदय के चित्रण मे असाधारण हैं, पर दूसरों के हृदय के चित्रण मे अक्षम हैं। गीति-काव्य अकृत्रिम है क्योकि वह अपने हृदय-कानन का पुष्प है, और महाकाव्य शिल्प है क्योकि वह दूसरे के हृदय का अनुकरणमात्र है। इसी कारण हम लोग वाल्मीकि, व्यास होमर, वर्जिल आदि प्राचीन कवियों की तरह महाकाव्य नही लिख सकेगे, क्योंकि प्राचीनकाल मे लोग सभ्यता के आच्छादन मे हृदय को गुप्त रखना नही जानते थे, इस कारण कवियों के लिए यह सम्भव था कि दूसरे हृदयों में प्रत्यक्ष कर अनावृत हृदयों को सहज मे ही चित्रित कर सके।'

पन्द्रह वर्ष के बालक रवीन्द्र की यह रचना है। इसके बाद कुछ दिनों में 'भारती' पत्रिका प्रकाशित हुई

१. बांगला-साहित्य, गद्य-पृष्ठ २५७

और उसमें वे माईकेल के 'मेघनाद-वध' के आलोचक के रूप में सामने आए। 'भारती' की तृतीय सख्या से रवीन्द्रनाथ का 'करुणा' नाम से एक उपन्यास चलने लगा। इसके बाद 'भारती' के तीसरे साल मे धारावाहिक रूप से यूरोप-प्रवासी के पत्र प्रकाशित हुए, जो १८८१ मे पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

हमने उनके गद्य साहित्य का पहले उल्लेख इस कारण किया कि साधारणत. उनके नाम के साथ कवीन्द्र शब्द जुड़ जाने के कारण वे मुख्यतः कवि समझे जाते हैं; पर नहीं, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना यहा तक कि व्याकरण और भाषाविज्ञान, बालसाहित्य आदि के क्षेत्र मे भी वह युगप्रवर्तक माने गए है।

बगला-साहित्य के बाहर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के साहित्य का सौरभ बहुत-कुछ उसकी अन्तर्गत वस्तु या भाव के ऐश्वर्य के कारण फैला। स्वाभाविक रूप से रवीन्द्रनाथ की शैली और भाषा की पृष्ठभूमि मे कौन-से तत्त्व क्रियाशील रहे, इनकी तरफ अनुवाद के जरिए से रवीन्द्र-साहित्य का आस्वादन करने वाले लोगो का ध्यान नही जाता।

कोई कहता है रवीन्द्रनाथ ने उपनिषदो तथा हमारे प्राचीन साहित्य से लिया, कोई इसी प्रकार उन्हे पाश्चात्य साहित्य का ऋणी बतलाता है, तो कोई और कुछ बतलाता है, पर जिस उत्स से उन्होने सबसे अधिक लिया और जिसके वे सबसे अधिक ऋणी है, उसके स्रोतमुख की तरफ बहुत कम लोगो का ध्यान जाता है। कम-से-कम जो लोग केवल अनुवाद के जरिए से उनके साहित्य को पढते है वे उसके सम्बन्ध मे बिल्कुल अज्ञ रह जाते हैं।

रवीन्द्रनाथ के ग्रहणशील मन ने हजारो क्षेत्रो से लिया। उन्होने प्राच्य से लिया, पाश्चात्य से लिया, प्राचीन से लिया, आधुनिक से लिया, यह ठीक है; पर उन्होने इन उत्सो के अतिरिक्त बगाल के लोक-साहित्य, लोक-कला और लोक-सगीत से लिया। यद्यपि रवीन्द्रनाथ, आधुनिक से आधुनिक थे, यहा तक कि जब तक वे जीते रहे तब तक रबड-छन्द लिखकर भी वे आधुनिकों के पुरोभाग मे रहने की आप्राण चेष्टा करते रहे, फिर भी उन्होने लोक-साहित्य और लोक-सगीत की दुग्धधारा को आकठ पान किया था।

यहा यह बता दिया जाय कि लोक-साहित्य और लोक-सगीत से उनका परिचय पुस्तको के जरिए से नही था, बल्कि यह परिचय सीधा और प्रत्यक्ष था। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो उन्होने लोक-साहित्य और लोक-सगीत से उसी प्रकार से घनिष्ठता प्राप्त की थी जिस प्रकार से बछडा अपनी मा के दूध से परिचय प्राप्त करता है। इस परिचय के लिए बछडे को जैसे किसी प्रकार के मिल्क पाउडर की सहायता नही पडती, उसी प्रकार से रवीन्द्रनाथ ने बगाल के लोक-साहित्य और लोक-सगीत से परिचय प्राप्त किया था।

यद्यपि उनके परिवार मे पाश्चात्य प्रभाव का सबसे अधिक प्रवेश हुआ था, फिर भी वे कभी ग्रामविमुख नही रहे। सुदीर्घ समय के लिए वे गावो मे जाकर रहते और वहा उन्हे साधारण बाउल, भटियाल आदि से गावो के गाने सुनने का मौका मिलता। इसमें वे बहुत रस लेते थे। यहा मै रवीन्द्र-सगीत पर ब्यौरे मे कुछ न कहूगा, केवल इतना ही बताना यथेष्ट है कि रवीन्द्र-संगीत बगाल के लोक-सगीत को लेकर ही अपना ताना-बाना बुनता है। रवीन्द्रनाथ की भाषा पर भी बगाल के लोक-संगीत का अमिट प्रभाव है।

रवीन्द्रनाथ ने इस ऋण को कभी अस्वीकार नही किया। वे इस बात को समझते थे कि लोक-साहित्य, लोक-कला और लोक-सगीत मे ऐसा अमूल्य रत्नभडार भरा पडा है, जिसे किसी भी हालत मे छोडा नही जा सकता। योग्य सन्तान पैतृक सम्पत्ति को छोडती नही है, पर उसी तक अपने को सीमित न कर वह उसे और बढाती है। यही रवीन्द्रनाथ ने किया। उन्होने अपने सगीत की मिट्टी तो लोक-सगीत के क्षेत्र से ली, पर उसे उसी रूप मे न छोडकर रवीन्द्र-सगीत के सौध का निर्माण किया।

रवीन्द्रनाथ की साधना का ही फल है कि बगाल मे हिन्दुस्तानी सगीत और प्राचीन लोक-सगीत के अतिरिक्त एक नये सगीत की सृष्टि हुई, जो रवीन्द्र-संगीत के नाम से अब सारे भारत मे कुछ या अधिक परिचित है। केवल यही नही, बगला मे फिल्म-संगीत के अतिरिक्त एक आधुनिक सगीत बना है, जो लोक-सगीत से अपनी अनुप्रेरणा लेता है। रवीन्द्रनाथ ने भी लोक-सगीत से अनुप्रेरणा ली, पर उन्होने अपने सगीत को एक दृढ और सुसगठित, स्वाभाविक रूप से सीमित रूप दिया। बगाल के आधुनिक संगीत मे भी उसी साधारण उत्स से अनुप्रेरणा आती है, पर यह अनु-

प्रेरणा दूसरे दरवाजे से और रूप मे आती है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ ने बहुत गाने लिखे, पर उन्होंने लोक-संगीत के सारे उत्स को खर्च तो नही कर लिया था, इस कारण आधुनिक सगीत की उसी धारा से उत्पन्न होने तथा बराबर पनपते जाने की गुजाइश बनी रही और शायद हमेशा बनी रहे; क्योंकि लोक-संगीत कोई आबद्ध जलाशय नही है, वह भी तो बराबर बढता और कुछ-न-कुछ बदलता जा रहा है।

रवीन्द्रनाथ ने न केवल लोक-साहित्य और लोक-सगीत से अनुप्रेरणा ली, बल्कि उन्होंने लोक-साहित्य के सम्बन्ध मे कुछ खोजे भी की, और लोक-साहित्य का कुछ सग्रह भी किया। उन्होने लोक-साहित्य के एक अश पर ही याने लोरियो पर ही विशेष रूप से खोज की, आज मे इस लेख मे उसी का कुछ परिचय दूगा। उसी से यह ज्ञात हो जाएगा कि लोक-साहित्य के सम्बन्ध मे उनके मन मे किस प्रकार की भावनाए थी और वे उसे कितने आदर की दृष्टि से देखते थे।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ मुख्यत. उच्च वर्ग के ही लेखक और कवि रहे है, यद्यपि उनके साहित्य में नरम ढग के लोकतन्त्र के अतिरिक्त किसी बात की आवाज नही उठती, फिर भी उनके साहित्य का आवेदन इससे कही अधिक है। इसका कारण यह है कि जिस शैली, भाषा और सगीत को उन्होने अपनाया, बल्कि जिससे उन्होंने अनुप्रेरणा ली, वह जनता की अपनी चीज थी, और उससे जनता परिचित थी। उसकी अन्तर्गत वस्तु कुछ भी हो, (यह तो बाद की बात है) जनता उसे प्रथम दृष्टि मे ही अपनी चीज करके अभिनन्दित करने के लिए तैयार थी।

१६१३ मे उनको 'गीताजलि' के अनुवाद पर नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ, जिससे उनकी ख्याति बहुत बढ़ गई, पर यहा यह बता दिया जाए कि बगला गीताजलि और अग्रेजी गीताजलि अलग है यानी कुछ गीत भिन्न है।

इतना ही कहकर हमे रवीन्द्र साहित्य से छुट्टी कर लेनी चाहिए क्योकि यदि हम इस सम्बन्ध मे ब्यौरे देने लगे तो उसका कोई अन्त नही है। एक बार किसी नवीन लेखक को डाटते हुए किसी ने हिसाब लगाकर दिखाया था कि रवीन्द्रनाथ ने इतना लिखा है कि यदि सात वर्ष तक दिन-रात जागकर कोई लिखे तो उतना लिख सकता है। यानी परिमाण की दृष्टि मे भी वह बहुत अधिक है। 'शान्ति निकेतन' की ओर से बगला मे रवीन्द्र-रचनावली की मोटी-मोटी जिल्दे प्रकाशित हुई है, ऐसी लगभग तीन दर्जन जिल्दो मे उनकी रचना समाप्त हुई है। उसमे से प्रत्येक जिल्द बड डिमाई आकार के सात सौ पृष्ठो की है।

रवीन्द्रनाथ के बाद ही शरतचन्द्र बगला के बाहर अपनी कृतियो के कारण प्रसिद्ध है। नन्दगोपाल सेन गुप्त ने लिखा है—'रवीन्द्र के उपन्यास मे हमें मनुष्य के सस्कृति शुद्ध मन की कामना-कल्पना और आघात-सघात का रूप प्राप्त हुआ था। शरतचन्द्र ने ही पहले पहल पाप-ताप, स्खलन-पतन के अन्दर से मनुष्य की आत्मिक महिमा को उज्ज्वल करके सामने रख दिया। उन्होने ही पहले-पहल देश को यह समझाया कि समाज के सोपान मे जो लोग नीचे पडे है, जो उपेक्षित और अवज्ञात है, मनुष्यता की दृष्टि से वे कथित सभ्रान्त लोगों से किसी भी तरह निकृष्ट नही है। जिन लोगो ने परिस्थितियों की मार के कारण या किसी कमजोरी के कारण अन्याय या पाप के मार्ग मे कदम रखा है, वे दूसरे बहुत से सदगुणो की सम्भावना को देखते हुए केवल उस अपराध के कारण मनुष्यता के अधिकार से वंचित नही हो सकते। शरतचन्द्र के पहले किसी ने इतनी स्पष्टता के साथ यह बात नही कही। इस देश मे लोगो को हमेशा से सम्मान इस कारण मिला है कि वह ब्राह्मण है या जमीदार है या बडे मनसब या ओहदे के अधिकारी है। बाहर की इस झूठी चकाचौंध से मुक्त केवल मनुष्य रूप मे मनुष्य को समाज मे कभी स्वीकृति नही मिली, यहा तक कि साहित्य मे भी स्वीकृति नही मिली। बकिम, माइकेल, यहा तक कि रवीन्द्रनाथ मे भी मनुष्य का सर्वात्मक मानवीय अधिकार अस्वीकृत हुआ है। हा, दीनबन्धु मित्र की रचनाओं मे और उनके बाद शरतचन्द्र मे वास्तविक मनुष्य का दर्शन होता है और उसका पाप-ताप, स्खलन-पतन सामने आता है और साहित्य मे उसे स्वीकृति दी गई है। जिन उपादानो को कभी घृण्य, यहा तक कि दूषणीय समझा जाता था और कला के क्षेत्र मे पक्ति मे न बैठ सकने वाले और निन्दित समझे जाते थे, उन्ही के अन्दर से शरतचन्द्र ने मनुष्य के अन्तर्निहित मनुष्यत्व को प्रस्फुटित करके सामने रखा। लठैत अकबर अली, पतिता चन्द्रमुखी, किसान गफूर, जातिच्युत अन्नदा दीदी को शरत-साहित्य के क्षेत्र मे वही सम्मान प्राप्त हुआ है जो रमेश, ताई, गिरीश

या महिम इत्यादि को प्राप्त हुआ है।'

हम उक्त समालोचक की सारी बातों से सहमत नही है, पर इसमे सन्देह नही है कि शरतचन्द्र ने मध्यवित्त वर्ग को ही मुख्यत: अपने उपन्यासो का पात्र बनाया और उन्ही की विचारधारा और गुत्थियो को सामने रखा, पर यह स्मरण रहे कि उन्होंने भी मुख्यत. हृदय-सम्बन्धी और सामाजिक गुत्थियो को ही सामने रखा, आर्थिक गुत्थियो को नही। मैंने शरतचन्द्र-सम्बन्धी अपनी पुस्तक मे यह स्पष्ट दिखलाया है कि उनके सारे पात्र ऐसे है जिन्हे रोटी कमाने की कोई फिक्र नही है। 'चरित्रहीन', 'देवदास' किसी भी उपन्यास को लीजिये, कही भी मनुष्य आर्थिक उलझनो मे पडा हुआ एक प्राणी है, इसका परिचय नही मिलता है। हा, महेश नामक उनकी कहानी मे हम इसका परिचय पाते है।

बहुत से लोग यह समझते है कि शरतचन्द्र का युग चला गया, पर यह समझना भूल है, क्योकि जो गुत्थिया उनके सहित्य की उपजीव्य हैं, वे अब भी भारतीय जीवन मे ज्यों-की-त्यो बनी हुई हैं। इसके अलावा उनका साहित्य, साहित्य रूप मे बहुत श्रेष्ठ है। उन गुत्थियो के सुलझ जाने के बाद भी वह साहित्य अमर रहेगा।

जिस समय शरतचन्द्र और रवीन्द्र बगला-साहित्य के गगन मे खूब तप रहे थे, उन्ही दिनो 'कल्लोल' नाम से एक पत्रिका का उदय हुआ, जिसके इर्द-गिर्द कुछ नये साधक सामने आए।

बगला-साहित्य के क्षेत्र में कुछ पत्रिकाओ ने साहित्य-निर्माण और युग को ढालने मे इतना अधिक कार्य किया है कि थोडे समय बाद लुप्त हो जाने पर भी बगला-साहित्य मे उनका नाम अमर रहेगा। ऐसी पत्रिकाओ मे बकिमचन्द्र का 'बगदर्शन', सुरेशचन्द्र समाजपति का 'साहित्य', रामानन्द चट्टोपाध्याय का 'प्रवासी', रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'विचित्रा' बहुत उल्लेखनीय है, पर इन सबसे कही महत्त्वपूर्ण श्री दिनेशरजनदास और गोकुल नाग द्वारा सम्पादित 'कल्लोल' है।

इस पत्रिका का जीवन-काल केवल सात वर्ष तक सीमित रहा, फिर भी इसको बगला-साहित्य मे इस कारण महत्त्व प्राप्त हुआ कि रवीन्द्रोत्तर सारे बगला-साहित्य का यह केन्द्र बन गया।

यद्यपि कवीन्द्र ने बगला-साहित्य के भण्डार को दोनो हाथो मे हीरो और मोतियो से भर दिया, और उसके किसी भी अग को खाली नही रखा, फिर भी रवीन्द्र-साहित्य को अपने युग का प्रतीक नही कहा जा सकता था। कम-से-कम कुछ शक्तिशाली और कर्मठ लोग ऐसा समझते थे। रवीन्द्रनाथ सारे बगला-साहित्य पर छा गए थे, इन लोगो के अनुसार बुरी तरह छा गए थे, इस कारण ये समझते थे कि इसे रवीन्द्र-प्रभाव मे मुक्त कर आधुनिक जीवन के कलकलमय कल्लोल मे लाने की आवश्यकता है।

यहा कही कुछ गलतफहमी न हो जाय, इसलिए यह बता दिया जाय कि कल्लोल से बहुत पहले ही शरतचद्र का आविर्भाव हो चुका था। यद्यपि शरत बाबू ने स्वय ऐसा कभी नही कहा, पर इस बात को बगला-साहित्य के बाहर भी लोग जानते है कि शरतचन्द्र हर तरीके से रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रभावित होने पर भी उनका साहित्य रवीन्द्र-साहित्य के अन्तर्गत नही था; और यह कहा जा सकता है कि बगला-साहित्य को पहली बार कवीन्द्र रवीन्द्र से मुक्ति उन्ही के हाथो मिली। फिर भी शरतचन्द्र इस अर्थ मे अति आधुनिक होते हुए भी, और उनका साहित्य आधुनिक जीवन की कुछ समस्याओं के समाधान की ओर साहसपूर्वक हाथ बढाने पर भी आधुनिक जीवन की कई ऐसी समस्याए थी, जिनको बहुत कम छू पाया।

इन्ही बातों को लेकर 'कल्लोल' की स्थापना हुई। बंगला के अन्यतम शक्तिशाली लेखक अचिन्त्यकुमार सेन-गुप्त, जो इस कल्लोल-परिवार के सदस्य है इस सम्बन्ध मे क्या लिखते है, यह सुनने लायक है। कल्लोल के साथ-साथ 'सहति' नाम से उन्ही दिनो मजदूरो की भी एक पत्रिका निकली थी।

अचिन्त्यकुमार लिखते है, सोचने पर आश्चर्य मालूम होता है कि दोनो मासिक पत्र एक ही मन मे और एक ही महीने में पहले-पहल प्रकाशित हुए। १३३० वगाब्द के वैशाख महीने में ये पत्र निकले। कल्लोल कोई सात वर्ष चला, पर सहति पत्र दो साल चलने के पहले ही बन्द हो गया। कल्लोल कहने पर ही समझ मे आता है कि वह क्या है। उद्धत यौवन की झाग देती हुई उद्दामता, समस्त बाधाओं और बधनों के मुक्त विद्रोह, स्थविर समाज की सडी-गली नीव को

उखाड फेकने का आन्दोलन। पर 'संहति' क्या है ? संहति तो कठिनीकृत शक्ति है। संघ, समूह, गणशक्ति, यही संहति है। जिस गुण के लिए समधर्मी परमाणु एक होते है, वही संहति है। यह नाम आश्चर्यजनक था, और उसका तात्पर्य भी आश्चर्यजनक था। एक तरफ वेग था, दूसरी तरफ बल था। एक तरफ तोडना था और दूसरी तरफ संगठन और एकीकरण था।

आज बहुत से लोग शायद नही जानते कि यही 'सहति' बंगाल मे मजदूरों का पहला मुख-पत्र और उनकी पहली मासिक पत्रिका थी। वह दुबली-पतली स्वल्पायु मासिक पत्रिका ही बगाल मे 'गण-जययात्रा का पहला मशालची' थी। इसके बाद तो कई पत्रिकाए निकली, जैसे 'गणवाणी', 'गणशक्ति', 'लागल' या 'हल'; किन्तु सहति ही अग्रणी थी।

रवीन्द्र और शरच्चन्द्र के बाद बगाल के सभी ऊचे दर्जे के साहित्यिक इसी कल्लोल से किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध थे। उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—ताराशकर, प्रबोध सान्याल, बुद्धदेव वसु, अन्नदाशकर, नजरुल इस्लाम, जीवनानन्द दास, नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय, पवित्र गगोपाध्याय, जसीमुद्दीन, प्रेमेन्द्र मित्र, विश्वपति चौधरी, विष्णु दे, गोकुल नाग, माणिक वन्द्योपाध्याय, यतीन्द्रसेन गुप्त, विशराम चक्रवर्ती, यतीन्द्र बागची, राधारानी देवी, शैलजानन्द मुखोपाध्याय, सरोज राय चौधुरी, सुनिर्मल वसु, हुमायू कबीर इत्यादि।

इस प्रकार बगला के सब आधुनिक लेखक कल्लोल के इर्द-गिर्द एकत्र हुए। यहा पर कल्लोल गुट के कुछ थोडे से लेखकों का ही परिचय दिया जायगा।

इनमे से करीब-करीब सभी लेखकों के साथ हिन्दी-जगत अब थोड़ा-बहुत परिचित है। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली 'माया' और 'मनोहर कहानिया' नामक कहानी-पत्रिकाओ की बदौलत इनमे से जो लोग कहानीकार है, उनकी कहानियां हिन्दी-जगत के सम्मुख समय-समय पर आती रही है। अवश्य इन पत्रिकाओ मे छपने के कारण इन लेखकों को कोई विशेष ख्याति प्राप्त नही हुई। एक तो अक्सर अनुवाद बहुत बुरा हुआ, और दूसरा किसी कारण से हो, साहित्य के क्षेत्र मे 'माया' और 'मनोहर कहानियों' को कोई विशेष मर्यादा प्राप्त नही है। फिर भी यह मानना पडेगा कि इन पत्रिकाओ ने कहानी की दिशा मे बहुत अच्छी सेवा की है। अच्छा होता, यदि कहानियो को परोसने मे अनुवाद की उत्तमता की ओर ध्यान दिया जाता।

ताराशकर के कई उपन्यास हिन्दी मे प्रकाशित हो चुके है, और जल्दी ही शायद उनके बाकी उपन्यास भी हिन्दी मे प्रकाशित हो। इस प्रकार ताराशकर से तो हिन्दी-जगत काफी अच्छी तरह परिचित है। आल इडिया रेडियो से ताराशकर के कुछ नाटक प्रसारित हो चुके है।

ताराशकर हिन्दी मे जितने अच्छी तरह परिचित है उतना बंगला का कोई जीवित लेखक परिचित नही है। हा, काजी नजरुल हसन इस्लाम भी बगला के बाहर कुछ परिचित है, पर कविता मे उनकी सारी रचनाए होने के कारण उनकी कृतियों से हिन्दी-जगत अधिक परिचित नही है। एक नजरुल का स्थान बगला-कविता मे रवीन्द्रनाथ के बाद ही समझा जाता था। दु.ख है कि करीब दस साल से उनकी लेखनी मूक है। उनकी विचार-धारा कुछ विशेष स्पष्ट नही है, पर उनकी रचनाओं में एक विद्रोह की भावना बराबर प्रतिध्वनित हुई है। कल्लोल के सम्पादक श्री गोकुलचन्द्र नाग की असामयिक मृत्यु पर कवि नजरुल ने 'गोकुल नाग' नाम से जो कविता लिखी थी, उसकी कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की जाती हैं। इन पक्तियो से यह भी ज्ञात हो जाएगा कि कल्लोल गुट के लेखक किन विचारों से परिचालित थे .

सुन्दरेर तपस्याय ध्याने आत्महारा,
दारिद्र्येर दर्पतेज निये एल जारा।
जारा चिर सर्वहारा करि आत्मदान,
जाहारा सृजन करे, करे ना निर्माण।

सेई वाणी पुत्रदेर आडम्बरहीन,
ए सहज आयोजन ए स्मरणदिन।

स्वीकार कोरिओ कवि, जेमोन स्वीकार
कोरेछिले तांहादेर जीवने तोमार

अर्थात, 'सुन्दर की तपस्या मे ध्यान मे विभोर दरिद्रता के दर्प और तेज को लेकर जो लोग आए, जो लोग चिर-सर्वहारा है, जो लोग आत्मदान करके सृजन करते है, निर्माण नही करते, हे कवि इस स्मृति-दिवस मे उन शारदा-पुत्रों के आडम्बरहीन सहज जीवन को स्वीकार कर लेता है, जैसा कि तुमने जीवन मे उन्हे ग्रहण किया था ।'

इसी कविता मे अन्यत्र वे लिखते है—'जो लोग ऊंची-ऊची अटारिया बनवाते है, उन्ही की इज्जत और सम्मान है, पर उनका यह निर्माण दो दिन का है, जल्दी ही टूट कर गिर पडता है, पर जो लोग विधाता की तरह चुप-चाप सृजन करते रहते है, जाति को बनाते है, इन्सान को बनाते है, वे अपरिचित रह जाते है ।'

हमने इन पंक्तियो को नजरुल की कवित्व-शक्ति को दिखाने के लिए नही, बल्कि किन विचारो को लेकर कल्लोल-गुट चला, उनके स्पष्टीकरण के लिए चुना ।

गोकुल नाग कल्लोल-गुट के मध्यमणि थे । उनका उपन्यास 'पथिक' बहुत प्रसिद्ध हुआ और उनकी अकाल-मृत्यु के बावजूद इसी एक उपन्यास के कारण उनकी ख्याति बगला-साहित्य मे अमर है। इस उपन्यास को पढकर बगला के प्राचीनपंथी विद्वान और आलोचक डा० दिनेश सेन इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होने लिखा था, 'इस प्रकार की कृतियों से प्राचीन समाज की नीव ढह जाएगी । बल्कि बगाली दुनिया के पर्दे पर से मिट जाए, यह अच्छा है, पर वे सस्कारों की चक्की में पिस कर निकम्मे होकर बने रहें, इसकी क्या जरूरत है ? ऐसे जीने से मरना अच्छा है । जो वीर हमारे दरवाजे खोलकर घर मे ताजी हवा पहुचाने के लिए कमर कस चुके है, उनमे कल्लोल के लेखक सबसे तरुण और शक्ति-शाली हैं। प्राचीन पोंगापथी समाज के साथ समझौता करके चलने की दीनता से मुक्त हो चुके है । ये लोग घिसे-पिटे रास्ते को रास्ता नही मानते । जो सुन्दर है, स्वाभाविक है, जो वास्तविक रूप से मनुष्यता है, आत्मा के उस स्वप्रकाशित सत्य को वे वेद और कुरान से बडा समझते है । इन बल-दर्पित लेखको के पदचाप से प्राचीन जराजीर्ण समाज की हड्डी-पसली हिल उठी है । पर मै इनकी रचनाओं को पढकर बहुत खुश हुआ हू । हमे ऐसा मालूम होता है जैसे पोखर छोडकर हम जाह्नवी की पवित्र धारा मे आ गए, जैसे कागज के फूलो की दुनिया से नन्दन कानन मे आ गए ।'

डा० दिनेश सेन के मुह से यह प्रसशा बहुत अधिक महत्त्व रखती है ।

श्री गोकुल नाग के अतिरिक्त जिन लेखको ने कल्लोल को बनाया, उनमे प्रबोध सान्याल का नाम विशेष उल्लेखनीय है । पहले ही साल उनकी रचना कल्लोल मे प्रकाशित हुई । इस समय उनके बहुत से उपन्यास है, जिनमे कई उच्चकोटि के है ।

अचिन्त्यकुमार की एक कहानी 'मा' नाम मे कल्लोल की प्रथम सख्या मे ही प्रकाशित हुई थी । इनके भी बहुत से उपन्यास प्रकाशित हो चुके है ।

श्री बुद्धदेव बसु बगला के प्रमुख कथाकारो मे है। पहले 'प्रगति' नाम से वे एक हस्तलिखित पत्रिका निका-लते थे । जब श्री गोकुलचन्द्र नाग मरे, उस समय ढाका से इन्होने एक छोटी-सी कविता लिख भेजी थी, जिसमे इन्होने श्री गोकुलचन्द्र नाग को यौवन-पथिक सम्बोधित करते हुए लिखा था—'तुम नव वसन्त की सुरभित दक्षिण वायु हो, तुम क्षण भर के लिए वाणी के कानन को विकम्पित कर सिधार गए ।' उन दिनो श्री बुद्धदेव को कोई नही जानता था । बाद को वे कल्लोल के प्रमुख लेखकों मे हो गए । उपन्यासो, कहानियो, कविताओ मे वे सर्वत्र चमके । उनकी रचनाओ की सख्या बहुत अधिक है । वे अग्रेजी मे भी लिखते है । उनके उपन्यासों और कहानियो मे अग्रेजी शिक्षा-प्राप्त बगाली समाज का चित्रण है । बगला साहित्य पर 'एन एकर आफ ग्रीन ग्रास' नामक उन्होने अग्रेजी मे एक सुन्दर पुस्तक लिखी है ।

अन्नदाशकर भी कल्लोल के साथ सम्बद्ध थे । अचिन्त्यकुमार के अनुसार वे ऐसे लेखको मे है, जिनमे मन, प्राण और आत्मा का महामिलन हुआ है । उनके अनुसार आत्मा के साथ जब आत्मा की बातचीत होती है, तभी महान कला का जन्म होता है । अन्नदाशकर उसी महान कला के अन्वेषक हैं । उनके साहित्य का आदर्श इतना ऊचा है कि जो बात उनकी पहुंच के अन्दर आ जाती है जिस पर वे दखल प्राप्त कर लेते है, उससे वे तृप्त नही होते । वे जीवन मे स्वस्थ

ग्रौर शान्त भले ही हो, पर सृजन मे वे ग्रपरितृप्त हैं।' ग्रन्नदाशंकर के बहुत से उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जो उच्चकोटि के हैं।

बगला के ग्रन्यतम शक्तिशाली लेखक श्री विभूतिभूषण मुखोपाध्याय भी कल्लोल के लेखकों में थे। विभूति बाबू जब-तब लिखते थे ऐसी बात नही, वे नियमित रूप से कल्लोल मे लिखा करते थे। उनके भी बहुत से उपन्यास हैं।

जसीमुद्दीन भी कल्लोल के लेखकों मे थे। इन दिनों वे पूर्व पाकिस्तान में करीब-करीब राजकवि हैं, पर उन दिनों उनकी कैसी हालत थी, यह ग्रचिन्त्यकुमार की जबानी सुनिए—'एकदम सीधे-सादे, भोले-भाले थे ये कवि जसीमुद्दीन। कंघी के बालों का कोई खास सलीका नहीं। शायद ग्रभाव से कहीं बढकर उदासीनता थी। मानों उनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द सरल श्यामल गाव का वातावरण था। उनकी कविताग्रों में भी गाव की ग्रोर सकेत था। गांव के किसान, खेत ग्रौर खलिहान, नदी-नालों की तरफ उनकी दृष्टि थी। उनका झुकाव उनकी ग्रसाधारण साधारणता की ग्रोर था। जो दु ख सर्वहारा का होकर भी सर्वमय था, वही उनका उपजीव्य था। उनमे किसी तरह की शिल्पी-सुलभ कृत्रिमता नही थी, कोई प्रसाधन का ढकोसला नही था। एकदम सीधे-साधे हृदय-स्पर्श करने की व्याकुलता थी। उनकी बाते किसी वाद के साचो मे ढली न होने के कारण भले ही कुछ लोगों को नापसन्द रही हों, पर वे बहुत सुन्दर थी।'

जसीमुद्दीन को बगाल के गांवों का प्रतीक कवि कहा जा सकता है, ग्रौर इस दृष्टि से बगला साहित्य में उनका स्थान ग्रद्वितीय कहा जा सकता है। यो तो रवीन्द्रनाथ से लेकर सभी बगला-कवियों ने बगाल के गावों की प्रशस्ति गाई है, पर जिस चुभते हुए पैने ढग से जसीमुद्दीन ने कविताए लिखी है, वह बिल्कुल उन्ही तक सीमित रहा।

हुमायूं कवीर भी कल्लोल मे ग्राते-जाते रहे। बगला-साहित्य मे उनका स्थान केवल कल्लोल के कारण हो, ऐसी बात नही। उन्होने बगला मे बहुत ठोस कार्य किया है। यह दु.ख है कि जब से वे केन्द्रीय सरकार मे ग्रा गए है, तब से उनका साहित्यिक कार्य बहुत घट गया है।

जीवनानन्द दास भी कल्लोल के संस्पर्श मे ग्राए। वे बगला के प्रमुख कवियो मे समझे जाते हैं। ये पहले बारीसाल में थे, बाद को कलकत्ते मे ग्राए। जीवनानन्द को कल्लोल वालो ने खींचा, पर ये उसमे ग्रधिक खप नही पाये। वे सिटी कालेज मे ग्रध्यापक थे। ग्रश्लीलता का दोष लगाकर उन्हे नौकरी से ग्रलग कर दिया गया। ग्रश्लीलता भी किस प्रकार की थी, यह भी देखने लायक है। उन्होने किसी कविता मे कही शायद ऐसा लिखा था कि खडी फसल के ग्रग्रभाग को देखकर उन्हे स्तन का श्याममुख स्मरण हो ग्राता है। कहना न होगा कि इतनी छोटी-सी बात पर जब जीवनानन्द को निकाल दिया गया, तो कालेज के ग्रधिकारियों के हाथो मे शेक्सपियर ग्रौर कालिदास की कैसी दशा होती!

नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय रूसी ग्रौर सस्कृत साहित्य के विद्वान है। वे भी कल्लोल के प्रभाव मे ग्राए। इसी प्रकार प्रेमेन्द्र मित्र कवि ग्रौर साहित्यिक के नाते कल्लोल से सयुक्त हुए। वे उस युग मे भी शक्तिशाली कवि ग्रौर लेखक थे। पवित्र गगोपाध्याय तो कल्लोल के सहकारी सम्पादक थे। वे भी ग्रच्छे लेखको मे गिने जाते हैं। ग्रमिय चक्रवर्ती ने कभी कल्लोल मे नही लिखा, पर वे भी उनके प्रशसको मे थे, ग्रौर जब-तब कल्लोल वालो के साथ परामर्श करते थे। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ ग्रौर शरतचन्द्र भी कल्लोल का विशेष ग्रादर करने वालों में थे।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कल्लोल ने बगला साहित्य को एक नई करवट लेने मे समर्थ किया। कल्लोल ने न केवल ग्रन्तर्गत वस्तु मे, बल्कि भाषा मे भी नये प्रयोग किए। कल्लोल के संचालकों मे व्यापारिक बुद्धि कम थी, इसलिए वह नही चला। इसका कारण यह हुग्रा कि कल्लोल के बनाने वाले ग्रपना-ग्रपना रास्ता ढूढने लगे। कल्लोल-गुट एक रेल के सफर का गुट था, पर यह सफर बगला-साहित्य में बडा महत्त्वपूर्ण रहा।

ऊपर जिन लोगों का उल्लेख किया गया उनमें से कवि काजी नजरुल इस्लाम का विशेष उल्लेख होना चाहिए। काजी नजरुल विद्रोह के कवि थे, पर वह प्रेम के भी कवि थे ग्रौर ग्रब बंगाल के दो टुकडो में बंट जाने के बाद वे बंगला भाषा की एकता ग्रौर ग्रविभाज्यता के प्रतीक भी हैं। पाकिस्तान बने कई साल हो चुके, पर भारतीय सीमा के उस पार के बगला-भाषी मुसलमानों ने यह साबित कर दिया कि पाकिस्तानी होते हुए भी उनकी मातृभाषा बगला है। इस क्षेत्र मे उन्होंने किसी का हस्तक्षेप नही माना। पूर्वी बगाल के लीगी नेता वहां की जनता पर ग्ररबी के बाद ही मुकद्दस

करके उर्दू को वहां के लोगों पर लादने में असमर्थ रहे। स्वय श्री मुहम्मअली जिन्ना ने वहां के लोगो को समझाया, पर कुछ नतीजा नहीं हुआ और अब पाकिस्तान की दो राष्ट्रभाषाए हैं—उर्दू और बंगला।

बगला भाषा की इस एकता के महान प्रतीक हैं काजी नजरुल। रवीन्द्र जिस समय साहित्य-गगन मे अपनी पूरी दीप्ति से प्रकाशमान थे, उस समय गगन के कोने में अपने लिए स्थान बना लेना और कुछ दिनो के लिए ही सही, अपनी ओर सबका ध्यान आकर्षित कर लेना, यह कम शक्ति का परिचायक नही था।

काजी नजरुल का जीवन भी बहुत नाटकीय रहा। एक धूमकेतु की तरह आये और अस्त हो गये। वे पश्चिम बगाल के एक बहुत गरीब घर में पैदा हुए। उनको ठीक-ठीक शिक्षा नही मिली और अपनी इच्छाओ के दमन करने की शिक्षा तो कभी मिली ही नही। वे प्रकृति के वरद पुत्र थे और इसी रूप में वे कवि भी थे। १९१४ की लड़ाई छिड़ी तो वे उसमें भर्ती हो गए और अन्त तक हवलदार हो गए।

लड़ाई से लौटकर उन्होंने 'धूमकेतु' नाम का एक पत्र निकाला जो अधिक दिन नही चला, पर बगला-साहित्य में नजरुल को एक स्थान देता गया। उन्होंने ललकार कर अग्नि-वीणा के साथ प्रवेश किया और कही वे विद्रोही भृगु बने तो कही ईश्वर के सीने पर अपने चरणो का चिह्न अकित करने के लिए लालायित हो गए। उनकी कविता मे बम, डिनामाइट की भरमार थी। पराधीनता के युग मे इन चीजो को कविता मे लाना विशेष गुदगुदी पैदा करता था। एक तो ऐसी शब्दावली, फिर विद्रोही विचार। उनकी कविता मे जर्जर सड़ी-गली पद्धति के विरुद्ध विद्रोह ध्वनित था, पर विद्रोही के मन मे आगामी समाज-पद्धति का कोई नक्शा है, ऐसा नही मालूम होता। विद्रोह करना ही चरम लक्ष्य है।

कवि नजरुल प्रेम कभी बहुत बडे कवि थे। वे स्वय बहुत अच्छे गायक थे। ग्रामोफोन कम्पनियो ने उनके गीतो से लाखो रुपए बनाये। झूमुर, मटियाली, बाहुल, गजल, ठुमरी, ख्याल, ध्रुपद, कीर्तन, श्यामा सगीत किसी शैली को भी उन्होने अछूता नही छोडा। उनके कितने ही गीत अब भी लोगो के कठो मे गूज रहे है। गीतो के क्षेत्र मे रवीन्द्र के बाद ही उनका स्थान है। रवीन्द्र ने लगभग दो हजार गीत लिखे, पर नजरुल ने अपेक्षाकृत कम समय मे उनसे कही अधिक गीत लिखे। रिकार्डों मे तो नजरुल सबको पीछे छोड़ गए।

सयुक्त बगाल का यह श्रेष्ठ सास्कृतिक प्रतीक कई वर्षों से मस्तिष्क-विकृति का शिकार है।

अन्त मे हम पुन बगला की नई कविता के क्षेत्र मे पहुचते है। इसमे सबसे प्रमुख नाम स्वर्गीय जीवनानन्द-दास का है। हिन्दी मे नई कविता को अभी साहित्य के सब महारथियों की ओर मे पूरी स्वीकृति नही मिली है, पर बगला में बहुत दिन पहले ही जीवनानन्ददास के जरिए से नई कविता को सम्भ्रान्त साहित्यिक स्वीकृति मिल चुकी है। जीवनानन्ददास की कविता कुछ धुधली बताई जाती है, पर उनकी भाषा बडी प्रखर और तेजस्वी है। फिर भी ऐसा लगता है कि कवि जो कुछ कह रहा है, उसकी सारी बात हमारे पल्ले नही पड रही है। श्री बुद्धदेव वसु का कहना है कि जीवनानन्द इतने जिद्दी तरीके से अपने-आप मे समाये हुए है कि वे परम्परा के स्वदेश को भुलाकर एक ऐसे किन्नरो के देश को अपनाते है जिसमे वे ही वे है। वे प्रकृतिपूजक हैं, पर किसी भी अर्थ मे अफलातूनवादी या वेदान्ती नही है।

सुभाष मुखोपाध्याय किसान-मजदूरों के कवि है। उनकी अन्तर्गत वस्तु स्पष्ट नही है और कई बार वे कविता के क्षेत्र से उतरकर भर्त्सना करने, तरह-तरह से मुह बनाने और सन्देश देने मे पड जाते है।

अन्य नये कवियो मे सुकान्त भट्टाचार्य की लौ बहुत थोडे दिन जली, पर उसी मे वे बगला को बहुत कुछ दे गए। विष्णु दे, सुधीन दत्त, अमिय चक्रवर्ती, सुधीन्द्र दत्त, अरुणकुमार सरकार, मगलाचरण चट्टोपाध्याय, जगन्नाथ चक्र-वर्ती, नरेश गुह, अजीत दत्त आदि कितने ही नये कवि बगला-साहित्य मे प्रख्यात हैं और रवीन्द्र-युग के बचे-खुचे कवियो के साथ चल रहे है।

रवीन्द्र और शरत के बाद के उपन्यासकारो मे कई ऐसे हैं जिनका विस्तार के साथ वर्णन होना चाहिए। इनमें सबसे प्रमुख 'पथेर पाचाली' के लेखक विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय है, जिसका अनुवाद हिन्दी-जगत के सामने पेश करते हुए मैंने यह दावा किया है कि वे किसी भी प्रकार रवीन्द्र और शरत से या नोबुल पुरस्कार पाने वाले से निकृष्ट नही

हैं। इनके अलावा वनफूल, दिलीपकुमार, धूर्जटीप्रसाद मुखोपाध्याय, गोपाल हाल्दार, सुबोध घोषाल, सतीनाथ भादुडी, नारायण गंगोपाध्याय आदि कितने ही नाम हैं जो बगला के कथा-साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं।

इधर 'साहेब-बीवी-गोलाम' के लेखक विमल मित्र बहुत जोर से चमक रहे हैं और इस एक पुस्तक से ही वह बहुत प्रसिद्ध हुए। इनके अलावा 'अवधूत' नामक एक साहित्यकार बगला उपन्यास-साहित्य मे लगभग नजरुल की तरह, धूमकेतु की भाति, उदित हुए हैं। अभी उनका भविष्य स्पष्ट नही हुआ।

विगत साठ वर्षों का मराठी साहित्य

श्री श्रीपाद जोशी

गौरवशाली भूतकाल

ससार की अन्य महान भाषाओ की तरह महाराष्ट्र प्रदेश की मराठी भाषा का भूतकाल भी बडा गौरव-शाली रहा है। अपनी उस आलीशान विरासत के कारण मराठी भाषा और साहित्य दोनो हमेशा एक प्रकार के भारी उत्तरदायित्व का अनुभव करते आये है और ज्ञानेश्वर (सन १२७१-१२९६ ईसवी) से लेकर आचार्य विनोबा भावे (जन्म सन १८९५) तक के साहित्यकारो ने उत्तरदायित्व को पूरी तरह निभाने मे कोई कसर नही उठा रखी है। आज भी जब कभी मराठी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाती है, तब ज्ञानोबा से विनोबा तक का लगभग सात सौ वर्षों का कालखड हमारी आखों के सामने उज्ज्वल हो उठता है।

चिन्तनशीलता का प्रभाव

भारत की अन्य भाषाओं की तुलना मे मराठी भाषा के साहित्य की अगर कोई विशेषता बतानी हो तो हम कह सकते है कि मराठी साहित्य पर चिन्तनशीलता का अत्यधिक प्रभाव पहले से पडा हुआ है। यद्यपि ज्ञानेश्वर से पहले मुकुन्दराज ने मराठी मे कविता लिखी थी और वह आज भी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है, फिर भी मराठी साहित्य के पिता की हैसियत से ज्ञानेश्वर का ही नाम लिया जाता है। ज्ञानेश्वर ने श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान जनसाधारण तक पहुचाने के लिए जनता की भाषा मे, अर्थात मराठी मे, एक महान ग्रथ लिखा, जो 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से प्रख्यात है। आज सात सौ वर्षों के बाद भी मराठी-भाषी जनता के मानस पर 'ज्ञानेश्वरी' का प्रभाव ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। सम्भवत. मराठी ही संसार की वह एकमात्र भाषा है जिस पर भगवद्गीता के दर्शन का जादू हज़ार बरस तक लगातार बना रहा है। महाराष्ट्र के सभी महापुरुष भगवद्गीता से प्रेरणा पाते रहे है और गीता के दर्शन एव बोध के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते रहे हैं। बीसवी सदी मे भी महाराष्ट्र के दो महापुरुषो ने इस परम्परा को आगे चलाये रखा। इनमे से एक थे लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, जिन्होने माडले ब्रह्मदेश के कारावास मे 'गीतारहस्य' लिखकर गीता मे से कर्मयोग का सन्देश जनता को दिया। 'गीतारहस्य' का अनुवाद भारत की लगभग सभी बडी भाषाओं मे हुआ था और बीसवी शताब्दी के द्वितीय एव तृतीय दशक के युवको पर इस ग्रथ का बडा ही प्रभाव पडा था। मराठी भाषा को बलिष्ठ एव गौरवपूर्ण बनाने मे इस ग्रथ का बड़ा हाथ रहा है। उसके बाद आचार्य विनोबा भावे के 'गीता-प्रवचनो' ने भी दर्शन के क्षेत्र में ऐसी ही हलचल मचा दी है। इस बीच आचार्य शकर दत्तात्रेय जावड़ेकर (१८९४-१९५५) ने 'आधुनिक भारत' नाम का एक ग्रंथ लिखकर 'गीतारहस्य' और 'गीताप्रवचनो' के बीच एक कडी का निर्माण किया। 'आधुनिक भारत' मे भारत के स्वतन्त्रता-सग्राम के साथ ही बीसवीं सदी के विचार-विकास का भी अच्छा लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। इसके लेखक आचार्य जावड़ेकर स्वयं लोकमान्य तिलक एव गाधीजी के प्रशसक एव समर्थक थे और उन पर भी 'गीतारहस्य' का अच्छा प्रभाव पड़ा हुआ था।

चिन्तनात्मक निबन्धों की यह परम्परा लोकमान्य तिलक से पहले भी मौजूद थी। श्री गोपाल हरि देश-

मुख 'लोकहितवादी' (१८१३-१८९२), श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर (१८५०-१८८२), श्री गोपाल गणेश आगरकर (१८५६-१८९५) आदि विचारकों के निबन्ध आज भी पढ़े जाते हैं और उनसे प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है।

निबन्धकारों की परम्परा

लोकमान्य तिलक के बाद भी यह परम्परा बराबर कायम रही; इतना ही नही बल्कि वह अधिक पुष्ट भी होती गई। श्री शिवराम महादेव पराजपे (१८६४-१९२९), डॉक्टर श्रीधर व्यकटेश केतकर (१८८४-१९३७), श्री नरसिंह चिंतामण केलकर (१८७२-१९४७), बैरिस्टर विनायक दामोदर सावरकर (जन्म १८८३), श्री वामन मल्हार जोशी (१८८१-१९४३), श्री श्रीपाद महादेव माटे आदि लेखकों ने इस धारा को पुष्ट करने में काफी हाथ बटाया। स्वर्गीय साने गुरुजी की 'भारतीय सस्कृति' का उल्लेख इस सिलसिले में अवश्य करना चाहिए। भारतीय संस्कृति का सुन्दर दर्शन कराने वाली यह पुस्तक मराठी में ही नही, बल्कि भारत की अन्य भाषाओं में भी बडी लोकप्रिय हो चुकी है। आज के तत्त्वचिन्तक निबन्धकारो मे आचार्य काका कालेलकर, आचार्य दादा धर्माधिकारी, डॉक्टर पु० ग० सहस्त्रबुद्धे, आचार्य स० ज० भागवत, प्रो० द० के० केलकर, प्रो० श्री के० क्षीरसागर, श्री श्य० श० शेजवलकर, प्रा० श्री० ना० बनाहट्टी आदि के नाम उल्लेखनीय है। इधर ललित निबन्धो का बोलबाला बढ जाने से गंभीर निबन्ध लिखने वालों की सख्या कुछ कम हो गई है और इस क्षेत्र मे नये लेखक बहुत ही कम आते है।

ललित निबन्धों का प्रचार

सन १९२५ से मराठी मे ललित निबन्धों का प्रचार शुरू हुआ। अंग्रेजी में जिसे Short Eassay or Personal Essay कहते हे, उस प्रकार का यह हल्का-फुल्का निबन्ध होता है। मराठी में इसे लघु निबन्ध कहते हे। किसी बात को मजेदार ढग से पेश करना लघु निबन्ध की विशेषता है। कभी-कभी लघु निबन्ध की सीमाएं कहानी की सीमाओ को स्पर्श कर जाती हे और कभी वह गम्भीर निबन्ध की ओर झुक जाता है। प्रो० ना० सी० फड़के इस प्रकार के निबन्ध के प्रणेता समझे जाते हे। उनके बाद श्री वि० स० खाडेकर, श्री ना० मा० सन्त, प्रो० अनन्त काणेकर, प्रो० श्रीमती कुसुमावती देशपाडे, श्री गो० रा० दोडके आदि ने लघु निबन्ध का अच्छा विकास किया। इधर उसमें नये-नये प्रयोग भी होते जा रहे हे। उसकी स्थूलता कम होकर उसमे अधिक सूक्ष्मता आने लगी है। आज के लघु निबन्धकारों मे श्री विंदा करदीकर, श्रीमती दुर्गा भागवत, श्री मंगेश पाडगांवकर, श्री बा० भ० बोरकर, श्री श्रीपाद जोशी, श्री वि० पा० दाडेकर, डा० इरावती कर्वे, श्री म० न० अदवन्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थों का भण्डार

किसी भी भाषा के साहित्य का परिचय कराते समय आम तौर पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विभाग को भुला दिया जाता है, वह है सन्दर्भ-ग्रथो का विभाग। बेचारे सन्दर्भ-ग्रथ (Reference Books) सबकी सेवा करते हुए चुपचाप किसी कोने मे पडे या खडे रहते हैं और कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास अपनी वाचालता के बल पर सबका ध्यान आकर्षित करते हैं। मराठी साहित्य का विचार करते समय हम इन ग्रथो को नही भूल सकते। 'महाराष्ट्रीय ज्ञान कोष' (डा० श्रीधर व्यकटेश केतकर), 'महाराष्ट्र शब्दकोश (सर्व श्री य० रा० दाते, चि० ग० कर्वे, आबा चांदोरकर और चि० श० दातार), प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन चरित्र कोष (श्री सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव) **सुलभ विश्व कोश**(य० रा० दाते०, चि० ग० कर्वे), **आधुनिक मराठी वाङ्मयाचा इतिहास**(प्रा० अ० ना० देशपाडे), **मराठी ग्रथ सूची** (शं० ग० दाते) आदि कई महत्त्वपूर्ण सदर्भ-ग्रथ मराठी मे मौजूद है। इसके अलावा **शास्त्रीय परिभाषा कोश** (दाते-कर्वे), **महाराष्ट्र परिचय** (कर्वे-जोगलेकर-जोशी), **व्युत्पत्ति कोश** (कृ० पा० कुलकर्णी), **महाराष्ट्र वाक्-सम्प्रदाय कोश** (दाते-कर्वे) आदि बडे-बडे शब्दकोश तैयार हुए है। अग्रेजी और हिन्दी से सम्बन्धित भी अनेक कोश मराठी में है। हिन्दी के कोशो मे **अभिनव शब्द कोश** (श्रीपाद जोशी) अपनी विशेषता रखता है। इसमें हिन्दी-शब्दो के लिए मराठी एवं हिन्दी के प्रतिशब्द दिये गए हे और उसी पुस्तक मे मराठी शब्दों के लिए हिन्दी के भी प्रतिशब्द दिये गए हे। इस कोश के बारे मे आचार्य विनोबा भावे ने लिखा था, "एक ही पुस्तक मे मराठी-हिन्दी एवं हिन्दी-मराठी कोश जोड़ देने से

वह सचमुच विद्यार्थियों का शब्दमित्र बन गया है। सम्भवत· भारतीय भाषाओं मे इस प्रकार का यह पहला ही कोश होगा।" इधर 'संस्कृति कोश' (श्री महादेव शास्त्री जोशी) 'स्थल कोश' (श्री सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राप) आदि और भी प्रकार के कोश तैयार हो रहे हैं।

उपन्यास की प्रगति

मराठी निबन्ध की तरह मराठी उपन्यास भी महाराष्ट्र की मिट्टी के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध रखता है। क्योकि महाराष्ट्रीय जनता के जीवन का यथातथ्य चित्रण करना उसने अपना प्रधान उद्देश्य माना है। यद्यपि पश्चिमी एव अन्य पश्चिमी उपन्यासों का असर मराठी उपन्यासो पर भी पडा है, मगर वह कहानी या कविता की तरह इतना अधिक नहीं है कि वह पूरी तरह विदेशी मालूम हो। इसका श्रेय श्री हरिनारायण आपटे (१८६४-१९१९) को है, जिन्होंने पहले-पहल मराठी उपन्यास को समाजोन्मुख बना दिया, हालांकि उनका समाज बहुत ही सीमित, शहर के मध्य-वित्त परिवारों तक ही सीमित, था। उनके उपन्यासो मे यथार्थवाद एव आदर्शवाद का बडा ही सुन्दर समन्वय पाया जाता है। श्री आगरकर के सुधारवाद के वे अच्छे समर्थक थे और अपने उपन्यासो मे उन्होने नये-नये सुधारो का बड़े जोश के साथ समर्थन किया है। उनके सबसे श्रेष्ठ उपन्यास 'पण लक्षान्त कोण धेतो?' (मगर ध्यान कौन देता है?) मे एक विधवा बालिका की हृदय को हिला देने वाली कहानी है। उसे पढते समय आज भी पाठको की आखे भर आती है। इस प्रकार के और भी कई सामाजिक उपन्यास उन्होने लिखे है। इसी तरह मराठो और राजपूतो के इतिहास की घटनाओ पर आधारित 'उषाकाल', 'गड आला पण सिंघ गेला' जैसे उपन्यास भी उन्होने लिखे है जिनमे देश-भक्ति एव सच्चरित्रता पर विशेष बल दिया गया है। चरित्र-चित्रण मे भी श्री आपटे बडे सिद्ध-हस्त थे। यहा तक कि आज भी उनके उपन्यासो के पात्र मराठी पाठको को सजीव प्रतीत होते है।

उपन्यासो को जीवन की समस्यायो की चर्चा करने का एक साधन बनाने का जो प्रयत्न श्री हरिनारायण आपटे ने शुरू किया था वह उनके बाद भी बराबर चलता रहा। श्री वामन मल्हार जोशी (१८८२-१९४३) ने इस दिशा मे काफी प्रगति कर दिखाई। उनके उपन्यासो मे तत्त्वज्ञान या दर्शन की चर्चाए ही अधिक मात्रा मे पाई जाती है। 'रागिणी', 'सुशीलेचा देव','इन्दु काले व सरला भोले' आदि अपने उपन्यासो मे उन्होने स्त्री की स्वतन्त्रता, ईश्वर का अस्तित्व, कला एव नीति का सम्बन्ध, ज्ञान-मार्ग बनाम कर्म-मार्ग वगैरह कई विषयो की चर्चाए की है। श्री जोशी की वाग्पटुता के कारण इन उपन्यासो मे कथा-वस्तु के कमजोर होने के बावजूद शिक्षित महाराष्ट्रियों को उनके उपन्यासो ने मोह लिया था। परम्परागत रूढ नीति-कल्पनाओ के बन्धनो से मुक्त होने मे लोकहितवादी आगरकर आदि के निबन्धो की तरह श्री वा० म० जोशी, डाक्टर केतकर, श्री मामा वरेरकर आदि के उपन्यासो ने भी मराठीभाषी पाठको की काफी मदद की है।

डाक्टर श्रीधर व्यकटेश केतकर के उपन्यास श्री वा० म० जोशी के उपन्यासो से अधिक रूखे-फीके और चर्चा-जड़ है। उपन्यास के शिल्प की ओर उन्होने बहुत कम ध्यान दिया। बल्कि यो कह सकते है कि समाज-विषयक अपनी विद्रोही कल्पनाओ को प्रकट करने के एक माध्यम के तौर पर ही उन्होने उपन्यासो को अपनाया था। अतः कई स्थानों पर वे उपन्यास की कथावस्तु से इतने दूर चले जाते हैं कि पाठक को यह भ्रम होने लगता है कि वह उपन्यास नही, बल्कि कोई समाजशास्त्र का ग्रथ ही पढ रहा है। 'गोडवनातील प्रियवदा', 'परागदा', 'ब्राह्मणकन्या', 'विचक्षणा' आदि उनके उपन्यास इसीलिए आज भी समाजशास्त्र के अध्ययन-ग्रथ बने हुए है।

इस परम्परा को श्री मामा वरेरकर (जन्म १८८३) ने सफलता के साथ आगे बढ़ाया। उनके अट्ठाईस मौलिक उपन्यास अब तक प्रकाशित हुए है जिनमे 'विधवा कुमारी', 'गोदू गोखले', 'धावता धोटा' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। वरेरकरजी की नायिकाए अपने विद्रोहीपन के लिए मशहूर है। सभवतः इसीलिए उन्हे शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों से इतना अधिक प्रेम है। उन्होंने शरच्चन्द्र के सत्ताईस उपन्यासो के मराठी अनुवाद किये है। वरेरकरजी अपने नाटकों के लिए अधिक प्रख्यात है, पर उनके उपन्यासो का महत्त्व भी कुछ कम नही है।

आदर्शवादी एव समस्यामूलक उपन्यासों की परम्परा आगे चलकर कुछ क्षीण-सी हुई और प्रो० ना० सी०

फड़के (जन्म १८६४) के 'कला कला के लिए' वाले दृष्टिकोण का प्रभाव बढता गया। श्री फड़के सभी कलाओं का एक-मात्र उद्देश्य 'आनन्द-प्राप्ति' मानते हैं। इसलिए उनके उपन्यासों में गहरे चिन्तन एवं विवेचन का अभाव रहता है। फिर भी (लगातार चालीस बरस तक उपन्यास-लेखक की हैसियत से वे महाराष्ट्र के युवक-वर्ग में लोकप्रिय रहे है। आज भी हर साल वे कम-से-कम दो उपन्यास अवश्य लिख डालते हैं और उनके लिए पाठकों की कमी नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब कोई कलाकृति केवल मनोविनोद के लिए जन्म लेती है तो उसका जीवन ज्यादा देर नहीं टिक सकता। अतः श्री फड़के के दर्जनो उपन्यासो में 'दौलत', 'जादूगार', 'अटके पार' आदि कुछ इने-गिने प्रारंभिक उपन्यास ही प्रौढ़ बुद्धि के पाठको के लिए पठनीय बन गये हैं। उनके बाद के उपन्यास मानो पुराने उपन्यासो की ही भ्रष्ट नकलें है। फिर भी इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि उन्होने अपनी परिष्कृत एव आकर्षक शैली के बल पर बरसों तक मराठी पाठको को मत्रमुग्ध कर रखा था।

श्री फडके के समकालीन श्री वि० स० खांडेकर (सन १८६८) ने भी अपने उपन्यासों मे मध्यवित्त परिवारों का ही जीवन चित्रित किया है। पर वे 'केवल आनन्दवादी' नही हैं। वे जीवन की ओर अधिक गहराई के साथ देखते है और जीवन की जटिल समस्याओं को अपनी दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न करते है। चूंकि उनमें कलात्मकता की मात्रा भी पर्याप्त है और दलित-पीडित जनता के प्रति विशेष सहानुभूति भी है, इसलिए उनके उपन्यास भारत की लगभग सभी भाषाओं मे (बगला मे भी) अनूदित एवं लोकप्रिय हुए हैं। 'दोन ध्रुव', 'उल्का', 'हिरवा चाफा', 'दोन मने', 'क्रौंच-वध', 'काचन मृग' आदि दर्जनो उपन्यास उन्होने लिखे है।

इसी जमाने के अन्य उपन्यासलेखको में श्री ग० त्र्य० माडखोलकर, श्री पु० य० देशपाडे श्रीमती प्रेमा कटक, श्री वि० वा० हडप, श्री ना० ह० आपटे, श्री द० र० कवठेकर, श्री वा० वि० जोशी, श्री साने गुरुजी आदि के नाम उल्लेखनीय है। श्री वि० स० खाडेकर की तरह स्व० साने गुरुजी के उपन्यास—'श्यामू की मा' आदि—भी भारत की अन्य भाषाओ मे अनूदित होकर बडे लोकप्रिय हुए है।

इधर कुछ वर्षों से मराठी मे फिर से समस्या-प्रधान उपन्यास लिखे जाने लगे हैं। इस क्षेत्र मे श्रीमती मालतीबाई बेडेकर ('बली', 'जाई' आदि), श्री श्री० रा० बिबलकर (सुनीता, शुभा), श्री गो० नी० दांडेकर ('सिन्धु-कन्या, आम्ही भगीरथाचे पुत्र), श्री वसत कानेटकर ('पख', 'घर'), श्री अण्णाभाऊ साठे ('फकीरा'), श्री श्रीपाद जोशी ('सुरंगा' और 'विस्कट लेल घरटं'), श्री र० वा० दिघे (आई आहे शेतात) आदि के नाम उल्लेखनीय है। इनमे से श्री श्रीपाद जोशी के उपन्यास 'विस्कट लेलं घरट' मे महाराष्ट्र की ब्राह्मण-अब्राह्मण समस्या की मूलग्राही चर्चा की गई है, जिसका हिन्दी अनुवाद 'ध्वस्त नीड' के नाम से अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। श्री दाडेकर ने 'आम्ही भगीरथाचे पुत्र' मे भाकड़ा-नागल की कहानी को पेश किया है और श्री बिबलकर की 'सुनीता' मे नोआखाली के अत्याचारो का विश्लेषण किया गया है।

मगर आजकल मराठी मे आचलिक उपन्यासों का ही बोलबाला अधिक है। यद्यपि श्री र० वा० दिघे ('पाणकला', 'सराई' आदि) ने सन १९३९ से ही आचलिक उपन्यास लिखना शुरू कर दिया था, पर उस समय उनके उपन्यासो की आंचलिकता के बजाय उनके अन्य कला-मूल्यो की ही कद्र अधिक की गई। उसके बाद श्री श्री० ना० पेंडसे ने सन १९४७ में 'रालगार' उपन्यास लिखा जिसमें कोकण के जन-जीवन की झांकी दिखलाई गई है। तब से लेकर अब तक आचलिक उपन्यासो का एक युग-सा चल रहा है। श्री पेंडसे के 'हद्दपार', 'गारबीचा बापू', 'हत्या', 'कलन्दर' आदि उपन्यासों ने काफी ख्याति प्राप्त की है। उसके साथ ही इस क्षेत्र मे श्री गो० नी० दाडेकर का नाम लिया जाता है जिनके 'शित्' और 'पडघवली' उपन्यास आचलिकता से पूर्णरूपेण प्रभावित हैं। इनके अलावा श्री बा० भ० बोरकर श्री ग० ल० ठोकल, श्री रामतनय, श्री म० भा० भोसले आदि लेखकों ने भी आचलिक उपन्यास लिखे है। श्री व्यकटेश माडगूलकर के आचलिक उपन्यास 'बनगरवाडी' का काफी बोलबाला हुआ है जिसमें एक देहाती अध्यापक के जीवन की कुछ घटनाएं चित्रित की गई हैं। यद्यपि इसे उपन्यास कहा तो जाता है, मगर फिर भी वह उपन्यास नही, बल्कि लम्बी कहानी ही है।

कहानी की कहानी

भारत की अन्य भाषाओं की कहानी की तरह मराठी की कहानी पर भी पश्चिमी साहित्य का और खास कर अंग्रेजी का बहुत ही गहरा असर पडा हुआ है। यद्यपि श्री हरिनारायण आपटे ने भी कहानियां लिखी थी, फिर भी नई मराठी कहानी का सही विकास फडके-खांडेकर के जमाने मे (१६२६ से १६४५ तक) ही हुआ। इस समय मोपासा, चेखव, ओ हेन्टी आदि पश्चिमी कथा-लेखको से मराठी लेखक परिचित हो गए थे और इसलिए उनकी कहानी पर इन विदेशी लेखको का बहुत प्रभाव पडा। इस जमाने के लेखकों में फडके-खाडेकर के अलावा श्री मामा वरेरकर, श्री य० गो० जोशी, श्री वि० वि० बोकील, श्री द० र० कवठेकर, श्री लक्ष्मणराव सरदेसाई, श्री अनन्त काणेकर, श्री वामन चोरघडे, श्री ग० ल० ठोकल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमे से श्री य० गो० जोशी की कथा विदेशीय प्रभाव से बिलकुल मुक्त है। उन्होंने मध्यवित्त परिवारो का घरेलू जीवन बडी ही सहानुभूति के साथ चित्रित किया है, जिससे वे अल्पशिक्षित होते हुए भी मराठी पाठको मे बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सके।

नई कहानी

सन १६४७ के बाद मराठी कहानी ने एक कदम आगे बढाया। अब तक की कहानी मे कथावस्तु का महत्त्व अधिक होता था, जिससे चरित्र-चित्रण एव मनोविश्लेषण के लिए बहुत कम अवसर रहता था। अब जो नई कहानी उदित हुई उसने कथावस्तु के बन्धन को तोड दिया और मानव के मानस की गहराइयो मे गोते लगाने शुरू किए। इससे कहानी की सीमाए एक तरफ तो कविता तक जा पहुची और दूसरी तरफ उसने लघुनिबन्ध या ललित निबन्ध के छोर को स्पर्श किया। इससे कभी-कभी पाठक को यह भ्रम होने लगा कि वह जो कुछ पढ रहा है वह कहानी है या लघुनिबन्ध या गद्य-काव्य! मनोविश्लेषण के नाम पर कुछ लेखको ने मानव-मन की गन्दी बातो को भी खुलेआम पेश करना शुरू किया, जिससे नई कहानी का मतलब 'मनुष्य के मन मे' छिपी हुई गदी भावनाओ का चित्रण करना समझा गया। दुर्भाग्य से इस जमाने के समालोचको और टीकाकारो ने इस अश्लाघ्य रुझान की कला के नाम पर सराहना करके उसे और अधिक उभाडा, जिससे साधारण पाठक भी गुमराह होकर उस दोषपूर्ण कहानी को अच्छी कहानी समझने लगा। इस प्रकार की नई कहानी लिखने वालों मे श्री पु० भा० भावे, श्री गगाधर गाडगिल, श्री अरविन्द गोखले, श्री ज्ञानेश्वर नादकर्णी, श्री दि० बा० मोकाशी, श्री श्री० ज० जोशी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनके अलावा श्री व्यकटेश माडगूलकर, श्री द० मा० मिरासदार, श्री शकर पाटिल, श्री उद्धव शेलके आदि लेखक भी नये कहानीकार समझे जाते हैं जो आंचलिक कहानिया लिखने में सिद्धहस्त है। श्री ग० दि० माडलूकर, श्री महादेव शास्त्री जोशी, श्रीमती इन्दिरा संत, श्रीमती कृष्णाबाई, श्रीमती कुसुमावती देशपांडे, श्रीमती दुर्गा भागवत, श्री श्रीपाद जोशी आदि लेखक तथाकथित नई कहानी से अछूते रहकर पुरानी कथावस्तु-प्रधान, समस्यामूलक कहानी की परम्परा को आगे चला रहे हैं। लेखिकाओ में श्रीमती शाता शेलके, श्रीमती इदुमती शेवडे, श्रीमती वसुन्धरा पटवर्द्धन, श्रीमती लीला देशमुख, श्रीमती कमल देसाई आदि के नाम उल्लेखनीय है।

कविता : पुरानी और नई

मराठी की कविता मुक्तेश्वर, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, एकनाथ, नामदेव आदि सन्त-कवियो द्वारा परिपुष्ट होती हुई और वामन पंडित, मोरोपंत आदि पंडित-कवियों द्वारा अलकृत होकर बीसवी सदी मे जब पहुंची तब नये संस्कार ग्रहण करने के लिए वह पूरी तरह सुयोग्य बन चुकी थी। इसी समय उसे 'केशवसुत' अर्थात् कृष्णाजी केशव दामले (१८६६-१६०५) जैसा समर्थ कवि मिल गया जो आगे चलकर आधुनिक मराठी कविता का पिता कहलाया। केशवसुत ने 'नई रोशनी' प्राप्त करके पुरानी कविता के विरोध मे विद्रोह का झडा उठाया और उसे अधिक जनताभिमुख बनाया। उनका यह विद्रोह केवल साहित्यिक नहीं, बल्कि वैचारिक भी था। पुरानी सडी-गली समाजव्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करके उसके स्थान पर वे एक ऐसी नई समाजव्यवस्था लाना चाहते थे जिसमे किसी प्रकार की विषमता और अन्याय न हो। मगर उन्होंने केवल प्रचार करने वाली कविता नहीं लिखी। अपने अन्तर की विभिन्न भावनाओ को

उन्होंने कविता के माध्यम से प्रकट किया। अंग्रेजी भाषा के कवियों—इमर्सन, शेक्सपियर, ब्राउनिंग आदि—का काफी प्रभाव उन पर पाया जाता है। उन्होने छायावादी कविताएं भी लिखी है, जो सभवत: मराठी को केवल उन्हीं की देन हैं। उनकी प्रीतिविषयक कविता भी मराठी के लिए बिलकुल नई ही थी।

केशवसुत के समकालीनो मे रेवरड नारायण वामन तिलक (१८६२–१९१९) और 'विनायक' अर्थात विनायक जनार्दन करदीकर (१८७२–१९०९) का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। श्री तिलक ने घरेलू जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध मे बडी अच्छी कविताए लिखी तो श्री विनायक ने ऐतिहासिक कविताओ मे कमाल कर दिखाया। इनके बाद ये नाम आते है: 'बाल कवि' अर्थात त्र्यबक बापू जी ठोबरे (१८९०–१९१८), 'गोविन्दाग्रज' अर्थात रामगणेश गडकरी, 'BEE' अर्थात नारायण मुरलीधर गुप्ते (१८७२–१९४७), 'दत्त' अर्थात दत्तात्रेय कोंडो घाटे (१८७५–१८९९), श्री एकनाथ पाडुरग रेदालकर (१८८७–१९२०) आदि। इनमें हर एक की कोई न कोई अपनी विशेषता है और हर एक ने मराठी कविता को काफी समृद्ध किया है। यहा पर 'बाल कवि' का नाम विशेष स्मरणीय इसलिए है कि आगे चलकर नये कवियो ने इस प्रकृति-प्रेमी कवि को नई कविता का मूल पुरुष माना।

इसके बाद गीतों का युग आता है। सन १९२० से १९४५ ईसवी तक के जमाने मे मराठी कविता गीति-काव्य ही बन गई। इस जमाने पर असर डालने वाले श्री भास्कर रामचन्द्र ताम्बे सुदूर मध्यप्रदेश के इन्दौर, ग्वालियर जैसे शहरो में रहते थे, यह एक मजेदार बात समझी जा सकती है। श्री ताम्बे की कविता बडी ही श्रवण-मधुर एव सगीतमयी है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता का भी उन पर कुछ असर पाया जाता है। उनकी छायावादी कविताए भी काफी लोकप्रिय हुई हे। उनके समर्थ शिष्य श्री बा० भ० बोरकर ने उनकी संगीतमयी शैली की परम्परा को सफलता के साथ आगे चलाया और बोरकरजी के शिष्य श्री मगेश पाडगावकर की प्रारम्भिक कविताओं पर भी श्री ताम्बे का प्रभाव पूर्णतया परिलक्षित हो सकता है।

सन १९२३ ईसवी मे श्री मा० त्र्य० पटवर्धन 'माधव ड्यूलियन', श्री य० दि० पेंढरकर 'यशवत', श्री श० के० कानेटकर 'गिरीश' आदि कवियो ने पूना मे अपना एक मडल बनाया जो 'रविकिरण मण्डल' के नाम से मशहूर हुआ। इस मण्डल का प्रभाव मराठी कविता पर लगभग बीस बरस तक बराबर कायम रहा। मण्डल के कवियो ने जन-साधारण की दिलचस्पी के 'प्रेम', 'विरह', 'प्रणय', 'वात्सल्य' आदि विषयो पर बडी ही आसान एव योग्य कविताए लिखी और उन्हें गा-गाकर लोगो के आगे पेश किया। शिक्षित जनता को उसकी भावनाओ की अभिव्यक्ति करने वाली ये कविताए बडी ही पसन्द आई और उसने इन कवियो को सिर-आखों पर ले लिया।

इसी जमाने मे रवि-किरण मण्डल के प्रभाव से दूर रहकर कविता लिखने वाले कवि गोविन्द, (१८७४–१९२६), दुर्गाप्रसाद आसाराम तिवारी (१८८७–१९३९), अज्ञातवासी (जन्म १८९६), कवि माधव (१८९२–१९५९) साने गुरुजी (१८९९–१९५०), श्री टेकाडे, श्री बेहेर, श्री बोबडे (१८८९–१९३४), श्री वा० ना० देशपाडे, श्री गु० ह० देशपाडे, श्री ना० घ० देशपाडे, श्री वा० गो० मायदेव, श्री अनन्त काणेकर आदि अनेक कवि मौजूद थे जो भक्ति, वीर, शृगार, देश-प्रेम आदि रसों की कविताए लिखने मे सिद्धहस्त थे।

यहा तक आकर मराठी कविता परम्परा के चक्कर मे फंस गई। उसे इस चक्कर मे से निकालने का बहुत कुछ श्रेय कवि अनिल (आत्माराम रावजी देशपाडे) को है। उन्होने व्यक्ति-प्रेम को ऊपर उठाकर विश्वप्रेम तक पहुंचा दिया। अनिल को मानव के प्रति प्रेम एव श्रद्धा है। इसीलिए वे 'निर्वासित चिनी मुलास' (निर्वासित चीनी बच्चे के प्रति) जैसा प्रबन्ध-काव्य लिख सके। 'फुलवात' और 'पेर्ते व्हा' नाम के कविता-संग्रह और 'भग्न मूर्ति' नामक प्रबन्ध-काव्य भी उन्होने लिखा है। उनकी एक विशेषता यह है कि उन्होने मराठी मे मुक्त छन्द को रूढ कर दिया, जिससे मराठी की कविता छद के बन्धनों से मुक्त हो गई।

इस जमाने के अन्य कवियों मे श्री वि० वा० शिरवाडकर, 'कुसुमाग्रज', श्री वा० रा० कान्त, श्री बा० भ० बोरकर, श्री श्रीकृष्ण पोवले, श्री रा० अ० कालेले, श्री कृ० ब० निकुम्ब, श्री वि० म० कुलकर्णी, श्री ना० ग० जोशी आदि के नाम उल्लेखनीय हे। इनमें से श्री कुसुमाग्रज की क्रान्तिकारी कविताओं ने सन १९४२ के बाद कुछ वर्षों तक

मराठी युवकों को मोहित कर लिया था।

सन १९५० ईसवी के आसपास मराठी कविता ने एक कदम आगे बढ़ाया और वह नई कविता कहलाने लगी। इस नई कविता के प्रणेता श्री बा० सी० मर्ढेकर (१९०७-१९५६) समझे जाते है। हिन्दी की प्रयोगवादी कविता की तरह ही मराठी की यह नई कविता है। इसका सम्बन्ध भारत की मिट्टी से कम और अग्रेजी कविता मे अधिक है। यह कविता पढकर मानव-जीवन के प्रति घृणा होने लगती है और ऐसा होने लगता है कि इस ससार मे अच्छा कुछ रहा ही नहीं है। टी० एस० इलियट आदि अग्रेज कवियों की कविता की बहुत गहरी छाप इस नई कविता पर पाई जाती है। कही-कहीं वह गन्दी भी हो गई है। मर्ढेकर के अलावा श्री य० द० भावे, श्री विन्दा करदीकर, श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, श्री पु० शि० रेगे, श्रीमती इन्दिरा सन्त, श्री मगेश पाडगावकर, श्री वसन्त बापट, आदि कवियो को नव कवि समझा जाता है। मगर इनमे से हरएक की अपनी-अपनी विशेषताए भी है। मुक्तिबोध-करदीकर पर साम्यवाद का प्रभाव स्पष्ट-रूपेण दृष्टिगोचर होता है तो बापट-पाडगावकर की कुछ कविताए भारतीय सस्कृति एव राष्ट्रीयता का गुणगान करने वाली भी हैं।

इन तथाकथित नव कवियो के अलावा सीधी, सरल, प्रसादपूर्ण, मधुर कविता लिखने वाले श्री ग० दि० माडगूलकर, स्व० बहिणाबाई चौधरी, श्रीमती शाता शेलके, श्रीमती सजीवनी मराठे, श्रीमती पद्मा गोले, श्री राजा बढे, श्री मनमोहन, श्री श्रीपाद जोशी, श्री सूर्यकान्त खाडेकर आदि अनेक कवियो की कविताए पाठको द्वारा दिलचस्पी के साथ पढी जाती है।

नाटक

जनसाधारण की दृष्टि से मराठी का नाटक ही शायद सबसे लोकप्रिय साहित्य-प्रकार समझा जाएगा। यह कहा जाता है कि भारतीय भाषाओ मे बगला और मराठी भाषाओ ने ही नाटक एव रगमच के क्षेत्र मे सबसे अधिक प्रगति की है। यह भी हो सकता है कि बगला का रगमच मराठी रगमच से कुछ आगे बढा हो और मराठी नाटक ने बगला नाटक को कुछ पीछे छोड दिया हो। जो हो, मराठी-भाषी जनता और साहित्यिक हमेशा से ही नाटक एव रग-मच के विकास मे रुचि रखते आये है। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे श्री अण्णासाहब किर्लोस्कर के 'सौभद्र' (१८८२) नाटक ने एक तरह से मराठी के रगमंच को बहुत जोर का बढावा दिया। इस नाटक की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आज भी उसे देखने के लिए भीड उमड पडती है। श्री किर्लोस्कर के बाद श्री गोविन्दवल्लाल देवल (१८५५-१९१६) ने 'शारदा' (१८९९), 'सशयकल्लोल' (१९१६), 'मृच्छकटिक' आदि नाटको द्वारा मराठी के रगमच को अधिक मजबूत बनाया। उसके बाद श्री श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर (१८७१-१९३४), श्रीकृष्णजी प्रभाकर खाडिलकर (१८७२-१९४८), श्री राम गणेश गडकरी (१८८५-१९१९), श्री नरसिह चिन्तामण केलकर, श्री मामा बरेरकर, श्री माधवराव जोशी, वीर वामनराव जोशी, श्री प्र० के० अत्रे, श्री मो० ग० रागणेकर, श्री नागेश जोशी, श्री वसन्त कानेटकर, श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित, श्री नाना जोग, श्री वि० वा० शिरवाडकर, श्री पु० ल० देशपाडे आदि अनेक नाटककारो ने मराठी नाटक को आगे बढाने मे सहयोग दिया है। यहा यह स्मरण रहे कि मराठी के प्रारम्भिक नाटको मे सगीत की बडी भरमार रहती थी। मसलन 'सौभद्र' नाटक मे कुल मिलाकर सौ पद या गाने थे, जिनमे से चालीस गाने केवल प्रथम अक में ही थे। इसका मतलब था, मराठी-भाषी श्रोता एव दर्शक नाट्य की अपेक्षा शास्त्रीय संगीत का ही शौक अधिक रखते थे। आगे चलकर सगीत की यह मात्रा कम होती गई और कुछ गद्य नाटक भी लिखे गए। मगर आज भी सगीत नाटको का आकर्षण कम नही हुआ है। सम्भवत. इसी कारण फिल्मो के इस जमाने मे भी मराठी नाटक अपने पैरों पर मजबूती के साथ खड़ा है।

जीवनी, पत्र-साहित्य, यात्रा-वर्णन आदि

इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे कुछ महत्त्वपूर्ण जीवनिया और व्यक्ति जीवन से सम्बन्धित पुस्तके प्रकाशित हुई हैं; यद्यपि इस क्षेत्र मे अभी बहुत काम होना बाकी है। स्व० धर्मानन्द कौसम्बी-लिखित 'भगवान बुद्ध', श्री न० चि० केलकर-कृत 'तिलक चरित्र', प्रा० न० र० फाटक-लिखित 'रानडे चरित्र' और 'श्री एकनाथ', 'श्री ज्ञानेश्वर' तथा

'श्री रामदास', श्री दा० न० शिखरे, श्री आपटे गुरु जी, श्री शि० ल० करंदीकर आदि की लिखी हुई लोकमान्य तिलक की जीवनिया, आचार्य जावडेकर, श्री सप्ने गुरु जी, श्री दा० न० शिखरे आदि की लिखी हुई गांधीजी की जीवनियां, श्री श्रीपाद जोशी की लिखी हुई 'मी पाहिले ले गांधीजी' (मेरे देखे हुए गांधी जी), श्री ह० मो० जोशी लिखित मौलाना आजाद की जीवनी, अनेको लेखको द्वारा लिखी गई नेताजी सुभाषचन्द्र की जीवनियां, श्री ग० गं० जांभेकर की लिखी बालशास्त्री जांभेकर की विस्तृत जीवनी, श्री भावे, श्री दि०वि० काले, श्री ब० मो० पुरन्दरे आदि की लिखी हुई शिवाजी महाराज की जीवनिया, श्रीमती रमाबाई रानडे की लिखी 'आमच्या आयुष्यातील काही आठवणी' (हमारे जीवन के कुछ सस्मरण), महर्षि धोडो केशव कर्वे की आत्मकथा, श्रीमती लक्ष्मीबाई टिल की 'स्मृति चित्रे', श्रीमती कमलाबाई देशपाडे की 'स्मरण सारवली' आदि पुस्तको का इस सिलसिले मे उल्लेख करना आवश्यक है।

मराठी का पत्र-साहित्य भी बडा समृद्ध है। इसमे स्व० साने गुरुजी के पत्रों का अपना एक विशेष स्थान है। 'सुन्दर पत्रे' के नाम से उनके पत्र तीन खण्डो में प्रकाशित हुए है। उसमे गुरुजी का विशाल हृदय स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है। इसी प्रकार आचार्य दादा धर्माधिकारी के दो पत्र-सग्रहो 'स्नेहाचे झरे' और 'अन्तरीचे उमाले' में भी पत्र-साहित्य की सारी विशेषताए प्रकर्षेण प्रकट हुई हैं। स्व० नरहरि लक्ष्मण आठवले के पत्रों का संग्रह 'जीवनदीक्षा' भी इसी श्रेणी का एक उत्कृष्ट नमूना है। आचार्य काका कालेलकर के पत्र-सग्रह 'सप्रेम वन्दे मातरम्' में उनकी रसिकता एव सग्राहकता का दर्शन होता है।

यात्रा-वर्णनों की पुस्तको मे अधिकतर ऐसी ही पुस्तके है जिनका सम्बन्ध विदेशों के भ्रमण से है। श्री टिके-कर ('मुसलमानी मुलखातील मुशाफरी'), श्री अनन्त काणेकर ('धुक्यातून लाल तायाकडे'), श्री पा० वा० काणे ('युरोपचा प्रवास'), श्री गगाधर गाडगील ('साता समुद्रापलीकडे') आदि विदेशीय यात्राओं के लेखकों के साथ ही श्री महादेव शास्त्री जोशी ('तीर्थरूप महाराष्ट्र') और श्री श्रीपाद्व जोशी ('माझा देश, माझे लोक' और 'लोक-यात्रा') जैसे भारत-यात्री भी पाये जाते हैं। इधर यात्रा-वर्णनो मे लोगो की रुचि काफी बढ़ी हुई है और लेखक भी इस क्षेत्र में नये-नये प्रयोग करने लगे है।

सारांश यह है कि पिछले साठ वर्षों मे मराठी साहित्य ने विभिन्न विभागो मे कम या अधिक मात्रा मे प्रगति की है। नाटक, निबन्ध, सन्दर्भ-साहित्य जैसे कुछ विभागो मे यह प्रगति विशेष गौरवपूर्ण है तो कविता, उपन्यास, कहानी आदि क्षेत्रो मे उस पर विदेशी प्रभाव बहुत अधिक है। आशा की जा सकती है कि जैसे-जैसे हमारे साहित्यिको को अपनी स्वतन्त्रता का भान होता जाएगा, हमारा साहित्य इस भूमि के साथ अधिक वफादार बनता जाएगा।

मलयालम-साहित्य की प्रगति

श्री एन० वेंकटेश्वरन

भारत के दक्षिण-पश्चिम के कोने मे सह्याद्रि-वलयिता जो शस्यश्यामला वसुन्धरा है, वह केरल नाम से मशहूर है। पश्चिमी घाट और अरबसागर के बीच मे पडे हुए इस देश की प्राकृतिक छटा आखो को लुभाने वाली है। इस प्रदेश की भाषा केरली या मलयालम है। केरल शब्द बडा प्राचीन है। अशोक के शिलालेखो तथा कुछ यूनानी ग्रन्थो मे 'केरल' का उल्लेख मिलता है। भाषा-विशेषज्ञों का कहना है कि 'चेरलम्' शब्द ही 'केरलम्' मे बदल गया, क्योकि तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओ के 'च' कार के स्थान पर मलयाली लोग 'क'-कार का प्रयोग करते है। केरल की उपजाऊ भूमि, जहां सर्वत्र 'केर वृक्ष' याने नारियल के पेड ही पेड़ नजर आते है, सचमुच सारे चेरदेश का 'अलम्' याने 'खजाना' ही थी।

मलयालम द्रविड भाषा की एक मुख्य शाखा है। इसकी उत्पत्ति के विषय मे विद्वानो मे कई मतभेद है। फिर भी आज यही मत प्रामाणिक माना जाता है कि द्रविड वर्ग की सबसे प्रमुख भाषा तमिल से ही मलयालम की उत्पत्ति हुई है। 'कुट्टम्' 'कुटम्', 'कर्क', 'वण', 'पूली' इन पाच प्रदेशों में प्रचलित तमिल का रूपान्तर ही मलयालम है। कहा जाता है कि आज केरल मे जो केरलीय (मलयालम) सवत प्रचलित है, उसके करीब आरम्भकाल मे, याने ईसा की आठवी या नौवी शताब्दी मे, मलयालम ने तमिल से अलग होकर अपना नया स्वतन्त्र रूप ग्रहण किया। उस समय तक के केरलीय कवि अपने देश की तत्कालीन सामान्य भाषा तमिल मे ही काव्य-रचना करते थे।

अध्ययन की सुविधा के लिए मलयालम भाषा के साहित्य के इतिहास को चार कालो मे बाटा जा सकता है। वे ये है—(१) प्राचीनकाल ई० ८००-१२००, (२) पूर्व मध्यकाल ई० १२००-१५००, (३) उत्तर मध्यकाल ई० १५००-१८००, (४) आधुनिक काल ई० १८००।

प्राचीन काल

प्रारम्भिक काल में मलयालम सस्कृत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रही थी। सस्कृत उस समय पडितो की साहित्यिक भाषा थी। मलयालम शुद्ध बोलचाल की भाषा के रूप मे पामरों के बीच अपने विकास का क्षेत्र ढूढ रही थी। यह भाषा तमिल से बहुत प्रभावित थी। इसके प्राचीन काल का साहित्य विविध गानो के रूप मे मिलता है। उनमे अधिकतर गीत देवी-देवताओ के स्तोत्रों तथा भजनो के रूप मे है। 'भद्रकालिप्पाट्ट', 'शास्तान्पाट्ट', 'ब्राह्मणिप्पाट्ट' आदि इनके उदाहरण हैं। इन गीतों में साहित्यिक गुणों का बहुत ही कम विकास मिलता है। 'आट्टपाट्ट' नामक कुछ ऐसे देहाती गीतो का संग्रह है जो खेतों मे काम करने वाली किसान औरत गाया करती थी। उस समय केरल मे अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। उन राजाओं के यशोगान के रूप में कुछ गीत मिलते हैं जो 'तपुरान्पाट्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

उस जमाने के कुछ ऐसे ग्रन्थ भी पाये जाते हैं जिनको हम साहित्यिक गुणों से युक्त मान सकते है। 'रामचरितम्', 'उण्णुनीली सदेशम्', 'कण्णश्श रामायणम्' आदि इस श्रेणी के ग्रन्थ हैं। प्राचीनकाल के साहित्य में तत्कालीन देहाती दुनिया का वर्णन तथा सामाजिक परिस्थितियों की आलोचना आदि पाते है। भाषा और विषय सामयिकता के प्रभाव से मुक्त नही थे। पद्य-रचनाओं के साथ-साथ 'तोलन' जैसे हास्यरसिक विदूषक कवियों ने अपनी विचित्र भाषा मे खास तरह के चम्पू-काव्यों की रचना भी की थी। उन काव्यो के कथानक पौराणिक थे। वे काव्य अब मिलते नहीं

लेकिन 'चाक्यार कुत्तू', 'चात्तिरक्कलि', 'कूटियाट्टम्' आदि जो अभिनयात्मक प्रदर्शन और गाने होते थे, उनमें उन हास्यरस-प्रधान काव्यों का समयानुकूल उद्धरण किया करते थे। 'चाक्यार कूत्तु' जैसे प्राचीन खेलों में संस्कृत भाषा के चम्पू प्रबन्ध-काव्यो के साथ मलयालम की प्राचीनतम कविताओं का समावेश करके जो कथा-पाठ किया करते थे, उनसे एक नये प्रकार की भाषा-शैली की उत्पत्ति होने लगी। आगे चलकर उसी शैली का आदर कवियों के बीच बढने लगा और उन्होने इस नई भाषा-शैली का नाम 'मणिप्रवालम्' दिया। मणिप्रवाल का मतलब है, संस्कृत-रूपी मणि (रत्न) और मलयालम रूपी प्रवाल (विद्रुम) के सुन्दर सयोग से बनी शैली। सस्कृत और प्रादेशिक मलयालम के समुचित सयोग से मणिप्रवाल-शैली को अपनाने मे तत्कालीन पडित और पामर दोनों प्रकार की जनता ने पूरा सहयोग दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि साहित्य मे मलयालम के प्राचीन तमिल-मिश्रित 'मलयालम-तमिल' वाली पुरानी शैली के बदले नवीन मणिप्रवालम् का उपयोग बहुत बढने लगा और तमिल के प्रभाव से मुक्त होकर संस्कृत माता के लालन-पालन में मलयालम अपने नये सौन्दर्य और सौभाग्य का प्रदर्शन करने लगी।

पूर्व-मध्यकाल

इस काल के मलयालम-साहित्य मे हम उपर्युक्त मणिप्रवाल-शैली का ही विशेष महत्त्व पाते है। तत्कालीन प्रारम्भिक रचना 'वटक्कन् पाट्टुकल' मे यद्यपि इस शैली का बहुत कम उपयोग किया गया है, फिर भी उसमें तमिल भाषा के प्रभाव को बहुत अधिक कम कर डालने की तरफ ध्यान दिया गया है। 'बटक्कन् पाट्टुकल' वीर रस-प्रधान सामाजिक कथानकों को लेकर रचे गए है। उन दिनों के मलयाली लोगों की देशभक्ति, वीरता, नारी जाति के प्रति श्रद्धा आदि अनेक गुणों का परिचय उक्त रचनाओ से मिलता है।

उसी जमाने की 'चेरुश्शेरि नपूतिरि' की 'कृष्णगाथा', 'निरणम्बन्धु' नाम के तीन कवियों की रचनाए, 'गुरुदक्षिणप्पाट्टु' आदि सैकडो सुन्दर रचनाए मिलती है। चम्पू-काव्यों का निर्माण और प्रचार भी पहले से अधिक बढ गया। पुनम् नपूतिरि के 'रामायणम् चम्पू', महिषमगलम् के 'नैषधम् चम्पू' तथा 'भारतम् चम्पू', 'स्यमन्तकम्', 'रामार्जुनीयम्', 'कालियमर्दनम्', 'गौरीचरितम्', 'दक्षयागम' आदि चम्पुओं के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अलावा अनेको गीति-काव्य भी मिलते है जिनमे 'मट्टम पाट्टु', 'रुक्मागद चरितम्', 'एकादशीमाहात्म्यम्', 'कुचेलवृत्तम्', 'रामाश्वमेधम्', 'किरातम्', 'नागानन्दम्' (अनुवाद), 'चन्द्रोत्सवम्' आदि प्रधान है। पूतानम् नंपूतिरि की भक्ति-रस-प्रधान कविताओ का सृजन भी इसी युग मे हुआ था।

पूर्व-मध्यकाल की अधिकतर रचनाए भक्ति, वैराग्य आदि भावो से भरी हुई पौराणिक कथाओ के आधार पर बनी है। गद्य साहित्य का उस वक्त एकदम अभाव-सा रहा था, तो भी चम्पू-काव्यो के भीतर समासयुक्त एवं क्लिष्ट शैली मे लिखे गए गद्य का स्वरूप मिलता है। उस युग की विशेषता सिर्फ यही थी कि मलयालम ने तमिल का साथ छोडकर सस्कृत का दामन पकडा।

उत्तर-मध्यकाल

मलयालम साहित्य का स्वतन्त्र और सुदृढ विकास इस जमाने मे हुआ। मलयालम के प्रथम गणनीय कवि तुचत्तु रामानुजन एषुत्तच्चन् (तुचन्) तथा कलक्कत्तु कुचन् नंपियार जैसे महान साहित्य-सेवियों ने अपनी असख्य रचनाओ से साहित्य की श्रीवृद्धि की थी। कथकलि के प्रणेता कोट्टयत्तु केरलवर्मा, तंपुरान उण्णायि वारियर, कार्तिक तिरुनालराम वर्मा तपुरान, इरवियम्मन् तपि आदि कवियों के अवतार भी इसी युग में हुए। इसलिए इस युग को साहित्य का स्वर्ण-युग भी कहते हैं।

कविवर तुचन् ने, जिनको मलयालम का 'तुलसीदास' मान सकते है, अपनी भक्ति रस-प्रधान विशिष्ट रचनाओ से तथा भाषा की व्याकरण-बद्ध सुन्दर मणिप्रवाल-शैली एवं 'किलिप्पाट्टु' नामक स्वतन्त्र छन्दों से मलयालम साहित्य को गौरवान्वित किया है। उनका नाम आज भी मलयालम के पिता या गुरु के सम्मानपूर्ण भाव से लिया जाता है। उन्होने रामायण, भारत, भागवत, हरिनाम-सकीर्तनम्, शिवपुराणम्, इरुपत्तिनालु वृत्तम्, शतमुख रामायण आदि अनेकों उत्तम ग्रन्थ लिखे हैं। तत्कालीन समाज का प्रतिविम्ब उनके इन पौराणिक आख्यानो के वर्णनों में भी मिलता

है। आज भी घर-घर उनकी रामायण का नित्य पारायण किया जाता है। उन्होने सस्कृत मे भी कई भक्तिरस-पूर्ण रचनाएं की हैं।

'तुचन्' के बाद 'कुचन' का नाम लिया जाता है। जैसे तुचन् ने 'किलिप्पाट्टु' नाम से अपने स्वतन्त्र छन्दो मे कविताएं रची थी, वैसे ही कुचन ने 'तुल्ललप्पाट्टु' नामक अपने स्वतन्त्र छन्दो का आविष्कार करके चालीसो तुल्लल-कथाए लिखी है। उनकी रचनाए अभिनयात्मक, हास्यरस-पूर्ण पौराणिक कृतिया है जिनमे तत्कालीन केरल की सामाजिक, राजनीतिक एव साम्प्रदायिक परिस्थितियो के सुन्दर चित्रण मिलते हैं। आज भी उनकी तुल्लल-कथाओ के अभिनयपूर्ण प्रदर्शन व गायन बाजे-गाजो के साथ हुआ करते है। इन दोनो कवियो का अनुकरण करने वालों की सख्या बराबर बढती आ रही है। इन दोनों को मलयालम के युग-प्रवर्तक कवि मान सकते है।

केरल की विशिष्ट नृत्य-कला 'कथकलि' के साथ जो गाने गाये जाते है उनको 'कथकलिप्पाट्टु' कहते है। 'कथकलिप्पाट्टु' के रचयिता कोट्टयम् केरलवर्मा, कार्तिकतिरुनाल रामवर्मा, उण्णायिवारियर जैसे कवियो ने सैकडो श्रेष्ठ काव्यो का निर्माण करके इस युग का महत्त्व बढाया है। उन तमाम रचनाओ के नाम इस छोटे से निबन्ध मे देना कठिन है।

जैसे 'किलिप्पाट्टु', 'तुल्ललपाट्टु' और 'कथकलिप्पाट्टु' इन तीनो प्रकार के गीत-काव्यो का आविष्कार इस युग मे हुआ था, वैसे ही 'वचिप्पाट्टु' का भी इसी युग मे माना जाता है। 'रामपुरत्तु वारियर' नामक कवि ने अपने आश्रयदाता मार्त्तण्ड वर्मा महाराजा के साथ वैक्कम से नाव में बैठकर जाते समय 'कुचेलवृत्तम्' नामक अपनी अमर रचना का निर्माण सबसे पहले 'वचिप्पाट्टु' मे किया था। उसके बाद वचिप्पाट्टु लिखने वाले कवियो की सख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढने लगी।

इस युग मे उपर्युक्त चारो प्रकार के नवीन छन्दो मे सैकडो रचनाए मिलती है। उनके अलावा पून्तोट्टम नपूतिरि, वेलप्पुरम् नपूतिरि, शिवोल्लि नपूतिरि, वेण्मणि नपूतिरि आदि बहुत से कवियो के नामो और रचनाओ का परिचय भी यहा दिया जा सकता है।

यह युग कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण रहा। इसमे साहित्य का स्वच्छन्द विकास, नवीन छदों की रचना, संस्कृत-काव्यो का स्वतन्त्र अनुवाद, देहाती दुनिया का वास्तविक चित्रण आदि प्रवृत्तिया मुख्य रही है। मलयालम साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियो ने इस युग को सचमुच स्वर्ण-युग ही बनाया है।

आधुनिक काल का पद्य-साहित्य

इस काल मे मलयालम साहित्य पहले-पहल अग्रेजी के सम्पर्क मे आया और उस विदेशी साहित्य के प्रभाव से उसमें कई समयानुकूल परिवर्तन हुए। जैसे हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल भारतेन्दु से शुरू होता है, वैसे मलयालम मे भी 'केरलवर्मा कोयित्तम्पुरान' से आधुनिक पद्य और गद्य साहित्य आरभ होता है। वे इस आधुनिक युग के प्रवर्तक माने जाते है। उनके जमाने में तिरुविताकुर रियासत मे नये शिक्षा-क्रम के अनुसार कई स्कूल खुले। केरलवर्मा ने इन स्कूलों के लिए कई पाठ्य पुस्तके रची। वे खुद ग्रन्थ लिखते थे, दूसरो को प्रोत्साहित करके लिखाते भी थे। उनके तथा उनके अनुयायियों के परिश्रम से मलयालम साहित्य के विविध अगो की पुष्टि हुई।

अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, मयूर-सन्देशम्, श्री पद्मनाभपद-पद्मशतकम् आदि केरलवर्मा के मुख्य पद्य-ग्रन्थ है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् मे उन्होंने कालिदास के उसी प्रसिद्ध नाटक का ऐसा सुन्दर अनुवाद किया है जिससे उनको 'केरल कालिदास' की उपाधि मिली है। केरलवर्मा की सबसे मुख्य रचना 'मयूरसन्देशम्' है। यह एक मौलिक खड-काव्य है। मलयालम के सदेश-काव्यों मे इसका पहला स्थान है। कालिदास के 'मेघदूत' के अनुकरण पर यह रचा गया है। इसमे भावों की जो मार्मिक अभिव्यक्ति और अलकारों की जो सुन्दर छटा मिलती है, वह अद्वितीय है। 'विज्ञान मजरी', 'अकबर', 'महच्चरितम्' आदि उनकी मुख्य रचनाएं है। उनके गद्य की धारावाही शैली और सस्कृत-गर्भित भाषा आगे आने वाले अनेक लेखको के लिए पथ-प्रदर्शक बन गई। इन ग्रन्थों के अलावा केरलवर्मा ने 'हनुमदुत्सवम्', 'ध्रुवचरितम्' आदि 'कथकलिप्पाट्टु' भी लिखे हैं।

राजराजवर्मा कोयित्तम्पुरान इसी युग की अन्य श्रेष्ठतम विभूति हैं। वे केरलवर्मा के भानजे हैं। वे केवल कवि ही नही, मलयालम के सुप्रसिद्ध व्याकरण-निर्माता भी हैं। उनको 'केरल-पाणिनि' की उपाधि से विभूषित किया गया है। रुक्मिणीहरणम्, चित्रनक्षत्रमाला, तुलाभारप्रबन्धम्, मलयविलासम् आदि उनकी उत्कृष्ट काव्य रचनाएं हैं। उन्होंने कालिदास की कई कृतियो का सफल अनुवाद भी किया है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने मलयालम साहित्य को सचमुच चमका दिया है।

के० सी० केशवपिल्ल, कोटुंगल्लूर कुंजिक्कुट्टन तम्पुरान, चात्तुक्कुट्टि मन्नाडियार, पन्तलम् केरलवर्मा, नटुवम् नंपूतिरि, कुण्टूर नारायणमेनन आदि इस युग के प्रमुख कवि थे। के० सी० केशवपिल्लै की रचनाओं में साहित्य और सगीत का अनोखा सम्मिश्रण पाया जाता है। उनका 'केशवीय' मलयालम के पंच महाकाव्यों में एक माना जाता है।

कोटुंगल्लूर कुंजिक्कुट्टन तम्पुरान ने महाभारतम्, देवीभागवतम्, देवीमाहात्म्यम् जैसे बड़े पुराण-ग्रन्थों का सस्कृत से मलयालम पद्यो में अनुवाद किया है। उनको 'केरल व्यास' की उपाधि भी मिली है। वे आशुकवि थे। पद्य में मामूली बातचीत भी किया करते थे। उसी घराने के कोच्चुण्णित्तम्पुरान 'कल्याणी नाटकम्', 'उमाविवाहम्', 'भद्रोत्सवम्' आदि दृश्य काव्यो तथा 'पाडवोदयम्', 'वचीशवशम्', 'मलयाम कोल्लम' आदि महाकाव्यों के रचयिता थे। 'कल्याणी-नाटकम्' संस्कृत नाटकों के नियमों के अनुसार रची गई मलयालम का पहली मौलिक रचना है।

चात्तुक्कुट्टि मन्नाडियार की अधिकतर रचनाएं सस्कृत से अनूदित हैं। 'उत्तररामचरितम्' के अनुवाद में भवभूति के करुण रस को ज्यो-का-त्यों उतार लेने में वे सफल हुए हैं।

कुण्टूर नारायणमेनन ने रघुवंश और कुमारसभवम् का सुन्दर अनुवाद किया है। 'नालु भाषा काव्यंगल' ठेठ मलयालम मे लिखी हुई कविता है।

आधुनिक पद्य-साहित्य की नवीन धारा

कुमारनाशान्, वल्लत्तोल और उल्लूर नवीन काव्य-मार्ग के अग्रदूत हैं। इन तीनो को आधुनिक मलयालम कवियो की 'बृहत्त्रयी' कहा जा सकता है।

कुमारनाशान्—स्वर्गीय कुमारनाशान् मलयालम के दुःखवादी कवि है। उनकी कविता मे वेदना और निराशा की स्पष्ट गूज हैं। वे बड़े तत्त्वचिन्तक और जीवन-दर्शी थे। उनकी रचनाए दार्शनिक और आदर्श-प्रधान हैं। वे समाज-सुधारक, क्रान्तिकारी और प्रगतिशील कवि थे। उन्होंने अछूतो की दयनीय दुर्दशा पर मार्मिक प्रकाश डालते हुए 'चण्डालभिक्षुकि' नामक खंड-काव्य लिखा है। इसके अलावा 'बुद्धचरितम्', 'चिन्ताविष्टयाय सीत', 'वीण-पूवु', 'नलिनि', 'करुणा', 'लीला' आदि सैकडों उत्कृष्ट खंड-काव्य लिखे हैं। उनको मलयालम में पहले-पहल खड-काव्य लिखने का श्रेय मिला है। वे मलयालम के 'सुमित्रानन्दन पन्त' माने जा सकते हैं।

वल्लत्तोल—स्वर्गीय वल्लत्तोल नारायण मेनन मलयालम के राष्ट्रीय कवि थे, साथ ही भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ गायक थे। समाज और राष्ट्र की प्रत्येक नवीन प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं पर पड़ा है। वे गांधीजी के बड़े भक्त हैं। 'चित्रयोगम्' उनका लिखा एक महाकाव्य है। 'बधिरविलापम्', 'कोच्चु सीता', 'शिष्यनुममकनुम्', 'मग्दलन मरियम' आदि उनके मुख्य खड-काव्यों में गिने जाते हैं। उनकी विविध विषयों की फुटकल कविताए 'साहित्य-मंजरी' नामक आठ भागों मे सगृहीत हैं। हाल ही में गाधीजी पर लिखी गई उनकी रचनाओं का एक संग्रह 'बापू' के नाम से निकला है। उन्होने वाल्मीकि रामायण का मलयालम मे अनुवाद भी किया है। मद्रास सरकार की ओर से उनको केरल के 'राजकवि' का सामान्य पद मिला है। वे आधुनिक मलयालम साहित्य के सबसे बड़े प्रतिनिधि कवि हैं।

उल्लूर—स्वर्गीय उल्लूर परमेश्वरय्यर बड़े ही विचक्षण पंडित और प्रतिभा-संपन्न कवि थे। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में अपनी असाधारण कुशलता दिखाई है। उनकी रचनाए पाडित्यपूर्ण होने के कारण विद्वानों के बीच में विशेष समादर का पात्र बनी हैं। 'उमाकेरलम्' उनका एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। 'वंचीशगीति', 'मंगलमंजरी', 'कर्णभूषणम्', 'पिंगला', 'हृदयकौमुदी', 'किरणावलि' आदि उनके मुख्य खंड-काव्य और पद्य-सग्रह हैं। उन्होंने मलयालम

के पुराने काव्यों को खोज कर प्रकाशित किया, उनकी भूमिका और टीकाएं भी लिखी। 'विज्ञानदीपका' उनके विद्वत्ता-पूर्ण निबन्धों का सग्रह है। उन्होंने मलयालम साहित्य का एक प्रामाणिक इतिहास भी लिखा है, जिसका प्रकाशन तिरुवितांकूर यूनिवर्सिटी कर चुकी है।

जी० शंकर कुरुप—वर्तमान मलयालम साहित्य के प्रगतिशील और छायावादी कवि हैं। नवयुवको मे उन का विशेष आदर है। उनके विचार आधुनिक युग के अनुकूल एव क्रान्तिकारी है। दलित मानवता की पुकार उनकी कविता के करुण शब्दों मे गूज उठती है। उन्होंने 'साहित्य-कौतुकम्' नामक चार सग्रहो मे सैकडो फुटकर कविताओ को प्रकाशित किया है। 'स्वप्न-सौधम्', 'सूर्यकांति', 'नवातिथि', 'संध्या' आदि उनकी उत्कृष्ट रचनाए हैं। रविबाबू की गीतांजलि का पद्यानुवाद भी किया है और अब जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' का मलयालम में पद्यानुवाद कर रहे हैं।

चंगंपुषा—चगपुषा कृष्णपिल्लै कोमल-कान्त पदावलियो मे मधुर मार्मिक गीत रचने वाले भावुक कवि थे। मलयालम के दुःखवादी कवियों मे वे सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। जीवन की निराशा, प्रेम की पीडा और समाज के अत्याचारों पर उन्होने बहुत-सी सुन्दर मार्मिक रचनाए की है। उन रचनाओ का केरल के अपढ मजदूरो व देहातियो के बीच मे भी बेहद प्रचार हुआ है। 'रमण' नामक उनका जो खड-काव्य है, उसका बत्तीसवा सस्करण अभी निकला है। 'देवता', 'आराध्कन', 'वाष्पाजलि', 'हेमन्तचन्द्रिका', 'उद्यानलक्षिम', 'सुधागदा' आदि उनके प्रमुख खडकाव्य और कविता-सग्रह है।

मलयालम के आधुनिक पद्य-साहित्य में ऐसे अनेको कवि थे जिन्होंने अपनी सुन्दर रचनाओ से सहृदयो को अपनी ओर आकर्षित किया है। उनमे नालप्पाट्टु बालमणिअम्मा और नारायण मेनन, के० के० राजा, पल्लुत्तु रामन, कुट्टिप्पुरत्तु केशवन नायर, वेण्णिकलम् गोपाल कुरुप, वैलोप्पिल्लि श्रीधर मेनन, ओलप्पमण्णा, पी० भास्करन, एन० वी० कृष्णवारियर, पाला नारायणन नायर आदि कुछ प्रमुख कवियो के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उपन्यास

मलयालम के उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अवश्य पडा है। अंग्रेजी के उपन्यासों की देखा-देखी कई स्वतत्र उपन्यास मलयालम मे प्रकाशित हुए है। उपन्यास-लेखकों मे सर्वप्रथम 'कुन्दलता' के रचयिता अप्पु नेडुगाडि माने जाते है। चन्दु मेनन के 'शारदा', 'इन्दुलेखा', सी० वी० रामन पिल्लै के 'मार्तण्ड वर्मा', 'रामराजबहदूर', 'धर्मराजा', 'प्रेमामृतम्', टी० के० वेलुप्पिल्लै के 'हेमलता', सरदार के० एम० पणिक्कर के 'परङ्किप्पटयालि', 'पुणरकोट्टु', 'स्वरूपम्', 'केरलसिंहम्', एन० के० कृष्णपिल्लै के 'कनकमगलम्', एन० पी० पणिक्कर के 'लोलिता' 'विच्छिन्नहारम्', जी० रामकृष्ण पिल्लै के 'उमादेवी', 'प्रतिक्रिया', सी० माधवन पिल्लै के 'देशसेविनि', 'आनन्दसागरम्' 'विजयभानु' आदि उपन्यास बहुत प्रसिद्ध है। इस अर्से मे मलयालम उपन्यास साहित्य की काफी उन्नति हो चुकी है जिस पर एक अलग स्वतंत्र लेख लिखा जा सकता है।

कहानी

कहानी-साहित्य का भी अच्छा विकास हुआ है। ओटुविल कुचिकृष्ण मेनन, सी० एस० गोपाल पणिक्कर, के० सुकुमारन् आदि शुरू के कहानी-लेखक माने जाते है। उनके साथ-साथ ई० वी० कृष्ण पिल्लै, सी० एस० सुब्रह्मण्यम् पोट्टि, ललिताबिका अन्तर्जनम्, कारुर नीलकण्ठ पिल्लै, सी० एस० वैक्कम मुहम्मद बशीर, ई० एम० कोवूर, तकषि शिवशंकर पिल्लै, के० सरस्वती अम्मा, एस० के० पोट्टक्काट, पोनकुन्नम् वर्कि, केशवदेव आदि सैकडो कहानी-लेखको के नाम उल्लेखनीय हैं। सैकडों कहानी-सग्रह भिन्न-भिन्न प्रकाशको ने निकाले है। मलयालम की पत्र-पत्रिकाओ मे लब्ध-प्रतिष्ठ नवयुवक कहानी-लेखको की रचनाए बराबर प्रकाशित हुआ करती है।

नाटक और एकांकी

नाटक और एकाकियों का साहित्य भी मलयालम मे काफी बढ़ चुका है। ई० वी० कृष्ण पिल्लै ने नाटक-साहित्य के विकास में सराहनीय काम किया है। पुराने सस्कृत-नाटकों के अनुवादो के बाद, स्वतन्त्र मौलिक नाटकों

की रचना करने का क्षेत्र उन्हीं के कारण सुगम हो गया है। 'शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्रम्', 'चारुदत्तम्', 'उत्तर रामचरितम्' जैसे पद्यमय अनूदित नाटकों के बाद ई० वी० कृष्ण पिल्लै के गद्य-नाटको ने विशेष लोकप्रियता पाई। रगमच की दृष्टि से उनके नाटक काफी सफल हुए है। 'सीतादेवी', 'इरविक्कुट्टि पिल्लै', 'राजा केशवदास', 'बी० ए० मायावी' आदि उनके प्रसिद्ध नाटक है। कंनिक्करा कुमारपिल्लै और पद्मनाभ पिल्लै, सी० माधवन् पिल्लै, टी० एन० गोपीनाथन् नायर, एन० पी० चल्लप्पन नायर, के० रामकृष्ण पिल्लै, एन० कृष्ण पिल्लै आदि कई इस युग के प्रमुख नाटककार हैं।

निबन्ध तथा आलोचना

निबन्ध और आलोचना-साहित्य का भी भण्डार बराबर बढता जा रहा है। दोनों शाखाओं के प्रसिद्ध लेखको मे के० रामकृष्ण पिल्लै, आर० ईश्वर पिल्लै, आर० नारायण पणिक्कर, उल्लूर राजराज वर्मा, ओ० एम० चरियान, पी० के० नारायण पिल्लै, पट्टक्कूर राजराज वर्मा, टी० के० कृष्ण मेनन, पुत्तेषुत्तु रामन मेनन, अप्पन तम्पुरान्, जोसफ् मुण्टश्शेरी, डी० पद्मनाभन उण्णि, कुट्टिक्ककृष्णमारार, सी० एस० नायर, के० एम० पणिक्कर, एन० वी० कृष्णवारियर, मूर्कोत्तु कुजप्प, एम० गोविन्दन् आदि कइयो के नाम उल्लेखनीय है। मौलिक निबन्ध और स्वतन्त्र समालोचनाए आजकल की मलयालम पत्र-पत्रिकाओ मे काफी प्रकाशित हुआ करती हैं। वैज्ञानिक विषयों पर डा० के० भास्करम् नायर के लेख प्रामाणिक व उच्चकोटि के माने जाते है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार होने से उसका प्रभाव भी मलयालम साहित्य पर काफी पड रहा है। हिन्दी के कुछ उपन्यासो और कहानियो का मलयालम मे अनुवाद हुआ है।

'मातृभूमि', 'मलयालराज्यम्', 'परिषद मासिका', 'मगलोदयम्', 'कौमुदी' जैसे अनेको मासिक तथा साप्ताहिक पत्र और 'मातृभूमि', 'ऐक्सप्रेस', 'मलयालराज्यम्', 'मलयाली', 'केरलकौमुदी', 'दीनबन्धु', 'केरलभूषणम्', 'मलयालमनोरमा' जैसे कितने ही दैनिक पत्र मलयालम मे प्रकाशित हो रहे हैं।

संक्षेप मे हम कह सकते है कि मलयालम का आधुनिक साहित्य सर्वतोमखी उन्नति कर रहा है।
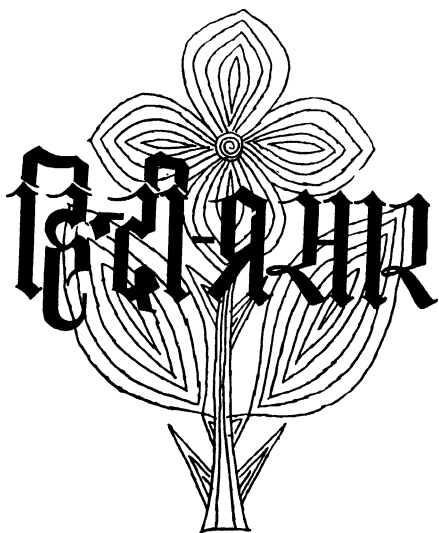
सम्पादक—

मोहनलाल भट्ट

माधव

सम्पादकीय

श्री जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है कि 'हिन्दी अपनी शक्ति से बढ़ेगी', यह सही बात है। आज जो हिन्दी बनी है, वह भी अपनी शक्ति के कारण ही बन पाई है। उसे राष्ट्रभाषा का पद मिला है, इसका कारण भी उसकी अपनी शक्ति है। यों देखा जाय तो वह किसी प्रदेश की भाषा नहीं है। मेरठ के आस-पास बोली जानेवाली भाषा का वह विकास-सा प्रतीत होती है। परन्तु वस्तुतः ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि तमाम बोलियों का पूरा प्रभाव उस पर है। सूरसागर ब्रजभाषा का तथा तुलसी-कृत रामायण अवधी का ग्रंथ माना जाता है। परन्तु इन दोनों ग्रन्थों तथा ऐसे अनेक सन्तों की वाणी के संस्कार वर्तमान हिन्दी को प्राप्त हैं। भारतेन्दु-काल में वह वर्तमान रूप धारण करने लगी। उस समय तक उर्दू का भी उस पर काफी प्रभाव पड़ चुका था। प्रथम खड़ीबोली के लेखक मुसलमान सूफी सन्त रहे हैं। यही नहीं, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि प्रदेशीय भाषाओं का भी प्रभाव उस पर पड़ा है। अनेक बोलियों तथा भाषाओं का इस प्रकार जो समन्वयात्मक प्रभाव पड़ा, वही हिन्दी की शक्ति है। भारतीय मिली-जुली संस्कृति का प्रतिविम्ब उसमें है। इसी कारण भारतीय संस्कृति की सहज अभिव्यक्ति उसके द्वारा सभव है। यही उसका सामर्थ्य है। आज की उसकी समृद्धि का कारण भी यही है। बीसवी शताब्दी के द्वितीय चरण में हमारे राष्ट्रीय सघर्ष, हमारी राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय आदर्श को हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं ने मुखर किया और गौरवमयी वाणी दी। इसी काल में हिन्दी का रूप निखरा और सारे भारत में व्यापक रूप से फैली होने के कारण अन्तर-प्रदेशीय महत्त्व उसे प्राप्त हुआ। दूरदर्शी नेताओं ने जब यह अनुभव किया कि भारत की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए तो उनका ध्यान हिन्दी की ओर गया। बगाल, मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात आदि सभी अहिन्दीभाषी प्रदेशों ने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनाने के योग्य घोषित किया।

हिन्दी का वर्तमान रूप कैसे बना, वह कैसी समृद्ध है, उसका प्रचार कैसे हुआ, आदि प्रश्नों की चर्चा यहां प्रस्तुत नही। यदि कोई यह दावा करे कि एकाध प्रदेश में किये गए कार्य से अथवा कुछ इने-गिने साहित्यिक तथा हिन्दी-प्रेमी अगुआओं के प्रयत्नों से हिदी का वर्तमान रूप बना, वह समृद्ध हुई, उसे राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त हुआ और उसका इतना व्यापक प्रचार हुआ, तो वह सही बात न होगी। हिन्दी का विकास तथा प्रचार

स्वाभाविक रूप से, सहजगति से समय की मांग को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय अन्तश्चेतना की राष्ट्रव्यापी प्रेरणा से ही हुआ है। इसलिए हिन्दी का प्रचार करनेवाली दो-चार संस्थाओं को या हिन्दी के प्रति प्रेम रखने वाले दो-चार नेताओं को इसका श्रेय नही दिया जा सकता। १८वीं सदी के द्वितीयार्द्ध से आरम्भ कर आज तक सैकड़ों-हजारों-लाखों ऐसे हिन्दी के सेवक होगे, जिन्होंने जाने-अनजाने हिन्दी के विकास में योग दिया है; और ऐसी अनेक संस्थाएं भी होंगी, जिन्होंने हिन्दी की सेवा तथा श्रीवृद्धि का सफल प्रयास किया है, और हमने उनका नाम भी न सुना होगा। आज भी ऐसे अनेक सेवक तथा चुपचाप हिन्दी की सेवा करनेवाली कितनी संस्थाएं कार्य कर रही होंगी! उन सबके बारे में जानकारी प्राप्त करना और उनका परिचय देना संभव नहीं। इस खण्ड में केवल मुख्य-मुख्य सस्थाएं, जो इस क्षेत्र में कार्य कर रही हैं, उनका ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है। कुछ मुख्य सस्थाएं भी हमारे ध्यान से बाहर रह गई होंगी। व्यक्तियों के बारे में तो विशेष रूप से यही बात कही जा सकती है। हिन्दी का काम करनेवाली अज्ञात संस्थाओं तथा व्यक्तियों के प्रति हम आदर व्यक्त करते हैं। उन्हे नम्रतापूर्वक प्रणाम करके उनसे क्षमा मांगते हैं कि हम उनका यहां परिचय नहीं दे सके हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके कार्य का महत्त्व किसी प्रकार कम आंका जाएगा। और जिन संस्थाओं का परिचय यहां दिया गया है या व्यक्तियों के बारे में कुछ कहा गया है, उनके सम्बन्ध में भी उन्हें पूरा न्याय हुआ है, यह हम नहीं कह सकते। हमारे इस प्रयत्न में अनेक त्रुटियां रही होंगी। उसके लिए हम क्षमा मांगते हैं। केवल हम यहां इतना ही कहेंगे कि हमने हिन्दी-प्रचार के कार्य की यहां छोटी-मोटी रूपरेखा खींची है जिससे हिन्दी-प्रचार के व्यापक प्रयत्न का यत्किंचित ख्याल पाठक कर सकें।

भाषात्मक प्रतिक्रान्ति

डा० राजबली पांडेय

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चरण तक भारतवर्ष का अधिकाश ब्रिटिश शासन मे समाहित हो चुका था, यद्यपि पराधीनता का चक्र १८५७ मे पूरा हुआ जब कि हमारा पहला राजनीतिक विद्रोह अग्रेजी शासन द्वारा बलपूर्वक कुचल दिया गया। भारत की आत्मा, जो बेडियो मे जकड दी गई थी, उन्नीसवी शताब्दी के दूसरे चरण मे, जब ब्रह्म-समाज के सस्थापक राजा राममोहनराय ने सास्कृतिक पुनर्जागरण का शंख फूँका, जागी और अपने को पहचानने लगी। यह जागरण यो तो भारतीय जीवन और दर्शन पर निरतर पडने वाले पाश्चात्य प्रभावों के कारण उत्पन्न हुआ था, किन्तु इसने अपना आधार वैदिक और औपनिषदिक काल की भारतीय सस्कृति को बनाया था। इससे एक मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक आत्मचेतना हुई कि देश का निर्माण करने वाली मूल चिन्तनदृष्टियो को मान्यता दी जाए। यद्यपि यह जागरण और चेतना अग्रेजी के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती थी, तथापि मूल प्रेरणा राष्ट्रीय विचार और सस्कृति के आदि-स्रोत, सस्कृत भाषा और उसके साहित्य, से ही ग्रहण की जाती थी। साथ ही यह प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार बने मनोवैज्ञानिक और सौदर्यात्मक दृष्टिकोणो की ओर झुकी हुई थी। बगला साहित्य यद्यपि अग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य प्रभाव को आत्मसात किये हुए था, फिर भी उसका पोषण मुख्यत. भारत के प्राचीन साहित्य से ही हो रहा था और उसका रूप भी वस्तुत सस्कृत का ही था।

भारतीय जीवन का पुनर्जागरण

भारतीय जीवन का यह पुनर्जागरण १८५७ के राजनीतिक विद्रोह मे भारतीयो के हतप्रभ हो जाने से भी न रुक सका और धीरे-धीरे देश के विभिन्न भागो मे फैल गया। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, थियोसॉफी और कई अन्य सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक आदोलन देश मे व्याप्त हो गए। उन सबका उद्देश्य यही था कि भारत की आत्मा को फिर से पहचाना जाए और भारतीय जीवन का राष्ट्रीय भावो के आधार पर पुनर्निर्माण हो और उसमे उन स्वस्थ और उपयोगी बाह्य प्रभावो को भी समाहित कर लिया जाए जो कालान्तर मे भारत मे आ गए थे।

इन आंदोलनों द्वारा भारतीय धर्मों, भाषाओं, साहित्यो और अन्य सास्कृतिक क्षेत्रो मे नवजीवन की लहर उठी। केवल पडितों और विद्वानों को ही नही, अपितु साधारण भारतीय जनता को भी इन आंदोलनों ने प्रभूत प्रभावित किया। इस युग के सुधारकों में आर्यसमाज के सस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती सर्वाधिक शक्तिमान और कर्मठ थे तथा भारत मे सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे। वे पूरे देश को सामाजिक-धार्मिक क्रियाओ द्वारा सुधारना और संगठित करना चाहते थे। उनको सारे भारत के लिए एक समान और आधुनिक भाषा की आवश्यकता प्रतीत हुई। वह संस्कृत के बहुत बडे विद्वान और प्रभावशाली वक्ता थे। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए वह प्रारम्भ मे उपदेशों मे संस्कृत का व्यवहार करते थे, किन्तु बहुत शीघ्र उन्हे यह पता चल गया कि इस प्रकार वे साधारण श्रोताओ तक अपना संदेश नही पहुचा सके थे। तब जन्मतः गुजराती होते हुए भी उन्होने हिन्दी को राष्ट्रीय अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का संकल्प कर लिया। उन्होंने हिन्दी में केवल उपदेश ही नही किया, अपितु उसमे विपुलता से लिखा भी। फलस्वरूप बहुत थोड़े समय में ही उनका आदोलन बम्बई से लाहौर और लाहौर से कलकत्ते तक के गावो और

कस्बों में पहुच गया। समूची उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा और शासन की भाषा होने के कारण, अंग्रेजी उन इने-गिने लोगों को ही प्रभावित कर सकी जिनका स्कूल-कालेजों में पढ़ पाना सम्भव था। भारतीय भाषाएं, विशेषकर हिन्दी, लोगों के विचारो और चरित्रो को बडी सफलता से व्यक्त कर रही थी। इन नवपडितों और नौकरशाही के सूत्रधारों के अतिरिक्त जो जनता थी, वह इन्ही भाषाओं में अपनी विचार-गगा बहाती थी। भारत के राष्ट्रीय विचारधारा के लोग स्वस्थ पाश्चात्य प्रभाव के विरोधी नहीं थे, किन्तु वह विदेशी सत्ता के प्रसार, विधर्मी मिशनरियों द्वारा भारतीयों के धर्म-परिवर्तन और भारतीय भाषाओ एवं साहित्यो के स्थान पर अग्रेजी के प्रचलन तथा किसी भी प्रकार के ऐसे विदेशी सयोजन के विरुद्ध थे जो भारतीय दर्शन और जीवन के लिए घातक सिद्ध हों।

राष्ट्रीयता का आंदोलन

भारत के इस सास्कृतिक पुनर्जागरण ने देश मे उस राष्ट्रीयता के महान आदोलन को जन्म दिया, जिसका प्रारम्भ १८८५ मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से होता है। कांग्रेस के पीछे आने वाले अन्य अधिवेशनों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एव सास्कृतिक समस्याओ पर विचार हुआ। क्योंकि काग्रेस अखिल भारतीय सस्था थी, उसके सदस्य अग्रेजी मे बोलते थे तो भी पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय प्रभृति कुछ लोग हिन्दी मे भी भाषण करते थे। काग्रेस ने अभिजात वर्ग मे राष्ट्रीय जागरण के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान सेवाए कीं, किन्तु अपनी विदेशी भाषा के कारण वह साधारण जनता तक न पहुंच सकी। हां, आगे चलकर जब उसने स्वराज्य एवं स्वदेशी की समस्याए उठाईं तब अवश्य ही उसे पर्याप्त महत्त्व प्राप्त हुआ। ये दोनों बड़ी क्रातिकारी कल्पनाए थी और इससे शीघ्र ही वह सारी जनता की प्रियपात्र हो गई।

तो भी अभी राष्ट्रीय आदोलन मे किसी बात की कमी थी। उसमे गति थी किन्तु खटक अधिक थी, प्रातीयता थी, शंकाए थीं। जनता अब भी आंदोलन से दूर थी। महात्मा गाधी ने कमजोरी की नब्ज पकडी, इस बात पर घ्यान दिया कि इस महान राष्ट्रीय आदोलन और आम जनता के बीच एक दरार क्यो पडी है। उन्होने समझा कि जनता की एकता की एक आवाज होनी चाहिए और यह तभी सम्भव है जब उनकी अपनी कोई एक राष्ट्रीय भाषा हो। स्वामी दयानन्द सरस्वती की तरह महात्मा गाधी भी गुजरात के ही थे। उन्होने सारे देश की यात्रा की और विभिन्न प्रान्तो की जनता के सम्पर्क मे आए। सबसे बातचीत करके उन्होने सबके हृदयों मे एक हलचल मचा दी। भारत की राष्ट्रीय भाषा के लिए उन्होने भी हिन्दी का ही चयन किया, क्योकि यह सर्वाधिक व्यवहृत होती थी और देश की अधिकांश जनता द्वारा साहित्यिक-सास्कृतिक माध्यमो में उपयोग में आती थी। इस चयन ने भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का रूप ही बदल दिया। अब वह सस्था-मात्र नही रह गई, अपितु देश की जनता के महान आन्दोलन के रूप मे बदल गई और इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए एक अजेय उपकरण बन गई।

हिंदी-देवनागरी का प्रचार

इस राष्ट्रीय उत्थान में हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपनाने और प्रचार करने में काग्रेस के महान नेताओ ने एक बडी सशक्त क्राति की। सभी प्रगतिशील सस्थाओ एव व्यक्तियो ने देश में एक समान भाषा और लिपि हिन्दी एव देवनागरी को विस्तृत प्रचार देने की चेष्टा की और ऐसा करने मे उनकी क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्यों के महत्त्व को तनिक भी हानि पहुचाने की इच्छा नही थी। वह देशभक्ति और महत्त्वपूर्ण देशव्यापी जागृति आदर्शवाद से प्रेरित राष्ट्रीयता का युग था। वस्तुत. वह देश के कल्याण को देखते हुए अपने स्वार्थों को भूल जाने का आदोलन था। देश की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए जो आग लोगो के दिलों मे भड़क चुकी थी, उसके खिलाफ स्थानीयता, क्षेत्रीयता, विभागीय और साम्प्रदायिकता अपना सिर उठाने का साहस ही नही कर सकती थी। यह पवित्र और प्रेरणादायक आन्दोलन १९४७ ई० तक, जब कि उसने स्वतन्त्रता प्राप्त की, बना रहा।

स्वाधीनता के बाद

यह एक विचित्र बात है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश की राष्ट्रीय एकता के विरोध में कई प्रत्यान्दो-

लन एवं प्रतिक्रान्तियां प्रादेशिकता या अंतर्राष्ट्रीयता के रूप में उभर आई हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को सभी राष्ट्र-नेताओं, विभिन्न प्रान्तों के जागरूक साहित्यिकों, महान समाजसुधारकों एव समाजसेवकों तथा देश की स्वतन्त्रता के लिए जूझने एवं त्याग करने वाली जनता का प्रबल सहयोग और समर्थन प्राप्त था। राष्ट्रोत्थान का वह उत्साह अब जैसे निराशा और ह्रास के रूप मे बदल गया है। ब्रिटिश सत्ता को भारत में जमे रहने मे जो शक्तिया मदद करती थी, लगता है कि अब उन्हीं नौकरशाही के अफसरों, औद्योगिकों, जड अध्यापकों और कालेजों-विश्वविद्यालयो के लेखकों के हाथों देश का भाग्य चला गया है। राष्ट्रीय आदोलन भर उन्होंने विदेशी सत्ता मे गठबधन कर रखा था और विदेशी मालिकों ने जो भी काम उन्हे सौंपा था, वे उससे पूर्ण सन्तुष्ट थे, और उस गतिहीन निश्चल जड़ परिस्थिति से चिपके हुए थे जिससे कि उनकी नौकरी और काम सुरक्षित रहे। आश्चर्य तो इस बात का है कि कुछ ऐसे व्यक्ति, जो अपने उच्च देशप्रेम और राष्ट्रीय आदर्शवादिता के लिए विख्यात थे, अब इन प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो के चमत्कार मे आ गए हैं। इस प्रतिक्राति के प्रकरण मे भारतीय भाषाओं के महत्त्व को अनादृत कर दिया गया है और नये-नये नारे ऐसे स्वरो मे सुनाई पड रहे है जो उस समय लापता थे जब देश अपनी स्वाधीनता के लिए सघर्षरत था। सुशासन, शिक्षा-स्तर, सार्वभौम भाषा, अतर्राष्ट्रीय व्यापारिक आचरण के नाम पर अग्रेजी के स्वत्व का दावा ऐसे व्यक्तियो द्वारा किया जा रहा है जिन्होने देश की स्वतन्त्रता के लिए कोई त्याग नही किया है। जैसा कि पहले कह चुके हैं, इस प्रतिक्राति ने दो रूप ले लिये हैं—

(१) प्रादेशिकता, और (२) अन्तर्राष्ट्रीयता।

जहा तक पहले का सम्बन्ध है, यह देश की राष्ट्रीय और प्रादेशिक समस्याओ के बीच मे रहने वाले निश्चित उलझाव के कारण उत्पन्न हुआ है। दोनो को ही आपस मे एक-दूसरे का विरोधी समझा जाता है, जबकि वे दोनो ही एक-दूसरे के पूर्ण सहायक है। इस दूसरे के सम्बन्ध में कहें कि अभिव्यक्ति के राष्ट्रीय माध्यम और अन्तर्राष्ट्रीय सूत्रो से प्राप्त होने वाले ज्ञान के स्रोतो के बीच मे काफी उलझन है। किसी भी देश की अभिव्यक्ति का स्वाभाविक माध्यम उस देश की राष्ट्रभाषा ही हो सकती है। भारतीय साहित्य को सम्पन्न बनाने के लिए किसी भी विदेशी भाषा को यहां जमाया जा सकता है किन्तु वह विचारों और अभिव्यक्तियों के स्वाभाविक माध्यम का स्थान नहीं ले सकती है। केवल अग्रेजी ही नहीं, अपितु अन्य विदेशी भाषाएं भी हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाओ को सम्पन्न करने मे सहायक हो सकती हैं; किन्तु उनको यह अनुमति कभी नही दी जा सकती कि वे राष्ट्रभाषा और प्रादेशिक भाषा के जन्म-सिद्ध अधिकार एवं स्थान को अनधिकृत रूप से ले सके। यह प्रतिक्रांति अशत. मनोवैज्ञानिक आशका और उलझन के कारण है और मुख्यतः उन व्यक्तियो के कारण है जो इतने चतुर हैं कि शासन और शिक्षण-सस्थाओ मे अपने पदो के छिन जाने की आशका से भरे है। इस झूठी मनोवैज्ञानिक आशका को वे शिक्षण-स्तर, शासन-पद्धति और सार्वभौम ज्ञान के माध्यम के नाम पर लम्बी बातों के जाल मे प्रकट करते है। यह प्रतिक्राति एक सकट की सूचना है कि जो अग्रेज भी नही प्राप्त कर सके, उसे पाने का इन्हें हौसला है। राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे सच्चे क्रातिकारियो को यह एक आवाहन है कि इस प्रतिक्रांति द्वारा आने वाली गुलामी और असभ्यता से देश की आत्मा की रक्षा करे।

इस आन्दोलन के लिए एक आलोचनात्मक विश्लेषण की अपेक्षा है। इस लेख को महात्मा गाधी के निम्न-लिखित शब्दों के साथ समाप्त करता हूं—'मेरी कामना है कि मेरा घर न तो दीवारों से चारो ओर से बन्द कर दिया जाए और न ही ताजी हवा को रोकने के लिए उसकी खिड़कियो को ही भेड़ दिया जाए। मै चाहता हू कि सारे ससार की महान सभ्यताओ एवं सस्कृतियो की वायु मेरे घर की ओर बहे, किन्तु साथ ही मै यह भी पूरी ईमानदारी से चाहता हूं कि विदेश की सभ्यता-सस्कृति की अमान्यताओं की आंधी से मेरा घर उड़ा ही न दिया जाए।'

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

१८९३ मे नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना वाराणसी में हुई। इसके सस्थापकों मे स्व० रामनारायण मिश्र, स्व० श्यामसुन्दरदास, श्री शिवकुमारसिंह आदि प्रमुख थे। इस सभा का उद्देश्य सारे देश मे हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करके उसे राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के पद पर प्रतिष्ठित करना रखा गया। बाद मे महामना मदनमोहन मालवीय ने नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी को विकसित तथा सक्षम बनाने के लिए अनेक प्रयत्न किये। तबसे सभा अपने उद्देश्य की सिद्धि मे निरन्तर अग्रसर है। इस सभा के प्रयत्न से अनेक अनुपलब्ध रचनाए प्रकाश मे आई हैं। प्राचीन कवियों की रचनाए जो सदैव के लिए लुप्तप्राय हो गई थी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी के प्रयत्न से ही प्रकाश मे लाई जा सकी। अनुसन्धान और खोजपूर्ण साहित्य की एकमात्र हिन्दी प्रकाशन सस्था बनने का श्रेय नागरी प्रचारिणी सभा को ही प्राप्त है। साहित्य-प्रकाशन के अतिरिक्त हिन्दी के उच्चकोटि के लेखक विद्वान इस सभा द्वारा सदैव सम्मानित होते रहे है। सभा द्वारा 'हिन्दी शब्द सागर' नामक कोश ग्रन्थ प्रकाशित किया गया जो सभा की बीस वर्ष की साधना का प्रतीक है। इस शब्दसागर मे एक लाख से भी अधिक हिन्दी-शब्दो का समावेश हुआ है। इसके सम्पादन मे देश के प्रमुख सम्पादको ने योगदान दिया है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की स्थापना काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अन्तर्गत ही १९१० में हुई।

सभा का कार्य-कलाप विभिन्न विभागो मे विभाजित है। प्रमुख रूप मे निम्नलिखित विभाग हैं—

१. पुस्तकालय-विभाग, २. हस्तलिखित ग्रथ-खोज विभाग, ३. अनुशीलन विभाग, ४. कोश विभाग, ५. प्रकाशन और विक्रय विभाग, ६. प्रसाद-साहित्य गोष्ठी तथा सुबोध व्याख्यान-माला विभाग, ७. पुरस्कार एव पदक विभाग, ८. सत्यज्ञान निकेतन विभाग, ९. सकेत-लिपि विभाग और १०. आय-व्यय-विभाग।

१. पुस्तकालय

सभा के सचालकत्व में एक विशाल पुस्तकालय चल रहा है। इस पुस्तकालय नाम 'आर्य भाषा पुस्तकालय' है। इस पुस्तकालय का का अपना एक बहुत बडा भवन है। इस पुस्तकालय मे हिन्दी के प्राचीन अप्राप्य ग्रंथों (हस्तलिखित तथा मुद्रित) के अतिरिक्त करीब चालीस हजार पुस्तके हैं। इसमे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओ के साहित्य की महत्त्वपूर्ण पाच हजार के करीब पुस्तके भी इस सग्रहालय मे हैं। अनुसन्धान करनेवाले विद्वानो के लिए यह पुस्तकालय सरस्वती का भडार है।

२. हस्तलिखित ग्रंथ-खोज विभाग

इस विभाग द्वारा प्राचीन अनुपलब्ध कृतियों के अनुसधान का कार्य होता है। अब तक सभा ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रथों का उद्धार किया है जो आज हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि के रूप में सुरक्षित हैं। इस कार्य के लिए सभा की ओर से कई अन्वेषक विद्वान नियुक्त हैं जो देश के विभिन्न भागों मे जाकर अनुपलब्ध कृतियों का पता लगाते हैं। इन खोजो के कारण हिन्दी-साहित्य, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का युग-युग तक कृतज्ञ रहेगा।

३. अनुशीलन विभाग

इस विभाग द्वारा हिन्दी साहित्य की गतिविधि तथा धाराओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान का काम होता है।

योग्य विद्वानों को पर्याप्त छात्रवृत्ति देकर अनुशीलन का कार्य कराया जाता रहा है।

४. कोश-विभाग

इस विभाग द्वारा 'हिन्दी शब्द-सागर' और 'संक्षिप्त शब्द-सागर' आदि कोश प्रकाशित किये गए तथा कई अन्य कोशो का निर्माण-कार्य हो रहा है। शासन-कार्य मे व्यवहार के लिए एक राजकीय कोश भी उत्तर प्रदेश सरकार की सहायता से तैयार किया जा रहा है। सभा हिन्दी साहित्य का एक बृहद् इतिहास भी तैयार करा रही है।

५. प्रकाशन और विक्रय-विभाग

इस विभाग के द्वारा हिन्दी की उत्तमोत्तम नूतन मौलिक रचनाओ का प्रकाशन तथा उनके विक्रय की व्यवस्था की जाती है। इस विभाग द्वारा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' नामक एक शोध-पत्रिका भी प्रकाशित होती है। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थमालाओ का प्रकाशन होता है—

नागरी प्रचारिणी ग्रथमाला, मनोरजक पुस्तकमाला, सूर्यकुमारी पुस्तकमाला, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला, प्रकीर्णक पुस्तकमाला, बालावक्ष राजपूत चारण पुस्तकमाला, देव पुरस्कार पुस्तकमाला, श्री महेन्द्र लाल गर्ग विज्ञान ग्रन्थावली, श्रीमती रुक्मिणी तिवारी पुस्तकमाला, श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रथमाला, नव भारतीय ग्रथ-माला, अर्धशनी याज्ञिक ग्रथावली और राजस्थान साहित्यरक्षा निधि।

६. प्रसाद-साहित्य गोष्ठी तथा सुबोध व्याख्यानमाला

स्व० जयशकर प्रसाद जी द्वारा दी गई निधि के ब्याज से इस विभाग का सचालन होता है। इसके द्वारा सुप्रसिद्ध साहित्यिको की जयन्तिया, स्वागत-समारोह तथा विद्वानो के व्याख्यानो आदि का आयोजन होता है।

७. पुरस्कार और पदक-विभाग

इस विभाग द्वारा हिन्दी साहित्य की उत्तम और मौलिक कृतियो पर पुरस्कार और पदक दिये जाते है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा निम्नलिखित पुरस्कार और पदक दिये जाते है—

१. बलदेवदास बिड़ला पुरस्कार

दो सौ रुपयो का यह पुरस्कार अध्यात्म, योग, सदाचार, मनोविज्ञान और दर्शन के सर्वोत्कृष्ट ग्रथो पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

२. बटुक प्रसाद पुरस्कार

स्वर्गीय रायबहादुर बटुकप्रसाद खत्री द्वारा दी हुई निधि से दो सौ रुपयों का यह पुरस्कार सर्वश्रेष्ठ मौलिक उपन्यास या नाटक पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

३. रत्नाकर पुरस्कार

स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास रत्नाकर की दी हुई निधि से दो सौ रुपये का यह पुरस्कार ब्रजभाषा के सर्वोत्तम ग्रथ पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

एक और कला का पुरस्कार भी दो सौ रुपयो का दिया जाता है। डिगल, राजस्थानी, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, छत्तीसगढी आदि की सर्वोत्तम रचना या सुसम्पादित ग्रन्थ पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

४. डा० छन्नूलाल पुरस्कार

श्री रामनारायण मिश्र की दी हुई निधि से दो सौ रुपये का यह पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष विज्ञान-विषयक उत्तम रचना पर दिया जाता है।

५. जोधसिंह पुरस्कार

उदयपुर-निवासी स्व० मेहता जोधसिंह की दी हुई निधि से दो सौ रुपयो का यह पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष

सर्वोत्तम ऐतिहासिक ग्रंथ पर दिया जाता है।

६. माधवीदेवी महिला पुरस्कार

सौ रुपयों का यह पुरस्कार, गृह-शास्त्र-सम्बन्धी उत्कृष्ट पुस्तक पर महिला-लेखक को दिया जाता है।

७. वसुमति पुरस्कार

बाल-साहित्य की सर्वोत्तम कृति पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

८. डा० श्यामसुन्दर पुरस्कार

एक हजार रुपयों तथा दो हजार रुपयों का यह पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

१. डा० हीरालाल स्वर्णपदक

यह स्वर्णपदक प्रति दूसरे वर्ष पुरातत्त्व, मुद्राशास्त्र, इंडोलोजी (हिन्दविज्ञान), भाषा-विज्ञान, सम्बन्धी हिन्दी मे लिखित सर्वश्रेष्ठ मौलिक पुस्तक अथवा गवेषणापूर्ण निबन्ध आदि पर दिया जाता है।

२. द्विवेदी स्वर्णपदक

यह पदक प्रतिवर्ष हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कृति पर दिया जाता है।

३. सुधाकर पदक

यह रजतपदक 'बटुकप्रसाद पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता।

४. ग्रीष्ज पदक

श्री रामनारायण मिश्र की दी हुई निधि से यह रजत-पदक 'डा० छन्नूलाल पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता है।

५. राधाकृष्णदास पदक

श्री शिवप्रसाद गुप्त की दी हुई निधि से यह रजत-पदक 'रत्नाकर पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता है।

६. बलदेवदास पदक

श्री ब्रजरत्नदास वकील की दी हुई निधि से यह रजत-पदक 'रत्नाकर पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता है।

७. गुलेरी पदक

स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की स्मृति में श्री जगद्धार शर्मा गुलेरी की दी हुई निधि से यह रजत-पदक 'जोधसिह पुरस्कार' पानेवाले को दिया जाता है।

८. रेडि चे पदक

यह पदक 'बिड़ला पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता है।

८. सत्यज्ञान निकेतन

यह संस्था ज्वालापुर (हरिद्वार) में स्थित है और नागरी प्रचारिणी सभा के अन्तर्गत पश्चिमी भारत के क्षेत्रों मे हिन्दी-प्रचार का केन्द्र है। निकेतन में बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए 'हिन्दी विद्यामदिर' स्थापित किया गया है। निकेतन का अपना एक पुस्तकालय भी है। इसका काम स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की देख-रेख में चलता है।

६. संकेत-लिपि विद्यालय

हिन्दी सकेत-लिपि (शार्टहैंड) तथा टाइप विद्यालय भी इस संस्था के अंतर्गत चल रहा है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने एक हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित करने की योजना बनाई है। इसका प्रथम भाग प्रकाशित हो गया है। इस बृहद साहित्य का इतिहास-ग्रंथ प्रकाशित करने के लिए देश के गण्यमान्य साहित्यिको का सहयोग सभा को प्राप्त है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

जून १६१० को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रबन्ध-समिति की एक बैठक में स्व० डा० श्यामसुन्दर-दास ने एक प्रस्ताव इस आशय का रखा कि देश भर के हिन्दी साहित्यिको का एक सम्मेलन किया जाए और उसमे हिन्दी तथा नागरी लिपि के व्यापक प्रचार-प्रसार तथा व्यवहार मे आने के लिए साधन-प्रयत्नों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया जाय। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ और उपस्थित सदस्यों तथा नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से तत्काल अर्थ की व्यवस्था भी हो गई। इस रकम को प्रस्तावित सम्मेलन के अधिवेशन के लिए सुरक्षित रखा गया। सम्मेलन के लिए एक उपसमिति का पृथक निर्माण किया गया। महामना प० मदनमोहन मालवीय प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष मनोनीत किये गए।

इस सम्मेलन मे बाबू पुरुषोत्तमदास टडन ने एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमे सरकारी कचहरियो में नागरी लिपि के प्रचार तथा हिन्दी साहित्य की व्यापक उन्नति के लिए एक कोश-सग्रह की अपील की गई। कोश-सग्रह के लिए हिन्दी पैसा फण्ड समिति का निर्माण हुआ। उस कोश के लिए तत्काल पैसों की वर्षा शुरू हो गई और उसी समय दो लाख पच्चीस हजार पाच सौ छियालीस पैसे फण्ड में जमा हो गए।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नीव इस प्रकार प्रारम्भिक रूप मे पैसा-फण्ड पर पडी। इस सम्मेलन के लिए चार सदस्यों की एक स्वतन्त्र समिति सगठित की गई। इन सदस्यो मे देश के अनेक प्रान्तो के प्रतिनिधि थे।

१६११ मे प्रयाग मे सम्मेलन करने का निश्चय किया गया। अध्यक्ष के रूप मे प० गोविन्दनारायण मिश्र का चुनाव हुआ और टण्डनजी प्रधान मत्री चुने गए। इसी अधिवेशन के अवसर पर टडनजी ने सम्मेलन की एक सक्षिप्त नियमावली उपस्थित की। यह नियमावली सम्मेलन के लिए एक वर्ष के लिए स्वीकृत हुई। सम्मेलन का स्थायी कार्यालय प्रयाग मे रखने का निश्चय इसी अधिवेशन मे किया गया।

इस प्रकार विभिन्न नगरो मे देश के प्रमुख विद्वानों और साहित्य-सेवियो के सभापतित्व मे सम्मेलन के अधिवेशन हुए।

आरम्भ से ही इस देश के प्रमुख साहित्यकारो तथा जनता का सहयोग प्राप्त होता रहा। सन १६१८ मे इन्दौर-अधिवेशन का सभापतित्व स्वयं महात्मा गाधी ने किया। तबसे सम्मेलन के इतिहास मे एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। इसी अधिवेशन मे हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा नागरी को राष्ट्रलिपि के रूप मे स्वीकार करने का निश्चय करने सम्बन्धी एक प्रस्ताव किया गया और यह भी प्रस्ताव किया गया कि देश के अहिन्दी-भाषी प्रान्तो मे हिन्दी और नागरी लिपि का प्रचार किया जाए। इस निश्चय के अनुसार मद्रास प्रान्त मे हिन्दी-प्रचार का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस कार्य की सिद्धि-हेतु श्री हरिहर शर्मा, स्व. प्रतापनारायण वाजपेई, प० हृषीकेश शर्मा, श्री देवदास गाधी, प० देवदूत विद्यार्थी, पं० रामानन्द शर्मा, पं० अवधनन्दन तथा स्व० प० रघुवरदयाल मिश्र आदि हिन्दी का सन्देश लेकर दक्षिण भारत पहुचे। इन सबके सहयोग से मद्रास मे स्थापित 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' बडी सफलतापूर्वक हिन्दी के प्रचार-प्रसार के कार्य मे अग्रसर होने लगी। आज यह सभा दक्षिण भारत के लाखों लोगो को हिन्दी सिखा चुकी है।

दक्षिण भारत में तो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा काम कर रही थी, किन्तु देश के शेष हिन्दीतर क्षेत्रो तथा विदेशों मे भी राष्ट्रभाषा-प्रचार की आवश्यकता महसूस की गई। अप्रैल, १६३६ मे सम्मेलन का अधिवेशन नागपुर

में वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में हुआ। इसी अधिवेशन में इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि देश के समस्त अहिन्दी-भाषी प्रान्तो में राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा राष्ट्रलिपि देवनागरी के प्रचार के लिए एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय सगठन कायम किया जाए। फलस्वरूप राजेन्द्रबाबू की अध्यक्षता में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' का निर्माण हुआ। इसका केन्द्रीय कार्यालय वर्धा में रखना निश्चित हुआ।

परीक्षाएं

सन १९१३ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चौथे अधिवेशन के अवसर पर, जिसके सभापति स्वामी श्रद्धानन्द थे, सम्मेलन द्वारा परीक्षाए चलाने और एतदर्थ नियमावली बनाने के लिए एक उपसमिति का निर्माण हुआ और उसी समय प्रयोग रूप में प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा ये तीन परीक्षाए चलाना स्वीकार किया गया।

इन परीक्षाओ को देश मे बडी लोकप्रियता मिली। आगे चलकर हजारों विद्यार्थी प्रति वर्ष इन परीक्षाओं मे सम्मिलित होने लगे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा इस समय निम्नलिखित परीक्षाएं ली जाती हैं—

प्रथमा, मध्यमा (विशारद), उत्तमा (साहित्यरत्न), आयुर्वेदविशारद, आयुर्वेदरत्न, कृषिविशारद, व्यापारविशारद, शिक्षाविशारद, सम्पादनकलाविशारद, शीघ्रलिपिविशारद, मुनीमी, अर्जीनवीसी, उपवैद्य।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ये परीक्षाएं देशके कतिपय विश्वविद्यालयों के साथ सरकार से मान्यता प्राप्त है।

सम्मेलन के विभाग

सम्मेलन के नीचे लिखे विभाग है—

१. प्रबन्ध-विभाग, २. परीक्षा-विभाग, ३ सग्रह-विभाग, ४. प्रचार-विभाग, ५. साहित्य-विभाग और ६. अर्थ-विभाग।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 'हिन्दी सग्रहालय' की देश से सुप्रसिद्ध संग्रहालयो मे गणना है। कानपुर मे हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर, जिसके सभापति टण्डनजी थे, एक आदर्श हिन्दी संग्रहालय स्थापित करने का निश्चय किया गया था, यह सग्रहालय उसी निश्चय तथा टण्डनजी की अनथक प्रेरणा का परिणाम है। लगभग पैंतीस हजार पुस्तको आदि का इसमें सग्रह है। इस सग्रहालय मे कई ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सग्रह है जो अन्यत्र अनुपलब्ध है। सम्मेलन ने इतिहास के सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान स्व० मेजर वामनदास वसु के निजी पुस्तकालय को खरीद लिया है। इसमे बडे ही खोजपूर्ण ग्रथ तथा बहुमूल्य अप्राप्य सामग्री है। इस संग्रहालय का एक भव्य और विशाल भवन है।

सम्मेलन-पत्रिका

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से एक सम्मेलन-पत्रिका भी प्रकाशित होती है जिसमें हिन्दी साहित्य की गतिविधि तथा साहित्य-सम्बन्धी खोजपूर्ण सामग्री प्रकाशित होती है। सम्मेलन का आधुनिक साधनों से परिपूर्ण मुद्रणालय भी है।

सम्मेलन की समीक्षाओ ने देश मे बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

उच्च हिन्दी साहित्य का प्रकाशन, खोज-सम्बन्धी कार्य का दिग्दर्शन, आज हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य-निर्माण की गतिविधि मे प्रमुख स्थान रखता है।

● ● ●

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा

पं० हरिहर शर्मा

राष्ट्रभाषा हिन्दी

यद्यपि राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्यवस्थित रूप से प्रचार इस बीसवी सदी मे ही शुरू हुआ तो भी जनता ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, बंगाल के प्रसिद्ध न्यायाधीश शारदाचरण मित्र तथा दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय श्री बी० कृष्णस्वामी अय्यर जैसे अहिन्दी भाषा-भाषियो ने हिन्दी को यह स्थान पहले ही दे रखा था। इस राष्ट्रभाषा का व्यवस्थित प्रचार करने वालों में सबसे अधिक प्रसिद्ध गाधीजी है, जिनकी मातृभाषा गुजराती है। गाधीजी के बाद प्रचार के लिए अधिक परिश्रम करने वाले हिन्दी भाषा-भाषियो मे टडनजी का नाम आता है।

सन १९१८ में इन्दौर नगर मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था। गांधीजी उस समय महात्मा नहीं थे, कर्मवीर कहलाते थे। वे हिन्दी के साहित्यज्ञ नही थे, पर उन्होने बहुत पहले मे ही हिन्दी का प्रचार शुरू कर दिया था। १९०८ मे ही अपनी 'हिन्द स्वराज्य' नामक पुस्तक मे उन्होने हिन्दी सीखने की आवश्यकता बतलाई थी। गुजरात-परिषद में भी उन्होने इस बात पर जोर दिया था। सन १९१६ ई० की लखनऊ-काग्रेस मे जब दक्षिण भारत के प्रतिनिधि 'अग्रेजी-अग्रेजी' चिल्लाते थे, तब उन्होने उन लोगो से अनुरोध किया कि वे जल्दी हिन्दी सीख ले। हिन्दी-प्रचार के प्रति उनकी इस तत्परता से प्रभावित होकर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हे इन्दौर वाले अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया था। उस अधिवेशन में यह महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि प्रतिवर्ष दक्षिण भारतीय छ नवयुवक हिन्दी सीखने प्रयाग भेजे जाएं और हिन्दी भाषा-भाषी छ. युवको को दक्षिणी भाषा सीखने और साथ-साथ वहा हिन्दी का प्रचार करने के लिए दक्षिण भारत में भेजा जाय। इसी अधिवेशन मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उद्देश्यो मे यह भी एक उद्देश्य जोडा गया कि अहिन्दी प्रान्तों मे हिन्दी-प्रचार का कार्य शुरू किया जाए।

दक्षिण में प्रचार-कार्य का प्रारंभ

इस अधिवेशन में गाधीजी ने दक्षिण भारत मे हिन्दी का प्रचार करने के लिए एक आयोजना बनाई थी। उनका विचार था कि उत्तर भारत की भाषाएं एक ही परिवार की हैं, आपस मे मिलती-जुलती है, परन्तु दक्षिण की तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम एकदम भिन्न परिवार की भाषाए हैं और इसलिए उत्तर की भाषाओ से अधिक दूर हैं। इसलिए दक्षिण मे यदि सफलतापूर्वक हिन्दी का प्रचार हो जाए तो उत्तर के अहिन्दी-प्रदेशो मे हिन्दी का प्रचार आसानी से हो सकेगा। उनका यह भी विचार था कि उत्तर वालो को दक्षिण की भाषाओ का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इस आयोजन के लिए धन की आवश्यकता थी। उनके मागने पर इन्दौर नगर के धनकुबेर सेठ सर हुकुमचन्द ने तथा तत्कालीन इन्दौर-नरेश यशवंतराव होलकर ने दस-दस हजार रुपयो की सहायता पहुचाई। यह रकम बापूजी ने हिंन्दी साहित्य सम्मेलन को सौंपी। इसके बाद उन्होने दक्षिण भारत के समाचारपत्रो मे सूचना निकाली कि यदि वहां हिन्दी-वर्गों का प्रबन्ध किया जा सके तो हिन्दी सिखाने के लिए अध्यापक भेजे जाएगे। मद्रास शहर में कुछ नवयुवक 'भारत सेवा संघ' (इण्डियन सर्विस लीग) नामक समाज-सेवा करने वाली सस्था चला रहे थे। उन लोगों ने बापूजी को

पत्र लिखा। बापूजी ने अपने सबसे छोटे पुत्र देवदास गांधी को हिन्दी-वर्ग चलाने के लिए भेजा और १९१८ के मई महीने के आरम्भ में उक्त सेवा-समाज के अध्यक्ष श्री सी० पी० रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में श्रीमती एनी बेसेन्ट के हाथों प्रथम हिन्दी-वर्ग का उद्घाटन हुआ।

प्रथम प्रचारक : देवदास गांधी

मुझे सन १९१५ से ही बापूजी के सम्पर्क मे आने का सौभाग्य मिला था। साबरमती-आश्रम की स्थापना के पहले भी कुछ समय उनके साथ रहने का सुअवसर मुझे मिला था। उनसे अनुमति लेकर में स्वदेशी का प्रचार करने मद्रास चला आया था। इन्दौर के प्रस्ताव और बापूजी की योजना पढ़कर मैने बापूजी को लिखा कि इस कार्य में मैं सम्मिलित होऊगा। उन्होने मुझे स्वीकृति दे दी और लिखा कि इसी कार्य के लिए अपने पुत्र देवदास गांधी को भेज रहे है, मै उनसे मिलू और उनकी सहायता करू। हिन्दी का पहला वर्ग देवदास ने चलाया। देवदास से सलाह-मशविरा करके मैंने कुछ नवयुवको को चुना। मै सपत्नीक था। स्वदेशी-आन्दोलन में मेरे साथ काम करने वाले मेरे मित्र वन्दे मातरम् सुब्रह्मण्यम् सपत्नीक प्रयाग चलने को तैयार हुए। मैने शिवराम शर्मा नामक नवयुवक को भी चुन लिया। हम पाचो मई महीने मे ही प्रयाग जा पहुचे। उस समय टडनजी ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री थे और प्रचार-सम्बन्धी कार्य भी सभालते थे। कुछ समय बाद प० रामनरेश त्रिपाठी प्रचार-मन्त्री बने। प्रयाग मे टडनजी ने हम लोगो के रहने के लिए अहियापुर मुहल्ले में प्रबन्ध कर दिया था। उनका विचार था कि हम लोगों को हिन्दी भाषा-भाषियो के बीच मे ही रहना चाहिए और हिन्दी में ही बोलने का अधिक से अधिक अभ्यास करना चाहिए। इस उद्देश्य से अहियापुर मे एक बडा घर लिया गया जिसमे हम लोगो के साथ कविवर रामनरेश त्रिपाठी के रहने का भी प्रबन्ध किया गया। हम लोगो को पढाने के लिए गणेशदीन त्रिपाठी नामक अध्यापक नियुक्त हुए। मेरी और मेरे मित्र की पत्नी की पढाई का प्रबन्ध स्थानीय कन्या पाठशाला मे किया गया। हम लोगों की पढ़ाई कुछ दिन में जब आगे बढी तब हमें श्री हरिप्रसाद द्विवेदी (वियोगी हरि) पढाने लगे। हमारे ही काल मे 'हिन्दी विद्यापीठ' की स्थापना हुई, जिसका उद्घाटन स्वर्गीय बाबू भगवादास जी के हाथों हुआ।

बापूजी चाहते थे कि हम लोग हिन्दी का अध्ययन करके वापस आने के बाद दक्षिण मे हिन्दी का भार स्वय अपने ऊपर ले ले। इस बीच मे देवदास जी के प्रचार का खूब प्रभाव पड़ा और हिन्दी सीखने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई। देवीदासजी अकेले काम सम्हाल नही सके, तब टडनजी ने स्वामी सत्यदेव को मद्रास भेजा। स्वामीजी तभी नये-नये अमरीका से लौटे थे, उन्होने मद्रास मे हिन्दी का खूब प्रचार किया। बड़े-बडे वकील, डाक्टर, व्यापारी आदि उनके पास हिन्दी सीखने लगे। स्वामीजी ने मद्रासियों को हिन्दी सिखाने के लिए एक बडी अच्छी पुस्तक तैयार की थी, किन्तु इस पुस्तक की शैली हिन्दी से अपरिचित मद्रासी भाइयो के लिए कुछ कठिन मालूम हुई। स्वामीजी मद्रास मे एक साल भी नही रह पाए, प्रयाग चले आए। इसी बीच में श्री हृषीकेश शर्मा हिन्दी का प्रचार करने मद्रास आ पहुचे। वे मसूलीपट्टम नगर में आन्ध्र जातीय कला शाला मे हिन्दी पढाने लगे।

मद्रास में सम्मेलन का प्रचार-कार्यालय

इधर प्रयाग में आजनेय शर्मा नामक एक मसूलीपट्टम-निवासी आन्ध्र युवक हिन्दी का अभ्यास करने आ पहुंचे। मेरे मित्र वन्दे मातरम् सुब्रह्मण्यम् अस्वस्थता के कारण सपत्नीक मद्रास वापस चले गए। सन १९१९ के अगस्त महीने मे हम लोगों ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा दी। उसके बाद हम लोग साबरमती में बापूजी के दर्शन और आशीर्वाद पाकर मद्रास चले गए। मै मद्रास मे रह कर भाई देवदासजी की सहायता करता था। श्री आंज-नेय शर्मा मसूलीपट्टम में हिन्दी का प्रचार करने लगे और श्री शिवराम शर्मा आन्ध्र में राजमहेन्द्रवरम् में हिन्दी-प्रचार करने लगे। हिन्दीप्रचार-सम्बन्धी यह सारा काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर चलता था, इसलिए मद्रास में जो कार्यालय खोला गया उसका 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय मद्रास', नाम रखा गया। श्री देवदास गांधी उक्त कार्यालय का काम मुझे सौंप कर वापस चले गए। जाने के पूर्व उन्होंने मद्रास प्रान्त के सभी हिन्दी-केन्द्रों का निरीक्षण किया। विशेष रूप से त्रिचन्नापल्ली, सेलम, कोयम्बतूर, मसूलीपट्टम और राजमहेन्द्रवरम् में अच्छा काम चलता था।

सन १६२० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पटना में हुआ था। उसमें मद्रास के हम कुछ प्रचारक सम्मिलित हुए। वहां टंडनजी, राजेन्द्र बाबू और अन्य प्रमुख कार्यकर्ताओं के साथ विचार-विनिमय के बाद यह निश्चय हुआ कि मद्रासियों के योग्य कुछ अच्छी पुस्तके निकालनी चाहिए। इस उद्देश्य से राजमहेन्द्रवरम का काम श्री हृषीकेश शर्मा को सौंप कर मैंने शिवराम शर्मा को मद्रास बुला लिया। वहां इनकी सहायता लेकर मैंने 'हिन्दी स्वबोधिनी' अंग्रेजी और तमिल मे तैयार की। बापूजी को यह पुस्तक बहुत पसन्द आई। उन्होंने उसकी प्रस्तावना लिखकर हमको आशीर्वाद दिया। यह हिन्दी पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय की ओर से सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। इसी के आधार पर श्री हृषीकेश शर्मा ने तेलुगु मे हिन्दी स्वबोधिनी तैयार की। बाद को इस स्वबोधिनी की मलयालम और कन्नड़-प्रतिया भी तैयार हुई। आजकल इन्हीं पुस्तको का परिवर्तित संस्करण चल रहा है।

इस सम्बन्ध मे 'हिन्दी का हीर' नामक पुस्तक का उल्लेख करना आवश्यक है। बापूजी के प्रभाव मे आकर दक्षिण में हिन्दी का प्रचार करने कई उत्तर भारतीय युवक आ पहुचे। उनमे प्रतापनारायण वाजपेयी नामक युवक त्रिचनापल्ली मे हिन्दी-प्रचार करते थे। उन्होने यह पुस्तक लिखी जो अत्यन्त लोकप्रिय बनी। इस पुस्तक मे अंग्रेजी मे हिन्दी के व्याकरण के मुख्य नियम बताये गए थे।

पाठ्य-पुस्तकें तथा प्रेस

इसके बाद हमने तीन रीडरें तैयार कीं। धीरे-धीरे काम बहुत बढता गया। हम लोग बाहरी छापेखानो मे पुस्तके छपवाते थे। इसमे हमें बडी कठिनाइया होती थी। अन्त में श्री जमनालालजी बजाज की कृपा से हम लोग अपना छापाखाना स्थापित करने मे सफल हुए। मुझे यह देखकर बडा हर्ष होता है कि सन १६२३ मे छोटे पैमाने पर जिस छापेखाने का आरम्भ हुआ वह 'हिन्दी प्रचार प्रेस' आज मद्रास के प्रमुख छापेखानो मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

हिन्दी विद्यालयों की स्थापना

दक्षिण भारतीयो का प्रयाग जाकर हिन्दी का अध्ययन करने का क्रम दो-तीन वर्षों तक जारी रहा। पर इसमे व्यय के साथ-साथ जाने वालों के भोजन-सम्बन्धी कठिनाई का भी जटिल प्रश्न पैदा हुआ। इसलिए यह निश्चय हुआ कि दक्षिण भारत मे ही ऐसे विद्यालय खोले जाए जहा हिन्दी की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध हो। इस दृष्टि से गोदावरी नदी के किनारे राजमहेन्द्रवरम के पास धवलेश्वर में एक विद्यालय खोला गया जिसके आचार्य श्री हृषीकेश शर्मा हुए। दूसरा विद्यालय कावेरी नदी के किनारे इरोड नामक नगर मे स्वर्गीय प० मोतीलाल नेहरू के हाथों खोला गया। पहले श्री अवधनन्दन इसको सभालते थे, इनके बाद कुछ समय तक श्री टी० कृष्णस्वामी और फिर श्री शिवराम शर्मा संभालते थे। यहा यह कहना अनुचित न होगा कि इस विद्यालय के लिए सब तरह की सुविधाए श्री ई० वी० रामस्वामी नायकर ने कर दी थी और यही सज्जन आज हिन्दी का विरोध करने वालो के नेता है! एक साल के बाद इन दोनो विद्यालयो को बन्द कर एक हिन्दी महाविद्यालय मद्रास शहर मे खोला गया। इसको पहले श्री शिवराम शर्मा और बाद को श्री हृषीकेश शर्मा सम्हालते थे।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की संघटना

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से समय-समय पर निरीक्षण करने के लिए प्रमुख लोग दक्षिण भारत मे आया करते थे। श्री रामनरेश त्रिपाठी, श्री रामदास गौड़, श्री पुरुषोत्तमदास टडन, श्री द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बापूजी सदा ही इस विचार के थे कि हिन्दी-प्रचार का काम अहिन्दी वालो को ही अपनाना चाहिए। मद्रास के कार्य मे सुदूर प्रयाग के सम्मेलन के मार्गदर्शन में विलम्ब होने के कारण बाधा पडने लगी। कुछ समय तक विचार-विनिमय करने के बाद यह निश्चय हुआ कि दक्षिण का काम स्वतन्त्र रूप से चलाया जाए और इस हेतु 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय, मद्रास' का नाम बदल कर 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' नामकरण किया गया। सम्मेलन ने किसी तरह यह बात मान ली और तब से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा स्वतन्त्र रूप से मद्रास मे हिन्दी का प्रचार कर रही है। इस सभा का मै प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ और मैंने अपनी शक्तिभर इसकी सेवा की। सन १६३७

में मुझे बापूजी सेवाग्राम ले गए। मेरे लिए हर्ष की बात है कि मेरे मित्र श्री मो० सत्यनारायण जी ने इस संस्था की उन्नति के लिए बड़ी अच्छी सेवा की है। इस संस्था का काम व्यवस्थित रूप से हो रहा है। बापूजी इसके आजीवन अध्यक्ष रहे और उनके बाद हमारे परम आदरणीय राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी अध्यक्ष है। इस सस्था की सम्पत्ति का भार सभालने वाला एक निधिपालक मण्डल है। सभा के दैनंदिन कार्य में सलाह देने वाली तथा नीति का निर्देश करने वाली एक कार्यकारिणी समिति है, जिसमे सभा के स्थायी पदाधिकारियो के अलावा कुछ चुने हुए सदस्य भी होते हैं। स्थायी पदाधिकारी और कार्यकारिणी समिति के सदस्यों का चुनाव एक व्यवस्थापिका समिति द्वारा तीन साल में एक बार होता है। सभा के कुछ विशिष्ट सदस्य, सामान्य सदस्यो द्वारा चुने हुए कुछ लोग और शिक्षा-परिषद के सभी सदस्य इस व्यवस्थापिका समिति में सदस्य है। यह व्यवस्थापिका समिति ही सबसे अधिक शक्ति रखने वाली समिति है। इसी के द्वारा प्रति वर्ष आय-व्यय की अनुमति दी जाती है।

सभा के सभी प्रचारकों को शिक्षा-परिषद के सदस्य चुनने का अधिकार है। यह शिक्षा-परिषद शिक्षण-सम्बन्धी, परीक्षा-सम्बन्धी तथा पाठ्य पुस्तक-सम्बन्धी सलाहे दिया करती है। इसको पुस्तकों के प्रकाशन तथा विद्यालयों की स्थापना-सम्बन्धी सलाह देने का भी अधिकार है। सामान्य रूप से इस शिक्षा-परिषद की बैठक साल मे एक बार और आवश्यकता पड़ने पर अधिक बार भी हुआ करती है। कार्यकारिणी समिति की बैठक प्रायः प्रति मास हुआ करती है।

इस सभा की चार शाखाए है—तमिलनाड की त्रिचिनापल्ली मे, केरल की एरनाकुलम मे, कर्नाटक की धारावाह मे तथा आन्ध्र की हैदराबाद मे है। हर प्रान्तीय शाखा का एक मन्त्री सभा द्वारा नियुक्त किया जाता है। हर प्रान्तीय शाखा को अपने प्रान्त में काम चलाने की पूरी स्वतन्त्रता है। तमिलनाड और केरल-शाखाओं को मार्गदर्शन कराने वाला एक सयुक्त मन्त्री है। कर्नाटक और आन्ध्र-शाखाओं का मार्गदर्शन कराने वाला एक और सयुक्त मन्त्री है। मद्रास मे एक सयुक्त मन्त्री है जो कार्यालय का काम सम्हालता है। इन सयुक्त मन्त्रियो के ऊपर प्रधान मन्त्री का स्थान है। प्रधान-मन्त्री ही दक्षिण भारत के तमाम प्रचार-कार्य का कार्यकारिणी समिति के सम्मुख उत्तरदायी है।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के विभागों मे परीक्षा-विभाग सबसे प्रधान है। सभा की तरफ से 'प्राथमिक', 'मध्यमा' और 'राष्ट्रभाषा' नामक तीन प्रारम्भिक परीक्षाए तथा 'प्रवेशिका', 'विशारद' और 'प्रवीण' नामक तीन उच्च परीक्षाएं चलाई जाती है। सबसे उच्च परीक्षा 'राष्ट्रभाषा-प्रवीण' है और इससे निम्न श्रेणी की 'राष्ट्रभाषा-विशारद' है। प्रारम्भिक परीक्षाएं चलाने का भार आजकल प्रान्तीय शाखाओं को सौप दिया गया है। इन परीक्षाओ के अलावा स्कूल मे पढने वालो के लिए अलग हिन्दी-परीक्षाए चलाई जाती हैं। कुछ अन्य परीक्षाए भी आवश्यकतानुसार समय-समय पर चलाई जाती हैं। अध्यापन-कला की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने वालो को 'प्रचारक' सनद दी जाती है।

सभा का दूसरा प्रमुख विभाग शिक्षा-विभाग है। हिन्दी शिक्षा-सम्बन्धी सारी व्यवस्था इस विभाग के द्वारा होती है। हर प्रचारक इस विभाग द्वारा निर्धारित पद्धति पर ही वर्ग चलाता है। दक्षिण भारत के कई केन्द्रो में राष्ट्रभाषा-विशारद और प्रवीण की पढ़ाई का प्रबन्ध है। सभा इन विद्यालयो को चलाने वाली संस्थाओं को हर तरह से सहायता पहुचाती है। सभा स्वय प्रचारक विद्यालय चलाती है जहा राष्ट्रभाषा-प्रवीण परीक्षा तथा हिन्दी प्रचारक शिक्षण खण्ड की पढ़ाई होती है।

सभा का साहित्य-विभाग पुस्तक-रचना तथा प्रकाशन का कार्य चलाता है। सभा ने आज तक सैकड़ों पुस्तके प्रकाशित की हैं, जिनसे दक्षिण वालो को हिन्दी सीखने में बड़ी सहायता मिली है। सभा की कई पुस्तके तो उच्च-कोटि के साहित्य की हैं।

सभा को सरकार से सहायता तो मिलती है पर नाम-मात्र की। प्रचारक विद्यालयों को सरकार की ओर से पूरे वर्ष के खर्च का करीब एक चतुर्थांश ही सहायता के रूप मे सरकार से मिलता है, बाकी सारा खर्च अपनी ही आमदनी से करती है। सभा की आमदनी परीक्षाए, पुस्तक-बिक्री, प्रेस तथा सभा के सदस्यों द्वारा होती है। सन १९५७-५८ मे सभा ने चौदह लाख से अधिक रुपये खर्च किए। इससे अनुमान किया जा सकता है कि किस पैमाने पर सभा का काम चल रहा है।

सन १९३१ से प्रतिवर्ष सभा का 'पदवीदान समारम्भ' मनाया जाता है। इसमे देश के प्रसिद्ध नेता अथवा साहित्यकार द्वारा दीक्षान्त-भाषण दिया जाता है और उच्च परीक्षाओं में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को पदवी प्रदान की जाती है। सन १९५९ मे श्री एस० के० पाटिल का अभिभाषण हुआ।

दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार करने मे अथक परिश्रम करने वाले कर्मठ प्रचारक असंख्य हैं। पर कुछ प्रमुख लोगों के नाम न लिये जाए तो सभा का इतिहास अधूरा रह जाएगा। आन्ध्र के पीसपाटि वेकट सुब्बाराव आन्ध्र प्रान्त के प्रान्तीय मन्त्री रहे। जध्याल शिवन्न शास्त्री ने हिन्दी-तेलुगु कोष तैयार किया। तमिल शाखा के भा० स० मु० दास बडे उत्साही कार्यकर्ता थे। केरल के दामोदरम् उण्णि वहा के सर्वप्रथम प्रचारक थे। श्री रघुवरदयालु मिश्र ने तमिलनाड में बहुत अच्छा काम किया। बाद को आप दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के सयुक्त मन्त्री रहे। ये सभी दिवगत हैं, इनकी सेवाए अमर है।

श्री रामभरोसे श्रीवास्तव और श्री अवधनदनजी उन प्रचारको मे है जो दक्षिण भारत मे हिन्दी-प्रचार के आरम्भकाल मे आ पहुचे। श्री रामभरोसे जी कई वर्ष पूर्व ही दक्षिण भारत छोडकर अपने गाव चले गए, श्री अवध-नंदन जी अभी दो वर्ष हुए, प्रचार-कार्य मे विश्राम पाकर घर गये हुए है। आन्ध्र प्रदेश के श्री उन्नव राजगोपाल कृष्णय्या, केरल के श्री चन्द्रहासम् और कर्नाटक के श्री सिद्धनाथ पन्त ने अपने-अपने प्रान्तो की सभा की उन्नति मे बहुत काम किया है। श्री देवदूत विद्यार्थी ने केरल सभा की बडी सेवा की है। श्री एस० आर० शास्त्री आजकल दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रधानमन्त्री है।

दक्षिण मे हिन्दी-प्रचार के कार्य मे प्रारम्भिक अवस्था मे बापूजी के अलावा श्री पुरुषोत्तमदासजी टडन, जमनालाल बजाज, काकासाहब कालेलकर और प० रामनरेश त्रिपाठी आदि की सहायता अत्यधिक महत्त्व की थी। दक्षिण के लोगो मे राजाजी, पी० पी० रामस्वामी अय्यर तथा स्वर्गीय रगस्वामी अयगार, नागेश्वर राव, एम० श्रीनिवास अय्यगार, डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या, के० भाष्यम् अय्यगार, रामदास पतलु, मजीवी कामत, वैद्यनाथ अय्यर, डा० राजन् आदि की सहायता और सलाह बराबर मिला करती थी। सभा को आर्थिक सहायता देने वालो मे होलकर नरेश, सर सेठ हुकुमचन्द, मारवाडी अग्रवाल महासभा, प्रेस के लिए बम्बई की सुव्रताबाई रामनारायण रूइया, पुस्तक-प्रकाशन के लिए सेठ घनश्यामदास बिडला, हिन्दी यात्री दल के प्रवास के खर्च के लिए सर प्रभाशकर पट्टणी, विद्यालय-भवन के लिए कर्नल पडाले और डा० रगाचारी, रगस्वामी अय्यगार मडप के लिए रगस्वामी अय्यगार स्मारक निधि प्रमुख है।

प्रारम्भिक वर्गों मे हाईकोर्ट के न्यायाधीश सदाशिव अय्यर, प्रसिद्ध वकील वेकटराम शास्त्री तथा के० भाष्यम् अय्यगार, एन० सुन्दर अय्यर, रगरत्न शास्त्री आदि सम्मिलित हुए। इन प्रमुख लोगो के द्वारा नवयुवको मे हिन्दी सीखने का उत्साह बढा। महिलाओ मे श्री अम्बुजम्माल, दुर्गाबाई देशमुख, इन्दिरा रामदुरे आदि प्रमुख है। डा० लक्ष्मीपति और उनकी पत्नी स्व० श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति ने सभा को बडी सहायता पहुचाई है। अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, एस० दुरयस्वामी अय्यर, मडयम्, श्रीनिवासाचार्य आदि की सेवाए प्रशसनीय है।

अहिन्दी-भाषी सेवकों की सेवा

ऊपर बताया जा चुका है कि हिन्दी को देश की सामान्य भाषा का स्थान देकर उसका प्रचार करने की आवश्यकता बताने वाले दीर्घदर्शी अहिन्दी भाषा-भाषी ही रहे। गाधीजी ने ही इस विचार को कार्यान्वित करके मूर्त रूप प्रदान किया। इनके पूर्व नीतिपति शारदाचरण मित्र और बी० कृष्णस्वामी अय्यर ने कुछ समय तक 'नागरी' नामक मासिक पत्रिका चलाई। उसमे अहिन्दी भाषा से नागरी मे उद्धरण देकर अर्थ बताया जाता था। इससे यह सिद्ध होता है कि आज यह जो कहा जाता है कि अहिन्दी वालो पर हिन्दी लादी जाती है, वह निराधार है। हा, इतना तो मानना ही पडेगा कि कुछ कट्टर सकुचित दृष्टि वाले हिन्दी भाषा-भाषी जल्दी मचाते है, जिससे हिन्दी के प्रचार मे बडी बाधा पैदा होती है। यदि यह बाधा न हो और अहिन्दी-प्रान्तो मे हिन्दी-प्रचार का कार्य अहिन्दी वालो पर ही छोड दिया जाए तो प्रचार बड़ी तेजी से आगे बढ़ेगा। यदि हिन्दी के उदारहृदय विद्वान आडम्बर-विहीन होकर दक्षिण के गावो मे बस

जाएं, वहां की भाषाएं सीखें और हिन्दी की शिक्षा भी प्रदान करें, संक्षेप में मिशनरी भाव से काम करें, तो हिन्दी का बहुत ही शीघ्र प्रचार बढ़ेगा।

अन्त मे हमको मद्रास के पत्र-पत्रिकाओं को भूलना नहीं चाहिए। प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'हिन्दू' और 'न्यू-इण्डिया' ने प्रचार-कार्य में बहुत अधिक सहायता पहुचाई है। विशेष रूप से 'एनी बेसेंट के न्यू इण्डिया' ने आज चालीस वर्ष पूर्व अपने पत्र में हिन्दी के स्तम्भ देकर बड़ी सहायता पहुंचाई। आनन्द विकटन तथा अन्य कई तमिल पत्रों ने भी अपने पत्रो मे हिन्दी सीखने की सुविधाए देकर प्रचार मे बड़ी सहायता दी है।
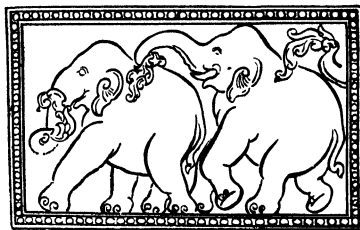
राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

गांधीजी के कुशल नेतृत्व मे देश राष्ट्रीयता और एकता की ओर बढ रहा था। देश की आजादी के लिए अनेक-विध प्रयत्न हो रहे थे। लेकिन समूचे देश के लिए एकता और राष्ट्रीयता के सबसे प्रबल नियामक और सुदृढ सयोजक सूत्र, एक सामान्य भाषा के एक मंच से व्यापक प्रचार का अब तक कोई व्यापक प्रयत्न नही हो सका था। उस समय एकता और राष्ट्रीयता की उमड़ी भावना मे अंग्रेजी भाषा माध्यम का काम दे रही थी, किन्तु यह आत्म-सम्मान और देशाभिमान के अनुकूल न था। अतः देश के गण्यमान्य नेताओं का सामूहिक ध्यान इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर आकृष्ट हुआ।

भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों की अपनी समृद्ध भाषा है, किन्तु भारत की राष्ट्रभाषा बनने की सर्वाधिक क्षमता केवल हिन्दी मे है, इस तथ्य को समूचे देश ने स्वीकार कर लिया था और इस मान्यता को ठोस एव सक्रिय रूप देने का राष्ट्रीय स्तर पर प्रथम प्रयत्न सन १९१८ मे इन्दौर मे हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन में गाधीजी की अध्यक्षता में हुआ। सर्वप्रथम दक्षिण भारत को प्रचार-क्षेत्र चुना गया जहां गाधीजी ने अपने पुत्र श्री देवदास गाधी तथा स्वामी सत्यदेव जैसे निष्ठावान प्रचारक भेजकर हिन्दी-प्रचार का कार्य आरम्भ किया। इसके बाद दूसरा व्यापक प्रयत्न अप्रैल १९३६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन मे एक प्रस्ताव करके दक्षिण भारत को छोडकर अन्य हिन्दीतर प्रदेशों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्यापक रूप से प्रचार करने के उद्देश्य से एक हिन्दी प्रचार समिति (वर्तमान राष्ट्रभाषा प्रचार समिति) का निर्माण किया गया। इस अधिवेशन के सभापति थे वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद। इस प्रस्ताव के प्रस्तावक थे राजर्षि टडन और अनुमोदक थे श्री जमनालाल बजाज।

सर्वप्रथम इसका नाम 'हिन्दी प्रचार समिति' रखा गया। आरम्भ मे तीन वर्ष के लिए इसके निम्नलिखित पन्द्रह सदस्य चुने गए——

१. बाबू राजेन्द्रप्रसाद (पदेन अध्यक्ष)
२. महात्मा गांधी
३. पं० जवाहरलाल नेहरू
४. बा० पुरुषोत्तमदास टडन
५. सेठ जमनालाल बजाज
६. काका कालेलकर
७. श्री माखनलाल चतुर्वेदी
८. आचार्य नरेन्द्रदेव
९. बाबा राघवदास
१०. श्री वियोगी हरि
११. ,, ब्रिजलाल बियाणी
१२. ,, शकरराव देव
१३. प० हरिहर शर्मा
१४. सरदार नर्मदासिह
१५. ठा० श्रीनार्थसिह

इस समिति की पहली बैठक ४ जुलाई, १९३६ को वर्धा मे सेवाग्राम में महात्माजी की कुटिया पर हुई। उसमें नीचे लिखे छः नये सदस्य और चुने गए।

१. श्रीमती लोकसुन्दरी रमन
२. श्रीमती पेरीन बेन कैप्टेन
३. श्रीमती रामादेवी चौधरानी
४. श्री गुरुमुरीय गोस्वामी
५. श्री मो० सत्यनारायण
६. श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल

इस तरह समिति के कुल २१ सदस्य हुए। इसी बैठक में नीचे लिखे अनुसार पदाधिकारियों का चुनाव हुआ:

१. श्री राजेन्द्रबाबू, पदेन अध्यक्ष

२. सेठ जमनालाल बजाज, उपाध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष

३. श्री सत्यनारायण, मन्त्री

४. श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल, सयुक्त मन्त्री

हिन्दी प्रचार समिति का क्षेत्र नीचे लिखे अनुसार बांटा गया

१. आसाम, २. बंगाल, ३. उत्कल, ४. महाराष्ट्र, ५. गुजरात, ६. बम्बई, ७. सिन्ध और ७, विदर्भ नागपुर।

आज देश मे असम, बगाल, मणिपुर, उत्कल, गुजरात, महाराष्ट्र, बम्बई, विदर्भ, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, मराठवाडा, आन्ध्र, मैसूर राज्य आदि प्रदेशों मे समिति का काम हो रहा है। विदेशो में भी अफ्रीका, जावा, सुमात्रा, बर्मा, मारिशस, अदन, इंग्लैड आदि देशों में समिति का कार्य चल रहा है और वहा समिति के कार्यकर्त्ता प्रचार-कार्य करते है तथा समिति की परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थी तैयार करते हैं।

यह तो आरम्भ मे कहा ही जा चुका है कि जब समिति की स्थापना हुई इसका नाम 'हिन्दी प्रचार समिति' रखा गया था। बाद मे समिति के नाम मे थोडा परिवर्तन करने का विचार हुआ। 'हिन्दी प्रचार समिति' मे 'हिन्दी' शब्द की जगह 'राष्ट्रभाषा' शब्द रखने का सुझाव श्री काका साहब कालेलकर द्वारा रखा गया। यह सुझाव 'राष्ट्रभाषा' शब्द के व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर किया गया था। यह सुझाव हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २७वें अधिवेशन मे, जो शिमला मे हुआ था, मान्य किया गया। तब से यह सस्था राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के नाम से कार्य कर रही है।

कुछ दिनों बाद 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' शब्दो का विवाद उठ खडा हुआ। लिपि के सम्बन्ध मे भी विवाद हुआ। गाधीजी तथा हिन्दुस्तानी के समर्थको की दलील थी कि भारतवासी हिन्दी और उर्दू दोनो शैलिया और लिपिया सीखे; और इन दोनों शैलियों के संयोग से भाषा की एक ऐसी शैली का आविष्कार किया जाए जिसे हिन्दुस्तानी के नाम से पुकारा जाए। उन लोगो का यह भी कहना था कि वह फारसी तथा देवनागरी इन दोनो लिपियो मे लिखी जाएगी। टण्डनजी तथा समिति के कुछ अन्य सदस्यो को यह तर्क युक्तिसंगत और व्यावहारिक नही लग रहा था। यद्यपि वे इस पक्ष के थे कि हिन्दी और उर्दू के ख्यातिप्राप्त लेखको-विद्वानो के सहयोग से तथा हिन्दी-उर्दू के समन्वय से एक सर्व-सुबोध आमफहम शैली का निर्माण किया जाए। देश की विभिन्न प्रान्तीय लिपियो मे फारसी और प्रान्तीय लिपियो का लिखना भी व्यावहारिक दृष्टि से सभव नही था। परिणामत. 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' से अलग 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' की स्थापना १९४२ मे की गई।

सन ४५ मे गाधीजी और टण्डनजी का पत्र-व्यवहार चला। उस पत्र-व्यवहार के बाद बापू जैसे राष्ट्रनायक के सम्बन्ध से वचित होना समिति के लिए सचमुच बडे दु ख की बात थी; किन्तु यहा सिद्धान्त का भी प्रश्न था। समिति ने देवनागरी लिपि द्वारा हिन्दी-प्रचार का अपना कार्य चालू रखा। श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन के मत्रित्व मे समिति ने १९४६ मे अपने वर्तमान स्थान हिन्दीनगर की नीव डाली और समिति का कार्य बढता गया। प्रान्त-प्रान्त मे समिति की प्रान्तीय समितिया स्थापित की गई और वहा पर सचालक नियुक्त किये गए।

महाराष्ट्र मे प्रा० द० वा० पोतदार तथा श्री गो० प० नेने, जो राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के १९४० से क्रमश: अध्यक्ष तथा सगठन-मत्री थे, उन्होने १९४५ में समिति से सम्बन्ध तोडकर एक नई सस्था कायम कर ली। वर्धा-समिति के मन्त्री को इस कारण समिति की वहा नई प्रदेशीय समिति बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुश्री सोनुताई काले ने सचालिका बनकर महाराष्ट्र की समिति के कार्य को सम्हाला। उन्होने एकाध साल यह काम किया, इसके बाद वर्तमान सचालक श्री डागरेजी आये और वे आज भी महाराष्ट्र के कार्य को सम्हाल रहे हैं।

आज समिति का क्षेत्र और कार्य बहुत ही विस्तृत हो गया है। परीक्षा-सचालन के अलावा साहित्य-निर्माण,

पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशन, महाविद्यालय-सचालन तथा ग्रन्त प्रान्तीय साहित्य के मासिक पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन ग्रादि कार्य समिति के द्वारा चलाये जा रहे है।

ग्राज तक समिति की परीक्षाग्रों में करीब तेईस लाख व्यक्ति सम्मिलित हो चुके है। ६२०० राष्ट्रभाषा प्रचारक समिति की सेवा में सलग्न हैं। २४०० केन्द्र विभिन्न प्रदेशो मे चल रहे हैं जहा समिति की परीक्षाग्रो के लिए परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। हर केन्द्र का समिति द्वारा एक केन्द्र-व्यवस्थापक नियुक्त है। समिति की परीक्षाग्रो की उत्तर-पुस्तके जाचने के लिए २५०० परीक्षकों का सहयोग मिल रहा है। करीब ६३५ विद्यालय तथा शिक्षण-केन्द्र चल रहे है जहा समिति की परीक्षाग्रो की पढाई की व्यवस्था होती है। 'राष्ट्रभाषा-रत्न' जैसी उच्च परीक्षाग्रो के ग्रध्ययन के लिए २७ महाविद्यालय भी चल रहे हैं।

समिति की ग्रोर से 'राष्ट्रभारती' ग्रौर 'राष्ट्रभाषा' दो मासिक पत्रिकाए भी प्रकाशित होती है। 'राष्ट्र-भारती' ग्रन्त प्रान्तीय भारतीय साहित्य की प्रतिनिधि मासिक पत्रिका है। यह पत्रिका प्रान्तीय भाषाग्रो के तथा हिन्दी के साहित्य को राष्ट्रभाषा-प्रेमियों तक पहुचाती है। समिति के मन्त्री श्री मोहनलाल भट्ट तथा विदर्भ-नागपुर समिति के सचालक श्री प० हृषीकेश शर्मा इसके सम्पादक है।

राष्ट्रभाषा मे समिति की परीक्षा ग्रादि प्रचार-कार्यों की जानकारी, प्रान्तीय हलचल, हिन्दी-प्रचार तथा परीक्षोपयोगी लेख ग्रादि सामग्री प्रकाशित होती है। यह पत्रिका समिति के प्रमाणित प्रचारको तथा केन्द्र-व्यवस्थापकों को नि.शुल्क भेजी जाती है।

पाठ्य-पुस्तको के रूप मे समिति ने ५२ पुस्तके प्रकाशित की है। समिति ने ग्रपनी साहित्य-निर्माण योजना के ग्रन्तर्गत राष्ट्रभाषा कोश, फ्रेच स्वय-शिक्षक, भारतीय वाङ्मय के तीन भाग, मराठी का वर्णनात्मक व्याकरण, मोरठ तेरा बहता पानी, (गुजराती उपन्यास), धरती की ग्रोर (कन्नड उपन्यास), लोकमान्य तिलक (जीवनी-ग्रथ) भारत-भारती (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मराठी तथा गुजराती) प्रकाशित किए है।

समिति की ग्रोर से प्रति वर्ष विविध प्रदेशो मे ग्रखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन का ग्रायोजन होता है ताकि प्रान्त-प्रान्त के कार्यकर्ता एकत्र होकर राष्ट्रभाषा की समस्याग्रो पर विचार-विनिमय कर सके। ग्रब तक वर्धा, ग्रहमदाबाद, पूना, बम्बई, नागपुर, पुरी, जयपुर, भोपाल तथा दिल्ली में राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन सम्पन्न हो चुके है।

महात्मा गांधी पुरस्कार

१५०१) का यह पुरस्कार हिन्दीतर भाषा-भाषी विद्वानो की राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति की गई सेवाग्रो के सम्मानस्वरूप किसी ऐसे विद्वान को ग्रखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन के ग्रवसर पर समिति देती है, जिसने ग्रपनी लेखनी द्वारा राष्ट्रभाषा की सेवा की हो। ग्रब तक यह पुरस्कार ग्राचार्य क्षितिमोहन सेन, महर्षि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्व० बाबूराव विष्णु पराडकर, ग्राचार्य विनोबा भावे, प्रज्ञाचक्षु पडित सुखलालजी सघवी, श्री सन्तराम बी० ए० तथा ग्राचार्य काकासाहब कालेलकर को समर्पित किया जा चुका है।

हिन्दी-दिवस

पाचवे ग्रखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन, मे जिसका ग्रधिवेशन सन १९५३ मे नागपुर मे सम्पन्न हुग्रा था, एक प्रस्ताव द्वारा यह निर्णय किया गया कि १४ सितम्बर, ५९ को, जिस दिन भारतीय सविधान परिषद ने राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी को तथा राष्ट्रलिपि के रूप मे देवनागरी को स्वीकृत किया था, स्मृति के रूप मे प्रतिवर्ष १४ सितम्बर को हिन्दी-दिवस मनाया जाए। तभी से समस्त भारत मे समिति के निवेदन पर प्रति वर्ष १४ सितम्बर को हिन्दी-दिवस बडे उत्साह से मनाया जाता है।

राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन

प्रान्त-प्रान्त के कार्यकर्तागण एकत्र होकर राष्ट्रभाषा की समस्याग्रो पर विचार-विनिमय कर सके, इस

दृष्टि से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के तत्वावधान में प्रतिवर्ष राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन विविध प्रदेशों में होते हैं। अब तक वर्धा, अहमदाबाद, पूना, बम्बई, नागपुर, पुरी, जयपुर, भोपाल तथा दिल्ली में राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन सम्पन्न हो चुके हैं।

राष्ट्रभाषा प्रेस

समिति के पास अपना एक बड़ा प्रेस भी है। समस्त छपाई का काम इसी प्रेस में होता है। इसमें करीब पैंतालीस कर्मचारी कार्य करते है।

समिति की परीक्षाओं को मान्यता

वर्धा समिति की परीक्षाओं को भारत सरकार के शिक्षा संचालक, गृहमन्त्रालय, रक्षा मंत्रालय, सूचना तथा प्रसार मंत्रालय ने मान्यता दी है। उसी प्रकार अनेक राज्य सरकारों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा भी समिति की परीक्षाए मान्य हैं।

प्रान्तों में राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य

गुजरात

गुजरात राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति अहमदाबाद

गुजरात मे हिन्दी का प्रचार 'गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद', 'दक्षिणामूर्ति विद्यामन्दिर, भावनगर' और 'राजकोट सेवा सघ' आदि सस्थाओ द्वारा बहुत पहले से ही किया जा रहा था। श्री मोहनलाल भट्ट, श्री जेठालाल जोशी, परमेष्ठीदास जैन आदि गुजरात मे हिन्दी-प्रचारकार्य के प्रमुख सूत्रधार थे। बडौदा राज्य इस कार्य का अगुआ था। राज्य के सभी सरकारी कर्मचारियो के लिए कचहरियो मे हिन्दी सीखना अनिवार्य कर दिया गया था। उसके लिए पुस्तक तथा कोष भी तैयार कराये थे। वरिष्ठ अदालत के फैसले वहा गुजराती भाषा तथा नागरी लिपि मे लिखे जाते थे।

सन १९३५ से भी पहले सूरत में परमेष्ठीदास जैन के प्रयत्न से राष्ट्रभाषा प्रचारक मडल की स्थापना हुई थी और नियमपूर्वक राष्ट्रभाषा के वर्ग चलाये जाते थे। १९३५ मे गुजरात विद्यापीठ तथा नवजीवन के तत्त्वावधान में श्री मोहनलाल भट्ट ने हिन्दी-प्रचार का कार्य आरम्भ किया और उसके वर्ग चलाना शुरू किया।

१९३६ मे वर्धा-समिति के निर्माण के बाद गुजरात प्रान्त मे भी राष्ट्रभाषा का प्रचार-कार्य उसके तत्त्वावधान मे होने लगा।

गुजरात प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा का मुख्य कार्यालय अहमदाबाद मे रखा गया। श्री मोहनलाल भट्ट (भूतपूर्व मैनेजिंग ट्रस्टी, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद) उसका सचालन करते रहे। सन १९३८ मे वर्तमान प्रान्तीय संचालक श्री जेठालाल जोशी ने उसका संचालनकार्य सम्हाला। तब से समिति अनेक उतार-चढावों तथा कठिनाइयो को पार करती हुई गुजरात मे राष्ट्रभाषा का प्रचार करने मे दत्त-चित्त है।

आज प्रान्त-भर मे राष्ट्रभाषा का वातावरण व्याप्त हो गया है। गुजरात के शहरों और गावो का हर कोना राष्ट्रभाषा के पवित्र सन्देश से परिपूरित है। प्रतिवर्ष राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं मे हजारों परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं।

समिति की ओर से त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका 'राष्ट्रवीणा' पिछले नौ वर्षों से प्रकाशित हो रही है।

समिति का कार्य-सचालन उसकी व्यवस्थापिका-समिति की देख-रेख मे होता है। व्यवस्थापिका समिति मे, सदस्य-समिति का सगठन, समिति के विधान के अनुसार प्रान्त के गण्यमान्य सज्जनों, विद्वानो और जनता के प्रिय कार्यकर्ताओ मे से होता है।

समिति की कार्य-समिति मे पदाधिकारियो के अतिरिक्त नौ सदस्य और होते है।

समिति के पदाधिकारियों मे माननीय स्व० दादासाहब मावलकर तथा स्व० रामनारायण भाई पाठक जैसे गण्यमान्य व्यक्ति भी रहे है।

समिति के पदाधिकारी—

अध्यक्ष—श्री क० म० मुशी, कार्याध्यक्ष—श्री हरिसिद्ध भाई दीवेटिया, उपाध्यक्ष—श्री गौरीशकर जोशी 'धूमकेतु' और श्री हरिभाई त्रिवेदी, कोषाध्यक्ष—श्री सन्तप्रसाद भट्ट तथा मन्त्री-सचालक—श्री जेठालाल जोशी।

कार्य की सुविधा और सुव्यवस्था के लिए, गुजरात प्रान्त के कार्य को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए, उमे निम्नलिखित रूप मे बाटा गया है .

१. कच्छ, २. सौराष्ट्र (झालावाड़,'हालार, सोरठ, गोहिलवाड तथा मध्य सौराष्ट्र), ३. उत्तर गुजरात, ४. अहमदाबाद नगर, ५ अहमदाबाद जिला, ६. खेडा, ७. बड़ौदा, ८ पचमहल, ९. भड़ौच, १०. सूरत।

प्रत्येक विभाग की समिति के अध्यक्ष, कार्याध्यक्ष, उपाध्यक्ष, मन्त्री एव उपमत्री है, जिनकी देखरेख में समिति का कार्य व्यवस्थित रूप से होता है।

करीब १८५० प्रचारक इस प्रान्त मे राष्ट्रभाषा-प्रचार मे सहयोग देते है। ७३० परीक्षा-केन्द्रों में वर्धा-समिति की परीक्षाए ली जाती है।

इस समिति द्वारा 'राष्ट्रभाषारत्न' की पढाई के लिए अहमदाबाद, सूरत, भावनगर, राजकोट, बडौदा, जामनगर और नाडियाद केन्द्रो मे महाविद्यालय भी प्रारम्भ किये गए है।

अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन अहमदाबाद मे हुआ था। इसी अधिवेशन मे यह निश्चय हुआ था कि राष्ट्रभाषा के अनन्य प्रवर्तक महातमा गाधी की पवित्र स्मृति मे राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का १५०१) रुपये का 'महात्मा गांधी पुरस्कार' प्रतिवर्ष हिन्दीतर भाषा-भाषी लेखक द्वारा की गई हिन्दी की सेवाओ के उपलक्ष मे सम्मान-स्वरूप समर्पित किया जाय।

इस समिति की ओर से स्व० वल्लभभाई पटेल की पुण्य स्मृति मे प्रतिवर्ष 'सरदार पटेल ट्राफी' की योजना की गई है। इस योजना के अनुसार समस्त गुजरात (सौराष्ट्र और कच्छ-सहित) के राष्ट्रभाषी परीक्षार्थियो की एक वक्तृत्व-स्पर्द्धा का प्रतिवर्ष आयोजन किया जाता है। इस स्पर्द्धा मे प्रथम आने वाले को १०१) रुपये तथा द्वितीय को ५१) रुपये का पारितोषिक दिया जाता है।

इस समिति के निरीक्षण मे वर्धा-समिति की विभिन्न परीक्षाओ मे आठ लाख से अधिक परीक्षार्थी अब तक गुजरात प्रान्त से सम्मिलित हो चुके है।

हिन्दी-भवन

गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से एक हिन्दी-भवन का निर्माण हुआ है। इसमें एक लाख से भी अधिक लागत लग चुकी है। इसका शिलान्यास श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुशी के हाथो सम्पन्न हुआ था। इस वर्ष ता० ३ अप्रैल, ६० को लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम जी अय्यगार द्वारा इस भवन का उद्घाटन हुआ।

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, पूना

महाराष्ट्र मे श्री ग० र० वैशम्पायन तथा श्री शकरराव देव आदि के नेतृत्व मे हिन्दी का प्रचार वर्धा समिति की स्थापना के पहले भी चल रहा था।

काकासाहब कालेलकर के मार्गदर्शन से पूना मे श्री० ग० र० वैशम्पायन द्वारा आमन्त्रित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर महाराष्ट्र मे हिन्दी का प्रचार करने के सम्बन्ध मे एक अखिल महाराष्ट्र हिन्दी प्रचार समिति का सगठन किया गया। यह समिति पहले स्वतत्र रूप से कार्य कर रही थी, किन्तु नवम्बर १९४० मे श्री शंकरराव देव के अध्यक्ष-पद से त्याग-पत्र दे देने के कारण इस समिति का स्वतत्र कार्यालय भग कर दिया गया, और इसके सचालन का भार तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ को सौपा गया, लेकिन इसमे कई कठिनाइया उपस्थित हुई और महाराष्ट्र प्रचार समिति को तिलक विद्यापीठ की अधीनता से भी स्वतन्त्र करना आवश्यक हो गया। सन ४३ में एक बैठक महामहोपाध्याय श्री दत्तो वामन पोद्दार की अध्यक्षता में हुई, जिसमे वर्धा-समिति के मत्री तथा परीक्षा-मंत्री भी उपस्थित थे। विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार करने के अनन्तर महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के नये सगठन का सूत्रपात हुआ। श्री० गो० प० नेने सगठन-मत्री नियुक्त हुए। बाद मे श्री गो० प० नेने ने एक नई सस्था का निर्माण किया, जिसके कारण वर्धा-समिति के मन्त्री ने उन्हे उनकी इच्छानुसार मुक्त किया और सगठन-मन्त्री का कार्य श्रीमती सोनुताई को सौंपा गया।

आज श्री पं० मु० डागरे महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, पूना का सचालन योग्यतापूर्वक अत्यन्त व्यवस्थित ढग से कर रहे है। उनके सचालकत्व मे महाराष्ट्र का कार्य बहुत ही आगे बढा है और उनकी एकनिष्ठा ने महाराष्ट्र मे राष्ट्रभाषा के कार्य को गौरवपूर्ण स्थान दिलाया है।

महाराष्ट्र के बढे हुए कार्य को देखकर हर जिले मे जिला-समितिया स्थापित की गई है। इन जिला-समितियो की देख-रेख मे ही सभी केन्द्र प्रचार-कार्य कर रहे है।

जिला-समितियां—पूर्व खानदेश, पश्चिम खानदेश, नासिक, अहमदनगर, ठाणा, कुलाबा, पूना, रत्नागिरी, उत्तर सातारा, दक्षिण सातारा, शोलापुर, कोल्हापुर और गोमातक (गोवा)।

महाराष्ट्र समिति के अध्यक्ष श्री प्रा० वा० मा० दबडघाव, आचार्य, नूतन मराठी विद्यालय है। कार्याध्यक्ष, श्री तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी तथा सचालक प० मु० डागरे है।

महाराष्ट्र मे वर्धा-समिति की परीक्षाओ के लिए २७३ परीक्षा-केन्द्र चल रहे है। प्रान्त मे प्रचारको की सख्या १४३७ है। आज तक करीब ४ लाख से अधिक परीक्षार्थी इस प्रान्त मे वर्धा-समिति की परीक्षाओ मे सम्मिलित हो चुके है। प्रतिवर्ष करीब २५ हजार तक परीक्षार्थी सम्मिलित होते है। वर्धा-समिति द्वारा मान्य ९० रा० भा० विद्यालय है जिसमे 'कोविद' तक की पढाई होती है।

प्रकाशन—समिति ने एक प्रकाशन-विभाग भी खोला है, जिसकी ओर से बापू की बाते, साधारण चार्ट, पाठ-पद्धति, आलूचना, अमावस की रात आदि पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है।

तुलसी-महाविद्यालय—१९५१ से समिति की ओर से तुलसी महाविद्यालय नामक एक महाविद्यालय भी चलाया जा रहा है, जिसमे 'राष्ट्रभाषा-रत्न', 'अध्यापन-विशारद', 'साहित्य-रत्न' आदि हिन्दी की ऊची परीक्षाओ की पढाई की व्यवस्था की गई है।

समिति के तत्वावधान मे इस विद्यालय द्वारा बम्बई सरकार की ओर से चलाई जा रही 'हिन्दी शिक्षक सनद' परीक्षा के लिए भी वर्ग की व्यवस्था की गई है। यह विद्यालय पाच वर्षों मे चल रहा है।

'जयभारती'—गत ११ वर्षों से समिति की ओर से 'जयभारती' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। सम्भवत आगामी वर्ष से इसको त्रैमासिक रूप दिया जा रहा है।

समिति का एक ग्रन्थालय है, जिसमे करीब ५००० ग्रन्थो का सग्रह है।

वाग्वर्धिनी सभा तथा वक्तृत्व-स्पर्द्धा—इसके अन्तर्गत प्रति सप्ताह विभिन्न विषयो पर हिन्दी मे व्याख्यान और चर्चाए होती है।

महाराष्ट्रीय जनता की हिन्दी मे बोलने की क्षमता बढाने के लिए हर साल अखिल महाराष्ट्र के लिए वक्तृत्व-स्पर्द्धा का भी आयोजन है।

राष्ट्रभाषा प्राथमिक परीक्षा

राष्ट्रभाषा का प्राथमिक ज्ञान करा देने के हेतु प्रान्तीय समिति की ओर से राष्ट्रभाषा प्राथमिक परीक्षा १९५७ से चलाई गई है। जिसमें प्रतिवर्ष करीब ५००० विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं।

बम्बई

बम्बई राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, बम्बई

बम्बई मे १९३६ से भी पहले बम्बई राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा कार्य कर रही थी। इस समिति के अध्यक्ष श्री सेठ जमनालालजी बजाज तथा मत्री श्री पेरिन बेन कैप्टन और उमाशकर दीक्षित थे। श्री कातिलाल जोशी ने उसी समय इस कार्य मे सहयोग देना आरम्भ किया था।

सन १९३७ से बम्बई-समिति-वर्धा समिति से सम्बद्ध होकर बम्बई नगर तथा उसके उपनगरो मे राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य कर रही है। सभा के वर्तमान प्रान्तीय सचालक श्री कान्तिलाल जोशी आरम्भ से ही निष्ठा तथा लग्न से उसका कार्य करते आ रहे है।

सभा का पुनः संगठन—सन १९४५ तक यह सभा श्रीमती पेरिन बेन कैप्टन के मंत्रित्व में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार सफलतापूर्वक करती रही, परन्तु उसके बाद पेरिन बेन तथा अन्य सदस्यों ने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का मार्गदर्शन स्वीकार कर नागरी और अरबी-फारसी लिपि में लिखित हिन्दुस्तानी-प्रचार की नीति अपनाई। अतः बम्बई राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा का स्वतन्त्र संगठन आवश्यक समझा गया। अतएव १९४५ मे वर्धा-समिति के मार्गदर्शन मे सभा का पुन. सगठन हुआ।

आजकल इसके अध्यक्ष श्री स० ल० सिलम, उपाध्यक्ष श्री रामसहाय पाण्डेय एव श्रीमती सुलोचना बहन मोदी, कोषाध्यक्ष श्री शिवकुमार भुवालका और मन्त्री तथा सचालक श्री कान्तिलालजी जोशी हैं। सदस्यों मे श्री गोविंद-लाल बसीलालजी आदि प्रमुख है। राष्ट्रभाषा का प्रचार-कार्य बम्बई प्रदेश में सुचारु रूप से ही हो रहा है। बम्बई से आज तक डेढ लाख से अधिक परीक्षार्थी परीक्षाओं मे बैठ चुके हैं।

सन १९५१ मे चतुर्थ अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन बम्बई में माननीय श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुशी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर वेदमूर्ति श्री सातवलेकरजी को १५०१) रु० का महात्मा गाधी पुरस्कार दिया गया।

सभा की ओर से गाधी-जयन्ती के उपलक्ष्य मे प्रतिवर्ष निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है।

बम्बई प्रदेश में राष्ट्र भाषा-परीक्षाएं निम्नलिखित रूप में मान्य हैं—

राष्ट्रभाषा-कोविद मे उत्तीर्ण बम्बई सरकार की हिन्दी शिक्षक सनद परीक्षा (एच० एस० एस०) में बैठ सकते हैं। इसके लिए तीन महीने का 'रिफ्रेशर' कोर्स होता है। राष्ट्रभाषा-परिचय में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों के लिए यह रिफ्रेशर कोर्स एक साल का होता है।

प्राथमिक परीक्षा

स्थानीय स्कूलो की माग को ध्यान मे रखकर बम्बई प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा की ओर से सितम्बर १९५६ से राष्ट्रभाषा प्राथमिक परीक्षा चलाई जा रही है। इसमें करीब साढे तीन हजार परीक्षार्थी प्रतिवर्ष सम्मिलित होते हैं।

विदर्भ-नागपुर

विदर्भ-नागपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, नागपुर

विदर्भ-नागपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की स्थापना सन १९३९-४० मे पुराने मध्यप्रदेश के मराठी-भाषी ८ जिलो मे राष्ट्रभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि का व्यापक प्रचार करने के उद्देश्य से वर्धा-समिति के अन्तर्गत की गई, तब इसका नाम 'विदर्भ-नागपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' था। १९४५ तक इसका प्रान्तीय कार्यालय अमरावती में रहा और इसके अध्यक्ष प्रान्त के नेता श्री वीर वामनराव जोशी तथा मन्त्री श्री वैद्य हरिहररावजी देशपाडे थे।

१९४५ के अन्त में प्रान्तीय समिति का कार्यालय नागपुर लाया गया। प्रान्तीय सचालक के पद पर श्री हृषी-केश शर्मा की नियुक्ति हुई। शर्माजी पुराने और अनुभवी कार्यकर्ता है। आपने १८-२० वर्ष मद्रास मे कार्य किया और जब वर्धा में राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की स्थापना १९३६ मे हुई तब से कुछ वर्ष वे राष्ट्रभाषा-अध्यापन मन्दिर के आचार्य रहे। वे राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के निष्ठावान अनुभवी पुराने कार्यकर्ताओ मे से एक हैं। उनकी राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा ३८ वर्षों की है।

सन १९४६ से प्रान्त के मराठी-भाषी क्षेत्रो मे केन्द्रों की, केन्द्र-व्यवस्थापकों की, प्रचारकों की तथा राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्बन्धी प्रवृत्ति यो की सख्या बढी, अनेक सहयोगी सगी-साथी कार्यकर्ताओ ने राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्य को आगे बढ़ाया। इस समय ४६७ परीक्षा-केन्द्र है और लगभग ५२८ से ऊपर प्रचारक हैं। प्रतिवर्ष ३४ हजार से ऊपर अहिन्दीभाषी विद्यार्थी राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं मे बैठते हैं। हिन्दी का उच्च अध्ययन करने वाले भी सैकड़ों है। लगभग दो लाख से अधिक लोगों ने हिन्दी सीखी। साधारण पढे-लिखे देहाती से लेकर बड़े-बडे राज्याधिकारी राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में बैठते हैं। विदर्भ-नागपुर से अहिन्दी क्षेत्रों की पाठशालाओं मे भी राष्ट्रभाषा पढ़ाई जाती है।

विदर्भ-नागपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के अन्तर्गत कार्य और व्यवस्था की दृष्टि से निम्नलिखित जिला राष्ट्रभाषा-प्रचार समितियां अपने-अपने जिलो मे बड़े ही उत्साहपूर्वक राष्ट्रभाषा का प्रचार-कार्य कर रही हैं—अकोला,

अमरावती, बुलढाणा, यवतमाल और वर्धा। इन जिला समितियों के भी अध्यक्ष और जिलासगठक आदि पदाधिकारी है।

सन १९४७ के अक्टूबर मे मध्यप्रदेश की सरकार ने वर्धा-समिति की 'परिचय' परीक्षा को सरकारी अहिन्दी-भाषी कर्मचारियों के लिए विभागीय परीक्षा के रूप मे मान्य किया था। शिक्षा विभाग ने भी 'परिचय' तथा 'कोविद' को उनके लिए मान्य किया है, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। मध्यप्रदेश सरकार ने अपने प्रान्त की मध्यप्रदेश राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति को एक सस्था के रूप में मान्य किया था। १९५१ मे प्रान्तीय समिति रजिस्टर्ड बनाई गई, तब मे प्रान्तीय सरकार इसे ५०००) की वार्षिक सहायता देती है।

नागपुर विश्वविद्यालय ने 'कोविद' को मान्यता दी है। जो अहिन्दी-भाषी प्राध्यापक कोविद-उत्तीर्ण होगे, उन्हे हिन्दी द्वारा विश्वविद्यालय मे अपना विषय पढ़ाने की अनुमति प्राप्त होगी।

सन १९५३ मे नागपुर मे अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन हुआ था। इस अवसर पर वयोवृद्ध पत्रकार स्व० पराडकरजी को १५०१) रु० का महात्मा गाधी पुरस्कार समर्पित किया गया।

समिति के अध्यक्ष हैं, नागपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति तथा हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश, मध्यप्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के भूतपूर्व अध्यक्ष एव अनेक सामाजिक, शैक्षणिक एवं सार्वजनिक सस्थाओ के जन्म-दाता डा० भवानीशकर नियोगी।

इस समिति का भवन अभी बन रहा है। इस भवन के लिए १९५६ मे तत्कालीन मध्यप्रदेश सरकार ने एक एकड़ से कुछ अधिक का प्लाट अनुदान मे दिया था। इसका शिलान्यास राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी द्वारा हो चुका है। भवन का काम चालू है, जो निकट भविष्य मे बन कर तैयार हो जाएगा।

उत्कल

उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, कटक

सन १९३३ से ही उत्कल मे राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य चल रहा है। स्व० गोपबन्धु चौधरी की प्रेरणा से उत्कल मे 'उत्कल प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा' की स्थापना की गई। इस सभा के द्वारा उत्कल मे राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार प्रारम्भ हुआ। सन १९३४ मे महात्मा गाधी के उत्कल के दौरे के अवसर पर उन्होने श्री वसन्तलाल मुरारका को इस सभा के लिए आर्थिक सहायता के निमित्त प्रेरित किया, जिससे सभा उत्साह से अपने कार्य मे आगे बढने लगी।

इसी वर्ष श्री वसन्तलाल मुरारका, श्री भागीरथ कानोडिया और श्री सीताराम सेक्सरिया आदि सज्जनों के सहयोग से कलकत्ते मे पूर्वभारत-हिन्दी-प्रचार सभा की स्थापना हुई। इसी सभा के सहयोग और मार्गदर्शन मे उत्कल प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा ने सुसगठित रूप से प्रचार-कार्य आरम्भ किया। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना के बाद यह सभा उससे सम्बद्ध हो गई।

नाम-परिवर्तन

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन मे 'हिन्दी प्रचार समिति' का नाम 'राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' रखना निश्चित हुआ। फलस्वरूप इस सभा का नाम 'उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' रखा गया।

१९४२ के स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे अनेक कार्यकर्ताओ के जेल चले जाने के कारण प्रचार-कार्य की गति अवरुद्ध-सी हो गई। प्रान्तीय सचालक श्री अनसूयाप्रसाद पाठक के जेल से मुक्त होने के बाद उन पर प्रान्त मे प्रवेश करने का प्रतिबन्ध लगा दिया गया जो सन १९४५ तक रहा। फिर भी पाठकजी बडी लगन के साथ बाहर से राष्ट्र-भाषा का प्रचार कार्य करते रहे।

सन १९४७ मे प्रान्तो मे काग्रेसी सरकारे बनी। काग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनते ही सरकार का ध्यान राष्ट्र-भाषा के प्रति आकृष्ट हुआ। सरकार ने एक सरकुलर द्वारा सूचित कर दिया कि प्रान्त मे सभी स्कूलो मे ६ठी से ९वी तक राष्ट्रभाषा हिन्दी पढ़ना आवश्यक है तथा १९४८ मे सभी स्कूलो मे हिन्दी की पढाई अनिवार्य रूप से होगी। साथ ही सरकार की ओर से प्रान्त मे एक शिक्षा-शिविर की योजना बनाई गई। इस योजना के अनुसार गजाम जिला बोर्ड ने तीन माह के लिए अपने ४८ अध्यापक हिन्दी सीखने के लिए भेजे। बोर्ड ने इस योजना पर पाच हजार रुपये खर्च किए।

आज भी उत्कल सरकार की ओर से प्रान्त में सभी स्कूलों में छठवीं से आठवीं कक्षा तक हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य है।

उत्कल राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा का कार्य उत्तरोत्तर प्रगति करने लगा जिसके कारण कार्यालय, पुस्तकालय, प्रेस आदि के लिए स्थान का प्रबन्ध करना आवश्यक हो गया। भवन-निर्माण का खर्च जो अनुमानत दो लाख रुपये तक होगा, उडीसा सरकार स्वय वहन करेगी।

उत्कल प्रान्त के तेरह जिलो मे सभा के लगभग २२० केन्द्र चल रहे है। प्रतिवर्ष सात हजार से अधिक परीक्षार्थी उत्कल प्रान्त से वर्धा समिति की परीक्षाओं मे सम्मिलित होते है।

सभा मे कार्य करने वाली अनुवाद-समिति ने अब तक कुल बाईस पुस्तके प्रकाशित की है जिनमे उपन्यास, कहानी सग्रह आदि है। उत्कल साहित्य के हिन्दी-अनुवाद का कार्य भी सभा की ओर से हो रहा है।

सभा के तत्वावधान मे एक पुस्तकालय, हिन्दी शिक्षा मन्दिर, वाचनालय तथा नियमित रूप से राष्ट्रभाषा पत्र मासिक मुख पत्र चल रहा है।

'राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस' इस सभा के तत्त्वावधान मे है, जिसका मूलधन करीब एक लाख पचास हजार है। उत्कल प्रान्तीय सरकार इस समिति को पन्द्रह हजार रुपये वार्षिक सहायता भी देती है। सभा को गाधी राष्ट्रभाषा मन्दिर निर्माण करने के लिए सरकार की ओर से दो एकड जमीन भी मिली है।

सभा का रजत-जयन्ती समारोह

उत्कल राष्ट्रभाषा प्रचार सभा ने अपने पच्चीस वर्ष पूरे करने के उपलक्ष्य मे ५, ६, ७, व ८ जून १९५९ को रजत-जयन्ती मनाई। इस अवसर पर सभा ने एक बृहद 'रजत-जयन्ती ग्रन्थ' उत्कल के प्राचीन साहित्य, कला, धर्म, सस्कृति, भूगोल तथा राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी देने की दृष्टि से प्रकाशित किया है जिसका बडा आदर हुआ है।

प्राथमिक परीक्षा

राष्ट्रभाषा के प्राथमिक ज्ञान के हेतु सभा द्वारा 'राष्ट्रभाषा प्राथमिक' परीक्षा भी चलाई जाती है, जिसका उत्कल मे अच्छा स्वागत हुआ है।

असम

असम राज्य राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, शिलांग

सन १९३७ मे असम मे सर्वप्रथम हिदी-प्रचार का कार्य आरम्भ हुआ। पूज्य महात्मा गाधी ने सन १९३७ मे अपने असम-भ्रमणकाल मे असम के भाई-बहनो को राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण करनेवाली हिदी का महत्त्व बतलाया। पूज्य बापू के साथ बाबा राघवदास भी थे। आपने हिन्दी भाषा-भाषी दो-चार व्यक्तियो को लेकर प्रचार-कार्य आरम्भ कर दिया और साथ ही कुछ असमिया युवको को वर्धा भेजकर हिन्दी-प्रचार की शिक्षा वर्धा-समिति द्वारा प्रारम्भ किये गए अध्यापन-मन्दिर में दिलाई। हिन्दी-प्रचार समिति के उपाध्यक्ष काका कालेलकर ने असम प्रान्त का व्यापक भ्रमण कर वहा के भाई-बहनो से मधुर सम्पर्क स्थापित किया। काका साहब के साथ प्रथम भ्रमण के समय हिन्दी प्रचार समिति के तत्कालीन मन्त्री श्री मो० सत्यनारायण, दादा धर्माधिकारी तथा स्व० बाबा राघवदासजी भी थे।

१९३८ मे काका साहब की प्रेरणा से स्व० गोपीनाथजी बरदलै की अध्यक्षता मे हिन्दी-प्रचार समिति सगठित हुई। श्री कमलदेव नारायण तथा रामप्रसादजी वर्धा से असम मे प्रचारार्थ बुलाये गए। उस समय संचालन का कार्य श्री जमुनाप्रसादजी सम्हाल रहे थे।

श्री जमुनाप्रसादजी जब मुक्त हुए तब उसका सचालन-कार्य श्री कमलदेव नारायण को सौपा गया। आपके अथक परिश्रम से असम में निम्नलिखित विभागीय समितिया स्थापित हुई—

गौहाटी, नौगाव, जोरहाट, गोपालघाट, डिब्रूगढ, शिवसागर, उत्तर लखीमपुर, मगलदई, तेजपुर, बरपेटा, धोर्बी, गोआलपाडा, मणिपुर, शिलाग, सिलचर, सिलहट, गणेशवाडी, तलवी तथा दुमदुमा आदि-आदि।

१९४५ का साल समिति के उतार-चढाव का समय था। हिन्दुस्तानी-प्रचार का समर्थन सरकार ने किया,

किन्तु वर्धा-समिति के प्रचारक प्रलोभन से दूर रहकर सेवा-भावना से विषम परिस्थितियो मे भी राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य से विचलित नही हुए । हा, १९४६ मे श्री कमलदेव नारायण का अचानक स्वर्गवास हो जाने से बडी कठिनाई हो गई ।

इस बीच सचालन का भार कई व्यक्तियो पर रहा, किंतु स्थिति उतनी दृढ न होने के कारण वर्धा-समिति के उस समय के प्रधान मन्त्री श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन असम गए और सचालन का भार श्री छगनलाल जैन को सौपा गया ।

श्री छगनलाल ने अक्टूबर, १९५२ तक असम-समिति का कार्य किया । श्री जैन ने १९५२ मे सचालक-पद त्याग कर दिया । उनके स्थान पर शिलाग हिन्दी-प्रचार ससद के अध्यक्ष श्री जितेन्द्रचन्द्र चौधुरी को सचालक नियुक्त किया गया । समिति का कार्यालय भी गौहाटी से शिलाग चला गया ।

इस समय असम के कार्य में काफी प्रगति हो रही है । लगभग ८० प्रचारक निष्ठापूर्वक राष्ट्रभाषा का प्रचार-कार्य कर रहे है और वर्धा-समिति की परीक्षाओ के परीक्षार्थी तैयार करते है । इस समय असम मे ४७ परीक्षा-केन्द्र चल रहे है । १९३६ से अब तक असम से करीब ३०,००० परीक्षार्थी वर्धा-समिति की परीक्षाओ मे सम्मिलित हुए । इस समिति के अन्तर्गत २२ विभागीय समितियां है, जो अपने-अपने क्षेत्र मे कार्य कर रही है । इसकी एक व्यवस्थापिका सभा है जिसमे ५१ सदस्य है । १९५८ मे असम सरकार ने इस समिति को एक प्रशिक्षण-केन्द्र आसाम के हिदी-अध्यापको के लिए चलानेका कार्य सौपा । यह प्रशिक्षण-केन्द्र सिल्चर मे चलाया गया जिसमे कछार के स्कूलो के ३० हिन्दी-शिक्षक प्रशिक्षण के लिए भेजे गए थे ।

समिति के अध्यक्ष श्री नरेन शर्मा, एम० ए० है । कार्याध्यक्ष श्री राधाकृष्ण खेमका और मन्त्री-सचालक का कार्य श्री जितेन्द्रचन्द्र चौधुरी कर रहे है ।

पश्चिम बंगाल

पश्चिम बंग राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, कलकत्ता

बगाल मे सन १९३४ से कलकत्ते की 'पूर्व भारत हिन्दी प्रचार सभा' हिन्दी-प्रचार का कार्य करती आ रही थी । सन ३६ मे वर्धा समिति की स्थापना के बाद यह सभा उस समिति के मार्गदर्शन मे कार्य करने लगी । सन ३८ के शिमला-अधिवेशन मे जब हिन्दी प्रचार समिति, वर्धा का नाम राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति कर दिया गया, तब कलकत्ते मे हिन्दी का प्रचार कराने वाली सस्था का नाम भी पूर्व भारत राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा रखा गया । किन्तु सन ४५ मे इसकी नीति मे परिवर्तन हो जाने के कारण इसने हिन्दुस्तानी का प्रचार करना आरम्भ किया तथा वर्धा-समिति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया । ऐसी स्थिति मे हिन्दी-प्रचार के लिए वर्धा-समिति से सम्बद्ध एक पृथक प्रान्तीय समिति का सगठन आवश्यक समझा गया । फलस्वरूप १५ दिसम्बर, १९४५ को डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के निवास-स्थान 'सुधर्मा' मे कई गण्यमान्य साहित्यिको, शिक्षा-प्रेमियो तथा विद्वानो की बैठक करके 'बगाल राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' की स्थापना की गई, जो देश-विभाजन के बाद 'पश्चिम बग राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' कहलाने लगी ।

बगाल राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की स्थापना के बाद श्री रेवतीरजन सिन्हा के सद्प्रयत्नो से प्रचार और सगठन का कार्य आरम्भ हुआ । सर्वश्री भुवनेश्वर झा, ब्रजनन्दनसिह, नरेशचन्द्रसिह, राय, शिवविलास सिन्हा, अमल सरकार आदि प्रचारक-शिक्षको ने अपनी सेवाए देकर प्रचार-कार्य को आगे बढाने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया । मुफस्सिल मे सर्वश्री वामनचन्द्र वसु, श्रीनिवास शर्मा, जनार्दन चतुर्वेदी, सजीवप्रसाद सेन, देवीप्रसाद वर्मा, जयगोविन्द मिश्र, अरण्यविहारी दास आदि प्रचारको ने इस कार्य मे यथेष्ट हाथ बटाया ।

इस समय पश्चिम बग राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के अतर्गत ९१ प्रमाणित प्रचारक तथा २५ शिक्षक-अध्यापक है । प्रान्त भर मे ७५ अवैतनिक शिक्षण-केन्द्र तथा विद्यालय चलाये जाते है । परीक्षा-केन्द्रो की सख्या ७० है तथा प्राय. ४३०० परीक्षार्थी प्रतिवर्ष बगाल प्रान्त से वर्धा-समिति की परीक्षाओ मे सम्मिलित होते है । समिति बगाल सरकार के सहयोग से 'डिप्लोमा इन हिन्दी टीचिग' परीक्षा चलाती है । इसमे उत्तीर्ण होने पर हिन्दी-शिक्षक को अपने वेतन के अलावा १०) रु० प्रति माह भत्ते के रूप मे मिलते है ।

इस समिति को बंगाल सरकार का काफी सहयोग प्राप्त है। हिन्दी-शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा शिक्षकों आदि की नियुक्ति में सरकार समिति से सलाह लेती है और उससे नियमित सम्पर्क बनाये रखती है। समिति को प्रति वर्ष ३०००) रु० सहायता मिलती है। बगाल मे वर्धा-समिति की निम्नलिखित परीक्षाए मान्य हैं—

(१) 'परिचय' तथा इटरमीजिएट-उत्तीर्ण को सरकारी हाईस्कूलों में हिंदी शिक्षक के रूप मे रखा जाता है।

(२) 'डिप्लोमा इन हिन्दी टीचिंग' उत्तीर्ण व्यक्ति के अभाव में केवल भाषा-ज्ञान की दृष्टि से न्यूनतम योग्यता 'परिचय' परीक्षा मानी गई है।

(३) कलकत्ता विश्वविद्यालय ऐसे व्यक्तियों को हिन्दी-माध्यम द्वारा एम० ए० पढने की अनुमति देता है, जो अहिन्दी-भाषी बी० ए० और 'कोविद' उपाधिधारी हों।

समिति की व्यवस्था तथा सचालन मे एक हिंदी प्रचार पुस्तकालय तथा वाचनालय भी चल रहा है।

इस समय समिति के अध्यक्ष अतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त भाषाविद् डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या हैं। मन्त्री तथा सचालक श्री रेवतीरजन सिन्हा है।

सिन्ध-राजस्थान

सिन्ध-राजस्थान राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, जयपुर

सिन्ध मे हिन्दी-प्रचार के छिट-पुट प्रयत्न वर्धा-समिति की स्थापना के बहुत पहले से ही हो रहे थे। शिकारपुर की 'प्रियतम धर्म-सभा' नामक संस्था ने और उसके बाद सन १९१४ मे स्व० डा० चोइथराम गिडवानी की अध्यक्षता मे खोले गए 'ब्रह्मचर्याश्रम' ने हिन्दी-प्रचार का काम शुरू किया, किन्तु इसप्रकार के प्रयत्नो के आधार व्यापक या व्यवस्थित नही हो पाए थे।

अप्रैल, १९३६ मे वर्धा-समिति की स्थापना हुई, उसके दूसरे वर्ष ही जून, सन १९३७ मे काका कालेलकर की अध्यक्षता मे कराची मे सिन्ध प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसी अवसर पर 'सिन्ध हिन्दी प्रचार समिति' का सगठन किया गया। स्वर्गीय श्री इन्द्रदेव शर्मा ने वर्धा-अध्ययन मंदिर से शिक्षा पाकर लौटने के बाद प्रान्तीय समिति के मन्त्री श्री चन्द्रसेन जेतली के मार्गदर्शन मे हिन्दी-प्रचार का आन्दोलन आरम्भ किया।

समिति का संगठन—समिति का कार्य-सचालन मुख्यत· दो कमेटियो (प्रधान सभा और कार्यकारिणी समिति) के अधीन रखा गया। प्रधान सभा मे ३३ और कार्यकारिणी मे १५ सदस्य होते थे। कार्यकारिणी के सदस्य प्रधान सभा से चुने जाते थे।

सिन्ध-समिति का सारा कार्य वर्धा रा० भा० प्र० समिति के निर्देशन मे १९३८ से होने लगा। सन १९४०-४१ के लिए सिन्ध रा० भा० प्र० समिति के सभापति-पद पर श्री नारायणदास रत्नमल मल्कानी चुने गए।

नये प्रान्तीय संचालक—इस वर्ष कार्य के बढ जाने के कारण प० इन्द्रदेव जी के स्थान पर प० देवदत्त शर्मा प्रान्तीय सचालक बनाये गए जो १९४६ तक इस कार्य को सुचारु रूप से निभाते रहे।

१९४२ मे श्री मल्कानी जी के जेल चले जाने के बाद श्री जवाहरलाल जी जैन को प्रान्तीय समिति का अध्यक्ष बनाया गया। आपने एक वर्ष तक बडे सुन्दर ढग से कार्य सम्हाला।

नये प्रधान—इसके बाद सिन्ध के प्रसिद्ध दानी, साहित्य और राष्ट्रभाषा-प्रेमी भाई प्रताप दयालदास को प्रान्तीय समिति का प्रधान बनाया गया, जो तन, मन और धन से समिति को सुचारु रूप से चलाते रहे।

समिति का पुनःसंगठन और नये संचालक—१९४६ मे श्री वियोगी हरि जी की अध्यक्षता मे कराची मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ, जो बड़ा ही सफल रहा। सम्मेलन से लौटने पर श्री वियोगी हरि और वर्धा-समिति के तत्कालीन प्रधानमन्त्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन हैदराबाद मे उतरे और सिन्ध-समिति के कार्य पर विचार किया। परिणामस्वरूप श्री दौलतराम शर्मा को, जो पिछले इक्कीस वर्ष से सिन्ध मे रचनात्मक और राजनीतिक कार्य कर रहे थे, प्रान्तीय संचालक बनाया गया। वे अब भी बडी लगन तथा निष्ठापूर्वक प्रान्तीय संचालक का कार्य कर रहे हैं।

पाकिस्तान की स्थापना के फलस्वरूप साम्प्रदायिक मार-काट और लूटमार से सिन्ध भी अछूता न रह

सका। सिन्धी हिन्दुओं को मजबूरन अपना प्रान्त छोडना पडा, वे हिन्दुस्तान के विभिन्न भागो मे आ गए। जहा पहले से ही राष्ट्रभाषा-शिक्षा के केन्द्र मौजूद थे, और उनमे शामिल हो गए। राजस्थान के विभिन्न हिस्सो मे सिन्धी काफी तादाद में आए हैं। इन बिखरे हुए सिन्धियों की राष्ट्रभाषा शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध एक केन्द्र बनाकर करने का निर्णय किया गया। तदनुसार 'सिन्ध-राजस्थान राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' का प्रधान कार्यालय, जो पहले अजमेर मे था, अब जयपुर मे है।

राजस्थान में कार्य

इस वक्त राजस्थान मे सौ केन्द्र कार्य कर रहे हैं और दिन-ब-दिन बढते जा रहे है। समिति के कार्य मे राजस्थान के प्रमुख साहित्यिक जैसे श्री मुनि जिनविजय जी, राजस्थान युनिवर्सिटी के उपकुलपति श्री महाजनी, डा० सोमनाथजी गुप्त, श्री जवाहरलालजी जैन, सपादक 'लोकवाणी' भाग ले रहे है, समिति के कार्यकारी अध्यक्ष डा० सोमनाथजी गुप्त है।

प्रान्तीय समिति के प्रयत्नो मे राजस्थान विश्वविद्यालय ने वर्धा-समिति की 'कोविद' और 'राष्ट्रभाषारत्न' परीक्षा-उत्तीर्ण को क्रमश हाईस्कूल तथा इन्टर परीक्षा मे केवल अग्रेजी विषय लेकर सम्मिलित होने की स्वीकृति दी है।

हिन्दी और देवनागरी

सिन्धियो द्वारा देवनागरी को अपनी मातृभाषा सिन्धी की लिपि मान लेने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। राजस्थान सरकार भी इसमे सहयोग दे रही है और स्कूली शिक्षा के लिए सिन्धी पुस्तके देवनागरी मे लिखी जाने लगी है।

मणिपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, इम्फाल

भारत के सुदूर प्रान्त मणिपुर मे विगत कई सालो मे राष्ट्रभाषा का प्रचार होता रहा। मणिपुर मे राष्ट्र-भाषा के कार्य के प्रति उत्साह देखकर यह निश्चय किया गया कि मणिपुर स्टेट को एक स्वतन्त्र प्रान्त मान लिया जाए और उसका प्रचार-कार्य-भार श्री छत्रध्वज शर्मा को सौप दिया जाए। उसी निश्चय के अनुसार मणिपुर स्टेट मे 'मणि-पुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' की स्थापना हुई।

जब से राष्ट्रभाषा-प्रचार-कार्य का सगठन हुआ, तब से मणिपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति अपना कार्य सुचारु रूप से करती आ रही है। समिति के सामने कई समस्याए है, फिर भी वह जनता के सहयोग से आगे बढती जा रही है।

इस समिति के अध्यक्ष श्री कालाचादसिंह शास्त्री तथा मन्त्री-सचालक श्री छत्रध्वज शर्मा है।

पहले मणिपुर मे एक ही इम्फाल केन्द्र था। पर यहा की परिस्थिति तथा प्रचार-कार्य का अध्ययन करने के बाद जनता की सुविधा के लिए मणिपुर के चौदह विभिन्न स्थानो मे परीक्षा-केन्द्र खोल दिये गए है। इम्फाल, मालोभ, नम्बोल, ओईनाम, विष्णुपुर, क्वासिपाई, निग-थौखोग मोइरोग, उचिवा, मयाग-इम्फाल, वागोई, कर्कचिग, थौबाब और लम्लाइ। प्रतिवर्ष इन केन्द्रो से हजारो की सख्या मे परीक्षार्थी राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा की प्रचार परीक्षाओं मे सम्मिलित होते है।

पढ़ाई की व्यवस्था

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा की नई योजना के अनुसार मणिपुर के गावो मे शिक्षण-केन्द्र तथा राष्ट्र-भाषा-विद्यालय खोल दिये गए है। इन विद्यालयो मे राष्ट्रभाषा हिन्दी के उपाधिधारी अध्यापक लगन से काम कर रहे हैं।

मणिपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति को कार्यालय के लिए इम्फाल केन्द्र मे ही मणिपुर सरकारी टाउन फड कमेटी ने जमीन दी है, जिस पर भवन का निर्माण भी हो चुका है। मणिपुर समिति का कार्यालय उसी भवन मे कार्य कर रहा है। मणिपुर से डेढ हजार से ऊपर परीक्षार्थी वर्धा-समिति की परीक्षाओ मे प्रतिवर्ष बैठते है।

दिल्ली प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति

राष्ट्रभाषा को विधान में स्वीकार किया गया, इसके बाद राजकीय दृष्टि से भी उसके प्रचार का महत्त्व बढ गया और दिल्ली भारत की राजधानी होने के कारण वहां पर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की शाखा होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। करीब दस वर्ष से दिल्ली मे परीक्षार्थी तैयार करने का कार्य श्रीमती राजलक्ष्मी राघवन कुछ प्रचारको की सहायता से कर रही थी। वहा का कार्यक्षेत्र काफी बडा है। केवल नई दिल्ली के सरकारी कर्मचारियों में हिन्दीतर भाषियों की संख्या ३५०० के लगभग गिनी जाती है। ससद के हिन्दीतर सदस्यों का हिन्दी सीखने का प्रश्न भी मुख्य रूप से सामने रहा है। उन्होंने हिन्दी सीखने के प्रति ध्यान भी दिया है। एक ससदीय हिन्दी-मंडल की स्थापना भी की गई, जिसके अध्यक्ष श्रीसेठ गोविन्ददास है। हिन्दीतर भाषी ससद-सदस्यो को हिन्दी सिखाने की व्यवस्था इस मडल के द्वारा हो रही थी। उसके लिए जो वर्ग चलते थे वे समिति की ओर से चलाये गए थे। ससद के हिन्दीतर सदस्य इन वर्गों से लाभ उठाकर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की परीक्षाओ मे सम्मिलित होते है।

दिल्ली समिति का उद्‌घाटन ३० अगस्त, १९५२ को राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टडन द्वारा हुआ। इस समिति के पदाधिकारी तथा सदस्य निम्न प्रकार है—

अध्यक्ष—श्री के० सी० रेड्डी, (उत्पादन मन्त्री, भारत सरकार)।

उपाध्यक्ष—श्री अनन्तशयनम अय्यगार, (अध्यक्ष, भारतीय लोकसभा)।

कोषाध्यक्ष—श्री एस० आर० एस० राघवन।

मत्री-सचालिका—श्रीमती राजलक्ष्मी राघवन।

नई दिल्ली, विजयनगर, लोदी कालोनी, राजेन्द्रनगर, लाजपतनगर, हरिजन उद्योगशाला, गुजराती समाज आदि स्थानों पर वर्धा-समिति की परीक्षाओं के केन्द्र चल रहे हैं।

अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन

दिल्ली प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के तत्त्वावधान में ९, १० मई, १९५९ को नई दिल्ली में अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन के नवे अधिवेशन का आयोजन हुआ। यह सम्मेलन लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम अय्यगार की अध्यक्षता मे हुआ जिसका उद्‌घाटन प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने किया। इस सम्मेलन के अवसर पर 'महात्मा गाधी पुरस्कार' आचार्य काकासाहब कालेलकर जी को समर्पित किया गया। इस सम्मेलन को और अधिक गौरव इस कारण भी प्राप्त है कि हिन्दी के प्राण राजर्षि टडनजी को २५,००१) रु० की धनराशि वर्धा समिति द्वारा इसी सम्मेलन के अवसर पर समर्पित की गई थी।

हैदराबाद राज्य हिन्दी-प्रचार सभा

हैदराबाद हिन्दी-प्रचार सभा का कार्य उसके कार्यक्षेत्र में खूब पनपा तथा फला-फूला। राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की परीक्षाओं के साथ-साथ यह सभा अपनी परीक्षाएं भी चलाती हैं जो इस क्षेत्र मे बडी सफलतापूर्व चल रही हैं।

हैदराबाद हिन्दी-प्रचार सभा परीक्षाए चलाने के साथ-साथ प्रकाशन-सस्था के रूप में भी कार्य कर रही है। दक्षिणी में हिन्दी के ख्यातिप्राप्त लेखको तथा कवियों के साहित्य को प्रकाशित करने के लिए उसने एक उपसमिति का निर्माण किया है, जो इस ओर बड़ी सफलतापूर्वक अनुसन्धान कर रही है।

श्री गोपालराव अपसिंगीपर तथा श्री राजकिशोर पाडे बडी लगन से इस सस्था की सेवा कर रहे हैं।

इस सभा की ओर से 'अजन्ता' उच्च स्तर की नामक एक साहित्यिक मासिक-पत्रिका भी निकलती है।

इस सभा के करीब ३२५ केन्द्र चल रहे हैं तथा करीब ३० हजार से भी अधिक परीक्षार्थी प्रतिवर्ष ही इसकी विभिन्न परीक्षाओं मे सम्मिलित होते है।

आन्ध्र प्रदेश सरकार ने सभा की 'विद्वान' तथा 'हिन्दी शिक्षक' परीक्षा को मान्यता प्रदान की है। भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय ने भी 'हिन्दी-विशारद', 'हिन्दी-भूषण' तथा 'हिन्दी विज्ञान' परीक्षाओ को क्रमशः मैट्रिक,

इण्टर और बी० ए० के समकक्ष स्वीकार किया है।

उच्चमपेठ में सरकारी योजना के अन्तर्गत और सरकारी व्यय से निर्मित 'हिन्दी भवन' को हिन्दी-प्रचार कार्य के लिए सभा के सुपुर्द किया गया है। यह भवन नि.शुल्क प्राप्त हुआ है। हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से उच्चमपेठ में सभा का केन्द्र खोला गया है और शिक्षण वर्गों का सचालन भी प्रारम्भ किया गया है।

इस सभा के अध्यक्ष भी के० अच्युत रेड्डी है।

मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, भोपाल

मध्यभारत में यों तो हिन्दी-प्रचार का काम काफी समय से हो रहा है, किन्तु व्यवस्थित रूप मे कार्य सन १९४९ से चला। सर्वप्रथम इस समिति का कार्यालय त्योदा (भेलसा) मे था और कार्य श्री प्रेमसिह चौहान 'दिव्यार्थ' सम्हालते थे।

१९५२ मे भोपाल-मध्यभारत समिति का निर्माण हुआ, तब से इसका कार्यालय खाचरौद तथा उज्जैन रहा।

इस समिति का कार्यक्षेत्र भोपाल शहर, भोपाल राज्य, इन्दौर, रतलाम, मन्दसौर, लश्कर, भिड और उज्जैन आदि स्थानो पर है।

समिति ने अपने प्रान्त के प्रमाणित प्रचारको तथा केन्द्र-व्यवस्थापको से निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए एक सम्मेलन जनवरी १९५३ मे इन्दौर मे किया, जिसके अध्यक्ष सीतामऊ के महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह, इसमें भोपाल-मध्यभारत समिति का विधान भी स्वीकृत हुआ तथा एक प्रस्ताव के अनुसार अध्यक्ष को कार्यकारिणी समिति बनाने का अधिकार दिया गया।

डा० रघुवीरसिह जी ने उस प्रस्ताव के अनुसार एक कार्यकारिणी बनाई, परन्तु किन्ही कारणो से श्री दिव्यार्थ जी ने अध्यक्ष-द्वारा नियुक्त कार्यकारिणी का विरोध किया। श्री दिव्यार्थ जी अन्त मे सचालक पद से मुक्त हुए। चूकि प्रान्त मे कार्य नही हो सकता था, इसलिए परीक्षा आदि का सचालन तथा समस्त कार्य वर्धा केन्द्रीय कार्यालय से ही होता रहा। पुन इन्दौर मे कार्यालय खोल दिया तथा वहा से इस समिति के कार्य का सचालन होता रहा।

सन १९५४ मे संचालक के पद पर श्री बैजनाथ प्रसाद दुबे की नियुक्ति हुई। इसका कार्यालय महू मे रखा गया। तब से इस समिति की बड़ी प्रगति हुई। केन्द्र तथा परीक्षार्थी-सख्या भी इस प्रदेश मे बढी।

मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के अध्यक्ष श्री डा० रघुवीरसिह जी है।

मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की ओर से करीब चार वर्ष पहले एक महिला विभाग भी खोला गया है जिसकी अध्यक्षा मध्यप्रदेश शासन की स्वास्थ्य मन्त्राणी रानी पद्मावती देवी है।

मध्यप्रदेश समिति की ओर से एक राष्ट्रभाषा-भवन बनाने की योजना भी रखी गई है। इसके लिए स्थान का चुनाव हो चुका है। इस भवन की लागत करीब ढाई लाख रुपये होगी।

सन १९५८ मे भोपाल मे अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन का आठवा अधिवेशन मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के तत्त्वावधान मे हुआ था। इस सम्मेलन का उद्घाटन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने किया था और अध्यक्षता भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्री डा० के० एल० श्रीमाली ने की थी। इसी अवसर पर हिन्दी के प्रख्यात लेखक श्री सन्तराम जी बी० ए० को 'महात्मा गांधी पुरस्कार' समर्पित किया गया था।

राज्य-पुनर्रचना के कारण चूकि मध्यभारत (भोपाल सहित) मध्यप्रदेश हो गया, इसलिए इस समिति का नाम बदलने की भी आवश्यकता हुई। भोपाल-मध्यभारत रा० भा० प्र० स० की कार्यकारिणी के प्रस्तावानुसार वर्धा-समिति ने इसका नाम 'मध्य-प्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' रखने की अनुमति दी और यह भी निश्चय किया गया कि इसका कार्यालय भोपाल मे रहे। भोपाल मे इस समिति ने बडी ख्याति प्राप्त की। आठवा अखिल भारतीय रा० भा० प्रचार अधिवेशन भी १९-२० जुलाई, १९५८ को भोपाल मे हुआ। इस अवसर पर हिन्दी के ख्यातिप्राप्त लेखक श्री सन्त-राम जी, बी० ए० को १५०१) रु० का 'महात्मा गाधी पुरस्कार' प्रदान किया गया।

मध्यभारत मे प्रमाणित प्रचारकों की संख्या ९८ तथा केन्द्र सख्या ४३ है। इस प्रान्त में २ शिक्षण-केन्द्र तथा ५ राष्ट्रभाषा-विद्यालय भी चल रहे है।

मैसूर राज्य में हिन्दी-प्रचार कार्य

मैसूर राज्य मे राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का कार्य काफी वर्षों से चल रहा है। कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति तथा बेलगाव जिला राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के प्रचारकत्व मे वहा कार्य की विशेष प्रगति हुई।

कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के कार्य का सचालन श्री वासुदेव चिन्तामणि बस्ती करते हैं। श्री भैरूलाल जी व्यास, श्री दाडेकर जी तथा श्री द० पा० साटम जी आदि के प्रयत्नों से बेलगाव मे कार्य बढ रहा है। इसके पहले कर्नाटक मे श्री भा० मा० कुलकर्णी कर्नाटक के कार्य का सचालन करते रहे थे।

हुबली मे कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का विधिवत कार्यालय चल रहा है। बेलगांव जिले का कार्य अलग से बेलगाव राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति द्वारा सम्पन्न होता है। कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के अध्यक्ष श्री एच० वी० शाहा तथा कार्याध्यक्ष श्री आर० वी० शिरूर है। अभी तक कर्नाटक से ३५ हजार के करीब परीक्षार्थी सम्मिलित हो चुके है। बेलगाव जिला तथा कर्नाटक दोनो को मिलाकर करीब ५० केन्द्र हैं और करीब १५० प्रचारक है।

पंजाब-प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति

वैसे पजाब मे पजाब-प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन और 'साहित्य-सदन, अबोहर' के द्वारा काफी दिनों मे हिन्दी-प्रचार का कार्य चल रहा है। साहित्य-सदन सन १९२५ मे एक पुस्तकालय के रूप मे स्थापित हुआ था। इसका भव्य भवन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सम्पत्ति है। श्री स्वामी केशवानन्द जी के नेतृत्व मे 'सदन' ने पजाब में बड़ी ख्याति अर्जित की। इसके पुस्तकालय-सग्रहालय मे हस्तलिखित ग्रन्थ आदि प्राचीन वस्तुए सग्रहीत है। 'दीपक' मासिक का भी प्रकाशन यहा से होता था। पजाब तथा काश्मीर के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'हिन्दी-परिचय' तथा 'हिन्दी-कोविद' परीक्षाओ की व्यवस्था का भार सदन को सौपा था।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ३०वा अधिवेशन सदन के प्रागण मे ही हुआ था। सन १९५८ से हिन्दी साहित्य सदन का सारा कार्यभार राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा को सौप दिया गया। वहा पर पजाब प्रान्तीय राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति का कार्यालय भी खोल दिया गया है। फिलहाल पजाब के कार्य का सचालन सिध-राजस्थान राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति के सचालक श्री दौलतराम जी शर्मा कर रहे है। पजाब सरकार तथा पजाब विश्वविद्यालय द्वारा समिति की 'कोविद' परीक्षा को भी मान्यता प्राप्त हो चुकी है। वहा काफी केन्द्र खुल चुके है तथा वहा का प्रचार-कार्य उत्साहपूर्ण वातावरण मे चल रहा है।

काश्मीर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, श्रीनगर

सन १९५६ से काश्मीर प्रदेश मे राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का कार्य विधिवत प्रारम्भ हो गया है। अब तक करीब १५०० परीक्षार्थी काश्मीर से समिति की परीक्षाओ मे सम्मिलित हो चुके हैं। इस कार्य की भी देखरेख श्री दौलतराम जी को सौपी गई थी।

श्री शम्भूनाथजी पारिभू, श्रीनगर-काश्मीर प्रदेश मे संगठन-संचालन बड़े उत्साहपूर्वक और निष्ठा के साथ कर रहे है।

श्रीनगर से बाहर अनन्तनाग, चौग्राम, पटन, अत्तरसू, अद्यन, बेरीनाग, सागाम, चिनी गुडउरु, सोवो, वाहयोरा, चाडर आदि स्थानों पर केन्द्र है—

जम्मू मे, कच्ची छावनी रोड, उत्तर नहिनी, रसाम्बा आदि केन्द्र हैं।

लद्दाख, बारामूला, हन्दवाडा, बडग्राम, याल, शुपयान और शालीमार आदि स्थानो पर भी समिति का कार्य प्रारम्भ किया जा रहा है।

यहा हिन्दी-दिवस तथा अन्य समारोह भी आयोजित किये जाते है। काश्मीर सरकार का पूर्ण सहयोग समिति को प्राप्त है।

मराठवाड़ा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति

प्रान्त-पुनर्रचना के पहले मराठवाड़ा प्रदेश हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत होने के कारण इस प्रदेश मे राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति का कार्य हैदराबाद राज्य हिन्दी-प्रचार सभा द्वारा चलाया जाता था। चूकि यह प्रदेश बम्बई राज्य का अग बन गया था तब इस प्रदेश के स्वतन्त्र सगठन की आवश्यकता महसूस हुई। इस बारे मे सभी प्रकार मे सोच-विचार कर इस प्रदेश में अलग मराठवाडा राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की स्थापना की गई। इसका कार्यालय पहले जालना मे रखा गया था, किन्तु १९५८ से यह कार्यालय जालना से औरगाबाद लाया गया।

मराठवाडा राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का कार्यक्षेत्र औरगाबाद, परभणी, नादेड, उस्मानाबाद, बीड और बीदर आदि जिलो मे है। इसके अतिरिक्त पूरे सिकन्दराबाद डिवीजन मे मध्य रेलवे कर्मचारियों को हिन्दी मे प्रशिक्षित करने का भी समिति ने निश्चय कर लिया है।

इस समिति के अध्यक्ष महाराष्ट्र सरकार के वन-मत्री श्री भगवतरावजी गाढे है, उपाध्यक्ष महाराष्ट्र राज्य के उपमत्री श्री शकरराव चौहान है, कार्याध्यक्ष श्री भालचन्द्रराव तैलग तथा मत्री-सचालक श्री विष्णुदत्त शर्मा है।

इस समिति द्वारा समय-समय पर हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से आयोजन होते रहते है। एक वक्तृत्व-स्पर्द्धा भी इसकी ओर से चलाई गई है। इसका पारितोषिक-वितरण महाराष्ट्र के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाशजी द्वारा हो चुका है।

अफ्रीका में राष्ट्रभाषा का प्रचार

भारतवर्ष से हजारों मील दूर रहकर भी अफ्रीका मे हो रहे राष्ट्रभाषा-प्रचार के कारण जो भारत तथा अफ्रीका मे स्नेह-ग्रन्थि बधी है, वह सचमुच गौरव की बात है।

दक्षिण अफ्रीका मे राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य बहुत ही व्यवस्थित रूप से चल रहा है। यह कार्य हिन्दी-शिक्षा सघ, नैटाल के सभापति श्री नरदेवजी वेदालकार के सत्प्रयत्नो का परिणाम है। इसके अन्तर्गत समिति द्वारा निम्नलिखित केन्द्र चलाये जा रहे है

डरबन, पीटरमेरित्सबर्ग, जोहान्सबर्ग, केपटाउन, पोर्ट एलिजाबेथ, लोरेसमार्क्स, लेडीस्मिथ, बुलवायो, रोडेशिया आदि।

पूर्व अफ्रीका मे भी श्री अनन्तशास्त्री बडी लगन से कार्य कर रहे है। पूर्व अफ्रीका मे मोम्बासा, नैरोबी, ऐलडोरेट, किसूमू, नकूस, कम्पाला, काकीरा, दारेसलाम, रागा, म्बान्भा, जजीबार आदि स्थानो पर केन्द्र है।

करीब ४०० परीक्षार्थी प्रतिवर्ष वर्धा-समिति की परीक्षाओ मे सम्मिलित होते है। दक्षिण अफ्रीका तथा पूर्व अफ्रीका दोनो मे करीब ४० राष्ट्रभाषा-केन्द्र चल रहे है तथा १० प्रचारक राष्ट्रभाषा-प्रचार-कार्य मे सलग्न है।

अन्दमान-निकोबार राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, पोर्टब्लेअर

अन्दमान-निकोबार मे व्यवस्थित रूप मे राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का कार्य हो रहा है। वर्तमान समय मे इसका कार्य उस निकोबार द्वीपसमूह को छोड़कर, जहा लोग रोमन लिपि मे अपनी भाषा लिखते हे, अन्य द्वीपो मे कही भी एक भाषा नही लिखी जाती। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रभाषा के रूप मे देवनागरी लिपि का प्रवेश इन टापुओ के लिए महत्त्वपूर्ण है।

नानकोडी, आवरडीन तथा जगलीघाट मे समिति के अन्तर्गत शिक्षा-वर्ग चल रहे है।

• • •

विभिन्न संस्थाएं

गुजरात विद्यापीठ

गुजरात विद्यापीठ महात्मा गाधी जी के १९२० के असहयोग-आन्दोलन के फलस्वरूप शाला महाविद्यालयों के त्याग करने वाले विद्यार्थियो की शिक्षा के लिए स्थापित हुई। गांधीजी स्वय ही उसके कुलपति बने थे और आचार्य डिगवानी, आचार्य कृपलानी, आचार्य काकासाहब कालेलकर जैसे विद्वान तथा शिक्षाशास्त्रियों ने इसके विकास मे पूरा योग दिया। वर्तमान गुजरात के राष्ट्रीय विकास मे इस विद्यापीठ का बहुत बडा हिस्सा है। आरम्भ से ही इस विद्यापीठ मे हिन्दी की शिक्षा को स्थान मिला था और वहां हिन्दी विषय माध्यमिक शिक्षा तथा महाविद्यालय मे सदा अनिवार्य रहा है। परन्तु इस विद्यापीठ ने सन १९३५ से ही 'नवजीवन ट्रस्ट' के सहयोग से राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य प्रचारक द्वारा गुजरात मे करना आरम्भ किया। इन दोनो संस्थाओं की ओर से श्री मोहनलाल जी भट्ट को यह प्रचार-कार्य सौंपा गया। इससे बहुत पहले ही सूरत गुजरात मे श्री परमेष्ठीदास जैन के प्रयत्न से मे राष्ट्रभाषा-प्र चार मण्डल की स्थापना हो चुकी थी और उसके द्वारा वहां राष्ट्रभाषा के वर्ग चलाये जा रहे थे। अब अहमदाबाद मे भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के नियमित वर्ग चलने लगे।

१९३६ में जब राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा की स्थापना हुई तब वही कार्य राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा द्वारा होने लगा। किन्तु १९४२ मे हिन्दी-हिन्दुस्तानी का प्रश्न पैदा हुआ और जब हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना हुई तब विद्यापीठ ने उसके साथ सहयोग किया।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा ने भी १९४५ मे गुजरात मे चलने वाले कार्य को गुजरात विद्यापीठ को ही सौप दिया था। जब सविधान मे हिन्दी तथा नागरी लिपि स्वीकार की गई तो विद्यापीठ ने भी दो लिपियो का आग्रह छोड दिया। गुजरात विद्यापीठ के प्रति गुजरात मे बहुत आदर है। बम्बई राज्य तथा गुजरात के परीक्षार्थी इन परीक्षाओ मे बडे पैमाने पर सम्मिलित होते है। इसकी क्रमिक रूप मे पाच निम्नलिखित परीक्षाए ली जाती हैं––

१. हिन्दी पहली, २. हिन्दी दूसरी, ३. हिन्दी तीसरी, ४. विनीत, ५ हिन्दी सेवक।

ये परीक्षाए वर्ष मे फरवरी और सितम्बर मे ली जाती हैं। विद्यापीठ की शिक्षा मे आज भी हिन्दी को वही स्थान तथा महत्त्व प्राप्त है जो पहले था।

अखिल भारतीय हिन्दी-परिषद

सन १९४९ मे निम्नलिखित उद्देश्यो को लेकर अखिल भारतीय-हिन्दी परिषद की स्थापना की गई––

१. भारतीय सविधान के अनुच्छेद ३५१ के आदेश के अनुसार राजभाषा हिन्दी के निर्माण, विकास और प्रचार मे मदद करना।

२ हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि करने का प्रयत्न करना।

३. केन्द्रीय राजकाज में हिन्दी का शीघ्र उपयोग हो, इसके लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना और आवश्यक सुविधाए प्रस्तुत करना।

४. भारत के अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार में हिन्दी का अधिक से अधिक उपयोग हो, इसका प्रयत्न करना।

५. भारतीय सविधान की आठवीं अनुसूची मे उल्लिखित सभी भाषाओ के प्रति आदर और प्रेम पैदा करने के साथ-साथ हिन्दी-भाषियो को अन्य भाषाए सीखने के लिए प्रोत्साहित करना।

६. इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक सस्थाएं स्थापित करना।

७. इन उद्देश्यों के अनुसार काम करने वाली सस्थाओ को सम्बद्ध करना।

इस परिषद के नई दिल्ली मे कार्यालय स्थापित किये गए।

परिषद की प्रथम कार्य समिति के लिए निम्नलिखित सदस्यो का चुनाव हुआ—

श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद अध्यक्ष

सर्वश्री ग० वा० मावलकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, राजकुमारी अमृत-कौर, के० सन्तानम्, रगनाथ दिवाकर, घनश्यामसिह गुप्त, इन्द्र विद्यावाचस्पति, गोविन्दवल्लभ पत, बालासाहब खेर, विष्णुराम मेघी, स्वामी विचित्रानन्ददास, एस० के० पाटील, कमलनयन बजाज।

इस परिषद के सयोजक श्री शकरराव देव तथा श्री मो० सत्यनारायण चुने गए। कार्यालय तथा परीक्षा-मत्री श्री देवदूत विद्यार्थी नियुक्त किये गए।

परिषद का एक अधिवेशन सन १९५१ के मार्च मे हुआ। इसमे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद को सस्थापक-संरक्षक बनाये रहने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ तथा इसके पदाधिकारी निम्नलिखित हुए—

अध्यक्ष—	श्री ग० व० मावलंकर	कोषाध्यक्ष—	श्री कमलनयन बजाज
उपाध्यक्ष—	,, गोविन्दवल्लभ पत	मत्री—	,, शकरराव देव
	,, रगनाथ दिवाकर		,, मो० सत्यनारायण

इसी अवसर पर सदस्यो की भी घोषणा की गई।

इस परिषद से निम्नलिखित सस्थाएं प्रारम्भ में सम्बद्ध हुईं—

१. दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास।
२. पूर्व भारत राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, कलकत्ता।
३. उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, कटक।
४. आन्ध्रराष्ट्र हिन्दी-प्रचार सघ, विजयवाडा।
५. तमिलनाड हिन्दी-प्रचार सभा, तिरुचिरापल्ली।
६. कर्नाटक प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा, धारवाड।
७. केरल प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा, एरनाकुलम।
८ महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना।
९. असम राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, गौहाटी।
१०. भारतीय हिन्दी-परिषद, दिल्ली प्रदेश।
११. ,, ,, ,, काश्मीर प्रदेश।
११. हैदराबाद हिन्दी-प्रचार संघ, हैदराबाद।
१३. राष्ट्रभाषा-प्रचार परिषद, भोपाल।

परिषद की ओर से आगरा मे एक महाविद्यालय चलाया जाता था जहा अहिन्दी-भाषी प्रदेशों से विद्यार्थी हिन्दी की उच्च शिक्षा तथा शिक्षकीय योग्यता प्राप्त करने के हेतु आते थे। यहा से शिक्षाप्राप्त 'स्नातक' को पारगत उपाधि प्राप्त होती थी। अब यह विद्यालय केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने अपने अधीन कर लिया है और उसके लिए एक कमेटी बना दी है जो उसका सचालन-नियमत करेगी।

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के पुराने कार्यकर्ता श्री रामकृष्ण नावडा आगरा में चलने वाले विद्यालय के आचार्य हैं।

हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग

महत्त्वपूर्ण पुस्तको के अनुवाद कराने के उद्देश्य से हिन्दुस्तानी-अकादमी की स्थापना सन १९२७ मे प्रयाग में हुई। प्रमुख मौलिक रचनाओं को पुरस्कृत करना और साहित्य-सेवा को प्रोत्साहन देना, उत्तम लेखकों को सस्था की ओर से सम्मानित करना इसके प्रधान उद्देश्य रहे है। इसने सचमुच साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है। इसका एक बहुत बडा सर्वांगपूर्ण पुस्तकालय है। प्रतिवर्ष अनेक विद्वानो के व्याख्यानों के आयोजन भी किये जाते है। 'हिन्दुस्तानी' नाम एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित होती रही है। इसके द्वारा कई दर्जन पुस्तकें विभिन्न विषयो पर प्रकाशित हो चुकी है। प्रकाशन के क्षेत्र मे इसने बडा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

महिला विद्यापीठ, प्रयाग

हिन्दी के माध्यम द्वारा महिलाओं मे शिक्षा-प्रसार का जो काम प्रयाग की 'महिला विद्यापीठ' ने किया है, उसका अपना एक विशेष स्थान है। इसके द्वारा प्रवेशिका, विद्याविनोदिनी, विदुषी, सुगृहिणी, सरस्वती आदि परीक्षाए मचालित होती है। प्रारम्भ मे लेकर एम० ए० तक की पढाई का प्रबन्ध भी प्रयाग महिला विद्यापीठ द्वारा होता है। सस्था के अन्तर्गत विद्यापीठ कालेज भी है। इसकी प्रिसिपल हिन्दी-साहित्य की सुविख्यात कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा हैं।

नारी-जागरण की इनी-गिनी कुछ मस्थाओ मे 'प्रयाग महिला विद्यापीठ' का नाम बडे आदरके साथ लिया जाता है।

हिन्दी विद्यापीठ, देवघर

देवघर हिन्दी विद्यापीठ कई वर्षों मे हिन्दी की उच्च परीक्षाओ का सचालन करती आ रही है। इसकी साहित्यालकार (उपाधि) परीक्षा का देश मे बडा सम्मान है। हिन्दी के माध्यम द्वारा अनेक औद्योगिक विषयो की शिक्षा दी जाती है। साहित्य महाविद्यालय की ओर से पहली कक्षा से उत्तमा परीक्षा तक हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा दी जाती है। बिहार से बाहर भी इसके कई केन्द्र है तथा वहा इस मस्था की परीक्षाओ में परीक्षार्थी सम्मिलित होते है।

हिन्दी विद्यापीठ, प्रयाग

हिन्दी विद्यापीठ, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सचालित मस्था है। राजर्षि टण्डनजी ने इसके निर्माण तथा उन्नति मे बहुत दिलचस्पी ली। इसकी कई एकड जमीन है तथा जमुना नदी के किनारे यह स्थित है।

विभिन्न प्रदेशो मे, विशेषकर दक्षिण भारत से आये हुए अनेक छात्रो ने हिन्दी की उच्च परीक्षाए उत्तीर्ण की और विद्यापीठ के माध्यम से दक्षिण भारत मे सफलतापूर्वक हिन्दी का कार्य कर रहे है।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

बिहार राज्य की विधान सभा ने, ११ अप्रैल सन १९४७ के दिन इस परिषद की स्थापना का सकल्प ग्रहण किया था। आधुनिक भारतीय भाषाओ के साहित्य का सवर्धन, भारत की राष्ट्रभाषा और बिहार की राष्ट्रभाषा और बिहार की राज्यभाषा हिन्दी मे कला, विज्ञान एवं अन्यान्य विषयों के मौलिक तथा उपयोगी ग्रथो का प्रकाशन और बिहार की प्रमुख बोलियो का अनुशीलन परिषद के उद्देश्य रखे गए थे।

विभाजन-सम्बन्धी असुविधाओं के कारण परिषद का कार्य १९ जुलाई १९५० मे प्रारम्भ हो सका, जब श्री शिवपूजन सहाय इसके मन्त्री नियुक्त हो गए। बिहार के तत्कालीन शिक्षामत्री आचार्य बद्रीनाथ वर्मा इसके अध्यक्ष हुए। परिषद का विधिवत उदघाटन ११ मार्च, सन १९५१ के दिन बिहार के तत्कालीन राज्यपाल महामहिम श्री माधव श्रीहरि अणे के कर-कमलो से सम्पन्न हुआ।

उद्देश्यो की सफलता के लिए श्रेष्ठ साहित्य के सकलन और प्रकाशन की व्यवस्था की गई। प्रारम्भिक एवं वरिष्ठ ग्रथ-प्रणेताओं एव नवोदित साहित्यकारो को पुरस्कार देने की योजना बनी और सोचा गया कि उपयोगी साहित्य

का संपादन करने वालों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। विशिष्ट विद्वानों के सारगर्भित भाषणो का प्रबन्ध हुआ और हस्तलिखित एवं दुर्लभ साहित्य की खोज का काम हाथ मे लिया गया तथा भोजपुरी, मैथिली एव मराठी आदि लोक-भाषाओ के शब्द-कोष प्रस्तुत करने की दिशा मे प्रयत्न प्रारम्भ हुए।

इस कार्य-क्रम के अनुसार अब परिषद के पास हस्तलिखित एव दुर्लभ ग्रथों का विशाल सग्रह एकत्रित हो गया है। उसके द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य का आदि-काल, हर्षचरित, योरोपीय दर्शन और सार्थवाह आदि ग्रथ राष्ट्रभारती के भण्डार का गौरव माने गए है। लोक-भाषाओ की दिशा मे भी पर्याप्त काम किया गया है। डा० उदयनारायण त्रिपाठी का 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' इस प्रयत्न मे मुकटमणि हो गया है।

परिषद का वार्षिकोत्सव प्रतिवर्ष भव्य समारोह के साथ सम्पन्न होता है। वरेण्य विद्वानो के भाषणो की व्यवस्था उसी अवसर पर होती है।

उत्तरप्रदेश, राजस्थान और पंजाब में

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा सचालित हिन्दी परिषद, राजस्थान सरकार द्वारा सचालित राजस्थान साहित्य अकादमी और पजाब सरकार के तत्त्वावधान मे काम करने वाले भाषा-विभाग आदि को भी बिहार राष्ट्र परिषद की श्रेणी मे गिना जा सकता है। इनमे उत्तर प्रदेश की हिन्दी परिषद का काम काफी अग्रसर हो चुका है।

नागरी प्रचारिणी सभा, आरा

इस सस्था की स्थापना बिहार प्रदेश के प्राचीन नगर आरा मे बीसवी सदी के पहले वर्ष मे हुई थी। इसके प्रोत्साहन से कितने ही गण्यमान्य कवि हिन्दी एव उसके साहित्य की सेवा मे प्रवृत्त हुए है। सभा ने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रचारार्थ बिहार मे ही नही, अन्य प्रान्तो और तत्कालीन देशी राज्यो मे भी व्यापक प्रयत्न किये है। सभा साहित्यिक शोध की दिशा मे भी उन्मुख रही है और एक अच्छे पुस्तकालय का सचालन भी करती है।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना २ मई, १९४२ को वर्धा मे हुई। इसका प्रधान उद्देश्य हिन्दुस्तानी का प्रचार करना था। सभा ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए परीक्षाओ का सचालन करना चाहा, किन्तु इस बीच १९४२ का आन्दोलन छिड गया और राष्ट्रनेता तथा इसके सभी कर्मी जेल मे चले गए। श्री अमृतलाल नाणावटी बाहर थे। इस बीच श्री नाणावटी ने गुजरात विद्यापीठ के द्वारा हिन्दुस्तानी का प्रचार-कार्य शुरू किया। सन १९४४ मे जब सभी कर्मी जेल से बाहर आए तो गुजरात मे चलने वाले कार्य की तरह दूसरे प्रदेशो मे भी हिन्दुस्तानी-प्रचार का कार्य करने के सम्बन्ध मे निश्चय किया। फरवरी, १९४५ मे वर्धा मे एक सभा हिन्दुस्तानी प्रचार परिषद की ओर से गाधीजी की अध्यक्षता मे बुलाई गई। इस अवसर पर एक हिन्दुस्तानी साहित्य तैयार करने वाला बोर्ड कायम हुआ। उसकी एक उपसमिति बनाई गई जिसकी देखभाल डा० ताराचन्द जी के सुपुर्द हुई।

जब सभा का काम १९४४–४५ मे फिर से शुरू हुआ तो यह तय किया गया कि प्रान्तो मे सगठन किए जाए और प्रान्तीय सगठन को पदवी की परीक्षा को छोडकर बाकी की नीचे की परीक्षाए अर्थात हिन्दुस्तानी लिखावट, हिन्दी पहली, हिन्दी दूसरी तथा हिन्दी तीसरी परीक्षाए चलाने का अधिकार दिया जाय। जहा प्रान्तीय सगठन न हो, वहा वर्धा के दफ्तर से प्रचार-कार्य किया जाय। यह भी तय हुआ कि प्रान्तीय सगठनो को सम्बद्ध किया जाय और उसी धन से दूसरी तरह मदद की जाय। इसके मुताबिक गुजरात राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा और बम्बई हिन्दुस्तानी प्रचार सभा मे दो प्रान्तिक सस्थाएं सम्बद्ध की गईं। सन १९४५ मे जुलाई मे श्री काका साहब कालेलकर जेल से बाहर आए तब बाकी के सिन्ध, महाराष्ट्र, विदर्भ, बगाल, उडीसा आदि प्रान्तो मे प्रचार करने का भार सभा ने उन्हे सौपा। सन १९४५ के अन्त मे और १९४६ के शुरू मे काकासाहब ने गुजरात का दौरा किया। इसके बाद गुजरात मे हिन्दुस्तानी-प्रचार का काम गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद को सौप दिया। १९४७ मे इस सभा के मन्त्रीपद से श्रीमन्नारायणजी अग्रवाल

ने स्तीफा दे दिया।

अब इसका कार्यालय राजघाट, दिल्ली में है।

भारतीय हिन्दी परिषद

१७ वर्षों से यह सस्था भारतवर्ष के समस्त विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों का सगठन करती हुई उनकी अध्ययन, अध्यापन एव अनुसधान-सम्बन्धी विविध समस्याओ पर प्रतिनिधि रूप से विचार करती आई है। हिन्दी भाषा और साहित्य-क्षेत्र के सभी मूर्द्धन्य विद्वान् इस सस्था के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और महामना पडित मदनमोहन मालवीय जैसे युगपुरुष तथा बाबू शिवप्रसाद गुप्त, पं० अयोध्यासिह उपाध्याय, महामहोपाध्याय पडित गौरीशकर हीराचन्द ओझा, भारतरत्न डा० भगवानदास–जैसे देशभक्त, साहित्यसेवी और अनुसंधाता इसके मान्य सदस्य रहे हैं। स्व० डा० अमरनाथ झा इसके प्रथम सरक्षक थे। इसके वर्तमान मान्य सदस्यों में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टडन, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, डा० सम्पूर्णानन्द, आचार्य शिवपूजन सहाय और सेठ गविन्ददास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। परिषद को अपने विभिन्न अधिवेशनो पर स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० सम्पूर्णानन्द, श्री रा० र० दिवाकर, श्री क० मा० मुशी, डा० केसकर, प० रविशकर शुक्ल, श्री हरिभाऊ उपाध्याय जैसे देश के गण्यमान्य मनीषियो और नेताओ का सहयोग तथा पथप्रदर्शन प्राप्त होता रहा है।

इस सस्था का प्रमुख उद्देश्य विश्वविद्यालयीय स्तर पर हिन्दी भाषा, साहित्य एव सस्कृति के अध्ययन तथा अनुसधान के कार्य को अग्रसर करना और उसके लिए अनुकूल वातावरण के लिए निर्माण मे सहायता देना है। इस सम्बन्ध मे परिषद ने समय-समय पर अनेक योजनाए प्रस्तुत की है और देश के सम्मुख अपने विचार और सुझाव प्रस्तुत किए है। शोध-कार्य की प्रगति पर परिषद का विशेष ध्यान रहा है और विभिन्न विश्वविद्यालयो के तत्सम्बन्धी पारस्परिक सहयोग के लिए वह अनेक प्रकार से उद्योग करती रही है। अपने वार्षिक अधिवेशनो की विशिष्ट गोष्ठियों मे शोधपूर्ण निबन्धो की योजना द्वारा उसने शोध-कार्य के स्तर को ऊँचा उठाने का सफल प्रयत्न किया है। राष्ट्रभाषा के स्वरूप का निर्धारण, उच्च शिक्षा का माध्यम, पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की समस्या, विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ से हिन्दी का सम्पर्क तथा हिन्दी-क्षेत्र की विभिन्न उपभाषाओ से उसके सम्बन्ध की समस्या आदि अनेक प्रश्नो पर परिषद के अधिवेशनो मे विद्वानों ने विद्वत्तापूर्ण विवेचन, समाधान, सुझाव तथा योजनाओ द्वारा अनेक रूपो में दिशानिर्देश किया है।

अधिवेशनो और गोष्ठियो के अतिरिक्त कतिपय योजनाओ के द्वारा भी परिषद ने अपनी सीमित शक्ति और साधनों से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि करने का प्रयत्न किया है। आर्थिक कठिनाइया होते हुए भी उसने विश्वविद्यालयो के प्राध्यापको द्वारा ३०००० पारिभाषिक शब्दो के हिन्दी-अग्रेजी वैज्ञानिक कोष का निर्माण कराया है। हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वानो के सहयोग से हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने की परिषद की योजना केन्द्रीय सरकार की सहायता से कार्यान्वित की जा रही है। उसका एक खड प्रकाशित हो चुका है तथा शेष दो खण्ड भी इसी वर्ष के भीतर प्रकाशित होने वाले हैं। परिषद ने विभिन्न विषयों पर उच्च शिक्षा के स्तर की पाठ्य पुस्तके कैयार कराने की एक विस्तृत योजना भी बनाई है।

परिषद का त्रैमासिक मुखपत्र "हिन्दी अनुशीलन" हिन्दी-शोध के क्षेत्र मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। परिषद की गतिविधि के साथ-साथ इसमे हिन्दी-क्षेत्र के शोध-कार्य का विवरण भी दिया जाता है।

परिषद की प्रगति मे उसके वार्षिक अधिवेशनों का विशेष महत्त्व है। इसी अवसर पर देश भर के हिन्दी प्राध्यापक एक स्थान पर एकत्र होकर हिन्दी भाषा एव साहित्य की विविध समस्याओं पर विचार करते हैं। अब तक इसके अधिवेशन प्रयाग, लखनऊ, पटना, आगरा, जयपुर, नागपुर, वाराणसी, रायगढ (म० प्र०) और दिल्ली में हो चुके है।

नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा

नागरी प्रचारणी सभा की स्थापना सन १९११ में हुई। इसकी स्थापना से आगरा मे साहित्यिकों तथा

हिन्दी पढ़ने तथा लिखने वालों में एक जाग्रति-सी आ गई। इस सभा के पास एक बृहद पुस्तकालय है जिसमे करीब बारह हजार पुस्तकें हैं। और एक हजार के करीब सदस्य इस सभा के हैं। गावों के लिए भी एक गश्ती विभाग का प्रबन्ध है। सभा की ओर से हिन्दी की उच्च पढाई के लिए एक विद्यालय भी चलता है जिसमे करीब २०० विद्यार्थी नि शुल्क शिक्षा ग्रहण करते है। खोज-कार्य का प्रबन्ध भी इस सस्था द्वारा है। इस सभा द्वारा 'सत्यनारायण ग्रथमाला' के अतर्गत कई पुस्तके भी प्रकाशित हो चुकी हैं। सभा के पास पर्याप्त भूमि व निजी भवन है।

इसके अलावा नागरी प्रचारिणी सभा की आजमगढ, आरा, गाजीपुर, गोरखपुर, अजमेर, मुरादाबाद, हरनौत आदि स्थानो मे शाखाएं है।

उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन

उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना सन १९२० मे प्रयाग मे हुई। आरम्भ में किन्ही परिस्थितियो के कारण इसका कार्य बन्द-सा पड गया था, किन्तु १९४० मे पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी के प्रयत्नो मे इसका फिर कार्य आरम्भ हुआ। इस सम्मेलन द्वारा कचहरियो मे हिन्दी-प्रयोग के लिए आन्दोलन किया गया जो बहुत व्यापक बना। उत्तरप्रदेश मे इसके अधिवेशन अनेक स्थानो पर हो चुके है।

बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन

इसकी स्थापना सन १९१९ मे पटना मे हुई थी। बिहार प्रान्त की यह सबसे प्राचीन हिन्दी-सेवी सस्था है। प्रान्त की करीब ६० सस्थाए इससे सम्बद्ध है। १९४५ मे इसके वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर अध्यक्ष-पद चीनी विद्वान श्री तान सुन शान ने ग्रहण किया था। सम्मेलन की परीक्षाओ के लिए विद्यार्थियो के लिए वर्ग-व्यवस्था आदि का कार्य भी इसकी देख-रेख मे चलता है।

विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन

पहले यह सम्मेलन नागपुर के मध्य प्रदेश मे होने के कारण मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नाम से स्थापित हुआ था। इसकी स्थापना सन १९३९ मे हुई थी, इसके अबतक १९ अधिवेशन हो चुके है। इसके अध्यक्ष श्री ब्रिजलाल त्रिपाठी तथा प्रधान मन्त्री श्री रामगोपाल माहेश्वरी है। आज तक इस प्रान्तीय सम्मेलन का कार्यालय फत्तेचन्द भवन मे है। यह भवन सेठ नरसिहदास जी और सेठ गोपीकिशन जी अग्रवाल एव सेठ दुर्गादास जी सर्राफ ने कुल मिलाकर एक लाख एक हजार रुपये की निधि से बनवाकर विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन को समर्पित किया था। इस सम्मेलन के भवन का शिलान्यास १९५४ मे हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा सम्पन्न हुआ था।

इस सम्मेलन द्वारा नक्षत्र, भानु अभिनन्दन ग्रथ, माधवराव सप्रे की जीवनी, विनयकुमार के गीत, निमाडी लोकगीत, बख्शी जी के निबन्ध पुस्तके प्रकाशित की गई है।

पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन

पजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्यालय अम्बाला मे है। इस सम्मेलन की जालन्धर, कपूरथला, अम्बाला छावनी, शिमला मे हिन्दी परिषद तथा स्थानीय हिन्दी-प्रचारिणी सभाए स्थापित है। साहित्यिक समारोह आदि के कार्यक्रम इसके द्वारा होते रहते है। शिमला मे तो हिन्दी-प्रचारिणी सभा अपना रजत जयन्ती समारोह भी मना चुकी है। इसकी सदस्य-सख्या ५०० से ऊपर है। इसकी ओर से पर्याप्त समय तक एक 'सन्देश' नामक हिन्दी मासिक भी प्रकाशित होता रहा था।

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन

दिल्ली नगर को हिन्दी का सबसे पुराना घर माना जाता है। सघबद्ध रूप से हिन्दी के प्रचार और प्रसार का कार्य भी यहा बीसवी शताब्दी की प्रथम दशाब्दी मे तब प्रारम्भ हुआ था जब विभिन्न धार्मिक विचारो के अनुसार अग्रसर होने वाली विभिन्न शक्तिया हिन्दी के प्रचारार्थ एक मच पर एकत्रित हुई थी और सबके सम्मिलित प्रयास से हिन्दी प्रचारिणी सभा की नीव रखी गई थी। कूचा ब्रजनाथ के द्वार पर एक कमरे मे उसका कार्यालय, पुस्तकालय और वाचनालय उस अकुर की भाति उन्मुख हुआ था जिसमे भविष्य की विराट सभावनाए निहित रहती है। उन दिनो के अनथक कार्यकर्ता श्री केदारनाथ गोयनका की सौम्य मूर्ति कितने ही भद्र पुरुषो को अब तक याद है।

दिल्ली की निरतर परिवर्तित परिस्थिति मे लम्बे चालीस वर्षों तक इसी प्रकार विभिन्न स्थानों पर हिन्दी सभाओ की स्थापना होती रही। जब राजधानी का रूप एक प्रकार से कुछ स्थिर हो गया। तब २६ अक्तूबर, सन १६४४ के दिन दीवान हाल मे श्री रामधन शास्त्री (अब डॉ०) के सभापतित्व मे एक सार्वजनिक सभा हुई। सभा मे श्री रामचन्द्र शर्मा महारथी के प्रस्ताव और सर्वश्री नगेन्द्र (अब डॉ०), अवनीन्द्र विद्यालकार और बाबूराम पालीवाल के समर्थन से दिल्ली प्रातीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना का संकल्प ग्रहण किया गया। सकल्प को नियमित एव व्यावहारिक रूप देने के लिए निम्नलिखित महानुभावो की एक समिति नियुक्त की गई। सर्वश्री मौलिचन्द्र शर्मा, रामधन शर्मा, इन्द्र विद्यावाचस्पति, अवनीन्द्र विद्यालकार, नगेन्द्र, रामसिह, कृष्णचन्द्र, पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश', दीनानाथ भार्गव, राजनारायण, सत्यदेव, विद्याभूषण, रामचन्द्र तिवारी, बाबूराम पालीवाल और रामचन्द्र शर्मा (सयोजक)

३ दिसम्बर, सन ४४ को हिन्दी सस्थाओ की सार्वजनिक सभा मे प्रस्तावित प्रातीय सम्मेलन की नियमावली स्वीकार की गई और २३ दिसम्बर को सर्वसम्मति से निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गए—

प्रधान— श्री राजेन्द्रकुमार जैन
उपप्रधान— श्री मौलिचन्द्र शर्मा
,, — श्री सत्यदेव विद्यालकार
प्रधान मन्त्री— श्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी'
प्रचार मन्त्री— ,, अवनीन्द्रकुमार विद्यालकार
प्रबन्ध-मन्त्री— ,, रामचन्द्र तिवारी
अर्थ मन्त्री— ,, पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश'

उपरोक्त निर्वाचन एक प्रकार से अन्तरिम था। अतएव सम्मेलन की स्थायी समिति का विधिवत गठन हो जाने के बाद २ अप्रैल, १६४५ के दिन नया निर्वाचन हुआ जिसमे तत्कालीन राज्य परिषद के सदस्य श्री श्रीनारायण जी मेहता सभापति, श्री मौलिचन्द्र शर्मा कार्यवाहक उपसभापति तथा श्री 'करुणेश' प्रधानमन्त्री चुने गए। कार्यवाहक उपसभापति का पद सुविधा की दृष्टि से नियमावली मे सशोधन के द्वारा बढ़ाया गया था। आगे चलकर इसकी संज्ञा अध्यक्ष हो गई। कार्य की व्यापकता को ध्यान मे रखते हुए मन्त्रि-मण्डल मे साहित्य, सग्रह, प्रकाशन, सगठन, भवन और रगमच के लिए भी मन्त्रियो की व्यवस्था की गई और सस्था का नाम दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन रखा गया। सरकारी खाते मे इसका पंजीकरण इसी नाम से सम्पन्न हुआ है।

जन्मकाल से लगाकर अब तक के १५ वर्षों मे निम्नलिखित महानुभाव सम्मेलन के सभापति, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं प्रधानमन्त्री के पद से राष्ट्रभाषा की सेवा कर चुके है या कर रहे है ।

सभापति–सर्वश्री श्रीनारायण मेहता, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', इन्द्र विद्यावाचस्पति, मौलिचन्द्र शर्मा, अनन्तशयनम् अय्यगार, डा० युद्धवीरसिह और रामधारीसिह 'दिनकर'।

अध्यक्ष: सर्वश्री राजेन्द्रकुमार जैन, मौलिचन्द्र शर्मा, रघुवरदयाल त्रिवेदी, डा० युद्धवीरसिह और वसतराव ओक ।

उपाध्यक्ष सर्वश्री मौलिचन्द्र शर्मा, राजेन्द्रकुमार जैन, सत्यदेव विद्यालकार, रामधन शर्मा, माधव, महावीरप्रसाद, वसतराव ओक, रामलाल पुरी, लक्ष्मीनारायण रेखी, सुन्दरलाल भार्गव, कुवरलाल गुप्त, अक्षयकुमार जैन, प्रि० हरिश्चन्द्र, केशवप्रसाद 'आत्रेय' और किशनप्रसाद कटपीस वाले ।

प्रधानमन्त्री . सर्वश्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी', पुत्तूलाल वर्मा करुणेश, गोपालप्रसाद व्यास और अक्षयकुमार जैन ।

मन्त्रिमण्डल के विभिन्न स्थानो से सेवा करने वाले सज्जनो में मे निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय है सर्वश्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालकार, रामचन्द्र तिवारी, बाबूराम पालीवाल, देवव्रत धर्मेन्दु, देवकीनन्दन गोयल, विष्णु प्रभाकर, विद्यासागर विद्यालकार, सत्यनारायण बसल, महावीरप्रसाद वर्मन, सुदरलाल भार्गव, अमरनाथ शर्मा, ताराचन्द खडेलवाल, आनन्दप्रकाश गोयल, प्रेमचन्द गुप्त, देशमित्र सेनी, धर्मचन्द गोयल, शिवसागर मिश्र, फतहचन्द शर्मा 'आराधक', गोपालकृष्ण कौल, भवानीप्रसाद मिश्र, अर्जुन उपाध्याय, चिरजीलाल एकाकी, अयोध्याप्रसाद पाठक और विश्वनाथ ।

पुनर्गठन

सन १६५२ मे सम्मेलन के तत्कालीन अध्यक्ष एव प्रधानमन्त्री की आकस्मिक व्यस्तता तथा अनुपस्थिति के कारण सम्मेलन का काम कुछ शिथिल हो गया था । हिन्दी आदोलन के सदा-जाग्रत सूत्रधार राजर्षि टण्डनजी ने उस समय अपना वरद हस्त आगे बढाया और डा० युद्धवीरसिह को सम्मेलन का अध्यक्ष तथा श्री गोपालप्रसाद व्यास को प्रधानमन्त्री बनाया गया । कुछ दिन बाद निपुण सगठनकर्ता और कर्मठ नेता श्री वसतराव ओक का सहयोग सम्मेलन को मिल गया एव श्री अक्षयकुमार जैन, श्री सत्यनारायण बसल, श्री महावीरप्रसाद वर्मन, श्री अमरनाथ शर्मा तथा अन्य कई महानुभाव सम्मेलन के कार्य मे प्रत्येक प्रकार से सलग्न हो गए । इस नवीन रक्त से सम्मेलन को नया वेग मिला, परन्तु सम्मेलन की वास्तविक शक्ति उसके उस सगठन मे निहित है जो अपने ढग का निराला और पूर्ण जनतान्त्रिक होगया है।

निराला संगठन

प्रारम्भ मे दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सगठन भी केन्द्रीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे सबद्ध अन्य प्रादेशिक सम्मेलनो की भाति किया गया था । दिल्ली की विशेष स्थिति के अनुसार यह निर्णय किया गया कि अस्त-व्यस्त हिन्दी सभाओ के स्थान पर सम्पूर्ण दिल्ली, नई दिल्ली और उसके आस पास के कस्बो-ग्रामो के नगर निगम के निर्वाचन केन्द्रो को आधार मानकर विभाजित किया जाय और प्रत्येक निर्वाचन-केन्द्र मे प्रादेशिक सम्मेलन की एक शाखा माण्डलिक सगठन के रूप मे काम करे । मण्डल के सब सदस्य सम्मेलन के सदस्य समझे जाए, उनके शुल्क का पद्याश सम्मेलन को मिलाकर और सम्मेलन सदस्य-सख्या के अनुपात से ही मण्डल को प्रादेशिक सगठन मे प्रतिनिधित्व प्रदान करे । इस नवीन योजना को सर्वत्र सराहना मिली । राजर्षि टण्डनजी ने इसे विशेष रूप से आशीर्वाद प्रदान किया और सन ५५ मे सूर-जयन्ती के पुनीत अवसर पर उसके अनुसार दरियागज मे जो पहला मण्डल गठित हुआ उसका उद्घाटन करके इसके मत्थे पर अपने कर-कमलो से तिलक भी लगा दिया । अब सम्मेलन के मण्डलो की सख्या इक्कीस और उनके सदस्यो की सख्या पाच हजार से भी अधिक हो गई है । मण्डलो के नाम इस प्रकार है–अजमेरी द्वार,

आर्यपुरा सोहनगंज, कृष्णनगर, करौल बाग, कमलानगर, खारी बावडी, गोल मार्केट, चांदनी चौक, तिमारपुर, दरियागंज, नई सडक, निजामुद्दीन, पहाडगज, मालीवाड़ा, मिण्टो रोड, मोतीबाग, राजेन्द्रनगर, विनयनगर, लाजपतनगर, सदर बाजार, शाहदरा और हौज काजी।

सम्मेलन ने ऋतु-पर्वों की परम्परा जाग्रत करने और प्रमुख कदमो की जयतिया समारोह के साथ मनाने का जो अत्यन्त लोकप्रिय कार्य हाथ मे लिया था, वह अब इन्ही मण्डलो को सौंप दिया गया है। मण्डल बडे उत्साह के साथ इस कार्य में संलग्न हो गए है। प्रत्येक उत्सव और समारोह मे जनता पर्याप्त सख्या में सम्मलित होती है और उस जीवनदायनी सरल सुधा का पान करती है जो हमारे महान पूर्वज हमे दे गए हैं। इस प्रकार मण्डलों के द्वारा सम्मेलन का संदेश इस महानगरी के कोने-कोने तक आसानी के साथ पहुच जाता है।

विविधता में एकता

सम्मेलन के सगठन की एक और विशेषता यह है कि इसके मच पर सभी वर्गों, विश्वासों, जातियों और सम्प्रदायो के लोग प्रत्येक प्रकार की भेद-बुद्धि को त्यागकर राष्ट्र भाषा की प्रतिष्ठा के लिए दत्तचित्त हो जाते है। हिन्दी को प्रेम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति इसका सदस्य हो सकता है। इसीलिए सम्मेलन मच से रहीम, नानक और वाल्मीक को भी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जाती है और दक्षिण, गुजरात, महाराष्ट्र तथा बगाल के वरेण्य वरपुत्रों की जयतिया मनाकर सब भारतीय भाषाओ के प्रति पूर्ण सम्मान प्रकट किया जाता है। सम्मेलन के सगठन की यह विशेषता और उसकी यह कार्य विधि उन लोगो को मौन उत्तर देती है जो हिन्दी पर साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का आरोप लगाते है, साथ ही साथ यह आज की निरन्तर बढ़ती हुई भेद-बुद्धि को समाप्ति करने का एक व्यावहारिक मार्ग प्रस्तुत करती है और इसे अपनाने का नम्र निमन्त्रण देती है। वास्तव मे राष्ट्रभारती का अचल ही वह एकमात्र स्थल है जहा सब प्रकार के भेद सम्मिलित और समाहित हो सकते है।

अखिल भारतीय उत्तरदायित्व

कार्य की दृष्टि से सम्मेलन प्रेरणात्मक और रचनात्मक प्रणालियो का अनुसरण करता है। प्रेरणात्मक दिशा में यह सर्वसाधारण के साथ-साथ शैक्षणिक सस्थाओ, नगरपालिकाओ तथा प्रादेशिक एव केन्द्रीय शासन के विभिन्न अगो को हिन्दी अपनाने के लिए विविध प्रकार से प्रेरित करता रहा है। सम्मेलन के उन प्रस्तावों और उनके अनुसार किए गए अनावृत प्रयत्नो के परिणामस्वरूप दिल्ली नगर-निगम ने हिन्दी को अपने कार्य-व्यवहार की भाषा स्वीकार किया है और दिल्ली प्रशासन ने राज्य की राजभाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित किया है। यह भी सम्मेलन की प्रेरणाओ का ही फल है कि दिल्ली विश्वविद्यालय ने सन १९६१–६२ से बी० ए० (आर्ट के विषयो मे) शिक्षा एव परीक्षा के लिए हिन्दी माध्यम रखने का निश्चय कर लिया है। दिल्ली प्रदेश के शिक्षा सचालक महोदय को सम्मेलन की ओर से पाठ्य-पुस्तको मे देवनागरी अको का प्रयोग करने की प्रेरणा अभी दी जा रही है। इसी तरह टेलीफोन डायरेक्टरी को हिन्दी मे भी छपवाने के लिए सम्बन्धित अधिकारियो से निरन्तर अनुरोध किया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार के प्रत्येक मन्त्रालय की कार्यविधि पर सम्मेलन सहानुभूतिपूर्ण परन्तु सतर्क दृष्टि रखता है तथा उनको हिन्दी के अधिक से अधिक उपयोग के लिए प्रेरणा एव व्यावहारिक सुझाव देता रहता है। सम्मेलन की ओर से उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश के राज्याधिकारियो से भी समय-समय पर अनुरोध किया जाता है कि वे केन्द्रीय सरकार के साथ जहा तक हो सके हिन्दी मे ही पत्र-व्यवहार करें। यह और ऐसे ही अन्य कई कार्य वास्तव मे हिन्दी की स्थापना के लिए सघर्ष करने वाली केन्द्रीय सस्था का उत्तरदायित्व हो जाते हैं परन्तु केन्द्रीय सम्मेलन आज स्वाधीनावस्था में नहीं है और दिल्ली केन्द्रीय सरकार की राजधानी हो गई है अतएव इस प्रादेशिक सम्मेलन को ही अपनी सीमित शक्ति के साथ अग्रसर होना पडता है। इसी सम्मेलन की ओर से राजभाषा-आयोग की नियुक्ति के लिए यथासाध्य प्रयत्न किया गया था और सन ५६ मे जब केन्द्रीय शिक्षामन्त्री महोदय की अध्यक्षता मे प्रादेशिक शिक्षा-मन्त्रियो ने एक सम्मेलन मे बैठकर प्रारम्भिक शिक्षाक्रम से लेकर विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम तक अग्रेजी को एक अनिवार्य विषय तक शिक्षा

का माध्यम बनाने का परामर्श दे डाला था तब सम्मेलन ने उसका जमकर विरोध दिया था। उस समय सम्मेलन की ओर से विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों तथा हिन्दी एव अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्यकारो को एक विराट सार्वजनिक सभा में अपने विचार प्रकट करने के लिए आमन्त्रित किया गया था। उस सभा मे राजर्षि टडनजी, आचार्य कृपलानी, मीर मुश्ताक अहमद, श्रीमती राजलक्ष्मी, श्रीरामधारी सिह 'दिनकर' श्री बो० जी० देशपाडे और श्री अटलविहारी वाजपेयी आदि ने जो ओजस्वी भाषण दिए थे, उनसे शिक्षा-मन्त्री सम्मेलन का उठा हुआ कदम जहा का तहा रुक गया था।

इसी प्रकार जब फ्रेक एन्थनी महोदय ने अग्रेजी को आठवी अनुसूची मे सम्मिलित करने का प्रस्ताव उपस्थित किया था तब सम्मेलन की ओर से एक वर्ष पूर्ण स्मरण प्रस्तुत कर हिन्दी एव अग्रेजी मे छपवाया गया और सब ससद-सदस्यो की सेवा मे भेजा गया। सम्मेलन की ओर से एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गई जिसमे अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के प्रमुख ससद-सदस्यो एव गण्यमान्य नेताओ ने विशेष रूप से भाग लिया। इस आन्दोलन से जो वातावरण बना उसमे श्री एन्थनी को अपना प्रस्ताव वापस लेना पडा।

सम्मेलन की विशेष नीति यह अवश्य है कि वह ऐसे कर्तव्यो का दृढतापूर्वक पालन करते समय कटुता उत्पन्न नही होने देता। फलत· सम्मेलन और उसके उद्देश्यो के प्रति प्राय सभी क्षेत्रो मे सहानुभूति बनी रहती है। यही कारण है कि भारत गणराज्य की प्रथम वर्षगाठ के अवसर पर सम्मेलन ने लालकिले मे जिस गणराज्य महोत्सव का श्रीगणेश किया था वह आज भी अखिल भारतीय स्तर के विराट कवि सम्मेलन के रूप मे प्रति वर्ष हो रहा है। इस विशाल आयोजन मे सम्मेलन को रक्षा मन्त्रालय से पूर्ण सहयोग मिलता है। महामहिम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, गृहमन्त्री प० गोविदवल्लभ पन्त, रेलवे मन्त्री श्री जगजीवनराम, वाणिज्य मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री, माननीय श्री श्रीप्रकाश, माननीय श्री नरहरि विष्णु गाडगिल, माननीय गुरुमुखनिहालसिह, माननीय श्री अनन्तशयनम् अय्यगार और माननीय श्रीमती विजयलक्ष्मी पडित आदि की मगलकामनाए भी इसीलिए सदा सर्वदा सम्मेलन के साथ रहती है।

रचनात्मक पग

रचनात्मक कामों की दिशा मे सम्मेलन ने दिल्ली की पुलिस और अदालत की ओर इसलिए अधिक ध्यान दिया है कि वहा हिन्दी का प्रवेश सबसे कम हो पाया है। अदालत के क्षेत्र मे सम्मेलन ने वकीलो और न्यायाधीशो से भेट करके जहा उनको हिन्दी अपनाने के लिए प्रेरित किया है वही न्यायालय के परिषद मे हिन्दी टाइप करने वाले एक सज्जन को भी अपनी ओर से बिठा दिया है। वे हिन्दी टाइप का काम सस्ते पारिश्रमिक पर कर देते है। आवश्यकता-नुसार टाइप करने वालो की सख्या मे वृद्धि भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त उर्दू और अग्रेजी मे छपे हुए १२ प्रकार के फार्म सम्मेलन ने बहुत बडी सख्या मे हिन्दी मे छपवा दिए है जो नि.शुल्क बाटे जाते है। इन प्रयासो से अदालतों मे हिन्दी का वातावरण बनने और बढने लगा है।

पुलिस कर्मचारियो मे हिन्दी पहुचाने के लिए सम्मेलन बडे अधिकारियो से मिलकर पुलिस लाइस सन ५८ से कक्षाओ का सचालन कर रहा है। अब तक हजारो जवान इन कक्षाओ से लाभ उठाकर हिन्दी पढ चुके है।

हाल ही मे सम्मेलन ने अपने कार्यालय, कनॉट सरकस, मे एक सूचना-केन्द्र की स्थापना कर दी है। परन्तु इस थोडे से समय मे ही वहा अनुसधान-परक और सन्दर्भ-ग्रन्थो की सख्या ३००० होगई है। केन्द्रस्थ-दूतावासो, सरकारी कर्मचारियों, व्यापारियों और समाचारपत्रो आदि की जिज्ञासाओ का उत्तर देता है और उन्हे हिन्दी-सम्बन्धी सूचनाए भेजता है।

वास्तव मे यह अंकुर उस विशाल वृक्ष की भूमिका है जो सम्मेलन राजधानी के प्रमुख केन्द्र मे 'पुरुषोत्तम हिन्दी भवन' के रूप मे देखना चाहता है। सम्मेलन ने राजर्षि अभिनदन-समारोह के सिलसिले मे ही उस भवन के निर्माण

का संकल्प ग्रहण किया है और उसकी दिशा मे अपने प्रयत्न भी कर दिए है।

उपरोक्त पक्तियों में १५ वर्ष की आयु वाले उस दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा की गई है जो हिन्दी के भीष्म पितामह राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टण्डन की सेवा में सुदामा के तदुल लेकर उपस्थित होने की अनधिकार चेष्टा कर रहा है। भरोसा यही है कि शिशुओं की अटपटी वाणी से पुलकित होने वाले गुरुजन इस अस्फुट स्वर को अपने आशीर्वाद से मुखर कर देंगे।